



अन्तरिक्षचरी ह्यस्मि कामतो विचरामि च।
अतुलामाप्नुहि प्रीतिं तत्र तत्र मया सह ॥ ३० ॥

'वीर! आपका भला चाहती हूँ। कहीं ऐसा न हो कि आपके ठुकरानेसे मेरे प्राण ही मुझे छोड़कर चले जायँ। शत्रुदमन! यदि आपने मुझे त्याग दिया तो मैं कदापि जीवित नहीं रह सकती। मैं आकाशमें विचरनेवाली हूँ। जहाँ इच्छा हो वहीं विचरण कर सकती हूँ। आप मेरे साथ भिन्न-भिन्न लोकों और प्रदेशोंमें विहार करके अनुपम प्रसन्नता प्राप्त कीजिये' ॥ ३० ॥

भीमसेन उवाच

(एष ज्येष्ठो मम भ्राता मान्यः परमको गुरुः।
अनिविष्टश्च तन्माहं परिविद्यां कथंचन ॥)
मातरं भ्रातरं ज्येष्ठं सुखसुप्तान् कथं त्विमान्।
परित्यजेत को न्वद्य प्रभवन्निह राक्षसि ॥ ३१ ॥

भीमसेन बोले—राक्षसी! ये मेरे ज्येष्ठ भ्राता हैं, जो मेरे लिये परम सम्माननीय गुरु हैं; इन्होंने अभीतक विवाह नहीं किया है, ऐसी दशामें मैं तुमसे विवाह करके किसी प्रकार परिवेत्ता* नहीं बनना चाहता। कौन ऐसा मनुष्य होगा, जो इस जगत्में सामर्थ्यशाली होते हुए भी, सुखपूर्वक सोये हुए इन बन्धुओंको, माताको तथा बड़े भ्राताको भी किसी प्रकार अरक्षित छोड़कर जा सके? ॥ ३१ ॥

को हि सुप्तानिमान् भ्रातॄन् दत्त्वा राक्षसभोजनम्।
मातरं च नरो गच्छेत् कामार्त इव मद्विधः ॥ ३२ ॥

मुझ-जैसा कौन पुरुष कामपीड़ितकी भाँति इन सोये हुए भाइयों और माताको राक्षसका भोजन बनाकर (अन्यत्र) जा सकता है? ॥ ३२ ॥

राक्षस्युवाच

यत् ते प्रियं तत् करिष्ये सर्वानेतान् प्रबोधय।
मोक्षयिष्याम्यहं कामं राक्षसात् पुरुषादकात् ॥ ३३ ॥

राक्षसीने कहा—आपको जो प्रिय लगे, मैं वही करूँगी। आप इन सब लोगोंको जगा दीजिये। मैं इच्छानुसार उस मनुष्यभक्षी राक्षससे इन सबको छुड़ा लूँगी ॥ ३३ ॥

भीमसेन उवाच

सुखसुप्तान् वने भ्रातॄन् मातरं चैव राक्षसि।
न भयाद् बोधयिष्यामि भ्रातुस्तव दुरात्मनः ॥ ३४ ॥

भीमसेनने कहा—राक्षसी! मेरे भाई और माता इस वनमें सुखपूर्वक सो रहे हैं, तुम्हारे दुरात्मा भाईके भयसे मैं इन्हें जगाऊँगा नहीं ॥ ३४ ॥

न हि मे राक्षसा भीरु सोढुं शक्ताः पराक्रमम्।
न मनुष्या न गन्धर्वा न यक्षाश्चारुलोचने ॥ ३५ ॥

भीरु! सुलोचने! मेरे पराक्रमको राक्षस, मनुष्य, गन्धर्व तथा यक्ष भी नहीं सह सकते हैं ॥ ३५ ॥

गच्छ वा तिष्ठ वा भद्रे यद् वापीच्छसि तत् कुरु।
तं वा प्रेषय तन्वङ्गि भ्रातरं पुरुषादकम् ॥ ३६ ॥

अतः भद्रे! तुम जाओ या रहो; अथवा तुम्हारी जैसी इच्छा हो, वही करो। तन्वङ्गि! अथवा यदि तुम चाहो तो अपने नरमांसभक्षी भाईको ही भेज दो ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि भीमहिडिम्बासंवादे एकपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें भीम-हिडिम्बा-संवादविषयक एक सौ इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका २ श्लोक मिलाकर कुल ३८ श्लोक हैं।)

द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हिडिम्बका आना, हिडिम्बाका उससे भयभीत होना और भीम तथा हिडिम्बासुरका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

तां विदित्वा चिरगतां हिडिम्बो राक्षसेश्वरः।
अवतीर्य द्रुमात् तस्मादाजगामाशु पाण्डवान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब यह सोचकर कि मेरी बहिनको गये बहुत देर हो गयी, राक्षसराज हिडिम्ब उस वृक्षसे उतरा और शीघ्र ही पाण्डवोंके पास आ गया ॥ १ ॥

लोहिताक्षो महाबाहुरूर्ध्वकेशो महाननः।
मेघसंघातवर्ष्मा च तीक्ष्णदंष्ट्रो भयानकः ॥ २ ॥

उसकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं, भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं, केश ऊपरको उठे हुए थे और विशाल मुख था। उसके शरीरका रंग ऐसा काला था, मानो मेघोंकी काली घटा छा रही हो। तीखे दाढ़ोंवाला वह राक्षस बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ २ ॥

तमापतन्तं दृष्ट्वैव तथा विकृतदर्शनम्।
हिडिम्बोवाच वित्रस्ता भीमसेनमिदं वचः ॥ ३ ॥

देखनेमें विकराल उस राक्षस हिडिम्बको आते देखकर ही हिडिम्बा भयसे थर्रा उठी और भीमसेनसे इस प्रकार बोली— ॥

आपतत्येष दुष्टात्मा संक्रुद्धः पुरुषादकः।
साहं त्वां भ्रातृभिः सार्धं यद् ब्रवीमि तथा कुरु ॥ ४ ॥

* जो निर्दोष बड़े भाईके अविवाहित रहते हुए ही अपना विवाह कर लेता है, वह परिवेत्ता कहलाता है। शास्त्रोंमें वह निन्दनीय माना गया है।

'(देखिये,) यह दुरात्मा नरभक्षी राक्षस क्रोधमें भरा हुआ इधर ही आ रहा है, अतः मैं भाइयोंसहित आपसे जो कहती हूँ, वैसा कीजिये ॥ ४ ॥

अहं कामगमा वीर रक्षोबलसमन्विता।
आरुहेमां मम श्रोणिं नेष्यामि त्वां विहायसा ॥ ५ ॥

'वीर ! मैं इच्छानुसार चल सकती हूँ, मुझमें राक्षसोंका सम्पूर्ण बल है। आप मेरे इस कटिप्रदेश या पीठपर बैठ जाइये। मैं आपको आकाश-मार्गसे ले चलूँगी ॥ ५ ॥

प्रबोधयैतान् संसुप्तान् मातरं च परंतप।
सर्वानेव गमिष्यामि गृहीत्वा वो विहायसा ॥ ६ ॥

'परंतप ! आप इन सोये हुए भाइयों और माताजीको भी जगा दीजिये। मैं आप सब लोगोंको लेकर आकाश-मार्गसे उड़ चलूँगी' ॥ ६ ॥

भीम उवाच

मा भैस्त्वं पृथुसुश्रोणि नैष कश्चिन्मयि स्थिते।
अहमेनं हनिष्यामि प्रेक्षन्त्यास्ते सुमध्यमे ॥ ७ ॥

भीमसेन बोले—सुन्दरी ! तुम डरो मत, मेरे सामने यह राक्षस कुछ भी नहीं है। सुमध्यमे ! मैं तुम्हारे देखते-देखते इसे मार डालूँगा ॥ ७ ॥

नायं प्रतिबलो भीरु राक्षसापसदो मम।
सोढुं युधि परिस्पन्दमथवा सर्वराक्षसाः ॥ ८ ॥

भीरु ! यह नीच राक्षस युद्धमें मेरे आक्रमणका वेग सह सके, ऐसा बलवान् नहीं है। ये अथवा सम्पूर्ण राक्षस भी मेरा सामना नहीं कर सकते ॥ ८ ॥

पश्य बाहू सुवृत्तौ मे हस्तिहस्तनिभाविमौ।
ऊरू परिघसंकाशौ संहतं चाप्युरो महत् ॥ ९ ॥

हाथीकी सूँड़-जैसी मोटी और सुन्दर गोलाकार मेरी इन दोनों भुजाओंकी ओर देखो। मेरी ये जाँघें परिघके समान हैं और मेरा विशाल वक्षःस्थल भी सुदृढ़ एवं सुगठित है ॥ ९ ॥

विक्रमं मे यथेन्द्रस्य साद्य द्रक्ष्यसि शोभने।
मावमंस्थाः पृथुश्रोणि मत्वा मामिह मानुषम् ॥ १० ॥

शोभने ! मेरा पराक्रम (भी) इन्द्रके समान है, जिसे तुम अभी देखोगी। विशाल नितम्बोंवाली राक्षसी ! तुम मुझे मनुष्य समझकर यहाँ मेरा तिरस्कार न करो ॥ १० ॥

हिडिम्बोवाच

नावमन्ये नरव्याघ्र त्वामहं देवरूपिणम्।
दृष्टप्रभावस्तु मया मानुषेष्वेव राक्षसः ॥ ११ ॥

हिडिम्बाने कहा—नरश्रेष्ठ ! आपका स्वरूप तो देवताओंके समान है ही। मैं आपका तिरस्कार नहीं करती। मैं तो इसलिये कहती थी कि मनुष्योंपर ही इस राक्षसका प्रभाव मैं (कई बार) देख चुकी हूँ ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा संजल्पतस्तस्य भीमसेनस्य भारत।
वाचः शुश्राव ताः क्रुद्धो राक्षसः पुरुषादकः ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस नरभक्षी राक्षसको हिडिम्बने क्रोधमें भरकर भीमसेनकी कही हुई उपर्युक्त बातें सुनीं ॥ १२ ॥

अवेक्षमाणस्तस्याश्च हिडिम्बो मानुषं वपुः।
स्रग्दामपूरितशिखं समग्रेन्दुनिभाननम् ॥ १३ ॥
सुभ्रूनासाक्षिकेशान्तं सुकुमारनखत्वचम्।
सर्वाभरणसंयुक्तं सुसूक्ष्माम्बरवाससम् ॥ १४ ॥

(तत्पश्चात्) उसने अपनी बहिनके मनुष्योचित रूपकी ओर दृष्टिपात किया। उसने अपनी चोटीमें फूलोंके गजरे लगा रक्खे थे। उसका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनोहर जान पड़ता था। उसकी भौंहें, नासिका, नेत्र और केशान्तभाग सभी सुन्दर थे। नख और त्वचा बहुत ही सुकुमार थी। उसने अपने अङ्गोंको समस्त आभूषणोंसे विभूषित कर रक्खा था तथा शरीरपर अत्यन्त सुन्दर महीन साड़ी शोभा पा रही थी ॥ १३-१४ ॥

तां तथा मानुषं रूपं बिभ्रतीं सुमनोहरम्।
पुंस्कामां शङ्कमानश्च चुक्रोध पुरुषादकः ॥ १५ ॥

उसे इस प्रकार सुन्दर एवं मनोहर मानव-रूप धारण किये देख राक्षसके मनमें यह संदेह हुआ कि हो-न-हो यह पतिरूपमें किसी पुरुषका वरण करना चाहती है। यह विचार मनमें आते ही वह कुपित हो उठा ॥ १५ ॥

संक्रुद्धो राक्षसस्तस्या भगिन्याः कुरुसत्तम।
उत्फाल्य विपुले नेत्रे ततस्तामिदमब्रवीत् ॥ १६ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! अपनी बहिनपर उस राक्षसका क्रोध बहुत बढ़ गया था। फिर तो उसने बड़ी-बड़ी आँखें फाड़-फाड़कर उसकी ओर देखते हुए कहा—॥ १६ ॥

को हि मे भोक्तुकामस्य विघ्नं चरति दुर्मतिः।
न बिभेषि हिडिम्बे किं मत्कोपाद् विप्रमोहिता ॥ १७ ॥

'हिडिम्बे ! मैं (भूखा हूँ और) भोजन चाहता हूँ। कौन दुर्बुद्धि मानव मेरे इस अभीष्टकी सिद्धिमें विघ्न डाल रहा है। तू अत्यन्त मोहके वशीभूत होकर क्या मेरे क्रोधसे नहीं डरती है ! ॥ १७ ॥

धिक् त्वामसति पुंस्कामे मम विप्रियकारिणि।
पूर्वेषां राक्षसेन्द्राणां सर्वेषामयशस्करि ॥ १८ ॥

'मनुष्यको पति बनानेकी इच्छा रखकर मेरा अप्रिय

करनेवाली दुराचारिणी ! तुझे धिक्कार है। तू पूर्ववर्ती सम्पूर्ण राक्षसराजोंके कुलमें कलङ्क लगानेवाली है ॥ १८ ॥

यानिमानाश्रिताकार्षीर्विप्रियं सुमहन्मम ।
एष तानद्य वै सर्वान् हनिष्यामि त्वया सह ॥ १९ ॥

'जिन लोगोंका आश्रय लेकर तूने मेरा महान् अप्रिय कार्य किया है, यह देख, मैं उन सबको आज तेरे साथ ही मार डालता हूँ' ॥ १९ ॥

एवमुक्त्वा हिडिम्बां स हिडिम्बो लोहितेक्षणः ।
वधायाभिपपातैनान् दन्तैर्दन्तानुपस्पृशन् ॥ २० ॥

हिडिम्बासे यों कहकर लाल-लाल आँखें किये हिडिम्ब दाँतोंसे दाँत पीसता हुआ हिडिम्बा और पाण्डवोंका वध करनेकी इच्छासे उनकी ओर झपटा ॥ २० ॥

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य भीमः प्रहरतां वरः ।
भर्त्सयामास तेजस्वी तिष्ठ तिष्ठेति चाब्रवीत् ॥ २१ ॥

योद्धाओंमें श्रेष्ठ तेजस्वी भीम उसे इस प्रकार हिडिम्बापर टूटते देख उसकी भर्त्सना करते हुए बोले—'अरे खड़ा रह, खड़ा रह' ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्तु तं दृष्ट्वा राक्षसं प्रहसन्निव ।
भगिनीं प्रति संक्रुद्धमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपनी बहिन-पर अत्यन्त क्रुद्ध हुए उस राक्षसकी ओर देखकर भीमसेन हँसते हुए-से इस प्रकार बोले—॥ २२ ॥

किं ते हिडिम्ब एतैर्वा सुखसुप्तैः प्रबोधितैः ।
मामासादय दुर्बुद्धे तरसा त्वं नराशन ॥ २३ ॥

'हिडिम्ब ! सुखपूर्वक सोये हुए मेरे इन भाइयोंको जगानेसे तेरा क्या प्रयोजन सिद्ध होगा। खोटी बुद्धिवाले नरभक्षी राक्षस ! तू पूरे वेगसे आकर मुझसे भिड़ ॥ २३ ॥

मय्येव प्रहरेहि त्वं न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
विशेषतोऽनपकृते परेणापकृते सति ॥ २४ ॥

'आ, मुझपर ही प्रहार कर। हिडिम्बा स्त्री है, इसे मारना उचित नहीं है—विशेषतः इस दशामें, जब कि इसने कोई अपराध नहीं किया है। तेरा अपराध तो दूसरेके द्वारा हुआ है ॥ २४ ॥

न हीयं स्ववशा बाला कामयत्यद्य मामिह ।
चोदितैषा ह्यनङ्गेन शरीरान्तरचारिणा ॥ २५ ॥

'यह भोली-भाली स्त्री अपने वशमें नहीं है। शरीरके भीतरके विचरनेवाले कामदेवसे प्रेरित होकर आज यह मुझे अपना पति बनाना चाहती है ॥ २५ ॥

भगिनी तव दुर्वृत्त राक्षसां वै यशोहर ।
त्वन्नियोगेन चैवेयं रूपं मम समीक्ष्य च ॥ २६ ॥
कामयत्यद्य मां भीरुस्तव नैषापराध्यति ।
अनङ्गेन कृते दोषे नेमां गर्हितुमर्हसि ॥ २७ ॥

'राक्षसोंकी कीर्तिको नष्ट करनेवाले दुराचारी हिडिम्ब ! तेरी यह बहिन तेरी आज्ञासे ही यहाँ आयी है; परंतु मेरा रूप देखकर यह बेचारी अब मुझे चाहने लगी है, अतः तेरा कोई अपराध नहीं कर रही है। कामदेवके द्वारा किये हुए अपराधके कारण तुझे इसकी निन्दा नहीं करनी चाहिये ॥ २६-२७ ॥

मयि तिष्ठति दुष्टात्मन् न स्त्रियं हन्तुमर्हसि ।
संगच्छस्व मया सार्धमेकेनैको नराशन ॥ २८ ॥

'दुष्टात्मन् ! तू मेरे रहते इस स्त्रीको नहीं मार सकता। नरभक्षी राक्षस ! तू मुझ अकेलेके साथ अकेला ही भिड़ जा। २८।

अहमेको नयिष्यामि त्वामद्य यमसादनम् ।
अद्य मद्बलनिष्पिष्टं शिरो राक्षस दीर्यताम् ।
कुञ्जरस्येव पादेन विनिष्पिष्टं बलीयसः ॥ २९ ॥

'आज मैं अकेला ही तुझे यमलोक भेज दूँगा। निशाचर ! जैसे अत्यन्त बलवान् हाथीके पैरसे दबकर किसीका भी मस्तक पिस जाता है, उसी प्रकार मेरे बलपूर्वक आघातसे कुचला जाकर तेरा सिर फट जायगा ॥ २९ ॥

अद्य गात्राणि ते कङ्काः श्येना गोमायवस्तथा ।
कर्षन्तु भुवि संहृष्टा निहतस्य मया मृधे ॥ ३० ॥

'आज मेरेद्वारा युद्धमें तेरा वध हो जानेपर हर्षमें भरे हुए गीध, बाज और गीदड़ धरतीपर पड़े हुए तेरे अङ्गोंको इधर-उधर घसीटेंगे ॥ ३० ॥

क्षणेनाद्य करिष्येऽहमिदं वनमराक्षसम् ।
पुरा यद् दूषितं नित्यं त्वया भक्षयता नरान् ॥ ३१ ॥

'आजसे पहले सदा मनुष्योंको खाकर-खाकर तूने जिसे अपवित्र कर दिया है, उसी वनको आज मैं क्षणभरमें राक्षसों-से सूना कर दूँगा ॥ ३१ ॥

अद्य त्वां भगिनी रक्षः कृष्यमाणं मयासकृत् ।
द्रक्ष्यत्यद्रिप्रतीकाशं सिंहेनेव महाद्विपम् ॥ ३२ ॥

'राक्षस ! जैसे सिंह पर्वताकार महान् गजराजको घसीट ले जाता है, उसी प्रकार आज मेरेद्वारा बार-बार घसीटे जाने-वाले तुझको तेरी बहिन अपनी आँखों देखेगी ॥ ३२ ॥

निराबाधास्त्वयि हते मया राक्षसपांसन ।
वनमेतच्चरिष्यन्ति पुरुषा वनचारिणः ॥ ३३ ॥

'राक्षसकुलाङ्गार ! मेरेद्वारा तेरे मारे जानेपर वनवासी मनुष्य बिना किसी विघ्न-बाधाके इस वनमें विचरण करेंगे'॥

हिडिम्ब उवाच

गर्जितेन वृथा किं ते कत्थितेन च मानुष ।
कृत्वैतत् कर्मणा सर्वं कत्थेथा मा चिरं कृथाः ॥ ३४ ॥

हिडिम्ब बोला—अरे ओ मनुष्य ! व्यर्थ गर्जने तथा बढ़-चढ़कर बातें बनानेसे क्या लाभ ? यह सब कुछ पहले करके दिखा, फिर डींग हाँकना; अब देर न कर ॥ ३४ ॥

बलिनं मन्यसे यच्चाप्यात्मानं सपराक्रमम् ।
ज्ञास्यस्यद्य समागम्य मयाऽऽत्मानं बलाधिकम्॥ ३५ ॥
न तावदेतान् हिंसिष्ये स्वपन्त्वेते यथासुखम् ।
एष त्वामेव दुर्बुद्धे निहन्म्यद्याप्रियंवदम् ॥ ३६ ॥
पीत्वा तवासृग् गात्रेभ्यस्ततः पश्चादिमानपि ।
हनिष्यामि ततः पश्चादिमां विप्रियकारिणीम् ॥ ३७ ॥

तू अपने-आपको जो बड़ा बलवान् और पराक्रमी समझ रहा है, उसकी सचाईका पता तो तब लगेगा, जब आज मेरे साथ भिड़ेगा । तभी तू जान सकेगा कि मुझसे तुझमें कितना अधिक बल है । दुर्बुद्धे ! मैं पहले इन सबकी हिंसा नहीं करूँगा । ये थोड़ी देरतक सुखपूर्वक सो लें । तू मुझे बड़ी कड़वी बातें सुना रहा है, अतः सबसे पहले तुझे ही अभी मारे देता हूँ । पहले तेरे अङ्गोंका ताजा खून पीकर उसके बाद तेरे इन भाइयोंका भी वध करूँगा । तदनन्तर अपना अप्रिय करनेवाली इस हिडिम्बाको भी मार डालूँगा ॥ ३—३७॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो बाहुं प्रगृह्य पुरुषादकः ।
अभ्यद्रवत संक्रुद्धो भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यों कहकर क्रोधमें भरा हुआ वह नरभक्षी राक्षस अपनी एक बाँह ऊपर उठाये शत्रुदमन भीमसेनपर टूट पड़ा ॥ ३८ ॥

तस्याभिद्रवतस्तूर्णं भीमो भीमपराक्रमः ।
वेगेन प्रहितं बाहुं निजग्राह हसन्निव ॥ ३९ ॥

झपटते ही बड़े वेगसे उसने भीमसेनपर हाथ चलाया । तब तो भयंकर पराक्रमी भीमसेनने तुरंत ही उसके हाथको हँसते हुए-से पकड़ लिया ॥ ३९ ॥

निगृह्य तं बलाद् भीमो विस्फुरन्तं चकर्ष ह ।
तस्माद् देशाद् धनूंष्यष्टौ सिंहः क्षुद्रमृगं यथा ॥ ४० ॥

वह राक्षस उनके हाथसे छूटनेके लिये छटपटाने और उछल-कूद मचाने लगा; परंतु भीमसेन उसे पकड़े हुए ही बलपूर्वक उस स्थानसे आठ धनुष (बत्तीस हाथ) दूर घसीट ले गये—उसी प्रकार जैसे सिंह किसी छोटे मृगको घसीट-कर ले जाय ॥ ४० ॥

ततः स राक्षसः क्रुद्धः पाण्डवेन बलार्दितः ।
भीमसेनं समालिङ्ग्य व्यनदद् भैरवं रवम् ॥ ४१ ॥

पाण्डुनन्दन भीमके द्वारा बलपूर्वक पीड़ित होनेपर वह राक्षस क्रोधमें भर गया और भीमसेनको भुजाओंसे कसकर भयंकर गर्जना करने लगा ॥ ४१ ॥

पुनर्भीमो बलादेनं विचकर्ष महाबलः ।
मा शब्दः सुखसुप्तानां भ्रातॄणां मे भवेदिति ॥ ४२ ॥

तब महाबली भीमसेन यह सोचकर पुनः उसे बलपूर्वक कुछ दूर खींच ले गये कि सुखपूर्वक सोये हुए भाइयोंके कानोंमें शब्द न पहुँचे ॥ ४२ ॥

अन्योन्यं तौ समासाद्य विचकर्षतुरोजसा ।
हिडिम्बो भीमसेनश्च विक्रमं चक्रतुः परम् ॥ ४३ ॥

फिर तो दोनों एक-दूसरेसे गुथ गये और बलपूर्वक अपनी अपनी ओर खींचने लगे । हिडिम्ब और भीमसेन दोनोंने बड़ा भारी पराक्रम प्रकट किया ॥ ४३ ॥

बभञ्जतुस्तदा वृक्षाँल्लताश्चाकर्षतुस्तदा ।
मत्ताविव च संरब्धौ वारणौ षष्टिहायनौ ॥ ४४ ॥

जैसे साठ वर्षकी अवस्थावाले दो मतवाले गजराज कुपित हो परस्पर युद्ध करते हों, उसी प्रकार वे दोनों एक-दूसरेसे भिड़कर वृक्षोंको तोड़ने और लताओंको खींच-खींचकर उजाड़ने लगे ॥ ४४ ॥

(पादपानुद्वहन्तौ तावुरुवेगेन वेगितौ ।
स्फोटयन्तौ लताजालान्यूरुभ्यां प्राप्य सर्वतः ॥
वित्रासयन्तौ शब्देन सर्वतो मृगपक्षिणः ।
बलेन बलिनौ मत्तावन्योन्यवधकाङ्क्षिणौ ॥
भीमराक्षसयोर्युद्धं तदावर्तत दारुणम् ॥
ऊरुबाहुपरिक्लेशात् कर्षन्तावितरेतरम् ।
ततः शब्देन महता गर्जन्तौ तौ परस्परम् ॥
पाषाणसंघट्टनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ।
अन्योन्यं तौ समालिङ्ग्य विकर्षन्तौ परस्परम्॥)

वे दोनों वृक्ष उठाये बड़े वेगसे एक दूसरेकी ओर दौड़ते थे, अपनी जाँघोंकी टक्करसे चारों ओरकी लताओंको छिन्न-भिन्न किये देते थे तथा गर्जन-तर्जनके द्वारा सब ओर पशु-पक्षियोंको आतङ्कित कर देते थे । बलसे उन्मत्त हुए वे दोनों महाबली योद्धा एक-दूसरेको मार डालना चाहते थे । उस समय भीमसेन और हिडिम्बासुरमें बड़ा भयंकर युद्ध चल रहा था । वे दोनों एक दूसरेकी भुजाओंको मरोड़ते और जाँघोंको घुटनोंसे दबाते हुए दोनों एक दूसरे-को अपनी ओर खींचते थे । तदनन्तर वे बड़े जोरसे गर्जते हुए परस्पर इस प्रकार प्रहार करने लगे, मानो दो चट्टानें आपसमें टकरा रही हों । तत्पश्चात् वे एक दूसरेसे गुथ गये और दोनों दोनोंको भुजाओंमें कसकर इधर-उधर खींच ले जानेकी चेष्टा करने लगे ॥

तयोः शब्देन महता विबुद्धास्ते नरर्षभाः।
सह मात्रा च ददृशुर्हिडिम्बामग्रतः स्थिताम् ॥ ४५ ॥

उन दोनोंकी भारी गर्जनासे वे नरश्रेष्ठ पाण्डव मातासहित जाग उठे और उन्होंने अपने सामने खड़ी हुई हिडिम्बाको देखा॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि हिडिम्बयुद्धे द्विपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें हिडिम्ब-युद्ध-विषयक एक सौ बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१५२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५ श्लोक मिलाकर कुल ५० श्लोक हैं)

त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

हिडिम्बाका कुन्ती आदिसे अपना मनोभाव प्रकट करना तथा भीमसेनके द्वारा हिडिम्बासुरका वध

वैशम्पायन उवाच

प्रबुद्धास्ते हिडिम्बाया रूपं दृष्ट्वातिमानुषम्।
विस्मिताः पुरुषव्याघ्रा बभूवुः पृथया सह ॥ १ ॥

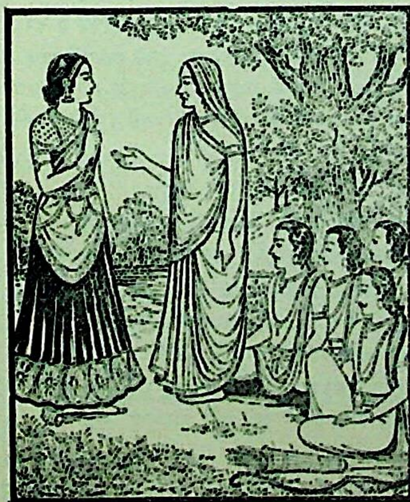
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जागनेपर हिडिम्बाका अलौकिक रूप देख वे पुरुषसिंह पाण्डव माता कुन्तीके साथ बड़े विस्मयमें पड़े ॥ १ ॥

ततः कुन्ती समीक्ष्यैनां विस्मिता रूपसम्पदा।
उवाच मधुरं वाक्यं सान्त्वपूर्वमिदं शनैः ॥ २ ॥
कस्य त्वं सुरगर्भाभे का वासि वरवर्णिनि।
केन कार्येण सम्प्राप्ता कुतश्चागमनं तव ॥ ३ ॥

तदनन्तर कुन्तीने उसकी रूप सम्पत्तिसे चकित हो उसकी ओर देखकर उसे सान्त्वना देते हुए मधुर वाणीमें इस प्रकार धीरे-धीरे पूछा—"देवकन्याओंकी-सी कान्तिवाली सुन्दरी ! तुम कौन हो और किसकी कन्या हो ? तुम किस कामसे यहाँ आयी हो और कहाँसे तुम्हारा शुभागमन हुआ है ? ॥ २-३ ॥

यदि वास्य वनस्य त्वं देवता यदि वाप्सराः।
आचक्ष्व मम तत् सर्वं किमर्थं चेह तिष्ठसि ॥ ४ ॥

"यदि तुम इस वनकी देवी अथवा अप्सरा हो तो वह सब मुझे ठीक-ठीक बता दो; साथ ही यह भी कहो कि किस कामके लिये यहाँ खड़ी हो ? ॥ ४ ॥



हिडिम्बोवाच

यदेतत् पश्यसि वनं नीलमेघनिभं महत्।
निवासो राक्षसस्यैष हिडिम्बस्य ममैव च ॥ ५ ॥

हिडिम्बा बोली—देवि ! यह जो नील मेघके समान विशाल वन आप देख रही हैं, यह राक्षस हिडिम्बका और मेरा निवासस्थान है ॥ ५ ॥

तस्य मां राक्षसेन्द्रस्य भगिनीं विद्धि भाविनि।
भ्रात्रा सम्प्रेषितामार्ये त्वां सपुत्रां जिघांसता ॥ ६ ॥

महाभागे ! आप मुझे उस राक्षसराज हिडिम्बकी बहिन समझें। आर्ये ! मेरे भाईने मुझे आपकी और आपके पुत्रोंकी हत्या करनेकी इच्छासे भेजा था ॥ ६ ॥

क्रूरबुद्धेरहं तस्य वचनादागता त्विह।
अद्राक्षं नवहेमाभं तव पुत्रं महाबलम् ॥ ७ ॥

उसकी बुद्धि बड़ी क्रूरतापूर्ण है। उसके कहनेसे मैं यहाँ आयी और नूतन सुवर्णकी-सी आभावाले आपके महाबली पुत्र-पर मेरी दृष्टि पड़ी ॥ ७ ॥

ततोऽहं सर्वभूतानां भावे विचरता शुभे।
चोदिता तव पुत्रस्य मन्मथेन वशानुगा ॥ ८ ॥

शुभे ! उन्हें देखते ही समस्त प्राणियोंके अन्तःकरणमें विचरनेवाले कामदेवसे प्रेरित होकर मैं आपके पुत्रकी वशवर्तिनी हो गयी ॥ ८ ॥

ततो वृतो मया भर्ता तव पुत्रो महाबलः।
अपनेतुं च यतितो न चैव शकितो मया ॥ ९ ॥

तदनन्तर मैंने आपके महाबली पुत्रको पतिरूपमें वरण कर लिया और इस बातके लिये प्रयत्न किया कि उन्हें (तथा आप सब लोगोंको) लेकर यहाँसे अन्यत्र भाग चलूँ, परंतु आपके पुत्रकी स्वीकृति न मिलनेसे मैं इस कार्यमें सफल न हो सकी ॥ ९ ॥

चिरायमाणां मां ज्ञात्वा ततः स पुरुषादकः।
स्वयमेवागतो हन्तुमिमान् सर्वांस्तवात्मजान् ॥ १० ॥

मेरे लौटनेमें देर होती जान वह मनुष्यभक्षी राक्षस स्वयं ही आपके इन सब पुत्रोंको मार डालनेके लिये आया।१०।

स तेन मम कान्तेन तव पुत्रेण धीमता।
बलादितो विनिष्पिष्य व्यपनीतो महात्मना ॥ ११ ॥

परंतु मेरे प्राणवल्लभ तथा आपके बुद्धिमान् पुत्र महात्मा भीम उसे बलपूर्वक यहाँसे रगड़ते हुए दूर हटा ले गये हैं ॥ ११ ॥

विकर्षन्तौ महावेगौ गर्जमानौ परस्परम्।
पश्यैवं युधि विक्रान्तावेतौ च नरराक्षसौ ॥ १२ ॥

देखिये, युद्धमें पराक्रम दिखानेवाले वे दोनों मनुष्य और राक्षस जोर-जोरसे गर्ज रहे हैं और बड़े वेगसे गुत्थम-गुत्थ होकर एक-दूसरेको अपनी ओर खींच रहे हैं ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्याः श्रुत्वैव वचनमुत्पपात युधिष्ठिरः।
अर्जुनो नकुलश्चैव सहदेवश्च वीर्यवान् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हिडिम्बाकी यह बात सुनते ही युधिष्ठिर उछलकर खड़े हो गये। अर्जुन, नकुल और पराक्रमी सहदेवने भी ऐसा ही किया ॥ १३ ॥

तौ ते ददृशुरासक्तौ विकर्षन्तौ परस्परम्।
काङ्क्षमाणौ जयं चैव सिंहाविव बलोत्कटौ ॥ १४ ॥

तदनन्तर उन्होंने देखा कि वे दोनों प्रचण्ड बलशाली सिंहोंकी भाँति आपसमें गुथ गये हैं और अपनी-अपनी विजय चाहते हुए एक-दूसरेको घसीट रहे हैं ॥ १४ ॥

अथान्योन्यं समाश्लिष्य विकर्षन्तौ पुनः पुनः।
दावाग्निधूमसदृशं चक्रतुः पार्थिवं रजः ॥ १५ ॥

एक दूसरेको भुजाओंमें भरकर बार-बार खींचते हुए उन दोनों योद्धाओंने धरतीकी धूलको दावानलके धूएँके समान बना दिया ॥ १५ ॥

वसुधारेणुसंवीतौ वसुधाधरसंनिभौ।
बभ्राजतुर्यथा शैलौ नीहारेणाभिसंवृतौ ॥ १६ ॥

दोनोंका शरीर पृथ्वीकी धूलमें सना हुआ था। दोनों ही पर्वतोंके समान विशालकाय थे। उस समय वे दोनों कुहरेसे ढँके हुए दो पहाड़ोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ १६ ॥

राक्षसेन तदा भीमं क्लिश्यमानं निरीक्ष्य च।
उवाचेदं वचः पार्थः प्रहसञ्छनकैरिव ॥ १७ ॥

भीमसेनको राक्षसद्वारा पीड़ित देख अर्जुन धीरे-धीरे हँसते हुए-से बोले— ॥ १७ ॥

भीम मा भैर्महाबाहो न त्वां बुध्यामहे वयम्।
समेतं भीमरूपेण रक्षसा श्रमकर्शितम् ॥ १८ ॥

'महाबाहु भैया भीमसेन! डरना मत; अबतक हमलोग नहीं जानते थे कि तुम भयंकर राक्षससे भिड़कर अत्यन्त परिश्रमके कारण कष्ट पा रहे हो ॥ १८ ॥

साहाय्येऽस्मि स्थितः पार्थ पातयिष्यामि राक्षसम्।
नकुलः सहदेवश्च मातरं गोपयिष्यतः ॥ १९ ॥

'कुन्तीनन्दन! अब मैं तुम्हारी सहायताके लिये उपस्थित हूँ। इस राक्षसको अवश्य मार गिराऊँगा। नकुल और सहदेव माताजीकी रक्षा करेंगे' ॥ १९ ॥

भीम उवाच

उदासीनो निरीक्षस्व न कार्यः सम्भ्रमस्त्वया।
न जात्वयं पुनर्जीवेन्मद्बाह्वन्तरमागतः ॥ २० ॥

भीमसेनने कहा—अर्जुन! तटस्थ होकर चुपचाप देखते रहो। तुम्हें घबरानेकी आवश्यकता नहीं। मेरी दोनों भुजाओंके बीचमें आकर अब यह राक्षस कदापि जीवित नहीं रह सकता ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

किमनेन चिरं भीम जीवता पापरक्षसा।
गन्तव्यं न चिरं स्थातुमिह शक्यमरिंदम ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा—शत्रुओंका दमन करनेवाले भीम! इस पापी राक्षसको देरतक जीवित रखनेसे क्या लाभ? हमलोगोंको आगे चलना है, अतः यहाँ अधिक समयतक ठहरना सम्भव नहीं है ॥

पुरा संरज्यते प्राची पुरा संध्या प्रवर्तते।
रौद्रे मुहूर्ते रक्षांसि प्रबलानि भवन्त्युत ॥ २२ ॥

उधर सामने पूर्वदिशामें अरुणोदयकी लालिमा फैल रही है। प्रातःसंध्याका समय होनेवाला है। इस रौद्र मुहूर्तमें राक्षस प्रबल हो जाते हैं ॥ २२ ॥

त्वरस्व भीम मा क्रीड जहि रक्षो विभीषणम्।
पुरा विकुरुते मायां भुजयोः सारमर्पय ॥ २३ ॥

अतः भीमसेन! जल्दी करो। इसके साथ खिलवाड़ न करो। इस भयानक राक्षसको मार डालो। यह अपनी माया फैलाये, इसके पहले ही इसपर अपनी भुजाओंकी शक्तिका प्रयोग करो ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

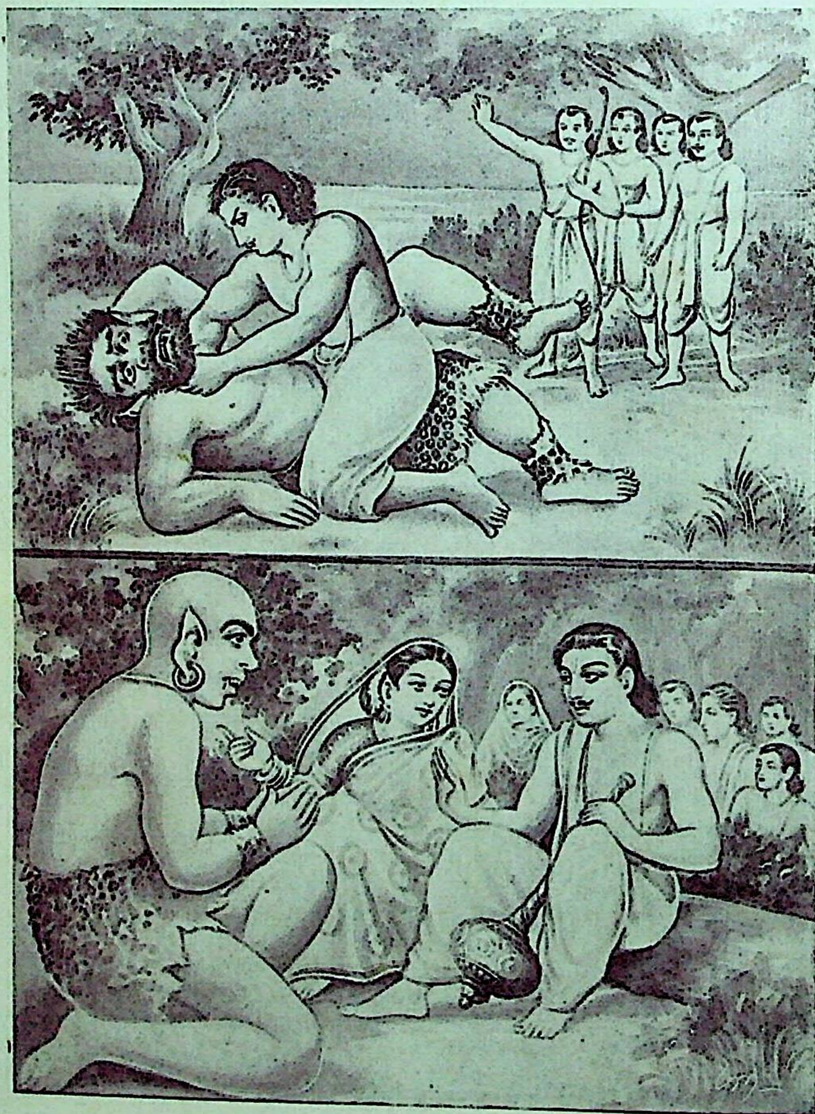
अर्जुनेनैवमुक्तस्तु भीमो रोषाज्ज्वलन्निव।
बलमाहारयामास यद् वायोर्जगतः क्षये ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके यों कहनेपर भीम रोषसे जल उठे और प्रलयकालमें वायुका जो बल प्रकट होता है, उसे उन्होंने अपने भीतर धारण कर लिया ॥ २४ ॥

ततस्तस्याम्बुदाभस्य भीमो रोषात् तु रक्षसः।
उत्क्षिप्याभ्रामयद् देहं तूर्णं शतगुणं तदा ॥ २५ ॥

तत्पश्चात् काले मेघके समान उस राक्षसके शरीरको भीमने क्रोधपूर्वक तुरंत ऊपर उठा लिया और उसे सौ बार घुमाया ॥ २५ ॥

हिडिम्ब-वध



भीमसेन और घटोत्कच

भीम उवाच

वृथामांसैर्वृथापुष्टो वृथावृद्धो वृथामतिः।
वृथामरणमर्हस्त्वं वृथाद्य न भविष्यसि ॥ २६ ॥

इसके बाद भीम उस राक्षससे बोले—अरे निशाचर ! तू व्यर्थ मांससे व्यर्थ ही पुष्ट होकर व्यर्थ ही बड़ा हुआ है। तेरी बुद्धि भी व्यर्थ है। इसीसे तू व्यर्थ मृत्युके योग्य है। इसलिये आज तू व्यर्थ ही अपनी इहलीला समाप्त करेगा (बाहुयुद्धमें मृत्यु होनेके कारण तू स्वर्ग और कीर्तिसे वञ्चित हो जायगा) ॥ २६ ॥

क्षेममद्य करिष्यामि यथा वनमकण्टकम्।
न पुनर्मानुषान् हत्वा भक्षयिष्यसि राक्षस ॥ २७ ॥

राक्षस ! आज तुझे मारकर मैं इस वनको निष्कण्टक एवं मङ्गलमय बना दूँगा, जिससे फिर तू मनुष्योंको मारकर नहीं खा सकेगा ॥ २७ ॥

अर्जुन उवाच

यदि वा मन्यसे भारं त्वमिमं राक्षसं युधि।
करोमि तव साहाय्यं शीघ्रमेष निपात्यताम् ॥ २८ ॥

अर्जुन बोले—भैया ! यदि तुम युद्धमें इस राक्षसको अपने लिये भार समझ रहे हो तो मैं तुम्हारी सहायता करता हूँ। तुम इसे शीघ्र मार गिराओ ॥ २८ ॥

अथवाप्यहमेवैनं हनिष्यामि वृकोदर।
कृतकर्मा परिश्रान्तः साधु तावदुपारम ॥ २९ ॥

वृकोदर ! अथवा मैं ही इसे मार डालूँगा। तुम अधिक युद्ध करके थक गये हो। अतः कुछ देर अच्छी तरह विश्राम कर लो ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षणः।
निष्पिष्यैनं बलाद् भूमौ पशुमारममारयत् ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! अर्जुनकी यह बात सुनकर भीमसेन अत्यन्त क्रोधमें भर गये। उन्होंने बलपूर्वक राक्षसको पृथ्वीपर दे मारा और उसे रगड़ते हुए पशुकी तरह मारना आरम्भ किया ॥ ३० ॥

स मार्यमाणो भीमेन ननाद विपुलं स्वनम्।
पूरयंस्तद् वनं सर्वं जलार्द्र इव दुन्दुभिः ॥ ३१ ॥

इस प्रकार भीमसेनकी मार पड़नेपर वह राक्षस जलसे भीगे हुए नगारेकी-सी ध्वनिसे सम्पूर्ण वनको गुँजाता हुआ जोर-जोरसे चीखने लगा ॥ ३१ ॥

बाहुभ्यां योक्त्रयित्वा तं बलवान् पाण्डुनन्दनः।
मध्ये भङ्क्त्वा महाबाहुर्हर्षयामास पाण्डवान्॥ ३२ ॥

तब महाबाहु बलवान् पाण्डुनन्दन भीमसेनने उसे दोनों भुजाओंसे बाँधकर उलटा मोड़ दिया और उसकी कमर तोड़कर पाण्डवोंका हर्ष बढ़ाया ॥ ३२ ॥

हिडिम्बं निहतं दृष्ट्वा संहृष्टास्ते तरस्विनः।
अपूजयन् नरव्याघ्रं भीमसेनमरिंदमम् ॥ ३३ ॥

हिडिम्बको मारा गया देख वे महान् वेगशाली पाण्डव अत्यन्त हर्षसे उल्लसित हो उठे और उन्होंने शत्रुओंका दमन करनेवाले नरश्रेष्ठ भीमसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ३३ ॥

अभिपूज्य महात्मानं भीमं भीमपराक्रमम्।
पुनरेवार्जुनो वाक्यमुवाचेदं वृकोदरम् ॥ ३४ ॥

इस प्रकार भयंकर पराक्रमी महात्मा भीमकी प्रशंसा करके अर्जुनने पुनः उनसे यह बात कही—॥ ३४ ॥

न दूरं नगरं मन्ये वनादस्मादहं विभो।
शीघ्रं गच्छाम भद्रं ते न नो विद्यात् सुयोधनः ॥ ३५ ॥

'प्रभो ! मैं समझता हूँ, इस वनसे नगर अब दूर नहीं है। तुम्हारा कल्याण हो। अब हमलोग शीघ्र चलें, जिससे दुर्योधनको हमारा पता न लग सके' ॥ ३५ ॥

ततः सर्वे तथेत्युक्त्वा सह मात्रा महारथाः।
प्रययुः पुरुषव्याघ्रा हिडिम्बा चैव राक्षसी ॥ ३६ ॥

तब सभी पुरुषसिंह महारथी पाण्डव '(ठीक है,) ऐसा ही करें' यों कहकर माताके साथ वहाँसे चल दिये। हिडिम्बा राक्षसी भी उनके साथ हो ली ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि हिडिम्बवधे त्रिपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें हिडिम्बासुरके वधसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५३ ॥

चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका भीमसेनको हिडिम्बाके वधसे रोकना, हिडिम्बाकी भीमसेनके लिये प्रार्थना, भीमसेन और हिडिम्बाका मिलन तथा घटोत्कचकी उत्पत्ति

वैशम्पायन उवाच

सा तानेवापतत् तूर्णं भगिनी तस्य रक्षसः।
अब्रुवाणा हिडिम्बा तु राक्षसी पाण्डवान् प्रति ॥

अभिवाद्य ततः कुन्तीं धर्मराजं च पाण्डवम्।
अभिपूज्य च तान् सर्वान् भीमसेनमभाषत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! हिडिम्बासुरकी बहिन राक्षसी हिडिम्बा बिना कुछ कहे-सुने तुरंत पाण्डवोंके ही पास आयी और फिर माता कुन्ती तथा पाण्डुनन्दन धर्मराज युधिष्ठिरको प्रणाम करके उन सबके प्रति समादरका भाव प्रकट करती हुई भीमसेनसे बोली ॥

हिडिम्बोवाच

अहं ते दर्शनादेव मन्मथस्य वशं गता।
क्रूरं भ्रातृवचो हित्वा सा त्वामेवानुरुन्धती ॥
राक्षसे रौद्रसंकाशे तवापश्यं विचेष्टितम्।
अहं शुश्रूषुरिच्छेयं तव गात्रं निषेवितुम् ॥)

हिडिम्बाने कहा—(आर्यपुत्र !) आपके दर्शनमात्रसे मैं कामदेवके अधीन हो गयी और अपने भाईके क्रूरतापूर्ण वचनोंकी अवहेलना करके आपका ही अनुसरण करने लगी। उस भयंकर आकृतिवाले राक्षसपर आपने जो पराक्रम प्रकट किया है, उसे मैंने अपनी आँखों देखा है; अतः मैं सेविका आपके शरीरकी सेवा करना चाहती हूँ ॥

भीमसेन उवाच

स्मरन्ति वैरं रक्षांसि मायामाश्रित्य मोहिनीम्।
हिडिम्बे व्रज पन्थानं त्वमिमं भ्रातृसेवितम् ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—हिडिम्बे ! राक्षस मोहिनी मायाका आश्रय लेकर बहुत दिनोंतक वैरका स्मरण रखते हैं, अतः तू भी अपने भाईके ही मार्गपर चली जा ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

क्रुद्धोऽपि पुरुषव्याघ्र भीम मा स्म स्त्रियं वधीः।
शरीरगुप्त्यभ्यधिकं धर्मं गोपाय पाण्डव ॥ २ ॥

यह सुनकर युधिष्ठिरने कहा—पुरुषसिंह भीम ! यद्यपि तुम क्रोधसे भरे हुए हो, तो भी स्त्रीका वध न करो। पाण्डुनन्दन ! शरीरकी रक्षाकी अपेक्षा भी अधिक तत्परतासे धर्मकी रक्षा करो ॥ २ ॥

वधाभिप्रायमायान्तमवधीस्त्वं महाबलम्।
रक्षसस्तस्य भगिनी किं नः क्रुद्धा करिष्यति ॥ ३ ॥

महाबली हिडिम्ब हमलोगोंको मारनेके अभिप्रायसे आ रहा था। अतः तुमने जो उसका वध किया, वह उचित ही है। उस राक्षसकी बहिन हिडिम्बा यदि क्रोध भी करे तो हमारा क्या कर लेगी ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

हिडिम्बा तु ततः कुन्तीमभिवाद्य कृताञ्जलिः।
युधिष्ठिरं तु कौन्तेयमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर हिडिम्बाने हाथ जोड़कर कुन्तीदेवी तथा उनके पुत्र युधिष्ठिरको प्रणाम करके इस प्रकार कहा— ॥ ४ ॥

आर्ये जानासि यद् दुःखमिह स्त्रीणामनङ्गजम्।
तदिदं मामनुप्राप्तं भीमसेनकृतं शुभे ॥ ५ ॥

'आर्ये ! स्त्रियोंको इस जगत्‌में जो कामजनित पीड़ा होती है, उसे आप जानती ही हैं। शुभे ! आपके पुत्र भीमसेनकी ओरसे मुझे वही कामदेवजनित कष्ट प्राप्त हुआ है ॥ ५ ॥

सोढं तत् परमं दुःखं मया कालप्रतीक्षया।
सोऽयमभ्यागतः कालो भविता मे सुखोदयः ॥ ६ ॥

'मैंने समयकी प्रतीक्षामें उस महान् दुःखको सहन किया है। अब वह समय आ गया है। आशा है, मुझे अभीष्ट सुखकी प्राप्ति होगी ॥ ६ ॥

मया ह्युत्सृज्य सुहृदः स्वधर्मं स्वजनं तथा।
वृतोऽयं पुरुषव्याघ्रस्तव पुत्रः पतिः शुभे ॥ ७ ॥

'शुभे ! मैंने अपने हितैषी सुहृदों, स्वजनों तथा स्वधर्मका परित्याग करके आपके पुत्र पुरुषसिंह भीमसेनको अपना पति चुना है ॥ ७ ॥

वीरेणाहं तथानेन त्वया चापि यशस्विनि।
प्रत्याख्याता न जीवामि सत्यमेतद् ब्रवीमि ते ॥ ८ ॥

'यशस्विनि ! यदि ये वीरवर भीमसेन या आप मेरी इस प्रार्थनाको ठुकरा देंगी तो मैं जीवित नहीं रह सकूँगी। यह मैं आपसे सत्य कहती हूँ ॥ ८ ॥

तदर्हसि कृपां कर्तुं मयि त्वं वरवर्णिनि।
मत्वा मूढेति तन्मा त्वं भक्ता वानुगतेति वा ॥ ९ ॥

'अतः वरवर्णिनि ! आपको मुझे एक मूढ़ स्वभावकी स्त्री मानकर या अपनी भक्ता जानकर अथवा अनुचरी (सेविका) समझकर मुझपर कृपा करनी चाहिये ॥ ९ ॥

भर्त्रानेन महाभागे संयोजय सुतेन ह।
तमुपादाय गच्छेयं यथेष्टं देवरूपिणम्।
पुनश्चैवानयिष्यामि विस्रम्भं कुरु मे शुभे ॥ १० ॥

'महाभागे ! मुझे अपने इस पुत्रसे, जो मेरे मनोनीत पति हैं, मिलनेका अवसर दीजिये। मैं इन देवस्वरूप स्वामीको लेकर अपने अभीष्ट स्थानपर जाऊँगी और पुनः निश्चित समयपर इन्हें आपके समीप ले आऊँगी। शुभे ! आप मेरा विश्वास कीजिये ॥

अहं हि मनसा ध्याता सर्वान् नेष्यामि वः सदा।
(न यातुधान्यहं त्वार्ये न चास्मि रजनीचरी।
कन्या रक्षस्सु साध्व्यस्मि राज्ञि सालकटङ्कटी ॥
पुत्रेण तव संयुक्ता युवतिर्देववर्णिनी।
सर्वान् वोऽहमुपस्थास्ये पुरस्कृत्य वृकोदरम् ॥
अप्रमत्ता प्रमत्तेषु शुश्रूषुरसकृत् त्वहम्।)
वृजिनात् तारयिष्यामि दुर्गेषु विषमेषु च ॥ ११ ॥
पृष्ठेन वो वहिष्यामि शीघ्रं गतिमभीप्सतः।
यूयं प्रसादं कुरुत भीमसेनो भजेत माम् ॥ १२ ॥

'आप अपने मनसे जब-जब मेरा स्मरण करेंगे, तब-तब सदा ही (सेवामें उपस्थित हो) मैं आपलोगोंको अभीष्ट स्थानोंमें पहुँचा दिया करूँगी। आर्ये! मैं न तो यातुधानी हूँ और न निशाचरी ही हूँ। महारानी! मैं राक्षस जातिकी सुशीला कन्या हूँ और मेरा नाम सालकटङ्कटी है। मैं देवोपम कान्तिसे युक्त और युवावस्थासे सम्पन्न हूँ। मेरे हृदयका संयोग आपके पुत्र भीमसेनके साथ हुआ है। मैं वृकोदरको सामने रखकर आप सब लोगोंकी सेवामें उपस्थित रहूँगी। आपलोग असावधान हों, तो भी मैं पूरी सावधानी रखकर निरन्तर आपकी सेवामें संलग्न रहूँगी। आपको संकटोंसे बचाऊँगी। दुर्गम एवं विषम स्थानोंमें यदि आप शीघ्रतापूर्वक अभीष्ट लक्ष्यतक जाना चाहते हों तो मैं आप सब लोगोंको अपनी पीठपर बिठाकर वहाँ पहुँचाऊँगी। आपलोग मुझपर कृपा करें, जिससे भीमसेन मुझे स्वीकार कर लें॥ ११-१२॥

आपदस्तरणे प्राणान् धारयेद् येन तेन वा।
सर्वमादृत्य कर्तव्यं तं धर्ममनुवर्तता॥ १३॥

'जिस उपायसे भी आपत्तिसे छुटकारा मिले और प्राणोंकी रक्षा हो सके, धर्मका अनुसरण करनेवाले पुरुषको वह सब स्वीकार करके उस उपायको काममें लाना चाहिये॥ १३॥

आपत्सु यो धारयति धर्मं धर्मविदुत्तमः।
व्यसनं ह्येव धर्मस्य धर्मिणामापदुच्यते॥ १४॥

'जो आपत्तिकालमें धर्मको धारण करता है, वही धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ है। धर्मपालनमें सङ्कट उपस्थित होना ही धर्मात्मा पुरुषोंके लिये आपत्ति कही जाती है॥ १४॥

पुण्यं प्राणान् धारयति पुण्यं प्राणदमुच्यते।
येन येनाचरेद् धर्मं तस्मिन् गर्हा न विद्यते॥ १५॥

'पुण्य ही प्राणोंको धारण करता है, इसलिये पुण्य प्राणदाता कहलाता है; अतः जिस-जिस उपायसे धर्मका आचरण हो सके, उसके करनेमें कोई निन्दाकी बात नहीं है॥ १५॥

(महतोऽत्र स्त्रियं कामाद् बाधितां त्राहि मामपि।
धर्मार्थकाममोक्षेषु दयां कुर्वन्ति साधवः॥
तं तु धर्ममिति प्राहुर्मुनयो धर्मवत्सलाः।
दिव्यज्ञानेन पश्यामि अतीतानागतानहम्॥
तस्माद् वक्ष्यामि वः श्रेय आसन्नं सर उत्तमम्।
अद्यास्माद सरः स्नात्वा विश्रम्य च वनस्पतौ॥
व्यासं कमलपत्राक्षं दृष्ट्वा शोकं विहास्यथ॥
धार्तराष्ट्राद् विवासश्च दहनं वारणावते।
त्राणं च विदुरात् तुभ्यं विदितं ज्ञानचक्षुषा॥
आवासे शालिहोत्रस्य स च वासं विधास्यति।
वर्षवातातपसहः अयं पुण्यो वनस्पतिः॥
पीतमात्रे तु पानीये क्षुत्पिपासे विनश्यतः।
तपसा शालिहोत्रेण सरो वृक्षश्च निर्मितः॥
कादम्बाः सारसा हंसाः कुरर्यः कुररैः सह।
रुवन्ति मधुरं गीतं गान्धर्वस्वनमिश्रितम्॥

'मैं महती कामवेदनासे पीड़ित एक नारी हूँ, अतः आप मेरी भी रक्षा कीजिये। साधु पुरुष धर्म, अर्थ, काम और मोक्षकी सिद्धिके सभी पुरुषार्थोंके लिये शरणागतोंपर दया करते हैं। धर्मानुरागी महर्षि दयाको ही श्रेष्ठ धर्म मानते हैं। मैं दिव्य ज्ञानसे भूत और भविष्यकी घटनाओंको देखती हूँ। अतः आपलोगोंके कल्याणकी बात बता रही हूँ। यहाँसे थोड़ी ही दूरपर एक उत्तम सरोवर है। आपलोग आज वहाँ जाकर उस सरोवरमें स्नान करके वृक्षके नीचे विश्राम करें। कुछ दिन बाद कमलनयन व्यासजीका दर्शन पाकर आपलोग शोकमुक्त हो जायँगे। दुर्योधनके द्वारा आपलोगोंका हस्तिनापुरसे निकाला जाना, वारणावत नगरमें जलाया जाना और विदुरजीके प्रयत्नसे आप सब लोगोंकी रक्षा होनी, आदि बातें उन्हें ज्ञान-दृष्टिसे ज्ञात हो गयी हैं। वे महात्मा व्यास शालिहोत्र मुनिके आश्रममें निवास करेंगे। उनके आश्रमका वह पवित्र वृक्ष सर्दी, गर्मी और वर्षाको अच्छी तरह सहनेवाला है। वहाँ केवल जल पी लेनेसे भूख-प्यास दूर हो जाती है। शालिहोत्र मुनिने अपनी तपस्याद्वारा पूर्वोक्त सरोवर और वृक्षका निर्माण किया है। वहाँ कादम्ब, सारस, हंस, कुररी और कुरर आदि पक्षी संगीतकी ध्वनिसे मिश्रित मधुर गीत गाते रहते हैं'॥

वैशम्पायन उवाच

तस्यास्तद् वचनं श्रुत्वा कुन्ती वचनमब्रवीत्।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं सर्वशास्त्रविशारदम्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! हिडिम्बाका यह वचन सुनकर कुन्तीदेवीने सम्पूर्ण शास्त्रोंमें पारंगत परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा॥

कुन्त्युवाच

त्वं हि धर्मभृतां श्रेष्ठ मयोक्तं शृणु भारत।
राक्षस्येषा हि वाक्येन धर्मं वदति साधु वै॥
भावेन दुष्टा भीमं सा किं करिष्यति राक्षसी।
भजतां पाण्डवं वीरमपत्यार्थं यदीच्छसि॥)

कुन्ती बोली—धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ भारत! मैं जो कहती हूँ, उसे तुम सुनो; यह राक्षसी अपनी वाणीद्वारा तो उत्तम धर्मका ही प्रतिपादन करती है। यदि इसकी हार्दिक भावना भीमसेनके प्रति दूषित हो, तो भी यह उनका क्या बिगाड़ लेगी? अतः यदि तुम्हारी सम्मति हो तो यह संतानके लिये कुछ कालतक मेरे वीर पुत्र पाण्डुनन्दन भीमसेनकी सेवामें रहे॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमेतद् यथाऽऽत्थ त्वं हिडिम्बे नात्र संशयः ।
स्थातव्यं तु त्वया सत्ये यथा ब्रूयां सुमध्यमे ॥ १६ ॥

युधिष्ठिर बोले—हिडिम्बे ! तुम जैसा कह रही हो, वह सब ठीक है; इसमें संशय नहीं है । परंतु सुमध्यमे ! मैं जैसे कहूँ, उसी प्रकार तुम्हें सत्यपर स्थिर रहना चाहिये ॥ १६ ॥

स्नातं कृताह्निकं भद्रे कृतकौतुकमङ्गलम् ।
भीमसेनं भजेथास्त्वं प्रागस्तगमनाद् रवेः ॥ १७ ॥

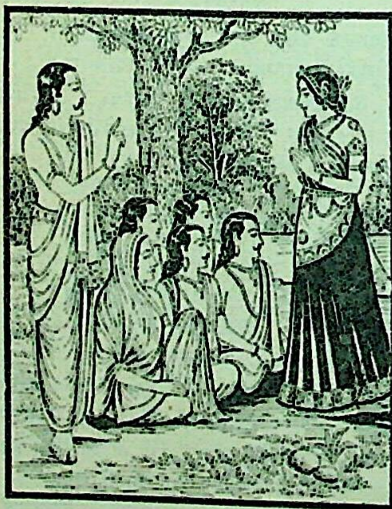
भद्रे ! जब भीमसेन स्नान, नित्यकर्म तथा माङ्गलिक वेशभूषा आदि धारण कर लें, तब तुम प्रतिदिन उनके साथ रहकर सूर्यास्त होनेसे पहलेतक ही उनकी सेवा कर सकती हो ॥ १७ ॥

अहस्सु विहरानेन यथाकामं मनोजवा ।
अयं त्वानयितव्यस्ते भीमसेनः सदा निशि ॥ १८ ॥

तुम मनके समान वेगसे चलने-फिरनेवाली हो, अतः दिनभर तो तुम इनके साथ अपनी इच्छाके अनुसार विहार करो, परंतु रातको सदा ही तुम्हें भीमसेनको (हमारे पास) पहुँचा देना होगा ॥ १८ ॥

(प्राक् संध्यातो विमोक्तव्यो रक्षितव्यश्च नित्यशः ।
एवं रमस्व भीमेन यावद् गर्भस्य वेदनम् ॥
एष ते समयो भद्रे शुश्रूष्यश्चाप्रमत्तया ।
नित्यानुकूलया भूत्वा कर्तव्यं शोभनं त्वया ॥

संध्याकाल आनेसे पहले ही इन्हें छोड़ देना होगा और नित्य-निरन्तर इनकी रक्षा करनी होगी । इस शर्तपर तुम



भीमसेनके साथ सुखपूर्वक तबतक रहो, जबतक कि तुम्हें यह पता न चल जाय कि तुम्हारे गर्भमें बालक आ गया है । भद्रे ! यही तुम्हारे लिये पालन करने योग्य नियम है । तुम्हें सावधान होकर भीमसेनकी सेवा करनी चाहिये और नित्य उनके अनुकूल होकर सदा उनकी भलाईमें संलग्न रहना चाहिये ॥

युधिष्ठिरेणैवमुक्ता कुन्त्या चाङ्केऽधिरोपिता ।
भीमार्जुनान्तरगता यमाभ्यां च पुरस्कृता ॥
तिर्यग् युधिष्ठिरे याति हिडिम्बा भीमगामिनी ।
शालिहोत्रसरो रम्यमासेदुस्ते जलार्थिनः ॥
तत् तथेति प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा ।
वनस्पतितलं गत्वा परिमृज्य गृहं यथा ॥
पाण्डवानां च वासं सा कृत्वा पर्णमयं तथा ।
आत्मनश्च तथा कुन्त्या एकोद्देशे चकार सा ॥
पाण्डवास्तु ततः स्नात्वा शुद्धाः संध्यामुपास्य च ।
तृषिताः क्षुत्पिपासार्ता जलमात्रेण वर्तयन् ॥
शालिहोत्रस्ततो ज्ञात्वा क्षुधार्तान् पाण्डवांस्तदा ।
मनसा चिन्तयामास पानीयं भोजनं महत् ।
ततस्ते पाण्डवाः सर्वे विश्रान्ताः पृथया सह ॥
यथा जतुगृहे वृत्तं राक्षसेन कृतं च यत् ।
कृत्वा कथा बहुविधाः कथान्ते पाण्डुनन्दनम् ॥
कुन्तिराजसुता वाक्यं भीमसेनमथाब्रवीत् ॥

युधिष्ठिरके यों कहनेपर कुन्तीने हिडिम्बाको अपने हृदयसे लगा लिया । तदनन्तर वह युधिष्ठिरसे कुछ दूरीपर रहकर भीमके साथ चल पड़ी । वह चलते समय भीम और अर्जुनके बीचमें रहती थी । नकुल और सहदेव सदा उसे आगे करके चलते थे । (इस प्रकार) वे (सब) लोग जल पीनेकी इच्छासे शालिहोत्र मुनिके रमणीय सरोवरके तटपर जा पहुँचे । वहाँ कुन्ती तथा युधिष्ठिरने पहले जो शर्त रक्खी थी, उसे स्वीकार करके हिडिम्बा राक्षसीने वैसा ही कार्य करनेकी प्रतिज्ञा की । तत्पश्चात् उसने वृक्षके नीचे जाकर घरकी तरह झाड़ू लगायी और पाण्डवोंके लिये निवासस्थानका निर्माण किया । उन सबके लिये पर्णशाला तैयार करनेके बाद उसने अपने और कुन्तीके लिये एक दूसरी जगह कुटी बनायी । तदनन्तर पाण्डवोंने स्नान करके शुद्ध हो संध्योपासना किया और भूख-प्याससे पीड़ित होनेपर भी केवल जलका आहार किया । उस समय शालिहोत्र मुनिने उन्हें भूखसे व्याकुल जान मन-ही-मन उनके लिये प्रचुर अन्न-पानकी सामग्रीका चिन्तन किया (और उससे पाण्डवोंको भोजन कराया) । तदनन्तर कुन्तीदेवीसहित सब पाण्डव विश्राम करने लगे । विश्रामके समय उनमें नाना प्रकारकी बातें होने लगीं—किस प्रकार लाक्षागृहमें उन्हें जलानेका प्रयत्न किया गया तथा फिर राक्षस हिडिम्बने उन लोगोंपर किस प्रकार आक्रमण किया इत्यादि प्रसङ्ग उनकी चर्चाके विषय थे । बातचीत समाप्त

होनेपर कुन्तिराजकुमारी कुन्तीने पाण्डुनन्दन भीमसेनसे इस प्रकार कहा—॥

कुन्त्युवाच

यथा पाण्डुस्तथा मान्यस्तव ज्येष्ठो युधिष्ठिरः।
अहं धर्मविधानेन मान्या गुरुतरा तव ॥
तस्मात् पाण्डुहितार्थं मे युवराज हितं कुरु।
निकृता धार्तराष्ट्रेण पापेनाकृतबुद्धिना ॥
दुष्कृतस्य प्रतीकारं न पश्यामि वृकोदर।
तस्मात् कतिपयाहेन योगक्षेमं भविष्यति ॥
क्षेमं दुर्गमिमं वासं वसिष्यामो यथासुखम्।
इदमद्य महद् दुःखं धर्मकृच्छ्रं वृकोदर ॥
दृष्ट्वैव त्वां महाप्राज्ञ अनङ्गाभिप्रचोदिता।
युधिष्ठिरं च मां चैव वरयामास धर्मतः ॥
धर्मार्थं देहि पुत्रं त्वं स नः श्रेयः करिष्यति।
प्रतिवाक्यं तु नेच्छामि ह्यावाभ्यां वचनं कुरु ॥)

कुन्ती बोली—युवराज ! तुम्हारे लिये जैसे महाराज पाण्डु माननीय थे, वैसे ही बड़े भाई युधिष्ठिर भी हैं। धर्मशास्त्रकी दृष्टिसे मैं उनकी अपेक्षा भी अधिक गौरवकी पात्र तथा सम्माननीय हूँ। अतः तुम महाराज पाण्डुके हितके लिये मेरी एक हितकर आज्ञाका पालन करो। वृकोदर ! अपवित्र बुद्धिवाले पापात्मा दुर्योधनने हमारे साथ जो दुष्टता की है, उसके प्रतिशोधका उपाय मुझे कोई नहीं दिखायी देता। अतः कुछ दिनोंके बाद भले ही हमारा योगक्षेम सिद्ध हो। यह निवासस्थान अत्यन्त दुर्गम होनेके कारण हमारे लिये कल्याणकारी सिद्ध होगा। हम यहाँ सुखपूर्वक रहेंगे। महाप्राज्ञ भीमसेन ! आज यह हमारे सामने अत्यन्त दुःखद धर्मसंकट उपस्थित हुआ है कि हिडिम्बा तुम्हें देखते ही कामसे प्रेरित हो मेरे और युधिष्ठिरके पास आकर धर्मतः तुम्हें पतिके रूपमें वरण कर चुकी है। मेरी आज्ञा है कि तुम उसे धर्मके लिये एक पुत्र प्रदान करो। वह हमारे लिये कल्याणकारी होगा। मैं इस विषयमें तुम्हारा कोई प्रतिवाद नहीं सुनना चाहती। तुम हम दोनोंके सामने प्रतिज्ञा करो॥

वैशम्पायन उवाच

तथेति तत् प्रतिज्ञाय भीमसेनोऽब्रवीदिदम्।
शृणु राक्षसि सत्येन समयं ते वदाम्यहम् ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! 'बहुत अच्छा' कहकर भीमसेनने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की (और हिडिम्बाके साथ गान्धर्व-विवाह कर लिया) तत्पश्चात् भीमसेन हिडिम्बासे इस प्रकार बोले—'राक्षसी ! सुनो, मैं सत्यकी शपथ खाकर तुम्हारे सामने एक शर्त रखता हूँ ॥ १९ ॥

यावत् कालेन भवति पुत्रस्योत्पादनं शुभे।
तावत् कालं गमिष्यामि त्वया सह सुमध्यमे ॥ २० ॥

'शुभे ! सुमध्यमे ! जबतक तुम्हें पुत्रकी उत्पत्ति न हो जाय तभीतक मैं तुम्हारे साथ विहारके लिये चलूँगा' ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथेति तत् प्रतिज्ञाय हिडिम्बा राक्षसी तदा।
भीमसेनमुपादाय सोर्ध्वमाचक्रमे ततः ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब 'ऐसा ही होगा' यह प्रतिज्ञा करके हिडिम्बा राक्षसी भीमसेनको साथ ले वहाँसे ऊपर आकाशमें उड़ गयी ॥ २१ ॥

शैलशृङ्गेषु रम्येषु देवतायतनेषु च।
मृगपक्षिविघुष्टेषु रमणीयेषु सर्वदा ॥ २२ ॥
कृत्वा च परमं रूपं सर्वाभरणभूषिता।
संजल्पन्ती सुमधुरं रमयामास पाण्डवम् ॥ २३ ॥
तथैव वनदुर्गेषु पुष्पितद्रुमवल्लिषु।
सरस्सु रमणीयेषु पद्मोत्पलयुतेषु च ॥ २४ ॥
नदीद्वीपप्रदेशेषु वैदूर्यसिकतासु च।
सुतीर्थवनतोयासु तथा गिरिनदीषु च ॥ २५ ॥
काननेषु विचित्रेषु पुष्पितद्रुमवल्लिषु।
हिमवद्गिरिकुञ्जेषु गुहासु विविधासु च ॥ २६ ॥
प्रफुल्लशतपत्रेषु सरस्स्वमलवारिषु।
सागरस्य प्रदेशेषु मणिहेमचितेषु च ॥ २७ ॥
पल्वलेषु च रम्येषु महाशालवनेषु च।
देवारण्येषु पुण्येषु तथा पर्वतसानुषु ॥ २८ ॥
गुह्यकानां निवासेषु तापसायतनेषु च।
सर्वर्तुफलरम्येषु मानसेषु सरस्सु च ॥ २९ ॥
बिभ्रती परमं रूपं रमयामास पाण्डवम्।
रमयन्ती तथा भीमं तत्र तत्र मनोजवा ॥ ३० ॥

उसने रमणीय पर्वतशिखरोंपर, देवताओंके निवासस्थानोंमें तथा जहाँ बहुतसे पशु-पक्षी मधुर शब्द करते रहते हैं, ऐसे सुरम्य प्रदेशोंमें सदा परम सुन्दर रूप धारण करके, सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो मीठी-मीठी बातें करके पाण्डुनन्दन भीमसेनको सुख पहुँचाया। इसी प्रकार पुष्पित वृक्षों और लताओंसे सुशोभित दुर्गम वनोंमें, कमल और उत्पल आदिसे अलंकृत रमणीय सरोवरोंमें, नदियोंके द्वीपोंमें तथा जहाँकी बालुका वैदूर्यमणिके समान है, जिनके घाट, तटवर्ती वन तथा जल सभी सुन्दर एवं पवित्र हैं, उन पर्वतीय नदियोंमें, विकसित वृक्षों और लता-वल्लरियोंसे विभूषित विचित्र काननोंमें, हिमवान् पर्वतके कुञ्जों और भाँति-भाँतिकी गुफाओंमें, खिले हुए कमलसमूहसे युक्त निर्मल जलवाले सरोवरोंमें, मणियों और सुवर्णसे सम्पन्न समुद्र-तटवर्ती प्रदेशोंमें, छोटे-छोटे सुन्दर तालाबोंमें, बड़े-बड़े शालवृक्षोंके जंगलोंमें, पवित्र देववनोंमें, पर्वतीय शिखरोंपर, गुह्यकोंके निवासस्थानोंमें, सभी ऋतुओंके फलोंसे सम्पन्न तपस्वी मुनियोंके सुरम्य आश्रमोंमें तथा मानसरोवर एवं अन्य जलाशयोंमें घूम-फिरकर हिडिम्बाने

परम सुन्दर रूप धारण करके पाण्डुनन्दन भीमसेनके साथ रमण किया । वह मनके समान वेगसे चलनेवाली थी, अतः उन-उन स्थानोंमें भीमसेनको आनन्द प्रदान करती हुई विचरती रहती थी ॥ २२–३० ॥

प्रजज्ञे राक्षसी पुत्रं भीमसेनान्महाबलम् ।
विरूपाक्षं महावक्त्रं शङ्कुकर्णं विभीषणम् ॥ ३१ ॥

कुछ कालके पश्चात् उस राक्षसीने भीमसेनसे एक महान् बलवान् पुत्र उत्पन्न किया, जिसकी आँखें विकराल, मुख विशाल और कान शङ्कुके समान थे । वह देखनेमें बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ ३१ ॥

भीमनादं सुताम्रोष्ठं तीक्ष्णदंष्ट्रं महाबलम् ।
महेष्वासं महावीर्यं महासत्त्वं महाभुजम् ॥ ३२ ॥
महाजवं महाकायं महामायमरिंदमम् ।
दीर्घघोणं महोरस्कं विकटोद्बद्धपिण्डिकम् ॥ ३३ ॥

उसकी आवाज बड़ी भयानक थी । सुन्दर लाल-लाल ओठ, तीखी दाढ़ें, महान् बल, बहुत बड़ा धनुष, महान् पराक्रम, अत्यन्त धैर्य और साहस, बड़ी-बड़ी भुजाएँ, महान् वेग और विशाल शरीर—ये उसकी विशेषताएँ थीं । वह महामायावी राक्षस अपने शत्रुओंका दमन करनेवाला था । उसकी नाक बहुत बड़ी, छाती चौड़ी तथा पैरोंकी दोनों पिंडलियाँ टेढ़ी और ऊँची थीं ॥ ३२-३३ ॥

अमानुषं मानुषजं भीमवेगं महाबलम् ।
यः पिशाचानतीत्यान्यान् बभूवातीव राक्षसान् ॥ ३४ ॥

यद्यपि उसका जन्म मनुष्यसे हुआ था तथापि उसकी आकृति और शक्ति अमानुषिक थी । उसका वेग भयंकर और बल महान् था । वह दूसरे पिशाचों तथा राक्षसोंसे बहुत अधिक शक्तिशाली था ॥ ३४ ॥

बालोऽपि यौवनं प्राप्तो मानुषेषु विशाम्पते ।
सर्वास्त्रेषु परं वीरः प्रकर्षमगमद् बली ॥ ३५ ॥

राजन् ! अवस्थामें बालक होनेपर भी वह मनुष्योंमें युवक-सा प्रतीत होता था । उस बलवान् वीरने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंमें बड़ी निपुणता प्राप्त की थी ॥ ३५ ॥

सद्यो हि गर्भान् राक्षस्यो लभन्ते प्रसवन्ति च ।
कामरूपधराश्चैव भवन्ति बहुरूपिकाः ॥ ३६ ॥

राक्षसियाँ जब गर्भ धारण करती हैं, तब तत्काल ही उसको जन्म दे देती हैं । वे इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली और नाना प्रकारके रूप बदलनेवाली होती हैं ॥ ३६ ॥

प्रणम्य विकचः पादावगृह्णात् स पितुस्तदा ।
मातुश्च परमेष्वासस्तौ च नामास्य चक्रतुः ॥ ३७ ॥

उस महान् धनुर्धर बालकने पैदा होते ही पिता और माताके चरणोंमें प्रणाम किया । उसके सिरमें बाल नहीं थे । उस समय पिता और माताने उसका इस प्रकार नामकरण किया ॥ ३७ ॥

घटो ह्यस्योत्कच इति माता तं प्रत्यभाषत ।
अब्रवीत् तेन नामास्य घटोत्कच इति स्म ह ॥ ३८ ॥

बालककी माताने भीमसेनसे कहा—'इसका घट (सिर) उत्कच[1] अर्थात् केशरहित है ।' उसके इस कथनसे ही उसका नाम घटोत्कच हो गया ॥ ३८ ॥

अनुरक्तश्च तानासीत् पाण्डवान् स घटोत्कचः ।
तेषां च दयितो नित्यमात्मनित्यो बभूव ह ॥ ३९ ॥

घटोत्कचका पाण्डवोंके प्रति बड़ा अनुराग था और पाण्डवोंको भी वह बहुत प्रिय था । वह सदा उनकी आज्ञाके अधीन रहता था ॥ ३९ ॥

संवाससमयो जीर्ण इत्याभाष्य ततस्तु तान् ।
हिडिम्बा समयं कृत्वा स्वां गतिं प्रत्यपद्यत ॥ ४० ॥

तदनन्तर हिडिम्बा पाण्डवोंसे यह कहकर कि भीमसेनके साथ रहनेका मेरा समय समाप्त हो गया, आवश्यकताके समय पुनः मिलनेकी प्रतिज्ञा करके अपने अभीष्ट स्थानको चली गयी ॥ ४० ॥

घटोत्कचो महाकायः पाण्डवान् पृथया सह ।
अभिवाद्य यथान्यायमब्रवीच्च प्रभाष्य तान् ॥ ४१ ॥
किं करोम्यहमार्याणां निःशङ्कं वदतानघाः ।
तं ब्रुवन्तं भैमसेनिं कुन्ती वचनमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

तत्पश्चात् विशालकाय घटोत्कचने कुन्तीसहित पाण्डवोंको यथायोग्य प्रणाम करके उन्हें सम्बोधित करके कहा—'निष्पाप गुरुजन ! आप निःशङ्क होकर बतायें, मैं आपकी क्या सेवा करूँ ।' इस प्रकार पूछनेवाले भीमसेनकुमारसे कुन्तीने कहा—॥ ४१-४२ ॥

त्वं कुरूणां कुले जातः साक्षाद् भीमसमो ह्यसि ।
ज्येष्ठः पुत्रोऽसि पञ्चानां साहाय्यं कुरु पुत्रक ॥ ४३ ॥

'बेटा ! तुम्हारा जन्म कुरुकुलमें हुआ है । तुम मेरे लिये साक्षात् भीमसेनके समान हो । पाँचों पाण्डवोंके ज्येष्ठ पुत्र हो, अतः हमारी सहायता करो' ॥ ४३ ॥

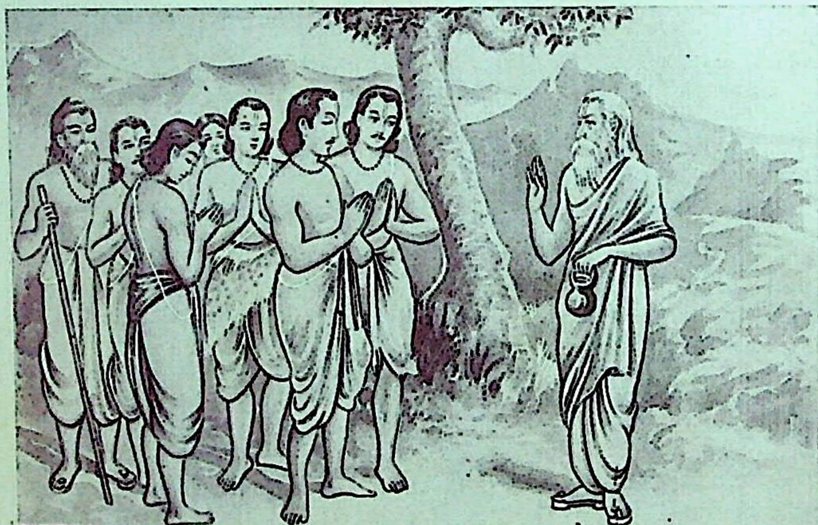
वैशम्पायन उवाच

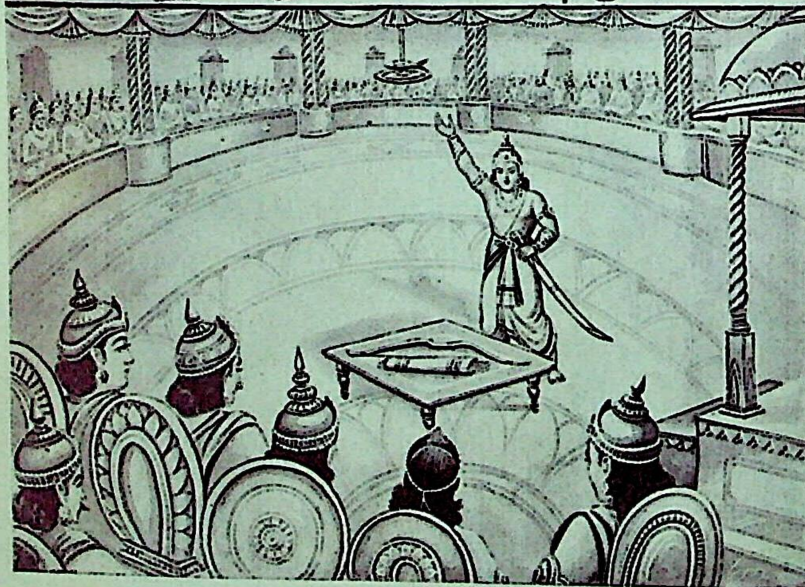
पृथयाप्येवमुक्तस्तु प्रणम्यैव वचोऽब्रवीत् ।
यथा हि रावणो लोके इन्द्रजिच्च महाबलः ।
वर्ष्मवीर्यसमो लोके विशिष्टश्चाभवं नृषु ॥ ४४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीके यों कहनेपर घटोत्कचने प्रणाम करके ही उनसे कहा—

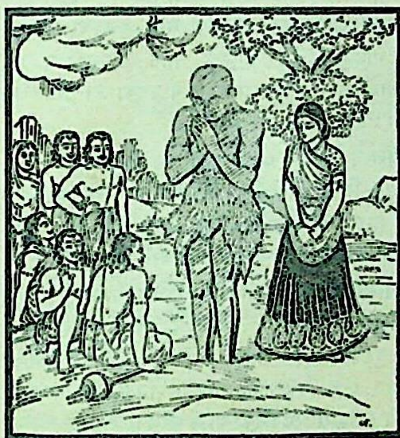
[1] कोई-कोई उत्कचका अर्थ 'ऊपर उठे हुए बालोंवाला' भी करते हैं।

पाण्डवोंकी व्यासजीसे भेंट





धृष्टद्युम्नकी घोषणा



'दादीजी ! लोकमें जैसे रावण और मेघनाद बहुत बड़े बलवान् थे, उसी प्रकार इस मानव-जगत्में मैं भी उन्हींके समान विशालकाय और महापराक्रमी हूँ; बल्कि उनसे भी बढ़कर हूँ ॥ ४४ ॥

कृत्यकाल उपस्थास्ये पितॄनिति घटोत्कचः।
आमन्त्र्य रक्षसां श्रेष्ठः प्रतस्थे चोत्तरां दिशम् ॥ ४५ ॥

'जब मेरी आवश्यकता होगी, उस समय मैं स्वयं अपने पितृवर्गकी सेवामें उपस्थित हो जाऊँगा ।' यों कहकर राक्षसश्रेष्ठ घटोत्कच पाण्डवोंसे आज्ञा लेकर उत्तर दिशाकी ओर चला गया ॥ ४५ ॥

स हि सृष्टो मघवता शक्तिहेतोर्महात्मना।
कर्णस्याप्रतिवीर्यस्य प्रतियोद्धा महारथः ॥ ४६ ॥

महामना इन्द्रने अनुपम पराक्रमी कर्णकी शक्तिका आघात सहन करनेके लिये घटोत्कचकी सृष्टि की थी। वह कर्णके सम्मुख युद्ध करनेमें समर्थ महारथी वीर था ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि घटोत्कचोत्पत्तौ चतुष्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५४ ॥
इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें घटोत्कचकी उत्पत्तिविषयक एक सौ चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५४ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३३ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंको व्यासजीका दर्शन और उनका एकचक्रा नगरीमें प्रवेश

वैशम्पायन उवाच

ते वनेन वनं गत्वा घ्नन्तो मृगगणान् बहून्।
अपक्रम्य ययू राजंस्त्वरमाणा महारथाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वे महारथी पाण्डव उस स्थानसे हटकर एक वनसे दूसरे वनमें जाकर बहुत-से हिंसक पशुओंको मारते हुए बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़े ॥ १ ॥

मत्स्यांस्त्रिगर्तान् पञ्चालान् कीचकानन्तरेण च।
रमणीयान् वनोद्देशान् प्रेक्षमाणाः सरांसि च ॥ २ ॥

मत्स्य, त्रिगर्त, पञ्चाल तथा कीचक—इन जनपदोंके भीतर होकर रमणीय वनस्थलियों और सरोवरोंको देखते हुए वे लोग यात्रा करने लगे ॥ २ ॥

जटाः कृत्वाऽऽत्मनः सर्वे वल्कलाजिनवाससः।
सह कुन्त्या महात्मानो बिभ्रतस्तापसं वपुः ॥ ३ ॥
क्वचिद् वहन्तो जननीं त्वरमाणा महारथाः।
क्वचिच्छन्देन गच्छन्तस्ते जग्मुः प्रसभं पुनः ॥ ४ ॥

उन सबने अपने सिरपर जटाएँ रख ली थीं। वल्कल और मृगचर्मसे अपने शरीरको ढँक लिया था और तपस्वीका-सा वेष धारण कर रक्खा था। इस प्रकार वे महारथी महात्मा पाण्डव माता कुन्तीदेवीके साथ कहीं तो उन्हें पीठपर ढोते हुए तीव्र गतिसे चलते थे, कहीं इच्छानुसार धीरे-धीरे पाँव बढ़ाते थे और कहीं पुनः अपनी चाल तेज कर देते थे ॥ ३-४ ॥

ब्राह्मं वेदमधीयाना वेदाङ्गानि च सर्वशः।
नीतिशास्त्रं च सर्वज्ञा ददृशुस्ते पितामहम् ॥ ५ ॥

पाण्डवलोग सब शास्त्रोंके ज्ञाता थे और प्रतिदिन उपनिषद्, वेद-वेदाङ्ग तथा नीतिशास्त्रका स्वाध्याय किया करते थे। एक दिन जब वे स्वाध्यायमें लगे थे, उन्हें पितामह व्यासजीका दर्शन हुआ ॥ ५ ॥

तेऽभिवाद्य महात्मानं कृष्णद्वैपायनं तदा।
तस्थुः प्राञ्जलयः सर्वे सह मात्रा परंतपाः ॥ ६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले पाण्डवोंने उस समय महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायनको प्रणाम किया और अपनी माताके साथ वे सब लोग उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये ॥ ६ ॥

व्यास उवाच

मयेदं व्यसनं पूर्वं विदितं भरतर्षभाः।
यथा तु तैरधर्मेण धार्तराष्ट्रैर्विवासिताः ॥ ७ ॥
तद् विदित्वास्मि सम्प्राप्तश्चिकीर्षुः परमं हितम्।
न विषादोऽत्र कर्तव्यः सर्वमेतत् सुखाय वः ॥ ८ ॥

तब व्यासजीने कहा—भरतश्रेष्ठ पाण्डुकुमारो !

मैंने पहले ही तुमलोगोंपर आये हुए इस संकटको जान लिया था । धृतराष्ट्रके पुत्रोंने तुम्हें जिस प्रकार अधर्मपूर्वक राज्यसे बहिष्कृत किया है, वह सब जानकर तुम्हारा परम हित करनेके लिये मैं यहाँ आया हूँ । इसके लिये तुम्हें विषाद नहीं करना चाहिये; यह सब तुम्हारे भावी सुखके लिये हो रहा है ॥ ७-८ ॥

समास्ते चैव मे सर्वे यूयं चैव न संशयः ।
दीनतो बालतश्चैव स्नेहं कुर्वन्ति मानवाः ।
तस्मादभ्यधिकः स्नेहो युष्मासु मम साम्प्रतम् ॥ ९ ॥

इसमें संदेह नहीं कि मेरे लिये तुमलोग और धृतराष्ट्रके पुत्र दुर्योधन आदि सब समान ही हैं । फिर भी जहाँ दीनता और बचपन है, वहीं मनुष्य अधिक स्नेह करते हैं; इसी कारण इस समय तुमलोगोंपर मेरा अधिक स्नेह है ॥ ९ ॥

स्नेहपूर्वं चिकीर्षामि हितं वस्तन्निबोधत ।
इदं नगरमभ्याशे रमणीयं निरामयम् ।
वसतेह प्रतिच्छन्ना ममागमनकाङ्क्षिणः ॥ १० ॥

मैं स्नेहपूर्वक तुमलोगोंका हित करना चाहता हूँ । इसलिये मेरी बात सुनो । यहाँ पास ही जो यह रमणीय नगर है, इसमें रोग-व्याधिका भय नहीं है । अतः तुम सब लोग यहीं छिपकर रहो और मेरे पुनः आनेकी प्रतीक्षा करो ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स तान् समाश्वास्य व्यासः सत्यवतीसुतः ।
एकचक्रामभिगतः कुन्तीमाश्वासयत् प्रभुः ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार पाण्डवोंको भलीभाँति आश्वासन देकर सत्यवतीनन्दन भगवान् व्यास उन सबके साथ एकचक्रा नगरीके निकट गये । वहाँ उन्होंने कुन्तीको इस प्रकार सान्त्वना दी ॥ ११ ॥

व्यास उवाच

जीवत्पुत्रि सुतस्तेऽयं धर्मनित्यो युधिष्ठिरः ।
धर्मेण पृथिवीं जित्वा महात्मा पुरुषर्षभः ।
पृथिव्यां पार्थिवान् सर्वान् प्रशासिष्यति धर्मराट् ॥ १२ ॥

व्यासजी बोले—जीवित पुत्रोंवाली बहू ! तुम्हारे ये पुत्र नरश्रेष्ठ महात्मा धर्मराज युधिष्ठिर सदा धर्मपरायण हैं; अतः ये धर्मसे ही सारी पृथ्वीको जीतकर भूमण्डलके सम्पूर्ण राजाओंपर शासन करेंगे ॥ १२ ॥

पृथिवीमखिलां जित्वा सर्वां सागरमेखलाम् ।
भीमसेनार्जुनबलाद् भोक्ष्यते नात्र संशयः ॥ १३ ॥

भीमसेन और अर्जुनके बलसे समुद्रपर्यन्त सारी वसुधाको अपने अधिकारमें करके ये उसका उपभोग करेंगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १३ ॥

पुत्रास्तव च माद्र्याश्च सर्व एव महारथाः ।
स्वराष्ट्रे विहरिष्यन्ति सुखं सुमनसः सदा ॥ १४ ॥

तुम्हारे और माद्रीके सभी महारथी पुत्र सदा अपने राज्यमें प्रसन्नचित्त हो सुखपूर्वक विचरेंगे ॥ १४ ॥

यक्ष्यन्ति च नरव्याघ्रा निर्जित्य पृथिवीमिमाम् ।
राजसूयाश्वमेधाद्यैः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ॥ १५ ॥

पुरुषोंमें सिंहके समान बलवान् पाण्डव इस पृथ्वीको जीतकर प्रचुर दक्षिणासे सम्पन्न राजसूय तथा अश्वमेध आदि यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करेंगे ॥ १५ ॥

अनुगृह्य सुहृद्वर्गं भोगैश्वर्यसुखेन च ।
पितृपैतामहं राज्यमिमे भोक्ष्यन्ति ते सुताः ॥ १६ ॥

तुम्हारे ये पुत्र अपने सुहृदोंके समुदायको उत्तम भोग एवं ऐश्वर्य-सुखके द्वारा अनुगृहीत करके बाप-दादोंके राज्यका पालन एवं उपभोग करेंगे ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा निवेश्यैनान् ब्राह्मणस्य निवेशने ।
अब्रवीत् पाण्डवश्रेष्ठमृषिर्द्वैपायनस्तदा ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यों कहकर महर्षि द्वैपायनने इन सबको एक ब्राह्मणके घरमें ठहरा दिया और पाण्डवश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे कहा— ॥ १७ ॥

इह मासं प्रतीक्षध्वमागमिष्याम्यहं पुनः ।
देशकालौ विदित्वैव लप्स्यध्वं परमां मुदम् ॥ १८ ॥

'तुमलोग यहाँ एक मासतक मेरी प्रतीक्षा करो । मैं पुनः आऊँगा । देश और कालका विचार करके ही कोई कार्य करना चाहिये; इससे तुम्हें बड़ा सुख मिलेगा' ॥ १८ ॥

स तैः प्राञ्जलिभिः सर्वैस्तथेत्युक्तो नराधिप ।
जगाम भगवान् व्यासो यथागतमृषिः प्रभुः ॥ १९ ॥

राजन् ! उस समय सबने हाथ जोड़कर उनकी आज्ञा स्वीकार की । तदनन्तर शक्तिशाली महर्षि भगवान् व्यास जैसे आये थे, वैसे ही चले गये ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हिडिम्बवधपर्वणि एकचक्राप्रवेशे व्यासदर्शने पञ्चपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हिडिम्बवधपर्वमें पाण्डवोंका एकचक्रा नगरीमें प्रवेश और व्यासजीका दर्शनविषयक एक सौ पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५५ ॥

(बकवधपर्व)

षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणपरिवारका कष्ट दूर करनेके लिये कुन्तीकी भीमसेनसे बातचीत तथा ब्राह्मणके चिन्तापूर्ण उद्गार

जनमेजय उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः।
अत ऊर्ध्वं द्विजश्रेष्ठ किमकुर्वत पाण्डवाः॥ १॥

जनमेजयने पूछा—द्विजश्रेष्ठ! कुन्तीके महारथी पुत्र पाण्डव जब एकचक्रा नगरीमें पहुँच गये, उसके बाद उन्होंने क्या किया? ॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

एकचक्रां गतास्ते तु कुन्तीपुत्रा महारथाः।
ऊषुर्नातिचिरं कालं ब्राह्मणस्य निवेशने॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! एकचक्रा नगरीमें जाकर महारथी कुन्तीपुत्र थोड़े दिनोंतक एक ब्राह्मणके घरमें रहे। २।

रमणीयानि पश्यन्तो वनानि विविधानि च।
पार्थिवानपि चोद्देशान् सरितश्च सरांसि च॥ ३॥
चेरुर्भैक्षं तदा ते तु सर्व एव विशाम्पते।
बभूवुर्नागराणां च स्वैर्गुणैः प्रियदर्शनाः॥ ४॥

जनमेजय! उस समय वे सभी पाण्डव भाँति भाँतिके रमणीय वनों, सुन्दर भूभागों, सरिताओं और सरोवरोंका दर्शन करते हुए भिक्षाके द्वारा जीवन-निर्वाह करते थे। अपने उत्तम गुणोंके कारण वे सभी नागरिकोंके प्रीतिपात्र हो गये थे॥ ३-४॥

(दर्शनीया द्विजाः शुद्धा देवगर्भोपमाः शुभाः।
भैक्षानर्हाश्च राज्यार्हाः सुकुमारास्तपस्विनः॥
सर्वलक्षणसम्पन्ना भैक्षं नार्हन्ति नित्यशः।
कार्यार्थिनश्चरन्तीति तर्कयन्त इति ब्रुवन्॥
बन्धूनामागमाभित्यमुपचिन्त्य तु नागराः।
भाजनानि च पूर्णानि भक्ष्यभोज्यैरकारयन्॥
मौनव्रतेन संयुक्ता भैक्षं गृह्णन्ति पाण्डवाः।
माता चिरगतान् दृष्ट्वा शोचन्तीति च पाण्डवाः॥
त्वरमाणा निवर्तन्ते मातृगौरवयन्त्रिताः॥)

उन्हें देखकर नगरनिवासी आपसमें तर्क-वितर्क करते हुए इस प्रकारकी बातें करते थे—'ये ब्राह्मणलोग तो देखने ही योग्य हैं। इनके आचार-विचार शुद्ध एवं सुन्दर हैं। इनकी आकृति देवकुमारोंके समान जान पड़ती है। ये भीख माँगने योग्य नहीं, राज्य करनेके योग्य हैं। सुकुमार होते हुए भी तपस्यामें लगे हैं। इनमें सब प्रकारके शुभ लक्षण शोभा पाते हैं। ये कदापि भिक्षा ग्रहण करने योग्य नहीं हैं। शायद किसी कार्यवश भिक्षुओंके वेशमें विचर रहे हैं।' वे नागरिक पाण्डवोंके आगमनको अपने बन्धुजनोंका ही आगमन मानकर उनके लिये भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंसे भरे हुए पात्र तैयार रखते थे और मौनव्रतका पालन करनेवाले पाण्डव उनसे वह भिक्षा ग्रहण करते थे। हमें आये हुए बहुत देर हो गयी, इसलिये माताजी चिन्तामें पड़ी होंगी—यह सोचकर माताके गौरव-पाशमें बँधे हुए पाण्डव बड़ी उतावलीके साथ उनके पास लौट आते थे॥

निवेदयन्ति स्म तदा कुन्त्या भैक्षं सदा निशि।
तया विभक्तान् भागांस्ते भुञ्जते स्म पृथक् पृथक्॥ ५॥

प्रतिदिन रात्रिके आरम्भमें भिक्षा लाकर वे माता कुन्तीको सौंप देते और वे बाँटकर जिसके लिये जितना हिस्सा देतीं, उतना ही पृथक्-पृथक् लेकर पाण्डवलोग भोजन करते थे॥ ५॥

अर्धं ते भुञ्जते वीराः सह मात्रा परंतपाः।
अर्धं सर्वस्य भैक्षस्य भीमो भुङ्क्ते महाबलः॥ ६॥

वे चारों वीर परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ आधी भिक्षाका उपभोग करते थे और सम्पूर्ण भिक्षाका आधा भाग अकेले महाबली भीमसेन खाते थे॥ ६॥

तथा तु तेषां वसतां तस्मिन् राष्ट्रे महात्मनाम्।
अतिचक्राम सुमहान् कालोऽथ भरतर्षभ॥ ७॥

भरतवंशशिरोमणे! इस प्रकार उस राष्ट्रमें निवास करते हुए महात्मा पाण्डवोंका बहुत समय बीत गया॥ ७॥

ततः कदाचिद् भैक्षाय गतास्ते पुरुषर्षभाः।
संगत्या भीमसेनस्तु तत्रास्ते पृथया सह॥ ८॥

तदनन्तर एक दिन नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर आदि चार भाई भिक्षाके लिये गये; किंतु भीमसेन किसी कार्यविशेषके सम्बन्धसे कुन्तीके साथ वहाँ घरपर ही रह गये थे॥ ८॥

अथार्तिजं महाशब्दं ब्राह्मणस्य निवेशने।
भृशमुत्पतितं घोरं कुन्ती शुश्राव भारत॥ ९॥

भारत! उस दिन ब्राह्मणके घरमें सहसा बड़े जोरका भयानक आर्तनाद होने लगा, जिसे कुन्तीने सुना॥ ९॥

रोरूयमाणांस्तान् दृष्ट्वा परिदेवयतश्च सा।
कारुण्यात् साधुभावाच्च कुन्ती राजन् न चक्षमे॥ १०॥

राजन् ! उन ब्राह्मण-परिवारके लोगोंको बहुत रोते और विलाप करते देख कुन्तीदेवी अत्यन्त दयालुता तथा साधु-स्वभावके कारण सहन न कर सकीं ॥ १० ॥

मथ्यमानेन दुःखेन हृदयेन पृथा तदा।
उवाच भीमं कल्याणी कृपान्वितमिदं वचः ॥ ११ ॥
वसाम सुसुखं पुत्र ब्राह्मणस्य निवेशने।
अज्ञाता धार्तराष्ट्रस्य सत्कृता वीतमन्यवः ॥ १२ ॥

उस समय उनका दुःख मानो कुन्तीदेवीके हृदयको मथे डालता था। अतः कल्याणमयी कुन्ती भीमसेनसे इस प्रकार करुणायुक्त वचन बोलीं—'बेटा! हमलोग इस ब्राह्मणके घरमें दुर्योधनसे अज्ञात रहकर बड़े सुखसे निवास करते हैं। यहाँ हमारा इतना सत्कार हुआ है कि हम अपने दुःख और दैन्यको भूल गये हैं ॥ ११-१२ ॥

सा चिन्तये सदा पुत्र ब्राह्मणस्यास्य किं न्वहम्।
प्रियं कुर्यामिति गृहे यत् कुर्युरुषिताः सुखम् ॥ १३ ॥

'इसलिये पुत्र ! मैं सदा यही सोचती रहती हूँ कि इस ब्राह्मणका मैं कौन-सा प्रिय कार्य करूँ, जिसे किसीके घरमें सुखपूर्वक रहनेवाले लोग किया करते हैं ॥ १३ ॥

एतावान् पुरुषस्तात कृतं यस्मिन् न नश्यति।
यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्यादभ्यधिकं ततः ॥ १४ ॥

'तात ! जिसके प्रति किया हुआ उपकार उसका बदला चुकाये बिना नष्ट नहीं होता, वही पुरुष है (और इतना ही उसका पौरुष—मानवता है कि) दूसरा मनुष्य उसके प्रति जितना उपकार करे, वह उससे भी अधिक उस मनुष्यका प्रत्युपकार कर दे ॥ १४ ॥

तदिदं ब्राह्मणस्यास्य दुःखमापतितं ध्रुवम्।
तत्रास्य यदि साहाय्यं कुर्यामुपकृतं भवेत् ॥ १५ ॥

'इस समय निश्चय ही इस ब्राह्मणपर कोई भारी दुःख आ पड़ा है। यदि उसमें मैं इसकी सहायता करूँ तो वास्तविक उपकार हो सकता है' ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

ज्ञायतामस्य यद् दुःखं यतश्चैव समुत्थितम्।
विदित्वा व्यवसिष्यामि यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥ १६ ॥

भीमसेन बोले—माँ ! पहले यह मालूम करो कि इस ब्राह्मणको क्या दुःख है और वह किस कारणसे प्राप्त हुआ है। जान लेनेपर अत्यन्त दुष्कर होगा, तो भी मैं इसका कष्ट दूर करनेके लिये उद्योग करूँगा ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तौ कथयन्तौ च भूयः शुश्रुवतुः स्वनम्।
आर्तिजं तस्य विप्रस्य सभार्यस्य विशाम्पते ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! वे माँ-बेटे इस प्रकार बात कर ही रहे थे कि पुनः पत्नीसहित ब्राह्मणका आर्तनाद उनके कानोंमें पड़ा ॥ १७ ॥

अन्तःपुरं ततस्तस्य ब्राह्मणस्य महात्मनः।
विवेश त्वरिता कुन्ती बद्धवत्सेव सौरभी ॥ १८ ॥

तब कुन्तीदेवी तुरंत ही उस महात्मा ब्राह्मणके अन्तःपुरमें घुस गयीं—ठीक उसी तरह जैसे घरके भीतर बँधे हुए बछड़ेवाली गाय स्वयं ही उसके पास पहुँच जाती है ॥ १८ ॥

ततस्तं ब्राह्मणं तत्र भार्यया च सुतेन च।
दुहित्रा चैव सहितं ददर्शावनताननम् ॥ १९ ॥

भीतर जाकर कुन्तीने ब्राह्मणको वहाँ पत्नी, पुत्र और कन्याके साथ नीचे मुँह किये बैठे देखा ॥ १९ ॥

ब्राह्मण उवाच

धिगिदं जीवितं लोके गतसारमनर्थकम्।
दुःखमूलं पराधीनं भृशमप्रियभागि च ॥ २० ॥

ब्राह्मण देवता कह रहे थे—जगत्के इस जीवनको धिक्कार है; क्योंकि यह सारहीन, निरर्थक, दुःखकी जड़, पराधीन और अत्यन्त अप्रियका भागी है ॥ २० ॥

जीविते परमं दुःखं जीविते परमो ज्वरः।
जीविते वर्तमानस्य दुःखानामागमो ध्रुवः ॥ २१ ॥

जीनेमें महान् दुःख है। जीवनकालमें बड़ी भारी चिन्ताका सामना करना पड़ता है। जिसने जीवन धारण कर रक्खा है, उसे दुःखोंकी प्राप्ति अवश्य होती है ॥ २१ ॥

आत्मा ह्येको हि धर्मार्थौ कामं चैव निषेवते।
एतैश्च विप्रयोगोऽपि दुःखं परमनन्तकम् ॥ २२ ॥

जीवात्मा अकेला ही धर्म, अर्थ और कामका सेवन करता है। इनका वियोग होना भी उसके लिये महान् और अनन्त दुःखका कारण होता है ॥ २२ ॥

आहुः केचित् परं मोक्षं स च नास्ति कथंचन।
अर्थप्राप्तौ तु नरकः कृत्स्न एवोपपद्यते ॥ २३ ॥

कुछ लोग चारों पुरुषार्थोंमें मोक्षको ही सर्वोत्तम बतलाते हैं, किंतु वह भी मेरे लिये किसी प्रकार सुलभ नहीं है। अर्थकी प्राप्ति होनेपर तो नरकका सम्पूर्ण दुःख भोगना ही पड़ता है ॥ २३ ॥

अर्थेप्सुता परं दुःखमर्थप्राप्तौ ततोऽधिकम्।
जातस्नेहस्य चार्थेषु विप्रयोगे महत्तरम् ॥ २४ ॥

धनकी इच्छा सबसे बड़ा दुःख है किंतु धन प्राप्त करनेमें तो और भी अधिक दुःख है और जिसकी धनमें आसक्ति हो गयी है*, उसे उस धनका वियोग होने

* यावन्तो यस्य संयोगा द्रव्यैरिष्टैर्भवन्त्युत।
तावन्तोऽस्य निखन्यन्ते हृदये शोकशङ्कवः ॥

इतना महान् दुःख होता है, जिसकी कोई सीमा नहीं है ।२४।

न हि योगं प्रपश्यामि येन मुच्येयमापदः ।
पुत्रदारेण वा सार्धं प्राद्रवेयमनामयम् ॥ २५ ॥

मुझे ऐसा कोई उपाय नहीं दिखायी देता, जिससे इस विपत्तिसे छुटकारा पा सकूँ अथवा पुत्र और स्त्रीके साथ किसी निरापद स्थानमें भाग चलूँ ॥ २५ ॥

यतितं वै मया पूर्वं वेत्थ ब्राह्मणि तत् तथा ।
क्षेमं यतस्ततो गन्तुं त्वया तु मम न श्रुतम् ॥ २६ ॥

ब्राह्मणी! तुम इस बातको ठीक-ठीक जानती हो कि पहले तुम्हारे साथ किसी ऐसे स्थानमें चलनेके लिये जहाँ सब प्रकारसे अपना भला हो, मैंने प्रयत्न किया था; परंतु उस समय तुमने मेरी बात नहीं सुनी ॥ २६ ॥

इह जाता विवृद्धास्मि पिता चापि ममेति वै ।
उक्तवत्यसि दुर्मेधे याच्यमाना मयासकृत् ॥ २७ ॥

मूढमते! मैं बार-बार तुमसे अन्यत्र चलनेके लिये अनुरोध करता। उस समय तुम कहने लगती थीं—'यहीं मेरा जन्म हुआ, यहीं बड़ी हुई तथा मेरे पिता भी यहीं रहते थे' ॥

स्वर्गतोऽपि पिता वृद्धस्तथा माता चिरं तव ।
बान्धवा भूतपूर्वाश्च तत्र वासे तु का रतिः ॥ २८ ॥

अरी! तुम्हारे बूढ़े पिता-माता और पहलेके भाई-बन्धु जिसे छोड़कर बहुत दिन हुए स्वर्गलोकको चले गये, वहाँ निवास करनेके लिये यह आसक्ति कैसी? ॥ २८ ॥

सोऽयं ते बन्धुकामाया अशृण्वत्या वचो मम ।
बन्धुप्रणाशः सम्प्राप्तो भृशं दुःखकरो मम ॥ २९ ॥

तुमने बन्धु-बान्धवोंके साथ रहनेकी इच्छा रखकर जो मेरी बात नहीं सुनी, उसीका यह फल है कि आज समस्त भाई-बन्धुओंके विनाशकी घड़ी आ पहुँची है, जो मेरे लिये अत्यन्त दुःखका कारण है ॥ २९ ॥

अथवा मद्विनाशोऽयं न हि शक्ष्यामि कंचन ।
परित्यक्तुमहं बन्धुं स्वयं जीवन् नृशंसवत् ॥ ३० ॥

अथवा यह मेरे ही विनाशका समय है; क्योंकि मैं स्वयं जीवित रहकर क्रूर मनुष्यकी भाँति दूसरे किसी भाई-बन्धुका त्याग नहीं कर सकूँगा ॥ ३० ॥

सहधर्मचरीं दान्तां नित्यं मातृसमां मम ।
सखायं विहितां देवैर्नित्यं परमिकां गतिम् ॥ ३१ ॥

प्रिये! तुम मेरी सहधर्मिणी और इन्द्रियोंको संयममें रखनेवाली हो। । सदा सावधान रहकर माताके समान मेरा पालन-पोषण करती हो। देवताओंने तुम्हें मेरी सखी (सहायिका) बनाया है। तुम सदा मेरी परम गति (सबसे बड़ा सहारा) हो ॥ ३१ ॥

पित्रा मात्रा च विहितां सदा गार्हस्थ्यभागिनीम् ।
वरयित्वा यथान्यायं मन्त्रवत् परिणीय च ॥ ३२ ॥

तुम्हारे पिता-माताने तुम्हें सदाके लिये मेरे गृहस्थाश्रमकी अधिकारिणी बनाया है। मैंने विधिपूर्वक तुम्हारा वरण करके मन्त्रोच्चारणपूर्वक तुम्हारे साथ विवाह किया है ॥ ३२ ॥

कुलीनां शीलसम्पन्नामपत्यजननीमपि ।
त्वामहं जीवितस्यार्थे साध्वीमनपकारिणीम् ॥ ३३ ॥
परित्यक्तुं न शक्ष्यामि भार्यां नित्यमनुव्रताम् ।
कुत एव परित्यक्तुं सुतं शक्ष्याम्यहं स्वयम् ॥ ३४ ॥
बालमप्राप्तवयसमजातव्यञ्जनाकृतिम् ।
भर्तुरर्थाय निक्षिप्तां न्यासं धात्रा महात्मना ॥ ३५ ॥
यया दौहित्रजाँल्लोकानाशंसे पितृभिः सह ।
स्वयमुत्पाद्य तां बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥ ३६ ॥

तुम कुलीन, सुशीला और संतानवती हो, सती-साध्वी हो। तुमने कभी मेरा अपकार नहीं किया है। तुम नित्य मेरे अनुकूल चलनेवाली धर्मपत्नी हो। अतः मैं अपने जीवनकी रक्षाके लिये तुम्हें नहीं त्याग सकूँगा। फिर स्वयं ही अपने उस पुत्रका त्याग तो कैसे कर सकूँगा, जो अभी निरा बच्चा है, जिसने युवावस्थामें प्रवेश नहीं किया है तथा जिसके शरीरमें अभी जवानीके लक्षणतक नहीं प्रकट हुए हैं। साथ ही अपनी इस कन्याको कैसे त्याग दूँ, जिसे महात्मा ब्रह्माजी-ने उसके भावी पतिके लिये धरोहरके रूपमें मेरे यहाँ रख छोड़ा है? जिसके होनेसे मैं पितरोंके साथ दौहित्रजनित पुण्यलोकोंको पानेकी आशा रखता हूँ, उसी अपनी बालिका-को स्वयं ही जन्म देकर मैं मौतके मुखमें कैसे छोड़ सकता हूँ? ॥ ३३—३६ ॥

मन्यन्ते केचिदधिकं स्नेहं पुत्रे पितुर्नराः ।
कन्यायां केचिदपरे मम तुल्यावुभौ स्मृतौ ॥ ३७ ॥

कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि पिताका अधिक स्नेह पुत्र-पर होता है तथा कुछ दूसरे लोग पुत्रीपर ही अधिक स्नेह बताते हैं; किंतु मेरे लिये तो दोनों ही समान हैं ॥ ३७ ॥

यस्यां लोकाः प्रसूतिश्च स्थिता नित्यमथो सुखम् ।
अपापां तामहं बालां कथमुत्स्रष्टुमुत्सहे ॥ ३८ ॥

जिसपर पुण्यलोक, वंशपरम्परा और नित्य सुख — सब कुछ सदा निर्भर रहते हैं, उस निष्पाप बालिकाका परित्याग मैं कैसे कर सकता हूँ ॥ ३८ ॥

आत्मानमपि चोत्सृज्य तप्स्यामि परलोकगः ।
त्यक्ता ह्येते मया व्यक्तं नेह शक्ष्यन्ति जीवितुम् ॥ ३९ ॥

अपनेको भी त्यागकर परलोकमें जानेपर मैं सदा इस बातके लिये संतप्त होता रहूँगा कि मेरेद्वारा त्यागे हुए ये बच्चे अवश्य ही यहाँ जीवित नहीं रह सकेंगे ॥ ३९ ॥

एषां चान्यतमत्यागो नृशंसो गर्हितो बुधैः।
आत्मत्यागे कृते चेमे मरिष्यन्ति मया विना ॥ ४० ॥

इनमेंसे किसीका भी त्याग विद्वानोंने निर्दयतापूर्ण तथा निन्दनीय बताया है और मेरे मर जानेपर ये सभी मेरे बिना मर जायँगे ॥ ४० ॥

स कृच्छ्रामहमापन्नो न शक्तस्तर्तुमापदम्।
अहो धिक् कां गतिं त्वद्य गमिष्यामि सबान्धवः।
सर्वैः सह मृतं श्रेयो न च मे जीवितं क्षमम् ॥ ४१ ॥

अहो! मैं बड़ी कठिन विपत्तिमें फँस गया हूँ। इससे पार होनेकी मुझमें शक्ति नहीं है। धिक्कार है इस जीवनको! हाय! मैं बन्धु-बान्धवोंके साथ आज किस गतिको प्राप्त होऊँगा? सबके साथ मर जाना ही अच्छा है। मेरा जीवित रहना कदापि उचित नहीं है ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणचिन्तायां षट्पञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें ब्राह्मणचिन्ताविषयक एक सौ छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५६ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणीका स्वयं मरनेके लिये उद्यत होकर पतिसे जीवित रहनेके लिये अनुरोध करना

ब्राह्मण्युवाच

न संतापस्त्वया कार्यः प्राकृतेनेव कर्हिचित्।
न हि संतापकालोऽयं वैद्यस्य तव विद्यते ॥ १ ॥

ब्राह्मणी बोली—प्राणनाथ! आपको साधारण मनुष्योंकी भाँति कभी संताप नहीं करना चाहिये। आप विद्वान् हैं, आपके लिये यह संतापका अवसर नहीं है ॥ १ ॥

अवश्यं निधनं सर्वैर्गन्तव्यमिह मानवैः।
अवश्यम्भाविन्यर्थे वै संतापो नेह विद्यते ॥ २ ॥

एक-न-एक दिन संसारमें सभी मनुष्योंको अवश्य मरना पड़ेगा; अतः जो बात अवश्य होनेवाली है, उसके लिये यहाँ शोक करनेकी आवश्यकता नहीं है ॥ २ ॥

भार्या पुत्रोऽथ दुहिता सर्वमात्मार्थमिष्यते।
व्यथां जहि सुबुद्ध्या त्वं स्वयं यास्यामि तत्र च ॥ ३ ॥
एतद्धि परमं नार्याः कार्यं लोके सनातनम्।
प्राणानपि परित्यज्य यद् भर्तृहितमाचरेत् ॥ ४ ॥

पत्नी, पुत्र और पुत्री—ये सब अपने ही लिये अभीष्ट होते हैं। आप उत्तम बुद्धि-विवेकका आश्रय लेकर शोक संताप छोड़िये। मैं स्वयं वहाँ (राक्षसके समीप) चली जाऊँगी। पत्नीके लिये लोकमें सबसे बढ़कर यही सनातन कर्तव्य है कि वह अपने प्राणोंको भी निछावर करके पतिकी भलाई करे ॥ ३-४ ॥

तच्च तत्र कृतं कर्म तवापीदं सुखावहम्।
भवत्यमुत्र चाक्षय्यं लोकेऽस्मिंश्च यशस्करम् ॥ ५ ॥

पतिके हितके लिये किया हुआ मेरा वह प्राणोत्सर्गरूप कर्म आपके लिये तो सुखकारक होगा ही, मेरे लिये भी परलोकमें अक्षय सुखका साधक और इस लोकमें यशकी प्राप्ति करानेवाला होगा ॥ ५ ॥

एष चैव गुरुर्धर्मो यं प्रवक्ष्याम्यहं तव।
अर्थश्च तव धर्मश्च भूयानत्र प्रदृश्यते ॥ ६ ॥

यह सबसे बड़ा धर्म है, जो मैं आपसे बता रही हूँ। इसमें आपके लिये अधिक-से-अधिक स्वार्थ और धर्मका लाभ दिखायी देता है ॥ ६ ॥

यदर्थमिष्यते भार्या प्राप्तः सोऽर्थस्त्वया मयि।
कन्या चैका कुमारश्च कृताहमनृणा त्वया ॥ ७ ॥

जिस उद्देश्यसे पत्नीकी अभिलाषा की जाती है, आपने वह उद्देश्य मुझसे सिद्ध कर लिया है। एक पुत्री और एक पुत्र आपके द्वारा मेरे गर्भसे उत्पन्न हो चुके हैं। इस प्रकार आपने मुझे उऋण कर दिया है ॥ ७ ॥

समर्थः पोषणे चासि सुतयो रक्षणे तथा।
न त्वहं सुतयोः शक्ता तथा रक्षणपोषणे ॥ ८ ॥

इन दोनों संतानोंका पालन पोषण और संरक्षण करनेमें आप समर्थ हैं। आपकी तरह मैं इन दोनोंके पालन-पोषण और रक्षाकी व्यवस्था नहीं कर सकूँगी ॥ ८ ॥

मम हि त्वद्विहीनायाः सर्वप्राणधनेश्वर।
कथं स्यातां सुतौ बालौ भरेयं च कथं त्वहम् ॥ ९ ॥

मेरे सर्वस्वके स्वामी प्राणेश्वर! आपके न रहनेपर इन दोनों बच्चोंकी क्या दशा होगी? मैं किस तरह बालकोंका भरण-पोषण करूँगी? ॥ ९ ॥

कथं हि विधवानाथा बालपुत्रा विना त्वया।
मिथुनं जीवयिष्यामि स्थिता साधुगते पथि ॥ १० ॥

मेरा पुत्र अभी बालक है, आपके बिना मैं अनाथ विधवा सन्मार्गपर स्थित रहकर इन दोनों बच्चोंको जिलाऊँगी ॥ १० ॥

अहंकृतावलिप्तैश्च प्रार्थ्यमानामिमां सुताम्।
अयुक्तैस्तव सम्बन्धे कथं शक्ष्यामि रक्षितुम् ॥ ११ ॥

जो आपके यहाँ सम्बन्ध करनेके सर्वथा अयोग्य हैं,

अहंकारी और घमंडीलोग जब मुझसे इस कन्याको माँगेंगे, तब मैं उनसे इसकी रक्षा कैसे कर सकूँगी ॥ ११ ॥

उत्सृष्टमामिषं भूमौ प्रार्थयन्ति यथा खगाः।
प्रार्थयन्ति जनाः सर्वे पतिहीनां तथा स्त्रियम् ॥ १२ ॥
साहं विचाल्यमाना वै प्रार्थ्यमाना दुरात्मभिः।
स्थातुं पथि न शक्ष्यामि सज्जनेष्टे द्विजोत्तम ॥ १३ ॥

जैसे पक्षी पृथ्वीपर डाले हुए मांसके टुकड़ेको लेनेके लिये झपटते हैं, उसी प्रकार सब लोग विधवा स्त्रीको वशमें करना चाहते हैं। द्विजश्रेष्ठ ! दुराचारी मनुष्य जब बार-बार मुझसे याचना करते हुए मुझे मर्यादासे विचलित करनेकी चेष्टा करेंगे, उस समय मैं श्रेष्ठ पुरुषोंके द्वारा अभिलषित मार्गपर स्थिर नहीं रह सकूँगी ॥ १२-१३ ॥

कथं तव कुलस्यैकामिमां बालामनागसम्।
पितृपैतामहे मार्गे नियोक्तुमहमुत्सहे ॥ १४ ॥

आपके कुलकी इस एकमात्र निरपराध बालिकाको मैं बाप-दादोंके द्वारा पालित धर्ममार्गपर लगाये रखनेमें कैसे समर्थ होऊँगी ॥ १४ ॥

कथं शक्ष्यामि बालेऽस्मिन् गुणानाधातुमीप्सितान्।
अनाथे सर्वतो लुप्ते यथा त्वं धर्मदर्शिवान् ॥ १५ ॥

आप धर्मके ज्ञाता हैं, आप जैसे अपने बालकको सद्गुणी बना सकते हैं, उस प्रकार मैं आपके न रहनेपर सब ओरसे आश्रयहीन हुए इस अनाथ बालकमें वाञ्छनीय उत्तम गुणोंका आधान कैसे कर सकूँगी ॥ १५ ॥

इमामपि च ते बालामनाथां परिभूय माम्।
अनर्हाः प्रार्थयिष्यन्ति शूद्रा वेदश्रुतिं यथा ॥ १६ ॥

जैसे अनधिकारी शूद्र वेदकी श्रुतिको प्राप्त करना चाहता हो, उसी प्रकार अयोग्य पुरुष मेरी अवहेलना करके आपकी इस अनाथ बालिकाको भी ग्रहण करना चाहेंगे॥ १६ ॥

तां चेदहं न दित्सेयं त्वद्गुणैरुपबृंहिताम्।
प्रमथ्यैनां हरेयुस्ते हविर्ध्वाङ्क्षा इवाध्वरात् ॥ १७ ॥

आपके ही उत्तम गुणोंसे सम्पन्न अपनी इस पुत्रीको यदि मैं उन अयोग्य पुरुषोंके हाथमें न देना चाहूँगी तो वे बलपूर्वक इसे उसी प्रकार हर ले जायँगे, जैसे कौए यज्ञसे हविष्यका भाग लेकर उड़ जायँ ॥ १७ ॥

सम्प्रेक्षमाणा पुत्रं ते नानुरूपमिवात्मनः।
अनर्हवशमापन्नामिमां चापि सुतां तव ॥ १८ ॥
अवज्ञाता च लोकेषु तथाऽऽत्मानमजानती।
अवलिप्तैर्नरैर्ब्रह्मन् मरिष्यामि न संशयः ॥ १९ ॥

ब्रह्मन् ! आपके इस पुत्रको आपके अनुरूप न देखकर और आपकी इस पुत्रीको भी अयोग्य पुरुषके वशमें पड़ी देखकर तथा लोकमें घमंडी मनुष्योंद्वारा अपमानित हो अपनेको पूर्ववत् सम्मानित अवस्थामें न पाकर मैं प्राण त्याग दूँगी, इसमें संशय नहीं है ॥ १८-१९ ॥

तौ च हीनौ मया बालौ त्वया चैव तथाऽऽत्मजौ।
विनश्येतां न संदेहो मत्स्याविव जलक्षये ॥ २० ॥

जैसे पानी सूख जानेपर वहाँकी मछलियाँ नष्ट हो जाती हैं, उसी प्रकार मुझसे और आपसे रहित होकर अपने ये दोनों बच्चे निःसन्देह नष्ट हो जायँगे ॥ २० ॥

त्रितयं सर्वथाप्येवं विनशिष्यत्यसंशयम्।
त्वया विहीनं तस्मात् त्वं मां परित्यक्तुमर्हसि ॥ २१ ॥

नाथ ! इस प्रकार आपके बिना मैं और ये दोनों बच्चे—तीनों ही सर्वथा विनष्ट हो जायँगे—इसमें तनिक भी संशय नहीं है। इसलिये आप केवल मुझे त्याग दीजिये ॥ २१ ॥

व्युष्टिरेषा परा स्त्रीणां पूर्वं भर्तुः परां गतिम्।
गन्तुं ब्रह्मन् सपुत्राणामिति धर्मविदो विदुः ॥ २२ ॥

ब्रह्मन् ! पुत्रवती स्त्रियाँ यदि अपने पतिसे पहले ही मृत्युको प्राप्त हो जायँ तो यह उनके लिये परम सौभाग्यकी बात है। धर्मज्ञ विद्वान् ऐसा ही मानते हैं ॥ २२ ॥

(मितं ददाति हि पिता मितं माता मितं सुतः।
अमितस्य हि दातारं का पतिं नाभिनन्दति ॥)

पिता, माता और पुत्र-ये सब परिमित मात्रामें ही सुख देते हैं, अपरिमित सुखको देनेवाला तो केवल पति है। ऐसे पतिका कौन स्त्री आदर नहीं करेगी !

परित्यक्तः सुतश्चायं दुहितेयं तथा मया।
बान्धवाश्च परित्यक्तास्त्वदर्थं जीवितं च मे ॥ २३ ॥

आर्यपुत्र ! आपके लिये मैंने यह पुत्र और पुत्री भी छोड़ दी, समस्त बन्धु बान्धवोंको भी छोड़ दिया और अब अपना यह जीवन भी त्याग देनेको उद्यत हूँ ॥ २३ ॥

यज्ञैस्तपोभिर्नियमैर्दानैश्च विविधैस्तथा।
विशिष्यते स्त्रिया भर्तुर्नित्यं प्रियहिते स्थितिः ॥ २४ ॥

स्त्री यदि सदा अपने स्वामीके प्रिय और हितमें लगी रहे तो यह उसके लिये बड़े-बड़े यज्ञों, तपस्याओं, नियमों और नाना प्रकारके दानोंसे भी बढ़कर है ॥ २४ ॥

तदिदं यच्चिकीर्षामि धर्मं परमसम्मतम्।
इष्टं चैव हितं चैव तव चैव कुलस्य च ॥ २५ ॥

अतः मैं जो यह कार्य करना चाहती हूँ, यह श्रेष्ठ पुरुषोंसे सम्मत धर्म है और आपके तथा इस कुलके लिये सर्वथा अनुकूल एवं हितकारक है ॥ २५ ॥

इष्टानि चाप्यपत्यानि द्रव्याणि सुहृदः प्रियाः।
आपद्धर्मप्रमोक्षाय भार्या चापि सतां मतम् ॥ २६ ॥

अनुकूल संतान, धन, प्रिय सुहृद् तथा पत्नी—ये सभी आपद्धर्मसे छूटनेके लिये ही वाञ्छनीय हैं; ऐसा साधु पुरुषोंका मत है ॥ २६ ॥

आपदर्थं धनं रक्षेद् दारान् रक्षेद् धनैरपि।
आत्मानं सततं रक्षेद् दारैरपि धनैरपि ॥ २७ ॥

आपत्तिके लिये धनकी रक्षा करे, धनके द्वारा स्त्रीकी रक्षा करे और स्त्री तथा धन दोनोंके द्वारा सदा अपनी रक्षा करे ॥

दृष्टादृष्टफलार्थं हि भार्या पुत्रो धनं गृहम्।
सर्वमेतद् विधातव्यं बुधानामेष निश्चयः ॥ २८ ॥

पत्नी, पुत्र, धन और घर—ये सब वस्तुएँ दृष्ट और अदृष्ट फल (लौकिक और पारलौकिक लाभ) के लिये संग्रहणीय हैं। विद्वानोंका यह निश्चय है ॥ २८ ॥

एकतो वा कुलं कृत्स्नमात्मा वा कुलवर्धनः।
न समं सर्वमेवेति बुधानामेष निश्चयः ॥ २९ ॥

एक ओर सम्पूर्ण कुल हो और दूसरी ओर उस कुलकी वृद्धि करनेवाला शरीर हो तो उन दोनोंकी तुलना करनेपर वह सारा कुल उस शरीरके बराबर नहीं हो सकता; यह विद्वानोंका निश्चय है ॥ २९ ॥

स कुरुष्व मया कार्यं तारयात्मानमात्मना।
अनुजानीहि मामार्य सुतौ मे परिपालय ॥ ३० ॥

आर्य ! अतः आप मेरे द्वारा अभीष्ट कार्यकी सिद्धि कीजिये और स्वयं प्रयत्न करके अपनेको इस संकटसे बचाइये। मुझे राक्षसके पास जानेकी आज्ञा दीजिये और मेरे दोनों बच्चोंका पालन कीजिये ॥ ३० ॥

अवध्यां स्त्रियमित्याहुर्धर्मज्ञा धर्मनिश्चये।
धर्मज्ञान् राक्षसानाहुर्न हन्यात् स च मामपि ॥ ३१ ॥

धर्मज्ञ विद्वानोंने धर्म-निर्णयके प्रसङ्गमें नारीको अवध्य बताया है। राक्षसोंको भी लोग धर्मज्ञ कहते हैं। इसलिये सम्भव है, वह राक्षस भी मुझे स्त्री समझकर न मारे॥

निस्संशयं वधः पुंसां स्त्रीणां संशयितो वधः।
अतो मामेव धर्मज्ञ प्रस्थापयितुमर्हसि ॥ ३२ ॥

पुरुष वहाँ जायँ, तो वह राक्षस उनका वध कर ही डालेगा इसमें संशय नहीं है; परंतु स्त्रियोंके वधमें संदेह है। (यदि राक्षसने धर्मका विचार किया तो मेरे बच जानेकी आशा है) अतः धर्मज्ञ आर्यपुत्र ! आप मुझे ही वहाँ भेजें ॥ ३२ ॥

भुक्तं प्रियाण्यवाप्तानि धर्मश्च चरितो महान्।
त्वत्प्रसूतिःप्रिया प्राप्ता न मां तप्स्यत्यजीवितम् ॥ ३३ ॥

मैंने सब प्रकारके भोग भोग लिये, मनको प्रिय लगनेवाली वस्तुएँ प्राप्त कर लीं, महान् धर्मका अनुष्ठान भी पूरा कर लिया और आपसे प्यारी संतान भी प्राप्त कर ली। अब यदि मेरी मृत्यु भी हो जाय तो उससे मुझे दुःख न होगा ॥

जातपुत्रा च वृद्धा च प्रियकामा च ते सदा।
समीक्ष्यैतदहं सर्वं व्यवसायं करोम्यतः ॥ ३४ ॥

मुझसे पुत्र उत्पन्न हो गया, मैं बूढ़ी भी हो चली और सदा आपका प्रिय करनेकी इच्छा रखती आयी हूँ। इन सब बातोंपर विचार करके ही अब मैं मरनेका निश्चय कर रही हूँ ॥ ३४ ॥

उत्सृज्यापि हि मामार्य प्राप्स्यस्यन्यामपि स्त्रियम्।
ततः प्रतिष्ठितो धर्मो भविष्यति पुनस्तव ॥ ३५ ॥

आर्य ! मुझे त्याग करके आप दूसरी स्त्री भी प्राप्त कर सकते हैं। उससे आपका गृहस्थ-धर्म पुनः प्रतिष्ठित हो जायगा ॥

न चाप्यधर्मः कल्याण बहुपत्नीकृतां नृणाम्।
स्त्रीणामधर्मः सुमहान् भर्तुः पूर्वस्य लङ्घने ॥ ३६ ॥

कल्याणस्वरूप हृदयेश्वर ! बहुत-सी स्त्रियोंसे विवाह करनेवाले पुरुषोंको भी पाप नहीं लगता। परंतु स्त्रियोंको अपने पूर्वपतिका उल्लङ्घन करनेपर बड़ा भारी पाप लगता है।३६।

एतत् सर्वं समीक्ष्य त्वमात्मत्यागं च गर्हितम्।
आत्मानं तारयाद्याशु कुलं चेमौ च दारकौ ॥ ३७ ॥

इन सब बातोंको विचार करके और अपने देहके त्यागको निन्दित कर्म मानकर आप अब शीघ्र ही अपनेको, अपने कुलको और इन दोनों बच्चोंको भी संकटसे बचा लीजिये।३७।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तया भर्ता तां समालिङ्ग्य भारत।
मुमोच बाष्पं शनकैः सभार्यो भृशदुःखितः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! ब्राह्मणीके यों कहनेपर उसके पति ब्राह्मणदेवता अत्यन्त दुखी हो उसे हृदयसे लगाकर उसके साथ ही धीरे-धीरे आँसू बहाने लगे।३८।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणीवाक्ये सप्तपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें ब्राह्मणीवाक्यविषयक एक सौ सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३९ श्लोक हैं)

अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः

ब्राह्मणकन्याके त्याग और विवेकपूर्ण वचन तथा कुन्तीका उन सबके पास जाना

वैशम्पायन उवाच

तयोर्दुःखितयोर्वाक्यमतिमात्रं निशम्य तु।
ततो दुःखपरीताङ्गी कन्या तावभ्यभाषत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुःखमें डूबे हुए माता-पिताका यह (अत्यन्त शोकपूर्ण) वचन सुनकर कन्याके सम्पूर्ण अङ्गोंमें दुःख व्याप्त हो गया; उसने माता और पिता दोनोंसे कहा—॥ १ ॥

किमेवं भृशदुःखार्तौ रोरूयेतामनाथवत्।
ममापि श्रूयतां वाक्यं श्रुत्वा च क्रियतां क्षमम् ॥ २ ॥

'आप दोनों इस प्रकार अत्यन्त दुःखसे आतुर हो अनाथकी भाँति क्यों बार-बार रो रहे हैं ? मेरी भी बात सुनिये और उसे सुनकर जो उचित जान पड़े, वह कीजिये ।२।

धर्मतोऽहं परित्याज्या युवयोर्नात्र संशयः।
त्यक्तव्यां मां परित्यज्य त्राहि सर्वं मयैकया ॥ ३ ॥

'इसमें संदेह नहीं कि एक-न-एक दिन आप दोनोंको धर्मतः मेरा परित्याग करना पड़ेगा । जब मैं त्याज्य ही हूँ, तब आज ही मुझे त्यागकर मुझ अकेलीके द्वारा इस समूचे कुलकी रक्षा कर लीजिये ॥ ३ ॥

इत्यर्थमिष्यतेऽपत्यं तारयिष्यति मामिति।
अस्मिन्नुपस्थिते काले तरध्वं प्लववन्मया ॥ ४ ॥

'संतानकी इच्छा इसीलिये की जाती है कि यह मुझे संकटसे उबारेगी । अतः इस समय जो संकट उपस्थित हुआ है, उसमें नौकाकी भाँति मेरा उपयोग करके आपलोग शोक-सागरसे पार हो जाइये ॥ ४ ॥

इह वा तारयेद् दुर्गादुत वा प्रेत्य भारत।
सर्वथा तारयेत् पुत्रः पुत्र इत्युच्यते बुधैः ॥ ५ ॥

'जो पुत्र इस लोकमें दुर्गम संकटसे पार लगाये अथवा मृत्युके पश्चात् परलोकमें उद्धार करे—सब प्रकार पिताको तार दे, उसे ही विद्वानोंने वास्तवमें पुत्र कहा है ॥ ५ ॥

आकाङ्क्षन्ते च दौहित्रान् मयि नित्यं पितामहाः।
तत् स्वयं वै परित्रास्ये रक्षन्ती जीवितं पितुः ॥ ६ ॥

'पितरलोग मुझसे उत्पन्न होनेवाले दौहित्रसे अपने उद्धारकी सदा अभिलाषा रखते हैं, इसलिये मैं स्वयं ही पिताके जीवनकी रक्षा करती हुई उन सबका उद्धार करूँगी ॥ ६ ॥

भ्राता च मम बालोऽयं गते लोकममुं त्वयि।
अचिरेणैव कालेन विनश्येत न संशयः ॥ ७ ॥

'यदि आप परलोकवासी हो गये तो यह मेरा नन्हा-सा भाई थोड़े ही समयमें नष्ट हो जायगा, इसमें संशय नहीं है ।७।

तातेऽपि हि गते स्वर्गं विनष्टे च ममानुजे।
पिण्डः पितॄणां व्युच्छिद्येत् तत् तेषां विप्रियं भवेत् ॥ ८ ॥

'पिता स्वर्गवासी हो जायँ और मेरा भैया भी नष्ट हो जाय, तो पितरोंका पिण्ड ही लुप्त हो जायगा, जो उनके लिये बहुत ही अप्रिय होगा ॥ ८ ॥

पित्रा त्यक्ता तथा मात्रा भ्रात्रा चाहमसंशयम्।
दुःखाद् दुःखतरं प्राप्य म्रियेयमतथोचिता ॥ ९ ॥

'पिता, माता और भाई—तीनोंसे परित्यक्त होकर मैं एक दुःखसे दूसरे महान् दुःखमें पड़कर निश्चय ही मर जाऊँगी । यद्यपि मैं ऐसा दुःख भोगनेके योग्य नहीं हूँ, तथापि आप लोगोंके बिना मुझे यह सब भोगना ही पड़ेगा ॥ ९ ॥

त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते माता भ्राता च मे शिशुः।
संतानश्चैव पिण्डश्च प्रतिष्ठास्यत्यसंशयम् ॥ १० ॥

'यदि आप मृत्युके संकटसे मुक्त एवं नीरोग रहे तो मेरी माता, मेरा नन्हा-सा भाई, संतान-परम्परा और पिण्ड (श्राद्ध-कर्म) ये सब स्थिर रहेंगे; इसमें संशय नहीं है ॥ १० ॥

आत्मा पुत्रः सखा भार्या कृच्छ्रं तु दुहिता किल।
स कृच्छ्रान्मोचयात्मानं मां च धर्मे नियोजय ॥ ११ ॥

'कहते हैं पुत्र अपना आत्मा है, पत्नी मित्र है; किंतु पुत्री निश्चय ही संकट है, अतः आप इस संकटसे अपनेको बचा लीजिये और मुझे भी धर्ममें लगाइये ॥ ११ ॥

अनाथा कृपणा बाला यत्रक्वचनगामिनी।
भविष्यामि त्वया तात विहीना कृपणा सदा ॥ १२ ॥

'पिताजी ! आपके बिना मैं सदाके लिये दीन और असहाय हो जाऊँगी, अनाथ और दयनीय समझी जाऊँगी । अरक्षित बालिका होनेके कारण मुझे जहाँ कहीं भी जानेके लिये विवश होना पड़ेगा ॥ १२ ॥

अथवाहं करिष्यामि कुलस्यास्य विमोचनम्।
फलसंस्था भविष्यामि कृत्वा कर्म सुदुष्करम् ॥ १३ ॥

'अथवा मैं अपनेको मृत्युके मुखमें डालकर इस कुलको संकटसे छुड़ाऊँगी । यह अत्यन्त दुष्कर कर्म कर लेनेसे मेरी मृत्यु सफल हो जायगी ॥ १३ ॥

अथवा यास्यसे तत्र त्यक्त्वा मां द्विजसत्तम।
पीडिताहं भविष्यामि तदवेक्षस्व मामपि ॥ १४ ॥

'द्विजश्रेष्ठ पिताजी ! यदि आप मुझे त्यागकर स्वयं राक्षसके पास चले जायँगे तो मैं बड़े दुःखमें पड़ जाऊँगी । अतः मेरी ओर भी देखिये ॥ १४ ॥

तदसदर्थं धर्मार्थं प्रसवार्थं स सत्तम।
आत्मानं परिरक्षस्व त्यक्तव्यां मां च संत्यज ॥ १५ ॥

'अतः हे साधुशिरोमणे ! आप मेरे लिये, धर्मके लिये तथा संतानकी रक्षाके लिये भी अपनी रक्षा कीजिये और मुझे, जिसको एक दिन छोड़ना ही है, आज ही त्याग दीजिये ॥ १५ ॥

अवश्यकरणीये च मा त्वां कालोऽत्यगादयम्।
किं त्वतः परमं दुःखं यद् वयं स्वर्गते त्वयि ॥ १६ ॥
याचमानाः परादन्नं परिधावेमहि श्ववत्।
त्वयि त्वरोगे निर्मुक्ते क्लेशादस्मात् सबान्धवे।
अमृते वसती लोके भविष्यामि सुखान्विता ॥ १७ ॥

'पिताजी ! जो काम अवश्य करना है, उसका निश्चय करनेमें आपको अपना समय व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिये (शीघ्र मेरा त्याग करके इस कुलकी रक्षा करनी चाहिये) । हमलोगोंके लिये इससे बढ़कर महान् दुःख और क्या होगा कि आपके स्वर्गवासी हो जानेपर हम दूसरोंसे अन्नकी भीख माँगते हुए कुत्तोंकी तरह इधर-उधर दौड़ते फिरें । यदि मुझे त्यागकर आप अपने भाई-बन्धुओंसहित इस क्लेशसे मुक्त हो नीरोग बने रहें तो मैं अमरलोकमें निवास करती हुई बहुत सुखी होऊँगी ॥

इतः प्रदाने देवाश्च पितरश्चेति न श्रुतम्।
त्वया दत्तेन तोयेन भविष्यन्ति हिताय वै ॥ १८ ॥

'यद्यपि ऐसे दानसे देवता और पितर प्रसन्न नहीं होते, ऐसा मैंने सुन रक्खा है, तथापि आपके द्वारा दी हुई जलाञ्जलिसे वे प्रसन्न होकर अवश्य हमारा हित-साधन करनेवाले होंगे' ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं बहुविधं तस्या निशम्य परिदेवितम्।
पिता माता च सा चैव कन्या प्ररुरुदुस्त्रयः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस तरह उस कन्याके मुखसे नाना प्रकारका विलाप सुनकर पिता-माता और वह कन्या तीनों फूट-फूटकर रोने लगे ॥ १९ ॥

ततः प्ररुदितान् सर्वान् निशम्याथ सुतस्तदा।
उत्फुल्लनयनो बालः कलमव्यक्तमब्रवीत् ॥ २० ॥

तब उन सबको रोते देख ब्राह्मणका नन्हा-सा बालक उन सबकी ओर प्रफुल्ल नेत्रोंसे देखता हुआ तोतली भाषामें अस्पष्ट एवं मधुर वचन बोला—॥ २० ॥

मा पिता रुद मा मातर्मा स्वसस्त्विति चाब्रवीत्।
प्रहसन्निव सर्वांस्तानेकैकमनुसर्पति ॥ २१ ॥
ततः स तृणमादाय प्रहृष्टः पुनरब्रवीत्।
अनेनाहं हनिष्यामि राक्षसं पुरुषादकम् ॥ २२ ॥

'पिताजी ! न रोओ, माँ ! न रोओ, बहिन ! न रोओ' वह हँसता हुआ-सा प्रत्येकके पास जाता और सबसे यही बात कहता था । तदनन्तर उसने एक तिनका उठा लिया और अत्यन्त हर्षमें भरकर कहा—'मैं इसीसे उस नरभक्षी राक्षसको मार डालूँगा' ॥ २१-२२ ॥

तथापि तेषां दुःखेन परीतानां निशम्य तत्।
बालस्य वाक्यमव्यक्तं हर्षः समभवन्महान् ॥ २३ ॥

यद्यपि वे सब लोग दुःखमें डूबे हुए थे, तथा उस बालककी अस्पष्ट तोतली बोली सुनकर उनके हृदयमें सहसा अत्यन्त प्रसन्नताकी लहर दौड़ गयी ॥ २३ ॥

अयं काल इति ज्ञात्वा कुन्ती समुपसृत्य तान्।
गतासूनमृतेनेव जीवयन्तीदमब्रवीत् ॥ २४ ॥

'अब यही अपनेको प्रकट करनेका अवसर है,' यह जानकर कुन्तीदेवी उन सबके निकट गयीं और अपनी अमृतमयी वाणीसे उन मृतक (तुल्य) मानवोंको जीवन प्रदान करती हुई-सी बोलीं ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि ब्राह्मणकन्यापुत्रवाक्ये अष्टपञ्चाशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें ब्राह्मणकी कन्या और पुत्रके वचनसम्बन्धी एक सौ अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५८ ॥

एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीके पूछनेपर ब्राह्मणका उनसे अपने दुःखका कारण बताना

कुन्त्युवाच

कुतोमूलमिदं दुःखं ज्ञातुमिच्छामि तत्त्वतः।
विदित्वाप्यपकर्षेयं शक्यं चेदपकर्षितुम् ॥ १ ॥

कुन्तीने पूछा—ब्रह्मन् ! आपलोगोंके इस दुःखका कारण क्या है ? मैं यह ठीक-ठीक जानना चाहती हूँ । उसे जानकर यदि मिटाया जा सकेगा तो मिटानेकी चेष्टा करूँगी ॥ १ ॥

ब्राह्मण उवाच

उपपन्नं सतामेतद् यद् ब्रवीषि तपोधने।
न तु दुःखमिदं शक्यं मानुषेण व्यपोहितुम् ॥ २ ॥

ब्राह्मणने कहा—तपोधने ! आप जो कुछ कह रही हैं, वह आप-जैसे सज्जनोंके अनुरूप ही है; परंतु हमारे इस दुःखको मनुष्य नहीं मिटा सकता ॥ २ ॥

समीपे नगरस्यास्य बको वसति राक्षसः।
(इतो गव्यूतिमात्रेऽस्ति यमुनागह्वरे गुहा।
तस्यां घोरः स वसति जिघांसुः पुरुषादकः ॥)
ईशो जनपदस्यास्य पुरस्य च महाबलः ॥ ३ ॥
पुष्टो मानुषमांसेन दुर्बुद्धिः पुरुषादकः।
(तेनेयं पुरुषादेन भक्ष्यमाणा दुरात्मना।
अनाथा नगरी नाथं त्रातारं नाधिगच्छति ॥)
रक्षत्यसुरराण्नित्यमिमं जनपदं बली ॥ ४ ॥
नगरं चैव देशं च रक्षोबलसमन्वितः।
तत्कृते परचक्राच्च भूतेभ्यश्च न नो भयम् ॥ ५ ॥

इस नगरके पास ही यहाँसे दो कोसकी दूरीपर यमुनाके किनारे घने जंगलमें एक गुफा है, उसीमें एक भयंकर हिंसाप्रिय नरभक्षी राक्षस रहता है। उसका नाम है बक। वह राक्षस अत्यन्त बलवान् है। वही इस जनपद और नगरका स्वामी है। वह खोटी बुद्धिवाला मनुष्यभक्षी राक्षस मनुष्यके ही मांससे पुष्ट हुआ है। उस दुरात्मा नरभक्षी निशाचरद्वारा प्रतिदिन खायी जाती हुई यह नगरी अनाथ हो रही है। इसे कोई रक्षक या स्वामी नहीं मिल रहा है। राक्षसोचित-बलसे सम्पन्न वह शक्तिशाली असुरराज सदा इस जनपद, नगर और देशकी रक्षा करता है। उसके कारण हमें शत्रुराज्यों तथा हिंसक प्राणियोंसे कभी भय नहीं होता। ३-५।

वेतनं तस्य विहितं शालिवाहस्य भोजनम्।
महिषौ पुरुषश्चैको यस्तदादाय गच्छति ॥ ६ ॥

उसके लिये कर नियत किया गया है—बीस खारी अगहनीके चावलका भात, दो भैंसे और एक मनुष्य, जो वह सब सामान लेकर उसके पास जाता है ॥ ६ ॥

एकैकश्चापि पुरुषस्तत् प्रयच्छति भोजनम्।
स वारो बहुभिर्वर्षैर्भवत्यसुकरो नरैः ॥ ७ ॥

प्रत्येक गृहस्थ अपनी बारी आनेपर उसे भोजन देता है। यद्यपि यह बारी बहुत वर्षोंके बाद आती है, तथापि लोगोंके लिये उसकी पूर्ति बहुत कठिन होती है ॥ ७ ॥

तद्विमोक्षाय ये केचिद् यतन्ति पुरुषाः क्वचित्।
सपुत्रदारांस्तान् हत्वा तद् रक्षो भक्षयत्युत ॥ ८ ॥

जो कोई पुरुष कभी उससे छूटनेका प्रयत्न करते हैं, वह राक्षस उन्हें पुत्र और स्त्रीसहित मारकर खा जाता है। ८।

वेत्रकीयगृहे राजा नायं नयमिहास्थितः।
उपायं तं न कुरुते यत्नादपि स मन्दधीः।
अनामयं जनस्यास्य येन स्यादद्य शाश्वतम् ॥ ९ ॥

वास्तवमें जो यहाँका राजा है, वह वेत्रकीयगृह नामक स्थानमें रहता है। परंतु वह न्यायके मार्गपर नहीं चलता। वह मन्दबुद्धि राजा यत्न करके भी ऐसा कोई उपाय नहीं करता, जिससे सदाके लिये प्रजाका संकट दूर हो जाय। ९।

एतदर्हा वयं नूनं वसामो दुर्बलस्य ये।
विषये नित्यवास्तव्याः कुराजानमुपाश्रिताः ॥ १० ॥

निश्चय ही हमलोग ऐसा ही दुःख भोगनेके योग्य हैं; क्योंकि इस दुर्बल राजाके राज्यमें निवास करते हैं, यहाँके नित्य निवासी हो गये हैं और इस दुष्ट राजाके आश्रयमें रहते हैं ॥ १० ॥

ब्राह्मणाः कस्य वक्तव्याः कस्य वाच्छन्दचारिणः।
गुणैरेते हि वत्स्यन्ति कामगाः पक्षिणो यथा ॥ ११ ॥

ब्राह्मणोंको कौन आदेश दे सकता है अथवा वे किसके अधीन रह सकते हैं। ये तो इच्छानुसार विचरनेवाले पक्षियोंकी भाँति देश या राजाके गुण देखकर ही कहीं भी निवास करते हैं ॥ ११ ॥

राजानं प्रथमं विन्देत् ततो भार्यां ततो धनम्।
त्रयस्य संचयेनास्य ज्ञातीन् पुत्रांश्च तारयेत् ॥ १२ ॥

नीति कहती है, पहले अच्छे राजाको प्राप्त करे। उसके बाद पत्नीकी और फिर धनकी उपलब्धि करे। इन तीनोंके संग्रहद्वारा अपने जाति-भाइयों तथा पुत्रोंको संकटसे बचाये ॥

विपरीतं मया चेदं त्रयं सर्वमुपार्जितम्।
तदिमामापदं प्राप्य भृशं तप्यामहे वयम् ॥ १३ ॥

मैंने इन तीनोंका विपरीत ढंगसे उपार्जन किया है (अर्थात् दुष्ट राजाके राज्यमें निवास किया, कुराज्यमें विवाह किया और विवाहके पश्चात् धन नहीं कमाया); इसलिये इस विपत्तिमें पड़कर हमलोग भारी कष्ट पा रहे हैं ॥ १३ ॥

सोऽयमस्माननुप्राप्तो वारः कुलविनाशनः।
भोजनं पुरुषश्चैकः प्रदेयं वेतनं मया ॥ १४ ॥

वही आज हमारी बारी आयी है, जो समूचे कुलका विनाश करनेवाली है। मुझे उस राक्षसको करके रूपमें नियत भोजन और एक पुरुषकी बलि देनी पड़ेगी ॥ १४ ॥

न च मे विद्यते वित्तं संक्रेतुं पुरुषं क्वचित्।
सुहृज्जनं प्रदातुं च न शक्ष्यामि कदाचन ॥ १५ ॥

मेरे पास धन नहीं है, जिससे कहींसे किसी पुरुषको खरीद लाऊँ। अपने सुहृदों एवं सगे-सम्बन्धियोंको तो मैं कदापि उस राक्षसके हाथमें नहीं दे सकूँगा ॥ १५ ॥

गतिं चैव न पश्यामि तस्मान्मोक्षाय रक्षसः।
सोऽहं दुःखार्णवे मग्नो महत्यसुकरे भृशम् ॥ १६ ॥

उस निशाचरसे छूटनेका कोई उपाय मुझे नहीं दिखायी देता; अतः मैं अत्यन्त दुस्तर दुःखके महासागरमें डूबा हुआ हूँ ॥ १६ ॥

सहैवैतैर्गमिष्यामि बान्धवैरद्य राक्षसम् ।
ततो नः सहितान् क्षुद्रः सर्वानेवोपभोक्ष्यति ॥ १७ ॥

अब इन बान्धवजनोंके साथ ही मैं राक्षसके पास जाऊँगा, फिर वह नीच निशाचर एक ही साथ हम सबको खा जायगा ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि कुन्तीप्रश्ने एकोनषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें कुन्तीप्रश्नविषयक एक सौ उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका २ श्लोक मिलाकर कुल १९ श्लोक हैं)

षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्ती और ब्राह्मणकी बातचीत

कुन्त्युवाच

न विषादस्त्वया कार्यो भयादस्मात् कथंचन ।
उपायः परिदृष्टोऽत्र तस्मान्मोक्षाय रक्षसः ॥ १ ॥

कुन्ती बोली—ब्रह्मन्! आपको अपने ऊपर आये हुए इस भयसे किसी प्रकार विषाद नहीं करना चाहिये। इस परिस्थितिमें उस राक्षससे छूटनेका उपाय मेरी समझमें आ गया॥

एकस्तव सुतो बालः कन्या चैका तपस्विनी ।
न चैतयोस्तथा पत्न्या गमनं तव रोचये ॥ २ ॥

आपके तो एक ही नन्हा-सा पुत्र और एक ही तपस्विनी कन्या है, अतः इन दोनोंका तथा आपकी पत्नीका भी वहाँ जाना मुझे अच्छा नहीं लगता ॥ २ ॥

मम पञ्च सुता ब्रह्मंस्तेषामेको गमिष्यति ।
त्वदर्थं बलिमादाय तस्य पापस्य रक्षसः ॥ ३ ॥

विप्रवर! मेरे पाँच पुत्र हैं, उनमेंसे एक आपके लिये उस पापी राक्षसकी बलि-सामग्री लेकर चला जायगा ॥ ३ ॥

ब्राह्मण उवाच

नाहमेतद् करिष्यामि जीवितार्थी कथंचन ।
ब्राह्मणस्यातिथेश्चैव स्वार्थे प्राणान् वियोजयन् ॥ ४ ॥

ब्राह्मणने कहा—मैं अपने जीवनकी रक्षाके लिये किसी तरह ऐसा नहीं करूँगा। एक तो ब्राह्मण, दूसरे अतिथि-के प्राणोंका नाश मैं अपने तुच्छ स्वार्थके लिये कराऊँ! यह कदापि सम्भव नहीं है ॥ ४ ॥

न त्वेतदकुलीनासु नाधर्मिष्ठासु विद्यते ।
यद् ब्राह्मणार्थे विसृजेदात्मानमपि चात्मजम् ॥ ५ ॥

ऐसा निन्दनीय कार्य नीच और अधर्मी जनतामें भी नहीं देखा जाता। उचित तो यह है कि ब्राह्मणके लिये स्वयं अपनेको और अपने पुत्रको भी निछावर कर दे ॥ ५ ॥

आत्मनस्तु मया श्रेयो बोद्धव्यमिति रोचते ।
ब्रह्मवध्याऽऽत्मवध्या वा श्रेयानात्मवधो मम ॥ ६ ॥
ब्रह्मवध्या परं पापं निष्कृतिर्नात्र विद्यते ।
अबुद्धिपूर्वं कृत्वापि वरमात्मवधो मम ॥ ७ ॥

इसीमें मुझे अपना कल्याण समझना चाहिये तथा यही मुझे अच्छा लगता है। ब्रह्महत्या और आत्महत्यामें मुझे आत्महत्या ही श्रेष्ठ जान पड़ती है। ब्रह्महत्या बहुत बड़ा पाप है। इस जगत्‌में उससे छूटनेका कोई उपाय नहीं है। अनजानमें भी ब्रह्महत्या करनेकी अपेक्षा मेरी दृष्टिमें आत्म-हत्या कर लेना अच्छा है ॥ ६-७ ॥

न त्वहं वधमाकाङ्क्षे स्वयमेवात्मनः शुभे ।
परैः कृते वधे पापं न किंचिन्मयि विद्यते ॥ ८ ॥

कल्याणि! मैं स्वयं तो आत्महत्याकी इच्छा करता नहीं; परंतु यदि दूसरोंने मेरा वध कर दिया तो उसके लिये मुझे कोई पाप नहीं लगेगा ॥ ८ ॥

अभिसंधिकृते तस्मिन् ब्राह्मणस्य वधे मया ।
निष्कृतिं न प्रपश्यामि नृशंसं क्षुद्रमेव च ॥ ९ ॥
आगतस्य गृहं त्यागस्तथैव शरणार्थिनः ।
याचमानस्य च वधो नृशंसो गर्हितो बुधैः ॥ १० ॥

यदि मैंने जान-बूझकर ब्राह्मणका वध करा दिया तो वह बड़ा ही नीच और क्रूरतापूर्ण कर्म होगा। उससे छुटकारा पानेका कोई उपाय मुझे नहीं सूझता। घरपर आये हुए तथा शरणार्थीका त्याग और अपनी रक्षाके लिये याचना करनेवालेका वध—यह विद्वानोंकी रायमें अत्यन्त क्रूर एवं निन्दित कर्म है ॥ ९-१० ॥

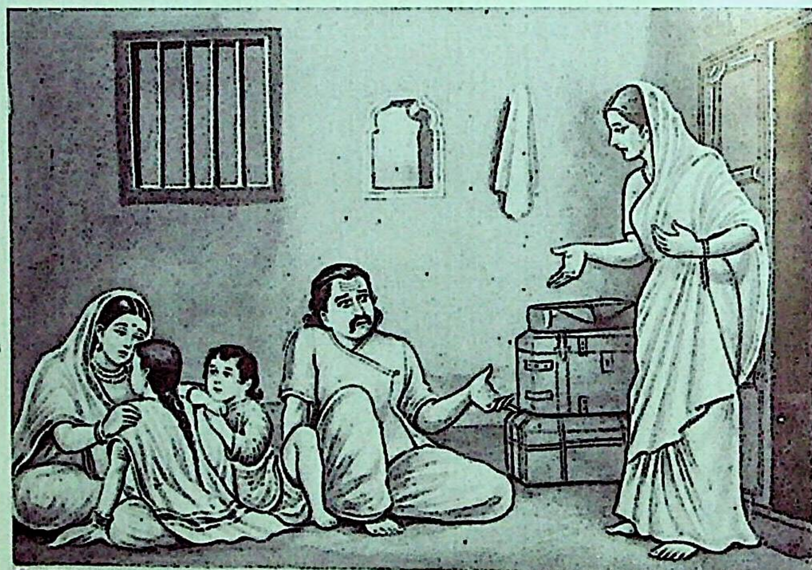
कुर्यान्न निन्दितं कर्म न नृशंसं कथंचन ।
इति पूर्वे महात्मान आपद्धर्मविदो विदुः ॥ ११ ॥
श्रेयांस्तु सहदारस्य विनाशोऽद्य मम स्वयम् ।
ब्राह्मणस्य वधं नाहमनुमंस्ये कदाचन ॥ १२ ॥

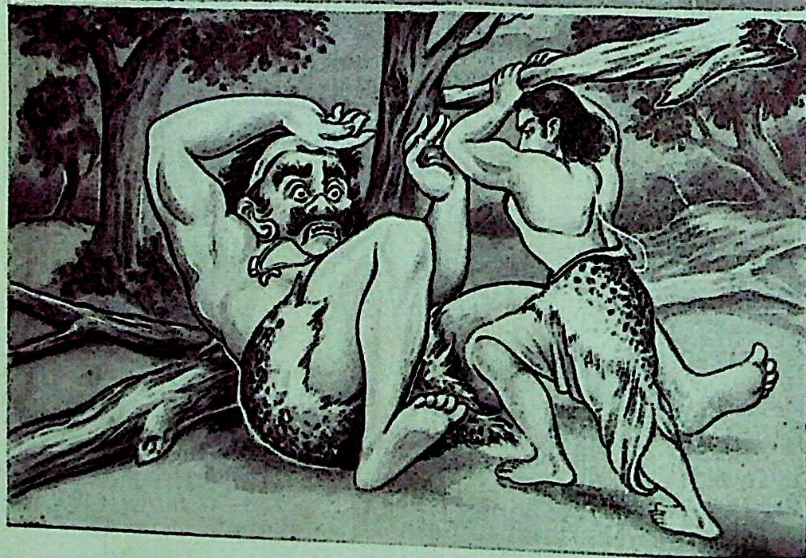
आपद्धर्मके ज्ञाता प्राचीन महात्माओंने कहा है कि किसी प्रकार भी क्रूर एवं निन्दित कर्म नहीं करना चाहिये। अतः आज अपनी पत्नीके साथ स्वयं मेरा विनाश हो जाय, यह श्रेष्ठ है; किंतु ब्राह्मणवधकी अनुमति मैं कदापि नहीं दे सकता।

कुन्त्युवाच

ममाप्येषा मतिर्ब्रह्मन् विप्रा रक्ष्या इति स्थिरा ।
न चाप्यनिष्टः पुत्रो मे यदि पुत्रशतं भवेत् ॥ १३ ॥

कुन्तीद्वारा ब्राह्मण-दम्पतिको सान्त्वना





बकासुरपर भीमका प्रहार

न चासौ राक्षसः शक्तो मम पुत्रविनाशने ।
वीर्यवान् मन्त्रसिद्धश्च तेजस्वी च सुतो मम ॥ १४ ॥

कुन्ती बोली—ब्रह्मन्! मेरा भी यह स्थिर विचार है कि ब्राह्मणोंकी रक्षा करनी चाहिये। यों तो मुझे भी अपना कोई पुत्र अप्रिय नहीं है, चाहे मेरे सौ पुत्र ही क्यों न हों। किंतु वह राक्षस मेरे पुत्रका विनाश करनेमें समर्थ नहीं है; क्योंकि मेरा पुत्र पराक्रमी, मन्त्रसिद्ध और तेजस्वी है ॥ १३-१४ ॥

राक्षसाय च तत् सर्वं प्रापयिष्यति भोजनम् ।
मोक्षयिष्यति चात्मानमिति मे निश्चिता मतिः ॥ १५ ॥

मेरा यह निश्चित विश्वास है कि वह सारा भोजन राक्षसके पास पहुँचा देगा और उससे अपने आपको भी छुड़ा लेगा ॥ १५ ॥

समागताश्च वीरेण दृष्टपूर्वाश्च राक्षसाः ।
बलवन्तो महाकाया निहताश्चाप्यनेकशः ॥ १६ ॥

मैंने पहले भी बहुत-से बलवान् और विशालकाय राक्षस देखे हैं, जो मेरे वीर पुत्रसे भिड़कर अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे हैं ॥ १६ ॥

न त्विदं केषुचिद् ब्रह्मन् व्याहर्तव्यं कथंचन ।
विद्यार्थिनो हि मे पुत्रान् विप्रकुर्युः कुतूहलात् ॥ १७ ॥

परंतु ब्रह्मन्! आपको किसीसे भी किसी तरह यह बात कहनी नहीं चाहिये। नहीं तो लोग मन्त्र सीखनेके लोभसे कौतूहलवश मेरे पुत्रोंको तंग करेंगे ॥ १७ ॥

गुरुणा चाननुज्ञातो ग्राहयेद् यत् सुतो मम ।
न स कुर्यात् तथा कार्यं विद्ययेति सतां मतम् ॥ १८ ॥

और यदि मेरा पुत्र गुरुकी आज्ञा लिये बिना अपना मन्त्र किसीको सिखा देगा तो वह सीखनेवाला मनुष्य उस मन्त्रसे वैसा कार्य नहीं कर सकेगा, जैसा मेरा पुत्र कर लेता है। इस विषयमें साधु पुरुषोंका ऐसा ही मत है ॥ १८ ॥

एवमुक्तस्तु पृथया स विप्रो भार्यया सह ।
हृष्टः सम्पूजयामास तद्वाक्यममृतोपमम् ॥ १९ ॥

कुन्तीदेवीके यों कहनेपर पत्नीसहित वह ब्राह्मण बहुत प्रसन्न हुआ और उसने कुन्तीके अमृत-तुल्य जीवनदायक मधुर वचनोंकी बड़ी प्रशंसा की ॥ १९ ॥

ततः कुन्ती च विप्रश्च सहितावनिलात्मजम् ।
तमब्रूतां कुरुष्वेति स तथेत्यब्रवीच्च तौ ॥ २० ॥

तदनन्तर कुन्ती और ब्राह्मणने मिलकर वायुनन्दन भीमसेनसे कहा—'तुम यह काम कर दो।' भीमसेनने उन दोनोंसे 'तथास्तु' कहा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि भीमबकवधाङ्गीकारे षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें भीमके द्वारा बकवधकी स्वीकृतिविषयक एक सौ साठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६० ॥

एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनको राक्षसके पास भेजनेके विषयमें युधिष्ठिर और कुन्तीकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

करिष्य इति भीमेन प्रतिज्ञातेऽथ भारत ।
आजग्मुस्ते ततः सर्वे भैक्षमादाय पाण्डवाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब भीमसेनने यह प्रतिज्ञा कर ली कि 'मैं इस कार्यको पूरा करूँगा', उसी समय पूर्वोक्त सब पाण्डव भिक्षा लेकर वहाँ आये ॥ १ ॥

आकारेणैव तं ज्ञात्वा पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः ।
रहः समुपविश्यैकस्ततः पप्रच्छ मातरम् ॥ २ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने भीमसेनकी आकृतिसे ही समझ लिया कि आज ये कुछ करनेवाले हैं; फिर उन्होंने एकान्तमें अकेले बैठकर मातासे पूछा ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किं चिकीर्षत्ययं कर्म भीमो भीमपराक्रमः ।
भवत्यनुमते कच्चित् स्वयं वा कर्तुमिच्छति ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—माँ! ये भयंकर पराक्रमी भीमसेन

कौन-सा कार्य करना चाहते हैं ? वे आपकी रायसे अथवा स्वयं ही कुछ करनेको उतारू हो रहे हैं ? ॥ ३ ॥

कुन्त्युवाच

ममैव वचनादेष करिष्यति परंतपः।
ब्राह्मणार्थे महत् कृत्यं मोक्षाय नगरस्य च ॥ ४ ॥

कुन्तीने कहा—बेटा ! शत्रुओंको संतप्त करनेवाला भीमसेन मेरी ही आज्ञासे ब्राह्मणके हितके लिये तथा सम्पूर्ण नगरको संकटसे छुड़ानेके लिये आज एक महान् कार्य करेगा ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

किमिदं साहसं तीक्ष्णं भवत्या दुष्करं कृतम्।
परित्यागं हि पुत्रस्य न प्रशंसन्ति साधवः ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—माँ ! आपने यह असह्य और दुष्कर साहस क्यों किया ? साधु पुरुष अपने पुत्रके परित्यागको अच्छा नहीं बताते ॥ ५ ॥

कथं परसुतस्यार्थे स्वसुतं त्यक्तुमिच्छसि।
लोकवेदविरुद्धं हि पुत्रत्यागात् कृतं त्वया ॥ ६ ॥

दूसरेके बेटेके लिये आप अपने पुत्रको क्यों त्याग देना चाहती हैं ? पुत्रका त्याग करके आपने लोक और वेद दोनोंके विरुद्ध कार्य किया है ॥ ६ ॥

यस्य बाहू समाश्रित्य सुखं सर्वे शयामहे।
राज्यं चापहृतं क्षुद्रैराजिहीर्षामहे पुनः ॥ ७ ॥

जिसके बाहुबलका भरोसा करके हम सब लोग सुखसे सोते हैं और नीच शत्रुओंने जिस राज्यको हड़प लिया है, उसको पुनः वापस लेना चाहते हैं ॥ ७ ॥

यस्य दुर्योधनो वीर्यं चिन्तयन्नमितौजसः।
न शेते रजनीः सर्वा दुःखाच्छकुनिना सह ॥ ८ ॥

जिस अमिततेजस्वी वीरके पराक्रमका चिन्तन करके शकुनिसहित दुर्योधनको दुःखके मारे सारी रात नींद नहीं आती थी, ॥ ८ ॥

यस्य वीरस्य वीर्येण मुक्ता जतुगृहाद् वयम्।
अन्येभ्यश्चैव पापेभ्यो निहतश्च पुरोचनः ॥ ९ ॥

जिस वीरके बलसे हमलोग लाक्षागृह तथा दूसरे-दूसरे पापपूर्ण अत्याचारोंसे बच पाये और दुष्ट पुरोचन भी मारा गया, ॥ ९ ॥

यस्य वीर्यं समाश्रित्य वसुपूर्णां वसुन्धराम्।
इमां मन्यामहे प्राप्तां निहत्य धृतराष्ट्रजान् ॥ १० ॥
तस्य व्यवसितस्त्यागो बुद्धिमास्थाय कां त्वया।
कच्चिन्नु दुःखैर्बुद्धिस्ते विलुप्ता गतचेतसः ॥ ११ ॥

जिसके बल-पराक्रमका आश्रय लेकर हमलोग धृतराष्ट्र-पुत्रोंको मारकर धन-धान्यसे सम्पन्न इस (सम्पूर्ण) पृथ्वीको अपने अधिकारमें आयी हुई ही मानते हैं, उस बलवान् पुत्रके त्यागका निश्चय आपने किस बुद्धिसे किया है ? क्या आप अनेक दुःखोंके कारण अपनी चेतना खो बैठी हैं ? आपकी बुद्धि लुप्त हो गयी है ॥ १०-११ ॥

कुन्त्युवाच

युधिष्ठिर न संतापस्त्वया कार्यो वृकोदरे।
न चायं बुद्धिदौर्बल्याद् व्यवसायः कृतो मया ॥ १२ ॥

कुन्तीने कहा—युधिष्ठिर ! तुम्हें भीमसेनके लिये चिन्ता नहीं करनी चाहिये। मैंने जो यह निश्चय किया है, वह बुद्धिकी दुर्बलतासे नहीं किया है ॥ १२ ॥

इह विप्रस्य भवने वयं पुत्र सुखोषिताः।
अज्ञाता धार्तराष्ट्राणां सत्कृता वीतमन्यवः ॥ १३ ॥
तस्य प्रतिक्रिया पार्थ मयेयं प्रसमीक्षिता।
एतावानेव पुरुषः कृतं यस्मिन् न नश्यति ॥ १४ ॥

बेटा ! हमलोग यहाँ इस ब्राह्मणके घरमें बड़े सुखसे रहे हैं। धृतराष्ट्रके पुत्रोंको हमारी कानों-कान खबर नहीं होने पायी है। इस घरमें हमारा इतना सत्कार हुआ है कि हमने अपने पिछले दुःख और क्रोधको भुला दिया है। पार्थ ! ब्राह्मणके इस उपकारसे उऋण होनेका यही एक उपाय मुझे दिखायी दिया। मनुष्य वही है, जिसके प्रति किया हुआ उपकार नष्ट न हो (जो उपकारको भुला न दे) ॥ १३-१४ ॥

यावच्च कुर्यादन्योऽस्य कुर्याद् बहुगुणं ततः।
दृष्ट्वा भीमस्य विक्रान्तं तदा जतुगृहे महत्।
हिडिम्बस्य वधाच्चैवं विश्वासो मे वृकोदरे ॥ १५ ॥

दूसरा मनुष्य उसके लिये जितना उपकार करे, उससे कई गुना अधिक प्रत्युपकार स्वयं उसके प्रति करना चाहिये। मैंने उस दिन लाक्षागृहमें भीमसेनका महान् पराक्रम देखा तथा हिडिम्बवधकी घटना भी मेरी आँखोंके सामने हुई। इससे भीमसेनपर मेरा पूरा विश्वास हो गया है ॥ १५ ॥

बाह्वोर्बलं हि भीमस्य नागायुतसमं महत्।
येन यूयं गजप्रख्या निर्व्यूढा वारणावतात् ॥ १६ ॥

भीमका महान् बाहुबल दस हजार हाथियोंके समान है, जिससे वह हाथीके समान बलशाली तुम सब भाइयोंको वारणावत नगरसे ढोकर लाया है ॥ १६ ॥

वृकोदरेण सदृशो बलेनान्यो न विद्यते।
योऽभ्युदीयाद् युधि श्रेष्ठमपि वज्रधरं स्वयम् ॥ १७ ॥

भीमसेनके समान बलवान् दूसरा कोई नहीं है। वह युद्धमें सर्वश्रेष्ठ वज्रपाणि इन्द्रका भी सामना कर सकता है ॥ १७ ॥

जातमात्रः पुरा चैव ममाङ्कात् पतितो गिरौ।
शरीरगौरवादस्य शिला गात्रैर्विचूर्णिता ॥ १८ ॥

पहलेकी बात है, जब वह नवजात शिशुके रूपमें था, उसी समय मेरी गोदसे छूटकर पर्वतके शिखरपर गिर पड़ा था। जिस चट्टानपर यह गिरा, वह इसके शरीरकी गुरुताके कारण चूर-चूर हो गयी थी ॥ १८ ॥

तदहं प्रज्ञया ज्ञात्वा बलं भीमस्य पाण्डव।
प्रतिकार्ये च विप्रस्य ततः कृतवती मतिम् ॥ १९ ॥

अतः पाण्डुनन्दन ! मैंने भीमसेनके बलको अपनी बुद्धिसे भलीभाँति समझकर तब ब्राह्मणके शत्रुरूपी राक्षससे बदला लेनेका निश्चय किया है ॥ १९ ॥

नेदं लोभाच्च चाज्ञानाच्च च मोहाद् विनिश्चितम्।
बुद्धिपूर्वं तु धर्मस्य व्यवसायः कृतो मया ॥ २० ॥

मैंने न लोभसे, न अज्ञानसे और न मोहसे ऐसा विचार किया है, अपितु बुद्धिके द्वारा खूब सोच-समझकर विशुद्ध धर्मानुकूल निश्चय किया है ॥ २० ॥

अर्थौ द्वावपि निष्पन्नौ युधिष्ठिर भविष्यतः।
प्रतीकारश्च वासस्य धर्मश्च चरितो महान् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! मेरे इस निश्चयसे दोनों प्रयोजन सिद्ध हो जायँगे। एक तो ब्राह्मणके यहाँ निवास करनेका ऋण चुक जायगा और दूसरा लाभ यह है कि ब्राह्मण और पुरवासियोंकी रक्षा होनेके कारण महान् धर्मका पालन हो जायगा ॥ २१ ॥

यो ब्राह्मणस्य साहाय्यं कुर्यादर्थेषु कर्हिचित्।
क्षत्रियः स शुभाँल्लोकानाप्नुयादिति मे मतिः ॥ २२ ॥

जो क्षत्रिय कभी ब्राह्मणके कार्योंमें सहायता करता है, वह उत्तम लोकोंको प्राप्त होता है--यह मेरा विश्वास है ॥

क्षत्रियस्यैव कुर्वाणः क्षत्रियो वधमोक्षणम्।
विपुलां कीर्तिमाप्नोति लोकेऽस्मिंश्च परत्र च ॥ २३ ॥

यदि क्षत्रिय किसी क्षत्रियको ही प्राणसंकटसे मुक्त कर दे तो वह इस लोक और परलोकमें भी महान् यशका भागी होता है ॥ २३ ॥

वैश्यस्यार्थे च साहाय्यं कुर्वाणः क्षत्रियो भुवि।
स सर्वेष्वपि लोकेषु प्रजा रञ्जयते ध्रुवम् ॥ २४ ॥

जो क्षत्रिय इस भूतलपर वैश्यके कार्यमें सहायता पहुँचाता है, वह निश्चय ही सम्पूर्ण लोकोंमें प्रजाको प्रसन्न करनेवाला राजा होता है ॥ २४ ॥

शूद्रं तु मोचयेद् राजा शरणार्थिनमागतम्।
प्राप्नोतीह कुले जन्म सद्द्रव्ये राजपूजिते ॥ २५ ॥

इसी प्रकार जो राजा अपनी शरणमें आये हुए शूद्रको प्राणसंकटसे बचाता है, वह इस संसारमें उत्तम धन-धान्यसे सम्पन्न एवं राजाओंद्वारा सम्मानित श्रेष्ठ कुलमें जन्म लेता है ॥

एवं मां भगवान् व्यासः पुरा पौरवनन्दन।
प्रोवाचासुकरप्रज्ञस्तस्मादेवं चिकीर्षितम् ॥ २६ ॥

पौरववंशको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर! इस प्रकार पूर्वकालमें दुर्लभ विवेक-विज्ञानसे सम्पन्न भगवान् व्यासने मुझसे कहा था; इसीलिये मैंने ऐसी चेष्टा की है ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि कुन्तीयुधिष्ठिरसंवादे एकषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें कुन्ती-युधिष्ठिर-संवाद-विषयक एक सौ इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६१॥

द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

भीमसेनका भोजन-सामग्री लेकर बकासुरके पास जाना और स्वयं भोजन करना तथा युद्ध करके उसे मार गिराना

युधिष्ठिर उवाच

उपपन्नमिदं मातस्त्वया यद् बुद्धिपूर्वकम्।
आर्तस्य ब्राह्मणस्यैतदनुक्रोशादिदं कृतम् ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—माँ ! आपने समझ-बूझकर जो कुछ निश्चय किया है, वह सब उचित है। आपने संकटमें पड़े हुए ब्राह्मणपर दया करके ही ऐसा विचार किया है ॥ १ ॥

ध्रुवमेष्यति भीमोऽयं निहत्य पुरुषादकम्।
सर्वथा ब्राह्मणस्यार्थे यदनुक्रोशवत्यसि ॥ २ ॥

निश्चय ही भीमसेन उस राक्षसको मारकर लौट आयेंगे; क्योंकि आप सर्वथा ब्राह्मणकी रक्षाके लिये ही उसपर इतनी दयालु हुई हैं ॥ २ ॥

यथा त्विदं न विन्देयुर्नरा नगरवासिनः।
तथायं ब्राह्मणो वाच्यः परिग्राह्यश्च यत्नतः ॥ ३ ॥

आपको यत्नपूर्वक ब्राह्मणपर अनुग्रह तो करना ही चाहिये; किंतु ब्राह्मणसे यह कह देना चाहिये कि वे इस प्रकार मौन रहें कि नगरनिवासियोंको यह बात मालूम न होने पाये ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

(युधिष्ठिरेण सम्मन्त्र्य ब्राह्मणार्थमरिंदम।
कुन्ती प्रविश्य तान् सर्वान् सान्त्वयामास भारत॥)
ततो रात्र्यां व्यतीतायामन्नमादाय पाण्डवः।
भीमसेनो ययौ तत्र यत्रासौ पुरुषादकः ॥ ४ ॥

आसाद्य तु वनं तस्य राक्षसः पाण्डवो बली।
आजुहाव ततो नाम्ना तदन्नमुपपादयन् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ब्राह्मण (की रक्षा) के निमित्त युधिष्ठिरसे इस प्रकार सलाह करके कुन्ती देवीने भीतर जाकर समस्त ब्राह्मण-परिवारको सान्त्वना दी। तदनन्तर रात बीतनेपर पाण्डुनन्दन भीमसेन भोजन-सामग्री लेकर उस स्थानपर गये, जहाँ वह नरभक्षी राक्षस रहता था। बक राक्षसके वनमें पहुँचकर महाबली पाण्डुकुमार भीमसेन उसके लिये लाये हुए अन्नको स्वयं खाते हुए राक्षसका नाम ले-लेकर उसे पुकारने लगे ॥ ४-५ ॥

ततः स राक्षसः क्रुद्धो भीमस्य वचनात् तदा।
आजगाम सुसंक्रुद्धो यत्र भीमो व्यवस्थितः ॥ ६ ॥

भीमके इस प्रकार पुकारनेसे वह राक्षस कुपित हो उठा और अत्यन्त क्रोधमें भरकर जहाँ भीमसेन बैठकर भोजन कर रहे थे, वहाँ आया ॥ ६ ॥

महाकायो महावेगो दारयन्निव मेदिनीम्।
लोहिताक्षः करालश्च लोहितश्मश्रुमूर्धजः ॥ ७ ॥

उसका शरीर बहुत बड़ा था। वह इतने महान् वेगसे चलता था, मानो पृथ्वीको विदीर्ण कर देगा। उसकी आँखें रोषसे लाल हो रही थीं। आकृति बड़ी विकराल जान पड़ती थी। उसके दाढ़ी, मूँछ और सिरके बाल लाल रंगके थे ॥ ७ ॥

आकर्णाद् भिन्नवक्त्रश्च शङ्कुकर्णो विभीषणः।
त्रिशिखां भ्रुकुटिं कृत्वा संदश्य दशनच्छदम् ॥ ८ ॥

मुँहका फैलाव कानोंके समीपतक था, कान भी शङ्कुके समान लंबे और नुकीले थे। बड़ा भयानक था वह राक्षस। उसने भौंहें ऐसी टेढ़ी कर रखी थीं कि वहाँ तीन रेखाएँ उभड़ आयी थीं और वह दाँतोंसे ओठ चबा रहा था ॥ ८ ॥

भुञ्जानमन्नं तं दृष्ट्वा भीमसेनं स राक्षसः।
विवृत्य नयने क्रुद्ध इदं वचनमब्रवीत् ॥ ९ ॥

भीमसेनको वह अन्न खाते देख राक्षसका क्रोध बहुत बढ़ गया और उसने आँखें तरेरकर कहा— ॥ ९ ॥

कोऽयमन्नमिदं भुङ्क्ते मदर्थमुपकल्पितम्।
पश्यतो मम दुर्बुद्धिर्यियासुर्यमसादनम् ॥ १० ॥

'यमलोकमें जानेकी इच्छा रखनेवाला यह कौन दुर्बुद्धि मनुष्य है, जो मेरी आँखोंके सामने मेरे ही लिये तैयार करके लाये हुए इस अन्नको स्वयं खा रहा है?' ॥ १० ॥

भीमसेनस्ततः श्रुत्वा प्रहसन्निव भारत।
राक्षसं तमनादृत्य भुङ्क्त एव पराङ्मुखः ॥ ११ ॥

भारत! उसकी बात सुनकर भीमसेन मानो जोर-जोरसे हँसने लगे और उस राक्षसकी अवहेलना करते हुए मुँह फेरकर खाते ही रह गये ॥ ११ ॥

रवं स भैरवं कृत्वा समुद्यम्य करावुभौ।
अभ्यद्रवद् भीमसेनं जिघांसुः पुरुषादकः ॥ १२ ॥

अब तो वह नरभक्षी राक्षस भीमसेनको मार डालनेकी इच्छासे भयंकर गर्जना करता हुआ दोनों हाथ ऊपर उठाकर उनकी ओर दौड़ा ॥ १२ ॥

तथापि परिभूयैनं प्रेक्षमाणो वृकोदरः।
राक्षसं भुङ्क्त एवान्नं पाण्डवः परवीरहा ॥ १३ ॥
अमर्षेण तु सम्पूर्णः कुन्तीपुत्रं वृकोदरम्।
जघान पृष्ठे पाणिभ्यामुभाभ्यां पृष्ठतः स्थितः ॥ १४ ॥

तो भी शत्रुवीरोंका संहार करनेवाले पाण्डुनन्दन भीमसेन उस राक्षसकी ओर देखते हुए उसका तिरस्कार करके उस अन्नको खाते ही रहे। तब उसने अत्यन्त अमर्षमें भरकर कुन्तीनन्दन भीमसेनके पीछे खड़े हो अपने दोनों हाथोंसे उनकी पीठपर प्रहार किया ॥ १३-१४ ॥

तथा बलवता भीमः पाणिभ्यां भृशमाहतः।
नैवावलोकयामास राक्षसं भुङ्क्त एव सः ॥ १५ ॥

इस प्रकार बलवान् राक्षसके दोनों हाथोंसे भयानक चोट खाकर भी भीमसेनने उसकी ओर देखा तक नहीं, वे भोजन करनेमें ही संलग्न रहे ॥ १५ ॥

ततः स भूयः संक्रुद्धो वृक्षमादाय राक्षसः।
ताडयिष्यंस्तदा भीमं पुनरभ्यद्रवद् बली ॥ १६ ॥

तब उस बलवान् राक्षसने पुनः अत्यन्त कुपित हो एक वृक्ष उखाड़कर भीमसेनको मारनेके लिये फिर उनपर धावा किया ॥ १६ ॥

ततो भीमः शनैर्भुक्त्वा तदन्नं पुरुषर्षभः।
वार्युपस्पृश्य संहृष्टस्तस्थौ युधि महाबलः ॥ १७ ॥

तदनन्तर नरश्रेष्ठ महाबली भीमसेनने धीरे-धीरे वह सब अन्न खाकर, आचमन करके मुँह-हाथ धो लिये, फिर वे अत्यन्त प्रसन्न हो युद्धके लिये डट गये ॥ १७ ॥

क्षिप्तं क्रुद्धेन तं वृक्षं प्रतिजग्राह वीर्यवान्।
सव्येन पाणिना भीमः प्रहसन्निव भारत ॥ १८ ॥

जनमेजय! कुपित राक्षसके द्वारा चलाये हुए उस वृक्षको पराक्रमी भीमसेनने बायें हाथसे हँसते हुए-से पकड़ लिया ॥ १८ ॥

ततः स पुनरुद्यम्य वृक्षान् बहुविधान् बली।
प्राहिणोद् भीमसेनाय तस्मै भीमश्च पाण्डवः ॥ १९ ॥

तब उस बलवान् निशाचरने पुनः बहुत-से वृक्षोंको उखाड़ा और भीमसेनपर चला दिया। पाण्डुनन्दन भीमने भी उसपर अनेक वृक्षोंद्वारा प्रहार किया ॥ १९ ॥

तद् वृक्षयुद्धमभवन्महीरुहविनाशनम्।
घोररूपं महाराज नरराक्षसराजयोः ॥ २० ॥

महाराज! नरराज तथा राक्षसराजका वह भयंकर वृक्ष-युद्ध उस वनके समस्त वृक्षोंके विनाशका कारण बन गया ॥ २० ॥

नाम विश्राव्य तु बकः समभिद्रुत्य पाण्डवम्।
भुजाभ्यां परिजग्राह भीमसेनं महाबलम् ॥ २१ ॥

तदनन्तर बकासुरने अपना नाम सुनाकर महाबली पाण्डुनन्दन भीमसेनकी ओर दौड़कर दोनों बाँहोंसे उन्हें पकड़ लिया ॥ २१ ॥

भीमसेनोऽपि तद् रक्षः परिरभ्य महाभुजः।
विस्फुरन्तं महाबाहुं विचकर्ष बलाद् बली ॥ २२ ॥

महाबाहु बलवान् भीमसेनने भी उस विशाल भुजाओं-वाले राक्षसको दोनों भुजाओंसे कसकर छातीसे लगा लिया और बलपूर्वक उसे इधर-उधर खींचने लगे। उस समय बकासुर उनके बाहुपाशसे छूटनेके लिये छटपटा रहा था ॥ २२ ॥

स कृष्यमाणो भीमेन कर्षमाणश्च पाण्डवम्।
समयुज्यत तीव्रेण क्लमेन पुरुषादकः ॥ २३ ॥

भीमसेन उस राक्षसको खींचते थे तथा राक्षस भीमसेनको खींच रहा था। इस खींचा-खींचीमें वह नरभक्षी राक्षस बहुत थक गया ॥ २३ ॥

तयोर्वेगेन महता पृथिवी समकम्पत।
पादपांश्च महाकायांश्चूर्णयामासतुस्तदा ॥ २४ ॥

उन दोनोंके महान् वेगसे धरती जोरसे काँपने लगी। उन दोनोंने उस समय बड़े-बड़े वृक्षोंके भी टुकड़े-टुकड़े कर डाले ॥ २४ ॥

हीयमानं तु तद् रक्षः समीक्ष्य पुरुषादकम्।
निष्पिष्य भूमौ जानुभ्यां समाजघ्ने वृकोदरः ॥ २५ ॥

उस नरभक्षी राक्षसको कमजोर पड़ते देख भीमसेन उसे पृथ्वीपर पटककर रगड़ने और दोनों घुटनोंसे मारने लगे ।२५।

ततोऽस्य जानुना पृष्ठमवपीड्य बलादिव।
बाहुना परिजग्राह दक्षिणेन शिरोधराम् ॥ २६ ॥
सव्येन च कटीदेशे गृह्य वाससि पाण्डवः।
तद् रक्षो द्विगुणं चक्रे रुवन्तं भैरवं रवम् ॥ २७ ॥

तदनन्तर उन्होंने अपने एक घुटनेसे बलपूर्वक राक्षसकी पीठ दबाकर दाहिने हाथसे उसकी गर्दन पकड़ ली और बायें हाथसे कमरका लँगोट पकड़कर उस राक्षसको दुहरा मोड़ दिया। उस समय वह बड़ी भयानक आवाजमें चीत्कार कर रहा था ॥ २६-२७ ॥

ततोऽस्य रुधिरं वक्त्रात् प्रादुरासीद् विशाम्पते।
भज्यमानस्य भीमेन तस्य घोरस्य रक्षसः ॥ २८ ॥

राजन्! भीमसेनके द्वारा उस घोर राक्षसकी जब कमर तोड़ी जा रही थी, उस समय उसके मुखसे (बहुत-सा) खून गिरा ।२८।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि बकभीमसेनयुद्धे द्विषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें बकासुर और भीमसेनका युद्धविषयक एक सौ बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २९ श्लोक हैं।)

त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

बकासुरके वधसे राक्षसोंका भयभीत होकर पलायन और नगरनिवासियोंकी प्रसन्नता

वैशम्पायन उवाच

ततः स भग्नपार्श्वाङ्गो नदित्वा भैरवं रवम्।
शैलराजप्रतीकाशो गतासुरभवद् बकः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पसलीकी हड्डियोंके टूट जानेपर पर्वतके समान विशालकाय बकासुर भयंकर चीत्कार करके प्राणरहित हो गया ॥ १ ॥

तेन शब्देन वित्रस्तो जनस्तस्याथ रक्षसः।
निष्पपात गृहाद् राजन् सहैव परिचारिभिः ॥ २ ॥
तान् भीतान् विगतज्ञानान् भीमः प्रहरतां वरः।
सान्त्वयामास बलवान् समये च न्यवेशयत् ॥ ३ ॥
न हिंस्या मानुषा भूयो युष्माभिरिति कर्हिचित्।
हिंसतां हि वधः शीघ्रमेवमेव भवेदिति ॥ ४ ॥

जनमेजय! उस चीत्कारसे भयभीत हो उस राक्षसके परिवारके लोग अपने सेवकोंके साथ घरसे बाहर निकल आये। योद्धाओंमें श्रेष्ठ बलवान् भीमसेनने उन्हें भयसे अचेत देखकर ढाढ़स बँधाया और उनसे यह शर्त करा ली कि 'अबसे कभी तुमलोग मनुष्योंकी हिंसा न करना! जो हिंसा करेंगे, उनका शीघ्र ही इसी प्रकार वध कर दिया जायगा' ॥ २—४ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा तानि रक्षांसि भारत।
एवमस्त्विति तं प्राहुर्जगृहुः समयं च तम् ॥ ५ ॥

भारत! भीमकी यह बात सुनकर उन राक्षसोंने 'एवमस्तु' कहकर वह शर्त स्वीकार कर ली ॥ ५ ॥

ततः प्रभृति रक्षांसि तत्र सौम्यानि भारत।
नगरे प्रत्यदृश्यन्त नरैर्नगरवासिभिः ॥ ६ ॥

भारत ! तबसे नगरनिवासी मनुष्योंने अपने नगरमें राक्षसोंको बड़े सौम्य-स्वभावका देखा ॥ ६ ॥

ततो भीमस्तमादाय गतासुं पुरुषादकम् ।
द्वारदेशे विनिक्षिप्य जगामानुपलक्षितः ॥ ७ ॥

तदनन्तर भीमसेनने उस राक्षसकी लाश उठाकर नगरके दरवाजेपर गिरा दी और स्वयं दूसरोंकी दृष्टिसे अपनेको बचाते हुए चले गये ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा भीमबलोद्भूतं बकं विनिहतं तदा ।
ज्ञातयोऽस्य भयोद्विग्नाः प्रतिजग्मुस्ततस्ततः ॥ ८ ॥

भीमसेनके बलसे बकासुरको पछाड़ा एवं मारा गया देख उस राक्षसके कुटुम्बीजन भयसे व्याकुल हो इधर-उधर भाग गये ॥

ततः स भीमस्तं हत्वा गत्वा ब्राह्मणवेश्म तत् ।
आचचक्षे यथावृत्तं राज्ञः सर्वमशेषतः ॥ ९ ॥

उस राक्षसको मारनेके पश्चात् भीमसेन ब्राह्मणके उसी घरमें गये तथा वहाँ उन्होंने राजा युधिष्ठिरसे सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक कह सुनाया ॥ ९ ॥

ततो नरा विनिष्क्रान्ता नगरात् कल्यमेव तु ।
ददृशुर्निहतं भूमौ राक्षसं रुधिरोक्षितम् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् जब सवेरा हुआ और लोग नगरसे बाहर निकले, तब उन्होंने देखा बकासुर खूनसे लथपथ हो पृथ्वीपर मरा पड़ा है ॥ १० ॥

तमद्रिकूटसदृशं विनिकीर्णं भयानकम् ।
दृष्ट्वा संहृष्टरोमाणो बभूवुस्तत्र नागराः ॥ ११ ॥

पर्वतशिखरके समान भयानक उस राक्षसको नगरके दरवाजेपर फेंका हुआ देखकर नगरनिवासी मनुष्योंके शरीरमें रोमाञ्च हो आया ॥ ११ ॥

एकचक्रां ततो गत्वा प्रवृत्तिं प्रददुः पुरे ।
ततः सहस्रशो राजन् नरा नगरवासिनः ॥ १२ ॥
तत्राजग्मुर्बकं द्रष्टुं सस्त्रीवृद्धकुमारकाः ।
ततस्ते विस्मिताः सर्वे कर्म दृष्ट्वातिमानुषम् ।
दैवतान्यर्चयांचक्रुः सर्व एव विशाम्पते ॥ १३ ॥

राजन् ! उन्होंने एकचक्रा नगरीमें जाकर नगरभरमें यह समाचार फैला दिया; फिर तो हजारों नगरनिवासी मनुष्य स्त्री, बच्चों और बूढ़ोंके साथ बकासुरको देखनेके लिये वहाँ आये । उस समय वह अमानुषिक कर्म देखकर सबको बड़ा आश्चर्य हुआ । जनमेजय ! उन सभी लोगोंने देवताओंकी पूजा की ॥ १२-१३ ॥

ततः प्रगणयामासुः कस्य वारोऽद्य भोजने ।
ज्ञात्वा चागम्य तं विप्रं पप्रच्छुः सर्व एव ते ॥ १४ ॥

इसके बाद उन्होंने यह जाननेके लिये कि आज भोजन पहुँचानेकी किसकी बारी थी, दिन आदिकी गणना की । फिर उस ब्राह्मणकी बारीका पता लगनेपर सब लोग उसके पास आकर पूछने लगे ॥ १४ ॥

एवं पृष्टः स बहुशो रक्षमाणश्च पाण्डवान् ।
उवाच नागरान् सर्वानिदं विप्रर्षभस्तदा ॥ १५ ॥

इस प्रकार उनके बार-बार पूछनेपर उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने पाण्डवोंको गुप्त रखते हुए समस्त नागरिकोंसे इस प्रकार कहा—॥

आज्ञापितं मामशने रुदन्तं सह बन्धुभिः ।
ददर्श ब्राह्मणः कश्चिन्मन्त्रसिद्धो महामनाः ॥ १६ ॥

'कल जब मुझे भोजन पहुँचानेकी आज्ञा मिली, उस समय मैं अपने बन्धुजनोंके साथ रो रहा था । इस दशामें मुझे एक विशाल हृदयवाले मन्त्रसिद्ध ब्राह्मणने देखा ॥ १६ ॥

परिपृच्छ्य स मां पूर्वं परिक्लेशं पुरस्य च ।
अब्रवीद् ब्राह्मणश्रेष्ठो विश्वास्य प्रहसन्निव ॥ १७ ॥

'देखकर उन श्रेष्ठ ब्राह्मणदेवताने पहले मुझसे सम्पूर्ण नगरके कष्टका कारण पूछा । इसके बाद अपनी अलौकिक शक्तिका विश्वास दिलाकर हँसते हुए-से कहा—॥ १७ ॥

प्रापयिष्याम्यहं तस्मा अन्नमेतद् दुरात्मने ।
मन्निमित्तं भयं चापि न कार्यमिति चाब्रवीत् ॥ १८ ॥

'ब्रह्मन् ! आज मैं स्वयं ही उस दुरात्मा राक्षसके लिये भोजन ले जाऊँगा ।' उन्होंने यह भी बताया कि 'आपको मेरे लिये भय नहीं करना चाहिये' ॥ १८ ॥

स तदन्नमुपादाय गतो बकवनं प्रति ।
तेन नूनं भवेदेतत् कर्म लोकहितं कृतम् ॥ १९ ॥

'वे वह भोजन-सामग्री लेकर बकासुरके वनकी ओर गये । अवश्य उन्होंने ही यह लोक-हितकारी कर्म किया होगा' ॥ १९ ॥

ततस्ते ब्राह्मणाः सर्वे क्षत्रियाश्च सुविस्मिताः ।
वैश्याः शूद्राश्च मुदिताश्चक्रुर्ब्रह्ममहं तदा ॥ २० ॥

तब तो वे सब ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र आश्चर्यचकित हो आनन्दमें निमग्न हो गये । उस समय उन्होंने ब्राह्मणोंके उपलक्ष्यमें महान् उत्सव मनाया ॥ २० ॥

ततो जानपदाः सर्वे आजग्मुर्नगरं प्रति ।
तदद्भुततमं द्रष्टुं पार्थास्तत्रैव चावसन् ॥ २१ ॥

इसके बाद उस अद्भुत घटनाको देखनेके लिये जनपदमें रहनेवाले सब लोग नगरमें आये और पाण्डवलोग भी (पूर्ववत्) वहीं निवास करने लगे ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि बकवधपर्वणि बकवधे त्रिषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत बकवधपर्वमें बकासुरवधविषयक एक सौ तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥१६३॥

(चैत्ररथपर्व)

चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका एक ब्राह्मणसे विचित्र कथाएँ सुनना

जनमेजय उवाच

ते तथा पुरुषव्याघ्रा निहत्य बकराक्षसम्।
अत ऊर्ध्वं ततो ब्रह्मन् किमकुर्वत पाण्डवाः॥ १॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! पुरुषसिंह पाण्डवोंने उस प्रकार बकासुरका वध करनेके पश्चात् कौन-सा कार्य किया?॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

तत्रैव न्यवसन् राजन् निहत्य बकराक्षसम्।
अधीयानाः परं ब्रह्म ब्राह्मणस्य निवेशने॥ २॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! बकासुरका वध करनेके पश्चात् पाण्डवलोग ब्रह्मतत्त्वका प्रतिपादन करनेवाले उपनिषदोंका स्वाध्याय करते हुए वहीं ब्राह्मणके घरमें रहने लगे॥ २॥

ततः कतिपयाहस्य ब्राह्मणः संशितव्रतः।
प्रतिश्रयार्थी तद् वेश्म ब्राह्मणस्य जगाम ह॥ ३॥

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद एक कठोर नियमोंका पालन करनेवाला ब्राह्मण ठहरनेके लिये उन ब्राह्मणदेवताके घरपर आया॥ ३॥

स सम्यक् पूजयित्वा तं विप्रं विप्रर्षभस्तदा।
ददौ प्रतिश्रयं तस्मै सदा सर्वातिथिव्रतः॥ ४॥

उन विप्रवरका सदा घरपर आये हुए सभी अतिथियोंकी सेवा करनेका व्रत था। उन्होंने आगन्तुक ब्राह्मणकी भलीभाँति पूजा करके उसे ठहरनेके लिये स्थान दिया॥ ४॥

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे सह कुन्त्या नरर्षभाः।
उपासांचक्रिरे विप्रं कथयन्तं कथाः शुभाः॥ ५॥

वह ब्राह्मण बड़ी सुन्दर एवं कल्याणमयी कथाएँ कह रहा था, (अतः उन्हें सुननेके लिये) सभी नरश्रेष्ठ पाण्डव माता कुन्तीके साथ उसके निकट जा बैठे॥ ५॥

कथयामास देशांश्च तीर्थानि सरितस्तथा।
राज्ञश्च विविधाश्चर्यान् देशांश्चैव पुराणि च॥ ६॥

उसने अनेक देशों, तीर्थों, नदियों, राजाओं, नाना प्रकारके आश्चर्यजनक स्थानों तथा नगरोंका वर्णन किया॥ ६॥

स तत्राकथयद् विप्रः कथान्ते जनमेजय।
पञ्चालेष्वद्भुताकारं याज्ञसेन्याः स्वयंवरम्॥ ७॥

जनमेजय! बातचीतके अन्तमें उस ब्राह्मणने वहाँ यह भी बताया कि पञ्चालदेशमें यज्ञसेनकुमारी द्रौपदीका अद्भुत स्वयंवर होने जा रहा है॥ ७॥

धृष्टद्युम्नस्य चोत्पत्तिमुत्पत्तिं च शिखण्डिनः।
अयोनिजत्वं कृष्णाया द्रुपदस्य महामखे॥ ८॥

धृष्टद्युम्न और शिखण्डीकी उत्पत्ति तथा द्रुपदके महायज्ञमें कृष्णा (द्रौपदी) का बिना माताके गर्भके ही (यज्ञकी वेदीसे) जन्म होना आदि बातें भी उसने कहीं॥ ८॥

तदद्भुततमं श्रुत्वा लोके तस्य महात्मनः।
विस्तरेणैव पप्रच्छुः कथान्ते पुरुषर्षभाः॥ ९॥

उस महात्मा ब्राह्मणका इस लोकमें अत्यन्त अद्भुत प्रतीत होनेवाला यह वचन सुनकर कथाके अन्तमें पुरुषशिरोमणि पाण्डवोंने विस्तारपूर्वक जाननेके लिये पूछा॥ ९॥

पाण्डवा ऊचुः

कथं द्रुपदपुत्रस्य धृष्टद्युम्नस्य पावकात्।
वेदीमध्याच्च कृष्णायाः सम्भवः कथमद्भुतः॥ १०॥

पाण्डव बोले—द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नका यज्ञाग्निसे और कृष्णाका यज्ञवेदीके मध्यभागसे अद्भुत जन्म किस प्रकार हुआ?॥ १०॥

कथं द्रोणान्महेष्वासात् सर्वाण्यस्त्राण्यशिक्षत।
कथं विप्र सखायौ तौ भिन्नौ कस्य कृतेन वा॥ ११॥

धृष्टद्युम्नने महाधनुर्धर द्रोणसे सब अस्त्रोंकी शिक्षा किस प्रकार प्राप्त की? ब्रह्मन्! द्रुपद और द्रोणमें किस प्रकार मैत्री हुई? और किस कारणसे उनमें वैर पड़ गया?॥ ११॥

वैशम्पायन उवाच

एवं तैश्चोदितो राजन् स विप्रः पुरुषर्षभैः।
कथयामास तत् सर्वं द्रौपदीसम्भवं तदा॥ १२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! पुरुषशिरोमणि पाण्डवोंके इस प्रकार पूछनेपर आगन्तुक ब्राह्मणने उस समय द्रौपदीकी उत्पत्तिका सारा वृत्तान्त सुनाना आरम्भ किया॥ १२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवे चतुःषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीजन्मविषयक एक सौ चौंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६४॥

पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रोणके द्वारा द्रुपदके अपमानित होनेका वृत्तान्त

ब्राह्मण उवाच

गङ्गाद्वारं प्रति महान् बभूवर्षिर्महातपाः।
भरद्वाजो महाप्राज्ञः सततं संशितव्रतः॥ १॥

आगन्तुक ब्राह्मणने कहा—गङ्गाद्वारमें एक महाबुद्धिमान् और परम तपस्वी भरद्वाज नामक महर्षि रहते थे, जो सदा कठोर व्रतका पालन करते थे॥ १॥

सोऽभिषेक्तुं गतो गङ्गां पूर्वमेवागतां सतीम्।
ददर्शाप्सरसं तत्र घृताचीमाप्लुतामृषिः॥ २॥

एक दिन वे गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये गये। वहाँ पहलेसे ही आकर सुन्दरी अप्सरा घृताची नामवाली गङ्गाजीमें गोते लगा रही थी। महर्षिने उसे देखा॥ २॥

तस्या वायुर्नदीतीरे वसनं व्यहरत् तदा।
अपकृष्टाम्बरां दृष्ट्वा तामृषिश्चकमे तदा॥ ३॥

जब नदीके तटपर खड़ी हो वह वस्त्र बदलने लगी, उस समय वायुने उसकी साड़ी उड़ा दी। वस्त्र हट जानेसे उसे नग्नावस्थामें देखकर महर्षिने उसे प्राप्त करनेकी इच्छा की॥ ३॥

तस्यां संसक्तमनसः कौमारब्रह्मचारिणः।
चिरस्य रेतश्चस्कन्द तदृषिर्द्रोण आदधे॥ ४॥

मुनिवर भरद्वाजने कुमारावस्थासे ही दीर्घकालतक ब्रह्मचर्यका पालन किया था। घृताचीमें चित्त आसक्त हो जानेके कारण उनका वीर्य स्खलित हो गया। महर्षिने उस वीर्यको द्रोण (यज्ञकलश) में रख दिया॥ ४॥

ततः समभवद् द्रोणः कुमारस्तस्य धीमतः।
अध्यगीष्ट स वेदांश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः॥ ५॥

उसीसे बुद्धिमान् भरद्वाजजीके द्रोण नामक पुत्र हुआ। उसने सम्पूर्ण वेदों और वेदाङ्गोंका भी अध्ययन कर लिया॥ ५॥

भरद्वाजस्य तु सखा पृषतो नाम पार्थिवः।
तस्यापि द्रुपदो नाम तदा समभवत् सुतः॥ ६॥

पृषत नामके एक राजा भरद्वाज मुनिके मित्र थे। उन्हीं दिनों राजा पृषतके भी द्रुपद नामक पुत्र हुआ॥ ६॥

स नित्यमाश्रमं गत्वा द्रोणेन सह पार्षतः।
चिक्रीडाध्ययनं चैव चकार क्षत्रियर्षभः॥ ७॥

क्षत्रियशिरोमणि पृषतकुमार द्रुपद प्रतिदिन भरद्वाज मुनिके आश्रमपर जाकर द्रोणके साथ खेलते और अध्ययन करते थे॥ ७॥

ततस्तु पृषतेऽतीते स राजा द्रुपदोऽभवत्।
द्रोणोऽपि रामं शुश्राव दित्सन्तं वसु सर्वशः॥ ८॥
वनं तु प्रस्थितं रामं भरद्वाजसुतोऽब्रवीत्।
आगतं वित्तकामं मां विद्धि द्रोणं द्विजोत्तम॥ ९॥

पृषतकी मृत्युके पश्चात् द्रुपद राजा हुए। इधर द्रोणने भी यह सुना कि परशुरामजी अपना सारा धन दान कर देना चाहते हैं और वनमें जानेके लिये उद्यत हैं। तब वे भरद्वाजनन्दन द्रोण परशुरामजीके पास जाकर बोले—'द्विजश्रेष्ठ! मुझे द्रोण जानिये। मैं धनकी कामनासे यहाँ आया हूँ'॥ ८-९॥

राम उवाच

शरीरमात्रमेवाद्य मया समवशेषितम्।
अस्त्राणि वा शरीरं वा ब्रह्मन्नेकतमं वृणु॥ १०॥

परशुरामजीने कहा—ब्रह्मन्! अब तो केवल मैंने अपने शरीरको ही बचा रक्खा है (शरीरके सिवा सब कुछ दान कर दिया)। अतः अब तुम मेरे अस्त्रों अथवा इस शरीर दोनोंमेंसे किसी एकको माँग लो॥ १०॥

द्रोण उवाच

अस्त्राणि चैव सर्वाणि तेषां संहारमेव च।
प्रयोगं चैव सर्वेषां दातुमर्हति मे भवान्॥ ११॥

द्रोण बोले—भगवन्! आप मुझे सम्पूर्ण अस्त्र तथा उन सबके प्रयोग और उपसंहारकी विधि भी प्रदान करें॥ ११॥

ब्राह्मण उवाच

तथेत्युक्त्वा ततस्तस्मै प्रददौ भृगुनन्दनः।
प्रतिगृह्य तदा द्रोणः कृतकृत्योऽभवत् तदा॥ १२॥

आगन्तुक ब्राह्मणने कहा—तब भृगुनन्दन परशुरामने 'तथास्तु' कहकर अपने सब अस्त्र द्रोणको दे दिये। उन सबको ग्रहण करके द्रोण उस समय कृतार्थ हो गये॥ १२॥

सम्प्रहृष्टमना द्रोणो रामात् परमसम्मतम्।
ब्रह्मास्त्रं समनुप्राप्य नरेष्वभ्यधिकोऽभवत्॥ १३॥

उन्होंने परशुरामजीसे प्रसन्नचित्त होकर परम सम्मानित ब्रह्मास्त्रका ज्ञान प्राप्त किया और मनुष्योंमें सबसे बढ़-चढ़कर हो गये॥ १३॥

ततो द्रुपदमासाद्य भारद्वाजः प्रतापवान्।
अब्रवीत् पुरुषव्याघ्रः सखायं विद्धि मामिति॥ १४॥

तब पुरुषसिंह प्रतापी द्रोणने राजा द्रुपदके पास जाकर कहा—'राजन्! मैं तुम्हारा सखा हूँ, मुझे पहचानो'॥ १४॥

द्रुपद उवाच

नाश्रोत्रियः श्रोत्रियस्य नारथी रथिनः सखा।
नाराजा पार्थिवस्यापि सखिपूर्वं किमिष्यते॥ १५॥

द्रुपदने कहा—जो श्रोत्रिय नहीं है, वह श्रोत्रियका, जो रथी नहीं है, वह रथी वीरका और इसी प्रकार

राजा नहीं है; वह किसी राजाका मित्र होने योग्य नहीं है; फिर तुम पहलेकी मित्रताकी अभिलाषा क्यों करते हो ? ॥ १५ ॥

ब्राह्मण उवाच

स विनिश्चित्य मनसा पाञ्चाल्यं प्रति बुद्धिमान् ।
जगाम कुरुमुख्यानां नगरं नागसाह्वयम् ॥ १६ ॥

आगन्तुक ब्राह्मणने कहा—बुद्धिमान् द्रोणने पाञ्चालराज द्रुपदसे बदला लेनेका मन-ही-मन निश्चय किया। फिर वे कुरुवंशी राजाओंकी राजधानी हस्तिनापुरमें गये ॥ १६ ॥

तस्मै पौत्रान् समादाय वसूनि विविधानि च ।
प्राप्ताय प्रददौ भीष्मः शिष्यान् द्रोणाय धीमते ॥ १७ ॥

वहाँ जानेपर बुद्धिमान् द्रोणको नाना प्रकारके धन लेकर भीष्मजीने अपने सभी पौत्रोंको उन्हें शिष्यरूपमें सौंप दिया ॥

द्रोणः शिष्यांस्ततः पार्थानिदं वचनमब्रवीत् ।
समानीय तु ताञ्शिष्यान् द्रुपदस्यासुखाय वै ॥ १८ ॥

तब द्रोणने सब शिष्योंको एकत्र करके जिनमें कुन्तीके पुत्र तथा अन्य लोग भी थे, द्रुपदको कष्ट देनेके उद्देश्यसे इस प्रकार कहा— ॥ १८ ॥

आचार्यवेतनं किंचिद्धृदि यद् वर्तते मम ।
कृतास्त्रैस्तत् प्रदेयं स्यात् तदृतं वदतानघाः ।
सोऽर्जुनप्रमुखैरुक्तस्तथास्त्विति गुरुस्तदा ॥ १९ ॥

'निष्पाप शिष्यगण ! मेरे मनमें तुमलोगोंसे कुछ गुरुदक्षिणा लेनेकी इच्छा है ! अस्त्रविद्यामें पारङ्गत होनेपर तुम्हें वह दक्षिणा देनी होगी। इसके लिये सच्ची प्रतिज्ञा करो।' तब अर्जुन आदि शिष्योंने अपने गुरुसे कहा—'तथास्तु (ऐसा ही होगा)' ॥ १९ ॥

यदा च पाण्डवाः सर्वे कृतास्त्राः कृतनिश्चयाः ।
ततो द्रोणोऽब्रवीद् भूयो वेतनार्थमिदं वचः ॥ २० ॥

जब समस्त पाण्डव अस्त्रविद्यामें पारङ्गत हो गये और प्रतिज्ञापालनके निश्चयपर दृढ़तापूर्वक डटे रहे, तब द्रोणाचार्यने गुरुदक्षिणा लेनेके लिये पुनः यह बात कही—॥ २० ॥

पार्षतो द्रुपदो नामच्छत्रवत्यां नरेश्वरः ।
तस्यादाकृष्य तद् राज्यं मम शीघ्रं प्रदीयताम् ॥ २१ ॥

'अहिच्छत्रा नगरीमें पृषतके पुत्र राजा द्रुपद रहते हैं । उनसे उनका राज्य छीनकर शीघ्र मुझे अर्पित कर दो' ॥

(धार्तराष्ट्रैश्च सहिताःपञ्चाहान् पाण्डवा ययुः ॥
यज्ञसेनेन संगम्य कर्णदुर्योधनादयः ।
निर्जिताः संन्यवर्तन्त तथान्ये क्षत्रियर्षभाः ॥)

ततः पाण्डुसुताः पञ्च निर्जित्य द्रुपदं युधि ।
द्रोणाय दर्शयामासुर्बद्ध्वा ससचिवं तदा ॥ २२ ॥

(गुरुकी आज्ञा पाकर) धृतराष्ट्रपुत्रोंसहित पाण्डव पञ्चाल देशमें गये । वहाँ राजा द्रुपदके साथ युद्ध होनेपर कर्ण, दुर्योधन आदि कौरव तथा दूसरे-दूसरे प्रमुख क्षत्रिय वीर परास्त होकर रणभूमिसे भाग गये । तब पाँचों पाण्डवोंने द्रुपदको युद्धमें परास्त कर दिया और मन्त्रियोंसहित उन्हें कैद करके द्रोणके सम्मुख ला दिया ॥ २२ ॥

(महेन्द्र इव दुर्धर्षो महेन्द्र इव दानवम् ।
महेन्द्रपुत्रः पाञ्चालं जितवानर्जुनस्तदा ॥
तद् दृष्ट्वा तु महावीर्यं फाल्गुनस्यामितौजसः ।
व्यस्मयन्त जनाः सर्वे यज्ञसेनस्य बान्धवाः ॥
नास्त्यर्जुनसमो वीर्ये राजपुत्र इति ब्रुवन् ॥)

महेन्द्रपुत्र अर्जुन महेन्द्र पर्वतके समान दुर्धर्ष थे । जैसे महेन्द्रने दानवराजको परास्त किया था, उसी प्रकार उन्होंने पाञ्चालराजपर विजय पायी । अमिततेजस्वी अर्जुनका वह महान् पराक्रम देख राजा द्रुपदके समस्त बान्धवजन बड़े विस्मित हुए और मन-ही-मन कहने लगे—'अर्जुनके समान शक्तिशाली दूसरा कोई राजकुमार नहीं है' ॥

द्रोण उवाच

प्रार्थयामि त्वया सख्यं पुनरेव नराधिप ।
अराजा किल नो राज्ञः सखा भवितुमर्हति ॥ २३ ॥
अतः प्रयतितं राज्ये यज्ञसेन त्वया सह ।
राजासि दक्षिणे कूले भागीरथ्याहमुत्तरे ॥ २४ ॥

द्रोणाचार्य बोले—राजन् ! मैं फिर भी तुमसे मित्रताके लिये प्रार्थना करता हूँ । यज्ञसेन ! तुमने कहा था, जो राजा नहीं है, वह राजाका मित्र नहीं हो सकता; अतः मैंने राज्य-प्राप्तिके लिये तुम्हारे साथ युद्धका प्रयास किया है । तुम गङ्गाके दक्षिणतटके राजा रहो और मैं उत्तरतटका ॥ २३-२४ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमुक्तो हि पाञ्चाल्यो भारद्वाजेन धीमता ।
उवाचास्त्रविदां श्रेष्ठो द्रोणं ब्राह्मणसत्तमम् ॥ २५ ॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—बुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोणके यों कहनेपर अस्त्रवेत्ताओंमें श्रेष्ठ पञ्चालनरेश द्रुपदने विप्रवर द्रोणसे इस प्रकार कहा—॥ २५ ॥

एवं भवतु भद्रं ते भारद्वाज महामते ।
सख्यं तदेव भवतु शश्वद् यदभिमन्यसे ॥ २६ ॥

'महामते द्रोण ! एवमस्तु, आपका कल्याण हो । आपकी जैसी राय है, उसके अनुसार हम दोनोंकी वही पुरानी मैत्री सदा बनी रहे' ॥ २६ ॥

एवमन्योन्यमुक्त्वा तौ कृत्वा सख्यमनुत्तमम् ।
जग्मतुर्द्रोणपाञ्चाल्यौ यथागतमरिंदमौ ॥ २७ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले द्रोणाचार्य और द्रुपद एक दूसरेसे उपर्युक्त बातें कहकर परम उत्तम मैत्रीभाव स्थापित करके इच्छानुसार अपने-अपने स्थानको चले गये ॥ २७ ॥

असत्कारः स तु महान् मुहूर्तमपि तस्य तु ।
नापैति हृदयाद् राज्ञो दुर्मनाः स कृशोऽभवत् ॥ २८ ॥

उस समय उनका जो महान् अपमान हुआ, वह दो घड़ीके लिये भी राजा द्रुपदके हृदयसे निकल नहीं पाया। वे मन-ही-मन बहुत दुखी थे और उनका शरीर भी बहुत दुर्बल हो गया ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवे पञ्चषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीजन्मविषयक एक सौ पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदके यज्ञसे धृष्टद्युम्न और द्रौपदीकी उत्पत्ति

ब्राह्मण उवाच

अमर्षी द्रुपदो राजा कर्मसिद्धान् द्विजर्षभान् ।
अन्विच्छन् परिचक्राम ब्राह्मणावसथान् बहून् ॥ १ ॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—राजा द्रुपद अमर्षमें भर गये थे, अतः उन्होंने कर्मसिद्ध श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको ढूँढ़नेके लिये बहुत से ब्रह्मर्षियोंके आश्रममें भ्रमण किया ॥ १ ॥

पुत्रजन्म परीप्सन् वै शोकोपहतचेतनः ।
नास्ति श्रेष्ठमपत्यं मे इति नित्यमचिन्तयत् ॥ २ ॥

वे अपने लिये एक श्रेष्ठ पुत्र चाहते थे। उनका चित्त शोकसे व्याकुल रहता था। वे रात-दिन इसी चिन्तामें पड़े रहते थे कि मेरे कोई श्रेष्ठ संतान नहीं है ॥ २ ॥

जातान् पुत्रान् स निर्वेदाद् धिग् बन्धूनिति चाब्रवीत् ।
निःश्वासपरमश्चासीद् द्रोणं प्रतिचिकीर्षया ॥ ३ ॥

जो पुत्र या भाई-बन्धु उत्पन्न हो चुके थे, उन्हें वे खेदवश धिक्कारते रहते थे। द्रोणसे बदला लेनेकी इच्छा रखकर राजा द्रुपद सदा लंबी साँसें खींचा करते थे ॥ ३ ॥

प्रभावं विनयं शिक्षां द्रोणस्य चरितानि च ।
क्षात्रेण च बलेनास्य चिन्तयन् नाध्यगच्छत ॥ ४ ॥
प्रतिकर्तुं नृपश्रेष्ठो यतमानोऽपि भारत ।
अभितः सोऽथ कल्माषीं गङ्गाकूले परिभ्रमन् ॥ ५ ॥
ब्राह्मणावसथं पुण्यमाससाद महीपतिः ।
तत्र नास्नातकः कश्चिन्न चासीदव्रती द्विजः ॥ ६ ॥

जनमेजय ! नृपश्रेष्ठ द्रुपद द्रोणाचार्यसे बदला लेनेके लिये यत्न करनेपर भी उनके प्रभाव, विनय, शिक्षा एवं चरित्रका चिन्तन करके क्षात्रबलके द्वारा उन्हें परास्त करनेका कोई उपाय न जान सके। वे कृष्णवर्णा यमुना तथा गङ्गा दोनोंके तटोंपर घूमते हुए ब्राह्मणोंकी एक पवित्र बस्तीमें जा पहुँचे। वहाँ उन महाभाग नरेशने एक भी ऐसा ब्राह्मण नहीं देखा, जिसने विधिपूर्वक ब्रह्मचर्यका पालन करके वेद-वेदाङ्गकी शिक्षा न प्राप्त की हो ॥ ४-६ ॥

तथैव च महाभागः सोऽपश्यत् संशितव्रतौ ।
याजोपयाजौ ब्रह्मर्षी शाम्यन्तौ परमेष्ठिनौ ॥ ७ ॥

इस प्रकार उन महाभागने वहाँ कठोर व्रतका पालन करनेवाले दो ब्रह्मर्षियोंको देखा, जिनके नाम थे याज और उपयाज। वे दोनों ही परम शान्त और परमेष्ठी ब्रह्माके तुल्य प्रभावशाली थे ॥ ७ ॥

संहिताध्ययने युक्तौ गोत्रतश्चापि काश्यपौ ।
तारणेयौ युक्तरूपौ ब्राह्मणावृषिसत्तमौ ॥ ८ ॥

वे वैदिक संहिताके अध्ययनमें सदा संलग्न रहते थे। उनका गोत्र काश्यप था। वे दोनों ब्राह्मण सूर्यदेवके भक्त, बड़े ही योग्य तथा श्रेष्ठ ऋषि थे ॥ ८ ॥

स तावामन्त्रयामास सर्वकामैरतन्द्रितः ।
बुद्ध्वा बलं तयोस्तत्र कनीयांसमुपह्वरे ॥ ९ ॥
प्रपेदे छन्दयन् कामैरुपयाजं धृतव्रतम् ।
पादशुश्रूषणे युक्तः प्रियवाक् सर्वकामदः ॥ १० ॥
अर्चयित्वा यथान्यायमुपयाजमुवाच सः ।
येन मे कर्मणा ब्रह्मन् पुत्रः स्याद् द्रोणमृत्यवे ॥ ११ ॥
उपयाज कृते तस्मिन् गवां दातास्मि तेऽर्बुदम् ।
यद् वा तेऽन्यद् द्विजश्रेष्ठ मनसः सुप्रियं भवेत् ।
सर्वं तत् ते प्रदाताहं न हि मेऽत्रास्ति संशयः ॥ १२ ॥

उन दोनोंकी शक्तिको समझकर आलस्यरहित राजा द्रुपदने उन्हें सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग-पदार्थ अर्पण करनेका संकल्प लेकर निमन्त्रित किया। उन दोनोंमेंसे जो छोटे उपयाज थे, वे अत्यन्त उत्तम व्रतका पालन करनेवाले थे। द्रुपद एकान्तमें उनसे मिले और इच्छानुसार भोग्य वस्तुएँ अर्पण करके उन्हें अपने अनुकूल बनानेकी चेष्टा करने लगे। सम्पूर्ण मनोभिलषित पदार्थोंको देनेकी प्रतिज्ञा करके प्रिय वचन बोलते हुए द्रुपद मुनिके चरणोंकी सेवामें लग गये और यथायोग्य पूजन करके उपयाजसे बोले—'विप्रवर उपयाज! जिस कर्मसे मुझे ऐसा पुत्र प्राप्त हो, जो द्रोणाचार्यको मार सके। उस कर्मके पूरा होनेपर मैं आपको एक

अर्बुद (दस करोड़) गायें दूँगा । द्विजश्रेष्ठ ! इसके सिवा और भी जो आपके मनको अत्यन्त प्रिय लगनेवाली वस्तु होगी, वह सब आपको अर्पित करूँगा, इसमें कोई संशय नहीं है' ॥ ९-१२ ॥

इत्युक्तो नाहमित्येवं तमृषिः प्रत्यभाषत ।
आराधयिष्यन् द्रुपदः स तं पर्यचरत् पुनः ॥ १३ ॥

द्रुपदके यों कहनेपर ऋषि उपयाजने उन्हें जवाब दे दिया, 'मैं ऐसा कार्य नहीं करूँगा ।' परंतु द्रुपद उन्हें प्रसन्न करनेका निश्चय करके पुनः उनकी सेवामें लगे रहे ॥ १३ ॥

ततः संवत्सरस्यान्ते द्रुपदं स द्विजोत्तमः ।
उपयाजोऽब्रवीत् काले राजन् मधुरया गिरा ॥ १४ ॥
ज्येष्ठो भ्राता ममागृह्णाद् विचरन् गहने वने ।
अपरिज्ञातशौचायां भूमौ निपतितं फलम् ॥ १५ ॥

तदनन्तर एक वर्ष बीतनेपर द्विजश्रेष्ठ उपयाजने उपयुक्त अवसरपर मधुर वाणीमें द्रुपदसे कहा—'राजन् ! मेरे बड़े भाई याज एक समय घने वनमें विचर रहे थे । उन्होंने एक ऐसी जमीनपर गिरे हुए फलको उठा लिया, जिसकी शुद्धिके सम्बन्धमें कुछ भी पता नहीं था ॥ १४-१५ ॥

तदपश्यमहं भ्रातुरसाम्प्रतमनुव्रजन् ।
विमर्शं संकरादाने नायं कुर्यात् कदाचन ॥ १६ ॥

'मैं भी भाईके पीछे-पीछे जा रहा था; अतः मैंने उनके इस अयोग्य कार्यको देख लिया और सोचा कि ये अपवित्र वस्तुको ग्रहण करनेमें भी कभी कोई विचार नहीं करते ॥ १६ ॥

दृष्ट्वा फलस्य नापश्यद् दोषान् पापानुबन्धकान् ।
विविनक्ति न शौचं यः सोऽन्यत्रापि कथं भवेत् ॥ १७ ॥

'जिन्होंने देखकर भी फलके पापजनक दोषोंकी ओर दृष्टिपात नहीं किया, जो किसी वस्तुको लेनेमें शुद्धि-अशुद्धिका विचार नहीं करते, वे दूसरे कार्योंमें भी कैसा बर्ताव करेंगे; कहा नहीं जा सकता ॥ १७ ॥

संहिताध्ययनं कुर्वन् वसन् गुरुकुले च यः ।
भैक्ष्यमुत्सृष्टमन्येषां भुङ्क्ते स च यदा तदा ॥ १८ ॥
कीर्तयन् गुणमन्नानामघृणी च पुनः पुनः ।
तं वै फलार्थिनं मन्ये भ्रातरं तर्कचक्षुषा ॥ १९ ॥

'गुरुकुलमें रहकर संहिताभागका अध्ययन करते हुए भी जो दूसरोंकी त्यागी हुई भिक्षाको जब तब खा लिया करते थे और घृणाशून्य होकर बार-बार उस अन्नके गुणोंका वर्णन करते रहते थे, उन अपने भाईको जब मैं तर्ककी दृष्टिसे देखता हूँ तो वे मुझे फलके लोभी जान पड़ते हैं ॥ १८-१९ ॥

तं वै गच्छस्व नृपते स त्वां संयाजयिष्यति ।
जुगुप्समानो नृपतिर्मनसेदं विचिन्तयन् ॥ २० ॥
उपयाजवचः श्रुत्वा याजस्याश्रममभ्यगात् ।
अभिसम्पूज्य पूजार्हमथ याजमुवाच ह ॥ २१ ॥

'राजन् ! तुम उन्हींके पास जाओ । वे तुम्हारा यज्ञ करा



देंगे ।' राजा द्रुपद उपयाजकी बात सुनकर याजके इस चरित्रकी मन-ही-मन निन्दा करने लगे, तो भी अपने कार्यका विचार करके याजके आश्रमपर गये और पूजनीय याज मुनिका पूजन करके तब उनसे इस प्रकार बोले—॥ २०-२१ ॥

अयुतानि ददान्यष्टौ गवां याजय मां विभो ।
द्रोणवैराभिसंतप्तं त्वं ह्लादयितुमर्हसि ॥ २२ ॥

'भगवन् ! मैं आपको अस्सी हजार गौएँ भेंट करता हूँ । आप मेरा यज्ञ करा दीजिये । मैं द्रोणके वैरसे संतप्त हो रहा हूँ । आप मुझे प्रसन्नता प्रदान करें ॥ २२ ॥

स हि ब्रह्मविदां श्रेष्ठो ब्रह्मास्त्रे चाप्यनुत्तमः ।
तस्माद् द्रोणः पराजैष्ट मां वै स सखिविग्रहे ॥ २३ ॥

'द्रोणाचार्य ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ और ब्रह्मास्त्रके प्रयोगमें भी सर्वोत्तम हैं; इसलिये मित्र मानने न माननेके प्रश्नको लेकर होनेवाले झगड़ेमें उन्होंने मुझे पराजित कर दिया है ॥ २३ ॥

क्षत्रियो नास्ति तस्यास्यां पृथिव्यां कश्चिदग्रणीः ।
कौरवाचार्यमुख्यस्य भारद्वाजस्य धीमतः ॥ २४ ॥

'परम बुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोण इन दिनों कुरुवंशी राजकुमारोंके प्रधान आचार्य हैं । इस पृथ्वीपर कोई भी ऐसा क्षत्रिय नहीं है, जो अस्त्रविद्यामें उनसे आगे बढ़ा हो ॥ २४ ॥

द्रोणस्य शरजालानि प्राणिदेहहराणि च ।
षडरत्नि धनुश्चास्य दृश्यते परमं महत् ॥ २५ ॥
स हि ब्राह्मणवेषेण क्षात्रं वेगमसंशयम् ।
प्रतिहन्ति महेष्वासो भारद्वाजो महामनाः ॥ २६ ॥

'द्रोणाचार्यके बाणसमूह प्राणियोंके शरीरका संहार करनेवाले हैं। उनका छः हाथका लंबा धनुष बहुत बड़ा दिखायी देता है। इसमें संदेह नहीं कि महान् धनुर्धर महामना द्रोण ब्राह्मण-वेषमें (अपने ब्राह्मतेजके द्वारा) क्षत्रिय-तेजको प्रतिहत कर देते हैं ॥ २५-२६ ॥

क्षत्रोच्छेदाय विहितो जामदग्न्य इवास्थितः।
तस्य ह्यस्त्रबलं घोरमप्रधृष्यं नरैर्भुवि ॥ २७ ॥

'मानो जमदग्निनन्दन परशुरामजीकी भाँति क्षत्रियोंका संहार करनेके लिये उनकी सृष्टि हुई है। उनका अस्त्रबल बड़ा भयंकर है। पृथ्वीके सब मनुष्य मिलकर भी उसे दबा नहीं सकते ॥ २७ ॥

ब्राह्मं संधारयंस्तेजो हुताहुतिरिवानलः।
समेत्य स दहत्याजौ क्षात्रधर्मपुरस्सरः ॥ २८ ॥

'घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हुई अग्निके समान वे प्रचण्ड ब्राह्मतेज धारण करते हैं और युद्धमें क्षात्रधर्मको आगे रखकर विपक्षियोंसे भिड़ंत होनेपर वे उन्हें भस्म कर डालते हैं ॥२८॥

ब्रह्मक्षत्रे च विहिते ब्राह्मं तेजो विशिष्यते।
सोऽहं क्षात्राद् बलाद्धीनो ब्राह्मं तेजः प्रपेदिवान् ॥ २९ ॥

'यद्यपि द्रोणाचार्यमें ब्राह्मतेजके साथ-साथ क्षात्रतेज भी विद्यमान है, तथापि आपका ब्राह्मतेज उनसे बढ़कर है। मैं केवल क्षात्रबलके कारण द्रोणाचार्यसे हीन हूँ; अतः मैंने आपके ब्राह्मतेजकी शरण ली है ॥ २९ ॥

द्रोणाद् विशिष्टमासाद्य भवन्तं ब्रह्मवित्तमम्।
द्रोणान्तकमहं पुत्रं लभेयं युधि दुर्जयम् ॥ ३० ॥

'आप वेदवेत्ताओंमें सबसे श्रेष्ठ होनेके कारण द्रोणाचार्यसे बहुत बढ़े-चढ़े हैं। मैं आपकी शरण लेकर एक ऐसा पुत्र पाना चाहता हूँ, जो युद्धमें दुर्जय और द्रोणाचार्यका विनाशक हो ॥ ३० ॥

तत् कर्म कुरु मे याज वितराम्यर्बुदं गवाम्।
तथेत्युक्त्वा तु तं याजो याज्यार्थमुपकल्पयत् ॥ ३१ ॥

'याजजी! मेरे इस मनोरथको पूर्ण करनेवाला यज्ञ कराइये। उसके लिये मैं आपको एक अर्बुद गौएँ दक्षिणामें दूँगा।' तब याजने 'तथास्तु' कहकर यजमानकी अभीष्टसिद्धिके लिये आवश्यक यज्ञ और उसके साधनोंका स्मरण किया ॥३१॥

गुर्वर्थ इति चाकाममुपयाजमचोदयत्।
याजो द्रोणविनाशाय प्रतिजज्ञे तथा च सः ॥ ३२ ॥
ततस्तस्य नरेन्द्रस्य उपयाजो महातपाः।
आचख्यौ कर्म वैतानं तदा पुत्रफलाय वै ॥ ३३ ॥

'यह बहुत बड़ा कार्य है, ऐसा विचार करके याजने इस कार्यके लिये किसी प्रकारकी कामना न रखनेवाले उपयाजको भी प्रेरित किया तथा याजने द्रोणके विनाशके लिये वैसा पुत्र उत्पन्न करनेकी प्रतिज्ञा कर ली। इसके बाद महातपस्वी उपयाजने राजा द्रुपदको अभीष्ट पुत्ररूपी फलकी सिद्धिके लिये आवश्यक यज्ञकर्मका उपदेश किया ॥ ३२-३३ ॥

स च पुत्रो महावीर्यो महातेजा महाबलः।
इष्यते यद्विधो राजन् भविता ते तथाविधः ॥ ३४ ॥

और कहा—'राजन्! इस यज्ञसे तुम जैसा पुत्र चाहते हो, वैसा ही तुम्हें होगा। तुम्हारा वह पुत्र महान् पराक्रमी, महातेजस्वी और महाबली होगा' ॥ ३४ ॥

भारद्वाजस्य हन्तारं सोऽभिसंधाय भूपतिः।
आजह्रे तत् तथा सर्वं द्रुपदः कर्मसिद्धये ॥ ३५ ॥

तदनन्तर द्रोणके घातक पुत्रका संकल्प लेकर राजा द्रुपदने कर्मकी सिद्धिके लिये उपयाजके कथनानुसार सारी व्यवस्था की ॥ ३५ ॥

याजस्तु हवनस्यान्ते देवीमाज्ञापयत् तदा।
प्रेहि मां राज्ञि पृषति मिथुनं त्वामुपस्थितम् ॥ ३६ ॥
(कुमारश्च कुमारी च पितृवंशविवृद्धये।)

हवनके अन्तमें याजने द्रुपदकी रानीको आज्ञा दी—'पृषतकी पुत्रवधू! महारानी! शीघ्र मेरे पास हविष्य ग्रहण करनेके लिये आओ! तुम्हें एक पुत्र और एक कन्याकी प्राप्ति होनेवाली है, वे कुमार और कुमारी अपने पिताके कुलकी वृद्धि करनेवाले होंगे' ॥ ३६ ॥

राज्युवाच

अवलिप्तं मुखं ब्रह्मन् दिव्यान् गन्धान् बिभर्मि च।
सुतार्थं नोपलब्धास्मि तिष्ठ याज मम प्रिये ॥ ३७ ॥

रानी बोली—ब्रह्मन्! अभी मेरे मुखमें ताम्बूल आदिका रंग लगा है! मैं अपने अङ्गोंमें दिव्य सुगन्धित अङ्गराग धारण कर रही हूँ, अतः मुँह धोये और स्नान किये बिना पुत्रदायक हविष्यका स्पर्श करनेके योग्य नहीं हूँ, इसलिये याजजी! मेरे इस प्रिय कार्यके लिये थोड़ी देर ठहर जाइये ॥ ३७ ॥

याज उवाच

याजेन श्रपितं हव्यमुपयाजाभिमन्त्रितम्।
कथं कामं न संदध्यात् सा त्वं विप्रेहि तिष्ठ वा ॥ ३८ ॥

याजने कहा—इस हविष्यको स्वयं याजने पकाकर तैयार किया है और उपयाजने इसे अभिमन्त्रित किया है; अतः तुम आओ या वहीं खड़ी रहो, यह हविष्य यजमानकी कामनाको पूर्ण कैसे नहीं करेगा? ॥ ३८ ॥

ब्राह्मण उवाच

एवमुक्त्वा तु याजेन हुते हविषि संस्कृते।
उत्तस्थौ पावकात् तस्मात् कुमारो देवसंनिभः ॥ ३९ ॥

ब्राह्मण कहता है—यों कहकर याजने उस संस्कारयुक्त हविष्यकी आहुति ज्यों ही अग्निमें डाली, त्यों ही उस अग्निसे देवताके समान तेजस्वी एक कुमार प्रकट हुआ ॥ ३९ ॥

ज्वालावर्णो घोररूपः किरीटी वर्म चोत्तमम् ।
बिभ्रत् सखड्गः सशरो धनुष्मान् विनदन् मुहुः ॥ ४० ॥

उसके अङ्गोंकी कान्ति अग्निकी ज्वालाके समान उद्भासित हो रही थी । उसका रूप भय उत्पन्न करनेवाला था । उसके माथेपर किरीट सुशोभित था । उसने अङ्गोंमें उत्तम कवच धारण कर रक्खा था । हाथोंमें खड्ग, बाण और धनुष धारण किये वह बार-बार गर्जना कर रहा था ॥ ४० ॥

सोऽध्यारोहद् रथवरं तेन च प्रययौ तदा ।
ततः प्रणेदुः पञ्चालाः प्रहृष्टाः साधु साध्विति ॥ ४१ ॥

वह कुमार उसी समय एक श्रेष्ठ रथपर जा चढ़ा, मानो उसके द्वारा युद्धके लिये यात्रा कर रहा हो । यह देखकर पाञ्चालोंको बड़ा हर्ष हुआ और वे जोर-जोरसे बोल उठे, 'बहुत अच्छा', 'बहुत अच्छा' ॥ ४१ ॥

हर्षाविष्टांस्ततश्चैतान् नेयं सेहे वसुंधरा ।
भयापहो राजपुत्रः पाञ्चालानां यशस्करः ॥ ४२ ॥
राज्ञः शोकापहो जात एष द्रोणवधाय वै ।
इत्युवाच महद् भूतमदृश्यं खेचरं तदा ॥ ४३ ॥

उस समय हर्षोल्लाससे भरे हुए इन पाञ्चालोंका भार यह पृथ्वी नहीं सह सकी । आकाशमें कोई अदृश्य महाभूत इस प्रकार कहने लगा—'यह राजकुमार पाञ्चालोंके भयको दूर करके उनके यशकी वृद्धि करनेवाला होगा । यह राजा द्रुपदका शोक दूर करनेवाला है । द्रोणाचार्यके वधके लिये ही इसका जन्म हुआ है' ॥ ४२-४३ ॥

कुमारी चापि पाञ्चाली वेदीमध्यात् समुत्थिता ।
सुभगा दर्शनीयाङ्गी स्वसितायतलोचना ॥ ४४ ॥

तत्पश्चात् यज्ञकी वेदीमेंसे एक कुमारी कन्या भी प्रकट हुई, जो पाञ्चाली कहलायी । वह बड़ी सुन्दरी एवं सौभाग्यशालिनी थी । उसका एक-एक अङ्ग देखने ही योग्य था । उसकी श्याम आँखें बड़ी-बड़ी थीं ॥ ४४ ॥

श्यामा पद्मपलाशाक्षी नीलकुञ्चितमूर्धजा ।
ताम्रतुङ्गनखी सुभ्रूश्चारुपीनपयोधरा ॥ ४५ ॥

उसके शरीरकी कान्ति श्याम थी । नेत्र ऐसे जान पड़ते मानो खिले हुए कमलके दल हों । केश काले-काले और घुँघराले थे । नख उभरे हुए और लाल रंगके थे । भौंहें बड़ी सुन्दर थीं । दोनों उरोज स्थूल और मनोहर थे ॥ ४५ ॥

मानुषं विग्रहं कृत्वा साक्षादमरवर्णिनी ।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात् प्रधावति ॥ ४६ ॥

वह ऐसी जान पड़ती मानो साक्षात् देवी दुर्गा ही मानवशरीर धारण करके प्रकट हुई हों । उसके अङ्गोंसे नील कमलकी-सी सुगन्ध प्रकट होकर एक कोसतक चारों ओर फैल रही थी ॥ ४६ ॥

या बिभर्ति परं रूपं यस्या नास्त्युपमा भुवि ।
देवदानवयक्षाणामीप्सितां देवरूपिणीम् ॥ ४७ ॥

उसने परम सुन्दर रूप धारण कर रक्खा था । उस समय पृथ्वीपर उसके-जैसी सुन्दर स्त्री दूसरी नहीं थी । देवता, दानव और यक्ष भी उस देवोपम कन्याको पानेके लिये लालायित थे ॥ ४७ ॥

तां चापि जातां सुश्रोणीं वागुवाचाशरीरिणी ।
सर्वयोषिद्वरा कृष्णा निनीषुः क्षत्रियान् क्षयम् ॥ ४८ ॥

सुन्दर कटिप्रदेशवाली उस कन्याके प्रकट होनेपर भी आकाशवाणी हुई— 'इस कन्याका नाम कृष्णा है । यह समस्त युवतियोंमें श्रेष्ठ एवं सुन्दरी है और क्षत्रियोंका संहार करनेके लिये प्रकट हुई है ॥ ४८ ॥

सुरकार्यमियं काले करिष्यति सुमध्यमा ।
अस्या हेतोः कौरवाणां महदुत्पत्स्यते भयम् ॥ ४९ ॥

'यह सुमध्यमा समयपर देवताओंका कार्य सिद्ध करेगी । इसके कारण कौरवोंको बहुत बड़ा भय प्राप्त होगा' ॥ ४९ ॥

तच्छ्रुत्वा सर्वपाञ्चालाः प्रणेदुः सिंहसङ्घवत् ।
न चैतान् हर्षसम्पूर्णानियं सेहे वसुंधरा ॥ ५० ॥

वह आकाशवाणी सुनकर समस्त पाञ्चाल सिंहोंके समुदायकी भाँति गर्जना करने लगे । उस समय हर्षमें भरे हुए उन पाञ्चालोंका वेग पृथ्वी नहीं सह सकी ॥ ५० ॥

तौ दृष्ट्वा पार्षती याजं प्रपेदे वै सुतार्थिनी ।
न वै मदन्यां जननीं जानीयातामिमाविति ॥ ५१ ॥

उन दोनों पुत्र और पुत्रीको देखकर पुत्रकी इच्छा रखनेवाली राजा पृषतकी पुत्रवधू महर्षि याजकी शरणमें गयी और बोली—'भगवन् ! आप ऐसी कृपा करें, जिससे ये दोनों बच्चे मेरे सिवा और किसीको अपनी माता न समझें' ॥ ५१ ॥

तथेत्युवाच तं याजो राज्ञः प्रियचिकीर्षया ।
तयोश्च नामनी चक्रुर्द्विजाः सम्पूर्णमानसाः ॥ ५२ ॥

तब राजाका प्रिय करनेकी इच्छासे याजने कहा—'ऐसा ही होगा ।' उस समय सम्पूर्ण द्विजोंने सफल मनोरथ होकर उन बालकोंके नामकरण किये ॥ ५२ ॥

धृष्टत्वादत्यमर्षित्वाद् द्युम्नाद्युत्सम्भवादपि ।
धृष्टद्युम्नः कुमारोऽयं द्रुपदस्य भवत्विति ॥ ५३ ॥

यह द्रुपदकुमार धृष्ट, अमर्षशील तथा द्युम्न (तेजोमय कवच-कुण्डल एवं क्षात्रतेज) आदिके साथ उत्पन्न होनेके कारण 'धृष्टद्युम्न' नामसे प्रसिद्ध होगा ॥ ५३ ॥

कृष्णेत्येवाब्रुवन् कृष्णां कृष्णाभूत् सा हि वर्णतः।
तथा तन्मिथुनं जज्ञे द्रुपदस्य महामखे ॥ ५४ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने कुमारीका नाम कृष्णा रक्खा; क्योंकि वह शरीरसे कृष्ण (श्याम) वर्णकी थी । इस प्रकार द्रुपदके महान् यज्ञमें ये जुड़वीं संतानें उत्पन्न हुईं ॥ ५४ ॥

धृष्टद्युम्नं तु पाञ्चाल्यमानीय स्वं निवेशनम् ।
उपाकरोदस्त्रहेतोर्भारद्वाजः प्रतापवान् ॥ ५५ ॥
अमोक्षणीयं दैवं हि भावि मत्वा महामतिः ।
तथा तत् कृतवान् द्रोण आत्मकीर्त्यनुरक्षणात् ॥ ५६ ॥

परम बुद्धिमान् प्रतापी भरद्वाजनन्दन द्रोण यह सोचकर कि प्रारब्धके भावी विधानको टालना असम्भव है, पाञ्चालराज-कुमार धृष्टद्युम्नको अपने घर ले आये और उन्होंने उसे अस्त्रविद्याकी शिक्षा देकर उसका बहुत बड़ा उपकार किया । द्रोणाचार्यने अपनी कीर्तिकी रक्षाके लिये यह उदारतापूर्ण कार्य किया ॥ ५५-५६ ॥

(ब्राह्मण उवाच

श्रुत्वा जतुगृहे वृत्तं ब्राह्मणाः सपुरोहिताः ।
पाञ्चालराजं द्रुपदमिदं वचनमब्रुवन् ॥
धार्तराष्ट्राः सहामात्या मन्त्रयित्वा परस्परम् ।
पाण्डवानां विनाशाय मतिं चक्रुः सुदुष्कराम् ॥
दुर्योधनेन प्रहितः पुरोचन इति श्रुतः ।
वारणावतमासाद्य कृत्वा जतुगृहं महत् ॥
तस्मिन् गृहे सुविश्वस्तान् पाण्डवान् पृथया सह ।
अर्धरात्रे महाराज दग्धवान् स पुरोचनः ।
अग्निना तु स्वयमपि दग्धः क्षुद्रो नृशंसकृत् ॥
एतच्छ्रुत्वा सुसंहृष्टो धृतराष्ट्रः सबान्धवः ॥
श्रुत्वा तु पाण्डवान् दग्धान् धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
एतावदुक्त्वा करुणं धृतराष्ट्रस्तु भारिगः ॥
अल्पशोकः प्रहृष्टात्मा शशास विदुरं तदा ।
पाण्डवानां महाप्राज्ञ कुरु पिण्डोदकक्रियाम् ॥
अद्य पाण्डुर्हतः क्षत्तः पाण्डवानां विनाशने ।
तस्माद् भागीरथीं गत्वा कुरु पिण्डोदकक्रियाम् ॥
अहो विधिवशादेव गतास्ते यमसादनम् ।
इत्युक्त्वा प्रारुदत् तत्र धृतराष्ट्रः ससौबलः ॥
श्रुत्वा भीष्मेण विधिवत् कृतवानौर्ध्वदेहिकम् ।
पाण्डवानां विनाशाय कृतं कर्म दुरात्मना ॥
एतत्कार्यस्य कर्ता तु न दृष्टो न श्रुतः पुरा ।
एतद् वृत्तं महाराज पाण्डवान् प्रति नः श्रुतम् ॥
श्रुत्वा तु वचनं तेषां यज्ञसेनो महामतिः ।
यथा तज्जनकः शोचेदौरसस्य विनाशने ।
तथातप्यत पाञ्चालः पाण्डवानां विनाशने ॥
समाहूय प्रकृतयः सहिताः सह बान्धवैः ।
कारुण्यादेव पाञ्चालः प्रोवाचेदं वचस्तदा ॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—लाक्षागृहमें पाण्ड साथ जो घटना घटित हुई थी, उसे सुनकर ब्राह्मणों पुरोहितोंने पाञ्चालराज द्रुपदसे इस प्रकार कहा—'रा धृतराष्ट्रके पुत्रोंने अपने मन्त्रियोंके साथ परस्पर सलाह पाण्डवोंके विनाशका विचार कर लिया था । ऐसा क्रूरत विचार दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है । दुर्योधनके भेजे उसके पुरोचन नामक सेवकने वारणावत नगरमें जाकर विशाल लाक्षागृहका निर्माण कराया था । उस भवनमें पा अपनी माता कुन्तीके साथ पूर्ण विश्वस्त होकर रहते महाराज ! एक दिन आधी रातके समय पुरोचनने लाक्षा आग लगा दी । वह नीच और नृशंस पुरोचन स्वयं उसी आगमें जलकर भस्म हो गया । यह समाचार सु कि 'पाण्डव जल गये' अम्बिका-नन्दन धृतराष्ट्रको अपने बन्धुओंके साथ बड़ा हर्ष हुआ । धृतराष्ट्रकी आत्मा खिल उठी थी, तो भी ऊपरसे कुछ शोकका प्रदर्शन हुए उन्होंने विदुरजीसे बड़ी करुण भाषामें यह वृ बताया और उन्हें आज्ञा दी कि 'महामते ! पाण्डवोंका और तर्पण करो । विदुर ! पाण्डवोंके मरनेसे मुझे ऐसा हुआ है मानो मेरे भाई पाण्डु आज ही स्वर्गवासी हुए अतः गङ्गाजीके तटपर चलकर उनके लिये श्राद्ध तर्पणकी व्यवस्था करो । अहो ! भाग्यवश ही बेचारे पा यमलोकको चले गये ।' यों कहकर धृतराष्ट्र और श फूट-फूटकर रोने लगे । भीष्मजीने यह समाचार सु उनका विधिपूर्वक और्ध्वदैहिक संस्कार सम्पन्न किया है । प्रकार दुरात्मा दुर्योधनने पाण्डवोंके विनाशके लिये यह भ षड्यन्त्र किया था । आजसे पहले हमने किसीको ऐसा देखा या सुना था जो इस तरहका जघन्य कार्य कर स महाराज ! पाण्डवोंके सम्बन्धमें यह वृत्तान्त हमारे सुन आया है' ॥

ब्राह्मण और पुरोहितका यह वचन सुनकर परम बुद्धि राजा द्रुपद शोकमें डूब गये । जैसे अपने सगे पुत्रकी होनेपर उसके पिताको शोक होता है उसी प्रकार पाण्ड नष्ट होनेका समाचार सुनकर पाञ्चालराजको पीड़ा हुई उन्होंने अपने भाई-बन्धुओंके साथ समस्त प्रजाको बुला और बड़ी करुणासे यह बात कही ॥

द्रुपद उवाच

अहो रूपमहो धैर्यमहो वीर्यं च शिक्षितम् ।
चिन्तयामि दिवारात्रमर्जुनं प्रति बान्धवाः ॥
भ्रातृभिः सहितो मात्रा सोऽदह्यत हुताशने ।
किमाश्चर्यमिदं लोके कालो हि दुरतिक्रमः ॥

मिथ्याप्रतिज्ञो लोकेषु किं वदिष्यामि साम्प्रतम् ।
अन्तर्गतेन दुःखेन दह्यमानो दिवानिशम् ।
याजोपयाजौ सत्कृत्य याचितौ तौ मयानघौ ॥
भारद्वाजस्य हन्तारं देवीं चाप्यर्जुनस्य वै ।
लोकस्तद् वेद यच्चैव तथा याजेन वै श्रुतम् ॥
याजेन पुत्रकामीयं हुत्वा चोत्पादिताबुभौ ।
धृष्टद्युम्नश्च कृष्णा च मम तुष्टिकराबुभौ ॥
किं करिष्यामि ते नष्टाः पाण्डवाः पृथया सह ।

द्रुपद बोले—बन्धुओ ! अर्जुनका रूप अद्भुत था । उनका धैर्य आश्चर्यजनक था । उनका पराक्रम और उनकी अस्त्र-शिक्षा भी अलौकिक थी । मैं दिन-रात अर्जुनकी ही चिन्तामें डूबा रहता हूँ । हाय ! वे अपने भाइयों और माताके साथ आगमें जल गये । संसारमें इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है ! सच है, कालका उल्लङ्घन करना अत्यन्त कठिन है । मेरी तो प्रतिज्ञा झूठी हो गयी । अब मैं लोगोंसे क्या कहूँगा । आन्तरिक दुःखसे दिन-रात दग्ध होता रहता हूँ । मैंने निष्पाप याज और उपयाजका सत्कार करके उनसे दो संतानोंकी याचना की थी । एक तो ऐसा पुत्र माँगा, जो द्रोणाचार्यका वध कर सके और दूसरी ऐसी कन्याके लिये प्रार्थना की, जो वीर अर्जुनकी पटरानी बन सके । मेरे इस उद्देश्यको सब लोग जानते हैं और महर्षि याजने भी यही घोषित किया था । उन्होंने पुत्रेष्टि-यज्ञ करके धृष्टद्युम्न और कृष्णाको उत्पन्न किया था । इन दोनों संतानोंको पाकर मुझे बड़ा संतोष हुआ । अब क्या करूँ ! कुन्तीसहित पाण्डव तो नष्ट हो गये ॥

ब्राह्मण उवाच

इत्येवमुक्त्वा पाञ्चालः शुशोच परमातुरः ॥
दृष्ट्वा शोचन्तमत्यर्थं पाञ्चालगुरुरब्रवीत् ।
पुरोधाः सत्त्वसम्पन्नः सम्यग्विद्याविशेषवान् ॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—ऐसा कहकर पाञ्चालराज द्रुपद अत्यन्त दुखी एवं शोकातुर हो गये । पाञ्चालराजके गुरु बड़े सात्त्विक और विशिष्ट विद्वान् थे । उन्होंने राजाको भारी शोकमें डूबा देखकर कहा ॥

गुरुरुवाच

वृद्धानुशासने सक्ताः पाण्डवा धर्मचारिणः ।
तादृशा न विनश्यन्ति नैव यान्ति पराभवम् ॥
मया दृष्टमिदं सत्यं शृणुष्व मनुजाधिप ।
ब्राह्मणैः कथितं सत्यं वेदेषु च मया श्रुतम् ॥
बृहस्पतिमुखेनाथ पौलोम्या च पुरा श्रुतम् ।
नष्ट इन्द्रो बिसग्रन्थ्यामुपश्रुत्या तु दर्शितः ॥
उपश्रुतिर्महाराज पाण्डवार्थे मया श्रुता ।
यत्र वा तत्र जीवन्ति पाण्डवास्ते न संशयः ॥

गुरु बोले—महाराज ! पाण्डवलोग बड़े-बूढ़ोंके आज्ञापालनमें तत्पर रहनेवाले तथा धर्मात्मा हैं । ऐसे लोग न तो नष्ट होते हैं और न पराजित ही होते हैं । नरेश्वर ! मैंने जिस सत्यका साक्षात्कार किया है, वह सुनिये । ब्राह्मणोंने तो इस सत्यका प्रतिपादन किया ही है, वेदके मन्त्रोंमें भी मैंने इसका श्रवण किया है । पूर्वकालमें इन्द्राणीने बृहस्पतिजीके मुखसे उपश्रुतिकी महिमा सुनी थी । उत्तरायणकी अधिष्ठात्री देवी उपश्रुतिने ही अदृष्ट हुए इन्द्रका कमलनालकी ग्रन्थिमें दर्शन कराया था । महाराज ! इसी प्रकार मैंने भी पाण्डवोंके विषयमें उपश्रुति सुन रक्खी है । वे पाण्डव कहीं-न-कहीं अवश्य जीवित हैं, इसमें संशय नहीं है ॥

मया दृष्टानि लिङ्गानि ध्रुवमेष्यन्ति पाण्डवाः ॥
यन्निमित्तमिहायान्ति तच्छृणुष्व नराधिप ॥
स्वयंवरः क्षत्रियाणां कन्यादाने प्रदर्शितः ।
स्वयंवरस्तु नगरे घुष्यतां राजसत्तम ॥
यत्र वा निवसन्तस्ते पाण्डवाः पृथया सह ।
दूरस्था वा समीपस्थाः स्वर्गस्था वापि पाण्डवाः ॥
श्रुत्वा स्वयंवरं राजन् समेष्यन्ति न संशयः ।
तस्मात् स्वयंवरो राजन् घुष्यतां मा चिरं कृथाः ॥

मैंने ऐसे (शुभ) चिह्न देखे हैं, जिनसे सूचित होता है कि पाण्डव यहाँ अवश्य पधारेंगे । नरेश्वर ! वे जिस निमित्तसे यहाँ आ सकते हैं, वह सुनिये—क्षत्रियोंके लिये कन्यादानका श्रेष्ठ मार्ग स्वयंवर बताया गया है । नृपश्रेष्ठ ! आप सम्पूर्ण नगरमें स्वयंवरकी घोषणा करा दें । फिर पाण्डव अपनी माता कुन्तीके साथ दूर हों, निकट हों अथवा स्वर्गमें ही क्यों न हों—जहाँ कहीं भी होंगे, स्वयंवरका समाचार सुनकर यहाँ अवश्य आयेंगे, इसमें संशय नहीं है । अतः राजन् ! आप (सर्वत्र) स्वयंवरकी सूचना करा दें, इसमें विलम्ब न करें ॥

ब्राह्मण उवाच

श्रुत्वा पुरोहितेनोक्तं पाञ्चालः प्रीतिमांस्तदा ।
घोषयामास नगरे द्रौपद्यास्तु स्वयंवरम् ॥
पुष्यमासे तु रोहिण्यां शुक्लपक्षे शुभे तिथौ ।
दिवसैः पञ्चसप्तत्या भविष्यति स्वयंवरः ॥
देवगन्धर्वयक्षाश्च ऋषयश्च तपोधनाः ।
स्वयंवरं द्रष्टुकामा गच्छन्त्येव न संशयः ॥
तव पुत्रा महात्मानो दर्शनीया विशेषतः ।
यदृच्छया तु पाञ्चाली गच्छेद् वा मध्यमं पतिम् ॥
को हि जानाति लोकेषु प्रजापतिविधिं वरम् ।
तस्मात् सपुत्रा गच्छेथा ब्राह्मण्यै यदि रोचते ॥
नित्यकालं सुभिक्षास्ते पञ्चालास्तु तपोधने ॥
यज्ञसेनस्तु राजासौ ब्रह्मण्यः सत्यसङ्गरः ।
ब्रह्मण्या नागराश्चाथ ब्राह्मणाश्चातिथिप्रियाः ॥
नित्यकालं प्रदास्यन्ति आमन्त्रणमयाचितम् ॥

अहं च तत्र गच्छामि ममैभिः सह शिष्यकैः।
एकसार्थाः प्रयाताः स्मो ब्राह्मण्यै यदि रोचते॥

आगन्तुक ब्राह्मण कहता है—पुरोहितकी बात सुनकर पञ्चालराजको बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने नगरमें द्रौपदीका स्वयंवर घोषित करा दिया। पौषमासके शुक्लपक्षमें शुभ तिथि (एकादशी) को रोहिणी नक्षत्रमें वह स्वयंवर होगा, जिसके लिये आजसे पचहत्तर दिन शेष हैं। ब्राह्मणी (कुन्ती)! देवता, गन्धर्व, यक्ष और तपस्वी ऋषि भी स्वयंवर देखनेके लिये अवश्य जाते हैं। तुम्हारे सभी महात्मा पुत्र देखनेमें परम सुन्दर हैं। पञ्चालराजपुत्री कृष्णा इनमेंसे किसीको अपनी इच्छासे पति चुन सकती है अथवा तुम्हारे मँझले पुत्रको अपना पति बना सकती है। संसारमें विधाताके उत्तम विधानको कौन जान सकता है? अतः यदि मेरी बात तुम्हें अच्छी लगे, तो तुम अपने पुत्रोंके साथ पञ्चालदेशमें अवश्य जाओ। तपोधने! पञ्चालदेशमें सदा सुभिक्ष रहता है। राजा यज्ञसेन सत्यप्रतिज्ञ होनेके साथ ही ब्राह्मणोंके भक्त हैं। वहाँके नागरिक भी ब्राह्मणोंके प्रति श्रद्धा-भक्ति रखनेवाले हैं। उस नगरके ब्राह्मण भी अतिथियोंके बड़े प्रेमी हैं। वे प्रतिदिन बिना माँगे ही न्यौता देंगे। मैं भी अपने इन शिष्योंके साथ वहीं जाता हूँ। ब्राह्मणी! यदि ठीक जान पड़े तो चलो। हम सब लोग एक साथ ही वहाँ चले चलेंगे॥

वैशम्पायन उवाच

एतावदुक्त्वा वचनं ब्राह्मणो विरराम ह।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—इतना कहकर वे ब्राह्मण चुप हो गये॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीसम्भवे षट्षष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १६६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीप्रादुर्भावविषयक एक सौ छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १६६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३८ श्लोक मिलाकर कुल ५४ श्लोक हैं)

सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीकी अपने पुत्रोंसे पूछकर पञ्चालदेशमें जानेकी तैयारी

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा तु कौन्तेया ब्राह्मणात् संशितव्रतात्।
सर्वे चास्वस्थमनसो बभूवुस्ते महाबलाः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! कठोर व्रतवाले उस ब्राह्मणसे यह सुनकर उन सब महाबली कुन्तीपुत्रोंका मन विचलित हो गया॥ १॥

ततः कुन्ती सुतान् दृष्ट्वा सर्वांस्तद्गतचेतसः।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वचनं सत्यवादिनी॥ २॥

तब सत्यवादिनी कुन्तीने अपने सभी पुत्रोंका मन उस स्वयंवरकी ओर आकृष्ट देख युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा॥ २॥

कुन्त्युवाच

चिररात्रोषिताः स्मेह ब्राह्मणस्य निवेशने।
रममाणाः पुरे रम्ये लब्धभैक्षा महात्मनः॥ ३॥

कुन्ती बोली—बेटा! हमलोग यहाँ इन महात्मा ब्राह्मणके घरमें बहुत दिनोंसे रह रहे हैं। इस रमणीय नगरमें हम आनन्दपूर्वक घूमे-फिरे और यहाँ हमें (पर्याप्त) भिक्षा भी उपलब्ध हुई॥ ३॥

यानीह रमणीयानि वनान्युपवनानि च।
सर्वाणि तानि दृष्टानि पुनः पुनररिंदम॥ ४॥

शत्रुदमन! यहाँ जो रमणीय वन और उपवन हैं, उन सबको हमने बार-बार देख लिया॥ ४॥

पुनर्दृष्टुं हि तानीह प्रीणयन्ति न नस्तथा।
भैक्षं च न तथा वीर लभ्यते कुरुनन्दन॥ ५॥

वीर! यदि उन्हींको हम फिर देखनेके लिये जायँ तो वे हमें उतनी प्रसन्नता नहीं दे सकते। कुरुनन्दन! अब भिक्षा भी यहाँ हमें पहले-जैसी नहीं मिल रही है॥ ५॥

ते वयं साधु पञ्चालान् गच्छाम यदि मन्यसे।
अपूर्वदर्शनं वीर रमणीयं भविष्यति॥ ६॥

यदि तुम्हारी राय हो तो अब हमलोग सुखपूर्वक पञ्चालदेशमें चलें। वीर! उस देशको हमने पहले कभी नहीं देखा है, इसलिये वह बड़ा रमणीय प्रतीत होगा॥ ६॥

सुभिक्षाश्चैव पञ्चालाः श्रूयन्ते शत्रुकर्शन।
यज्ञसेनश्च राजासौ ब्रह्मण्य इति शुश्रुम॥ ७॥

शत्रुनाशन! सुना जाता है, पञ्चालदेशमें बड़ा सुभिक्ष है (इसलिये भिक्षा बहुतायतसे मिलती है)। हमने यह सुना है कि राजा यज्ञसेन ब्राह्मणोंके बड़े भक्त हैं॥ ७॥

एकत्र चिरवासश्च क्षमो न च मतो मम।
ते तत्र साधु गच्छामो यदि त्वं पुत्र मन्यसे॥ ८॥

बेटा! एक स्थानपर बहुत दिनोंतक रहना मुझे उचित नहीं जान पड़ता; अतः यदि तुम ठीक समझो तो हमलोग सुखपूर्वक वहाँ चलें॥ ८॥

युधिष्ठिर उवाच

भवत्या यन्मतं कार्यं तदस्माकं परं हितम्।
अनुजांस्तु न जानामि गच्छेयुर्नेति वा पुनः॥ ९॥

युधिष्ठिरने कहा—माँ! आप जिस कार्यको ठीक समझती हैं, वह हमारे लिये परम हितकर है; परंतु अपने छोटे भाइयोंको

सम्बन्धमें मैं नहीं जानता कि वे जानेके लिये उद्यत हैं या नहीं॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुन्ती भीमसेनमर्जुनं यमजौ तथा।
उवाच गमनं ते च तथेत्येवाब्रुवंस्तदा ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब कुन्तीने भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेवसे भी चलनेके विषयमें पूछा ! उन सबने भी 'तथास्तु' कहकर स्वीकृति दे दी॥१०॥

तत आमन्त्र्य तं विप्रं कुन्ती राजन् सुतैः सह।
प्रतस्थे नगरीं रम्यां द्रुपदस्य महात्मनः ॥ ११ ॥

राजन्! तब कुन्तीने उन ब्राह्मणदेवतासे विदा लेकर अपने पुत्रोंके साथ महात्मा द्रुपदकी रमणीय नगरीकी ओर जानेकी तैयारी की ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि पञ्चालदेशयात्रायां सप्तषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें पञ्चालदेशकी यात्राविषयक एक सौ सड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६७ ॥

अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीका पाण्डवोंको द्रौपदीके पूर्वजन्मका वृत्तान्त सुनाना

वैशम्पायन उवाच

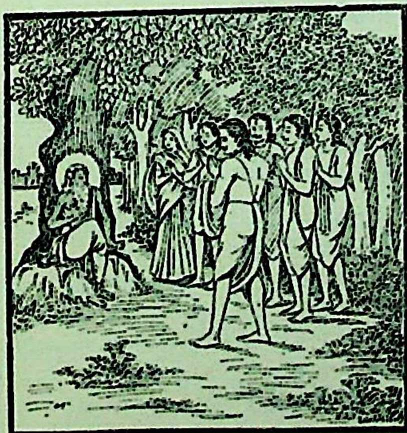
वसत्सु तेषु प्रच्छन्नं पाण्डवेषु महात्मसु।
आजगामाथ तान् द्रष्टुं व्यासः सत्यवतीसुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा पाण्डव जब गुप्त रूपसे वहाँ निवास कर रहे थे, उसी समय सत्यवती-नन्दन व्यासजी उनसे मिलनेके लिये वहाँ आये ॥ १ ॥

तमागतमभिप्रेक्ष्य प्रत्युद्गम्य परंतपाः।
प्रणिपत्याभिवाद्यैनं तस्थुः प्राञ्जलयस्तदा ॥ २ ॥

समनुज्ञाप्य तान् सर्वानासीनान् मुनिरब्रवीत्।
प्रच्छन्नं पूजितः पार्थैः प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३ ॥

उन्हें आया देख शत्रुसंतापन पाण्डवोंने आगे बढ़कर उनकी



अगवानी की और प्रणामपूर्वक उनका अभिवादन करके वे सब उनके आगे हाथ जोड़कर खड़े हो गये । कुन्तीपुत्रों-द्वारा गुप्तरूपसे पूजित हो मुनिवर व्यासने उन सबको आज्ञा देकर बिठाया और जब वे बैठ गये, तब उनसे प्रसन्नतापूर्वक इस प्रकार पूछा—॥ २-३ ॥

अपि धर्मेण वर्तध्वं शास्त्रेण च परंतपाः।
अपि विप्रेषु पूजा वः पूजार्हेषु न हीयते ॥ ४ ॥

'शत्रुओंको संतप्त करनेवाले वीरो! तुमलोग शास्त्रकी आज्ञा और धर्मके अनुसार चलते हो न ! पूजनीय ब्राह्मणोंकी पूजा करनेमें तो तुम्हारी ओरसे कमी भूल नहीं होती ?' ॥ ४ ॥

अथ धर्मार्थवद् वाक्यमुक्त्वा स भगवानृषिः।
विचित्राश्च कथास्तास्ताः पुनरेवेदमब्रवीत् ॥ ५ ॥

तदनन्तर महर्षि भगवान् व्यासने उनसे धर्म और अर्थ-युक्त बातें कहीं । फिर विचित्र-विचित्र कथाएँ सुनाकर वे पुनः उनसे इस प्रकार बोले ॥ ५ ॥

व्यास उवाच

आसीत् तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः।
विलग्नमध्या सुश्रोणी सुभ्रूः सर्वगुणान्विता ॥ ६ ॥

व्यासजीने कहा—पहलेकी बात है, तपोवनमें किसी महात्मा ऋषिकी कोई कन्या रहती थी, जिसकी कटि कृश तथा नितम्ब और भौंहें सुन्दर थीं । वह कन्या समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न थी ॥ ६ ॥

कर्मभिः स्वकृतैः सा तु दुर्भगा समपद्यत।
नाध्यगच्छत् पतिं सा तु कन्या रूपवती सती ॥ ७ ॥

परंतु अपने ही किये हुए कर्मोंके कारण वह कन्या दुर्भाग्यके वश हो गयी, इसलिये वह रूपवती और सदाचारिणी होनेपर भी कोई पति न पा सकी ॥ ७ ॥

ततस्तप्तुमथारेभे पत्यर्थमसुखा ततः।
तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शंकरम् ॥ ८ ॥

तब पतिके लिये दुखी होकर उसने तपस्या प्रारम्भ की और कहते हैं, उग्र तपस्याके द्वारा उसने भगवान् शङ्करको प्रसन्न कर लिया ॥ ८ ॥

तस्याः स भगवांस्तुष्टस्तामुवाच यशस्विनीम्।
वरं वरय भद्रं ते वरदोऽस्मीति शङ्करः ॥ ९ ॥

उसपर संतुष्ट हो भगवान् शङ्करने उस यशस्विनी कन्यासे कहा—'शुभे ! तुम्हारा कल्याण हो । तुम कोई वर माँगो । मैं तुम्हें वर देनेके लिये आया हूँ' ॥ ९ ॥

अथेश्वरमुवाचेदमात्मनः सा वचो हितम् ।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः ॥ १० ॥

तब उसने भगवान् शङ्करसे अपने लिये हितकर वचन कहा—'प्रभो ! मैं सर्वगुणसम्पन्न पति चाहती हूँ ।' इस वाक्यको उसने बार-बार दुहराया ॥ १० ॥

तामथ प्रत्युवाचेदमीशानो वदतां वरः ।
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति भारताः ॥ ११ ॥

तब वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवान् शिवने उससे कहा—'भद्रे ! तुम्हारे पाँच भरतवंशी पति होंगे' ॥ ११ ॥

एवमुक्ता ततः कन्या देवं वरदमब्रवीत् ।
एकमिच्छाम्यहं देव त्वत्प्रसादात् पतिं प्रभो ॥ १२ ॥

उनके ऐसा कहनेपर वह कन्या उन वरदायक देवता भगवान् शिवसे इस प्रकार बोली—'देव ! प्रभो ! मैं आपकी कृपासे एक ही पति चाहती हूँ' ॥ १२ ॥

पुनरेवाब्रवीद् देव इदं वचनमुत्तमम् ।
पञ्चकृत्वस्त्वया ह्युक्तः पतिं देहीत्यहं पुनः ॥ १३ ॥

तब भगवान्ने पुनः उससे यह उत्तम बात कही—'भद्रे ! तुमने मुझसे पाँच बार कहा है कि मुझे पति दीजिये ।

देहमन्यं गतायास्ते यथोक्तं तद् भविष्यति ।
द्रुपदस्य कुले जज्ञे सा कन्या देवरूपिणी ॥ १४ ॥

'अतः दूसरा शरीर धारण करनेपर तुम्हें जैसा मैंने कहा है, वह वरदान प्राप्त होगा ।' वही देवरूपिणी कन्या राजा द्रुपदके कुलमें उत्पन्न हुई है ॥ १४ ॥

निर्दिष्टा भवतां पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता ।
पाञ्चालनगरे तस्मान्निवसध्वं महाबलाः ।
सुखिनस्तामनुप्राप्य भविष्यथ न संशयः ॥ १५ ॥

वह महाराज पृषतकी पौत्री सती-साध्वी कृष्णा तुमलोगोंकी पत्नी नियत की गयी है; अतः महाबली वीरो ! अब तुम पञ्चालनगरमें जाकर रहो । द्रौपदीको पाकर तुम सब लोग सुखी होओगे, इसमें संशय नहीं है ॥ १५ ॥

एवमुक्त्वा महाभागः पाण्डवान् स पितामहः ।
पार्थानामन्त्र्य कुन्तीं च प्रातिष्ठत महातपाः ॥ १६ ॥

महान् सौभाग्यशाली और महातपस्वी पितामह व्यासजी पाण्डवोंसे ऐसा कहकर उन सबसे और कुन्तीसे विदा ले वहाँसे चल दिये ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि द्रौपदीजन्मान्तरकथने अष्टषष्ट्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें द्रौपदीजन्मान्तरकथनविषयक एक सौ अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६८ ॥

एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी पञ्चाल-यात्रा और अर्जुनके द्वारा चित्ररथ गन्धर्वकी पराजय एवं उन दोनोंकी मित्रता

वैशम्पायन उवाच

गते भगवति व्यासे पाण्डवा हृष्टमानसाः ।
ते प्रतस्थुः पुरस्कृत्य मातरं पुरुषर्षभाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् व्यासके चले जानेपर पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव प्रसन्नचित्त हो अपनी माताको आगे करके वहाँसे पञ्चालदेशकी ओर चल दिये ॥ १ ॥

आमन्त्र्य ब्राह्मणं पूर्वमभिवाद्यानुमान्य च ।
समैरुदङ्मुखैर्मार्गैर्यथोद्दिष्टं परंतपाः ॥ २ ॥

परंतप ! कुन्तीकुमारोंने पहले ही अपने आश्रयदाता ब्राह्मणसे पूछकर जानेकी आज्ञा ले ली थी और चलते समय बड़े आदरके साथ उन्हें प्रणाम किया । वे सब लोग उत्तर दिशाकी ओर जानेवाले सीधे मार्गोंद्वारा उत्तराभिमुख हो अपने अभीष्ट स्थान पञ्चालदेशकी ओर बढ़ने लगे ॥ २ ॥

ते त्वगच्छन्नहोरात्रात् तीर्थं सोमाश्रयायणम् ।
आसेदुः पुरुषव्याघ्रा गङ्गायां पाण्डुनन्दनाः ॥ ३ ॥

एक दिन और एक रात चलकर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव गङ्गाजीके तटपर सोमाश्रयायण नामक तीर्थमें जा पहुँचे ॥ ३ ॥

उल्मुकं तु समुद्यम्य तेषामग्रे धनंजयः ।
प्रकाशार्थं ययौ तत्र रक्षार्थं च महारथः ॥ ४ ॥

उस समय उनके आगे-आगे महारथी अर्जुन उजाला करने तथा रक्षा करनेके लिये जलती हुई मशाल उठाये चल रहे थे ॥ ४ ॥

तत्र गङ्गाजले रम्ये विविक्ते क्रीडयन् स्त्रियः ।
ईर्ष्युर्गन्धर्वराजो वै जलक्रीडामुपागतः ॥ ५ ॥

उस तीर्थकी गङ्गाके रमणीय तथा एकान्त जलमें गन्धर्वराज अङ्गारपर्ण (चित्ररथ) अपनी स्त्रियोंके साथ क्रीडा कर रहा था । वह बड़ा ही ईर्ष्यालु था और जलक्रीडा करनेके लिये ही वहाँ आया था ॥ ५ ॥

शब्दं तेषां स शुश्राव नदीं समुपसर्पताम् ।
तेन शब्देन चाविष्टश्चुक्रोध बलवद् बली ॥ ६ ॥

उसने गङ्गाजीकी ओर बढ़ते हुए पाण्डवोंके पैरोंकी धमक सुनी । उस शब्दको सुनते ही वह बलवान् गन्धर्व क्रोधके आवेशमें आकर बड़े जोरसे कुपित हो उठा ॥ ६ ॥

स दृष्ट्वा पाण्डवांस्तत्र सह मात्रा परंतपान्।
विस्फारयन् धनुर्घोरमिदं वचनमब्रवीत्॥ ७॥

परंतप पाण्डवोंको अपनी माताके साथ वहाँ देख वह अपने भयानक धनुषको टंकारता हुआ इस प्रकार बोला—॥ ७॥

संध्या संरज्यते घोरा पूर्वरात्रागमेषु या।
अशीतिभिर्लवैर्हीनं तन्मुहूर्तं प्रचक्षते॥ ८॥
विहितं कामचाराणां यक्षगन्धर्वरक्षसाम्।
शेषमन्यन्मनुष्याणां कर्मचारेषु वै स्मृतम्॥ ९॥

'रात्रि प्रारम्भ होनेके पहले जो पश्चिम दिशामें भयंकर संध्याकी लाली छा जाती है, उस समय अस्सी लवको छोड़कर सारा मुहूर्त इच्छानुसार विचरनेवाले यक्षों, गन्धर्वों तथा राक्षसोंके लिये निश्चित बताया जाता है। शेष दिनका सब समय मनुष्योंके कार्यवश विचरनेके लिये माना गया है॥ ८-९॥

लोभात् प्रचारं चरतस्तासु वेलासु वै नरान्।
उपक्रान्तान् निगृह्णीमो राक्षसैः सह बालिशान्॥ १०॥

'जो मनुष्य लोभवश हमलोगोंकी वेलामें इधर घूमते हुए आ जाते हैं, उन मूर्खोंको हम गन्धर्व और राक्षस कैद कर लेते हैं॥ १०॥

अतो रात्रौ प्राप्नुवन्तो जलं ब्रह्मविदो जनाः।
गर्हयन्ति नरान् सर्वान् बलस्थान् नृपतीनपि॥ ११॥

'इसीलिये वेदवेत्ता पुरुष रातके समय जलमें प्रवेश करनेवाले सम्पूर्ण मनुष्यों और बलवान् राजाओंकी भी निन्दा करते हैं॥ ११॥

आरात् तिष्ठत मा मह्यं समीपमुपसर्पत।
कस्मान्मां नाभिजानीत प्राप्तं भागीरथीजलम्॥ १२॥
अङ्गारपर्णं गन्धर्वं वित्त मां स्वबलाश्रयम्।
अहं हि मानी चेर्ष्युश्च कुबेरस्य प्रियः सखा॥ १३॥

'अरे, ओ मनुष्यो! दूर ही खड़े रहो। मेरे समीप न आना। तुम्हें ज्ञात कैसे नहीं हुआ कि मैं गन्धर्वराज अङ्गारपर्ण गङ्गाजीके जलमें उतरा हुआ हूँ। तुमलोग मुझे (अच्छी तरह) जान लो, मैं अपने ही बलका भरोसा करनेवाला स्वाभिमानी, ईर्ष्यालु तथा कुबेरका प्रिय मित्र हूँ॥ १२-१३॥

अङ्गारपर्णमित्येवं ख्यातं चेदं वनं मम।
अनुगङ्गं चरन् कामांश्चित्रं यत्र रमाम्यहम्॥ १४॥

'मेरा यह वन भी अङ्गारपर्ण नामसे ही विख्यात है। मैं गङ्गाजीके तटपर विचरता हुआ इस वनमें इच्छानुसार विचित्र क्रीड़ाएँ करता रहता हूँ॥ १४॥

न कौणपाः शृङ्गिणो वा न देवा न च मानुषाः।
इदं समुपसर्पन्ति तत् किं समनुसर्पथ॥ १५॥

'मेरी उपस्थितिमें यहाँ राक्षस, यक्ष, देवता अथवा मनुष्य—कोई भी नहीं आने पाते; फिर तुमलोग कैसे आ रहे हो?'॥

अर्जुन उवाच

समुद्रे हिमवत्पार्श्वे नद्यामस्यां च दुर्मते।
रात्रावहनि संध्यायां कस्य गुप्तः परिग्रहः॥ १६॥

अर्जुन बोले—दुर्मते! समुद्र, हिमालयकी तराई और गङ्गानदीके तटपर रात, दिन अथवा संध्याके समय किसका अधिकार सुरक्षित है?॥ १६॥

भुक्तो वाप्यथवाभुक्तो रात्रावहनि खेचर।
न कालनियमो ह्यस्ति गङ्गां प्राप्य सरिद्वराम्॥ १७॥

आकाशचारी गन्धर्व! सरिताओंमें श्रेष्ठ गङ्गाजीके तटपर आनेके लिये यह नियम नहीं है कि यहाँ कोई खाकर आये या बिना खाये, रातमें आये या दिनमें। इसी प्रकार काल आदिका भी कोई नियम नहीं है॥ १७॥

वयं च शक्तिसम्पन्ना अकाले त्वामधृष्णुम।
अशक्ता हि रणे क्रूर युष्मानर्चन्ति मानवाः॥ १८॥

अरे ओ क्रूर! हमलोग तो शक्तिसम्पन्न हैं। असमयमें भी आकर तुम्हें कुचल सकते हैं। जो युद्ध करनेमें असमर्थ हैं, वे दुर्बल मनुष्य ही तुमलोगोंकी पूजा करते हैं॥ १८॥

पुरा हिमवतश्चैषा हेमशृङ्गाद् विनिस्सृता।
गङ्गा गत्वा समुद्राम्भः सप्तधा समपद्यत॥ १९॥
गङ्गां च यमुनां चैव प्लक्षजातां सरस्वतीम्।
रथस्थां सरयूं चैव गोमतीं गण्डकीं तथा॥ २०॥
अपर्युषितपापास्ते नदीः सप्त पिबन्ति ये।
इयं भूत्वा चैकवप्रा शुचिराकाशगा पुनः॥ २१॥
देवेषु गङ्गा गन्धर्व प्राप्नोत्यलकनन्दताम्।
तथा पितॄन् वैतरणी दुस्तरा पापकर्मभिः।
गङ्गा भवति वै प्राप्य कृष्णद्वैपायनोऽब्रवीत्॥ २२॥

प्राचीन कालमें हिमालयके स्वर्णशिखरसे निकली हुई गङ्गा सात धाराओंमें विभक्त हो समुद्रमें जाकर मिल गयी हैं। जो पुरुष गङ्गा, यमुना, प्लक्षकी जड़से प्रकट हुई सरस्वती, रथस्था, सरयू, गोमती और गण्डकी—इन सात नदियोंका जल पीते हैं, उनके पाप तत्काल नष्ट हो जाते हैं। यह गङ्गा बड़ी पवित्र नदी है। एकमात्र आकाश ही इनका तट है। गन्धर्व! ये आकाशमार्गसे विचरती हुई गङ्गा देवलोकमें अलकनन्दा नाम धारण करती हैं। ये ही वैतरणी होकर पितृलोकमें बहती हैं। वहाँ पापियोंके लिये इनके पार जाना अत्यन्त कठिन होता है। इस लोकमें आकर इनका नाम गङ्गा होता है। यह श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीका कथन है॥

असम्बाधा देवनदी स्वर्गसम्पादनी शुभा।
कथमिच्छसि तां रोद्धुं नैष धर्मः सनातनः॥ २३॥

ये कल्याणमयी देवनदी सब प्रकारकी विघ्न-बाधाओंसे रहित एवं स्वर्गलोककी प्राप्ति करानेवाली हैं। तुम उन्हीं गङ्गाजीपर किसलिये रोक लगाना चाहते हो ? यह सनातन धर्म नहीं है ॥ २३ ॥

अनिवार्यमसम्बाधं तव वाचा कथं वयम्।
न स्पृशेम यथाकामं पुण्यं भागीरथीजलम् ॥ २४ ॥

जिसे कोई रोक नहीं सकता, जहाँ पहुँचनेमें कोई बाधा नहीं है, भागीरथीके उस पावन जलका तुम्हारे कहनेसे हम अपने इच्छानुसार स्पर्श क्यों न करें ? ॥ २४ ॥

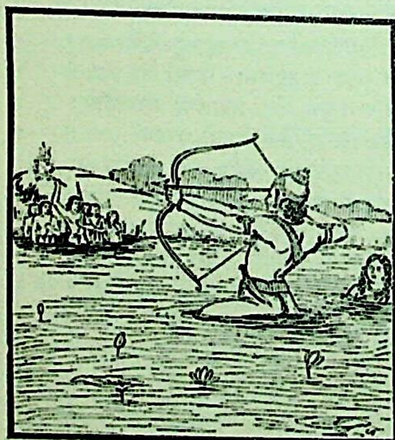
वैशम्पायन उवाच

अङ्गारपर्णस्तच्छ्रुत्वा क्रुद्ध आनम्य कार्मुकम्।
मुमोच बाणान् निशितानहीनाशीविषानिव ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अर्जुनकी वह बात सुनकर अङ्गारपर्ण क्रोधित हो गया और धनुष नवाकर विषैले साँपोंकी भाँति तीखे बाण छोड़ने लगा ॥ २५ ॥

उल्मुकं भ्रामयंस्तूर्णं पाण्डवश्चर्म चोत्तरम्।
व्यपोहत शरांस्तस्य सर्वानेव धनंजयः ॥ २६ ॥

यह देख पाण्डुनन्दन धनंजयने तुरंत ही मशाल घुमाकर



और उत्तम ढालसे रोककर उसके सभी बाण व्यर्थ कर दिये॥

अर्जुन उवाच

विभीषिका वै गन्धर्व नास्त्रज्ञेषु प्रयुज्यते।
अस्त्रज्ञेषु प्रयुक्तेयं फेनवत् प्रविलीयते ॥ २७ ॥

अर्जुनने कहा—गन्धर्व ! जो अस्त्रविद्याके विद्वान् हैं, उनपर तुम्हारी यह घुड़की नहीं चल सकती। अस्त्रविद्याके मर्मज्ञोंपर फैलायी हुई तुम्हारी यह माया फेनकी तरह विलीन हो जायगी ॥ २७ ॥

मानुषानति गन्धर्वान् सर्वान् गन्धर्व लक्षये।
तस्मादस्त्रेण दिव्येन योत्स्येऽहं न तु मायया ॥ २८ ॥

गन्धर्व ! मैं जानता हूँ कि सम्पूर्ण गन्धर्व मनुष्योंसे अधिक शक्तिशाली होते हैं, इसलिये मैं तुम्हारे साथ मायासे नहीं, दिव्यास्त्रसे युद्ध करूँगा ॥ २८ ॥

पुरास्त्रमिदमाग्नेयं प्रादात् किल बृहस्पतिः।
भरद्वाजाय गन्धर्व गुरुर्मान्यः शतक्रतोः ॥ २९ ॥

गन्धर्व ! यह आग्नेय अस्त्र पूर्वकालमें इन्द्रके माननीय गुरु बृहस्पतिजीने भरद्वाज मुनिको दिया था ॥ २९ ॥

भरद्वाजादग्निवेश्यः अग्निवेश्याद् गुरुर्मम।
साध्विदं मह्यमददद् द्रोणो ब्राह्मणसत्तमः ॥ ३० ॥

भरद्वाजसे इसे अग्निवेश्यने और अग्निवेश्यसे मेरे गुरु द्रोणाचार्यने प्राप्त किया है। फिर विप्रवर द्रोणाचार्यने यह उत्तम अस्त्र मुझे प्रदान किया ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्त्वा पाण्डवः क्रुद्धो गन्धर्वाय मुमोच ह।
प्रदीप्तमस्त्रमाग्नेयं ददाहास्य रथं तु तत् ॥ ३१ ॥
विरथं विप्लुतं तं तु स गन्धर्वं महाबलः।
अस्त्रतेजःप्रमूढं च प्रपतन्तमवाङ्मुखम् ॥ ३२ ॥
शिरोरुहेषु जग्राह माल्यवत्सु धनंजयः।
भ्रातॄन् प्रति चकर्षाथ सोऽस्त्रपातादचेतसम् ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने कुपित हो गन्धर्वपर वह प्रज्वलित आग्नेय अस्त्र चला दिया। उस अस्त्रने गन्धर्वके रथको जलाकर भस्म कर दिया। वह रथहीन गन्धर्व व्याकुल हो गया और अस्त्रके तेजसे मूढ होकर नीचे मुँह किये गिरने लगा। महाबली अर्जुनने उसके फूलकी मालाओंसे सुशोभित केश पकड़ लिये और घसीटकर अपने भाइयोंके पास ले आये। अस्त्रके आघातसे वह गन्धर्व अचेत हो गया था। ३१—३३

युधिष्ठिरं तस्य भार्या प्रपेदे शरणार्थिनी।
नाम्ना कुम्भीनसी नाम पतित्राणमभीप्सती ॥ ३४ ॥

उस गन्धर्वकी पत्नीका नाम कुम्भीनसी था। उसने अपने पतिके जीवनकी रक्षाके लिये महाराज युधिष्ठिरकी शरण ली ॥

गन्धर्व्युवाच

त्रायस्व मां महाभाग पतिं चेमं विमुञ्च मे।
गन्धर्वीं शरणं प्राप्तां नाम्ना कुम्भीनसीं प्रभो ॥ ३५ ॥

गन्धर्वी बोली—महाभाग ! मेरी रक्षा कीजिये और मेरे इन पतिदेवको आप छोड़ दीजिये ! प्रभो ! मैं गन्धर्वकी पत्नी कुम्भीनसी आपकी शरणमें आयी हूँ ॥ ३५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

युद्धे जितं यशोहीनं स्त्रीनाथमपराक्रमम्।
को निहन्याद् रिपुं तात मुञ्चेमं रिपुसूदन ॥ ३६ ॥

युधिष्ठिरने कहा—तात ! शत्रुसूदन अर्जुन ! यह गन्धर्व युद्धमें हार गया और अपना यश खो चुका । अब स्त्री इसकी रक्षिका बनकर आयी है । यह स्वयं कोई पराक्रम नहीं कर सकता । ऐसे दीन-हीन शत्रुको कौन मारता है ? इसे जीवित छोड़ दो ॥ ३६ ॥

अर्जुन उवाच

जीवितं प्रतिपद्यस्व गच्छ गन्धर्व मा शुचः ।
प्रदिशत्यभयं तेऽद्य कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥ ३७ ॥

अर्जुन बोले—गन्धर्व ! जीवन धारण करो । जाओ, अब शोक न करो । इस समय कुरुराज युधिष्ठिर तुम्हें अभयदान दे रहे हैं ॥ ३७ ॥

गन्धर्व उवाच

जितोऽहं पूर्वकं नाम मुञ्चाम्यङ्गारपर्णताम् ।
न च श्लाघे बलेनाङ्ग न नाम्ना जनसंसदि ॥ ३८ ॥

गन्धर्वने कहा—अर्जुन ! मैं परास्त हो गया, अतः अपने पहले नाम अङ्गारपर्णको छोड़ देता हूँ । अब मैं जनसमुदायमें अपने बलकी श्लाघा नहीं करूँगा और न इस नामसे अपना परिचय ही दूँगा ॥ ३८ ॥

साध्विमं लब्धवाँल्लाभं योऽहं दिव्यास्त्रधारिणम् ।
गान्धर्व्या माययेच्छामि संयोजयितुमर्जुनम् ॥ ३९ ॥

(आजकी पराजयसे) मुझे सबसे बड़ा लाभ यह हुआ है कि मैंने दिव्यास्त्रधारी अर्जुनको (मित्ररूपमें) प्राप्त किया है और अब मैं इन्हें गन्धर्वोंकी मायासे संयुक्त करना चाहता हूँ ॥

अस्त्राग्निना विचित्रोऽयं दग्धो मे रथ उत्तमः ।
सोऽहं चित्ररथो भूत्वा नाम्ना दग्धरथोऽभवम् ॥४०॥

इनके दिव्यास्त्रकी अग्निसे मेरा यह विचित्र एवं उत्तम रथ दग्ध हो गया है । पहले मैं विचित्र रथके कारण 'चित्ररथ' कहलाता था; परंतु अब मेरा नाम दग्धरथ हो गया ॥४०॥

सम्भृता चैव विद्येयं तपसेह मया पुरा ।
निवेदयिष्ये तामद्य प्राणदाय महात्मने ॥ ४१ ॥

मैंने पूर्वकालमें यहाँ तपस्याद्वारा जो यह विद्या प्राप्त की है, उसे आज अपने प्राणदाता महात्मा मित्रको अर्पित करूँगा ॥

संस्तम्भयित्वा तरसा जितं शरणमागतम् ।
यो रिपुं योजयेत् प्राणैः कल्याणं किं न सोऽर्हति ॥ ४२ ॥

जिन्होंने अपने वेगसे शत्रुकी शक्तिको कुण्ठित करके उसपर विजय पायी और फिर जब वह शत्रु शरणमें आ गया, तब जो उसे प्राणदान दे रहे हैं, वे किस कल्याणकी प्राप्तिके अधिकारी नहीं हैं ? ॥ ४२ ॥

चाक्षुषी नाम विद्येयं यां सोमाय ददौ मनुः ।
ददौ स विश्वावसवे मम विश्वावसुर्ददौ ॥ ४३ ॥

यह चाक्षुषी नामक विद्या है, जिसे मनुने सोमको दिया । सोमने विश्वावसुको दिया और विश्वावसुने मुझे प्रदान किया है ॥ ४३ ॥

सेयं कापुरुषं प्राप्ता गुरुदत्ता प्रणश्यति ।
आगमोऽस्या मया प्रोक्तो वीर्यं प्रतिनिबोध मे ॥ ४४ ॥

यह गुरुकी दी हुई विद्या यदि किसी कायरको मिल गयी तो नष्ट हो जाती है । (इस प्रकार) मैंने इसके उपदेशकी परम्पराका वर्णन किया है । अब इसका बल भी मुझसे सुन लीजिये ॥ ४४ ॥

यच्चक्षुषा द्रष्टुमिच्छेत् त्रिषु लोकेषु किंचन ।
तत् पश्येद् यादृशं चेच्छेत् तादृशं द्रष्टुमर्हति ॥ ४५ ॥

तीनों लोकोंमें जो कोई भी वस्तु है, उसमेंसे जिस वस्तुको आँखसे देखनेकी इच्छा हो, उसे इस विद्याके प्रभावसे कोई भी देख सकता है और जिस रूपमें देखना चाहे, उसी रूपमें देख सकता है ॥ ४५ ॥

एकपादेन षण्मासान् स्थितो विद्यां लभेदिमाम् ।
अनुनेष्याम्यहं विद्यां स्वयं तुभ्यं व्रतेऽकृते ॥ ४६ ॥

जो एक पैरसे छः महीनेतक खड़ा रहकर तपस्या करे, वही इस विद्याको पा सकता है । परंतु आपको इस व्रतका पालन या तपस्या किये बिना ही मैं स्वयं उक्त विद्याकी प्राप्ति कराऊँगा ॥ ४६ ॥

विद्यया ह्यनया राजन् वयं नृभ्यो विशेषिताः ।
अविशिष्टाश्च देवानामनुभावप्रदर्शिनः ॥ ४७ ॥

राजन् ! इस विद्याके बलसे ही हमलोग मनुष्योंसे श्रेष्ठ माने जाते हैं और देवताओंके तुल्य प्रभाव दिखा सकते हैं ॥

गन्धर्वजानामश्वानामहं पुरुषसत्तम ।
भ्रातृभ्यस्तव तुभ्यं च पृथग्दाता शतं शतम् ॥ ४८ ॥

पुरुषशिरोमणे ! मैं आपको और आपके भाइयोंको अलग-अलग गन्धर्वलोकके सौ-सौ घोड़े भेंट करता हूँ ॥४८॥

देवगन्धर्ववाहास्ते दिव्यवर्णा मनोजवाः ।
क्षीणाक्षीणा भवन्त्येते न हीयन्ते च रंहसः ॥ ४९ ॥

ये घोड़े देवताओं और गन्धर्वोंके वाहन हैं । उनके शरीरकी कान्ति दिव्य है । ये मनके समान वेगशाली और आवश्यकताके अनुसार दुबले-मोटे होते हैं; किंतु उनका वेग कभी कम नहीं होता ॥ ४९ ॥

पुरा कृतं महेन्द्रस्य वज्रं वृत्रनिबर्हणम् ।
दशधा शतधा चैव तच्छीर्णं वृत्रमूर्धनि ॥ ५० ॥

पूर्वकालमें वृत्रासुरका संहार करनेके निमित्त इन्द्रके लिये जिस वज्रका निर्माण किया गया था, वृत्रासुरके मस्तक-

पर पड़ते ही उसके दस बड़े और सौ छोटे टुकड़े हो गये ।

ततो भागीकृतो देवैर्वज्रभाग उपास्यते ।
लोके यशो धनं किंचित् सैव वज्रतनुः स्मृता ॥ ५१ ॥

तबसे अनेक भागोंमें बँटे हुए उस वज्रके प्रत्येक भागकी देवतालोग उपासना करते हैं । लोकमें उत्कृष्ट धन और यश आदि जो कुछ भी वस्तु है, उसे वज्रका स्वरूप माना गया है ॥ ५१ ॥

वज्रपाणिर्ब्राह्मणः स्यात् क्षत्रं वज्ररथं स्मृतम् ।
वैश्या वै दानवज्राश्च कर्मवज्रा यवीयसः ॥ ५२ ॥

(अग्निमें आहुति देनेके कारण) ब्राह्मणका दाहिना हाथ वज्र है । क्षत्रियका रथ वज्र है । वैश्यलोग जो दान करते हैं, वह भी वज्र है और शूद्रलोग जो सेवाकार्य करते हैं, उसे भी वज्र ही समझना चाहिये ॥ ५२ ॥

क्षत्रवज्रस्य भागेन अवध्या वाजिनः स्मृताः ।
रथाङ्गं वडवा सूते शूराश्चाश्वेषु ये मताः ॥ ५३ ॥

क्षत्रियके रथरूपी वज्रका एक विशिष्ट अङ्ग होनेसे घोड़ोंको अवध्य बताया गया है । गन्धर्वदेशकी घोड़ी रथको वहन करनेवाले रथाङ्ग-स्वरूप (वज्रस्वरूप) घोड़ेको जन्म देती है । वे घोड़े सब अश्वोंमें शूरवीर माने जाते हैं ॥ ५३ ॥

कामवर्णाः कामजवाः कामतः समुपस्थिताः ।
इति गन्धर्वजाः कामं पूरयिष्यन्ति मे हयाः ॥ ५४ ॥

गन्धर्व-देशके घोड़ोंकी यह विशेषता है कि वे इच्छानुसार अपना रंग बदल लेते हैं । सवारकी इच्छाके अनुसार अपने वेगको घटा-बढ़ा सकते हैं । जब आवश्यकता या इच्छा हो, तभी वे उपस्थित हो जाते हैं । इस प्रकार मेरे गन्धर्वदेशीय घोड़े आपकी इच्छा पूर्ण करते रहेंगे ॥ ५४ ॥

अर्जुन उवाच

यदि प्रीतेन मे दत्तं संशये जीवितस्य वा ।
विद्याधनं श्रुतं वापि न तद् गन्धर्व रोचये ॥ ५५ ॥

अर्जुनने कहा—गन्धर्व ! यदि तुमने प्रसन्न होकर अथवा प्राणसंकटसे बचानेके कारण मुझे विद्या, धन अथवा शास्त्र प्रदान किया है तो मैं इस तरहका दान लेना पसंद नहीं करता ॥ ५५ ॥

गन्धर्व उवाच

संयोगो वै प्रीतिकरो महत्सु प्रतिदृश्यते ।
जीवितस्य प्रदानेन प्रीतो विद्यां ददामि ते ॥ ५६ ॥

गन्धर्व बोला—महापुरुषोंके साथ जो समागम होता है, वह प्रीतिको बढ़ानेवाला होता है—ऐसा देखनेमें आता है । आपने मुझे जीवनदान दिया है, इससे प्रसन्न होकर मैं आपको चाक्षुषी विद्या भेंट करता हूँ ॥ ५६ ॥

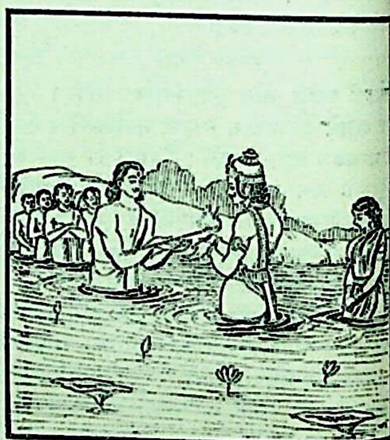
त्वत्तोऽप्यहं ग्रहीष्यामि अस्त्रमाग्नेयमुत्तमम् ।
तथैव योग्यं बीभत्सो चिराय भरतर्षभ ॥ ५७ ॥

साथ ही आपसे भी मैं उत्तम आग्नेयास्त्र ग्रहण करूँगा । भरतकुलभूषण अर्जुन ! ऐसा करनेसे ही हम दोनोंमें दीर्घकाल तक समुचित सौहार्द बना रहेगा ॥ ५७ ॥

अर्जुन उवाच

त्वत्तोऽस्त्रेण वृणोम्यश्वान् संयोगः शाश्वतोऽस्तु नौ ।
सखे तद् ब्रूहि गन्धर्व युष्मभ्यो यद् भयं भवेत् ॥ ५८ ॥

अर्जुनने कहा—ठीक है, मैं यह अस्त्रविद्या दे



तुमसे घोड़े ले लूँगा । हम दोनोंकी मैत्री सदा बनी रहे । सखे गन्धर्वराज ! बताओ तो सही, तुमलोगोंसे हम मनुष्योंको क्यों भय प्राप्त होता है ? ॥ ५८ ॥

कारणं ब्रूहि गन्धर्व किं तद् येन स्म धर्षिताः ।
यान्तो वेदविदः सर्वे सन्तो रात्रावरिंदमाः ॥ ५९ ॥

गन्धर्व ! हम सब लोग वेदवेत्ता हैं और शत्रुओंका दमन करनेकी शक्ति रखते हैं; फिर भी रातमें यात्रा करते समय तुमने हमलोगोंपर आक्रमण किया है, इसका क्या कारण है ? इसपर भी प्रकाश डालो ॥ ५९ ॥

गन्धर्व उवाच

अनग्नयोऽनाहुतयो न च विप्रपुरस्कृताः ।
यूयं ततो धर्षिताः स्थ मया वै पाण्डुनन्दनाः ॥ ६० ॥

गन्धर्व बोला—पाण्डुकुमारो ! आपलोग (विवाहित न होनेके कारण) त्रिविध अग्नियोंकी सेवा नहीं करते । (अध्ययन पूरा करके समावर्तन संस्कारसे सम्पन्न हो गये हैं, अतः) प्रतिदिन अग्निको आहुति भी नहीं देते । आपके आगे कोई ब्राह्मण पुरोहित भी नहीं है । इन्हीं कारणोंसे मैंने आपपर आक्रमण किया है ॥ ६० ॥

(जानता च मया तस्मात् तेजश्चाभिजनं च वः ।
इयं मतिमतां श्रेष्ठ धर्षितुं वै कृता मतिः ॥
को हि वस्त्रिषु लोकेषु न वेद भरतर्षभ ।
स्वैर्गुणैर्विस्तृतं श्रीमद् यशोऽग्र्यं भूरिवर्चसाम्)
यक्षराक्षसगन्धर्वाः पिशाचोरगदानवाः ।
विस्तरं कुरुवंशस्य धीमन्तः कथयन्ति ते ॥ ६१ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ अर्जुन ! इसीलिये मैंने आपलोगोंके तेज और कुलोचित प्रभावको जानते हुए भी आपपर आक्रमण करनेका विचार किया । भरतश्रेष्ठ ! आपलोग महान् तेजस्वी हैं । आपने अपने गुणोंसे जिस शोभाशाली श्रेष्ठ यशका विस्तार किया है, उसे तीनों लोकोंमें कौन नहीं जानता । बुद्धिमान् यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, पिशाच, नाग और दानव कुरुकुलकी यशोगाथाका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हैं ॥ ६१ ॥

नारदप्रभृतीनां तु देवर्षीणां मया श्रुतम् ।
गुणान् कथयतां वीर पूर्वेषां तव धीमताम् ॥ ६२ ॥

वीर ! नारद आदि देवर्षियोंके मुखसे भी मैंने आपके बुद्धिमान् पूर्वजोंका गुणगान सुना है ॥ ६२ ॥

स्वयं चापि मया दृष्टश्चरता सागराम्बराम् ।
इमां वसुमतीं कृत्स्नां प्रभावः सुकुलस्य ते ॥ ६३ ॥

तथा समुद्रसे घिरी हुई इस सम्पूर्ण पृथ्वीपर विचरते हुए मैंने स्वयं भी आपके उत्तम कुलका प्रभाव प्रत्यक्ष देखा है ॥

वेदे धनुषि चाचार्यमभिजानामि तेऽर्जुन ।
विश्रुतं त्रिषु लोकेषु भारद्वाजं यशस्विनम् ॥ ६४ ॥

अर्जुन ! तीनों लोकोंमें विख्यात यशस्वी भरद्वाजनन्दन द्रोणको भी, जो आपके वेद और धनुर्वेदके आचार्य रहे हैं, मैं अच्छी तरह जानता हूँ ॥ ६४ ॥

धर्मं वायुं च शक्रं च विजानाम्यश्विनौ तथा ।
पाण्डुं च कुरुशार्दूल षडेतान् कुरुवर्धनान् ।
पितॄनेतानहं पार्थ देवमानुषसत्तमान् ॥ ६५ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! धर्म, वायु, इन्द्र, दोनों अश्विनीकुमार तथा महाराज पाण्डु—ये छः महापुरुष कुरुवंशकी वृद्धि करनेवाले हैं । पार्थ ! ये देवताओं तथा मनुष्योंके सिरमौर छहों व्यक्ति आपलोगोंके पिता हैं । मैं इन सबको जानता हूँ ॥ ६५ ॥

दिव्यात्मानो महात्मानः सर्वशस्त्रभृतां वराः ।
भवन्तो भ्रातरः शूराः सर्वे सुचरितव्रताः ॥ ६६ ॥

आप सब भाई देवस्वरूप, महात्मा, समस्त शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ शूरवीर हैं तथा आपलोगोंने ब्रह्मचर्यव्रतका भलीभाँति पालन किया है ॥ ६६ ॥

उत्तमां च मनोबुद्धिं भवतां भावितात्मनाम् ।
जानन्नपि च वः पार्थ कृतवानिह धर्षणाम् ॥ ६७ ॥

आपलोगोंका अन्तःकरण शुद्ध है, मन और बुद्धि भी उत्तम है । पार्थ ! आपके विषयमें यह सब कुछ जानते हुए भी मैंने यहाँ आक्रमण किया था ॥ ६७ ॥

स्त्रीसकाशे च कौरव्य न पुमान् क्षन्तुमर्हति ।
धर्षणामात्मनः पश्यन् बाहुद्रविणमाश्रितः ॥ ६८ ॥

कुरुनन्दन ! इसका कारण यह है कि अपने बाहुबलका भरोसा रखनेवाला कोई भी पुरुष जब स्त्रीके समीप अपना तिरस्कार होता देखता है, तब उसे सहन नहीं कर पाता ।६८ ॥

नक्तं च बलमस्माकं भूय एवाभिवर्धते ।
यतस्ततो मां कौन्तेय सदारं मन्युराविशत् ॥ ६९ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसके सिवा एक बात यह भी है कि रातके समय हमलोगोंका बल बहुत बढ़ जाता है । इसीसे स्त्रीके साथ रहनेके कारण मुझमें क्रोधका आवेश हो गया था ॥ ६९ ॥

सोऽहं त्वयेह विजितः संख्ये तापत्यवर्धन ।
येन तेनेह विधिना कीर्त्यमानं निबोध मे ॥ ७० ॥

तपतीके कुलकी वृद्धि करनेवाले अर्जुन ! आपने जिस कारण युद्धमें मुझे पराजित किया है, उसे (भी) बतलाता हूँ; सुनिये ॥ ७० ॥

ब्रह्मचर्यं परो धर्मः स चापि नियतस्त्वयि ।
यस्मात् तस्मादहं पार्थ रणेऽस्मि विजितस्त्वया॥ ७१ ॥

ब्रह्मचर्य सबसे बड़ा धर्म है और वह तुममें निश्चितरूपसे विद्यमान है । कुन्तीनन्दन ! इसीलिये युद्धमें मैं तुमसे हार गया हूँ ॥ ७१ ॥

यस्तु स्यात् क्षत्रियः कश्चित् कामवृत्तः परंतप ।
नक्तं च युधि युध्येत न स जीवेत् कथंचन ॥ ७२ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले वीर ! यदि दूसरा कोई कामासक्त क्षत्रिय रातमें मुझसे युद्ध करने आता तो किसी प्रकार जीवित नहीं बच सकता था ॥ ७२ ॥

यस्तु स्यात् कामवृत्तोऽपि पार्थ ब्रह्मपुरस्कृतः ।
जयेन्नक्तंचरान् सर्वान् स पुरोहितधूर्गतः ॥ ७३ ॥

किंतु कुन्तीकुमार ! कामासक्त होनेपर भी यदि कोई पुरुष किसी ब्राह्मणको आगे करके चले तो वह समस्त निशाचरोंपर विजय पा सकता है; क्योंकि उस दशामें उसका सारा भार पुरोहितपर होता है ॥ ७३ ॥

तस्मात् तापत्य यत्किंचिन्नृणां श्रेय इहेप्सितम् ।
तस्मिन् कर्मणि योक्तव्या दान्तात्मानः पुरोहिताः ॥ ७४ ॥

अतः तपतीनन्दन ! मनुष्योंको इस लोकमें जो भी कल्याणकारी कार्य करना अभीष्ट हो, उसमें वह मन और इन्द्रियोंको वशमें रखनेवाले पुरोहितोंको नियुक्त करे ॥ ७४ ॥

वेदे षडङ्गे निरताः शुचयः सत्यवादिनः ।
धर्मात्मानः कृतात्मानः स्युर्नृपाणां पुरोहिताः ॥ ७५ ॥

जो छहों अङ्गोंसहित वेदके स्वाध्यायमें तत्पर, ईमानदार, सत्यवादी, धर्मात्मा और मनको वशमें रखनेवाले हों, ऐसे ही ब्राह्मण राजाओंके पुरोहित होने चाहिये ॥ ७५ ॥

जयश्च नियतो राज्ञः स्वर्गश्च तदनन्तरम्।
यस्य स्याद् धर्मविद् वाग्मी पुरोधाः शीलवान् शुचिः॥

जिसके यहाँ धर्मज्ञ, वक्ता, शीलवान् और ईमानदार ब्राह्मण पुरोहित हो, उस राजाको इस लोकमें निश्चय ही विजय प्राप्त होती है और मरनेके बाद उसे स्वर्गलोक मिलता है ॥ ७६ ॥

लाभं लब्धुमलब्धं वा लब्धं वा परिरक्षितुम्।
पुरोहितं प्रकुर्वीत राजा गुणसमन्वितम् ॥ ७७ ॥

राजाको किसी अप्राप्त वस्तु या धनको प्राप्त करने अथवा उपलब्ध धन आदिकी रक्षा करनेके लिये गुणवान् ब्राह्मणको पुरोहित बनाना चाहिये ॥ ७७ ॥

पुरोहितमते तिष्ठेद् य इच्छेद् भूतिमात्मनः।
प्राप्तुं वसुमतीं सर्वां सर्वशः सागराम्बराम् ॥ ७८ ॥

जो समुद्रसे घिरी हुई सम्पूर्ण पृथ्वीपर अपना अधिकार चाहे या अपने लिये ऐश्वर्य पाना चाहे, उसे पुरोहितकी आज्ञाके अधीन रहना चाहिये ॥ ७८ ॥

न हि केवलशौर्येण तापत्याभिजनेन च।
जयेदब्राह्मणः कश्चिद् भूमिं भूमिपतिः क्वचित्॥ ७९ ॥

तपतीनन्दन ! कोई भी राजा कहीं भी पुरोहितकी सहायताके बिना केवल अपने बल अथवा कुलीनताके बलसे भूमिपर विजय नहीं पाता ॥ ७९ ॥

तस्मादेवं विजानीहि कुरूणां वंशवर्धन।
ब्राह्मणप्रमुखं राज्यं शक्यं पालयितुं चिरम् ॥ ८० ॥

अतः कौरवोंके कुलकी वृद्धि करनेवाले अर्जुन ! तुम यह जान लो कि जहाँ विद्वान् ब्राह्मणोंकी प्रधानता हो, वही राज्यकी दीर्घकालतक रक्षा की जा सकती है ॥ ८० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि गन्धर्वपराभवे एकोनसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें गन्धर्वपराभवविषयक एक सौ उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ८२ श्लोक हैं)

सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

सूर्यकन्या तपतीको देखकर राजा संवरणका मोहित होना

अर्जुन उवाच

तापत्य इति यद् वाक्यमुक्तवानसि मामिह।
तदहं ज्ञातुमिच्छामि तापत्यार्थं विनिश्चितम् ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—गन्धर्व ! तुमने 'तपतीनन्दन' कहकर जो बात यहाँ मुझसे कही है, उसके सम्बन्धमें मैं यह जानना चाहता हूँ कि तापत्यका निश्चित अर्थ क्या है ? ॥ १ ॥

तपती नाम का चैषा तापत्या यत्कृते वयम्।
कौन्तेया हि वयं साधो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्॥ २ ॥

साधुस्वभाव गन्धर्वराज ! यह तपती कौन है, जिसके कारण हमलोग तापत्य कहलाते हैं ? हम तो अपनेको कुन्तीका पुत्र समझते हैं। अतः 'तापत्य'का यथार्थ रहस्य क्या है, यह जाननेकी मुझे बड़ी इच्छा हो रही है ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स गन्धर्वः कुन्तीपुत्रं धनंजयम्।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु श्रावयामास वै कथाम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उनके यों कहनेपर गन्धर्वने कुन्तीनन्दन धनंजयको वह कथा सुनानी प्रारम्भ की, जो तीनों लोकोंमें विख्यात है ॥ ३ ॥

गन्धर्व उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि कथामेतां मनोरमाम्।
यथावदखिलां पार्थ सर्वबुद्धिमतां वर ॥ ४ ॥

गन्धर्व बोला—समस्त बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार ! इस विषयमें एक बहुत मनोरम कथा है; जिसे मैं यथार्थ एवं पूर्णरूपसे आपको सुनाऊँगा ॥ ४ ॥

उक्तवानसि येन त्वां तापत्य इति यद् वचः।
तत् तेऽहं कथयिष्यामि शृणुष्वैकमना भव ॥ ५ ॥

मैंने जिस कारण अपने वक्तव्यमें तुम्हें 'तापत्य' कहा है, वह बता रहा हूँ, एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ५ ॥

य एष दिवि धिष्ण्येन नाकं व्याप्नोति तेजसा।
एतस्य तपती नाम बभूव सदृशी सुता ॥ ६ ॥
विवस्वतो वै देवस्य सावित्र्यवरजा विभो।
विश्रुता त्रिषु लोकेषु तपती तपसा युता ॥ ७ ॥

ये जो आकाशमें उदित हो अपने तेजोमण्डलके द्वारा यहाँसे स्वर्गलोकतक व्याप्त हो रहे हैं, इन्हीं भगवान् सूर्यदेवके तपती नामकी एक पुत्री हुई, जो पिताके अनुरूप ही थी। प्रभो ! वह सावित्रीदेवीकी छोटी बहिन थी। तपस्यामें संलग्न रहनेके कारण तीनों लोकोंमें तपती नामसे विख्यात हुई ॥ ६-७ ॥

न देवी नासुरी चैव न यक्षी न च राक्षसी।
नाप्सरा न च गन्धर्वी तथा रूपेण काचन ॥ ८ ॥

उस समय देवता, असुर, यक्ष एवं राक्षस जातिकी स्त्री, कोई अप्सरा तथा गन्धर्वपत्नी भी उसके समान रूपवती न थी ॥ ८ ॥

सुविभक्तानवद्याङ्गी स्वसितायतलोचना।
स्वाचारा चैव साध्वी च सुवेषा चैव भामिनी ॥ ९ ॥
न तस्याः सदृशं कंचित् त्रिषु लोकेषु भारत।
भर्तारं सविता मेने रूपशीलगुणश्रुतैः ॥ १० ॥

उसके शरीरका एक-एक अवयव बहुत सुन्दर, सुविभक्त और निर्दोष था। उसकी आँखें बड़ी-बड़ी और कजरारी थीं। वह सुन्दरी सदाचार, साधु-स्वभाव और मनोहर वेशसे सुशोभित थी। भारत! भगवान् सूर्यने तीनों लोकोंमें किसी भी पुरुषको ऐसा नहीं पाया, जो रूप, शील, गुण और शास्त्रज्ञानकी दृष्टिसे उसका पति होने योग्य हो॥ ९-१०॥

सम्प्राप्तयौवनां पश्यन् देयां दुहितरं तु ताम्।
नोपलेभे ततः शान्तिं सम्प्रदानं विचिन्तयन्॥ ११॥

वह युवावस्थाको प्राप्त हो गयी। अब उसका किसीके साथ विवाह कर देना आवश्यक था। उसे उस अवस्थामें देखकर भगवान् सूर्य इस चिन्तामें पड़े कि इसका विवाह किसके साथ किया जाय। यही सोचकर उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी॥ ११॥

अथर्क्षपुत्रः कौन्तेय कुरूणामृषभो बली।
सूर्यमाराधयामास नृपः संवरणस्तदा॥ १२॥

कुन्तीनन्दन! उन्हीं दिनों महाराज ऋक्षके पुत्र राजा संवरण कुरुकुलके श्रेष्ठ एवं बलवान् पुरुष थे। उन्होंने भगवान् सूर्यकी आराधना प्रारम्भ की॥ १२॥

अर्घ्यमाल्योपहाराद्यैर्गन्धैश्च नियतः शुचिः।
नियमैरुपवासैश्च तपोभिर्विविधैरपि॥ १३॥
शुश्रूषुरनहंवादी शुचिः पौरवनन्दनः।
अंशुमन्तं समुद्यन्तं पूजयामास भक्तिमान्॥ १४॥

पौरवनन्दन! वे मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर पवित्र हो अर्घ्य, पुष्प, गन्ध एवं नैवेद्य आदि सामग्रियोंसे तथा भाँति-भाँतिके नियम, व्रत एवं तपस्याओंद्वारा बड़े भक्तिभावसे उदय होते हुए सूर्यकी पूजा करते थे। उनके हृदयमें सेवाका भाव था। वे शुद्ध तथा अहंकारशून्य थे॥ १३-१४॥

ततः कृतज्ञं धर्मज्ञं रूपेणासदृशं भुवि।
तपत्याः सदृशं मेने सूर्यः संवरणं पतिम्॥ १५॥

रूपमें इस पृथ्वीपर उनके समान दूसरा कोई पुरुष नहीं था। वे कृतज्ञ और धर्मज्ञ थे। अतः सूर्यदेवने राजा संवरणको ही तपतीके योग्य पति माना॥ १५॥

दातुमैच्छत् ततः कन्यां तस्मै संवरणाय ताम्।
नृपोत्तमाय कौरव्य विश्रुताभिजनाय च॥ १६॥

कुरुनन्दन! उन्होंने नृपश्रेष्ठ संवरणको, जिनका उत्तम कुल सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात था, अपनी कन्या देनेकी इच्छा की॥ १६॥

यथा हि दिवि दीप्तांशुः प्रभासयति तेजसा।
तथा भुवि महीपालो दीप्त्या संवरणोऽभवत्॥ १७॥

जैसे आकाशमें उद्दीप्त किरणोंवाले सूर्यदेव अपने तेजसे प्रकाशित होते हैं, उसी प्रकार पृथ्वीपर राजा संवरण अपनी दिव्य कान्तिसे प्रकाशित थे॥ १७॥

यथार्चयन्ति चादित्यमुद्यन्तं ब्रह्मवादिनः।
तथा संवरणं पार्थ ब्राह्मणावरजाः प्रजाः॥ १८॥

पार्थ! जैसे ब्रह्मवादी महर्षि उगते हुए सूर्यकी आराधना करते हैं, उसी प्रकार क्षत्रिय, वैश्य आदि प्रजाएँ महाराज संवरणकी उपासना करती थीं॥ १८॥

स सोममति कान्तत्वादादित्यमति तेजसा।
बभूव नृपतिः श्रीमान् सुहृदां दुर्हृदामपि॥ १९॥

वे अपनी कमनीय कान्तिसे चन्द्रमाको और तेजसे सूर्यदेवको भी तिरस्कृत करते थे। राजा संवरण मित्रों तथा शत्रुओंकी मण्डलीमें भी अपनी दिव्य शोभासे प्रकाशित होते थे॥ १९॥

एवं गुणस्य नृपतेस्तथावृत्तस्य कौरव।
तस्मै दातुं मनश्चक्रे तपतीं तपनः स्वयम्॥ २०॥

कुरुनन्दन! ऐसे उत्तम गुणोंसे विभूषित तथा श्रेष्ठ आचार-व्यवहारसे युक्त राजा संवरणको भगवान् सूर्यने स्वयं ही अपनी पुत्री तपतीको देनेका निश्चय कर लिया॥ २०॥

स कदाचिदथो राजा श्रीमानमितविक्रमः।
चचार मृगयां पार्थ पर्वतोपवने किल॥ २१॥

कुन्तीनन्दन! एक दिन अमितपराक्रमी श्रीमान् राजा संवरण पर्वतके समीपवर्ती उपवनमें हिंसक पशुओंका शिकार कर रहे थे॥ २१॥

चरतो मृगयां तस्य क्षुत्पिपासासमन्वितः।
ममार राज्ञः कौन्तेय गिरावप्रतिमो हयः॥ २२॥
समृतास्वश्चरन् पार्थ पद्भ्यामेव गिरौ नृपः।
ददर्शासदृशीं लोके कन्यामायतलोचनाम्॥ २३॥

कुन्तीपुत्र! शिकार खेलते समय ही राजाका अनुपम अश्व पर्वतपर भूख-प्याससे पीड़ित हो मर गया। पार्थ! घोड़ेकी मृत्यु हो जानेसे राजा संवरण पैदल ही उस पर्वत-शिखरपर विचरने लगे। घूमते-घूमते उन्होंने एक विशाल-लोचना कन्या देखी, जिसकी समता करनेवाली स्त्री कहीं नहीं थी॥ २२-२३॥

स एक एकामासाद्य कन्यां तत्र बलार्दनः।
तस्थौ नृपतिशार्दूलः पश्यन्नविचलेक्षणः॥ २४॥

शत्रुओंकी सेनाका संहार करनेवाले नृपश्रेष्ठ संवरण अकेले थे और वह कन्या भी अकेली ही थी। उसके पास पहुँचकर राजा एकटक नेत्रोंसे उसकी ओर देखते हुए खड़े रह गये॥ २४॥

स हि तां तर्कयामास रूपतो नृपतिः श्रियम्।
पुनः संतर्कयामास रवेर्भ्रष्टामिव प्रभाम्॥ २५॥

पहले तो उसका रूप देखकर नरेशने अनुमान किया कि हो-न-हो ये साक्षात् लक्ष्मी हैं; फिर उनके ध्यानमें यह बात

आयी कि सम्भव है, भगवान् सूर्यकी प्रभा ही सूर्यमण्डलसे च्युत होकर इस कन्याके रूपमें आकाशसे पृथ्वीपर आ गयी हो ॥ २५ ॥

वपुषा वर्चसा चैव शिखामिव विभावसोः ।
प्रसन्नत्वेन कान्त्या च चन्द्ररेखामिवामलाम् ॥ २६ ॥

शरीर और तेजसे वह आगकी ज्वाला-सी जान पड़ती थी । उसकी प्रसन्नता और कमनीय कान्तिसे ऐसा प्रतीत होता था, मानो वह निर्मल चन्द्रकला हो ॥ २६ ॥

गिरिपृष्ठे तु सा यस्मिन् स्थिता स्वसितलोचना ।
विभ्राजमाना शुशुभे प्रतिमेव हिरण्मयी ॥ २७ ॥

सुन्दर कजरारे नेत्रोंवाली वह दिव्य कन्या जिस पर्वत-शिखरपर खड़ी थी, वहाँ वह सोनेकी दमकती हुई प्रतिमा-सी सुशोभित हो रही थी ॥ २७ ॥

तस्या रूपेण स गिरिर्वेषेण च विशेषतः ।
स सवृक्षक्षुपलतो हिरण्मय इवाभवत् ॥ २८ ॥

विशेषतः उसके रूप और वेशसे विभूषित हो वृक्ष, गुल्म और लताओंसहित वह पर्वत सुवर्णमय-सा जान पड़ता था ॥ २८ ॥

अवमेने च तां दृष्ट्वा सर्वलोकेषु योषितः ।
अवाप्तं चात्मनो मेने स राजा चक्षुषः फलम् ॥ २९ ॥

उसे देखकर राजा संवरणकी समस्त लोकोंकी सुन्दरी युवतियोंमें अनादर-बुद्धि हो गयी । राजा यह मानने लगे कि आज मुझे अपने नेत्रोंका फल मिल गया ॥ २९ ॥

जन्मप्रभृति यत् किंचिद् दृष्टवान् स महीपतिः ।
रूपं न सदृशं तस्यास्तर्कयामास किंचन ॥ ३० ॥

भूपाल संवरणने जन्मसे लेकर (उस दिनतक) जो कुछ देखा था, उसमें कोई भी रूप उन्हें उस (दिव्य किशोरी) के सदृश नहीं प्रतीत हुआ ॥ ३० ॥

तया बद्धमनश्चक्षुः पाशैर्गुणमयैस्तदा ।
न चचाल ततो देशाद् बुबुधे न च किंचन ॥ ३१ ॥

उस कन्याने उस समय अपने उत्तम गुणमय पाशोंसे राजाके मन और नेत्रोंको बाँध लिया । वे अपने स्थानसे हिल-डुलतक न सके । उन्हें किसी बातकी सुध-बुध (भी) न रही ॥ ३१ ॥

अस्या नूनं विशालाक्ष्याः सदेवासुरमानुषम् ।
लोकं निर्मथ्य धात्रेदं रूपमाविष्कृतं कृतम् ॥ ३२ ॥

वे सोचने लगे, निश्चय ही ब्रह्माने देवता, असुर और मनुष्योंसहित सम्पूर्ण लोकोंके सौन्दर्य-सिन्धुको मथकर इस विशाल नेत्रोंवाली किशोरीके इस मनोहर रूपका आविष्कार किया होगा ॥ ३२ ॥

एवं संतर्कयामास रूपद्रविणसम्पदा ।
कन्यामसदृशीं लोके नृपः संवरणस्तदा ॥ ३३ ॥

इस प्रकार उस समय उसकी रूप-सम्पत्तिसे राजा संवरणने यही अनुमान किया कि संसारमें इस दिव्य कन्याकी समता करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं है ॥ ३३ ॥

तां च दृष्ट्वैव कल्याणीं कल्याणाभिजनो नृपः ।
जगाम मनसा चिन्तां कामबाणेन पीडितः ॥ ३४ ॥

कल्याणमय कुलमें उत्पन्न हुए वे नरेश उस कल्याणस्वरूपा कामिनीको देखते ही काम बाणसे पीड़ित हो गये उनके मनमें चिन्ताकी आग जल उठी ॥ ३४ ॥

दह्यमानः स तीव्रेण नृपतिर्मन्मथाग्निना ।
अप्रगल्भां प्रगल्भस्तां तदोवाच मनोहराम् ॥ ३५ ॥

तदनन्तर तीव्र कामाग्निसे जलते हुए राजा संवरण लज्जारहित होकर उस लज्जाशीला एवं मनोहारिणी कन्या इस प्रकार पूछा— ॥ ३५ ॥

कासि कस्यासि रम्भोरु किमर्थं चेह तिष्ठसि ।
कथं च निर्जनेऽरण्ये चरस्येका शुचिस्मिते ॥ ३६ ॥

'रम्भोरु ! तुम कौन हो ? किसकी पुत्री हो ? और किस लिये यहाँ खड़ी हो ? पवित्र मुसकानवाली ! तुम इस निर्जन वन अकेली कैसे विचर रही हो ? ॥ ३६ ॥

त्वं हि सर्वानवद्याङ्गी सर्वाभरणभूषिता ।
विभूषणमिवैतेषां भूषणानामभीप्सितम् ॥ ३७ ॥

'तुम्हारे सभी अङ्ग परम सुन्दर एवं निर्दोष हैं । तुम सब प्रकारके (दिव्य) आभूषणोंसे विभूषित हो । सुन्दरि ! इन आभूषणोंसे तुम्हारी शोभा नहीं है, अपितु तुम स्वयं ही इन आभूषणोंकी शोभा बढ़ानेवाली अभीष्ट आभूषणके समान हो।

न देवीं नासुरीं चैव न यक्षीं न च राक्षसीम् ।
न च भोगवतीं मन्ये न गन्धर्वीं न मानुषीम् ॥ ३८ ॥

'मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, तुम न तो देवाङ्गना हो, न असुरकन्या, न यक्षकुलकी स्त्री हो, न राक्षसवंशकी, न नागकन्या हो, न गन्धर्वकन्या । मैं तुम्हें मानवी भी नहीं मानता ॥ ३८ ॥

या हि दृष्टा मया काश्चिच्छ्रुता वापि वराङ्गनाः ।
न तासां सदृशीं मन्ये त्वामहं मत्तकाशिनि ॥ ३९ ॥

'यौवनके मदसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी ! मैंने अब तक जो कोई भी सुन्दरी स्त्रियाँ देखी अथवा सुनी हैं, उनमें किसीको भी मैं तुम्हारे समान नहीं मानता ॥ ३९ ॥

दृष्ट्वैव चारुवदने चन्द्रात् कान्ततरं तव ।
वदनं पद्मपत्राक्षं मां मथ्नातीव मन्मथः ॥ ४० ॥

'सुमुखि ! जबसे मैंने चन्द्रमासे भी बढ़कर कमनीय एवं कमलदलके समान विशाल नेत्रोंसे युक्त तुम्हारे मुखका दर्शन किया है, तभीसे मन्मथ मुझे मथ-सा रहा है' ॥ ४० ॥

एवं तां स महीपालो बभाषे न तु सा तदा ।
कामार्तं निर्जनेऽरण्ये प्रत्यभाषत किंचन ॥ ४१ ॥

इस प्रकार राजा संवरण उस सुन्दरीसे बहुत कुछ कह गये; परंतु उसने उस समय उस निर्जन वनमें उन काम-पीड़ित नरेशको कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ ४१ ॥

ततो लालप्यमानस्य पार्थिवस्यायतेक्षणा।
सौदामिनीव चाभ्रेषु तत्रैवान्तरधीयत ॥ ४२ ॥

राजा संवरण उन्मत्तकी भाँति प्रलाप करते रह गये और वह विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरी वहीं उनके सामने ही बादलोंमें बिजलीकी भाँति अन्तर्धान हो गयी ॥ ४२ ॥

तामन्वेष्टुं स नृपतिः परिचक्राम सर्वतः।
वनं वनजपत्राक्षीं भ्रमन्नुन्मत्तवत् तदा ॥ ४३ ॥

तब वे नरेश कमलदलके समान विशाल नेत्रोंवाली उस (दिव्य) कन्याको ढूँढ़नेके लिये वनमें सब ओर उन्मत्तकी भाँति भ्रमण करने लगे ॥ ४३ ॥

अपश्यमानः स तु तां बहु तत्र विलप्य च।
निश्चेष्टः पार्थिवश्रेष्ठो मुहूर्तं स व्यतिष्ठत ॥ ४४ ॥

जब कहीं भी उसे देख न सके, तब वे नृपश्रेष्ठ वहाँ बहुत विलाप करते-करते मूर्च्छित हो दो घड़ीतक निश्चेष्ट पड़े रहे ॥ ४४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्याने सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें तपती-उपाख्यानविषयक एक सौ सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७० ॥

एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

तपती और संवरणकी बातचीत

गन्धर्व उवाच

अथ तस्यामदृश्यायां नृपतिः काममोहितः।
पातनः शत्रुसङ्घानां पपात धरणीतले ॥ १ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! जब तपती अदृश्य हो गयी, तब काममोहित राजा संवरण, जो शत्रुसमुदायको मार गिराने-वाले थे, स्वयं ही बेहोश होकर धरतीपर गिर पड़े ॥ १ ॥

तस्मिन् निपतिते भूमावथ सा चारुहासिनी।
पुनः पीनायतश्रोणी दर्शयामास तं नृपम् ॥ २ ॥

जब वे इस प्रकार मूर्च्छित होकर पृथ्वीपर गिर पड़े, तब स्थूल एवं विशाल श्रोणीप्रदेशवाली तपतीने मन्द-मन्द मुसकराते हुए अपनेको राजा संवरणके सामने प्रकट कर दिया ॥ २ ॥

अथाबभाषे कल्याणी वाचा मधुरया नृपम्।
तं कुरूणां कुलकरं कामाभिहतचेतसम् ॥ ३ ॥
उवाच मधुरं वाक्यं तपती प्रहसन्निव।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ भद्रं ते न त्वमर्हस्यरिंदम ॥ ४ ॥
मोहं नृपतिशार्दूल गन्तुमाविष्कृतः क्षितौ।
एवमुक्तोऽथ नृपतिर्वाचा मधुरया तदा ॥ ५ ॥
ददर्श विपुलश्रोणीं तामेवाभिमुखे स्थिताम्।
अथ तामसितापाङ्गीमाबभाषे स पार्थिवः ॥ ६ ॥
मन्मथाग्निपरीतात्मा संदिग्धाक्षरया गिरा।
साधु त्वमसितापाङ्गि कामार्तं मत्तकाशिनि ॥ ७ ॥
भजस्व भजमानं मां प्राणा हि प्रजहन्ति माम्।
त्वदर्थं हि विशालाक्षि मामयं निशितैः शरैः ॥ ८ ॥
कामः कमलगर्भाभे प्रतिविध्यन् न शाम्यति।
दष्टमेवमनाक्रन्दे भद्रे काममहाहिना ॥ ९ ॥

कुरुवंशका विस्तार करनेवाले राजा संवरण कामाग्निसे पीड़ित हो अचेत हो गये थे। उस समय जैसे कोई हँसकर मधुर वचन बोलता हो, उसी प्रकार कल्याणी तपती मीठी वाणीमें उन नरेशसे बोली—'शत्रुदमन! उठिये, उठिये; आपका कल्याण हो। राजसिंह! आप इस भूतलके विख्यात सम्राट् हैं। आपको इस प्रकार मोहके वशीभूत नहीं होना चाहिये।' तपतीने जब मधुर वाणीमें इस प्रकार कहा, तब राजा संवरणने आँखें खोलकर देखा। वही विशाल नितम्बों-वाली सुन्दरी सामने खड़ी थी। राजाके अन्तःकरणमें काम-जनित आग जल रही थी। वे उस कजरारे नेत्रोंवाली सुन्दरीसे लड़खड़ाती वाणीमें बोले—'श्यामलोचने! तुम आ गयीं, अच्छा हुआ। यौवनके मदसे सुशोभित होनेवाली सुन्दरी! मैं कामसे पीड़ित तुम्हारा सेवक हूँ। तुम मुझे स्वीकार करो, अन्यथा मेरे प्राण मुझे छोड़कर चले जायँगे। विशालाक्षि! कमलके भीतरी भागकी-सी कान्तिवाली सुन्दरि! तुम्हारे लिये कामदेव मुझे अपने तीखे बाणोंद्वारा बार-बार घायल कर रहा है। यह (एक क्षणके लिये भी) शान्त नहीं होता। भद्रे! ऐसे समयमें जब मेरा कोई भी रक्षक नहीं है, मुझे कामरूपी महासर्पने डस लिया है ॥ ३—९ ॥

सा त्वं पीनायतश्रोणि मामाप्नुहि वरानने।
त्वदधीना हि मे प्राणाः किंनरोद्गीतभाषिणि ॥ १० ॥

'स्थूल एवं विशाल नितम्बोंवाली वरानने! मेरे समीप आओ। किन्नरोंकी-सी मीठी बोली बोलनेवाली! मेरे प्राण तुम्हारे ही अधीन हैं ॥ १० ॥

चारुसर्वानवद्याङ्गि पद्मेन्दुप्रतिमानने।
न ह्यहं त्वदृते भीरु शक्ष्यामि खलु जीवितुम् ॥ ११ ॥

'भीरु! तुम्हारे सभी अङ्ग मनोहर तथा अनिन्द्य सौन्दर्यसे सुशोभित हैं। तुम्हारा मुख कमल और चन्द्रमाके समान सुशोभित होता है। मैं तुम्हारे बिना जीवित नहीं रह सकूँगा॥

कामः कमलपत्राक्षि प्रतिविध्यति मामयम्।
तस्मात् कुरु विशालाक्षि मय्यनुक्रोशमङ्गने ॥ १२ ॥

कमलदलके समान सुन्दर नेत्रोंवाली सुन्दरि! यह काम-

देव मुझे (अपने बाणोंसे) घायल कर रहा है; विशाललोचने! इसलिये तुम मुझपर दया करो ॥ १२ ॥

भक्तं मामसितापाङ्गि न परित्यक्तुमर्हसि।
त्वं हि मां प्रीतियोगेन त्रातुमर्हसि भाविनि ॥ १३ ॥

'कजरारे नेत्रोंवाली भामिनि ! मैं तुम्हारा भक्त हूँ। तुम मेरा परित्याग न करो। तुम्हें तो प्रेमपूर्वक मेरी रक्षा करनी चाहिये ॥ १३ ॥

त्वद्दर्शनकृतस्नेहं मनश्चलति मे भृशम्।
न त्वां दृष्ट्वा पुनश्चान्यां द्रष्टुं कल्याणि रोचते॥ १४ ॥

'मेरा मन तुम्हारे दर्शनके साथ ही तुमसे अनुरक्त हो गया है। इसलिये वह अत्यन्त चञ्चल हो उठा है। कल्याणि! तुम्हें देख लेनेके बाद फिर दूसरी स्त्रीकी ओर देखनेकी रुचि मुझे नहीं रह गयी है ॥ १४ ॥

प्रसीद वशगोऽहं ते भक्तं मां भज भाविनि।
दृष्ट्वैव त्वां वरारोहे मन्मथो भृशमङ्गने ॥ १५ ॥
अन्तर्गतं विशालाक्षि विध्यति स्म पतत्रिभिः।
मन्मथाग्निसमुद्भूतं दाहं कमललोचने ॥ १६ ॥
प्रीतिसंयोगयुक्ताभिरद्भिः प्रह्लादयस्व मे।
पुष्पायुधं दुराधर्षं प्रचण्डशरकार्मुकम् ॥ १७ ॥
त्वद्दर्शनसमुद्भूतं विध्यन्तं दुस्सहैः शरैः।
उपशामय कल्याणि आत्मदानेन भाविनि ॥ १८ ॥

'मैं सर्वथा तुम्हारे अधीन हूँ, मुझपर प्रसन्न हो जाओ। महानुभावे! मुझ भक्तको अङ्गीकार करो। वरारोहे! विशाल नेत्रोंवाली अङ्गने! जबसे मैंने तुम्हें देखा है, तभीसे कामदेव मेरे अन्तःकरणको अपने बाणोंद्वारा घायल कर रहा है। कमललोचने! तुम प्रेमपूर्वक समागमके जलसे मेरे कामाग्निजनित दाहको बुझाकर मुझे आह्लाद प्रदान करो। कल्याणि! तुम्हारे दर्शनसे उत्पन्न हुआ कामदेव फूलोंके आयुध लेकर भी अत्यन्त दुर्धर्ष हो रहा है। उसके धनुष और बाण दोनों ही बड़े प्रचण्ड हैं। वह अपने दुस्सह बाणोंसे मुझे बींध रहा है। महानुभावे! तुम आत्मदान देकर मेरे उस कामको शान्त करो॥

गान्धर्वेण विवाहेन मामुपेहि वराङ्गने।
विवाहानां हि रम्भोरु गान्धर्वः श्रेष्ठ उच्यते ॥ १९ ॥

'वराङ्गने! गान्धर्व विवाहद्वारा तुम मुझे प्राप्त होओ। सब विवाहोंमें गान्धर्व विवाह ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है' ॥ १९ ॥

तपत्युवाच

नाहमीशाऽऽत्मनो राजन् कन्या पितृमती ह्यहम्।
मयि चेदस्ति ते प्रीतिर्याचस्व पितरं मम ॥ २० ॥

तपतीने कहा—राजन्! मैं ऐसी कन्या हूँ, जिसके पिता विद्यमान हैं; अतः अपने इस शरीरपर मेरा कोई अधिकार नहीं है। यदि आपका मुझपर प्रेम है तो मेरे पिताजीसे मुझे माँग लीजिये ॥ २० ॥

यथा हि ते मया प्राणाः संगृहीता नरेश्वर।
दर्शनादेव भूयस्त्वं तथा प्राणान् ममाहरः ॥ २१ ॥

नरेश्वर! जैसे आपके प्राण मेरे अधीन हैं, उसी प्रकार आपने भी दर्शनमात्रसे ही मेरे प्राणोंको हर लिया है ॥ २१ ॥

न चाहमीशा देहस्य तस्मान्नृपतिसत्तम।
समीपं नोपगच्छामि न स्वतन्त्रा हि योषितः ॥ २२ ॥
का हि सर्वेषु लोकेषु विश्रुताभिजनं नृपम्।
कन्या नाभिलषेन्नाथं भर्तारं भक्तवत्सलम् ॥ २३ ॥

नृपश्रेष्ठ! मैं अपने शरीरकी स्वामिनी नहीं हूँ, इसलिये आपके समीप नहीं आ सकती; कारण कि स्त्रियाँ कभी स्वतन्त्र नहीं होतीं। आपका कुल सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात है। आप जैसे भक्तवत्सल नरेशको कौन कन्या अपना पति बनानेकी इच्छा नहीं करेगी? ॥ २२-२३ ॥

तस्मादेवं गते काले याचस्व पितरं मम।
आदित्यं प्रणिपातेन तपसा नियमेन च ॥ २४ ॥

ऐसी दशामें आप यथासमय नमस्कार, तपस्या और नियमके द्वारा मेरे पिता भगवान् सूर्यको प्रसन्न करके उनसे मुझे माँग लीजिये ॥ २४ ॥

स चेत् कामयते दातुं तव मामरिसूदन।
भविष्याम्यद्य ते राजन् सततं वशवर्तिनी ॥ २५ ॥

शत्रुसूदन नरेश! यदि वे मुझे आपकी सेवामें देना चाहेंगे तो मैं आजसे सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहूँगी॥ २५ ॥

अहं हि तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता।
अस्य लोकप्रदीपस्य सवितुः क्षत्रियर्षभ ॥ २६ ॥

क्षत्रियशिरोमणे! मैं इन्हीं अखिलभुवनभास्कर भगवान् सविताकी पुत्री और सावित्रीकी छोटी बहिन हूँ। मेरा नाम तपती है॥



इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्याने एकसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें तपती-उपाख्यानविषयक एक सौ इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७१ ॥

द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

वसिष्ठजीकी सहायतासे राजा संवरणको तपतीकी प्राप्ति

गन्धर्व उवाच

एवमुक्त्वा ततस्तूर्णं जगामोर्ध्वमनिन्दिता।
स तु राजा पुनर्भूमौ तत्रैव निपपात ह ॥ १ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! यों कहकर वह अनिन्द्य-सुन्दरी तपती तत्काल ऊपर (आकाशमें) चली गयी और वे राजा संवरण फिर वहीं (मूर्च्छित हो) पृथ्वीपर गिर पड़े ॥ १ ॥

अन्वेषमाणः सबलस्तं राजानं नृपोत्तमम्।
अमात्यः सानुयात्रश्च तं ददर्श महावने ॥ २ ॥

इधर उनके मन्त्री सेना और अनुचरोंको साथ लिये उन श्रेष्ठ नरेशको खोजते हुए आ रहे थे। उस महान् वनमें पहुँच-कर मन्त्रीने राजाको देखा ॥ २ ॥

क्षितौ निपतितं काले शक्रध्वजमिवोच्छ्रितम्।
तं हि दृष्ट्वा महेष्वासं निरस्तं पतितं भुवि ॥ ३ ॥
बभूव सोऽस्य सचिवः सम्प्रदीप्त इवाग्निना।
त्वरया चोपसंगम्य स्नेहादागतसम्भ्रमः ॥ ४ ॥

वे समय पाकर गिरे हुए ऊँचे इन्द्रध्वजकी भाँति पृथ्वीपर पड़े थे। तपतीसे विमुक्त उन महान् धनुर्धर महाराजको इस प्रकार पृथ्वीपर पड़ा देख राजमन्त्री ऐसे व्याकुल हो उठे मानो उनके शरीरमें आग लग गयी हो। वे तुरंत उनके पास जा पहुँचे। स्नेहवश उनके हृदयमें घबराहट पैदा हो गयी थी ॥

तं समुत्थापयामास नृपतिं काममोहितम्।
भूतलाद् भूमिपालेशं पितेव पतितं सुतम् ॥ ५ ॥
प्रज्ञया वयसा चैव वृद्धः कीर्त्या नयेन च।
अमात्यस्तं समुत्थाप्य बभूव विगतज्वरः ॥ ६ ॥

राजमन्त्री अवस्थामें तो बड़े-बूढ़े थे ही, बुद्धि, कीर्ति और नीतिमें भी बढ़े-चढ़े थे। उन्होंने जैसे पिता अपने गिरे हुए पुत्रको धरतीसे उठा ले, उसी प्रकार कामवेदनासे मूर्च्छित हुए भूमिपालोंके भी स्वामी महाराज संवरणको शीघ्रतापूर्वक पृथ्वीपरसे उठा लिया। राजाको उठाकर और उन्हें जीवित पाकर उनकी चिन्ता दूर हो गयी ॥ ५-६ ॥

उवाच चैनं कल्याण्या वाचा मधुरयोत्थितम्।
मा भैर्मनुजशार्दूल भद्रमस्तु तवानघ ॥ ७ ॥

वे उठकर बैठे हुए महाराजसे कल्याणमयी मधुर वाणीमें बोले—'नरश्रेष्ठ! आप डरें नहीं। अनघ! आपका कल्याण हो' ॥

क्षुत्पिपासापरिश्रान्तं तर्कयामास वै नृपम्।
पतितं पातनं संख्ये शात्रवाणां महीतले ॥ ८ ॥

युद्धमें शत्रुदलको पृथ्वीपर गिरा देनेवाले नरेशको भूमिपर गिरा देख मन्त्रीने यह अनुमान लगाया कि ये भूख-प्याससे पीड़ित एवं थके-माँदे हैं ॥ ८ ॥

वारिणा च सुशीतेन शिरस्तस्याभ्यषेचयत्।
अस्फुटन्मुकुटं राज्ञः पुण्डरीकसुगन्धिना ॥ ९ ॥

मिरनेपर राजाका मुकुट छिन्न-भिन्न नहीं हुआ था (इससे अनुमान होता था कि राजा युद्धमें घायल नहीं हुए हैं)। मन्त्रीने राजाके मस्तकको कमलकी सुगन्धसे युक्त ठंडे जलसे सींचा ॥ ९ ॥

ततः प्रत्यागतप्राणस्तद् बलं बलवान् नृपः।
सर्वं विसर्जयामास तमेकं सचिवं विना ॥ १० ॥

उससे राजाको चेत हो आया। बलवान् नरेशने एकमात्र अपने मन्त्रीके सिवा सारी सेनाको लौटा दिया ॥ १० ॥

ततस्तस्याज्ञया राज्ञो विप्रतस्थे महद् बलम्।
स तु राजा गिरिप्रस्थे तस्मिन् पुनरुपाविशत् ॥ ११ ॥

महाराजकी आज्ञासे तुरंत वह विशाल सेना राजधानीकी ओर चल दी; परंतु वे राजा संवरण फिर उसी पर्वत-शिखरपर जा बैठे ॥ ११ ॥

ततस्तस्मिन् गिरिवरे शुचिर्भूत्वा कृताञ्जलिः।
आरिराधयिषुः सूर्यं तस्थावूर्ध्वमुखः क्षितौ ॥ १२ ॥

तदनन्तर उस श्रेष्ठ पर्वतपर स्नानादिसे पवित्र हो भगवान् सूर्यकी आराधना करनेके लिये हाथ जोड़ ऊपरकी ओर मुँह किये वे भूमिपर खड़े हो गये ॥ १२ ॥

जगाम मनसा चैव वसिष्ठमृषिसत्तमम्।
पुरोहितममित्रघ्नस्तदा संवरणो नृपः ॥ १३ ॥

उस समय शत्रुओंका नाश करनेवाले राजा संवरणने अपने पुरोहित मुनिवर वसिष्ठका मन-ही-मन स्मरण किया ॥

नक्तं दिनमथैकत्र स्थिते तस्मिञ्जनाधिपे।
अथाजगाम विप्रर्षिस्तदा द्वादशमेऽहनि ॥ १४ ॥

वे रात-दिन एक ही जगह खड़े होकर तपस्यामें लगे रहे। तब बारहवें दिन महर्षि वसिष्ठका (वहाँ) शुभागमन हुआ ॥

स विदित्वैव नृपतिं तपत्या हृतमानसम्।
दिव्येन विधिना ज्ञात्वा भावितात्मा महानृषिः ॥ १५ ॥

विशुद्ध अन्तःकरणवाले महर्षि वसिष्ठ दिव्यज्ञानसे पहले ही जान गये कि सूर्यकन्या तपतीने राजाका चित्त चुरा लिया है ॥ १५ ॥

तथा तु नियतात्मानं तं नृपं मुनिसत्तमः।
आबभाषे स धर्मात्मा तस्यैवार्थचिकीर्षया ॥ १६ ॥

इस प्रकार मन और इन्द्रियोंको संयममें रखकर तपस्यामें लगे हुए उक्त नरेशसे धर्मात्मा मुनिवर वसिष्ठने उन्हींकी कार्य-सिद्धिके लिये कुछ बातचीत की ॥ १६ ॥

स तस्य मनुजेन्द्रस्य पश्यतो भगवानृषिः।
ऊर्ध्वमाचक्रमे द्रष्टुं भास्करं भास्करद्युतिः ॥ १७ ॥

उक्त महाराजके देखते-देखते सूर्यके समान तेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनि सूर्यदेवसे मिलनेके लिये ऊपरको गये ॥

सहस्रांशुं ततो विप्रः कृताञ्जलिरुपस्थितः।
वसिष्ठोऽहमिति प्रीत्या स चात्मानं न्यवेदयत् ॥ १८ ॥

ब्रह्मर्षि वसिष्ठ दोनों हाथ जोड़कर सहस्रों किरणोंसे सुशोभित भगवान् सूर्यदेवके समीप गये और 'मैं वसिष्ठ हूँ' यों कहकर उन्होंने बड़ी प्रसन्नतासे अपना समाचार निवेदित किया॥१८॥

(वसिष्ठ उवाच

अजाय लोकत्रयपावनाय
भूतात्मने गोपतये वृषाय।
सूर्याय सर्गप्रलयालयाय
नमो महाकारुणिकोत्तमाय ॥
विवस्वते ज्ञानभृदन्तरात्मने
जगत्प्रदीपाय जगद्धितैषिणे।
स्वयम्भुवे दीप्तसहस्रचक्षुषे
सुरोत्तमायामिततेजसे नमः ॥
नमः सवित्रे जगदेकचक्षुषे
जगत्प्रसूतिस्थितिनाशहेतवे ।
त्रयीमयाय त्रिगुणात्मधारिणे
विरिञ्चिनारायणशङ्करात्मने ॥)

फिर वसिष्ठजी बोले—जो अजन्मा, तीनों लोकोंको पवित्र करनेवाले, समस्त प्राणियोंके अन्तर्यामी, किरणोंके अधिपति, धर्मस्वरूप, सृष्टि और प्रलयके अधिष्ठान तथा परम दयालु देवताओंमें सर्वश्रेष्ठ हैं, उन भगवान् सूर्यको नमस्कार है। जो ज्ञानियोंके अन्तरात्मा, जगत्को प्रकाशित करनेवाले, संसारके हितैषी, स्वयम्भू तथा सहस्रों उद्दीप्त नेत्रोंसे सुशोभित हैं, उन अमिततेजस्वी सुरश्रेष्ठ भगवान् सूर्यको नमस्कार है। जो जगत्के एकमात्र नेत्र हैं, संसारकी सृष्टि, पालन और संहारके हेतु हैं, तीनों वेद जिनके स्वरूप हैं, जो त्रिगुणात्मक स्वरूप धारण करके ब्रह्मा, विष्णु और शिव नामसे प्रसिद्ध हैं, उन भगवान् सविताको नमस्कार है ॥

तमुवाच महातेजा विवस्वान् मुनिसत्तमम्।
महर्षे स्वागतं तेऽस्तु कथयस्व यथेप्सितम् ॥ १९ ॥

तब महातेजस्वी भगवान् सूर्यने मुनिवर वसिष्ठसे कहा—'महर्षे! तुम्हारा स्वागत है! तुम्हारी जो अभिलाषा हो, उसे कहो ॥ १९ ॥

यदिच्छसि महाभाग मत्तः प्रवदतां वर।
तत् ते दद्यामभिप्रेतं यद्यपि स्यात् सुदुष्करम् ॥ २० ॥

'वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाभाग! तुम मुझसे जो कुछ चाहते हो, तुम्हारी वह अभीष्ट वस्तु कितनी ही दुर्लभ क्यों न हो, तुम्हें अवश्य दूँगा ॥ २० ॥

(स्तुतोऽस्मि वरदस्तेऽहं वरं वरय सुव्रत।
स्तुतिस्त्वयोक्ता भक्तानां जप्येयं वरदोऽस्म्यहम्॥)

'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महर्षे! तुमने जो मेरा स्तवन किया है, इसके लिये मैं तुम्हें देनेको उद्यत हूँ, कोई वर माँगो। तुम्हारे द्वारा की हुई यह स्तुति भक्तोंके लिये निरन्तर जप करने योग्य है। मैं तुम्हें वर देना चाहता हूँ' ॥

एवमुक्तः स तेनर्षिर्वसिष्ठः प्रत्यभाषत।
प्रणिपत्य विवस्वन्तं भानुमन्तं महातपाः ॥ २१ ॥

उनके यों कहनेपर महातपस्वी मुनिवर वसिष्ठ मरीचिमाली भगवान् भास्करको प्रणाम करके इस प्रकार बोले ॥ २१ ॥

वसिष्ठ उवाच

यैषा ते तपती नाम सावित्र्यवरजा सुता।
तां त्वां संवरणस्यार्थे वरयामि विभावसो ॥ २२ ॥

वसिष्ठजीने कहा—विभावसो! यह जो आपकी तपती नामकी पुत्री एवं सावित्रीकी छोटी बहिन है, उसे मैं आपसे राजा संवरणके लिये माँगता हूँ ॥ २२ ॥

स हि राजा बृहत्कीर्तिर्धर्मार्थविदुदारधीः।
युक्तः संवरणो भर्ता दुहितुस्ते विहंगम ॥ २३ ॥

उस राजाकी कीर्ति बहुत दूरतक फैली हुई है। वे धर्म और अर्थके ज्ञाता तथा उदार बुद्धिवाले हैं; आकाशचारी सूर्यदेव! महाराज संवरण आपकी पुत्रीके लिये सुयोग्य पति होंगे ॥ २३ ॥

इत्युक्तः स तदा तेन ददानीत्येव निश्चितः।
प्रत्यभाषत तं विप्रं प्रतिनन्द्य दिवाकरः ॥ २४ ॥

वसिष्ठजीके यों कहनेपर अपनी कन्या देनेका निश्चय करके भगवान् सूर्यने ब्रह्मर्षिका अभिनन्दन किया और इस प्रकार कहा—॥ २४ ॥

वरः संवरणो राज्ञां त्वमृषीणां वरो मुने।
तपती योषितां श्रेष्ठा किमन्यद्पवर्जनात् ॥ २५ ॥

'मुने! संवरण राजाओंमें श्रेष्ठ हैं, आप महर्षियोंमें उत्तम हैं और तपती युवतियोंमें सर्वश्रेष्ठ है; अतः उसके दानसे श्रेष्ठ और क्या हो सकता है' ॥ २५ ॥

ततः सर्वानवद्याङ्गीं तपतीं तपनः स्वयम्।
ददौ संवरणस्यार्थे वसिष्ठाय महात्मने ॥ २६ ॥

तदनन्तर साक्षात् भगवान् सूर्यने अनिन्द्यसुन्दरी तपतीको राजा संवरणकी पत्नी होनेके लिये महात्मा वसिष्ठको अर्पित कर दिया ॥ २६ ॥

प्रतिजग्राह तां कन्यां महर्षिस्तपतीं तदा।
वसिष्ठोऽथ विसृष्टस्तु पुनरेवाजगाम ह ॥ २७ ॥

यत्र विख्यातकीर्तिः स कुरूणामृषभोऽभवत्।
स राजा मन्मथाविष्टस्तद्गतेनान्तरात्मना ॥ २८ ॥

ब्रह्मर्षि वसिष्ठने उस कन्याको ग्रहण किया और वहाँसे विदा होकर वे तपतीके साथ पुनः उस स्थानपर आये, जहाँ विख्यातकीर्ति, कुरुवंशियोंमें श्रेष्ठ राजा संवरण कामके वशीभूत हो मन-ही-मन तपतीका चिन्तन करते हुए बैठे थे ॥

दृष्ट्वा च देवकन्यां तां तपतीं चारुहासिनीम्।
वसिष्ठेन सहायान्तीं संहृष्टोऽभ्यधिकं बभौ ॥ २९ ॥

मनोहर मुसकानवाली देवकन्या तपतीको वसिष्ठजीके साथ आती देख राजा संवरण अत्यन्त हर्षोल्लाससे युक्त हो



अधिक शोभा पाने लगे ॥ २९ ॥

रुरुचे साधिकं सुभ्रूरापतन्ती नभस्तलात्।
सौदामिनीव विभ्रष्टा द्योतयन्ती दिशस्त्विषा ॥ ३० ॥

सुन्दर भौंहोंवाली तपती आकाशसे पृथ्वीपर आते समय गिरी हुई बिजलीके समान सम्पूर्ण दिशाओंको अपनी प्रभासे प्रकाशित करती हुई अधिक सुशोभित हो रही थी ॥ ३० ॥

कृच्छ्राद् द्वादशरात्रे तु तस्य राज्ञः समाहिते।
आजगाम विशुद्धात्मा वसिष्ठो भगवानृषिः ॥ ३१ ॥

राजाने क्लेश सहन करते हुए बारह राततक एकाग्रचित्त होकर ध्यान लगाया था। तब विशुद्ध अन्तःकरणवाले भगवान् वसिष्ठ मुनि राजाके पास आये थे ॥ ३१ ॥

तपसाऽऽराध्य वरदं देवं गोपतिमीश्वरम्।
लेभे संवरणो भार्यां वसिष्ठस्यैव तेजसा ॥ ३२ ॥

सबके अधीश्वर वरदायक देवशिरोमणि भगवान् सूर्यको तपस्याद्वारा प्रसन्न करके महाराज संवरणने वसिष्ठजीके ही तेजसे तपतीको पत्नीरूपमें प्राप्त किया ॥ ३२ ॥

ततस्तस्मिन् गिरिश्रेष्ठे देवगन्धर्वसेविते।
जग्राह विधिवत् पाणिं तपत्याः स नरर्षभः ॥ ३३ ॥

तदनन्तर उन नरश्रेष्ठने देवताओं और गन्धर्वोंसे सेवित उस उत्तम पर्वतपर विधिपूर्वक तपतीका पाणिग्रहण किया ॥

वसिष्ठेनाभ्यनुज्ञातस्तस्मिन्नेव धराधरे।
सोऽकामयत राजर्षिर्विहर्तुं सह भार्यया ॥ ३४ ॥

उसके बाद वसिष्ठजीकी आज्ञा लेकर राजर्षि संवरणने उसी पर्वतपर अपनी पत्नीके साथ विहार करनेकी इच्छा की ॥ ३४ ॥

ततः पुरे च राष्ट्रे च वनेषूपवनेषु च।
आदिदेश महीपालस्तमेव सचिवं तदा ॥ ३५ ॥

उन दिनों भूपालने नगर, राष्ट्र, वन तथा उपवनोंकी देख-भाल एवं रक्षाके लिये मन्त्रीको ही आदेश देकर विदा किया ॥ ३५ ॥

नृपतिं त्वभ्यनुज्ञाप्य वसिष्ठोऽथापचक्रमे।
सोऽथ राजा गिरौ तस्मिन् विजहारामरो यथा ॥ ३६ ॥

वसिष्ठजी भी राजासे विदा ले अपने स्थानको चले गये। तदनन्तर राजा संवरण उस पर्वतपर देवताकी भाँति विहार करने लगे ॥ ३६ ॥

ततो द्वादश वर्षाणि काननेषु वनेषु च।
रेमे तस्मिन् गिरौ राजा तथैव सह भार्यया ॥ ३७ ॥

वे उसी पर्वतके वनों और काननोंमें अपनी पत्नीके साथ उसी प्रकार बारह वर्षोंतक रमण करते रहे ॥ ३७ ॥

तस्य राज्ञः पुरे तस्मिन् समा द्वादश सत्तम।
न ववर्ष सहस्राक्षो राष्ट्रे चैवास्य भारत ॥ ३८ ॥

अर्जुन ! उन दिनों महाराज संवरणके राज्य और नगरमें इन्द्रने बारह वर्षोंतक वर्षा नहीं की ॥ ३८ ॥

ततस्तस्यामनावृष्ट्यां प्रवृत्तायामरिंदम।
प्रजाः क्षयमुपाजग्मुः सर्वाः सस्थाणुजङ्गमाः ॥ ३९ ॥

शत्रुसूदन ! उस अनावृष्टिके समय प्रायः स्थावर एवं जंगम सभी प्रकारकी प्रजाका क्षय होने लगा ॥ ३९ ॥

तस्मिंस्तथाविधे काले वर्तमाने सुदारुणे।
नावश्यायः पपातोर्व्यां ततः सस्यानि नारुहन् ॥ ४० ॥

ऐसे भयंकर समयमें पृथ्वीपर ओसकी एक बूँदतक न गिरी। परिणाम यह हुआ कि खेती उगती ही नहीं थी॥४०॥

ततो विभ्रान्तमनसो जनाः क्षुद्भयपीडिताः।
गृहाणि सम्परित्यज्य बभ्रमुः प्रदिशो दिशः ॥ ४१ ॥

तब सभी लोगोंका चित्त व्याकुल हो उठा। मनुष्य भूखके भयसे पीड़ित हो घरोंको छोड़कर दिशा-विदिशाओंमें मारे-मारे फिरने लगे ॥ ४१ ॥

ततस्तस्मिन् पुरे राष्ट्रे त्यक्तदारपरिग्रहाः।
परस्परममर्यादाः क्षुधार्ता जघ्निरे जनाः ॥ ४२ ॥

तत् क्षुधार्तैर्निराहारैः शवभूतैस्तथा नरैः।
अभवत् प्रेतराजस्य पुरं प्रेतैरिवावृतम् ॥ ४३ ॥

फिर तो उस नगर और राष्ट्रके लोग क्षुधासे पीड़ित हो सनातन मर्यादाको छोड़कर स्त्री, पुत्र एवं परिवार आदिका त्याग करके परस्पर एक दूसरेको मारने और लूटने-खसोटने लगे। राजाका नगर ऐसे लोगोंसे भर गया, जो भूखसे आतुर हो उपवास करते-करते मुर्दोंके समान हो रहे थे। उन नर-कंकालोंसे परिपूर्ण वह नगर प्रेतोंसे घिरे हुए यमराजके निवासस्थान-सा जान पड़ता था ॥ ४२-४३ ॥

ततस्तत् तादृशं दृष्ट्वा स एव भगवानृषिः।
अभ्यवर्षत धर्मात्मा वसिष्ठो मुनिसत्तमः ॥ ४४ ॥

प्रजाकी ऐसी दुरवस्था देख धर्मात्मा मुनिश्रेष्ठ भगवान् वसिष्ठने ही (अपने तपोबलसे) उस राज्यमें वर्षा की ॥४४॥

तं च पार्थिवशार्दूलमानयामास तत् पुरम्।
तपत्या सहितं राजन् व्युषितं शाश्वतीः समाः।
ततः प्रवृष्टस्तत्रासीद् यथापूर्वं सुरारिहा ॥ ४५ ॥

साथ ही वे नृपश्रेष्ठ संवरणको, जो बहुत वर्षोंसे प्रवासी हो रहे थे, तपतीके साथ नगरमें ले आये। उनके आनेपर दैत्यहन्ता देवराज इन्द्र वहाँ पूर्ववत् वर्षा करने लगे ॥ ४५ ॥

तस्मिन् नृपतिशार्दूले प्रविष्टे नगरं पुनः।
प्रववर्ष सहस्राक्षः सस्यानि जनयन् प्रभुः ॥ ४६ ॥

उन श्रेष्ठ राजाके नगरमें प्रवेश करनेपर भगवान् इन्द्रने वहाँ अन्नका उत्पादन बढ़ानेके लिये पुनः अच्छी वर्षा की ॥ ४६ ॥

ततः सराष्ट्रं मुमुदे तत् पुरं परया मुदा।
तेन पार्थिवमुख्येन भावितं भावितात्मना ॥ ४७ ॥

तबसे शुद्ध अन्तःकरणवाले नृपश्रेष्ठ संवरणके द्वारा पालित सब लोग प्रसन्न रहने लगे। उस राज्य और नगरमें बड़ा आनन्द छा गया ॥ ४७ ॥

ततो द्वादश वर्षाणि पुनरीजे नराधिपः।
तपत्या सहितः पत्न्या यथा शच्या मरुत्पतिः ॥ ४८ ॥

तदनन्तर तपतीके सहित महाराज संवरणने शचीके सा[थ] इन्द्रके समान सुशोभित होते हुए बारह वर्षांतक यज्ञ किया।

गन्धर्व उवाच

एवमासीन्महाभागा तपती नाम पौर्विकी।
तव वैवस्वती पार्थ तापत्यस्त्वं यया मतः ॥ ४९ ॥

गन्धर्व कहता है—कुन्तीनन्दन! इस प्रकार भगव[ान्] सूर्यकी पुत्री महाभागा तपती आपके पूर्वपुरुष संवरण[की] पत्नी हुई थी, जिससे मैंने आपको तपतीनन्दन माना है ॥४९॥

तस्यां संजनयामास कुरुं संवरणो नृपः।
तपत्यां तपतां श्रेष्ठ तापत्यस्त्वं ततोऽर्जुन ॥ ५० ॥

तपस्वीजनोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! महाराज संवरणने तपती[के] गर्भसे कुरुको उत्पन्न किया था; अतः उसी वंशमें ज[न्म] लेनेके कारण आपलोग तापत्य हुए ॥ ५० ॥

(कुरूद्भवा यतो यूयं कौरवाः कुरवस्तथा।
पौरवा आजमीढाश्च भारता भरतर्षभ ॥
तापत्यमखिलं प्रोक्तं वृत्तान्तं तव पूर्वकम्।
पुरोहितमुखा यूयं भुङ्ग्ध्वं वै पृथिवीमिमाम् ॥)

भरतश्रेष्ठ! उन्हीं कुरुसे उत्पन्न होनेके कारण आप सब लो[ग] 'कौरव' तथा 'कुरुवंशी' कहलाते हैं। इसी प्रकार पू[रुसे] उत्पन्न होनेके कारण 'पौरव', अजमीढकुलमें जन्म लेने[से] 'आजमीढ' तथा भरतकुलमें उत्पन्न होनेसे 'भारत' कहलाते हैं। इस प्रकार आपलोगोंकी वंशजननी तपतीका सारा पुरातन वृत्ता[न्त] मैंने बता दिया। अब आपलोग पुरोहितको आगे रख[कर] इस पृथ्वीका पालन एवं उपभोग करें ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि तपत्युपाख्यानसमाप्तौ द्विसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें तपती-उपाख्यानकी समाप्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७२ ॥

त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

गन्धर्वका वसिष्ठजीकी महत्ता बताते हुए किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणको पुरोहित बनानेके लिये आग्रह करन[ा]

वैशम्पायन उवाच

स गन्धर्ववचः श्रुत्वा तत् तदा भरतर्षभ।
अर्जुनः परया भक्त्या पूर्णचन्द्र इवाबभौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ जनमेजय! गन्धर्वका यह कथन सुनकर अर्जुन अत्यन्त भक्तिभावके कारण पूर्ण चन्द्रमाके समान शोभा पाने लगे ॥ १ ॥

उवाच च महेष्वासो गन्धर्वं कुरुसत्तमः।
जातकौतूहलोऽतीव वसिष्ठस्य तपोबलात् ॥ २ ॥

फिर महाधनुर्धर कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने गन्धर्वसे कहा— 'सखे! वसिष्ठके तपोबलकी बात सुनकर मेरे हृदयमें ब[ड़ी] उत्कण्ठा पैदा हो गयी है ॥ २ ॥

वसिष्ठ इति तस्यैतदृषेर्नाम त्वयेरितम्।
एतदिच्छाम्यहं श्रोतुं यथावत् तद् वदस्व मे ॥ ३ ॥

'तुमने उन महर्षिका नाम वसिष्ठ बताया था। उन[का] यह नाम क्यों पड़ा? इसे मैं सुनना चाहता हूँ। तुम यथा[र्थ] रूपसे मुझे बताओ ॥ ३ ॥

य एष गन्धर्वपते पूर्वेषां नः पुरोहितः।
आसीदेतन्ममाचक्ष्व क एष भगवानृषिः ॥ ४ ॥

'गन्धर्वराज ! ये जो हमारे पूर्वजोंके पुरोहित थे, वे भगवान् वसिष्ठ मुनि कौन हैं ? यह मुझसे कहो' ॥ ४ ॥

गन्धर्व उवाच

ब्रह्मणो मानसः पुत्रो वसिष्ठोऽरुन्धतीपतिः।
तपसा निर्जितौ शश्वदजेयावमरैरपि ॥ ५ ॥
कामक्रोधावुभौ यस्य चरणौ संववाहतुः।
इन्द्रियाणां वशकरो वसिष्ठ इति चोच्यते ॥ ६ ॥

गन्धर्वने कहा—वसिष्ठजी ब्रह्माजीके मानस पुत्र हैं ! उनकी पत्नीका नाम अरुन्धती है। जिन्हें देवता भी कभी जीत नहीं सके, वे काम और क्रोध नामक दोनों शत्रु वसिष्ठजीकी तपस्यासे सदाके लिये पराभूत होकर उनके चरण दबाते रहे हैं। इन्द्रियोंको वशमें करनेके कारण वे वसिष्ठ कहलाते हैं ॥ ५-६ ॥

यस्तु नोच्छेदनं चक्रे कुशिकानामुदारधीः।
विश्वामित्रापराधेन धारयन् मन्युमुत्तमम् ॥ ७ ॥

विश्वामित्रके अपराधसे मनमें पवित्र क्रोध धारण करते हुए भी उन उदारबुद्धि महर्षिने कुशिकवंशका समूलोच्छेद नहीं किया ॥ ७ ॥

पुत्रव्यसनसंतप्तः शक्तिमानप्यशक्तवत्।
विश्वामित्रविनाशाय न चक्रे कर्म दारुणम् ॥ ८ ॥

विश्वामित्रके द्वारा अपने सौ पुत्रोंके मारे जानेसे वे संतप्त थे, उनमें बदला लेनेकी शक्ति भी थी, तो भी उन्होंने असमर्थकी भाँति सब कुछ सह लिया एवं विश्वामित्रका विनाश करनेके लिये कोई दारुण कर्म नहीं किया ॥ ८ ॥

मृतांश्च पुनराहर्तुं शक्तः पुत्रान् यमक्षयात्।
कृतान्तं नातिचक्राम वेलामिव महोदधिः ॥ ९ ॥

वे अपने मरे हुए पुत्रोंको यमलोकसे वापस ला सकते थे; परंतु जैसे महासागर अपने तटका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार वे यमराजकी मर्यादाको लाँघनेके लिये उद्यत नहीं हुए ॥ ९ ॥

यं प्राप्य विजितात्मानं महात्मानं नराधिपाः।
इक्ष्वाकवो महीपाला लेभिरे पृथिवीमिमाम् ॥ १० ॥

उन्हीं जितात्मा महात्मा वसिष्ठ मुनिको (पुरोहितरूपमें) पाकर इक्ष्वाकुवंशी भूपालोंने (दीर्घकालतक) इस (समूची) पृथ्वीपर अधिकार प्राप्त किया था ॥ १० ॥

पुरोहितमिमं प्राप्य वसिष्ठमृषिसत्तमम्।
ईजिरे क्रतुभिश्चैव नृपास्ते कुरुनन्दन ॥ ११ ॥

कुरुनन्दन ! इन्हीं मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको पुरोहितरूपमें पाकर उन नरपतियोंने बहुतसे यज्ञ भी किये थे ॥ ११ ॥

स हि तान् याजयामास सर्वान् नृपतिसत्तमान्।
ब्रह्मर्षिः पाण्डवश्रेष्ठ बृहस्पतिरिवामरान् ॥ १२ ॥

पाण्डवश्रेष्ठ ! जैसे बृहस्पतिजी सम्पूर्ण देवताओंका यज्ञ कराते हैं, उसी प्रकार ब्रह्मर्षि वसिष्ठने उन सम्पूर्ण श्रेष्ठ राजाओंका यज्ञ कराया था ॥ १२ ॥

तस्माद् धर्मप्रधानात्मा वेदधर्मविदीप्सितः।
ब्राह्मणो गुणवान् कश्चित् पुरोधाः प्रतिदृश्यताम् ॥ १३ ॥

इसलिये जिसके मनमें धर्मकी प्रधानता हो, जो वेदोक्त धर्मका ज्ञाता और मनके अनुकूल हो; ऐसे किसी गुणवान् ब्राह्मणको आपलोग भी पुरोहित बनानेका निश्चय करें ॥ १३ ॥

क्षत्रियेणाभिजातेन पृथिवीं जेतुमिच्छता।
पूर्वं पुरोहितः कार्यः पार्थ राज्याभिवृद्धये ॥ १४ ॥

पार्थ ! पृथ्वीको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले कुलीन क्षत्रियको अपने राज्यकी वृद्धिके लिये पहले (किसी श्रेष्ठ ब्राह्मणको) पुरोहित नियुक्त कर लेना चाहिये ॥ १४ ॥

महीं जिगीषता राज्ञा ब्रह्म कार्यं पुरस्सरम्।
तस्मात् पुरोहितः कश्चिद् गुणवान् विजितेन्द्रियः।
विद्वान् भवतु वो विप्रो धर्मकामार्थतत्त्ववित् ॥ १५ ॥

पृथ्वीको जीतनेकी इच्छावाले राजाको उचित है कि वह ब्राह्मणको अपने आगे रक्खे; अतः कोई गुणवान्, जितेन्द्रिय, वेदाभ्यासी, विद्वान् तथा धर्म, काम और अर्थका तत्त्वज्ञ ब्राह्मण आपका पुरोहित हो ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि पुरोहितकरणकथने त्रिसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें पुरोहित बनानेके लिये कथनसम्बन्धी एक सौ तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७३ ॥

चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

वसिष्ठजीके अद्भुत क्षमा-बलके आगे विश्वामित्रजीका पराभव

अर्जुन उवाच

किंनिमित्तमभूद् वैरं विश्वामित्रवसिष्ठयोः।
वसतोराश्रमे दिव्ये शंस नः सर्वमेव तत् ॥ १ ॥

अर्जुनने पूछा—गन्धर्वराज ! विश्वामित्र और वसिष्ठ मुनि तो अपने-अपने दिव्य आश्रममें निवास करते हैं, फिर उनमें वैर किस कारण हुआ ? ये सब बातें मुझसे कहो ॥ १ ॥

गन्धर्व उवाच

इदं वासिष्ठमाख्यानं पुराणं परिचक्षते।
पार्थ सर्वेषु लोकेषु यथावत् तन्निबोध मे ॥ २ ॥

गन्धर्वने कहा—पार्थ ! वसिष्ठजीके इस उपाख्यानको

सब लोकोंमें बहुत पुराना बतलाते हैं । उसे यथार्थरूपसे कहता हूँ, सुनिये ॥ २ ॥

कान्यकुब्जे महानासीत् पार्थिवो भरतर्षभ ।
गाधीति विश्रुतो लोके कुशिकस्यात्मसम्भवः ॥ ३ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! कान्यकुब्ज देशमें एक बहुत बड़े राजा थे, जो इस लोकमें गाधिके नामसे विख्यात थे । वे कुशिकके औरस पुत्र बताये जाते हैं ॥ ३ ॥

तस्य धर्मात्मनः पुत्रः समृद्धबलवाहनः ।
विश्वामित्र इति ख्यातो बभूव रिपुमर्दनः ॥ ४ ॥

उन्हीं धर्मात्मा नरेशके पुत्र विश्वामित्रके नामसे प्रसिद्ध हैं, जो सेना और वाहनोंसे सम्पन्न होकर शत्रुओंका मानमर्दन किया करते थे ॥ ४ ॥

स चचार सहामात्यो मृगयां गहने वने ।
मृगान् विध्यन् वराहांश्च रम्येषु मरुधन्वसु ॥ ५ ॥
व्यायामकर्शितः सोऽथ मृगलिप्सुः पिपासितः ।
आजगाम नरश्रेष्ठ वसिष्ठस्याश्रमं प्रति ॥ ६ ॥
तमागतमभिप्रेक्ष्य वसिष्ठः श्रेष्ठभागृषिः ।
विश्वामित्रं नरश्रेष्ठं प्रतिजग्राह पूजया ॥ ७ ॥

एक दिन वे अपने मन्त्रियोंके साथ गहन वनमें आखेटके लिये गये । मरुप्रदेशके सुरम्य वनोंमें उन्होंने वराहों और अन्य हिंसक पशुओंको मारते हुए एक हिंसक पशुको पकड़नेके लिये उसका पीछा किया । अधिक परिश्रमके कारण उन्हें बड़ा कष्ट सहना पड़ा । नरश्रेष्ठ ! वे प्याससे पीड़ित हो महर्षि वसिष्ठके आश्रममें आये । मनुष्योंमें श्रेष्ठ महाराज विश्वामित्रको आया देख पूजनीय पुरुषोंकी पूजा करनेवाले महर्षि वसिष्ठने उनका सत्कार करते हुए आतिथ्य ग्रहण करनेके लिये आमन्त्रित किया ॥ ५–७ ॥

पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तं स्वागतेन च भारत ।
तथैव परिजग्राह वन्येन हविषा तदा ॥ ८ ॥

भारत ! पाद्य, अर्घ्य, आचमनीय, स्वागत-भाषण तथा वन्य हविष्य आदिसे उन्होंने विश्वामित्रजीका सत्कार किया॥८॥

तस्याथ कामधुग् धेनुर्वसिष्ठस्य महात्मनः ।
उक्ता कामान् प्रयच्छेति सा कामान् दुह्यते सदा ॥ ९ ॥

महात्मा वसिष्ठजीके यहाँ एक कामधेनु थी, जो 'अमुक-अमुक मनोरथोंको पूर्ण करो' यह कहनेपर सदा उन-उन कामनाओंको पूर्ण कर दिया करती थी ॥ ९ ॥

ग्राम्यारण्याश्चौषधीश्च दुदुहे पय एव च ।
षड्रसं चामृतनिभं रसायनमनुत्तमम् ॥ १० ॥
भोजनीयानि पेयानि भक्ष्याणि विविधानि च ।
लेह्यान्यमृतकल्पानि चोष्याणि च तथार्जुन ॥ ११ ॥
रत्नानि च महार्हाणि वासांसि विविधानि च ।
तैः कामैः सर्वसम्पूर्णैः पूजितश्च महीपतिः ॥ १२ ॥

ग्रामीण तथा जंगली अन्न, फल-मूल, दूध, षड्रस मोल्लेकर अमृतके समान मधुर परम उत्तम रसायन, खाने, पीने योग्य चबाने योग्य भाँति-भाँतिके पदार्थ, अमृतके समान स्वादिष्ट चटनी आदि तथा चूसने योग्य ईख आदि वस्तुएँ तथा भाँति-भाँतिके बहुमूल्य रत्न एवं वस्त्र आदि सब सामग्री को उस कामधेनुने प्रस्तुत कर दिया । सब प्रकारसे सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुओंके द्वारा हे अर्जुन ! राजा विश्वा भलीभाँति पूजित हुए ॥ १०–१२ ॥

सामात्यः सबलश्चैव तुतोष स भृशं तदा ।
षडुन्नतां सुपार्श्वोरुं पृथुपञ्चसमावृताम् ॥ १३ ॥

उस समय वे अपनी सेना और मन्त्रियोंके साथ बहुत संतुष्ट हुए । महर्षिकी धेनुका मस्तक, ग्रीवा, जाँघें, गलकम्बल, पूँछ और थन—ये छः अङ्ग बड़े एवं विस्तृत थे ।* उ पार्श्वभाग तथा ऊरु बड़े सुन्दर थे । वह पाँच पृथुल अ सुशोभित थी† ॥ १३ ॥

मण्डूकनेत्रां स्वाकारां पीनोधसमनिन्दिताम् ।
सुवालधिं शङ्कुकर्णां चारुशृङ्गां मनोरमाम् ॥ १४ ॥

उसकी आँखें मेढक-जैसी थीं । आकृति बड़ी सुन्दर थी चारों थन मोटे और फैले हुए थे । वह सर्वथा प्रशंसाके यो थी । सुन्दर पूँछ, नुकीले कान और मनोहर सींगोंके का वह बड़ी मनोरम जान पड़ती थी ॥ १४ ॥

पुष्टायतशिरोग्रीवां विस्मितः सोऽभिवीक्ष्य ताम् ।
अभिनन्द्य स तां राजा नन्दिनीं गाधिनन्दनः ॥ १५ ॥

उसके सिर और गर्दन विस्तृत एवं पुष्ट थे । उसका नन्दिनी था । उसे देखकर विस्मित हुए गाधिनन्दन विश्वामित्र उसका अभिनन्दन किया ॥ १५ ॥

अब्रवीच्च भृशं तुष्टः स राजा तमृषिं तदा ।
अर्बुदेन गवां ब्रह्मन् मम राज्येन वा पुनः ॥ १६ ॥
नन्दिनीं सम्प्रयच्छस्व भुङ्क्ष्व राज्यं महामुने ।

और अत्यन्त संतुष्ट होकर राजा विश्वामित्रने उस समय महर्षिसे कहा—'ब्रह्मन् ! आप दस करोड़ गायें अथवा मेरा राज्य

* गौओंके मस्तक आदि छः अङ्गोंका बड़ा एवं विस्तृत होना शुभ माना गया है । जैसा कि शास्त्रका वचन है—

शिरो ग्रीवा सक्थिनी च सास्ना पुच्छमथ स्तनाः ।
शुभान्येतानि धेनूनामायतानि प्रचक्षते ॥

† गौओंका ललाट, दोनों नेत्र और दोनों कान—ये पाँच अङ्ग पृथु (पुष्ट एवं विस्तृत) हों तो विद्वानोंद्वारा अच्छे माने जाते हैं । जैसा कि शास्त्रका वचन है—

ललाटं श्रवणौ चैव नयनद्वितयं तथा ।
पृथून्येतानि शस्यन्ते धेनूनां पञ्च सूरिभिः ॥

लेकर इस नन्दिनीको मुझे दे दें। महामुने ! इसे देकर आप राज्य भोग करें ॥ १६½ ॥

वसिष्ठ उवाच

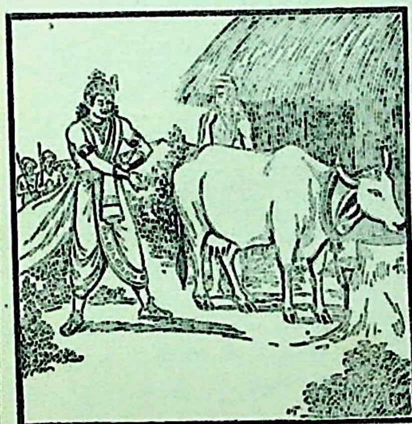
देवतातिथिपित्रर्थं याज्यार्थं च पयस्विनी ॥ १७ ॥
अदेया नन्दिनीयं वै राज्येनापि तवानघ ।

वसिष्ठजीने कहा—अनघ ! देवता, अतिथि और पितरोंकी पूजा एवं यज्ञके हविष्य आदिके लिये यह दुधारू गाय नन्दिनी अपने यहाँ रहती है, इसे तुम्हारा राज्य लेकर भी नहीं दिया जा सकता ॥ १७½ ॥

विश्वामित्र उवाच

क्षत्रियोऽहं भवान् विप्रस्तपःस्वाध्यायसाधनः ॥ १८ ॥

विश्वामित्रजी बोले—मैं क्षत्रिय राजा हूँ और आप तपस्या तथा स्वाध्यायका साधन करनेवाले ब्राह्मण हैं ॥ १८ ॥



ब्राह्मणेषु कुतो वीर्यं प्रशान्तेषु धृतात्मसु ।
अर्बुदेन गवां यस्त्वं न ददासि ममेप्सितम् ॥ १९ ॥
स्वधर्मं न प्रहास्यामि नेष्यामि च बलेन गाम् ।
(क्षत्रियोऽस्मि न विप्रोऽहं बाहुवीर्योऽस्मि धर्मतः ।
तस्माद् भुजबलेनेमां हरिष्यामीह पश्यतः ॥)

ब्राह्मण अत्यधिक शान्त और जितात्मा होते हैं। उनमें बल और पराक्रम कहाँसे आ सकता है; फिर क्या बात है जो आप मेरी अभीष्ट वस्तुको एक अर्बुद गाय लेकर भी नहीं दे रहे हैं। मैं अपना धर्म नहीं छोड़ूँगा, इस गायको बलपूर्वक ले जाऊँगा। मैं क्षत्रिय हूँ, ब्राह्मण नहीं हूँ। मुझे धर्मतः अपना बाहुबल प्रकट करनेका अधिकार है; अतः बाहुबलसे ही आपके देखते-देखते इस गायको हर ले जाऊँगा ॥ १९½ ॥

वसिष्ठ उवाच

बलस्थश्चासि राजा च बाहुवीर्यश्च क्षत्रियः ॥ २० ॥
यथेच्छसि तथा क्षिप्रं कुरु मा त्वं विचारय ।

वसिष्ठजीने कहा—तुम सेनाके साथ हो, राजा हो और अपने बाहुबलका भरोसा रखनेवाले क्षत्रिय हो। जैसी तुम्हारी इच्छा हो वैसा शीघ्र कर डालो, विचार न करो ॥ २०½ ॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्तथा पार्थ विश्वामित्रो बलादिव ॥ २१ ॥
हंसचन्द्रप्रतीकाशां नन्दिनीं तां जहार गाम् ।
कशादण्डप्रणुदितां काल्यमानामितस्ततः ॥ २२ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! वसिष्ठजीके यों कहनेपर विश्वामित्रने मानो बलपूर्वक ही हंस और चन्द्रमाके समान श्वेत रंगवाली उस नन्दिनी गायका अपहरण कर लिया। उसे कोड़ों और डंडोंसे मार-मारकर इधर-उधर हाँका जा रहा था ॥ २१-२२ ॥

हम्भायमाना कल्याणी वसिष्ठस्याथ नन्दिनी ।
आगम्याभिमुखी पार्थ तस्थौ भगवदुन्मुखी ॥ २३ ॥
भृशं च ताड्यमाना वै न जगामाश्रमात् ततः ।

अर्जुन ! उस समय कल्याणमयी नन्दिनी डकराती हुई महर्षि वसिष्ठके सामने आकर खड़ी हो गयी और उन्हींकी ओर मुँह करके देखने लगी। उसके ऊपर जोर-जोरसे मार पड़ रही थी, तो भी वह आश्रमसे अन्यत्र नहीं गयी ॥ २३½ ॥

वसिष्ठ उवाच

शृणोमि ते रवं भद्रे विनदन्त्याः पुनः पुनः ॥ २४ ॥
ह्रियसे त्वं बलाद् भद्रे विश्वामित्रेण नन्दिनि ।
किं कर्तव्यं मया तत्र क्षमावान् ब्राह्मणो ह्यहम् ॥ २५ ॥

वसिष्ठजी बोले—भद्रे ! तुम बार-बार क्रन्दन कर रही हो। मैं तुम्हारा आर्तनाद सुनता हूँ, परंतु क्या करूँ ? कल्याणमयी नन्दिनि ! विश्वामित्र तुम्हें बलपूर्वक हर ले जा रहे हैं। इसमें मैं क्या कर सकता हूँ। मैं एक क्षमाशील ब्राह्मण हूँ ॥ २४-२५ ॥

गन्धर्व उवाच

सा भयान्नन्दिनी तेषां बलानां भरतर्षभ ।
विश्वामित्रभयोद्विग्ना वसिष्ठं समुपागमत् ॥ २६ ॥

गन्धर्व कहता है—भरतवंशशिरोमणे ! नन्दिनी विश्वामित्रके भयसे उद्विग्न हो उठी थी। वह उनके सैनिकोंके भयसे मुनिवर वसिष्ठकी शरणमें गयी ॥ २६ ॥

गौरुवाच

कशाग्रदण्डाभिहतां क्रोशन्तीं मामनाथवत् ।
विश्वामित्रबलैर्घोरैर्भगवन् किमुपेक्षसे ॥ २७ ॥

गौने कहा—भगवन् ! विश्वामित्रके निर्दय सैनिक मुझे कोड़ों और डंडोंसे पीट रहे हैं। मैं अनाथकी भाँति क्रन्दन कर रही हूँ। आप क्यों मेरी उपेक्षा कर रहे हैं ? ॥ २७ ॥

गन्धर्व उवाच

नन्दिन्यामेवं क्रन्दन्त्यां धर्षितायां महामुनिः ।
न चुक्षुभे तदा धैर्यान्न चचाल धृतव्रतः ॥ २८ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! नन्दिनी इस प्रकार अपमानित होकर करुण-क्रन्दन कर रही थी, तो भी दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करनेवाले महामुनि वसिष्ठ न तो क्षुब्ध हुए और न धैर्यसे ही विचलित हुए ॥ २८ ॥

वसिष्ठ उवाच

क्षत्रियाणां बलं तेजो ब्राह्मणानां क्षमा बलम् ।
क्षमा मां भजते यस्माद् गम्यतां यदि रोचते ॥ २९ ॥

वसिष्ठजी बोले—भद्रे ! क्षत्रियोंका बल उनका तेज है और ब्राह्मणोंका बल उनकी क्षमा है । चूँकि मुझे क्षमा अपनाये हुए है, अतः तुम्हारी रुचि हो, तो जा सकती हो ॥ २९ ॥

नन्दिन्युवाच

किं नु त्यक्तास्मि भगवन् यदेवं त्वं प्रभाषसे ।
अत्यक्ताहं त्वया ब्रह्मन् नेतुं शक्या न वै बलात् ॥ ३० ॥

नन्दिनीने कहा—भगवन् ! क्या आपने मुझे त्याग दिया, जो ऐसी बात कहते हैं ? ब्रह्मन् ! आपने त्याग न दिया हो, तो कोई मुझे बलपूर्वक नहीं ले जा सकता ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

न त्वां त्यजामि कल्याणि स्थीयतां यदि शक्यते ।
दृढेन दाम्ना बद्ध्वैष वत्सस्ते ह्रियते बलात् ॥ ३१ ॥

वसिष्ठजी बोले—कल्याणि ! मैं तुम्हारा त्याग नहीं करता । तुम यदि रह सको तो यहीं रहो । यह तुम्हारा बछड़ा मजबूत रस्सीसे बाँधकर बलपूर्वक ले जाया जा रहा है ॥

गन्धर्व उवाच

स्थीयतामिति तच्छ्रुत्वा वसिष्ठस्य पयस्विनी ।
ऊर्ध्वाञ्चितशिरोग्रीवा प्रबभौ रौद्रदर्शना ॥ ३२ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! 'यहीं रहो' वसिष्ठजीका यह वचन सुनकर नन्दिनीने अपने सिर और गर्दनको ऊपरकी ओर उठाया । उस समय वह देखनेमें बड़ी भयानक जान पड़ती थी ॥ ३२ ॥

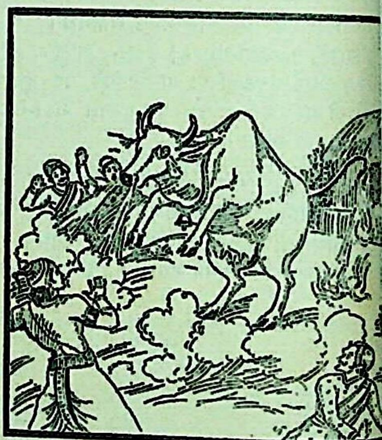
क्रोधरक्तेक्षणा सा गौर्हम्भारवघनस्वना ।
विश्वामित्रस्य तत् सैन्यं व्यद्रावयत सर्वशः ॥ ३३ ॥

क्रोधसे उसकी आँखें लाल हो गयी थीं । उसके डकरानेकी आवाज जोर-जोरसे सुनायी देने लगी । उसने विश्वामित्रकी उस सेनाको चारों ओर खदेड़ना शुरू किया ॥ ३३ ॥

कशाग्रदण्डाभिहता काल्यमाना ततस्ततः ।
क्रोधरक्तेक्षणा क्रोधं भूय एव समाददे ॥ ३४ ॥

कोड़ोंके अग्रभाग और डंडोंसे मार-मारकर इधर-उधर हाँके जानेके कारण उसके नेत्र पहलेसे ही क्रोधके कारण रक्त हो गये थे । फिर उसने और भी क्रोध धारण किया ॥ ३

आदित्य इव मध्याह्ने क्रोधदीप्तवपुर्बभौ ।



अङ्गारवर्षं मुञ्चन्ती मुहुर्वालधितो महत् ॥ ३
असृजत् पह्लवान् पुच्छात् प्रस्रवाद् द्रविडाञ्छका
योनिदेशाच्च यवनान् शकृतः शबरान् बहून् ॥ ३

क्रोधके कारण उसके शरीरसे अपूर्व दीप्ति प्रकट हो यी । वह दोपहरके सूर्यकी भाँति उद्भासित हो उठी । अ अपनी पूँछसे बारंबार अङ्गारकी भारी वर्षा करते हुए ही पह्लवोंकी सृष्टि की, थनोंसे द्रविड़ों और शकोंको उत्प किया, योनिदेशसे यवनों और गोबरसे बहुतेरे शबरों जन्म दिया ॥ ३५-३६ ॥

मूत्रतश्चासृजत् कांश्चिच्छबरांश्चैव पार्श्वतः ।
पौण्ड्रान् किरातान् यवनान् सिंहलान् बर्बरान् खसा

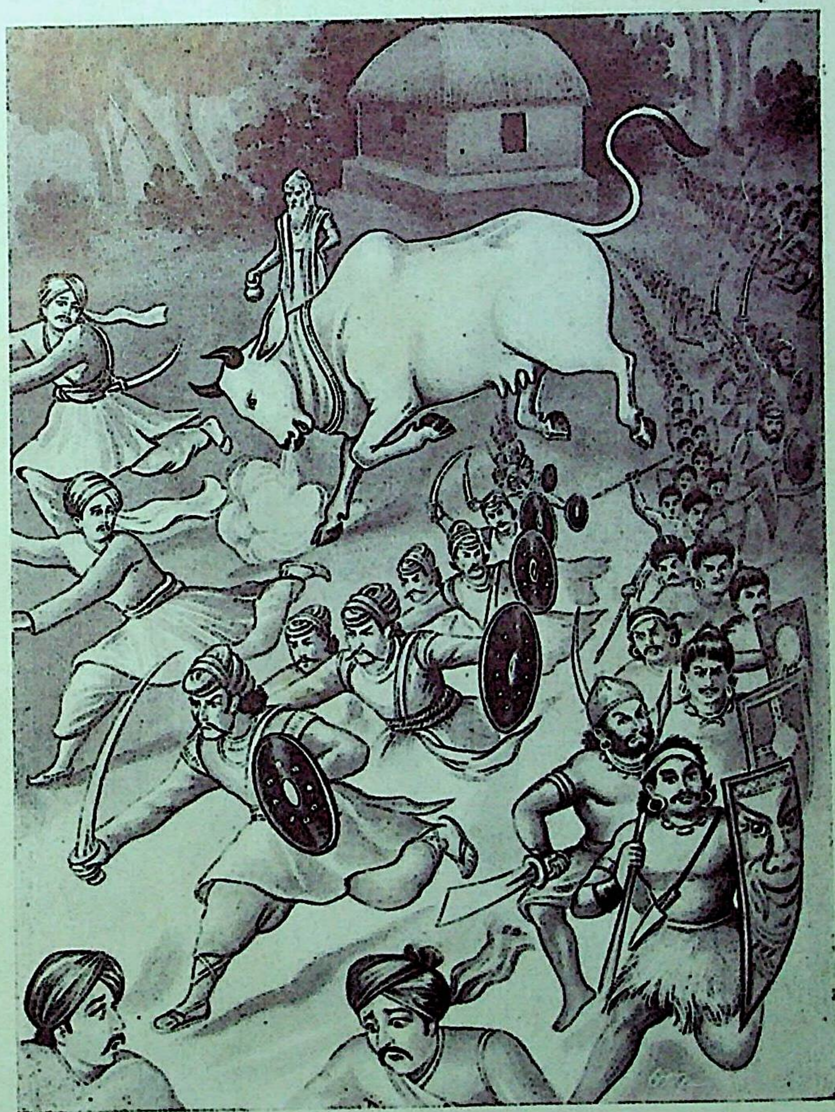
कितने ही शबर उसके मूत्रसे प्रकट हुए । उसके पा भागसे पौण्ड्र, किरात, यवन, सिंहल, बर्बर और खसों सृष्टि हुई ॥ ३७ ॥

चिबुकांश्च पुलिन्दांश्च चीनान् हूणान् स केरलान्
ससर्ज फेनतः सा गौर्म्लेच्छान् बहुविधानपि ॥ ३८

इसी प्रकार उस गौने फेनसे चिबुक, पुलिन्द, ची हूण, केरल आदि बहुत प्रकारके म्लेच्छोंकी सृष्टि की॥३८

तैर्विसृष्टैर्महासैन्यैर्नानाम्लेच्छगणैस्तदा ।
नानावरणसंछन्नैर्नानायुधधरैस्तथा ॥ ३९
अवाकीर्यत संरब्धैर्विश्वामित्रस्य पश्यतः ।
एकैकश्च तदा योधः पञ्चभिः सप्तभिर्वृतः ॥ ४०

उसके द्वारा रचे गये नाना प्रकारके म्लेच्छगणोंकी विशाल सेनाएँ जो अनेक प्रकारके कवच आदिसे आच्छा



विश्वामित्रकी सेनापर नन्दिनीका कोप

थीं। सबने भाँति-भाँतिके आयुध धारण कर रक्खे थे और सभी सैनिक क्रोधमें भरे हुए थे। उन्होंने विश्वामित्रके देखते-देखते उनकी सेनाको तितर-बितर कर दिया। विश्वामित्रके एक-एक सैनिकको म्लेच्छ-सेनाके पाँच-पाँच, सात-सात योद्धाओंने घेर रक्खा था॥ ३९-४०॥

अस्त्रवर्षेण महता वध्यमानं बलं तदा।
प्रभग्नं सर्वतस्त्रस्तं विश्वामित्रस्य पश्यतः॥ ४१॥

उस समय अस्त्र-शस्त्रोंकी भारी वर्षासे घायल होकर विश्वामित्रकी सेनाके पाँव उखड़ गये और उनके सामने ही वे सभी योद्धा भयभीत हो सब ओर भाग चले॥ ४१॥

न च प्राणैर्वियुज्यन्ते केचित् तत्रास्य सैनिकाः।
विश्वामित्रस्य संक्रुद्धैर्वासिष्ठैर्भरतर्षभ॥ ४२॥

भरतश्रेष्ठ! क्रोधमें भरे हुए होनेपर भी वसिष्ठसेनाके सैनिक विश्वामित्रके किसी भी योद्धाका प्राण नहीं लेते थे॥ ४२॥

सा गौस्तत् सकलं सैन्यं कालयामास दूरतः।
विश्वामित्रस्य तत् सैन्यं काल्यमानं त्रियोजनम्॥ ४३॥
क्रोशमानं भयोद्विग्नं त्रातारं नाध्यगच्छत।

इस प्रकार नन्दिनी गायने उनकी सारी सेनाको दूर भगा दिया। विश्वामित्रकी वह सेना तीन योजनतक खदेड़ी गयी। वह सेना भयसे व्याकुल होकर चीखती-चिल्लाती रही; किंतु कोई भी संरक्षक उसे नहीं मिला॥ ४३½॥

(विश्वामित्रस्ततो दृष्ट्वा क्रोधाविष्टः स रोदसी।
ववर्ष शरवर्षाणि वसिष्ठे मुनिसत्तमे॥
घोररूपांश्च नाराचान् क्षुरान् भल्लान् महामुनिः।
विश्वामित्रप्रयुक्तांस्तान् वैणवेन व्यमोचयत्॥
वसिष्ठस्य तदा दृष्ट्वा कर्मकौशलमाहवे॥
विश्वामित्रोऽपि कोपेन भूयः शत्रुनिपातनः।
दिव्यास्त्रवर्षं तस्मै तु प्राहिणोन्मुनये रुषा॥
आग्नेयं वारुणं चैन्द्रं याम्यं वायव्यमेव च।
विससर्ज महाभागे वसिष्ठे ब्रह्मणः सुते॥
अस्त्राणि सर्वतो ज्वालां विसृजन्ति प्रपेदिरे।
युगान्तसमये घोराः पतङ्गस्येव रश्मयः॥
वसिष्ठोऽपि महातेजा ब्रह्मशक्तिप्रयुक्तया।
यष्ट्या निवारयामास सर्वान्यस्त्राणि स स्मयन्॥
ततस्ते भस्मसाद्भूताः पतन्ति स्म महीतले।
अपोह्य दिव्यान्यस्त्राणि वसिष्ठो वाक्यमब्रवीत्॥

यह देखकर विश्वामित्र क्रोधसे व्याप्त हो मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको लक्षित करके पृथिवी और आकाशमें बाणोंकी वर्षा करने लगे; परंतु महामुनि वसिष्ठने विश्वामित्रके चलाये हुए भयंकर नाराच, क्षुर और भल्ल नामक बाणोंका केवल बाँसकी छड़ीसे निवारण कर दिया। युद्धमें वसिष्ठ मुनिका वह कार्य-कौशल देखकर शत्रुओंको मार गिरानेवाले विश्वामित्र भी पुनः कुपित हो महर्षि वसिष्ठपर रोषपूर्वक दिव्यास्त्रोंकी वर्षा करने लगे। उन्होंने ब्रह्माजीके पुत्र महाभाग वसिष्ठपर आग्नेयास्त्र, वारुणास्त्र, ऐन्द्रास्त्र, याम्यास्त्र और वायव्यास्त्रका प्रयोग किया। वे सब अस्त्र प्रलयकालके सूर्यकी प्रचण्ड किरणोंके समान सब ओरसे आगकी लपटें छोड़ते हुए महर्षिपर टूट पड़े; परंतु महातेजस्वी वसिष्ठने मुसकराते हुए ब्राह्मबलसे प्रेरित हुई छड़ीके द्वारा इन सब अस्त्रोंको पीछे लौटा दिया। फिर तो वे सभी अस्त्र भस्मीभूत होकर पृथ्वीपर गिर पड़े। इस प्रकार उन दिव्यास्त्रोंका निवारण करके वसिष्ठजीने विश्वामित्रसे यह बात कही॥

वसिष्ठ उवाच

निर्जितोऽसि महाराज दुरात्मन् गाधिनन्दन।
यदि तेऽस्ति परं शौर्यं तद् दर्शय मयि स्थिते॥

वसिष्ठजी बोले—महाराज दुरात्मा गाधिनन्दन! अब तू परास्त हो चुका है। यदि तुझमें और भी उत्तम पराक्रम है तो मेरे ऊपर दिखा। मैं तेरे सामने डटकर खड़ा हूँ॥

गन्धर्व उवाच

विश्वामित्रस्तथा चोक्तो वसिष्ठेन नराधिप।
नोवाच किंचिद् व्रीडाढ्यो विद्रावितमहाबलः॥)

गन्धर्व कहता है—राजन्! विश्वामित्रकी वह विशाल सेना खदेड़ी जा चुकी थी। वसिष्ठके द्वारा पूर्वोक्तरूपसे ललकारे जानेपर वे लज्जित होकर कुछ भी उत्तर न दे सके॥

दृष्ट्वा तन्महदाश्चर्यं ब्रह्मतेजोभवं तदा॥ ४४॥
विश्वामित्रः क्षत्रभावान्निर्विण्णो वाक्यमब्रवीत्।
धिग् बलं क्षत्रियबलं ब्रह्मतेजोबलं बलम्॥ ४५॥

ब्रह्मतेजका यह अत्यन्त आश्चर्यजनक चमत्कार देखकर विश्वामित्र क्षत्रियत्वसे खिन्न एवं उदासीन हो यह बात बोले—'क्षत्रिय-बल तो नाममात्रका ही बल है, उसे धिक्कार है। ब्रह्मतेजजनित बल ही वास्तविक बल है'॥ ४४-४५॥

बलाबलं विनिश्चित्य तप एव परं बलम्।
स राज्यं स्फीतमुत्सृज्य तां च दीप्तां नृपश्रियम्॥ ४६॥
भोगांश्च पृष्ठतः कृत्वा तपस्येव मनो दधे।
स गत्वा तपसा सिद्धिं लोकान् विष्टभ्य तेजसा॥ ४७॥
तताप सर्वान् दीप्तौजा ब्राह्मणत्वमवाप्तवान्।
अपिबच्च ततः सोममिन्द्रेण सह कौशिकः॥ ४८॥

इस प्रकार बलाबलका विचार करके उन्होंने तपस्याको ही सर्वोत्तम बल निश्चित किया और अपने समृद्धिशाली राज्य तथा देदीप्यमान राज्यलक्ष्मीको छोड़कर, भोगोंको पीछे

करके तपस्यामें ही मन लगाया । इस तपस्यासे सिद्धिको प्राप्त हो उद्दीप्त तेजवाले विश्वामित्रजीने अपने प्रभावसे सम्पूर्ण लोकों- को स्तब्ध एवं संतप्त कर दिया और (अन्ततोगत्वा) ब्रा प्राप्त कर लिया; फिर वे इन्द्रके साथ सोमपान करने

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे विश्वामित्रपराभवे चतुःसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठजीके चरित्रके प्रसङ्गमें विश्वामित्रपराभवविषयक एक सौ चौह अध्याय पूरा हुआ ॥ १७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०½ श्लोक मिलाकर कुल ५८½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

शक्तिके शापसे कल्मापपादका राक्षस होना, विश्वामित्रकी प्रेरणासे राक्षसद्वारा वसिष्ठके पुत्रोंका भक्षण और वसिष्ठका शोक

गन्धर्व उवाच

कल्मापपाद इत्येवं लोके राजा बभूव ह ।
इक्ष्वाकुवंशजः पार्थ तेजसासदृशो भुवि ॥ १ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! इक्ष्वाकुवंशमें एक राजा हुए, जो लोकमें कल्मापपादके नामसे प्रसिद्ध थे । इस पृथ्वीपर वे एक असाधारण तेजस्वी राजा थे ॥ १ ॥

स कदाचिद् वनं राजा मृगयां निर्ययौ पुरात् ।
मृगान् विध्यन् वराहांश्च चचार रिपुमर्दनः ॥ २ ॥

एक दिन वे नगरसे निकलकर वनमें हिंसक पशुओंको मारनेके लिये गये । वहाँ वे रिपुमर्दन नरेश वराहों और अन्य हिंसक पशुओंको मारते हुए इधर-उधर विचरने लगे ॥ २ ॥

तस्मिन् वने महाघोरे खड्गांश्च बहुशोऽहनत् ।
हत्वा च सुचिरं श्रान्तो राजा निववृते ततः ॥ ३ ॥

उस महाभयानक वनमें उन्होंने बहुत-से गैंडे भी मारे । बहुत देरतक हिंस्र पशुओंको मारकर जब राजा थक गये, तब वहाँसे नगरकी ओर लौटे ॥ ३ ॥

अकामयत् तं याज्यार्थे विश्वामित्रः प्रतापवान् ।
स तु राजा महात्मानं वासिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ ४ ॥
तृषार्तश्च क्षुधार्तश्च एकायनगतः पथि ।
अपश्यदजितः संख्ये मुनिं प्रतिमुखागतम् ॥ ५ ॥

प्रतापी विश्वामित्र उन्हें अपना यजमान बनाना चाहते थे । राजा कल्मापपाद युद्धमें कभी पराजित नहीं होते थे । उस दिन वे भूख-प्याससे पीड़ित थे और ऐसे तंग रास्तेपर आ पहुँचे थे, जहाँ एक ही आदमी आ-जा सकता था । वहाँ आनेपर उन्होंने देखा, सामनेकी ओरसे मुनिश्रेष्ठ महामना वसिष्ठकुमार आ रहे हैं ॥ ४-५ ॥

शक्तिं नाम महाभागं वसिष्ठकुलवर्धनम् ।
ज्येष्ठं पुत्रं पुत्रशताद् वसिष्ठस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

वे वसिष्ठजीके वंशकी वृद्धि करनेवाले महाभाग शक्ति थे । महात्मा वसिष्ठजीके सौ पुत्रोंमें सबसे बड़े वे ही थे ॥ ६ ॥

अपगच्छ पथोऽस्माकमित्येवं पार्थिवोऽब्रवीत् ।
तथा ऋषिरुवाचैनं सान्त्वयञ्श्लक्ष्णया गिरा ॥ ७ ॥

उन्हें देखकर राजाने कहा—'हमारे रास्तेसे हट जा तब शक्ति मुनिने मधुर वाणीमें उन्हें समझाते हुए

मम पन्था महाराज धर्म एष सनातनः ।
राज्ञा सर्वेषु धर्मेषु देयः पन्था द्विजातये ॥ ८ ॥

'महाराज ! मार्ग तो मुझे ही मिलना चाहिये सनातन धर्म है । सभी धर्मोंमें राजाके लिये यही उ कि वह ब्राह्मणको मार्ग दे' ॥ ८ ॥

एवं परस्परं तौ तु पथोऽर्थं वाक्यमूचतुः ।
अपसर्पापसर्पेति वागुत्तरमकुर्वताम् ॥ ९ ॥

इस प्रकार वे दोनों आपसमें रास्तेके लिये वाग्युद्ध लगे । एक कहता, 'तुम हटो' तो दूसरा कहता, ' तुम हटो ।' इस प्रकार वे उत्तर-प्रत्युत्तर करने लगे ॥

ऋषिस्तु नापचक्राम तस्मिन् धर्मपथे स्थितः ।
नापि राजा मुनेर्मानात् क्रोधाच्चाथ जगाम ह ॥ १
अमुञ्चन्तं तु पन्थानं तमृषिं नृपसत्तमः ।
जघान कशया मोहात् तदा राक्षसवन्मुनिम् ॥ १

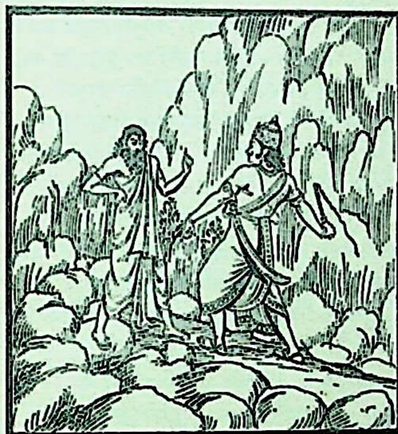
ऋषि तो धर्मके मार्गमें स्थित थे, अतः वे रास्ता छो नहीं हटे । उधर राजा भी मान और क्रोधके वशीभू मुनिके मार्गसे इधर-उधर नहीं हट सके । राजाओंमें कल्मापपादने मार्ग न छोड़नेवाले शक्ति मुनिके ऊपर राक्षसकी भाँति कोड़ेसे आघात किया ॥ १०-११ ॥

कशाप्रहाराभिहतस्ततः स मुनिसत्तमः ।
तं शशाप नृपश्रेष्ठं वासिष्ठः क्रोधमूर्च्छितः ॥ १

कोड़ेकी चोट खाकर मुनिश्रेष्ठ शक्तिने क्रोधसे मू हो उन उत्तम नरेशको शाप दे दिया ॥ १२ ॥

हंसि राक्षसवद् यस्माद् राजापसद तापसम् ।
तस्मात् त्वमद्यप्रभृति पुरुषादो भविष्यसि ॥ १
मनुष्यपिशिते सक्तश्चरिष्यसि महीमिमाम् ।
गच्छ राजाधमेत्युक्तः शक्तिना वीर्यशक्तिना ॥ १

तपस्याकी प्रबल शक्तिसे सम्पन्न शक्तिमुनिने क 'राजाओंमें नीच कल्मापपाद ! तू एक तपस्वी ब्रा



राक्षसकी भाँति मार रहा है; इसलिये आजसे नरभक्षी राक्षस हो जायगा तथा अबसे तू मनुष्योंके मांसमें आसक्त होकर इस पृथ्वीपर विचरता रहेगा। नृपाधम ! जा यहाँसे' ॥१३-१४॥

ततो याज्यनिमित्ते तु विश्वामित्रवसिष्ठयोः।
वैरमासीत् तदा तं तु विश्वामित्रोऽन्वपद्यत ॥ १५ ॥

उन्हीं दिनों यजमानके लिये विश्वामित्र और वसिष्ठमें वैर चल रहा था। उस समय विश्वामित्र राजा कल्माषपादके पास आये ॥ १५ ॥

तयोर्विवदतोरेवं समीपमुपचक्रमे।
ऋषिरुग्रतपाः पार्थ विश्वामित्रः प्रतापवान् ॥ १६ ॥

अर्जुन ! जब राजा तथा ऋषिपुत्र दोनों इस प्रकार विवाद कर रहे थे, उग्रतपस्वी प्रतापी विश्वामित्र मुनि उनके निकट चले गये ॥ १६ ॥

ततः स बुबुधे पश्चात् तमृषिं नृपसत्तमः।
ऋषेः पुत्रं वसिष्ठस्य वसिष्ठमिव तेजसा ॥ १७ ॥

तदनन्तर नृपश्रेष्ठ कल्माषपादने वसिष्ठके समान तेजस्वी वसिष्ठ मुनिके पुत्र उन महर्षि शक्तिको पहचाना ॥ १७ ॥

अन्तर्धाय तदाऽऽत्मानं विश्वामित्रोऽपि भारत।
तावुभावतिचक्राम चिकीर्षन्नात्मनः प्रियम् ॥ १८ ॥

भारत ! तब विश्वामित्रजीने भी अपनेको अदृश्य करके अपना प्रिय करनेकी इच्छासे राजा और शक्ति दोनोंको चकमा दिया ॥ १८ ॥

स तु शप्तस्तदा तेन शक्तिना वै नृपोत्तमः।
जगाम शरणं शक्तिं प्रसादयितुमर्हयन् ॥ १९ ॥

जब शक्तिने शाप दे दिया, तब नृपतिशिरोमणि कल्माषपाद उनकी स्तुति करते हुए उन्हें प्रसन्न करनेके लिये उनके शरण होने चले ॥ १९ ॥

तस्य भावं विदित्वा स नृपतेः कुरुसत्तम।
विश्वामित्रस्ततो रक्ष आदिदेश नृपं प्रति ॥ २० ॥

कुरुश्रेष्ठ ! राजाके मनोभावको समझकर उक्त विश्वामित्रजीने एक राक्षसको राजाके भीतर प्रवेश करनेके लिये आज्ञा दी ॥ २० ॥

शापात् तस्य तु विप्रर्षेर्विश्वामित्रस्य चाज्ञया।
राक्षसः किंकरो नाम विवेश नृपतिं तदा ॥ २१ ॥

ब्रह्मर्षि शक्तिके शाप तथा विश्वामित्रजीकी आज्ञासे किंकर नामक राक्षसने तब राजाके भीतर प्रवेश किया ॥ २१ ॥

रक्षसा तं गृहीतं तु विदित्वा मुनिसत्तमः।
विश्वामित्रोऽप्यपाक्रामत् तस्माद् देशादरिंदम ॥ २२ ॥

शत्रुसूदन ! राक्षसने राजाको आविष्ट कर लिया है, यह जानकर मुनिवर विश्वामित्रजी भी उस स्थानसे चले गये ॥ २२ ॥

ततः स नृपतिस्तेन रक्षसान्तर्गतेन वै।
बलवत् पीडितः पार्थ नान्वबुध्यत किंचन ॥ २३ ॥

कुन्तीनन्दन ! भीतर घुसे हुए राक्षससे अत्यन्त पीड़ित हो उन नरेशको किसी भी बातकी सुध-बुध न रही ॥ २३ ॥

ददर्शाथ द्विजः कश्चिद् राजानं प्रस्थितं वनम्।
अयाचत क्षुधापन्नः समांसं भोजनं तदा ॥ २४ ॥

एक दिन किसी ब्राह्मणने (राक्षससे आविष्ट) राजाको वनकी ओर जाते देखा और भूखसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण उनसे मांसयुक्त भोजन माँगा ॥ २४ ॥

तमुवाचाथ राजर्षिर्द्विजं मित्रसहस्तदा।
आस्स्व ब्रह्मंस्त्वमत्रैव मुहूर्तं प्रतिपालयन् ॥ २५ ॥

तब राजर्षि मित्रसह (कल्माषपाद) ने उस द्विजसे कहा 'ब्रह्मन् ! आप यहीं बैठिये और दो घड़ीतक प्रतीक्षा कीजिये ॥ २५ ॥

निवृत्तः प्रतिदास्यामि भोजनं ते यथेप्सितम्।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजा तस्थौ च द्विजसत्तमः ॥ २६ ॥

'मैं वनसे लौटनेपर आपको यथेष्ट भोजन दूँगा।' यह कहकर राजा चले गये और वह ब्राह्मण (वहाँ) ठहर गया ॥ २६ ॥

ततो राजा परिक्रम्य यथाकामं यथासुखम्।
निवृत्तोऽन्तःपुरं पार्थ प्रविवेश महामनाः ॥ २७ ॥

पार्थ ! तत्पश्चात् महामना राजा मित्रसह इच्छानुसार मौजसे घूम-फिरकर जब लौटे, तब अन्तःपुरमें चले गये ॥ २७ ॥

ततोऽर्धरात्र उत्थाय सूदमानाय्य सत्वरम्।
उवाच राजा संस्मृत्य ब्राह्मणस्य प्रतिश्रुतम् ॥ २८ ॥
गच्छामुष्मिन् वनोद्देशे ब्राह्मणो मां प्रतीक्षते।
अन्नार्थी तं त्वमन्नेन समांसेनोपपादय ॥ २९ ॥

वहाँ आधी रातके समय उन्हें ब्राह्मणको भोजन देनेकी प्रतिज्ञाका स्मरण हुआ। फिर तो वे उठ बैठे और तुरंत रसोइयेको बुलाकर बोले—'जाओ, वनके अमुक प्रदेशमें

एक ब्राह्मण भोजनके लिये मेरी प्रतीक्षा करता है। उसे तुम मांसयुक्त भोजनसे तृप्त करो' ॥ २८-२९ ॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्ततः सूदः सोऽनासाद्यामिषं क्वचित्।
निवेदयामास तदा तस्मै राज्ञे व्यथान्वितः ॥ ३० ॥

गन्धर्व कहता है—उनके यों कहनेपर रसोइयेने मांसके लिये खोज की; परंतु जब कहीं भी मांस नहीं मिला, तब उसने दुखी होकर राजाको इस बातकी सूचना दी ॥ ३० ॥

राजा तु रक्षसाऽऽविष्टः सूदमाह गतव्यथः।
अप्येनं नरमांसेन भोजयेति पुनः पुनः ॥ ३१ ॥

राजापर राक्षसका आवेश था, अतः उन्होंने रसोइयेसे निश्चिन्त होकर कहा- 'उस ब्राह्मणको मनुष्यका मांस ही खिला दो' यह बात उन्होंने बार-बार दुहरायी ॥ ३१ ॥

तथेत्युक्त्वा ततः सूदः संस्थानं वध्यघातिनाम्।
गत्वाऽऽजहार त्वरितो नरमांसमपेतभीः ॥ ३२ ॥

तब रसोइया 'तथास्तु' कहकर वध्यभूमिमें जल्लादोंके घर गया और (उनसे) निर्भय होकर तुरंत ही मनुष्यका मांस ले आया॥

एतत् संस्कृत्य विधिवदन्नोपहितमाशु वै।
तस्मै प्रादाद् ब्राह्मणाय क्षुधिताय तपस्विने ॥ ३३ ॥

फिर उसीको तुरंत विधिपूर्वक राँधकर अन्नके साथ उस उस तपस्वी एवं भूखे ब्राह्मणको दे दिया ॥ ३३ ॥

स सिद्धचक्षुषा दृष्ट्वा तदन्नं द्विजसत्तमः।
अभोज्यमिदमित्याह क्रोधपर्याकुलेक्षणः ॥ ३४ ॥

तब उस श्रेष्ठ ब्राह्मणने तपःसिद्ध दृष्टिसे उस अन्नको देखा और 'यह खाने योग्य नहीं है' यों समझकर क्रोधपूर्ण नेत्रोंसे देखते हुए कहा ॥ ३४ ॥

ब्राह्मण उवाच

यस्मादभोज्यमन्नं मे ददाति स नृपाधमः।
तस्मात् तस्यैव मूढस्य भविष्यत्यत्र लोलुपा ॥ ३५ ॥

ब्राह्मणने कहा—वह नीच राजा मुझे न खाने योग्य अन्न दे रहा है, अतः उसी मूर्खकी जिह्वा ऐसे अन्नके लिये लालायित रहेगी ॥ ३५ ॥

सक्तो मानुषमांसेषु यथोक्तः शक्तिना तथा।
उद्वेजनीयो भूतानां चरिष्यति महीमिमाम् ॥ ३६ ॥

जैसा कि शक्ति मुनिने कहा है, वह मनुष्योंके मांसमें आसक्त हो समस्त प्राणियोंका उद्वेगपात्र बनकर इस पृथ्वीपर विचरेगा ॥ ३६ ॥

द्विरनुव्याहृते राज्ञः स शापो बलवानभूत्।
रक्षोबलसमाविष्टो विसंज्ञश्चाभवन्नृपः ॥ ३७ ॥

दो बार इस तरहकी बात कही जानेके कारण राजाका शाप प्रबल हो गया। उसके साथ उनमें राक्षसके बलका समावेश हो जानेके कारण राजाकी विवेकशक्ति सर्वथा लुप्त हो गयी॥

ततः स नृपतिश्रेष्ठो रक्षसापहृतेन्द्रियः।
उवाच शक्तिं तं दृष्ट्वा न चिरादिव भारत ॥ ३८ ॥

भारत ! राक्षसने राजाके मन और इन्द्रियोंको काबू कर लिया था, अतः उन नृपश्रेष्ठने कुछ ही दिनों बाद उक्त शक्ति मुनिको अपने सामने देखकर कहा—॥ ३८ ॥

यस्मादसदृशः शापः प्रयुक्तोऽयं मयि त्वया।
तस्मात् त्वत्तः प्रवर्तिष्ये खादितुं पुरुषानहम् ॥ ३९ ॥

'चूँकि तुमने मुझे यह सर्वथा अयोग्य शाप दिया है, अतः अब मैं तुम्हींसे मनुष्योंका भक्षण आरम्भ करूँगा' ॥ ३९ ॥

एवमुक्त्वा ततः सद्यस्तं प्राणैर्विप्रयुज्य च।
शक्तिनं भक्षयामास व्याघ्रः पशुमिवेप्सितम् ॥ ४० ॥

यों कहकर राजाने तत्काल ही शक्तिके प्राण ले लिये और जैसे बाघ अपनी रुचिके अनुकूल पशुको खा जाता है, उसी प्रकार वे भी शक्तिको खा गये ॥ ४० ॥

शक्तिनं तु मृतं दृष्ट्वा विश्वामित्रः पुनः पुनः।
वसिष्ठस्यैव पुत्रेषु तद् रक्षः संदिदेश ह ॥ ४१ ॥

शक्तिको मारा गया देख विश्वामित्र बार-बार वसिष्ठके पुत्रोंपर ही आक्रमण करनेके लिये उस राक्षसको प्रेरित करते थे ॥ ४१ ॥

स ताञ्छक्त्यवरान् पुत्रान् वसिष्ठस्य महात्मनः।
भक्षयामास संक्रुद्धः सिंहः क्षुद्रमृगानिव ॥ ४२ ॥

जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह छोटे मृगोंको खा जाता है, उसी प्रकार उन (राक्षसभावापन्न) नरेशने महात्मा वसिष्ठके उन सब पुत्रोंको भी, जो शक्तिसे छोटे थे, (मारकर) खा लिया ॥ ४२ ॥

वसिष्ठो घातिताञ्छ्रुत्वा विश्वामित्रेण तान् सुतान्।
धारयामास तं शोकं महाद्रिरिव मेदिनीम् ॥ ४३ ॥

वसिष्ठने यह सुनकर भी कि विश्वामित्रने मेरे पुत्रोंको मरवा डाला है, अपने शोकके वेगको उसी प्रकार धारण कर लिया, जैसे महान् पर्वत सुमेरु इस पृथ्वीको ॥ ४३ ॥

चक्रे चात्मविनाशाय बुद्धिं स मुनिसत्तमः।
न त्वेव कौशिकोच्छेदं मेने मतिमतां वरः ॥ ४४ ॥

उस समय (अपनी पुत्रवधुओंके दुःखसे दुःखित हो) वसिष्ठने अपने शरीरको त्याग देनेका विचार कर लिया; परंतु विश्वामित्रका मूलोच्छेद करनेकी बात बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ मुनिवर वसिष्ठके मनमें ही नहीं आयी ॥ ४४ ॥

स मेरुकूटादात्मानं मुमोच भगवानृषिः।
गिरेस्तस्य शिलायां तु तूलराशाविवापतत् ॥ ४५ ॥

महर्षि भगवान् वसिष्ठने मेरुपर्वतके शिखरसे अपने आपको उसी पर्वतकी शिलापर गिराया; परंतु उन्हें ऐसा जान पड़ा मानो वे रूईके ढेरपर गिरे हों ॥ ४५ ॥

न ममार च पातेन स यदा तेन पाण्डव।
तदाग्निमिद्धं भगवान् संविवेश महावने ॥ ४६ ॥

पाण्डुनन्दन ! जब (इस प्रकार) गिरनेसे भी वे नहीं मरे, तब वे भगवान् वसिष्ठ महान् वनके भीतर धधकते हुए दावानलमें घुस गये ॥ ४६ ॥

तं तदा सुसमिद्धोऽपि न ददाह हुताशनः।
दीप्यमानोऽप्यमित्रघ्न शीतोऽग्निरभवत् ततः ॥ ४७ ॥

यद्यपि उस समय अग्नि प्रचण्ड वेगसे प्रज्वलित हो रही थी, तो भी उन्हें जला न सकी। शत्रुसूदन अर्जुन ! उनके प्रभावसे वह दहकती हुई आग भी उनके लिये शीतल हो गयी॥

स समुद्रमभिप्रेक्ष्य शोकाविष्टो महामुनिः।
बद्ध्वा कण्ठे शिलां गुर्वीं निपपात तदाम्भसि ॥ ४८ ॥

तब शोकके आवेशसे युक्त महामुनि वसिष्ठने सामने समुद्र देखकर अपने कण्ठमें बड़ी भारी शिला बाँध ली और तत्काल जलमें कूद पड़े ॥ ४८ ॥

स समुद्रोर्मिवेगेन स्थले न्यस्तो महामुनिः।
न ममार यदा विप्रः कथंचित् संशितव्रतः।
जगाम स ततः खिन्नः पुनरेवाश्रमं प्रति ॥ ४९ ॥

परंतु समुद्रकी लहरोंके वेगने उन महामुनिको किनारे लाकर डाल दिया। कठोर व्रतका पालन करनेवाले ब्रह्मर्षि वसिष्ठ जब किसी प्रकार न मर सके, तब खिन्न होकर अपने आश्रमपर ही लौट पड़े ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे वसिष्ठशोके पञ्चसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठचरित्रके प्रसङ्गमें वसिष्ठशोकविषयक एक सौ पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७५ ॥

षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

कल्माषपादका शापसे उद्धार और वसिष्ठजीके द्वारा उन्हें अश्मक नामक पुत्रकी प्राप्ति

गन्धर्व उवाच

ततो दृष्ट्वाऽऽश्रमपदं रहितं तैः सुतैर्मुनिः।
निर्जगाम सुदुःखार्तः पुनरप्याश्रमात् ततः ॥ १ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन ! तदनन्तर मुनिवर वसिष्ठ आश्रमको अपने पुत्रोंसे सूना देख अत्यन्त दुःखसे पीड़ित हो गये और पुनः आश्रम छोड़कर चल दिये ॥ १ ॥

सोऽपश्यत् सरितं पूर्णां प्रावृट्काले नवाम्भसा।
वृक्षान् बहुविधान् पार्थ हरन्तीं तीरजान् बहून् ॥ २ ॥

कुन्तीनन्दन ! वर्षाका समय था; उन्होंने देखा, एक नदी नूतन जलसे लबालब भरी है और तटवर्ती बहुत-से वृक्षोंको (अपने जलकी धारामें) बहाये लिये जाती है ॥ २ ॥

अथ चिन्तां समापेदे पुनः कौरवनन्दन।
अम्भस्यस्या निमज्जेयमिति दुःखसमन्वितः ॥ ३ ॥

कौरवनन्दन !(उसे देखकर) दुःखसे युक्त वसिष्ठजीके मनमें फिर यह विचार आया कि मैं इसी नदीके जलमें डूब जाऊँ॥

ततः पाशैस्तदाऽऽत्मानं गाढं बद्ध्वा महामुनिः।
तस्या जले महानद्या निममज्ज सुदुःखितः ॥ ४ ॥

तब अत्यन्त दुखी हुए महामुनि वसिष्ठ अपने शरीरको पाशोंद्वारा अच्छी तरह बाँधकर उस महानदीके जलमें कूद पड़े॥

अथ छित्त्वा नदी पाशांस्तस्यारिबलसूदन।
स्थलस्थं तमृषिं कृत्वा विपाशं समवासृजत् ॥ ५ ॥

शत्रुसेनाका संहार करनेवाले अर्जुन ! उस नदीने वसिष्ठजीके बन्धन काटकर उन्हें स्थलमें पहुँचा दिया और उन्हें विपाश (बन्धनरहित) करके छोड़ दिया ॥ ५ ॥

उत्ततार ततः पाशैर्विमुक्तः स महानृषिः।
विपाशेति च नामास्या नद्याश्चक्रे महानृषिः ॥ ६ ॥

तब पाशमुक्त हो महर्षि जलसे निकल आये और उन्होंने उस नदीका नाम 'विपाशा' (व्यास) रख दिया ॥ ६ ॥

शोकबुद्धिं तदा चक्रे न चैकत्र व्यतिष्ठत।
सोऽगच्छत् पर्वतांश्चैव सरितश्च सरांसि च ॥ ७ ॥

उस समय (पुत्रवधुओंके संतोषके लिये) उन्होंने शोक बुद्धि कर ली थी, इसलिये वे किसी एक स्थानमें नहीं ठहरते थे; पर्वतों, नदियों और सरोवरोंके तटपर चक्कर लगाते रहते थे ॥ ७ ॥

दृष्ट्वा स पुनरेवर्षिर्नदीं हैमवतीं तदा।
चण्डग्राहवतीं भीमां तस्याः स्रोतस्यपातयत् ॥ ८ ॥

(इस तरह घूमते-घूमते) महर्षिने पुनः हिमालय पर्वतसे निकली हुई एक भयंकर नदीको देखा, जिसमें बड़े प्रचण्ड ग्राह रहते थे। उन्होंने फिर उसीकी प्रखर धारामें अपने-आपको डाल दिया ।८।

सा तमग्निसमं विप्रमनुचिन्त्य सरिद्वरा।
शतधा विद्रुता यस्माच्छतद्रुरिति विश्रुता ॥ ९ ॥

वह श्रेष्ठ नदी ब्रह्मर्षि वसिष्ठको अग्निके समान तेजस्वी जान सैकड़ों धाराओंमें फूटकर इधर-उधर भाग चली! इसीलिये वह 'शतद्रु' नामसे विख्यात हुई ॥ ९ ॥

ततः स्थलगतं दृष्ट्वा तत्राप्यात्मानमात्मना।
मर्तुं न शक्यमित्युक्त्वा पुनरेवाश्रमं ययौ ॥ १० ॥

वहाँ भी अपनेको स्वयं ही स्थलमें पड़ा देख 'मैं मर नहीं सकता' यों कहकर वे फिर अपने आश्रमपर ही चले गये ॥ १० ॥

स गत्वा विविधाञ्छैलान् देशान् बहुविधांस्तथा।
अदृश्यन्त्याख्यया वध्वाथाश्रमेऽनुसृतोऽभवत् ॥ ११ ॥

इस तरह नाना प्रकारके पर्वतों और बहुसंख्यक देशोंमें भ्रमण करके वे पुनः जब अपने आश्रमके समीप आये, उस समय उनकी पुत्रवधू अदृश्यन्ती उनके पीछे हो ली ॥ ११ ॥

अथ शुश्राव संगत्या वेदाध्ययननिःस्वनम्।
पृष्ठतः परिपूर्णार्थं षड्भिरङ्गैरलंकृतम् ॥ १२ ॥

मुनिको पीछेकी ओरसे संगतिपूर्वक छहों अङ्गोंसे अलंकृत तथा स्फुट अर्थोंसे युक्त वेदमन्त्रोंके अध्ययनका शब्द सुन पड़ा ॥ १२ ॥

अनुव्रजति को न्वेष मामित्येवाथ सोऽब्रवीत्।
अहमित्यदृश्यन्तीमं सा स्नुषा प्रत्यभाषत।
शक्तेर्भार्या महाभाग तपोयुक्ता तपस्विनी ॥ १३ ॥

तब उन्होंने पूछा—'मेरे पीछे-पीछे कौन आ रहा है?' उक्त पुत्रवधूने उत्तर दिया, 'महाभाग! मैं तपमें ही संलग्न रहनेवाली महर्षि शक्तिकी अनाथ पत्नी अदृश्यन्ती हूँ' ॥ १३ ॥

वसिष्ठ उवाच

पुत्रि कस्यैष साङ्गस्य वेदस्याध्ययनस्वनः।
पुरा साङ्गस्य वेदस्य शक्तेरिव मया श्रुतः ॥ १४ ॥

वसिष्ठजीने पूछा—बेटी! पहले शक्तिके मुँहसे मैं अङ्गोंसहित वेदका जैसा पाठ सुना करता था, ठीक उसी प्रकार यह किसके द्वारा किये हुए साङ्ग वेदके अध्ययनकी ध्वनि मेरे कानोंमें आ रही है? ॥ १४ ॥

अदृश्यन्त्युवाच

अयं कुक्षौ समुत्पन्नः शक्तेर्गर्भः सुतस्य ते।
समा द्वादश तस्येह वेदानभ्यस्यतो मुने ॥ १५ ॥

अदृश्यन्ती बोली—भगवन्! यह मेरे उदरमें उत्पन्न हुआ आपके पुत्र शक्तिका बालक है। मुने! उसे मेरे गर्भमें



ही वेदाभ्यास करते बारह वर्ष हो गये हैं ॥ १५ ॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तस्तया हृष्टो वसिष्ठः श्रेष्ठभाग्‌ऋषिः।
अस्ति संतानमित्युक्त्वा मृत्योः पार्थ न्यवर्तत ॥ १६ ॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! अदृश्यन्तीके यों कहनेपर भगवान् पुरुषोत्तमका भजन करनेवाले महर्षि वसिष्ठ बड़े प्रसन्न हुए और 'मेरी वंशपरम्पराका लोप नहीं हुआ है,' यों कहकर मरनेके संकल्पसे विरत हो गये ॥ १६ ॥

ततः प्रतिनिवृत्तः स तया वध्वा सहानघ।
कल्माषपादमासीनं ददर्श विजने वने ॥ १७ ॥

अनघ! तब वे अपनी पुत्रवधूके साथ आश्रमकी ओर लौटने लगे। इतनेमें ही मुनिने निर्जन वनमें बैठे हुए राजा कल्माषपादको देखा ॥ १७ ॥

स तु दृष्ट्वैव तं राजा क्रुद्ध उत्थाय भारत।
आविष्टो रक्षसोग्रेण इयेषात्तुं तदा मुनिम् ॥ १८ ॥

भारत! भयानक राक्षससे आविष्ट हुए राजा कल्माषपाद मुनिको देखते ही क्रोधमें भरकर उठे और उसी समय उन्हें खा जानेकी इच्छा करने लगे ॥ १८ ॥

अदृश्यन्ती तु तं दृष्ट्वा क्रूरकर्माणमग्रतः।
भयसंविग्नया वाचा वसिष्ठमिदमब्रवीत् ॥ १९ ॥

उस क्रूरकर्मा राक्षसको सामने देख अदृश्यन्तीने भयाकुल वाणीमें वसिष्ठजीसे यह कहा—॥ १९ ॥

असौ मृत्युरिवोग्रेण दण्डेन भगवन्नितः।
प्रगृहीतेन काष्ठेन राक्षसोऽभ्येति दारुणः ॥ २० ॥

'भगवन्! वह भयंकर राक्षस एक बहुत बड़ा काठ लेकर इधर ही आ रहा है, मानो साक्षात् यमराज भयानक दण्ड लिये आ रहे हों ॥ २० ॥

तं निवारयितुं शक्तो नान्योऽस्ति भुवि कश्चन ।
त्वदृतेऽद्य महाभाग सर्ववेदविदां वर ॥ २१ ॥

'महाभाग ! आप सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ हैं । (इस समय) इस भूतलपर आपके सिवा दूसरा कोई नहीं है; जो उस राक्षसका वेग रोक सके ॥ २१ ॥

पाहि मां भगवन् पापादस्माद् दारुणदर्शनात् ।
राक्षसोऽयमिहात्तुं वै नूनमावां समीहते ॥ २२ ॥

'भगवन् ! देखनेमें अत्यन्त भयंकर इस पापीसे मेरी रक्षा कीजिये । निश्चय ही यह राक्षस यहाँ हम दोनोंको खा जानेकी घातमें लगा है' ॥ २२ ॥

वसिष्ठ उवाच

मा भैः पुत्रि न भेतव्यं राक्षसात् तु कथंचन ।
नैतद् रक्षो भयं यस्मात् पश्यसि त्वमुपस्थितम् ॥ २३ ॥

वसिष्ठजीने कहा—बेटी ! भयभीत न हो । इस राक्षससे तो किसी प्रकार न डरो । जिससे तुम्हें भय उपस्थित दिखायी देता है, यह वास्तवमें राक्षस नहीं है ॥ २३ ॥

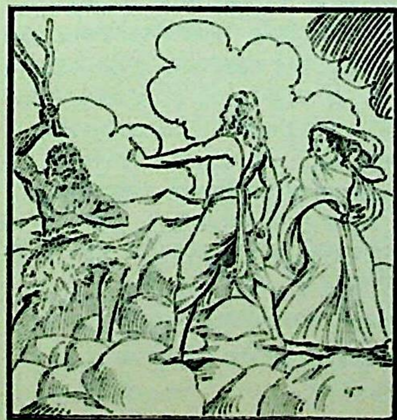
राजा कल्माषपादोऽयं वीर्यवान् प्रथितो भुवि ।
स एषोऽस्मिन् वनोद्देशे निवसत्यतिभीषणः ॥ २४ ॥

ये भूमण्डलमें विख्यात पराक्रमी राजा कल्माषपाद हैं । ये ही इस वनमें अत्यन्त भीषण रूप धारण करके रहते हैं ॥ २४ ॥

गन्धर्व उवाच

तमापतन्तं सम्प्रेक्ष्य वसिष्ठो भगवानृषिः ।
वारयामास तेजस्वी हुंकारेणैव भारत ॥ २५ ॥

गन्धर्व कहता है—भारत ! उस राक्षसको आते देख तेजस्वी भगवान् वसिष्ठ मुनिने हुंकारमात्रसे ही रोक दिया ॥ २५ ॥



मन्त्रपूतेन च पुनः स तमभ्युक्ष्य वारिणा ।
मोक्षयामास वै शापात् तस्माद् योगान्नराधिपम् ॥ २६ ॥

और मन्त्रपूत जलसे उसके छींटे देकर अपने योगके प्रभावसे राजाको उस शापसे मुक्त कर दिया ॥ २६ ॥

स हि द्वादश वर्षाणि वासिष्ठस्यैव तेजसा ।
ग्रस्त आसीद् ग्रहेणेव पर्वकाले दिवाकरः ॥ २७ ॥

जैसे पर्वकालमें सूर्य राहुद्वारा ग्रस्त हो जाता है, उसी प्रकार राजा कल्माषपाद बारह वर्षोंतक वसिष्ठजीके पुत्र शक्तिके ही तेज (शापके प्रभाव) से ग्रस्त रहे ॥ २७ ॥

रक्षसा विप्रमुक्तोऽथ स नृपस्तद् वनं महत् ।
तेजसा रञ्जयामास संध्याभ्रमिव भास्करः ॥ २८ ॥

उस (मन्त्रपूत जलके प्रभावसे) राक्षसने भी राजाको छोड़ दिया । फिर तो भगवान् भास्कर जैसे संध्याकालीन बादलोंको अपनी (अरुण) किरणोंसे रँग देते हैं, उसी प्रकार राजाने अपने (सहज) तेजसे उस महान् वनको अनुरञ्जित कर दिया ॥ २८ ॥

प्रतिलभ्य ततः संज्ञामभिवाद्य कृताञ्जलिः ।
उवाच नृपतिः काले वसिष्ठमृषिसत्तमम् ॥ २९ ॥

तदनन्तर सचेत होनेपर राजा कल्माषपादने तत्काल ही मुनिश्रेष्ठ वसिष्ठको प्रणाम किया और हाथ जोड़कर कहा— ॥

सौदासोऽहं महाभाग याज्यस्ते मुनिसत्तम ।
अस्मिन् काले यदिष्टं ते ब्रूहि किं करवाणि ते ॥ ३० ॥

'महाभाग मुनिश्रेष्ठ ! मैं आपका यजमान सौदास हूँ । इस समय आपकी जो अभिलाषा हो, कहिये—मैं आपकी क्या सेवा करूँ ?' ॥ ३० ॥

वसिष्ठ उवाच

वृत्तमेतद् यथाकालं गच्छ राज्यं प्रशाधि वै ।
ब्राह्मणं तु मनुष्येन्द्र मावमंस्थाः कदाचन ॥ ३१ ॥

वसिष्ठजीने कहा—नरेन्द्र ! मेरी जो अभिलाषा थी, वह समयानुसार सिद्ध हो गयी । अब जाओ, अपना राज्य सँभालो (आजसे फिर) कभी ब्राह्मणका अपमान न करना ॥ ३१ ॥

राजोवाच

नावमंस्ये महाभाग कदाचिद् ब्राह्मणानहम् ।
त्वन्निदेशे स्थितः सम्यक् पूजयिष्याम्यहं द्विजान् ॥ ३२ ॥

राजा बोले—महाभाग ! मैं कभी ब्राह्मणोंका अपमान नहीं करूँगा । आपकी आज्ञाके पालनमें संलग्न हो (सदा) ब्राह्मणोंकी भलीभाँति पूजा करूँगा ॥ ३२ ॥

इक्ष्वाकूणां च येनाहमनृणः स्यां द्विजोत्तम ।
तत् त्वत्तः प्राप्तुमिच्छामि सर्ववेदविदां वर ॥ ३३ ॥

समस्त वेदवेत्ताओंमें अग्रगण्य द्विजश्रेष्ठ ! मैं आपसे एक

पुत्र प्राप्त करना चाहता हूँ, जिसके द्वारा मैं अपने इक्ष्वाकुवंशी पितरोंके ऋणसे उऋण हो सकूँ ॥ ३३ ॥

अपत्यमीप्सितं मह्यं दातुमर्हसि सत्तम।
शीलरूपगुणोपेतमिक्ष्वाकुकुलवृद्धये ॥ ३४ ॥

साधुशिरोमणे! इक्ष्वाकुवंशकी वृद्धिके लिये आप मुझे ऐसी अभीष्ट संतान दीजिये, जो उत्तम स्वभाव, सुन्दर रूप और श्रेष्ठ गुणोंसे सम्पन्न हो ॥ ३४ ॥

गन्धर्व उवाच

ददानीत्येव तं तत्र राजानं प्रत्युवाच ह।
वसिष्ठः परमेष्वासं सत्यसंधो द्विजोत्तमः ॥ ३५ ॥

गन्धर्व कहता है—कुन्तीनन्दन! तब सत्यप्रतिज्ञ विप्रवर वसिष्ठने महान् धनुर्धर राजा कल्माषपादसे उत्तरमें कहा—'मैं तुम्हें वैसा ही पुत्र दूँगा' ॥ ३५ ॥

ततः प्रतिययौ काले वसिष्ठः सह तेन वै।
ख्यातां पुरीमिमां लोकेष्वयोध्यां मनुजेश्वर ॥ ३६ ॥

मनुजेश्वर! तदनन्तर यथासमय राजाके साथ वसिष्ठजी उनकी राजधानीमें गये, जो लोकोंमें अयोध्यापुरीके नामसे प्रसिद्ध है ॥ ३६ ॥

तं प्रजाः प्रतिमोदन्त्यः सर्वाः प्रत्युद्गतास्तदा।
विपाप्मानं महात्मानं दिवौकस इवेश्वरम् ॥ ३७ ॥

अपने पापरहित महात्मा नरेशका आगमन सुनकर अयोध्याकी सारी प्रजा अत्यन्त प्रसन्न हो उनकी अगवानीके लिये ठीक उसी तरह बाहर निकल आयी, जैसे देवतालोग अपने स्वामी इन्द्रका स्वागत करते हैं ॥ ३७ ॥

सुचिराय मनुष्येन्द्रो नगरीं पुण्यलक्षणाम्।
विवेश सहितस्तेन वसिष्ठेन महर्षिणा ॥ ३८ ॥
ददृशुस्तं महीपालमयोध्यावासिनो जनाः।
पुरोहितेन सहितं दिवाकरमिवोदितम् ॥ ३९ ॥

बहुत वर्षोंके बाद राजाने उस पुण्यमयी नगरीमें प्रसिद्ध महर्षि वसिष्ठके साथ प्रवेश किया। अयोध्यावासी लोगोंने पुरोहितके साथ आये हुए राजा कल्माषपादका उसी प्रकार दर्शन किया, जैसे (प्रातःकाल) प्रजा उदित हुए भगवान् सूर्यका दर्शन करती है ॥ ३८-३९ ॥

स च तां पूरयामास लक्ष्म्या लक्ष्मीवतां वरः।
अयोध्यां व्योम शीतांशुः शरत्काल इवोदितः ॥ ४० ॥

जैसे शीतल किरणोंवाले चन्द्रमा शरत्कालमें उदित हो आकाशको अपनी ज्योत्स्नासे जगमग कर देते हैं, उसी प्रकार लक्ष्मीवानोंमें श्रेष्ठ नरेशने उस अयोध्यापुरीको [शोभासे] परिपूर्ण कर दिया ॥ ४० ॥

संसिक्तमृष्टपन्थानं पताकाध्वजशोभितम्।
मनः प्रह्लादयामास तस्य तत् पुरमुत्तमम् ॥ ४[१] ॥

नगरकी सड़कोंको झाड़-बुहारकर उनपर छिड़काव किया गया था। सब ओर लगी हुई ध्वजा-पताकाएँ उस [नगर]की शोभा बढ़ा रही थीं। इस प्रकार राजाकी वह उत्तम [नगरी] दर्शकोंके मनको उत्तम आह्लाद प्रदान कर रही थी ॥ [४१] ॥

तुष्टपुष्टजनाकीर्णा सा पुरी कुरुनन्दन।
अशोभत तदा तेन शक्रेणेवामरावती ॥ ४[२] ॥

कुरुनन्दन! जैसे इन्द्रसे अमरावतीकी शोभा होती [है], उसी प्रकार संतुष्ट एवं पुष्ट मनुष्योंसे भरी हुई अयोध्या [पुरी] उस समय महाराज कल्माषपादकी उपस्थितिमें [बड़ी] शोभा पा रही थी ॥ ४२ ॥

ततः प्रविष्टे राजर्षौ तस्मिंस्तत् पुरमुत्तमम्।
राज्ञस्तस्याज्ञया देवी वसिष्ठमुपचक्रमे ॥ ४[३] ॥

राजर्षि कल्माषपादके उस उत्तम नगरीमें प्रवेश कर [लेनेके] पश्चात् उक्त महाराजकी आज्ञाके अनुसार महारानी ([मद]यन्ती) महर्षि वसिष्ठजीके समीप गयीं ॥ ४३ ॥

ऋतावथ महर्षिः स सम्बभूव तया सह।
देव्या दिव्येन विधिना वसिष्ठः श्रेष्ठभाग्‌ऋषिः ॥ ४[४] ॥

तत्पश्चात् भगवद्भक्त महर्षि वसिष्ठने ऋतुकालमें [शास्त्रीय] अलौकिक विधिके अनुसार महारानीके साथ नियोग किया ॥ [४४] ॥

ततस्तस्यां समुत्पन्ने गर्भे स मुनिसत्तमः।
राज्ञाभिवादितस्तेन जगाम मुनिराश्रमम् ॥ ४[५] ॥

तदनन्तर रानीकी कुक्षिमें गर्भ स्थापित हो [जानेपर] उक्त राजासे वन्दित हो (उनसे विदा लेकर) [मुनि] वसिष्ठ अपने आश्रमको लौट गये ॥ ४५ ॥

दीर्घकालेन सा गर्भं सुषुवे न तु तं यदा।
तदा देव्यश्मना कुक्षिं निर्बिभेद यशस्विनी ॥ ४[६] ॥

जब बहुत समय बीतनेके बाद (भी) वह गर्भ [बाहर नहीं] निकला, तब यशस्विनी रानी (मदयन्ती) ने [पत्थर] (पत्थर) से अपने गर्भाशयपर प्रहार किया ॥ ४६ ॥

ततोऽपि द्वादशे वर्षे स जज्ञे पुरुषर्षभः।
अश्मको नाम राजर्षिः पौदन्यं यो न्यवेशयत् ॥ ४[७] ॥

तदनन्तर बारहवें वर्षमें बालकका जन्म हुआ। [वही] पुरुषश्रेष्ठ राजर्षि अश्मकके नामसे प्रसिद्ध हुआ, [जिसने] पौदन्य नामका नगर बसाया था ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वासिष्ठे सौदासपुत्रोत्पत्तौ षट्सप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठचरितके प्रसङ्गमें सौदासको पुत्र-प्राप्तिविषयक एक सौ छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७६ ॥

सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

शक्तिपुत्र पराशरका जन्म और पिताकी मृत्युका हाल सुनकर कुपित हुए पराशरको शान्त करनेके लिये वसिष्ठजीका उन्हें और्वोपाख्यान सुनाना

गन्धर्व उवाच

आश्रमस्था ततः पुत्रमदृश्यन्ती व्यजायत।
शक्तेः कुलकरं राजन् द्वितीयमिव शक्तिनम्॥ १॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! तदनन्तर (वसिष्ठजीके) आश्रममें रहती हुई अदृश्यन्तीने शक्तिके वंशको बढ़ानेवाले एक पुत्रको जन्म दिया, मानो उस बालकके रूपमें दूसरे शक्ति मुनि ही हों॥ १॥

जातकर्मादिकांस्तस्य क्रियाः स मुनिसत्तमः।
पौत्रस्य भरतश्रेष्ठ चकार भगवान् स्वयम्॥ २॥

भरतश्रेष्ठ! मुनिवर भगवान् वसिष्ठने स्वयं अपने पौत्रके जातकर्म आदि संस्कार किये॥ २॥

परासुः स यतस्तेन वसिष्ठः स्थापितो मुनिः।
गर्भस्थेन ततो लोके पराशर इति स्मृतः॥ ३॥

उस बालकने गर्भमें आकर परासु (मरनेकी इच्छावाले) वसिष्ठ मुनिको पुनः जीवित रहनेके लिये उत्साहित किया था; इसलिये वह लोकमें 'पराशर'के नामसे विख्यात हुआ॥ ३॥

अमन्यत स धर्मात्मा वसिष्ठं पितरं मुनिः।
जन्मप्रभृति तस्मिंस्तु पितरीवान्ववर्तत॥ ४॥

धर्मात्मा पराशर मुनि वसिष्ठको ही अपना पिता मानते थे और जन्मसे ही उनके प्रति पितृभाव रखते थे॥ ४॥

स तात इति विप्रर्षिर्वसिष्ठं प्रत्यभाषत।
मातुः समक्षं कौन्तेय अदृश्यन्त्याः परंतप॥ ५॥

परंतप कुन्तीकुमार! एक दिन ब्रह्मर्षि पराशरने अपनी माता अदृश्यन्तीके सामने ही वसिष्ठजीको 'तात' कहकर पुकारा॥ ५॥

तातेति परिपूर्णार्थं तस्य तन्मधुरं वचः।
अदृश्यन्त्यश्रुपूर्णाक्षी शृण्वती तमुवाच ह॥ ६॥

बेटेके मुखसे परिपूर्ण अर्थका बोधक 'तात' यह मधुर वचन सुनकर अदृश्यन्तीके नेत्रोंमें आँसू भर आये और वह उससे बोली—॥ ६॥

मा तात तात तातेति ब्रूह्येनं पितरं पितुः।
रक्षसा भक्षितस्तात तव तातो वनान्तरे॥ ७॥

'बेटा! ये तुम्हारे पिताके भी पिता हैं। तुम इन्हें 'तात तात!' कहकर न पुकारो। वत्स! तुम्हारे पिताको तो वनके भीतर राक्षस खा गया॥ ७॥

मन्यसे यं तु तातेति नैष तातस्तवानघ।
आर्य एष पिता तस्य पितुस्तव यशस्विनः॥ ८॥

'अनघ! तुम जिन्हें तात मानते हो, ये तुम्हारे तात नहीं हैं। ये तो तुम्हारे यशस्वी पिताके भी पूजनीय पिता हैं'॥ ८॥

स एवमुक्तो दुःखार्तः सत्यवागृषिसत्तमः।
सर्वलोकविनाशाय मतिं चक्रे महामनाः॥ ९॥

माताके यों कहनेपर सत्यवादी मुनिश्रेष्ठ महामना पराशर दुःखसे आतुर हो उठे। उन्होंने उसी समय सब लोकोंको नष्ट कर डालनेका विचार किया॥ ९॥

तं तथा निश्चितात्मानं स महात्मा महातपाः।
ऋषिर्ब्रह्मविदां श्रेष्ठो मैत्रावरुणिरन्त्यधीः॥ १०॥
वसिष्ठो वारयामास हेतुना येन तच्छृणु।

उनके मनका ऐसा निश्चय जान ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महातपस्वी, महात्मा एवं तात्त्विक बुद्धिवाले मित्रावरुणनन्दन वसिष्ठजीने पराशरको ऐसा करनेसे रोक दिया। जिस हेतु और युक्तिसे वे उन्हें रोकनेमें सफल हुए, वह (बताता हूँ,) सुनिये॥

वसिष्ठ उवाच

कृतवीर्य इति ख्यातो बभूव पृथिवीपतिः॥ ११॥
याज्यो वेदविदां लोके भृगूणां पार्थिवर्षभः।
स तानग्रभुजस्तात धान्येन च धनेन च॥ १२॥
सोमान्ते तर्पयामास विपुलेन विशाम्पतिः।
तस्मिन् नृपतिशार्दूले स्वर्यातेऽथ कथंचन॥ १३॥
बभूव तत्कुलेयानां द्रव्यकार्यमुपस्थितम्।
भृगूणां तु धनं ज्ञात्वा राजानः सर्व एव ते॥ १४॥
याचिष्णवोऽभिजग्मुस्तांस्ततो भार्गवसत्तमान्।
भूमौ तु निदधुः केचिद् भृगवो धनमक्षयम्॥ १५॥

वसिष्ठजीने (पराशरसे) कहा—वत्स! इस पृथ्वीपर कृतवीर्य नामसे प्रसिद्ध एक राजा थे। वे नृपश्रेष्ठ वेदज्ञ भृगुवंशी ब्राह्मणोंके यजमान थे। तात! उन महाराजने सोमयज्ञ करके उसके अन्तमें उन अग्रभोजी भार्गवोंको विपुल धन और धान्य देकर उसके द्वारा पूर्ण संतुष्ट किया। राजाओंमें श्रेष्ठ कृतवीर्यके स्वर्गवासी हो जानेपर उनके वंशजोंको किसी तरह द्रव्यकी आवश्यकता आ पड़ी। भृगुवंशी ब्राह्मणोंके यहाँ धन है, यह जानकर वे सभी राजपुत्र उन श्रेष्ठ भार्गवोंके पास याचक बनकर गये। उस समय कुछ भार्गवोंने अपनी अक्षय धनराशिको धरतीमें गाड़ दिया॥ ११–१५॥

ददुः केचिद् द्विजातिभ्यो ज्ञात्वा क्षत्रियतो भयम्।
भृगवस्तु ददुः केचित् तेषां वित्तं यथेप्सितम्॥ १६॥

कुछने क्षत्रियोंसे भय समझकर अपना धन ब्राह्मणोंको दे दिया और कुछ भृगुवंशियोंने उन क्षत्रियोंको यथेष्ट धन दे भी दिया ॥ १६ ॥

क्षत्रियाणां तदा तात कारणान्तरदर्शनात् ।
ततो महीतलं तात क्षत्रियेण यदृच्छया ॥ १७ ॥
खनताधिगतं वित्तं केनचिद् भृगुवेश्मनि ।
तद् वित्तं ददृशुः सर्वे समेताः क्षत्रियर्षभाः ॥ १८ ॥

तात ! कुछ दूसरे-दूसरे कारणोंका विचार करके उस समय उन्होंने क्षत्रियोंको धन प्रदान किया था । वत्स ! तदनन्तर किसी क्षत्रियने अकस्मात् धरती खोदते-खोदते किसी भृगुवंशीके घरमें गड़ा हुआ धन पा लिया । तब सभी श्रेष्ठ क्षत्रियोंने एकत्र होकर उस धनको देखा ॥ १७-१८ ॥

अवमन्य ततः क्रोधाद् भृगूंस्ताञ्छरणागतान् ।
निजघ्नुः परमेष्वासाः सर्वांस्तान् निशितैः शरैः ॥ १९ ॥

फिर तो उन्होंने क्रोधमें भरकर शरणमें आये हुए भृगुवंशियोंका भी अपमान किया । उन महान् धनुर्धर वीरोंने (वहाँ आये हुए) समस्त भार्गवोंको तीखे बाणोंसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया ॥ १९ ॥

आगर्भादवकृन्तन्तश्चेरुः सर्वां वसुन्धराम् ।
तत उच्छिद्यमानेषु भृगुष्वेवं भयात् तदा ॥ २० ॥
भृगुपत्न्यो गिरिं दुर्गं हिमवन्तं प्रपेदिरे ।
तासामन्यतमा गर्भं भयाद् दध्रे महौजसम् ॥ २१ ॥
ऊरुणैकेन वामोरुर्भर्तुः कुलविवृद्धये ।
तद् गर्भमुपलभ्याशु ब्राह्मणी या भयार्दिता ॥ २२ ॥
गत्वैका कथयामास क्षत्रियाणामुपह्वरे ।
ततस्ते क्षत्रिया जग्मुस्तं गर्भं हन्तुमुद्यताः ॥ २३ ॥

तदनन्तर भृगुवंशियोंके गर्भस्थ बालकोंकी भी हत्या करते हुए वे क्रोधान्ध क्षत्रिय सारी पृथ्वीपर विचरने लगे। इस प्रकार भृगुवंशका उच्छेद आरम्भ होनेपर भृगुवंशियोंकी पत्नियाँ उस समय भयके मारे हिमालयकी दुर्गम कन्दरामें जा छिपीं। उनमेंसे एक स्त्रीने अपने महान् तेजस्वी गर्भको भयके मारे एक ओरकी जाँघको चीरकर उसमें रख लिया । उस वामोरुने अपने पतिके वंशकी वृद्धिके लिये ऐसा साहस किया था । उस गर्भका समाचार जानकर कोई ब्राह्मणी बहुत डर गयी और उसने शीघ्र ही अकेली जाकर क्षत्रियोंको उसकी खबर पहुँचा दी । फिर तो वे क्षत्रियलोग गर्भकी हत्या करनेके लिये उद्यत हो वहाँ गये ॥ २०-२३ ॥

ददृशुर्ब्राह्मणीं तेऽथ दीप्यमानां स्वतेजसा ।
अथ गर्भः स भित्त्वोरुं ब्राह्मण्या निर्जगाम ह ॥ २४ ॥

उन्होंने देखा, वह ब्राह्मणी अपने तेजसे प्रकाशित हो रही है । उसी समय उस ब्राह्मणीका वह गर्भस्थ शिशु जाँघ फाड़कर बाहर निकल आया ॥ २४ ॥

मुष्णन् दृष्टीः क्षत्रियाणां मध्याह्न इव भास्करः ।
ततश्चक्षुर्विहीनास्ते गिरिदुर्गेषु बभ्रमुः ॥ २५ ॥

बाहर निकलते ही दोपहरके प्रचण्ड सूर्यकी भाँति तेजस्वी शिशुने (अपने तेजसे) उन क्षत्रियोंकी आँखोंकी ज्योति छीन ली । तब वे अंधे होकर उस पर्वतके बीहड़ स्थानोंमें भटकने लगे ॥ २५ ॥

ततस्ते मोहमापन्ना राजानो नष्टदृष्टयः ।
ब्राह्मणीं शरणं जग्मुर्दृष्ट्यर्थं तामनिन्दिताम् ॥ २६ ॥

फिर मोहके वशीभूत हो अपनी दृष्टिको खो देनेवाले क्षत्रियोंने पुनः दृष्टि प्राप्त करनेके लिये उसी सती-साध्वी ब्राह्मणीकी शरण ली ॥ २६ ॥

ऊचुश्चैनां महाभागां क्षत्रियास्ते विचेतसः ।
ज्योतिःप्रहीणा दुःखार्ताः शान्तार्चिष इवाग्नयः ॥ २७ ॥
भगवत्याः प्रसादेन गच्छेत् क्षत्रं सचक्षुषम् ।
उपारम्य च गच्छेम सहिताः पापकर्मिणः ॥ २८ ॥

वे क्षत्रिय उस समय आँखकी ज्योतिसे वञ्चित हो बुझी हुई लपटोंवाली आगके समान अत्यन्त दुःखसे आतुर एवं अचेत हो रहे थे । अतः वे उस महान् सौभाग्यशालिनी देवीसे इस प्रकार बोले—'देवि ! यदि आपकी कृपा हो तो दृष्टि पाकर यह क्षत्रियोंका दल अब लौट जायगा, थोड़ी देर विश्राम करके हम सभी पापाचारी यहाँसे साथ ही चले जायँगे॥२७-२८॥

सपुत्रा त्वं प्रसादं नः कर्तुमर्हसि शोभने ।
पुनर्दृष्टिप्रदानेन राज्ञः संत्रातुमर्हसि ॥ २९ ॥

'शोभने ! तुम अपने पुत्रके साथ हम सबपर प्रसन्न हो जाओ और पुनः नूतन दृष्टि देकर हम सभी राजपुत्रोंकी रक्षा करो' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने सप्तसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें और्वोपाख्यानविषयक एक सौ सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७७ ॥

अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः

पितरोंद्वारा और्वके क्रोधका निवारण

ब्राह्मण्युवाच

नाहं गृह्णामि वस्ताता दृष्टीर्नास्मि रुषान्विता ।
अयं तु भार्गवो नूनमूरुजः कुपितोऽद्य वः ॥ १ ॥

ब्राह्मणीने कहा—पुत्रो ! मैंने तुम्हारी दृष्टि नहीं ली है; मुझे तुमपर क्रोध भी नहीं है । परंतु मेरी जाँघसे पैदा हुआ यह भृगुवंशी बालक निश्चय ही तुम्हारे ऊपर आज कुपित हुआ है ॥ १ ॥

येन चक्षूंषि वस्ताता व्यक्तं कोपान्महात्मना।
स्मरता निहतान् बन्धूनादत्तानि न संशयः॥ २॥

पुत्रो! यह स्पष्ट जान पड़ता है कि इस महात्मा शिशुने तुमलोगोंद्वारा मारे गये अपने बन्धु-बान्धवोंका स्मरण करके क्रोधवश तुम्हारी आँखें ले ली हैं, इसमें संशय नहीं है॥२॥

गर्भानपि यदा यूयं भृगूणां घ्नत पुत्रकाः।
तदायमूरुणा गर्भो मया वर्षशतं धृतः॥ ३॥

बच्चो! जबसे तुमलोग भृगुवंशियोंके गर्भस्थ बालकोंकी भी हत्या करने लगे, तबसे मैंने अपने इस गर्भको सौ वर्षोंतक एक जाँघमें छिपाकर रक्खा था॥ ३॥

षडङ्गश्चाखिलो वेद इमं गर्भस्थमेव ह।
विवेश भृगुवंशस्य भूयः प्रियचिकीर्षया॥ ४॥

भृगुकुलका पुनः प्रिय करनेकी इच्छासे छहों अङ्गों-सहित सम्पूर्ण वेद इस बालकको गर्भमें ही प्राप्त हो गये थे॥

सोऽयं पितृवधाद् व्यक्तं क्रोधाद् वो हन्तुमिच्छति।
तेजसा तस्य दिव्येन चक्षूंषि मुषितानि वः॥ ५॥

अतः यह बालक अपने पिताके वधसे कुपित हो निश्चय ही तुमलोगोंको मार डालना चाहता है। इसीके दिव्य तेजसे तुम्हारी नेत्र-ज्योति छिन गयी है॥ ५॥

तमेव यूयं याचध्वमौर्वं मम सुतोत्तमम्।
अयं वः प्रणिपातेन तुष्टो दृष्टीः प्रमोक्ष्यति॥ ६॥

इसलिये तुमलोग मेरे इस उत्तम पुत्र और्वसे ही याचना करो। यह तुमलोगोंके नतमस्तक होनेसे संतुष्ट होकर पुनः तुम्हारी खोयी हुई नेत्रोंकी ज्योति दे देगा॥ ६॥

वसिष्ठ उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे राजानस्ते तमूरुजम्।
ऊचुः प्रसीदेति तदा प्रसादं च चकार सः॥ ७॥

वसिष्ठजी कहते हैं—पराशर! ब्राह्मणीके यों कहने-पर उन सब क्षत्रियोंने तब और्वको (प्रणाम करके) कहा—'आप प्रसन्न होइये।' तब (उनके विनययुक्त वचन सुनकर) और्वने प्रसन्न हो (अपने तपके प्रभावसे) उनको नेत्रोंकी ज्योति दे दी॥ ७॥

अनेनैव च विख्यातो नाम्ना लोकेषु सत्तमः।
स और्व इति विप्रर्षिरूरुं भित्त्वा व्यजायत॥ ८॥

वे साधुशिरोमणि ब्रह्मर्षि अपनी माताका ऊरु भेदन करके उत्पन्न हुए थे, इसी कारण लोकमें 'और्व' नामसे उनकी ख्याति हुई॥ ८॥

चक्षूंषि प्रतिलभ्याथ च प्रतिजग्मुस्ततो नृपाः।
भार्गवस्तु मुनिर्मेने सर्वलोकपराभवम्॥ ९॥

तदनन्तर अपनी खोयी हुई आँखें पाकर वे क्षत्रियलोग लौट गये; इधर भृगुवंशी और्व मुनिने सम्पूर्ण लोकोंके पराभवका विचार किया॥ ९॥

स चक्रे तात लोकानां विनाशाय महामनाः।
सर्वेषामेव कार्त्स्न्येन मनः प्रवणमात्मनः॥ १०॥

वत्स पराशर! उन महामना मुनिने समस्त लोकोंका पूर्णरूपसे विनाश करनेकी ओर अपना मन लगाया॥१०॥

इच्छन्नपचितिं कर्तुं भृगूणां भृगुनन्दनः।
सर्वलोकविनाशाय तपसा महतैधितः॥ ११॥

भृगुकुलको आनन्दित करनेवाले उस कुमारने (क्षत्रियों-द्वारा मारे गये अपने भृगुवंशी पूर्वजोंका सम्मान करने)(अथवा उनके वधका बदला लेने) के लिये सब लोकोंके विनाशका निश्चय किया और बहुत बड़ी तपस्याद्वारा अपनी शक्तिको बढ़ाया॥ ११॥

तापयामास ताँल्लोकान् सदेवासुरमानुषान्।
तपसोग्रेण महता नन्दयिष्यन् पितामहान्॥ १२॥

उसने अपने पितरोंको आनन्दित करनेके लिये अत्यन्त उग्र तपस्याद्वारा देवता, असुर और मनुष्योंसहित उन सभी लोकोंको संतप्त कर दिया॥ १२॥

ततस्तं पितरस्तात विज्ञाय कुलनन्दनम्।
पितृलोकादुपागम्य सर्व ऊचुरिदं वचः॥ १३॥

तात! तदनन्तर सभी पितरोंने अपने कुलका आनन्द बढ़ानेवाले और्व मुनिका वह निश्चय जानकर पितृलोकसे आकर यह बात कही॥ १३॥

पितर ऊचुः

और्व दृष्टः प्रभावस्ते तपसोग्रस्य पुत्रक।
प्रसादं कुरु लोकानां नियच्छ क्रोधमात्मनः॥ १४॥

पितर बोले—बेटा और्व! तुम्हारी उग्र तपस्याका प्रभाव हमने देख लिया। अब अपना क्रोध रोको और सम्पूर्ण लोकोंपर प्रसन्न हो जाओ॥ १४॥

नानीशैर्हि तदा तात भृगुभिर्भावितात्मभिः।
वधो ह्युपेक्षितः सर्वैः क्षत्रियाणां विहिंसताम्॥ १५॥

तात! यह न समझना कि जिस समय क्षत्रियलोग हमारी हिंसा कर रहे थे, उस समय शुद्ध अन्तःकरणवाले हम भृगुवंशी ब्राह्मणोंने असमर्थ होनेके कारण अपने कुलके वधको चुपचाप सह लिया॥ १५॥

आयुषा विप्रकृष्टेन यदा नः खेद आविशत्।
तदास्माभिर्वधस्तात क्षत्रियैरीप्सितः स्वयम्॥ १६॥

वत्स! जब हमारी आयु बहुत बड़ी हो गयी (और तब भी मौत नहीं आयी), उस दशामें हमलोगोंको (बड़ा) खेद हुआ और हमने (जान-बूझकर) क्षत्रियोंसे स्वयं अपना वध करानेकी इच्छा की॥ १६॥

निखातं यच्च वै वित्तं केनचिद् भृगुवेश्मनि।
वैरायैव तदा न्यस्तं क्षत्रियान् कोपयिष्णुभिः॥ १७॥

किसी भृगुवंशीने अपने घरमें जो धन गाड़ दिया था, वह भी वैर बढ़ानेके लिये ही किया गया था। हम चाहते थे कि क्षत्रियलोग हमारे ऊपर कुपित हो जायँ ॥ १७ ॥

किं हि वित्तेन नः कार्यं स्वर्गेप्सूनां द्विजोत्तम।
यदस्माकं धनाध्यक्षः प्रभूतं धनमाहरत्॥ १८॥

द्विजश्रेष्ठ! (यदि ऐसी बात न होती तो) स्वर्गलोककी इच्छावाले हम भार्गवोंको धनसे क्या काम था; क्योंकि साक्षात् कुबेरने हमें प्रचुर धनराशि लाकर दी थी ॥ १८ ॥

यदा तु मृत्युरादातुं न नः शक्नोति सर्वशः।
तदास्माभिरयं दृष्ट उपायस्तात सम्मतः॥ १९॥

तात! जब मौत हमें अपने अङ्कमें न ले सकी, तब हमलोगोंने सर्वसम्मतिसे यह उपाय ढूँढ़ निकाला था ॥ १९ ॥

आत्महा च पुमांस्तात न लोकाँल्लभते शुभान्।
ततोऽस्माभिःसमीक्ष्यैवंनात्मनाऽऽत्मा निपातितः॥ २०॥

बेटा! आत्महत्या करनेवाला पुरुष शुभ लोकोंको नहीं पाता, इसीलिये हमने खूब सोच-विचारकर अपने ही हाथों अपना वध नहीं किया ॥ २० ॥

न चैतन्नः प्रियं तात यदिदं कर्तुमिच्छसि।
नियच्छेदं मनः पापात् सर्वलोकपराभवात्॥ २१॥

वत्स! तुम जो यह (सब) करना चाहते हो, वह भी हमें प्रिय नहीं है। सम्पूर्ण लोकोंका पराभव बहुत बड़ा पाप है, अतः उधरसे मनको रोको ॥ २१ ॥

मा वधीः क्षत्रियांस्तात न लोकान् सप्त पुत्रक।
दूषयन्तं तपस्तेजः क्रोधमुत्पतितं जहि॥ २२॥

तात! क्षत्रियोंको न मारो। बेटा! भू आदि सात लोकोंका संहार न करो। यह जो क्रोध उत्पन्न हुआ है, वह (तुम्हारे) तपसे जनित तेजको दूषित करनेवाला है, अतः इसीको मारो ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वंवारणे अष्टसप्तत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें और्वक्रोधनिवारण-विषयक एक सौ अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७८ ॥

एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

और्व और पितरोंकी बातचीत तथा और्वका अपनी क्रोधाग्निको बडवानलरूपसे समुद्रमें त्यागना

और्व उवाच

उक्तवानस्मि यां क्रोधात् प्रतिज्ञां पितरस्तदा।
सर्वलोकविनाशाय न सा मे वितथा भवेत्॥ १॥

और्वने कहा—पितरो! मैंने क्रोधवश उस समय जो सम्पूर्ण लोकोंके विनाशकी प्रतिज्ञा कर ली थी, वह झूठी नहीं होनी चाहिये ॥ १ ॥

वृथारोषप्रतिज्ञो वै नाहं भवितुमुत्सहे।
अनिस्तीर्णो हि मां रोषो दहेदग्निरिवारणिम्॥ २॥

जिसका क्रोध और प्रतिज्ञा निष्फल होते हों, ऐसा बननेकी मेरी इच्छा नहीं है। यदि मेरा क्रोध सफल नहीं हुआ तो वह मुझको उसी प्रकार जला देगा, जैसे आग अरणी काष्ठको जला देती है ॥ २ ॥

यो हि कारणतः क्रोधं संजातं क्षन्तुमर्हति।
नालं स मनुजः सम्यक् त्रिवर्गं परिरक्षितुम्॥ ३॥

जो किसी कारणवश उत्पन्न हुए क्रोधको सह लेता है, वह मनुष्य धर्म, अर्थ और कामकी रक्षा करनेमें समर्थ नहीं होता ॥ ३ ॥

अशिष्टानां नियन्ता हि शिष्टानां परिरक्षिता।
स्थाने रोषः प्रयुक्तः स्यान्नृपैः सर्वजिगीषुभिः॥ ४॥

सबको जीतनेकी इच्छा रखनेवाले राजाओंद्वारा उचित अवसरपर प्रयोगमें लाया हुआ रोष दुष्टोंका दमन और साधु पुरुषोंकी रक्षा करनेवाला हो ॥ ४ ॥

अश्रौषमहमूरुस्थो गर्भशय्यागतस्तदा।
आरावं मातृवर्गस्य भृगूणां क्षत्रियैर्वधे॥ ५॥

मैं जिन दिनों माताकी एक जाँघमें गर्भ-शय्यापर सो रहा था, उन दिनों क्षत्रियोंद्वारा भार्गवोंका वध होनेपर माताओंका करुण क्रन्दन मुझे स्पष्ट सुनायी देता था ॥ ५ ॥

संहारो हि यदा लोके भृगूणां क्षत्रियाधमैः।
आगर्भोच्छेदनात् क्रान्तस्तदा मां मन्युराविशत्॥ ६॥

इन नीच क्षत्रियोंने जब गर्भके बच्चोंतकके सिर काटकर संसारमें भृगुवंशी ब्राह्मणोंका संहार आरम्भ किया, तब मुझमें क्रोधका आवेश हुआ ॥ ६ ॥

सम्पूर्णकोशाः किल मे मातरः पितरस्तथा।
भयात् सर्वेषु लोकेषु नाधिजग्मुः परायणम्॥ ७॥

जिनकी कोख भरी हुई थी, वे मेरी माताएँ और पितृगण भी भयके मारे समस्त लोकोंमें भागते फिरे; किंतु उन्हें कहीं भी शरण नहीं मिली ॥ ७ ॥

तान् भृगूणां यदा दारान् कश्चिन्नाभ्युपपद्यत।
माता तदा दधारेयमूरुणैकेन मां शुभा॥ ८॥

जब भार्गवोंकी पत्नियोंका कोई भी रक्षक नहीं मिला, तब मेरी इस कल्याणमयी माताने मुझे अपनी एक जाँघमें छिपा कर रक्खा था ॥ ८ ॥

प्रतिषेद्धा हि पापस्य यदा लोकेषु विद्यते।
तदा सर्वेषु लोकेषु पापकृन्नोपपद्यते॥ ९॥

जबतक जगत्‌में कोई भी पापकर्मको रोकनेवाला होता है, तबतक सम्पूर्ण लोकोंमें पापियोंका होना सम्भव नहीं होता ॥ ९ ॥

यदा तु प्रतिषेद्धारं पापो न लभते क्वचित् ।
तिष्ठन्ति बहवो लोकास्तदा पापेषु कर्मसु ॥ १० ॥

जब पापी मनुष्यको कहीं कोई रोकनेवाला नहीं मिलता, तब बहुतेरे मनुष्य पाप करनेमें लग जाते हैं ॥ १० ॥

जानन्नपि च यः पापं शक्तिमान् न नियच्छति ।
ईशः सन् सोऽपि तेनैव कर्मणा सम्प्रयुज्यते ॥ ११ ॥

जो मनुष्य शक्तिमान् एवं समर्थ होते हुए भी जान-बूझकर पापको नहीं रोकता, वह भी उसी पापकर्मसे लिप्त हो जाता है ॥ ११ ॥

राजभिश्चेश्वरैश्चैव यदि वै पितरो मम ।
शक्तैर्न शकितास्त्रातुमिष्टं मत्वेह जीवितम् ॥ १२ ॥
अत एषामहं क्रुद्धो लोकानामीश्वरो ह्यहम् ।
भवतां च वचो नालमहं समभिवर्तितुम् ॥ १३ ॥

इस लोकमें अपना जीवन सबको प्रिय है, यह समझकर सबका शासन करनेवाले राजालोग सामर्थ्य होते हुए भी मेरे पिताओंकी रक्षा न कर सके, इसीलिये मैं भी इन सब लोकोंपर कुपित हुआ हूँ। मुझमें इन्हें दण्ड देनेकी शक्ति है। अतः (इस विषयमें) मैं आपलोगोंका वचन माननेमें असमर्थ हूँ।१२-१३।

ममापि चेद् भवेदेवमीश्वरस्य सतो महत् ।
उपेक्षमाणस्य पुनर्लोकानां किल्बिषाद् भयम् ॥ १४ ॥

यदि मैं भी शक्ति रहते हुए लोगोंके इस महान् पापाचारको उदासीनभावसे चुपचाप देखता रहूँ, तो मुझे भी उन लोगोंके पापसे भय हो सकता है ॥ १४ ॥

यश्चायं मन्युजो मेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति ।
दहेदेष च मामेव निगृहीतः स्वतेजसा ॥ १५ ॥

मेरे क्रोधसे उत्पन्न हुई जो यह आग (सम्पूर्ण) लोकोंको अपनी लपटोंमें लपेट लेना चाहती है, यदि मैं इसे रोक दूँ तो यह मुझे ही अपने तेजसे जलाकर भस्म कर डालेगी ॥१५॥

भवतां च विजानामि सर्वलोकहितेप्सुताम् ।
तस्माद् विधध्वं यच्छ्रेयो लोकानां मम चेश्वराः॥ १६ ॥

मैं यह भी जानता हूँ कि आपलोग समस्त जगत्‌का हित चाहनेवाले हैं। अतः शक्तिशाली पितरो ! आपलोग ऐसा करें, जिससे इन लोकोंका और मेरा भी कल्याण हो।१६।

पितर ऊचुः

य एष मन्युजस्तेऽग्निर्लोकानादातुमिच्छति ।
अप्सु तं मुञ्च भद्रं ते लोका ह्यप्सु प्रतिष्ठिताः ॥ १७ ॥

पितर बोले—और्व ! तुम्हारे क्रोधसे उत्पन्न हुई जो यह अग्नि सब लोकोंको अपना ग्रास बनाना चाहती है, उसे तुम जलमें छोड़ दो, तुम्हारा कल्याण हो; क्योंकि (सभी) लोक जलमें प्रतिष्ठित हैं ॥ १७ ॥

आपोमयाः सर्वरसाः सर्वमापोमयं जगत् ।
तस्मादप्सु विमुञ्चेमं क्रोधाग्निं द्विजसत्तम ॥ १८ ॥

सभी रस जलके परिणाम हैं तथा सम्पूर्ण जगत् (भी) जलका परिणाम माना गया है। अतः द्विजश्रेष्ठ ! तुम अपनी इस क्रोधाग्निको जलमें ही छोड़ दो ॥ १८ ॥

अयं तिष्ठतु ते विप्र यदीच्छसि महोदधौ ।
मन्युजोऽग्निर्दहन्नापो लोका ह्यापोमयाः स्मृताः॥ १९ ॥

विप्रवर ! यदि तुम्हारी इच्छा हो तो यह क्रोधाग्नि जलको जलाती हुई समुद्रमें स्थित रहे, क्योंकि सभी लोक जलके परिणाम माने गये हैं ॥ १९ ॥

एवं प्रतिज्ञा सत्येयं तवानघ भविष्यति ।
न चैवं सामरा लोका गमिष्यन्ति पराभवम् ॥ २० ॥

अनघ ! ऐसा करनेसे तुम्हारी प्रतिज्ञा भी सच्ची हो जायगी और देवताओंसहित समस्त लोक भी नष्ट नहीं होंगे॥

वसिष्ठ उवाच

ततस्तं क्रोधजं तात और्वोऽग्निं वरुणालये ।
उत्ससर्ज स चैवाप उपयुङ्क्ते महोदधौ ॥ २१ ॥
महद्धयशिरो भूत्वा यत् तद् वेदविदो विदुः ।
तमग्निमुद्गिरद् वक्त्रात् पिबत्यापो महोदधौ ॥ २२ ॥

वसिष्ठजी कहते हैं—पराशर ! तब और्वने (अपनी) उस क्रोधाग्निको समुद्रमें डाल दिया। आज भी वह बहुत बड़ी घोड़ीके मुखकी-सी आकृति धारण करके महासागरके जलका पान करती रहती है। वेदज्ञ पुरुष उससे (भलीभाँति) परिचित हैं। वह वड़वा अपने मुखसे वही आग उगलती हुई महासागरका जल पीती रहती है ॥ २१-२२ ॥

तस्मात् त्वमपि भद्रं ते न लोकान् हन्तुमर्हसि ।
पराशर पराँल्लोकान् जानञ्ज्ञानवतां वर ॥ २३ ॥

ज्ञानियोंमें श्रेष्ठ पराशर ! तुम्हारा कल्याण हो, तुम परलोकको भलीभाँति जानते हो; अतः तुम्हें भी समस्त लोकोंका विनाश नहीं करना चाहिये ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने एकोनाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें और्वोपाख्यानविषयक एक सौ उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७९ ॥

अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पुलस्त्य आदि महर्षियोंके समझानेसे पराशरके द्वारा राक्षससत्रकी समाप्ति

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तः स विप्रर्षिर्वसिष्ठेन महात्मना।
न्ययच्छदात्मनः क्रोधं सर्वलोकपराभवात्॥ १॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! महात्मा वसिष्ठके यों कहनेपर उन ब्रह्मर्षि पराशरने अपने क्रोधको समस्त लोकोंके पराभवसे रोक लिया॥ १॥

ईजे च स महातेजाः सर्ववेदविदां वरः।
ऋषी राक्षससत्रेण शाक्तेयोऽथ पराशरः॥ २॥

तब सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महातेजस्वी शक्तिनन्दन पराशरने राक्षससत्रका अनुष्ठान किया॥ २॥

ततो वृद्धांश्च बालांश्च राक्षसान् स महामुनिः।
ददाह वितते यज्ञे शक्तेर्वधमनुस्मरन्॥ ३॥

उस विस्तृत यज्ञमें अपने पिता शक्तिके वधका बार-बार चिन्तन करते हुए महामुनि पराशरने राक्षस जातिके बूढ़ों तथा बालकोंको भी जलाना आरम्भ किया॥ ३॥

न हि तं वारयामास वसिष्ठो रक्षसां वधात्।
द्वितीयामस्य मा भाङ्क्षं प्रतिज्ञामिति निश्चयात्॥ ४॥

उस समय महर्षि वसिष्ठने यह सोचकर कि इसकी दूसरी प्रतिज्ञाको न तोड़ूँ, उन्हें राक्षसोंके वधसे नहीं रोका॥ ४॥

त्रयाणां पावकानां च सत्रे तस्मिन् महामुनिः।
आसीत् पुरस्ताद् दीप्तानां चतुर्थ इव पावकः॥ ५॥

उस सत्रमें तीन प्रज्वलित अग्नियोंके समक्ष महामुनि पराशर चौथे अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे॥ ५॥

तेन यज्ञेन शुभ्रेण हूयमानेन शक्तिजः।
तद्विदीपितमाकाशं सूर्येणेव घनात्यये॥ ६॥

(पापी राक्षसोंका संहार करनेके कारण) वह यज्ञ अत्यन्त निर्मल एवं शुद्ध समझा जाता था। शक्तिनन्दन पराशरद्वारा उसमें यज्ञ-सामग्रीका हवन आरम्भ होते ही (वह इतना प्रज्वलित हो उठा कि) उसके तेजसे सम्पूर्ण आकाश ठीक उसी तरह उद्भासित होने लगा, जैसे वर्षा बीतनेपर सूर्यकी प्रभासे उद्दीप्त हो उठता है॥ ६॥

तं वसिष्ठादयः सर्वे मुनयस्तत्र मेनिरे।
तेजसा दीप्यमानं वै द्वितीयमिव भास्करम्॥ ७॥

उस समय वसिष्ठ आदि सभी मुनियोंको वहाँ तेजसे प्रकाशमान महर्षि पराशर दूसरे सूर्यके समान जान पड़ते थे॥ ७॥

ततः परमदुष्प्रापमन्यैरत्रिरुदारधीः।
समापिपयिषुः सत्रं तमत्रिः समुपागमत्॥ ८॥

तदनन्तर दूसरोंके लिये उस यज्ञको बंद करना अ कठिन जानकर उदारबुद्धि महर्षि अत्रि स्वयं उस स समाप्त करानेकी इच्छासे पराशरके पास आये॥ ८॥

तथा पुलस्त्यः पुलहः क्रतुश्चैव महाक्रतुः।
तत्राजग्मुरमित्रघ्न रक्षसां जीवितेप्सया॥ ९॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले अर्जुन! उसी प्रकार पुल पुलह, क्रतु और महाक्रतुने भी राक्षसोंके जीवनकी रक्षाके वहाँ पदार्पण किया॥ ९॥

पुलस्त्यस्तु वधात् तेषां रक्षसां भरतर्षभ।
उवाचेदं वचः पार्थ पराशरमरिंदमम्॥ १०॥

भरतकुलभूषण कुन्तीकुमार! उन राक्षसोंका विनाश देख महर्षि पुलस्त्यने शत्रुसूदन पराशरसे यह बात कही—

कच्चित् तातापविघ्नं ते कच्चिन्नन्दसि पुत्रक।
अजानतामदोषाणां सर्वेषां रक्षसां वधात्॥ ११॥

'तात! तुम्हारे इस यज्ञमें कोई विघ्न तो नहीं प बेटा! तुम्हारे पिताकी हत्याके विषयमें कुछ भी न जानने इन सभी निर्दोष राक्षसोंका वध करके क्या तुम्हें प्र होती है?॥ ११॥

प्रजोच्छेदमिमं मह्यं न हि कर्तुं त्वमर्हसि।
नैष तात द्विजातीनां धर्मो दृष्टस्तपस्विनाम्॥ १२॥

'वत्स! मेरी संततिका तुम्हें इस प्रकार उच्छेद न करना चाहिये। तात! यह हिंसा तपस्वी ब्राह्मणोंका धर्म नहीं मानी गयी॥ १२॥

शम एव परो धर्मस्तमाचर पराशर।
अधर्मिष्ठं वरिष्ठः सन् कुरुषे त्वं पराशर॥ १३॥

'पराशर! शान्त रहना ही (ब्राह्मणोंका) श्रेष्ठ धर्म है, उसीका आचरण करो। तुम श्रेष्ठ ब्राह्मण होकर भी यह पाप करते हो?॥ १३॥

शक्तिं चापि हि धर्मज्ञं नातिक्रान्तुमिहार्हसि।
प्रजायाश्च ममोच्छेदं न चैवं कर्तुमर्हसि॥ १४॥

'तुम्हारे पिता शक्ति धर्मके ज्ञाता थे, तुम्हें (इस अ कृत्यद्वारा) उनकी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं करना चाहि फिर मेरी संतानोंका विनाश करना तुम्हारे लिये कदापि उचि नहीं है॥ १४॥

शापाद्धि शक्तेर्वासिष्ठ तदा तदुपपादितम्।
आत्मजेन स दोषेण शक्तिर्नीत इतो दिवम्॥ १५॥

'वसिष्ठकुलभूषण! शक्तिके शापसे ही उस समय

दुर्घटना हो गयी थी। वे अपने ही अपराधसे इस लोकको छोड़कर स्वर्गवासी हुए हैं (इसमें राक्षसोंका कोई दोष नहीं है)॥

न हि तं राक्षसः कश्चिच्छक्तो भक्षयितुं मुने।
आत्मनैवात्मनस्तेन दृष्टो मृत्युस्तदाभवत्॥ १६॥

मुने! कोई भी राक्षस उन्हें खा नहीं सकता था। अपने ही शापसे (राजाको नरभक्षी राक्षस बना देनेके कारण) उन्हें उस समय अपनी मृत्यु देखनी पड़ी॥ १६॥

निमित्तभूतस्त्वत्रासीद् विश्वामित्रः पराशर।
राजा कल्माषपादश्च दिवमारुह्य मोदते॥ १७॥

'पराशर! विश्वामित्र तथा राजा कल्माषपाद भी इसमें निमित्तमात्र ही थे (तुम्हारे पूर्वजोंकी मृत्युमें तो प्रारब्ध ही प्रधान है) इस समय तुम्हारे पिता शक्ति स्वर्गमें जाकर आनन्द भोगते हैं॥ १७॥

ये च शक्त्यवराः पुत्रा वसिष्ठस्य महामुने।
ते च सर्वे मुदा युक्ता मोदन्ते सहिताः सुरैः॥ १८॥

'महामुने! वसिष्ठजीके शक्तिसे छोटे जो पुत्र थे, वे सभी देवताओंके साथ प्रसन्नतापूर्वक सुख भोग रहे हैं॥ १८॥

सर्वमेतद् वसिष्ठस्य विदितं वै महामुने।
रक्षसां च समुच्छेद एष तात तपस्विनाम्॥ १९॥
निमित्तभूतस्त्वं चात्र क्रतौ वासिष्ठनन्दन।
तत् सत्रं मुञ्च भद्रं ते समाप्तमिदमस्तु ते॥ २०॥

महर्षे! तुम्हारे पितामह वसिष्ठजीको ये सब बातें विदित हैं। तात शक्तिनन्दन! तेजस्वी राक्षसोंके विनाशके लिये आयोजित इस यज्ञमें तुम भी निमित्तमात्र ही बने हो। (वास्तवमें यह सब उन्हींके पूर्वकर्मोंका फल है)। अतः अब इस यज्ञको छोड़ दो। तुम्हारा कल्याण हो, तुम्हारे इस सत्रकी समाप्ति हो जानी चाहिये'॥ १९-२०॥

गन्धर्व उवाच

एवमुक्तः पुलस्त्येन वसिष्ठेन च धीमता।
तदा समापयामास सत्रं शाक्तो महामुनिः॥ २१॥

गन्धर्व कहता है—अर्जुन! पुलस्त्यजी तथा परम बुद्धिमान् वसिष्ठजीके यों कहनेपर महामुनि शक्तिपुत्र पराशरने उसी समय यज्ञको समाप्त कर दिया॥ २१॥

सर्वराक्षससत्राय सम्भृतं पावकं तदा।
उत्तरे हिमवत्पार्श्वे उत्ससर्ज महावने॥ २२॥

सम्पूर्ण राक्षसोंके विनाशके उद्देश्यसे किये जानेवाले उस सत्रके लिये जो अग्नि संचित की गयी थी, उसे उन्होंने उत्तरदिशामें हिमालयके आस-पासके विशाल वनमें छोड़ दिया॥

स तत्राद्यापि रक्षांसि वृक्षानश्मन एव च।
भक्षयन् दृश्यते वह्निः सदा पर्वणि पर्वणि॥ २३॥

वह अग्नि आज भी वहाँ सदा प्रत्येक पर्वके अवसरपर राक्षसों, वृक्षों और पत्थरोंको जलाती हुई देखी जाती है॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वण्यौर्वोपाख्याने अशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें औवोंपाख्यान-विषयक एक सौ अस्सीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८०॥

एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजा कल्माषपादको ब्राह्मणी आङ्गिरसीका शाप

अर्जुन उवाच

राज्ञा कल्माषपादेन गुरौ ब्रह्मविदां वरे।
कारणं किं पुरस्कृत्य भार्या वै संनियोजिता॥ १॥

अर्जुनने पूछा—गन्धर्वराज! किस कारणको सामने रखकर राजा कल्माषपादने ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ गुरु वसिष्ठजीके साथ अपनी पत्नीका नियोग कराया था?॥ १॥

जानता वै परं धर्मं वसिष्ठेन महात्मना।
अगम्यागमनं कस्मात् कृतं तेन महर्षिणा॥ २॥

तथा उत्तम धर्मके ज्ञाता महात्मा महर्षि वसिष्ठने यह परस्त्रीगमनका पाप कैसे किया?॥ २॥

अधर्मिष्ठं वसिष्ठेन कृतं चापि पुरा सखे।
एतन्मे संशयं सर्वं छेत्तुमर्हसि पृच्छतः॥ ३॥

सखे! पूर्वकालमें महर्षि वसिष्ठने जो यह अधर्म-कार्य किया, उसका क्या कारण है? यह मेरा संशय है, जिसे मैं पूछता हूँ। आप मेरे इन सारे संशयोंका निवारण कीजिये॥ ३॥

गन्धर्व उवाच

धनंजय निबोधेदं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
वसिष्ठं प्रति दुर्धर्षं तथा मित्रसहं नृपम्॥ ४॥

गन्धर्वने कहा—दुर्धर्ष वीर धनंजय! आप महर्षि वसिष्ठ तथा राजा मित्रसहके विषयमें जो कुछ मुझसे पूछ रहे हैं, उसका समाधान सुनिये॥ ४॥

कथितं ते मया सर्वं यथा शप्तः स पार्थिवः।
शक्तिना भरतश्रेष्ठ वासिष्ठेन महात्मना॥ ५॥

भरतश्रेष्ठ! वसिष्ठपुत्र महात्मा शक्तिसे राजा कल्माषपादको जिस प्रकार शाप प्राप्त हुआ, वह सब प्रसङ्ग मैं आपसे कह चुका हूँ॥ ५॥

स तु शापवशं प्राप्तः क्रोधपर्याकुलेक्षणः ।
निर्जगाम पुराद् राजा सहदारः परंतपः ॥ ६ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले राजा कल्माषपाद शापके परवश हो अपनी पत्नीके साथ नगरसे बाहर निकल गये। उस समय उनकी आँखें क्रोधसे व्याप्त हो रही थीं ॥ ६ ॥

अरण्यं निर्जनं गत्वा सदारः परिचक्रमे ।
नानामृगगणाकीर्णं नानासत्त्वसमाकुलम् ॥ ७ ॥

अपनी स्त्रीके साथ निर्जन वनमें जाकर वे चारों ओर चक्कर लगाने लगे। वह महान् वन भाँति-भाँतिके मृगोंसे भरा हुआ था। उसमें नाना प्रकारके जीव-जन्तु निवास करते थे॥

नानागुल्मलताच्छन्नं नानाद्रुमसमावृतम् ।
अरण्यं घोरसंनादं शापग्रस्तः परिभ्रमन् ॥ ८ ॥

अनेक प्रकारकी लताओं तथा गुल्मोंसे आच्छादित और विविध प्रकारके वृक्षोंसे आवृत वह (गहन) वन भयंकर शब्दोंसे गूँजता रहता था। शापग्रस्त राजा कल्माषपाद उसीमें भ्रमण करने लगे ॥ ८ ॥

स कदाचित् क्षुधाविष्टो मृगयन् भक्ष्यमात्मनः ।
ददर्श सुपरिक्लिष्टः कस्मिंश्चिन्निर्जने वने ॥ ९ ॥
ब्राह्मणं ब्राह्मणीं चैव मिथुनायोपसंगतौ ।
तौ तं वीक्ष्य सुवित्रस्तावकृतार्थौ प्रधावितौ ॥ १० ॥

एक दिन भूखसे व्याकुल हो वे अपने लिये भोजनकी तलाश करने लगे। बहुत क्लेश उठानेके बाद उन्होंने देखा कि उस वनके किसी निर्जन प्रदेशमें एक ब्राह्मण और ब्राह्मणी मैथुनके लिये एकत्र हुए हैं। वे दोनों अभी अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर पाये थे, इतनेहीमें उन राक्षसाविष्ट कल्माषपादको देखकर अत्यन्त भयभीत हो (वहाँसे) भाग चले ॥ ९-१० ॥

तयोः प्रद्रवतोर्विप्रं जग्राह नृपतिर्बलात् ।
दृष्ट्वा गृहीतं भर्तारमथ ब्राह्मण्यभाषत ॥ ११ ॥

उन भागते हुए दम्पतिमेंसे ब्राह्मणको राजाने बलपूर्वक पकड़ लिया। पतिको राक्षसके हाथमें पड़ा देख ब्राह्मणी बोली—॥

शृणु राजन् मम वचो यत् त्वां वक्ष्यामि सुव्रत ।
आदित्यवंशप्रभवस्त्वं हि लोके परिश्रुतः ॥ १२ ॥

'राजन्! मैं आपसे जो बात कहती हूँ, उसे सुनिये। उत्तम व्रतका पालन करनेवाले नरेश! आपका जन्म सूर्यवंशमें हुआ है। आप सम्पूर्ण जगत्‌में विख्यात हैं ॥ १२ ॥

अप्रमत्तः स्थितो धर्मे गुरुशुश्रूषणे रतः ।
शापोपहत दुर्धर्ष न पापं कर्तुमर्हसि ॥ १३ ॥

'आप सदा प्रमादशून्य होकर धर्ममें स्थित रहनेवाले हैं। गुरुजनोंकी सेवामें सदा संलग्न रहते हैं। दुर्धर्ष वीर! यद्यपि आप इस समय शापसे ग्रस्त हैं, तो भी आपको पापकर्म नहीं करना चाहिये ॥ १३ ॥

ऋतुकाले तु सम्प्राप्ते भर्तृव्यसनकर्शिता ।
अकृतार्था ह्ययं भर्त्रा प्रसवार्थं समागता ॥ १४ ॥
प्रसीद नृपतिश्रेष्ठ भर्तायं मे विसृज्यताम् ।

'मेरा ऋतुकाल प्राप्त है, मैं पतिके कष्टसे दुःख पा रही हूँ। मैं संतानकी इच्छासे पतिके समीप आयी थी और इनसे मिलकर अभी अपनी इच्छा पूर्ण नहीं कर पायी हूँ। नृपश्रेष्ठ! ऐसी दशामें आप मुझपर प्रसन्न होइये और मेरे इन पतिदेवताको छोड़ दीजिये' ॥ १४½ ॥

एवं विक्रोशमानायास्तस्यास्तु स नृशंसवत् ॥ १५ ॥
भर्तारं भक्षयामास व्याघ्रो मृगमिवेप्सितम् ।
तस्याः क्रोधाभिभूताया यान्यश्रूण्यपतन् भुवि ॥ १६ ॥
सोऽग्निः समभवद् दीप्तस्तं च देशं व्यदीपयत् ।
ततः सा शोकसंतप्ता भर्तृव्यसनकर्शिता ॥ १७ ॥
कल्माषपादं राजर्षिमशपद् ब्राह्मणी रुषा ।
यस्मान्ममाकृतार्थायास्त्वया क्षुद्र नृशंसवत् ॥ १८ ॥
प्रेक्षन्त्या भक्षितो मेऽद्य प्रियो भर्ता महायशाः ।
तस्मात् त्वमपि दुर्बुद्धे मच्छापपरिविक्षतः ॥ १९ ॥
पत्नीमृतावनुप्राप्य सद्यस्त्यक्ष्यसि जीवितम् ।
यस्य चर्षेर्वसिष्ठस्य त्वया पुत्रा विनाशिताः ॥ २० ॥
तेन संगम्य ते भार्या तनयं जनयिष्यति ।
स ते वंशकरः पुत्रो भविष्यति नृपाधम ॥ २१ ॥

इस प्रकार ब्राह्मणी करुण विलाप करती हुई याचना कर रही थी, तो भी जैसे व्याघ्र मनचाहे मृगको मारकर खा जाता है, उसी प्रकार राजाने अत्यन्त निर्दयीकी भाँति ब्राह्मणीके पतिको खा लिया। उस समय क्रोधसे पीड़ित हुई ब्राह्मणीके नेत्रोंसे धरतीपर आँसुओंकी जो बूँदें गिरीं, वे सब प्रज्वलित अग्नि बन गयीं। उस अग्निने उस स्थानको जलाकर भस्म कर दिया। तदनन्तर पतिके वियोगसे व्यथित एवं शोकसंतप्त ब्राह्मणीने रोषमें भरकर राजर्षि कल्माषपादको शाप दिया—'ओ नीच! मेरी पतिविषयक कामना अभी पूर्ण नहीं हो पायी थी, तभी तूने अत्यन्त क्रूरकी भाँति मेरे देखते-देखते आज मेरे महायशस्वी प्रियतम पतिको अपना ग्रास बना लिया है; अतः दुर्बुद्धे! तू भी मेरे शापसे पीड़ित हुआ ऋतुकालमें पत्नीके साथ समागम करते ही तत्काल प्राण त्याग देगा। जिन महर्षि वसिष्ठके पुत्रोंका तुमने संहार किया है, उन्हींसे समागम करके तेरी पत्नी पुत्र पैदा करेगी। नृपाधम! वही पुत्र तेरा वंश चलानेवाला होगा' ॥ १५-२१ ॥

एवं शप्त्वा तु राजानं सा तमाङ्गिरसी शुभा ।
तस्यैव संनिधौ दीप्तं प्रविवेश हुताशनम् ॥ २२ ॥

इस प्रकार राजाको शाप देकर वह सती साध्वी आङ्गिरसी राजा कल्माषपादके समीप ही प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश कर गयी।

वसिष्ठश्च महाभागः सर्वमेतदवैक्षत ।
ज्ञानयोगेन महता तपसा च परंतप ॥ २३ ॥

शत्रुसूदन अर्जुन ! महाभाग वसिष्ठजी अपनी बड़ी भारी तपस्या तथा ज्ञानयोगके प्रभावसे ये सब बातें जानते थे ॥२३॥

मुक्तशापश्च राजर्षिः कालेन महता ततः।
ऋतुकालेऽभिपतितो मदयन्त्या निवारितः ॥ २४ ॥

दीर्घकालके पश्चात् वे राजर्षि जब शापसे मुक्त हुए, तब ऋतुकालमें अपनी पत्नीके पास गये। परंतु उनकी रानी मदयन्तीने उन्हें (उक्त शापकी याद दिलाकर) रोक दिया॥२४॥

न हि सस्मार स नृपस्तं शापं काममोहितः।
देव्याः सोऽथ वचः श्रुत्वा सम्भ्रान्तो नृपसत्तमः॥२५॥

राजा कल्माषपाद कामसे मोहित हो रहे थे। इसलिये उन्हें शापका स्मरण नहीं रहा। महारानी मदयन्तीकी बात सुनकर वे नृपश्रेष्ठ बड़े सम्भ्रम (घबराहट) में पड़ गये। २५।

तं शापमनुसंस्मृत्य पर्यतप्यद् भृशं तदा।
एतस्मात् कारणाद् राजा वसिष्ठं संन्ययोजयत्।
स्वदारेषु नरश्रेष्ठ शापदोषसमन्वितः ॥ २६ ॥

उस शापको बार-बार याद करके उन्हें बड़ा संताप हुआ। नरश्रेष्ठ ! इसी कारण शापदोषसे युक्त राजा कल्माषपादने महर्षि वसिष्ठका अपनी पत्नीके साथ नियोग कराया ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि वसिष्ठोपाख्याने एकाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें वसिष्ठोपाख्यानविषयक एक सौ इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८१ ॥

द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका धौम्यको अपना पुरोहित बनाना

अर्जुन उवाच

अस्माकमनुरूपो वै यः स्याद् गन्धर्व वेदवित्।
पुरोहितस्तमाचक्ष्व सर्वं हि विदितं तव ॥ १ ॥

अर्जुनने कहा—गन्धर्वराज ! हमारे अनुरूप जो कोई वेदवेत्ता पुरोहित हों, उनका नाम बताओ; क्योंकि तुम्हें सब कुछ ज्ञात है ॥ १ ॥

गन्धर्व उवाच

यवीयान् देवलस्यैष वने भ्राता तपस्यति।
धौम्य उत्कोचके तीर्थे तं वृणुध्वं यदीच्छथ ॥ २ ॥

गन्धर्व बोला—कुन्तीनन्दन ! इसी वनके उत्कोचक तीर्थमें महर्षि देवलके छोटे भाई धौम्य मुनि तपस्या करते हैं। यदि आपलोग चाहें तो उन्हींका पुरोहितके पदपर वरण करें ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽर्जुनोऽस्त्रमाग्नेयं प्रददौ तद् यथाविधि।
गन्धर्वाय तदा प्रीतो वचनं चेदमब्रवीत् ॥ ३ ॥

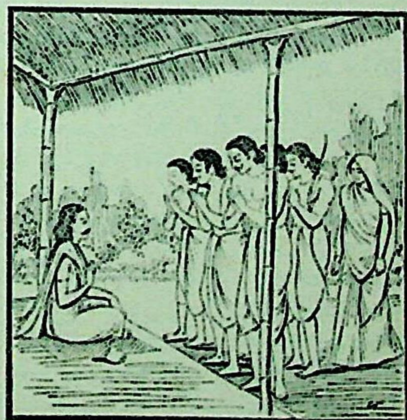
वैशम्पायनजी कहते हैं—तब अर्जुनने (बहुत) प्रसन्न होकर गन्धर्वको विधिपूर्वक आग्नेयास्त्र प्रदान किया और यह बात कही—॥ ३ ॥

त्वय्येव तावत् तिष्ठन्तु हया गन्धर्वसत्तम।
कार्यकाले ग्रहीष्यामः स्वस्ति तेऽस्त्विति चाब्रवीत् ॥४॥
तेऽन्योन्यमभिसम्पूज्य गन्धर्वः पाण्डवाश्च ह।
रम्याद् भागीरथीतीराद् यथाकामं प्रतस्थिरे ॥ ५ ॥

'गन्धर्वप्रवर ! तुमने जो घोड़े दिये हैं, वे अभी तुम्हारे ही पास रहें। आवश्यकताके समय हम तुमसे ले लेंगे, तुम्हारा कल्याण हो।' अर्जुनकी यह बात पूरी होनेपर गन्धर्वराज और पाण्डवोंने एक-दूसरेका बड़ा सत्कार किया। फिर पाण्डवगण गङ्गाके रमणीय तटसे अपनी इच्छाके अनुसार चल दिये ॥ ४-५ ॥

तत उत्कोचकं तीर्थं गत्वा धौम्याश्रमं तु ते।
तं वव्रुः पाण्डवा धौम्यं पौरोहित्याय भारत ॥ ६ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर उत्कोचक तीर्थमें धौम्यके आश्रमपर जाकर पाण्डवोंने धौम्यका पौरोहित्य-कर्मके लिये वरण किया ॥ ६ ॥



तान् धौम्यः प्रतिजग्राह सर्ववेदविदां वरः।
वन्येन फलमूलेन पौरोहित्येन चैव ह ॥ ७ ॥

सम्पूर्ण वेदोंके विद्वानोंमें श्रेष्ठ धौम्यने जंगली फल-मूल

अर्पण करके तथा पुरोहितीके लिये स्वीकृति देकर उन सबका सत्कार किया ॥ ७ ॥

ते समाशंसिरे लब्धां श्रियं राज्यं च पाण्डवाः।
ब्राह्मणं तं पुरस्कृत्य पाञ्चालीं च स्वयंवरे ॥ ८ ॥

पाण्डवोंने उन ब्राह्मणदेवताको पुरोहित बनाकर यह भलीभाँति विश्वास कर लिया कि 'हमें अपना राज्य और धन अब मिले हुएके ही समान है।' साथ ही उन्हें यह भी भरोसा हो गया कि 'स्वयंवरमें द्रौपदी हमें मिल जायगी'॥८॥

पुरोहितेन तेनाथ गुरुणा संगतास्तदा।
नाथवन्तमिवात्मानं मेनिरे भरतर्षभाः ॥ ९ ॥

उन गुरु एवं पुरोहितके साथ हो जानेसे उस समय भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ पाण्डवोंने अपने-आपको सनाथ-सा समझा ॥

स हि वेदार्थतत्त्वज्ञस्तेषां गुरुरुदारधीः।
तेन धर्मविदा पार्था याज्या धर्मविदः कृताः ॥ १० ॥

उदारबुद्धि धौम्य वेदार्थके तत्त्वज्ञ थे, वे पाण्डवोंके गुरु हुए! उन धर्मज्ञ मुनिने धर्मज्ञ कुन्तीकुमारोंको अपना यजमान बना लिया ॥ १० ॥

वीरांस्तु सहितान् मेने प्राप्तराज्यान् स्वधर्मतः।
बुद्धिवीर्यबलोत्साहैर्युक्तान् देवानिव द्विजः ॥ ११ ॥

धौम्यको भी यह विश्वास हो गया कि ये बुद्धि, वीर्य, बल और उत्साहसे युक्त देवोपम वीर संगठित होकर स्वधर्मके अनुसार अपना राज्य अवश्य प्राप्त कर लेंगे ॥ ११ ॥

कृतस्वस्त्ययनास्तेन ततस्ते मनुजाधिपाः।
मेनिरे सहिता गन्तुं पाञ्चाल्यास्तं स्वयंवरम् ॥ १२ ॥

धौम्यने पाण्डवोंके लिये स्वस्तिवाचन किया। तदनन्तर उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंने एक साथ द्रौपदीके स्वयंवरमें जानेका निश्चय किया॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि चैत्ररथपर्वणि धौम्यपुरोहितकरणे द्व्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥१८२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत चैत्ररथपर्वमें धौम्यको पुरोहित बनानेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ बयासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८२ ॥

(स्वयंवरपर्व)

त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंकी पञ्चालयात्रा और मार्गमें ब्राह्मणोंसे बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते नरशार्दूला भ्रातरः पञ्च पाण्डवाः।
प्रययुर्द्रौपदीं द्रष्टुं तं च देशं महोत्सवम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब वे नरश्रेष्ठ पाँचों भाई पाण्डव राजकुमारी द्रौपदी, उसके पञ्चालदेश और वहाँके महान् उत्सवको देखनेके लिये वहाँसे चल दिये ॥१॥

ते प्रयाता नरव्याघ्राः सह मात्रा परंतपाः।
ब्राह्मणान् ददृशुर्मार्गे गच्छतः संगतान् बहून्॥ २ ॥

मनुष्योंमें सिंहके समान वीर परंतप पाण्डव अपनी माताके साथ यात्रा कर रहे थे। उन्होंने मार्गमें देखा, बहुत-से ब्राह्मण एक साथ जा रहे हैं ॥ २ ॥

त ऊचुर्ब्राह्मणा राजन् पाण्डवान् ब्रह्मचारिणः।
क्व भवन्तो गमिष्यन्ति कुतो वाभ्यागता इह ॥ ३ ॥

राजन्! उन ब्रह्मचारी ब्राह्मणोंने पाण्डवोंसे पूछा—'आपलोग कहाँ जायँगे और कहाँसे आ रहे हैं?' ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आगतानेकचक्रायाः सोदर्यानेकचारिणः।
भवन्तो वै विजानन्तु सह मात्रा द्विजर्षभाः॥ ४ ॥

युधिष्ठिर बोले—विप्रवरो! आपलोगोंको मालूम हो कि हमलोग एक साथ विचरनेवाले सहोदर भाई हैं और अपनी माताके साथ एकचक्रा नगरीसे आ रहे हैं ॥ ४॥

ब्राह्मणा ऊचुः

गच्छताद्यैव पञ्चालान् द्रुपदस्य निवेशनं।
स्वयंवरो महांस्तत्र भविता सुमहाधनः ॥ ५ ॥

ब्राह्मणोंने कहा—आज ही पञ्चाल देशको चलिये। वहाँ राजा द्रुपदके दरबारमें महान् धन-धान्यसे सम्पन्न स्वयंवरका बहुत बड़ा उत्सव होनेवाला है ॥ ५ ॥

एकसार्थं प्रयाताः स्म वयं तत्रैव गामिनः।
तत्र ह्यद्भुतसंकाशो भविता सुमहोत्सवः ॥ ६ ॥

हम सबलोग एक साथ चले हैं और वहीं जा रहे हैं। वहाँ अत्यन्त अद्भुत और बहुत बड़ा उत्सव होनेवाला है ॥ ६ ॥

यज्ञसेनस्य दुहिता द्रुपदस्य महात्मनः।
वेदीमध्यात् समुत्पन्ना पद्मपत्रनिभेक्षणा ॥ ७ ॥

यज्ञसेन नामवाले महाराज द्रुपदके एक पुत्री है, जो यज्ञकी वेदीसे प्रकट हुई है। उसके नेत्र विकसित कमलदलके समान सुन्दर हैं ॥ ७ ॥

दर्शनीयानवद्याङ्गी सुकुमारी मनस्विनी।
धृष्टद्युम्नस्य भगिनी द्रोणशत्रोः प्रतापिनः ॥ ८ ॥

उसका एक-एक अङ्ग निर्दोष है। वह मनस्विनी सुकुमारी द्रुपदकन्या देखने ही योग्य है। द्रोणाचार्यके शत्रु प्रतापी धृष्टद्युम्नकी वह बहिन है ॥ ८ ॥

यो जातः कवची खड्गी सशरः सशरासनः।
सुसमिद्धे महाबाहुः पावके पावकोपमः॥ ९ ॥

धृष्टद्युम्न वे ही हैं, जो कवच, खड्ग, धनुष और बाणके साथ उत्पन्न हुए हैं। महाबाहु धृष्टद्युम्न प्रज्वलित अग्निसे प्रकट होनेके कारण अग्निके समान ही तेजस्वी हैं ॥ ९ ॥

स्वसा तस्यानवद्याङ्गी द्रौपदी तनुमध्यमा।
नीलोत्पलसमो गन्धो यस्याः क्रोशात् प्रवाति वै ॥ १० ॥

द्रौपदी निर्दोष अङ्गों तथा पतली कमरवाली है और उसके शरीरसे नीलकमलके समान सुगन्ध निकलकर एक कोसतक फैलती रहती है। वह उन्हीं धृष्टद्युम्नकी बहिन है ॥ १० ॥

यज्ञसेनस्य च सुतां स्वयंवरकृतक्षणाम्।
गच्छामो वै वयं द्रष्टुं तं च दिव्यं महोत्सवम् ॥ ११ ॥

यज्ञसेनकी पुत्री द्रौपदीका स्वयंवर नियत हुआ है। अतः हमलोग उस राजकुमारीको तथा उस स्वयंवरके दिव्य महोत्सवको देखनेके लिये वहाँ जा रहे हैं ॥ ११ ॥

राजानो राजपुत्राश्च यज्वानो भूरिदक्षिणाः।
स्वाध्यायवन्तः शुचयो महात्मानो यतव्रताः ॥ १२ ॥
तरुणा दर्शनीयाश्च नानादेशसमागताः।
महारथाः कृतास्त्राश्च समुपैष्यन्ति भूमिपाः ॥ १३ ॥

(वहाँ कितने ही प्रचुर दक्षिणा देनेवाले, यज्ञ करनेवाले, स्वाध्यायशील, पवित्र, नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले महात्मा एवं तरुण अवस्थावाले दर्शनीय राजा और राजकुमार अनेक देशोंसे पधारेंगे। अस्त्रविद्यामें निपुण महारथी भूमिपाल भी वहाँ आयेंगे ॥ १२-१३ ॥

ते तत्र विविधान् दायान् विजयार्थं नरेश्वराः।
प्रदास्यन्ति धनं गाश्च भक्ष्यं भोज्यं च सर्वशः ॥ १४ ॥

वे नरपतिगण अपनी-अपनी विजयके उद्देश्यसे वहाँ नाना प्रकारके उपहार, धन, गौएँ, भक्ष्य और भोज्य आदि सब प्रकारकी वस्तुएँ दान करेंगे ॥ १४ ॥

प्रतिगृह्य च तत् सर्वं दृष्ट्वा चैव स्वयंवरम्।
अनुभूयोत्सवं चैव गमिष्यामो यथेप्सितम् ॥ १५ ॥

उनका वह सब दान ग्रहण कर, स्वयंवरको देखकर और उत्सवका आनन्द लेकर फिर हमलोग अपने-अपने अभीष्ट स्थानको चले जायँगे ॥ १५ ॥

नटा वैतालिकास्तत्र नर्तकाः सूतमागधाः।
नियोधकाश्च देशेभ्यः समेष्यन्ति महाबलाः ॥ १६ ॥

वहाँ अनेक देशोंके नट, वैतालिक, नर्तक, सूत, मागध तथा अत्यन्त बलवान् मल्ल आयँगे ॥ १६ ॥

एवं कौतूहलं कृत्वा दृष्ट्वा च प्रतिगृह्य च।
सहास्माभिर्महात्मानः पुनः प्रतिनिवर्त्स्यथ ॥ १७ ॥

महात्माओ ! इस प्रकार हमारे साथ खेल करके, तमाशा देखकर और नाना प्रकारके दान ग्रहण करके फिर आपलोग भी लौट आइयेगा ॥ १७ ॥

दर्शनीयांश्च वः सर्वान् देवरूपानवस्थितान्।
समीक्ष्य कृष्णा वरयेत् संगत्यैकतमं वरम् ॥ १८ ॥

आप सब लोगोंका रूप तो देवताओंके समान है, आप सभी दर्शनीय हैं, आपलोगोंको (वहाँ उपस्थित) देखकर द्रौपदी दैवयोगसे आपमेंसे ही किसी एकको अपना वर चुन सकती है ॥ १८ ॥

अयं भ्राता तव श्रीमान् दर्शनीयो महाभुजः।
नियुज्यमानो विजये संगत्या द्रविणं बहु।
आहरिष्यन्नयं नूनं प्रीतिं वो वर्धयिष्यति ॥ १९ ॥

आपलोगोंके ये भाई अर्जुन तो बड़े सुन्दर और दर्शनीय हैं। इनकी भुजाएँ बहुत बड़ी हैं। इन्हें यदि विजयके कार्यमें नियुक्त कर दिया जाय, तो ये दैवात् बहुत बड़ी धनराशि जीत लाकर निश्चय ही आपलोगोंकी प्रसन्नता बढ़ायेंगे।

युधिष्ठिर उवाच

परमं भो गमिष्यामो द्रष्टुं चैव महोत्सवम्।
भवद्भिः सहिताः सर्वे कन्यायास्तं स्वयंवरम् ॥ २० ॥

युधिष्ठिर बोले—ब्राह्मणो ! हम भी द्रुपदकन्याके उस श्रेष्ठ स्वयंवर-महोत्सवको देखनेके लिये आपलोगोंके साथ चलेंगे ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि पाण्डवागमने त्र्यशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें पाण्डवागमनविषयक एक सौ तिरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८३ ॥

चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका द्रुपदकी राजधानीमें जाकर कुम्हारके यहाँ रहना, स्वयंवरसभाका वर्णन तथा धृष्टद्युम्नकी घोषणा

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ताः प्रयातास्ते पाण्डवा जनमेजय।
राज्ञा दक्षिणपञ्चालान् द्रुपदेनाभिरक्षितान्॥ १॥

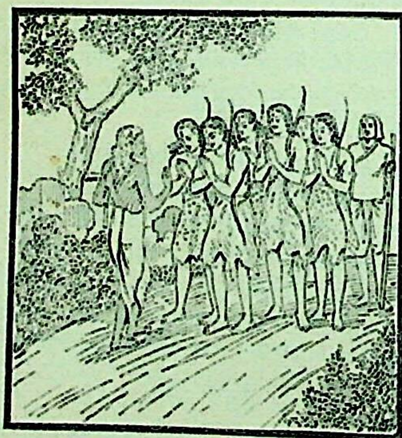
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उन ब्राह्मणोंके यों कहनेपर पाण्डवलोग (उन्हींके साथ) राजा द्रुपदके द्वारा पालित दक्षिणपाञ्चाल देशकी ओर चले॥ १॥

ततस्ते सुमहात्मानं शुद्धात्मानमकल्मषम्।
ददृशुः पाण्डवा वीरा मुनिं द्वैपायनं तदा॥ २॥

तदनन्तर उन पाण्डववीरोंको मार्गमें पापरहित, शुद्धचित्त एवं श्रेष्ठ महात्मा द्वैपायन मुनिका दर्शन हुआ॥ २॥

तस्मै यथावत् सत्कारं कृत्वा तेन च सत्कृताः।
कथान्ते चाभ्यनुज्ञाताः प्रययुर्द्रुपदक्षयम्॥ ३॥

पाण्डवोंने उनका यथावत् सत्कार किया और उन्होंने पाण्डवोंका। फिर उनमें आवश्यक बातचीत हुई। वार्तालाप



समाप्त होनेपर व्यासजीकी आज्ञा ले पाण्डव पुनः द्रुपदकी राजधानीकी ओर चल दिये॥ ३॥

पश्यन्तो रमणीयानि वनानि च सरांसि च।
तत्र तत्र वसन्तश्च शनैर्जग्मुर्महारथाः॥ ४॥

महारथी पाण्डव मार्गमें अनेकानेक रमणीय वन और सरोवर देखते तथा उन-उन स्थानोंमें डेरा डालते हुए धीरे-धीरे आगे बढ़ते गये॥ ४॥

स्वाध्यायवन्तः शुचयो मधुराः प्रियवादिनः।
आनुपूर्व्येण सम्प्राप्ताः पञ्चालान् पाण्डुनन्दनाः॥ ५॥

(प्रतिदिन) स्वाध्यायमें तत्पर रहनेवाले, पवित्र प्रकृतिवाले तथा प्रियवादी पाण्डुकुमार इस तरह क्रमशः पञ्चालदेशमें जा पहुँचे॥ ५॥

ते तु दृष्ट्वा पुरं तच्च स्कन्धावारं च पाण्डवाः।
कुम्भकारस्य शालायां निवासं चक्रिरे तदा॥

द्रुपदके नगर और उसकी चहारदीवारीको पाण्डवोंने उस समय एक कुम्हारके घरमें अपने व्यवस्था की॥ ६॥

तत्र भैक्षं समाजह्रुर्ब्राह्मणीं वृत्तिमाश्रिताः।
तान् सम्प्राप्तांस्तथा वीराञ्जज्ञिरे न नराः क्वचित्॥

वहाँ ब्राह्मणवृत्तिका आश्रय ले वे भिक्षा माँगकर (और उसीसे निर्वाह करते) थे। इस प्रकार वहाँ पाण्डववीरोंको कहीं कोई भी मनुष्य पहचान न सके

यज्ञसेनस्य कामस्तु पाण्डवाय किरीटिने।
कृष्णां दद्यामिति सदा न चैतद् विवृणोति सः॥

राजा द्रुपदके मनमें सदा यही इच्छा रहती थी पाण्डुनन्दन अर्जुनके साथ द्रौपदीका ब्याह करूँ। अपने इस मनोभावको किसीपर प्रकट नहीं करते थे

सोऽन्वेषमाणः कौन्तेयं पाञ्चाल्यो जनमेजय।
दृढं धनुरनानम्यं कारयामास भारत॥

भरतवंशी जनमेजय! पाञ्चालनरेशने कुन्ती अर्जुनकी खोज निकालनेकी इच्छासे एक ऐसा दृढ़ बनवाया, जिसे दूसरा कोई झुका भी न सके॥ ९॥

यन्त्रं वैहायसं चापि कारयामास कृत्रिमम्।
तेन यन्त्रेण समितं राजा लक्ष्यं चकार सः॥

राजाने एक कृत्रिम आकाश-यन्त्र भी बनवाया तीव्रवेगसे आकाशमें घूमता रहता था)। उस यन्त्र के ऊपर उन्होंने उसीके बराबरका लक्ष्य तैयार रखवा दिया। (इसके बाद उन्होंने यह घोषणा दी)॥ १०॥

द्रुपद उवाच

इदं सज्यं धनुः कृत्वा सज्जैरेभिश्च सायकैः।
अतीत्य लक्ष्यं यो वेद्धा स लब्धा मत्सुतामिति॥

द्रुपदने घोषणा की—जो वीर इस धनुपर चढ़ाकर इन प्रस्तुत बाणोंद्वारा ही यन्त्रके छेदके भीतर लाँघकर लक्ष्यवेध करेगा, वही मेरी पुत्रीको प्राप्त कर

वैशम्पायन उवाच

इति स द्रुपदो राजा स्वयंवरमघोषयत्।
तच्छ्रुत्वा पार्थिवाः सर्वे समीयुस्तत्र भारत ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय! इस प्रकार राजा द्रुपदने जब स्वयंवरकी घोषणा करा दी, तब उसे सुनकर सब राजा वहाँ उनकी राजधानीमें एकत्र होने लगे॥

ऋषयश्च महात्मानः स्वयंवरदिदृक्षवः।
दुर्योधनपुरोगाश्च सकर्णाः कुरवो नृप ॥ १३ ॥

बहुत-से महात्मा ऋषि-मुनि भी स्वयंवर देखनेके लिये आये। राजन्! दुर्योधन आदि कुरुवंशी भी कर्णके साथ वहाँ आये थे ॥ १३ ॥

ब्राह्मणाश्च महाभागा देशेभ्यः समुपागमन्।
ततोऽर्चिता राजगणा द्रुपदेन महात्मना ॥ १४ ॥
उपोपविष्टा मञ्चेषु द्रष्टुकामाः स्वयंवरम्।
ततः पौरजनाः सर्वे सागरोद्धूतनिःस्वनाः ॥ १५ ॥

भिन्न-भिन्न देशोंसे कितने ही महाभाग ब्राह्मणोंने भी पदार्पण किया था। महामना राजा द्रुपदने (वहाँ पधारे हुए) नरपतियोंका भलीभाँति स्वागत-सत्कार एवं सेवा-पूजा की। तत्पश्चात् वे सभी नरेश स्वयंवर देखनेकी इच्छासे वहाँ रखे हुए मञ्चोंपर बैठे। उस नगरके समस्त निवासी भी यथास्थान आकर बैठ गये। उन सबका कोलाहल क्षुब्ध हुए समुद्रके भयंकर गर्जनके समान सुनायी पड़ता था॥ १४-१५ ॥

शिशुमारशिरः प्राप्य न्यविशंस्ते स पार्थिवाः।
प्रागुत्तरेण नगराद् भूमिभागे समे शुभे।
समाजवाटः शुशुभे भवनैः सर्वतो वृतः ॥ १६ ॥

वहाँकी बैठक शिशुमारकी आकृतिमें सजायी गयी थी शिशुमारके शिरोभागमें सब राजा अपने-अपने मञ्चोंपर बैठे थे। नगरसे ईशानकोणमें सुन्दर एवं समतल भूमिपर स्वयंवरसभाका रङ्गमण्डप सजाया गया था, जो सब ओरसे सुन्दर भवनोंद्वारा घिरा होनेके कारण बड़ी शोभा पा रहा था।

प्राकारपरिखोपेतो द्वारतोरणमण्डितः।
वितानेन विचित्रेण सर्वतः समलंकृतः ॥ १७ ॥

उसके सब ओर चहारदीवारी और खाई बनी थीं। अनेक फाटक और दरवाजे उस मण्डपकी शोभा बढ़ा रहे थे। विचित्र चँदोवेसे उस सभाभवनको सब ओरसे सजाया गया था ॥ १७ ॥

तूर्यौघशतसंकीर्णः परार्ध्यागुरुधूपितः।
चन्दनोदकसिक्तश्च माल्यदामोपशोभितः ॥ १८ ॥

वहाँ सैकड़ों प्रकारके बाजे बज रहे थे। बहुमूल्य अगुरु-धूपकी सुगन्ध चारों ओर फैल रही थी। फर्शोंपर चन्दनके जलका छिड़काव किया गया था। सब ओर फूलोंकी मालाएँ और हार टँगे थे, जिससे वहाँकी शोभा बहुत बढ़ गयी थी।

कैलासशिखरप्रख्यैर्नभस्तलविलेखिभिः।
सर्वतः संवृतः शुभ्रैः प्रासादैः सुकृतोच्छ्रयैः ॥ १९ ॥

उस रङ्गमण्डपके चारों ओर कैलासशिखरके समान ऊँचे और श्वेत रंगके गगनचुम्बी महल बने हुए थे ॥ १९॥

सुवर्णजालसंवीतैर्मणिकुट्टिमभूषणैः।
सुखारोहणसोपानैर्महासनपरिच्छदैः ॥ २० ॥

उन्हें भीतरसे सोनेके जालीदार पर्दों और झालरोंसे सजाया गया था। फर्श और दीवारोंमें मणि एवं रत्न जड़े गये थे। उत्तम सुखपूर्वक चढ़ने योग्य सीढ़ियाँ बनी थीं। बड़े-बड़े आसन और बिछावन आदि बिछाये गये थे ॥२०॥

स्रग्दामसमवच्छन्नैरगुरूत्तमवासितैः।
हंसांशुवर्णैर्बहुभिरायोजनसुगन्धिभिः ॥ २१ ॥

अनेक प्रकारकी मालाएँ और हार उन भवनोंकी शोभा बढ़ा रहे थे। अगुरुकी सुगन्ध छा रही थी। वे हंस और चन्द्रमाकी किरणोंके समान श्वेत दिखायी देते थे। उनके भीतरसे निकली हुई धूपकी सुगन्ध चारों ओर एक योजन तक फैल रही थी ॥ २१ ॥

असम्बाधशतद्वारैः शयनासनशोभितैः।
बहुधा तु पिनद्धाङ्गैर्हिमवच्छिखरैरिव ॥ २२ ॥

उन महलोंमें सैकड़ों दरवाजे थे। उनके भीतर आने-जानेके लिये बिल्कुल रोक-टोक नहीं थी और वे भाँति-भाँतिकी शय्याओं तथा आसनोंसे सुशोभित थे। उनकी दीवारोंको अनेक प्रकारकी धातुओंके रंगोंसे रँगा गया था। अतः वे राजमहल हिमालयके बहुरंगे शिखरोंके समान सुशोभित हो रहे थे ॥ २२ ॥

तत्र नानाप्रकारेषु विमानेषु स्वलंकृताः।
स्पर्धमानास्तदान्योन्यं निषेदुः सर्वपार्थिवाः ॥ २३ ॥

उन्हीं सतमहले मकानों या विमानोंमें, जो अनेक प्रकारके बने हुए थे, सब राजालोग परस्पर एक दूसरेसे होड़ रखते हुए सुन्दर-से-सुन्दर शृङ्गार धारण करके बैठे॥२३॥

तत्रोपविष्टान् ददृशुर्महासत्त्वपराक्रमान्।
राजसिंहान् महाभागान् कृष्णागुरुविभूषितान्॥२४॥
महाप्रसादान् ब्रह्मण्यान् स्वराष्ट्रपरिरक्षिणः।
प्रियान् सर्वस्य लोकस्य सुकृतैः कर्मभिः शुभैः ॥ २५ ॥
मञ्चेषु च परार्ध्येषु पौरजानपदा जनाः।
कृष्णादर्शनसिद्ध्यर्थं सर्वतः समुपाविशन् ॥ २६ ॥

नगर और जनपदके लोगोंने जब देखा कि उन विमानोंमें बहुमूल्य मञ्चोंके ऊपर महान् बल और पराक्रमसे सम्पन्न परम सौभाग्यशाली, कालागुरुसे विभूषित, महान् कृपाप्रसादसे युक्त, ब्राह्मणभक्त, अपने-अपने राष्ट्रके रक्षक

और शुभ पुण्यकर्मोंके प्रभावसे सम्पूर्ण जगत्‌के प्रिय श्रेष्ठ नरपतिगण आकर बैठ गये हैं, तब राजकुमारी द्रौपदीके दर्शनका लाभ लेनेके लिये वे भी सब ओर सुखपूर्वक जा बैठे ॥ २४-२६ ॥

ब्राह्मणैस्ते च सहिताः पाण्डवाः समुपाविशन् ।
ऋद्धिं पाञ्चालराजस्य पश्यन्तस्तामनुत्तमाम् ॥ २७ ॥

वे पाण्डव भी पाञ्चालनरेशकी उस सर्वोत्तम समृद्धिका अवलोकन करते हुए ब्राह्मणोंके साथ उन्हींकी पङ्क्तिमें बैठे थे ।

ततः समाजो ववृधे स राजन् दिवसान् बहून् ।
रत्नप्रदानबहुलः शोभितो नटनर्तकैः ॥ २८ ॥

राजन् ! नगरमें बहुत दिनोंसे लोगोंकी भीड़ बढ़ रही थी । राजसमाजके द्वारा प्रचुर धन-रत्नोंका दान किया जा रहा था । बहुतेरे नट और नर्तक अपनी कला दिखाकर उस समाजकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ २८ ॥

वर्तमाने समाजे तु रमणीयेऽह्नि षोडशे ।
आप्लुताङ्गी सुवसना सर्वाभरणभूषिता ॥ २९ ॥
मालां च समुपादाय काञ्चनीं समलंकृताम् ।
अवतीर्णा ततो रङ्गं द्रौपदी भरतर्षभ ॥ ३० ॥

सोलहवें दिन अत्यन्त मनोहर समाज जुटा । भरतश्रेष्ठ ! उसी दिन स्नान करके सुन्दर वस्त्र और सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित हो हाथोंमें सोनेकी बनी हुई कामदार जयमाला लिये द्रुपदराजकुमारी उस रङ्गभूमिमें उतरी ॥ २९-३० ॥

पुरोहितः सोमकानां मन्त्रविद् ब्राह्मणः शुचिः ।
परिस्तीर्य जुहावाग्निमाज्येन विधिवत् तदा ॥ ३१ ॥

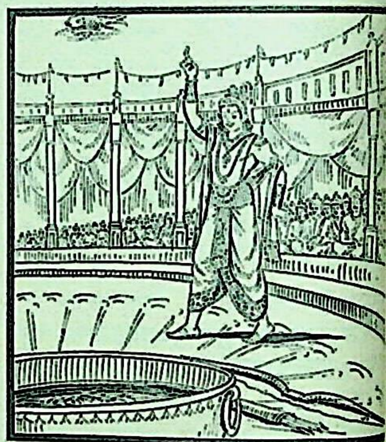
तब सोमकवंशी क्षत्रियोंके पवित्र एवं मन्त्रज्ञ ब्राह्मण पुरोहितने अग्निवेदीके चारों ओर कुशा बिछाकर वेदोक्त विधिके अनुसार प्रज्वलित अग्निमें घीकी आहुति डाली ॥ ३१ ॥

संतर्पयित्वा ज्वलनं ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ।
वारयामास सर्वाणि वादित्राणि समन्ततः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार अग्निदेवको तृप्त करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर चारों ओर बजनेवाले सब प्रकारके बाजे बंद करा दिये गये ॥ ३२ ॥

निःशब्दे तु कृते तस्मिन् धृष्टद्युम्नो विशाम्पते ।
कृष्णामादाय विधिवन्मेघदुन्दुभिनिःस्वनः ॥ ३३ ॥
रङ्गमध्यं गतस्तत्र मेघगम्भीरया गिरा ।
वाक्यमुच्चैर्जगादेदं श्लक्ष्णमर्थवदुत्तमम् ॥ ३४ ॥

महाराज ! बाजोंकी आवाज बंद हो जानेपर जब स्वयंवर-सभामें सन्नाटा छा गया, तब विधिके अनुसार धृष्टद्युम्न द्रौपदीको (साथ) लेकर रङ्गमण्डपके बीचमें खड़ा हो मेघ और दुन्दुभिके समान स्वर तथा मेघगर्जनकी गम्भीर वाणीमें अर्थयुक्त उत्तम एवं मधुर वचन बोला—॥ ३३-३४ ॥



इदं धनुर्लक्ष्यमिमे च बाणाः
शृण्वन्तु मे भूपतयः समेताः ।
छिद्रेण यन्त्रस्य समर्पयध्वं
शरैः शितैर्व्योमचरैर्दशार्धैः ॥ ३५ ॥

'यहाँ आये हुए भूपालगण ! आपलोग (ध्यान देकर) मेरी बात सुनें । यह धनुष है, ये बाण हैं और यह निशाना है । आपलोग आकाशमें छोड़े हुए पाँच पैने बाणोंद्वारा यन्त्रके छेदके भीतरसे लक्ष्यको वेधकर गिरा दें ॥ ३५ ॥

एतन्महत् कर्म करोति यो वै
कुलेन रूपेण बलेन युक्तः ।
तस्याद्य भार्या भगिनी ममेयं
कृष्णा भवित्री न मृषा ब्रवीमि ॥ ३६ ॥

'मैं सच कहता हूँ, झूठ नहीं बोलता— जो उत्तम कुल, सुन्दर रूप और श्रेष्ठ बलसे सम्पन्न वीर यह महान् कर्म कर दिखायेगा, आज यह मेरी बहिन कृष्णा उसीकी धर्मपत्नी होगी ॥'

तानेवमुक्त्वा द्रुपदस्य पुत्रः
पश्चादिदं तां भगिनीमुवाच ।
नाम्ना च गोत्रेण च कर्मणा च
संकीर्तयन् भूमिपतीन् समेतान् ॥ ३७ ॥

यों कहकर द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्नने वहाँ आये हुए राजाओंके नाम, गोत्र और पराक्रमका वर्णन करते हुए अपनी बहिन द्रौपदीसे इस प्रकार कहा ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नवाक्ये चतुरशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें धृष्टद्युम्नवाक्यविषयक एक सौ चौरासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८४ ॥

पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नका द्रौपदीको स्वयंवरमें आये हुए राजाओंका परिचय देना

धृष्टद्युम्न उवाच

दुर्योधनो दुर्विषहो दुर्मुखो दुष्प्रधर्षणः।
विविंशतिर्विकर्णश्च सहो दुःशासनस्तथा ॥ १ ॥
युयुत्सुर्वायुवेगश्च भीमवेगरवस्तथा।
उग्रायुधो बलाकी च करकायुर्विरोचनः ॥ २ ॥
कुण्डकश्चित्रसेनश्च सुवर्चाः कनकध्वजः।
नन्दको बाहुशाली च तुहुण्डो विकटस्तथा ॥ ३ ॥
एते चान्ये च बहवो धार्तराष्ट्रा महाबलाः।
कर्णेन सहिता वीरास्त्वदर्थं समुपागताः ॥ ४ ॥

धृष्टद्युम्नने कहा—बहिन ! यह देखो—दुर्योधन, दुर्विषह, दुर्मुख, दुष्प्रधर्षण, विविंशति, विकर्ण, सह, दुःशासन, युयुत्सु, वायुवेग, भीमवेगरव, उग्रायुध, बलाकी, करकायु, विरोचन, कुण्डक, चित्रसेन, सुवर्चा, कनकध्वज, नन्दक, बाहुशाली, तुहुण्ड तथा विकट—ये और दूसरे भी बहुत-से महाबली धृतराष्ट्रपुत्र जो सब-के-सब वीर हैं, तुम्हें प्राप्त करनेके लिये कर्णके साथ यहाँ पधारे हैं ॥ १—४ ॥

असंख्याता महात्मानः पार्थिवाः क्षत्रियर्षभाः।
शकुनिः सौबलश्चैव वृषकोऽथ बृहद्बलः ॥ ५ ॥
एते गान्धारराजस्य सुताः सर्वे समागताः।
अश्वत्थामा च भोजश्च सर्वशस्त्रभृतां वरौ ॥ ६ ॥
समवेतौ महात्मानौ त्वदर्थे समलंकृतौ।
बृहन्तो मणिमांश्चैव दण्डधारश्च पार्थिवः ॥ ७ ॥
सहदेवजयत्सेनौ मेघसंधिश्च पार्थिवः।
विराटः सह पुत्राभ्यां शङ्खेनैवोत्तरेण च ॥ ८ ॥
वार्द्धक्षेमिः सुशर्मा च सेनाबिन्दुश्च पार्थिवः।
सुकेतुः सह पुत्रेण सुनाम्ना च सुवर्चसा ॥ ९ ॥
सुचित्रः सुकुमारश्च वृकः सत्यधृतिस्तथा।
सूर्यध्वजो रोचमानो नीलश्चित्रायुधस्तथा ॥ १० ॥
अंशुमांश्चेकितानश्च श्रेणिमांश्च महाबलः।
समुद्रसेनपुत्रश्च चन्द्रसेनः प्रतापवान् ॥ ११ ॥
जलसंधः पितापुत्रौ विदण्डो दण्ड एव च।
पौण्ड्रको वासुदेवश्च भगदत्तश्च वीर्यवान् ॥ १२ ॥
कालिङ्गस्ताम्रलिप्तश्च पत्तनाधिपतिस्तथा।
मद्रराजस्तथा शल्यः सहपुत्रो महारथः ॥ १३ ॥
रुक्माङ्गदेन वीरेण तथा रुक्मरथेन च।
कौरव्यः सोमदत्तश्च पुत्राश्चास्य महारथाः ॥ १४ ॥
समवेतास्त्रयः शूरा भूरिर्भूरिश्रवाः शलः।
सुदक्षिणश्च काम्बोजो दृढधन्वा च पौरवः ॥ १५ ॥

इनके सिवा और भी असंख्य महामना क्षत्रियशिरोमणि भूमिपाल यहाँ आये हैं। उधर देखो, गान्धारराज सुबलके पुत्र शकुनि, वृषक और बृहद्बल बैठे हैं। गान्धारराजके ये सभी पुत्र यहाँ पधारे हैं। अश्वत्थामा और भोज—ये दोनों महान् तेजस्वी और सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ हैं और तुम्हारे लिये गहने-कपड़ोंसे सज-धजकर यहाँ आये हैं। राजा बृहन्त, मणिमान्, दण्डधार, सहदेव, जयत्सेन, राजा मेघसंधि, अपने दोनों पुत्रों शङ्ख और उत्तरके साथ राजा विराट, वृद्धक्षेमके पुत्र सुशर्मा, राजा सेनाबिन्दु, सुकेतु और उनके पुत्र सुवर्चा, सुचित्र, सुकुमार, वृक, सत्यधृति, सूर्यध्वज, रोचमान, नील, चित्रायुध, अंशुमान्, चेकितान, महाबली श्रेणिमान्, समुद्रसेनके प्रतापी पुत्र चन्द्रसेन, जलसंध, विदण्ड और उनके पुत्र दण्ड, पौण्ड्रक वासुदेव, पराक्रमी भगदत्त, कलिङ्गनरेश, ताम्रलिप्त-नरेश, पाटनके राजा, अपने दो पुत्रों वीर रुक्माङ्गद तथा रुक्मरथके साथ महारथी मद्रराज शल्य, कुरुवंशी सोमदत्त तथा उनके तीन महारथी शूरवीर पुत्र भूरि, भूरिश्रवा और शल, काम्बोजदेशीय सुदक्षिण, पूरुवंशी दृढधन्वा ॥ ५—१५ ॥

बृहद्बलः सुषेणश्च शिबिरौशीनरस्तथा।
पटच्चरनिहन्ता च कारूषाधिपतिस्तथा ॥ १६ ॥
संकर्षणो वासुदेवो रौक्मिणेयश्च वीर्यवान्।
साम्बश्च चारुदेष्णश्च प्राद्युम्निः सगदस्तथा ॥ १७ ॥
अक्रूरः सात्यकिश्चैव उद्धवश्च महामतिः।
कृतवर्मा च हार्दिक्यः पृथुर्विपृथुरेव च ॥ १८ ॥
विदूरथश्च कङ्कश्च शङ्कुश्च सगवेषणः।
आशावहोऽनिरुद्धश्च शमीकः सारिमेजयः ॥ १९ ॥
वीरो वातपतिश्चैव झिल्लीपिण्डारकस्तथा।
उशीनरश्च विक्रान्तो वृष्णयस्ते प्रकीर्तिताः ॥ २० ॥

महाबली सुषेण, उशीनरदेशीय शिबि तथा चोर-डाकुओंको मार डालनेवाले कारूषाधिपति भी यहाँ आये हैं। इधर संकर्षण, वासुदेव, (भगवान् श्रीकृष्ण) रुक्मिणीनन्दन पराक्रमी प्रद्युम्न, साम्ब, चारुदेष्ण, प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्ध, श्रीकृष्णके बड़े भाई गद, अक्रूर, सात्यकि, परम बुद्धिमान् उद्धव, हृदिकपुत्र कृतवर्मा, पृथु, विपृथु, विदूरथ, कङ्क, शङ्कु, गवेषण, आशावह, अनिरुद्ध, शमीक, सारिमेजय, वीर, वातपति, झिल्लीपिण्डारक तथा पराक्रमी उशीनर—ये सब वृष्णिवंशी कहे गये हैं ॥ १६—२० ॥

भागीरथो बृहत्क्षत्रः सैन्धवश्च जयद्रथः।
बृहद्रथो बाह्लिकश्च श्रुतायुश्च महारथः ॥ २१ ॥
उलूकः कैतवो राजा चित्राङ्गदशुभाङ्गदौ।
वत्सराजश्च मतिमान् कोसलाधिपतिस्तथा ॥ २२ ॥
शिशुपालश्च विक्रान्तो जरासंधस्तथैव च।

एते चान्ये च बहवो नानाजनपदेश्वराः ॥ २३ ॥
त्वदर्थमागता भद्रे क्षत्रियाः प्रथिता भुवि ।
एते भेत्स्यन्ति विक्रान्तास्त्वदर्थं लक्ष्यमुत्तमम् ।
विध्येत य इदं लक्ष्यं वरयेथाः शुभेऽद्य तम् ॥ २४ ॥

भगीरथवंशी बृहत्क्षत्र, सिन्धुराज जयद्रथ, बृहद्रथ, बाह्लीक, महारथी श्रुतायु, उलूक, राजा कैतव, चित्राङ्गद, शुभाङ्गद, बुद्धिमान् वत्सराज, कोसलनरेश, पराक्रमी शिशुपाल, जरासंध—ये तथा और भी अनेक जनपदोंके शासक भूमण्डलमें विख्यात बहुत-से क्षत्रिय वीर तुम्हारे लिये यहाँ पधारे हैं। भद्रे ! ये पराक्रमी नरेश तुम्हें पानेके उद्देश्यसे इस उत्तम लक्ष्यका भेदन करेंगे । शुभे ! जो इस निशानेको वेध देगा, उसीका आज तुम वरण करना ॥ २१—२४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि राजनामकीर्तने पञ्चाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें राजाओंके नामका परिचयविषयक एक सौ पचासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

राजाओंका लक्ष्यवेधके लिये उद्योग और असफल होना

वैशम्पायन उवाच

तेऽलंकृताः कुण्डलिनो युवानः
परस्परं स्पर्धमाना नरेन्द्राः ।
अस्त्रं बलं चात्मनि मन्यमानाः
सर्वे समुत्पेतुरुदायुधास्ते ॥ १ ॥
रूपेण वीर्येण कुलेन चैव
शीलेन वित्तेन च यौवनेन ।
समिद्धदर्पा मदवेगभिन्ना
मत्ता यथा हैमवता गजेन्द्राः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे सब नवयुवक राजा अनेक आभूषणोंसे विभूषित हो कानोंमें कुण्डल पहने और परस्पर लाग-डाँट रखते हुए हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये अपने-अपने आसनोंसे उठने लगे । उन्हें अपनेमें ही सबसे अधिक अस्त्रविद्या और बलके होनेका अभिमान था; सभीको अपने रूप, पराक्रम, कुल, शील, धन और जवानीका बड़ा घमंड था । वे सभी मस्तकसे वेगपूर्वक मदकी धारा बहानेवाले हिमाचलप्रदेशके गजराजोंकी भाँति उन्मत्त हो रहे थे ॥

परस्परं स्पर्धया प्रेक्षमाणाः
संकल्पजेनाभिपरिप्लुताङ्गाः ।
कृष्णा ममैवेत्यभिभाषमाणा
नृपासनेभ्यः सहसोदतिष्ठन् ॥ ३ ॥

वे एक दूसरेको बड़ी स्पर्धासे देख रहे थे । उनके सभी अङ्गोंमें कामोन्माद व्याप्त हो रहा था । 'कृष्णा तो मेरी ही होनेवाली है' यह कहते हुए वे अपने राजोचित आसनोंसे सहसा उठकर खड़े हो गये ॥ ३ ॥

ते क्षत्रिया रङ्गगता समेता
जिगीषमाणा द्रुपदात्मजां ताम् ।
चकाशिरे पर्वतराजकन्या-
मुमां यथा देवगणाः समेताः ॥ ४ ॥

द्रुपदकुमारीको पानेकी इच्छासे रङ्गमण्डपमें एकत्र हुए वे क्षत्रियनरेश गिरिराजनन्दिनी उमाके विवाहमें इकट्ठे हुए देवताओंकी भाँति शोभा पा रहे थे ॥ ४ ॥

कन्दर्पबाणाभिनिपीडिताङ्गाः
कृष्णागतैस्ते हृदयैर्नरेन्द्राः ।
रङ्गावतीर्णा द्रुपदात्मजार्थं
द्वेषं प्रचक्रुः सुहृदोऽपि तत्र ॥ ५ ॥

कामदेवके बाणोंकी चोटसे उनके सभी अङ्गोंमें [illegible] पीड़ा हो रही थी । उनका मन द्रौपदीमें ही लगा [illegible] था । द्रुपदकुमारीको पानेके लिये रङ्गभूमिमें उतरे हुए सभी नरेश वहाँ अपने सुहृद् राजाओंसे भी ईर्ष्या करने लगे ॥

अथाययुर्देवगणा विमानै
रुद्रादित्या वसवोऽथाश्विनौ च ।
साध्याश्च सर्वे मरुतस्तथैव
यमं पुरस्कृत्य धनेश्वरं च ॥ ६ ॥

इसी समय रुद्र, आदित्य, वसु, अश्विनीकुमार, [illegible] साध्यगण तथा मरुद्गण यमराज और कुबेरको आगे [illegible] अपने-अपने विमानोंपर बैठकर वहाँ आये ॥ ६ ॥

दैत्याः सुपर्णाश्च महोरगाश्च
देवर्षयो गुह्यकाश्चारणाश्च ।
विश्वावसुर्नारदपर्वतौ च
गन्धर्वमुख्याः सहसाप्सरोभिः ॥ ७ ॥

दैत्य, सुपर्ण, नाग, देवर्षि, गुह्यक, चारण तथा विश्वावसु, नारद और पर्वत आदि प्रधान-प्रधान गन्धर्व भी अप्सराओंको साथ लिये सहसा आकाशमें उपस्थित हो गये ॥ ७ ॥

हलायुधस्तत्र जनार्दनश्च
वृष्ण्यन्धकाश्चैव यथाप्रधानम् ।
प्रेक्षां स चक्रुर्यदुपुङ्गवास्ते
स्थिताश्च कृष्णस्य मते महान्तः ॥ ८ ॥

(अन्य राजालोग द्रौपदीकी प्राप्तिके लिये

बेधनेके विचारमें पड़े थे, किंतु) भगवान् श्रीकृष्णकी सम्मतिके अनुसार चलनेवाले महान् यदुश्रेष्ठ, जिनमें बलराम और श्रीकृष्ण आदि वृष्णि और अन्धक वंशके प्रमुख व्यक्ति वहाँ उपस्थित थे, चुपचाप अपनी जगहपर बैठे-बैठे देख रहे थे ॥

दृष्ट्वा तु तान् मत्तगजेन्द्ररूपान्।
पञ्चाभिपद्मानिव वारणेन्द्रान्।
भस्मावृताङ्गानिव हव्यवाहान्
कृष्णः प्रदध्यौ यदुवीरमुख्यः ॥ ९ ॥

यदुवंशी वीरोंके प्रधान नेता श्रीकृष्णने लक्ष्मीके सम्मुख विराजमान गजराजों तथा राखमें छिपी हुई आगके समान मतवाले हाथीकी-सी आकृतिवाले पाण्डवोंको, जो अपने सब अङ्गोंमें भस्म लपेटे हुए थे, देखकर (तुरंत) पहचान लिया॥

शशंस रामाय युधिष्ठिरं स
भीमं सजिष्णुं च यमौ च वीरौ।
शनैः शनैस्तान् प्रसमीक्ष्य रामो
जनार्दनं प्रीतमना ददर्श ह ॥ १० ॥

और बलरामजीसे धीरे-धीरे कहा—भैया! वह देखिये, युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और दोनों जुड़वे वीर नकुल-सहदेव उधर बैठे हैं।' बलरामजीने उन्हें देखकर अत्यन्त प्रसन्नचित्त हो भगवान् श्रीकृष्णकी ओर दृष्टिपात किया ॥ १० ॥

अन्ये तु वीरा नृपपुत्रपौत्राः
कृष्णागतैर्नेत्रमनःस्वभावैः।
व्यायच्छमाना ददृशुर्न तान् वै
संदष्टदन्तच्छदताम्रनेत्राः ॥ ११ ॥

दूसरे-दूसरे वीर राजा, राजकुमार एवं राजाओंके पौत्र अपने नेत्रों, मन और स्वभावको द्रौपदीकी ओर लगाकर उसीको देख रहे थे, अतः पाण्डवोंकी ओर उनकी दृष्टि नहीं गयी। वे जोशमें आकर दाँतोंसे ओठ चबा रहे थे और रोषसे उनकी आँखें लाल हो रही थीं ॥ ११ ॥

तथैव पार्थाः पृथुबाहवस्ते
वीरौ यमौ चैव महानुभावौ।
तां द्रौपदीं प्रेक्ष्य तदा स्म सर्वे
कन्दर्पबाणाभिहता बभूवुः ॥ १२ ॥

इसी प्रकार वे महाबाहु कुन्तीपुत्र तथा दोनों महानुभाव वीर नकुल-सहदेव सब-के-सब द्रौपदीको देखकर तुरंत कामदेवके बाणोंसे घायल हो गये ॥ १२ ॥

देवर्षिगन्धर्वसमाकुलं तत्
सुपर्णनागासुरसिद्धजुष्टम् ।
दिव्येन गन्धेन समाकुलं च
दिव्यैश्च पुष्पैरवकीर्यमाणम् ॥ १३ ॥

राजन्! उस समय वहाँका आकाश देवर्षियों तथा गन्धर्वोंसे खचाखच भरा था। सुपर्ण, नाग, असुर और सिद्धोंका समुदाय वहाँ जुट गया था। सब ओर दिव्य सुगन्ध व्याप्त हो रही थी और दिव्य पुष्पोंकी वर्षा की जा रही थी ॥

महास्वनैर्दुन्दुभिनादितैश्च
बभूव तत् संकुलमन्तरिक्षम्।
विमानसम्बाधमभूत् समन्तात्
सवेणुवीणापणवानुनादम् ॥ १४ ॥

वृहत् शब्द करनेवाली दुन्दुभियोंके नादसे सारा अन्तरिक्ष गूँज उठा था। चारों ओरका आकाश विमानोंसे ठसाठस भरा था और वहाँ बाँसुरी, वीणा तथा ढोलकी मधुर ध्वनि हो रही थी ॥ १४ ॥

ततस्तु ते राजगणाः क्रमेण
कृष्णानिमित्तं कृतविक्रमाश्च।
सकर्णदुर्योधनशाल्वशल्य-
द्रौणायनिक्राथसुनीथवक्राः ॥ १५ ॥
कलिङ्गवङ्गाधिपपाण्ड्यपौण्ड्रा
विदेहराजो यवनाधिपश्च।
अन्ये च नानानृपपुत्रपौत्रा
राष्ट्राधिपाः पङ्कजपत्रनेत्राः ॥ १६ ॥
किरीटहाराङ्गदचक्रवालै-
र्विभूषिताङ्गाः पृथुबाहवस्ते।
अनुक्रमं विक्रमसत्त्वयुक्ता
बलेन वीर्येण च नर्दमानाः ॥ १७ ॥

तदनन्तर वे नृपतिगण द्रौपदीके लिये क्रमशः अपना पराक्रम प्रकट करने लगे। कर्ण, दुर्योधन, शाल्व, शल्य, अश्वत्थामा, क्राथ, सुनीथ, वक्र, कलिङ्गराज, बङ्गनरेश, पाण्ड्यनरेश, पौण्ड्र देशके अधिपति, विदेहके राजा, यवन-देशके अधिपति तथा अन्यान्य अनेक राष्ट्रोंके स्वामी, बहुतेरे राजा, राजपुत्र तथा राजपौत्र, जिनके नेत्र प्रफुल्ल कमलदलके समान शोभा पा रहे थे, जिनके विभिन्न अङ्गोंमें किरीट, हार, अङ्गद (बाजूबंद) तथा कड़े आदि आभूषण शोभा दे रहे थे तथा जिनकी भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं, वे सब-के-सब पराक्रमी और धैर्यसे युक्त हो अपने बल और शक्तिपर गर्जते हुए क्रमशः उस धनुषपर अपना बल दिखाने लगे ॥

तत् कार्मुकं संहननोपपन्नं
सज्यं न शेकुर्मनसापि कर्तुम्।
ते विक्रमन्तः स्फुरता दृढेन
विक्षिप्यमाणा धनुषा नरेन्द्राः ॥ १८ ॥
विचेष्टमाना धरणीतलस्था
यथाबलं शैक्ष्यगुणक्रमाश्च।
गतौजसः स्रस्तकिरीटहारा
विनिःश्वसन्तः शममाबभूवुः ॥ १९ ॥

परंतु वे उस सुदृढ़ धनुषपर हाथसे कौन कहे, मनसे

भी प्रत्यञ्चा न चढ़ा सके। अपने बल, शिक्षा और गुणके अनुसार उसपर जोर लगाते समय वे सभी नरेन्द्र उस सुदृढ़ एवं चमचमाते हुए धनुषके झटकेसे दूर फेंक दिये जाते और लड़खड़ाकर धरतीपर जा गिरते थे। फिर तो उनका उत्साह समाप्त हो जाता, किरीट और हार खिसककर गिर जाते और वे लंबी साँसें खींचते हुए शान्त होकर बैठ जाते थे ॥ १८-१९ ॥

हाहाकृतं तद् धनुषा दृढेन
विस्रस्तहाराङ्गदचक्रवालम् ।
कृष्णानिमित्तं विनिवृत्तकामं
राज्ञां तदा मण्डलमार्तमासीत् ॥ २० ॥

उस सुदृढ़ धनुषके झटकेसे जिनके हार, बाजूबंद और कड़े आदि आभूषण दूर जा गिरे थे, वे नरेश उस समय द्रौपदीको पानेकी आशा छोड़कर अत्यन्त व्यथित हो हाहाकार कर उठे ॥

सर्वान् नृपांस्तान् प्रसमीक्ष्य कर्णो
धनुर्धराणां प्रवरो जगाम ।
उद्धृत्य तूर्णं धनुरुद्यतं तत्
सज्यं चकाराशु युयोज बाणान् ॥ २१ ॥

उन सब राजाओंकी यह अवस्था देख धनुर्धारियोंमें श्रेष्ठ कर्ण उस धनुषके पास गया और तुरंत ही उसे उठाकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी तथा शीघ्र ही उस धनुषपर वे पाँचों बाण जोड़ दिये ॥ २१ ॥*

दृष्ट्वा सूतं मेनिरे पाण्डुपुत्रा
भित्त्वा नीतं लक्ष्यवरं धरायाम् ।
धनुर्धरा रागकृतप्रतिज्ञ-
मत्यग्निसोमार्कमथार्कपुत्रम् ॥ २२ ॥

अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यसे भी अधिक तेजस्वी सूर्यपुत्र कर्ण द्रौपदीके प्रति आसक्त होनेके कारण जब लक्ष्य भेदनेकी प्रतिज्ञा करके उठा, तब उसे देखकर महाधनुर्धर पाण्डवोंने यह विश्वास कर लिया कि अब यह इस उत्तम लक्ष्यको भेदकर पृथ्वीपर गिरा देगा ॥ २२ ॥

दृष्ट्वा तु तं द्रौपदी वाक्यमुच्चै-
र्जगाद नाहं वरयामि सूतम् ।
सामर्षहासं प्रसमीक्ष्य सूर्यं
तत्याज कर्णः स्फुरितं धनुस्तत् ॥ २३ ॥

कर्णको देखकर द्रौपदीने उच्च स्वरसे यह बात कही—'मैं सूत जातिके पुरुषका वरण नहीं करूँगी'। यह सुनकर कर्णने अमर्षयुक्त हँसीके साथ भगवान् सूर्यकी ओर देखकर उस प्रकाशमान धनुषको डाल दिया ॥ २३ ॥

एवं तेषु निवृत्तेषु क्षत्रियेषु समन्ततः ।
चेदीनामधिपो वीरो बलवानन्तकोपमः ॥ २४ ॥
दमघोषसुतो धीरः शिशुपालो महामतिः ।
धनुरादायमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥ २५ ॥

इस प्रकार जब वे सभी क्षत्रिय सब ओरसे लौट गये, तब यमराजके समान बलवान्, धीर, वीर, चेदिराज दमघोषपुत्र महाबुद्धिमान् शिशुपाल धनुष उठानेके लिये चला। परंतु उसपर हाथ लगाते ही वह घुटनोंके बल पृथ्वी पर गिर पड़ा ॥ २४-२५ ॥

ततो राजा महावीर्यो जरासंधो महाबलः ।
धनुषोऽभ्याशमागत्य तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ २६ ॥

तदनन्तर महापराक्रमी एवं महाबली राजा जरासंध धनुषके निकट आकर पर्वतकी भाँति अविचलभावसे खड़ा हो गया ॥ २६ ॥

धनुषा पीड्यमानस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ।
तत उत्थाय राजा स स्वराष्ट्राण्यभिजग्मिवान् ॥ २७ ॥

परंतु उठाते समय धनुषका झटका खाकर वह घुटनेके बल गिर पड़ा। तब वहाँसे उठकर राजा जरासंध अपने राज्यको चला गया ॥ २७ ॥

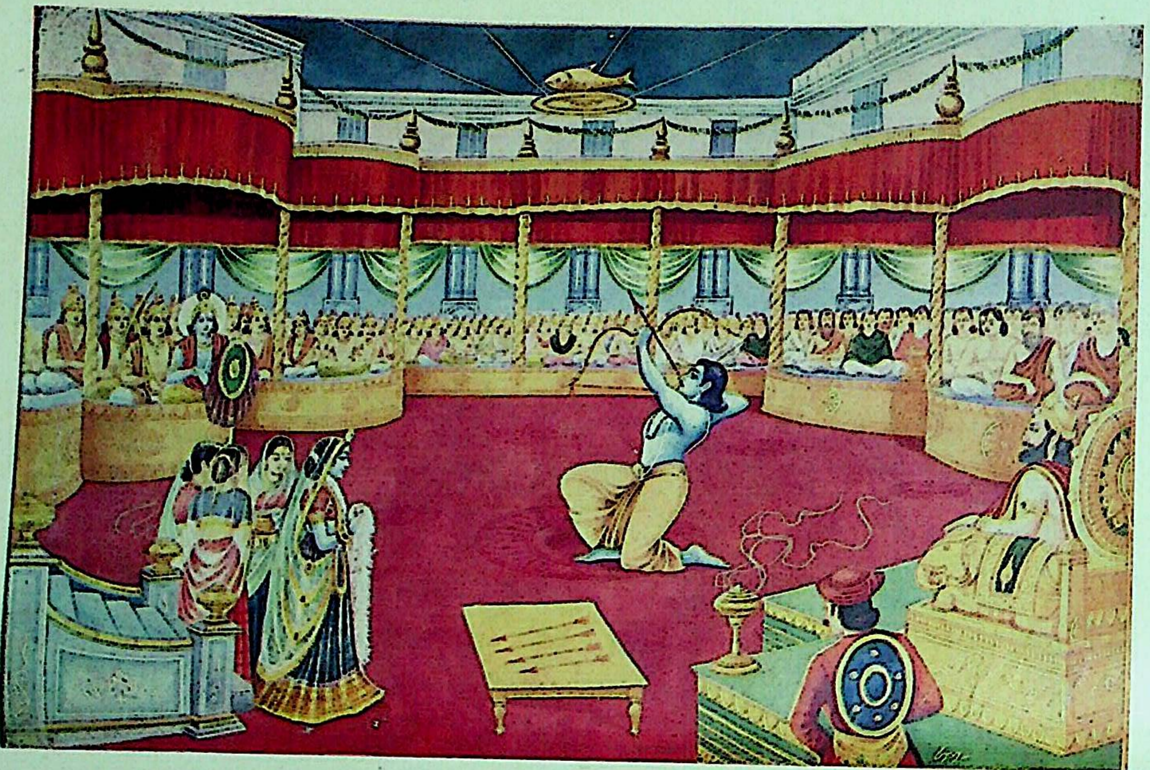
ततः शल्यो महावीरो मद्रराजो महाबलः ।
तदप्यारोप्यमाणस्तु जानुभ्यामगमन्महीम् ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् महावीर एवं महाबली मद्रराज शल्य आये, उन्होंने भी उस धनुषको चढ़ाते समय धरतीपर घुटने टेक दिये।

(ततो दुर्योधनो राजा धार्तराष्ट्रः परंतपः ।
मानी दृढास्त्रसम्पन्नः सर्वैश्च नृपलक्षणैः ॥
उत्थितः सहसा तत्र भ्रातृमध्ये महाबलः ।
विलोक्य द्रौपदीं हृष्टो धनुषोऽभ्याशमागमत् ॥
स बभौ धनुरादाय शक्रश्चापधरो यथा ।
आरोपयंस्तु तद् राजा धनुषा बलिना तदा ॥
उत्तानशय्यमपतदङ्गुल्यन्तरताडितः ।
स ययौ ताडितस्तेन व्रीडन्निव नराधिपः ॥)

तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाला धृतराष्ट्रपुत्र महाबली राजा दुर्योधन सहसा अपने भाइयोंके बीचसे उठकर खड़ा हो गया। उसके अस्त्र-शस्त्र बड़े मजबूत थे। वह स्वाभिमानी होनेके साथ ही समस्त राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न था। द्रौपदीको देखकर उसका हृदय हर्षसे खिल उठा और वह शीघ्रतापूर्वक धनुषके पास आया। उस धनुषको हाथमें लेकर वह चापधारी इन्द्रके समान शोभा पाने लगा। राजा दुर्योधन उस मजबूत धनुषपर जब प्रत्यञ्चा चढ़ाने लगा, तब

* कर्णके द्वारा प्रत्यञ्चा और बाण चढ़ानेकी बात दाक्षिणात्य पाठमें नहीं है। भण्डारकरकी प्रतिमें भी मुख्य पाठमें यह वर्णन नहीं है। नीलकण्ठी पाठमें भी इससे पूर्व श्लोक १५में तथा उत्तर अ० १८७ श्लोक ४ एवं १९ में भी ऐसा ही उल्लेख है कि कर्ण धनुषपर प्रत्यञ्चा और बाण नहीं चढ़ा सका था; इससे यही सिद्ध होता है कि कर्णने बाण नहीं चढ़ाया था।



द्रौपदी-स्वयंवर

समय उसके अंगुलियोंके बीचमें झटकेसे ऐसी चोट लगी कि वह चित्त लोट गया। धनुषकी चोट खाकर राजा दुर्योधन अत्यन्त लज्जित होता हुआ-सा अपने स्थानपर लौट गया॥

तस्मिंस्तु सम्भ्रान्तजने समाजे
निक्षिप्तवादेषु जनाधिपेषु।
कुन्तीसुतो जिष्णुरियेष कर्तुं
सज्यं धनुस्तत् सशरं प्रवीरः॥ २९॥

(जब इस प्रकार बड़े-बड़े प्रभावशाली राजा लक्ष्यवेध न कर सके, तब) सारा समाज सम्भ्रम (घबराहट) में पड़ गया और लक्ष्यवेधकी बात-चीततक बंद हो गयी, उसी समय प्रमुख वीर कुन्तीनन्दन अर्जुनने उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर उसपर बाण-संधान करनेकी अभिलाषा की॥ २९॥

(ततो वरिष्ठः सुरदानवाना-
मुदारधीर्वृष्णिकुलप्रवीरः।
जहर्ष रामेण स पीड्य हस्तं
हस्तं गतां पाण्डुसुतस्य मत्वा॥
न जज्ञुरन्ये नृपवीरमुख्याः
संछन्नरूपानथ पाण्डुपुत्रान्।)

यह देख देवता और दानवोंके आदरणीय, वृष्णिवंशके प्रमुख वीर उदारबुद्धि भगवान् श्रीकृष्ण बलरामजीके साथ उनका हाथ दबाते हुए बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें यह विश्वास हो गया कि द्रौपदी अब पाण्डुनन्दन अर्जुनके हाथमें आ गयी। पाण्डवोंने अपना रूप छिपा रक्खा था, अतः दूसरे कोई राजा या प्रमुख वीर उन्हें पहचान न सके।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि राजपराङ्मुखीभवने षडशीत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १८६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें सम्पूर्ण राजाओंके विमुख होनेसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ छियासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुनका लक्ष्यवेध करके द्रौपदीको प्राप्त करना

वैशम्पायन उवाच

यदा निवृत्ता राजानो धनुषः सज्यकर्मणः।
अथोदतिष्ठद् विप्राणां मध्याज्जिष्णुरुदारधीः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब सब राजाओंने उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ानेके कार्यसे मुँह मोड़ लिया, तब उदारबुद्धि अर्जुन ब्राह्मणमण्डलीके बीचसे उठकर खड़े हुए॥ १॥

उदक्रोशन् विप्रमुख्या विधुन्वन्तोऽजिनानि च।
दृष्ट्वा सम्प्रस्थितं पार्थमिन्द्रकेतुसमप्रभम्॥ २॥

इन्द्रकी ध्वजाके समान (लंबे) अर्जुनको उठकर धनुषकी ओर जाते देख बड़े-बड़े ब्राह्मण अपने-अपने मृगचर्म हिलाते हुए जोर-जोरसे कोलाहल करने लगे॥ २॥

केचिदासन् विमनसः केचिदासन् मुदान्विताः।
आहुः परस्परं केचिन्निपुणा बुद्धिजीविनः॥ ३॥

कुछ ब्राह्मण उदास हो गये और कुछ प्रसन्नताके मारे फूल उठे तथा कुछ चतुर एवं बुद्धिजीवी ब्राह्मण आपसमें इस प्रकार कहने लगे—॥ ३॥

यत् कर्णशल्यप्रमुखैः क्षत्रियैर्लोकविश्रुतैः।
नानतं बलवद्भिर्हि धनुर्वेदपरायणैः॥ ४॥
तत् कथं त्वकृतास्त्रेण प्राणतो दुर्बलीयसा।
बटुमात्रेण शक्यं हि सज्यं कर्तुं धनुर्द्विजाः॥ ५॥

'ब्राह्मणो! कर्ण और शल्य आदि बलवान्, धनुर्वेदपरायण तथा लोकविख्यात क्षत्रिय जिसे झुका (तक) न सके, उसी धनुषपर अस्त्र-ज्ञानसे शून्य और शारीरिक बलकी दृष्टिसे अत्यन्त दुर्बल यह निरा ब्राह्मण-बालक कैसे प्रत्यञ्चा चढ़ा सकेगा॥ ४-५॥

अवहास्या भविष्यन्ति ब्राह्मणाः सर्वराजसु।
कर्मण्यस्मिन्नसंसिद्धे चापलादपरीक्षिते॥ ६॥

'इसने बालोचित चपलताके कारण इस कार्यकी कठिनाईपर विचार नहीं किया है। यदि इसमें यह सफल न हुआ तो समस्त राजाओंमें ब्राह्मणोंकी बड़ी हँसी होगी॥ ६॥

यद्येष दर्पाद्धर्षाद् वाप्यथ ब्राह्मणचापलात्।
प्रस्थितो धनुरायन्तुं वार्यतां साधु मागमत्॥ ७॥

'यदि यह अभिमान, हर्ष अथवा ब्राह्मणसुलभ चञ्चलताके कारण धनुषपर डोरी चढ़ानेके लिये आगे बढ़ा है तो इसे रोक देना चाहिये; अच्छा तो यही होगा कि यह जाय ही नहीं॥ ७॥

ब्राह्मणा ऊचुः

नावहास्या भविष्यामो न च लाघवमास्थिताः।
न च विद्विष्टतां लोके गमिष्यामो महीक्षिताम्॥ ८॥

ब्राह्मण बोले—(भाइयो!) हमारी हँसी नहीं होगी। न हमें किसीके सामने छोटा ही बनना पड़ेगा और लोकमें हमलोग राजाओंके द्वेषपात्र भी नहीं होंगे। (अतः इन बातोंकी चिन्ता छोड़ दो)॥ ८॥

केचिदाहुर्युवा श्रीमान् नागराजकरोपमः।
पीनस्कन्धोरुबाहुश्च धैर्येण हिमवानिव॥ ९॥

कुछ ब्राह्मणोंने कहा—'यह सुन्दर युवक नागराज ऐरावतके शुण्ड-दण्डके समान हृष्ट-पुष्ट दिखायी देता है। इसके कंधे सुपुष्ट और भुजाएँ बड़ी-बड़ी हैं। यह धैर्यमें हिमालयके समान जान पड़ता है ॥ ९ ॥

सिंहखेलगतिः श्रीमान् मत्तनागेन्द्रविक्रमः।
सम्भाव्यमस्मिन् कर्मेदमुत्साहाच्चानुमीयते ॥ १० ॥

'इसकी सिंहके समान मस्तानी चाल है। यह शोभाशाली तरुण मतवाले गजराजके समान पराक्रमी प्रतीत होता है। इस वीरके लिये यह कार्य करना सम्भव है। इसका उत्साह देखकर भी ऐसा ही अनुमान होता है ॥ १० ॥

शक्तिरस्य महोत्साहा न ह्यशक्तः स्वयं व्रजेत्।
न च तद् विद्यते किंचित् कर्म लोकेषु यद् भवेत् ॥ ११ ॥
ब्राह्मणानामसाध्यं च नृषु संस्थानचारिषु।
अब्भक्षा वायुभक्षाश्च फलाहारा दृढव्रताः ॥ १२ ॥
दुर्बला अपि विप्रा हि बलीयांसः स्वतेजसा।
ब्राह्मणो नावमन्तव्यः सदसद् वा समाचरन् ॥ १३ ॥
सुखं दुःखं महद्‌ध्रस्वं कर्म यत् समुपागतम्।
(धनुर्वेदे च वेदे च योगेषु विविधेषु च।
न तं पश्यामि मेदिन्यां ब्राह्मणाभ्यधिको भवेत् ॥
मन्त्रयोगबलेनापि महताऽऽत्मबलेन वा।
जृम्भयेयुरमुं लोकमथवा द्विजसत्तमाः ॥)
जामदग्न्येन रामेण निर्जिताः क्षत्रिया युधि ॥ १४ ॥

'इसमें शक्ति और महान् उत्साह है। यदि यह असमर्थ होता तो स्वयं ही धनुषके पास जानेका साहस नहीं करता। सम्पूर्ण लोकोंमें देवता, असुर आदिके रूपमें विचरनेवाले पुरुषोंका ऐसा कोई कार्य नहीं है, जो ब्राह्मणोंके लिये असाध्य हो। ब्राह्मणलोग जल पीकर, हवा खाकर अथवा फलाहार करके (भी) दृढ़तापूर्वक व्रतका पालन करते हैं। अतः वे शरीरसे दुबले होनेपर भी अपने तेजके कारण अत्यन्त बलवान् होते हैं। ब्राह्मण भला-बुरा, सुखद-दुःखद और छोटा-बड़ा—जो भी कर्म प्राप्त होता है, कर लेता है; अतः किसी भी कर्मको करते समय उस ब्राह्मणका अपमान नहीं करना चाहिये। मैं भूमण्डलमें ऐसे किसी पुरुषको नहीं देखता जो धनुर्वेद, वेद तथा नाना प्रकारके योगोंमें ब्राह्मणसे बढ़-चढ़कर हो। श्रेष्ठ ब्राह्मण मन्त्र-बल योग-बल अथवा महान् आत्म-बलसे इस सम्पूर्ण जगत्‌को स्तब्ध कर सकते हैं। (अतः उसके प्रति तुच्छ बुद्धि नहीं रखनी चाहिये) देखो, जमदग्निनन्दन परशुरामजीने अकेले ही (सम्पूर्ण) क्षत्रियोंको युद्धमें जीत लिया था ॥ ११–१४ ॥

पीतः समुद्रोऽगस्त्येन ह्यगाधो ब्रह्मतेजसा।
तस्माद् ब्रुवन्तु सर्वेऽत्र बटुरेष धनुर्महान् ॥ १५ ॥
आरोपयतु शीघ्रं वै तथेत्यूचुर्द्विजर्षभाः।

'महर्षि अगस्त्यने अपने ब्रह्मतेजके प्रभावसे अगाध समुद्रको पी डाला। इसलिये आप सब लोग यहाँ आशीर्वाद दें कि यह महान् ब्रह्मचारी शीघ्र ही इस धनुषको चढ़ा दे (और लक्ष्य-वेध करनेमें सफल हो)' यह सुनकर श्रेष्ठ ब्राह्मण उसी प्रकार आशीर्वादकी वर्षा करने लगे ॥ १५ ॥

एवं तेषां विलपतां विप्राणां विविधा गिरः ॥
अर्जुनो धनुषोऽभ्याशे तस्थौ गिरिरिवाचलः।
स तद् धनुः परिक्रम्य प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥ १६ ॥

इस प्रकार जब ब्राह्मणलोग भाँति-भाँतिकी बातें कर रहे थे, उसी समय अर्जुन धनुषके पास जाकर पर्वतके समान अविचल भावसे खड़े हो गये। फिर उन्होंने धनुषके चारों ओर घूमकर उसकी परिक्रमा की ॥ १६–१७ ॥

प्रणम्य शिरसा देवमीशानं वरदं प्रभुम्।
कृष्णं च मनसा कृत्वा जगृहे चार्जुनो धनुः ॥ १८ ॥

इसके बाद वरदायक भगवान् शंकरको मस्तक झुकाकर प्रणाम किया और मन-ही-मन भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करके अर्जुनने वह धनुष उठा लिया ॥ १८ ॥

यत् पार्थिवै रुक्मसुनीथवक्रैः
राधेयदुर्योधनशल्यशाल्वैः।
तदा धनुर्वेदपरैर्नृसिंहैः
कृतं न सज्यं महतोऽपि यत्नात् ॥ १९ ॥
तदर्जुनो वीर्यवतां सदर्प-
स्तदैन्द्रिरिन्द्रावरजप्रभावः।
सज्यं च चक्रे निमिषान्तरेण
शरांश्च जग्राह दशार्धसंख्यान् ॥ २० ॥

रुक्म, सुनीथ, वक्र, कर्ण, दुर्योधन, शल्य तथा शाल्व आदि धनुर्वेदके पारङ्गत विद्वान् पुरुषसिंह राजालोग महान् प्रयत्न करके भी जिस धनुषपर डोरी न चढ़ा सके, उसी धनुषपर विष्णुके समान प्रभावशाली एवं पराक्रमी वीरोंमें श्रेष्ठताका अभिमान रखनेवाले इन्द्रकुमार अर्जुनने पलक मारते-मारते प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। इसके बाद उन्होंने वे पाँच बाण भी अपने हाथमें ले लिये ॥ १९-२० ॥

विव्याध लक्ष्यं निपपात तच्च
छिद्रेण भूमौ सहसातिविद्धम्।
ततोऽन्तरिक्षे च बभूव नादः
समाजमध्ये च महान् निनादः ॥ २१ ॥

और उन्हें चलाकर बात-की-बातमें (लक्ष्य) बेध दिया। वह बिंधा हुआ लक्ष्य अत्यन्त छिन्न-भिन्न हो यन्त्रके छेदसे सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा। उस समय आकाशमें बड़े जोरसे हर्षनाद हुआ और सभामण्डपमें तो उससे भी महान् आनन्दका कोलाहल छा गया ॥ २१ ॥

पुष्पाणि दिव्यानि ववर्ष देवः
पार्थस्य मूर्ध्नि द्विषतां निहन्तुः ॥ २२ ॥

देवतालोग शत्रुहन्ता अर्जुनके मस्तकपर दिव्य फूलोंकी वर्षा करने लगे ॥ २२ ॥

चैलानि विव्यधुस्तत्र ब्राह्मणाश्च सहस्रशः।
विलक्षितास्ततश्चक्रुर्हाहाकारांश्च सर्वशः।
न्यपतंश्चात्र नभसः समन्तात् पुष्पवृष्टयः ॥ २३ ॥
शताङ्गानि च तूर्याणि वादकाः समवादयन्।
सूतमागधसङ्घाश्चाप्यस्तुवंस्तत्र सुस्वराः ॥ २४ ॥

सहस्रों ब्राह्मण (हर्षमें भरकर) वहाँ अपने दुपट्टे हिलाने लगे (मानो अर्जुनकी विजय-ध्वजा फहरा रहे हों), फिर तो (जो लोग लक्ष्यवेध करनेमें असमर्थ हो हार मान चुके थे) वे राजा लोग सब ओरसे हाहाकार करने लगे। उस रङ्गभूमिमें आकाशसे सब ओर फूलोंकी वर्षा हो रही थी। बाजा बजानेवाले लोग सैकड़ों अङ्गोंवाली तुरही आदि बजाने लगे। सूत और मागधगण वहाँ मीठे स्वरसे यशोगान करने लगे ॥ २३-२४ ॥

तं दृष्ट्वा द्रुपदः प्रीतो बभूव रिपुसूदनः।
सह सैन्यैश्च पार्थस्य साहाय्यार्थमियेष सः ॥ २५ ॥

अर्जुनको देखकर शत्रुसूदन द्रुपदके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने अपनी सेनाके साथ उनकी सहायता करनेका निश्चय किया ॥ २५ ॥

तस्मिंस्तु शब्दे महति प्रवृद्धे
युधिष्ठिरो धर्मभृतां वरिष्ठः।
आवासमेवोपजगाम शीघ्रं
सार्धं यमाभ्यां पुरुषोत्तमाभ्याम् ॥ २६ ॥

उस समय जब महान् कोलाहल बढ़ने लगा, धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ युधिष्ठिर पुरुषोत्तम नकुल और सहदेवको साथ लेकर डेरेपर ही चले गये ॥ २६ ॥

विद्धं तु लक्ष्यं प्रसमीक्ष्य कृष्णा
पार्थं च शक्रप्रतिमं निरीक्ष्य।
आदाय शुक्लं वरमाल्यदाम
जगाम कुन्तीसुतमुत्स्मयन्ती ॥ २७ ॥
(स्वभ्यस्तरूपापि नवेव नित्यं
विनापि हासं हसतीव कन्या।
मदादृतेऽपि स्खलतीव भावै-
र्वाचा विना व्याहरतीव दृष्ट्या ॥
समेत्य तस्योपरि सोत्ससर्ज
समागतानां पुरतो नृपाणाम्।
विन्यस्य मालां विनयेन तस्थौ
विहाय राज्ञः सहसा नृपात्मजा ॥
शचीव देवेन्द्रमथाग्निदेवं
स्वाहेव लक्ष्मीश्च यथा मुकुन्दम्।
उषेव सूर्यं मदनं रतिश्च
महेश्वरं पर्वतराजपुत्री।
रामं यथा मैथिलराजपुत्री
भैमी यथा राजवरं नलं हि ॥)

लक्ष्यको विंधकर धरतीपर गिरा देख इन्द्रके तुल्य पराक्रमी अर्जुनपर दृष्टि डालकर हाथमें सुन्दर श्वेत फूलोंकी जयमाला लिये द्रौपदी मन्द-मन्द मुसकराती हुई कुन्तीकुमारके समीप गयी। उसका रूप जिन्होंने बार-बार देखा था, उनके लिये भी वह नित्य नयी-सी जान पड़ती थी। वह द्रुपदकुमारी बिना हँसीके भी हँसती-सी प्रतीत होती थी। मदसेवनके बिना भी (आन्तरिक अनुराग-सूचक) भावोंके द्वारा लड़खड़ाती-सी चलती थी और बिना बोले भी केवल दृष्टिसे ही बातचीत करती-सी जान पड़ती थी। निकट जाकर राजकुमारी द्रौपदीने वहाँ जुटे हुए समस्त राजाओंके समक्ष उन सबकी उपेक्षा करके सहसा वह माला अर्जुनके गलेमें डाल दी और विनयपूर्वक खड़ी हो गयी। जैसे शचीने देवराज इन्द्रका, स्वाहाने अग्निदेवका, लक्ष्मीने भगवान् विष्णुका, उषाने सूर्यदेवका, रतिने कामदेवका, गिरिराजकुमारी उमाने महेश्वरका, विदेहराजनन्दिनी सीताने श्रीरामका तथा भीम-कुमारी दमयन्तीने नृपश्रेष्ठ नलका वरण किया था, उसी प्रकार द्रौपदीने पाण्डुपुत्र अर्जुनका वरण कर लिया ॥ २७ ॥

स तामुपादाय विजित्य रङ्गे
द्विजातिभिस्तैरभिपूज्यमानः।
रङ्गान्निरक्रामदचिन्त्यकर्मा
पत्न्या तया चाप्यनुगम्यमानः ॥ २८ ॥

अद्भुत कर्म करनेवाले अर्जुन इस प्रकार उस स्वयंवर-सभामें (स्त्री-रत्न द्रौपदीको जीतकर) उसे अपने साथ ले रङ्गभूमिसे बाहर निकले। पत्नी द्रौपदी उनके पीछे-पीछे चल रही थी। उस समय उपस्थित ब्राह्मणोंने उनका बड़ा सत्कार किया ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि लक्ष्यच्छेदने सप्ताशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें लक्ष्यछेदनविषयक एक सौ सतासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ३३½ श्लोक हैं)

अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपदको मारनेके लिये उद्यत हुए राजाओंका सामना करनेके लिये भीम और अर्जुनका उद्यत होना और उनके विषयमें भगवान् श्रीकृष्णका बलरामजीसे वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

तस्मै दित्सति कन्यां तु ब्राह्मणाय तदा नृपे।
कोप आसीन्महीपानामालोक्यान्योन्यमन्तिकात् ॥१॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा द्रुपद उस ब्राह्मणको कन्या देना चाहते हैं, यह जानकर उस समय राजाओंको बड़ा क्रोध हुआ और वे एक दूसरेको देखकर तथा समीप आकर इस प्रकार कहने लगे—॥ १ ॥

अस्मानयमतिक्रम्य तृणीकृत्य च संगतान्।
दातुमिच्छति विप्राय द्रौपदीं योषितां वराम् ॥ २ ॥

'(अहो! देखो तो सही,) यह राजा द्रुपद (यहाँ) एकत्र हुए हमलोगोंको तिनकेकी तरह तुच्छ समझकर और हमारा उल्लङ्घन करके युवतियोंमें श्रेष्ठ अपनी कन्याका विवाह एक ब्राह्मणके साथ करना चाहता है ॥ २ ॥

अवरोप्येह वृक्षं तु फलकाले निपात्यते।
निहन्मैनं दुरात्मानं योऽयमस्मान् न मन्यते ॥ ३ ॥

'यह वृक्ष लगाकर अब फल लगनेके समय उसे काटकर गिरा रहा है। अतः हमलोग इस दुरात्माको मार डालें; क्योंकि यह हमें कुछ नहीं समझ रहा है ॥ ३ ॥

न ह्यर्हत्येष सम्मानं नापि वृद्धक्रमं गुणैः।
हन्मैनं सह पुत्रेण दुराचारं नृपद्विषम् ॥ ४ ॥

'यह राजा द्रुपद गुणोंके कारण हमसे वृद्धोचित सम्मान पानेका अधिकारी भी नहीं है; राजाओंसे द्वेष करनेवाले इस दुराचारीको पुत्रसहित हमलोग मार डालें ॥ ४ ॥

अयं हि सर्वानाहूय सत्कृत्य च नराधिपान्।
गुणवद् भोजयित्वान्नं ततः पश्चान्न मन्यते ॥ ५ ॥

'पहले तो इसने हम सब राजाओंको बुलाकर सत्कार किया, उत्तम गुणयुक्त भोजन कराया और ऐसा करनेके बाद यह हमारा अपमान कर रहा है ॥ ५ ॥

अस्मिन् राजसमावाये देवानामिव संनये।
किमयं सदृशं कञ्चिन्नृपतिं नैव दृष्टवान् ॥ ६ ॥

'देवताओंके समूहकी भाँति उत्तम नीतिसे सुशोभित राजाओंके इस समुदायमें क्या इसने किसी भी नरेशको अपनी पुत्रीके योग्य नहीं देखा है? ॥ ६ ॥

न च विप्रेष्वधीकारो विद्यते वरणं प्रति।
स्वयंवरः क्षत्रियाणामितीयं प्रथिता श्रुतिः ॥ ७ ॥

'स्वयंवरमें कन्याद्वारा वरण प्राप्त करनेका अधिकार ही ब्राह्मणोंको नहीं है। (लोगोंमें) यह बात प्रसिद्ध है कि स्वयंवर क्षत्रियोंका ही होता है ॥ ७ ॥

अथवा यदि कन्येयं न च कञ्चिद् बुभूषति।
अग्नावेनां परिक्षिप्य याम राष्ट्राणि पार्थिवाः ॥ ८ ॥

'अथवा राजाओ! यदि यह कन्या हमलोगोंमेंसे किसीको अपना पति बनाना न चाहे तो हम इसे जलती हुई आगमें झोंककर अपने-अपने राज्यको चल दें ॥ ८ ॥

ब्राह्मणो यदि चापल्याल्लोभाद् वाकृतवानिदम्।
विप्रियं पार्थिवेन्द्राणां नैष वध्यः कथंचन ॥ ९ ॥

'यद्यपि इस ब्राह्मणने चपलताके कारण अथवा राजकन्याके प्रति लोभ होनेसे हम राजाओंका अप्रिय किया है, तथापि ब्राह्मण होनेके कारण हमें किसी प्रकार इसका वध नहीं करना चाहिये ॥ ९ ॥

ब्राह्मणार्थं हि नो राज्यं जीवितं हि वसूनि च।
पुत्रपौत्रं च यच्चान्यदस्माकं विद्यते धनम् ॥ १० ॥

'क्योंकि हमारा राज्य, जीवन, रत्न, पुत्र-पौत्र और भी जो धन-वैभव है, वह सब ब्राह्मणोंके लिये ही है। (ब्राह्मणोंके लिये हम इन सब चीजोंका त्याग कर सकते हैं)।

अवमानभयाच्चैव स्वधर्मस्य च रक्षणात्।
स्वयंवराणामन्येषां मा भूदेवंविधा गतिः ॥ ११ ॥

'द्रुपदको तो हम इसलिये दण्ड देना चाहते हैं कि (हमारा) अपमान न हो, हमारे धर्मकी रक्षा हो और स्वयंवरोंकी भी ऐसी दुर्गति न हो' ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूला हृष्टाः परिघबाहवः।
द्रुपदं तु जिघांसन्तः सायुधाः समुपाद्रवन् ॥ १२ ॥

यों कहकर परिघ-जैसी मोटी बाँहोंवाले वे श्रेष्ठ नरेश हर्ष (और उत्साह) में भरकर हाथोंमें अस्त्र-शस्त्र लिये द्रुपदको मारनेकी इच्छासे उनकी ओर वेगसे दौड़े ॥ १२ ॥

तान् गृहीतशरावापान् क्रुद्धानापततो बहून्।
द्रुपदो वीक्ष्य संत्रासाद् ब्राह्मणाञ्छरणं गतः ॥ १३ ॥

उन बहुत-से राजाओंको क्रोधमें भरकर धनुष लिये आते देख द्रुपद अत्यन्त भयभीत हो ब्राह्मणोंकी शरणमें गये ॥ १३ ॥

वेगेनापततस्तांस्तु प्रभिन्नानिव वारणान्।
पाण्डुपुत्रौ महेष्वासौ प्रतियातावरिंदमौ ॥ १४ ॥

मदकी धारा बहानेवाले मदोन्मत्त गजराजोंकी भाँति उन नरेशोंको वेगसे आते देख शत्रुदमन महाधनुर्धर पाण्डुनन्दन भीम और अर्जुन उनका सामना करनेके लिये आगे बढ़े ॥ १४ ॥

ततः समुत्पेतुरुदायुधास्ते
महीक्षितो बद्धगोधाङ्गुलित्राः।
जिघांसमानाः कुरुराजपुत्रा-
वमर्षयन्तोऽर्जुनभीमसेनौ

तब हाथोंमें गोहके चमड़ेके दस्ताने पहने और आयुधोंको ऊपर उठाये अमर्षमें भरे हुए वे (सभी) नरेश कुरुराजकुमार अर्जुन और भीमसेनको मारनेके लिये उनपर टूट पड़े ॥ १५ ॥

ततस्तु भीमोऽद्भुतभीमकर्मा
महाबलो वज्रसमानसारः ।
उत्पाट्य दोर्भ्यां द्रुममेकवीरो
निष्पत्रयामास यथा गजेन्द्रः ॥ १६ ॥

तब तो वज्रके समान शक्तिशाली तथा अद्भुत एवं भयानक कर्म करनेवाले अद्वितीय वीर महाबली भीमसेनने गजराजकी भाँति अपने दोनों हाथोंसे एक वृक्षको उखाड़ लिया और उसके पत्ते झाड़ दिये ॥ १६ ॥

तं वृक्षमादाय रिपुप्रमाथी
दण्डीव दण्डं पितृराज उग्रम् ।
तस्थौ समीपे पुरुषर्षभस्य
पार्थस्य पार्थः पृथुदीर्घबाहुः ॥ १७ ॥

फिर मोटी और विशाल भुजाओंवाले शत्रुनाशन कुन्तीकुमार भीमसेन उसी वृक्षको हाथमें लेकर भयंकर दण्ड उठाये हुए दण्डधारी यमराजकी भाँति पुरुषोत्तम अर्जुनके समीप खड़े हो गये ॥ १७ ॥

तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धि-
र्जिष्णुः स हि भ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
विसिष्मिये चापि भयं विहाय
तस्थौ धनुर्गृह्य महेन्द्रकर्मा ॥ १८ ॥

असाधारण बुद्धिवाले तथा देवराज इन्द्रके समान महापराक्रमी, अचिन्त्यकर्मा अर्जुन अपने भाई भीमसेनके उस (अद्भुत) कार्यको देखकर चकित हो उठे और भय छोड़कर धनुष हाथमें लिये हुए युद्धके लिये डट गये ॥ १८ ॥



तत् प्रेक्ष्य कर्मातिमनुष्यबुद्धि-
र्जिष्णोः सहभ्रातुरचिन्त्यकर्मा ।
दामोदरो भ्रातरमुग्रवीर्यं
हलायुधं वाक्यमिदं बभाषे ॥ १९ ॥

जिनकी बुद्धि लोकोत्तर और कर्म अचिन्त्य हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुन तथा उनके भाई भीमसेनका वह (साहसपूर्ण) कार्य देखकर भयंकर पराक्रमी एवं हलको ही आयुधके रूपमें धारण करनेवाले अपने भ्राता बलरामजीसे यह बात कही— ॥ १९ ॥

य एष सिंहर्षभखेलगामी
महद्धनुः कर्षति तालमात्रम्[1] ।
एषोऽर्जुनो नात्र विचार्यमस्ति
यद्यस्मि संकर्षण वासुदेवः ॥ २० ॥
यस्त्वेष वृक्षं तरसावभज्य
राज्ञां निकारे सहसा प्रवृत्तः ।
वृकोदरान्नान्य इहैतदद्य
कर्तुं समर्थः समरे पृथिव्याम् ॥ २१ ॥

'भैया संकर्षण ! ये जो श्रेष्ठ सिंहके समान चालसे लीलापूर्वक चल रहे हैं और तालके बराबर विशाल धनुषको खींच रहे हैं, ये अर्जुन ही हैं; इसमें विचार करनेकी कोई बात नहीं है । यदि मैं वासुदेव हूँ तो मेरी यह बात झूठी नहीं है । और ये जो बड़े वेगसे वृक्ष उखाड़कर सहसा समस्त राजाओंका सामना करनेके लिये उद्यत हुए हैं, भीमसेन हैं; क्योंकि इस समय पृथ्वीपर भीमसेनके सिवा दूसरा कोई ऐसा वीर नहीं है, जो युद्ध-भूमिमें यह अद्भुत पराक्रम कर सके ॥

योऽसौ पुरस्तात् कमलायताक्ष-
स्तनुर्महासिंहगतिर्विनीतः ।
गौरः प्रलम्बोज्ज्वलचारुघोणो
विनिःसृतः सोऽच्युत धर्मपुत्रः ॥ २२ ॥

'अच्युत ! जो विकसित कमल-दलके समान विशाल नेत्रोंवाले, दुबले-पतले, विनयशील, गोरे, महान् सिंहकी-सी चालसे चलनेवाले तथा लंबी, सुन्दर एवं मनोहर नाकवाले पुरुष (अभी यहाँसे) निकले हैं, वे धर्मपुत्र युधिष्ठिर हैं ।२२।

यौ तौ कुमाराविव कार्तिकेयौ
द्वावश्विनेयाविति मे वितर्कः ।
मुक्ता हि तस्माज्जतुवेश्मदाहा-
न्मया श्रुताः पाण्डुसुताः पृथा च ॥ २३ ॥

'उनके साथ युगल कार्तिकेय-जैसे जो दो कुमार थे, वे

१. ऊर्ध्वविस्तृतदोर्मानेः तालमित्यभिधीयते । इस वचनके अनुसार एक मनुष्य अपनी बाँहको ऊपर उठाकर खड़ा हो तो उस हाथसे लेकर पैरतककी लंबाईको 'ताल' कहते हैं ।

अश्विनीकुमारोंके पुत्र नकुल और सहदेव रहे हैं—ऐसा मेरा अनुमान है; क्योंकि मैंने सुन रखा है कि उस लाक्षागृहके दाहसे पाण्डव और कुन्तीदेवी—सभी बचकर निकल गये थे' ॥

(यथा नृपाः पाण्डवमाजिमध्ये
तं प्राब्रवीच्चक्रधरो हलायुधम् ।
यलं विजानन् पुरुषोत्तमस्तदा
न कार्यमार्येण च सम्भ्रमस्त्वया॥
भीमानुजो योधयितुं समर्थ
एको हि पार्थः ससुरासुरान् बहून्॥
अलं विजेतुं किमु मानुषान् नृपान्
साहाय्यमस्मान् यदि सव्यसाची।
स वाञ्छति स्म प्रयताम वीर
पराभवः पाण्डुसुते न चास्ति)

राजालोग रण-भूमिमें पाण्डु-पुत्र अर्जुनके प्रति अपना क्रोध जैसे प्रकट कर रहे थे, उसे सुनकर अर्जुनके बलको जानते हुए चक्रधारी पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजीसे कहा—'भैया ! आपको घबराना नहीं चाहिये । यदि बहु[त-से] देवता और असुर एकत्र हो जायँ तो भी भीमसेनके छोटे [भाई] कुन्तीकुमार अर्जुन उन सबके साथ अकेले ही युद्ध क[रनेमें] समर्थ हैं । फिर इन मानव-भूपालोंपर विजय पाना कौन [बड़ी] बात है । यदि सव्यसाची अर्जुन हमारी सहायता लेना चा[हें] तो हम इसके लिये प्रयत्न करेंगे । वीरवर ! मेरा विश्वा[स है] कि पाण्डुपुत्र अर्जुनकी पराजय नहीं हो सकती' ।

तमब्रवीन्निर्जलतोयदाभो
हलायुधोऽनन्तरजं प्रतीतः ।
प्रीतोऽस्मि दृष्ट्वा हि पितृष्वसारं
पृथां विमुक्तां सह कौरवाग्र्यैः ॥ २४ ॥

जलहीन मेघके समान गौरवर्णवाले हलधर (बलरामजी)[ने] अपने छोटे भाई श्रीकृष्णकी बातपर विश्वास करके उ[नसे] कहा—'भैया ! कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर पाण्डवोंसहित अपनी बु[आ] कुन्तीको लाक्षागृहसे बची हुई देखकर मुझे बड़ी प्रस[न्नता] हुई है' ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि कृष्णवाक्ये अष्टाशीत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक एक सौ अट्ठासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल २६½ श्लोक हैं)

एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः

अर्जुन और भीमसेनके द्वारा कर्ण तथा शल्यकी पराजय और द्रौपदीसहित भीम-अर्जुनका अपने डेरेपर जाना

वैशम्पायन उवाच

अजिनानि विधुन्वन्तः करकांश्च द्विजर्षभाः ।
ऊचुस्ते भीर्न कर्तव्या वयं योत्स्यामहे परान् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अपने मृगचर्म और कमण्डलुओंको हिलाते और उछालते हुए वे श्रेष्ठ ब्राह्मण अर्जुनसे कहने लगे- 'तुम डरना नहीं, हम (सब) लोग (तुम्हारी ओरसे) शत्रुओंके साथ युद्ध करेंगे'॥ १ ॥

तानेवं वदतो विप्रानर्जुनः प्रहसन्निव ।
उवाच प्रेक्षका भूत्वा यूयं तिष्ठथ पार्श्वतः ॥ २ ॥

इस प्रकारकी बातें करनेवाले उन ब्राह्मणोंसे अर्जुनने हँसते हुए-से कहा—'आपलोग दर्शक होकर बगलमें चुपचाप खड़े रहें ॥ २ ॥

अहमेनानजिह्माग्रैः शतशो विकिरञ्छरैः ।
वारयिष्यामि संक्रुद्धान् मन्त्रैराशीविषानिव ॥ ३ ॥

'मैं (अकेला ही) सीधी नोकवाले सैकड़ों बाणोंकी वर्षा करके क्रोधमें भरे हुए इन शत्रुओंको उसी प्रकार रोक दूँगा, जैसे मन्त्रज्ञलोग अपने मन्त्रों (के बल) से विषैले सर्पोंको कुण्ठित कर देते हैं' ॥ ३ ॥

इति तद् धनुरादाय शुल्कावाप्तं महाबलः ।
भ्रात्रा भीमेन सहितस्तस्थौ गिरिरिवाचलः ॥ ४ ॥

यों कहकर महाबली अर्जुनने उसी स्वयंवरमें लक्ष्यवे[धके] लिये प्राप्त हुए धनुषको झुकाकर (उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी [और] उसे हाथमें लेकर) भाई भीमसेनके साथ वे पर्वतके स[मान] अविचल भावसे खड़े हो गये ॥ ४ ॥

ततः कर्णमुखान् दृष्ट्वा क्षत्रियान् युद्धदुर्मदान् ।
सम्पेततुरभीतौ तौ गजौ प्रतिगजानिव ॥ ५ ॥

तदनन्तर कर्ण आदि रणोन्मत्त क्षत्रियोंको आते दे[ख] वे दोनों भाई निर्भय हो उनपर उसी तरह टूट पड़े, जैसे (मतवाले) हाथी अपने विपक्षी हाथियोंकी ओर बढ़े जाते हैं ॥ [५ ॥]

ऊचुश्च वाचः परुषास्ते राजानो युयुत्सवः ।
आहवे हि द्विजस्यापि वधो दृष्टो युयुत्सतः ॥ ६ ॥

तब युद्धके लिये उत्सुक उन राजाओंने कठोर स्वरमें ये बा[तें] कहीं—'युद्धकी इच्छावाले ब्राह्मणका भी रणभूमिमें व[ध] शास्त्रानुकूल देखा गया है' ॥ ६ ॥

इत्येवमुक्त्वा राजानः सहसा दुद्रुवुर्द्विजान् ।
ततः कर्णो महातेजा जिष्णुं प्रति ययौ रणे ॥ ७ ॥

यों कहकर वे राजालोग सहसा ब्राह्मणोंकी ओर दौड़े। महातेजस्वी कर्ण अर्जुनकी ओर युद्धके लिये बढ़ा॥

युद्धार्थी वासिताहेतोर्गजः प्रतिगजं यथा।
भीमसेनं ययौ शल्यो मद्राणामीश्वरो बली॥ ८॥

ठीक उसी तरह जैसे हथिनीके लिये लड़नेकी इच्छा रखकर एक हाथी अपने प्रतिद्वन्द्वी दूसरे हाथीसे भिड़नेके लिये जा रहा हो, महाबली मद्रराज शल्य भीमसेनसे जा भिड़े॥

दुर्योधनादयः सर्वे ब्राह्मणैः सह संगताः।
मृदुपूर्वमयत्नेन प्रत्ययुध्यंस्तदाहवे॥ ९॥

दुर्योधन आदि सभी (भूपाल) एक साथ अन्यान्य ब्राह्मणोंके साथ उस युद्ध-भूमिमें बिना किसी प्रयासके (खेल-सा करते हुए) कोमलतापूर्वक (शीत) युद्ध करने लगे॥ ९॥

ततोऽर्जुनः प्रत्यविध्यदापतन्तं शितैः शरैः।
कर्णं वैकर्तनं श्रीमान् विकृष्य बलवद् धनुः॥ १०॥

तब तेजस्वी अर्जुनने अपने धनुषको जोरसे खींचकर अपनी ओर वेगसे आते हुए सूर्यपुत्र कर्णको कई तीक्ष्ण बाण मारे॥ १०॥

तेषां शराणां वेगेन शितानां तिग्मतेजसाम्।
विमुह्यमानो राधेयो यत्नात् तमनुधावति॥ ११॥

उन दुःसह तेजवाले तीखे बाणोंके वेगपूर्वक आघातसे राधानन्दन कर्णको मूर्च्छा आने लगी। वह बड़ी कठिनाईसे अर्जुनकी ओर बढ़ा॥ ११॥

तावुभावप्यनिर्देश्यौ लाघवाज्जयतां वरौ।
अयुध्येतां सुसंरब्धावन्योन्यविजिगीषिणौ॥ १२॥

विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ वे दोनों योद्धा हाथोंकी फुर्ती दिखानेमें बेजोड़ थे, उनमें कौन बड़ा है और कौन छोटा—यह बताना असम्भव था। दोनों ही एक दूसरेको जीतनेकी इच्छा रखकर बड़े क्रोधसे लड़ रहे थे॥ १२॥

कृते प्रतिकृतं पश्य पश्य बाहुबलं च मे।
इति शूरार्थवचनैराभाषेतां परस्परम्॥ १३॥

'देखो, तुमने जिस अस्त्रका प्रयोग किया था, उसे रोकनेके लिये मैंने यह अस्त्र चलाया है। देख लो, मेरी भुजाओंका बल!' इस प्रकार शौर्यसूचक वचनोंद्वारा वे आपसमें बातें भी करते जाते थे॥ १३॥

ततोऽर्जुनस्य भुजयोर्वीर्यमप्रतिमं भुवि।
ज्ञात्वा वैकर्तनः कर्णः संरब्धः समयोधयत्॥ १४॥

तदनन्तर अर्जुनके बाहुबलकी इस पृथ्वीपर कहीं समता नहीं है, यह जानकर सूर्यपुत्र कर्ण अत्यन्त क्रोधपूर्वक जमकर युद्ध करने लगा॥ १४॥

अर्जुनेन प्रयुक्तांस्तान् बाणान् वेगवतस्तदा।
प्रतिहत्य ननादोच्चैः सैन्यानि तदपूजयन्॥ १५॥

उस समय अर्जुनद्वारा चलाये हुए उन सभी वेगशाली बाणोंको काटकर कर्ण बड़े जोरसे सिंहनाद करने लगा। समस्त सैनिकोंने उसके इस अद्भुत कार्यकी सराहना की॥ १५॥

कर्ण उवाच

तुष्यामि ते विप्रमुख्य भुजवीर्यस्य संयुगे।
अविषादस्य चैवास्य शस्त्रास्त्रविजयस्य च॥ १६॥

कर्ण बोला—विप्रवर! युद्धमें आपके बाहुबलसे मैं (बहुत) संतुष्ट हूँ। आपमें थकावट या विषादका कोई चिह्न नहीं दिखायी देता और आपने सभी अस्त्र-शस्त्रोंको जीतकर मानो अपने काबूमें कर लिया है। (आपकी यह सफलता देखकर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई है)॥ १६॥

किं त्वं साक्षाद् धनुर्वेदो रामो वा विप्रसत्तम।
अथ साक्षाद्धरिहयः साक्षाद् वा विष्णुरच्युतः॥ १७॥

विप्रशिरोमणे! आप मूर्तिमान् धनुर्वेद हैं? या परशुराम? अथवा आप स्वयं इन्द्र या अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले साक्षात् भगवान् विष्णु हैं?॥ १७॥

आत्मप्रच्छादनार्थं वै बाहुवीर्यमुपाश्रितः।
विप्ररूपं विधायेदं मन्ये मां प्रतियुध्यसे॥ १८॥

मैं समझता हूँ, आप इन्हींमेंसे कोई हैं और अपने स्वरूपको छिपानेके लिये यह ब्राह्मणवेष धारण करके बाहुबलका आश्रय ले मेरे साथ युद्ध कर रहे हैं॥ १८॥

न हि मामाहवे क्रुद्धमन्यः साक्षाच्छचीपतेः।
पुमान् योधयितुं शक्तः पाण्डवाद् वा किरीटिनः॥ १९॥

क्योंकि युद्धमें मेरे कुपित होनेपर साक्षात् शचीपति इन्द्र अथवा किरीटधारी पाण्डुनन्दन अर्जुनके अतिरिक्त दूसरा कोई मेरा सामना नहीं कर सकता॥ १९॥

तमेवं वादिनं तत्र फाल्गुनः प्रत्यभाषत।
नास्मि कर्ण धनुर्वेदो नास्मि रामः प्रतापवान्॥ २०॥

कर्णके ऐसा कहनेपर अर्जुनने उसे इस प्रकार उत्तर दिया—'कर्ण! न तो मैं धनुर्वेद हूँ और न प्रतापी परशुराम॥

ब्राह्मणोऽस्मि युधां श्रेष्ठः सर्वशस्त्रभृतां वरः।
ब्राह्मे पौरंदरे चास्त्रे निष्ठितो गुरुशासनात्॥ २१॥
स्थितोऽस्म्यद्य रणे जेतुं त्वां वै वीर स्थिरो भव।

'मैं तो सम्पूर्ण शस्त्रधारियोंमें उत्तम और योद्धाओंमें श्रेष्ठ एक ब्राह्मण हूँ। गुरुका उपदेश पाकर ब्रह्मास्त्र तथा इन्द्रास्त्र दोनोंमें पारंगत हो गया हूँ। वीर! आज मैं तुम्हें युद्धमें जीतनेके लिये खड़ा हूँ, तुम भी स्थिरतापूर्वक खड़े रहो'॥ २१½॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु राधेयो युद्धात् कर्णो न्यवर्तत॥ २२॥

ब्राह्मं तेजस्तदाजय्यं मन्यमानो महारथः।

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! अर्जुनकी यह बात सुनकर महारथी कर्ण ब्राह्मतेजको अजेय मानता हुआ उस समय युद्ध छोड़कर हट गया ॥ २२½ ॥

अपरस्मिन् वनोद्देशे वीरौ शल्यवृकोदरौ ॥ २३ ॥
बलिनौ युद्धसम्पन्नौ विद्यया च बलेन च।
अन्योन्यमाह्वयन्तौ तु मत्ताविव महागजौ ॥ २४ ॥

इसी समय दूसरे स्थानको अपना रणक्षेत्र बनाकर वहीं बलवान् वीर शल्य और भीमसेन एक दूसरेको ललकारते हुए दो मतवाले गजराजोंकी भाँति युद्ध कर रहे थे। दोनों ही विद्या, बल और युद्धकी कलासे सम्पन्न थे ॥ २३-२४ ॥

मुष्टिभिर्जानुभिश्चैव निघ्नन्तावितरेतरम्।
प्रकर्षणाकर्षणयोरभ्याकर्षविकर्षणैः ॥ २५ ॥

वे घूँसों और घुटनोंसे एक दूसरेको मारने लगे। दोनों एक दूसरेको दूरतक ठेल ले जाते, नीचे गिरानेका प्रयत्न करते, कभी अपनी ओर खींचते और कभी अगल-बगलसे पैंतरे देकर गिरानेकी चेष्टा करते थे ॥ २५ ॥

आचकर्षतुरन्योन्यं मुष्टिभिश्चापि जघ्नतुः।
ततश्चटचटाशब्दः सुघोरो ह्यभवत् तयोः ॥ २६ ॥
पाषाणसम्पातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः।
मुहूर्तं तौ तदान्योन्यं समरे पर्यकर्षताम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार वे एक दूसरेको खींचते और मुक्कोंसे मारते थे। उस समय घूँसोंकी मारसे दोनोंके शरीरोंपर अत्यन्त भयंकर 'चट-चट' शब्द हो रहा था। वे परस्पर इस प्रकार प्रहार कर रहे थे, मानो पत्थर टकरा रहे हों। लगभग दो घड़ीतक दोनों उस युद्धमें एक दूसरेको खींचते और ठेलते रहे ॥ २६-२७ ॥

ततो भीमः समुत्क्षिप्य बाहुभ्यां शल्यमाहवे।
अपातयत् कुरुश्रेष्ठो ब्राह्मणा जहसुस्तदा ॥ २८ ॥

तदनन्तर कुरुश्रेष्ठ भीमसेनने दोनों हाथोंसे शल्यको ऊपर उठाकर उस युद्धभूमिमें पटक दिया। यह देख ब्राह्मणलोग हँसने लगे ॥ २८ ॥

तत्राश्चर्यं भीमसेनश्चकार पुरुषर्षभः।
यच्छल्यं पातितं भूमौ नावधीद् बलिनं बली ॥ २९ ॥

कुरुश्रेष्ठ बलवान् भीमसेनने एक आश्चर्यकी बात यह की कि महाबली शल्यको पृथ्वीपर पटककर भी मार नहीं डाला ॥ २९ ॥

पातिते भीमसेनेन शल्ये कर्णे च शङ्किते।
शङ्किताः सर्वराजानः परिवव्रुर्वृकोदरम् ॥ ३० ॥

भीमसेनके द्वारा शल्यके पछाड़ दिये जाने और अर्जुनसे कर्णके डर जानेपर सभी राजा (युद्धका विचार छोड़) शङ्कित हो भीमसेनको चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये ॥ ३० ॥

ऊचुश्च सहितास्तत्र साध्विमौ ब्राह्मणर्षभौ।
विज्ञायेतां क्वजन्मानौ क्वनिवासौ तथैव च ॥ ३१ ॥

और एक साथ ही बोल उठे--'अहो ! ये दोनों ब्राह्मण धन्य हैं। पता तो लगाओ, इनकी जन्मभूमि कहाँ है तथा ये रहनेवाले कहाँके हैं ? ॥ ३१ ॥

को हि राधासुतं कर्णं शक्तो योधयितुं रणे।
अन्यत्र रामाद् द्रोणाद् वा पाण्डवाद् वा किरीटिनः ॥ ३२ ॥

'परशुराम, द्रोण अथवा पाण्डुनन्दन अर्जुनके सिवा ऐसा कौन है, जो युद्धमें राधानन्दन कर्णका सामना कर सके ? ॥ ३२ ॥

कृष्णाद् वा देवकीपुत्रात् कृपाद् वापि शरद्वतः।
को वा दुर्योधनं शक्तः प्रतियोधयितुं रणे ॥ ३३ ॥

'(इसी प्रकार) देवकीनन्दन श्रीकृष्ण अथवा शरद्वान्के पुत्र कृपाचार्यके सिवा दूसरा कौन है, जो समरमें दुर्योधनके साथ लोहा ले सके ॥ ३३ ॥

तथैव मद्राधिपतिं शल्यं बलवतां वरम्।
बलदेवादृते वीरात् पाण्डवाद् वा वृकोदरात् ॥ ३४ ॥
वीराद् दुर्योधनाद् वान्यः शक्तः पातयितुं रणे।
क्रियतामवहारोऽस्माद् युद्धाद् ब्राह्मणसंवृतात् ॥ ३५ ॥

'बलवानोंमें श्रेष्ठ मद्रराज शल्यको भी वीरवर बलदेव, पाण्डुनन्दन भीमसेन अथवा वीर दुर्योधनको छोड़कर दूसरा कौन रणभूमिमें गिरा सकता है। अतः ब्राह्मणोंसे घिरे हुए इस युद्धक्षेत्रसे हमलोगोंको हट जाना चाहिये ॥ ३४-३५ ॥

ब्राह्मणा हि सदा रक्ष्याः सापराधापि नित्यदा।
अथैनानुपलभ्येह पुनर्योत्स्याम हृष्टवत् ॥ ३६ ॥

'क्योंकि ब्राह्मण अपराधी हों, तो भी सदा ही उनकी रक्षा करनी चाहिये। पहले इनका ठीक-ठीक परिचय ले लें; फिर (ये चाहें तो) हम इनके साथ प्रसन्नतापूर्वक युद्ध करेंगे' ॥ ३६ ॥

तांस्तथावादिनः सर्वान् प्रसमीक्ष्य क्षितीश्वरान्।
अथान्यान् पुरुषांश्चापि कृत्वा तत् कर्म संयुगे ॥ ३७ ॥

उन सब राजाओं तथा अन्य लोगोंको ऐसी बातें करते देख और युद्धमें वह महान् पराक्रम दिखाकर भीमसेन और अर्जुन बड़े प्रसन्न थे ॥ ३७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत् कर्म भीमस्य समीक्ष्य कृष्णः
कुन्तीसुतौ तौ परिशङ्कमानः।
निवारयामास महीपतींस्तान्
धर्मेण लब्धेत्यनुनीय सर्वान् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनका वह अद्भुत कार्य देख भगवान् श्रीकृष्णने यह संदेह करके कि ये दोनों भाई कुन्तीकुमार भीमसेन और अर्जुन

उन सब राजाओंको यह समझकर कि 'इन्होंने धर्मपूर्वक द्रौपदीको प्राप्त किया है' अनुनयपूर्वक युद्धसे रोका ॥ ३८ ॥

एवं ते विनिवृत्तास्तु युद्धाद् युद्धविशारदाः ।
यथावासं ययुः सर्वे विस्मिता राजसत्तमाः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीकृष्णके समझानेसे वे सभी युद्धकुशल श्रेष्ठ नरेश युद्धसे निवृत्त हो गये और विस्मित होकर अपने-अपने डेरोंको चले गये ॥ ३९ ॥

वृत्तो ब्रह्मोत्तरो रङ्गः पाञ्चाली ब्राह्मणैर्वृता ।
इति ब्रुवन्तः प्रययुर्ये तत्रासन् समागताः ॥ ४० ॥

वहाँ जो दर्शक एकत्र हुए थे, वे 'इस रङ्गमण्डपके उत्सवसे ब्राह्मणोंकी श्रेष्ठता सिद्ध हुई; पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको ब्राह्मणोंने प्राप्त किया,' यों कहते हुए (अपने-अपने निवासस्थानको) चले गये ॥ ४० ॥

ब्राह्मणैस्तु प्रतिच्छन्नौ रौरवाजिनवासिभिः ।
कृच्छ्रेण जग्मतुस्तौ तु भीमसेनधनंजयौ ॥ ४१ ॥

रुरुमृगके चर्मको वस्त्रके रूपमें धारण करनेवाले ब्राह्मणोंसे घिरे होनेके कारण भीमसेन और अर्जुन बड़ी कठिनाईसे आगे बढ़ पाते थे ॥ ४१ ॥

विमुक्तौ जनसम्बाधाच्छत्रुभिः परिवीक्षितौ ।
कृष्णयानुगतौ तत्र नृवीरौ तौ विरेजतुः ॥ ४२ ॥

जनताकी भीड़से बाहर निकलनेपर शत्रुओंने उन्हें अच्छी तरह देखा । आगे-आगे वे दोनों नरवीर थे और उनके पीछे-पीछे द्रौपदी चली जा रही थी । द्रौपदीके साथ वहाँ उन दोनोंकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४२ ॥

पौर्णमास्यां घनैर्मुक्तौ चन्द्रसूर्याविवोदितौ ।
तेषां माता बहुविधं विनाशं पर्यचिन्तयत् ॥ ४३ ॥

अनागच्छत्सु पुत्रेषु भैक्षकालेऽभिगच्छति ।
धार्तराष्ट्रैर्हता न स्युर्विज्ञाय कुरुपुङ्गवाः ॥ ४४ ॥

मायान्वितैर्वा रक्षोभिः सुघोरैर्दृढवैरिभिः ।
विपरीतं मतं जातं व्यासस्यापि महात्मनः ॥ ४५ ॥

वे ऐसे लगते थे, जैसे पूर्णमासी तिथिको मेघोंकी घटासे निकलकर चन्द्रमा और सूर्य प्रकाशित हो रहे हों । इधर भिक्षाका समय बीत जानेपर भी जब पुत्र नहीं लौटे, तब उनकी माता कुन्तीदेवी स्नेहवश अनेक प्रकारकी चिन्ताओंमें डूबकर उनके विनाशकी आशङ्का करने लगीं—'कहीं ऐसा तो नहीं हुआ कि धृतराष्ट्रके पुत्रोंने कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंको पहिचानकर उनकी हत्या कर डाली हो ! अथवा दृढ़तापूर्वक वैरभावको मनमें रखनेवाले महाभयंकर मायावी राक्षसोंने तो मेरे बच्चोंको नहीं मार डाला ! क्या महात्मा व्यासके भी निश्चित मतके विपरीत कोई बात हो गयी ?' ॥ ४३-४५ ॥

इत्येवं चिन्तयामास सुतस्नेहावृता पृथा ।
ततः सुप्तजनप्राये दुर्दिने मेघसम्प्लुते ॥ ४६ ॥

महत्यथापराह्णे तु घनैः सूर्य इवावृतः ।
ब्राह्मणैः प्राविशत् तत्र जिष्णुर्भार्गववेश्म तत् ॥ ४७ ॥

इस प्रकार पुत्रस्नेहमें पगी कुन्तीदेवी जब चिन्तामें मग्न हो रही थीं, आकाशमें मेघोंकी भारी घटा घिर आनेके कारण जब दुर्दिन-सा हो रहा था और जनता सब काम छोड़कर सोये हुए-की भाँति अपने-अपने घरोंपर निश्चेष्ट होकर बैठी थी, उसी समय दिनके तीसरे पहरमें बादलोंसे घिरे हुए सूर्यके समान ब्राह्मणमण्डलीसे घिरे हुए अर्जुनने वहाँ उस कुम्हारके घरमें प्रवेश किया ॥ ४६-४७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि पाण्डवप्रत्यागमने एकोननवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १८९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें पाण्डवप्रत्यागमनविषयक एक सौ नवासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १८९ ॥

नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्ती, अर्जुन और युधिष्ठिरकी बातचीत, पाँचों पाण्डवोंका द्रौपदीके साथ विवाहका विचार तथा बलराम और श्रीकृष्णकी पाण्डवोंसे भेंट

वैशम्पायन उवाच

गत्वा तु तां भार्गवकर्मशालां
पार्थौ पृथां प्राप्य महानुभावौ ।
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीतौ
भिक्षेत्यथावेदयतां नराग्र्यौ ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मनुष्योंमें श्रेष्ठ महानुभाव कुन्तीपुत्र भीमसेन और अर्जुन कुम्हारके घरमें प्रवेश करके अत्यन्त प्रसन्न हो माताको द्रौपदीकी प्राप्ति सूचित करते हुए बोले—'माँ ! हमलोग भिक्षा लाये हैं' ॥ १ ॥

कुटीगता सा त्वनवेक्ष्य पुत्रौ
प्रोवाच भुङ्क्तेति समेत्य सर्वे ।
पश्चाच्च कुन्ती प्रसमीक्ष्य कृष्णां
कष्टं मया भाषितमित्युवाच ॥ २ ॥

उस समय कुन्तीदेवी कुटियाके भीतर थीं । उन्होंने अपने पुत्रोंको देखे बिना ही उत्तर दे दिया—'(भिक्षा लाये हो तो) तुम सभी भाई मिलकर उसे पाओ ।' तत्पश्चात् द्रौपदीको देखकर कुन्तीने चिन्तित होकर कहा—'हाय ! मेरे मुँहसे बड़ी अनुचित बात निकल गयी' ॥ २ ॥

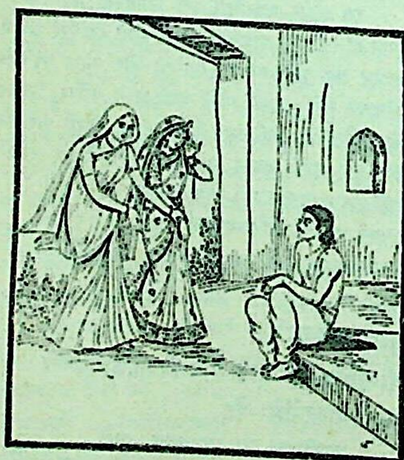
साधर्मभीता परिचिन्तयन्ती
तां याज्ञसेनीं परमप्रतीताम्।
पाणौ गृहीत्वोपजगाम कुन्ती
युधिष्ठिरं वाक्यमुवाच चेदम्॥ ३॥

कुन्तीदेवी अधर्मके भयसे बड़ी चिन्तामें पड़ गयीं; (परंतु मनोनुकूल पतिकी प्राप्तिसे) द्रौपदीके मनमें बड़ी प्रसन्नता थी। कुन्तीदेवी द्रौपदीका हाथ पकड़कर युधिष्ठिरके पास गयीं और उनसे उन्होंने यह बात कही—॥ ३॥

कुन्त्युवाच

इयं तु कन्या द्रुपदस्य राज्ञः
तवानुजाभ्यां मयि संनिविष्टा।
यथोचितं पुत्र मयापि चोक्तं
समेत्य भुङ्क्तेति नृप प्रमादात्॥ ४॥

कुन्तीने कहा—बेटा! यह राजा द्रुपदकी कन्या द्रौपदी है। तुम्हारे छोटे भाई भीमसेन और अर्जुनने इसे भिक्षा कहकर मुझे समर्पित किया और मैंने भी (इसे देखे बिना ही) भूलसे (भिक्षा ही समझकर) अनुरूप उत्तर दे दिया—'तुम सब लोग मिलकर इसे पाओ'॥ ४॥



मया कथं नानृतमुक्तमद्य
भवेत् कुरूणामृषभ ब्रवीहि।
पाञ्चालराजस्य सुतामधर्मो
न चोपवर्तेत न विभ्रमेच्च॥ ५॥

कुरुश्रेष्ठ! बताओ, अब कैसे मेरी बात झूठी न हो? और क्या किया जाय, जिससे इस पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको न तो पाप लगे और न नीच योनियोंमें ही भटकना पड़े॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

स एवमुक्तो मतिमान् नृवीरो
मात्रा मुहूर्तं तु विचिन्त्य राजा।
कुन्तीं समाश्वास्य कुरुप्रवीरो
धनंजयं वाक्यमिदं बभाषे॥ ६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कुरुश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिर बड़े बुद्धिमान् थे। उन्होंने माताकी बात सुनकर दो घड़ीतक (मन-ही-मन) कुछ विचार किया। फिर कुन्तीदेवीको भलीभाँति आश्वासन देकर उन्होंने अर्जुनसे यह बात कही—॥ ६॥

त्वया जिता फाल्गुन याज्ञसेनी
त्वयैव शोभिष्यति राजपुत्री।
प्रज्वाल्यतामग्निरमित्रसाह
गृहाण पाणिं विधिवत् त्वमस्याः॥ ७॥

'अर्जुन! तुमने द्रौपदीको जीता है, तुम्हारे साथ ही इस राजकुमारीकी शोभा होगी। शत्रुओंका सामना करनेवाले वीर! तुम अग्नि प्रज्वलित करो और (अग्निदेवके साक्ष्यमें) विधिपूर्वक इस राजकन्याका पाणि-ग्रहण करो'॥ ७॥

अर्जुन उवाच

मा मां नरेन्द्र त्वमधर्मभाजं
कृथा न धर्मोऽयमशिष्टदृष्टः।
भवान् निवेश्यः प्रथमं ततोऽयं
भीमो महाबाहुरचिन्त्यकर्मा॥ ८॥
अहं ततो नकुलोऽनन्तरं मे
पश्चादयं सहदेवस्तरस्वी।
वृकोदरोऽहं च यमौ च राज-
न्नियं च कन्या भवतो नियोज्याः॥ ९॥

अर्जुन बोले—नरेन्द्र! आप मुझे अधर्मका भागी न बनाइये। (बड़े भाईके अविवाहित रहते छोटे भाईका विवाह हो जाय,) यह धर्म नहीं है; ऐसा व्यवहार तो अनार्योंमें देखा गया है। पहले आपका विवाह होना चाहिये; फिर अचिन्त्यकर्मा महाबाहु भीमसेनका और फिर मेरा। उसके बाद नकुल फिर वेगवान् सहदेव विवाह कर सकते हैं। राजन्! भैया भीमसेन, मैं, नकुल-सहदेव तथा यह राजकन्या—सब आपकी आज्ञाके अधीन हैं॥ ८-९॥

एवं गते यत् करणीयमत्र
धर्म्यं यशस्यं कुरु तद् विचिन्त्य।
पाञ्चालराजस्य हितं च यत् स्यात्
प्रशाधि सर्वे स्म वशे स्थितास्ते॥ १०॥

ऐसी दशामें आप यहाँ अपनी बुद्धिसे विचार करके धर्म और यशके अनुकूल तथा पाञ्चालराजके लिये भी हितकर

र्य हो, वह कीजिये और उसके लिये हमें आज्ञा दीजिये। हम सब लोग आपके अधीन हैं ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

कृष्णार्वचनमाज्ञाय भक्तिस्नेहसमन्वितम्।
दृष्टिं निवेशयामासुः पाञ्चाल्यां पाण्डुनन्दनाः ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—अर्जुनके ये भक्तिभाव तथा स्नेहसे भरे वचन सुननेके बाद समस्त पाण्डवोंने पाञ्चाल-राजकुमारी द्रौपदीकी ओर देखा ॥ ११ ॥

दृष्ट्वा ते तत्र पश्यन्तीं सर्वे कृष्णां यशस्विनीम्।
सम्प्रेक्ष्यान्योन्यमासीना हृदयैस्तामधारयन् ॥ १२ ॥

यशस्विनी कृष्णा भी उन सबको देख रही थी। वहाँ बैठे हुए पाण्डवोंने द्रौपदीको देखकर आपसमें भी एक दूसरे-पर दृष्टिपात किया और सबने अपने हृदयमें द्रुपदराजकुमारी-को बसा लिया ॥ १२ ॥

तेषां तु द्रौपदीं दृष्ट्वा सर्वेषाममितौजसाम्।
सम्प्रमथ्येन्द्रियग्रामं प्रादुरासीन्मनोभवः ॥ १३ ॥

द्रुपदकुमारीपर दृष्टि पड़ते ही उन सभी अमिततेजस्वी पाण्डुपुत्रोंकी सम्पूर्ण इन्द्रियोंको मथकर मन्मथ प्रकट हो गया।

काम्यं हि रूपं पाञ्चाल्या विधात्रा विहितं स्वयम्।
बभूवाधिकमन्याभ्यः सर्वभूतमनोहरम् ॥ १४ ॥

विधाताने पाञ्चालीका कमनीय रूप स्वयं ही रचा और सँवारा था। वह संसारकी अन्य स्त्रियोंसे बहुत अधिक आकर्षक और समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेने-वाला था ॥ १४ ॥

तेषामाकारभावज्ञः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
द्वैपायनवचः कृत्स्नं सस्मार मनुजर्षभः ॥ १५ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने उनकी आकृति देखकर ही उनके मनका भाव समझ लिया। फिर उन्हें द्वैपायन वेदव्यासजीके सारे वचनोंका स्मरण हो आया।

अब्रवीत् सहितान् भ्रातॄन् मिथोभेदभयान्नृपः।
सर्वेषां द्रौपदी भार्या भविष्यति हि नः शुभा ॥ १६ ॥

द्रौपदीको लेकर हम सब भाइयोंमें फूट न पड़ जाय, इस भयसे राजाने अपने सभी बन्धुओंसे कहा—'कल्याणमयी द्रौपदी हम सब लोगोंकी पत्नी होगी' ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

भ्रातुर्वचस्तत् प्रसमीक्ष्य सर्वे
ज्येष्ठस्य पाण्डोस्तनयास्तदानीम्।
तमेवार्थं ध्यायमाना मनोभिः
सर्वे च ते तस्थुरदीनसत्त्वाः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय अपने बड़े भाईका यह वचन सुनकर उदार हृदयवाले समस्त पाण्डव मन-ही-मन उसीका चिन्तन करते हुए चुपचाप बैठे रह गये ॥ १७ ॥

वृष्णिप्रवीरस्तु कुरुप्रवीरा-
नाशंसमानः सहरौहिणेयः।
जगाम तां भार्गवकर्मशालां
यत्रासते ते पुरुषप्रवीराः ॥ १८ ॥

इधर वृष्णिवंशियोंमें श्रेष्ठ भगवान् श्रीकृष्ण रोहिणीनन्दन बलरामजीके साथ कुरुकुलके प्रमुख वीर पाण्डवोंको पहिचान-कर कुम्हारके घरमें, जहाँ वे नरश्रेष्ठ निवास करते थे, मिलनेके लिये गये ॥ १८ ॥

तत्रोपविष्टं पृथुदीर्घबाहुं
ददर्श कृष्णः सहरौहिणेयः।
अजातशत्रुं परिवार्य तांश्चा-
प्युपोपविष्टाञ्ज्वलनप्रकाशान् ॥ १९ ॥

वहाँ बलरामसहित श्रीकृष्णने मोटी और विशाल भुजाओंसे सुशोभित अजातशत्रु युधिष्ठिरको चारों ओरसे घेरकर बैठे हुए अग्निके समान तेजस्वी अन्य चारों भाइयोंको देखा ॥ १९ ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवोऽभिगम्य
कुन्तीसुतं धर्मभृतां वरिष्ठम्।
कृष्णोऽहमस्मीति निपीड्य पादौ
युधिष्ठिरस्याजमीढस्य राज्ञः ॥ २० ॥

वहाँ जाकर वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे 'मैं श्रीकृष्ण हूँ' यों कहकर अजमीढवंशी राजा युधिष्ठिरके दोनों चरणोंका स्पर्श किया ॥ २० ॥

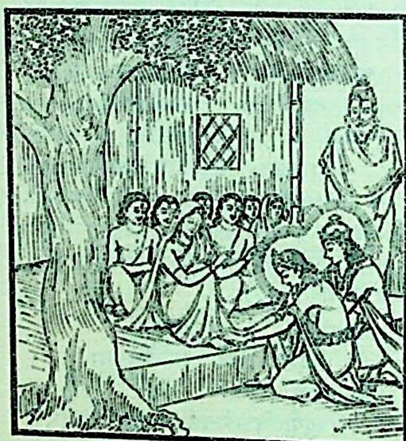
तथैव तस्याप्यनु रौहिणेय-
स्तौ चापि हृष्टाः कुरवोऽभ्यनन्दन्।
पितृष्वसुश्चापि यदुप्रवीरा-
वगृह्णतां भारतमुख्य पादौ ॥ २१ ॥

उन्हींके साथ उसी प्रकार बलरामजीने भी (अपना नाम बताकर) उनके चरण छुए। पाण्डव भी उन दोनोंको देखकर बड़े प्रसन्न हुए। जनमेजय ! फिर उन यदुवीरोंने अपनी बूआ कुन्तीके भी चरणोंका स्पर्श किया ॥ २१ ॥

अजातशत्रुश्च कुरुप्रवीरः
पप्रच्छ कृष्णं कुशलं विलोक्य।
कथं वयं वासुदेव त्वयेह
गूढा वसन्तो विदिताश्च सर्वे ॥ २२ ॥

कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर अजातशत्रु युधिष्ठिरने श्रीकृष्णको देखकर कुशल-समाचार पूछा और कहा—'वसुदेवनन्दन !

हम तो यहाँ छिपकर रहते हैं, फिर आपने हम सब लोगोंको कैसे पहचान किया ?' ॥ २२ ॥



तमब्रवीद् वासुदेवः प्रहस्य
गूढोऽप्यग्निर्ज्ञायत एव राजन्।
तं विक्रमं पाण्डवेयानतीत्य
कोऽन्यः कर्ता विद्यते मानुषेषु ॥ २३ ॥

तब भगवान् वासुदेवने हँसकर उत्तर दिया-'राजन्! आग कितनी ही छिपी क्यों न हो, वह पहचानमें आ ही जाती है। भला, पाण्डवोंको छोड़कर मनुष्योंमें कौन ऐसा है, जो ऐसा अद्भुत कर्म कर दिखाता ॥ २३ ॥

दिष्ट्या सर्वे पावकाद् विप्रमुक्ता
यूयं घोरात् पाण्डवाः शत्रुसाहाः।
दिष्ट्या पापो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः
सहामात्यो न सकामोऽभविष्यत्॥

'बड़े सौभाग्यकी बात है कि शत्रुओंका सामना करनेकी शक्ति रखनेवाले आप सभी पाण्डव उस भयंकर अग्निसे जीवित बच गये। पापी धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन अपने मन्त्रियोंसहित इस षड्यन्त्रमें सफल न हो सका, यह भी सौभाग्यकी ही बात है ॥ २४ ॥

भद्रं वोऽस्तु निहितं यद् गुहायां
विवर्धध्वं ज्वलना इवैधमानाः।
मा वो विदुः पार्थिवाः केचिदेव
यास्यावहे शिबिरायैव तावत्॥
सोऽनुज्ञातः पाण्डवेनाव्ययश्रीः
प्रायाच्छीघ्रं बलदेवेन सार्धम्॥ २५ ॥

'हमारे अन्तःकरणमें जो कल्याणकी भावना निहित है, वह आपको प्राप्त हो। आपलोग सदा प्रज्वलित अग्निकी भाँति बढ़ते रहें। अभी आपलोगोंको कोई भी राजा पहचान न सके। अब हमलोग भी अपने शिविरको ही लौट जायँगे।' यों कहकर युधिष्ठिरकी आज्ञा ले अक्षय शोभासे सम्पन्न भगवान् श्रीकृष्ण बलदेवजीके साथ शीघ्र वहाँसे चल दिये ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि रामकृष्णागमने नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें बलराम और श्रीकृष्णका आगमनविषयक एक सौ नब्बेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नका गुप्तरूपसे वहाँका सब हाल देखकर राजा द्रुपदके पास आना तथा द्रौपदीके विषयमें द्रुपदका प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

धृष्टद्युम्नस्तु पाञ्चाल्यः पृष्ठतः कुरुनन्दनौ।
अन्वगच्छत् तदा यान्तौ भार्गवस्य निवेशने ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जब कुरुनन्दन भीमसेन और अर्जुन कुम्हारके घर जा रहे थे, उसी समय पाञ्चालराजकुमार धृष्टद्युम्न गुप्तरूपसे उनके पीछे लग गये ॥ १ ॥

सोऽज्ञायमानः पुरुषानवधाय समन्ततः।
स्वयमारान्निलीनोऽभूद् भार्गवस्य निवेशने ॥ २ ॥

'उन्होंने चारों ओर अपने सेवकोंको बैठा दिया और स्वयं भी अज्ञातरूपसे कुम्हारके घरके पास ही छिपे रहे ॥ २ ॥

सायं च भीमस्तु रिपुप्रमाथी
जिष्णुर्यमौ चापि महानुभावौ।
भैक्षं चरित्वा तु युधिष्ठिराय
निवेदयाञ्चक्रुरदीनसत्त्वाः ॥ ३ ॥

सायंकाल होनेपर शत्रुओंका मान मर्दन करनेवाले भीमसेन, अर्जुन और महानुभाव नकुल-सहदेवने भिक्षा लाकर युधिष्ठिरको निवेदन की। इन सबका अन्तःकरण उदार था ॥ ३ ॥

ततस्तु कुन्ती द्रुपदात्मजां ता-
मुवाच काले वचनं वदान्या।
त्वमग्रमादाय कुरुष्व भद्रे
बलिं च विप्राय च देहि भिक्षाम्॥ ४

तब उदारहृदया कुन्तीने उस समय द्रौपदीसे कहा—'भद्रे ! तुम भोजनका प्रथम भाग लेकर उससे देवताओंको बलि अर्पण करो तथा ब्राह्मणको भिक्षा दो ॥ ४ ॥

ये चान्नमिच्छन्ति ददस्व तेभ्यः
परिश्रिता ये परितो मनुष्याः ।
ततश्च शेषं प्रविभज्य शीघ्र-
मर्धं चतुर्धा मम चात्मनश्च ॥ ५ ॥

'तथा अपने आस-पास जो दूसरे मनुष्य आश्रितभावसे रहते और भोजन चाहते हैं, उन्हें भी अन्न परोसो । तदनन्तर जो शेष बच जाय, उसके शीघ्र ही इस प्रकार विभाग करो। अन्नका आधा भाग एकके लिये रक्खो, फिर शेषके छः भाग करके चार भाइयोंके लिये चार भाग अलग-अलग रख दो, उसके बाद मेरे लिये और अपने लिये भी एक-एक भाग पृथक्-पृथक् परोस दो ॥ ५ ॥

अर्धं तु भीमाय च देहि भद्रे
य एष नागर्षभतुल्यरूपः ।
गौरो युवा संहननोपपन्न
एषो हि वीरो बहुभुक् सदैव ॥ ६ ॥

'कल्याणी ! ये जो गजराजके समान शरीरवाले हृष्ट-पुष्ट गोरे युवक बैठे हैं, इनका नाम भीम है, इन्हें अन्नका आधा भाग दे दो । वीरवर भीम सदासे ही अधिक भोजन करनेवाले हैं' ॥ ६ ॥

सा हृष्टरूपेव तु राजपुत्री
तस्या वचः साधु विशङ्कमाना ।
यथावदुक्तं प्रचकार साध्वी
ते चापि सर्वे बुभुजुस्तदन्नम् ॥ ७ ॥

सासकी आज्ञाका पालन करनेमें ही अपना कल्याण मानती हुई साध्वी राजकुमारी द्रौपदीने अत्यन्त प्रसन्न होकर कुन्तीदेवीने जैसा कहा था, ठीक वैसा ही किया । सबने उस अन्नका भोजन किया ॥ ७ ॥

कुशैस्तु भूमौ शयनं चकार
माद्रीपुत्रः सहदेवस्तरस्वी ।
यथा स्वकीयान्यजिनानि सर्वे
संस्तीर्य वीराः सुषुपुर्धरण्याम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर वेगवान् वीर माद्रीकुमार सहदेवने धरतीपर कुशकी शय्या बिछा दी । फिर समस्त पाण्डव वीर अपने-अपने मृगचर्म बिछाकर भूमिपर ही सोये ॥ ८ ॥

अगस्त्यशास्तामभितो दिशं तु
शिरांसि तेषां कुरुसत्तमानाम् ।
कुन्ती पुरस्तात् तु बभूव तेषां
पादान्तरे चाथ बभूव कृष्णा ॥ ९ ॥

अशेत भूमौ सह पाण्डुपुत्रैः
पादोपधानीव कृता कुशेषु ।
न तत्र दुःखं मनसापि तस्या
न चावमेने कुरुपुङ्गवांस्तान् ॥ १० ॥

उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंके सिर दक्षिण दिशाकी ओर थे । कुन्ती उनके मस्तककी ओर और द्रौपदी पैरोंकी ओर पृथ्वीपर ही पाण्डवोंके साथ सोयी, मानो उन कुशासनोंपर वह उनके पैरोंकी तकिया बन गयी । वहाँ उस परिस्थितिमें रहकर भी द्रौपदीके मनमें तनिक भी दुःख नहीं हुआ और उसने उन कुरुश्रेष्ठ वीरोंका किंचिन्मात्र भी तिरस्कार नहीं किया ॥ ९-१० ॥

ते तत्र शूराः कथयाम्बभूवुः
कथा विचित्राः पृतनाधिकाराः ।
अस्त्राणि दिव्यानि रथांश्च नागान्
खड्गान् गदाश्चापि परश्वधांश्च ॥ ११ ॥

वे शूरवीर पाण्डव वहाँ सेनापतियोंके योग्य अद्भुत कथाएँ कहने लगे । उन्होंने नाना प्रकारके दिव्यास्त्रों, रथों, हाथियों, तलवारों, गदाओं और फरसोंके विषयमें भी चर्चाएँ कीं ॥ ११ ॥

तेषां कथास्ताः परिकीर्त्यमानाः
पाञ्चालराजस्य सुतस्तदानीम् ।
शुश्राव कृष्णां च तदा विषण्णां
ते चापि सर्वे ददृशुर्मनुष्याः ॥ १२ ॥

उनकी कही हुई वे सभी बातें उस समय पाञ्चाल-राजकुमार धृष्टद्युम्नने सुनीं और उन सभी लोगोंने वहाँ सोयी हुई द्रौपदीको भी देखा ॥ १२ ॥

धृष्टद्युम्नो राजपुत्रस्तु सर्वं
वृत्तं तेषां कथितं चैव रात्रौ ।
सर्वं राज्ञे द्रुपदायाखिलेन
निवेदयिष्यंस्त्वरितो जगाम ॥ १३ ॥

तदनन्तर राजकुमार धृष्टद्युम्न रातमें पाण्डवोंका इतिहास तथा उनकी कही हुई सारी बातें राजा द्रुपदको पूर्णरूपसे सुनानेके लिये बड़ी उतावलीके साथ राजभवनमें गये ॥ १३ ॥

पाञ्चालराजस्तु विषण्णरूप-
स्तान् पाण्डवानप्रतिविन्दमानः ।
धृष्टद्युम्नं पर्यपृच्छन्महात्मा
क्व सा गता केन नीता च कृष्णा ॥ १४ ॥

पाञ्चालराज द्रुपद पाण्डवोंका पता न पानेके कारण बहुत खिन्न थे । धृष्टद्युम्नके आनेपर महात्मा द्रुपदने उससे पूछा—'बेटा ! मेरी पुत्री कृष्णा कहाँ गयी ? कौन उसे ले गया ?' ॥ १४ ॥

कच्चिन्न शूद्रेण न हीनजेन
वैश्येन वा करदेनोपपन्ना।
कच्चित् पदं मूर्ध्नि न पङ्कदिग्धं
कच्चिन्न माला पतिता श्मशाने ॥ १५ ॥

'कहीं किसी शूद्रने अथवा नीच जातिके पुरुषद्वारा ऊँची जातिकी स्त्रीसे उत्पन्न मनुष्यने या कर देनेवाले वैश्यने तो मेरी पुत्रीको प्राप्त नहीं कर लिया? और इस प्रकार उन्होंने मेरे सिरपर अपना कीचड़से सना पाँव तो नहीं रख दिया? मालाके समान सुकुमारी और हृदयपर धारण करने योग्य मेरी लाड़ली पुत्री श्मशानके समान अपवित्र किसी पुरुषके हाथमें तो नहीं पड़ गयी? ॥ १५ ॥

कच्चित् सवर्णप्रवरो मनुष्य
उद्रिक्तवर्णोऽप्युत एव कच्चित्।
कच्चिन्न वामो मम मूर्ध्नि पादः
कृष्णाभिमर्शेन कृतोऽद्य पुत्र ॥ १६ ॥

'क्या द्रौपदीको पानेवाला मनुष्य अपने समान वर्ण (क्षत्रियकुल) का ही कोई श्रेष्ठ पुरुष है? अथवा वह अपनेसे भी श्रेष्ठ ब्राह्मणकुलका है? बेटा! मेरी कृष्णाका स्पर्श कर किसी निम्नवर्णवाले मनुष्यने आज मेरे मस्तकपर अपना बायाँ पैर तो नहीं रख दिया? ॥ १६ ॥

कच्चिच्च तप्स्ये परमप्रतीतः
संयुज्य पार्थेन नरर्षभेण।
वदस्व तत्त्वेन महानुभाव
कोऽसौ विजेता दुहितुर्ममाद्य ॥ १७ ॥

'क्या ऐसा सौभाग्य होगा कि मैं नरश्रेष्ठ अर्जुनसे द्रौपदीका विवाह करके अत्यन्त प्रसन्न होऊँ और कभी भी संतप्त न हो सकूँ? महानुभाव पुत्र! ठीक-ठीक बताओ, आज जिसने मेरी पुत्रीको जीता है, वह पुरुष कौन है? ॥ १७ ॥

विचित्रवीर्यस्य सुतस्य कच्चित्
कुरुप्रवीरस्य ध्रियन्ति पुत्राः।
कच्चित् तु पार्थेन यवीयसाद्य
धनुर्गृहीतं निहतं च लक्ष्यम् ॥ १८ ॥

'क्या कुरुकुलके श्रेष्ठ वीर विचित्रवीर्यकुमार पाण्डुके शूरवीर पुत्र अभी जीवित हैं? क्या आज कुन्तीके सबसे छोटे पुत्र अर्जुनने ही उस धनुषको उठाया और लक्ष्यको मार गिराया था?' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि स्वयंवरपर्वणि धृष्टद्युम्नप्रत्यागमने एकनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत स्वयंवरपर्वमें धृष्टद्युम्नका प्रत्यागमनविषयक एक सौ इक्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९१ ॥

(वैवाहिकपर्व)

द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

धृष्टद्युम्नके द्वारा द्रौपदी तथा पाण्डवोंका हाल सुनकर राजा द्रुपदका उनके पास पुरोहितको भेजना तथा पुरोहित और युधिष्ठिरकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

ततस्तथोक्तः परिहृष्टरूपः
पित्रे शशंसाथ स राजपुत्रः।
धृष्टद्युम्नः सोमकानां प्रबर्हो
वृत्तं यथा येन हृता च कृष्णा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा द्रुपदके यों कहनेपर सोमकशिरोमणि राजकुमार धृष्टद्युम्न अत्यन्त हर्षमें भरकर वहाँ जो वृत्तान्त हुआ था एवं जो कृष्णाको ले गया, वह कौन था, वह सब समाचार कहने लगे ॥ १ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

योऽसौ युवा व्यायतलोहिताक्षः
कृष्णाजिनी देवसमानरूपः।
यः कार्मुकाग्र्यं कृतवानधिज्यं
लक्ष्यं च यः पातितवान् पृथिव्याम् ॥ २ ॥

असज्जमानश्च ततस्तरस्वी
वृतो द्विजाग्र्यैरभिपूज्यमानः।
चक्राम वज्रीव दितेः सुतेषु
सर्वैश्च देवैर्ऋषिभिश्च जुष्टः ॥ ३ ॥

धृष्टद्युम्न बोले—महाराज! जिन विशाल एवं लाल नेत्रोंवाले, कृष्णमृगचर्मधारी तथा देवताके समान मनोहर रूपवाले तरुण वीरने श्रेष्ठ धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ायी और लक्ष्यको बेधकर पृथ्वीपर गिराया था, वे किसीका भी साथ न करके अकेले ही बड़े वेगसे आगे बढ़े। उस समय बहुत-से श्रेष्ठ ब्राह्मण उन्हें घेरे हुए थे और उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहे थे। सम्पूर्ण देवताओं तथा ऋषियोंसे सेवित देवराज इन्द्र जैसे दैत्योंकी सेनाके भीतर निःशङ्क होकर विचरते हैं, उसी प्रकार वे नवयुवक वीर निर्भीक होकर राजाओंके बीचसे निकले।

कृष्णा प्रगृह्याजिनमन्वयात् तं
नागं यथा नागवधूः प्रहृष्टा ।
अमृष्यमाणेषु नराधिपेषु
क्रुद्धेषु वै तत्र समापतत्सु ॥ ४ ॥
ततोऽपरः पार्थिवसङ्घमध्ये
प्रवृद्धमारुज्य महीप्ररोहम् ।
प्रकालयन्नेव स पार्थिवौघान्
क्रुद्धोऽन्तकः प्राणभृतो यथैव ॥ ५ ॥

उस समय राजकुमारी कृष्णा अत्यन्त प्रसन्न हो उनका मृगचर्म थामकर ठीक उसी तरह उनके पीछे-पीछे जा रही थी, जैसे गजराजके पीछे हथिनी जा रही हो। यह देख राजा लोग सहन न कर सके और क्रोधमें भरकर युद्ध करनेके लिये उसपर चारों ओरसे टूट पड़े। तब एक दूसरा वीर बहुत बड़े वृक्षको उखाड़कर राजाओंकी उस मण्डलीमें कूद पड़ा और जैसे कोपमें भरे हुए यमराज समस्त प्राणियोंका संहार करते हैं, उसी प्रकार वह उन नरेशोंको मानो कालके गालमें भेजने लगा ॥ ४-५ ॥

तौ पार्थिवानां मिषतां नरेन्द्र
कृष्णामुपादाय गतौ वराग्र्यौ ।
विभ्राजमानाविव चन्द्रसूर्यौ
बाह्यां पुराद् भार्गवकर्मशालाम् ॥ ६ ॥

नरेन्द्र ! चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति प्रकाशित होनेवाले वे दोनों नरश्रेष्ठ सब राजाओंके देखते-देखते द्रौपदीको साथ ले नगरसे बाहर कुम्हारके घरमें चले गये ॥ ६ ॥

तत्रोपविष्टार्चिरिवानलस्य
तेषां जनित्रीति मम प्रतर्कः ।
तथाविधैरेव नरप्रवीरै-
रुपोपविष्टैस्त्रिभिरग्निकल्पैः ॥ ७ ॥

उस घरमें अग्निशिखाके समान तेजस्विनी एक स्त्री बैठी हुई थीं। मेरा अनुमान है कि वे उन वीरोंकी माता रही होंगी। उनके आस-पास अग्नितुल्य तेजस्वी वैसे ही तीन श्रेष्ठ नरवीर और बैठे हुए थे ॥ ७ ॥

तस्यास्ततस्तावभिवाद्य पादौ
उक्ता च कृष्णा त्वभिवादयेति ।
स्थितां च तत्रैव निवेद्य कृष्णां
भिक्षाप्रचाराय गता नराग्र्याः ॥ ८ ॥

इन दोनों वीरोंने माताके चरणोंमें प्रणाम करके द्रौपदीसे भी उन्हें प्रणाम करनेके लिये कहा। प्रणाम करके वहीं खड़ी हुई कृष्णाको उन्होंने माताको सौंप दिया और स्वयं वे नरश्रेष्ठ वीर भिक्षा लानेके लिये चले गये ॥ ८ ॥

तेषां तु भैक्षं प्रतिगृह्य कृष्णा
दत्त्वा बलिं ब्राह्मणसाच्च कृत्वा ।
तां चैव वृद्धां परिवेष्य तांश्च
नरप्रवीरान् स्वयमप्यभुङ्क्त ॥ ९ ॥

जब वे लौटे तब उनकी भिक्षामें मिले हुए अन्नको लेकर (उनकी माताके आज्ञानुसार) द्रौपदीने देवताओंको बलि समर्पित की, ब्राह्मणोंको दिया और उन वृद्धा स्त्री तथा उन प्रमुख नरवीरोंको अलग-अलग भोजन परोसकर अन्तमें स्वयं भी बचे हुए अन्नको खाया ॥ ९ ॥

सुप्तास्तु ते पार्थिव सर्व एव
कृष्णा च तेषां चरणोपधाने ।
आसीत् पृथिव्यां शयनं च तेषां
दर्भाजिनाग्र्यास्तरणोपपन्नम् ॥ १० ॥

राजन् ! भोजनके बाद वे सब सो गये। कृष्णा उनके पैरोंके समीप सोयी। धरतीपर ही उनकी शय्या बिछी थी। नीचे कुशकी चटाइयाँ थीं और ऊपर मृगचर्म बिछा हुआ था ॥ १० ॥

ते नर्दमाना इव कालमेघाः
कथा विचित्राः कथयाम्बभूवुः ।
न वैश्यशूद्रौपयिकीः कथास्ता
न च द्विजानां कथयन्ति वीराः ॥ ११ ॥

सोते समय वे वर्षाकालके मेघके समान गम्भीर गर्जना करते हुए आपसमें बड़ी विचित्र बातें करने लगे। वे पाँचों वीर जो बातें कह रहे थे, वे वैश्यों, शूद्रों तथा ब्राह्मणों-जैसी नहीं थीं ॥ ११ ॥

निःसंशयं क्षत्रियपुङ्गवास्ते
यथा हि युद्धं कथयन्ति राजन् ।
आशा हि नो व्यक्तमियं समृद्धा
मुक्तान् हि पार्थाञ्छृणुमोऽग्निदाहात् ॥ १२ ॥

राजन् ! जिस प्रकार वे युद्धका वर्णन करते थे, उससे यह मान लेनेमें तनिक भी संदेह नहीं रह जाता कि वे लोग क्षत्रियशिरोमणि हैं। हमने सुना है, कुन्तीके पुत्र लाक्षागृहकी आगमें जलनेसे बच गये हैं। अतः हमारे मनमें जो पाण्डवोंसे सम्बन्ध करनेकी अभिलाषा थी, अवश्य वही सफल हुई जान पड़ती है ॥ १२ ॥

यथा हि लक्ष्यं निहतं धनुश्च
सज्यं कृतं तेन तथा प्रसह्य ।
यथा हि भाषन्ति परस्परं ते
छन्ना ध्रुवं ते प्रचरन्ति पार्थाः ॥ १३ ॥

जिस प्रकार उन्होंने धनुषपर बलपूर्वक प्रत्यञ्चा चढ़ायी, जिस तरह दुर्भेद्य लक्ष्यको बेध गिराया और जिस प्रकार वे सभी भाई आपसमें बातें करते हैं, उससे यह निश्चय हो जाता है कि कुन्तीके पुत्र ही ब्राह्मणवेषमें छिपे हुए विचर रहे हैं ॥

ततः स राजा द्रुपदः प्रहृष्टः
पुरोहितं प्रेषयामास तेषाम् ।

विद्याम युष्मानिति भाषमाणो
महात्मानः पाण्डुसुतास्तु कच्चित् ॥ १४ ॥

जनमेजय ! इस समाचारसे राजा द्रुपदको बड़ी प्रसन्नता हुई, उन्होंने उसी समय उनके पास अपने पुरोहितको भेजते हुए कहा—'आप उन लोगोंसे कहियेगा कि मैं आपलोगोंका परिचय जानना चाहता हूँ। क्या आपलोग महात्मा पाण्डुके पुत्र हैं ?' ॥ १४ ॥

गृहीतवाक्यो नृपतेः पुरोधा
गत्वा प्रशंसामभिधाय तेषाम्।
वाक्यं समग्रं नृपतेर्यथाव-
दुवाच चानुक्रमविक्रमेण ॥ १५ ॥

राजाका अनुरोध मानकर पुरोहितजी गये और उन सबकी प्रशंसा करके राजा द्रुपदके वचनोंको ठीक-ठीक एकके बाद एक करके क्रमशः कहने लगे— ॥ १५ ॥

विज्ञातुमिच्छत्यवनीश्वरो वः
पाञ्चालराजो वरदो वरार्हाः।
लक्ष्यस्य वेद्धारमिमं हि दृष्ट्वा
हर्षस्य नान्तं प्रतिपद्यते सः ॥ १६ ॥

'वरदानके योग्य वीर पुरुषो ! वर देनेमें समर्थ पाञ्चालदेशके राजा द्रुपद आपलोगोंका परिचय जानना चाहते हैं। इन वीर पुरुषको लक्ष्यवेध करते देखकर उन्हें हर्षकी सीमा नहीं रह गयी है ॥ १६ ॥

आख्यात च ज्ञातिकुलानुपूर्वीं
पदं शिरस्सु द्विषतां कुरुध्वम्।
प्रह्लादयध्वं हृदयं ममेदं
पाञ्चालराजस्य च सानुगस्य ॥ १७ ॥

'आपलोग अपनी जाति और कुल आदिका यथावत् वर्णन करें, शत्रुओंके माथेपर पैर रक्खें और मेरे तथा अनुचरोंसहित पाञ्चालराजके हृदयको आनन्द प्रदान करें ॥ १७ ॥

पाण्डुर्हि राजा द्रुपदस्य राज्ञः
प्रियः सखा चात्मसमो बभूव।
तस्यैष कामो दुहिता ममेयं
स्नुषां प्रदास्यामि हि कौरवाय ॥ १८ ॥

'महाराज पाण्डु राजा द्रुपदके आत्माके समान प्रिय मित्र थे। इसलिये उनकी यह अभिलाषा थी कि मैं अपनी इस पुत्रीका विवाह पाण्डुकुमारसे करूँ। इसे राजा पाण्डुको पुत्रवधूके रूपमें समर्पित करूँ ॥ १८ ॥

अयं हि कामो द्रुपदस्य राज्ञो
हृदि स्थितो नित्यमनिन्दिताङ्गाः।
यदर्जुनो वै पृथुदीर्घबाहु-
र्धर्मेण विन्देत सुतां ममैताम् ॥ १९ ॥

सर्वाङ्गसुन्दर शूरवीरो ! राजा द्रुपदके हृदयमें नित्य-निरन्तर यह कामना रही है कि मोटी एवं विशाल भुजाओंवाले अर्जुन मेरी इस पुत्रीका धर्मपूर्वक पाणिग्रहण करें ॥ १९ ॥

कृतं हि तत् स्यात् सुकृतं ममेदं
यशश्च पुण्यं च हितं तदेतत्।

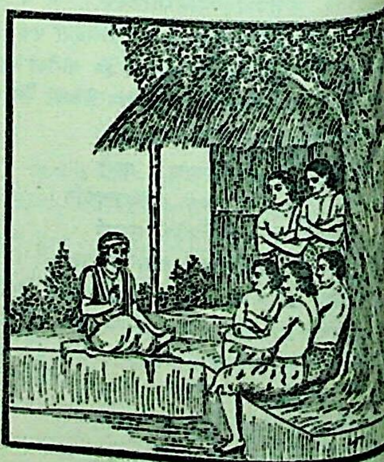
'उनका यह कहना है कि यदि मेरा यह मनोरथ पूरा हो जाय, तो मैं समझूँगा कि यह मेरे शुभ कर्मोंका फल प्राप्त हुआ है। यही मेरे लिये यश, पुण्य और हितकी बात होगी' ॥ [illegible]

अथोक्तवाक्यं हि पुरोहितं स्थितं
ततो विनीतं समुदीक्ष्य राजा ॥ [illegible]
समीपतो भीममिदं शशास
प्रदीयतां पाद्यमर्घ्यं तथास्मै।
मान्यः पुरोधा द्रुपदस्य राज्ञः
तस्मै प्रयोज्याभ्यधिका हि पूजा ॥ [illegible]

जब विनयशील पुरोहितजी यह बात कह चुके, तब युधिष्ठिरने उनकी ओर देखकर पास बैठे हुए भीमसेनको यह आज्ञा दी कि इन्हें पाद्य और अर्घ्य समर्पित करो। महाराज द्रुपदके माननीय पुरोहित हैं। अतः इनका विशेष आदर-सत्कार करना चाहिये' ॥ २०-२१ ॥

भीमस्ततस्तत् कृतवान् नरेन्द्र
तां चैव पूजां प्रतिगृह्य हर्षात्।
सुखोपविष्टं तु पुरोहितं तदा
युधिष्ठिरो ब्राह्मणमित्युवाच ॥ २२ ॥

जनमेजय ! तब भीमसेनने पाद्य, अर्घ्य निवेदन कर उनका विधिवत् पूजन किया। उनकी दी हुई पूजा प्रसन्नतापूर्वक ग्रहण करके पुरोहितजी जब बड़े सुखसे आसन पर बैठ गये, तब राजा युधिष्ठिरने उन ब्राह्मणदेवतासे इस प्रकार कहा— ॥ २२ ॥



पाञ्चालराजेन सुता निसृष्टा
स्वधर्मदृष्टेन यथा न कामात्।
प्रदिष्टशुल्का द्रुपदेन राज्ञा
सा तेन वीरेण तथानुवृत्ता ॥ २३ ॥

'ब्रह्मन्! पाञ्चालराज द्रुपदने यह कन्या अपनी इच्छासे नहीं दी है, उन्होंने अपने धर्मके अनुसार लक्ष्यवेधकी शर्त करके अपनी कन्या देनेका निश्चय किया था। उस वीर पुरुषने उसी शर्तको पूर्ण करके यह कन्या प्राप्त की है ॥ २३ ॥

न तत्र वर्णेषु कृता विवक्षा
न चापि शीले न कुले न गोत्रे।
कृतेन सज्येन हि कार्मुकेण
विद्धेन लक्ष्येण हि सा विसृष्टा ॥ २४ ॥
सेयं तथानेन महात्मनेह
कृष्णा जिता पार्थिवसङ्घमध्ये।
नैवंगते सौमकिरद्य राजा
संतापमर्हत्यसुखाय कर्तुम् ॥ २५ ॥

'राजाने वहाँ वर्ण, शील, कुल और गोत्रके विषयमें कोई अभिप्राय नहीं व्यक्त किया था। धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर लक्ष्यवेध कर देनेपर ही कन्यादानकी घोषणा की थी। इस महात्मा वीरने उसी घोषणाके अनुसार राजाओंकी मण्डलीमें राजकुमारी कृष्णापर विजय पायी है। ऐसी दशामें सोमकवंशी राजा द्रुपदको अब सुखका अभाव करनेवाला संताप नहीं करना चाहिये ॥ २४-२५ ॥

कामश्च योऽसौ द्रुपदस्य राज्ञः
स चापि सम्पत्स्यति पार्थिवस्य।
सम्प्राप्यरूपां हि नरेन्द्रकन्या-
मिमामहं ब्राह्मण साधु मन्ये ॥ २६ ॥

'ब्राह्मण! राजा द्रुपदकी जो पहलेकी अभिलाषा है, वह भी पूरी होगी। इस राजकन्याको हम सर्वथा ग्रहण करनेयोग्य एवं उत्तम मानते हैं ॥ २६ ॥

न तद् धनुर्मन्दबलेन शक्यं
मौर्व्या समायोजयितुं तथा हि।
न चाकृतास्त्रेण न हीनजेन
लक्ष्यं तथा पातयितुं हि शक्यम् ॥ २७ ॥

'कोई बलहीन पुरुष उस विशाल धनुषपर प्रत्यञ्चा नहीं चढ़ा सकता था। जिसने अस्त्रविद्याकी पूर्ण शिक्षा न पायी हो, ऐसे पुरुषके अथवा किसी नीच कुलके मनुष्यके लिये भी उस लक्ष्यको गिराना असम्भव था ॥ २७ ॥

तस्मान्न तापं दुहितुर्निमित्तं
पाञ्चालराजोऽर्हति कर्तुमद्य।
न चापि तत्पातनमन्यथेह
कर्तुं हि शक्यं भुवि मानवेन ॥ २८ ॥

अतः पाञ्चालराजको अब अपनी पुत्रीके लिये पश्चात्ताप करना उचित नहीं है। इस पृथ्वीपर उस वीरके सिवा ऐसा कोई मनुष्य नहीं है, जो उस लक्ष्यको वेध सके' ॥ २८ ॥

एवं ब्रुवत्येव युधिष्ठिरे तु
पाञ्चालराजस्य समीपतोऽन्यः।
तत्राजगामाशु नरो द्वितीयो
निवेदयिष्यन्निह सिद्धमन्नम् ॥ २९ ॥

राजा युधिष्ठिर यों कह ही रहे थे कि पाञ्चालराज द्रुपदके पाससे एक दूसरा मनुष्य यह समाचार देनेके लिये शीघ्रतापूर्वक आया कि 'राजभवनमें आपलोगोंके लिये भोजन तैयार है' ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पुरोहितयुधिष्ठिरसंवादे द्विनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पुरोहितयुधिष्ठिरसंवादविषयक एक सौ बानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९२ ॥

त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवों और कुन्तीका द्रुपदके घरमें जाकर सम्मानित होना और राजा द्रुपदद्वारा पाण्डवोंके शील-स्वभावकी परीक्षा

दूत उवाच

जन्यार्थमन्नं द्रुपदेन राज्ञा
विवाहहेतोरुपसंस्कृतं च।
तदाप्नुवध्वं कृतसर्वकार्याः
कृष्णां च तत्रैव चिरं न कार्यम् ॥ १ ॥

दूत बोला—महाराज द्रुपदने विवाहके निमित्त बरातियोंको जिमानेके लिये उत्तम भोजनसामग्री तैयार करायी है। अतः आपलोग सम्पूर्ण दैनिक कार्योंसे निवृत्त हो उसे पायें। राजकुमारी कृष्णाको भी विवाहविधिसे वहीं प्राप्त करें। इसमें विलम्ब नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥

इमे रथाः काञ्चनपद्मचित्राः
सदश्वयुक्ता वसुधाधिपार्हाः।
एतान् समारुह्य समेत सर्वे
पाञ्चालराजस्य निवेशनं तत् ॥ २ ॥

ये सुवर्णमय कमलोंसे सुशोभित तथा राजाओंकी सवारीके

योग्य विचित्र रथ खड़े हैं, इनमें उत्तम घोड़े जुते हुए हैं; इनपर सवार हो आप सब लोग महाराज द्रुपदके महलमें पधारें।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रयाताः कुरुपुङ्गवास्ते
पुरोहितं तं परियाप्य सर्वे।
आस्थाय यानानि महान्ति तानि
कुन्ती च कृष्णा च सहैकयाने ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वहाँ वे सभी कुरुश्रेष्ठ पाण्डव पुरोहितजीको विदा करके उन विशाल रथोंपर आरूढ़ हो (राजभवनकी ओर) चले। उस समय कुन्ती और कृष्णा एक साथ एक ही सवारीपर बैठी हुई थीं ॥ ३ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यानि पुरोहितस्य
यान्युक्तवान् भारत धर्मराजः।
जिज्ञासयैवाथ कुरूत्तमानां
द्रव्याण्यनेकान्युपसंजहार ॥ ४ ॥

भारत! उस समय धर्मराज युधिष्ठिरने जो बातें कही थीं, उन्हें पुरोहितके मुखसे सुनकर उन कुरुश्रेष्ठ वीरोंके शील-स्वभावकी परीक्षाके लिये राजा द्रुपदने अनेक प्रकारकी वस्तुओंका संग्रह किया ॥ ४ ॥

फलानि माल्यानि च संस्कृतानि
वर्माणि चर्माणि तथाऽऽसनानि।
गाश्चैव राजन्नथ चैव रज्जू-
र्बीजानि चान्यानि कृषीनिमित्तम् ॥ ५ ॥
अन्येषु शिल्पेषु च यान्यपि स्युः
सर्वाणि कृत्यान्यखिलेन तत्र।
क्रीडानिमित्तान्यपि यानि तत्र
सर्वाणि तत्रोपजहार राजा ॥ ६ ॥

राजन्! (सब प्रकारके) फल, सुन्दर ढंगसे बनायी हुई मालाएँ, कवच, ढाल, आसन, गौएँ, रस्सियाँ, बीज एवं खेतीके अन्य सामान तथा अन्य कारीगरियोंके सब सामान पूर्णरूपसे वहाँ संगृहीत किये गये थे। इसके सिवा, खेलके लिये जो आवश्यक वस्तुएँ होती हैं, उन सबको राजा द्रुपदने वहाँ जुटाकर रक्खा था ॥ ५-६ ॥

वर्माणि चर्माणि च भानुमन्ति
खड्गा महान्तोऽश्वरथाश्च चित्राः।
धनूंषि चाग्र्याणि शराश्च चित्राः
शक्त्यृष्टयः काञ्चनभूषणाश्च ॥ ७ ॥
प्रासा भुशुण्ड्यश्च परश्वधाश्च
सांग्रामिकं चैव तथैव सर्वम्।
शय्यासनान्युत्तमवस्तुवन्ति
तथैव वासो विविधं च तत्र ॥ ८ ॥

दूसरी ओर कवच, चमकती हुई ढालें, तलवारें, बड़े-बड़े विचित्र घोड़े तथा रथ, श्रेष्ठ धनुष, विचित्र बाण, सुवर्ण[भूषित] शक्तियाँ एवं ऋष्टियाँ, प्रास, भुशुण्डियाँ, फरसे तथा सब [प्रकार]की युद्धसामग्री, उत्तम वस्तुओंसे युक्त शय्या-आसन और [नाना] प्रकारके वस्त्र भी वहाँ संग्रह करके रक्खे गये थे ॥ ७-[८] ॥

कुन्ती तु कृष्णां परिगृह्य साध्वी-
मन्तःपुरं द्रुपदस्याविवेश।
स्त्रियश्च तां कौरवराजपत्नीं
प्रत्यर्चयामासुरदीनसत्त्वाः ॥ [९] ॥

कुन्तीदेवी सती-साध्वी कृष्णाको साथ ले द्रु[पदके] रनिवासमें गयीं। वहाँकी उदारहृदया स्त्रियोंने कौ[रवराज] पाण्डुकी धर्मपत्नीका (बड़ा) आदर-सत्कार किया ॥ [९] ॥

तान् सिंहविक्रान्तगतीन् निरीक्ष्य
महर्षभाक्षानजिनोत्तरीयान्।
गूढोत्तरांसान् भुजगेन्द्रभोग-
प्रलम्बबाहून् पुरुषप्रवीरान् ॥ [१०] ॥
राजा च राज्ञः सचिवाश्च सर्वे
पुत्राश्च राज्ञः सुहृदस्तथैव।
प्रेष्याश्च सर्वे निखिलेन राजन्
हर्षं समापेतुरतीव तत्र ॥ [११] ॥

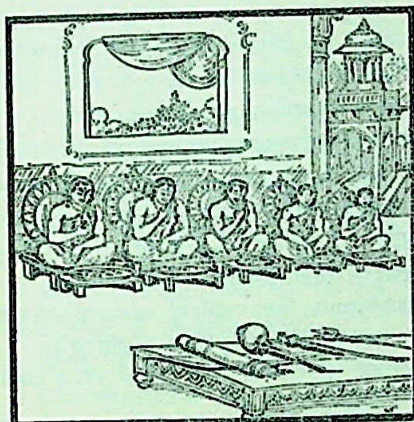
राजन्! पाण्डवोंकी चाल-ढाल सिंहके समान [पराक्रमकी] सूचक थी, उनकी आँखें साँड़के समान बड़ी-बड़ी थीं, [वे] काले मृगचर्मके ही दुपट्टे ओढ़ रक्खे थे, उनकी हँ[सलीकी] हड्डियाँ मांससे छिपी हुई थीं और भुजाएँ नागराजके [शरीरके] समान मोटी एवं विशाल थीं। उन पुरुषसिंह पा[ण्डवोंको] देखकर राजा द्रुपद, उनके सभी पुत्र, मन्त्री, इष्ट-मित्र और नौकर-चाकर ये सब-के-सब वहाँ बड़े ही प्रसन्न हुए ॥ १०-[११] ॥

ते तत्र वीराः परमासनेषु
सपादपीठेष्वविशङ्कमानाः।
यथानुपूर्व्यं विविशुर्नराग्र्याः
तथा महार्हेषु न विस्मयन्तः ॥ [१२] ॥

वे नरश्रेष्ठ वीर पाण्डव वहाँ लगे हुए पादपीठ[युक्त] बहुमूल्य श्रेष्ठ सिंहासनोंपर बिना किसी हिच[क और] संकोचके मनमें तनिक भी विस्मय न करते हुए बड़े[-छोटेके] क्रमसे जा बैठे ॥ १२ ॥

उच्चावचं पार्थिवभोजनीयं
पात्रीषु जाम्बूनदराजतीषु।
दासाश्च दास्यश्च सुमृष्टवेषाः
सम्भोजकाश्चाप्युपजह्रुरन्नम् ॥ [१३] ॥

तब स्वच्छ और सुन्दर पोशाक पहिने हुए दा[स-दासियों] तथा रसोइयोंने सोने-चाँदीके बरतनोंमें राजाओंके [भोजन] करने योग्य अनेक प्रकारकी सामान्य और विशेष भोजन[-सामग्री] लाकर परोसी ॥ १३ ॥



ते तत्र भुक्त्वा पुरुषप्रवीरा
यथाऽऽत्मकामं सुभृशं प्रतीताः ।
उत्क्रम्य सर्वाणि वसूनि राजन्
सांग्रामिकं ते विविशुर्नृवीराः ॥ १४ ॥

मनुष्योंमें श्रेष्ठ पाण्डव वहाँ अपनी रुचिके अनुसार उन सब वस्तुओंको खाकर बहुत अधिक प्रसन्न हुए। राजन्! (तदनन्तर वहाँ संग्रह की हुई अन्य) सब वैभव-भोगकी सामग्रियोंको छोड़कर वे पहले उसी स्थानपर गये, जहाँ युद्धकी सामग्रियाँ रक्खी गयी थीं ॥ १४ ॥

तल्लक्षयित्वा द्रुपदस्य पुत्रो
राजा च सर्वैः सह मन्त्रिमुख्यैः ।
समर्थयामासुरुपेत्य हृष्टाः
कुन्तीसुतान् पार्थिव राजपुत्रान् ॥ १५ ॥

जनमेजय! यह सब देखकर राजा द्रुपद, राजकुमार और सभी प्रधान मन्त्री बड़े प्रसन्न हुए और उनके पास जाकर उन्होंने अपने मनमें यही निश्चय किया कि ये राजकुमार कुन्तीदेवीके ही पुत्र हैं ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि युधिष्ठिरादिपरीक्षणे त्रिनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें युधिष्ठिर आदिकी परीक्षाविषयक एक सौ तिरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९३ ॥

चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रुपद और युधिष्ठिरकी बातचीत तथा व्यासजीका आगमन

वैशम्पायन उवाच

तत आहूय पाञ्चाल्यो राजपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
परिग्रहेण ब्राह्मेण परिगृह्य महाद्युतिः ॥ १ ॥
पर्यपृच्छददीनात्मा कुन्तीपुत्रं सुवर्चसम् ।
कथं जानीम भवतः क्षत्रियान् ब्राह्मणानुत ॥ २ ॥
वैश्यान् वा गुणसम्पन्नानथवा शूद्रयोनिजान् ।
मायामास्थाय वा विप्रांश्चरतः सर्वतोदिशम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर महातेजस्वी, उदारचित्त पाञ्चालराज द्रुपदने अत्यन्त कान्तिमान् कुन्तीपुत्र राजकुमार युधिष्ठिरको (अपने पास) बुलाकर ब्राह्मणोचित आतिथ्य-सत्कारके द्वारा उन्हें अपनाकर पूछा—'हमें कैसे ज्ञात हो कि आपलोग किस वर्णके हैं? हम आपको क्षत्रिय, ब्राह्मण, गुणसम्पन्न वैश्य अथवा शूद्र क्या समझें? अथवा मायाका आश्रय लेकर ब्राह्मणरूपसे सब दिशाओंमें विचरनेवाले आपलोगोंको हम कोई देवता मानें? ॥ १–३ ॥

कृष्णाहेतोरनुप्राप्ता देवाः संदर्शनार्थिनः ।
ब्रवीतु नो भवान् सत्यं संदेहो ह्यत्र नो महान् ॥ ४ ॥

जान पड़ता है, आप कृष्णाको पानेके लिये यहाँ दर्शक बनकर आये हुए देवता ही हैं। आप सच्ची बात हमें बता दें, क्योंकि आपके विषयमें हमको बड़ा संदेह हो रहा है ॥ ४ ॥

अपि नः संशयस्यान्ते मनः संतुष्टिमावहेत् ।
अपि नो भागधेयानि शुभानि स्युः परंतप ॥ ५ ॥

परंतप! आपसे रहस्यकी बात सुनकर क्या हमारे इस संशयका नाश और मनको संतोष होगा और क्या हमारा भाग्य उदय होगा? ॥ ५ ॥

इच्छया ब्रूहि तत् सत्यं सत्यं राजसु शोभते ।
इष्टापूर्तेन च तथा वक्तव्यमनृतं न तु ॥ ६ ॥

आप स्वेच्छासे ही सच्ची बात बतायें, राजाओंमें इष्ट और

१–स्मृतियोंमें इष्ट और पूर्तका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवं च इष्टमित्यभिधीयते ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामाः पूर्तमित्यभिधीयते ॥

'अग्निहोत्र, तप, सत्यभाषण, वेदोंकी आज्ञाका निरन्तर पालन, अतिथियोंका सत्कार तथा बलिवैश्वदेव-कर्म—ये 'इष्ट' कहलाते हैं। बावली, कुआँ, पोखरे आदि बनवाना, देवमन्दिर निर्माण कराना, अन्नदान देना और बगीचे लगाना—इनका नाम 'पूर्त' है।

पूर्तकी अपेक्षा सत्यकी ही अधिक महिमा है; अतः असत्य नहीं बोलना चाहिये ॥ ६ ॥

श्रुत्वा ह्यमरसंकाश तव वाक्यमरिंदम।
ध्रुवं विवाहकरणमास्थास्यामि विधानतः॥ ७ ॥

देवताओंके समान तेजस्वी शत्रुसूदन ! मैं आपकी बात सुनकर निश्चय ही विधिपूर्वक विवाहकी तैयारी करूँगा ॥७॥

युधिष्ठिर उवाच

मा राजन् विमना भूस्त्वं पाञ्चाल्य प्रीतिरस्तु ते।
ईप्सितस्ते ध्रुवः कामः संवृत्तोऽयमसंशयम् ॥८॥

युधिष्ठिर बोले—पाञ्चालराज ! आप उदास न हों, आपको प्रसन्न होना चाहिये। आपके मनमें जो अभीष्ट कामना थी, वह निश्चय ही आज पूरी हुई है, इसमें संशय नहीं है ॥ ८ ॥

वयं हि क्षत्रिया राजन् पाण्डोः पुत्रा महात्मनः।
ज्येष्ठं मां विद्धि कौन्तेयं भीमसेनार्जुनाविमौ ॥ ९ ॥

राजन् ! हमलोग क्षत्रिय ही हैं, महात्मा पाण्डुके पुत्र हैं। मुझे कुन्तीका ज्येष्ठ पुत्र समझिये, ये दोनों भीमसेन और अर्जुन हैं ॥ ९ ॥

आभ्यां तव सुता राजन् निर्जिता राजसंसदि।
यमौ च तत्र कुन्ती च यत्र कृष्णा व्यवस्थिता ॥ १० ॥

राजन् ! इन्हीं दोनोंने समस्त राजाओंके समूहमें आपकी पुत्रीको जीता है। उधर वे दोनों नकुल और सहदेव हैं। माता कुन्ती वहीं गयी हैं, जहाँ राजकुमारी कृष्णा है ॥१०॥

व्येतु ते मानसं दुःखं क्षत्रियाः स्मो नरर्षभ।
पद्मिनीव सुतेयं ते ह्रदादन्यह्रदं गता ॥ ११ ॥

नरश्रेष्ठ ! अब आपकी मानसिक चिन्ता निकल जानी चाहिये। हम सब लोग क्षत्रिय ही हैं। आपकी यह पुत्री कृष्णा कमलिनीकी भाँति एक सरोवरसे दूसरे सरोवरको प्राप्त हुई है।

इति तथ्यं महाराज सर्वमेतद् ब्रवीमि ते।
भवान् हि गुरुरस्माकं परमं च परायणम् ॥ १२ ॥

महाराज ! यह सब मैं आपसे सच्ची बात कह रहा हूँ। आप हमारे बड़े तथा परम आश्रय हैं ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः स द्रुपदो राजा हर्षव्याकुललोचनः।
प्रतिवक्तुं मुदा युक्तो नाशकत् तं युधिष्ठिरम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरकी ये बातें सुनकर महाराज द्रुपदकी आँखोंमें हर्षके आँसू छलक आये। वे आनन्दमें मग्न हो गये और (गला भर आनेके कारण) उन युधिष्ठिरको तत्काल (कुछ) उत्तर न दे सके ॥१३॥

यत्नेन तु स तं हर्षं संनिगृह्य परंतप।
अनुरूपं तदा वाचा प्रत्युवाच युधिष्ठिरम् ॥ १४ ॥

शत्रुसूदन द्रुपदने (बड़े) यत्नसे अपने (हर्षके आवेश) को रोका और युधिष्ठिरको उनके कथनके अनुरूप ही उत्तर दिया ॥ १४ ॥

पप्रच्छ चैनं धर्मात्मा यथा ते प्रद्रुताः पुरात्।
स तस्मै सर्वमाचख्यावानुपूर्व्येण पाण्डवः ॥ १५ ॥

फिर उन धर्मात्मा पाञ्चाल-नरेशने यह पूछा कि 'आपलोग वारणावत नगरसे किस प्रकार भाग निकले ?' पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने वे सारी बातें उन्हें क्रमशः कह सुनायीं ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा द्रुपदो राजा कुन्तीपुत्रस्य भाषितम्।
विगर्हयामास तदा धृतराष्ट्रं नरेश्वरम् ॥ १६ ॥
आश्वासयामास च तं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
प्रतिजज्ञे च राज्याय द्रुपदो वदतां वरः ॥ १७ ॥

कुन्तीकुमारके मुखसे वह सारा समाचार सुनकर वक्ताओंमें श्रेष्ठ महाराज द्रुपदने उस समय राजा धृतराष्ट्रकी बड़ी निन्दा की और कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको आश्वासन दिया। साथ ही उन्होंने यह प्रतिज्ञा भी की कि 'हम तुम्हें तुम्हारा राज्य दिलवाकर रहेंगे' ॥ १६-१७ ॥

ततः कुन्ती च कृष्णा च भीमसेनार्जुनावपि।
यमौ च राज्ञा संदिष्टं विविशुर्भवनं महत् ॥ १८ ॥
तत्र ते न्यवसन् राजन् यज्ञसेनेन पूजिताः।
प्रत्याश्वस्तस्ततो राजा सह पुत्रैरुवाच तम् ॥ १९ ॥

राजन् ! तत्पश्चात् कुन्ती, कृष्णा, युधिष्ठिर, भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव राजा द्रुपदके द्वारा निर्दिष्ट हुए विशाल भवनमें गये और यज्ञसेन (द्रुपद) से सम्मानित हो वहीं रहने लगे। इस प्रकार विश्वास जम जानेपर महाराज द्रुपदने अपने पुत्रोंके साथ जाकर युधिष्ठिरसे कहा—॥१८-१९॥

गृह्णातु विधिवत् पाणिमद्यायं कुरुनन्दनः।
पुण्येऽहनि महाबाहुरर्जुनः कुरुतां क्षणम् ॥ २० ॥

'ये कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले महाबाहु अर्जुन आजके पुण्यमय दिवसमें मेरी पुत्रीका विधिपूर्वक पाणिग्रहण करें और (अपने कुलोचित) मङ्गलाचारका पालन प्रारम्भ कर दें ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

तमब्रवीत् ततो राजा धर्मात्मा च युधिष्ठिरः।
ममापि दारसम्बन्धः कार्यस्तावद् विशाम्पते ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब धर्मात्मा राजा युधिष्ठिरने उनसे कहा—'राजन् ! विवाह तो मेरा भी करना होगा' ॥ २१ ॥

द्रुपद उवाच

भवान् वा विधिवत् पाणिं गृह्णातु दुहितुर्मम।
यस्य वा मन्यसे वीर तस्य कृष्णामुपादिश ॥ २२ ॥

द्रुपद बोले—वीर! तब आप ही विधिपूर्वक मेरी पुत्रीका पाणिग्रहण करें अथवा आप अपने भाइयोंमेंसे जिसके साथ चाहें, उसीके साथ कृष्णाको विवाहकी आज्ञा दे दें ।२२।

युधिष्ठिर उवाच

सर्वेषां महिषी राजन् द्रौपदी नो भविष्यति ।
एवं प्रव्याहृतं पूर्वं मम मात्रा विशाम्पते ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! द्रौपदी तो हम सभी भाइयोंकी पटरानी होगी। मेरी माताने पहले हम सब लोगोंको ऐसी ही आज्ञा दे रखी है ॥ २३ ॥

अहं चाप्यनिविष्टो वै भीमसेनश्च पाण्डवः ।
पार्थेन विजिता चैषा रत्नभूता सुता तव ॥ २४ ॥

मैं तथा पाण्डव भीमसेन भी अभीतक अविवाहित हैं और आपकी इस रत्नस्वरूपा कन्याको अर्जुनने जीता है ॥२४॥

एष नः समयो राजन् रत्नस्य सह भोजनम् ।
न च तं हातुमिच्छामः समयं राजसत्तम ॥ २५ ॥

महाराज! हम लोगोंमें यह शर्त हो चुकी है कि रत्नको हम सब लोग बाँटकर एक साथ उपभोग करेंगे। नृपशिरोमणे! हम अपनी उस (पुरानी) शर्तको छोड़ना या तोड़ना (नहीं चाहते) ॥ २५ ॥

सर्वेषां धर्मतः कृष्णा महिषी नो भविष्यति ।
आनुपूर्व्येण सर्वेषां गृह्णातु ज्वलने करान् ॥ २६ ॥

अतः कृष्णा धर्मके अनुसार हम सभीकी महारानी होगी। इसलिये वह प्रज्वलित अग्निके सामने क्रमशः हम सबका पाणिग्रहण करे ॥ २६ ॥

द्रुपद उवाच

एकस्य बह्व्यो विहिता महिष्यः कुरुनन्दन ।
नैकस्या बहवः पुंसः श्रूयन्ते पतयः क्वचित् ॥ २७ ॥

द्रुपद बोले—कुरुनन्दन! एक राजाकी बहुत-सी रानियाँ (अथवा एक पुरुषकी अनेक स्त्रियाँ) हों, ऐसा विधान तो वेदोंमें देखा गया है; परंतु एक स्त्रीके अनेक पुरुष पति हों, ऐसा कहीं सुननेमें नहीं आया है* ॥ २७ ॥

लोकवेदविरुद्धं त्वं नाधर्मं धर्मविच्छुचिः ।
कर्तुमर्हसि कौन्तेय कस्मात् ते बुद्धिरीदृशी ॥ २८ ॥

तुम धर्मके ज्ञाता और पवित्र हो, अतः तुम्हें लोक और वेदके विरुद्ध यह अधर्म नहीं करना चाहिये। तुम कुन्तीके पुत्र हो; तुम्हारी बुद्धि ऐसी क्यों हो रही है? ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सूक्ष्मो धर्मो महाराज नास्य विद्मो वयं गतिम् ।
पूर्वेषामानुपूर्व्येण यातं वर्त्मानुयामहे ॥ २९ ॥

युधिष्ठिरने कहा—महाराज! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है, हम उसकी गतिको नहीं जानते। पूर्वकालके प्रचेता आदि जिस मार्गसे गये हैं, उसीका हमलोग क्रमशः अनुसरण करते हैं ॥ २९ ॥

न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः ।
एवं चैव वदत्यम्बा मम चैतन्मनोगतम् ॥ ३० ॥

मेरी वाणी कभी झूठ नहीं बोलती और मेरी बुद्धि भी कभी अधर्ममें नहीं लगती। हमारी माताने हमें ऐसा ही करनेकी आज्ञा दी है और मेरे मनमें भी यही ठीक जँचा है ॥

एष धर्मो ध्रुवो राजंश्चरैनमविचारयन् ।
मा च शङ्का तत्र ते स्यात् कथंचिदपि पार्थिव ॥ ३१ ॥

राजन्! यह अटल धर्म है। आप बिना किसी सोच-विचारके इसका पालन करें। पृथ्वीपते! आपको इस विषयमें किसी प्रकारकी आशङ्का नहीं होनी चाहिये ॥ ३१ ॥

द्रुपद उवाच

त्वं च कुन्ती च कौन्तेय धृष्टद्युम्नश्च मे सुतः ।
कथयन्त्वितिकर्तव्यं श्वः काले करवामहे ॥ ३२ ॥

द्रुपद बोले—कुन्तीनन्दन! तुम, कुन्तीदेवी और मेरा पुत्र धृष्टद्युम्न—ये सब लोग मिलकर यह निश्चय करके बतायें कि क्या करना चाहिये? उसे ही कल ठीक समयपर हमलोग करेंगे ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ते समेत्य ततः सर्वे कथयन्ति स्म भारत ।
अथ द्वैपायनो राजन्नभ्यागच्छद् यदृच्छया ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत! तदनन्तर वे सब लोग मिलकर इस विषयमें सलाह करने लगे। राजन्! इसी समय भगवान् वेदव्यास वहाँ अकस्मात् आ पहुँचे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि द्वैपायनागमने चतुर्नवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें वेदव्यासके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला एक सौ चौरानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९४ ॥

* इस विषयमें यह श्रुतिका वचन प्रसिद्ध है—'एकस्य बह्व्यो जाया भवन्ति, नैकस्यै बहवः सहपतयः' अर्थात् एक पुरुषकी बहुत-सी स्त्रियाँ होती हैं, किंतु एक स्त्रीके किये बहुत-से पति नहीं होते।

पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीके सामने द्रौपदीका पाँच पुरुषोंसे विवाह होनेके विषयमें द्रुपद, धृष्टद्युम्न और युधिष्ठिरका अपने-अपने विचार व्यक्त करना

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते पाण्डवाः सर्वे पाञ्चाल्यश्च महायशाः ।
प्रत्युत्थाय महात्मानं कृष्णं सर्वेऽभ्यवादयन् ॥ १ ॥

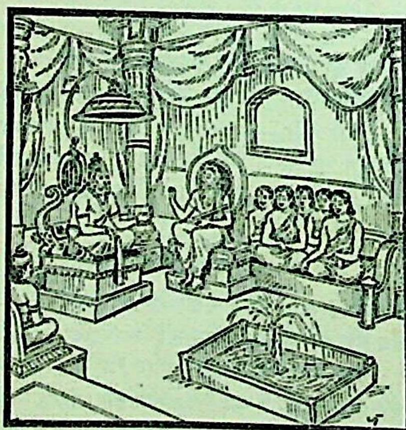
वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर वे पाण्डव तथा महायशस्वी पाञ्चालराज द्रुपद—सबने खड़े होकर महात्मा श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीको प्रणाम किया ॥ १ ॥

प्रतिनन्द्य स तां पूजां पृष्ट्वा कुशलमन्ततः ।
आसने काञ्चने शुद्धे निषसाद महामनाः ॥ २ ॥

उनके द्वारा की हुई पूजाको प्रसन्नतापूर्वक स्वीकार करके अन्तमें सबसे कुशल-मङ्गल पूछकर महामना व्यासजी शुद्ध सुवर्णमय आसनपर विराजमान हुए ॥ २ ॥

अनुज्ञातास्तु ते सर्वे कृष्णेनामिततेजसा ।
आसनेषु महार्हेषु निषेदुर्द्विपदां वराः ॥ ३ ॥

फिर अमित तेजस्वी व्यासजीकी आज्ञा पाकर वे सभी नरश्रेष्ठ बहुमूल्य आसनोंपर बैठे ॥ ३ ॥



ततो मुहूर्तान्मधुरां वाणीमुच्चार्य पार्षतः ।
पप्रच्छ तं महात्मानं द्रौपद्यर्थे विशाम्पते ॥ ४ ॥
कथमेका बहूनां स्याद् धर्मपत्नी न संकरः ।
एतन्मे भगवान् सर्वं प्रब्रवीतु यथातथम् ॥ ५ ॥

राजन् ! तदनन्तर दो घड़ीके बाद राजा द्रुपदने मीठी वाणी बोलकर महात्मा व्यासजीसे द्रौपदीके विषयमें पूछा—'भगवन् ! एक ही स्त्री बहुत-से पुरुषोंकी धर्मपत्नी कैसे हो सकती है ? जिससे संकरताका दोष न लगे, यह सब आप ठीक बतावें' ॥ ४-५ ॥

व्यास उवाच

अस्मिन् धर्मे विप्रलब्धे लोकवेदविरोधके ।
यस्य यस्य मतं यद् यच्छ्रोतुमिच्छामि तस्य तत् ॥

व्यासजीने कहा—अत्यन्त गहन होनेके कारण शास्त्रीय आवरणके द्वारा ढके हुए अतएव इस लोक और वेदके विरुद्ध धर्मके सम्बन्धमें तुममेंसे जिसका-जिसका जो मत हो, उसे मैं सुनना चाहता हूँ ॥ ६ ॥

द्रुपद उवाच

अधर्मोऽयं मम मतो विरुद्धो लोकवेदयोः ।
न ह्येका विद्यते पत्नी बहूनां द्विजसत्तम ।

द्रुपद बोले--द्विजश्रेष्ठ ! मेरी रायमें तो यह अधर्म ही है; क्योंकि यह लोक और वेद दोनोंके विरुद्ध है। बहुत-से पुरुषोंकी एक ही पत्नी हो, ऐसा व्यवहार कहीं भी नहीं है ॥ ७ ॥

न चाप्याचरितः पूर्वैरयं धर्मो महात्मभिः ।
न चाप्यधर्मो विद्वद्भिश्चरितव्यः कथंचन ।

पूर्ववर्ती महात्मा पुरुषोंने भी ऐसे धर्मका आचरण नहीं किया है; और विद्वान् पुरुषोंको किसी प्रकार भी अधर्मका आचरण नहीं करना चाहिये ॥ ८ ॥

ततोऽहं न करोम्येनं व्यवसायं क्रियां प्रति ।
धर्मः सदैव संदिग्धः प्रतिभाति हि मे त्वयम् ॥

इसलिये मैं इस धर्मविरोधी आचारको काममें लाना चाहता । मुझे तो इस कार्यके धर्मसंगत होनेमें सदा ही संदेह जान पड़ता है ॥ ९ ॥

धृष्टद्युम्न उवाच

यवीयसः कथं भार्यां ज्येष्ठो भ्राता द्विजर्षभ ।
ब्रह्मन् समभिवर्तेत सद्वृत्तः संस्तपोधन ॥

धृष्टद्युम्न बोले—द्विजश्रेष्ठ ! आप ब्राह्मण हैं, तपोधन हैं; आप ही बताइये, बड़ा भाई सदाचारी होते हुए भी अपने छोटे भाईकी स्त्रीके साथ समागम कैसे कर सकता है ॥ १० ॥

न तु धर्मस्य सूक्ष्मत्वाद् गतिं विद्म कथंचन ।
अधर्मो धर्म इति वा व्यवसायो न शक्यते ॥
कर्तुमस्मद्विधैर्ब्रह्मंस्ततोऽयं न व्यवस्यते ।
पञ्चानां महिषी कृष्णा भवत्विति कथंचन ॥

धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण

उसकी गतिको सर्वथा नहीं जानते; अतः यह कार्य अधर्म है या धर्म, इसका निश्चय करना हम-जैसे लोगोंके लिये असम्भव है । ब्रह्मन् ! इसीलिये हम किसी तरह भी ऐसी सम्मति नहीं दे सकते कि राजकुमारी कृष्णा पाँच पुरुषोंकी धर्मपत्नी हो ॥ ११-१२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

न मे वागनृतं प्राह नाधर्मे धीयते मतिः ।
वर्तते हि मनो मेऽत्र नैषोऽधर्मः कथंचन ॥ १३ ॥
श्रूयते हि पुराणेऽपि जटिला नाम गौतमी ।
ऋषीनध्यासितवती सप्त धर्मभृतां वरा ॥ १४ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरी वाणी कभी झूठ नहीं बोलती और मेरी बुद्धि भी कभी अधर्ममें नहीं लगती; परंतु इस विवाहमें मेरे मनकी प्रवृत्ति हो रही है, इसलिये यह किसी प्रकार भी अधर्म नहीं है । पुराणोंमें भी सुना जाता है कि धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ जटिला नामवाली गौतम गोत्रकी कन्याने सात ऋषियोंके साथ विवाह किया था ॥ १३-१४ ॥

तथैव मुनिजा वार्क्षी तपोभिर्भावितात्मनः ।
संगताभूद् दश भ्रातॄनेकनाम्नः प्रचेतसः ॥ १५ ॥

इस प्रकार कण्डु मुनिकी पुत्री वार्क्षीने तपस्यासे पवित्र अन्तःकरणवाले दस प्रचेताओंके साथ, जिनका एक ही नाम था और जो आपसमें भाई-भाई थे, विवाहसम्बन्ध स्थापित किया था ॥ १५ ॥

गुरोर्हि वचनं प्राहुर्धर्म्यं धर्मज्ञसत्तम ।
गुरूणां चैव सर्वेषां माता परमको गुरुः ॥ १६ ॥

धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ व्यासजी ! गुरुजनोंकी आज्ञाको धर्मसंगत बताया गया है और समस्त गुरुओंमें माता परम गुरु मानी गयी है ॥ १६ ॥

सा चाप्युक्तवती वाचं भैक्षवद् भुज्यतामिति ।
तस्मादेतदहं मन्ये परं धर्मं द्विजोत्तम ॥ १७ ॥

हमारी माताने भी यही बात कही है कि तुम सब लोग भिक्षाकी भाँति इसका उपभोग करो; अतः द्विजश्रेष्ठ ! हम पाँचों भाइयोंके साथ होनेवाले इस विवाहसम्बन्धको परम धर्म मानते हैं ॥ १७ ॥

कुन्त्युवाच

एवमेतद् यथा प्राह धर्मचारी युधिष्ठिरः ।
अनृतान्मे भयं तीव्रं मुच्येऽहमनृतात् कथम् ॥ १८ ॥

कुन्तीने कहा—धर्मका आचरण करनेवाले युधिष्ठिरने जैसा कहा है, वह ठीक है । (अवश्य मैंने द्रौपदीके साथ पाँचों भाइयोंके विवाह-सम्बन्धकी आज्ञा दे दी है ।) मुझे झूठसे बहुत भय लगता है; बताइये, मैं झूठके पापसे कैसे बच सकूँगी ? ॥ १८ ॥

व्यास उवाच

अनृतान्मोक्ष्यसे भद्रे धर्मश्चैव सनातनः ।
न तु वक्ष्यामि सर्वेषां पाञ्चाल शृणु मे स्वयम् ॥ १९ ॥

व्यासजी बोले—भद्रे ! तुम झूठसे बच जाओगी । (पाण्डवोंके लिये) यह सनातन धर्म है । (कुन्तीसे यों कहकर वे द्रुपदसे बोले) पाञ्चालराज ! (इस विवाहमें एक रहस्य है, जिसे) मैं सबके सामने नहीं कहूँगा । तुम स्वयं एकान्तमें चलकर मुझसे सुन लो ॥ १९ ॥

यथायं विहितो धर्मो यतश्चायं सनातनः ।
यथा च प्राह कौन्तेयस्तथा धर्मो न संशयः ॥ २० ॥

जिस प्रकार और जिस कारणसे यह सनातन धर्मके अनुकूल कहा गया है और कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने जिस प्रकार इसकी धर्मानुकूलताका प्रतिपादन किया है, उसपर विचार करनेसे निस्संदेह यही सिद्ध होता है कि यह विवाह धर्मसम्मत है ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

तत उत्थाय भगवान् व्यासो द्वैपायनः प्रभुः ।
करे गृहीत्वा राजानं राजवेश्म समाविशत् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर शक्तिशाली द्वैपायन भगवान् व्यासजी अपने आसनसे उठे और राजा द्रुपदका हाथ पकड़कर राजभवनके भीतर चले गये॥

पाण्डवाश्चापि कुन्ती च धृष्टद्युम्नश्च पार्षतः ।
विविशुर्यत्र तत्रैव प्रतीक्षन्ते स्म तावुभौ ॥ २२ ॥

पाँचों पाण्डव, कुन्तीदेवी तथा द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न—ये सब लोग जहाँ बैठे थे, वहीं उन दोनों (व्यास और द्रुपद) की प्रतीक्षा करने लगे ॥ २२ ॥

ततो द्वैपायनस्तस्मै नरेन्द्राय महात्मने ।
आचख्यौ तद् यथा धर्मो बहूनामेकपत्निता ॥ २३ ॥

तदनन्तर व्यासजीने उन महात्मा नरेशको वह कथा सुनायी, जिसके अनुसार वहाँ बहुत-से पुरुषोंका एक ही पत्नीसे विवाह करना धर्मसम्मत माना गया ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि व्यासवाक्ये पञ्चनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें व्यास-वाक्यविषयक एक सौ पंचानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९५ ॥

षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः

व्यासजीका द्रुपदको पाण्डवों तथा द्रौपदीके पूर्वजन्मकी कथा सुनाकर दिव्य दृष्टि देना और द्रुपदका उनके दिव्य रूपोंकी झाँकी करना

व्यास उवाच

पुरा वै नैमिषारण्ये देवाः सत्रमुपासते ।
तत्र वैवस्वतो राजञ्छामित्रमकरोत् तदा ॥ १ ॥

व्यासजीने कहा—पाञ्चालनरेश ! पूर्व कालकी बात है, नैमिषारण्य क्षेत्रमें देवता लोग एक यज्ञ कर रहे थे । उस समय वहाँ सूर्यपुत्र यम शामित्र (यज्ञ)-कार्य करते थे ।

ततो यमो दीक्षितस्तत्र राजन्
नामारयत् कंचिदपि प्रजानाम् ।
ततः प्रजास्ता बहुला बभूवुः
कालातिपातान्मरणप्रहीणाः ॥ २ ॥

राजन् ! उस यज्ञकी दीक्षा लेनेके कारण यमराजने मानव-प्रजाकी मृत्युका काम बंद कर रखा था । इस प्रकार मृत्युका नियत समय बीत जानेसे सारी प्रजा अमर होकर दिनों-दिन बढ़ने लगी । धीरे-धीरे उसकी संख्या बहुत बढ़ गयी ॥ २ ॥

सोमश्च शक्रो वरुणः कुबेरः
साध्या रुद्रा वसवोऽथाश्विनौ च ।
प्रजापतिर्भुवनस्य प्रणेता
समाजग्मुस्तत्र देवास्तथान्ये ॥ ३ ॥
ततोऽब्रुवन् लोकगुरुं समेता
भयात् तीव्रान्मानुषाणां च वृद्धया ।
तस्माद् भयादुद्विजन्तः सुखेप्सवः
प्रयाम सर्वे शरणं भवन्तम् ॥ ४ ॥

चन्द्रमा, इन्द्र, वरुण, कुबेर, साध्यगण, रुद्रगण, वसुगण, दोनों अश्विनीकुमार तथा अन्य सब देवता मिलकर जहाँ सृष्टिकर्ता प्रजापति ब्रह्माजी रहते थे, वहाँ गये । वहाँ जाकर वे सब देवता लोकगुरु ब्रह्माजीसे बोले—'भगवन् ! मनुष्योंकी संख्या बहुत बढ़ रही है । इससे हमें बड़ा भय लगता है । उस भयसे हम सब लोग व्याकुल हो उठे हैं और सुख पानेकी इच्छासे आपकी शरणमें आये हैं' ॥ ३-४ ॥

पितामह उवाच

किं वो भयं मानुषेभ्यो यूयं सर्वे यदामराः ।
मा वो मर्त्यसकाशाद् वै भयं भवितुमर्हति ॥ ५ ॥

ब्रह्माजीने कहा–तुम्हें मनुष्योंसे क्यों भय लगता है ? जब कि तुम सभी लोग अमर हो, तब तुम्हें मरणधर्मा मनुष्योंसे कभी भयभीत नहीं होना चाहिये ॥ ५ ॥

देवा ऊचुः

मर्त्या अमर्त्याः संवृत्ता न विशेषोऽस्ति कश्चन ।
अविशेषादुद्विजन्तो विशेषार्थमिहागताः ॥ ६ ॥

देवता बोले—जो मरणशील थे, वे अमर हो अब हममें और उनमें कोई अन्तर नहीं रह गया अन्तर मिट जानेसे ही हमें अधिक घबराहट हो रही हमारी विशेषता बनी रहे, इसीलिये हम यहाँ आये हैं।

श्रीभगवानुवाच

वैवस्वतो व्यापृतः सत्रहेतो-
स्तेन त्विमे न म्रियन्ते मनुष्याः ।
तस्मिन्नेकाग्रे कृतसर्वकार्ये
तत एषां भवितैवान्तकालः ॥
वैवस्वतस्यैव तनुर्विभक्ता
वीर्येण युष्माकमुत प्रयुक्ता ।
सैषामन्तो भविता ह्यन्तकाले
न तत्र वीर्यं भविता नरेषु ॥

भगवान् ब्रह्माजीने कहा—सूर्यपुत्र यमराज कार्यमें लगे हैं, इसीलिये ये मनुष्य मर नहीं रहे हैं। यज्ञका सारा काम पूरा करके इधर ध्यान देंगे, तब मनुष्योंका अन्तकाल उपस्थित होगा । तुमलोगोंके प्रभावसे जब सूर्यनन्दन यमराजका शरीर यज्ञकार्यसे होकर अपने कार्यमें प्रयुक्त होगा, तब वही अन्तकाल मनुष्योंकी मृत्युका कारण बनेगा । उस समय मनुष्योंमें शक्ति नहीं होगी कि वे मृत्युसे अपनेको बचा सकें ॥

व्यास उवाच

ततस्तु ते पूर्वजदेववाक्यं
श्रुत्वा जग्मुर्यत्र देवा यजन्ते ।
समासीनास्ते समेता महाबला
भागीरथ्यां ददृशुः पुण्डरीकम् ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् । तब वे अपने देवता ब्रह्माजीका वचन सुनकर फिर वहीं चले गये, जहाँ देवता यज्ञ कर रहे थे । एक दिन वे सभी महाबली देवता गङ्गाजीमें स्नान करनेके लिये गये और वहाँ तटपर बैठे। उस समय उन्हें भागीरथीके जलमें बहता हुआ एक कमल दिखायी दिया ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा च तद् विस्मितास्ते बभूवु-
स्तेषामिन्द्रस्तत्र शूरो जगाम ।
सोऽपश्यद् योषामथ पावकप्रभां
यत्र देवी गङ्गा सततं प्रभूता ॥

उसे देखकर वे सब देवता चकित हो गये । उनमें प्रधान और शूरवीर इन्द्र उस कमलका पता लगानेके

गङ्गाजीके मूल स्थानकी ओर गये । गङ्गोत्तरीके पास, जहाँ गङ्गादेवीका जल सदा अविच्छिन्नरूपसे झरता रहता है, पहुँचकर इन्द्रने एक अग्निके समान तेजस्विनी युवती देखी ॥

सा तत्र योषा रुदती जलार्थिनी
गङ्गां देवीं व्यवगाह्य व्यतिष्ठत् ।
तस्याश्रुबिन्दुः पतितो जले य-
स्तत् पद्ममासीदथ तत्र काञ्चनम् ॥ ११ ॥

वह युवती वहाँ जलके लिये आयी थी और भगवती गङ्गाकी धारामें प्रवेश करके रोती हुई खड़ी थी । उसके आँसुओंका एक-एक बिन्दु, जो जलमें गिरता था, वहाँ सुवर्णमय कमल बन जाता था ॥ ११ ॥

तदद्भुतं प्रेक्ष्य वज्री तदानी-
मपृच्छत् तां योषितमन्तिकाद् वै ।
का त्वं भद्रे रोदिषि कस्य हेतो-
र्वाक्यं तथ्यं कामयेऽहं ब्रवीहि ॥ १२ ॥

यह अद्भुत दृश्य देखकर वज्रधारी इन्द्रने उस समय उस युवतीके निकट जाकर पूछा—'भद्रे ! तुम कौन हो और किसलिये रोती हो ? बताओ, मैं तुमसे सच्ची बात जानना चाहता हूँ' ॥ १२ ॥

स्त्र्युवाच

त्वं वेत्स्यसे मामिह यास्मि शक्र
यदर्थं चाहं रोदिमि मन्दभाग्या ।
आगच्छ राजन् पुरतो गमिष्ये
द्रष्टासि तद् रोदिमि यत्कृतेऽहम् ॥ १३ ॥

युवती बोली—देवराज इन्द्र ! मैं एक भाग्यहीन अबला हूँ; कौन हूँ और किसलिये रो रही हूँ, यह सब तुम्हें ज्ञात हो जायगा । तुम मेरे पीछे-पीछे आओ, मैं आगे-आगे चल रही हूँ । वहाँ चलकर स्वयं ही देख लोगे कि मैं किसलिये रोती हूँ ॥ १३ ॥

व्यास उवाच

तां गच्छन्तीमन्वगच्छत् तदानीं
सोऽपश्यदारात् तरुणं दर्शनीयम् ।
सिद्धासनस्थं युवतीसहायं
क्रीडन्तमक्षैर्गिरिराजमूर्ध्नि ॥ १४ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन् ! यों कहकर आगे-आगे जाती हुई उस स्त्रीके पीछे-पीछे उस समय इन्द्र भी गये । गिरिराज हिमालयके शिखरपर पहुँचकर उन्होंने देखा—पास ही एक परम सुन्दर तरुण पुरुष सिद्धासनसे बैठे हैं, उनके साथ एक युवती भी है । इन्द्रने उस युवतीके साथ उन्हें क्रीडा—विनोद करते देखा ॥ १४ ॥

तमब्रवीद् देवराजो ममेदं
त्वं विद्धि विद्वन् भुवनं वशे स्थितम् ।
ईशोऽहमस्मीति समन्युरब्रवीद्
दृष्ट्वा तमक्षैः सुभृशं प्रमत्तम् ॥ १५ ॥

वे अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियोंसे क्रीडामें अत्यन्त तन्मय हो रहे थे, अतः इधर-उधर उनका ध्यान नहीं जाता था । उन्हें इस प्रकार असावधान देख देवराज इन्द्रने कुपित होकर कहा—'महानुभाव ! यह सारा जगत् मेरे अधिकारमें है, मेरी आज्ञाके अधीन है; मैं इस जगत्का ईश्वर हूँ' ॥ १५ ॥

क्रुद्धं च शक्रं प्रसमीक्ष्य देवो
जहास शक्रं च शनैरुदैक्षत ।
संस्तम्भितोऽभूदथ देवराज-
स्तेनेक्षितः स्थाणुरिवावतस्थे ॥ १६ ॥

इन्द्रको क्रोधमें भरा देख वे देवपुरुष हँस पड़े । उन्होंने धीरेसे आँख उठाकर उनकी ओर देखा । उनकी दृष्टि पड़ते ही देवराज इन्द्रका शरीर स्तम्भित हो गया (अकड़ गया) । वे ठूँठे काठकी भाँति निश्चेष्ट हो गये ॥ १६ ॥

यदा तु पर्याप्तमिहास्य क्रीडया
तदा देवीं रुदतीं तामुवाच ।
आनीयतामेष यतोऽहमारा-
न्नैनं दर्पः पुनरप्याविशेत ॥ १७ ॥

जब उनकी वह क्रीडा समाप्त हुई, तब वे उस रोती हुई देवीसे बोले—'इस इन्द्रको जहाँ मैं हूँ, वहीं—मेरे समीप ले आओ, जिससे फिर इसके भीतर अभिमानका प्रवेश न हो' ॥ १७ ॥

ततः शक्रः स्पृष्टमात्रस्तया तु
स्रस्तैरङ्गैः पतितोऽभूद् धरण्याम् ।
तमब्रवीद् भगवानुग्रतेजा
मैवं पुनः शक्र कृथाः कथंचित् ॥ १८ ॥

तदनन्तर उस स्त्रीने ज्यों ही इन्द्रका स्पर्श किया, उसके सारे अङ्ग शिथिल हो गये और वे धरतीपर गिर पड़े । तब उग्र तेजस्वी भगवान् रुद्रने उनसे कहा—'इन्द्र ! फिर किसी प्रकार भी ऐसा घमंड न करना ॥ १८ ॥

निवर्तयैनं च महाद्रिराजं
बलं च वीर्यं च तवाप्रमेयम् ।
छिद्रस्य चैवाविश मध्यमस्य
यत्रासते त्वद्विधाः सूर्यभासः ॥ १९ ॥

'तुममें अनन्त बल और पराक्रम है, अतः इस गुफाके दरवाजेपर लगे हुए इस महान् पर्वतराजको हटा दो और इसी गुफाके भीतर घुस जाओ, जहाँ सूर्यके समान तेजस्वी तुम्हारे-जैसे और भी इन्द्र रहते हैं' ॥ १९ ॥

स तद् विवृत्य विवरं महागिरे-
स्तुल्यद्युतींश्चतुरोऽन्यान् ददर्श ।

स तानभिप्रेक्ष्य बभूव दुःखितः
कच्चिन्नाहं भविता वै यथेमे ॥ २० ॥

उन्होंने उस महान् पर्वतकी कन्दराका द्वार खोलकर उसमें अपने ही समान तेजस्वी अन्य चार इन्द्रोंको भी देखा। उन्हें देखकर वे बहुत दुखी हुए और सोचने लगे—'कहीं ऐसा तो नहीं होगा कि मैं भी इन्हींके समान दुर्दशामें पड़ जाऊँ' ॥ २० ॥

ततो देवो गिरिशो वज्रपाणिं
विवृत्य नेत्रे कुपितोऽभ्युवाच।
दरीमेतां प्रविश त्वं शतक्रतो
यन्मां बाल्यादवमंस्थाः पुरस्तात् ॥ २१ ॥

तब पर्वतपर शयन करनेवाले महादेवजीने आँखें तरेरकर कुपित हो वज्रधारी इन्द्रसे कहा—'शतक्रतो! तुमने मूर्खतावश पहले मेरा अपमान किया है, इसलिये अब इस कन्दरामें प्रवेश करो' ॥ २१ ॥

उक्तस्त्वेवं विभुना देवराजः
प्रावेपतार्तो भृशमेवाभिषङ्गात्।
स्रस्तैरङ्गैरनिलेनेव तुन्न-
मश्वत्थपत्रं गिरिराजमूर्ध्नि ॥ २२ ॥

उस पर्वतशिखरपर भगवान् रुद्रके यों कहनेपर देवराज इन्द्र पराभवकी आशङ्कासे अत्यन्त दुखी हो गये, उनके सारे अङ्ग शिथिल पड़ गये और हवासे हिलनेवाले पीपलके पत्तेकी तरह वे थर-थर काँपने लगे ॥ २२ ॥

स प्राञ्जलिर्वै वृषवाहनेन
प्रवेपमानः सहसैवमुक्तः।
उवाच देवं बहुरूपमुग्र-
स्रष्टाशेषस्य भुवनस्य त्वं भवाद्यः ॥ २३ ॥

वृषभवाहन भगवान् शंकरके द्वारा इस प्रकार सहसा गुहा-प्रवेशकी आज्ञा मिलनेपर काँपते हुए इन्द्रने हाथ जोड़कर उन अनेक रूपधारी उग्रस्वरूप रुद्रदेवसे कहा—'जगद्योने! आप ही समस्त जगत्‌की उत्पत्ति करनेवाले आदिपुरुष हैं' ॥ २३ ॥

तमब्रवीदुग्रवर्चाः प्रहस्य
नैवंशीलाः शेषमिहाप्नुवन्ति।
एतेऽप्येवं भवितारः पुरस्तात्
तस्मादेतां दरीमाविश्य शेष्व ॥ २४ ॥

तब भयंकर तेजवाले रुद्रने हँसकर कहा—'तुम्हारे-जैसे शील स्वभाववाले लोगोंको यहाँ प्रसादकी प्राप्ति नहीं होती। ये लोग भी पहले तुम्हारे-ही-जैसे थे, अतः तुम भी इस कन्दरा-में घुसकर शयन करो ॥ २४ ॥

तत्र ह्येवं भवितारो न संशयो
योनिं सर्वे मानुषीमाविशध्वम्।
तत्र यूयं कर्म कृत्वाविषह्यं
बहूनन्यान् निधनं प्रापयित्वा ॥ २५ ॥

आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकं
स्वकर्मणा पूर्वजितं महार्हम्।
सर्वं मया भाषितमेतदेवं
कर्तव्यमन्यद् विविधार्थयुक्तम् ॥ २६ ॥

'वहाँ भविष्यमें निश्चय ही तुमलोग ऐसे ही होनेवाले हो। तुम सबको मनुष्ययोनिमें प्रवेश करना पड़ेगा। उसमें तुम अनेक दुःसह कर्म करके बहुतोंको मौतके घाट उतारकर पुनः अपने शुभ कर्मोंद्वारा पहलेसे ही उपार्जित पुण्यात्माओंके निवासयोग्य इन्द्रलोकमें आ जाओगे। मैंने जो कुछ कहा है, वह सब कुछ तुम्हें करना होगा। इसके सिवा और भी नाना प्रकारके प्रयोजनोंसे युक्त कार्य तुम्हारे द्वारा सम्पन्न होंगे' ॥ २५-२६ ॥

पूर्वेन्द्रा ऊचुः

गमिष्यामो मानुषं देवलोकाद्
दुराधरो विहितो यत्र मोक्षः।
देवास्त्वस्मानादधीरञ्जनन्यां
धर्मो वायुर्मघवानश्विनौ च।
अस्त्रैर्दिव्यैर्मानुषान् योधयित्वा
आगन्तारः पुनरेवेन्द्रलोकम् ॥ २७ ॥

पहलेके चारों इन्द्र बोले—भगवन्! हम आपकी आज्ञाके अनुसार देवलोकसे मनुष्यलोकमें जायँगे, जहाँ मोक्षका साधन भी सुलभ होता है। परंतु वहाँ हमें धर्म, वायु, इन्द्र और दोनों अश्विनीकुमार—ये ही देवता माताके गर्भमें स्थापित करें। तदनन्तर हम दिव्यास्त्रोंद्वारा मानव-वीरोंसे युद्ध करके पुनः इन्द्रलोकमें चले आयेंगे ॥ २७ ॥

व्यास उवाच

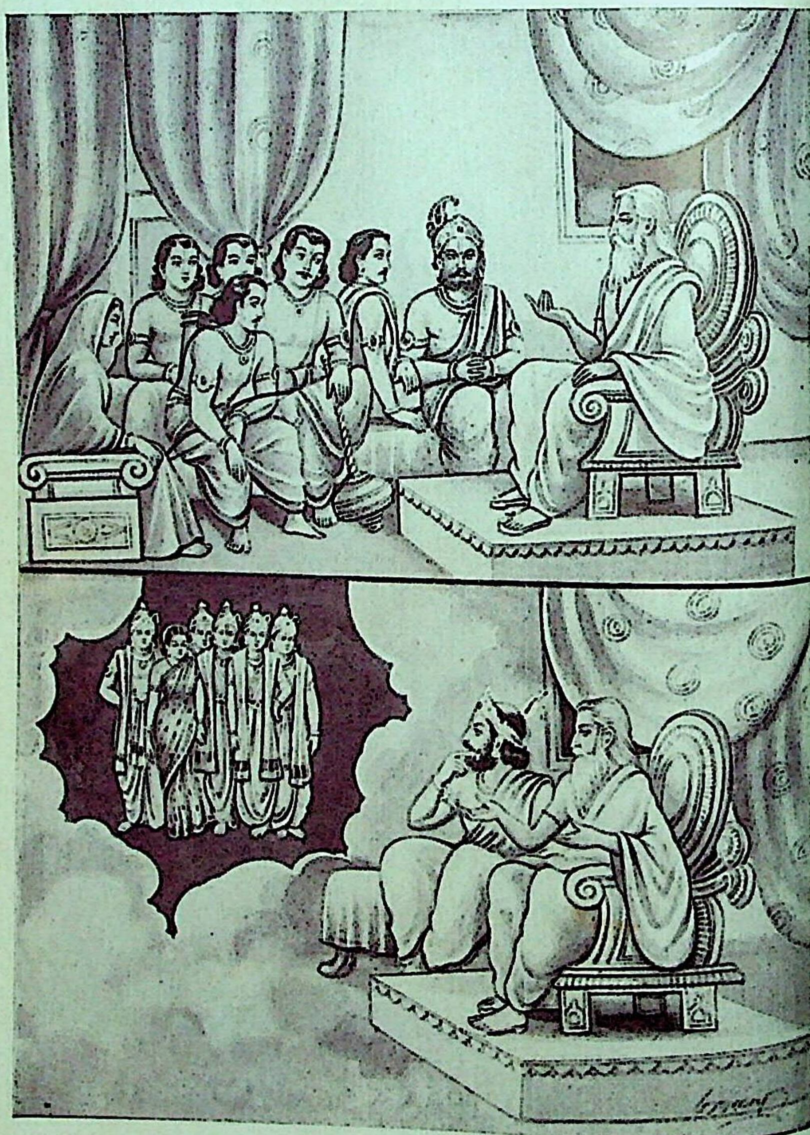
एतच्छ्रुत्वा वज्रपाणिर्वचस्तु
देवश्रेष्ठं पुनरेवेदमाह।
वीर्येणाहं पुरुषं कार्यहेतो-
र्दद्यामेषां पञ्चमं मत्प्रसूतम् ॥ २८ ॥

विश्वभुग् भूतधामा च शिबिरिन्द्रः प्रतापवान्।
शान्तिश्चतुर्थस्तेषां वै तेजस्वी पञ्चमः स्मृतः ॥ २९ ॥

व्यासजी कहते हैं—राजन्! पूर्ववर्ती इन्द्रोंका यह वचन सुनकर वज्रधारी इन्द्रने पुनः देवश्रेष्ठ महादेवजीसे इस प्रकार कहा—'भगवन्! मैं अपने वीर्यसे अपने ही अंशभूत पुरुषको देवताओंके कार्यके लिये समर्पित करूँगा, जो इन चारोंके साथ पाँचवाँ होगा। उसे मैं स्वयं ही उत्पन्न करूँगा। विश्वभुक्, भूतधामा, प्रतापी इन्द्र शिबि, चौथे शान्ति और पाँचवें तेजस्वी—ये ही उन पाँचोंके नाम हैं ॥ २८-२९ ॥

तेषां कामं भगवानुग्रधन्वा
प्रादादिष्टं संनिसर्गाद् यथोक्तम्।
तां चाप्येषां योषितं लोककान्तां
श्रियं भार्यां व्यदधान्मानुषेषु ॥ ३० ॥

पाण्डव, द्रुपद और व्यासजीमें बातचीत



व्यासजीद्वारा पाण्डवोंके पूर्वजन्मके वृत्तान्तका वर्णन

उग्र धनुष धारण करनेवाले भगवान् रुद्रने उन सबको उनकी अभीष्ट कामना पूर्ण होनेका वरदान दिया, जिसे वे अपने साधुस्वभावके कारण भगवान्‌के सामने प्रकट कर चुके थे। साथ ही उस लोककमनीया युवती स्त्रीको, जो स्वर्गलोककी लक्ष्मी थी, मनुष्यलोकमें उनकी पत्नी निश्चित की ॥ ३० ॥

तैरेव सार्धं तु ततः स देवो
जगाम नारायणमप्रमेयम्।
अनन्तमव्यक्तमजं पुराणं
सनातनं विश्वमनन्तरूपम् ॥ ३१ ॥

तदनन्तर उन्हींके साथ महादेवजी अनन्त, अप्रमेय, अव्यक्त, अजन्मा, पुराणपुरुष, सनातन, विश्वरूप एवं अनन्तमूर्ति भगवान् नारायणके पास गये ॥ ३१ ॥

स चापि तद् व्यदधात् सर्वमेव
ततः सर्वे सम्बभूवुर्धरण्याम्।
स चापि केशौ हरिरुद्बवर्ह
शुक्लमेकमपरं चापि कृष्णम् ॥ ३२ ॥

उन्होंने भी उन्हीं सब बातोंके लिये आज्ञा दी। तत्पश्चात् वे सब लोग पृथ्वीपर प्रकट हुए। उस समय भगवान् नारायणने अपने मस्तकसे दो केश निकाले, जिनमें एक श्वेत था और दूसरा श्याम ॥ ३२ ॥

तौ चापि केशौ निविशेतां यदूनां
कुले स्त्रियौ देवकीं रोहिणीं च।
तयोरेको बलदेवो बभूव
योऽसौ श्वेतस्तस्य देवस्य केशः।
कृष्णो द्वितीयः केशवः सम्बभूव
केशो योऽसौ वर्णतः कृष्ण उक्तः ॥ ३३ ॥

वे दोनों केश यदुवंशकी दो स्त्रियों—देवकी तथा रोहिणीके भीतर प्रविष्ट हुए। उनमेंसे रोहिणीके बलदेव प्रकट हुए, जो भगवान् नारायणका श्वेत केश थे; दूसरा केश, जिसे श्यामवर्णका बताया गया है, वही देवकीके गर्भसे भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें प्रकट हुआ * ॥ ३३ ॥

ये ते पूर्वं शक्ररूपा निबद्धा-
स्तस्यां दर्यां पर्वतस्योत्तरस्य।
इहैव ते पाण्डवा वीर्यवन्तः
शक्रस्यांशः पाण्डवः सव्यसाची ॥ ३४॥

उत्तरवर्ती हिमालयकी कन्दरामें पहले जो इन्द्रस्वरूप पुरुष बंदी बनाकर रक्खे गये थे, वे ही ये चारों पराक्रमी पाण्डव यहाँ विद्यमान हैं और साक्षात् इन्द्रका अंशभूत जो पाँचवाँ पुरुष प्रकट होनेवाला था, वही पाण्डुकुमार सव्यसाची अर्जुन है ॥ ३४ ॥

एवमेते पाण्डवाः सम्बभूवु-
र्ये ते राजन् पूर्वमिन्द्रा बभूवुः।
लक्ष्मीश्चैषां पूर्वमेवोपदिष्टा
भार्या यैषा द्रौपदी दिव्यरूपा ॥ ३५ ॥
कथं हि स्त्री कर्मणा ते महीतलात्
समुत्तिष्ठेदन्यतो दैवयोगात्।
यस्या रूपं सोमसूर्यप्रकाशं
गन्धश्चास्याः क्रोशमात्रात् प्रवाति ॥ ३६॥

राजन्! इस प्रकार ये पाण्डव प्रकट हुए हैं, जो पहले इन्द्र रह चुके हैं। यह दिव्यरूपा द्रौपदी वही स्वर्गलोककी लक्ष्मी है, जो पहलेसे ही इनकी पत्नी नियत हो चुकी है। महाराज! यदि इस कार्यमें देवताओंका सहयोग न होता तो तुम्हारे इस यज्ञ कर्मद्वारा यज्ञवेदीकी भूमिसे ऐसी दिव्य नारी कैसे प्रकट हो सकती थी, जिसका रूप सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाश बिखेर रहा है और जिसकी सुगन्ध एक कोसतक फैलती रहती है ॥ ३५-३६ ॥

इदं चान्यत् प्रीतिपूर्वं नरेन्द्र
ददानि ते वरमत्यद्भुतं च।
दिव्यं चक्षुः पश्य कुन्तीसुतांस्त्वं
पुण्यैर्दिव्यैः पूर्वदेहैरुपेतान् ॥ ३७ ॥

नरेन्द्र! मैं तुम्हें प्रसन्नतापूर्वक एक और अद्भुत वरके रूपमें यह दिव्य दृष्टि देता हूँ; इससे सम्पन्न होकर तुम कुन्तीके पुत्रोंको उनके पूर्वकालिक पुण्यमय दिव्य शरीरोंसे सम्पन्न देखो ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यासः परमोदारकर्मा
शुचिर्विप्रस्तपसा तस्य राज्ञः।
चक्षुर्दिव्यं प्रददौ तांश्च सर्वान्
राजापश्यत् पूर्वदेहैर्यथावत् ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर परम उदारकर्मवाले पवित्र ब्रह्मर्षि व्यासजीने अपनी तपस्याके प्रभावसे राजा द्रुपदको दिव्यदृष्टि प्रदान की, जिससे उन्होंने समस्त पाण्डवोंको पूर्वशरीरोंसे सम्पन्न वास्तविकरूपमें देखा ॥

ततो दिव्यान् हेमकिरीटमालिनः
शक्रप्रख्यान् पावकादित्यवर्णान्।
बद्धापीडांश्चारुरूपांश्च यूनो
व्यूढोरस्कांस्तालमात्रान् ददर्श ॥ ३९ ॥

वे दिव्य शरीरसे सुशोभित थे। उनके मस्तकपर सुवर्णमय किरीट और गलेमें सुन्दर सोनेकी माला शोभा पा रही थी। उनकी छवि इन्द्रके ही समान थी। वे अग्नि और सूर्य-

* भगवान् नारायण सच्चिदानन्दघन हैं, उनके नाम, रूप, लीला और धाम—सभी चिन्मय हैं। उन्होंने अपने श्याम और श्वेत केशोंको द्वारमात्र बनाकर स्वयं ही सम्पूर्णरूपसे अपनेको प्रकट किया था।

के समान कान्तिमान् थे। उन्होंने अपने अङ्गोंमें सब तरहके दिव्य अलंकार धारण कर रक्खे थे। उनकी युवावस्था थी तथा रूप अत्यन्त मनोहर था। उन सबकी छाती चौड़ी थी और वे तालवृक्षके समान लंबे थे। इस रूपमें राजा द्रुपदने उनका दर्शन किया ॥ ३९ ॥

दिव्यैर्वस्त्रैररजोभिः सुगन्धै-
र्माल्यैश्चाग्र्यैः शोभमानानतीव।
साक्षात् त्र्यक्षान् वा वसूंश्चापि रुद्रा-
नादित्यान् वा सर्वगुणोपपन्नान्॥ ४० ॥

वे दिव्य निर्मल वस्त्रों, उत्तम गन्धों और सुन्दर मालाओंसे अत्यन्त सुशोभित हो रहे थे तथा साक्षात् त्रिनेत्र महादेव, वसुगण, रुद्रगण अथवा आदित्यगणोंके समान तेजस्वी एवं सर्वगुणसम्पन्न दिखायी देते थे ॥ ४० ॥

तान् पूर्वेन्द्रानभिवीक्ष्याभिरूपान्
शक्रात्मजं चेन्द्ररूपं निशम्य।
प्रीतो राजा द्रुपदो विस्मितश्च
दिव्यां मायां तामवेक्ष्याप्रमेयाम्॥ ४१ ॥

चारों पाण्डवोंको परम सुन्दर पूर्वकालिक इन्द्रोंके रूपमें तथा इन्द्रपुत्र अर्जुनको भी इन्द्रके ही स्वरूपमें देखकर उस अप्रमेय दिव्यमायापर दृष्टिपात करके राजा द्रुपद अत्यन्त प्रसन्न एवं आश्चर्यचकित हो उठे ॥ ४१ ॥

तां चैवाग्र्यां स्त्रियमतिरूपयुक्तां
दिव्यां साक्षात् सोमवह्निप्रकाशाम्।
योग्यां तेषां रूपतेजोयशोभिः
पत्नीं मत्वा हृष्टवान् पार्थिवेन्द्रः॥ ४२ ॥

उन राजराजेश्वरने अपनी पुत्रीको भी सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, अत्यन्त रूपवती और साक्षात् चन्द्रमा तथा अग्निके समान प्रकाशित होनेवाली दिव्य नारीके रूपमें देखा। साथ ही यह मान लिया कि द्रौपदी रूप, तेज और यशकी दृष्टिसे अवश्य उन पाण्डवोंकी पत्नी होने योग्य है। इससे उन्हें महान् हर्ष हुआ॥

स तद् दृष्ट्वा महदाश्चर्यरूपं
जग्राह पादौ सत्यवत्याः सुतस्य।
नैतच्चित्रं परमर्षे त्वयीति
प्रसन्नचेताः स उवाच चैनम्॥ ४३ ॥

यह महान् आश्चर्य देखकर द्रुपदने सत्यवतीनन्दन व्यासजीके चरण पकड़ लिये और प्रसन्नचित्त होकर उनसे कहा—'महर्षे! आपमें ऐसी अद्भुत शक्तिका होना आश्चर्यकी बात नहीं है।' तब व्यासजी प्रसन्नचित्त हो द्रुपदसे बोले॥

व्यास उवाच

आसीत् तपोवने काचिदृषेः कन्या महात्मनः।
नाध्यगच्छत् पतिं सा तु कन्या रूपवती सती॥ ४४ ॥

व्यासजीने कहा—राजन्! (अपनी पुत्रीके एक जन्मका वृत्तान्त भी सुनो—) एक तपोवनमें किसी म मुनिकी कोई कन्या रहती थी। सती-साध्वी एवं रूपवती हो भी उसे योग्य पतिकी प्राप्ति नहीं हुई ॥ ४४ ॥

तोषयामास तपसा सा किलोग्रेण शंकरम्।
तामुवाचेश्वरः प्रीतो वृणु काममिति स्वयम्॥ ४

उसने कठोर तपस्याद्वारा भगवान् शंकरको संतुष्ट कि महादेवजी प्रसन्न होकर साक्षात् प्रकट होकर उस मुनि-क बोले— 'तुम मनोवाञ्छित वर माँगो' ॥ ४५ ॥

सैवमुक्ताब्रवीत् कन्या देवं वरदमीश्वरम्।
पतिं सर्वगुणोपेतमिच्छामीति पुनः पुनः॥ ४

उनके यों कहनेपर उस मुनि-कन्याने वर महेश्वरसे बार-बार कहा—'मैं सर्वगुणसम्पन्न पति चाहती

ददौ तस्यै स देवेशस्तं वरं प्रीतिमानसः।
पञ्च ते पतयो भद्रे भविष्यन्तीति शंकरः॥ ४

देवेश्वर भगवान् शंकर प्रसन्नचित्त होकर उ देते हुए बोले— 'भद्रे! तुम्हारे पाँच पति होंगे' ॥ ४

सा प्रसादयती देवमिदं भूयोऽभ्यभाषत।
एकं पतिं गुणोपेतं त्वत्तोऽर्हामीति शंकर॥ ४

यह सुनकर उसने महादेवजीको प्रसन्न करते हुए यह बात कही—'शंकरजी! मैं तो आपसे एक ही गु पति प्राप्त करना चाहती हूँ' ॥ ४८ ॥

तां देवदेवः प्रीतात्मा पुनः प्राह शुभं वचः।
पञ्चकृत्वस्त्वयोक्तोऽहं पतिं देहीति वै पुनः॥ ४
तत् तथा भविता भद्रे वचस्तद् भद्रमस्तु ते।
देहमन्यं गतायास्ते सर्वमेतद् भविष्यति॥ ५

तब देवाधिदेव महादेवजीने मन-ही-मन अत्यन्त होकर उससे यह शुभ वचन कहा—'भद्रे! तुमने दीजिये' इस वाक्यको पाँच बार दुहराया है; इसलिये जो पहले कहा है, वैसा ही होगा; तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हें दूसरे शरीरमें प्रवेश करनेपर यह सब होगा' ॥४९-५

द्रुपदैषा हि सा जज्ञे सुता वै देवरूपिणी।
पञ्चानां विहिता पत्नी कृष्णा पार्षत्यनिन्दिता॥ ५

द्रुपद! वही मुनिकन्या तुम्हारी इस दिव्यरू पुत्रीके रूपमें फिर उत्पन्न हुई है। अतः यह पृषत् सती कन्या कृष्णा पहलेसे ही पाँच पतियोंकी पत्नी नि की गयी है ॥ ५१ ॥

स्वर्गश्रीः पाण्डवार्थे तु समुत्पन्ना महामखे।
सेह तप्त्वा तपो घोरं दुहितृत्वं तवागता॥ ५

यह स्वर्गलोककी लक्ष्मी है, जो पाण्डवोंके लिये महायज्ञमें प्रकट हुई है। इसने अत्यन्त घोर त

करके इस जन्ममें तुम्हारी पुत्री होनेका सौभाग्य प्राप्त किया है ।५२।

सैषा देवी रुचिरा देवजुष्टा
पञ्चानामेका स्वकृतेनेह कर्मणा ।
सृष्टा स्वयं देवपत्नी स्वयम्भुवा
श्रुत्वा राजन् द्रुपदेष्टं कुरुष्व ॥ ५३ ॥

महाराज द्रुपद ! वही यह देवसेवित सुन्दरी देवी अपने ही कर्मसे पाँच पुरुषोंकी एक ही पत्नी नियत की गयी है। स्वयं ब्रह्माजीने इसे देवस्वरूप पाण्डवोंकी पत्नी होनेके लिये रचा है। यह सब सुनकर तुम्हें जो अच्छा लगे, वह करो ॥ ५३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि पञ्चेन्द्रोपाख्याने षण्णवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें पाँच इन्द्रोंके उपाख्यानका वर्णन करनेवाला एक सौ छानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ॥१९६॥

सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

द्रौपदीका पाँचों पाण्डवोंके साथ विवाह

द्रुपद उवाच

अश्रुत्वैवं वचनं ते महर्षे
मया पूर्वं यतितं संविधातुम् ।
न वै शक्यं विहितस्यापयानं
तदेवेदमुपपन्नं विधानम् ॥ १ ॥

द्रुपद बोले—'ब्रह्मर्षे ! आपके इस वचनको न सुननेके कारण ही पहले मैंने वैसा करने (कृष्णाको एक ही योग्य पतिसे ब्याहने)का प्रयत्न किया था; परंतु विधाताने जो रच रक्खा है, उसे टाल देना असम्भव है; अतः उसी पूर्वनिश्चित विधानका पालन करना उचित है ॥ १ ॥

दिष्टस्य ग्रन्थिरनिवर्तनीयः
स्वकर्मणा विहितं नेह किंचित् ।
कृतं निमित्तं हि वरैकहेतो-
स्तदेवेदमुपपन्नं विधानम् ॥ २ ॥

भाग्यमें जो लिख दिया है, उसे कोई भी बदल नहीं सकता। अपने प्रयत्नसे यहाँ कुछ नहीं हो सकता। एक वरकी प्राप्तिके लिये जो साधन (तप) किया गया, वही पाँच पतियोंकी प्राप्तिका कारण बन गया; अतः दैवके द्वारा पूर्वनिश्चित विधानका ही पालन करना उचित है ॥ २ ॥

यथैव कृष्णोक्तवती पुरस्ता-
न्नैकं पतिं मे भगवान् ददातु ।
स चाप्येवं वरमित्यब्रवीत् तां
देवो हि वेत्ता परमं यदत्र ॥ ३ ॥

पूर्वजन्ममें कृष्णाने अनेक बार भगवान् शंकरसे कहा—'प्रभो ! मुझे पति दें।' जैसा उसने कहा, वैसा ही वर उन्होंने भी उसे दे दिया। अतः इसमें कौन-सा उत्तम रहस्य छिपा है, उसे वे भगवान् ही जानते हैं ॥ ३ ॥

यदि चैवं विहितः शंकरेण
धर्मोऽधर्मो वा नात्र ममापराधः ।
गृह्णन्त्विमे विधिवत् पाणिमस्या
यथोपजोषं विहितैषां हि कृष्णा ॥ ४ ॥

यदि साक्षात् शंकरने ऐसा विधान किया है तो यह धर्म हो या अधर्म, इसमें मेरा कोई अपराध नहीं है। ये पाण्डवलोग विधिपूर्वक प्रसन्नतासे इसका पाणिग्रहण करें; विधाताने ही कृष्णाको इन पाण्डवोंकी पत्नी बनाया है ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् भगवान् धर्मराज-
मद्यैव पुण्याहमुत वः पाण्डवेय ।
अद्य पौष्यं योगमुपैति चन्द्रमाः
पाणिं कृष्णायास्त्वं गृहाणाद्य पूर्वम् ॥५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भगवान् व्यासने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'पाण्डुनन्दन ! आज ही तुम लोगोंके लिये पुण्य दिवस है। आज चन्द्रमा भरण-पोषणकारक पुष्य नक्षत्रपर जा रहे हैं; इसलिये आज पहले तुम्हीं कृष्णाका पाणिग्रहण करो' ॥ ५ ॥

ततो राजा यज्ञसेनः सपुत्रो
जन्यार्थमुक्तं बहु तत् तदग्र्यम् ।
समानयामास सुतां च कृष्णा-
माप्लाव्य रत्नैर्बहुभिर्विभूष्य ॥ ६ ॥

व्यासजीका यह आदेश सुनकर पुत्रोंसहित राजा द्रुपदने वर-वधूके लिये कथित समस्त उत्तम वस्तुओंको मँगवाया और अपनी पुत्री कृष्णाको स्नान कराकर बहुत-से रत्नमय आभूषणोंद्वारा विभूषित किया ॥ ६ ॥

ततस्तु सर्वे सुहृदो नृपस्य
समाजग्मुः सहिता मन्त्रिणश्च ।
द्रष्टुं विवाहं परमप्रतीता
द्विजाश्च पौराश्च यथा प्रधानाः ॥ ७ ॥

तत्पश्चात् राजाके सभी सुहृद्-सम्बन्धी, मन्त्री, ब्राह्मण और पुरवासी अत्यन्त प्रसन्न हो विवाह देखनेके लिये आये और बड़ोंको आगे करके बैठे ॥ ७ ॥

ततोऽस्य वेश्माग्र्यजनोपशोभितं
विस्तीर्णपद्मोत्पलभूषिताजिरम् ।
बलौघरत्नौघविचित्रमाबभौ
नभो यथा निर्मलतारकान्वितम् ॥ ८ ॥

तदनन्तर राजा द्रुपदका वह भवन श्रेष्ठ पुरुषोंसे सुशोभित होने लगा। उसके आँगनको विस्तृत कमल और उत्पल आदिसे सजाया गया था। वहाँ एक ओर सेनाएँ खड़ी थीं और दूसरी ओर रत्नोंका ढेर लगा था। इससे वह राजभवन निर्मल तारकाओंसे संयुक्त आकाशकी भाँति विचित्र शोभा धारण कर रहा था ॥ ८ ॥

ततस्तु ते कौरवराजपुत्रा
विभूषिताः कुण्डलिनो युवानः ।
महार्हवस्त्राम्बरचन्दनोक्षिताः
कृताभिषेकाः कृतमङ्गलक्रियाः ॥ ९ ॥

इधर युवावस्थासे सम्पन्न कौरव-राजकुमार पाण्डव वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और कुण्डलोंसे अलंकृत हो अभिषेक और मङ्गलाचार करके बहुमूल्य कपड़ों एवं केसर, चन्दनसे सुशोभित हुए ॥ ९ ॥

पुरोहितेनाग्निसमानवर्चसा
सहैव धौम्येन यथाविधि प्रभो ।
क्रमेण सर्वे विविशुस्ततः सदो
महर्षभा गोष्ठमिवाभिनन्दिनः ॥ १० ॥

तब अग्निके समान तेजस्वी अपने पुरोहित धौम्यजीके साथ विधिपूर्वक बड़े-छोटेके क्रमसे वे सभी प्रसन्नतापूर्वक विवाहमण्डपमें गये—ठीक उसी तरह, जैसे बड़े-बड़े साँड़ गोशालामें प्रवेश करें ॥ १० ॥

ततः समाधाय स वेदपारगो
जुहाव मन्त्रैर्ज्वलितं हुताशनम् ।
युधिष्ठिरं चाप्युपनीय मन्त्रवि-
न्नियोजयामास सहैव कृष्णया ॥ ११ ॥

तत्पश्चात् वेदके पारंगत विद्वान् मन्त्रज्ञ पुरोहित धौम्यने (वेदीपर) प्रज्वलित अग्निकी स्थापना करके उसमें मन्त्रोंद्वारा आहुति दी और युधिष्ठिरको बुलाकर कृष्णाके साथ उनका गँठबन्धन कर दिया ॥ ११ ॥

प्रदक्षिणं तौ प्रगृहीतपाणी
समानयामास स वेदपारगः ।
ततोऽभ्यनुज्ञाय तमाजिशोभिनं
पुरोहितो राजगृहाद् विनिर्ययौ॥ १२ ॥

वेदोंके परिपूर्ण विद्वान् पुरोहितने उन दोनों दम्पतिका पाणिग्रहण कराकर उनसे अग्निकी परिक्रमा करवायी, फिर (अन्य शास्त्रोक्त विधियोंका अनुष्ठान करके) उनका विवाह-कार्य सम्पन्न कर दिया। इसके बाद संग्राममें शोभा पानेवाले युधिष्ठिरको छुट्टी देकर पुरोहितजी भी उस राजभवनसे बाहर चले गये ॥ १२ ॥

क्रमेण चानेन नराधिपात्मजा
वरस्त्रियस्ते जगृहुस्तदा करम् ।
अहन्यहन्युत्तमरूपधारिणो
महारथाः कौरववंशवर्धनाः ॥ १३ ॥

इसी क्रमसे कौरव-कुलकी वृद्धि करनेवाले, उत्तम रूप धारण करनेवाले महारथी राजकुमार पाण्डवोंने एक-एक दिन परम सुन्दरी द्रौपदीका पाणिग्रहण किया ॥ १३ ॥

इदं च तत्राद्भुतरूपमुत्तमं
जगाद देवर्षिरतीतमानुषम् ।
महानुभावा किल सा सुमध्यमा
बभूव कन्यैव गते गतेऽहनि ॥ १४ ॥

देवर्षिने वहाँ घटित हुई इस अद्भुत, उत्तम एवं अलौकिक घटनाका वर्णन किया है कि सुन्दर कटिप्रदेशवाली महानुभावा द्रौपदी प्रतिवार विवाहके दूसरे दिन कन्यावस्थाको ही प्राप्त हो जाती थी ॥ १४ ॥

कृते विवाहे द्रुपदो धनं ददौ
महारथेभ्यो बहुरूपमुत्तमम् ।
शतं रथानां वरहेममालिनां
चतुर्युजां हेमखलीनमालिनाम् ॥ १५ ॥

विवाह कार्य सम्पन्न हो जानेपर द्रुपदने महारथी पाण्डवोंको दहेजमें बहुत-सा धन और नाना प्रकारकी उत्तम वस्तुएँ समर्पित कीं। सुन्दर सुवर्णकी मालाओं और सोनेके जटित जुओंसे सुशोभित सौ रथ प्रदान किये, जिनमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे ॥ १५ ॥

शतं गजानामपि पद्मिनां तथा
शतं गिरीणामिव हेमशृङ्गिणाम् ।
तथैव दासीशतमग्र्ययौवनं
महार्हवेषाभरणाम्बरस्रजम् ॥ १६ ॥

पद्म आदि उत्तम लक्षणोंसे युक्त सौ हाथी तथा पर्वतोंके समान ऊँचे और सुनहरे हौदोंसे सुशोभित सौ हाथी (साथ ही) बहुमूल्य शृङ्गार-सामग्री, वस्त्राभूषण एवं हार धारण करनेवाली एक सौ नवयौवना दासियाँ भी भेंट कीं ॥ १६ ॥

पृथक् पृथग् दिव्यदृशां पुनर्ददौ
तदा धनं सौमकिरग्निसाक्षिकम् ।
तथैव वस्त्राणि विभूषणानि
प्रभावयुक्तानि महानुभावः ॥ १७ ॥

सोमकवंशमें उत्पन्न महानुभाव राजा द्रुपदने इस प्रकार अग्निको साक्षी बनाकर प्रत्येक सुन्दर ...

पाण्डवोंके लिये अलग-अलग प्रचुर धन तथा प्रभुत्व-सूचक बहुमूल्य वस्त्र और आभूषण अर्पित किये ॥ १७ ॥

कृते विवाहे च ततस्तु पाण्डवाः
प्रभूतरत्नामुपलभ्य तां श्रियम्।
विजह्रुरिन्द्रप्रतिमा महाबलाः
पुरे तु पाञ्चालनृपस्य तस्य ह ॥ १८ ॥

विवाहके पश्चात् इन्द्रके समान महाबली पाण्डव प्रचुर रत्नराशिके साथ लक्ष्मीस्वरूपा द्रौपदीको पाकर पाञ्चालराज द्रुपदके ही नगरमें सुखपूर्वक विहार करने लगे ॥ १८ ॥

(सर्वेऽप्यतुष्यन् नृप पाण्डवेया-
स्तस्याः शुभैः शीलसमाधिवृत्तैः।
सा चाप्येषा याज्ञसेनी तदानीं
विवर्धयामास मुदं स्वसुव्रतैः ॥)

राजन्! सभी पाण्डव द्रौपदीकी सुशीलता, एकाग्रता और सद्व्यवहारसे बहुत संतुष्ट थे (और द्रौपदीको भी संतुष्ट रखनेका प्रयत्न करते थे)। इसी प्रकार द्रुपदकुमारी कृष्णा भी उस समय अपने उत्तम नियमोंद्वारा पाण्डवोंका आनन्द बढ़ाती थी ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि द्रौपदीविवाहे सप्तनवत्यधिकशततमोऽध्यायः॥ १९७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें द्रौपदीविवाहविषयक एक सौ सत्तानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९७॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १९ श्लोक हैं)

अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

कुन्तीका द्रौपदीको उपदेश और आशीर्वाद तथा भगवान् श्रीकृष्णका पाण्डवोंके लिये उपहार भेजना

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवैः सह संयोगं गतस्य द्रुपदस्य ह।
न बभूव भयं किंचिद् देवेभ्योऽपि कथंचन ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पाण्डवोंसे सम्बन्ध हो जानेपर राजा द्रुपदको देवताओंसे भी किसी प्रकारका कुछ भी भय नहीं रहा, फिर मनुष्योंसे तो हो ही कैसे सकता था ॥ १ ॥

कुन्तीमासाद्य ता नार्यो द्रुपदस्य महात्मनः।
नाम संकीर्तयन्त्योऽस्या जग्मुः पादौ स्वमूर्धभिः॥ २ ॥

महात्मा द्रुपदके कुटुम्बकी स्त्रियाँ कुन्तीके पास आकर अपने नाम ले-लेकर उनके चरणोंमें मस्तक नवाकर प्रणाम करने लगीं ॥ २ ॥

कृष्णा च क्षौमसंवीता कृतकौतुकमङ्गला।
कृताभिवादना श्वश्र्वास्तस्थौ प्रह्वा कृताञ्जलिः ॥ ३ ॥

कृष्णा भी रेशमी साड़ी पहने माङ्गलिक कार्य सम्पन्न करनेके पश्चात् सासके चरणोंमें प्रणाम करके उनके सामने हाथ जोड़ विनीत भावसे खड़ी हुई ॥ ३ ॥

रूपलक्षणसम्पन्नां शीलाचारसमन्विताम्।
द्रौपदीमवदत् प्रेम्णा पृथाऽऽशीर्वचनं स्नुषाम्॥ ४ ॥

सुन्दर रूप तथा उत्तम लक्षणोंसे सम्पन्न, शील और सदाचारसे सुशोभित अपनी बहू द्रौपदीको सामने देख कुन्ती-देवी उसे प्रेमपूर्वक आशीर्वाद देती हुई बोलीं— ॥ ४ ॥

यथेन्द्राणी हरिहये स्वाहा चैव विभावसौ।
रोहिणी च यथा सोमे दमयन्ती यथा नले ॥ ५ ॥

यथा वैश्रवणे भद्रा वसिष्ठे चाप्यरुन्धती।
यथा नारायणे लक्ष्मीस्तथा त्वं भव भर्तृषु ॥ ६ ॥

'बेटी ! जैसे इन्द्राणी इन्द्रमें, स्वाहा अग्निमें, रोहिणी



चन्द्रमामें, दमयन्ती नलमें, भद्रा कुबेरमें, अरुन्धती वसिष्ठमें तथा लक्ष्मी भगवान् नारायणमें भक्ति-भाव एवं प्रेम रखती हैं, उसी प्रकार तुम भी अपने पतियोंमें अनुरक्त रहो ॥ ५-६ ॥

जीवसूर्वीरसूर्भद्रे बहुसौख्यसमन्विता।
सुभगा भोगसम्पन्ना यज्ञपत्नी पतिव्रता ॥ ७ ॥

'भद्रे ! तुम अनन्त सौख्यसे सम्पन्न होकर दीर्घजीवी तथा वीर पुत्रोंकी जननी बनो । सौभाग्यशालिनी, भोग-सामग्रीसे सम्पन्न, पतिके साथ यज्ञमें बैठनेवाली तथा पतिव्रता होओ ॥ ७ ॥

अतिथीनागतान् साधून् वृद्धान् बालांस्तथा गुरून्।
पूजयन्त्या यथान्यायं शश्वद् गच्छन्तु ते समाः ॥ ८ ॥

'अपने घरपर आये हुए अतिथियों, साधु पुरुषों, बड़े-बूढ़ों, बालकों तथा गुरुजनोंका यथायोग्य सत्कार करनेमें ही तुम्हारा प्रत्येक वर्ष बीते ॥ ८ ॥

कुरुजाङ्गलमुख्येषु राष्ट्रेषु नगरेषु च।
अनु त्वमभिषिच्यस्व नृपतिं धर्मवत्सला ॥ ९ ॥

'तुम्हारे पति कुरुजाङ्गल देशके प्रधान-प्रधान राष्ट्रों तथा नगरोंके राजा हों और उनके साथ ही रानीके पदपर तुम्हारा अभिषेक हो । धर्मके प्रति तुम्हारे हृदयमें स्वाभाविक स्नेह हो ॥ ९ ॥

पतिभिर्निर्जितामुर्वीं विक्रमेण महाबलैः।
कुरु ब्राह्मणसात् सर्वामश्वमेधे महाक्रतौ ॥ १० ॥

'तुम्हारे महाबली पतियोंद्वारा पराक्रमसे जीती हुई इस समूची पृथ्वीको तुम अश्वमेध नामक महायज्ञमें ब्राह्मणोंके हवाले कर दो ॥ १० ॥

पृथिव्यां यानि रत्नानि गुणवन्ति गुणान्विते।
तान्याप्नुहि त्वं कल्याणि सुखिनी शरदां शतम्॥ ११ ॥

'कल्याणमयी गुणवती बहू ! पृथ्वीपर जितने गुणवान् रत्न हैं, वे सब तुम्हें प्राप्त हों और तुम सौ वर्षतक सुखी रहो ॥ ११ ॥

यथा च त्वाभिनन्दामि वध्वद्य क्षौमसंवृताम्।
तथा भूयोऽभिनन्दिष्ये जातपुत्रां गुणान्विताम्॥ १२ ॥

'बहू ! आज तुम्हें वैवाहिक रेशमी वस्त्रोंसे सुशोभित देखकर जिस प्रकार मैं तुम्हारा अभिनन्दन करती हूँ, उसी प्रकार जब तुम पुत्रवती होओगी, उस समय भी अभिनन्दन करूँगी; तुम सद्गुणसम्पन्न हो' ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्तु कृतदारेभ्यः पाण्डुभ्यः प्राहिणोद्धरिः।
वैदूर्यमणिचित्राणि हैमान्याभरणानि च ॥ १३ ॥

वासांसि च महार्हाणि नानादेश्यानि माधवः।
कम्बलाजिनरत्नानि स्पर्शवन्ति शुभानि च।
शयनासनयानानि विविधानि महान्ति च।
वैदूर्यवज्रचित्राणि शतशो भाजनानि च।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विवाह हो जानेपर पाण्डवोंके लिये भगवान् श्रीकृष्णने मणि-जटित सोनेके बहुत-से आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र, देशोंके बने हुए कोमल स्पर्शवाले कम्बल, मृगचर्म, रत्न, शय्याएँ, आसन, भाँति-भाँतिके बड़े-बड़े वाहन, वैदूर्य और वज्रमणि (हीरे) से खचित सैकड़ों बर्तन पाण्डवोंपर भेजे ॥ १३—१५ ॥

रूपयौवनदाक्षिण्यैरुपेताश्च स्वलंकृताः।
प्रेष्याः सम्प्रददौ कृष्णो नानादेश्याः स्वलंकृताः।

रूप-यौवन और चातुर्य आदि गुणोंसे सम्पन्न तथा भूषणोंसे अलंकृत अनेक देशोंकी सजी-धजी बहुत-सी सेविकाएँ भी समर्पित कीं ॥ १६ ॥

गजान् विनीतान् भद्रांश्च सदश्वांश्च स्वलंकृतान्।
रथांश्च दान्तान् सौवर्णैः शुभ्रैः पट्टैरलंकृतान्।
कोटिशश्च सुवर्णं च तेषामकृतकं तथा।
वीथीकृतममेयात्मा प्राहिणोन्मधुसूदनः।

इसके सिवा अमेयात्मा मधुसूदनने सुशिक्षित और ... रहनेवाले अच्छी जातिके हाथी, गहनोंसे सजे हुए घोड़े, चमकते हुए सोनेके पत्रोंसे सुशोभित और ... घोड़ोंसे युक्त बहुत-से सुन्दर रथ, करोड़ों स्वर्णमुद्राएँ पंक्तिमें रखी हुई सुवर्णकी ढेरियाँ उनके लिये भेजीं ॥ १७ ॥

तत् सर्वं प्रतिजग्राह धर्मराजो युधिष्ठिरः।
मुदा परमया युक्तो गोविन्दप्रियकाम्यया ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने अत्यन्त प्रसन्न होकर श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये वह सारा उपहार ग्रहण कर...

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि वैवाहिकपर्वणि अष्टनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत वैवाहिकपर्वमें एक सौ अट्ठानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९८ ॥

(विदुरागमनराज्यलम्भपर्व)

नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके विवाहसे दुर्योधन आदिकी चिन्ता, धृतराष्ट्रका पाण्डवोंके प्रति प्रेमका दिखावा और दुर्योधनकी कुमन्त्रणा

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञां चरैराप्तैः प्रवृत्तिरुपनीयत।
पाण्डवैरुपसम्पन्ना द्रौपदी पतिभिः शुभा ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर राजाओंको अपने विश्वसनीय गुप्तचरोंद्वारा यह यथार्थ समाचार मिल गया कि शुभलक्षणा द्रौपदीका विवाह पाण्डवोंके साथ हुआ है ॥ १ ॥

येन तद् धनुरादाय लक्ष्यं विद्धं महात्मना ।
सोऽर्जुनो जयतां श्रेष्ठो महाबाणधनुर्धरः ॥ २ ॥

जिन महात्मा पुरुषने वह धनुष लेकर लक्ष्यको वेधा था, वे विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ तथा महान् धनुष-बाण धारण करनेवाले स्वयं अर्जुन थे ॥ २ ॥

यः शल्यं मद्रराजं वै प्रोत्क्षिप्यापातयद् बली ।
त्रासयामास संक्रुद्धो वृक्षेण पुरुषान् रणे ॥ ३ ॥
न चास्य सम्भ्रमः कश्चिदासीत् तत्र महात्मनः ।
स भीमो भीमसंस्पर्शः शत्रुसेनाङ्गपातनः ॥ ४ ॥

जिस बलवान् वीरने अत्यन्त कुपित हो मद्रराज शल्यको उठाकर पृथ्वीपर पटक दिया था और हाथमें वृक्ष ले रणभूमिमें समस्त योद्धाओंको भयभीत कर डाला था तथा जिस महातेजस्वी शूरवीरको उस समय तनिक भी घबराहट नहीं हुई थी, वह शत्रुसेनाके हाथी, घोड़े आदि अङ्गोंको मार गिरानेवाला तथा स्पर्शमात्रसे भय उत्पन्न करनेवाला महाबली भीमसेन था ॥ ३-४ ॥

ब्रह्मरूपधराञ्छ्रुत्वा प्रशान्तान् पाण्डुनन्दनान् ।
कौन्तेयान् मनुजेन्द्राणां विस्मयः समजायत ॥ ५ ॥

ब्राह्मणका रूप धारण करके प्रशान्त भावसे बैठे हुए वे वीर पुरुष कुन्तीपुत्र पाण्डव ही थे, यह सुनकर वहाँ आये हुए राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ ५ ॥

सपुत्रा हि पुरा कुन्ती दग्धा जतुगृहे श्रुता ।
पुनर्जातानिव च तांस्तेऽमन्यन्त नराधिपाः ॥ ६ ॥

उन्होंने पहले सुन रक्खा था कि कुन्ती अपने पुत्रोंसहित लाक्षागृहमें जल गयी । अब उन्हें जीवित सुनकर वे राजा-लोग यह मानने लगे कि इन पाण्डवोंका फिर नया जन्म-सा हुआ है ॥ ६ ॥

धिगकुर्वंस्तदा भीष्मं धृतराष्ट्रं च कौरवम् ।
कर्मणातिनृशंसेन पुरोचनकृतेन वै ॥ ७ ॥

पुरोचनके किये हुए अत्यन्त क्रूरतापूर्ण कर्मका स्मरण हो आनेसे उस समय सभी नरेश कुरुवंशी धृतराष्ट्र तथा भीष्मको धिक्कारने लगे ॥ ७ ॥

(धार्मिकान् वृत्तसंपन्नान् मातुः प्रियहिते रतान् ।
यदा तानीदृशान् पार्थानुत्सादयितुमिच्छति ॥

'देखो न; धर्मात्मा, सदाचारी तथा माताके प्रिय एवं हितमें तत्पर रहनेवाले कुन्तीकुमारोंको भी यह धृतराष्ट्र नष्ट करना चाहता है (भला, इससे बढ़कर निन्दनीय कौन होगा ।'

ततः स्वयंवरे वृत्ते धार्तराष्ट्राः स्म भारत ।
मन्त्रयन्ते ततः सर्वे कर्णसौबलदूषिताः ॥

जनमेजय ! उधर स्वयंवर समाप्त होनेपर धृतराष्ट्रके सभी पुत्र, जिन्हें कर्ण और शकुनिने बिगाड़ रक्खा था, इस प्रकार सलाह करने लगे ।

शकुनिरुवाच

कश्चिच्छत्रुः कर्शनीयः पीडनीयस्तथापरः ।
उत्सादनीयाः कौन्तेयाः सर्वक्षत्रस्य मे मताः ॥

शकुनि बोला—संसारमें कोई शत्रु तो ऐसा होता है, जिसे सब प्रकारसे दुर्बल कर देना उचित है; दूसरा ऐसा होता है, जिसे सदा पीड़ा दी जाय । परंतु कुन्तीके ये सभी पुत्र तो समस्त क्षत्रियोंके लिये समूल नष्ट कर देने योग्य हैं । इनके विषयमें मेरा यही मत है ।

एवं पराजिताः सर्वे यदि यूयं गमिष्यथ ।
अकृत्वा संविदं कांचित् तद् वस्तप्स्यत्यसंशयम् ॥

यदि इस प्रकार पराजित होकर आप सब लोग इन (पाण्डवोंके विनाशकी) युक्ति निश्चित किये बिना ही चले जायँगे, तो अवश्य ही यह भूल आपलोगोंको सदा संतप्त करती रहेगी ।

अयं देशश्च कालश्च पाण्डवोद्धरणाय नः ।
न चेदेवं करिष्यध्वं लोके हास्या भविष्यथ ॥

पाण्डवोंको जड़मूलसहित विनष्ट करनेके लिये हमारे सामने यही उपयुक्त देश और काल उपस्थित है । यदि आपलोग ऐसा नहीं करेंगे तो संसारमें उपहासके पात्र होंगे।

यमेते संश्रिता वस्तुं कामयन्ते च भूमिपम् ।
सोऽल्पवीर्यबलो राजा द्रुपदो वै मतो मम ॥

ये पाण्डव जिस राजाके आश्रयमें रहनेकी इच्छा रखते हैं, उस द्रुपदका बल और पराक्रम मेरी रायमें बहुत थोड़ा है।

यावदेतान् न जानन्ति जीवतो वृष्णिपुङ्गवाः ।
चैद्यश्च पुरुषव्याघ्रः शिशुपालः प्रतापवान् ॥

जबतक वृष्णिवंशके श्रेष्ठ वीर यह नहीं जानते कि पाण्डव जीवित हैं, पुरुषसिंह चेदिराज प्रतापी शिशुपाल भी जबतक इस बातसे अनभिज्ञ है, तभीतक पाण्डवोंको मार डालना चाहिये।

एकीभावं गता राज्ञा द्रुपदेन महात्मना ।
दुराधर्षतरा राजन् भविष्यन्ति न संशयः ॥

राजन् ! जब ये महात्मा राजा द्रुपदके साथ मिलकर एक हो जायँगे, तब इन्हें परास्त करना अत्यन्त कठिन हो जायगा, इसमें संशय नहीं है ।

यावदस्वरतां सर्वे प्राप्नुवन्ति नराधिपाः ।
तावदेव व्यवस्यामः पाण्डवानां वधं प्रति ॥

जबतक सब राजा ढीले पड़े हैं, तभीतक हमें पाण्डवोंके वधके लिये पूरा प्रयत्न कर लेना चाहिये ।

मुक्ता जतुगृहाद् भीमाद् आशीविषमुखादिव ।
पुनर्यदीह मुच्यन्ते महन्नो भयमाविशेत् ॥

विषधर सर्पके मुख-सदृश भयंकर लाक्षागृहसे तो वे बच ही गये हैं। यदि फिर यहाँ हमारे हाथसे छूट जाते हैं तो उनसे हमलोगोंको महान् भय प्राप्त हो सकता है।

तेषामिहोपयातानामेषां च पुरवासिनाम्।
अन्तरे दुष्करं स्थातुं मेषयोर्महतोरिव॥

यदि वे वृष्णिवंशी और चेदिवंशी वीर यहाँ आ जायँ और यहाँके नागरिक भी अस्त्र-शस्त्र लेकर खड़े हो जायँ तो इनके बीचमें खड़ा होना उतना ही कठिन होगा, जितना आपसमें लड़ते हुए दो विशाल मेढ़ोंके बीचमें ठहरना।

हलधृक्प्रगृहीतानि बलानि बलिनां स्वयम्।
यावन्न कुरुसेनायां पतन्ति पतगा इव॥
तावत् सर्वाभिसारेण पुरमेतद् विनाश्यताम्।
एतदत्र परं मन्ये प्राप्तकालं नरर्षभाः॥

जबतक हल धारण करनेवाले बलरामजीके द्वारा संचालित बलवान् योद्धाओंकी सेनाएँ स्वयं ही आकर कौरव-सेनारूपी खेतोंपर टिड्डियोंकी भाँति टूट न पड़ें, तबतक हम सब लोग एक साथ आक्रमण करके इस नगरको नष्ट कर दें। नरश्रेष्ठ वीरो! मैं इस अवसरपर यही सर्वोत्तम कर्तव्य मानता हूँ।

वैशम्पायन उवाच

शकुनेर्वचनं श्रुत्वा भाषमाणस्य दुर्मतेः।
सौमदत्तिरिदं वाक्यं जगाद परमं ततः॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—दुर्बुद्धि शकुनिका यह प्रस्ताव सुनकर सोमदत्त-कुमार भूरिश्रवाने यह उत्तम बात कही।

सौमदत्तिरुवाच

प्रकृतीः सप्त वै ज्ञात्वा आत्मनश्च परस्य च।
तथा देशं च कालं च षड्विधांश्च नयेद् गुणान्॥

भूरिश्रवा बोले—अपने पक्षकी और शत्रुपक्षकी भी सातों प्रकृतियोंको ठीक-ठीक जानकर ही देश और कालका ज्ञान रखते हुए छः प्रकारके गुणोंका यथावसर प्रयोग करना चाहिये।

स्थानं वृद्धिं क्षयं चैव भूमिं मित्राणि विक्रमम्।
समीक्ष्याथाभियुञ्जीत परं व्यसनपीडितम्॥

स्थान, वृद्धि, क्षय, भूमि, मित्र तथा पराक्रम—इन सबकी ओर दृष्टि रखते हुए यदि शत्रु संकटसे पीड़ित हो तभी उसपर आक्रमण करना चाहिये।

ततोऽहं पाण्डवान् मन्ये मित्रकोशसमन्वितान्।
बलस्थान् विक्रमस्थांश्च स्वकृतैः प्रकृतिप्रियान्॥

इस दृष्टिसे देखनेपर मैं पाण्डवोंको मित्र और ख... दोनोंसे सम्पन्न समझता हूँ। वे बलवान् तो हैं ही, परा... भी हैं और अपने सत्कर्मोंद्वारा समस्त प्रजाके प्रिय हो रहे...

वपुषा हि तु भूतानां नेत्राणि हृदयानि च।
श्रोत्रं मधुरया वाचा रमयत्यर्जुनो नृणाम्॥

अर्जुन अपने शरीरकी गठनसे (सभी) मनुष्योंके ने... तथा हृदयको आनन्द प्रदान करते हैं और मीठी-मीठी ब... द्वारा सबके कानोंको सुख पहुँचाते हैं।

न तु केवलदैवेन प्रजा भावेन भेजिरे।
यद् बभूव मनःकान्तं कर्मणा च चकार तत्॥

केवल प्रारब्धसे ही प्रजा उनकी सेवा नहीं कर... प्रजाके मनको जो प्रिय लगता है, उसकी पूर्ति अर्जुन अ... प्रयत्नोंद्वारा करते रहते हैं।

न ह्ययुक्तं न चासक्तं नानृतं न च विप्रियम्।
भाषितं चारुभाषस्य जज्ञे पार्थस्य भारती॥

मनोहर वचन बोलनेवाले अर्जुनकी वाणी कभी ऐ... वचन नहीं बोलती, जो अयुक्त, आसक्तिपूर्ण, मिथ्या ... अप्रिय हो।

तानेवंगुणसम्पन्नान् सम्पन्नान् राजलक्षणैः।
न तान् पश्यामि ये शक्ताः समुच्छेत्तुं यथा बलात्॥

समस्त पाण्डव राजोचित लक्षणोंसे सम्पन्न तथा उप... गुणोंसे विभूषित हैं। मैं ऐसे किन्हीं वीरोंको नहीं देखता... अपने बलसे पाण्डवोंका वास्तवमें उच्छेद कर सकें।

प्रभावशक्तिर्विपुला मन्त्रशक्तिश्च पुष्कला।
तथैवोत्साहशक्तिश्च पार्थेष्वभ्यधिका सदा॥

उनकी प्रभावशक्ति विपुल है, मन्त्रशक्ति भी प्रचु... तथा उत्साहशक्ति भी पाण्डवोंमें सबसे अधिक है।

मौलमित्रबलानां च कालज्ञो वै युधिष्ठिरः।
साम्ना दानेन भेदेन दण्डेनेति युधिष्ठिरः॥
अमित्रं यतते जेतुं न रोषेणेति मे मतिः।

युधिष्ठिर इस बातको अच्छी तरह जानते हैं कि कब स्वा... बलका प्रयोग करना चाहिये तथा कब मित्र और सैन्यबल... राजा युधिष्ठिर साम, दान, भेद और दण्ड-नीतिके द्वारा यथासमय शत्रुको जीतनेका प्रयत्न करते हैं, क्रोधके द्वारा नहीं—ऐसा मेरा विश्वास है।

परिक्रीय धनैः शत्रून् मित्राणि च बलानि च।
मूलं च सुदृढं कृत्वा हन्त्यरीन् पाण्डवस्तदा॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर प्रचुर धन देकर शत्रुओंको, ...

---

१. राज्यके स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोष, राष्ट्र, दुर्ग और सेना—इन सात अङ्गोंको सात प्रकृतियाँ कहते हैं।

२. संधि, विग्रह, यान, आसन, द्वैधीभाव और समाश्रय—ये छः गुण हैं। इनमें शत्रुसे मेल रखना संधि, उससे लड़ाई छेड़ना विग्रह, आक्रमण करना यान, अवसरकी प्रतीक्षामें बैठे रहना आसन, दुरंगी नीति बर्तना द्वैधीभाव और अपनेसे बलवान् राजाकी शरण लेना समाश्रय कहलाता है।

को तथा सेनाओंको भी खरीद लेते हैं और अपनी नींवको सुदृढ़ करके शत्रुओंका नाश करते हैं ।

अशक्यान् पाण्डवान् मन्ये देवैरपि सवासवैः ।
येषामर्थे सदा युक्तौ कृष्णसंकर्षणावुभौ ॥

मैं ऐसा मानता हूँ कि इन्द्र आदि देवता भी उन पाण्डवोंका कुछ नहीं बिगाड़ सकते, जिनकी सहायताके लिये कृष्ण और बलराम दोनों सदा कमर कसे रहते हैं ।

श्रेयश्च यदि मन्यध्वं मन्मतं यदि वो मतम् ।
संविदं पाण्डवैः सार्धं कृत्वा याम यथागतम् ॥

यदि आपलोग मेरी बातको हितकर मानते हों, यदि मेरे मतके अनुकूल ही आपलोगोंका मत हो, तो हमलोग पाण्डवोंसे मेल करके जैसे आये हैं, वैसे ही लौट चलें ।

गोपुराट्टालकैरुच्चैरुपतल्पशतैरपि ।
गुप्तं पुरवरश्रेष्ठमेतदद्भिश्च संवृतम् ॥
तृणधान्येन्धनरसैस्तथा यन्त्रायुधौषधैः ।
युक्तं बहुकपाटैश्च द्रव्यागारतुषादिकैः ॥

यह श्रेष्ठ नगर गोपुरों, ऊँची-ऊँची अट्टालिकाओं तथा सैकड़ों उपतल्पोंसे सुरक्षित है । इसके चारों ओर जलसे भरी खाई है । घास-चारा, अनाज, ईंधन, रस, यन्त्र, आयुध तथा औषध आदिकी यहाँ बहुतायत है । बहुत से कपाट, द्रव्यागार और भूसा आदिसे भी यह नगर भरपूर है ।

भीमोच्छ्रितमहाचक्रं बृहदट्टालसंवृतम् ।
दृढप्राकारनिर्यूहं शतघ्नीजालसंवृतम् ॥

यहाँ बड़े भयंकर और ऊँचे विशाल चक्र हैं । बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंकी पंक्ति इस नगरको घेरे हुए हैं । इसकी चहारदीवारी और छज्जे सुदृढ़ हैं । शतघ्नी (तोप) नामक अस्त्रोंके समुदायसे यह नगरी घिरी हुई है ।

ऐष्टको दारवो वप्रो मानुषश्चेति यः स्मृतः ।
प्राकारकर्तृभिर्वीरैः नृगर्भस्तत्र पूजितः ॥

इसकी रक्षाके लिये तीन प्रकारका घेरा बना है—एक तो ईंटोंका, दूसरा काठका और तीसरा मानव सैनिकोंका । चहारदीवारी बनानेवाले वीरोंने यहाँ नरगर्भकी पूजा की है ।

तदेतन्नरगर्भेण पाण्डरेण विराजते ।
सालेनानेकतालेन सर्वतः संवृतं पुरम् ॥
अनुरक्ताः प्रकृतयो द्रुपदस्य महात्मनः ।
दानमानार्चिताः सर्वे बाह्याश्चाभ्यन्तराश्च ये ॥

इस प्रकार यह नगर श्वेत नरगर्भसे शोभित है । अनेक ताड़के बराबर ऊँचे शालवृक्षोंकी पंक्तियोंद्वारा यह श्रेष्ठ नगरी सब ओरसे घिरी हुई है । महामना राजा द्रुपदकी सभी प्रजा और प्रकृतियाँ (मन्त्री आदि) उनमें अनुराग रखती हैं । बाहर और भीतरके सभी कर्मचारियोंका दान और मान-द्वारा सत्कार किया जाता है ।

प्रतिरुद्धानिमाञ्ज्ञात्वा राजभिर्भीमविक्रमैः ।
उपयास्यन्ति दाशार्हाः समुदग्रोच्छ्रितायुधाः ॥

भयानक पराक्रमी राजाओंद्वारा पाण्डवोंको सब ओरसे घिरा हुआ जानकर समस्त यदुवंशी वीर प्रचण्ड अस्त्र-शस्त्र लिये यहाँ उपस्थित हो जायँगे ।

तस्मात् संधिं वयं कृत्वा धार्तराष्ट्रस्य पाण्डवैः ।
स्वराष्ट्रमेव गच्छामो यद्याप्तवचनं मम ॥
एतन्मम मतं सर्वैः क्रियतां यदि रोचते ।
एतद्धि सुकृतं मन्ये क्षेमं चापि महीक्षिताम् ॥)

अतः हम धृतराष्ट्र-पुत्र दुर्योधनकी पाण्डवोंके साथ संधि कराकर अपने राज्यमें ही लौट चलें । यदि आपलोगोंको मेरी बातपर विश्वास हो और मेरा यह मत सबको ठीक जँचता हो तो आप सब लोग इसे काममें लायें । हमारा यही सर्वोत्तम कर्तव्य है और मैं इसीको राजाओंके लिये कल्याणकारी मानता हूँ ।

वृत्ते स्वयंवरे चैव राजानः सर्व एव ते ।
यथागतं विप्रजग्मुर्विदित्वा पाण्डवान् वृतान् ॥ ८ ॥

स्वयंवर समाप्त हो जानेपर जब यह ज्ञात हो गया कि द्रौपदीने पाण्डवोंका वरण किया है, तब वे सभी राजा जैसे आये थे, वैसे ही (अपने-अपने) देशको लौट गये ॥ ८ ॥

अथ दुर्योधनो राजा विमना भ्रातृभिः सह ।
अश्वत्थाम्ना मातुलेन कर्णेन च कृपेण च ॥ ९ ॥
विनिवृत्तो वृतं दृष्ट्वा द्रौपद्या श्वेतवाहनम् ।
तं तु दुःशासनो व्रीडन् मन्दं मन्दमिवाब्रवीत् ॥ १० ॥

द्रुपदकुमारी कृष्णाने श्वेतवाहन अर्जुनको (जयमाला पहनाकर उनका) वरण किया है, यह अपनी आँखों देखकर राजा दुर्योधनके मनमें बड़ा दुःख हुआ । वह अश्वत्थामा, मामा शकुनि, कर्ण, कृपाचार्य तथा अपने भाइयोंके साथ (द्रुपदकी राजधानीसे) हस्तिनापुरके लिये लौट पड़ा । मार्गमें दुःशासनने लज्जित होकर दुर्योधनसे धीरे-धीरे (इस प्रकार) कहा—॥ ९-१० ॥

यद्यसौ ब्राह्मणो न स्याद् विन्देत द्रौपदीं न सः ।
न हि तं तत्त्वतो राजन् वेद कश्चिद् धनंजयम् ॥ ११ ॥

'भाईजी ! यदि अर्जुन ब्राह्मणके वेशमें न होता तो वह कदापि द्रौपदीको न पा सकता था । राजन् ! वास्तवमें किसी-को यह पता ही नहीं चला कि यह अर्जुन है ॥ ११ ॥

दैवं च परमं मन्ये पौरुषं चाप्यनर्थकम् ।
धिगस्तु पौरुषं तात ध्रियन्ते यत्र पाण्डवाः ॥ १२ ॥

'मैं तो भाग्यको ही प्रबल मानता हूँ, पुरुषका प्रयत्न निरर्थक है । तात ! हमारे पुरुषार्थको धिक्कार है, जब कि पाण्डव अभीतक जी रहे हैं' ॥ १२ ॥

एवं सम्भाषमाणास्ते निन्दन्तश्च पुरोचनम् ।
विविशुर्हास्तिनपुरं दीना विगतचेतसः ॥ १३ ॥

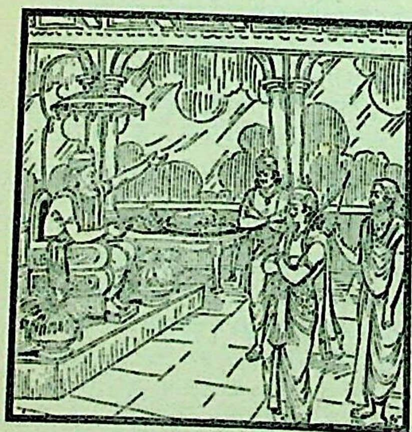
इस प्रकार परस्पर बातें करते और पुरोचनको कोसते हुए वे सब कौरव दुखी होकर हस्तिनापुरमें पहुँचे। (पाण्डवोंकी) सफलता देखकर, उनका चित्त ठिकाने न रहा ॥ १३ ॥

त्रस्ता विगतसंकल्पा दृष्ट्वा पार्थान् महौजसः।
मुक्तान् हव्यभुजश्चैव संयुक्तान् द्रुपदेन च ॥ १४ ॥
धृष्टद्युम्नं तु संचिन्त्य तथैव च शिखण्डिनम्।
द्रुपदस्यात्मजांश्चान्यान् सर्वयुद्धविशारदान् ॥ १५ ॥

महातेजस्वी कुन्तीकुमार लाक्षागृहकी आगसे जीवित बचकर राजा द्रुपदके सम्बन्धी हो गये, यह अपनी आँखों देखकर और धृष्टद्युम्न, शिखण्डी तथा द्रुपदके अन्य पुत्र युद्धकी सम्पूर्ण कलाओंमें दक्ष हैं, इस बातका विचार करके कौरव बहुत डर गये। उनकी आशा निराशामें परिणत हो गयी ॥ १४-१५ ॥

विदुरस्त्वथ तां श्रुत्वा द्रौपदीं पाण्डवैर्वृतान्।
व्रीडितान् धार्तराष्ट्रांश्च भग्नदर्पानुपागतान् ॥ १६ ॥
ततः प्रीतमनाः क्षत्ता धृतराष्ट्रं विशाम्पते।
उवाच दिष्ट्या कुरवो वर्धन्त इति विस्मितः ॥ १७ ॥

विदुरजीने जब यह सुना कि पाण्डवोंने द्रौपदीको प्राप्त किया है और धृतराष्ट्रके पुत्र अपना अभिमान चूर्ण हो जानेसे लज्जित होकर लौट आये हैं, तब वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए। राजन्! तब वे धृतराष्ट्रके पास जाकर विस्मय-सूचक वाणीमें बोले—'महाराज! हमारा अहोभाग्य है, जो कौरववंशकी वृद्धि हो रही है ॥ १६-१७ ॥



वैचित्रवीर्यस्तु वचो निशाम्य विदुरस्य तत्।
अब्रवीत् परमप्रीतो दिष्ट्या दिष्ट्येति भारत ॥ १८ ॥

भारत! विचित्रवीर्यनन्दन राजा धृतराष्ट्र विदुरकी यह बात सुनकर अत्यन्त प्रसन्न हो सहसा बोल उठे—'अहो-भाग्य, अहोभाग्य' ॥ १८ ॥

मन्यते स वृतं पुत्रं ज्येष्ठं द्रुपदकन्यया।
दुर्योधनमविज्ञानात् प्रज्ञाचक्षुर्नरेश्वरः ॥ १९ ॥

उस अंधे नरेशने अज्ञानवश यह समझ लिया 'द्रुपदकन्याने मेरे ज्येष्ठ पुत्र दुर्योधनका वरण किया है' ॥

अथ त्वाज्ञापयामास द्रौपद्या भूषणं बहु।
आनीयतां वै कृष्णेति पुत्रं दुर्योधनं तदा ॥ २० ॥

इसलिये उन्होंने आज्ञा दी—'द्रौपदीके लिये बहुत-से आभूषण मँगाओ और मेरे पुत्र दुर्योधन तथा द्रौपदीको धूमधामसे नगरमें ले आओ' ॥ २० ॥

अथास्य पश्चाद् विदुर आचख्यौ पाण्डवान् वृतान्।
सर्वान् कुशलिनो वीरान् पूजितान् द्रुपदेन ह ॥ २१ ॥

तब पीछेसे विदुरने उन्हें बताया कि—'द्रौपदीने पाण्डवोंका वरण किया है। वे सभी वीर राजा द्रुपदके द्वारा पूजित होकर वहाँ कुशलपूर्वक रह रहे हैं ॥ २१ ॥

तेषां सम्बन्धिनश्चान्यान् बहून् बलसमन्वितान्।
समागतान् पाण्डवैस्तस्मिन्नेव स्वयंवरे ॥ २२ ॥

उसी स्वयंवरमें उनके बहुत-से अन्य सम्बन्धी भी, जो सैनिकशक्तिसे सम्पन्न हैं, पाण्डवोंसे प्रेमपूर्वक मिले हैं ॥ २२ ॥

(एतच्छ्रुत्वा तु वचनं विदुरस्य नराधिपः।
आकारच्छादनार्थं तु दिष्ट्या दिष्ट्येति चाब्रवीत् ॥

विदुरका यह कथन सुनकर राजा धृतराष्ट्रने अपनी बदली हुई आकृतिको छिपानेके लिये कहा—'अहोभाग्य! अहोभाग्य!'

धृतराष्ट्र उवाच

एवं विदुर भद्रं ते यदि जीवन्ति पाण्डवाः।
साध्वाचारा तथा कुन्ती सम्बन्धो द्रुपदेन च ॥
अन्ववाये वसोर्जातः प्रकृष्टे मान्यके कुले।
व्रतविद्यातपोवृद्धः पार्थिवानां धुरन्धरः ॥
पुत्राश्चास्य तथा पौत्राः सर्वे सुचरितव्रताः।
तेषां सम्बन्धिनश्चान्ये बहवः सुमहाबलाः ॥)

धृतराष्ट्र (फिर) बोले—विदुर! यदि ऐसी बात है, यदि (वास्तवमें) पाण्डव जीवित हैं, तो बड़े आनन्दकी बात है, तुम्हारा कल्याण हो। अवश्य ही कुन्ती बड़ी साध्वी है। द्रुपदके साथ जो सम्बन्ध हुआ है, वह हमारे लिये अत्यन्त स्पृहणीय है। विदुर! राजा द्रुपद वसुके वंशमें और सम्माननीय कुलमें उत्पन्न हुए हैं। व्रत, विद्या और तप—तीनोंमें वे बढ़े-चढ़े हैं। राजाओंमें तो वे अग्रगण्य हैं ही। उनके सभी पुत्र और पौत्र भी उत्तम व्रतका पालन करनेवाले हैं। द्रुपदके अन्य बहुत-से सम्बन्धी भी अत्यन्त बलवान् हैं।

यथैव पाण्डोः पुत्रास्तु तथैवाभ्यधिका मम।
यथा चाभ्यधिका बुद्धिर्मम तान् प्रति तच्छृणु ॥ २३ ॥

विदुर ! युधिष्ठिर आदि जैसे पाण्डुके पुत्र हैं, वैसे ही या उससे भी अधिक मेरे हैं। उनके प्रति मेरे मनमें अधिक अपनापनका भाव क्यों है ? यह बताता हूँ; सुनो ॥ २३ ॥

यत् ते कुशलिनो वीरा मित्रवन्तश्च पाण्डवाः ।
तेषां सम्बन्धिनश्चान्ये बहवश्च महाबलाः ॥ २४ ॥

ये वीर पाण्डव कुशलपूर्वक जीवित बच गये हैं और उन्हें मित्रोंका सहयोग भी प्राप्त हो गया है। इतना ही नहीं, और भी बहुत-से महाबली नरेश उनके सम्बन्धी होते जा रहे हैं ॥ २४ ॥

को हि द्रुपदमासाद्य मित्रं क्षत्तः सबान्धवम् ।
न बुभूषेद् भवेनार्थी गतश्रीरपि पार्थिवः ॥ २५ ॥

विदुर ! कौन ऐसा राजा है, जिसकी सम्पत्ति नष्ट हो जानेपर भी बन्धु-बान्धवोंसहित द्रुपदको मित्रके रूपमें पाकर जीना नहीं चाहेगा ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तं तथा भाषमाणं तु विदुरः प्रत्यभाषत ।
नित्यं भवतु ते बुद्धिरेषा राजञ्छतं समाः ।
इत्युक्त्वा प्रययौ राजन् विदुरः स्वं निवेशनम् ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसी बातें कहनेवाले राजा धृतराष्ट्रसे विदुर (इस प्रकार) बोले—'महाराज ! सौ वर्षोंतक आपकी बुद्धि ऐसी ही बनी रहे।' राजन् ! इतना कहकर विदुरजी अपने घर चले गये ॥ २६ ॥

ततो दुर्योधनश्चापि राधेयश्च विशाम्पते ।
धृतराष्ट्रमुपागम्य वचोऽब्रूतामिदं तदा ॥ २७ ॥

जनमेजय ! तदनन्तर दुर्योधन और कर्णने धृतराष्ट्रके पास आकर यह बात कही— ॥ २७ ॥

संनिधौ विदुरस्य त्वां दोषं वक्तुं न शक्नुवः ।
विविक्तमिति वक्ष्यावः किं तवेदं चिकीर्षितम् ॥ २८ ॥
सपत्नवृद्धिं यत् तात मन्यसे वृद्धिमात्मनः ।
अभिष्टौषि च यत् क्षत्तुः समीपे द्विपतां वर ॥ २९ ॥

'महाराज ! विदुरके समीप हम आपसे आपका कोई दोष नहीं बता सकते। इस समय एकान्त है, इसलिये कहते हैं। आप यह क्या करना चाहते हैं ? पूज्य पिताजी ! आप तो शत्रुओंकी उन्नतिको ही अपनी उन्नति मानने लगे हैं और विदुरजीके निकट हमारे वैरियोंकी ही भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं ॥ २८-२९ ॥

अन्यस्मिन् नृप कर्तव्ये त्वमन्यत् कुरुषेऽनघ ।
तेषां बलविघातो हि कर्तव्यस्तात नित्यशः ॥ ३० ॥

'निष्पाप नरेश ! हमें करना तो कुछ और चाहिये, किंतु आप करते कुछ और (ही) हैं। तात ! हमारे लिये तो यही उचित है कि हम सदा पाण्डवोंकी शक्तिका विनाश करते रहें ॥

ते वयं प्राप्तकालस्य चिकीर्षां मन्त्रयामहे ।
यथा नो न ग्रसेयुस्ते सपुत्रबलबान्धवान् ॥ ३१ ॥

'इस समय जैसा अवसर उपस्थित है, इसमें हमें क्या करना चाहिये—यही सोच विचारकर निश्चय करना है, जिससे वे पाण्डवपुत्र बान्धव तथा सेनासहित हमारा सर्वनाश न कर बैठें' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि दुर्योधनवाक्ये नवनवत्यधिकशततमोऽध्यायः ॥ १९९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें दुर्योधनवचनविषयक
एक सौ निन्यानबेवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३९½ श्लोक मिलाकर कुल ७०½ श्लोक हैं)

द्विशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और दुर्योधनकी बातचीत, शत्रुओंको वशमें करनेके उपाय

धृतराष्ट्र उवाच

अहमप्येवमेवैतच्चिकीर्षामि यथा युवाम् ।
विवेक्तुं नाहमिच्छामि त्वाकारं विदुरं प्रति ॥ १ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! मैं भी तो यही करना चाहता हूँ, जैसा तुम दोनों चाहते हो; परंतु मैं अपनी आकृतिसे भी विदुरपर अपने मनका भाव प्रकट होने देना नहीं चाहता ॥

ततस्तेषां गुणानेव कीर्तयामि विशेषतः ।
नावबुध्येत विदुरो ममाभिप्रायमिङ्गितैः ॥ २ ॥

इसीलिये विदुरके सामने विशेषतः पाण्डवोंके गुणोंका ही बखान करता हूँ, जिससे वह इशारेसे भी मेरे मनोभावको न ताड़ सके ॥ २ ॥

यच्च त्वं मन्यसे प्राप्तं तद् ब्रवीहि सुयोधन ।
राधेय मन्यसे यच्च प्राप्तकालं वदाशु मे ॥ ३ ॥

सुयोधन और कर्ण ! तुम दोनों समयके अनुसार जो कार्य करना आवश्यक समझते हो वह शीघ्र मुझे बताओ ॥ ३ ॥

दुर्योधन उवाच

अद्य तान् कुशलैर्विप्रैः सुगुप्तैराप्तकारिभिः ।
कुन्तीपुत्रान् भेदयामो माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ ४ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! आज अत्यन्त गुप्तरूपसे कुछ ऐसे चतुर ब्राह्मणोंको नियुक्त करना चाहिये, जिनके कार्योंपर हमारा पूर्ण विश्वास हो। हमें उनके द्वारा पाण्डवोंमेंसे कुन्ती और माद्रीके पुत्रोंमें फूट डालनेकी चेष्टा करनी चाहिये ॥

अथवा द्रुपदो राजा महद्भिर्वित्तसंचयैः ।
पुत्राश्चास्य प्रलोभ्यन्ताममात्याश्चैव सर्वशः ॥ ५ ॥
परित्यजेद् यथा राजा कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।
अथ तत्रैव वा तेषां निवासं रोचयन्तु ते ॥ ६ ॥

अथवा धनकी बहुत बड़ी राशि देकर राजा द्रुपद, उनके पुत्र तथा मन्त्रियोंको सर्वथा प्रलोभनमें डालना चाहिये, जिससे पञ्चालनरेश कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको त्याग दें—उन्हें अपने घर और नगरसे निकाल दें। अथवा वे ब्राह्मणलोग पाण्डवोंके मनमें वहीं रहनेकी रुचि उत्पन्न करें ॥ ५-६ ॥

इहैषां दोषवद्वासं वर्णयन्तु पृथक् पृथक् ।
ते भिद्यमानास्तत्रैव मनः कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥ ७ ॥

वे अलग-अलग इन सभी पाण्डवोंसे कहें कि हस्तिनापुरका निवास आपलोगोंके लिये अत्यन्त हानिकारक होगा। इस प्रकार ब्राह्मणोंद्वारा बुद्धिभेद उत्पन्न कर देनेपर सम्भव है, पाण्डवलोग अपने मनमें वहीं (पञ्चालदेशमें ही) रहनेका निश्चय कर लें ॥ ७ ॥

अथवा कुशलाः केचिदुपायनिपुणा नराः ।
इतरेतरतः पार्थान् भेदयन्त्वनुरागतः ॥ ८ ॥

अथवा कुछ ऐसे मनुष्य भेजे जायँ, जो उपाय ढूँढ निकालनेमें चतुर तथा कार्यकुशल हों और प्रेमपूर्वक बातें करके कुन्तीपुत्रोंमें परस्पर फूट डाल दें ॥ ८ ॥

व्युत्थापयन्तु वा कृष्णां बहुत्वात् सुकरं हि तत् ।
अथवा पाण्डवांस्तस्यां भेदयन्तु ततश्च ताम् ॥ ९ ॥

अथवा कृष्णाको ही इस प्रकार बहका दें कि वह अपने पतियोंका परित्याग कर दे। अनेक पति होनेके कारण (उसका किसीमें भी सुदृढ़ अनुराग नहीं हो सकता; अतः) उनका परित्याग कराना सरल है। अथवा वे लोग पाण्डवोंको ही द्रौपदीकी ओरसे विलग कर दें और ऐसा होनेपर द्रौपदीको उनकी ओरसे विरक्त बना दें ॥ ९ ॥

भीमसेनस्य वा राजन्नुपायकुशलैर्नरैः ।
मृत्युर्विधीयतां छन्नैः स हि तेषां बलाधिकः ॥ १० ॥

अथवा राजन् ! उपायकुशल मनुष्य छिपे रहकर भीमसेनका ही वध कर डालें; क्योंकि वही पाण्डवोंमें सबसे अधिक बलवान् है ॥ १० ॥

तमाश्रित्य हि कौन्तेयः पुरा चास्मान् न मन्यते ।
स हि तीक्ष्णश्च शूरश्च तेषां चैव परायणम् ॥ ११ ॥

उसीका आश्रय लेकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर हमें कुछ नहीं समझते। वह बड़े तीखे स्वभावके, शूरवीर है। वही पाण्डवोंका सबसे बड़ा सहारा है ॥

तस्मिंस्त्वभिहते राजन् हतोत्साहा हतौजसः ।
यतिष्यन्ते न राज्याय स हि तेषां व्यपाश्रयः ।

राजन् ! उसके मारे जानेपर पाण्डवोंका बल और नष्ट हो जायगा। फिर वे राज्य लेनेका प्रयत्न नहीं भीमसेन ही उनका सबसे बड़ा आश्रय है ॥ १२ ॥

अजेयो ह्यर्जुनः संख्ये पृष्ठगोपे वृकोदरे ।
तमृते फाल्गुनो युद्धे राधेयस्य न पादभाक् ।

भीमसेनको पृष्ठरक्षक पाकर ही अर्जुन युद्धमें बने हुए हैं। यदि भीम न हों तो वे रणभूमिमें एक चौथाईके बराबर भी नहीं हो सकेंगे ॥ १३ ॥

ते जानानास्तु दौर्बल्यं भीमसेनमृते महत् ।
अस्मान् बलवतो ज्ञात्वा न यतिष्यन्ति दुर्बलाः ।

भीमसेनके बिना अपनी बहुत बड़ी दुर्बलताका करके वे दुर्बल पाण्डव हमें अपनेसे बलवान् जान लेनेका प्रयत्न नहीं करेंगे ॥ १४ ॥

इहागतेषु वा तेषु निदेशवशवर्तिषु ।
प्रवर्तिष्यामहे राजन् यथाशास्त्रं निबर्हणम् ।

राजन् ! अथवा यदि वे यहाँ आकर हमारे अधीन होकर रहेंगे, तब हम नीतिशास्त्रके अनुसार विनाशके कार्यमें लग जायँगे ॥ १५ ॥

अथवा दर्शनीयाभिः प्रमदाभिर्विलोभ्यताम् ।
एकैकस्तत्र कौन्तेयस्ततः कृष्णा विरज्यताम् ।

अथवा देखनेमें सुन्दर युवती स्त्रियोंद्वारा पाण्डवको लुभाया जाय और इस प्रकार कृष्णाका मन ओरसे फेर दिया जाय ॥ १६ ॥

प्रेष्यतां चैव राधेयस्तेषामागमनाय वै ।
तैस्तैः प्रकारैः संनीय पात्यन्तामाप्तकारिभिः ।

अथवा पाण्डवोंको यहाँ बुला लानेके लिये राधानन्दन कर्णको भेजा जाय और यहाँ आकर विश्वसनीय कार्यकर्ताओंद्वारा विभिन्न उपायोंसे उन सबको मार गिराया जाय ।

एतेषामप्युपायानां यस्ते निर्दोषवान् मतः ।
तस्य प्रयोगमातिष्ठ पुरा कालोऽतिवर्तते ।
यावद्ध्यकृतविश्वासा द्रुपदे पार्थिवर्षभे ।
तावदेव हि ते शक्या न शक्यास्तु ततः परम् ॥

पिताजी ! इन उपायोंमेंसे जो भी आपको निर्दोष जान पड़े, उसीसे पहले काम लीजिये; क्योंकि समय बीता जा रहा है। जबतक वे राजाओंमें श्रेष्ठ द्रुपदपर उनका पूरा विश्वास नहीं जम जाता, तभीतक उन्हें मारा जा सकता है। पूरा विश्वास जम जानेपर तो उन्हें मारना असम्भव हो जायगा ॥ १८-१९ ॥

एषा मम मतिस्तात निग्रहाय प्रवर्तते।
साध्वी वा यदि वासाध्वी किं वा राधेय मन्यसे॥

पिताजी ! शत्रुओंको वशमें करनेके लिये ये ही उपाय मेरी बुद्धिमें आते हैं; मेरा यह विचार भला है या बुरा, यह आप जानें अथवा कर्ण ! तुम्हारी क्या राय है ? ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि दुर्योधनवाक्ये द्विशततमोऽध्यायः ॥ २०० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें दुर्योधनवाक्यविषयक दो सौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०० ॥

एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंको पराक्रमसे दबानेके लिये कर्णकी सम्मति

कर्ण उवाच

दुर्योधन तव प्रज्ञा न सम्यगिति मे मतिः।
न ह्युपायेन ते शक्याः पाण्डवाः कुरुवर्धन ॥ १ ॥

कर्णने कहा—दुर्योधन ! मेरे विचारसे तुम्हारी यह सलाह ठीक नहीं है। कुरुवर्धन ! ऐसे किसी भी उपायसे पाण्डवोंको वशमें नहीं किया जा सकता ॥ १ ॥

पूर्वमेव हि ते सूक्ष्मैरुपायैर्यतितास्त्वया।
निग्रहीतुं तदा वीर न चैव शकितास्त्वया ॥ २ ॥
इहैव वर्तमानास्ते समीपे तव पार्थिव।
अजातपक्षाः शिशवः शकिता नैव बाधितुम् ॥ ३ ॥

वीर ! पहले भी तुमने अनेक गुप्त उपायोंद्वारा पाण्डवोंको दबानेकी चेष्टा की है, परंतु उनपर तुम्हारा वश नहीं चल सका। भूपाल ! वे जब बच्चे थे और यहीं तुम्हारे पास रहते थे, उस समय उनके पक्षमें कोई नहीं था, तब भी तुम उन्हें बाधा पहुँचानेमें सफल न हो सके ॥ २-३ ॥

जातपक्षा विदेशस्था विवृद्धाः सर्वशोऽद्य ते।
नोपायसाध्याः कौन्तेया ममैषा मतिरच्युत ॥ ४ ॥

अब तो वे विदेशमें हैं, उनके पक्षमें बहुत-से लोग हो गये हैं और सब प्रकारसे उनकी बढ़ती हो गयी है। अतः अब वे कुन्तीकुमार तुम्हारे बताये हुए उपायोंद्वारा वशमें आनेवाले नहीं हैं। पुरुषार्थसे कभी च्युत न होनेवाले वीर ! मेरा तो यही विचार है ॥ ४ ॥

न च ते व्यसनैर्योक्तुं शक्या दिष्टकृतेन च।
शकिताश्चेप्सवश्चैव पितृपैतामहं पदम् ॥ ५ ॥

अब वे संकटमें नहीं डाले जा सकते। भाग्यने उन्हें शक्तिशाली बना दिया है और उनमें अपने बाप-दादोंके राज्यको प्राप्त करनेकी अभिलाषा जाग उठी है ॥ ५ ॥

परस्परेण भेदश्च नाधातुं तेषु शक्यते।
एकस्यां ये रताः पत्न्यां न भिद्यन्ते परस्परम् ॥ ६ ॥

उनमें आपसमें भी फूट डालना सम्भव नहीं है। जो (एकमत होकर) एक ही पत्नीमें अनुरक्त हैं, उनमें परस्पर विरोध नहीं हो सकता ॥ ६ ॥

न चापि कृष्णा शक्येत तेभ्यो भेदयितुं परैः।
परिद्यूनान् वृतवती किमुताद्य मृजावतः ॥ ७ ॥

कृष्णाको भी उनकी ओरसे फूट डालकर विलग करना असम्भव है; क्योंकि जब पाण्डवलोग भिक्षाभोजी होनेके कारण दीन-हीन थे, उस अवस्थामें कृष्णाने उनका वरण किया है; अब तो वे सम्पत्तिशाली होकर स्वच्छ एवं सुन्दर वेषमें रहते हैं, अब वह क्यों उनकी ओरसे विरक्त होगी ?

ईप्सितश्च गुणः स्त्रीणामेकस्या बहुभर्तृता।
तं च प्राप्तवती कृष्णा न सा भेदयितुं क्षमा ॥ ८ ॥

प्रायः स्त्रियोंका यह अभीष्ट गुण है कि एक स्त्रीमें अनेक पुरुषोंसे सम्बन्ध स्थापित करनेकी रुचि हो। पाण्डवोंके साथ रहनेमें कृष्णाको यह लाभ स्वतः प्राप्त है; अतः उसके मनमें भेद नहीं उत्पन्न किया जा सकता ॥ ८ ॥

आर्यव्रतश्च पाञ्चाल्यो न स राजा धनप्रियः।
न संत्यक्ष्यति कौन्तेयान् राज्यदानैरपि ध्रुवम् ॥ ९ ॥

पाञ्चालराज द्रुपद श्रेष्ठ व्रतका पालन करनेवाले हैं। वे धनके लोभी नहीं हैं। अतः तुम अपना सारा राज्य दे दो, तो भी यह निश्चय है कि वे कुन्ती-पुत्रोंका परित्याग नहीं करेंगे॥

यथास्य पुत्रो गुणवाननुरक्तश्च पाण्डवान्।
तस्मान्नोपायसाध्यांस्तानहं मन्ये कथंचन ॥ १० ॥

इसी प्रकार उनका पुत्र धृष्टद्युम्न भी गुणवान् तथा पाण्डवोंका प्रेमी है। अतः मैं उन्हें पूर्वोक्त उपायोंसे वशमें करने योग्य कदापि नहीं मान सकता ॥ १० ॥

इदं त्वद्य क्षमं कर्तुमस्माकं पुरुषर्षभ।
यावन्न कृतमूलास्ते पाण्डवेया विशाम्पते ॥ ११ ॥
तावत् प्रहरणीयास्ते तत् तुभ्यं तात रोचताम्।
अस्मत्पक्षो महान् यावद् यावत् पाञ्चालको लघुः।
तावत् प्रहरणं तेषां क्रियतां मा विचारय ॥ १२ ॥

राजन् ! इस समय हमारे लिये एक ही उपाय काममें लाने योग्य है; वे पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव जबतक अपनी जड़ नहीं जमा लेते, तभीतक उनपर प्रहार करना चाहिये। इसीसे वे काबूमें आ सकते हैं।' तात ! मैं समझता हूँ, तुम्हें भी यह राय पसंद होगी। जबतक हमारा

पक्ष बढ़ा-चढ़ा है, और जबतक पाञ्चालराजका बल हमसे कम है, तभीतक उनपर आक्रमण कर दिया जाय। इसमें दूसरा कुछ विचार न करो ॥ ११-१२ ॥

वाहनानि प्रभूतानि मित्राणि च कुलानि च।
यावन्न तेषां गान्धारे तावद् विक्रम पार्थिव ॥ १३ ॥

राजन्! गान्धारीनन्दन! जबतक पाण्डवोंके पास बहुत-से वाहन, मित्र और कुटुम्बी नहीं हो जाते, तभीतक तुम उनके ऊपर पराक्रम कर लो ॥ १३ ॥

यावच्च राजा पाञ्चाल्यो नोद्यमे कुरुते मनः।
सह पुत्रैर्महावीर्यैस्तावद् विक्रम पार्थिव ॥ १४ ॥

पृथ्वीपते! जबतक पाञ्चालनरेश अपने महापराक्रमी पुत्रोंके साथ हमारे ऊपर चढ़ाई करनेका विचार नहीं कर रहे हैं, तभीतक तुम अपना बल-विक्रम प्रकट कर लो ॥ १४ ॥

यावन्नायाति वार्ष्णेयः कर्षन् यादववाहिनीम्।
राज्यार्थे पाण्डवेयानां पाञ्चालसदनं प्रति ॥ १५ ॥

इसके लिये तुम्हें तभीतक अवसर है, जबतक कि वृष्णिकुलनन्दन श्रीकृष्ण यदुवंशियोंकी सेना साथ लिये पाण्डवोंको राज्य दिलानेके उद्देश्यसे पाञ्चालराजके घरपर नहीं आ जाते ॥ १५ ॥

वसूनि विविधान् भोगान् राज्यमेव च केवलम्।
नात्याज्यमस्ति कृष्णस्य पाण्डवार्थे कथंचन ॥ १६ ॥

पाण्डवोंके लिये श्रीकृष्णकी ओरसे धन-रत्न, भाँति-भाँतिके भोग तथा सारा राज्य—कुछ भी अदेय नहीं है ॥

विक्रमेण मही प्राप्ता भरतेन महात्मना।
विक्रमेण च लोकांस्त्रीञ्जितवान् पाकशासनः ॥ १७ ॥

महात्मा भरतने पराक्रमसे ही यह पृथ्वी प्राप्त की। इन्द्रने पराक्रमसे ही तीनों लोकोंपर विजय पायी ॥ १७ ॥

विक्रमं च प्रशंसन्ति क्षत्रियस्य विशाम्पते।
स्वको हि धर्मः शूराणां विक्रमः पार्थिवर्षभ ॥ १८ ॥

राजन्! क्षत्रियके लिये पराक्रमकी ही प्रशंसा की जाती है। नृपश्रेष्ठ! पराक्रम करना ही शूरवीरोंका स्वधर्म है ॥ १८ ॥

ते बलेन वयं राजन् महता चतुरङ्गिणा।
प्रमथ्य द्रुपदं शीघ्रमानयामेह पाण्डवान् ॥ १९ ॥

राजन्! हमलोग विशाल चतुरङ्गिणी सेनाद्वारा द्रुपदको कुचलकर शीघ्र ही यहाँ पाण्डवोंको कैद क...

न हि साम्ना न दानेन न भेदेन च पाण्डवाः।
शक्याः साधयितुं तस्माद् विक्रमेणैव ताञ्जहि ॥

न सामसे, न दानसे और न भेदकी नीतिसे पाण्डवोंको ... किया जा सकता है। अतः उन्हें पराक्रमसे ही न...

तान् विक्रमेण जित्वेमामखिलां भुङ्क्ष्व मेदिनीम्।
अतो नान्यं प्रपश्यामि कार्योपायं जनाधिप ॥

पराक्रमसे पाण्डवोंको जीतकर इस सारी पृथ्वीको भोगो। नरेश्वर! इसके सिवा दूसरा कोई ... उपाय मैं नहीं देखता ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा तु राधेयवचो धृतराष्ट्रः प्रतापवान्।
अभिपूज्य ततः पश्चादिदं वचनमब्रवीत् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ... सुनकर प्रतापी धृतराष्ट्रने उसकी बड़ी सराहना ... तदनन्तर इस प्रकार कहा—॥ २२ ॥

उपपन्नं महाप्राज्ञे कृतास्त्रे सूतनन्दने।
त्वयि विक्रमसंपन्नमिदं वचनमीदृशम् ॥

'कर्ण! तुम परम बुद्धिमान्, अस्त्र-शस्त्रोंके ... सूतकुलको आनन्दित करनेवाले हो। ऐसा ... वचन तुम्हारे ही योग्य है ॥ २३ ॥

भूय एव तु भीष्मश्च द्रोणो विदुर एव च।
युवां च कुरुतं बुद्धिं भवेद् या नः सुखोदया ॥

'परंतु मेरा विचार है कि भीष्म, द्रोण, विदुर और ... एक साथ बैठकर पुनः विचार कर लो तथा कोई ... सोच निकालो, जो भविष्यमें भी हमें सुख देनेवाली हो ॥

तत आनाय्य तान् सर्वान् मन्त्रिणः सुमहायशाः।
धृतराष्ट्रो महाराज मन्त्रयामास वै तदा ॥

महाराज! तदनन्तर महायशस्वी धृतराष्ट्रने भीष्म आदि सम्पूर्ण मन्त्रियोंको बुलवाकर उनके साथ ... विचार आरम्भ किया ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि धृतराष्ट्रमन्त्रणे एकाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें धृतराष्ट्रमन्त्रणासम्बन्धी दो सौ पहला अध्याय पूरा हुआ ॥

द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

भीष्मकी दुर्योधनसे पाण्डवोंको आधा राज्य देनेकी सलाह

भीष्म उवाच

न रोचते विग्रहो मे पाण्डुपुत्रैः कथंचन।
यथैव धृतराष्ट्रो मे तथा पाण्डुरसंशयम् ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—मुझे पाण्डवोंके साथ विरोध ... किसी प्रकार भी पसंद नहीं है। मेरे लिये जैसे धृतराष्ट्र ... वैसे ही पाण्डु—इसमें संशय नहीं है ॥ १ ॥

गान्धार्याश्च यथा पुत्रास्तथा कुन्तीसुता मम ।
यथा च मम ते रक्ष्या धृतराष्ट्र तथा तव ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र ! जैसे गान्धारीके पुत्र मेरे अपने हैं, उसी प्रकार कुन्तीके पुत्र भी हैं; इसीलिये जैसे मुझे पाण्डवोंकी रक्षा करनी चाहिये, वैसे तुम्हें भी ॥ २ ॥

यथा च मम राज्ञश्च तथा दुर्योधनस्य ते ।
तथा कुरूणां सर्वेषामन्येषामपि पार्थिव ॥ ३ ॥

भूपाल ! मेरे और तुम्हारे लिये जैसे पाण्डवोंकी रक्षा आवश्यक है, वैसे ही दुर्योधन तथा अन्य समस्त कौरवोंको भी उनकी रक्षा करनी चाहिये ॥ ३ ॥

एवं गते विग्रहं तैर्न रोचे
संधाय वीरैर्दीयतामर्धभूमिः ।
तेषामपीदं प्रपितामहानां
राज्यं पितुश्चैव कुरूत्तमानाम् ॥ ४ ॥

ऐसी दशामें मैं पाण्डवोंके साथ लड़ाई-झगड़ा पसंद नहीं करता । उन वीरोंके साथ संधि करके उन्हें आधा राज्य दे दिया जाय । (दुर्योधनकी ही भाँति) उन कुरुश्रेष्ठ पाण्डवोंके भी बाप-दादोंका यह राज्य है ॥ ४ ॥

दुर्योधन यथा राज्यं त्वमिदं तात पश्यसि ।
मम पैतृकमित्येवं तेऽपि पश्यन्ति पाण्डवाः ॥ ५ ॥

तात दुर्योधन ! जैसे तुम इस राज्यको अपनी पैतृक सम्पत्तिके रूपमें देखते हो, उसी प्रकार पाण्डव भी देखते हैं ॥ ५ ॥

यदि राज्यं न ते प्राप्ताः पाण्डवेया यशस्विनः ।
कुत एव तवापीदं भारतस्यापि कस्यचित् ॥ ६ ॥

यदि यशस्वी पाण्डव इस राज्यको नहीं पा सकते तो तुम्हें अथवा भरतवंशके किसी अन्य पुरुषको भी यह कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ ६ ॥

अधर्मेण च राज्यं त्वं प्राप्तवान् भरतर्षभ ।
तेऽपि राज्यमनुप्राप्ताः पूर्वमेवेति मे मतिः ॥ ७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुमने अधर्मपूर्वक इस राज्यको हथिया लिया है; परंतु मेरा विचार यह है कि तुमसे पहले ही वे भी इस राज्यको पा चुके थे ॥ ७ ॥

मधुरेणैव राज्यस्य तेषामर्धं प्रदीयताम् ।
एतद्धि पुरुषव्याघ्र हितं सर्वजनस्य च ॥ ८ ॥

पुरुषसिंह ! प्रेमपूर्वक ही उन्हें आधा राज्य दे दो ! इसीमें सब लोगोंका हित है ॥ ८ ॥

अतोऽन्यथा चेत् क्रियते न हितं नो भविष्यति ।
तवाप्यकीर्तिः सकला भविष्यति न संशयः ॥ ९ ॥

यदि इसके विपरीत कुछ किया जायगा तो हमारी भलाई नहीं हो सकती और तुम्हें भी पूरा-पूरा अपयश मिलेगा—इसमें संशय नहीं है ॥ ९ ॥

कीर्तिरक्षणमातिष्ठ कीर्तिर्हि परमं बलम् ।
नष्टकीर्तेर्मनुष्यस्य जीवितं ह्यफलं स्मृतम् ॥ १० ॥

अतः अपनी कीर्तिकी रक्षा करो, कीर्ति ही श्रेष्ठ बल है; जिसकी कीर्ति नष्ट हो जाती है, उस मनुष्यका जीवन निष्फल माना गया है ॥ १० ॥

यावत्कीर्तिर्मनुष्यस्य न प्रणश्यति कौरव ।
तावज्जीवति गान्धारे नष्टकीर्तिस्तु नश्यति ॥ ११ ॥

गान्धारीनन्दन ! कुरुश्रेष्ठ ! मनुष्यकी कीर्ति जबतक नष्ट नहीं होती, तभीतक वह जीवित है; जिसकी कीर्ति नष्ट हो गयी, उसका तो जीवन ही नष्ट हो जाता है ॥ ११ ॥

तमिमं समुपातिष्ठ धर्मं कुरुकुलोचितम् ।
अनुरूपं महाबाहो पूर्वेषामात्मनः कुरु ॥ १२ ॥

महाबाहो ! कुरुकुलके लिये उचित इस उत्तम धर्मका पालन करो । अपने पूर्वजोंके अनुरूप कार्य करते रहो ॥ १२ ॥

दिष्ट्या ध्रियन्ते पार्था हि दिष्ट्या जीवति सा पृथा ।
दिष्ट्या पुरोचनः पापो न सकामोऽत्ययं गतः ॥ १३ ॥

सौभाग्यकी बात है कि कुन्तीके पुत्र जीवित हैं; यह भी सौभाग्यकी ही बात है कि कुन्ती भी मरी नहीं है और सबसे बड़े सौभाग्यका विषय यह है कि पापी पुरोचन अपने (बुरे) इरादेमें सफल न होकर स्वयं नष्ट हो गया ॥ १३ ॥

यदा प्रभृति दग्धास्ते कुन्तिभोजसुतासुताः ।
तदा प्रभृति गान्धारे न शक्नोम्यभिवीक्षितुम् ॥ १४ ॥
लोके प्राणभृतां कंचिच्छ्रुत्वा कुन्तीं तथागताम् ।
न चापि दोषेण तथा लोको मन्येत् पुरोचनम् ।
यथा त्वां पुरुषव्याघ्र लोको दोषेण गच्छति ॥ १५ ॥

गान्धारीकुमार ! जबसे मैंने सुना कि कुन्तीके पुत्र लाक्षागृहकी आगमें जल गये तथा कुन्ती भी उसी अवस्थाको प्राप्त हुई है, तभीसे मैं (लज्जाके मारे) जगत्‌के किसी भी प्राणीकी ओर आँख उठाकर देख नहीं सकता था । नरश्रेष्ठ ! लोग इस कार्यके लिये पुरोचनको उतना दोषी नहीं मानते, जितना तुम्हें दोषी समझते हैं ॥ १४-१५ ॥

तदिदं जीवितं तेषां तव किल्बिषनाशनम् ।
सम्मन्तव्यं महाराज पाण्डवानां च दर्शनम् ॥ १६ ॥

अतः महाराज ! पाण्डवोंका यह जीवित रहना और उनका दर्शन होना वास्तवमें तुम्हारे ऊपर लगे हुए कलङ्कका नाश करनेवाला है, ऐसा मानना चाहिये ॥ १६ ॥

न चापि तेषां वीराणां जीवतां कुरुनन्दन ।
पित्र्योंऽशः शक्य आदातुमपि वज्रभृता स्वयम् ॥ १७ ॥

कुरुनन्दन ! पाण्डववीरोंके जीते-जी उनका पैतृक अंश साक्षात् वज्रधारी इन्द्र भी नहीं ले सकते ॥ १७ ॥

ते सर्वेऽवस्थिता धर्मे सर्वे चैवैकचेतसः ।
अधर्मेण निरस्ताश्च तुल्ये राज्ये विशेषतः ॥ १८ ॥

वे सब धर्ममें स्थित हैं; उन सबका एक चित्त—एक-

विचार है। इस राज्यपर तुम्हारा और उनका समान स्वत्व है, तो भी उनके साथ विशेष अधर्मपूर्ण बर्ताव करके उन्हें यहाँसे हटाया गया है ॥ १८ ॥

यदि धर्मस्त्वया कार्यो यदि कार्यं प्रियं च मे।
क्षेमं च यदि कर्तव्यं तेषामर्धं प्रदीयताम् ॥ १९ ॥

यदि तुम्हें धर्मके अनुकूल चलना है, यदि मेरा प्रिय करना है और यदि (संसारमें) भलाई करनी है, तो आधा राज्य दे दो ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि भीष्मवाक्ये द्व्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक दो सौ दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥

त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्रोणाचार्यकी पाण्डवोंको उपहार भेजने और बुलानेकी सम्मति तथा कर्णके द्वारा उनकी सम्मतिका विरोध करनेपर द्रोणाचार्यकी फटकार

द्रोण उवाच

मन्त्राय समुपानीतैर्धृतराष्ट्र हितैर्नृप।
धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च वाच्यमित्यनुशुश्रुम ॥ १ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—राजा धृतराष्ट्र ! सलाह लेनेके लिये बुलाये हुए हितैषियोंको उचित है कि वे ऐसी बात कहें, जो धर्म, अर्थ और यशकी प्राप्ति करानेवाली हो—यह हम परम्परासे सुनते आये हैं ॥ १ ॥

ममाप्येषा मतिस्तात या भीष्मस्य महात्मनः।
संविभज्यास्तु कौन्तेया धर्म एष सनातनः ॥ २ ॥

तात ! मेरी भी वही सम्मति है, जो महात्मा भीष्मकी है। कुन्तीके पुत्रोंको आधा राज्य बाँट देना चाहिये, यही परम्परासे चला आनेवाला धर्म है ॥ २ ॥

प्रेष्यतां द्रुपदायाशु नरः कश्चित् प्रियंवदः।
बहुलं रत्नमादाय तेषामर्थाय भारत ॥ ३ ॥

भारत ! द्रुपदके पास शीघ्र ही कोई प्रिय वचन बोलनेवाला मनुष्य भेजा जाय और वह पाण्डवोंके लिये बहुत-से रत्नोंकी भेंट लेकर जाय ॥ ३ ॥

मिथः कृत्यं च तस्मै स आदाय वसु गच्छतु।
वृद्धिं च परमां ब्रूयात् त्वत्संयोगोद्भवां तथा ॥ ४ ॥
सम्प्रीयमाणं त्वां ब्रूयाद् राजन् दुर्योधनं तथा।
असकृद् द्रुपदे चैव धृष्टद्युम्ने च भारत ॥ ५ ॥

राजा द्रुपदके पास बहूके लिये वरपक्षकी ओरसे उसे धन और रत्न लेकर जाना चाहिये। भारत ! उस पुरुषको राजा द्रुपद और धृष्टद्युम्नके सामने बार-बार यह कहना चाहिये कि आपके साथ सम्बन्ध हो जानेसे राजा धृतराष्ट्र और दुर्योधन अपना बड़ा अभ्युदय मान रहे हैं और उन्हें इस वैवाहिक सम्बन्धसे बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ ४-५ ॥

उचितत्वं प्रियत्वं च योगस्यापि च वर्णयेत्।
पुनः पुनश्च कौन्तेयान् माद्रीपुत्रौ च सान्त्वयन् ॥ ६ ॥

इसी प्रकार वह कुन्ती और माद्रीके पुत्रोंको सान्त्वना देते हुए बार-बार इस सम्बन्धके उचित और प्रिय होनेकी चर्चा करे ॥ ६ ॥

हिरण्मयानि शुभ्राणि बहून्याभरणानि च।
वचनात् तव राजेन्द्र द्रौपद्याः सम्प्रयच्छतु ॥ ७ ॥

राजेन्द्र ! वह आपकी आज्ञासे द्रौपदीके लिये बहुत-से सुन्दर सुवर्णमय आभूषण अर्पित करे ॥ ७ ॥

तथा द्रुपदपुत्राणां सर्वेषां भरतर्षभ।
पाण्डवानां च सर्वेषां कुन्त्या युक्तानि यानि च ॥ ८ ॥

भरतश्रेष्ठ ! द्रुपदके सभी पुत्रों, समस्त पाण्डवों और कुन्तीके लिये भी जो उपयुक्त आभूषण आदि हों, उन्हें भी वह अर्पित करे ॥ ८ ॥

एवं सान्त्वसमायुक्तं द्रुपदं पाण्डवैः सह।
उक्त्वा सोऽनन्तरं ब्रूयात् तेषामागमनं प्रति ॥ ९ ॥

इस प्रकार (उपहार देनेके पश्चात्) पाण्डवोंसहित द्रुपदसे सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर अन्तमें वह पाण्डवोंके हस्तिनापुरमें आनेके विषयमें प्रस्ताव करे ॥ ९ ॥

अनुज्ञातेषु वीरेषु बलं गच्छतु शोभनम्।
दुःशासनो विकर्णश्चाप्यानेतुं पाण्डवानिह ॥ १० ॥

जब द्रुपदकी ओरसे पाण्डववीरोंको यहाँ आनेकी आज्ञा मिल जाय, तब एक अच्छी-सी सेना साथ ले दुःशासन और विकर्ण पाण्डवोंको यहाँ ले आनेके लिये जायँ ॥ १० ॥

ततस्ते पाण्डवाः श्रेष्ठाः पूज्यमानाः सदा त्वया।
प्रकृतीनामनुमते पदे स्थास्यन्ति पैतृके ॥ ११ ॥

यहाँ आनेके पश्चात् वे श्रेष्ठ पाण्डव आपके द्वारा सदा आदर-सत्कार प्राप्त करते हुए प्रजाकी इच्छाके अनुसार अपने पैतृक राज्यपर प्रतिष्ठित होंगे ॥ ११ ॥

एतत् तव महाराज पुत्रेषु तेषु चैव हि।
वृत्तमौपयिकं मन्ये भीष्मेण सह भारत ॥ १२ ॥

भरतवंशी महाराज ! आपको अपने पुत्रों और पाण्डवोंके प्रति उपर्युक्त व्यवहार ही करना चाहिये—भीष्मजीके साथ मैं भी यही उचित समझता हूँ ॥ १२ ॥

कर्ण उवाच

योजितावर्थमानाभ्यां सर्वकार्येष्वनन्तरौ।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः किमद्भुततरं ततः ॥ १३ ॥

कर्ण बोला—महाराज! भीष्मजी और द्रोणाचार्यको आपकी ओरसे सदा धन और सम्मान प्राप्त होता रहता है। इन्हें आप अपना अन्तरङ्ग सुहृद् समझकर सभी कार्योंमें इनकी सलाह लेते हैं। फिर भी यदि ये आपके भलेकी सलाह न दें तो इससे बढ़कर आश्चर्यकी बात और क्या हो सकती है?॥ १३ ॥

दुष्टेन मनसा यो वै प्रच्छन्नेनान्तरात्मना।
ब्रूयान्निःश्रेयसं नाम कथं कुर्यात् सतां मतम् ॥ १४ ॥

जो अपने अन्तःकरणके दुर्भावको छिपाकर, दोषयुक्त हृदयसे कोई सलाह देता है, वह अपने ऊपर विश्वास करनेवाले साधुपुरुषोंके अभीष्ट कल्याणकी सिद्धि कैसे कर सकता है?

न मित्राण्यर्थकृच्छ्रेषु श्रेयसे चेतराय वा।
विधिपूर्वं हि सर्वस्य दुःखं वा यदि वा सुखम् ॥ १५ ॥

मित्र भी अर्थसंकटके समय अथवा किसी कामकी कठिनाई आ पड़नेपर न तो कल्याण कर सकते हैं और न अकल्याण ही। सभीके लिये दुःख या सुखकी प्राप्ति भाग्यके अनुसार ही होती है ॥ १५ ॥

कृतप्रज्ञोऽकृतप्रज्ञो बालो वृद्धश्च मानवः।
ससहायोऽसहायश्च सर्वं सर्वत्र विन्दति ॥ १६ ॥

मनुष्य बुद्धिमान् हो या मूर्ख, बालक हो या वृद्ध तथा सहायकोंके साथ हो या असहाय, वह दैवयोगसे सर्वत्र सब कुछ पा लेता है ॥ १६ ॥

श्रूयते हि पुरा कश्चिदम्बुवीच इतीश्वरः।
आसीद् राजगृहे राजा मागधानां महीक्षिताम् ॥ १७ ॥

सुना है, पहले राजगृहमें अम्बुवीच नामसे प्रसिद्ध एक राजा राज्य करते थे। वे मगध राजाओंमेंसे एक थे ॥ १७ ॥

स हीनः करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमो नृपः।
अमात्यसंस्थः सर्वेषु कार्येष्वेवाभवत् तदा ॥ १८ ॥

उनकी कोई भी इन्द्रिय कार्य करनेमें समर्थ नहीं थी, वे (श्वासके रोगसे पीड़ित हो) एक स्थानपर पड़े-पड़े लंबी साँसें खींचा करते थे; अतः प्रत्येक कार्यमें उन्हें मन्त्रीके ही अधीन रहना पड़ता था ॥ १८ ॥

तस्यामात्यो महाकर्णिर्बभूवैकेश्वरस्तदा।
स लब्धबलमात्मानं मन्यमानोऽवमन्यते ॥ १९ ॥

उनके मन्त्रीका नाम था महाकर्णि। उन दिनों वही वहाँका एकमात्र राजा बन बैठा था। उसे सैनिक बल प्राप्त था, अतः अपनेको सबल मानकर राजाकी अवहेलना करता था ॥

स राज्ञ उपभोग्यानि स्त्रियो रत्नधनानि च।
आददे सर्वशो मूढ ऐश्वर्यं च स्वयं तदा ॥ २० ॥

वह मूढ मन्त्री राजाके उपभोगमें आने योग्य स्त्री, रत्न, धन तथा ऐश्वर्यको भी स्वयं ही भोगता था ॥ २० ॥

तदादाय च लुब्धस्य लोभाल्लोभोऽभ्यवर्धत।
तथा हि सर्वमादाय राज्यमस्य जिहीर्षति ॥ २१ ॥

वह सब पाकर उस लोभीका लोभ उत्तरोत्तर बढ़ता गया। इस प्रकार सारी चीजें लेकर वह उनके राज्यको भी हड़प लेनेकी इच्छा करने लगा ॥ २१ ॥

हीनस्य करणैः सर्वैरुच्छ्वासपरमस्य च।
यतमानोऽपि तद् राज्यं न शशाकेति नः श्रुतम् ॥ २२ ॥

यद्यपि राजा सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी शक्तिसे रहित होनेके कारण केवल ऊपरको साँस ही खींचा करता था, तथापि अत्यन्त प्रयत्न करनेपर भी वह दुष्ट मन्त्री उनका राज्य न ले सका—यह बात हमने सुन रक्खी है ॥ २२ ॥

किमन्यद् विहिता नूनं तस्य सा पुरुषेन्द्रता।
यदि ते विहितं राज्यं भविष्यति विशाम्पते ॥ २३ ॥
मिषतः सर्वलोकस्य स्थास्यते त्वयि तद् ध्रुवम्।
अतोऽन्यथा चेद् विहितं यतमानो न लप्स्यसे ॥ २४ ॥

राजाका राजत्व भाग्यसे ही सुरक्षित था (उनके प्रयत्नसे नहीं;) (अतः) भाग्यसे बढ़कर दूसरा सहारा क्या हो सकता है? महाराज! यदि आपके भाग्यमें राज्य बदा होगा तो सब-लोगोंके देखते-देखते वह निश्चय ही आपके पास रहेगा और यदि भाग्यमें राज्यका विधान नहीं है, तो आप यत्न करके भी उसे नहीं पा सकेंगे ॥ २३-२४ ॥

एवं विद्वन्नुपादत्स्व मन्त्रिणां साध्वसाधुताम्।
दुष्टानां चैव बोद्धव्यमदुष्टानां च भाषितम् ॥ २५ ॥

राजन्! आप समझदार हैं, अतः इसी प्रकार विचार करके अपने मन्त्रियोंकी साधुता और असाधुताको समझ लीजिये। किसने दूषित हृदयसे सलाह दी है और किसने दोषशून्य हृदयसे, इसे भी जान लेना चाहिये ॥ २५ ॥

द्रोण उवाच

विद्म ते भावदोषेण यदर्थमिदमुच्यते।
दुष्ट पाण्डवहेतोस्त्वं दोषमाख्यापयस्युत ॥ २६ ॥

द्रोणाचार्यने कहा—ओ दुष्ट! तू क्यों ऐसी बात कहता है, यह हम जानते हैं। पाण्डवोंके लिये तेरे हृदयमें जो द्वेष संचित है, उसीसे प्रेरित होकर तू मेरी बातोंमें दोष बता रहा है ॥ २६ ॥

हितं तु परमं कर्ण ब्रवीमि कुलवर्धनम्।
अथ त्वं मन्यसे दुष्टं ब्रूहि यत् परमं हितम् ॥ २७ ॥

कर्ण! मैं अपनी समझसे कुरुकुलकी वृद्धि करनेवाली परम हितकी बात कहता हूँ। यदि तू इसे दोषयुक्त मानता

है तो बता, क्या करनेसे कौरवोंका परम हित होगा ? ॥ २७ ॥

अतोऽन्यथा चेत् क्रियते यद् ब्रवीमि परं हितम्।
कुरवो वै विनङ्क्ष्यन्ति नचिरेणैव मे मतिः ॥ २८ ॥

मैं अत्यन्त हितकी बात बता रहा हूँ। यदि इसके विपरीत कुछ किया जायगा तो कौरवोंका शीघ्र ही विनाश हो जायगा—ऐसा मेरा मत है ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि द्रोणवाक्ये त्र्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें द्रोणवाक्य-विषयक दो सौ तीसरा अध्याय पूरा हुआ॥

चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः

विदुरजीकी सम्मति—द्रोण और भीष्मके वचनोंका ही समर्थन

विदुर उवाच

राजन् निःसंशयं श्रेयो वाच्यस्त्वमसि बान्धवैः।
न त्वशुश्रूषमाणे वै वाक्यं सम्प्रतितिष्ठति ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—राजन्! आपके (हितैषी) बान्धवोंका यह कर्तव्य है कि वे आपको संदेहरहित हितकी बात बतायें। परंतु आप सुनना नहीं चाहते, इसलिये आपके भीतर उनकी कही हुई हितकी बात भी ठहर नहीं पा रही है ॥ १ ॥

प्रियं हितं च तद् वाक्यमुक्तवान् कुरुसत्तमः।
भीष्मः शांतनवो राजन् प्रतिगृह्णासि तन्न च ॥ २ ॥
तथा द्रोणेन बहुधा भाषितं हितमुत्तमम्।
तच्च राधासुतः कर्णो मन्यते न हितं तव ॥ ३ ॥

राजन्! कुरुश्रेष्ठ शंतनुनन्दन भीष्मने आपसे प्रिय और हितकी बात कही है; परंतु आप उसे ग्रहण नहीं कर रहे हैं। इसी प्रकार आचार्य द्रोणने अनेक प्रकारसे आपके लिये उत्तम हितकी बात बतायी है; किंतु राधानन्दन कर्ण उसे आपके लिये हितकर नहीं मानते ॥ २-३ ॥

चिन्तयंश्च न पश्यामि राजंस्तव सुहृत्तमम्।
आभ्यां पुरुषसिंहाभ्यां यो वा स्यात् प्रज्ञयाधिकः ॥ ४ ॥

महाराज! मैं बहुत सोचने-विचारनेपर भी आपके किसी ऐसे परमसुहृद् व्यक्तिको नहीं देखता, जो इन दोनों वीर महापुरुषोंसे बुद्धि या विचारशक्तिमें अधिक हो ॥ ४ ॥

इमौ हि वृद्धौ वयसा प्रज्ञया च श्रुतेन च।
समौ च त्वयि राजेन्द्र तथा पाण्डुसुतेषु च ॥ ५ ॥

राजेन्द्र! अवस्था, बुद्धि और शास्त्रज्ञान—सभी बातोंमें ये दोनों बढ़े-चढ़े हैं और आपमें तथा पाण्डवोंमें समान भाव रखते हैं ॥ ५ ॥

धर्मे चानवरौ राजन् सत्यतायां च भारत।
रामाद् दाशरथेश्चैव गयाच्चैव न संशयः ॥ ६ ॥

भरतवंशी नरेश! ये दोनों धर्म और सत्यवादितामें दशरथनन्दन श्रीराम तथा राजा गयसे कम नहीं हैं। मेरा यह कथन सर्वथा संशयरहित है ॥ ६ ॥

न चोक्तवन्तावश्रेयः पुरस्तादपि किंचन।
न चाप्यपकृतं किंचिदनयोर्लक्ष्यते त्वयि ॥ ७ ॥

उन्होंने आपके सामने भी (कभी) कोई ऐसी बात नहीं कही होगी, जो आपके लिये अनिष्टकारक सिद्ध हुई हो। इनके द्वारा आपका कुछ अपकार हुआ हो, ऐसा भी देखनेमें नहीं आता ॥ ७ ॥

तावुभौ पुरुषव्याघ्रावनागसि नृपे त्वयि।
न मन्त्रयेतां त्वच्छ्रेयः कथं सत्यपराक्रमौ ॥ ८ ॥

महाराज! आपने भी इनका कोई अपराध नहीं किया है; फिर ये दोनों सत्यपराक्रमी पुरुषसिंह आपको हितकर सलाह न दें, यह कैसे हो सकता है ॥ ८ ॥

प्रज्ञावन्तौ नरश्रेष्ठावस्मिँल्लोके नराधिप।
त्वन्निमित्तमतो नेमौ किंचिज्जिह्मं वदिष्यतः ॥ ९ ॥

नरेश्वर! ये दोनों इस लोकमें नरश्रेष्ठ और बुद्धिमान् हैं, अतः आपके लिये ये कोई कुटिलतापूर्ण बात नहीं कहेंगे।

इति मे नैष्ठिकी बुद्धिर्वर्तते कुरुनन्दन।
न चार्थहेतोर्धर्मज्ञौ वक्ष्यतः पक्षसंश्रितम् ॥ १० ॥

कुरुनन्दन! इनके विषयमें मेरा यह निश्चित विचार है कि ये दोनों धर्मके ज्ञाता महापुरुष हैं, अतः स्वार्थवश किसी एक ही पक्षको लाभ पहुँचानेवाली बात नहीं कहेंगे।

एतद्धि परमं श्रेयो मन्येऽहं तव भारत।
दुर्योधनप्रभृतयः पुत्रा राजन् यथा तव ॥ ११ ॥
तथैव पाण्डवेयास्ते पुत्रा राजन् न संशयः।
तेषु चेदहितं किंचिन्मन्त्रयेयुरतद्विदः ॥ १२ ॥
मन्त्रिणस्ते न च श्रेयः प्रपश्यन्ति विशेषतः।
अथ ते हृदये राजन् विशेषः स्वेषु वर्तते।
अन्तरस्थं विवृण्वाना श्रेयः कुर्युर्न ते ध्रुवम् ॥ १३ ॥

भारत! इन्होंने जो सम्मति दी है, इसीको मैं आपके लिये परम कल्याणकारक मानता हूँ। महाराज! जैसे दुर्योधन आदि आपके पुत्र हैं, वैसे ही पाण्डव भी आपके पुत्र हैं—इसमें संशय नहीं है। इस बातको न जाननेवाले कुछ मन्त्री यदि आपको पाण्डवोंके अहितकी सलाह दें तो यह कहना होगा कि वे मन्त्रीलोग, आपका कल्याण किस बातमें है, इसे विशेषरूपसे नहीं देख पा रहे हैं। राजन्! यदि आपके हृदयमें अपने पुत्रोंपर विशेष पक्षपात है तो आपके भीतरके

यदि द्रुपद भावको बाहर सबके सामने प्रकट करनेवाले लोग निश्चय ही आपका भला नहीं कर सकते ॥ ११-१३ ॥

एतदर्थमिमौ राजन् महात्मानौ महाद्युती ।
नोचतुर्विवृतं किंचिन्न ह्येष तव निश्चयः ॥ १४ ॥

महाराज ! इसीलिये ये दोनों महातेजस्वी महात्मा आपके सामने कुछ खोलकर नहीं कह सके हैं। इन्होंने आपको ठीक ही सलाह दी है; परंतु आप उसे निश्चितरूपसे स्वीकार नहीं करते हैं ॥ १४ ॥

यच्चाप्यशक्यतां तेषामाहतुः पुरुषर्षभौ ।
तत् तथा पुरुषव्याघ्र तव तद् भद्रमस्तु ते ॥ १५ ॥

इन पुरुषशिरोमणियोंने जो पाण्डवोंके अजेय होनेकी बात बतायी है, वह बिल्कुल ठीक है। पुरुषसिंह ! आपका कल्याण हो ॥ १५ ॥

कथं हि पाण्डवः श्रीमान् सव्यसाची धनंजयः ।
शक्यो विजेतुं संग्रामे राजन् मघवतापि हि ॥ १६ ॥

राजन् ! दायें-बायें दोनों हाथोंसे बाण चलानेवाले श्रीमान् पाण्डुकुमार धनंजयको साक्षात् इन्द्र भी युद्धमें कैसे जीत सकते हैं ? ॥ १६ ॥

भीमसेनो महाबाहुर्नागायुतबलो महान् ।
कथं स युधि शक्येत विजेतुममरैरपि ॥ १७ ॥

दस हजार हाथियोंके समान महान् बलवान् महाबाहु भीमसेनको युद्धमें देवता भी कैसे जीत सकते हैं ? ॥ १७ ॥

तथैव कृतिनौ युद्धे यमौ यमसुताविव ।
कथं विजेतुं शक्यौ तौ रणे जीवितुमिच्छता ॥ १८ ॥

इसी प्रकार जो जीवित रहना चाहता है, उसके द्वारा युद्धमें निपुण तथा यमराजके पुत्रोंकी भाँति भयंकर दोनों भाई नकुल सहदेव कैसे जीते जा सकते हैं ? ॥ १८ ॥

यस्मिन् धृतिरनुक्रोशः क्षमा सत्यं पराक्रमः ।
नित्यानि पाण्डवे ज्येष्ठे स जीयेत रणे कथम् ॥ १९ ॥

जिन ज्येष्ठ पाण्डव युधिष्ठिरमें धैर्य, दया, क्षमा, सत्य और पराक्रम आदि गुण नित्य निवास करते हैं, उन्हें रणभूमिमें कैसे हराया जा सकता है ? ॥ १९ ॥

येषां पक्षधरो रामो येषां मन्त्री जनार्दनः ।
किं नु तैरजितं सङ्ख्ये येषां पक्षे च सात्यकिः ॥ २० ॥

बलरामजी जिनके पक्षपाती हैं, भगवान् श्रीकृष्ण जिनके सलाहकार हैं तथा जिनके पक्षमें सात्यकि-जैसा वीर है, वे पाण्डव युद्धमें किसे नहीं परास्त कर देंगे ? ॥ २० ॥

द्रुपदः श्वशुरो येषां येषां श्यालाश्च पार्षताः ।
धृष्टद्युम्नमुखा वीरा भ्रातरो द्रुपदात्मजाः ॥ २१ ॥
सोऽशक्यतां च विज्ञाय तेषामग्रे च भारत ।
दायाद्यतां च धर्मेण सम्यक् तेषु समाचर ॥ २२ ॥

द्रुपद जिनके श्वशुर हैं और उनके पुत्र द्रुपदवंशी धृष्टद्युम्न आदि वीर भ्राता जिनके साले हैं, भारत ! ऐसे पाण्डवोंको रणभूमिमें जीतना असम्भव है। इस बातको जानकर तथा पहले उनके पिताका राज्य होनेके कारण वे ही धर्मपूर्वक इस राज्यके उत्तराधिकारी हैं, इस बातकी ओर ध्यान देकर आप उनके साथ उत्तम बर्ताव कीजिये ॥ २१-२२ ॥

इदं निर्दिग्धमयशः पुरोचनकृतं महत् ।
तेषामनुग्रहेणाद्य राजन् प्रक्षालयात्मनः ॥ २३ ॥

राजन् ! पुरोचनके हाथों जो कुछ कराया गया, उससे आपका बहुत बड़ा अपयश सब ओर फैल गया है। अपने उस कलङ्कको आज आप पाण्डवोंपर अनुग्रह करके धो डालिये ॥ २३ ॥

तेषामनुग्रहश्चायं सर्वेषां चैव नः कुले ।
जीवितं च परं श्रेयः क्षत्रस्य च विवर्धनम् ॥ २४ ॥

पाण्डवोंपर किया हुआ यह अनुग्रह हमारे कुलके सभी लोगोंके जीवनका रक्षक, परम हितकारक और सम्पूर्ण क्षत्रियजातिका अभ्युदय करनेवाला होगा ॥ २४ ॥

द्रुपदोऽपि महान् राजा कृतवैरश्च नः पुरा ।
तस्य संग्रहणं राजन् स्वपक्षस्य विवर्धनम् ॥ २५ ॥

राजन् ! द्रुपद भी बहुत बड़े राजा हैं और पहले हमारे साथ उनका वैर भी हो चुका है। अतः मित्रके रूपमें उनका संग्रह हमारे अपने पक्षकी वृद्धिका कारण होगा ॥ २५ ॥

बलवन्तश्च दाशार्हा बहवश्च विशाम्पते ।
यतः कृष्णस्ततः सर्वे यतः कृष्णस्ततो जयः ॥ २६ ॥

पृथ्वीपते ! यदुवंशियोंकी संख्या बहुत है और वे बलवान् भी हैं। जिस ओर श्रीकृष्ण रहेंगे, उधर ही वे सभी रहेंगे। इसलिये जिस पक्षमें श्रीकृष्ण होंगे, उस पक्षकी विजय अवश्य होगी ॥ २६ ॥

यच्च साम्नैव शक्येत कार्यं साधयितुं नृप ।
को दैवशप्तस्तत् कार्यं विग्रहेण समाचरेत् ॥ २७ ॥

महाराज ! जो कार्य शान्तिपूर्वक समझाने-बुझानेसे ही सिद्ध हो जा सकता है, उसीको कौन दैवका मारा हुआ मनुष्य युद्धके द्वारा सिद्ध करेगा ॥ २७ ॥

श्रुत्वा च जीवतः पार्थान् पौरजानपदा जनाः ।
बलवद् दर्शने हृष्टास्तेषां राजन् प्रियं कुरु ॥ २८ ॥

कुन्तीके पुत्रोंको जीवित सुनकर नगर और जनपदके सभी लोग उन्हें देखनेके लिये अत्यन्त उत्सुक हो रहे हैं। राजन् ! उन सबका प्रिय कीजिये ॥ २८ ॥

दुर्योधनश्च कर्णश्च शकुनिश्चापि सौबलः ।
अधर्मयुक्ता दुष्प्रज्ञा बाला मैषां वचः कृथाः ॥ २९ ॥

दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि—ये अधर्मपरायण,

खोटी बुद्धिवाले और मूर्ख हैं; अतः इनका कहना न मानिये ॥

उक्तमेतत् पुरा राजन् मया गुणवतस्तव ।
दुर्योधनापराधेन प्रजेयं वै विनङ्क्ष्यति ॥ ३० ॥

भूपाल ! आप गुणवान् हैं । आपसे तो मैंने पहले ही यह कह दिया था कि दुर्योधनके अपराधसे यह समस्त प्रजा नष्ट हो जायगी ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि विदुरवाक्ये चतुरधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमन-राज्यलम्भपर्वमें विदुरवाक्यविषयक दो सौ चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥

पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी आज्ञासे विदुरका द्रुपदके यहाँ जाना और पाण्डवोंको हस्तिनापुर भेजनेका प्रस्ताव

धृतराष्ट्र उवाच

भीष्मः शांतनवो विद्वान् द्रोणश्च भगवानृषिः ।
हितं च परमं वाक्यं त्वं च सत्यं ब्रवीषि माम् ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर ! शान्तनुनन्दन भीष्म ज्ञानी हैं और भगवान् द्रोणाचार्य तो ऋषि ही ठहरे । अतः इनका वचन परम हितकारक है । तुम भी मुझसे जो कुछ कहते हो, वह सत्य ही है ॥ १ ॥

यथैव पाण्डोस्ते वीराः कुन्तीपुत्रा महारथाः ।
तथैव धर्मतः सर्वे मम पुत्रा न संशयः ॥ २ ॥

कुन्तीके वीर महारथी पुत्र जैसे पाण्डुके लड़के हैं, उसी प्रकार धर्मकी दृष्टिसे वे सब मेरे भी पुत्र हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ २ ॥

यथैव मम पुत्राणामिदं राज्यं विधीयते ।
तथैव पाण्डुपुत्राणामिदं राज्यं न संशयः ॥ ३ ॥

जैसे मेरे पुत्रोंका यह राज्य कहा जाता है, उसी प्रकार पाण्डुपुत्रोंका भी यह राज्य है—इसमें भी संशय नहीं है ॥ ३ ॥

क्षत्तरानय गच्छैतान् सह मात्रा सुसत्कृतान् ।
तया च देवरूपिण्या कृष्णया सह भारत ॥ ४ ॥

भरतवंशी विदुर ! अब तुम्हीं जाओ और उनकी माता कुन्ती तथा उस देवरूपिणी वधू कृष्णाके साथ इन पाण्डवोंको सत्कारपूर्वक ले आओ ॥ ४ ॥

दिष्ट्या जीवन्ति ते पार्था दिष्ट्या जीवति सा पृथा ।
दिष्ट्या द्रुपदकन्यां च लब्धवन्तो महारथाः ॥ ५ ॥

सौभाग्यकी बात है कि वे कुन्तीपुत्र जीवित हैं । सौभाग्यसे ही कुन्ती भी जीवित है और यह भी बड़े सौभाग्यकी बात है कि उन महारथियोंने द्रुपदकन्याको प्राप्त कर लिया ॥ ५ ॥

दिष्ट्या वर्धामहे सर्वे दिष्ट्या शान्तः पुरोचनः ।
दिष्ट्या मम परं दुःखमपनीतं महाद्युते ॥ ६ ॥

महाद्युते ! सौभाग्यसे हम सबकी वृद्धि हो रही है । भाग्यकी बात है कि पापी पुरोचन शान्त हो गया और सौभाग्यसे ही मेरा महान् दुःख मिट गया ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रस्य शासनात् ।
सकाशं यज्ञसेनस्य पाण्डवानां च भारत ।
समुपादाय रत्नानि वसूनि विविधानि च ।
द्रौपद्याः पाण्डवानां च यज्ञसेनस्य चैव ह ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर धृतराष्ट्रकी आज्ञासे विदुरजी द्रौपदी, पाण्डव तथा यज्ञसेनके लिये नाना प्रकारके धन-रत्नोंकी भेंट ले राजा द्रुपद और पाण्डवोंके समीप गये ॥ ७-८ ॥

तत्र गत्वा स धर्मज्ञः सर्वशास्त्रविशारदः ।
द्रुपदं न्यायतो राजन् संयुक्तमुपतस्थिवान् ॥

राजन् ! वहाँ पहुँचकर सम्पूर्ण शास्त्रोंके विद्वान् धर्मज्ञ विदुर न्यायके अनुसार बड़े-छोटेके क्रमसे राजा द्रुपद और अन्य लोगोंके साथ हृदयसे लगाकर नमस्कारपूर्वक मिले ॥ ९ ॥

स चापि प्रतिजग्राह धर्मेण विदुरं ततः ।
चक्रतुश्च यथान्यायं कुशलप्रश्नसंविदम् ॥

राजा द्रुपदने भी धर्मके अनुसार विदुरजीका सत्कार किया । फिर वे दोनों यथोचित रीतिसे एक-दूसरेसे कुशल-समाचार पूछने और कहने लगे ॥ १० ॥

ददर्श पाण्डवांस्तत्र वासुदेवं च भारत ।
स्नेहाद् परिष्वज्य स तान् पप्रच्छानामयं ततः ॥

भारत ! विदुरजीने वहाँ पाण्डवों तथा वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णको भी देखा और स्नेहपूर्वक उन्हें हृदयसे लगाकर उन सबकी कुशल पूछी ॥ ११ ॥

तैश्चाप्यमितबुद्धिः स पूजितो हि यथाक्रमम् ।
वचनाद् धृतराष्ट्रस्य स्नेहयुक्तं पुनः पुनः ॥
पप्रच्छानामयं राजंस्ततस्तान् पाण्डुनन्दनान् ।
प्रददौ चापि रत्नानि विविधानि वसूनि च ॥
पाण्डवानां च कुन्त्याश्च द्रौपद्याश्च विशाम्पते ।
द्रुपदस्य च पुत्राणां यथा दत्तानि कौरवैः ॥

उन्होंने भी अमित-बुद्धिमान् विदुरजीका क्रमशः आदर-सत्कार किया । तदनन्तर विदुरजीने राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञा...

अनुसार बारंबार स्नेहपूर्वक युधिष्ठिर आदि पाण्डुपुत्रोंसे कुशल-मङ्गल एवं स्वास्थ्यविषयक प्रश्न किया। जनमेजय! फिर विदुरजीने कौरवोंकी ओरसे जैसे दिये गये थे, उसीके अनुसार पाण्डवों, कुन्ती, द्रौपदी तथा द्रुपदके पुत्रोंके लिये नाना प्रकारके रत्न और धन भेंट किये ॥ १२-१४ ॥

प्रोवाच चामितमतिः प्रश्रितं विनयान्वितः।
द्रुपदं पाण्डुपुत्राणां संनिधौ केशवस्य च ॥ १५ ॥

अगाध बुद्धिवाले विदुरजी पाण्डवों तथा भगवान् श्रीकृष्णके समीप विनीतभावसे नम्रतापूर्वक बोले— ॥ १५ ॥

विदुर उवाच

राजञ्छृणु सहामात्यः सपुत्रश्च वचो मम।
धृतराष्ट्रः सपुत्रस्त्वां सहामात्यः सबान्धवः ॥ १६ ॥
अब्रवीत् कुशलं राजन् प्रीयमाणः पुनः पुनः।
प्रीतिमांस्ते दृढं चापि सम्बन्धेन नराधिप ॥ १७ ॥

विदुरने कहा—राजन्! आप अपने मन्त्रियों और पुत्रोंके साथ मेरी बात सुनें। महाराज! धृतराष्ट्रने अपने पुत्र, मन्त्री और बन्धुओंके साथ अत्यन्त प्रसन्न होकर बारंबार आपकी कुशल पूछी है। महाराज! आपके साथ यह जो सम्बन्ध हुआ है, इससे उनको बड़ी प्रसन्नता हुई है ॥ १६-१७ ॥



तथा भीष्मः शांतनवः कौरवैः सह सर्वशः।
कुशलं त्वां महाप्राज्ञः सर्वतः परिपृच्छति ॥ १८ ॥

इसी प्रकार शंतनुनन्दन महाप्राज्ञ भीष्मजी भी समस्त कौरवोंके साथ सब तरहसे आपकी कुशल पूछते हैं ॥ १८ ॥

भारद्वाजो महाप्राज्ञो द्रोणः प्रियसखस्तव।
समाश्लेषमुपेत्य त्वां कुशलं परिपृच्छति ॥ १९ ॥

आपके प्रिय मित्र महाबुद्धिमान् भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य भी (मन-ही-मन) आपको हृदयसे लगाकर कुशल पूछ रहे हैं ॥ १९ ॥

धृतराष्ट्रश्च पाञ्चाल्य त्वया सम्बन्धमीयिवान्।
कृतार्थं मन्यतेऽऽत्मानं तथा सर्वेऽपि कौरवाः ॥ २० ॥

पाञ्चालनरेश! राजा धृतराष्ट्र आपके सम्बन्धी होकर अपनेआपको कृतार्थ मानते हैं। यही दशा समस्त कौरवोंकी है ॥ २० ॥

न तथा राज्यसम्प्राप्तिस्तेषां प्रीतिकरी मता।
यथा सम्बन्धकं प्राप्य यज्ञसेन त्वया सह ॥ २१ ॥

यज्ञसेन! उन्हें राज्यकी प्राप्ति भी उतनी प्रसन्नता देनेवाली नहीं जान पड़ी, जितनी प्रसन्नता आपके साथ सम्बन्धका सौभाग्य पाकर हुई है ॥ २१ ॥

एतद् विदित्वा तु भवान् प्रस्थापयतु पाण्डवान्।
द्रष्टुं हि पाण्डुपुत्रांश्च त्वरन्ति कुरवो भृशम् ॥ २२ ॥

यह जानकर आप पाण्डवोंको हस्तिनापुर भेज दें। समस्त कुरुवंशी पाण्डवोंको देखने और मिलनेके लिये अत्यन्त उतावले हो रहे हैं ॥ २२ ॥

चिरप्रोषिता दीर्घकालमेते चापि नरर्षभाः।
उत्सुका नगरं द्रष्टुं भविष्यन्ति तथा पृथा ॥ २३ ॥

दीर्घकालसे ये परदेशमें रह रहे हैं, अतः नरश्रेष्ठ पाण्डव तथा कुन्ती—सभी लोग अपना नगर देखनेके लिये उत्सुक हो रहे होंगे ॥ २३ ॥

कृष्णामपि च पाञ्चालीं सर्वाः कुरुवरस्त्रियः।
द्रष्टुकामाः प्रतीक्षन्ते पुरं च विषयाश्च नः ॥ २४ ॥

कौरवकुलकी सभी श्रेष्ठ स्त्रियाँ, हमारे हस्तिनापुर नगर तथा राष्ट्रके सभी लोग पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको देखनेकी इच्छा रखकर उसके शुभागमनकी प्रतीक्षा कर रहे हैं ॥ २४ ॥

स भवान् पाण्डुपुत्राणामाज्ञापयतु मा चिरम्।
गमनं सहदाराणामेतदत्र मतं मम ॥ २५ ॥

अतः आप पत्नीसहित पाण्डवोंको हस्तिनापुर चलनेके लिये शीघ्र आज्ञा दीजिये। इस विषयमें मेरी सम्मति यही है ॥ २५ ॥

निसृष्टेषु त्वया राजन् पाण्डवेषु महात्मसु।
ततोऽहं प्रेषयिष्यामि धृतराष्ट्रस्य शीघ्रगान्।
आगमिष्यन्ति कौन्तेयाः कुन्ती च सह कृष्णया ॥ २६ ॥

राजन्! जब आप महामना पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा दे देंगे, तब मैं यहाँसे राजा धृतराष्ट्रके पास शीघ्रगामी दूत भेजूँगा और यह संदेश कहला दूँगा कि कुन्ती तथा कृष्णाके साथ समस्त पाण्डव हस्तिनापुरमें आयेंगे ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि विदुरद्रुपदसंवादे पञ्चाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें विदुर-द्रुपदसंवादविषयक दो सौ पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०५ ॥

षडधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंका हस्तिनापुरमें आना और आधा राज्य पाकर इन्द्रप्रस्थ नगरका निर्माण करना एवं भगवान् श्रीकृष्ण और बलरामजीका द्वारकाके लिये प्रस्थान

द्रुपद उवाच

एवमेतन्महाप्राज्ञ यथाऽऽत्थ विदुराद्य माम्।
ममापि परमो हर्षः सम्बन्धेऽस्मिन् कृते प्रभो ॥ १ ॥

द्रुपद बोले—महाप्राज्ञ विदुरजी! आज आपने जो कुछ मुझसे कहा है, सब ठीक है। प्रभो! (कौरवोंके साथ) यह सम्बन्ध हो जानेसे मुझे भी महान् हर्ष हुआ है ॥ १ ॥

गमनं चापि युक्तं स्याद् दृढमेषां महात्मनाम्।
न तु तावन्मया युक्तमेतद् वक्तुं स्वयं गिरा ॥ २ ॥
यदा तु मन्यते वीरः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनार्जुनौ चैव यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ३ ॥
रामकृष्णौ च धर्मज्ञौ तथा गच्छन्तु पाण्डवाः।
एतौ हि पुरुषव्याघ्रावेषां प्रियहिते रतौ ॥ ४ ॥

महात्मा पाण्डवोंका अपने नगरमें जाना भी अत्यन्त उचित ही है। तथापि मेरे लिये अपने मुखसे इन्हें जानेके लिये कहना उचित नहीं है। यदि कुन्तीकुमार वीरवर युधिष्ठिर भीमसेन, अर्जुन और नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव जाना उचित समझें तथा धर्मज्ञ बलराम और श्रीकृष्ण पाण्डवोंका वहाँ जाना उचित समझते हों तो ये अवश्य वहाँ जायँ; क्योंकि ये दोनों पुरुषसिंह सदा इनके प्रिय और हितमें लगे रहते हैं ॥ २-४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

परवन्तो वयं राजंस्त्वयि सर्वे सहानुगाः।
यथा वक्ष्यसि नः प्रीत्या तत् करिष्यामहे वयम् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! हम सब लोग अपने सेवकोंसहित सदा आपके अधीन हैं। आप स्वयं प्रसन्नतापूर्वक हमसे जैसा कहेंगे, वही हम करेंगे ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीद् वासुदेवो गमनं रोचते मम।
यथा वा मन्यते राजा द्रुपदः सर्वधर्मवित् ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब वसुदेव-नन्दन भगवान् श्रीकृष्णने कहा—'मुझे तो इनका जाना ही ठीक जान पड़ता है। अथवा सब धर्मोंके ज्ञाता महाराज द्रुपद जैसा उचित समझें, वैसा किया जाय' ॥ ६ ॥

द्रुपद उवाच

यथैव मन्यते वीरो दाशार्हः पुरुषोत्तमः।
प्राप्तकालं महाबाहुः सा बुद्धिर्निश्चिता मम ॥ ७ ॥
यथैव हि महाभागाः कौन्तेया मम साम्प्रतम्।
तथैव वासुदेवस्य पाण्डुपुत्रा न संशयः ॥ ८ ॥

द्रुपद बोले—दशार्हकुलके रत्न वीरवर पुरुषोत्तम महाबाहु श्रीकृष्ण इस समय जो कर्तव्य उचित समझते हैं, निश्चय ही मेरी भी वही सम्मति है। महाभाग कुन्तीपुत्र इस समय मेरे लिये जैसे अपने हैं, उसी प्रकार इन भगवान् वासुदेवके लिये भी समस्त पाण्डव उतने ही प्रिय एवं आत्मीय हैं—इसमें संशय नहीं है ॥ ७-८ ॥

न तद् ध्यायति कौन्तेयः पाण्डुपुत्रो युधिष्ठिरः।
यथैषां पुरुषव्याघ्रः श्रेयो ध्यायति केशवः ॥ ९ ॥

पुरुषोत्तम केशव जिस प्रकार इन पाण्डवोंके (अत्यन्त हित) का ध्यान रखते हैं, उतना ध्यान कुन्तीनन्दन पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर भी नहीं रखते ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

पृथायास्तु तथा वेश्म प्रविवेश महाद्युतिः।
पादौ स्पृष्ट्वा पृथायास्तु शिरसा च महीं गतः।
दृष्ट्वा तु देवरं कुन्ती शुशोच च मुहुर्मुहुः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उसी प्रकार तेजस्वी विदुर कुन्तीके भवनमें गये। वहाँ उन्होंने पृथ्वीपर माथा टेककर उनके चरणोंमें प्रणाम किया। विदुरको देख कुन्ती बार-बार शोक करने लगी।

कुन्त्युवाच

वैचित्रवीर्य ते पुत्राः कथंचिज्जीवितास्त्वया।
त्वत्प्रसादाज्जतुगृहे त्राताः प्रत्यागतास्तव ॥
कूर्मश्चिन्तयते पुत्रान् यत्र वा तत्र वा गतान्।
चिन्तया वर्धयेत् पुत्रान् यथा कुशलिनस्तथा ॥
तव पुत्रास्तु जीवन्ति त्वं त्राता भरतर्षभ।
यथा परभृतः पुत्रानरिष्टा वर्धयेत् सदा।
तथैव तव पुत्रास्तु मया तात सुरक्षिताः ॥
दुःखास्तु बहवः प्राप्ता तथा प्राणान्तिका मया।
अतः परं न जानामि कर्तव्यं ज्ञातुमर्हसि ॥

कुन्ती बोली—विदुरजी! आपके पुत्र पाण्डव किसी प्रकार आपके ही कृपाप्रसादसे जीवित हैं। लाक्षागृहमें आपने इन सबके प्राण बचाये हैं और अब यह पुनः आपके पास जीते-जागते लौट आये हैं। कछुआ अपने पुत्रोंका, वे कहीं भी क्यों न हों, मनसे चिन्तन करता रहता है। इस चिन्तनसे ही अपने पुत्रोंका वह पालन-पोषण एवं संवर्धन करता है।

उसीके अनुसार जैसे वे सकुशल जीवित रहते हैं, वैसे ही आपके पुत्र पाण्डव (आपकी ही मङ्गल-कामनासे) जी रहे हैं ! भरतश्रेष्ठ ! आप ही इनके रक्षक हैं । तात ! जैसे कोयलके पुत्रोंका पालन-पोषण सदा कौएकी माता करती है, उसी प्रकार आपके पुत्रोंकी रक्षा मैंने की है । अबतक मैंने बहुत-से प्राणान्तक कष्ट उठाये हैं; इसके बाद मेरा क्या कर्तव्य है, यह मैं नहीं जानती । यह सब आप ही जानें !

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा दुःखार्ता शुशोच परमातुरा ।
प्रणिपत्याब्रवीत् क्षत्ता मा शोच इति भारत ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—यों कहकर दुःखसे पीड़ित हुई कुन्ती अत्यन्त आतुर होकर शोक करने लगी । उस समय विदुरने उन्हें प्रणाम करके कहा, तुम शोक न करो ।

विदुर उवाच

न विनश्यन्ति लोकेषु तव पुत्रा महाबलाः ।
नचिरेणैव कालेन स्वराज्यस्था भवन्ति ते ।
बान्धवैः सहिताः सर्वैर्मा शोकं कुरु माधवि ॥)

विदुर बोले—यदुकुलनन्दिनी ! तुम्हारे महाबली पुत्र संसारमें (दूसरोंके सतानेसे) नष्ट नहीं हो सकते । अब वे थोड़े ही दिनोंमें समस्त बन्धुओंके साथ अपने राज्यपर अधिकार करनेवाले हैं । अतः तुम शोक मत करो ।

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते समनुज्ञाता द्रुपदेन महात्मना ।
पाण्डवाश्चैव कृष्णश्च विदुरश्च महीपते ॥ १० ॥
आदाय द्रौपदीं कृष्णां कुन्तीं चैव यशस्विनीम् ।
सविहारं सुखं जग्मुर्नगरं नागसाह्वयम् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! तदनन्तर महात्मा द्रुपदकी आज्ञा पाकर पाण्डव, श्रीकृष्ण और विदुर द्रुपदकुमारी कृष्णा और यशस्विनी कुन्तीको साथ ले आमोद-प्रमोद करते हुए हस्तिनापुरकी ओर चले ॥ १०-११ ॥

(सुवर्णकक्ष्याग्रैवेयान् सुवर्णाङ्कुशभूषितान् ।
जाम्बूनदपरिष्कारान् प्रभिन्नकरटामुखान् ॥
अधिष्ठितान् महामात्रैः सर्वशस्त्रसमन्वितान् ।
सहस्रं प्रददौ राजा गजानां वरवर्णिनाम् ॥
रथानां च सहस्रं वै सुवर्णमणिचित्रितम् ।
चतुर्युजां भानुमच्च पञ्चानां प्रददौ तदा ॥
सुवर्णपरिबर्हाणां वरचामरमालिनाम् ।
जात्यश्वानां च पञ्चाशत्सहस्रं प्रददौ नृपः ॥
दासीनामयुतं राजा प्रददौ वरभूषणम् ।
ततः सहस्रं दासानां प्रददौ वरधन्विनाम् ॥
हैमानि शय्यासनभाजनानि
द्रव्याणि चान्यानि च गोधनानि ।
पृथक् पृथक् चैव ददौ स कोटिं
पाञ्चालराजः परमप्रहृष्टः ॥
शिबिकानां शतं पूर्णं वाहान् पञ्चशतं नरान् ।
एवमेतानि पाञ्चालो कन्यार्थे प्रददौ धनम् ॥
हरणं चापि पाञ्चाल्या ज्ञातिदेयं तु सौमकिः ।
धृष्टद्युम्नो ययौ तत्र भगिनीं गृह्य भारत ॥
नानद्यमाने बहुभिः तूर्यशब्दैः सहस्रशः ॥)

उस समय राजा द्रुपदने उन्हें एक हजार सुन्दर हाथी प्रदान किये, जिनकी पीठोंपर सोनेके हौदे कसे हुए थे और गलेमें सोनेके आभूषण शोभा पा रहे थे । उनके अङ्कुश भी सोनेके ही थे । जाम्बूनद नामक सुवर्णसे उन सबको सजाया गया था । उनके गण्डस्थलसे मदकी धारा बह रही थी । बड़े-बड़े महावत उन सबका संचालन करते थे । वे सभी गजराज सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे । राजाने पाँचों पाण्डवोंके लिये चार घोड़ोंसे जुते हुए एक हजार रथ दिये, जो सुवर्ण और मणियोंसे विभूषित होनेके कारण विचित्र शोभा धारण करते थे और सब ओर अपनी प्रभा बिखेर रहे थे । इतना ही नहीं, राजाने अच्छी जातिके पचास हजार घोड़े भी दिये, जो सुनहरे साज-बाजसे सुसज्जित और सुन्दर चँवर तथा मालाओंसे अलंकृत थे । इनके सिवा सुन्दर आभूषणोंसे विभूषित दस हजार दासियाँ भी दीं । साथ ही उत्तम धनुष धारण करनेवाले एक हजार दास पाण्डवोंको भेंट किये । बहुत-सी शय्याएँ, आसन और पात्र भी दिये जो सब-के-सब सुवर्णके बने हुए थे । दूसरे-दूसरे द्रव्य और गोधन भी समर्पित किये । इन सबकी पृथक्-पृथक् संख्या एक-एक करोड़ थी । इस प्रकार पाञ्चालराज द्रुपदने बड़े हर्ष और उल्लासके साथ पाण्डवोंको उपर्युक्त वस्तुएँ अर्पित कीं । सौ पालकियाँ और उनको ढोनेवाले पाँच सौ कहार दिये । इस प्रकार पाञ्चालराजने अपनी कन्याके लिये ये सभी वस्तुएँ तथा बहुत-सा धन दहेजमें दिया । जनमेजय ! धृष्टद्युम्न स्वयं अपनी बहिनका हाथ पकड़कर सवारीपर बैठानेके लिये ले गये । उस समय सहस्रों प्रकारके बाजे एक साथ बज उठे ॥

श्रुत्वा चाप्यागतान् वीरान् धृतराष्ट्रो जनेश्वरः ।
प्रतिग्रहाय पाण्डूनां प्रेषयामास कौरवान् ॥ १२ ॥

राजा धृतराष्ट्रने पाण्डववीरोंका आगमन सुनकर उनकी अगवानीके लिये कौरवोंको भेजा ॥ १२ ॥

विकर्णं च महेष्वासं चित्रसेनं च भारत ।
द्रोणं च परमेष्वासं गौतमं कृपमेव च ॥ १३ ॥

भारत ! विकर्ण, महान् धनुर्धर चित्रसेन, विशाल धनुषवाले द्रोणाचार्य, गौतमवंशी कृपाचार्य आदि भेजे गये थे ॥

तैस्ते परिवृता वीराः शोभमाना महाबलाः।
नगरं हास्तिनपुरं शनैः प्रविविशुस्तदा ॥ १४ ॥
(पाण्डवानागतान्छ्रुत्वा नागरास्तु कुतूहलात्।
मण्डयांचक्रिरे तत्र नगरं नागसाह्वयम् ॥
मुक्तपुष्पावकीर्णं तज्जलसिक्तं तु सर्वशः।
धूपितं दिव्यधूपेन मण्डनैश्चापि संवृतम् ॥
पताकोच्छ्रितमाल्यं च पुरमप्रतिमं बभौ।
शङ्खभेरीनिनादैश्च नानावादित्रनिःस्वनैः।)
कौतूहलेन नगरं दीप्यमानमिवाभवत्।
तत्र ते पुरुषव्याघ्राः शोकदुःखविनाशनाः ॥ १५ ॥
तत उच्चावचा वाचः पौरैः प्रियचिकीर्षुभिः।
उदीरिता अशृण्वंस्ते पाण्डवा हृदयंगमाः ॥ १६ ॥

इन सबसे घिरे हुए शोभाशाली महाबली वीर पाण्डवोंने तब धीरे-धीरे हस्तिनापुर नगरमें प्रवेश किया। पाण्डवोंका आगमन सुनकर नागरिकोंने कौतूहलवश हस्तिनापुर नगरको (अच्छी तरहसे) सजा रक्खा था। सड़कोंपर सब ओर फूल बिखेरे गये थे, जलका छिड़काव किया गया था, सारा नगर दिव्य धूपकी सुगन्धसे महँ-महँ कर रहा था और भाँति-भाँतिकी प्रसाधन-सामग्रियोंसे सजाया गया था। पताकाएँ फहराती थीं और ऊँचे गृहोंमें पुष्पहार सुशोभित होते थे। शङ्ख, भेरी तथा नाना प्रकारके वाद्योंकी ध्वनिसे वह अनुपम नगर बड़ी शोभा पा रहा था। उस समय कौतूहलवश सारा नगर देदीप्यमान-सा हो उठा। पुरुषसिंह पाण्डव प्रजाजनोंके शोक और दुःखका निवारण करनेवाले थे; अतः वहाँ उनका प्रिय करनेकी इच्छावाले पुरवासियोंद्वारा कही हुई भिन्न-भिन्न प्रकारकी हृदय-स्पर्शिनी बातें सुनायी पड़ीं—॥ १४–१६ ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रः पुनरायाति धर्मवित्।
यो नः स्वानिव दायादान् धर्मेण परिरक्षति ॥ १७ ॥

(पुरवासी कह रहे थे—) 'ये ही वे नरश्रेष्ठ धर्मज्ञ युधिष्ठिर पुनः यहाँ पधार रहे हैं, जो धर्मपूर्वक अपने पुत्रोंकी भाँति हमलोगोंकी रक्षा करते थे ॥ १७ ॥

अद्य पाण्डुर्महाराजो वनादिव जनप्रियः।
आगतः प्रियमस्माकं चिकीर्षुर्नात्र संशयः ॥ १८ ॥

इनके आनेसे निःसंदेह ऐसा जान पड़ता है, आज प्रजाजनोंके प्रिय महाराज पाण्डु ही मानो हमारा प्रिय करनेके लिये वनसे चले आये हों ॥ १८ ॥

किं नु नाद्य कृतं तात सर्वेषां नः परं प्रियम्।
यन्नः कुन्तीसुता वीरा नगरं पुनरागताः ॥ १९ ॥

तात! कुन्तीके वीर पुत्र यदि पुनः इस नगरमें चले आये तो आज हम सब लोगोंका कौन-सा परम प्रिय कार्य नहीं सम्पन्न हो गया ॥ १९ ॥

यदि दत्तं यदि हुतं विद्यते यदि नस्तपः।
तेन तिष्ठन्तु नगरे पाण्डवाः शरदां शतम्।

यदि हमने दान और होम किया है, यदि हमा[रा तप] शेष है तो उन सबके पुण्यसे ये पाण्डव सौ व[र्षों तक इस] नगरमें निवास करें' ॥ २० ॥

ततस्ते धृतराष्ट्रस्य भीष्मस्य च महात्मनः।
अन्येषां च तदर्हाणां चक्रुः पादाभिवन्दनम्।

इतनेमें ही पाण्डवोंने धृतराष्ट्र, महात्मा भीष्म त[था अन्य] वन्दनीय पुरुषोंके पास जाकर उन सबके चरणोंमें प्रण[ाम किया]

कृत्वा तु कुशलप्रश्नं सर्वेण नगरेण च।
न्यविशन्ताथ वेश्मानि धृतराष्ट्रस्य शासनात्।

फिर समस्त नगरवासियोंसे कुशलप्रश्न करके धृतराष्ट्रकी आज्ञासे राजमहलोंमें गये ॥ २२ ॥

(दुर्योधनस्य महिषी काशिराजसुता तदा।
धृतराष्ट्रस्य पुत्राणां वधूभिः सहिता तदा।
पाञ्चालीं प्रतिजग्राह द्रौपदीं श्रीमिवापराम्।
पूजयामास पूजार्हां शचीदेवीमिवागताम्।
ववन्दे तत्र गान्धारीं माधवी कृष्णया सह।
आशिषश्च प्रयुक्त्वा तु पाञ्चालीं परिषस्वजे।
परिष्वज्य च गान्धारी कृष्णां कमललोचनाम्।
पुत्राणां मम पाञ्चाली मृत्युरेवेत्यमन्यत।
सा चिन्त्य विदुरं प्राह युक्तितः सुबलात्मजा।

उस समय दुर्योधनकी रानीने, जो काशिराजकी पु[त्री थी,] धृतराष्ट्रपुत्रोंकी अन्य वधुओंके साथ आकर द्वितीय [लक्ष्मीके] समान सुन्दरी पञ्चालराजकुमारी द्रौपदीकी अगवानी की[। वह] सर्वथा पूजाके योग्य थी। उसे देखकर ऐसा प्रतीत [होता था,] मानो साक्षात् शचीदेवीने पदार्पण किया हो। दुर्योधन[की रानीने] उसका भलीभाँति सत्कार किया। वहाँ पहुँचकर कुन्ती[ने अपनी] बहूरानी द्रौपदीके साथ गान्धारीको प्रणाम किया। [गान्धारीने] आशीर्वाद देकर द्रौपदीको हृदयसे लगा लिया। क[मलके समान] नेत्रोंवाली कृष्णाको हृदयसे लगाकर गान्धारी सोच[ने लगी] कि यह पाञ्चाली तो मेरे पुत्रोंकी मृत्यु ही है। यह [सोचकर] सुबलपुत्री गान्धारीने युक्तिसे विदुरको बुलाकर कहा—

गान्धार्युवाच

कुन्तीं राजसुतां क्षत्तः सवधूं सपरिच्छदाम्।
पाण्डोर्निवेशनं शीघ्रं नीयतां यदि रोचते।
करणेन मुहूर्तेन नक्षत्रेण शुभे तिथौ।
यथासुखं तथा कुन्ती रंस्यते स्वगृहे सुतैः।

फिर गान्धारीने कहा—विदुर! यदि तु[म्हें ठीक जान पड़े] तो राजकुमारी कुन्तीको पुत्रवधूसहित शीघ्र ही [पाण्डुके] महलमें ले जाओ और वहीं इनका सारा सामान भी [पहुँचा] दो। उत्तम करण, मुहूर्त और नक्षत्रसहित शुभ ति[थिमें] उस महलमें इन्हें प्रवेश करना चाहिये, जिससे कु[न्ती] अपने घरमें पुत्रोंके साथ सुखपूर्वक रह सकें।

वैशम्पायन उवाच

तथेत्येव तदा क्षत्ता कारयामास तत्तदा ॥
पूजयामासुरत्यर्थं बान्धवाः पाण्डवांस्तदा ।
नागराः श्रेणिमुख्याश्च पूजयन्ति स्म पाण्डवान् ॥
भीष्मो द्रोणस्तथा कर्णो बाह्लीकः ससुतस्तदा ।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य अकुर्वन्नतिथिक्रियाम् ॥
एवं विहरतां तेषां पाण्डवानां महात्मनाम् ।
नेता सर्वस्य कार्यस्य विदुरो राजशासनात् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! 'बहुत अच्छा' कहकर उसी समय विदुरने वैसी ही व्यवस्था की। सभी बन्धु-बान्धवोंने पाण्डवोंका उस समय अत्यन्त आदर-सत्कार किया। प्रमुख नागरिकों तथा सेठोंने भी पाण्डवोंका पूजन किया। भीष्म, द्रोण, कर्ण तथा पुत्रसहित बाह्लीकने धृतराष्ट्रके आदेशसे पाण्डवोंका आतिथ्य-सत्कार किया। इस प्रकार हस्तिनापुरमें विहार करनेवाले महात्मा पाण्डवोंके सभी कार्योंमें विदुरजी ही नेता थे। उन्हें इसके लिये राजाकी ओरसे आदेश प्राप्त हुआ था ॥

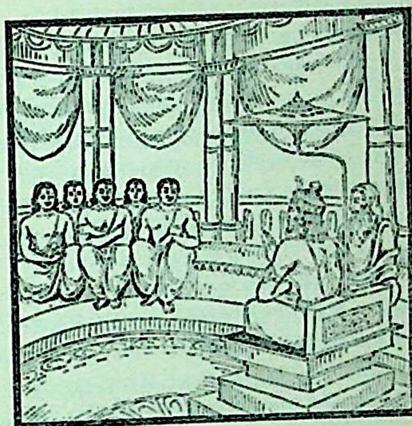
विश्रान्तास्ते महात्मानः कंचित् कालं महाबलाः।
आहूता धृतराष्ट्रेण राज्ञा शांतनवेन च ॥ २३ ॥

कुछ कालतक विश्राम कर लेनेपर उन महाबली महात्मा पाण्डवोंको राजा धृतराष्ट्र तथा भीष्मजीने बुलाया। २३।

(धृतराष्ट्र उवाच

भ्रातृभिः सह कौन्तेय निबोध गदतो मम ।
(पाण्डुना वर्धितं राज्यं पाण्डुना पालितं जगत् ॥
शासनान्मम कौन्तेय मम भ्राता महाबलः ।
कृतवान् दुष्करं कर्म नित्यमेव विशाम्पते ॥
तस्मात् त्वमपि कौन्तेय शासनं कुरु मा चिरम्॥
मम पुत्रा दुरात्मानो दर्पाहंकारसंयुताः ।
शासनं न करिष्यन्ति मम नित्यं युधिष्ठिर ॥
स्वकार्यनिरतैर्नित्यमवलिप्तैर्दुरात्मभिः ।)
पुनर्वो विग्रहो मा भूत् खाण्डवप्रस्थमाविश ॥ २४ ॥

धृतराष्ट्र बोले—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! मैं जो कुछ कह रहा हूँ, उसे अपने भाइयोंसहित ध्यान देकर सुनो। कुन्तीनन्दन ! मेरी आज्ञासे पाण्डुने इस राज्यको बढ़ाया और पाण्डुने ही जगत्का पालन किया। मेरे भाई पाण्डु बड़े बलवान् थे। राजन् ! वे मेरे कहनेसे सदा ही दुष्कर कार्य किया करते थे। कुन्तीकुमार ! तुम भी यथासम्भव शीघ्र मेरी आज्ञाका पालन करो, विलम्ब न करो। मेरे दुरात्मा पुत्र दर्प और अहंकारसे भरे हुए हैं। युधिष्ठिर ! वे सदा मेरी आज्ञाका पालन नहीं करेंगे। अपने स्वार्थसाधनमें लगे हुए उन बलाभिमानी दुरात्माओंके साथ तुम्हारा फिर कोई झगड़ा न खड़ा हो जाय, इसलिये तुम खाण्डवप्रस्थमें निवास करो ॥ २४॥



न च वो वसतस्तत्र कश्चिच्छक्तः प्रबाधितुम् ।
संरक्ष्यमाणान् पार्थेन त्रिदशानिव वज्रिणा ॥ २५ ॥
अर्धं राज्यस्य सम्प्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविश ।

वहाँ रहते समय कोई तुम्हें बाधा नहीं दे सकता; क्योंकि जैसे वज्रधारी इन्द्र देवताओंकी रक्षा करते हैं, उसी प्रकार कुन्तीनन्दन अर्जुन वहाँ तुमलोगोंकी भलीभाँति रक्षा करेंगे। तुम आधा राज्य लेकर खाण्डवप्रस्थमें चलकर रहो ॥ २५३ ॥

(धृतराष्ट्र उवाच

अभिषेकस्य सम्भारान् क्षत्तरानय मा चिरम् ।
अभिषिक्तं करिष्यामि अद्य वै कुरुनन्दनम् ॥
ब्राह्मणा नैगमश्रेष्ठाः श्रेणीमुख्याश्च सर्वशः ।
आहूयन्तां प्रकृतयो बान्धवाश्च विशेषतः ॥
पुण्याहं वाच्यतां तात गोसहस्रं तु दीयताम् ।
ग्राममुख्याश्च विप्रेभ्यो दीयन्तां सहदक्षिणाः ॥
अङ्गदे मुकुटं क्षत्तः हस्ताभरणमानय ॥
मुक्तावलीश्च हारं च निष्कादीन् कुण्डलानि च ।
कटिबन्धश्च सूत्रं च तथोदरनिबन्धनम् ॥
अष्टोत्तरसहस्रं तु ब्राह्मणाधिष्ठिता गजाः ।
जाह्नवीसलिलं शीघ्रमानयन्तु पुरोहिताः ॥
अभिषेकोदकक्लिन्नं सर्वाभरणभूषितम् ।
औपवाह्योपरिगतं दिव्यचामरवीजितम् ॥
सुवर्णमणिचित्रेण श्वेतच्छत्रेण शोभितम् ।
जयेति द्विजवाक्येन स्तूयमानं नृपैस्तथा ॥
दृष्ट्वा कुन्तीसुतं ज्येष्ठमाजमीढं युधिष्ठिरम् ।
प्रीताः प्रीतेन मनसा प्रशंसन्तु पुरे जनाः ॥

पाण्डोः कृतोपकारस्य राज्यं दत्त्वा ममैव च ।
प्रतिक्रियाकृतमिदं भविष्यति न संशयः ॥

(फिर) धृतराष्ट्रने (विदुरसे) कहा—विदुर ! तुम राज्याभिषेककी सामग्री लाओ, इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये । मैं आज ही कुरुकुलनन्दन युधिष्ठिरका अभिषेक करूँगा । वेदवेत्ता विद्वानोंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण, नगरके सभी प्रमुख व्यापारी, प्रजावर्गके लोग और विशेषतः बन्धु-बान्धव बुलाये जायँ । तात ! पुण्याहवाचन कराओ और ब्राह्मणोंको दक्षिणाके साथ एक सहस्र गौएँ तथा मुख्य-मुख्य ग्राम दो । विदुर ! दो भुजबंद, एक सुन्दर मुकुट तथा हाथके आभूषण मँगाओ । मोतीकी कई मालाएँ, हार, पदक, कुण्डल, करधनी, कटिसूत्र तथा उदरबन्ध भी ले आओ । एक हजार आठ हाथी मँगाओ, जिनपर ब्राह्मण सवार हों । पुरोहितोंके साथ जाकर वे हाथी शीघ्र गङ्गाजीका जल ले आयें । युधिष्ठिर अभिषेकके जलसे भीगे हों, समस्त आभूषणोंसे उन्हें विभूषित किया गया हो, वे राजाकी सवारीके योग्य गजराजपर बैठे हों, उनपर दिव्य चँवर डुल रहे हों और उनके मस्तकके ऊपर सुवर्ण और मणियोंसे विचित्र शोभा धारण करनेवाला श्वेत छत्र सुशोभित हो, ब्राह्मणोंद्वारा की हुई जय-जयकारके साथ बहुत-से नरेश उनकी स्तुति करते हों । इस प्रकार कुन्तीके ज्येष्ठ पुत्र अजमीढकुलतिलक युधिष्ठिरका प्रसन्न मनसे दर्शन करके प्रसन्न हुए पुरवासीजन इनकी भूरि-भूरि प्रशंसा करें । राजा पाण्डुने मुझे ही अपना राज्य देकर जो उपकार किया था, उसका बदला इसीसे पूर्ण होगा कि युधिष्ठिरका राज्याभिषेक कर दिया जाय; इसमें संशय नहीं है ।

वैशम्पायन उवाच

भीष्मो द्रोणः कृपः क्षत्ता साधु साध्वित्यभाषत ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर भीष्म, द्रोण, कृप तथा विदुरने कहा—'बहुत अच्छा ! बहुत अच्छा !'

श्रीवासुदेव उवाच

युक्तमेतन्महाराज कौरवाणां यशस्करम् ।
शीघ्रमद्यैव राजेन्द्र यथोक्तं कर्तुमर्हसि ॥

(तब) भगवान् श्रीकृष्ण बोले—महाराज ! आपका यह विचार सर्वथा उत्तम तथा कौरवोंका यश बढ़ानेवाला है । राजेन्द्र ! आपने जैसा कहा है, उसे आज ही जितना शीघ्र सम्भव हो सके, पूर्ण कर डालिये ।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्त्वा वार्ष्णेयस्त्वरयामास तं तदा ।
यथोक्तं धृतराष्ट्रस्य कारयामास कौरवः ॥
तस्मिन् क्षणे महाराज कृष्णद्वैपायनस्तदा ।
आगत्य कुरुभिः सर्वैः पूजितः स सुहृद्गणैः ॥
मूर्धावसिक्तैः सहितो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
कारयामास विधिवत् केशवानुमते तदा ।
कृपो द्रोणश्च भीष्मश्च धौम्यश्च व्यासकेशवौ ।
बाह्लीकः सोमदत्तश्च चातुर्वेद्यपुरस्कृताः ।
अभिषेकं तदा चक्रुर्भद्रपीठे सुसंयतम् ।
जित्वा तु पृथिवीं कृत्स्नां वशे कृत्वा नरर्षभान् ।
राजसूयादिभिर्यज्ञैः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः ।
स्नात्वा ह्यवभृथस्नानं मोदतां बान्धवैः सह ।
एवमुक्त्वा तु ते सर्वे आशीर्भिरभिपूजयन् ।
मूर्धाभिषिक्तः कौरव्य सर्वाभरणभूषितः ।
जयेति संस्तुतो राजा प्रददौ धनमक्षयम् ।
सर्वमूर्धावसिक्तैश्च पूजितः कुरुनन्दनः ।
औपवाह्यमथारुह्य श्वेतच्छत्रेण शोभितः ।
नराजानुगतो राजा महेन्द्र इव दैवतैः ।
ततः प्रदक्षिणीकृत्य नगरं नागसाह्वयम् ।
प्रविवेश ततो राजा नागरैः पूजितो भृशम् ।
मूर्धाभिषिक्तं कौन्तेयमभ्यनन्दन्त बान्धवाः ।
गान्धारिपुत्राः शोचन्तः सर्वे ते सह बान्धवैः ।
ज्ञात्वा शोकं तु पुत्राणां धृतराष्ट्रोऽब्रवीन्नृपम् ।
समक्षं वासुदेवस्य कुरूणां च समक्षतः ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—इतना कहकर श्रीकृष्णने उन्हें जल्दी करनेकी प्रेरणा दी। विदुरजीने उ... कथनानुसार सब कार्य पूर्ण कर दिया। उसी समय, रा... महर्षि कृष्णद्वैपायन पधारे । समस्त कौरवोंने अपने ... साथ आकर उनकी पूजा की । तब वेदोंके पारंगत विद्वा... तथा मूर्धाभिषिक्त नरेशोंके साथ मिलकर भगवान् श्री... सम्मतिके अनुसार व्यासजीने विधिपूर्वक अभिषेक-का... किया। कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, भीष्म, धौम्य, व्यास, श्री... बाह्लीक और सोमदत्तने चारों वेदोंके विद्वानोंको आगे ... भद्रपीठपर संयमपूर्वक बैठे हुए युधिष्ठिरका उ... अभिषेक किया और सबने यह आशीर्वाद दिया कि '... तुम सारी पृथ्वीको जीतकर सम्पूर्ण नरेशोंको अपने ... करके प्रचुर दक्षिणासे युक्त राजसूय आदि यज्ञ-या... करनेके पश्चात् अवभृथ-स्नान करके बन्धु-बान्धवोंके सा... रहो ।' जनमेजय ! यों कहकर उन सबने अपने आ... द्वारा युधिष्ठिरका सम्मान किया । समस्त आभूषणोंसे वि... मूर्धाभिषिक्त राजा युधिष्ठिरने अक्षय धनका दान कि... उस समय सब लोगोंने जय-जयकारपूर्वक उनकी स्तुति ... समस्त मूर्धाभिषिक्त राजाओंने भी कुरुनन्दन युधिष्ठिरका ... किया । फिर वे राजोचित गजराजपर आरूढ़ हो श्वेत ... सुशोभित हुए । उनके पीछे-पीछे बहुत-से मनुष्य ... थे । उस समय देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति उनकी ... शोभा हो रही थी । समस्त हस्तिनापुर नगरकी परिक्रमा ...

...ने पुनः राजधानीमें प्रवेश किया। उस समय नागरिकोंने ...का विशेष समादर किया। बन्धु-बान्धवोंने भी मूर्धाभिषिक्त ...जा युधिष्ठिरका सादर अभिनन्दन किया। यह सब देखकर वे ...न्धारीके दुर्योधन आदि सभी पुत्र अपने भाइयोंके साथ ...कातुर हो रहे थे। अपने पुत्रोंको शोक हुआ जानकर ...तराष्ट्रने भगवान् श्रीकृष्ण तथा कौरवोंके समक्ष राजा युधिष्ठिरसे (इस प्रकार) कहा।

धृतराष्ट्र उवाच

...भिषेकं त्वया प्राप्तं दुष्प्रापमकृतात्मभिः।
...च्छ त्वमद्यैव नृप कृतकृत्योऽसि कौरव॥
...आयुः पुरूरवा राजन् नहुषश्च ययातिना।
...त्रैव निवसन्ति स्म खाण्डवाह्वे नृपोत्तम॥
राजधानी तु सर्वेषां पौरवाणां महाभुज।
येनाशितं मुनिगणैर्लोभाद् बुधसुतस्य च॥
तस्मात् त्वं खाण्डवप्रस्थं पुरं राष्ट्रं च वर्धय।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतनिश्चयाः॥
त्वद्भक्त्या जन्तवश्चान्ये भजन्त्येव पुरं शुभम्।
पुरं राष्ट्रं समृद्धं वै धनधान्यैः समावृतम्॥
तस्मात् गच्छस्व कौन्तेय भ्रातृभिः सहितोऽनघ।)

धृतराष्ट्र बोले—कुरुनन्दन! तुमने वह राज्याभिषेक प्राप्त किया है, जो अजितात्मा पुरुषोंके लिये दुर्लभ है। राजन्! तुम राज्य पाकर कृतार्थ हो गये। अतः आज ही खाण्डवप्रस्थ चले जाओ। नृपश्रेष्ठ! पुरूरवा, आयु, नहुष तथा ययाति खाण्डवप्रस्थमें ही निवास करते थे। महाबाहो! वहीं समस्त पौरव नरेशोंकी राजधानी थी। आगे चलकर मुनियोंने बुधपुत्रके लोभसे खाण्डवप्रस्थको नष्ट कर दिया था। इसलिये तुम खाण्डवप्रस्थ नगरको पुनः बसाओ और अपने राष्ट्रकी वृद्धि करो। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, तथा शूद्र सबने तुम्हारे साथ वहाँ जानेका निश्चय किया है। तुममें भक्ति रखनेके कारण दूसरे लोग भी उस सुन्दर नगरका आश्रय लेंगे। निष्पाप कुन्तीकुमार! वह नगर तथा राष्ट्र समृद्धिशाली और धन-धान्यसे सम्पन्न है। अतः तुम भाइयोंसहित वहीं जाओ।

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद् वाक्यं नृपं सर्वे प्रणम्य च॥ २६॥
प्रतस्थिरे ततो घोरं वनं तन्मनुजर्षभाः।
अर्धं राज्यस्य सम्प्राप्य खाण्डवप्रस्थमाविशन्॥ २७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्रकी बात मानकर पाण्डवोंने उन्हें प्रणाम किया और आधा राज्य पाकर वे खाण्डवप्रस्थकी ओर चल दिये, जो भयंकर वनके रूपमें था। धीरे-धीरे वे खाण्डवप्रस्थमें जा पहुँचे॥ २६-२७॥

ततस्ते पाण्डवास्तत्र गत्वा कृष्णपुरोगमाः।
मण्डयां चक्रिरे तद् वै परं स्वर्गवदच्युताः॥ २८॥

तदनन्तर अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले पाण्डवोंने श्रीकृष्णसहित वहाँ जाकर उस स्थानको उत्तम स्वर्गलोककी भाँति शोभायमान कर दिया॥ २८॥

(वासुदेवो जगन्नाथश्चिन्तयामास वासवम्।
महेन्द्रश्चिन्तितो राजन् विश्वकर्माणमादिशत्॥

फिर जगदीश्वर भगवान् वासुदेवने देवराज इन्द्रका चिन्तन किया। राजन्! उनके चिन्तन करनेपर इन्द्रदेवने (उनके मनकी बात जानकर) विश्वकर्माको इस प्रकार आज्ञा दी।

महेन्द्र उवाच

विश्वकर्मन् महाप्राज्ञ अद्यप्रभृति तत् पुरम्।
इन्द्रप्रस्थमिति ख्यातं दिव्यं रम्यं भविष्यति॥

इन्द्र बोले—विश्वकर्मन्! महामते! (आप जाकर खाण्डवप्रस्थ नगरका निर्माण करें।) आजसे वह दिव्य और रमणीय नगर इन्द्रप्रस्थके नामसे विख्यात होगा।

वैशम्पायन उवाच

महेन्द्रशासनाद् गत्वा विश्वकर्मा तु केशवम्।
प्रणम्य प्रणिपातार्हं किं करोमीत्यभाषत॥
वासुदेवस्तु तच्छ्रुत्वा विश्वकर्माणमूचिवान्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महेन्द्रकी आज्ञासे विश्वकर्माने खाण्डवप्रस्थमें जाकर वन्दनीय भगवान् श्रीकृष्णको प्रणाम करके कहा—मेरे लिये क्या आज्ञा है? उनकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा।

वासुदेव उवाच

कुरुष्व कुरुराजाय महेन्द्रपुरसंनिभम्।
इन्द्रेण कृतनामानमिन्द्रप्रस्थं महापुरम्॥)

श्रीकृष्ण बोले—विश्वकर्मन्! तुम कुरुराज युधिष्ठिरके लिये महेन्द्रपुरीके समान एक महानगरका निर्माण करो। इन्द्रके निश्चय किये हुए नामके अनुसार वह इन्द्रप्रस्थ कहलायेगा।

ततः पुण्ये शिवे देशे शान्तिं कृत्वा महारथाः।
नगरं मापयामासुर्द्वैपायनपुरोगमाः॥ २९॥

तत्पश्चात् पवित्र एवं कल्याणमय प्रदेशमें शान्तिकर्म कराके महारथी पाण्डवोंने वेदव्यासजीको अगुआ बनाकर नगर बसानेके लिये जमीनका नाप करवाया॥ २९॥

सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलंकृतम्।
प्राकारेण च सम्पन्नं दिवमावृत्य तिष्ठता॥ ३०॥
पाण्डुराभ्रप्रकाशेन हिमरश्मिनिभेन च।
शुशुभे तत् पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा॥ ३१॥

उसके चारों ओर समुद्रकी भाँति विस्तृत एवं अगाध जलसे भरी हुई खाइयाँ बनी थीं, जो उस नगरकी शोभा बढ़ा रही थीं। श्वेत बादलों तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल चहारदीवारी शोभा दे रही थी, जो अपनी ऊँचाईसे आकाशमण्डलको व्याप्त करके खड़ी थी। जैसे नागोंसे भोगवती सुशोभित होती है, उसी प्रकार उस चहारदीवारीसे खाईसहित वह श्रेष्ठ नगर सुशोभित हो रहा था ॥ ३०-३१ ॥

द्विपक्षगरुडप्रख्यैर्द्वारैः सौधैश्च शोभितम्।
गुप्तमभ्रचयप्रख्यैर्गोपुरैर्मन्दरोपमैः ॥ ३२ ॥

उस नगरके दरवाजे ऐसे जान पड़ते थे, मानो दो पाँख फैलाये गरुड़ हों। ऐसे अनेक बड़े-बड़े फाटक और अट्टालिकाएँ उस नगरकी श्रीवृद्धि कर रही थीं। मेघोंकी घटाके समान सुशोभित तथा मन्दराचलके समान ऊँचे गोपुरोंद्वारा वह नगर सब ओरसे सुरक्षित था ॥ ३२ ॥

विविधैरपि निर्विद्धैः शस्त्रोपेतैः सुसंवृतैः।
शक्तिभिश्चावृतं तद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः ॥ ३३ ॥

नाना प्रकारके अभेद्य तथा सब ओरसे घिरे हुए शस्त्रागारोंमें शस्त्र संग्रह करके रक्खे गये थे। नगरके चारों ओर हाथसे चलायी जानेवाली लोहेकी शक्तियाँ तैयार करके रखी गयी थीं, जो दो जीभोंवाले साँपोंके समान जान पड़ती थीं। इन सबके द्वारा उस नगरकी सुरक्षा की गयी थी ॥ ३३ ॥

तल्पैश्चाभ्यासिकैर्युक्तं शुशुभे योधरक्षितम्।
तीक्ष्णाङ्कुशशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैश्च शोभितम् ॥ ३४ ॥

जिनमें अस्त्र-शस्त्रोंका अभ्यास किया जाता था, ऐसी अनेक अट्टालिकाओंसे युक्त और योद्धाओंसे सुरक्षित उस नगरकी शोभा देखते ही बनती थी। तीखे अङ्कुशों (बर्छों), शतघ्नियों (तोपों) और अन्यान्य युद्धसम्बन्धी यन्त्रोंके जालसे वह नगर शोभा पा रहा था ॥ ३४ ॥

आयसैश्च महाचक्रैः शुशुभे तत् पुरोत्तमम्।
सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम् ॥ ३५ ॥

लोहेके बने हुए महान् चक्रोंद्वारा उस उत्तम नगरकी अवर्णनीय शोभा हो रही थी। वहाँ विभागपूर्वक विभिन्न स्थानोंमें जानेके लिये विशाल एवं चौड़ी सड़कें बनी हुई थीं। उस नगरमें दैवी आपत्तिका नाम नहीं था ॥ ३५ ॥

विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमैः।
तत् त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत ॥ ३६ ॥

अनेक प्रकारके श्रेष्ठ एवं शुभ्र सदनोंसे शोभित वह नगर स्वर्गलोकके समान प्रकाशित हो रहा था। उसका नाम था इन्द्रप्रस्थ ॥ ३६ ॥

मेघवृन्दमिवाकाशे विद्धं विद्युत्समावृतम्।
तत्र रम्ये शिवे देशे कौरव्यस्य निवेशनम्।

इन्द्रप्रस्थके रमणीय एवं शुभ प्रदेशमें कुरुराजका सुन्दर राजभवन बना हुआ था, जो आकाशमें विद्युत्की प्रभासे व्याप्त मेघमण्डलकी भाँति देदीप्यमान था।

शुशुभे धनसम्पूर्णं धनाध्यक्षक्षयोपमम्।
तत्रागच्छन् द्विजा राजन् सर्ववेदविदां वराः।
निवासं रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा।
वणिजश्चाययुस्तत्र नानादिग्भ्यो धनार्थिनः।

अनन्त धनराशिसे परिपूर्ण होनेके कारण वह राजभवन धनाध्यक्ष कुबेरके निवासस्थानकी समानता करता था। सम्पूर्ण वेदवेत्ताओंमें श्रेष्ठ ब्राह्मण उस नगरमें निवास करने आये, जो सम्पूर्ण भाषाओंके जानकार थे। उन्हें वहाँ का रहना बहुत पसंद आया। अनेक दिशाओंसे धनकी इच्छावाले वणिक् भी उस नगरमें आये ॥ ३८-३९ ॥

सर्वशिल्पविदस्तत्र वासायाभ्यागमंस्तदा।
उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः।

सब प्रकारकी शिल्पकलाके जानकार मनुष्य भी उन दिनों इन्द्रप्रस्थमें निवास करनेके लिये आ गये थे। नगरके चारों ओर रमणीय उद्यान थे ॥ ४० ॥

आम्रैराम्रातकैर्नीपैरशोकैश्चम्पकैस्तथा
पुन्नागैर्नागपुष्पैश्च लकुचैः पनसैस्तथा।
शालतालतमालैश्च वकुलैश्च सकेतकैः।
मनोहरैः सुपुष्पैश्च फलभारावनामितैः।

जो आम, आमड़ा, कदम्ब, अशोक, चम्पा, पुन्नाग, नागपुष्प, लकुच, कटहल, साल, ताल, तमाल, मौलसिरी और केवड़ा आदि सुन्दर फूलोंसे भरे और फलोंके भारसे झुके हुए मनोहर वृक्षोंसे सुशोभित थे ॥ ४१-४२ ॥

प्राचीनामलकैर्लोध्रैरङ्कोलैश्च सुपुष्पितैः।
जम्बूभिः पाटलाभिश्च कुब्जकैरतिमुक्तकैः।
करवीरैः पारिजातैरन्यैश्च विविधैर्द्रुमैः।
नित्यपुष्पफलोपेतैर्नानाद्विजगणायुतैः

प्राचीन आँवले, लोध्र, खिले हुए अङ्कोल, जामुन, पाटल, कुब्जक, अतिमुक्तक लता, करवीर, पारिजात तथा अन्य नाना प्रकारके वृक्ष, जिनमें सदा फल और फूल लगे रहते थे और जिनके ऊपर भाँति-भाँतिके बहुत-से पक्षी कलरव करते थे, उन उद्यानोंकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ४३-४४ ॥

मत्तबर्हिणसंघुष्टकोकिलैश्च सदामदैः।
गृहैरादर्शविमलैर्विविधैश्च लतागृहैः।

मतवाले मयूरोंके केकारव तथा सदा उन्मत्त रहनेवाले कोकिलोंकी काकली वहाँ गूँजती रहती थी। उन उद्यानोंमें

णके समान स्वच्छ क्रीडाभवन तथा नाना प्रकारके लता-
ण्डप बनाये गये थे ॥ ४५ ॥

नोहरैश्चित्रगृहैस्तथाजगतिपर्वतैः ।
पीभिर्विविधाभिश्च पूर्णाभिः परमाम्भसा ॥ ४६ ॥
रोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः ।
सकारण्डवयुतैश्चक्रवाकोपशोभितैः ॥ ४७ ॥

मनोहर चित्रशालाओं तथा राजाओंकी विहारयात्राके
लिये निर्मित हुए कृत्रिम पर्वतोंसे भी वे उद्यान बड़ी शोभा
पा रहे थे। उत्तम जलसे भरी हुई अनेक प्रकारकी बावलियाँ
तथा कमल और उत्पलकी सुगन्धसे वासित अत्यन्त रमणीय
सरोवर जहाँ हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षी निवास
करते थे, उन उद्यानोंकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ४६-४७ ॥

रम्याश्च विविधास्तत्र पुष्करिण्यो वनावृताः ।
तडागानि च रम्याणि बृहन्ति सुबहूनि च ॥ ४८ ॥

वहाँ वनसे घिरी हुई भाँति-भाँतिकी रमणीय पुष्करिणियाँ
और सुरम्य एवं विशाल बहुसंख्यक तड़ाग बड़े सुन्दर जान
पड़ते थे ॥ ४८ ॥

(चातुर्वर्ण्यसमाकीर्णं मान्यैः शिल्पिभिरावृतम् ।
उपयोगसमर्थैश्च सर्वद्रव्यैः समावृतम् ॥
नित्यमार्यजनोपेतं नरनारीगणैर्युतम् ।
मत्तवारणसम्पूर्णं गोभिरुष्ट्रैः खरैरजैः ॥
सर्वदाभिगतं सद्भिः कारितं विश्वकर्मणा ॥
तत् त्रिविष्टपसंकाशमिन्द्रप्रस्थं व्यरोचत ॥
पुरीं सर्वगुणोपेतां निर्मितां विश्वकर्मणा ।
पौरवाणामधिपतिः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ॥
कृतमङ्गलसत्कारो ब्राह्मणैर्वेदपारगैः ।
द्वैपायनं पुरस्कृत्य धौम्यस्यानुमते स्थितः ॥
भ्रातृभिः सहितो राजन् केशवेन सहाभिभूः ।
तोरणद्वारसुमुखं द्वात्रिंशद्द्वारसंयुतम् ॥
वर्धमानपुरद्वारं प्रविवेश महाद्युतिः ॥
शङ्खदुन्दुभिनिर्घोषाः श्रूयन्ते बहवो भृशम् ।
जयेति ब्राह्मणगिरः श्रूयन्ते च सहस्रशः ॥
संस्तूयमानो मुनिभिः सूतमागधवन्दिभिः ।
औपवाह्यगतो राजा राज्यमार्गमतीत्य च ॥
कृतमङ्गलसत्कारं प्रविवेश गृहोत्तमम् ॥
प्रविश्य भवनं राजा सत्कारैरभिपूजितः ।
पूजयामास विप्रेन्द्रान् केशवेन यथाक्रमम् ॥
ततस्तु राष्ट्रं नगरं नरनारीगणायुतम् ।
गोधनैश्च समाकीर्णं सस्यवृद्धिस्तदाभवत् ॥)

वह नगर चारों वर्णोंके लोगोंसे ठसाठस भरा था। माननीय
शिल्पी वहाँ निवास करते थे। वह पुरी उपभोगमें आनेवाली
समस्त सामग्रियोंसे सम्पन्न थी। वहाँ सदा श्रेष्ठ पुरुष रहा
करते थे। असंख्य नर-नारी उस नगरीकी शोभा बढ़ाते थे।
वहाँ मतवाले हाथी, ऊँट, गायें, बैल, गदहे और बकरे आदि
पशु भी सदा मौजूद रहते थे। विश्वकर्माद्वारा बनायी हुई
उस पुरीमें सदा साधु-महात्माओंका समागम होता था। वह
इन्द्रप्रस्थ नगर स्वर्गके समान शोभा पाता था। राजन्! कौरवराज
महातेजस्वी कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने वेदोंके पारंगत विद्वान्
ब्राह्मणोंद्वारा मङ्गल-कृत्य कराकर द्वैपायन व्यासको आगे
करके धौम्य मुनिकी सम्मतिके अनुसार भाइयों तथा भगवान्
श्रीकृष्णके साथ बत्तीस दरवाजोंसे युक्त तोरणद्वारके सामने
आकर वर्धमान नामक नगरद्वारमें प्रवेश किया। उस समय
शङ्ख और नगारोंकी आवाज बड़े जोर-जोरसे सुनायी देती
थी। सहस्रों ब्राह्मणोंके मुखसे निकले हुए जयघोषका श्रवण
होता था। मुनि तथा सूत, मागध और वन्दीजन राजाकी
स्तुति कर रहे थे। राजा युधिष्ठिर हाथीपर बैठे हुए थे।
उन्होंने राजमार्गको पार करके एक उत्तम भवनमें प्रवेश
किया, जहाँ माङ्गलिक कृत्य सम्पन्न किया गया था। उस
भवनमें प्रवेश करके भाँति-भाँतिके सत्कारोंसे सम्मानित हो
राजा युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके साथ क्रमशः सभी श्रेष्ठ
ब्राह्मणोंका पूजन किया। तदनन्तर अगणित नर-नारियोंसे
सुशोभित वह राष्ट्र और नगर गोधनसे सम्पन्न हो गया और
दिनोंदिन खेतीकी वृद्धि होने लगी ॥

तेषां पुण्यजनोपेतं राष्ट्रमाविशतां महत् ।
पाण्डवानां महाराज शश्वत् प्रीतिरवर्धत ॥ ४९ ॥

महाराज! पुण्यात्मा मनुष्योंसे भरे हुए उस महान्
राष्ट्रमें प्रवेश करनेके बाद पाण्डवोंकी प्रसन्नता निरन्तर
बढ़ती गयी ॥ ४९ ॥

तत्र भीष्मेण राज्ञा च धर्मप्रणयने कृते ।
पाण्डवाः समपद्यन्त खाण्डवप्रस्थवासिनः ॥ ५० ॥

भीष्म तथा राजा धृतराष्ट्रके द्वारा धर्मराज युधिष्ठिरको
आधा राज्य देकर वहाँसे विदा कर देनेपर समस्त पाण्डव
खाण्डवप्रस्थके निवासी हो गये ॥ ५० ॥

पञ्चभिस्तैर्महेष्वासैरिन्द्रकल्पैः समन्वितम् ।
शुशुभे तत् पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा ॥ ५१ ॥

इन्द्रके समान शक्तिशाली और महान् धनुर्धर पाँचों
पाण्डवोंके द्वारा वह श्रेष्ठ इन्द्रप्रस्थ नगर नागोंसे युक्त भोगवती
पुरीकी भाँति सुशोभित होने लगा ॥ ५१ ॥

(ततस्तु विश्वकर्माणं पूजयित्वा विसृज्य च ।
द्वैपायनं च सम्पूज्य विसृज्य च नराधिप ।
वार्ष्णेयमब्रवीद् राजा गन्तुकामं कृतक्षणम् ॥

तदनन्तर विश्वकर्माका पूजन करके राजाने उन्हें विदा कर दिया। फिर व्यासजीको सम्मानपूर्वक विदा देकर राजा युधिष्ठिरने जानेके लिये उद्यत हुए भगवान् श्रीकृष्णसे कहा।

युधिष्ठिर उवाच

तव प्रसादाद् वार्ष्णेय राज्यं प्राप्तं मयानघ।
प्रसादादेव ते वीर शून्यं राष्ट्रं सुदुर्गमम्॥
तवैव तु प्रसादेन राज्यस्थाश्च महामते॥
गतिस्त्वमन्तकाले च पाण्डवानां तु माधव।
मातास्माकं पिता देवो न पाण्डुं विद्म वै वयम्॥
ज्ञात्वा तु कृत्यं कर्तव्यं कारयस्व भवान् हि नः।
यदिष्टमनुमन्तव्यं पाण्डवानां त्वयानघ॥

युधिष्ठिर बोले—निष्पाप वृष्णिनन्दन! आपकी ही कृपासे मैंने राज्य प्राप्त किया है। वीर! आपके ही प्रसादसे यह अत्यन्त दुर्गम एवं निर्जन प्रदेश आज धन-धान्यसे सम्पन्न राष्ट्र बन गया। महामते! आपकी ही दयासे हमलोग राज्यसिंहासनपर आसीन हुए हैं। माधव! अन्तकालमें भी आप ही हम पाण्डवोंकी गति हैं। आप ही हमारे माता-पिता और इष्टदेव हैं। हम पाण्डुको नहीं जानते। अनघ! आप स्वयं समझकर जो करने योग्य कार्य हो, वह हमसे करायें। पाण्डवोंके लिये जो अभीष्ट हो, उसी कार्यको करनेके लिये आप हमें अनुमति दें॥

श्रीवासुदेव उवाच

त्वत्प्रभावान्महाभाग राज्यं प्राप्तं स्वधर्मतः।
पितृपैतामहं राज्यं कथं न स्यात् तव प्रभो॥
धार्तराष्ट्रा दुराचाराः किं करिष्यन्ति पाण्डवान्।
यथेष्टं पालय महीं सदा धर्मधुरं वह॥
धर्मोपदेशं संक्षेपाद् ब्राह्मणान् भज कौरव।
अद्यैव नारदः श्रीमानागमिष्यति सत्वरः॥
आदत्स्व तस्य वाक्यानि शासनं कुरु तस्य वै॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—महाभाग! आपको अपने ही प्रभावसे अपने ही धर्मके फलस्वरूप राज्य प्राप्त हुआ है। प्रभो! जो राज्य आपके बाप-दादोंका ही है, वह आपको कैसे नहीं मिलता। धृतराष्ट्रके पुत्र दुराचारी हैं। वे पाण्डवोंका क्या कर लेंगे? आप इच्छानुसार पृथ्वीका पालन कीजिये और सदा धर्ममर्यादाकी धुरी धारण करिये। कुरुनन्दन! संक्षेपसे आपके लिये धर्मका उपदेश इतना ही है कि ब्राह्मणोंकी सेवा करिये। आज ही बड़ी जल्दीमें आपके यहाँ श्रीनारद[illegible] उनका आदर-सत्कार करके उनकी बातें सुनिये [illegible] आज्ञाका पालन कीजिये।

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः कुन्तीमभिवाद्य जनार्द[illegible]
उवाच श्लक्ष्णया वाचा गमिष्यामि नमोऽस्तु[illegible]

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! [illegible] भगवान् श्रीकृष्ण कुन्तीदेवीके पास गये और [illegible] करके मधुर वाणीमें बोले—'बुआजी! नमस्[illegible] जाऊँगा (आज्ञा दीजिये)।'

कुन्त्युवाच

जातुषं गृहमासाद्य मया प्राप्तं च केशव[illegible]
आर्येण चापि न ज्ञातं कुन्तिभोजेन चानघ[illegible]
त्वया नाथेन गोविन्द दुःखं तीर्णं महत्तरम्[illegible]
त्वं हि नाथस्त्वनाथानां दरिद्राणां विशेषतः[illegible]
सर्वदुःखानि शाम्यन्ति तव संदर्शनान्मम[illegible]
स्मरस्वैनान् महाप्राज्ञ तेन जीवन्ति पाण्डवाः[illegible]

कुन्ती बोली—केशव! लाक्षागृहमें [illegible] कष्ट भोगा है, उसे मेरे पूज्य पिता कुन्तिभोज [illegible] सके हैं। गोविन्द! तुम्हारी सहायतासे ही मैं [illegible] दुःख-समुद्रसे पार हुई हूँ। प्रभो! तुम अनाथों[illegible] दीन-दुखियोंके नाथ (रक्षक) हो। तुम्हारे द[illegible] सारे दुःख दूर हो जाते हैं। महामते! इन पाण्ड[illegible] याद रखना। ये तुम्हारे शुभ चिन्तनसे ही [illegible] करते हैं॥

वैशम्पायन उवाच

करिष्यामीति चामन्त्र्य अभिवाद्य पितृष्वसाम्[illegible]
गमनाय मतिं चक्रे वासुदेवः सहानुगः[illegible]

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान् श्रीकृष्णने कुन्तीसे यह कहकर कि मैं आ[illegible] का पालन करूँगा, प्रणाम करके, विदा ले सेवकों[illegible] जानेका विचार किया॥

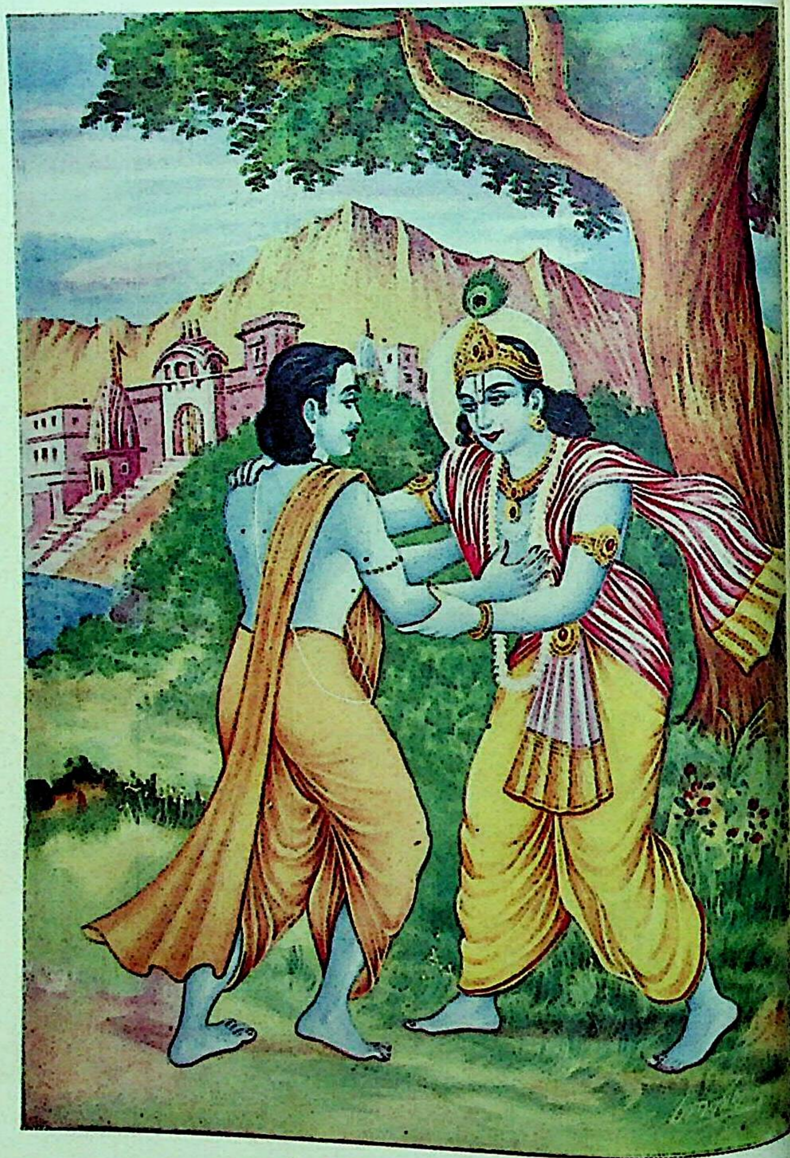
तां निवेश्य ततो वीरो रामेण सह केशव[illegible]
ययौ द्वारवतीं राजन् पाण्डवानुमते तदा[illegible]

राजन्! इस प्रकार उस पुरीको बसाकर ब[illegible] वीरवर श्रीकृष्ण पाण्डवोंकी अनुमति ले उस [illegible] पुरीको चले गये॥ ५२॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि पुरनिर्माणे षडधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २०६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें नगरनिर्माणविषयक दो सौ छठा अध्याय पूरा हुआ[illegible]

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९९ श्लोक मिलाकर कुल १५१ श्लोक हैं।)



प्रभासक्षेत्रमें श्रीकृष्ण और अर्जुनका मिलन

सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः

पाण्डवोंके यहाँ नारदजीका आगमन और उनमें फूट न हो, इसके लिये कुछ नियम बनानेके लिये प्रेरणा करके सुन्द और उपसुन्दकी कथाको प्रस्तावित करना

जनमेजय उवाच

एवं सम्प्राप्य राज्यं तदिन्द्रप्रस्थं तपोधन।
अत ऊर्ध्वं महात्मानः किमकुर्वत पाण्डवाः॥ १॥

जनमेजयने पूछा—तपोधन! इस प्रकार इन्द्रप्रस्थका राज्य प्राप्त कर लेनेके पश्चात् महात्मा पाण्डवोंने कौन-सा कार्य किया?॥ १॥

सर्व एव महासत्त्वा मम पूर्वपितामहाः।
द्रौपदी धर्मपत्नी च कथं तानन्ववर्तत॥ २॥

मेरे पूर्वपितामह सभी पाण्डव महान् सत्त्व (मनोबल) से सम्पन्न थे। उनकी धर्मपत्नी द्रौपदीने किस प्रकार उन सबका अनुसरण किया?॥ २॥

कथं च पञ्च कृष्णायामेकस्यां ते नराधिपाः।
वर्तमाना महाभागा नाभिद्यन्त परस्परम्॥ ३॥

वे महान् सौभाग्यशाली नरेश जब एक ही कृष्णाके प्रति अनुरक्त थे, तब उनमें आपसमें फूट कैसे नहीं हुई?॥ ३॥

श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं विस्तरेण तपोधन।
तेषां चेष्टितमन्योन्यं युक्तानां कृष्णया सह॥ ४॥

तपोधन! द्रौपदीसे सम्बन्ध रखनेवाले उन पाण्डवोंका आपसमें कैसा बर्ताव था, यह सब मैं विस्तारके साथ सुनना चाहता हूँ॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्राभ्यनुज्ञाताः कृष्णया सह पाण्डवाः।
रेमिरे खाण्डवप्रस्थे प्राप्तराज्याः परंतपाः॥ ५॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! धृतराष्ट्रकी आज्ञासे राज्य पाकर परंतप पाण्डव द्रौपदीके साथ खाण्डवप्रस्थमें विहार करने लगे॥ ५॥

प्राप्य राज्यं महातेजाः सत्यसंधो युधिष्ठिरः।
पालयामास धर्मेण पृथिवीं भ्रातृभिः सह॥ ६॥

सत्यप्रतिज्ञ महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर उस राज्यको पाकर अपने भाइयोंके साथ धर्मपूर्वक पृथ्वीका पालन करने लगे॥ ६॥

जितारयो महाप्राज्ञाः सत्यधर्मपरायणाः।
मुदं परमिकां प्राप्तास्तत्रोषुः पाण्डुनन्दनाः॥ ७॥

वे सभी शत्रुओंपर विजय पा चुके थे, सभी महाबुद्धिमान् थे। सबने सत्यधर्मका आश्रय ले रक्खा था। इस प्रकार वे पाण्डव वहाँ बड़े आनन्दके साथ रहते थे॥ ७॥

कुर्वाणाः पौरकार्याणि सर्वाणि पुरुषर्षभाः।
आसांचक्रुर्महार्हेषु पार्थिवेष्वासनेषु च॥ ८॥

नरश्रेष्ठ पाण्डव नगरवासियोंके सम्पूर्ण कार्य करते हुए बहुमूल्य तथा राजोचित सिंहासनोंपर बैठा करते थे॥ ८॥

अथ तेषूपविष्टेषु सर्वेष्वेव महात्मसु।
नारदस्त्वथ देवर्षिराजगाम यदृच्छया॥ ९॥

एक दिन जब वे सभी महामना पाण्डव अपने सिंहासनों पर विराजमान थे, उसी समय देवर्षि नारद अकस्मात् वहाँ आ पहुँचे॥ ९॥

(पथा नक्षत्रजुष्टेन सुपर्णचरितेन च॥
चन्द्रसूर्यप्रकाशेन सेवितेन महर्षिभिः।
नभःस्थलेन दिव्येन दुर्लभेनातपस्विनाम्॥

उनका आगमन आकाशमार्गसे हुआ, जिसका नक्षत्र सेवन करते हैं, जिसपर गरुड़ चलते हैं, जहाँ चन्द्रमा और सूर्यका प्रकाश फैलता है और जो महर्षियोंसे सेवित है। जो लोग तपस्वी नहीं हैं, उनके लिये व्योममण्डलका वह दिव्य मार्ग दुर्लभ है॥

भूतार्चितो भूतधरं राष्ट्रं नगरभूषितम्।
अवेक्षमाणो द्युतिमानाजगाम महातपाः॥
सर्ववेदान्तगो विप्रः सर्वविद्यासु पारगः।
परेण तपसा युक्तो ब्राह्मेण तपसा वृतः॥
नये नीतौ च निरतो विश्रुतश्च महामुनिः।

सम्पूर्ण प्राणियोंद्वारा पूजित महान् तपस्वी एवं तेजस्वी देवर्षि नारद बड़े-बड़े नगरोंसे विभूषित और सम्पूर्ण प्राणियोंके आश्रयभूत राष्ट्रोंका अवलोकन करते हुए वहाँ आये। विप्रवर नारद सम्पूर्ण वेदान्तशास्त्रके ज्ञाता तथा समस्त विद्याओंके पारङ्गत पण्डित हैं। वे परमतपस्वी तथा ब्राह्मतेजसे सम्पन्न हैं, न्यायोचित बर्ताव तथा नीतिमें निरन्तर निरत रहनेवाले सुविख्यात महामुनि हैं॥

परात् परतरं प्राप्तो धर्मात् समभिजग्मिवान्॥
भावितात्मा गतरजाः शान्तो मृदुर्ऋजुर्द्विजः।
धर्मेणाधिगतः सर्वैर्देवदानवमानुषैः॥
अक्षीणवृत्तधर्मश्च संसारभयवर्जितः।
सर्वथा कृतमर्यादो वेदेषु विविधेषु च॥
ऋक्सामयजुषां वेत्ता न्यायवृत्तान्तकोविदः।
ऋजुरारोहवाञ्छुक्लो भूयिष्ठपथिकोऽनघः॥
श्लक्ष्णया शिखयोपेतः सम्पन्नः परमत्विषा॥
अवदाते च सूक्ष्मे च दिव्ये च रुचिरे शुभे।
महेन्द्रदत्ते महती बिभ्रत् परमवाससी॥
प्राप्य दुष्प्रापमन्येन ब्रह्मवर्चसमुत्तमम्॥
भवने भूमिपालस्य बृहस्पतिरिवाप्लुतः॥

उन्होंने धर्म-बलसे परात्पर परमात्माका ज्ञान प्राप्त कर लिया है। वे शुद्धात्मा, रजोगुणरहित, शान्त, मृदु तथा सरल स्वभावके ब्राह्मण हैं। वे देवता, दानव और मनुष्य सबको धर्मतः प्राप्त होते हैं। उनका धर्म और सदाचार कभी खण्डित नहीं हुआ है। वे संसारभयसे सर्वथा रहित हैं। उन्होंने सब प्रकारसे विविध वैदिक धर्मोंकी मर्यादा स्थापित की है। वे ऋग्वेद, सामवेद और यजुर्वेदके विद्वान् हैं। न्यायशास्त्रके पारङ्गत पण्डित हैं। वे सीधे और ऊँचे कदके तथा शुक्ल वर्णके हैं। वे निष्पाप नारद अधिकांश समय यात्रामें व्यतीत करते हैं। उनके मस्तकपर सुन्दर शिखा शोभित है। वे उत्तम कान्तिसे प्रकाशित होते हैं। वे देवराज इन्द्रके दिये हुए दो बहुमूल्य वस्त्र धारण करते हैं। उनके वे दोनों वस्त्र उज्ज्वल, महीन, दिव्य, सुन्दर और शुभ हैं। दूसरोंके लिये दुर्लभ एवं उत्तम ब्रह्मतेजसे युक्त वे बृहस्पतिके समान बुद्धिमान् नारदजी राजा युधिष्ठिरके महलमें उतरे ॥

संहितायां च सर्वेषां स्थितस्योपस्थितस्य च।
द्विपदस्य च धर्मस्य क्रमधर्मस्य पारगः ॥
गाथासामानुधर्मज्ञः साम्नां परमवल्गुनाम्।
आत्मना सर्वमोक्षिभ्यः कृतिमान् कृत्यवित् तथा॥
योक्ता धर्मे बहुविधे मनो मतिमतां वरः।
विदितार्थः समश्चैव छेत्ता निगमसंशयान् ॥
अर्थनिर्वचने नित्यं संशयच्छिदसंशयः।
प्रकृत्या धर्मकुशलो नानाधर्मविशारदः ॥
लोपेनागमधर्मेण संक्रमेण च वृत्तिषु।
एकशब्दांश्च नानार्थानेकार्थांश्च पृथक्छ्रुतीन् ॥
पृथगर्थाभिधानांश्च प्रयोगाणामवेक्षिता ॥

संहिताशास्त्रमें सबके लिये स्थित और उपस्थित मानवधर्म तथा क्रमप्राप्त धर्मके वे पारगामी विद्वान् हैं। वे गाथा और साममन्त्रोंमें कहे हुए आनुषंगिक धर्मोंके भी ज्ञाता हैं तथा अत्यन्त मधुर सामगानके पण्डित हैं। मुक्तिकी इच्छा रखनेवाले सब लोगोंके हितके लिये नारदजी स्वयं ही प्रयत्नशील रहते हैं। कब किसका क्या कर्तव्य है, इसका उन्हें पूर्ण ज्ञान है। वे बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं और मनको नाना प्रकारके धर्मोंमें लगाये रखते हैं। उन्हें जानने योग्य सभी अर्थोंका ज्ञान है। वे सबमें समभाव रखनेवाले हैं और वेदविषयक सम्पूर्ण संदेहोंका निवारण करनेवाले हैं। अर्थकी व्याख्याके समय सदा संशयों-का उच्छेद करते हैं। उनके हृदयमें संशयका लेश भी नहीं है। वे स्वभावतः धर्मनिपुण तथा नाना धर्मोंके विशेषज्ञ हैं। लोप, आगमधर्म तथा वृत्तिसंक्रमणके द्वारा प्रयोगमें आये हुए एक शब्दके अनेक अर्थोंको, पृथक्-पृथक् श्रवणगोचर होनेवाले अनेक शब्दोंके एक अर्थको तथा विभिन्न शब्दोंके भिन्न भिन्न अर्थोंको वे पूर्णरूपसे देखते और समझते हैं ॥

प्रमाणभूतो लोकस्य सर्वाधिकरणेषु च।
सर्ववर्णविकारेषु नित्यं सकलपूजितः।
स्वरेऽस्वरे च विविधे वृत्तेषु विविधेषु च।
समस्थानेषु सर्वेषु समाम्नायेषु धातुषु।
उद्देश्यानां समाख्याता सर्वमाख्यातमुद्दिशन्।
अभिसंधिषु तत्त्वज्ञः पदान्यङ्गान्यनुस्मरन्।
कालधर्मेण निर्दिष्टं यथार्थं च विचारयन्।
चिकीर्षितं च यो वेत्ता यथा लोकेन संवृतम्।
विभाषितं च समयं भाषितं हृदयङ्गमम्।
आत्मने च परस्मै च स्वरसंस्कारयोगवान्।
एषां स्वराणां वेत्ता च बोद्धा च वचनस्वरान्।
विज्ञाता चोक्तवाक्यानामेकतां बहुतां तथा।
बोद्धा हि परमार्थांश्च विविधांश्च व्यतिक्रमान्।
अभेदतश्च बहुशो बहुशश्चापि भेदतः।
वचनानां च विविधानादेशांश्च समीक्षिता।
नानार्थकुशलस्तत्र तद्धितेषु च सर्वशः।
परिभूषयिता वाचां वर्णतः स्वरतोऽर्थतः।
प्रत्ययांश्च समाख्याता नियतं प्रतिधातुकम्।
पञ्च चाक्षरजातानि स्वरसंज्ञानि यानि च।

सभी अधिकरणों और समस्त वर्णोंके विकारों[illegible] देनेके निमित्त वे सब लोगोंके लिये प्रमाणभूत हैं। सदा[illegible] उनकी पूजा करते हैं। नाना प्रकारके स्वर, व्यञ्जन, भाँ[illegible] छन्द, समान स्थानवाले सभी वर्ण, समाम्नाय तथा धा[illegible] सबके उद्देश्योंकी नारदजी बहुत अच्छी व्याख्या करते[illegible] आख्यात प्रकरण (धातुरूप तिङन्त आदि) का प्रति[illegible] सकते हैं। सब प्रकारकी संधियोंके सम्पूर्ण रहस्योंको [illegible] पदों और अङ्गोंका निरन्तर स्मरण रखते हैं, काल-ध[illegible] यथार्थ तत्त्वका विचार करनेवाले हैं तथा वे लोगोंके [illegible] मनोभावको—वे क्या करना चाहते हैं, इस बातको [illegible] तरह जानते हैं। विभाषित (वैकल्पिक), भाषित (नि[illegible] कथित) और हृदयङ्गम किये हुए समयका उन्हें [illegible] ज्ञान है। वे अपने तथा दूसरेके लिये स्वरसंस्का[illegible] योगसाधनमें तत्पर रहते हैं। वे इन प्रत्यक्ष [illegible] स्वरोंको भी जानते हैं, वचन-स्वरोंका भी ज्ञान [illegible] कही हुई बातोंके मर्मको जानते और उनकी एक[illegible] अनेकताको समझते हैं। उन्हें परमार्थका यथार्थ ज्ञा[illegible] नाना प्रकारके व्यतिक्रमों (अपराधों) को भी [illegible] अभेद और भेददृष्टिसे भी बारंबार तत्त्वविचार करते [illegible] वे शास्त्रीय वाक्योंके विविध आदेशोंकी भी समीक्षा [illegible] तथा नाना प्रकारके अर्थज्ञानमें कुशल हैं, तद्धित [illegible] उन्हें पूरा ज्ञान है। वे स्वर, वर्ण और अर्थ तीनोंसे [illegible] को विभूषित करते हैं। प्रत्येक धातुके प्रत्ययोंका नि[illegible] प्रतिपादन करनेवाले हैं। पाँच प्रकारके जो [illegible]

तथा स्वर हैं*, उनको भी वे यथार्थरूपसे जानते हैं ॥

तमागतमृषिं दृष्ट्वा प्रत्युद्गम्याभिवाद्य च ।
आसनं रुचिरं तस्मै प्रददौ स्वं युधिष्ठिरः ।
देवर्षेरुपविष्टस्य स्वयमर्घ्यं यथाविधि ॥ १० ॥
प्रादाद् युधिष्ठिरो धीमान् राज्यं तस्मै न्यवेदयत् ।
प्रतिगृह्य तु तां पूजामृषिः प्रीतमनास्तदा ॥ ११ ॥

उन्हें आया देख राजा युधिष्ठिरने आगे बढ़कर उन्हें प्रणाम किया और अपना परम सुन्दर आसन उन्हें बैठनेके लिये दिया । जब देवर्षि उसपर बैठ गये, तब परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरने स्वयं ही विधिपूर्वक उन्हें अर्घ्य निवेदन किया और उसीके साथ-साथ उन्हें अपना सारा राज्य समर्पित कर दिया । उनकी यह पूजा ग्रहण करके देवर्षि उस समय मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए ॥ १०-११ ॥

आशीर्भिर्वर्धयित्वा च तमुवाचास्यतामिति ।
निषसादाभ्यनुज्ञातस्ततो राजा युधिष्ठिरः ॥ १२ ॥
कथयामास कृष्णायै भगवन्तमुपस्थितम् ।
श्रुत्वैतद् द्रौपदी चापि शुचिर्भूत्वा समाहिता ॥ १३ ॥
जगाम तत्र यत्रास्ते नारदः पाण्डवैः सह ।
तस्याभिवाद्य चरणौ देवर्षेर्धर्मचारिणी ॥ १४ ॥
कृताञ्जलिः सुसंवीता स्थिताथ द्रुपदात्मजा ।
तस्याश्चापि स धर्मात्मा सत्यवागृषिसत्तमः ॥ १५ ॥
आशिषो विविधाः प्रोच्य राजपुत्र्यास्तु नारदः ।
गम्यतामिति होवाच भगवांस्तामनिन्दिताम् ॥ १६ ॥
गतायामथ कृष्णायां युधिष्ठिरपुरोगमान् ।
विविक्ते पाण्डवान् सर्वानुवाच भगवानृषिः ॥ १७ ॥

फिर आशीर्वादसूचक वचनोंद्वारा उनके अभ्युदयकी कामना करके बोले—'तुम भी बैठो ।' नारदकी आज्ञा पाकर राजा युधिष्ठिर बैठे और कृष्णाको कहला दिया कि स्वयं भगवान् नारदजी पधारे हैं । यह सुनकर द्रौपदी भी पवित्र एवं एकाग्रचित्त हो उसी स्थानपर गयी । जहाँ पाण्डवोंके साथ नारदजी विराजमान थे , धर्मका आचरण करनेवाली कृष्णा देवर्षिके चरणोंमें प्रणाम करके अपने अङ्गोंको ढके हुए हाथ जोड़कर खड़ी हो गयी । धर्मात्मा एवं सत्यवादी मुनिश्रेष्ठ भगवान् नारदने राजकुमारी द्रौपदीको नाना प्रकारके आशीर्वाद देकर उस सती साध्वी देवीसे कहा, 'अब तुम भीतर जाओ ।' कृष्णाके चले जानेपर भगवान् देवर्षिने एकान्तमें युधिष्ठिर आदि समस्त पाण्डवोंसे कहा ॥ १२—१७ ॥

नारद उवाच

पाञ्चाली भवतामेका धर्मपत्नी यशस्विनी ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात् तथा नीतिर्विधीयताम् ॥ १८ ॥

नारदजी बोले—पाण्डवो ! यशस्विनी पाञ्चाली तुम सब लोगोंकी एक ही धर्मपत्नी है; अतः तुमलोग ऐसी नीति बना लो, जिससे तुमलोगोंमें कभी परस्पर फूट न हो ॥ १८ ॥

सुन्दोपसुन्दौ हि पुरा भ्रातरौ सहितावुभौ ।
आस्तामवध्यावन्येषां त्रिषु लोकेषु विश्रुतौ ॥ १९ ॥

पहलेकी बात है, सुन्द और उपसुन्द नामक दो असुर भाई-भाई थे । वे सदा साथ रहते थे एवं दूसरेके लिये अवध्य थे (केवल आपसमें ही लड़कर वे मर सकते थे) । उनकी तीनों लोकोंमें बड़ी ख्याति थी ॥ १९ ॥

एकराज्यावेकगृहावेकशय्यासनाशनौ ।
तिलोत्तमायास्तौ हेतोरन्योन्यमभिजघ्नतुः ॥ २० ॥

उनका एक ही राज्य था और एक ही घर । वे एक ही शय्यापर सोते, एक ही आसनपर बैठते और एक साथ ही भोजन करते थे । इस प्रकार आपसमें अटूट प्रेम होनेपर भी तिलोत्तमा अप्सराके लिये लड़कर उन्होंने एक-दूसरेको मार डाला ।२०।



रक्ष्यतां सौहृदं तस्मादन्योन्यप्रीतिभावकम् ।
यथा वो नात्र भेदः स्यात् तत् कुरुष्व युधिष्ठिर ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! इसलिये आपसकी प्रीतिको बढ़ानेवाले सौहार्दकी रक्षा करो और ऐसा कोई नियम बनाओ, जिससे यहाँ तुमलोगोंमें वैर-विरोध न हो ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सुन्दोपसुन्दावसुरौ कस्य पुत्रौ महामुने ।
उत्पन्नश्च कथं भेदः कथं चान्योन्यमघ्नताम् ॥ २२ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—महामुने ! सुन्द और उपसुन्द नामक असुर किसके पुत्र थे ? उनमें कैसे विरोध उत्पन्न हुआ और किस प्रकार उन्होंने एक-दूसरेको मार डाला ? ॥ २२ ॥

अप्सरा देवकन्या वा कस्य चैषा तिलोत्तमा ।
यस्याः कामेन सम्मत्तौ जघ्नतुस्तौ परस्परम् ॥ २३ ॥

* कण्ठ, तालु, मूर्धा, दन्त और ओष्ठ—इन पाँच स्थानों अथवा पाँच आभ्यन्तर प्रयत्नोंके भेदसे पाँच प्रकारके अक्षरसमूह कहे गये हैं । अ इ उ ऋ लृ—ये पाँच ही मूल स्वर हैं, अन्य स्वर इन्हींके दीर्घ आदि भेद अथवा संधिज हैं ।

यह तिलोत्तमा अप्सरा थी ? किसी देवताकी कन्या थी ? तथा वह किसके अधिकारमें थी ? जिसकी कामनासे उन्मत्त होकर उन्होंने एक-दूसरेको मार डाला ॥ २३ ॥

एतत् सर्वं यथावृत्तं विस्तरेण तपोधन ।
श्रोतुमिच्छामहे ब्रह्मन् परं कौतूहलं हि नः ॥ २४ ॥

तपोधन ! यह सब वृत्तान्त जिस प्रकार घटित हुआ था, वह सब हम विस्तारपूर्वक सुनना चाहते हैं । ब्रह्मन् ! सुननेके लिये हमारे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि युधिष्ठिरनारदसंवादे सप्ताधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें युधिष्ठिर-नारद-संवादविषयक दो सौ सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २५½ श्लोक मिलाकर कुल ४९½ श्लोक हैं)

अष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सुन्द-उपसुन्दकी तपस्या, ब्रह्माजीके द्वारा उन्हें वर प्राप्त होना और दैत्योंके यहाँ आनन्दोत्सव

नारद उवाच

शृणु मे विस्तरेणेममितिहासं पुरातनम् ।
भ्रातृभिः सहितः पार्थ यथावृत्तं युधिष्ठिर ॥ १ ॥

नारदजीने कहा—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! यह वृत्तान्त जिस प्रकार संघटित हुआ था, वह प्राचीन इतिहास तुम मुझसे भाइयोंसहित विस्तारपूर्वक सुनो ॥ १ ॥

महासुरस्यान्ववाये हिरण्यकशिपोः पुरा ।
निकुम्भो नाम दैत्येन्द्रस्तेजस्वी बलवानभूत् ॥ २ ॥

प्राचीन कालमें महान् दैत्य हिरण्यकशिपुके कुलमें निकुम्भ नामसे प्रसिद्ध एक दैत्यराज हो गया है, जो अत्यन्त तेजस्वी और बलवान् था ॥ २ ॥

तस्य पुत्रौ महावीर्यौ जातौ भीमपराक्रमौ ।
सुन्दोपसुन्दौ दैत्येन्द्रौ दारुणौ क्रूरमानसौ ॥ ३ ॥

उसके महाबली और भयानक पराक्रमी दो पुत्र हुए, जिनका नाम था सुन्द और उपसुन्द । वे दोनों दैत्यराज बड़े भयंकर और क्रूर हृदयके थे ॥ ३ ॥

तावेकनिश्चयौ दैत्यावेककार्यार्थसम्मतौ ।
निरन्तरमवर्तेतां समदुःखसुखावुभौ ॥ ४ ॥

उनका एक ही निश्चय होता था और एक ही कार्यके लिये वे सदा सहमत रहते थे । उनके सुख और दुःख भी एक ही प्रकारके थे । वे दोनों सदा साथ रहते थे ॥ ४ ॥

विनान्योन्यं न भुञ्जाते विनान्योन्यं न जल्पतः ।
अन्योन्यस्य प्रियकरावन्योन्यस्य प्रियंवदौ ॥ ५ ॥

उनमेंसे एकके बिना दूसरा न तो खाता-पीता और न किसीसे कुछ बात-चीत ही करता था । वे दोनों एक-दूसरेका प्रिय करते और परस्पर मीठे वचन बोलते थे ॥ ५ ॥

एकशीलसमाचारौ द्विधैवैकोऽभवत् कृतः ।
तौ विवृद्धौ महावीर्यौ कार्येष्वप्येकनिश्चयौ ॥ ६ ॥

उनके शील और आचरण एक-से थे, मानो एक ही जीवात्मा दो शरीरोंमें विभक्त कर दिया गया हो । वे महापराक्रमी दैत्य साथ-साथ बढ़ने लगे । वे प्रत्येक कार्यमें एक ही निश्चयपर पहुँचते थे ॥ ६ ॥

त्रैलोक्यविजयार्थाय समाधायैकनिश्चयम् ।
दीक्षां कृत्वा गतौ विन्ध्यं तावुग्रं तेपतुस्तपः ॥ ७ ॥

किसी समय वे तीनों लोकोंपर विजय पानेकी इच्छासे एकमत होकर गुरुसे दीक्षा ले विन्ध्य पर्वतपर आये और वहाँ कठोर तपस्या करने लगे ॥ ७ ॥

तौ तु दीर्घेण कालेन तपोयुक्तौ बभूवतुः ।
क्षुत्पिपासापरिश्रान्तौ जटावल्कलधारिणौ ॥ ८ ॥

भूख और प्यासका कष्ट सहते हुए शिरपर जटा और शरीरपर वल्कल धारण किये वे दोनों भाई दीर्घकालतक भारी तपस्यामें लगे रहे ॥ ८ ॥

मलोपचितसर्वाङ्गौ वायुभक्षौ बभूवतुः ।
आत्ममांसानि जुह्वन्तौ पादाङ्गुष्ठाग्रविष्ठितौ ।
ऊर्ध्वबाहू चानिमिषौ दीर्घकालं धृतव्रतौ ॥ ९ ॥

उनके सम्पूर्ण अङ्गोंमें मैल जम गयी थी, वे हवा पीकर रहते थे और अपने ही शरीरके मांसखण्ड काट-काटकर अग्निमें आहुति देते थे । तदनन्तर बहुत समयतक पैरोंके अंगूठोंके अग्रभागके बलपर खड़े हो दोनों भुजाएँ ऊपर उठाये एकटक दृष्टि लगाये हुए वे दोनों व्रत धारण करके तपस्यामें संलग्न रहे ॥ ९ ॥

तयोस्तपःप्रभावेण दीर्घकालं प्रतापितः ।
धूमं प्रमुमुचे विन्ध्यस्तदद्भुतमिवाभवत् ॥ १० ॥

उन दैत्योंकी तपस्याके प्रभावसे दीर्घकालतक तप्त होनेके कारण विन्ध्य पर्वत धुआँ छोड़ने लगा, वह अद्भुत-सी बात हुई ॥ १० ॥

ततो देवा भयं जग्मुरुग्रं दृष्ट्वा तयोस्तपः ।
तपोविघातार्थमथो देवा विघ्नानि चक्रिरे ॥ ११ ॥

उनकी उग्र तपस्या देखकर देवताओंको बड़ा भय हुआ । वे देवतागण उनके तपको भंग करनेके लिये अनेक प्रकारके विघ्न डालने लगे ॥ ११ ॥

ततः प्रलोभयामासुः स्त्रीभिश्चोभौ पुनः पुनः ।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ॥ १२ ॥

उन्होंने बार-बार रत्नोंके ढेर तथा सुन्दरी स्त्रियोंको भेज-कर उन दोनोंको प्रलोभनमें डालनेकी चेष्टा की; किंतु उन महान् व्रतधारी दैत्योंने अपने तपको भंग नहीं किया ॥ १२ ॥

अथ मायां पुनर्देवास्तयोश्चक्रुर्महात्मनोः ।
भगिन्यो मातरो भार्यास्तयोश्चात्मजनस्तथा ॥ १३ ॥
पात्यमाना विस्त्रस्ताः शूलहस्तेन रक्षसा ।
भ्रष्टाभरणकेशान्ता भ्रष्टाभरणवाससः ॥ १४ ॥
अभिभाष्य ततः सर्वास्तौ त्राहीति विचुक्रुशुः ।
न च तौ चक्रतुर्भङ्गं व्रतस्य सुमहाव्रतौ ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् देवताओंने महान् आत्मबलसे सम्पन्न उन दोनों दैत्योंके सामने पुनः मायाका प्रयोग किया। उनकी मायानिर्मित बहनें, माताएँ, पत्नियाँ तथा अन्य आत्मीयजन वहाँ भागते हुए आते और उन्हें कोई शूलधारी राक्षस बार-बार खदेड़ता तथा पृथ्वीपर पटक देता था। उनके आभूषण गिर जाते, वस्त्र खिसक जाते और बालोंकी लटें खुल जाती थीं। वे सभी आत्मीयजन सुन्द-उपसुन्दको पुकारकर चीखते हुए कहते—'बेटा! मुझे बचाओ, भैया! मेरी रक्षा करो।' यह सब सुनकर भी वे दोनों महान् व्रतधारी तपस्वी अपनी तपस्यासे नहीं डिगे; अपने व्रतको नहीं तोड़ सके ॥ १३–१५ ॥

यदा क्षोभं नोपयाति नार्तिमन्यतरस्तयोः ।
ततः स्त्रियस्ता भूतं च सर्वमन्तरधीयत ॥ १६ ॥

जब उन दोनोंमेंसे एक भी न तो इन घटनाओंसे क्षुब्ध हुआ और न किसीके मनमें कष्टका ही अनुभव हुआ, तब वे मायामयी स्त्रियाँ और वह राक्षस सब-के-सब अदृश्य हो गये॥

ततः पितामहः साक्षादभिगम्य महासुरौ ।
वरेणच्छन्दयामास सर्वलोकहितः प्रभुः ॥ १७ ॥

तब सम्पूर्ण लोकोंके हितैषी पितामह साक्षात् भगवान् ब्रह्माने उन दोनों महादैत्योंके निकट आकर उन्हें इच्छानुसार वर माँगनेको कहा ॥ १७ ॥

ततः सुन्दोपसुन्दौ तौ भ्रातरौ दृढविक्रमौ ।
दृष्ट्वा पितामहं देवं तस्थतुः प्राञ्जली तदा ॥ १८ ॥
ऊचतुश्च प्रभुं देवं ततस्तौ सहितौ तदा ।
आवयोस्तपसानेन यदि प्रीतः पितामहः ॥ १९ ॥
मायाविदावस्त्रविदौ बलिनौ कामरूपिणौ ।
उभावप्यमरौ स्यावः प्रसन्नो यदि नौ प्रभुः ॥ २० ॥

तदनन्तर सुदृढ़ पराक्रमी दोनों भाई सुन्द और उपसुन्द भगवान् ब्रह्माको उपस्थित देख हाथ जोड़कर खड़े हो गये और एक साथ भगवान् ब्रह्मासे बोले—'भगवन्! यदि आप हमारी तपस्यासे प्रसन्न हैं तो हम दोनों सम्पूर्ण मायाओंके ज्ञाता, अस्त्र-शस्त्रोंके विद्वान्, बलवान्, इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले और अमर हो जायँ' ॥ १८–२० ॥

ब्रह्मोवाच

ऋतेऽमरत्वं युवयोः सर्वमुक्तं भविष्यति ।
अन्यद् वृणीतं मृत्योश्च विधानममरैः समम् ॥ २१ ॥

ब्रह्माजीने कहा—अमरत्वके सिवा तुम्हारी माँगी हुई सब वस्तुएँ तुम्हें प्राप्त होंगी। तुम मृत्युका कोई दूसरा ऐसा विधान माँग लो, जो तुम्हें देवताओंके समान बनाये रख सके॥

प्रभविष्याव इति यन्महदभ्युद्यतं तपः ।
युवयोर्हेतुनानेन नामरत्वं विधीयते ॥ २२ ॥

हम तीनों लोकोंके ईश्वर होंगे, ऐसा संकल्प करके जो तुमलोगोंने यह बड़ी भारी तपस्या प्रारम्भ की थी, इसीलिये तुम-लोगोंको अमर नहीं बनाया जाता; क्योंकि अमरत्व तुम्हारी तपस्याका उद्देश्य नहीं था ॥ २२ ॥

त्रैलोक्यविजयार्थाय भवद्भ्यामास्थितं तपः ।
हेतुनानेन दैत्येन्द्रौ न वां कामं करोम्यहम् ॥ २३ ॥

दैत्यपतियो! तुम दोनोंने त्रिलोकीपर विजय पानेके लिये ही इस तपस्याका आश्रय लिया था, इसीलिये तुम्हारी अमरत्व-विषयक कामनाकी पूर्ति मैं नहीं कर रहा हूँ ॥ २३ ॥



सुन्दोपसुन्दावूचतुः

त्रिषु लोकेषु यद् भूतं किंचित् स्थावरजङ्गमम् ।
सर्वस्मान्नौ भयं न स्यादृतेऽन्योन्यं पितामह ॥ २४ ॥

सुन्द और उपसुन्द बोले—पितामह! तब यह वर दीजिये कि हम दोनोंमेंसे एक-दूसरेको छोड़कर तीनों लोकोंमें जो कोई भी चर या अचर भूत हैं, उनसे हमें मृत्युका भय न हो ॥ २४ ॥

पितामह उवाच

यत् प्रार्थितं यथोक्तं च काममेतद् ददानि वाम्।
मृत्योर्विधानमेतच्च यथावद् वा भविष्यति ॥ २५ ॥

ब्रह्माजीने कहा—तुमने जैसी प्रार्थना की है; तुम्हारी यह मुँहमाँगी वस्तु तुम्हें अवश्य दूँगा । तुम्हारी मृत्युका विधान ठीक इसी प्रकार होगा ॥ २५ ॥

नारद उवाच

ततः पितामहो दत्त्वा वरमेतत् तदा तयोः।
निवर्त्य तपसस्तौ च ब्रह्मलोकं जगाम ह ॥ २६ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उस समय उन दोनों दैत्योंको यह वरदान देकर और उन्हें तपस्यासे निवृत्त करके ब्रह्माजी ब्रह्मलोकको चले गये ॥ २६ ॥

लब्ध्वा वराणि दैत्येन्द्रावथ तौ भ्रातरावुभौ।
अवध्यौ सर्वलोकस्य स्वमेव भवनं गतौ ॥ २७ ॥

फिर वे दोनों भाई दैत्यराज सुन्द और उपसुन्द यह अभीष्ट वर पाकर सम्पूर्ण लोकोंके लिये अवध्य हो पुनः अपने घरको ही लौट गये ॥ २७ ॥

तौ तु लब्धवरौ दृष्ट्वा कृतकामौ मनस्विनौ।
सर्वः सुहृज्जनस्ताभ्यां प्रहर्षमुपजग्मिवान् ॥ २८ ॥

वरदान पाकर पूर्णकाम होकर लौटे हुए उन दोनों मनस्वी वीरोंको देखकर उनके सभी सगे-सम्बन्धी बड़े प्रसन्न हुए ॥ २८ ॥

ततस्तौ तु जटा भित्त्वा मौलिनौ सम्बभूवतुः।
महार्हाभरणोपेतौ विरजोऽम्बरधारिणौ ॥ २९ ॥
अकालकौमुदीं चैव चक्रतुः सार्वकालिकीम्।
नित्यप्रमुदितः सर्वस्तयोश्चैव सुहृज्जनः ॥ ३० ॥

तदनन्तर उन्होंने जटाएँ कटाकर मस्तकपर मुकुट धारण कर लिये और बहुमूल्य आभूषण तथा निर्मल वस्त्र धारण करके ऐसा प्रकाश फैलाया, मानो असमयमें ही चाँदनी छिटक गयी हो और सर्वदा दिन-रात एकरस रहने लगी हो। उनके सगे-सम्बन्धी सदा आमोद-प्रमोदमें डूबे रहते थे ॥ २९-३० ॥

भक्ष्यतां भुज्यतां नित्यं दीयतां रम्यतामिति।
गीयतां पीयतां चेति शब्दश्चासीद् गृहे गृहे ॥ ३१ ॥

प्रत्येक घरमें सर्वदा 'खाओ, भोग करो, लुटाओ, मौज करो, गाओ और पीओ' का शब्द गूँजता रहता था ॥ ३१ ॥

तत्र तत्र महानादैरुत्कृष्टतलनादितैः।
हृष्टं प्रमुदितं सर्वं दैत्यानामभवत् पुरम् ॥ ३२ ॥

जहाँ-तहाँ जोर-जोरसे तालियाँ पीटनेकी ऊँची आवाज सुनायी पड़ती थी । दैत्योंका वह सारा नगर हर्ष और आनन्दमें मग्न दिखायी पड़ता था ॥ ३२ ॥

तैस्तैर्विहारैर्बहुभिर्दैत्यानां कामरूपिणाम्।
समाः संक्रीडतां तेषामहरेकमिवाभवत् ॥ ३३ ॥

इच्छानुसार रूप धारण करनेवाले वे दैत्य वर्षोंतक भाँति-भाँतिके खेल-कूद और आमोद-प्रमोद करनेमें लगे रहे, किंतु वह सारा समय उन्हें एक दिनके समान लगा ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्यानेऽष्टाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानविषयक दो सौ आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २०८ ॥

नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः

सुन्द और उपसुन्दद्वारा क्रूरतापूर्ण कर्मोंसे त्रिलोकीपर विजय प्राप्त करना

नारद उवाच

उत्सवे वृत्तमात्रे तु त्रैलोक्याकाङ्क्षिणावुभौ।
मन्त्रयित्वा ततः सेनां तावाज्ञापयतां तदा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! उत्सव समाप्त हो जानेपर तीनों लोकोंको अपने अधिकारमें करनेकी इच्छासे आपसमें सलाह करके उन दोनों दैत्योंने सेनाको कूच करनेकी आज्ञा दी ॥ १ ॥

सुहृद्भिरभ्यनुज्ञातौ दैत्यैर्वृद्धैश्च मन्त्रिभिः।
कृत्वा प्रास्थानिकं रात्रौ मघासु ययतुस्तदा ॥ २ ॥

सुहृदों तथा दैत्यजातीय बूढ़े मन्त्रियोंकी अनुमति लेकर उन्होंने रातके समय मघा नक्षत्रमें प्रस्थान करके यात्रा प्रारम्भ की ॥ २ ॥

गदापट्टिशधारिण्या शूलमुद्गरहस्तया।
प्रस्थितौ सह धर्मिण्या महत्या दैत्यसेनया ॥ ३ ॥
मङ्गलैः स्तुतिभिश्चापि विजयप्रतिसंहितैः।
चारणैः स्तूयमानौ तौ जग्मतुः परया मुदा ॥ ४ ॥

उनके साथ गदा, पट्टिश, शूल, मुद्गर और कवच धारण किये सुसज्जित दैत्योंकी विशाल सेना जा रही थी । वे दोनों उस सेनाके साथ प्रस्थान कर रहे थे । चारणलोग विजयसूचक मङ्गल और स्तुतिपाठ करते हुए उन दोनोंके गुण गाते जाते थे । इस प्रकार उन दोनों दैत्योंने बड़े आनन्दसे यात्रा की ॥ ३-४ ॥

तावन्तरिक्षमुत्प्लुत्य दैत्यौ कामगमावुभौ।
देवानामेव भवनं जग्मतुर्युद्धदुर्मदौ ॥ ५ ॥

युद्धके लिये उन्मत्त रहनेवाले वे दोनों दैत्य इच्छानुसार सर्वत्र जानेकी शक्ति रखते थे; अतः आकाशमें उछलकर पहले देवताओंके ही घरोंपर जा चढ़े॥५॥

तयोरागमनं ज्ञात्वा वरदानं च तत् प्रभोः।
हित्वा त्रिविष्टपं जग्मुर्ब्रह्मलोकं ततः सुराः ॥ ६ ॥

उनका आगमन सुनकर और ब्रह्माजीसे मिले हुए उनके वरदानका विचार करके देवतालोग स्वर्ग छोड़कर ब्रह्मलोकमें चले गये ॥ ६ ॥

ताविन्द्रलोकं निर्जित्य यक्षरक्षोगणांस्तदा।
खेचराण्यपि भूतानि जघ्नतुस्तीव्रविक्रमौ ॥ ७ ॥

इस प्रकार इन्द्रलोकपर विजय पाकर वे तीव्रपराक्रमी दैत्य यक्षों, राक्षसों तथा अन्यान्य आकाशचारी भूतोंको मारने और पीड़ा देने लगे ॥ ७ ॥

अन्तर्भूमिगतान् नागाञ्जित्वा तौ च महारथौ।
समुद्रवासिनीः सर्वा म्लेच्छजातीर्विजिग्यतुः ॥ ८ ॥

उन दोनों महारथियोंने भूमिके अंदर पातालमें रहनेवाले नागोंको जीतकर समुद्रके तटपर निवास करनेवाली सम्पूर्ण म्लेच्छ जातियोंको परास्त किया ॥ ८ ॥

ततः सर्वां महीं जेतुमारब्धावुग्रशासनौ।
सैनिकांश्च समाहूय सुतीक्ष्णं वाक्यमूचतुः ॥ ९ ॥

तदनन्तर भयंकर शासन करनेवाले वे दोनों दैत्य सारी पृथ्वीको जीतनेके लिये उद्यत हो गये और अपने सैनिकोंको बुलाकर अत्यन्त तीखे वचन बोले—॥ ९ ॥

राजर्षयो महायज्ञैर्हव्यकव्यैर्द्विजातयः।
तेजो बलं च देवानां वर्धयन्ति श्रियं तथा ॥ १० ॥

'इस पृथ्वीपर बहुत-से राजर्षि और ब्राह्मण रहते हैं, जो बड़े-बड़े यज्ञ करके हव्य-कव्योंद्वारा देवताओंके तेज, बल और लक्ष्मीकी वृद्धि किया करते हैं ॥ १० ॥

तेषामेवंप्रवृत्तानां सर्वेषामसुरद्विषाम्।
सम्भूय सर्वैरस्माभिः कार्यः सर्वात्मना वधः ॥ ११ ॥

'इस प्रकार यज्ञादि कर्मोंमें लगे हुए वे सभी लोग असुरोंके द्रोही हैं। इसलिये हम सबको संगठित होकर उन सबका सब प्रकारसे वध कर डालना चाहिये' ॥ ११ ॥

एवं सर्वान् समादिश्य पूर्वतीरे महोदधेः।
क्रूरां मतिं समास्थाय जग्मतुः सर्वतोमुखौ ॥ १२ ॥

समुद्रके पूर्वतटपर अपने समस्त सैनिकोंको ऐसा आदेश देकर मनमें क्रूर संकल्प लिये वे दोनों भाई सब ओर आक्रमण करने लगे ॥ १२ ॥

यज्ञैर्यजन्ति ये केचिद् याजयन्ति च ये द्विजाः।
तान् सर्वान् प्रसभं हत्वा बलिनौ जग्मतुस्ततः ॥ १३ ॥

जो लोग यज्ञ करते तथा जो ब्राह्मण आचार्य बनकर यज्ञ कराते थे, उन सबका बलपूर्वक वध करके वे महाबली दैत्य आगे बढ़ जाते थे ॥ १३ ॥

आश्रमेष्वग्निहोत्राणि मुनीनां भावितात्मनाम्।
गृहीत्वा प्रक्षिपन्त्यप्सु विश्रब्धं सैनिकास्तयोः ॥ १४ ॥

उनके सैनिक शुद्धात्मा मुनियोंके आश्रमोंपर जाकर उनके अग्निहोत्रकी सामग्री उठाकर बिना किसी डर-भयके पानीमें फेंक देते थे ॥ १४ ॥

तपोधनैश्च ये क्रुद्धैः शापा उक्ता महात्मभिः।
नाक्रामन्त तयोस्तेऽपि वरदाननिराकृताः ॥ १५ ॥

कुछ तपस्याके धनी महात्माओंने क्रोधमें भरकर उन्हें जो शाप दिये, उनके शाप भी उन दैत्योंके मिले हुए वरदानसे प्रतिहत होकर उनका कुछ बिगाड़ नहीं सके ॥ १५ ॥

नाक्रामन्त यदा शापा बाणा मुक्ताः शिलास्विव।
नियमान् सम्परित्यज्य व्यद्रवन्त द्विजातयः ॥ १६ ॥

पत्थरपर चलाये हुए बाणोंकी भाँति जब शाप उन्हें पीड़ित न कर सके, तब ब्राह्मणलोग अपने सारे नियम छोड़कर वहाँसे भाग चले ॥ १६ ॥

पृथिव्यां ये तपःसिद्धा दान्ताः शमपरायणाः।
तयोर्भयाद् दुद्रुवुस्ते वैनतेयादिवोरगाः ॥ १७ ॥

जैसे साँप गरुड़के डरसे भाग जाते हैं, उसी प्रकार भूमण्डलके जितेन्द्रिय, शान्तिपरायण एवं तपःसिद्ध महात्मा भी उन दोनों दैत्योंके भयसे भाग जाते थे ॥ १७ ॥

मथितैराश्रमैर्भग्नैर्विकीर्णकलशस्रुवैः।
शून्यमासीज्जगत् सर्वं कालेनेव हतं तदा ॥ १८ ॥

सारे आश्रम मथकर उजाड़ डाले गये। कलश और स्रुव तोड़-फोड़कर फेंक दिये गये। उस समय सारा जगत् कालके द्वारा विनष्ट हुएकी भाँति सूना हो गया ॥ १८ ॥

ततो राजन्नदृश्यद्भिर्ऋषिभिश्च महासुरौ।
उभौ विनिश्चयं कृत्वा विकुर्वाते वधैषिणौ ॥ १९ ॥

राजन्! तदनन्तर जब गुफाओंमें छिपे हुए ऋषि दिखायी न दिये, तब उन दोनोंने एक राय करके उनके वधकी इच्छासे अपने स्वरूपको अनेक जीव-जन्तुओंके रूपमें बदल लिया ॥ १९ ॥

प्रभिन्नकरटौ मत्तौ भूत्वा कुञ्जररूपिणौ।
संलीनमपि दुर्गेषु निन्यतुर्यमसादनम् ॥ २० ॥

कठिन-से-कठिन स्थानमें छिपे हुए मुनिको भी वे मद बहानेवाले मतवाले हाथीका रूप धारण करके यमलोक पहुँचा देते थे ॥ २० ॥

सिंहौ भूत्वा पुनर्व्याघ्रौ पुनश्चान्तर्हितावुभौ।
तैस्तैरुपायैस्तौ क्रूरावृषीन् दृष्ट्वा निजघ्नतुः ॥ २१ ॥

निवृत्तयज्ञस्वाध्याया प्रणष्टनृपतिद्विजा ।
उत्सन्नोत्सवयज्ञा च बभूव वसुधा तदा ॥ २२ ॥

वे कभी सिंह होते, कभी बाघ बन जाते और कभी अदृश्य हो जाते थे। इस प्रकार वे क्रूर दैत्य विभिन्न उपायोंद्वारा ऋषियोंको ढूँढ़-ढूँढ़कर मारने लगे! उस समय पृथ्वीपर यज्ञ और स्वाध्याय बंद हो गये। राजर्षि और ब्राह्मण नष्ट हो गये और यात्रा, विवाह आदि उत्सवों तथा यज्ञोंकी सर्वथा समाप्ति हो गयी ॥ २१-२२ ॥

हाहाभूता भयार्ता च निवृत्तविपणापणा ।
निवृत्तदेवकार्या च पुण्योद्वाहविवर्जिता ॥ २३ ॥

सर्वत्र हाहाकार छा रहा था, भयका आर्तनाद सुनायी पड़ता था। बाजारोंमें खरीद-बिक्रीका नाम नहीं था। देवकार्य बंद हो गये। पुण्य और विवाहादि कर्म छूट गये थे ॥ २३ ॥

निवृत्तकृषिगोरक्षा विध्वस्तनगराश्रमा ।
अस्थिकङ्कालसंकीर्णा भूर्बभूवोग्रदर्शना ॥ २४ ॥

कृषि और गोरक्षाका नाम नहीं था, नगर और आश्रम उजड़कर खण्डहर हो गये थे। चारों ओर हड्डियाँ और ... मरे पड़े थे। इस प्रकार पृथ्वीकी ओर देखना भी ... प्रतीत होता था ॥ २४ ॥

निवृत्तपितृकार्यं च निर्वषट्कारमङ्गलम् ।
जगत् प्रतिभयाकारं दुष्प्रेक्ष्यमभवत् तदा ॥ २५ ॥

श्राद्धकर्म लुप्त हो गया। वषट्कार और ... कहीं नाम नहीं रह गया। सारा जगत् भयानक प्रतीत ... था। इसकी ओर देखनातक कठिन हो गया था ॥ २५ ॥

चन्द्रादित्यौ ग्रहास्तारा नक्षत्राणि दिवौकसः ।
जग्मुर्विषादं तत् कर्म दृष्ट्वा सुन्दोपसुन्दयोः ॥ २६ ॥

सुन्द और उपसुन्दका वह भयानक कर्म ... चन्द्रमा, सूर्य, ग्रह, तारे, नक्षत्र और देवता सभी ... खिन्न हो उठे ॥ २६ ॥

एवं सर्वा दिशो दैत्यौ जित्वा क्रूरेण कर्मणा ।
निःसपत्नौ कुरुक्षेत्रे निवेशमभिचक्रतुः ॥ २७ ॥

इस प्रकार वे दोनों दैत्य अपने क्रूर कर्मद्वारा ... दिशाओंको जीतकर शत्रुओंसे रहित हो कुरुक्षेत्रमें ... करने लगे ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने नवाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २०९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानविषयक दो सौ नौवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥

दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तिलोत्तमाकी उत्पत्ति, उसके रूपका आकर्षण तथा सुन्दोपसुन्दको मोहित करनेके लिये उसका प्र...

नारद उवाच

ततो देवर्षयः सर्वे सिद्धाश्च परमर्षयः ।
जग्मुस्तदा परामार्तिं दृष्ट्वा तत् कदनं महत् ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर सम्पूर्ण देवर्षि और सिद्ध-महर्षि वह महान् हत्याकाण्ड देखकर बहुत दुखी हुए ॥ १ ॥

तेऽभिजग्मुर्जितक्रोधा जितात्मानो जितेन्द्रियाः ।
पितामहस्य भवनं जगतः कृपया तदा ॥ २ ॥

उन्होंने अपने मन, इन्द्रियसमुदाय तथा क्रोधको जीत लिया था। फिर भी सम्पूर्ण जगत्पर दया करके वे ब्रह्माजीके धाममें गये ॥ २ ॥

ततो ददृशुरासीनं सह देवैः पितामहम् ।
सिद्धैर्ब्रह्मर्षिभिश्चैव समन्तात् परिवारितम् ॥ ३ ॥

वहाँ पहुँचकर उन्होंने ब्रह्माजीको देवताओं, सिद्धों और महर्षियोंसे सब ओर घिरे हुए बैठे देखा ॥ ३ ॥

तत्र देवो महादेवस्तत्राग्निर्वायुना सह ।
चन्द्रादित्यौ च शक्रश्च पारमेष्ठ्यास्तथर्षयः ॥ ४ ॥

वैखानसा वालखिल्या वानप्रस्था मरीचिपाः ।
अजाश्चैवाविमूढाश्च तेजोगर्भास्तपस्विनः ॥ ५ ॥

ऋषयः सर्व एवैते पितामहमुपागमन् ।
ततोऽभिगम्य ते दीनाः सर्व एव महर्षयः ॥ ६ ॥

सुन्दोपसुन्दयोः कर्म सर्वमेव शशंसिरे ।
यथा हृतं यथा चैव कृतं येन क्रमेण च ॥ ७ ॥

न्यवेदयंस्ततः सर्वमखिलेन पितामहे ।
ततो देवगणाः सर्वे ते चैव परमर्षयः ॥ ८ ॥

तमेवार्थं पुरस्कृत्य पितामहमचोदयन् ।
ततः पितामहः श्रुत्वा सर्वेषां तद् वचस्तदा ॥ ९ ॥

मुहूर्तमिव संचिन्त्य कर्तव्यस्य च निश्चयम् ।
तयोर्वधं समुद्दिश्य विश्वकर्माणमाह्वयत् ॥ १० ॥

वहाँ भगवान् महादेव, वायुसहित अग्निदेव, ... सूर्य, इन्द्र, ब्रह्मपुत्र महर्षि, वैखानस (वनवासी), बालखिल्य, वानप्रस्थ, मरीचिप, अजन्मा, अविमूढ़ तथा तेजोगर्भ ... नाना प्रकारके तपस्वी मुनि ब्रह्माजीके पास आये थे। उन ... महर्षियोंने निकट जाकर दीनभावसे ब्रह्माजीसे सुन्द ... उपसुन्दके सारे क्रूर कर्मोंका वृत्तान्त कह सुनाया।

जिस प्रकार लूट-पाट की, जैसे-जैसे और जिस क्रमसे लोगोंकी हत्याएँ कीं, वह सब समाचार पूर्णरूपसे ब्रह्माजीको बताया। तब सम्पूर्ण देवताओं और महर्षियोंने भी इस बातको लेकर ब्रह्माजीको प्रेरणा की। ब्रह्माजीने उन सबकी बातें सुनकर दो घड़ीतक कुछ विचार किया। फिर उन दोनोंके वधके लिये कर्तव्यका निश्चय करके विश्वकर्माको बुलाया ॥ ४—१० ॥

दृष्ट्वा च विश्वकर्माणं व्यादिदेश पितामहः।
सृज्यतां प्रार्थनीयैका प्रमदेति महातपाः ॥ ११ ॥

उनको आया देखकर महातपस्वी ब्रह्माजीने यह आज्ञा दी कि तुम एक तरुणी स्त्रीके शरीरकी रचना करो, जो सबका मन लुभा लेनेवाली हो ॥ ११ ॥

पितामहं नमस्कृत्य तद्वाक्यमभिनन्द्य च।
निर्ममे योषितं दिव्यां चिन्तयित्वा पुनः पुनः ॥ १२ ॥

ब्रह्माजीकी आज्ञाको शिरोधार्य करके विश्वकर्माने उन्हें प्रणाम किया और खूब सोच-विचारकर एक दिव्य युवतीका निर्माण किया ॥ १२ ॥

त्रिषु लोकेषु यत् किंचिद् भूतं स्थावरजङ्गमम्।
समानयद् दर्शनीयं तत् तदत्र स विश्ववित् ॥ १३ ॥

तीनों लोकोंमें जो कुछ भी चर और अचर दर्शनीय पदार्थ था, सर्वज्ञ विश्वकर्माने उस सबके सारांशका उस सुन्दरीके शरीरमें संग्रह किया ॥ १३ ॥

कोटिशश्चैव रत्नानि तस्या गात्रे न्यवेशयत्।
तां रत्नसंघातमयीमसृजद् देवरूपिणीम् ॥ १४ ॥

उन्होंने उस युवतीके अङ्गोंमें करोड़ों रत्नोंका समावेश किया और इस प्रकार रत्नराशिमयी उस देवरूपिणी रमणीका निर्माण किया ॥ १४ ॥

सा प्रयत्नेन महता निर्मिता विश्वकर्मणा।
त्रिषु लोकेषु नारीणां रूपेणाप्रतिमाभवत् ॥ १५ ॥

विश्वकर्माद्वारा बड़े प्रयत्नसे बनायी हुई वह दिव्य युवती अपने रूप-सौन्दर्यके कारण तीनों लोकोंकी स्त्रियोंमें अनुपम थी ॥ १५ ॥

न तस्याः सूक्ष्ममप्यस्ति यद् गात्रे रूपसम्पदा।
नियुक्ता यत्र वा दृष्टिर्न सज्जति निरीक्षताम् ॥ १६ ॥

उसके शरीरमें कहीं तिलभर भी ऐसी जगह नहीं थी, जहाँकी रूपसम्पत्तिको देखनेके लिये लगी हुई दर्शकोंकी दृष्टि जम न जाती हो ॥ १६ ॥

सा विग्रहवतीव श्रीः कामरूपा वपुष्मती।
जहार सर्वभूतानां चक्षूंषि च मनांसि च ॥ १७ ॥

वह मूर्तिमती कामरूपिणी लक्ष्मीकी भाँति समस्त प्राणियोंके नेत्रों और मनको हर लेती थी ॥ १७ ॥

तिलं तिलं समानीय रत्नानां यद् विनिर्मिता।
तिलोत्तमेति तत् तस्या नाम चक्रे पितामहः ॥ १८ ॥

उत्तम रत्नोंका तिल-तिलभर अंश लेकर उसके अङ्गोंका निर्माण हुआ था, इसलिये ब्रह्माजीने उसका नाम 'तिलोत्तमा' रख दिया ॥ १८ ॥

ब्रह्माणं सा नमस्कृत्य प्राञ्जलिर्वाक्यमब्रवीत्।
किं कार्यं मयि भूतेश येनास्म्यद्येह निर्मिता ॥ १९ ॥

तदनन्तर तिलोत्तमा ब्रह्माजीको नमस्कार करके हाथ जोड़कर बोली—प्रजापते! मुझपर किस कार्यका भार रक्खा गया है? जिसके लिये आज मेरे शरीरका निर्माण किया गया है' ॥ १९ ॥

पितामह उवाच

गच्छ सुन्दोपसुन्दाभ्यामसुराभ्यां तिलोत्तमे।
प्रार्थनीयेन रूपेण कुरु भद्रे प्रलोभनम् ॥ २० ॥

ब्रह्माजीने कहा—भद्रे तिलोत्तमे! तू सुन्द और उपसुन्द नामक असुरोंके पास जा और अपने अत्यन्त कमनीय रूपके द्वारा उनको लुभा ॥ २० ॥

त्वत्कृते दर्शनादेव रूपसम्पत्कृतेन वै।
विरोधः स्याद् यथा ताभ्यामन्योन्येन तथा कुरु ॥ २१ ॥

तुझे देखते ही तेरे लिये—तेरी रूपसम्पत्तिके लिये उन दोनों दैत्योंमें परस्पर विरोध हो जाय, ऐसा प्रयत्न कर ॥

नारद उवाच

सा तथेति प्रतिज्ञाय नमस्कृत्य पितामहम्।
चकार मण्डलं तत्र विबुधानां प्रदक्षिणम् ॥ २२ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तब तिलोत्तमाने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा करके ब्रह्माजीके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर वह देवमण्डलीकी परिक्रमा करने लगी ॥२२॥

प्राङ्मुखो भगवानास्ते दक्षिणेन महेश्वरः।
देवाश्चैवोत्तरेणासन् सर्वतस्त्वृषयोऽभवन् ॥ २३ ॥

ब्रह्माजीके दक्षिणभागमें भगवान् महेश्वर पूर्वाभिमुख होकर बैठे थे, उत्तरभागमें देवतालोग थे तथा ऋषि-मुनि ब्रह्माजीके चारों ओर बैठे थे ॥ २३ ॥

कुर्वन्त्या तु तदा तत्र मण्डलं तत् प्रदक्षिणम्।
इन्द्रः स्थाणुश्च भगवान् धैर्येण प्रत्यवस्थितौ ॥ २४ ॥

वहाँ तिलोत्तमाने जब देवमण्डलीकी प्रदक्षिणा आरम्भ की, तब इन्द्र और भगवान् शङ्कर दोनों धैर्यपूर्वक अपने स्थानपर ही बैठे रहे ॥ २४ ॥

द्रष्टुकामस्य चात्यर्थं गतया पार्श्वतस्तया।
अन्यदञ्चितपक्ष्माग्रं दक्षिणं निःसृतं मुखम् ॥ २५ ॥

जब वह दक्षिण पार्श्वकी ओर गयी, तब उसे देखनेकी इच्छासे भगवान् शङ्करके दक्षिणभागमें एक और मुख प्रकट हो गया, जो कमलसदृश नेत्रोंसे सुशोभित था ॥ २५ ॥

पृष्ठतः परिवर्तन्त्या पश्चिमं निःसृतं मुखम्।
गतया चोत्तरं पार्श्वमुत्तरं निःसृतं मुखम् ॥ २६ ॥

जब वह पीछेकी ओर गयी, तब उनका पश्चिम मुख प्रकट हुआ और उत्तर पार्श्वकी ओर उसके जानेपर भगवान् शिवके उत्तरवर्ती मुखका प्राकट्य हुआ ॥ २६ ॥

महेन्द्रस्यापि नेत्राणां पृष्ठतः पार्श्वतोऽग्रतः।
रक्तान्तानां विशालानां सहस्रं सर्वतोऽभवत् ॥ २७ ॥

इसी प्रकार इन्द्रके भी आगे, पीछे और पार्श्वभागमें सब ओर लाल कोनेवाले सहस्रों विशाल नेत्र प्रकट हो गये ॥

एवं चतुर्मुखः स्थाणुर्महादेवोऽभवत् पुरा।
तथा सहस्रनेत्रश्च बभूव बलसूदनः ॥ २८ ॥

इस प्रकार पूर्वकालमें अविनाशी भगवान् महादेवजीके चार मुख प्रकट हुए और बलहन्ता इन्द्रके हजार नेत्र हुए ॥

तथा देवनिकायानां महर्षीणां च सर्वशः।
मुखानि चाभ्यवर्तन्त येन याति तिलोत्तमा ॥ २९ ॥

दूसरे-दूसरे देवताओं और महर्षियोंके मुख भी जिधर तिलोत्तमा जाती थी, उसी ओर घूम जाते थे ॥ २९ ॥

तस्या गात्रे निपतिता दृष्टिस्तेषां महात्मनाम्।
सर्वेषामेव भूयिष्ठमृते देवं पितामहम् ॥ ३० ॥

उस समय देवाधिदेव ब्रह्माजीको छोड़कर शेष महानुभावोंकी दृष्टि तिलोत्तमाके शरीरपर बार-बार पड़ने...

गच्छन्त्या तु तया सर्वे देवाश्च परमर्षयः।
कृतमित्येव तत् कार्यं मेनिरे रूपसम्पदा ॥ ३१ ॥

जब वह जाने लगी, तब सभी देवताओं और महर्षि... उसकी रूपसम्पत्ति देखकर यह विश्वास हो गया कि अब सारा कार्य सिद्ध ही है ॥ ३१ ॥

तिलोत्तमायां तस्यां तु गतायां लोकभावनः।
सर्वान् विसर्जयामास देवानृषिगणांश्च तान् ॥ ३२ ॥

तिलोत्तमाके चले जानेपर लोकस्रष्टा ब्रह्माजीने उन सब देवताओं और महर्षियोंको विदा किया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने तिलोत्तमाप्रस्थापने दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानके प्रसंगमें तिलोत्तमाप्रस्थापनविषयक दो सौ दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१० ॥

एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

तिलोत्तमापर मोहित होकर सुन्द-उपसुन्दका आपसमें लड़ना और मारा जाना एवं तिलोत्तमाको ब्रह्माजीद्वारा वरप्राप्ति तथा पाण्डवोंका द्रौपदीके विषयमें नियम-निर्धारण

नारद उवाच

जित्वा तु पृथिवीं दैत्यौ निःसपत्नौ गतव्यथौ।
कृत्वा त्रैलोक्यमव्यग्रं कृतकृत्यौ बभूवतुः ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर! वे दोनों दैत्य सुन्द और उपसुन्द सारी पृथ्वीको जीतकर शत्रुओंसे रहित एवं व्यथारहित हो तीनों लोकोंको पूर्णतः अपने वशमें करके कृतकृत्य हो गये ॥ १ ॥

देवगन्धर्वयक्षाणां नागपार्थिवरक्षसाम्।
आदाय सर्वरत्नानि परां तुष्टिमुपागतौ ॥ २ ॥

देवता, गन्धर्व, यक्ष, नाग, मनुष्य तथा राक्षसोंके सभी रत्नोंको छीनकर उन दोनों दैत्योंको बड़ा हर्ष प्राप्त हुआ ॥ २ ॥

यदा न प्रतिषेद्धारस्तयोः सन्तीह केचन।
निरुद्योगौ तदा भूत्वा विजह्रातेऽमराविव ॥ ३ ॥

जब त्रिलोकीमें उनका सामना करनेवाले कोई नहीं रह गये, तब वे देवताओंके समान अकर्मण्य होकर भोग-विलासमें लग गये ॥ ३ ॥

स्त्रीभिर्माल्यैश्च गन्धैश्च भक्ष्यभोज्यैः सुपुष्कलैः।
पानैश्च विविधैर्हृद्यैः परां प्रीतिमवापतुः ॥ ४ ॥

सुन्दरी स्त्रियों, मनोहर मालाओं, भाँति-भाँतिके सुगन्धित द्रव्यों, पर्याप्त भोजन-सामग्रियों तथा मनको प्रिय लगनेवाले अनेक प्रकारके पेय रसोंका सेवन करके वे बड़े आनन्दसे दिन बिताने लगे ॥ ४ ॥

अन्तःपुरवनोद्याने पर्वतेषु वनेषु च।
यथेप्सितेषु देशेषु विजह्रातेऽमराविव ॥ ५ ॥

अन्तःपुरके उपवन और उद्यानमें, पर्वतोंपर, वनोंमें तथा अन्य मनोवाञ्छित प्रदेशोंमें भी वे देवताओंकी भाँति विहार करने लगे ॥ ५ ॥

ततः कदाचिद् विन्ध्यस्य प्रस्थे समशिलातले।
पुष्पिताग्रेषु शालेषु विहारमभिजग्मतुः ॥ ६ ॥

तदनन्तर एक दिन विन्ध्यपर्वतके शिखरपर जहाँ की शिलामयी भूमि समतल थी और जहाँ ऊँचे शाल वृक्षोंकी शाखाएँ फूलोंसे भरी हुई थीं, वहाँ वे दोनों दैत्य विहार करनेके लिये गये ॥ ६ ॥

सुन्द और उपसुन्दका अत्याचार





तिलोत्तमाके लिये सुन्द और उपसुन्दका युद्ध

दिव्येषु सर्वकामेषु समानीतेषु तावुभौ।
वरासनेषु संहृष्टौ सह स्त्रीभिर्निषीदतुः ॥ ७ ॥

वहाँ उनके लिये सम्पूर्ण दिव्य भोग प्रस्तुत किये गये, तदनन्तर वे दोनों भाई श्रेष्ठ आसनोंपर सुन्दरी स्त्रियोंके साथ आनन्दमग्न होकर बैठे ॥ ७ ॥

ततो वादित्रनृत्याभ्यामुपातिष्ठन्त तौ स्त्रियः।
गीतैश्च स्तुतिसंयुक्तैः प्रीत्या समुपजग्मिरे ॥ ८ ॥

तदनन्तर बहुत-सी स्त्रियाँ प्रेमपूर्वक उनके पास आयीं और वाद्य, नृत्य, गीत एवं स्तुति-प्रशंसा आदिके द्वारा उन दोनोंका मनोरञ्जन करने लगीं ॥ ८ ॥

ततस्तिलोत्तमा तत्र वने पुष्पाणि चिन्वती।
वेषं साऽऽक्षिप्तमाधाय रक्तेनैकेन वाससा ॥ ९ ॥

इसी समय तिलोत्तमा वहाँ वनमें फूल चुनती हुई आयी। उसके शरीरपर एक ही लाल रंगकी महीन साड़ी थी। उसने ऐसा वेश धारण कर रक्खा था, जो किसी भी पुरुषको उन्मत्त बना सकता था ॥ ९ ॥

नदीतीरेषु जातान् सा कर्णिकारान् प्रचिन्वती।
शनैर्जगाम तं देशं यत्रास्तां तौ महासुरौ ॥ १० ॥

नदीके किनारे उगे हुए कनेरके फूलोंका संग्रह करती हुई वह धीरे-धीरे उसी स्थानकी ओर गयी, जहाँ वे दोनों महादैत्य बैठे थे ॥ १० ॥

तौ तु पीत्वा वरं पानं मदरक्तान्तलोचनौ।
दृष्ट्वैव तां वरारोहां व्यथितौ सम्बभूवतुः ॥ ११ ॥

उन दोनोंने बहुत अच्छा मादक रस पी लिया था, जिससे उनके नेत्र नशेके कारण कुछ लाल हो गये थे। उस सुन्दर अङ्गोंवाली तिलोत्तमाको देखते ही वे दोनों दैत्य कामवेदनासे व्यथित हो उठे ॥ ११ ॥

तावुत्थायासनं हित्वा जग्मतुर्यत्र सा स्थिता।
उभौ च कामसम्मत्तावुभौ प्रार्थयतश्च ताम् ॥ १२ ॥

और अपना आसन छोड़कर खड़े हो उसी स्थानपर गये, जहाँ वही खड़ी थी। दोनों ही कामसे उन्मत्त हो रहे थे, इसलिये दोनों ही उसे अपनी स्त्री बनानेके लिये उससे प्रेमकी याचना करने लगे ॥ १२ ॥

दक्षिणे तां करे सुभ्रूं सुन्दो जग्राह पाणिना।
उपसुन्दोऽपि जग्राह वामे पाणौ तिलोत्तमाम् ॥ १३ ॥

सुन्दने सुन्दर भौंहोंवाली तिलोत्तमाका दाहिना हाथ पकड़ा और उपसुन्दने उसका बायाँ हाथ पकड़ लिया ॥ १३ ॥

वरप्रदानमत्तौ तावौरसेन बलेन च।
धनरत्नमदाभ्यां च सुरापानमदेन च ॥ १४ ॥

एक तो वे दुर्लभ वरदानके मदसे उन्मत्त थे, दूसरे उनपर अपने स्वाभाविक बलका नशा सवार था। इसके सिवा धनमद, रत्नमद और सुरापानके मदसे भी वे उन्मत्त हो रहे थे ॥

सर्वैरेतैर्मदैर्मत्तावन्योन्यं भ्रुकुटीकृतौ।
(तौ कटाक्षेण दैत्येन्द्रावाकर्षति मुहुर्मुहुः।
दक्षिणेन कटाक्षेण सुन्दं जग्राह कामिनी ॥
वामेनैव कटाक्षेण उपसुन्दं जिघृक्षती।
गन्धाभरणरूपैस्तौ व्यामोहं जग्मतुस्तदा ॥)
मदकामसमाविष्टौ परस्परमथोचतुः ॥ १५ ॥

इन सभी मदोंसे उन्मत्त होनेके कारण आपसमें ही एक दूसरेपर उनकी भौंहें तन गयीं। तिलोत्तमा कटाक्षद्वारा उन दोनों दैत्यराजोंको बार-बार अपनी ओर आकृष्ट कर रही थी। उस कामिनीने अपने दाहिने कटाक्षसे सुन्दको आकृष्ट कर लिया और बायें कटाक्षसे वह उपसुन्दको वशमें करनेकी चेष्टा करने लगी। उसकी दिव्य सुगन्ध, आभूषणराशि तथा रूप-सम्पत्तिसे वे दोनों दैत्य तत्काल मोहित हो गये। उनमें मद और कामका आवेश हो गया; अतः वे एक-दूसरेसे इस प्रकार बोले—॥

मम भार्या तव गुरुरिति सुन्दोऽभ्यभाषत।
मम भार्या तव वधूरुपसुन्दोऽभ्यभाषत ॥ १६ ॥

सुन्दने कहा—'अरे! यह मेरी पत्नी है, तुम्हारे लिये माताके समान है।' यह सुनकर उपसुन्द बोल उठा—'नहीं-नहीं, यह मेरी भार्या है, तुम्हारे लिये तो पुत्रवधूके समान है' ॥

नैषा तव ममैषेति ततस्तौ मन्युराविशत्।
तस्या रूपेण सम्मत्तौ विगतस्नेहसौहृदौ ॥ १७ ॥

'यह तुम्हारी नहीं है, मेरी है', यही कहते-कहते उन दोनोंको क्रोध चढ़ आया। तिलोत्तमाके रूपसे मतवाले होकर वे दोनों स्नेह और सौहार्दसे शून्य हो गये ॥ १७ ॥

तस्या हेतोर्गदे भीमे संगृहीतावुभौ तदा।
प्रगृह्य च गदे भीमे तस्यां तौ काममोहितौ ॥ १८ ॥

उस सुन्दरीको पानेके लिये दोनों भाइयोंने उस समय हाथमें भयंकर गदाएँ ले लीं। दोनों ही उसके प्रति कामसे मोहित हो रहे थे ॥ १८ ॥

अहं पूर्वमहं पूर्वमित्यन्योन्यं निजघ्नतुः।
तौ गदाभिहतौ भीमौ पेततुर्धरणीतले ॥ १९ ॥

'पहले मैं इसे प्राप्त करूँगा', 'नहीं, पहले मैं'; ऐसा कहते हुए दोनों एक-दूसरेको मारने लगे। इस प्रकार गदाओंकी चोट खाकर वे दोनों भयानक दैत्य धरतीपर गिर पड़े ॥ १९ ॥

रुधिरेणावसिक्ताङ्गौ द्वाविवार्कौ नभश्च्युतौ।
ततस्ता विद्रुता नार्यः स च दैत्यगणस्तथा ॥ २० ॥
पातालमगमत् सर्वो विषादभयकम्पितः।
ततः पितामहस्तत्र सह देवैर्महर्षिभिः ॥ २१ ॥
आजगाम विशुद्धात्मा पूजयंश्च तिलोत्तमाम्।
वरेणच्छन्दयामास भगवान् प्रपितामहः ॥ २२ ॥

उनके सारे अङ्ग खूनसे लथ-पथ हो रहे थे। ऐसा जान पड़ता था, मानो आकाशसे दो सूर्य पृथ्वीपर गिर गये हों।

उनके मारे जानेपर वे सब स्त्रियाँ वहाँसे भाग गयीं और दैत्योंका वह सारा समुदाय विषाद और भयसे कम्पित होकर पातालमें चला गया। तत्पश्चात् विशुद्ध अन्तःकरणवाले भगवान् ब्रह्माजी देवताओं और महर्षियोंके साथ तिलोत्तमाकी प्रशंसा करते हुए वहाँ आये और भगवान् पितामहने उसे वरके द्वारा प्रसन्न किया ॥ २०-२२ ॥

वरं दित्सुः स तत्रैनां प्रीतः प्राह पितामहः।
आदित्यचरिताँल्लोकान् विचरिष्यसि भाविनि ॥ २३ ॥
तेजसा च सुदृष्टां त्वां न करिष्यति कश्चन।
एवं तस्यै वरं दत्त्वा सर्वलोकपितामहः ॥ २४ ॥
इन्द्रे त्रैलोक्यमाधाय ब्रह्मलोकं गतः प्रभुः।

वर देनेके लिये उत्सुक हुए ब्रह्माजी स्वयं ही प्रसन्नतापूर्वक बोले—'भामिनि ! जहाँतक सूर्यकी गति है, उन सभी लोकोंमें तू इच्छानुसार विचर सकेगी। तुझमें इतना तेज होगा कि कोई आँख भरकर तुझे अच्छी तरह देख भी न सकेगा।' इस प्रकार सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजी तिलोत्तमाको वरदान देकर तथा त्रिलोकीकी रक्षाका भार इन्द्रको सौंपकर पुनः ब्रह्मलोकको चले गये ॥ २३-२४½ ॥

नारद उवाच

एवं तौ सहितौ भूत्वा सर्वार्थेष्वेकनिश्चयौ ॥ २५ ॥
तिलोत्तमार्थं संक्रुद्धावन्योन्यमभिजघ्नतुः।
तस्माद् ब्रवीमि वः स्नेहात् सर्वान् भरतसत्तमाः ॥ २६ ॥
यथा वो नात्र भेदः स्यात् सर्वेषां द्रौपदीकृते।
तथा कुरुत भद्रं वो मम चेत् प्रियमिच्छथ ॥ २७ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इस प्रकार सुन्द और उपसुन्दने परस्पर संगठित और सभी बातोंमें एकमत रहकर भी तिलोत्तमाके लिये कुपित हो एक-दूसरेको मार डाला। अतः भरतवंशशिरोमणियो ! मैं तुम सब लोगोंसे स्नेहवश कहता हूँ कि यदि मेरा प्रिय चाहते हो, तो ऐसा कुछ नियम बना लो, जिससे द्रौपदीके लिये तुम सब लोगोंमें फूट न होने पावे। तुम्हारा कल्याण हो ॥ २५-२७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता महात्मानो नारदेन महर्षिणा।
समयं चक्रिरे राजंस्तेऽन्योन्यवशमागताः।
समक्षं तस्य देवर्षेर्नारदस्यामितौजसः ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवर्षि नारदके ऐसा कहनेपर एक दूसरेके अधीन रहनेवाले उन अमित तेजस्वी महात्मा पाण्डवोंने देवर्षिके सामने ही यह नियम बनाया— ॥ २८ ॥

(एकैकस्य गृहे कृष्णा वसेद् वर्षमकल्मषा।)
द्रौपद्या नः सहासीनानन्योन्यं योऽभिदर्शयेत्।
स नो द्वादश वर्षाणि ब्रह्मचारी वने वसेत् ॥ २९ ॥

'हममेंसे प्रत्येकके घरमें पापरहित द्रौपदी एक-एक वर्ष निवास करे। द्रौपदीके साथ एकान्तमें बैठे हुए हममेंसे एक भाईको यदि दूसरा देख ले, तो वह बारह वर्षोंतक ब्रह्मचर्यपूर्वक वनमें निवास करे,' ॥ २९ ॥

कृते तु समये तस्मिन् पाण्डवैर्धर्मचारिभिः।
नारदोऽप्यगमत् प्रीत इष्टं देशं महामुनिः ॥ ३० ॥

धर्मका आचरण करनेवाले पाण्डवोंद्वारा यह नियम स्वीकार कर लिये जानेपर महामुनि नारदजी प्रसन्न हो अभीष्ट स्थानको चले गये ॥ ३० ॥

एवं तैः समयः पूर्वं कृतो नारदचोदितैः।
न चाभिद्यन्त ते सर्वे तदान्योन्येन भारत ॥ ३१ ॥

भारत ! इस प्रकार नारदजीकी प्रेरणासे पाण्डवोंने पहले ही नियम बना लिया था। इसीलिये वे सब आपसमें कभी एक-दूसरेके विरोधी नहीं हुए ॥ ३१ ॥

(एतद् विस्तरशः सर्वमाख्यातं ते नरेश्वर।
काले च तस्मिन् सम्पन्नं यथावज्जनमेजय ॥)

नरेश्वर जनमेजय ! उस समय जो बातें जिस प्रकार घटित हुई थीं, वे सब मैंने तुम्हें विस्तारपूर्वक बतायी हैं।

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि विदुरागमनराज्यलम्भपर्वणि सुन्दोपसुन्दोपाख्याने एकादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत विदुरागमनराज्यलम्भपर्वमें सुन्दोपसुन्दोपाख्यानविषयक दो सौ ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २११ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल ३४½ श्लोक हैं)

(अर्जुनवनवासपर्व)

द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा ब्राह्मणके गोधनकी रक्षाके लिये नियमभङ्ग और वनकी ओर प्रस्थान

वैशम्पायन उवाच

एवं ते समयं कृत्वा न्यवसंस्तत्र पाण्डवाः।
वशे शस्त्रप्रतापेन कुर्वन्तोऽन्यान् महीक्षितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार नियम बनाकर पाण्डवलोग वहाँ रहने लगे। वे अपने अस्त्रोंके प्रताप से दूसरे राजाओंको अधीन करते रहते थे।

तेषां मनुजसिंहानां पञ्चानाममितौजसाम् ।
बभूव कृष्णा सर्वेषां पार्थानां वशवर्तिनी ॥ २ ॥

कृष्णा मनुष्योंमें सिंहके समान वीर और अमित तेजस्वी उन पाँचों पाण्डवोंकी आज्ञाके अधीन रहती थी ॥२॥

ते तया तैश्च सा वीरैः पतिभिः सह पञ्चभिः ।
बभूव परमप्रीता नागैर्भोगवती यथा ॥ ३ ॥

पाण्डव द्रौपदीके साथ और द्रौपदी उन पाँचों वीर पतियोंके साथ ठीक उसी तरह अत्यन्त प्रसन्न रहती थी जैसे नागोंके रहनेसे भोगवतीपुरी परम शोभायुक्त होती है ॥ ३ ॥

वर्तमानेषु धर्मेण पाण्डवेषु महात्मसु ।
व्यवर्धन् कुरवः सर्वे हीनदोषाः सुखान्विताः ॥ ४ ॥

महात्मा पाण्डवोंके धर्मानुसार बर्ताव करनेके कारण समस्त कुरुवंशी निर्दोष एवं सुखी रहकर निरन्तर उन्नति करने लगे ॥ ४ ॥

अथ दीर्घेण कालेन ब्राह्मणस्य विशाम्पते ।
कस्यचित् तस्करा जह्रुः केचिद् गा नृपसत्तम ॥ ५ ॥

महाराज ! तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् एक दिन कुछ चोरोंने किसी ब्राह्मणकी गौएँ चुरा लीं ॥ ५ ॥

ह्रियमाणे धने तस्मिन् ब्राह्मणः क्रोधमूर्च्छितः ।
आगम्य खाण्डवप्रस्थमुदक्रोशत् स पाण्डवान् ॥ ६ ॥

अपने गोधनका अपहरण होता देख ब्राह्मण अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा और खाण्डवप्रस्थमें आकर उसने उच्चस्वरसे पाण्डवोंको पुकारा—॥ ६ ॥

ह्रियते गोधनं क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ।
प्रसह्य चास्मद्विषयादभ्यधावत पाण्डवाः ॥ ७ ॥

'पाण्डवो ! हमारे गाँवसे कुछ नीच, क्रूर और पापात्मा चोर जबरदस्ती गोधन चुराकर लिये जा रहे हैं। उसकी रक्षाके लिये दौड़ो ॥ ७ ॥

ब्राह्मणस्य प्रशान्तस्य हविर्ध्वाङ्क्षैः प्रलुप्यते ।
शार्दूलस्य गुहां शून्यां नीचः क्रोष्टाभिमर्दति ॥ ८ ॥

'आज एक शान्तस्वभाव ब्राह्मणका हविष्य कौए लूटकर खा रहे हैं। नीच सियार सिंहकी सूनी गुफाको रौंद रहा है ॥ ८ ॥

अरक्षितारं राजानं बलिषड्भागहारिणम् ।
तमाहुः सर्वलोकस्य समग्रं पापचारिणम् ॥ ९ ॥

'जो राजा प्रजाकी आयका छठा भाग करके रूपमें वसूल करता है, किंतु प्रजाकी रक्षाकी कोई व्यवस्था नहीं करता, उसे सम्पूर्ण लोगोंमें पूर्ण पापाचारी कहा गया है ॥ ९ ॥

ब्राह्मणस्वे हृते चौरैर्धर्मार्थे च विलोपिते ।
रोरूयमाणे च मयि क्रियतामस्त्रधारणम् ॥ १० ॥

'मुझ ब्राह्मणका धन चोर लिये जा रहे हैं, मेरे गौके न रहनेपर दुग्ध आदि हविष्यके अभावसे धर्म और अर्थका लोप हो रहा है तथा मैं यहाँ आकर रो रहा हूँ । पाण्डवो ! (चोरोंको दण्ड देनेके लिये) अस्त्र धारण करो' ॥१०॥

वैशम्पायन उवाच

रोरूयमाणस्याभ्याशे भृशं विप्रस्य पाण्डवः ।
तानि वाक्यानि शुश्राव कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ ११ ॥
श्रुत्वैव च महाबाहुर्मा भैरित्याह तं द्विजम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वह ब्राह्मण निकट आकर बहुत रो रहा था । पाण्डुपुत्र कुन्तीनन्दन धनंजयने उसकी कही हुई सारी बातें सुनीं और सुनकर उन महाबाहुने उस ब्राह्मणसे कहा—'डरो मत' ॥ ११½ ॥

आयुधानि च यत्रासन् पाण्डवानां महात्मनाम्॥ १२ ॥
कृष्णया सह तत्रास्ते धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
सम्प्रवेशाय चाशक्तो गमनाय च पाण्डवः ॥ १३ ॥

महात्मा पाण्डवोंके अस्त्र-शस्त्र जहाँ रक्खे गये थे, वहीं धर्मराज युधिष्ठिर कृष्णाके साथ एकान्तमें बैठे थे । अतः पाण्डुपुत्र अर्जुन न तो घरके भीतर प्रवेश कर सकते थे और न खाली हाथ चोरोंका ही पीछा कर सकते थे ॥१२-१३॥

तस्य चार्तस्य तैर्वाक्यैश्चोद्यमानः पुनः पुनः ।
आक्रन्दे तत्र कौन्तेयश्चिन्तयामास दुःखितः ॥ १४ ॥

इधर उस आर्त ब्राह्मणकी बातें उन्हें बार-बार शस्त्र ले आनेको प्रेरित कर रही थीं। जब वह अधिक रोने चिल्लाने लगा, तब अर्जुनने दुखी होकर सोचा—॥ १४ ॥

ह्रियमाणे धने तस्मिन् ब्राह्मणस्य तपस्विनः ।
अश्रुप्रमार्जनं तस्य कर्तव्यमिति निश्चयः ॥ १५ ॥

'इस तपस्वी ब्राह्मणके गोधनका अपहरण हो रहा है; अतः ऐसे समयमें इसके आँसू पोछना मेरा कर्तव्य है । यही मेरा निश्चय है ॥ १५ ॥

उपप्रेक्षणजोऽधर्मः सुमहान् स्यान्महीपतेः ।
यद्यस्य रुदतो द्वारि न करोम्यद्य रक्षणम् ॥ १६ ॥

'यदि मैं राजद्वारपर रोते हुए इस ब्राह्मणकी रक्षा आज नहीं करूँगा, तो महाराज युधिष्ठिरको उपेक्षाजनित महान् अधर्मका भागी होना पड़ेगा ॥ १६ ॥

अनास्तिक्यं च सर्वेषामस्माकमपि रक्षणे ।
प्रतितिष्ठेत लोकेऽस्मिन्नधर्मश्चैव नो भवेत् ॥ १७ ॥

'इसके सिवा लोकमें यह बात फैल जायगी कि हम सब लोग किसी आर्तकी रक्षारूप धर्मके पालनमें श्रद्धा नहीं रखते। साथ ही हमें अधर्म भी प्राप्त होगा ॥ १७ ॥

अनादृत्य तु राजानं गते मयि न संशयः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्मम चैवानृतं भवेत् ॥ १८ ॥

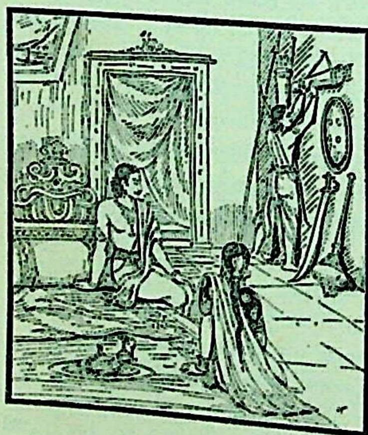
'यदि राजाका अनादर करके मैं घरके भीतर चला जाऊँ तो महाराज अजातशत्रुके प्रति मेरी प्रतिज्ञा मिथ्या होगी ॥ १८ ॥

अनुप्रवेशे राज्ञस्तु वनवासो भवेन्मम।
सर्वमन्यत् परिहृतं धर्षणात् तु महीपतेः ॥ १९ ॥

'राजाकी उपस्थितिमें घरके भीतर प्रवेश करनेपर मुझको वनमें निवास करना होगा। इसमें महाराजके तिरस्कारके सिवा और सारी बातें तुच्छ होनेके कारण उपेक्षणीय हैं ॥ १९ ॥

अधर्मो वै महानस्तु वने वा मरणं मम।
शरीरस्य विनाशेन धर्म एव विशिष्यते ॥ २० ॥

'चाहे राजाके तिरस्कारसे मुझे नियमभङ्गका महान् दोष प्राप्त हो अथवा वनमें ही मेरी मृत्यु हो जाय तथापि शरीरको नष्ट करके भी गौ ब्राह्मण-रक्षारूप धर्मका पालन ही श्रेष्ठ है' ॥ २० ॥



एवं विनिश्चित्य ततः कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अनुप्रविश्य राजानमापृच्छ्य च विशाम्पते ॥ २१ ॥
धनुरादाय संहृष्टो ब्राह्मणं प्रत्यभाषत।

जनमेजय ! ऐसा निश्चय करके कुन्तीकुमार धनंजयने राजासे पूछकर घरके भीतर प्रवेश करके धनुष ले लिया और (बाहर आकर) प्रसन्नतापूर्वक ब्राह्मणसे कहा— ॥ २१½ ॥

ब्राह्मणागम्यतां शीघ्रं यावत् परधनैषिणः ॥ २२ ॥
न दूरं ते गताः क्षुद्रास्तावद् गच्छावहे सह।
यावन्निवर्तयाम्यद्य चौरहस्ताद् धनं तव ॥ २३ ॥

'विप्रवर ! शीघ्र आइये। जबतक दूसरोंके धन हड़पनेकी इच्छावाले वे क्षुद्र चोर दूर नहीं चले जाते, तभीतक हम दोनों एक साथ वहाँ पहुँच जायँ। मैं अभी आपका गोधन चोरोंके हाथसे छीनकर आपको लौटा देता हूँ' ॥ २२-२३ ॥

सोऽनुसृत्य महाबाहुर्धन्वी वर्मी रथी ध्वजी।
शरैर्विध्वस्य तांश्चौरानवजित्य च तद् धनम् ॥ २४ ॥

ऐसा कहकर महाबाहु अर्जुनने धनुष और कवच धारण करके ध्वजायुक्त रथपर आरूढ़ हो उन चोरोंका पीछा किया और बाणोंसे चोरोंका विनाश करके सारा गोधन जीत लिया।

ब्राह्मणं समुपाकृत्य यशः प्राप्य च पाण्डवः।
ततस्तद् गोधनं पार्थो दत्त्वा तस्मै द्विजातये ॥ २५ ॥
आजगाम पुरं वीरः सव्यसाची धनंजयः।
सोऽभिवाद्य गुरून् सर्वान् सर्वैश्चाप्यभिनन्दितः ॥ २६ ॥

फिर ब्राह्मणको वह सारा गोधन देकर प्रसन्न करके अनुपम यशके भागी हो पाण्डुपुत्र सव्यसाची वीर धनंजय पुनः अपने नगरमें लौट आये। वहाँ आकर उन्होंने समस्त गुरुजनोंको प्रणाम किया और उन सभी गुरुजनोंने उनकी बड़ी प्रशंसा एवं अभिनन्दन किया ॥ २५-२६ ॥

धर्मराजमुवाचेदं व्रतमादिश मे प्रभो।
समयः समतिक्रान्तो भवत्संदर्शने मया ॥ २७ ॥
वनवासो गमिष्यामि समयो ह्येष नः कृतः।

इसके बाद अर्जुनने धर्मराजसे कहा—'प्रभो ! मैंने आपको द्रौपदीके साथ देखकर पहलेके निश्चित नियमको भङ्ग किया है; अतः आप इसके लिये मुझे प्रायश्चित्त करनेकी आज्ञा दीजिये। मैं वनवासके लिये जाऊँगा; क्योंकि हम लोगोंमें यह शर्त हो चुकी है' ॥ २७½ ॥

इत्युक्तो धर्मराजस्तु सहसा वाक्यमप्रियम् ॥ २८ ॥
कथमित्यब्रवीद् वाचा शोकार्तः सज्जमानया।
युधिष्ठिरो गुडाकेशं भ्राता भ्रातरमच्युतम् ॥ २९ ॥
उवाच दीनो राजा च धनंजयमिदं वचः।
प्रमाणमस्मि यदि ते मत्तः शृणु वचोऽनघ ॥ ३० ॥

अर्जुनके मुखसे सहसा यह अप्रिय वचन सुनकर धर्मराज शोकातुर होकर लड़खड़ाती हुई वाणीमें बोले—'ऐसा क्यों करते हो ?' इसके बाद राजा युधिष्ठिर धर्ममर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले अपने भाई गुडाकेश धनंजयसे फिर दीन होकर बोले—'अनघ ! यदि तुम मुझको प्रमाण मानते हो, तो मेरी यह बात सुनो— ॥ २८-३० ॥

अनुप्रवेशो यद् वीर कृतवांस्त्वं मम प्रियम्।
सर्वं तदनुजानामि व्यलीकं न च मे हृदि ॥ ३१ ॥

'वीरवर ! तुमने घरके भीतर प्रवेश करके तो मेरा प्रिय कार्य किया है, अतः उसके लिये मैं तुम्हें आज्ञा देता हूँ; क्योंकि मेरे हृदयमें यह अप्रिय नहीं है ॥ ३१ ॥

गुरोरनुप्रवेशो हि नोपघातो यवीयसः।
यवीयसोऽनुप्रवेशो ज्येष्ठस्य विधिलोपकः ॥ ३२ ॥

'यदि बड़ा भाई घरमें स्त्रीके साथ बैठा हो, तो छोटे

भाईका वहाँ जाना दोषकी बात नहीं है; परंतु छोटा भाई घरमें हो, तो बड़े भाईका वहाँ जाना उसके धर्मका नाश करनेवाला है ॥ ३२ ॥

निवर्तस्व महाबाहो कुरुष्व वचनं मम।
न हि ते धर्मलोपोऽस्ति न च ते धर्षणा कृता ॥ ३३ ॥

'अतः महाबाहो ! मेरी बात मानो; वनवासका विचार छोड़ दो। न तो तुम्हारे धर्मका लोप हुआ है और न तुम्हारे-द्वारा मेरा तिरस्कार ही किया गया है' ॥ ३३ ॥

अर्जुन उवाच

न व्याजेन चरेद् धर्ममिति मे भवतः श्रुतम्।
न सत्याद् विचलिष्यामि सत्येनायुधमालभे ॥ ३४ ॥

अर्जुन बोले—प्रभो ! मैंने आपके ही मुखसे सुना है कि धर्माचरणमें कभी बहानेबाजी नहीं करनी चाहिये। अतः मैं सत्यकी शपथ खाकर और शस्त्र छूकर कहता हूँ कि सत्यसे विचलित नहीं होऊँगा ॥ ३४ ॥

(आज्ञा तु मम दातव्या भवता कीर्तिवर्धन।
भवदाज्ञामृते किंचिन्न कार्यमिति निश्चितम् ॥)

यशोवर्धन ! मुझे आप वनवासके लिये आज्ञा दें, मेरा यह निश्चय है कि मैं आपकी आज्ञाके बिना कोई कार्य नहीं करूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

सोऽभ्यनुज्ञाय राजानं वनचर्याय दीक्षितः।
वने द्वादश वर्षाणि वासायानुजगाम ह ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजाकी आज्ञा लेकर अर्जुनने वनवासकी दीक्षा ली और वनमें बारह वर्षोंतक रहनेके लिये वे वहाँसे चल पड़े ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि अर्जुनतीर्थयात्रायां द्वादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१२ ॥
इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें अर्जुनतीर्थयात्राविषयक दो सौ बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१२ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३६ श्लोक हैं)

त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका गङ्गाद्वारमें ठहरना और वहाँ उनका उलूपीके साथ मिलन

वैशम्पायन उवाच

तं प्रयान्तं महाबाहुं कौरवाणां यशस्करम्।
अनुजग्मुर्महात्मानो ब्राह्मणा वेदपारगाः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कौरववंशका यश बढ़ानेवाले महाबाहु अर्जुन जब जाने लगे, उस समय बहुत-से वेदज्ञ ब्राह्मण उनके साथ हो लिये ॥ १ ॥

वेदवेदाङ्गविद्वांसस्तथैवाध्यात्मचिन्तकाः।
भैक्षाश्च भगवद्भक्ताः सूताः पौराणिकाश्च ये ॥ २ ॥
कथकाश्चापरे राजन् श्रमणाश्च वनौकसः।
दिव्याख्यानानि ये चापि पठन्ति मधुरं द्विजाः ॥ ३ ॥

वेद-वेदाङ्गोंके विद्वान्, अध्यात्मचिन्तन करनेवाले, भिक्षाजीवी ब्रह्मचारी, भगवद्भक्त, पुराणोंके ज्ञाता सूत, अन्य कथावाचक, संन्यासी, वानप्रस्थ तथा जो ब्राह्मण मधुर स्वरसे दिव्य कथाओंका पाठ करते हैं, वे सब अर्जुनके साथ गये ॥ २-३ ॥

एतैश्चान्यैश्च बहुभिः सहायैः पाण्डुनन्दनः।
वृतः श्लक्ष्णकथैः प्रायान्मरुद्भिरिव वासवः ॥ ४ ॥

जैसे इन्द्र देवताओंके साथ चलते हैं, उसी प्रकार पाण्डुनन्दन अर्जुन पूर्वोक्त पुरुषों तथा अन्य बहुत-से मधुरभाषी सहायकोंके साथ यात्रा कर रहे थे ॥ ४ ॥

रमणीयानि चित्राणि वनानि च सरांसि च।
सरितः सागरांश्चैव देशानपि च भारत ॥ ५ ॥
पुण्यान्यपि च तीर्थानि ददर्श भरतर्षभः।
स गङ्गाद्वारमाश्रित्य निवेशमकरोत् प्रभुः ॥ ६ ॥

भारत ! नरश्रेष्ठ अर्जुनने मार्गमें अनेक रमणीय एवं विचित्र वन, सरोवर, नदी, सागर, देश और पुण्यतीर्थ देखे। धीरे-धीरे गङ्गाद्वार (हरद्वार) में पहुँचकर शक्तिशाली पार्थने वहीं डेरा डाल दिया ॥ ५-६ ॥

तत्र तस्याद्भुतं कर्म शृणु त्वं जनमेजय।
कृतवान् यद् विशुद्धात्मा पाण्डूनां प्रवरो हि सः॥ ७ ॥

जनमेजय ! गङ्गाद्वारमें अर्जुनका एक अद्भुत कार्य सुनो, जो पाण्डवोंमें श्रेष्ठ विशुद्धचित्त धनंजयने किया था ॥ ७ ॥

निविष्टे तत्र कौन्तेये ब्राह्मणेषु च भारत।
अग्निहोत्राणि विप्रास्ते प्रादुश्चक्रुरनेकशः ॥ ८ ॥

भारत ! जब कुन्तीकुमार और उनके साथी ब्राह्मणलोग गङ्गाद्वारमें ठहर गये, तब उन ब्राह्मणोंने अनेक स्थानोंपर अग्निहोत्रके लिये अग्नि प्रकट की ॥ ८ ॥

तेषु प्रबोध्यमानेषु ज्वलितेषु हुतेषु च।
कृतपुष्पोपहारेषु तीरान्तरगतेषु च ॥ ९ ॥
कृताभिषेकैर्विद्वद्भिर्नियतैः सत्पथि स्थितैः।
शुशुभेऽतीव तद् राजन् गङ्गाद्वारं महात्मभिः ॥ १० ॥

गङ्गाके तटपर जब अलग-अलग अग्नियाँ प्रज्वलित हो गयीं और सन्मार्गमें स्थित एवं मन-इन्द्रियोंको वशमें रखने-

वाले विद्वान् ब्राह्मणलोग स्नान करके फूलोंके उपहार चढ़ाकर जब पूर्वोक्त अग्नियोंमें आहुति दे चुके, तब उन महात्माओंके द्वारा उस गङ्गाद्वार नामक तीर्थकी शोभा बहुत बढ़ गयी ॥

तथा पर्याकुले तस्मिन् निवेशे पाण्डवर्षभः।
अभिषेकाय कौन्तेयो गङ्गामवततार ह ॥ ११ ॥

इस प्रकार विद्वान् एवं महात्मा ब्राह्मणोंसे जब उनका आश्रम भरा-पूरा हो गया, उस समय कुन्तीनन्दन अर्जुन स्नान करनेके लिये गङ्गामें उतरे ॥ ११ ॥

तत्राभिषेकं कृत्वा स तर्पयित्वा पितामहान्।
उत्तितीर्षुर्जलाद् राजन्नग्निकार्यचिकीर्षया ॥ १२ ॥
अपकृष्टो महाबाहुर्नागराजस्य कन्यया।
अन्तर्जले महाराज उलूप्या कामयानया ॥ १३ ॥

राजन्! वहाँ स्नान करके पितरोंका तर्पण करनेके पश्चात् अग्निहोत्र करनेके लिये वे जलसे निकलना ही चाहते थे कि नागराजकी पुत्री उलूपीने उनके प्रति आसक्त हो पानीके भीतरसे ही महाबाहु अर्जुनको खींच लिया ॥ १२-१३ ॥

ददर्श पाण्डवस्तत्र पावकं सुसमाहितः।
कौरव्यस्याथ नागस्य भवने परमार्चिते ॥ १४ ॥

नागराज कौरव्यके परम सुन्दर भवनमें पहुँचकर पाण्डुनन्दन अर्जुनने एकाग्रचित्त होकर देखा, तो वहाँ अग्नि प्रज्वलित हो रही थी ॥ १४ ॥

तत्राग्निकार्यं कृतवान् कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
अशङ्कमानेन हुतस्तेनातुष्यद्धुताशनः ॥ १५ ॥

उस समय कुन्तीपुत्र धनंजयने निर्भीक होकर उसी अग्निमें अपना अग्निहोत्रकार्य सम्पन्न किया। इससे अग्निदेव बहुत संतुष्ट हुए ॥ १५ ॥

अग्निकार्यं स कृत्वा तु नागराजसुतां तदा।
प्रहसन्निव कौन्तेय इदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

अग्निहोत्रका कार्य कर लेनेके पश्चात् अर्जुनने नागराज-कन्यासे हँसते हुए-से यह बात कही— ॥ १६ ॥

किमिदं साहसं भीरु कृतवत्यसि भाविनि।
कश्चायं सुभगे देशः का च त्वं कस्य वाऽऽत्मजा ॥ १७ ॥

'भीरु! तुमने ऐसा साहस क्यों किया है? भाविनि! यह कौन-सा देश है? सुभगे! तुम कौन हो? किसकी पुत्री हो?॥ १७ ॥

उलूप्युवाच

ऐरावतकुले जातः कौरव्यो नाम पन्नगः।
तस्यास्मि दुहिता राजन्नुलूपी नाम पन्नगी ॥ १८ ॥

उलूपीने कहा—राजन्! ऐरावत नागके कुलमें कौरव्य नामक नाग उत्पन्न हुए हैं, मैं उन्हींकी पुत्री नागिन हूँ। मेरा नाम उलूपी है ॥ १८ ॥

साहं त्वामभिषेकार्थमवतीर्णं समुद्रगाम्।
दृष्ट्वैव पुरुषव्याघ्र कन्दर्पेणाभिमूर्छिता ॥ १९ ॥

नरश्रेष्ठ! जब आप स्नान करनेके लिये समुद्रगामिनी नदी गङ्गामें उतरे थे, उस समय आपको देखते ही मैं कामवेदनासे मूर्च्छित हो गयी थी ॥ १९ ॥

तां मामनङ्गग्लपितां त्वत्कृते कुरुनन्दन।
अनन्यां नन्दयस्वाद्य प्रदानेनात्मनोऽनघ ॥ २० ॥

निष्पाप कुरुनन्दन! मैं आपके ही लिये कामदेवकी आगमें जली जा रही हूँ। मैंने आपके सिवा दूसरेको अपना हृदय अर्पण नहीं किया है। अतः मुझे आत्मदान देकर आनन्दित कीजिये ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

ब्रह्मचर्यमिदं भद्रे मम द्वादशवार्षिकम्।
धर्मराजेन चादिष्टं नाहमस्मि स्वयंवशः ॥ २१ ॥

अर्जुन बोले—भद्रे! यह मेरे बारह वर्षोंतक रहनेवाले ब्रह्मचर्यव्रतका समय है। धर्मराज युधिष्ठिरने मुझे इस व्रतके पालनकी आज्ञा दी है। अतः मैं अपने वशमें नहीं हूँ ॥ २१ ॥

तव चापि प्रियं कर्तुमिच्छामि जलचारिणि।
अनृतं नोक्तपूर्वं च मया किंचन कर्हिचित् ॥ २२ ॥

जलचारिणि! मैं तुम्हारा भी प्रिय करना चाहता हूँ। मैंने पहले कभी कोई असत्य बात नहीं कही है ॥ २२ ॥

कथं च नानृतं मे स्यात् तव चापि प्रियं भवेत्।
न च पीड्येत मे धर्मस्तथा कुर्या भुजङ्गमे ॥ २३ ॥

नागकन्ये! तुम ऐसा कोई उपाय करो, जिससे मुझे झूठका दोष न लगे, तुम्हारा भी प्रिय हो और मेरे धर्मकी भी हानि न पहुँचे ॥ २३ ॥

उलूप्युवाच

जानाम्यहं पाण्डवेय यथा चरसि मेदिनीम्।
यथा च ते ब्रह्मचर्यमिदमादिष्टवान् गुरुः ॥ २४ ॥

उलूपीने कहा—पाण्डुनन्दन! आप जिस उद्देश्यसे पृथ्वीपर विचर रहे हैं और आपके बड़े भाईने जिस प्रकार आपको ब्रह्मचर्य-पालनका आदेश दिया है, वह सब मैं जानती हूँ।

परस्परं वर्तमानान् द्रुपदस्यात्मजां प्रति।
यो नोऽनुप्रविशेन्मोहात् स वै द्वादशवार्षिकम् ॥ २५ ॥
वने चरेद् ब्रह्मचर्यमिति वः समयः कृतः।

आपलोगोंने आपसमें यह शर्त कर रक्खी है कि हम लोगोंमेंसे कोई भी यदि द्रौपदीके पास रहे, उस दशामें दूसरा मोहवश उस घरमें प्रवेश करे, तो वह बारह वर्षोंतक वनमें रहकर ब्रह्मचर्यव्रतका पालन करे ॥ २५ ३ ॥

तदिदं द्रौपदीहेतोरन्योन्यस्य प्रवासनम् ॥ २६ ॥
कृतवांस्तत्र धर्मार्थमत्र धर्मो न दुष्यति।
परित्राणं च कर्तव्यमार्तानां पृथुलोचन ॥ २७ ॥

अतः आपके बड़े भाईने वहाँ धर्मकी रक्षाके लिये केवल द्रौपदीको निमित्त बनाकर यह एक-दूसरेके प्रवासका नियम बनाया है। यहाँ आपका धर्म दूषित नहीं होता। विशाल नेत्रोंवाले अर्जुन! आपको आर्त प्राणियोंकी रक्षा करनी चाहिये ॥ २६-२७ ॥

कृत्वा मम परित्राणं तव धर्मो न लुप्यते।
यदि वाप्यस्य धर्मस्य सूक्ष्मोऽपि स्याद् व्यतिक्रमः॥
स च ते धर्म एव स्याद् दत्त्वा प्राणान् ममार्जुन।
भक्तां च भज मां पार्थ सतामेतन्मतं प्रभो ॥ २९ ॥

मेरी रक्षा करनेसे आपके धर्मका लोप नहीं होगा। यदि आपके इस धर्मका थोड़ा-सा व्यतिक्रम हो भी जाय तो भी मुझे प्राणदान देनेसे तो आपको महान् धर्म होगा ही। अतः मेरे स्वामी कुन्तीकुमार अर्जुन! मैं आपकी भक्त हूँ, मुझे स्वीकार कीजिये; यह आर्तरक्षण सत्पुरुषोंका मत है ॥ २८-२९ ॥

न करिष्यसि चेदेवं मृतां मामुपधारय।
प्राणदानान्महाबाहो चर धर्ममनुत्तमम् ॥ ३० ॥

महाबाहो! यदि आप मेरी प्रार्थना पूर्ण नहीं करेंगे तो निश्चय जानिये, मैं मर जाऊँगी। अतः मुझे प्राणदान देकर अत्यन्त उत्तम धर्मका अनुष्ठान कीजिये ॥ ३० ॥

शरणं च प्रपन्नास्मि त्वामद्य पुरुषोत्तम।
दीनाननाथान् कौन्तेय परिरक्षसि नित्यशः ॥ ३१ ॥

पुरुषोत्तम! आज मैं आपकी शरणमें आयी हूँ। कुन्तीकुमार! आप प्रतिदिन न जाने कितने दीनों और अनाथोंकी रक्षा करते हैं ॥ ३१ ॥

साहं शरणमभ्येमि रोरवीमि च दुःखिता।
याचे त्वां चाभिकामाहं तस्मात् कुरु मम प्रियम्।
स त्वमात्मप्रदानेन सकामां कर्तुमर्हसि ॥ ३२ ॥

मैं भी यही आशा लेकर शरणमें आयी हूँ और बार-बार दुखी होकर रोती-गिड़गिड़ाती हूँ। मैं आपके प्रति अनुरक्त हूँ और आपसे समागमकी याचना करती हूँ। अतः मेरा प्रिय मनोरथ पूर्ण कीजिये। मुझे आत्मदान देकर मेरी कामना सफल कीजिये ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु कौन्तेयः पन्नगेश्वरकन्यया।
कृतवांस्तत् तथा सर्वं धर्ममुद्दिश्य कारणम् ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! नागराजकी कन्या उलूपीके ऐसा कहनेपर कुन्तीकुमार अर्जुनने धर्मको ही सामने रखकर वह सब कार्य पूर्ण किया ॥ ३३ ॥

स नागभवने रात्रिं तामुषित्वा प्रतापवान्।
उदितेऽभ्युत्थितः सूर्ये कौरव्यस्य निवेशनात् ॥ ३४ ॥

प्रतापी अर्जुनने नागराजके घरमें ही वह रात्रि व्यतीत की। फिर सूर्योदय होनेपर वे कौरवके भवनसे ऊपरको उठे ॥ ३४ ॥

आगतस्तु पुनस्तत्र गङ्गाद्वारं तया सह।
परित्यज्य गता साध्वी उलूपी निजमन्दिरम् ॥ ३५ ॥

उलूपीके साथ अर्जुन फिर गङ्गाद्वारमें आ पहुँचे। साध्वी उलूपी उन्हें वहाँ छोड़कर पुनः अपने घरको लौट गयी ॥

दत्त्वा वरमजेयत्वं जले सर्वत्र भारत।
साध्या जलचराः सर्वे भविष्यन्ति न संशयः ॥ ३६ ॥
(पुत्रमुत्पादयामास स तस्यां सुमनोहरम्।
इरावन्तं महाभागं महाबलपराक्रमम् ॥)

भारत! जाते समय उसने अर्जुनको यह वर दिया—'कि आप जलमें सर्वत्र अजेय होंगे और सभी जलचर आपके वशमें रहेंगे, इसमें संशय नहीं है।' इस प्रकार अर्जुनने उलूपीके गर्भसे अत्यन्त मनोहर तथा महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न इरावान् नामक महाभाग पुत्र उत्पन्न किया ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वण्युलूपीसङ्गमे त्रयोदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें उलूपी-समागमविषयक दो सौ तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ३७ श्लोक हैं)

चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका पूर्वदिशाके तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए मणिपूरमें जाकर चित्राङ्गदाका पाणिग्रहण करके उसके गर्भसे एक पुत्र उत्पन्न करना

वैशम्पायन उवाच

कथयित्वा च तत् सर्वं ब्राह्मणेभ्यः स भारत।
प्रययौ हिमवत्पार्श्वं ततो वज्रधरात्मजः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! रातकी वह सारी घटना ब्राह्मणोंसे कहकर इन्द्रपुत्र अर्जुन हिमालयके पास चले गये ॥ १ ॥

अगस्त्यवटमासाद्य वसिष्ठस्य च पर्वतम्।
भृगुतुङ्गे च कौन्तेयः कृतवाञ्छौचमात्मनः ॥ २ ॥

अगस्त्यवट, वसिष्ठपर्वत तथा भृगुतुङ्गपर जाकर उन्होंने शौच-स्नान आदि किये ॥ २ ॥

प्रददौ गोसहस्राणि सुबहूनि च भारत।
निवेशांश्च द्विजातिभ्यः सोऽददत् कुरुसत्तमः॥ ३ ॥

भारत! कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने उन तीर्थोंमें ब्राह्मणोंको कई हजार गौएँ दान कीं और द्विजातियोंके रहनेके लिये घर एवं आश्रम बनवा दिये ॥ ३ ॥

हिरण्यबिन्दोस्तीर्थे च स्नात्वा पुरुषसत्तमः।
दृष्टवान् पाण्डवश्रेष्ठः पुण्यान्यायतनानि च ॥ ४ ॥

हिरण्यबिन्दुतीर्थमें स्नान करके पाण्डवश्रेष्ठ पुरुषोत्तम अर्जुनने अनेक पवित्र स्थानोंका दर्शन किया ॥ ४ ॥

अवतीर्य नरश्रेष्ठो ब्राह्मणैः सह भारत।
प्राचीं दिशमभिप्रेप्सुर्जगाम भरतर्षभः॥ ५ ॥

जनमेजय! तत्पश्चात् हिमालयसे नीचे उतरकर भरत-कुलभूषण नरश्रेष्ठ अर्जुन पूर्व दिशाकी ओर चल दिये ॥५॥

आनुपूर्व्येण तीर्थानि दृष्टवान् कुरुसत्तमः।
नदीं चोत्पलिनीं रम्यामरण्यं नैमिषं प्रति ॥ ६ ॥
नन्दामपरनन्दां च कौशिकीं च यशस्विनीम्।
महानदीं गयां चैव गङ्गामपि च भारत ॥ ७ ॥

भारत! फिर उस यात्रामें कुरुश्रेष्ठ धनंजयने क्रमशः अनेक तीर्थोंका तथा नैमिषारण्यतीर्थमें बहनेवाली रमणीय उत्पलिनी नदी, नन्दा, अपरनन्दा, यशस्विनी कौशिकी (कोसी), महानदी, गयातीर्थ और गङ्गाजीका भी दर्शन किया ॥६-७॥

एवं तीर्थानि सर्वाणि पश्यमानस्तथाश्रमान्।
आत्मनः पावनं कुर्वन् ब्राह्मणेभ्यो ददौ च गाः॥ ८ ॥

इस प्रकार उन्होंने सब तीर्थों और आश्रमोंको देखते हुए स्नान आदिसे अपनेको पवित्र करके ब्राह्मणोंके लिये बहुत-सी गौएँ दान कीं ॥ ८ ॥

अङ्गवङ्गकलिङ्गेषु यानि तीर्थानि कानिचित्।
जगाम तानि सर्वाणि पुण्यान्यायतनानि च ॥ ९ ॥

तदनन्तर अङ्ग, वङ्ग और कलिङ्ग देशोंमें जो कोई भी पवित्र तीर्थ और मन्दिर थे, उन सबमें वे गये ॥ ९ ॥

दृष्ट्वा च विधिवत् तानि धनं चापि ददौ ततः।
कलिङ्गराष्ट्रद्वारेषु ब्राह्मणाः पाण्डवानुगाः।
अभ्यनुज्ञाय कौन्तेयमुपावर्तन्त भारत ॥ १० ॥

और उन तीर्थोंका दर्शन करके उन्होंने विधिपूर्वक वहाँ धन-दान किया। कलिङ्ग राष्ट्रके द्वारपर पहुँचकर अर्जुनके साथ चलनेवाले ब्राह्मण उनकी अनुमति लेकर वहाँसे लौट गये॥१०॥

स तु तैरभ्यनुज्ञातः कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
सहायैरल्पकैः शूरः प्रययौ यत्र सागरः॥ ११ ॥

परंतु कुन्तीपुत्र शूरवीर धनंजय उन ब्राह्मणोंकी आज्ञा ले, थोड़े-से सहायकोंके साथ उस स्थानकी ओर गये, जहाँ समुद्र लहराता था ॥ ११ ॥

स कलिङ्गानतिक्रम्य देशानायतनानि च।
हर्म्याणि रमणीयानि प्रेक्षमाणो ययौ प्रभुः॥ १२ ॥

कलिङ्ग देशको लाँघकर शक्तिशाली अर्जुन अनेक देशों, मन्दिरों तथा रमणीय अट्टालिकाओंका दर्शन करते हुए आगे बढ़े ॥ १२ ॥

महेन्द्रपर्वतं दृष्ट्वा तापसैरुपशोभितम्।
समुद्रतीरेण शनैर्मणिपूरं जगाम ह ॥ १३ ॥

इस प्रकार वे तपस्वी मुनियोंसे सुशोभित महेन्द्र पर्वतका दर्शन कर समुद्रके किनारे-किनारे यात्रा करते हुए धीरे-धीरे मणिपूर पहुँच गये ॥ १३ ॥

तत्र सर्वाणि तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च।
अभिगम्य महाबाहुरभ्यगच्छन्महीपतिम् ॥ १४ ॥

वहाँके सम्पूर्ण तीर्थों और पवित्र मन्दिरोंमें जानेके बाद महाबाहु अर्जुन मणिपूरनरेशके पास गये ॥ १४ ॥

मणिपूरेश्वरं राजन् धर्मज्ञं चित्रवाहनम्।
तस्य चित्राङ्गदा नाम दुहिता चारुदर्शना ॥ १५ ॥

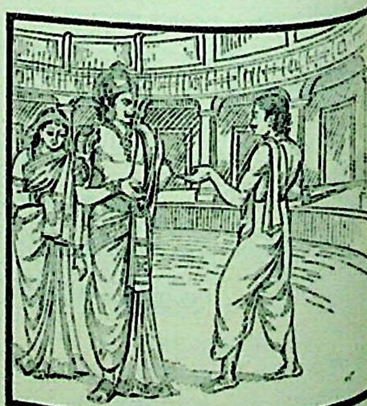
राजन्! मणिपूरके स्वामी धर्मज्ञ चित्रवाहन थे। उनके चित्राङ्गदा नामवाली एक परम सुन्दरी कन्या थी ॥ १५ ॥

तां ददर्श पुरे तस्मिन् विचरन्तीं यदृच्छया।
दृष्ट्वा च तां वरारोहां चकमे चैत्रवाहनीम् ॥ १६ ॥

उस नगरमें विचरण करती हुई उस सुन्दर अङ्गोंवाली चित्रवाहनकुमारीको अकस्मात् देखकर अर्जुनके मनमें उसे प्राप्त करनेकी अभिलाषा हुई ॥ १६ ॥

अभिगम्य च राजानमवदत् स्वं प्रयोजनम्।
देहि मे खल्विमां राजन् क्षत्रियाय महात्मने ॥ १७ ॥

अतः राजासे मिलकर उन्होंने अपना अभिप्राय इस प्रकार बताया—'महाराज! मुझ महामनस्वी क्षत्रियको आप अपनी यह पुत्री प्रदान कर दीजिये' ॥ १७ ॥



तच्छ्रुत्वा त्वब्रवीद् राजा कस्य पुत्रोऽसि नाम किम्।
उवाच तं पाण्डवोऽहं कुन्तीपुत्रो धनंजयः॥ १८॥

यह सुनकर राजाने पूछा—'आप किनके पुत्र हैं और आपका क्या नाम है?' अर्जुनने उत्तर दिया, 'मैं महाराज पाण्डु तथा कुन्तीदेवीका पुत्र हूँ। मुझे लोग धनंजय कहते हैं'॥ १८॥

तमुवाचाथ राजा स सान्त्वपूर्वमिदं वचः।
राजा प्रभञ्जनो नाम कुलेऽस्मिन् सम्बभूव ह॥ १९॥

तब राजाने उन्हें सान्त्वना देते हुए कहा—'इस कुलमें पहले प्रभञ्जन नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं॥ १९॥

अपुत्रः प्रसवेनार्थी तपस्तेपे स उत्तमम्।
उग्रेण तपसा तेन देवदेवः पिनाकधृक्॥ २०॥
ईश्वरस्तोषितः पार्थ देवदेव उमापतिः।
स तस्मै भगवान् प्रादादेकैकं प्रसवं कुले॥ २१॥

उनके कोई पुत्र नहीं था, अतः उन्होंने पुत्रकी इच्छासे उत्तम तपस्या प्रारम्भ की। पार्थ! उन्होंने उस उग्र तपस्यासे पिनाकधारी देवाधिदेव महेश्वरको संतुष्ट कर लिया। तब देवदेवेश्वर भगवान् उमापति उन्हें वरदान देते हुए बोले, 'तुम्हारे कुलमें एक-एक संतान होती जायगी'॥ २०-२१॥

एकैकः प्रसवस्तस्माद् भवत्यस्मिन् कुले सदा।
तेषां कुमाराः सर्वेषां पूर्वेषां मम जज्ञिरे॥ २२॥
एका च मम कन्येयं कुलस्योत्पादिनी भृशम्।
पुत्रो ममायमिति मे भावना पुरुषर्षभ॥ २३॥

'इस कारण हमारे इस कुलमें सदासे एक-एक संतान ही होती चली आ रही है। मेरे अन्य सभी पूर्वजोंके तो पुत्र होते आये हैं, परंतु मेरे यह एक कन्या ही हुई है। यही इस कुलकी परम्पराको चलानेवाली है। अतः भरतश्रेष्ठ! इसके प्रति मेरी यही भावना रहती है कि 'यह मेरा पुत्र है'॥

पुत्रिका हेतुविधिना संज्ञिता भरतर्षभ।
तस्मादेकः सुतो योऽस्यां जायते भारत त्वया॥ २४॥
एतच्छुल्कं भवत्वस्याः कुलकृज्जायतामिह।
एतेन समयेनेमां प्रतिगृह्णीष्व पाण्डव॥ २५॥

'यद्यपि यह पुत्री है तो भी हेतुविधिसे (अर्थात् इससे जो प्रथम पुत्र होगा, वह मेरा ही पुत्र माना जायगा, इस हेतुसे) मैंने इसे पुत्रकी संज्ञा दे रक्खी है। भरतश्रेष्ठ! तुम्हारे द्वारा इसके गर्भसे जो एक पुत्र उत्पन्न हो वह यहीं रहकर इस कुलपरम्पराका प्रवर्तक हो; इस कन्याके विवाहका यही शुल्क आपको देना होगा। पाण्डुनन्दन! इसी शर्तके अनुसार आप इसे ग्रहण करें'॥ २४-२५॥

स तथेति प्रतिज्ञाय तां कन्यां प्रतिगृह्य च।
उवास नगरे तस्मिंस्त्रिसः कुन्तीसुतः समाः॥ २६॥

'तथास्तु' कहकर अर्जुनने वैसा ही करनेकी प्रतिज्ञा की और उस कन्याका पाणिग्रहण करके उन्होंने तीन वर्षोंतक उसके साथ उस नगरमें निवास किया॥ २६॥

तस्यां सुते समुत्पन्ने परिष्वज्य वराङ्गनाम्।
आमन्त्र्य नृपतिं तं तु जगाम परिवर्तितुम्॥ २७॥

उसके गर्भसे पुत्र उत्पन्न हो जानेपर उस सुन्दरीको हृदयसे लगाकर अर्जुनने विदा ली तथा राजा चित्रवाहनसे पूछकर वे पुनः तीर्थोंमें भ्रमण करनेके लिये चल दिये॥ २७॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि चित्राङ्गदासंगमे चतुर्दशाधिकद्विशततमोऽध्यायः॥ २१४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें चित्राङ्गदासमागमविषयक दो सौ चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २१४॥

पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा वर्गा अप्सराका ग्राहयोनिसे उद्धार तथा वर्गाकी आत्मकथाका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

ततः समुद्रे तीर्थानि दक्षिणे भरतर्षभ।
अभ्यगच्छत् सुपुण्यानि शोभितानि तपस्विभिः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर अर्जुन दक्षिण समुद्रके तटपर तपस्वीजनोंसे सुशोभित परम पुण्यमय तीर्थोंमें गये॥ १॥

वर्जयन्ति स्म तीर्थानि तत्र पञ्च स्म तापसाः।
आचीर्णानि तु यान्यासन् पुरस्तात् तु तपस्विभिः॥ २॥

वहाँ उन दिनों तपस्वीलोग पाँच तीर्थोंको छोड़ देते थे। ये वे ही तीर्थ थे जहाँ पूर्वकालमें बहुतेरे तपस्वी महात्मा भरे रहते थे॥ २॥

अगस्त्यतीर्थं सौभद्रं पौलोमं च सुपावनम्।
कारन्धमं प्रसन्नं च हयमेधफलं च तत्॥ ३॥
भारद्वाजस्य तीर्थं तु पापप्रशमनं महत्।
एतानि पञ्च तीर्थानि ददर्श कुरुसत्तमः॥ ४॥

उनके नाम इस प्रकार हैं—अगस्त्यतीर्थ, सौभद्रतीर्थ, परम पावन पौलोमतीर्थ, अश्वमेध यज्ञका फल देनेवाला स्वच्छ

कारन्धमतीर्थ तथा पापनाशक महान् भारद्वाजतीर्थ। कुरुश्रेष्ठ अर्जुनने इन पाँचों तीर्थोंका दर्शन किया ॥ ३-४ ॥

विविक्तान्युपलक्ष्याथ तानि तीर्थानि पाण्डवः।
दृष्ट्वा च वर्ज्यमानानि मुनिभिर्धर्मबुद्धिभिः ॥ ५ ॥

पाण्डुपुत्र अर्जुनने देखा, ये सभी तीर्थ बड़े एकान्तमें हैं, तो भी एकमात्र धर्ममें बुद्धिको लगाये रखनेवाले मुनि भी उन तीर्थोंको दूरसे ही छोड़ देते हैं ॥ ५ ॥

तपस्विनस्ततोऽपृच्छत् प्राञ्जलिः कुरुनन्दनः।
तीर्थानीमानि वर्ज्यन्ते किमर्थं ब्रह्मवादिभिः ॥ ६ ॥

तब कुरुनन्दन धनंजयने दोनों हाथ जोड़कर तपस्वी मुनियोंसे पूछा—'वेदवक्ता ऋषिगण इन तीर्थोंका परित्याग किसलिये कर रहे हैं?' ॥ ६ ॥

तापसा ऊचुः

ग्राहाः पञ्च वसन्त्येषु हरन्ति च तपोधनान्।
तत एतानि वर्ज्यन्ते तीर्थानि कुरुनन्दन ॥ ७ ॥

तपस्वी बोले—कुरुनन्दन! उन तीर्थोंमें पाँच घड़ियाल रहते हैं, जो नहानेवाले तपोधन ऋषियोंको जलके भीतर खींच ले जाते हैं; इसीलिये ये तीर्थ मुनियोंद्वारा त्याग दिये गये हैं ॥ ७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तेषां श्रुत्वा महाबाहुर्वार्यमाणस्तपोधनैः।
जगाम तानि तीर्थानि द्रष्टुं पुरुषसत्तमः ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—उनकी बातें सुनकर कुरुश्रेष्ठ महाबाहु अर्जुन उन तपोधनोंके मना करनेपर भी उन तीर्थोंका दर्शन करनेके लिये गये ॥ ८ ॥

ततः सौभद्रमासाद्य महर्षेस्तीर्थमुत्तमम्।
विगाह्य सहसा शूरः स्नानं चक्रे परंतपः ॥ ९ ॥

तदनन्तर परंतप शूरवीर अर्जुन महर्षि सुभद्रके उत्तम सौभद्रतीर्थमें सहसा उतरकर स्नान करने लगे ॥ ९ ॥

अथ तं पुरुषव्याघ्रमन्तर्जलचरो महान्।
जग्राह चरणे ग्राहः कुन्तीपुत्रं धनंजयम् ॥ १० ॥

इतनेमें ही जलके भीतर विचरनेवाले एक महान् ग्राहने नरश्रेष्ठ कुन्तीकुमार धनंजयका एक पैर पकड़ लिया ॥ १० ॥

स तमादाय कौन्तेयो विस्फुरन्तं जलेचरम्।
उदतिष्ठन्महाबाहुर्बलेन बलिनां वरः ॥ ११ ॥

परंतु बलवानोंमें श्रेष्ठ महाबाहु कुन्तीकुमार बहुत उछल-कूद मचाते हुए उस जलचर जीवको लिये-दिये पानीसे बाहर निकल आये ॥ ११ ॥

उत्कृष्ट एव ग्राहस्तु सोऽर्जुनेन यशस्विना।
बभूव नारी कल्याणी सर्वाभरणभूषिता ॥ १२ ॥

यशस्वी अर्जुनद्वारा पानीके ऊपर खिंच आनेपर वह ग्राह समस्त आभूषणोंसे विभूषित एक परम सुन्दरी नारीके रूपमें परिणत हो गया ॥ १२ ॥

दीप्यमाना श्रिया राजन् दिव्यरूपा मनोरमा।
तदद्भुतं महद् दृष्ट्वा कुन्तीपुत्रो धनंजयः ॥ १३ ॥
तां स्त्रियं परमप्रीत इदं वचनमब्रवीत्।
का वै त्वमसि कल्याणि कुतो वासि जलेचरी ॥ १४ ॥
किमर्थं च महत् पापमिदं कृतवती पुरा।

राजन्! वह दिव्यरूपिणी मनोरमा रमणी अपनी सुन्दर कान्तिसे प्रकाशित हो रही थी। यह महान् आश्चर्यकी बात देखकर कुन्तीनन्दन धनंजय बड़े प्रसन्न हुए और उस स्त्रीसे इस प्रकार बोले—'कल्याणी! तुम कौन हो और कैसे जलचरयोनिको प्राप्त हुई थी? तुमने पूर्वकालमें ऐसा महान् पाप किसलिये किया? जिससे तुम्हारी यह दुर्गति हुई?' ॥ १३-१४ ॥

वर्गोवाच

अप्सरास्मि महाबाहो देवारण्यविहारिणी ॥ १५ ॥

वर्गा बोली—महाबाहो! मैं नन्दनवनमें विहार करनेवाली एक अप्सरा हूँ ॥ १५ ॥

इष्टा धनपतेर्नित्यं वर्गा नाम महाबल।
मम सख्यश्चतस्रोऽन्याः सर्वाः कामगमाः शुभाः ॥ १६ ॥

महाबल! मेरा नाम वर्गा है। मैं कुबेरकी नित्य प्रेयसी रही हूँ। मेरी चार दूसरी सखियाँ भी हैं, वे सब इच्छानुसार गमन करनेवाली और सुन्दरी हैं ॥ १६ ॥

ताभिः सार्धं प्रयातास्मि लोकपालनिवेशनम्।
ततः पश्यामहे सर्वा ब्राह्मणं संशितव्रतम् ॥ १७ ॥

उन सबके साथ एक दिन मैं लोकपाल कुबेरके घर जा रही थी। मार्गमें हम सबने उत्तम व्रतका पालन करनेवाले एक ब्राह्मणको देखा ॥ १७ ॥

रूपवन्तमधीयानमेकमेकान्तचारिणम्।
तस्यैव तपसा राजंस्तद् वनं तेजसाऽऽवृतम् ॥ १८ ॥

वे बड़े रूपवान् थे और अकेले एकान्तमें रहकर वेदोंका स्वाध्याय करते थे। राजन्! उन्हींकी तपस्यासे वह सारा वनप्रान्त तेजोमय हो रहा था ॥ १८ ॥

आदित्य इव तं देशं कृत्स्नं सर्वं व्यकाशयत्।
तस्य दृष्ट्वा तपस्तादृग् रूपं चाद्भुतमुत्तमम् ॥ १९ ॥
अवतीर्णाः स्म तं देशं तपोविघ्नचिकीर्षया।

वे सूर्यकी भाँति उस सम्पूर्ण प्रदेशको प्रकाशित कर रहे थे। उनकी वैसी तपस्या और वह अद्भुत एवं उत्तम रूप देखकर हम सभी अप्सराएँ उनके तपमें विघ्न डालनेकी इच्छासे उस स्थानमें उतर पड़ीं ॥ १९½ ॥

अहं च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ॥ २० ॥
यौगपद्येन तं विप्रमभ्यगच्छाम भारत।
गायन्त्योऽथ हसन्त्यश्च लोभयित्वा च तं द्विजम्॥२१॥

भारत! मैं, सौरभेयी, समीची, बुद्बुदा और लता पाँचों एक ही साथ उन ब्राह्मणके समीप गयीं और उन्हें लुभाती हुई हँसने तथा गाने लगीं ॥ २०-२१ ॥

स च नास्मासु कृतवान् मनो वीर कथंचन।
नाकम्पत महातेजाः स्थितस्तपसि निर्मले ॥ २२ ॥

परंतु वीरवर! उन्होंने किसी प्रकार भी अपने मनको हमारी ओर नहीं खिंचने दिया। वे महातेजस्वी ब्राह्मण निर्मल तपस्यामें संलग्न थे। वे उससे तनिक भी विचलित नहीं हुए ॥

सोऽशपत् कुपितोऽस्मासु ब्राह्मणः क्षत्रियर्षभ।
ग्राहभूता जले यूयं चरिष्यथ शतं समाः ॥ २३ ॥

क्षत्रियशिरोमणे! हमारी उद्दण्डतासे कुपित होकर उन ब्राह्मणने हमें शाप दे दिया—'तुमलोग सौ वर्षोंतक जलमें ग्राह बनकर रहोगी' ॥ २३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि तीर्थग्राहविमोचने पञ्चदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें तीर्थग्राहविमोचनविषयक दो सौ पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१५ ॥

षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

वर्गाकी प्रार्थनासे अर्जुनका शेष चारों अप्सराओंको भी शापमुक्त करके मणिपूर जाना और चित्राङ्गदासे मिलकर गोकर्णतीर्थको प्रस्थान करना

वर्गोवाच

ततो वयं प्रव्यथिताः सर्वा भारतसत्तम।
अयाम शरणं विप्रं तं तपोधनमच्युतम् ॥ १ ॥

वर्गा बोली—भरतवंशके महापुरुष! उन ब्राह्मणका शाप सुनकर हमें बड़ा दुःख हुआ। तब हम सब-की-सब अपने धर्मसे च्युत न होनेवाले उन तपस्वी विप्रकी शरणमें गयीं ॥ १ ॥

रूपेण वयसा चैव कन्दर्पेण च दर्पिताः।
अयुक्तं कृतवत्यः स्म क्षन्तुमर्हसि नो द्विज ॥ २ ॥

(और इस प्रकार बोलीं—) ब्रह्मन्! हम रूप, यौवन और कामसे उन्मत्त हो गयी थीं। इसीलिये यह अनुचित कार्य कर बैठीं। आप कृपापूर्वक हमारा अपराध क्षमा करें ॥ २ ॥

एष एव वधोऽस्माकं सुपर्याप्तस्तपोधन।
यद् वयं संशितात्मानं प्रलोब्धुं त्वामिहागताः ॥ ३ ॥

'तपोधन! हमारा तो पूर्णरूपसे यही मरण हो गया कि हम आप-जैसे शुद्धात्मा मुनिको लुभानेके लिये यहाँ आयीं ॥

अवध्यास्तु स्त्रियः सृष्टा मन्यन्ते धर्मचारिणः।
तस्माद् धर्मेण वर्ध त्वं नास्मान् हिंसितुमर्हसि ॥ ४ ॥

'धर्मात्मा पुरुष ऐसा मानते हैं कि स्त्रियाँ अवध्य बनायी गयी हैं। अतः आप अपने धर्माचरणद्वारा निरन्तर उन्नति कीजिये। आपको हम अबलाओंकी हत्या नहीं करनी चाहिये ॥

सर्वभूतेषु धर्मज्ञ मैत्रो ब्राह्मण उच्यते।
सत्यो भवतु कल्याण एष वादो मनीषिणाम् ॥ ५ ॥

'धर्मज्ञ! ब्राह्मण समस्त प्राणियोंपर मैत्रीभाव रखनेवाला कहा जाता है। भद्र पुरुष! मनीषी पुरुषोंका यह कथन सत्य होना चाहिये ॥ ५ ॥

शरणं च प्रपन्नानां शिष्टाः कुर्वन्ति पालनम्।
शरणं त्वां प्रपन्नाः स्मस्तस्मात् त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ६ ॥

'श्रेष्ठ महात्मा शरणागतोंकी रक्षा करते हैं। हम भी आपकी शरणमें आयी हैं; अतः आप हमारे अपराध क्षमा करें' ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स धर्मात्मा ब्राह्मणः शुभकर्मकृत्।
प्रसादं कृतवान् वीर रविसोमसमप्रभः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—वीरवर! उनके ऐसा कहनेपर सूर्य और चन्द्रमाके समान तेजस्वी तथा शुभ कर्म करनेवाले उन धर्मात्मा ब्राह्मणने उन सबपर कृपा की ॥ ७ ॥

ब्राह्मण उवाच

शतं शतसहस्रं तु सर्वमक्षय्यवाचकम्।
परिमाणं शतं त्वेतन्नेदमक्षय्यवाचकम् ॥ ८ ॥

ब्राह्मण बोले—'शत' और 'शतसहस्र' शब्द ये सभी अनन्त संख्याके वाचक हैं, परंतु यहाँ जो मैंने 'शतं समाः' (तुमलोगोंको सौ वर्षोंतक ग्राह होनेके लिये) कहा है, उसमें शत शब्द सौ वर्षके परिमाणका ही वाचक है। अनन्तकालका वाचक नहीं है ॥ ८ ॥

यदा च वो ग्राहभूता गृह्णन्तीः पुरुषाञ्जले।
उत्कर्षति जलात् तस्मात् स्थलं पुरुषसत्तमः ॥ ९ ॥
तदा यूयं पुनः सर्वाः स्वं रूपं प्रतिपत्स्यथ।
अनृतं नोक्तपूर्वं मे हसतापि कदाचन ॥ १० ॥

जब जलमें ग्राह बनकर लोगोंको पकड़नेवाली तुम सब अप्सराओंको कोई श्रेष्ठ पुरुष जलसे बाहर स्थलपर खींच लायेगा, उस समय तुम सब लोग फिर अपना दिव्य रूप प्राप्त कर लोगी। मैंने पहले कभी हँसीमें भी झूठ नहीं कहा है ॥ ९-१० ॥

तानि सर्वाणि तीर्थानि ततः प्रभृति चैव ह।
नारीतीर्थानि नाम्नेह ख्यातिं यास्यन्ति सर्वशः।
पुण्यानि च भविष्यन्ति पावनानि मनीषिणाम् ॥ ११ ॥

तुमलोगोंका उद्धार हो जानेके बाद वे सभी तीर्थ इस जगत्‌में नारीतीर्थके नामसे विख्यात होंगे और मनीषी पुरुषोंको भी पवित्र करनेवाले पुण्य तीर्थ बन जायँगे ॥ ११ ॥

वर्गोवाच

ततोऽभिवाद्य तं विप्रं कृत्वा चापि प्रदक्षिणम्।
अचिन्तयामोऽपसृत्य तस्माद् देशात् सुदुःखिताः ।१२।
क्व नु नाम वयं सर्वाः कालेनाल्पेन तं नरम्।
समागच्छेम यो नस्तद् रूपमापादयेत् पुनः ॥ १३ ॥

वर्गा कहती है—भारत! तदनन्तर उन ब्राह्मणको प्रणाम और उनकी प्रदक्षिणा करके अत्यन्त दुखी हो हम सब उस स्थानसे अन्यत्र चली आयीं और इस चिन्तामें पड़ गयीं कि कहाँ जाकर हम सब लोग रहें, जिससे थोड़े ही समयमें हमें वह मनुष्य मिल जाय, जो हमें पुनः हमारे पूर्व स्वरूपकी प्राप्ति करायेगा ॥ १२-१३ ॥

ता वयं चिन्तयित्वैव मुहूर्तादिव भारत।
दृष्टवत्यो महाभागं देवर्षिमुत नारदम् ॥ १४ ॥

भरतश्रेष्ठ! हमलोग दो घड़ीसे इस प्रकार सोच-विचार कर ही रही थीं कि हमको महाभाग देवर्षि नारदजीका दर्शन प्राप्त हुआ ॥ १४ ॥

सम्प्रहृष्टाः स्म तं दृष्ट्वा देवर्षिममितद्युतिम्।
अभिवाद्य च तं पार्थ स्थिताः स्म व्रीडिताननाः ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन! उन अमिततेजस्वी देवर्षिको देखकर हमें बड़ा हर्ष हुआ और उन्हें प्रणाम करके हम लज्जावश सिर झुकाकर वहाँ खड़ी हो गयीं ॥ १५ ॥

स नोऽपृच्छद् दुःखमूलमुक्तवत्यो वयं च तम्।
श्रुत्वा तत्र यथावृत्तमिदं वचनमब्रवीत् ॥ १६ ॥

फिर उन्होंने हमारे दुःखका कारण पूछा और हमने उनसे सब कुछ बता दिया। सारा हाल सुनकर वे इस प्रकार बोले—॥

दक्षिणे सागरानूपे पञ्च तीर्थानि सन्ति वै।
पुण्यानि रमणीयानि तानि गच्छत मा चिरम् ॥ १७ ॥

'दक्षिण समुद्रके तटके समीप पाँच तीर्थ हैं, जो परम पुण्यजनक तथा अत्यन्त रमणीय हैं। तुम सब उन्हींमें चली जाओ, देर न करो॥

तत्राशु पुरुषव्याघ्रः पाण्डवेयो धनंजयः।
मोक्षयिष्यति शुद्धात्मा दुःखादस्मान्न संशयः ॥ १८ ॥
तस्य सर्वा वयं वीर श्रुत्वा वाक्यमिहागताः।
तदिदं सत्यमेवाद्य मोक्षिताहं त्वयानघ ॥ १९ ॥

'वहाँ पुरुषोंमें श्रेष्ठ शुद्धात्मा पाण्डुकुमार धनंजय शीघ्र ही पहुँचकर तुम्हें इस दुःखसे छुड़ायेंगे, इसमें संशय नहीं है।' वीर अर्जुन! नारदजीका यह वचन सुनकर हम सखियाँ यहीं चली आयीं। अनघ! आज सचमुच ही आपने मुझे उस शापसे मुक्त कर दिया ॥ १८-१९ ॥

एतास्तु मम ताः सख्यश्चतस्रोऽन्या जले स्थिताः।
कुरु कर्म शुभं वीर एताः सर्वा विमोक्षय ॥ २० ॥

ये मेरी चार सखियाँ और हैं, जो अभी जलमें ही पड़ी हैं। वीरवर! आप यह पुण्य कर्म कीजिये; इन सबको छुड़ा दीजिये ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ताः पाण्डवश्रेष्ठः सर्वा एव विशाम्पते।
तस्माच्छापाददीनात्मा मोक्षयामास वीर्यवान् ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तब उदार हृदय पराक्रमी पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुनने उन सभी अप्सराओंको उस शापसे मुक्त कर दिया ॥ २१ ॥

उत्थाय च जलात् तस्मात् प्रतिलभ्य वपुः स्वकम्।
तास्तदाप्सरसो राजन्नदृश्यन्त यथा पुरा ॥ २२ ॥

राजन्! उस जलसे ऊपर निकलकर फिर अपना पूर्व शरीर प्राप्त कर लेनेपर वे अप्सराएँ उस समय पहलेकी भाँति दिखायी देने लगीं ॥ २२ ॥

तीर्थानि शोधयित्वा तु तथानुज्ञाय ताः प्रभुः।
चित्राङ्गदां पुनर्द्रष्टुं मणिपूरं पुनर्ययौ ॥ २३ ॥

इस प्रकार उन तीर्थोंका शोधन करके उन अप्सराओंको जानेकी आज्ञा दे शक्तिशाली अर्जुन चित्राङ्गदासे मिलनेके लिये पुनः मणिपूर गये ॥ २३ ॥

तस्यामजनयत् पुत्रं राजानं बभ्रुवाहनम्।
तं दृष्ट्वा पाण्डवो राजंश्चित्रवाहनमब्रवीत् ॥ २४ ॥

वहाँ उन्होंने चित्राङ्गदाके गर्भसे जो पुत्र उत्पन्न किया था, उसका नाम बभ्रुवाहन रक्खा गया था। राजन्! उस पुत्रको देखकर पाण्डुपुत्र अर्जुनने राजा चित्रवाहनसे कहा—॥ २४ ॥

चित्राङ्गदायाः शुल्कं त्वं गृहाण बभ्रुवाहनम्।
अनेन च भविष्यामि ऋणान्मुक्तो नराधिप ॥ २५ ॥

'महाराज! इस बभ्रुवाहनको आप चित्राङ्गदाके शुल्कके रूपमें ग्रहण कीजिये, इससे मैं आपके ऋणसे मुक्त हो जाऊँगा' ॥

चित्राङ्गदां पुनर्वाक्यमब्रवीत् पाण्डुनन्दनः।
इहैव भव भद्रं ते वर्धेथा बभ्रुवाहनम् ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् पाण्डुकुमारने पुनः चित्राङ्गदासे कहा—'प्रिये! तुम्हारा कल्याण हो। तुम यहीं रहो और बभ्रुवाहनका पालन-पोषण करो ॥ २६ ॥

इन्द्रप्रस्थनिवासं मे त्वं तत्रागत्य रंस्यसि।
कुन्तीं युधिष्ठिरं भीमं भ्रातरौ मे कनीयसौ ॥ २७ ॥
आगत्य तत्र पश्येथा अन्यानपि च बान्धवान्।
बान्धवैः सहिताः सर्वैर्नन्दसे त्वमनिन्दिते ॥ २८ ॥

'फिर यथासमय हमारे निवासस्थान इन्द्रप्रस्थमें आकर तुम बड़े सुखसे रहोगी। वहाँ आनेपर माता कुन्ती, युधिष्ठिर, भीमसेन, मेरे छोटे भाई नकुल-सहदेव तथा अन्य बन्धु-बान्धवोंको देखनेका तुम्हें अवसर मिलेगा। अनिन्दिते! इन्द्रप्रस्थमें मेरे समस्त बन्धु-बान्धवोंसे मिलकर तुम बहुत प्रसन्न होओगी ॥२७-२८॥

धर्मे स्थितः सत्यधृतिः कौन्तेयोऽथ युधिष्ठिरः।
जित्वा तु पृथिवीं सर्वां राजसूयं करिष्यति ॥ २९ ॥

'सदा धर्मपर स्थित रहनेवाले सत्यवादी कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिर सारी पृथ्वीको जीतकर राजसूययज्ञ करेंगे॥२९॥

तत्रागच्छन्ति राजानः पृथिव्यां नृपसंज्ञिताः।
बहूनि रत्नान्यादाय आगमिष्यति ते पिता ॥ ३० ॥

'उस समय वहाँ भूमण्डलके नरेशनामधारी सभी राजा आयेंगे। तुम्हारे पिता भी बहुत-से रत्नोंकी भेंट लेकर उस समय उपस्थित होंगे ॥ ३० ॥

एकसार्थं प्रयातासि चित्रवाहनसेवया।
द्रक्ष्यामि राजसूये त्वां पुत्रं पालय मा शुचः ॥ ३१ ॥

'चित्रवाहनकी सेवाके निमित्त उन्हींके साथ राजसूययज्ञमें तुम भी चली आना। मैं वहीं तुमसे मिलूँगा। इस समय पुत्रका पालन करो और शोक छोड़ दो ॥ ३१ ॥

बभ्रुवाहननाम्ना तु मम प्राणो महीचरः।
तस्माद् भरस्व पुत्रं वै पुरुषं वंशवर्धनम् ॥ ३२ ॥

'बभ्रुवाहनके नामसे मेरा प्राण ही इस भूतलपर विद्यमान है, अतः तुम इस पुत्रका भरण-पोषण करो। यह इस वंशको बढ़ानेवाला पुरुषरत्न है ॥ ३२ ॥

चित्रवाहनदायादं धर्मात् पौरवनन्दनम्।
पाण्डवानां प्रियं पुत्रं तस्मात् पालय सर्वदा ॥ ३३ ॥

'यह धर्मतः चित्रवाहनका पुत्र है; किंतु शरीरसे पूरुवंशको आनन्दित करनेवाला है। अतः पाण्डवोंके इस प्रिय पुत्रका तुम सदा पालन करो ॥ ३३ ॥

विप्रयोगेन संतापं मा कृथास्त्वमनिन्दिते।
चित्राङ्गदामेवमुक्त्वा गोकर्णमभितोऽगमत् ॥ ३४ ॥

'सती-साध्वी प्रिये! मेरे वियोगसे तुम संतप्त न होना।' चित्राङ्गदासे ऐसा कहकर अर्जुन गोकर्णतीर्थकी ओर चल दिये॥

आद्यं पशुपतेः स्थानं दर्शनादेव मुक्तिदम्।
यत्र पापोऽपि मनुजः प्राप्नोत्यभयदं पदम् ॥ ३५ ॥

वह भगवान् शङ्करका आदिस्थान है और दर्शनमात्रसे मोक्ष देनेवाला है। पापी मनुष्य भी वहाँ जाकर निर्भय पद प्राप्त कर लेता है ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वण्यर्जुनवनवासपर्वण्यर्जुनतीर्थयात्रायां षोडशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें अर्जुनकी तीर्थयात्रासे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१६ ॥

सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका प्रभासतीर्थमें श्रीकृष्णसे मिलना और उन्हींके साथ उनका रैवतक पर्वत एवं द्वारकापुरीमें आना

वैशम्पायन उवाच

सोऽपरान्तेषु तीर्थानि पुण्यान्यायतनानि च।
सर्वाण्येवानुपूर्व्येण जगामामितविक्रमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर अमित पराक्रमी अर्जुन क्रमशः अपरान्त (पश्चिम समुद्रतटवर्ती) देशके समस्त पुण्य तीर्थों और मन्दिरोंमें गये ॥ १ ॥

समुद्रे पश्चिमे यानि तीर्थान्यायतनानि च।
तानि सर्वाणि गत्वा स प्रभासमुपजग्मिवान् ॥ २ ॥

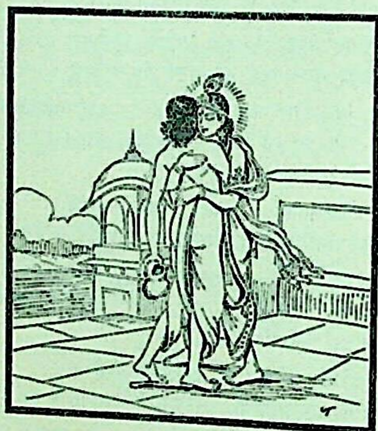
पश्चिम समुद्रके तटपर जितने तीर्थ और देवालय थे, उन सबकी यात्रा करके वे प्रभासक्षेत्रमें जा पहुँचे ॥ २ ॥

प्रभासदेशं सम्प्राप्तं बीभत्सुमपराजितम्।
सुपुण्यं रमणीयं च शुश्राव मधुसूदनः ॥ ३ ॥
ततोऽभ्यगच्छत् कौन्तेयं सखायं तत्र माधवः।
ददृशाते तदान्योन्यं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ ॥ ४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने गुप्तचरोंद्वारा यह सुना कि किसीसे भी परास्त न होनेवाले अर्जुन परम पवित्र एवं रमणीय प्रभास-क्षेत्रमें आ गये हैं, तब वे अपने सखा कुन्तीनन्दनसे मिलनेके लिये वहाँ गये। उस समय प्रभासमें श्रीकृष्ण और अर्जुनने एक-दूसरेको देखा ॥ ३-४ ॥

तावन्योन्यं समाश्लिष्य पृष्ट्वा च कुशलं वने।
आस्तां प्रियसखायौ तौ नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥

दोनों ही दोनोंको हृदयसे लगाकर कुशल-प्रश्न पूछनेके



पश्चात् वे परस्पर प्रिय मित्र साक्षात् नर-नारायण ऋषि वनमें एक स्थानपर बैठ गये ॥ ५ ॥

ततोऽर्जुनं वासुदेवस्तां चर्यां पर्यपृच्छत।
किमर्थं पाण्डवैतानि तीर्थान्यनुचरस्युत ॥ ६ ॥

तब भगवान् वासुदेवने अर्जुनसे उनकी जीवनचर्याके सम्बन्धमें पूछा—'पाण्डव ! तुम किसलिये तीर्थोंमें विचर रहे हो ?' ॥ ६ ॥

ततोऽर्जुनो यथावृत्तं सर्वमाख्यातवांस्तदा।
श्रुत्वोवाच च वार्ष्णेय एवमेतदिति प्रभुः ॥ ७ ॥

यह सुनकर अर्जुनने उन्हें सारा वृत्तान्त ज्यों-का-त्यों सुना दिया। सब कुछ सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण बोले—'यह बात ऐसी ही है' ॥ ७ ॥

तौ विहृत्य यथाकामं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ।
महीधरं रैवतकं वासायैवाभिजग्मतुः ॥ ८ ॥

तदनन्तर श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों प्रभासक्षेत्रमें इच्छानुसार घूम-फिरकर रैवतक पर्वतपर चले गये। उन्हें रातको वहीं ठहरना था ॥ ८ ॥

पूर्वमेव तु कृष्णस्य वचनात् तं महीधरम्।
पुरुषा मण्डयाञ्चक्रुरुपजह्रुश्च भोजनम् ॥ ९ ॥

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञासे उनके सेवकोंने पहलेसे ही आकर उस पर्वतको सजा रक्खा था और वहाँ भोजन भी तैयार करके रख लिया था ॥ ९ ॥

प्रतिगृह्यार्जुनः सर्वमुपभुज्य च पाण्डवः।
सहैव वासुदेवेन दृष्टवान् नटनर्तकान् ॥ १० ॥
अभ्यनुज्ञाय तान् सर्वानर्चयित्वा च पाण्डवः।
सत्कृतं शयनं दिव्यमभ्यगच्छन्महामतिः ॥ ११ ॥

पाण्डुकुमार अर्जुनने भगवान् वासुदेवके साथ [illegible] किये हुए सम्पूर्ण भोज्य पदार्थोंको यथारुचि खाकर और नर्तकोंके नृत्य देखे। तत्पश्चात् उन सबको [illegible] आदिसे सम्मानित करके जानेकी आज्ञा दे महाबुद्धि पाण्डुकुमार अर्जुन सत्कारपूर्वक बिछी हुई दिव्य [illegible] सोनेके लिये गये ॥ १०-११ ॥

ततस्तत्र महाबाहुः शयानः शयने शुभे।
तीर्थानां पल्वलानां च पर्वतानां च दर्शनम्।
आपगानां वनानां च कथयामास सात्वते ॥ १२ ॥

वहाँ सुन्दर शय्यापर सोये हुए महाबाहु धनंजयने भगवान् श्रीकृष्णसे अनेक तीर्थों, कुण्डों, पर्वतों, नदियों तथा [illegible] दर्शनसम्बन्धी अनुभवकी विचित्र बातें कहीं ॥ १२ ॥

एवं स कथयन्नेव निद्रया जनमेजय।
कौन्तेयोऽपि हृतस्तस्मिन् शयने स्वर्गसंनिभे ॥ १३ ॥

जनमेजय ! इस प्रकार बात करते-करते अर्जुन [illegible] स्वर्गसदृश सुखदायिनी शय्यापर सो गये ॥ १३ ॥

मधुरेणैव गीतेन वीणाशब्देन चैव ह।
प्रबोध्यमानो बुबुधे स्तुतिभिर्मङ्गलैस्तथा ॥ १४ ॥

तदनन्तर प्रातःकाल मधुर गीत, वीणाकी मीठी ध्वनि और मङ्गलपाठके शब्दोंद्वारा जगाये जानेपर उनकी नींद खुली ॥ १४ ॥

स कृत्वावश्यकार्याणि वार्ष्णेयेनाभिनन्दितः।
रथेन काञ्चनाङ्गेन द्वारकामभिजग्मिवान् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् आवश्यक कार्य करके श्रीकृष्णके द्वारा अभिनन्दित हो उनके साथ सुवर्णमय रथपर बैठकर वे द्वारकापुरीको गये ॥ १५ ॥

अलंकृता द्वारका तु बभूव जनमेजय।
कुन्तीपुत्रस्य पूजार्थमपि निष्कुटकेष्वपि ॥ १६ ॥

जनमेजय ! उस समय कुन्तीकुमारके स्वागतके लिये समूची द्वारकापुरी सजायी गयी थी तथा वहाँके [illegible] बगीचेतक सजाये गये थे ॥ १६ ॥

दिदृक्षन्तश्च कौन्तेयं द्वारकावासिनो जनाः।
नरेन्द्रमार्गमाजग्मुस्तूर्णं शतसहस्रशः ॥ १७ ॥

कुन्तीनन्दन अर्जुनको देखनेके लिये द्वारकावासी मनुष्य लाखोंकी संख्यामें मुख्य सड़कपर चले आये थे ॥ १७ ॥

अवलोकेषु नारीणां सहस्राणि शतानि च।
भोजवृष्ण्यन्धकानां च समवायो महानभूत् ॥ १८ ॥

जहाँसे अर्जुनका दर्शन हो सके, ऐसे स्थानोंपर सैकड़ों हजारों स्त्रियाँ आँख लगाये खड़ी थीं तथा भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके पुरुषोंकी बहुत बड़ी भीड़ एकत्र हो गयी थी ॥

स तथा सत्कृतः सर्वैर्भोजवृष्ण्यन्धकात्मजैः।
अभिवाद्याभिवाद्यांश्च सर्वैश्च प्रतिनन्दितः ॥ १९ ॥

भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके सब लोगोंद्वारा इस प्रकार आदर-सत्कार पाकर अर्जुनने वन्दनीय पुरुषोंको प्रणाम किया और उन सबने उनका स्वागत किया ॥ १९ ॥

कुमारैः सर्वशो वीरः सत्कारेणाभिचोदितः ।
समानवयसः सर्वानाश्लिष्य स पुनः पुनः ॥ २० ॥

यदुकुलके समस्त कुमारोंने भी वीरवर अर्जुनका बड़ा सत्कार किया । अर्जुन अपने समान अवस्थावाले सब लोगोंसे उन्हें बारंबार हृदयसे लगाकर मिले ॥ २० ॥

कृष्णस्य भवने रम्ये रत्नभोज्यसमावृते ।
उवास सह कृष्णेन बहुलास्तत्र शर्वरीः ॥ २१ ॥

इसके बाद नाना प्रकारके रत्न तथा भाँति-भाँतिके भोज्य पदार्थोंसे भरपूर श्रीकृष्णके रमणीय भवनमें उन्होंने श्रीकृष्णके साथ ही अनेक रात्रियोंतक निवास किया ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि अर्जुनवनवासपर्वणि अर्जुनद्वारकागमने सप्तदशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत अर्जुनवनवासपर्वमें अर्जुनका द्वारकागमन-विषयक दो सौ सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ २१७

(सुभद्राहरणपर्व)

अष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः

रैवतक पर्वतके उत्सवमें अर्जुनका सुभद्रापर आसक्त होना और श्रीकृष्ण तथा युधिष्ठिरकी अनुमतिसे उसे हर ले जानेका निश्चय करना

वैशम्पायन उवाच

ततः कतिपयाहस्य तस्मिन् रैवतके गिरौ ।
वृष्ण्यन्धकानामभवदुत्सवो नृपसत्तम ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नृपश्रेष्ठ ! तदनन्तर कुछ दिन बीतनेके बाद रैवतक पर्वतपर वृष्णि और अन्धकवंशके लोगोंका एक बड़ा भारी उत्सव हुआ ॥ १ ॥

तत्र दानं ददुर्वीरा ब्राह्मणेभ्यः सहस्रशः ।
भोजवृष्ण्यन्धकाश्चैव महे तस्य गिरेस्तदा ॥ २ ॥

पर्वतपर होनेवाले उस उत्सवमें भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वीरोंने सहस्रों ब्राह्मणोंको दान दिया ॥ २ ॥

प्रासादै रत्नचित्रैश्च गिरेस्तस्य समन्ततः ।
स देशः शोभितो राजन् कल्पवृक्षैश्च सर्वशः ॥ ३ ॥

राजन् ! उस पर्वतके चारों ओर रत्नजटित विचित्र राजभवन और कल्पवृक्ष थे, जिनसे उस स्थानकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ३ ॥

वादित्राणि च तत्रान्ये वादकाः समवादयन् ।
ननृतुर्नर्तकाश्चैव जगुर्गेयानि गायनाः ॥ ४ ॥

वहाँ बाजे बजानेमें कुशल मनुष्य अनेक प्रकारके बाजे बजाते, नाचनेवाले नाचते और गायकगण गीत गाते थे ॥

अलंकृताः कुमाराश्च वृष्णीनां सुमहौजसाम् ।
यानैर्हाटकचित्रैश्च चञ्चूर्यन्ते स्म सर्वशः ॥ ५ ॥

महान् तेजस्वी वृष्णिवंशियोंके बालक वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो सुवर्णचित्रित सवारियोंपर बैठकर देदीप्यमान होते हुए चारों ओर घूम रहे थे ॥ ५ ॥

पौराश्च पादचारेण यानैरुच्चावचैस्तथा ।
सदाराः सानुयात्राश्च शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ६ ॥
ततो हलधरः क्षीबो रेवतीसहितः प्रभुः ।
अनुगम्यमानो गन्धर्वैरचरत् तत्र भारत ॥ ७ ॥

द्वारकापुरीके निवासी सैकड़ों-हजारों मनुष्य अपनी स्त्रियों और सेवकोंके साथ पैदल चलकर अथवा छोटी-बड़ी सवारियोंके द्वारा आकर उस उत्सवमें सम्मिलित हुए थे । भारत ! भगवान् बलराम हर्षोन्मत्त होकर वहाँ रेवतीके साथ विचर रहे थे । उनके पीछे-पीछे गन्धर्व (गायक) चल रहे थे ॥६-७॥

तथैव राजा वृष्णीनामुग्रसेनः प्रतापवान् ।
अनुगीयमानो गन्धर्वैः स्त्रीसहस्रसहायवान् ॥ ८ ॥

वृष्णिवंशके प्रतापी राजा उग्रसेन भी वहाँ आमोद-प्रमोद कर रहे थे । उनके पास बहुत-से गन्धर्व गा रहे थे और सहस्रों स्त्रियाँ उनकी सेवा कर रही थीं ॥ ८ ॥

रौक्मिणेयश्च साम्बश्च क्षीबौ समरदुर्मदौ ।
दिव्यमाल्याम्बरधरौ विजह्रातेऽमराविव ॥ ९ ॥

युद्धमें दुर्मद वीरवर प्रद्युम्न और साम्ब दिव्य मालाएँ तथा दिव्य वस्त्र धारण करके आनन्दसे उन्मत्त हो देवताओंकी भाँति विहार करते थे ॥ ९ ॥

अक्रूरः सारणश्चैव गदो बभ्रुर्विदूरथः ।
निशठश्चारुदेष्णश्च पृथुर्विपृथुरेव च ॥ १० ॥
सत्यकः सात्यकिश्चैव भङ्गकारमहारवौ ।
हार्दिक्य उद्धवश्चैव ये चान्ये नानुकीर्तिताः ॥ ११ ॥
एते परिवृताः स्त्रीभिर्गन्धर्वैश्च पृथक् पृथक् ।
तमुत्सवं रैवतके शोभयाञ्चक्रिरे तदा ॥ १२ ॥

अक्रूर, सारण, गद, बभ्रु, विदूरथ, निशठ, चारुदेष्ण, पृथु, विपृथु, सत्यक, सात्यकि, भङ्गकार, महारव, हृदिकपुत्र कृतवर्मा, उद्धव और जिनका नाम यहाँ नहीं लिया गया है, ऐसे अन्य यदुवंशी भी सब-के-सब अलग-अलग स्त्रियों और गन्धर्वोंसे घिरे हुए रैवतक पर्वतके उस उत्सवकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

चित्रकौतूहले तस्मिन् वर्तमाने महाद्भुते।
वासुदेवश्च पार्थश्च सहितौ परिजग्मतुः ॥ १३ ॥

उस अत्यन्त अद्भुत विचित्र कौतूहलपूर्ण उत्सवमें भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन एक साथ घूम रहे थे ॥ १३ ॥

तत्र चङ्क्रममाणौ तौ वसुदेवसुतां शुभाम्।
अलंकृतां सखीमध्ये भद्रां ददृशतुस्तदा ॥ १४ ॥

इसी समय वहाँ वसुदेवजीकी सुन्दरी पुत्री सुभद्रा शृङ्गारसे सुसज्जित हो सखियोंसे घिरी हुई उधर आ निकली। वहाँ टहलते हुए श्रीकृष्ण और अर्जुनने उसे देखा ॥ १४ ॥

दृष्ट्वैव तामर्जुनस्य कन्दर्पः समजायत।
तं तदैकाग्रमनसं कृष्णः पार्थमलक्षयत् ॥ १५ ॥

उसे देखते ही अर्जुनके हृदयमें कामाग्नि प्रज्वलित हो उठी। उनका चित्त उसीके चिन्तनमें एकाग्र हो गया। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनकी इस मनोदशाको भाँप लिया ॥

अब्रवीत् पुरुषव्याघ्रः प्रहसन्निव भारत।
वनेचरस्य किमिदं कामेनालोड्यते मनः ॥ १६ ॥

फिर वे पुरुषोत्तम हँसते हुए-से बोले—'भारत ! यह क्या, वनवासीका मन भी इस तरह कामसे उन्मथित हो रहा है ?

ममैषा भगिनी पार्थ सारणस्य सहोदरा।
सुभद्रा नाम भद्रं ते पितुर्मे दयिता सुता।
यदि ते वर्तते बुद्धिर्वक्ष्यामि पितरं स्वयम् ॥ १७ ॥

'कुन्तीनन्दन ! यह मेरी और सारणकी सगी बहिन है, तुम्हारा कल्याण हो, इसका नाम सुभद्रा है। यह मेरे पिताकी बड़ी लाड़िली कन्या है। यदि तुम्हारा विचार इससे ब्याह करनेका हो तो मैं पितासे स्वयं कहूँगा' ॥ १७ ॥

अर्जुन उवाच

दुहिता वसुदेवस्य वासुदेवस्य च स्वसा।
रूपेण चैषा सम्पन्ना कमिवैषा न मोहयेत् ॥ १८ ॥

अर्जुनने कहा—यह वसुदेवजीकी पुत्री, साक्षात् आप वासुदेवकी बहिन और अनुपम रूपसे सम्पन्न है, फिर यह किसका मन न मोह लेगी ॥ १८ ॥

कृतमेव तु कल्याणं सर्वं मम भवेद् ध्रुवम्।
यदि स्यान्मम वार्ष्णेयी महिषीयं स्वसा तव ॥ १९ ॥

सखे ! यदि यह वृष्णिकुलकी कुमारी और आपकी बहिन सुभद्रा मेरी रानी हो सके तो निश्चय ही मेरा … कल्याणमय मनोरथ पूर्ण हो जाय ॥ १९ ॥

प्राप्तौ तु क उपायः स्यात् तं ब्रवीहि जनार्दन।
आस्थास्यामि तदा सर्वं यदि शक्यं नरेण तत् ॥ २०॥

जनार्दन ! बताइये, इसे प्राप्त करनेका क्या उपाय हो सकता है ? यदि मनुष्यके द्वारा कर सकने योग्य होगा तो वह सारा प्रयत्न मैं अवश्य करूँगा ॥ २० ॥

वासुदेव उवाच

स्वयंवरः क्षत्रियाणां विवाहः पुरुषर्षभ।
स च संशयितः पार्थ स्वभावस्यानिमित्ततः ॥ २१ ॥

भगवान् श्रीकृष्ण बोले—नरश्रेष्ठ पार्थ ! क्षत्रियोंके विवाहका स्वयंवर एक प्रकार है, परंतु उसका परिणाम संदिग्ध होता है; क्योंकि स्त्रियोंका स्वभाव अनिश्चित हुआ करता है (पता नहीं, वे स्वयंवरमें किसका वरण करें) ॥

प्रसह्य हरणं चापि क्षत्रियाणां प्रशस्यते।
विवाहहेतुः शूराणामिति धर्मविदो विदुः ॥ २२ ॥

बलपूर्वक कन्याका हरण भी शूरवीर क्षत्रियोंके विवाहका उत्तम हेतु कहा गया है; ऐसा धर्मज्ञ पुरुषोंका मत है ॥ २२ ॥

स त्वमर्जुन कल्याणीं प्रसह्य भगिनीं मम।
हर स्वयंवरे ह्यस्याः को वै वेद चिकीर्षितम् ॥ २३ ॥

अतः अर्जुन ! मेरी राय तो यही है कि तुम मेरी कल्याणमयी बहिनको बलपूर्वक हर ले जाओ। कौन जानता है, स्वयंवरमें उसकी क्या चेष्टा होगी—वह किसे वरण करना चाहेगी ? ॥ २३ ॥

ततोऽर्जुनश्च कृष्णश्च विनिश्चित्येतिकृत्यताम्।
शीघ्रगान् पुरुषानन्यान् प्रेषयामासतुस्तदा ॥ २४ ॥
धर्मराजाय तत् सर्वमिन्द्रप्रस्थगताय वै।
श्रुत्वैव च महाबाहुरनुजज्ञे स पाण्डवः ॥ २५ ॥

तब अर्जुन और श्रीकृष्णने कर्तव्यका निश्चय करके कुछ दूसरे शीघ्रगामी पुरुषोंको इन्द्रप्रस्थमें धर्मराज युधिष्ठिरके पास भेजा और सब बातें उन्हें सूचित करके उनकी सम्मति जाननेकी इच्छा प्रकट की। महाबाहु युधिष्ठिरने यह सुनते ही अपनी ओरसे आज्ञा दे दी ॥ २४-२५ ॥

(भीमसेनस्तु तच्छ्रुत्वा कृतकृत्योऽभ्यमन्यत।
इत्येवं मनुजैः सार्धमुक्त्वा प्रीतिमुपेयिवान् ॥)

भीमसेन यह समाचार सुनकर अपनेको कृतकृत्य मानने लगे और दूसरे लोगोंके साथ ये बातें करके उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सुभद्राहरणपर्वणि युधिष्ठिरानुज्ञायामष्टादशाधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सुभद्राहरणपर्वमें युधिष्ठिरकी आज्ञासम्बन्धी दो सौ अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

यादवोंकी युद्धके लिये तैयारी और अर्जुनके प्रति बलरामजीके क्रोधपूर्ण उद्गार

वैशम्पायन उवाच

ततः संवादिते तस्मिन्ननुज्ञातो धनंजयः।
गतां रैवतके कन्यां विदित्वा जनमेजय ॥ १ ॥
वासुदेवाभ्यनुज्ञातः कथयित्वेतिकृत्यताम्।
कृष्णस्य मतमादाय प्रययौ भरतर्षभः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर उस विवाहसम्बन्धी संदेशपर युधिष्ठिरकी आज्ञा मिल जानेके पश्चात् धनंजयको जब यह मालूम हुआ कि सुभद्रा रैवतक पर्वतपर गयी हुई है, तब उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णसे सलाह ली। श्रीकृष्णने उन्हें आगे क्या करना है, यह बताकर सुभद्रासे विवाह करने तथा उसे हर ले जानेकी अनुमति दे दी। श्रीकृष्णकी सम्मति पाकर भरतश्रेष्ठ अर्जुन अपने विश्रामस्थानपर चले गये ॥ १-२ ॥



रथेन काञ्चनाङ्गेन कल्पितेन यथाविधि।
शैब्यसुग्रीवयुक्तेन किङ्किणीजालमालिना ॥ ३ ॥
सर्वशस्त्रोपपन्नेन जीमूतरवनादिना।
ज्वलिताग्निप्रकाशेन द्विषतां हर्षघातिना ॥ ४ ॥
संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रवान्।
मृगयाव्यपदेशेन प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ५ ॥

(भगवान्‌की आज्ञासे दारुकने) उनके सुवर्णमय रथको विधिपूर्वक सजाकर तैयार किया था। उसमें स्थान-स्थानपर छोटी-छोटी घंटिकाएँ तथा झालरें लगा दी थीं और शैब्य, सुग्रीव आदि अश्व भी उसमें जोत दिये थे। उस रथके भीतर सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र मौजूद थे। उसकी घर्घराहटसे मेघकी गर्जनाके समान आवाज होती थी। वह प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी जान पड़ता था। उसे देखते ही शत्रुओंका हर्ष हवा हो जाता था। नरश्रेष्ठ धनंजय कवच और तलवार बाँधकर एवं हाथोंमें दस्ताने पहनकर उसी रथके द्वारा शिकार खेलनेके बहाने रैवतक पर्वतपर गये ॥ ३-५ ॥

सुभद्रा त्वथ शैलेन्द्रमभ्यर्च्यैव हि रैवतम्।
दैवतानि च सर्वाणि ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ॥ ६ ॥
प्रदक्षिणं गिरेः कृत्वा प्रययौ द्वारकां प्रति।
तामभिद्रुत्य कौन्तेयः प्रसह्यारोपयद् रथम्।
सुभद्रां चारुसर्वाङ्गीं कामबाणप्रपीडितः ॥ ७ ॥

उधर सुभद्रा गिरिराज रैवतक तथा सब देवताओंकी पूजा करके ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर पर्वतकी परिक्रमा पूरी करके द्वारकाकी ओर लौट रही थी। अर्जुन कामदेवके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित हो रहे थे। उन्होंने दौड़कर सर्वाङ्ग-सुन्दरी सुभद्राको बलपूर्वक रथपर बिठा लिया ॥ ६-७ ॥

ततः स पुरुषव्याघ्रस्तामादाय शुचिस्मिताम्।
रथेन काञ्चनाङ्गेन प्रययौ स्वपुरं प्रति ॥ ८ ॥

इसके बाद पुरुषसिंह धनंजय पवित्र मुसकानवाली सुभद्राको साथ ले उस सुवर्णमय रथद्वारा अपने नगरकी ओर चल दिये ॥ ८ ॥

ह्रियमाणां तु तां दृष्ट्वा सुभद्रां सैनिका जनाः।
विक्रोशन्तोऽद्रवन् सर्वे द्वारकामभितः पुरीम् ॥ ९ ॥

सुभद्राका अपहरण होता देख समस्त सैनिकगण हल्ला मचाते हुए द्वारकापुरीकी ओर दौड़ गये ॥ ९ ॥

ते समासाद्य सहिताः सुधर्मामभितः सभाम्।
सभापालस्य तत् सर्वमाचख्युः पार्थविक्रमम् ॥ १० ॥

उन्होंने एक साथ सुधर्मासभामें पहुँचकर सभापालसे अर्जुनके उस साहसपूर्ण पराक्रमका सारा हाल कह सुनाया ॥

तेषां श्रुत्वा सभापालो भेरीं सांनाहिकीं ततः।
समाजघ्ने महाघोषां जाम्बूनदपरिष्कृताम् ॥ ११ ॥

उनकी बातें सुनकर सभापालने सबको युद्धके लिये तैयार होनेकी सूचना देनेके उद्देश्यसे सुवर्णखचित नगाड़ा बजाया, जिसकी आवाज बहुत ऊँची और दूरतक फैलनेवाली थी ॥ ११ ॥

क्षुब्धास्तेनाथ शब्देन भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा।
अन्नपानमपास्याथ समापेतुः समन्ततः ॥ १२ ॥

उसकी आवाज सुनकर भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके वीर क्षुब्ध हो उठे और खाना-पीना छोड़कर चारों ओरसे दौड़े आये ॥ १२ ॥

तत्र जाम्बूनदाङ्गानि स्पर्ध्यास्तरणवन्ति च।
मणिविद्रुमचित्राणि ज्वलिताग्निप्रभाणि च ॥ १३ ॥
भेजिरे पुरुषव्याघ्रा वृष्ण्यन्धकमहारथाः।
सिंहासनानि शतशो धिष्ण्यानीव हुताशनाः ॥ १४ ॥

उस सभामें सैकड़ों सिंहासन रक्खे गये थे, जिनमें सुवर्ण जड़ा गया था। उन सिंहासनोंपर बहुमूल्य बिछौने पड़े थे। वे सभी आसन मणि और मूँगोंसे चित्रित होनेके कारण प्रज्वलित अग्निके समान प्रकाशित हो रहे थे। भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके पुरुषसिंह महारथी वीर उन्हीं सिंहासनोंपर आकर बैठे, मानो यज्ञकी वेदियोंपर प्रज्वलित अग्निदेव शोभा पा रहे हों ॥ १३-१४ ॥

तेषां समुपविष्टानां देवानामिव संनये।
आचख्यौ चेष्टितं जिष्णोः सभापालः सहानुगः ॥ १५ ॥

देवसमूहकी भाँति वहाँ बैठे हुए उन यदुवंशियोंके समुदायमें सेवकोंसहित सभापालने अर्जुनकी वह सारी करतूत कह सुनायी ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा वृष्णिवीरास्ते मदसंरक्तलोचनाः।
अमृष्यमाणाः पार्थस्य समुत्पेतुरहंकृताः ॥ १६ ॥

यह सुनते ही युद्धोन्मादसे लाल नेत्रोंवाले वृष्णिवंशी वीर अर्जुनके प्रति अमर्षसे भर गये और गर्वमें उछल पड़े ॥

योजयध्वं रथानाशु प्रासानाहरतेति च।
धनूंषि च महार्हाणि कवचानि बृहन्ति च ॥ १७ ॥

(वे बड़ी उतावलीसे कहने लगे—) 'जल्दी रथ जोतो, फौरन प्रास ले आओ, धनुष तथा बहुमूल्य एवं विशाल कवच लाओ॥

सूतानुच्चुक्रुशुः केचिद् रथान् योजयतेति च।
स्वयं च तुरगान् केचिद्युञ्जन् हेमभूषितान् ॥ १८ ॥

कोई सारथियोंको पुकारकर कहने लगे—'अरे! जल्दी रथ जोतो।' कुछ लोग स्वयं ही सोनेके आभूषणोंसे विभूषित घोड़ोंको रथोंमें जोतने लगे ॥ १८ ॥

रथेष्वानीयमानेषु कवचेषु ध्वजेषु च।
अभिक्रन्दे नृवीराणां तदासीत् तुमुलं महत् ॥ १९ ॥

रथ, कवच और ध्वजाओंके लाये जाते समय चारों ओर उन नर-वीरोंके कोलाहलसे वहाँ बड़ी भारी तुमुल ध्वनि व्याप्त हो गयी ॥ १९ ॥

वनमाली ततः क्षीबः कैलासशिखरोपमः।
नीलवासा मदोत्सिक्त इदं वचनमब्रवीत् ॥ २० ॥

तदनन्तर कैलासशिखरके समान गौरवर्णवाले नील वस्त्र और वनमाला धारण करनेवाले बलरामजी उन यादवोंसे इस प्रकार बोले—॥ २० ॥

किमिदं कुरुथाप्रज्ञास्तूष्णीम्भूते जनार्दने।
अस्य भावमविज्ञाय संक्रुद्धा मोघगर्जिताः ॥ २१ ॥

'मूर्खो! श्रीकृष्ण तो चुपचाप बैठे हैं, तुम यह क्या कर रहे हो? इनका अभिप्राय जाने बिना ही तुम इतने कुपित हो उठे। तुमलोगोंकी यह गर्जना व्यर्थ ही है ॥ २१ ॥

एष तावदभिप्रायमाख्यातु स्वं महामतिः।
यदस्य रुचिरं कर्तुं तत् कुरुध्वमतन्द्रिताः ॥ २२ ॥

'पहले परम बुद्धिमान् श्रीकृष्ण अपना अभिप्राय बतावें, तदनन्तर जो कर्तव्य इन्हें उचित जान पड़े, उसीका आलस्य छोड़कर पालन करो' ॥ २२ ॥

ततस्ते तद् वचः श्रुत्वा ग्राह्यरूपं हलायुधात्।
तूष्णीम्भूतास्ततः सर्वे साधु साध्विति चाब्रुवन् ॥ २३ ॥

बलरामजीकी यह मानने योग्य बात सुनकर सब लोग चुप हो गये और सब लोग उन्हें साधुवाद देने लगे ॥ २३ ॥

समं वचो निशम्यैव बलदेवस्य धीमतः।
पुनरेव सभामध्ये सर्वे ते समुपाविशन् ॥ २४ ॥

परम बुद्धिमान् बलरामजीके उस वचनको सुनते ही वे सभी वीर फिर उस सभामें मौन होकर बैठ गये ॥

ततोऽब्रवीद् वासुदेवं वचो रामः परंतपः।
किमवागुपविष्टोऽसि प्रेक्षमाणो जनार्दन ॥ २५ ॥

तदनन्तर परंतप बलरामजी भगवान् श्रीकृष्णसे बोले—'जनार्दन! यह सब कुछ देखते हुए भी तुम क्यों मौन होकर बैठे हो? ॥ २५ ॥

सत्कृतस्त्वत्कृते पार्थः सर्वैरस्माभिरच्युत।
न च सोऽर्हति तां पूजां दुर्बुद्धिः कुलपांसनः ॥ २६ ॥

'अच्युत! तुम्हारे संतोषके लिये ही हम सब लोगोंने अर्जुनका इतना सत्कार किया; परंतु वह खोटी बुद्धिवाला कुलाङ्गार उस सत्कारके योग्य कदापि न था ॥ २६ ॥

को हि तत्रैव भुक्त्वान्नं भाजनं भेत्तुमर्हति।
मन्यमानः कुले जातमात्मानं पुरुषः क्वचित् ॥ २७ ॥

'अपनेको कुलीन माननेवाला कौन ऐसा मनुष्य है, जो जिस बर्तनमें खाये, उसीमें छेद करे ॥ २७ ॥

इच्छन्नेव हि सम्बन्धं कृतं पूर्वं च मानयन्।
को हि नाम भवेनार्थी साहसेन समाचरेत् ॥ २८ ॥

'सम्बन्धकी इच्छा रहते हुए भी कौन ऐसा कल्याणकामी पुरुष होगा, जो पहलेके उपकारको मानते हुए ऐसा दुःसाहसपूर्ण कार्य करे ॥ २८ ॥

सोऽवमन्य तथास्माकमनादृत्य च केशवम्।
प्रसह्य हृतवानद्य सुभद्रां मृत्युमात्मनः ॥ २९ ॥

'उसने हमलोगोंका अपमान और केशवका अनादर करके आज बलपूर्वक सुभद्राका अपहरण किया है, जो उसके लिये अपनी मृत्युके समान है ॥ २९ ॥

कथं हि शिरसो मध्ये कृतं तेन पदं मम।
मर्षयिष्यामि गोविन्द पादस्पर्शमिवोरगः ॥ ३० ॥

'गोविन्द ! जैसे सर्प पैरकी ठोकर नहीं सह सकता, उसी प्रकार मैं उसने जो मेरे सिरपर पैर रख दिया है, उसे कैसे सह सकूँगा ? ॥ ३० ॥

अद्य निष्कौरवामेकः करिष्यामि वसुंधराम्।
न हि मे मर्षणीयोऽयमर्जुनस्य व्यतिक्रमः ॥ ३१ ॥

'अर्जुनका यह अन्याय मेरे लिये असह्य है। आज मैं अकेला ही इस वसुन्धराको कुरुवंशियोंसे विहीन कर दूँगा' ॥ ३१ ॥

तं तथा गर्जमानं तु मेघदुन्दुभिनिःस्वनम्।
अन्वपद्यन्त ते सर्वे भोजवृष्ण्यन्धकास्तदा ॥ ३२ ॥

मेघ और दुन्दुभिकी गम्भीर ध्वनिके समान बलरामजीकी वैसी गर्जना सुनकर उस समय भोज, वृष्णि और अन्धकवंशके समस्त वीरोंने उन्हींका अनुसरण किया ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सुभद्राहरणपर्वणि बलदेवक्रोधे एकोनविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २१९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सुभद्राहरणपर्वमें बलदेवक्रोधविषयक दो सौ उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१९ ॥

(हरणाहरणपर्व)

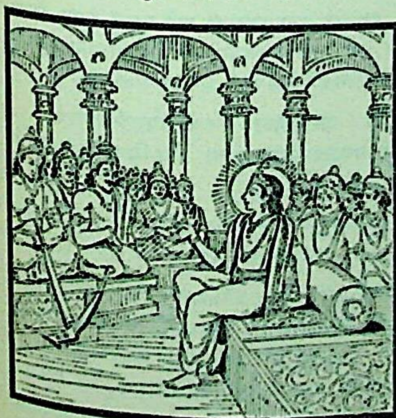
विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

द्वारकामें अर्जुन और सुभद्राका विवाह, अर्जुनके इन्द्रप्रस्थ पहुँचनेपर श्रीकृष्ण आदिका दहेज लेकर वहाँ जाना, द्रौपदीके पुत्र एवं अभिमन्युके जन्म, संस्कार और शिक्षा

वैशम्पायन उवाच

उक्तवन्तो यथा वीर्यमसकृत् सर्ववृष्णयः।
ततोऽब्रवीद् वासुदेवो वाक्यं धर्मार्थसंयुतम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय सभी वृष्णिवंशियोंने अपने-अपने पराक्रमके अनुसार अर्जुनसे बदला लेनेकी बात बार-बार दुहरायी। तब भगवान् वासुदेव यह धर्म और अर्थसे युक्त वचन बोले ॥ १ ॥



नावमानं कुलस्यास्य गुडाकेशः प्रयुक्तवान्।
सम्मानोऽभ्यधिकस्तेन प्रयुक्तोऽयं न संशयः ॥ २ ॥

'निद्राविजयी अर्जुनने इस कुलका अपमान नहीं किया है। अपितु ऐसा करके उन्होंने इस कुलके प्रति अधिक सम्मानका भाव ही प्रकट किया है, इसमें संशय नहीं है ॥ २ ॥

अर्थलुब्धान् न वः पार्थो मन्यते सात्वतान् सदा।
स्वयंवरमनाधृष्यं मन्यते चापि पाण्डवः ॥ ३ ॥

'पाण्डुपुत्र अर्जुन यह जानते हैं कि सात्वतवंशके लोग सदासे ही धनके लोभी नहीं हैं, अतः धन देकर कन्या नहीं ली जा सकती। साथ ही पाण्डुपुत्र अर्जुनको यह भी मालूम है कि स्वयंवरमें कन्याके मिल जानेका पूर्ण निश्चय नहीं रहता, अतः वह भी अग्राह्य ही है ॥ ३ ॥

प्रदानमपि कन्यायाः पशुवत् कोऽनुमन्यते।
विक्रयं चाप्यपत्यस्य कः कुर्यात् पुरुषो भुवि ॥ ४ ॥

'भला, कौन ऐसा वीर पुरुष होगा, जो पशुकी तरह पराक्रमशून्य होकर कन्यादानकी प्रतीक्षामें बैठा रहेगा एवं इस पृथ्वीपर कौन ऐसा अधम पुरुष होगा, जो धन लेकर अपनी संतानको बेचेगा ॥ ४ ॥

एतान् दोषांस्तु कौन्तेयो दृष्टवानिति मे मतिः।
अतः प्रसह्य हृतवान् कन्यां धर्मेण पाण्डवः ॥ ५ ॥

'मेरा विश्वास है कि कुन्तीकुमारने इन सभी दोषोंकी ओर दृष्टिपात किया है; इसीलिये उन्होंने क्षत्रिय-धर्मके अनुसार बलपूर्वक कन्याका अपहरण किया है ॥ ५ ॥

उचितश्चैव सम्बन्धः सुभद्रां च यशस्विनीम्।
एष चापीदृशः पार्थः प्रसह्य हृतवानिति ॥ ६ ॥

'मेरी समझमें यह सम्बन्ध बहुत उचित है। सुभद्रा यशस्विनी है और ये कुन्तीपुत्र अर्जुन भी ऐसे ही यशस्वी हैं; अतः इन्होंने सुभद्राका बलपूर्वक हरण किया है ॥ ६ ॥

भरतस्यान्वये जातं शान्तनोश्च यशस्विनः।
कुन्तिभोजात्मजापुत्रं को बुभूषेत नार्जुनम् ॥ ७ ॥

'महाराज भरत तथा महायशस्वी शान्तनुके कुलमें जिनका जन्म हुआ है, जो कुन्तिभोजकुमारी कुन्तीके पुत्र हैं, ऐसे वीरवर अर्जुनको कौन अपना सम्बन्धी बनाना न चाहेगा ? ॥ ७ ॥

न च पश्यामि यः पार्थं विजयेत रणे बलात्।
वर्जयित्वा विरूपाक्षं भगनेत्रहरं हरम् ॥ ८ ॥
अपि सर्वेषु लोकेषु सेन्द्ररुद्रेषु मारिष।

'आर्य ! इन्द्रलोक एवं रुद्रलोकसहित सम्पूर्ण लोकोंमें भगदेवताके नेत्रोंका नाश करनेवाले विकराल नेत्रोंवाले भगवान् रुद्रको छोड़कर दूसरे किसीको मैं ऐसा नहीं देखता, जो संग्राममें बलपूर्वक पार्थको परास्त कर सके ॥ ८½ ॥

स च नाम रथस्तादृङ्मदीयास्ते च वाजिनः ॥ ९ ॥
योद्धा पार्थश्च शीघ्रास्त्रः को नु तेन समो भवेत्।
तमभिद्रुत्य सान्त्वेन परमेण धनंजयम् ॥ १० ॥
न्यवर्तयत संहृष्टा ममैषा परमा मतिः।

'इस समय अर्जुनके पास मेरा सुप्रसिद्ध रथ है, मेरे ही अद्भुत घोड़े हैं और स्वयं अर्जुन शीघ्रतापूर्वक अस्त्र-शस्त्र चलानेवाले योद्धा हैं। ऐसी दशामें अर्जुनकी समानता कौन कर सकता है ? आपलोग प्रसन्नताके साथ दौड़े जाइये और बड़ी सान्त्वनासे धनंजयको लौटा लाइये। मेरी तो यही परम सम्मति है ॥ ९-१०½ ॥

यदि निर्जित्य वः पार्थो बलाद् गच्छेत् स्वकं पुरम् ॥ ११ ॥
प्रणश्येद् वो यशः सद्यो न तु सान्त्वे पराजयः।

'यदि अर्जुन आपलोगोंको बलपूर्वक हराकर अपने नगरमें चले गये, तब तो आपलोगोंका सारा यश तत्काल ही नष्ट हो जायगा और सान्त्वनापूर्वक उन्हें ले आनेमें अपनी पराजय नहीं है' ॥

तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य तथा चक्रुर्जनाधिप ॥ १२ ॥

जनमेजय ! वासुदेवका यह वचन सुनकर यादवोंने वैसा ही किया ॥ १२ ॥

निवृत्तश्चार्जुनस्तत्र विवाहं कृतवान् प्रभुः।
उषित्वा तत्र कौन्तेयः संवत्सरपराः क्षपाः ॥ १३ ॥

शक्तिशाली अर्जुन द्वारकामें लौट आये। वहाँ उन्होंने सुभद्रासे विवाह किया और एक सालसे कुछ अधिक दिनतक वे वहीं रहे ॥

विहृत्य च यथाकामं पूजितो वृष्णिनन्दनैः।
पुष्करे तु ततः शेषं कालं वर्तितवान् प्रभुः ॥ १४ ॥

द्वारकामें इच्छानुसार विहार करके वृष्णिवंशियोंद्वारा पूजित होकर अर्जुन वहाँसे पुष्कर तीर्थमें चले गये और वनवासका शेष समय वहीं व्यतीत किया ॥ १४ ॥

पूर्णे तु द्वादशे वर्षे खाण्डवप्रस्थमागतः।
(ववन्दे धौम्यमासाद्य मातरं च धनंजयः ॥

बारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर वे खाण्डवप्रस्थमें आये। उन्होंने धौम्यजीके पास जाकर उनको तथा माता कुन्तीको प्रणाम किया।

स्पृष्ट्वा च चरणौ राज्ञो भीमस्य च धनंजयः।
यमाभ्यां वन्दितो हृष्टः सस्वजे तौ ननन्द च ॥)
अभिगम्य च राजानं नियमेन समाहितः ॥ १५ ॥
अभ्यर्च्य ब्राह्मणान् पार्थो द्रौपदीमभिजग्मिवान्।

इसके बाद राजा युधिष्ठिर और भीमके चरण छुवे। तदनन्तर नकुल और सहदेवने आकर अर्जुनको प्रणाम किया। अर्जुनने भी हर्षमें भरकर उन दोनोंको हृदयसे लगा लिया और उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नताका अनुभव किया। फिर वहाँ राजासे मिलकर नियमपूर्वक एकाग्रचित्त हो उन्होंने ब्राह्मणोंका पूजन किया। तत्पश्चात् वे द्रौपदीके समीप गये ॥ १५½ ॥

तं द्रौपदी प्रत्युवाच प्रणयात् कुरुनन्दनम् ॥ १६ ॥
तत्रैव गच्छ कौन्तेय यत्र सा सात्वतात्मजा।
सुबद्धस्यापि भारस्य पूर्वबन्धः श्लथायते ॥ १७ ॥

द्रौपदीने प्रणयकोपवश कुरुनन्दन अर्जुनसे कहा—'कुन्तीकुमार ! यहाँ क्यों आये हो, वहीं जाओ, जहाँ वह सात्वतवंशकी कन्या सुभद्रा है। सच है, बोझको कितना ही कसकर बाँधा गया हो, जब उसे दूसरी बार बाँधते हैं, तब पहला बन्धन ढीला पड़ जाता है (यही हालत मेरे प्रति तुम्हारे प्रेमबन्धनकी है) ॥ १६-१७ ॥

तथा बहुविधं कृष्णां विलपन्तीं धनंजयः।
सान्त्वयामास भूयश्च क्षमयामास चासकृत् ॥ १८ ॥

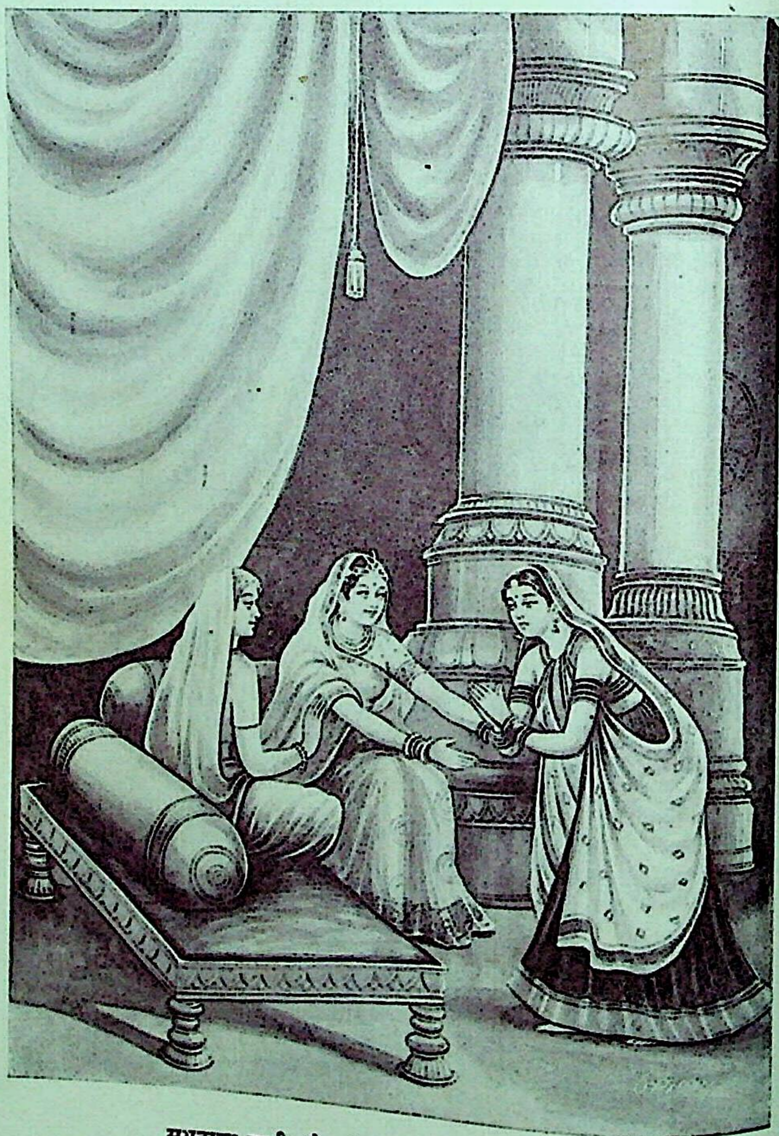
इस तरह नाना प्रकारकी बातें कहकर कृष्णा विलाप करने लगी। तब धनंजयने उसे पूर्ण सान्त्वना दी और अपने अपराधके लिये उससे बार-बार क्षमा माँगी ॥ १८ ॥

सुभद्रां त्वरमाणश्च रक्तकौशेयवासिनीम्।
पार्थः प्रस्थापयामास कृत्वा गोपालिकावपुः ॥ १९ ॥

इसके बाद अर्जुनने लाल रेशमी साड़ी पहनकर आयी हुई अनिन्द्यसुन्दरी सुभद्राका ग्वालिनका-सा वेश बनाकर उसे बड़ी उतावलीके साथ महलमें भेजा ॥ १९ ॥

साधिकं तेन रूपेण शोभमाना यशस्विनी।
भवनं श्रेष्ठमासाद्य वीरपत्नी वराङ्गना ॥ २० ॥
ववन्दे पृथुताम्राक्षी पृथां भद्रा यशस्विनी।
तां कुन्ती चारुसर्वाङ्गीमुपाजिघ्रत मूर्धनि ॥ २१ ॥

वीरपत्नी, वराङ्गना एवं यशस्विनी सुभद्रा उस वेशमें और अधिक शोभा पाने लगी। उसकी आँखें विशाल और कुछ-कुछ लाल थीं। उस यशस्विनीने सुन्दर राजभवनके भीतर जाकर [illegible] कुन्तीके चरणोंमें प्रणाम किया। [illegible]



सुभद्राका कुन्ती और द्रौपदीकी सेवामें उपस्थित होना

उस सर्वाङ्गसुन्दरी पुत्रवधूको हृदयसे लगाकर उसका मस्तक सूँघने लगी ॥ २०-२१ ॥



प्रीत्या परमया युक्ता आशीर्भिर्युञ्जतातुलाम् ।
ततोऽभिगम्य त्वरिता पूर्णेन्दुसदृशानना ॥ २२ ॥
ववन्दे द्रौपदीं भद्रा प्रेष्याहमिति चाब्रवीत् ।

और उसने बड़ी प्रसन्नताके साथ उस अनुपम वधूको अनेक आशीर्वाद दिये। तदनन्तर पूर्ण चन्द्रमाके सदृश मनोहर मुखवाली सुभद्राने तुरंत जाकर महारानी द्रौपदीके चरण छूए और कहा 'देवि ! मैं आपकी दासी हूँ' ॥ २२½ ॥

प्रत्युत्थाय तदा कृष्णा स्वसारं माधवस्य च ॥ २३ ॥
परिष्वज्यावदत् प्रीत्या निःसपत्नोऽस्तु ते पतिः।
तथैव मुदिता भद्रा तामुवाचैवमस्त्विति ॥ २४ ॥

उस समय द्रौपदी तुरंत उठकर खड़ी हो गयी और श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्राको हृदयसे लगाकर बड़ी प्रसन्नतासे बोली—'बहिन ! तुम्हारे पति शत्रुरहित हों।' सुभद्राने भी आनन्दमग्न होकर कहा—'बहिन ! ऐसा ही हो' ॥ २३-२४ ॥

ततस्ते हृष्टमनसः पाण्डवेया महारथाः ।
कुन्ती च परमप्रीता बभूव जनमेजय ॥ २५ ॥
श्रुत्वा तु पुण्डरीकाक्षः सम्प्राप्तं स्वं पुरोत्तमम् ।
अर्जुनं पाण्डवश्रेष्ठमिन्द्रप्रस्थगतं तदा ॥ २६ ॥
आजगाम विशुद्धात्मा सह रामेण केशवः ।
वृष्ण्यन्धकमहामात्रैः सह वीरैर्महारथैः ॥ २७ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् महारथी पाण्डव मन-ही-मन हर्ष-विभोर हो उठे और कुन्तीदेवी भी बहुत प्रसन्न हुई। कमल-नयन भगवान् श्रीकृष्णने जब यह सुना कि पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन अपने उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थ पहुँच गये हैं, तब वे शुद्धात्मा श्रीकृष्ण एवं बलराम तथा वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान-प्रधान वीर महारथियोंके साथ वहाँ आये ॥ २५-२७ ॥

भ्रातृभिश्च कुमारैश्च योधैश्च बहुभिर्वृतः ।
सैन्येन महता शौरिरभिगुप्तः परंतपः ॥ २८ ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले श्रीकृष्ण भाइयों, पुत्रों और बहुतेरे योद्धाओंके साथ घिरे हुए तथा विशाल सेनासे सुरक्षित होकर इन्द्रप्रस्थमें पधारे ॥ २८ ॥

तत्र दानपतिर्धीमानाजगाम महायशाः ।
अक्रूरो वृष्णिवीराणां सेनापतिररिंदमः ॥ २९ ॥

उस समय वहाँ वृष्णिवीरोंके सेनापति शत्रुदमन महा-यशस्वी और परम बुद्धिमान् दानपति अक्रूरजी भी आये थे ॥

अनाधृष्टिर्महातेजा उद्धवश्च महायशाः ।
साक्षाद् बृहस्पतेः शिष्यो महाबुद्धिर्महामनाः ॥ ३० ॥

इनके सिवा महातेजस्वी अनाधृष्टि तथा साक्षात् बृहस्पतिके शिष्य परम बुद्धिमान् महामनस्वी एवं परमयशस्वी उद्धव भी आये थे ॥ ३० ॥

सत्यकः सात्यकिश्चैव कृतवर्मा च सात्वतः ।
प्रद्युम्नश्चैव साम्बश्च निशठः शङ्कुरेव च ॥ ३१ ॥
चारुदेष्णश्च विक्रान्तो झिल्ली विपृथुरेव च ।
सारणश्च महाबाहुर्गदश्च विदुषां वरः ॥ ३२ ॥
एते चान्ये च बहवो वृष्णिभोजान्धकास्तथा ।
आजग्मुः खाण्डवप्रस्थमादाय हरणं बहु ॥ ३३ ॥

सत्यक, सात्यकि, सात्वतवंशी कृतवर्मा, प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, शङ्कु, पराक्रमी चारुदेष्ण, झिल्ली, विपृथु, महाबाहु सारण तथा विद्वानोंमें श्रेष्ठ गद—ये तथा और दूसरे भी बहुत से वृष्णि, भोज और अन्धकवंशके लोग दहेजकी बहुत-सी सामग्री लेकर खाण्डवप्रस्थमें आये थे ॥ ३१-३३ ॥

ततो युधिष्ठिरो राजा श्रुत्वा माधवमागतम् ।
प्रतिग्रहार्थं कृष्णस्य यमौ प्रास्थापयत् तदा ॥ ३४ ॥

महाराज युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णका आगमन सुनकर उन्हें आदरपूर्वक लिवा लानेके लिये नकुल और सहदेवको भेजा ॥ ३४ ॥

ताभ्यां प्रतिगृहीतं तु वृष्णिचक्रं महर्द्धिमत् ।
विवेश खाण्डवप्रस्थं पताकाध्वजशोभितम् ॥ ३५ ॥

उन दोनोंके द्वारा स्वागतपूर्वक लाये हुए वृष्णिवंशियोंके उस परम समृद्धशाली समुदायने खाण्डवप्रस्थमें प्रवेश किया। उस समय ध्वजा-पताकाओंसे सजाया हुआ वह नगर सुशोभित हो रहा था ॥ ३५ ॥

सम्मृष्टसिक्तपन्थानं पुष्पप्रकरशोभितम् ।
चन्दनस्य रसैः शीतैः पुण्यगन्धैर्निषेवितम् ॥ ३६ ॥

नगरकी सड़कें झाड़-बुहारकर साफ की गयी थीं। उनके ऊपर जलका छिड़काव किया गया था। स्थान-स्थानपर फूलोंके गजरोंसे नगरकी सजावट की गयी थी। शीतल चन्दन, रस

तथा अन्य पवित्र सुगन्धित पदार्थोंकी सुवास सब ओर छा रही थी ॥ ३६ ॥

दह्यतागुरुणा चैव देशे देशे सुगन्धिना ।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णं वणिग्भिरुपशोभितम् ॥ ३७ ॥

जगह-जगह जलते हुए अगुरुकी सुगन्ध फैल रही थी, सारा नगर हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरा था। कितने ही व्यापारी उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥ ३७ ॥

प्रतिपेदे महाबाहुः सह रामेण केशवः ।
वृष्ण्यन्धकैस्तथा भोजैः समेतः पुरुषोत्तमः ॥ ३८ ॥

महाबाहु पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने बलरामजी तथा वृष्णि, अन्धक एवं भोजवंशी वीरोंके साथ नगरमें प्रवेश किया ॥ ३८ ॥

सम्पूज्यमानः पौरैश्च ब्राह्मणैश्च सहस्रशः ।
विवेश भवनं राज्ञः पुरन्दरगृहोपमम् ॥ ३९ ॥

पुरवासी मनुष्यों तथा सहस्रों ब्राह्मणोंद्वारा सम्मानित हो उन्होंने राजभवनके भीतर प्रवेश किया। वह घर इन्द्रभवनकी शोभाको भी तिरस्कृत कर रहा था ॥ ३९ ॥

युधिष्ठिरस्तु रामेण समागच्छद् यथाविधि ।
मूर्ध्नि केशवमाघ्राय बाहुभ्यां परिषस्वजे ॥ ४० ॥

युधिष्ठिरजी बलरामजीके साथ विधिपूर्वक मिले और श्रीकृष्णका मस्तक सूँघकर उन्हें दोनों भुजाओंमें कस लिया॥

तं प्रीयमाणो गोविन्दो विनयेनाभिपूजयन् ।
भीमं च पुरुषव्याघ्रं विधिवत् प्रत्यपूजयत् ॥ ४१ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर विनीतभावसे युधिष्ठिरका सम्मान किया। नरश्रेष्ठ भीमसेनका भी उन्होंने विधिवत् पूजन किया ॥ ४१ ॥

तांश्च वृष्ण्यन्धकश्रेष्ठान् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः ।
प्रतिजग्राह सत्कारैर्यथाविधि यथागतम् ॥ ४२ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने वृष्णि और अन्धकवंशके श्रेष्ठ-पुरुषोंका विधिपूर्वक यथायोग्य स्वागत-सत्कार किया ॥४२॥

गुरुवत् पूजयामास कांश्चित् कांश्चिद् वयस्यवत् ।
कांश्चिदभ्यवदत् प्रेम्णा कैश्चिदप्यभिवादितः ॥ ४३ ॥

कुछ लोगोंका उन्होंने गुरुकी भाँति पूजन किया, कितनोंको समवयस्क मित्रोंकी भाँति गलेसे लगाया, कुछ लोगोंसे प्रेमपूर्वक वार्तालाप किया और कुछ लोगोंने उन्हींको प्रणाम किया ॥ ४३ ॥

तेषां ददौ हृषीकेशो जन्यार्थे धनमुत्तमम् ।
हरणं वै सुभद्राया ज्ञातिदेयं महायशाः ॥ ४४ ॥

महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्णने वधू तथा वरपक्षके लोगोंके लिये उत्तम धन अर्पित किया। वरके कुटुम्बीजनोंको देनेयोग्य दहेज पहले नहीं दिया गया था, उसीकी पूर्ति उन्होंने इस समय की ॥ ४४ ॥

रथानां काञ्चनाङ्गानां किङ्किणीजालमालिनाम् ।
चतुर्युजामुपेतानां सूतैः कुशलशिक्षितैः ॥ ४५ ॥
सहस्रं प्रददौ कृष्णो गवामयुतमेव च ।
श्रीमान् माथुरदेश्यानां दोग्ध्रीणां पुण्यवर्चसाम् ॥ ४६ ॥

किंकिणी और झालरोंसे सुशोभित सुवर्णमय एक हजार रथ जिनमेंसे प्रत्येकमें चार-चार घोड़े जुते हुए थे और प्रत्येकमें पूर्ण शिक्षित चतुर सारथि बैठा हुआ था, श्रीमान् कृष्णने समर्पित किये तथा मथुरामण्डलकी पवित्र तेजवाली दस हजार दुधारू गौएँ दीं ॥ ४५-४६ ॥

वडवानां च शुद्धानां चन्द्रांशुसमवर्चसाम् ।
ददौ जनार्दनः प्रीत्या सहस्रं हेमभूषितम् ॥ ४७ ॥

चन्द्रमाके समान श्वेत कान्तिवाली विशुद्ध जातिकी एक हजार सुवर्णभूषित घोड़ियाँ भी जनार्दनने प्रेमपूर्वक भेंट दीं।

तथैवाश्वतरीणां च दान्तानां वातरंहसाम् ।
शतान्यञ्जनकेशीनां श्वेतानां पञ्च पञ्च च ॥ ४८ ॥

इसी प्रकार पाँच सौ काले अयालवाली और पाँच सौ सफेद रंगवाली खचरियाँ समर्पित कीं, जो सभी सुशिक्षित की हुई तथा वायुके समान वेगवाली थीं ॥ ४८ ॥

स्नानपानोत्सवे चैव प्रयुक्तं वयसान्वितम् ।
स्त्रीणां सहस्रं गौरीणां सुवेषाणां सुवर्चसाम् ॥ ४९ ॥
सुवर्णशतकण्ठीनामरोमाणां स्वलंकृताम् ।
परिचर्यासु दक्षाणां प्रददौ पुष्करेक्षणः ॥ ५० ॥

स्नान, पान और उत्सवमें जिनका उपयोग किया जाता था, जो वयःप्राप्त थीं, जिनके वेष सुन्दर और कान्ति मनोहर थी, जिन्होंने सोनेके सौ-सौ मणियोंकी कण्ठियाँ पहन रक्खी थीं, जिनके शरीरमें रोमावलियाँ नहीं प्रकट हुई थीं, जो उत्तम भूषणोंसे अलंकृत तथा सेवाके काममें पूर्ण दक्ष थीं, ऐसी एक हजार गौरवर्णा कन्याएँ भी कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने भेंट कीं ॥ ४९-५० ॥

पृष्ठ्यानामपि चाश्वानां बाह्लिकानां जनार्दनः ।
ददौ शतसहस्राख्यं कन्याधनमनुत्तमम् ॥ ५१ ॥

जनार्दनने उत्तम दहेजके रूपमें बाह्लीक देशके एक लाख घोड़े दिये, जो पीठपर सवारी ढोनेवाले थे ॥ ५१ ॥

कृताकृतस्य मुख्यस्य कनकस्याग्निवर्चसः ।
मनुष्यभारान् दाशार्हो ददौ दश जनार्दनः ॥ ५२ ॥

दशार्हवंशके रत्न भगवान् श्रीकृष्णने अग्निके समान दिव्य देदीप्यमान कृत्रिम सुवर्ण (मोहर) और अकृत्रिम सुवर्णके (डले) दस भार उपहारमें दिये ॥ ५२ ॥

गजानां तु प्रभिन्नानां त्रिधा प्रस्रवतां मदम् ।
गिरिकूटनिकाशानां समरेष्वनिवर्तिनाम् ॥ ५३ ॥
क्लृप्तानां पटुघण्टानां चारूणां हेममालिनाम् ।
हस्त्यारोहैरुपेतानां सहस्रं साहसप्रियः ॥ ५४ ॥

रामः पाणिग्रहणिकं ददौ पार्थाय लाङ्गली।
प्रीयमाणो हलधरः सम्बन्धं प्रतिमानयन् ॥ ५५ ॥

जिन्हें साहसका काम प्रिय है और जो हाथमें हल धारण करते हैं, उन बलरामने प्रसन्न होकर इस नूतन सम्बन्धका आदर करते हुए अर्जुनको पाणिग्रहणके दहेजके रूपमें एक हजार मतवाले हाथी भेंट किये, जो तीन अङ्गोंसे मदकी धारा बहानेवाले थे। वे हाथी युद्धमें कभी पीछे नहीं हटते थे और देखनेमें पर्वतशिखरके समान जान पड़ते थे। उनके मस्तकों पर सुन्दर वेषरचना की गयी थी। उन सबके पार्श्वभागमें मजबूत घण्टे लटक रहे थे तथा गलेमें सोनेके हार शोभा दे रहे थे। वे सभी हाथी बड़े सुन्दर लगते थे और उन सबके साथ महावत थे ॥ ५३—५५ ॥

स महाधनरत्नौघो वस्त्रकम्बलफेनवान्।
महागजमहाग्राहः पताकाशैवलाकुलः ॥ ५६ ॥
पाण्डुसागरमाविद्धः प्रविवेश महाधनः।
पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत् ॥ ५७ ॥

जैसे नदियोंके जलका महान् प्रवाह समुद्रमें मिलता है, उसी प्रकार वह महान् धन और रत्नोंका भारी प्रवाह, जिसमें वस्त्र और कम्बल फेनके समान जान पड़ते थे, बड़े-बड़े हाथी महान् ग्राहोंका भ्रम उत्पन्न करते थे और जहाँ ध्वजा-पताकाएँ सेवारका काम कर रही थीं, पाण्डवरूपी महासागरमें आ मिला। यद्यपि पाण्डव-समुद्र पहलेसे ही परिपूर्ण था तथापि इस महान् धनप्रवाहने उसे और भी पूर्णतर बना दिया। यही कारण था कि वह पाण्डव-महासागर शत्रुओंके लिये शोकदायक प्रतीत होने लगा ॥ ५६-५७ ॥

प्रतिजग्राह तत् सर्वं धर्मराजो युधिष्ठिरः।
पूजयामास तांश्चैव वृष्ण्यन्धकमहारथान् ॥ ५८ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरने वह सारा धन ग्रहण किया और वृष्णि तथा अन्धकवंशके उन सभी महारथियोंका भलीभाँति आदर-सत्कार किया ॥ ५८ ॥

ते समेता महात्मानः कुरुवृष्ण्यन्धकोत्तमाः।
विजह्रुरमरावासे नराः सुकृतिनो यथा ॥ ५९ ॥

जैसे पुण्यात्मा मनुष्य देवलोकमें सुख भोगते हैं, उसी प्रकार कुरु, वृष्णि और अन्धकवंशके वे श्रेष्ठ महात्मा पुरुष एकत्र होकर इच्छानुसार विहार करने लगे ॥ ५९ ॥

तत्र तत्र महानादैरुत्कृष्टतलनादितैः।
यथायोगं यथाप्रीति विजह्रुः कुरुवृष्णयः ॥ ६० ॥

वे कौरव और वृष्णिवंशके वीर जहाँ-तहाँ वीणाकी उत्तम ध्वनिके साथ गाते-बजाते और संगीतका आनन्द लेते हुए यथावसर अपनी-अपनी रुचिके अनुसार विहार करने लगे ॥

एवमुत्तमवीर्यास्ते विहृत्य दिवसान् बहून्।
पूजिताः कुरुभिर्जग्मुः पुनर्द्वारवतीं प्रति ॥ ६१ ॥

इस प्रकार वे उत्तम पराक्रमी यदुवंशी बहुत दिनोंतक इन्द्रप्रस्थमें विहार करते हुए कौरवोंसे सम्मानित हो फिर द्वारका चले गये ॥ ६१ ॥

रामं पुरस्कृत्य ययुर्वृष्ण्यन्धकमहारथाः।
रत्नान्यादाय शुभ्राणि दत्तानि कुरुसत्तमैः ॥ ६२ ॥

वृष्णि और अन्धकवंशके महारथी कुरुप्रवर पाण्डवोंके दिये हुए उज्ज्वल रत्नोंकी भेंट ले बलरामजीको आगे करके चले गये ॥ ६२ ॥

वासुदेवस्तु पार्थेन तत्रैव सह भारत।
उवास नगरे रम्ये शक्रप्रस्थे महात्मना ॥ ६३ ॥

जनमेजय! परंतु भगवान् वासुदेव महात्मा अर्जुनके साथ रमणीय इन्द्रप्रस्थमें ही ठहर गये ॥ ६३ ॥

व्यचरद् यमुनातीरे मृगयां स महायशाः।
मृगान् विध्यन् वराहांश्च रेमे सार्धं किरीटिना ॥ ६४ ॥

महायशस्वी श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ शिकार खेलते और जंगली वराहों तथा हिंस्र पशुओंका वध करते हुए यमुनाजीके तटपर विचरते थे। इस प्रकार वे किरीटधारी अर्जुनके साथ विहार करते थे ॥ ६४ ॥

ततः सुभद्रा सौभद्रं केशवस्य प्रिया स्वसा।
जयन्तमिव पौलोमी ख्यातिमन्तमजीजनत् ॥ ६५ ॥

तदनन्तर कुछ कालके पश्चात् श्रीकृष्णकी प्यारी बहिन सुभद्राने यशस्वी सौभद्रको जन्म दिया; ठीक वैसे ही, जैसे शचीने जयन्तको उत्पन्न किया था ॥ ६५ ॥

दीर्घबाहुं महोरस्कं वृषभाक्षमरिंदमम्।
सुभद्रा सुषुवे वीरमभिमन्युं नरर्षभम् ॥ ६६ ॥

सुभद्राने वीरवर नरश्रेष्ठ अभिमन्युको उत्पन्न किया, जिसकी बड़ी-बड़ी बाँहें, विशाल वक्षःस्थल और बैलोंके समान विशाल नेत्र थे। वह शत्रुओंका दमन करनेवाला था ॥६६॥

अभिश्च मन्युमांश्चैव ततस्तमरिमर्दनम्।
अभिमन्युमिति प्राहुरार्जुनिं पुरुषर्षभम् ॥ ६७ ॥

वह अभि (निर्भय) एवं मन्युमान् (क्रुद्ध होकर लड़नेवाला) था, इसीलिये पुरुषोत्तम अर्जुनकुमारको 'अभिमन्यु' कहते हैं ॥ ६७ ॥

स सात्वत्यामतिरथः सम्बभूव धनंजयात्।
मखे निर्मथनेनेव शमीगर्भाद्धुताशनः ॥ ६८ ॥

जैसे यज्ञमें मन्थन करनेपर शमीके गर्भसे उत्पन्न अश्वत्थसे अग्नि प्रकट होती है, उसी प्रकार अर्जुनके द्वारा सुभद्राके गर्भसे उस अतिरथी वीरका प्रादुर्भाव हुआ था ॥ ६८ ॥

यस्मिञ्जाते महातेजाः कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
अयुतं गा द्विजातिभ्यः प्रादान्निष्कांश्च भारत ॥ ६९ ॥

भारत ! उसके जन्म लेनेपर महातेजस्वी कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंको दस हजार गौएँ तथा बहुत-सी स्वर्णमुद्राएँ दानमें दीं ॥ ६९ ॥

दयितो वासुदेवस्य बाल्यात् प्रभृति चाभवत् ।
पितॄणामिव सर्वेषां प्रजानामिव चन्द्रमाः ॥ ७० ॥

जैसे समस्त पितरों और प्रजाओंको चन्द्रमा प्रिय लगते हैं, उसी प्रकार अभिमन्यु बचपनसे ही भगवान् श्रीकृष्णका अत्यन्त प्रिय हो गया था ॥ ७० ॥

जन्मप्रभृति कृष्णश्च चक्रे तस्य क्रियाः शुभाः ।
स चापि ववृधे बालः शुक्लपक्षे यथा शशी ॥ ७१ ॥

श्रीकृष्णने जन्मसे ही उसके लालन-पालनकी सुन्दर व्यवस्थाएँ की थीं । बालक अभिमन्यु शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति दिनों-दिन बढ़ने लगा ॥ ७१ ॥

चतुष्पादं दशविधं धनुर्वेदमरिंदमः ।
अर्जुनाद् वेद वेदज्ञः सकलं दिव्यमानुषम् ॥ ७२ ॥

उस शत्रुदमन बालकने वेदोंका ज्ञान प्राप्त करके अपने पिता अर्जुनसे चार पदों और दशविध अङ्गोंसे युक्त दिव्य एवं मानुष सब प्रकारके धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥ ७२ ॥

विज्ञानेष्वपि चास्त्राणां सौष्ठवे च महाबलः ।
क्रियास्वपि च सर्वासु विशेषानभ्यशिक्षयत् ॥ ७३ ॥

अस्त्रोंके विज्ञान, सौष्ठव (प्रयोगपटुता) तथा सम्पूर्ण क्रियाओंमें भी महाबली अर्जुनने उसे विशेष शिक्षा दी थी ॥ ७३ ॥

आगमे च प्रयोगे च चक्रे तुल्यमिवात्मना ।
तुतोष पुत्रं सौभद्रं प्रेक्षमाणो धनंजयः ॥ ७४ ॥

धनंजयने अभिमन्युको (अस्त्र-शास्त्रोंके) आगम और प्रयोगमें अपने समान बना दिया था । वे सुभद्राकुमारको देखकर बहुत संतुष्ट रहते थे ॥ ७४ ॥

सर्वसंहननोपेतं सर्वलक्षणलक्षितम् ।
दुर्धर्षमृषभस्कन्धं व्यात्ताननमिवोरगम् ॥ ७५ ॥

वह दूसरोंको तिरस्कृत करनेवाले समस्त सद्गुणोंसे सम्पन्न सभी उत्तम लक्षणोंसे सुशोभित एवं दुर्धर्ष था । उसके कंधे वृषभके समान हृष्ट-पुष्ट थे तथा मुँह बाये हुए सर्पकी भाँति वह शत्रुओंको भयानक प्रतीत होता था ॥ ७५ ॥

सिंहदर्पं महेष्वासं मत्तमातङ्गविक्रमम् ।
मेघदुन्दुभिनिर्घोषं पूर्णचन्द्रनिभाननम् ॥ ७६ ॥

उसमें सिंहके समान गर्व था तथा मतवाले गजराजकी भाँति पराक्रम था । वह महाधनुर्धर वीर अपने गम्भीर स्वरसे मेघ और दुन्दुभिकी ध्वनिको लजा देता था । उसका मुख पूर्ण चन्द्रमाके समान मनमें आह्लाद उत्पन्न करता था ॥ ७६ ॥

कृष्णस्य सदृशं शौर्ये वीर्ये रूपे तथाऽऽकृतौ ।
ददर्श पुत्रं बीभत्सुर्मघवानिव तं यथा ॥ ७७ ॥

वह शूरता, पराक्रम, रूप तथा आकृति—सभी बातोंमें श्रीकृष्णके समान ही जान पड़ता था । अर्जुन अपने उस पुत्रको वैसी ही प्रसन्नतासे देखते थे, जैसे इन्द्र उन्हें देखा करते थे ॥ ७७ ॥

पाञ्चाल्यपि तु पञ्चभ्यः पतिभ्यः शुभलक्षणा ।
लेभे पञ्च सुतान् वीराञ्श्रेष्ठान् पञ्चाचलानिव ॥ ७८ ॥

---

१. धनुर्वेदमें निम्नाङ्कित चार पाद बताये गये हैं—मन्त्रमुक्त, पाणिमुक्त, मुक्तामुक्त और अमुक्त । जैसा कि वचन है—

मन्त्रमुक्तं पाणिमुक्तं मुक्तामुक्तं तथैव च ।
अमुक्तं च धनुर्वेदे चतुष्पाच्छस्त्रमीरितम् ॥

जिसका मन्त्रद्वारा केवल प्रयोग होता है, उपसंहार नहीं, उसे मन्त्रमुक्त कहते हैं । जिसे हाथमें लेकर धनुषद्वारा छोड़ा जाय, वह बाण आदि पाणिमुक्त कहा गया है । जिसके प्रयोग और उपसंहार दोनों हों, वह मुक्तामुक्त है । जो वस्तुतः छोड़ा नहीं जाता, जैसे मन्त्रद्वारा साधित (ध्वजा आदि) है, जिसको देखनेमात्रसे शत्रु भाग जाते हैं, वह अमुक्त कहलाता है । ये अथवा सूत्र, शिक्षा, प्रयोग तथा रहस्य—ये ही धनुर्वेदके चार पाद हैं ।

२. आदान, संधान, मोक्षण, निवर्तन, स्थान, मुष्टि, प्रयोग, प्रायश्चित्त, मण्डल तथा रहस्य—धनुर्वेदके ये दस अङ्ग हैं । यथा—

आदानमथ संधानं मोक्षणं विनिवर्तनम् ।
स्थानं मुष्टिः प्रयोगश्च प्रायश्चित्तानि मण्डलम् ॥
रहस्यं चेति दशधा धनुर्वेदाङ्गमिष्यते ।

तरकससे बाणको निकालना आदान है । उसे धनुषकी प्रत्यञ्चापर रखना संधान है, लक्ष्यपर छोड़ना मोक्षण कहा गया है । यदि बाण छोड़ देनेके बाद यह मालूम हो जाय कि हमारा विपक्षी निर्बल या शस्त्रहीन है, तो वीर पुरुष मन्त्रशक्तिसे उस बाणको लौटा लेते हैं । इस प्रकार छोड़े हुए अस्त्रको लौटा लेना विनिवर्तन कहलाता है । धनुष या उसकी प्रत्यञ्चाके धारण अथवा शर-संधानकालमें धनुष और प्रत्यञ्चाके मध्यदेशको स्थान कहा गया है । तीन या चार अँगुलियोंका सहयोग ही मुष्टि है । तर्जनी और मध्यमा अंगुलिके अथवा मध्यमा और अंगुष्ठके मध्यसे बाणका संधान करना प्रयोग कहलाता है । स्वतः या दूसरेसे प्राप्त होनेवाले व्याघात (प्रत्यञ्चाके आघात) और बाणके आघातको रोकनेके लिये जो दस्तानों आदिका प्रयोग किया जाता है, उसका नाम प्रायश्चित्त है । चक्राकार घूमते हुए रथके साथ-साथ घूमनेवाले लक्ष्यका वेध मण्डल कहलाता है । शब्दके आधारपर लक्ष्य वेधना अथवा एक ही समय अनेक लक्ष्योंको बींध डालना, ये सब रहस्यके अन्तर्गत हैं ।

३. ब्रह्मास्त्र आदिको दिव्य और खड्ग आदिको मानुष कहा गया है ।

शुभलक्षणा पाञ्चालीने भी अपने पाँचों पतियोंसे पाँच श्रेष्ठ पुत्रोंको प्राप्त किया। वे सब-के-सब वीर और पर्वतके समान अविचल थे ॥ ७८ ॥

युधिष्ठिरात् प्रतिविन्ध्यं सुतसोमं वृकोदरात्।
अर्जुनाच्छ्रुतकर्माणं शतानीकं च नाकुलिम् ॥ ७९ ॥
सहदेवाच्छ्रुतसेनमेतान् पञ्च महारथान्।
पाञ्चाली सुषुवे वीरानादित्यानदितिर्यथा ॥ ८० ॥

युधिष्ठिरसे प्रतिविन्ध्य, भीमसेनसे सुतसोम, अर्जुनसे श्रुतकर्मा, नकुलसे शतानीक और सहदेवसे श्रुतसेन उत्पन्न हुए थे। इन पाँच वीर महारथी पुत्रोंको पाञ्चाली (द्रौपदी) ने उसी प्रकार जन्म दिया, जैसे अदितिने बारह आदित्योंको ।७९-८०।

शास्त्रतः प्रतिविन्ध्यं तमूचुर्विप्रा युधिष्ठिरम्।
परप्रहरणज्ञाने प्रतिविन्ध्यो भवत्वयम् ॥ ८१ ॥

ब्राह्मणोंने युधिष्ठिरसे उनके पुत्रका नाम शास्त्रके अनुसार प्रतिविन्ध्य बताया। उनका उद्देश्य यह था कि यह प्रहारजनित वेदनाके ज्ञानमें विन्ध्यपर्वतके समान हो। (इसे शत्रुओंके प्रहारसे तनिक भी पीड़ा न हो) ॥ ८१ ॥

सुते सोमसहस्रे तु सोमार्कसमतेजसम्।
सुतसोमं महेष्वासं सुषुवे भीमसेनतः ॥ ८२ ॥

भीमसेनके सहस्र सोमयाग करनेके पश्चात् द्रौपदीने उनसे सोम और सूर्यके समान तेजस्वी महान् धनुर्धर पुत्रको उत्पन्न किया था, इसलिये उसका नाम सुतसोम रक्खा गया।८२।

श्रुतं कर्म महत् कृत्वा निवृत्तेन किरीटिना।
जातः पुत्रस्तथेत्येवं श्रुतकर्मा ततोऽभवत् ॥ ८३ ॥

किरीटधारी अर्जुनने महान् एवं विख्यात कर्म करनेके पश्चात् लौटकर द्रौपदीसे पुत्र उत्पन्न किया था, इसलिये उनके पुत्रका नाम श्रुतकर्मा हुआ ॥ ८३ ॥

शतानीकस्य राजर्षेः कौरव्यस्य महात्मनः।
चक्रे पुत्रं सनामानं नकुलः कीर्तिवर्धनम् ॥ ८४ ॥

कौरवकुलके महामना राजर्षि शतानीकके नामपर नकुलने अपने कीर्तिवर्धक पुत्रका नाम शतानीक रख दिया ॥८४॥

ततस्त्वजीजनत् कृष्णा नक्षत्रे वह्निदैवते।
सहदेवात् सुतं तस्माच्छ्रुतसेनेति यं विदुः ॥ ८५ ॥

तदनन्तर कृष्णाने सहदेवसे अग्निदेवतासम्बन्धी कृत्तिका नक्षत्रमें एक पुत्र उत्पन्न किया, इसलिये उसका नाम श्रुतसेन रक्खा गया (श्रुतसेन अग्निका ही नामान्तर है) ॥ ८५ ॥

एकवर्षान्तरास्त्वेते द्रौपदेया यशस्विनः।
अन्वजायन्त राजेन्द्र परस्परहितैषिणः ॥ ८६ ॥

राजेन्द्र! ये यशस्वी द्रौपदीकुमार एक-एक वर्षके अन्तरसे उत्पन्न हुए थे और एक-दूसरेका हित चाहनेवाले थे ॥ ८६ ॥

जातकर्माण्यानुपूर्व्याच्चूडोपनयनानि च।
चकार विधिवद् धौम्यस्तेषां भरतसत्तम ॥ ८७ ॥

भरतश्रेष्ठ! पुरोहित धौम्यने क्रमशः उन सभी बालकोंके जातकर्म, चूडाकरण और उपनयन आदि संस्कार विधिपूर्वक सम्पन्न किये ॥ ८७ ॥

कृत्वा च वेदाध्ययनं ततः सुचरितव्रताः।
जगृहुः सर्वमिष्वस्त्रमर्जुनाद् दिव्यमानुषम् ॥ ८८ ॥

पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्य व्रतका पालन करनेवाले उन बालकोंने धौम्य मुनिसे वेदाध्ययन करनेके पश्चात् अर्जुनसे सम्पूर्ण दिव्य एवं मानुष धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त किया ॥ ८८ ॥

दिव्यगर्भोपमैः पुत्रैर्व्यूढोरस्कैर्महारथैः।
अन्वितो राजशार्दूल पाण्डवा मुदमाप्नुवन् ॥ ८९ ॥

राजेश्वर! देवपुत्रोंके समान चौड़ी छातीवाले उन महारथी पुत्रोंसे संयुक्त हो पाण्डव बड़े प्रसन्न हुए ॥ ८९ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि हरणाहरणपर्वणि विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत हरणाहरणपर्वमें दो सौ बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १॥ श्लोक मिलाकर कुल ९०½ श्लोक हैं)

(खाण्डवदाहपर्व)

एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

युधिष्ठिरके राज्यकी विशेषता, कृष्ण और अर्जुनका खाण्डववनमें जाना तथा उन दोनोंके पास ब्राह्मणवेशधारी अग्निदेवका आगमन

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रप्रस्थे वसन्तस्ते जघ्नुरन्यान् नराधिपान्।
शासनाद् धृतराष्ट्रस्य राज्ञः शान्तनवस्य च ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा धृतराष्ट्र तथा शान्तनुनन्दन भीष्मकी आज्ञासे इन्द्रप्रस्थमें रहते हुए पाण्डवोंने अन्य बहुत-से राजाओंको, जो उनके शत्रु थे, मार दिया ॥ १ ॥

आश्रित्य धर्मराजानं सर्वलोकोऽवसत् सुखम्।
पुण्यलक्षणकर्माणं स्वदेहमिव देहिनः ॥ २ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरका आसरा लेकर सब लोग सुखसे

रहने लगे, जैसे जीवात्मा पुण्यकर्मोंके फलस्वरूप अपने उत्तम शरीरको पाकर सुखसे रहता है ॥ २ ॥

स समं धर्मकामार्थान् सिषेवे भरतर्षभ।
त्रीनिवात्मसमान् बन्धून् नीतिमानिव मानयन्॥ ३ ॥

भरतश्रेष्ठ! महाराज युधिष्ठिर नीतिज्ञ पुरुषकी भाँति धर्म, अर्थ और काम इन तीनोंको आत्माके समान प्रिय बन्धु मानते हुए न्याय और समतापूर्वक इनका सेवन करते थे ॥ ३ ॥

तेषां समविभक्तानां क्षितौ देहवतामिव।
बभौ धर्मार्थकामानां चतुर्थ इव पार्थिवः॥ ४ ॥

इस प्रकार तुल्यरूपसे बँटे हुए धर्म, अर्थ और काम तीनों पुरुषार्थ भूतलपर मानो मूर्तिमान् होकर प्रकट हो रहे थे और राजा युधिष्ठिर चौथे पुरुषार्थ मोक्षकी भाँति सुशोभित होते थे ॥ ४ ॥

अध्येतारं परं वेदान् प्रयोक्तारं महाध्वरे।
रक्षितारं शुभाँल्लोकान् लेभिरे तं जनाधिपम्॥ ५ ॥

प्रजाने महाराज युधिष्ठिरके रूपमें ऐसा राजा पाया था, जो परम ब्रह्म परमात्माका चिन्तन करनेवाला, बड़े-बड़े यज्ञोंमें वेदोंका उपयोग करनेवाला और शुभ लोकोंके संरक्षणमें तत्पर रहनेवाला था ॥ ५ ॥

अधिष्ठानवती लक्ष्मीः परायणवती मतिः।
वर्धमानोऽखिलो धर्मस्तेनासीत्पृथिवीक्षिताम्॥ ६ ॥

राजा युधिष्ठिरके द्वारा दूसरे राजाओंकी चञ्चल लक्ष्मी भी स्थिर हो गयी, बुद्धि उत्तम निष्ठावाली हो गयी और सम्पूर्ण धर्मकी दिनोंदिन वृद्धि होने लगी ॥ ६ ॥

भ्रातृभिः सहितो राजा चतुर्भिरधिकं बभौ।
प्रयुज्यमानैर्विततो वेदैरिव महाध्वरः॥ ७ ॥

जैसे यथावसर उपयोगमें लाये जानेवाले चारों वेदोंके द्वारा विस्तारपूर्वक आरम्भ किया हुआ महायज्ञ शोभा पाता है, उसी प्रकार अपनी आज्ञाके अधीन रहनेवाले चारों भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिर अत्यन्त सुशोभित होते थे ॥ ७ ॥

तं तु धौम्यादयो विप्राः परिवार्योपतस्थिरे।
बृहस्पतिसमा मुख्याः प्रजापतिमिवामराः॥ ८ ॥

जैसे बृहस्पति-सदृश मुख्य-मुख्य देवता प्रजापतिकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार धौम्य आदि ब्राह्मण राजा युधिष्ठिरको सब ओरसे घेरकर बैठते थे ॥ ८ ॥

धर्मराजे ह्यतिप्रीत्या पूर्णचन्द्र इवामले।
प्रजानां रेमिरे तुल्यं नेत्राणि हृदयानि च॥ ९ ॥

निर्मल एवं पूर्ण चन्द्रमाके समान आनन्दप्रद राजा युधिष्ठिरके प्रति अत्यन्त प्रीति होनेके कारण उन्हें देखकर प्रजाके नेत्र और मन एक साथ प्रफुल्लित हो उठते थे ॥ ९ ॥

न तु केवलदैवेन प्रजा भावेन रेमिरे।
यद् बभूव मनःकान्तं कर्मणा स चकार तत्॥ १० ॥

प्रजा केवल उनके पालनरूप राजोचित कर्मसे ही संतुष्ट नहीं थी, वह उनके प्रति श्रद्धा और भक्तिभाव रखनेके कारण भी सदा आनन्दित रहती थी। राजाके प्रति प्रजाकी भक्ति इसलिये थी कि प्रजाके मनको जो प्रिय लगता था, राजा युधिष्ठिर उसीको क्रियाद्वारा पूर्ण करते थे ॥ १० ॥

न ह्ययुक्तं न चासत्यं नासह्यं न च चाप्रियम्।
भाषितं चारुभाषस्य जज्ञे पार्थस्य धीमतः॥ ११ ॥

सदा मीठी बातें करनेवाले बुद्धिमान् कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरके मुखसे कभी कोई अनुचित, असत्य, असह्य और अप्रिय बात नहीं निकलती थी ॥ ११ ॥

स हि सर्वस्य लोकस्य हितमात्मन एव च।
चिकीर्षन् सुमहातेजा रेमे भरतसत्तम॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ! महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर सब लोगोंका और अपना भी हित करनेकी चेष्टामें लगे रहकर सदा प्रसन्नतापूर्वक समय बिताते थे ॥ १२ ॥

तथा तु मुदिताः सर्वे पाण्डवा विगतज्वराः।
अवसन् पृथिवीपालांस्तापयन्तः स्वतेजसा॥ १३ ॥

इस प्रकार सभी पाण्डव अपने तेजसे दूसरे नरेशोंको संतप्त करते हुए निश्चिन्त तथा आनन्दमग्न होकर वहाँ निवास करते थे ॥ १३ ॥

ततः कतिपयाहस्य बीभत्सुः कृष्णमब्रवीत्।
उष्णानि कृष्ण वर्तन्ते गच्छावो यमुनां प्रति॥ १४ ॥

तदनन्तर कुछ दिनोंके बाद अर्जुनने श्रीकृष्णसे कहा— 'कृष्ण! बड़ी गरमी पड़ रही है। चलिये, यमुनाजीमें स्नानके लिये चलें ॥ १४ ॥

सुहृज्जनवृतौ तत्र विहृत्य मधुसूदन।
सायाह्ने पुनरेष्यावो रोचतां ते जनार्दन॥ १५ ॥

'मधुसूदन! मित्रोंके साथ वहाँ जलविहार करके हमलोग शामतक फिर लौट आयेंगे। जनार्दन! यदि आपकी रुचि हो, तो चलें' ॥ १५ ॥

वासुदेव उवाच

कुन्तीमातर्ममाप्येतद् रोचते यद् वयं जले।
सुहृज्जनवृताः पार्थ विहरेम यथासुखम्॥ १६ ॥

वासुदेव बोले—कुन्तीनन्दन! मेरी भी ऐसी ही इच्छा हो रही है कि हमलोग सुहृदोंके साथ वहाँ चलकर सुखपूर्वक जलविहार करें ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

आमन्त्र्य तौ धर्मराज्यमनुज्ञाप्य च भारत।
जग्मतुः पार्थगोविन्दौ सुहृज्जनवृतौ ततः॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भारत ! यह सलाह करके युधिष्ठिरकी आज्ञा ले अर्जुन और श्रीकृष्ण सुहृदोंके साथ वहाँ गये ॥ १७ ॥

विहारदेशं सम्प्राप्य नानाद्रुममनुत्तमम्।
गृहैरुच्चावचैर्युक्तं पुरन्दरपुरोपमम् ॥ १८ ॥
भक्ष्यैर्भोज्यैश्च पेयैश्च रसवद्भिर्महाधनैः।
माल्यैश्च विविधैर्गन्धैर्युक्तं वार्ष्णेयपार्थयोः ॥ १९ ॥
विवेशान्तःपुरं तूर्णं रत्नैरुच्चावचैः शुभैः।
यथोपजोषं सर्वश्च जनश्चिक्रीड भारत ॥ २० ॥

यमुनाके तटपर जहाँ विहारस्थान था, वहाँ पहुँचकर श्रीकृष्ण और अर्जुनके रनिवासकी स्त्रियाँ नाना प्रकारके सुन्दर रत्नोंके साथ क्रीडाभवनके भीतर चली गयीं। वह उत्तम विहारभूमि नाना प्रकारके वृक्षोंसे सुशोभित थी। वहाँ बने हुए अनेक छोटे-बड़े भवनोंके कारण वह स्थान इन्द्रपुरीके समान सुशोभित होता था। अन्तःपुरकी स्त्रियोंके साथ अनेक प्रकारके भक्ष्य, भोज्य, बहुमूल्य सरस पेय, भाँति-भाँतिके पुष्पहार और सुगन्धित द्रव्य भी थे। भारत ! वहाँ जाकर सब लोग अपनी-अपनी रुचिके अनुसार जलक्रीड़ा करने लगे ॥ १८–२० ॥

स्त्रियश्च विपुलश्रोण्यश्चारुपीनपयोधराः।
मदस्खलितगामिन्यश्चिक्रीडुर्वामलोचनाः ॥ २१ ॥

विशाल नितम्बों और मनोहर पीत उरोजोंवाली वामलोचना वनिताएँ भी यौवनके मदके कारण डगमगाती चालसे चलकर इच्छानुसार क्रीडाएँ करने लगीं ॥ २१ ॥

वने काश्चिज्जले काश्चित् काश्चिद् वेश्मसु चाङ्गनाः।
यथायोग्यं यथाप्रीति चिक्रीडुः पार्थकृष्णयोः ॥ २२ ॥

वे स्त्रियाँ श्रीकृष्ण और अर्जुनकी रुचिके अनुसार कुछ वनमें, कुछ जलमें और कुछ घरोंमें यथोचितरूपसे क्रीडा करने लगीं ॥ २२ ॥

द्रौपदी च सुभद्रा च वासांस्याभरणानि च।
प्रायच्छतां महाराज ते तु तस्मिन् मदोत्कटे ॥ २३ ॥

महाराज ! उस समय यौवनमदसे युक्त द्रौपदी और सुभद्राने बहुत-से वस्त्र और आभूषण बाँटे ॥ २३ ॥

काश्चित् प्रहृष्टा ननृतुश्चुक्रुशुश्च तथापराः।
जहसुश्च परा नार्यो जगुश्चान्या वरस्त्रियः ॥ २४ ॥

वहाँ कुछ श्रेष्ठ स्त्रियाँ हर्षोल्लासमें भरकर नृत्य करने लगीं। कुछ जोर-जोरसे कोलाहल करने लगीं। अन्य बहुत-सी स्त्रियाँ ठठाकर हँसने लगीं तथा कुछ सुन्दरी स्त्रियाँ गीत गाने लगीं ॥ २४ ॥

रुरुधुश्चापरास्तत्र प्रजघ्नुश्च परस्परम्।
मन्त्रयामासुरन्याश्च रहस्यानि परस्परम् ॥ २५ ॥

कुछ एक-दूसरीको पकड़कर रोकने और मृदु प्रहार करने लगीं तथा कुछ दूसरी स्त्रियाँ एकान्तमें बैठकर आपसमें कुछ गुप्त बातें करने लगीं ॥ २५ ॥

वेणुवीणामृदङ्गानां मनोज्ञानां च सर्वशः।
शब्देन पूर्यते हर्म्यं तद् वनं सुमहर्द्धिमत् ॥ २६ ॥

वहाँका राजभवन और महान् समृद्धिशाली वन वीणा, वेणु और मृदङ्ग आदि मनोहर वाद्योंकी सुमधुर ध्वनिसे सब ओर गूँजने लगा ॥ २६ ॥

तस्मिंस्तदा वर्तमाने कुरुदाशार्हनन्दनौ।
समीपं जग्मतुः कंचिदुद्देशं सुमनोहरम् ॥ २७ ॥

इस प्रकार जब वहाँ क्रीडा-विहारका आनन्दमय उत्सव चल रहा था, उसी समय श्रीकृष्ण और अर्जुन पासके ही किसी अत्यन्त मनोहर प्रदेशमें गये ॥ २७ ॥

तत्र गत्वा महात्मानौ कृष्णौ परपुरंजयौ।
महार्हासनयो राजंस्ततस्तौ संनिषीदतुः ॥ २८ ॥
तत्र पूर्वव्यतीतानि विक्रान्तानीतराणि च।
बहूनि कथयित्वा तौ रेमाते पार्थमाधवौ ॥ २९ ॥

राजन्! वहाँ जाकर शत्रुओंकी राजधानीको जीतनेवाले वे दोनों महात्मा श्रीकृष्ण और अर्जुन दो बहुमूल्य सिंहासनोंपर बैठे और पहले किये हुए पराक्रमों तथा अन्य बहुत-सी बातोंकी चर्चा करके आमोद-प्रमोद करने लगे ॥ २८-२९ ॥

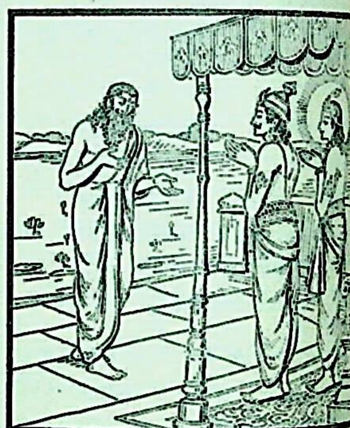
तत्रोपविष्टौ मुदितौ नाकपृष्ठेऽश्विनाविव।
अभ्यागच्छत् तदा विप्रो वासुदेवधनंजयौ ॥ ३० ॥

वहाँ प्रसन्नतापूर्वक बैठे हुए धनंजय और वासुदेव स्वर्गलोकमें स्थित अश्विनीकुमारोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे। उसी समय उन दोनोंके पास एक ब्राह्मणदेवता आये ॥ ३० ॥

बृहच्छालप्रतीकाशः प्रतप्तकनकप्रभः।
हरिपिङ्गोज्ज्वलश्मश्रुः प्रमाणायामतः समः ॥ ३१ ॥

वे विशाल शालवृक्षके समान ऊँचे थे। उनकी कान्ति तपाये हुए सुवर्णके समान थी। उनके सारे अङ्ग नीले और पीले रंगके थे, दाढ़ी-मूँछें अग्निज्वालाके समान पीत वर्णकी

थीं तथा ऊँचाईके अनुसार ही उनकी मोटाई थी ॥ ३१ ॥



तरुणादित्यसंकाशश्चीरवासा जटाधरः ।
पद्मपत्राननः पिङ्गस्तेजसा प्रज्वलन्निव ॥ ३२ ॥

वे प्रातःकालिक सूर्यके समान तेजस्वी जान पड़ते थे। वे चीर वस्त्र पहने और मस्तकपर जटा धारण किये हुए थे। उनका मुख कमलदलके समान शोभा पा रहा था। उनकी प्रभा पिङ्गल वर्णकी थी और वे अपने तेजसे मानो प्रज्वलित हो रहे थे ॥ ३२ ॥

उपसृष्टं तु तं कृष्णौ भ्राजमानं द्विजोत्तमम् ।
अर्जुनो वासुदेवश्च तूर्णमुत्पत्य तस्थतुः ॥ ३३ ॥

वे तेजस्वी द्विजश्रेष्ठ जब निकट आ गये, तब अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण तुरंत ही आसनसे उठकर खड़े हो गये ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि ब्राह्मणरूप्यनलागमने एकविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें ब्राह्मणरूपी अग्निदेवके आगमनसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२१ ॥

द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निदेवका खाण्डववनको जलानेके लिये श्रीकृष्ण और अर्जुनसे सहायताकी याचना करना, अग्नि उस वनको क्यों जलाना चाहते थे, इसे बतानेके प्रसङ्गमें राजा श्वेतकिकी कथा

वैशम्पायन उवाच

सोऽब्रवीदर्जुनं चैव वासुदेवं च सात्वतम् ।
लोकप्रवीरौ तिष्ठन्तौ खाण्डवस्य समीपतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उन ब्राह्मणदेवताने अर्जुन और सात्वतवंशी भगवान् वासुदेवसे, जो विश्वविख्यात वीर थे और खाण्डववनके समीप खड़े हुए थे, कहा—॥ १ ॥

ब्राह्मणो बहुभोक्तास्मि भुञ्जेऽपरिमितं सदा ।
भिक्षे वार्ष्णेयपार्थौ वामेकां तृप्तिं प्रयच्छतम् ॥ २ ॥

'मैं अधिक भोजन करनेवाला एक ब्राह्मण हूँ और सदा अपरिमित अन्न भोजन करता हूँ। वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन ! आज मैं आप दोनोंसे भिक्षा माँगता हूँ। आपलोग एक बार पूर्ण भोजन कराकर मुझे तृप्ति प्रदान कीजिये' ॥ २ ॥

एवमुक्तौ तमब्रूतां ततस्तौ कृष्णपाण्डवौ ।
केनान्नेन भवांस्तृप्येत् तस्यान्नस्य यतावहे ॥ ३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर श्रीकृष्ण और अर्जुन बोले—'ब्रह्मन् ! बताइये, आप किस अन्नसे तृप्त होंगे ? हम दोनों उसीके लिये प्रयत्न करेंगे' ॥ ३ ॥

एवमुक्तः स भगवानब्रवीत् तावुभौ ततः ।
भाषमाणौ तदा वीरौ किमन्नं क्रियतामिति ॥ ४ ॥

जब वे दोनों वीर 'आपके लिये किस अन्नकी व्यवस्था की जाय ?' इसी बातको बार-बार दुहराने लगे, तब उनके ऐसा कहनेपर भगवान् अग्निदेव उन दोनोंसे इस प्रकार बोले ॥ ४ ॥

ब्राह्मण उवाच

नाहमन्नं बुभुक्षे वै पावकं मां निबोधतम् ।
यदन्नमनुरूपं मे तद् युवां सम्प्रयच्छतम् ॥ ५ ॥

ब्राह्मणदेवताने कहा—वीरो ! मुझे अन्नकी भूख नहीं है, आपलोग मुझे अग्नि समझें । जो अन्न मेरे अनुरूप हो, वही आप दोनों मुझे दें ॥ ५ ॥

इदमिन्द्रः सदा दावं खाण्डवं परिरक्षति ।
न च शक्नोम्यहं दग्धुं रक्ष्यमाणं महात्मना ॥ ६ ॥

इन्द्र सदा इस खाण्डववनकी रक्षा करते हैं। उन महात्माके द्वारा सुरक्षित होनेके कारण मैं इसे जला नहीं पाता ॥ ६ ॥

वसत्यत्र सखा तस्य तक्षकः पन्नगः सदा ।
सगणस्तत्कृते दावं परिरक्षति वज्रभृत् ॥ ७ ॥

इस वनमें इन्द्रका सखा तक्षक नाग अपने परिवारसहित सदा निवास करता है। उसीके लिये वज्रधारी इन्द्र इसकी रक्षा करते हैं ॥ ७ ॥

तत्र भूतान्यनेकानि रक्षतेऽस्य प्रसङ्गतः ।
तं दिधक्षुर्न शक्नोमि दग्धुं शक्रस्य तेजसा ॥

उस तक्षक नागके प्रसङ्गसे ही यहाँ रहनेवाले और भी अनेक जीवोंकी वे रक्षा करते हैं, इसलिये इन्द्रके प्रभावसे मैं इस वनको जला नहीं पाता। परंतु मैं सदा ही इसे जलानेकी इच्छा रखता हूँ ॥ ८ ॥

स मां प्रज्वलितं दृष्ट्वा मेघाम्भोभिः प्रवर्षति।
ततो दग्धुं न शक्नोमि दिधक्षुर्दावमीप्सितम् ॥ ९ ॥

मुझे प्रज्वलित देखकर वे मेघोंद्वारा जलकी वर्षा करने लगते हैं, यही कारण है कि जलानेकी इच्छा रखते हुए भी मैं इस खाण्डववनको दग्ध करनेमें सफल नहीं हो पाता ॥ ९ ॥

स युवाभ्यां सहायाभ्यामस्त्रविद्भ्यां समागतः।
दहेयं खाण्डवं दावमेतदन्नं वृतं मया ॥ १० ॥

आप दोनों अस्त्रविद्याके पूरे जानकार हैं, अतः मैं इसी उद्देश्यसे आपके पास आया हूँ कि आप दोनोंकी सहायतासे इस खाण्डववनको जला सकूँ। मैं इसी अन्नकी भिक्षा माँगता हूँ ॥ १० ॥

युवां ह्युदकधारास्ता भूतानि च समन्ततः।
उत्तमास्त्रविदौ सम्यक् सर्वतो वारयिष्यथः ॥ ११ ॥

आप दोनों उत्तम अस्त्रोंके ज्ञाता हैं, अतः जब मैं इस वनको जलाने लगूँ, उस समय आपलोग ऊपरसे बरसती हुई जलकी धाराओं तथा इस वनसे निकलकर चारों ओर भागनेवाले प्राणियोंको रोकियेगा ॥ ११ ॥

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवानग्निः खाण्डवं दग्धुमिच्छति।
रक्ष्यमाणं महेन्द्रेण नानासत्त्वसमायुतम् ॥ १२ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! भगवान् अग्निदेव देवराज इन्द्रके द्वारा सुरक्षित और अनेक प्रकारके जीव-जन्तुओंसे भरे हुए खाण्डववनको किसलिये जलाना चाहते थे ? ॥ १२ ॥

न ह्येतद् कारणं ब्रह्मन्नल्पं सम्प्रतिभाति मे।
यद् ददाह सुसंक्रुद्धः खाण्डवं हव्यवाहनः ॥ १३ ॥

विप्रवर! मुझे इसका कोई साधारण कारण नहीं जान पड़ता, जिसके लिये कुपित होकर हव्यवाहन अग्निने समूचे खाण्डववनको भस्म कर दिया ॥ १३ ॥

एतद् विस्तरशो ब्रह्मञ्छ्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः।
खाण्डवस्य पुरा दाहो यथा समभवन्मुने ॥ १४ ॥

ब्रह्मन्! मुने! पूर्वकालमें खाण्डववनका दाह जिस प्रकार हुआ, वह सब विस्तारके साथ मैं ठीक-ठीक सुनना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु मे ब्रुवतो राजन् सर्वमेतद् यथातथम्।
यन्निमित्तं ददाहाग्निः खाण्डवं पृथिवीपते ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—महाराज जनमेजय! अग्निदेवने जिस कारण खाण्डववनको जलाया, वह सब वृत्तान्त मैं यथावत् बतलाता हूँ, सुनो ॥ १५ ॥

हन्त ते कथयिष्यामि पौराणीमृषिसंस्तुताम्।
कथामिमां नरश्रेष्ठ खाण्डवस्य विनाशिनीम् ॥ १६ ॥

नरश्रेष्ठ! खाण्डववनके विनाशसे सम्बन्ध रखनेवाली यह प्राचीन कथा महर्षियोंद्वारा प्रस्तुत की गयी है। उसीको मैं तुमसे कहूँगा ॥ १६ ॥

पौराणः श्रूयते राजन् राजा हरिहयोपमः।
श्वेतकिर्नाम विख्यातो बलविक्रमसंयुतः ॥ १७ ॥

राजन्! सुना जाता है, प्राचीनकालमें इन्द्रके समान बल और पराक्रमसे सम्पन्न श्वेतकि नामके एक राजा थे ॥ १७ ॥

यज्वा दानपतिर्धीमान् यथा नान्योऽस्ति कश्चन।
ईजे च स महायज्ञैः क्रतुभिश्चाप्तदक्षिणैः ॥ १८ ॥

उस समय उनके-जैसा यज्ञ करनेवाला, दाता और बुद्धिमान् दूसरा कोई नहीं था। उन्होंने पर्याप्त दक्षिणावाले अनेक बड़े-बड़े यज्ञोंका अनुष्ठान किया था ॥ १८ ॥

तस्य नान्याभवद् बुद्धिर्दिवसे दिवसे नृप।
सत्रे क्रियासमारम्भे दानेषु विविधेषु च ॥ १९ ॥

राजन्! प्रतिदिन उनके मनमें यज्ञ और दानके सिवा दूसरा कोई विचार ही नहीं उठता था। वे यज्ञकर्मोंके आरम्भ और नाना प्रकारके दानोंमें ही लगे रहते थे ॥ १९ ॥

ऋत्विग्भिः सहितो धीमानेवमीजे स भूमिपः।
ततस्तु ऋत्विजश्चास्य धूमव्याकुललोचनाः ॥ २० ॥

इस प्रकार वे बुद्धिमान् नरेश ऋत्विजोंके साथ यज्ञ किया करते थे। यज्ञ करते-करते उनके ऋत्विजोंकी आँखें धूएँसे व्याकुल हो उठीं ॥ २० ॥

कालेन महता खिन्नास्तत्यजुस्ते नराधिपम्।
ततः प्रचोदयामास ऋत्विजस्तान् महीपतिः ॥ २१ ॥
चक्षुर्विकलतां प्राप्ता न प्रपेदुश्च ते क्रतुम्।
ततस्तेषामनुमते तद् विप्रैस्तु नराधिपः ॥ २२ ॥
सत्रं समापयामास ऋत्विग्भिरपरैः सह।

दीर्घकालतक आहुति देते-देते वे सभी खिन्न हो गये थे। इसलिये राजाको छोड़कर चले गये। तब राजाने उन ऋत्विजोंको पुनः यज्ञके लिये प्रेरित किया। परंतु जिनके नेत्र दुखने लगे थे, वे ऋत्विज उनके यज्ञमें नहीं आये। तब राजाने उनकी अनुमति लेकर दूसरे ब्राह्मणोंको ऋत्विज बनाया और उन्हींके साथ अपने चालू किये हुए यज्ञको पूरा किया ॥ २१-२२½ ॥

तस्यैवं वर्तमानस्य कदाचित् कालपर्यये ॥ २३ ॥
सत्रमाहर्तुकामस्य संवत्सरशतं किल ।
ऋत्विजो नाभ्यपद्यन्त समाहर्तुं महात्मनः ॥ २४ ॥

इस प्रकार यज्ञपरायण राजाके मनमें किसी समय यह संकल्प उठा कि मैं सौ वर्षोंतक चालू रहनेवाला एक सत्र प्रारम्भ करूँ; परंतु उन महामनाको वह यज्ञ आरम्भ करनेके लिये ऋत्विज ही नहीं मिले ॥ २३-२४ ॥

स च राजाकरोद् यत्नं महान्तं ससुहृज्जनः ।
प्रणिपातेन सान्त्वेन दानेन च महायशाः ॥ २५ ॥
ऋत्विजोऽनुनयामास भूयो भूयस्त्वतन्द्रितः ।
ते चास्य तमभिप्रायं न चक्रुरमितौजसः ॥ २६ ॥

उन महायशस्वी नरेशने अपने सुहृदोंको साथ लेकर इस कार्यके लिये बहुत बड़ा प्रयत्न किया । पैरोंपर पड़कर, सान्त्वनापूर्ण वचन कहकर और इच्छानुसार दान देकर बार-बार निरालस्यभावसे ऋत्विजोंको मनाया, उनसे यज्ञ करानेके लिये अनुनय-विनय की; परंतु उन्होंने अमिततेजस्वी नरेशके मनोरथको सफल नहीं किया ॥ २५-२६ ॥

स चाश्रमस्थान् राजर्षिस्तानुवाच रुषान्वितः ।
यद्यहं पतितो विप्राः शुश्रूषायां न च स्थितः ॥ २७ ॥
आशु त्याज्योऽस्मि युष्माभिर्ब्राह्मणैश्च जुगुप्सितः ।
तन्नार्हथ क्रतुश्रद्धां व्याघातयितुमद्य ताम् ॥ २८ ॥

तब उन राजर्षिने कुछ कुपित होकर आश्रमवासी महर्षियोंसे कहा—'ब्राह्मणो ! यदि मैं पतित होऊँ और आपलोगोंकी शुश्रूषासे मुँह मोड़ता होऊँ तो निन्दित होनेके कारण आप सभी ब्राह्मणोंके द्वारा शीघ्र ही त्याग देने योग्य हूँ, अन्यथा नहीं; अतः यज्ञ करानेके लिये मेरी इस बढ़ी हुई श्रद्धामें आपलोगोंको बाधा नहीं डालनी चाहिये ॥२७-२८॥

अस्थाने वा परित्यागं कर्तुं मे द्विजसत्तमाः ।
प्रपन्न एव वो विप्राः प्रसादं कर्तुमर्हथ ॥ २९ ॥

'विप्रवरो ! इस प्रकार बिना किसी अपराधके मेरा परित्याग करना आपलोगोंके लिये कदापि उचित नहीं है । मैं आपकी शरणमें हूँ । आपलोग कृपापूर्वक मुझपर प्रसन्न होइये ॥२९॥

सान्त्वदानादिभिर्वाक्यैस्तत्त्वतः कार्यवत्तया ।
प्रसादयित्वा वक्ष्यामि यत्तः कार्यं द्विजोत्तमाः ॥ ३० ॥

'श्रेष्ठ द्विजगण ! मैं कार्यार्थी होनेके कारण सान्त्वना देकर दान आदि देनेकी बात कहकर यथार्थ वचनोंद्वारा आपलोगोंको प्रसन्न करके आपकी सेवामें अपना कार्य निवेदन कर रहा हूँ ॥ ३० ॥

अथवाहं परित्यक्तो भवद्भिर्द्वेषकारणात् ।
ऋत्विजोऽन्यान् गमिष्यामि याजनार्थं द्विजोत्तमाः॥ ३१॥

'द्विजोत्तमो ! यदि आपलोगोंने द्वेषवश मुझे त्याग दिया तो मैं यह यज्ञ करानेके लिये दूसरे ऋत्विजों जाऊँगा ॥ ३१ ॥

एतावदुक्त्वा वचनं विरराम स पार्थिवः ।
यदा न शेकू राजानं याजनार्थं परंतप ॥
ततस्ते याजकाः क्रुद्धास्तमूचुर्नृपसत्तमम् ।
तव कर्माण्यजस्रं वै वर्तन्ते पार्थिवोत्तम ॥

इतना कहकर राजा चुप हो गये । परंतप जन जब वे ऋत्विज राजाका यज्ञ करानेके लिये उद्य सके, तब वे रुष्ट होकर उन नृपश्रेष्ठसे 'भूपालशिरोमणे ! आपके यज्ञकर्म तो निरन्तर चलते हैं ॥ ३२-३३ ॥

ततो वयं परिश्रान्ताः सततं कर्मवाहिनः ।
श्रमादस्माद् परिश्रान्तान् स त्वं नस्त्यक्तुमर्हसि ॥
बुद्धिमोहं समास्थाय त्वरासम्भावितोऽनघ ।
गच्छ रुद्रसकाशं त्वं स हि त्वां याजयिष्यति ॥

'अतः सदा कर्ममें लगे रहनेके कारण हमलोग थ हैं, पहलेके परिश्रमसे हमारा कष्ट बढ़ गया है । ऐसी स्थि बुद्धिमोहित होनेके कारण उतावले होकर आप हमारा त्याग कर सकते हैं । निष्पाप नरेश ! आप भगवान् रुद्रके ही समीप जाइये । अब वे ही आपका करायेंगे ॥ ३४-३५ ॥

साधिक्षेपं वचः श्रुत्वा संक्रुद्धः श्वेतकिर्नृपः ।
कैलासं पर्वतं गत्वा तप उग्रं समास्थितः ॥ ३

ब्राह्मणोंका यह आक्षेपयुक्त वचन सुनकर राजा श्वे बड़ा क्रोध हुआ । वे कैलास पर्वतपर जाकर उग्र त लग गये ॥ ३६ ॥

आराधयन् महादेवं नियतः संशितव्रतः ।
उपवासपरो राजन् दीर्घकालमतिष्ठत ॥ ३

राजन् ! तीक्ष्ण व्रतका पालन करनेवाले राजा श्वे मन-इन्द्रियोंके संयमपूर्वक महादेवजीकी आराधना करते बहुत दिनोंतक निराहार खड़े रहे ॥ ३७ ॥

कदाचिद् द्वादशे काले कदाचिदपि षोडशे ।
आहारमकरोद् राजा मूलानि च फलानि च ॥ ३

वे कभी बारहवें दिन और कभी सोलहवें दिन फ मूलका आहार कर लेते थे ॥ ३८ ॥

ऊर्ध्वबाहुस्त्वनिमिषस्तिष्ठन् स्थाणुरिवाचलः ।
षण्मासानभवद् राजा श्वेतकिः सुसमाहितः ॥ ३

दोनों बाँहें ऊपर उठाकर एकटक देखते हुए रा श्वेतकि एकाग्रचित्त हो छः महीनेतक ठूँठकी त अविचल भावसे खड़े रहे ॥ ३९ ॥

तं तथा नृपशार्दूलं तप्यमानं महत् तपः ।
शंकरः परमप्रीत्या दर्शयामास भारत ॥ ४

भारत! उन नृपश्रेष्ठको इस प्रकार भारी तपस्या करते देख भगवान् शङ्करने अत्यन्त प्रसन्न होकर उन्हें दर्शन दिया ॥ ४० ॥

उवाच चैनं भगवान् स्निग्धगम्भीरया गिरा।
प्रीतोऽस्मि नरशार्दूल तपसा ते परंतप ॥ ४१ ॥

और स्नेहपूर्वक गम्भीर वाणीमें भगवान्ने उनसे कहा—'परंतप! नरश्रेष्ठ! मैं तुम्हारी तपस्यासे बहुत प्रसन्न हूँ ॥ ४१ ॥

वरं वृणीष्व भद्रं ते यं त्वमिच्छसि पार्थिव।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रस्यामिततेजसः ॥ ४२ ॥
प्रणिपत्य महात्मानं राजर्षिः प्रत्यभाषत।

'भूपाल! तुम्हारा कल्याण हो। तुम जैसा चाहते हो, वैसा वर माँग लो।' अमिततेजस्वी रुद्रका यह वचन सुनकर राजर्षि श्वेतकिने परमात्मा शिवके चरणोंमें प्रणाम किया और इस प्रकार कहा—॥ ४२½ ॥

यदि मे भगवान् प्रीतः सर्वलोकनमस्कृतः ॥ ४३ ॥
स्वयं मां देवदेवेश याजयस्व सुरेश्वर।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं राज्ञा तेन प्रभाषितम् ॥ ४४ ॥
उवाच भगवान् प्रीतः स्मितपूर्वमिदं वचः।

'देवदेवेश! सुरेश्वर! यदि मेरे ऊपर आप सर्वलोकवन्दित भगवान् प्रसन्न हुए हैं तो स्वयं चलकर मेरा यज्ञ करायें।' राजाकी कही हुई यह बात सुनकर भगवान् शिव प्रसन्न होकर मुसकराते हुए बोले—॥ ४३-४४½ ॥

नास्माकमेष विषयो वर्तते याजनं प्रति ॥ ४५ ॥
त्वया च सुमहत् तप्तं तपो राजन् वरार्थिना।
याजयिष्यामि राजंस्त्वां समयेन परंतप ॥ ४६ ॥

'राजन्! यज्ञ कराना हमारा काम नहीं है; परंतु तुमने यही वर माँगनेके लिये भारी तपस्या की है; अतः परंतप नरेश! मैं एक शर्तपर तुम्हारा यज्ञ कराऊँगा' ॥ ४५-४६ ॥

रुद्र उवाच

समा द्वादश राजेन्द्र ब्रह्मचारी समाहितः।
सततं त्वाज्यधाराभिर्यदि तर्पयसेऽनलम् ॥ ४७ ॥
कामं प्रार्थयसे यं त्वं मत्तः प्राप्स्यसि तं नृप।

रुद्र बोले—राजेन्द्र! यदि तुम एकाग्रचित्त हो ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए बारह वर्षोंतक घृतकी निरन्तर अविच्छिन्न धाराद्वारा अग्निदेवको तृप्त करो तो मुझसे जिस कामनाके लिये प्रार्थना कर रहे हो, उसे पाओगे ॥ ४७½ ॥

एवमुक्तश्च रुद्रेण श्वेतकिर्मनुजाधिपः ॥ ४८ ॥
तथा चकार तत् सर्वं यथोक्तं शूलपाणिना।
पूर्णे तु द्वादशे वर्षे पुनरायान्महेश्वरः ॥ ४९ ॥

भगवान् रुद्रके ऐसा कहनेपर राजा श्वेतकिने शूलपाणि शिवकी आज्ञाके अनुसार सारा कार्य सम्पन्न किया। बारहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर भगवान् महेश्वर पुनः आये ॥ ४७-४९ ॥

दृष्ट्वैव च स राजानं शंकरो लोकभावनः।
उवाच परमप्रीतः श्वेतकिं नृपसत्तमम् ॥ ५० ॥

सम्पूर्ण लोकोंकी उत्पत्ति करनेवाले भगवान् शङ्कर नृपश्रेष्ठ श्वेतकिको देखते ही अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—॥ ५० ॥

तोषितोऽहं नृपश्रेष्ठ त्वयेहाद्येन कर्मणा।
याजनं ब्राह्मणानां तु विधिदृष्टं परंतप ॥ ५१ ॥

'भूपालशिरोमणे! तुमने इस वेदविहित कर्मके द्वारा मुझे पूर्ण संतुष्ट किया है, परंतु परंतप! शास्त्रीय विधिके अनुसार यज्ञ करानेका अधिकार ब्राह्मणोंको ही है ॥ ५१ ॥

अतोऽहं त्वां स्वयं नाद्य याजयामि परंतप।
ममांशस्तु क्षितितले महाभागो द्विजोत्तमः ॥ ५२ ॥

'अतः परंतप! मैं स्वयं तुम्हारा यज्ञ नहीं कराऊँगा। पृथ्वीपर मेरे ही अंशभूत एक महाभाग श्रेष्ठ द्विज हैं ॥ ५२ ॥

दुर्वासा इति विख्यातः स हि त्वां याजयिष्यति।
मन्नियोगान्महातेजाः सम्भाराः सम्भ्रियन्तु ते ॥ ५३ ॥

'वे दुर्वासा नामसे विख्यात हैं। महातेजस्वी दुर्वासा मेरी आज्ञासे तुम्हारा यज्ञ करायेंगे; तुम सामग्री जुटाओ' ॥ ५३ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं रुद्रेण समुदाहृतम्।
स्वपुरं पुनरागम्य सम्भारान् पुनरार्जयत् ॥ ५४ ॥

भगवान् रुद्रका कहा हुआ वचन सुनकर राजा पुनः अपने नगरमें आये और यज्ञसामग्री जुटाने लगे ॥ ५४ ॥

ततः सम्भृतसम्भारो भूयो रुद्रमुपागमत्।
सम्भृता मम सम्भाराः सर्वोपकरणानि च ॥ ५५ ॥
त्वत्प्रसादान्महादेव श्वो मे दीक्षा भवेदिति।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं तस्य राज्ञो महात्मनः ॥ ५६ ॥
दुर्वाससं समाहूय रुद्रो वचनमब्रवीत्।
एष राजा महाभागः श्वेतकिर्द्विजसत्तम ॥ ५७ ॥
एनं याजय विप्रेन्द्र मन्नियोगेन भूमिपम्।
बाढमित्येव वचनं रुद्रं त्वृषिरुवाच ह ॥ ५८ ॥

तदनन्तर सामग्री जुटाकर वे पुनः भगवान् रुद्रके पास गये और बोले—'महादेव! आपकी कृपासे मेरी यज्ञसामग्री तथा अन्य सभी आवश्यक उपकरण जुट गये। अब कल मुझे यज्ञकी दीक्षा मिल जानी चाहिये।' महामना राजाका यह कथन सुनकर भगवान् रुद्रने दुर्वासाको बुलाया और कहा—'द्विजश्रेष्ठ! ये महाभाग राजा श्वेतकि हैं। विप्रेन्द्र! मेरी आज्ञासे तुम इन भूमिपालका यज्ञ कराओ।' यह सुनकर महर्षिने 'बहुत अच्छा' कहकर उनकी आज्ञा स्वीकार कर ली ॥ ५५-५८ ॥

ततः सत्रं समभवत् तस्य राज्ञो महात्मनः।
यथाविधि यथाकालं यथोक्तं बहुदक्षिणम् ॥ ५९ ॥

तदनन्तर यथासमय विधिपूर्वक उन महामना नरेशका यज्ञ आरम्भ हुआ। शास्त्रमें जैसा बताया गया है, उसी ढंगसे सब कार्य हुआ। उस यज्ञमें बहुत-सी दक्षिणा दी गयी ॥ ५९ ॥

तस्मिन् परिसमाप्ते तु राज्ञः सत्रे महात्मनः।
दुर्वाससाभ्यनुज्ञाता विप्रतस्थुः स याजकाः ॥ ६० ॥
ये तत्र दीक्षिताः सर्वे सदस्याश्च महौजसः।
सोऽपि राजन् महाभागः स्वपुरं प्राविशत् तदा॥ ६१ ॥
पूज्यमानो महाभागैर्ब्राह्मणैर्वेदपारगैः।
वन्दिभिः स्तूयमानश्च नागरैश्चाभिनन्दितः ॥ ६२ ॥

उन महामना नरेशका वह यज्ञ पूरा होनेपर उसमें जो महातेजस्वी सदस्य और ऋत्विज दीक्षित हुए थे, वे सब दुर्वासाजीकी आज्ञा ले अपने-अपने स्थानको चले गये। राजन्! वे महान् सौभाग्यशाली नरेश भी वेदोंके पारङ्गत महाभाग ब्राह्मणोंद्वारा सम्मानित हो उस समय अपनी राजधानीमें गये। उस समय वन्दीजनोंने उनका यश गाया और पुरवासियोंने अभिनन्दन किया ॥ ६०-६२ ॥

एवंवृत्तः स राजर्षिः श्वेतकिर्नृपसत्तमः।
कालेन महता चापि ययौ स्वर्गमभिष्टुतः ॥ ६३ ॥
ऋत्विग्भिः सहितः सर्वैः सदस्यैश्च समन्वितः।
तस्य सत्रे पपौ वह्निर्हविर्द्वादश वत्सरान् ॥ ६४ ॥

नृपश्रेष्ठ राजर्षि श्वेतकिका आचार-व्यवहार ऐसा ही था। वे दीर्घकालके पश्चात् अपने यज्ञके सम्पूर्ण सदस्यों तथा ऋत्विजोंसहित देवताओंसे प्रशंसित हो स्वर्गलोकमें गये। उनके यज्ञमें अग्निने लगातार बारह वर्षोंतक घृतपान किया था ॥ ६३-६४ ॥

सततं चाज्यधाराभिरैकात्म्ये तत्र कर्मणि।
हविषा च ततो वह्निः परां तृप्तिमगच्छत ॥ ६५ ॥

उस अद्वितीय यज्ञमें निरन्तर घीकी अविच्छिन्न धाराओंसे अग्निदेवको बड़ी तृप्ति प्राप्त हुई ॥ ६५ ॥

न चैच्छत् पुनरादातुं हविरन्यस्य कस्यचित्।
पाण्डुवर्णो विवर्णश्च न यथावत् प्रकाशते ॥ ६६ ॥

अब उन्हें फिर दूसरे किसीका हविष्य ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं रही। उनका रंग सफेद हो गया, कान्ति फीकी पड़ गयी तथा वे पहलेकी भाँति प्रकाशित नहीं होते थे ॥ ६६ ॥

ततो भगवतो वह्नेर्विकारः समजायत।
तेजसा विप्रहीणश्च ग्लानिश्चैनं समाविशत् ॥ ६७ ॥

तब भगवान् अग्निदेवके उदरमें विकार हो गया। वे तेजसे हीन हो ग्लानिको प्राप्त होने लगे ॥ ६७ ॥

स लक्षयित्वा चात्मानं तेजोहीनं हुताशनः।
जगाम सदनं पुण्यं ब्रह्मणो लोकपूजितम् ॥ ६८ ॥

अपनेको तेजसे हीन देख अग्निदेव ब्रह्माजीके लोकपूजित पुण्यधाममें गये ॥ ६८ ॥

तत्र ब्रह्माणमासीनमिदं वचनमब्रवीत्।
भगवन् परमा प्रीतिः कृता मे श्वेतकेतुना ॥ ६९ ॥

वहाँ बैठे हुए ब्रह्माजीसे वे यह वचन बोले—'भगवन्! राजा श्वेतकिने अपने यज्ञमें मुझे परम संतुष्ट कर दिया।

अरुचिश्चाभवत् तीव्रा तां न शक्नोम्यपोहितुम्।
तेजसा विप्रहीणोऽस्मि बलेन च जगत्पते ॥ ७० ॥
इच्छेयं त्वत्प्रसादेन स्वात्मनः प्रकृतिं स्थिराम्।

'परंतु मुझे अत्यन्त अरुचि हो गयी है, जिसे मैं किसी प्रकार दूर नहीं कर पाता। जगत्पते! उस अरुचिके कारण मैं तेज और बलसे हीन होता जा रहा हूँ। अतः मैं चाहता हूँ कि आपकी कृपासे मैं स्वस्थ हो जाऊँ; मेरी स्वाभाविक स्थिति सुदृढ़ बनी रहे' ॥ ७०½ ॥

एतच्छ्रुत्वा हुतवहाद् भगवान् सर्वलोककृत् ॥ ७१ ॥
हव्यवाहमिदं वाक्यमुवाच प्रहसन्निव।
त्वया द्वादश वर्षाणि वसोर्धाराहुतं हविः ॥ ७२ ॥
उपयुक्तं महाभाग तेन त्वां ग्लानिराविशत्।
तेजसा विप्रहीणत्वात् सहसा हव्यवाहन ॥ ७३ ॥
मा गमस्त्वं यथा वह्ने प्रकृतिस्थो भविष्यसि।
अरुचिं नाशयिष्येऽहं समयं प्रतिपद्य ते ॥ ७४ ॥

अग्निदेवकी यह बात सुनकर सम्पूर्ण जगत्‌के स्रष्टा भगवान् ब्रह्माजी हव्यवाहन अग्निसे हँसते हुए-से इस प्रकार बोले—'महाभाग! तुमने बारह वर्षोंतक वसुधाराकी आहुतिके रूपमें प्राप्त हुई घृतधाराका उपभोग किया है। इसीलिये तुम्हें ग्लानि प्राप्त हुई है। हव्यवाहन! तेजसे हीन होनेके कारण तुम्हें सहसा अपने मनमें ग्लानि नहीं आने देनी चाहिये। वह्ने! तुम फिर पूर्ववत् स्वस्थ हो जाओगे। मैं समय पाकर तुम्हारी अरुचि नष्ट कर दूँगा ॥ ७१-७४ ॥

पुरा देवनियोगेन यत् त्वया भस्मसात् कृतम्।
आलयं देवशत्रूणां सुघोरं खाण्डवं वनम् ॥ ७५ ॥
तत्र सर्वाणि सत्त्वानि निवसन्ति विभावसो।
तेषां त्वं मेदसा तृप्तः प्रकृतिस्थो भविष्यसि ॥ ७६ ॥

'पूर्वकालमें देवताओंके आदेशसे तुमने दैत्योंके अत्यन्त घोर निवासस्थान खाण्डववनको जलाया था, उसमें इस समय सब प्रकारके जीव-जन्तु आकर निवास करते हैं। विभावसो! उन्हींके मेदसे तृप्त होकर तुम स्वस्थ हो सकोगे ॥ ७५-७६ ॥

गच्छ शीघ्रं प्रदग्धुं त्वं ततो मोक्ष्यसि किल्बिषात्।
एतच्छ्रुत्वा तु वचनं परमेष्ठिमुखाच्च्युतम् ॥ ७७ ॥
उत्तमं जवमास्थाय प्रदुद्राव हुताशनः।
आगम्य खाण्डवं दावमुत्तमं वीर्यमास्थितः।
सहसा प्राज्वलच्चाग्निः क्रुद्धो वायुसमीरितः ॥ ७८ ॥

'उस वनको जलानेके लिये तुम शीघ्र ही जाओ। तभी इस ग्लानिसे छुटकारा पा सकोगे।' परमेष्ठी ब्रह्माजीके मुखसे निकली हुई यह बात सुनकर अग्निदेव बड़े वेगसे वहाँ दौड़े गये। खाण्डववनमें पहुँचकर उत्तम बलका आश्रय ले वायुका सहारा पाकर कुपित अग्निदेव सहसा प्रज्वलित हो उठे ॥ ७७-७८ ॥

प्रदीप्तं खाण्डवं दृष्ट्वा ये स्युस्तत्र निवासिनः।
परमं यत्नमातिष्ठन् पावकस्य प्रशान्तये ॥ ७९ ॥

खाण्डववनको जलते देख वहाँ रहनेवाले प्राणियोंने उस आगको बुझानेके लिये बड़ा यत्न किया ॥ ७९ ॥

करैस्तु करिणः शीघ्रं जलमादाय सत्वराः।
सिषिचुः पावकं क्रुद्धाः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ८० ॥

सैकड़ों और हजारोंकी संख्यामें हाथी अपनी सूँड़ोंमें जल लेकर शीघ्रतापूर्वक दौड़े आते और क्रोधपूर्वक उतावलीके साथ आगपर उस जलको उड़ेल दिया करते थे ॥ ८० ॥

बहुशीर्षास्ततो नागाः शिरोभिर्जलसंततिम्।
मुमुचुः पावकाभ्याशे सत्वराः क्रोधमूर्च्छिताः ॥ ८१ ॥

अनेक सिरवाले नाग भी क्रोधसे मूर्च्छित हो अपने मस्तकोंद्वारा अग्निके समीप शीघ्रतापूर्वक जलकी धारा बरसाने लगे॥

तथैवान्यानि सत्त्वानि नानाप्रहरणोद्यमैः।
विलयं पावकं शीघ्रमनयन् भरतर्षभ ॥ ८२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! इसी प्रकार दूसरे-दूसरे जीवोंने भी अनेक प्रकारके प्रहारों (धूल झोंकने आदि) तथा उद्यमों (जल छिड़कने आदि) के द्वारा शीघ्रतापूर्वक उस आगको बुझा दिया ॥ ८२ ॥

अनेन तु प्रकारेण भूयो भूयश्च प्रज्वलन्।
सप्तकृत्वः प्रशमितः खाण्डवे हव्यवाहनः ॥ ८३ ॥

इस तरह खाण्डववनमें अग्निने बार-बार प्रज्वलित होकर सात बार उसे जलानेका प्रयास किया; परंतु प्रतिबार वहाँके निवासियोंने उन्हें बुझा दिया ॥ ८३ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि अग्निपराभवे द्वाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें अग्निपराभवविषयक दो सौ बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२२ ॥

त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अर्जुनका अग्निकी प्रार्थना स्वीकार करके उनसे दिव्य धनुष एवं रथ आदि माँगना

वैशम्पायन उवाच

स तु नैराश्यमापन्नः सदा ग्लानिसमन्वितः।
पितामहमुपागच्छत् संक्रुद्धो हव्यवाहनः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! अपनी असफलतासे अग्निदेवको बड़ी निराशा हुई । वे सदा ग्लानिमें डूबे रहने लगे और कुपित हो पितामह ब्रह्माजीके पास गये ॥ १॥

तच्च सर्वं यथान्यायं ब्रह्मणे संन्यवेदयत्।
उवाच चैनं भगवान् मुहूर्तं स विचिन्त्य तु ॥ २ ॥

वहाँ उन्होंने ब्रह्माजीसे सब बातें यथोचित रीतिसे कह सुनायीं । तब भगवान् ब्रह्माजी दो घड़ीतक विचार करके उनसे बोले—॥ २ ॥

उपायः परिदृष्टो मे यथा त्वं धक्ष्यसेऽनघ।
कालं च कंचित् क्षमतां ततस्त्वं धक्ष्यसेऽनल ॥ ३ ॥

'अनघ ! तुम जिस प्रकार खाण्डववनको जलाओगे, वह उपाय तो मुझे सूझ गया है; किंतु उसके लिये तुम्हें कुछ समयतक प्रतीक्षा करनी पड़ेगी । अनल ! इसके बाद तुम खाण्डववनको जला सकोगे ॥ ३ ॥

भविष्यतः सहायौ ते नरनारायणौ तदा।
ताभ्यां त्वं सहितो दावं धक्ष्यसे हव्यवाहन ॥ ४ ॥

'हव्यवाहन ! उस समय नर और नारायण तुम्हारे सहायक होंगे । उन दोनोंके साथ रहकर तुम उस वनको जला सकोगे' ॥ ४ ॥

एवमस्त्विति तं वह्निर्ब्रह्माणं प्रत्यभाषत।
सम्भूतौ तौ विदित्वा तु नरनारायणावृषी ॥ ५ ॥
कालस्य महतो राजंस्तस्य वाक्यं स्वयम्भुवः।
अनुस्मृत्य जगामाथ पुनरेव पितामहम् ॥ ६ ॥

तब अग्निने ब्रह्माजीसे कहा—'अच्छा, ऐसा ही सही।' तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् नर-नारायण ऋषियोंके अवतीर्ण होनेकी बात जानकर अग्निदेवको ब्रह्माजीकी बातका स्मरण हुआ । राजन् ! तब वे पुनः ब्रह्माजीके पास गये ॥ ५-६ ॥

अब्रवीच्च तदा ब्रह्मा यथा त्वं धक्ष्यसेऽनल।
खाण्डवं दावमद्यैव मिषतोऽस्य शचीपतेः ॥ ७ ॥

उस समय ब्रह्माजीने कहा— 'अनल ! अब जिस प्रकार तुम इन्द्रके देखते-देखते अभी खाण्डववन जला सकोगे, वह उपाय सुनो ॥ ७ ॥

नरनारायणौ यौ तौ पूर्वदेवौ विभावसो।
सम्प्राप्तौ मानुषे लोके कार्यार्थं हि दिवौकसाम् ॥ ८ ॥

'विभावसो ! आदिदेव नर और नारायण मुनि इस

समय देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये मनुष्यलोकमें अवतीर्ण हुए हैं ॥ ८ ॥

अर्जुनं वासुदेवं च यौ तौ लोकोऽभिमन्यते।
तावेतौ सहितावेहि खाण्डवस्य समीपतः ॥ ९ ॥

'यहाँके लोग उन्हें अर्जुन और वासुदेवके नामसे जानते हैं। वे दोनों इस समय खाण्डववनके पास ही एक साथ बैठे हैं ॥ ९ ॥

तौ त्वं याचस्व साहाय्ये दाहार्थं खाण्डवस्य च।
ततो धक्ष्यसि तं दावं रक्षितं त्रिदशैरपि ॥ १० ॥

'उन दोनोंसे तुम खाण्डववन जलानेके कार्यमें सहायताकी याचना करो। तब तुम इन्द्रादि देवताओंसे रक्षित होनेपर भी उस वनको जला सकोगे ॥ १० ॥

तौ तु सत्त्वानि सर्वाणि यत्नतो वारयिष्यतः।
देवराजं च सहितौ तत्र मे नास्ति संशयः ॥ ११ ॥

'वे दोनों वीर एक साथ होनेपर यत्नपूर्वक वनके सारे जीवोंको भी रोकेंगे और देवराज इन्द्रका भी सामना करेंगे, मुझे इसमें कोई संशय नहीं है' ॥ ११ ॥

एतच्छ्रुत्वा तु वचनं त्वरितो हव्यवाहनः।
कृष्णपार्थावुपागम्य यमर्थं त्वभ्यभाषत ॥ १२ ॥
तं ते कथितवानस्मि पूर्वमेव नृपोत्तम।
तच्छ्रुत्वा वचनं त्वग्नेर्बीभत्सुर्जातवेदसम् ॥ १३ ॥
अब्रवीन्नृपशार्दूल तत्कालसदृशं वचः।
दिधक्षुं खाण्डवं दावमकामस्य शतक्रतोः ॥ १४ ॥

नृपश्रेष्ठ! यह सुनकर हव्यवाहनने तुरंत श्रीकृष्ण और अर्जुनके पास आकर जो कार्य निवेदन किया, वह मैं तुम्हें पहले ही बता चुका हूँ। जनमेजय! अग्निका वह कथन सुनकर अर्जुनने इन्द्रकी इच्छाके विरुद्ध खाण्डववन जलानेकी अभिलाषा रखनेवाले जातवेदा अग्निसे उस समयके अनुकूल यह बात कही ॥

अर्जुन उवाच

उत्तमास्त्राणि मे सन्ति दिव्यानि च बहूनि च।
यैरहं शक्नुयां योद्धुमपि वज्रधरान् बहून् ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले—भगवन्! मेरे पास बहुत-से दिव्य एवं उत्तम अस्त्र तो हैं, जिनके द्वारा मैं एक क्या, अनेक वज्रधारियोंसे युद्ध कर सकता हूँ ॥ १५ ॥

धनुर्मे नास्ति भगवन् बाहुवीर्येण सम्मितम्।
कुर्वतः समरे यत्नं वेगं यद् विषहेन्मम ॥ १६ ॥

परंतु मेरे पास मेरे बाहुबलके अनुरूप धनुष नहीं है, जो समरभूमिमें युद्धके लिये प्रयत्न करते समय मेरा वेग सह सके ॥ १६ ॥

शरैश्च मेऽर्थो बहुभिरक्षयैः क्षिप्रमस्यतः।
न हि वोढुं रथः शक्तः शरान् मम यथेप्सितान् ॥ १७ ॥

इसके सिवा शीघ्रतापूर्वक बाण चलाते रहनेके लिये मुझे इतने अधिक बाणोंकी आवश्यकता होगी, जो कभी समाप्त न हों तथा मेरी इच्छाके अनुरूप बाणोंको ढोनेके लिये शक्तिशाली रथ भी मेरे पास नहीं है ॥ १७ ॥

अश्वांश्च दिव्यानिच्छेयं पाण्डुरान् वातरंहसः।
रथं च मेघनिर्घोषं सूर्यप्रतिमतेजसम् ॥ १८ ॥
तथा कृष्णस्य वीर्येण नायुधं विद्यते समम्।
येन नागान् पिशाचांश्च निहन्यान्माधवो रणे ॥ १९ ॥

मैं वायुके समान वेगवान् श्वेत वर्णके दिव्य अश्व तथा मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाला एवं सूर्यके समान तेजस्वी रथ चाहता हूँ। इसी प्रकार इन भगवान् श्रीकृष्णके बल-पराक्रमके अनुसार कोई आयुध इनके पास भी नहीं है, जिससे ये नागों और पिशाचोंको युद्धमें मार सकें ॥ १८-१९ ॥

उपायं कर्मसिद्धौ च भगवन् वक्तुमर्हसि।
निवारयेयं येनेन्द्रं वर्षमाणं महावने ॥ २० ॥

भगवन्! इस कार्यकी सिद्धिके लिये जो उपाय हो, वह मुझे बताइये, जिससे मैं इस महान् वनमें जल बरसाते हुए इन्द्रको रोक सकूँ ॥ २० ॥

पौरुषेण तु यत् कार्यं तत् कर्तारौ स्व पावक।
करणानि समर्थानि भगवन् दातुमर्हसि ॥ २१ ॥

भगवन् अग्निदेव! पुरुषार्थसे जो कार्य हो सकता है, उसे हमलोग करनेके लिये तैयार हैं; किंतु इसके लिये सुदृढ़ साधन जुटा देनेकी कृपा आपको करनी चाहिये ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि अर्जुनाग्निसंवादे त्रयोविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें अर्जुन-अग्निसंवादविषयक दो सौ तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२३ ॥

चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

अग्निदेवका अर्जुन और श्रीकृष्णको दिव्य धनुष, अक्षय तरकस, दिव्य रथ और चक्र आदि प्रदान करना तथा उन दोनोंकी सहायतासे खाण्डववनको जलाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स भगवान् धूमकेतुर्हुताशनः।
चिन्तयामास वरुणं लोकपालं दिदृक्षया ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके ऐसा कहनेपर धूमरूपी ध्वजासे सुशोभित होनेवाले भगवान् हुताशनने दर्शनकी इच्छासे लोकपाल वरुणका चिन्तन किया ॥ १ ॥

आदित्यमुदके देवं निवसन्तं जनेश्वरम्।
स च तच्चिन्तितं ज्ञात्वा दर्शयामास पावकम्॥ २॥

अदितिके पुत्र, जलके स्वामी और सदा जलमें ही निवास करनेवाले उन वरुणदेवने, अग्निदेवने मेरा चिन्तन किया है, यह जानकर तत्काल उन्हें दर्शन दिया॥ २॥

तमब्रवीद् धूमकेतुः प्रतिगृह्य जलेश्वरम्।
चतुर्थं लोकपालानां देवदेवं सनातनम्॥ ३॥

चौथे लोकपाल सनातन देवदेव जलेश्वर वरुणका स्वागत-सत्कार करके धूमकेतु अग्निने उनसे कहा—॥ ३॥

सोमेन राज्ञा यद् दत्तं धनुश्चैवेषुधी च ते।
तत् प्रयच्छोभयं शीघ्रं रथं च कपिलक्षणम्॥ ४॥

'वरुणदेव! राजा सोमने आपको जो दिव्य धनुष और अक्षय तरकस दिये हैं, वे दोनों मुझे शीघ्र दीजिये। साथ ही कपियुक्त ध्वजासे सुशोभित रथ भी प्रदान कीजिये॥ ४॥

कार्यं च सुमहत् पार्थो गाण्डीवेन करिष्यति।
चक्रेण वासुदेवश्च तन्ममाद्य प्रदीयताम्॥ ५॥

'आज कुन्तीपुत्र अर्जुन गाण्डीव धनुषके द्वारा और भगवान् वासुदेव चक्रके द्वारा मेरा महान् कार्य सिद्ध करेंगे; अतः वह सब आज मुझे दे दीजिये'॥ ५॥

ददानीत्येव वरुणः पावकं प्रत्यभाषत।
तदद्भुतं महावीर्यं यशःकीर्तिविवर्धनम्॥ ६॥
सर्वशस्त्रैरनाधृष्यं सर्वशस्त्रप्रमाथि च।
सर्वायुधमहामात्रं परसैन्यप्रधर्षणम्॥ ७॥
एकं शतसहस्रेण सम्मितं राष्ट्रवर्धनम्।
चित्रमुच्चावचैर्वर्णैः शोभितं श्लक्ष्णमव्रणम्॥ ८॥
देवदानवगन्धर्वैः पूजितं शाश्वतीः समाः।
प्रादाच्चैव धनूरत्नमक्षय्ये च महेषुधी॥ ९॥

तब वरुणने अग्निदेवसे 'अभी देता हूँ' ऐसा कहकर वह धनुषोंमें रत्नके समान गाण्डीव तथा बाणोंसे भरे हुए दो अक्षय एवं बड़े तरकस भी दिये। वह धनुष अद्भुत था। उसमें बड़ी शक्ति थी और वह यश एवं कीर्तिको बढ़ानेवाला था। किसी भी अस्त्र-शस्त्रसे वह टूट नहीं सकता था और दूसरे सब शस्त्रोंको नष्ट कर डालनेकी शक्ति उसमें मौजूद थी। उसका आकार सभी आयुधोंसे बढ़कर था। शत्रुओंकी सेनाको विदीर्ण करनेवाला वह एक ही धनुष दूसरे लाख धनुषों-के बराबर था। वह अपने धारण करनेवालेके राष्ट्रको बढ़ानेवाला एवं विचित्र था। अनेक प्रकारके रंगोंसे उसकी शोभा होती थी। वह चिकना और छिद्रसे रहित था। देवताओं, दानवों और गन्धर्वोंने अनन्त वर्षोंतक उसकी पूजा की थी॥ ६—९॥

रथं च दिव्याश्वयुजं कपिप्रवरकेतनम्।
उपेतं राजतैरश्वैर्गान्धर्वैर्हेममालिभिः॥ १०॥

इसके सिवा वरुणने दिव्य घोड़ोंसे जुता हुआ एक रथ भी प्रस्तुत किया, जिसकी ध्वजापर श्रेष्ठ कपि विराजमान था। उसमें जुते हुए अश्वोंका रंग चाँदीके समान सफेद था। वे सभी घोड़े गन्धर्वदेशमें उत्पन्न तथा सोनेकी मालाओंसे विभूषित थे॥ १०॥

पाण्डुराभ्रप्रतीकाशैर्मनोवायुसमैर्जवे।
सर्वोपकरणैर्युक्तमजय्यं देवदानवैः॥ ११॥

उनकी कान्ति सफेद बादलोंकी-सी जान पड़ती थी। वे वेगमें मन और वायुकी समानता करते थे। वह रथ सम्पूर्ण आवश्यक वस्तुओंसे युक्त तथा देवताओं और दानवोंके लिये भी अजेय था॥ ११॥

भानुमन्तं महाघोषं सर्वरत्नमनोरमम्।
ससर्ज यं सुतपसा भौमनो भुवनप्रभुः॥ १२॥
प्रजापतिरनिर्देश्यं यस्य रूपं रवेरिव।
यं स्म सोमः समारुह्य दानवानजयत् प्रभुः॥ १३॥

उससे तेजोमयी किरणें छिटकती थीं। उसके चलनेपर सब ओर बड़े जोरकी आवाज गूँज उठती थी। वह रथ सब प्रकारके रत्नोंसे जटित होनेके कारण बड़ा मनोरम जान पड़ता था। सम्पूर्ण जगत्के स्वामी प्रजापति विश्वकर्माने बड़ी भारी तपस्याके द्वारा उस रथका निर्माण किया था। उस सूर्यके समान तेजस्वी रथका 'इदमित्थम्' रूपसे वर्णन नहीं हो सकता था। पूर्वकालमें शक्तिशाली सोम (चन्द्रमा) ने उसी रथपर आरूढ़ हो दानवोंपर विजय पायी थी॥ १२-१३॥

नवमेघप्रतीकाशं ज्वलन्तमिव च श्रिया।
आश्रितौ तं रथश्रेष्ठं शक्रायुधसमावुभौ॥ १४॥

वह रथ नूतन मेघके समान प्रतीत होता था और अपनी दिव्य शोभासे प्रज्वलित-सा हो रहा था। इन्द्रधनुषके समान कान्तिवाले श्रीकृष्ण और अर्जुन उस श्रेष्ठ रथके समीप गये॥

तापनीया सुरुचिरा ध्वजयष्टिरनुत्तमा।
तस्यां तु वानरो दिव्यः सिंहशार्दूलकेतनः॥ १५॥

उस रथका ध्वजदण्ड बड़ा सुन्दर और सुवर्णमय था। उसके ऊपर सिंह और व्याघ्रके समान भयंकर आकृतिवाला दिव्य वानर बैठा था॥ १५॥

दिधक्षन्निव तत्र स्म संस्थितो मूर्ध्न्यशोभत।
ध्वजे भूतानि तत्रासन् विविधानि महान्ति च॥ १६॥
नादेन रिपुसैन्यानां येषां संज्ञा प्रणश्यति।

उस रथके शिखरपर बैठा हुआ वह वानर ऐसा जान पड़ता था, मानो शत्रुओंको भस्म कर डालना चाहता हो। उस ध्वजमें और भी नाना प्रकारके बड़े भयंकर प्राणी रहते थे, जिनकी आवाज सुनकर शत्रुसैनिकोंके होश उड़ जाते थे॥ १६½॥

स तं नानापताकाभिः शोभितं रथसत्तमम् ॥ १७ ॥
प्रदक्षिणमुपावृत्य दैवतेभ्यः प्रणम्य च।
संनद्धः कवची खड्गी बद्धगोधाङ्गुलित्रकः ॥ १८ ॥
आरुरोह तदा पार्थो विमानं सुकृती यथा।

वह श्रेष्ठ रथ भाँति-भाँतिकी पताकाओंसे सुशोभित हो रहा था। अर्जुनने कमर कस ली, कवच और तलवार बाँध ली, दस्ताने पहन लिये तथा रथकी परिक्रमा और देवताओंको प्रणाम करके वे उसपर आरूढ़ हुए, ठीक वैसे ही, जैसे कोई पुण्यात्मा विमानपर बैठता है ॥ १७–१८½ ॥

तच्च दिव्यं धनुः श्रेष्ठं ब्रह्मणा निर्मितं पुरा ॥ १९ ॥
गाण्डीवमुपसंगृह्य बभूव मुदितोऽर्जुनः।
हुताशनं पुरस्कृत्य ततस्तदपि वीर्यवान् ॥ २० ॥
जग्राह बलमास्थाय ज्यया च युयुजे धनुः।
मौर्व्यां तु योज्यमानायां बलिना पाण्डवेन ह ॥ २१ ॥
येऽशृण्वन् कूजितं तत्र तेषां वै व्यथितं मनः।

तदनन्तर, पूर्वकालमें ब्रह्माजीने जिसका निर्माण किया था, उस दिव्य एवं श्रेष्ठ गाण्डीव धनुषको हाथमें लेकर अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए। पराक्रमी धनंजयने अग्निदेवको सामने रखकर उस धनुषको हाथमें उठाया और बल लगाकर उसपर प्रत्यञ्चा चढ़ा दी। महाबली पाण्डुकुमारके उस धनुषपर प्रत्यञ्चा चढ़ाते समय जिन लोगोंने उसकी टङ्कार सुनी, उनका हृदय व्यथित हो उठा ॥ १९–२१½ ॥

लब्ध्वा रथं धनुश्चैव तथाक्षय्ये महेषुधी ॥ २२ ॥
बभूव कल्यः कौन्तेयः प्रहृष्टः साह्यकर्मणि।
वज्रनाभं ततश्चक्रं ददौ कृष्णाय पावकः ॥ २३ ॥

वह रथ, धनुष तथा अक्षय तरकस पाकर कुन्तीनन्दन अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हो अग्निकी सहायता करनेमें समर्थ हो गये। तदनन्तर पावकने भगवान् कृष्णको एक चक्र दिया, जिसका मध्यभाग वज्रके समान था ॥ २२-२३ ॥

आग्नेयमस्त्रं दयितं स च कल्योऽभवत् तदा।
अब्रवीत् पावकश्चैवमेतेन मधुसूदन ॥ २४ ॥
अमानुषानपि रणे जेष्यसि त्वमसंशयम्।
अनेन तु मनुष्याणां देवानामपि चाहवे ॥ २५ ॥
रक्षःपिशाचदैत्यानां नागानां चाधिकस्तथा।
भविष्यसि न संदेहः प्रवरोऽपि निबर्हणे ॥ २६ ॥

उस अग्निप्रदत्त प्रिय अस्त्र चक्रको पाकर भगवान् श्रीकृष्ण भी उस समय सहायताके लिये समर्थ हो गये। उनसे अग्निदेवने कहा—'मधुसूदन ! इस चक्रके द्वारा आप युद्धमें अमानव प्राणियोंको भी जीत लेंगे, इसमें संशय नहीं है। इसके होनेसे आप युद्धमें मनुष्यों, देवताओं, राक्षसों, पिशाचों, दैत्यों और नागोंसे भी अधिक शक्तिशाली होंगे तथा इन सबका संहार करनेमें भी निःसंदेह सर्वश्रेष्ठ सिद्ध होंगे ॥ २४-२६ ॥

क्षिप्तं क्षिप्तं रणे चैतत् त्वया माधव शत्रुषु।
हत्वाप्रतिहतं संख्ये पाणिमेष्यति ते पुनः ॥ २७ ॥

'माधव ! युद्धमें आप जब-जब इसे शत्रुओंपर चला
तब-तब यह उन्हें मारकर और स्वयं किसी अस्त्रसे प्रति
होकर पुनः आपके हाथमें आ जायगा' ॥ २७ ॥

वरुणश्च ददौ तस्मै गदामशनिनिःस्वनाम्।
दैत्यान्तकरणीं घोरां नाम्ना कौमोदकीं प्रभुः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् भगवान् वरुणने भी बिजलीके समान कड़ाहट पैदा करनेवाली कौमोदकी नामक गदा भगवान्को की, जो दैत्योंका विनाश करनेवाली और भयंकर थी ॥ २८ ॥

ततः पावकमब्रूतां प्रहृष्टावर्जुनाच्युतौ।
कृतास्त्रौ शस्त्रसम्पन्नौ रथिनौ ध्वजिनावपि ॥ २९ ॥
कल्यौ स्वो भगवन् योद्धुमपि सर्वैः सुरासुरैः।
किं पुनर्वज्रिणैकेन पन्नगार्थे युयुत्सता ॥ ३० ॥

इसके बाद अस्त्रविद्याके ज्ञाता एवं शस्त्रसम्पन्न और श्रीकृष्णने प्रसन्न होकर अग्निदेवसे कहा—'भगवन् ! अब हम दोनों रथ और ध्वजासे युक्त हो सम्पूर्ण देवताओं तथा असुरोंसे भी युद्ध करनेमें समर्थ हो गये हैं; फिर नागके लिये युद्धकी इच्छा रखनेवाले अकेले वज्रधारी इन्द्रसे युद्ध करना क्या बड़ी बात है ?' ॥ २९-३० ॥

अर्जुन उवाच

चक्रपाणिर्हृषीकेशो विचरन् युधि वीर्यवान्।
चक्रेण भस्मसात् सर्वं विसृष्टेन तु वीर्यवान्।
त्रिषु लोकेषु तन्नास्ति यन्न कुर्याज्जनार्दनः ॥ ३१ ॥

अर्जुन बोले—अग्निदेव ! सबकी इन्द्रियोंके प्रेरक महापराक्रमी जनार्दन जब हाथमें चक्र लेकर युद्धमें विचरेंगे, उस समय त्रिलोकीमें ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है, जिसे चक्रके प्रहारसे भस्म न कर सकें ॥ ३१ ॥

गाण्डीवं धनुरादाय तथाक्षय्ये महेषुधी।
अहमप्युत्सहे लोकान् विजेतुं युधि पावक ॥ ३२ ॥

पावक ! मैं भी यह गाण्डीव धनुष और ये दोनों बड़े अक्षय तरकस लेकर सम्पूर्ण लोकोंको युद्धमें जीत लेनेका उत्साह रखता हूँ ॥ ३२ ॥

सर्वतः परिवार्यैवं दावमेतं महाप्रभो।
कामं सम्प्रज्वलाद्यैव कल्यौ स्वः साह्यकर्मणि ॥ ३३ ॥

महाप्रभो ! अब आप इस सम्पूर्ण वनको चारों ओरसे घेरकर आज ही इच्छानुसार जलाइये। हम आपकी सहायताके लिये तैयार हैं ॥ ३३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः स भगवान् दाशार्हेणार्जुनेन च।
तैजसं रूपमास्थाय दावं दग्धुं प्रचक्रमे ॥ ३४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! श्रीकृष्ण और अर्जुनके ऐसा कहनेपर भगवान् अग्निने तेजोमय रूप धारण करके खाण्डववनको सब ओरसे जलाना आरम्भ कर दिया ॥ ३४ ॥

सर्वतः परिवार्याथ सप्तार्चिर्ज्वलनस्तथा ।
ददाह खाण्डवं दावं युगान्तमिव दर्शयन् ॥ ३५ ॥

सात ज्वालामयी जिह्वाओंवाले अग्निदेव खाण्डववनको सब ओरसे घेरकर महाप्रलयका-सा दृश्य उपस्थित करते हुए जलाने लगे ॥ ३५ ॥

प्रतिगृह्य समाविश्य तद् वनं भरतर्षभ ।
मेघस्तनितनिर्घोषः सर्वभूतान्यकम्पयत् ॥ ३६ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उस वनको चारों ओरसे अपनी लपटोंमें लपेटकर और उसके भीतरी भागमें भी व्याप्त होकर अग्निदेव मेघकी गर्जनाके समान गम्भीर घोष करते हुए समस्त प्राणियोंको कँपाने लगे ॥ ३६ ॥

दह्यतस्तस्य च बभौ रूपं दावस्य भारत ।
मेरोरिव नगेन्द्रस्य कीर्णस्यांशुमतोंऽशुभिः ॥ ३७ ॥

भारत ! उस जलते हुए खाण्डववनका स्वरूप ऐसा जान पड़ता था, मानो सूर्यकी किरणोंसे व्याप्त पर्वतराज मेरुका सम्पूर्ण कलेवर उद्दीप्त हो उठा हो ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि गाण्डीवादिदाने चतुर्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें गाण्डीवादिदानविषयक दो सौ चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२४ ॥

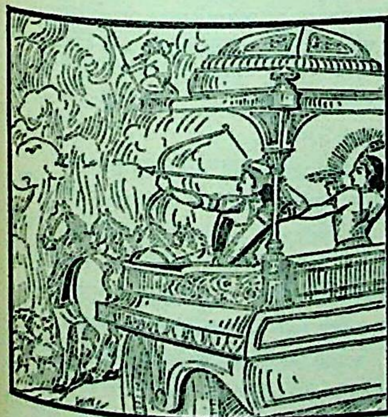
पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

खाण्डववनमें जलते हुए प्राणियोंकी दुर्दशा और इन्द्रके द्वारा जल बरसाकर आग बुझानेकी चेष्टा

वैशम्पायन उवाच

तौ रथाभ्यां रथश्रेष्ठौ दावस्योभयतः स्थितौ ।
दिक्षु सर्वासु भूतानां चक्राते कदनं महत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वे दोनों रथियोंमें श्रेष्ठ वीर दो रथोंपर बैठकर खाण्डववनके दोनों ओर खड़े हो गये और सब दिशाओंमें घूम-घूमकर प्राणियोंका महान् संहार करने लगे ॥ १ ॥



यत्र यत्र च दृश्यन्ते प्राणिनः खाण्डवालयाः ।
पलायन्तः प्रवीरौ तौ तत्र तत्राभ्यधावताम् ॥ २ ॥

खाण्डववनमें रहनेवाले प्राणी जहाँ-जहाँ भागते दिखायी देते, वहीं-वहीं वे दोनों प्रमुख वीर उनका पीछा करते ॥ २ ॥

छिद्रं न स्म प्रपश्यन्ति रथयोराशुचारिणोः ।
आविद्धाविव दृश्येते रथिनौ तौ रथोत्तमौ ॥ ३ ॥

(खाण्डववनके प्राणियोंको) शीघ्रतापूर्वक सब ओर दौड़नेवाले उन दोनों महारथियोंका छिद्र नहीं दिखायी देता था, जिससे वे भाग सकें। रथियोंमें श्रेष्ठ वे दोनों रथारूढ़ वीर अलातचक्रकी भाँति सब ओर घूमते हुए ही दीख पड़ते थे ॥ ३ ॥

खाण्डवे दह्यमाने तु भूताः शतसहस्रशः ।
उत्पेतुर्भैरवान् नादान् विनदन्तः समन्ततः ॥ ४ ॥

जब खाण्डववनमें आग फैल गयी और वह अच्छी तरह जलने लगा, उस समय लाखों प्राणी भयानक चीत्कार करते हुए चारों ओर उछलने-कूदने लगे ॥ ४ ॥

दग्धैकदेशा बहवो निष्टप्ताश्च तथापरे ।
स्फुटिताक्षा विशीर्णाश्च विप्लुताश्च तथापरे ॥ ५ ॥

बहुत-से प्राणियोंके शरीरका एक हिस्सा जल गया था, बहुतेरे आँचसे झुलस गये थे, कितनोंकी आँखें फूट गयी थीं और कितनोंके शरीर फट गये थे। ऐसी अवस्थामें भी सब भाग रहे थे ॥ ५ ॥

समालिङ्ग्य सुतानन्ये पितॄन् भ्रातॄनथापरे ।
त्यक्तुं न शेकुः स्नेहेन तत्रैव निधनं गताः ॥ ६ ॥

कोई अपने पुत्रोंको छातीसे चिपकाये हुए थे, कुछ प्राणी अपने पिता और भाइयोंसे सटे हुए थे। वे स्नेहवश एक दूसरेको छोड़ न सके और वहीं कालके गालमें समा गये ॥ ६ ॥

संदष्टदशनाश्चान्ये समुत्पेतुरनेकशः ।
ततस्तेऽतीव घूर्णन्तः पुनरग्नौ प्रपेदिरे ॥ ७ ॥

कुछ जानवर दाँत कटकटाते, बार-बार उछलते-कूदते और अत्यन्त चक्कर काटते हुए फिर आगमें ही पड़ जाते थे ॥ ७ ॥

दग्धपक्षाक्षिचरणा विचेष्टन्तो महीतले।
तत्र तत्र स्म दृश्यन्ते विनश्यन्तः शरीरिणः ॥ ८ ॥

कितने ही पक्षी पाँख, आँख और पञ्जोंके जल जानेसे धरतीपर गिरकर छटपटा रहे थे। स्थान-स्थानपर मरणोन्मुख जीव-जन्तु दृष्टिगोचर हो रहे थे ॥ ८ ॥

जलाशयेषु तप्तेषु क्वाथ्यमानेषु वह्निना।
गतसत्त्वाः स्म दृश्यन्ते कूर्ममत्स्याः समन्ततः ॥ ९ ॥

जलाशय आगसे तपकर काढ़ेकी भाँति खौल रहे थे। उनमें रहनेवाले कछुए और मछली आदि जीव सब ओर निर्जीव दिखायी देते थे ॥ ९ ॥

शरीरैरपरे दीप्तैर्देहवन्त इवाग्नयः।
अदृश्यन्त वने तत्र प्राणिनः प्राणिसंक्षये ॥ १० ॥

प्राणियोंके संहारस्थल बने हुए उस वनमें कितने ही प्राणी अपने जलते हुए अङ्गोंसे मूर्तिमान् अग्निके समान दीख पड़ते थे ॥ १० ॥

कांश्चिदुत्पततः पार्थः शरैः संछिद्य खण्डशः।
पातयामास विहगान् प्रदीप्ते वसुरेतसि ॥ ११ ॥

अर्जुनने कितने ही उड़ते हुए पक्षियोंको अपने बाणोंसे टुकड़े-टुकड़े करके प्रज्वलित आगमें झोंक दिया ॥ ११ ॥

ते शराचितसर्वाङ्गा निनदन्तो महारवान्।
ऊर्ध्वमुत्पत्य वेगेन निपेतुः खाण्डवे पुनः ॥ १२ ॥

पहले तो पक्षी बड़े वेगसे ऊपरको उड़ते, परंतु बाणोंसे सारा अङ्ग छिद जानेपर जोर-जोरसे आर्तनाद करते हुए पुनः खाण्डववनमें ही गिर पड़ते थे ॥ १२ ॥

शरैरभ्याहतानां च संघशः स वनौकसाम्।
विरावः शुश्रुवे घोरः समुद्रस्येव मथ्यतः ॥ १३ ॥

बाणोंसे घायल हुए झुंड-के-झुंड वनवासी जीवोंका भयानक चीत्कार समुद्र-मन्थनके समय होनेवाले जल जन्तुओंके करुण क्रन्दनके समान जान पड़ता था ॥ १३ ॥

वह्नेश्चापि प्रदीप्तस्य खमुत्पेतुर्महार्चिषः।
जनयामासुरुद्वेगं सुमहान्तं दिवौकसाम् ॥ १४ ॥

प्रज्वलित अग्निकी बड़ी-बड़ी लपटें आकाशमें ऊपरकी ओर उठने और देवताओंके मनमें बड़ा भारी भय उत्पन्न करने लगीं ॥ १४ ॥

तेनार्चिषा सुसंतप्ता देवाः सर्षिपुरोगमाः।
ततो जग्मुर्महात्मानः सर्व एव दिवौकसः।
शतक्रतुं सहस्राक्षं देवेशमसुरार्दनम् ॥ १५ ॥

उस लपटसे संतप्त हुए देवता और महर्षि आदि सभी देवलोकवासी महात्मा असुरोंका नाश करनेवाले देवराज सहस्राक्ष इन्द्रके पास गये ॥ १५ ॥

देवा ऊचुः

किं न्विमे मानवाः सर्वे दह्यन्ते चित्रभानुना।
कच्चिन्न संक्षयः प्राप्तो लोकानाममरेश्वर ॥ १६ ॥

देवता बोले—अमरेश्वर! अग्निदेव इन सब मनुष्योंको क्यों जला रहे हैं? कहीं संसारका प्रलय तो नहीं आ गया! ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा वृत्रहा तेभ्यः स्वयमेवान्ववेक्ष्य च।
खाण्डवस्य विमोक्षार्थं प्रययौ हरिवाहनः ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवताओंकी यह सुनकर वृत्रासुरका नाश करनेवाले इन्द्र स्वयं वह सब देखकर खाण्डववनको आगके भयसे छुड़ानेके लिये चले ॥ १७ ॥

महता रथवृन्देन नानारूपेण वासवः।
आकाशं समवाकीर्य प्रववर्ष सुरेश्वरः ॥ १८ ॥

उन्होंने अपने साथ अनेक प्रकारके विशाल रथ ले लिये और आकाशमें स्थित हो देवताओंके स्वामी वे इन्द्र जलकी वर्षा करने लगे ॥ १८ ॥

ततोऽक्षमात्रा व्यसृजन् धाराः शतसहस्रशः।
चोदिता देवराजेन जलदाः खाण्डवं प्रति ॥ १९ ॥

देवराज इन्द्रसे प्रेरित होकर मेघ रथके धुरेके समान मोटी-मोटी असंख्य धाराएँ खाण्डववनमें गिराने लगे ॥ १९ ॥

असम्प्राप्तास्तु ता धारास्तेजसा जातवेदसः।
ख एव समशुष्यन्त न काश्चित् पावकं गताः ॥ २० ॥

परंतु अग्निके तेजसे वे धाराएँ वहाँ पहुँचनेसे पहले आकाशमें ही सूख जाती थीं। अग्नितक कोई धारा पहुँची ही नहीं ॥ २० ॥

ततो नमुचिहा क्रुद्धो भृशमर्चिष्मतस्तदा।
पुनरेव महामेघैरम्भांसि व्यसृजद् बहु ॥ २१ ॥

तब नमुचिनाशक इन्द्रदेव अग्निपर अत्यन्त कुपित हो पुनः बड़े-बड़े मेघोंद्वारा बहुत जलकी वर्षा कराने लगे ॥ २१ ॥

अर्चिर्धाराभिसम्बद्धं धूमविद्युत्समाकुलम्।
बभूव तद् वनं घोरं स्तनयित्नुसमाकुलम् ॥ २२ ॥

आगकी लपटों और जलकी धाराओंसे संयुक्त हो उस वनमें धुआँ उठने लगा। सब ओर बिजली चमकने लगी और चारों ओर मेघोंकी गड़गड़ाहटका शब्द गूँज उठा। इस प्रकार खाण्डववनकी दशा बड़ी भयंकर हो गयी ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि इन्द्रक्रोधे पञ्चविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें इन्द्रक्रोधविषयक दो सौ पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२५ ॥

षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवताओं आदिके साथ श्रीकृष्ण और अर्जुनका युद्ध

वैशम्पायन उवाच

तस्याथ वर्षतो वारि पाण्डवः प्रत्यवारयत्।
शरवर्षेण बीभत्सुरुत्तमास्त्राणि दर्शयन्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वर्षा करते हुए इन्द्रकी उस जलधाराको पाण्डुकुमार अर्जुनने अपने उत्तम अस्त्रका प्रदर्शन करते हुए बाणोंकी बौछारसे रोक दिया॥१॥

खाण्डवं च वनं सर्वं पाण्डवो बहुभिः शरैः।
आच्छादयदमेयात्मा नीहारेणेव चन्द्रमाः॥ २॥

अमित आत्मबलसे सम्पन्न पाण्डव अर्जुनने बहुत-से बाणोंकी वर्षा करके सारे खाण्डववनको ढँक दिया, जैसे कुहरा चन्द्रमाको ढक देता है॥ २॥

न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः।
संछाद्यमाने खे बाणैरस्यता सव्यसाचिना॥ ३॥

सव्यसाची अर्जुनके चलाये हुए बाणोंसे सारा आकाश छा गया था; इसलिये कोई भी प्राणी उस वनसे निकल नहीं पाता था॥ ३॥

तक्षकस्तु न तत्रासीन्नागराजो महाबलः।
दह्यमाने वने तस्मिन् कुरुक्षेत्रं गतो हि सः॥ ४॥

जब खाण्डववन जलाया जा रहा था, उस समय महाबली नागराज तक्षक वहाँ नहीं था, कुरुक्षेत्र चला गया था॥

अश्वसेनोऽभवत् तत्र तक्षकस्य सुतो बली।
स यत्नमकरोत् तीव्रं मोक्षार्थं जातवेदसः॥ ५॥

परंतु तक्षकका बलवान् पुत्र अश्वसेन वहीं रह गया था। उसने उस आगसे अपनेको छुड़ानेके लिये बड़ा भारी प्रयत्न किया॥ ५॥

न शशाक स निर्गन्तुं निरुद्धोऽर्जुनपत्रिभिः।
मोक्षयामास तं माता निगीर्य भुजगात्मजा॥ ६॥

किंतु अर्जुनके बाणोंसे रुँध जानेके कारण वह बाहर निकल न सका। उसकी माता सर्पिणीने उसे निगलकर उस आगसे बचाया॥ ६॥

तस्य पूर्वं शिरो ग्रस्तं पुच्छमस्य निगीर्य च।
निगीर्यमाणा साक्रामत् सुतं नागी मुमुक्षया॥ ७॥

उसने पहले उसका मस्तक निगल लिया। फिर धीरे-धीरे पूँछतकका भाग निगल गयी। निगलते-निगलते ही उस नागिनने पुत्रको बचानेके लिये आकाशमें उड़कर निकल भागनेकी चेष्टा की॥ ७॥

तस्याः शरेण तीक्ष्णेन पृथुधारेण पाण्डवः।
शिरश्चिच्छेद गच्छन्त्यास्तामपश्यच्छचीपतिः॥ ८॥

परंतु पाण्डुकुमार अर्जुनने मोटी धारवाले तीखे बाणसे उस भागती हुई सर्पिणीका मस्तक काट दिया। शचीपति इन्द्रने उसकी यह अवस्था अपनी आँखों देखी॥ ८॥

तं मुमोचयिषुर्वज्री वातवर्षेण पाण्डवम्।
मोहयामास तत्कालमश्वसेनस्त्वमुच्यत॥ ९॥

तब उसे छुड़ानेकी इच्छासे वज्रधारी इन्द्रने आँधी और वर्षा चलाकर पाण्डुकुमार अर्जुनको उस समय मोहित कर दिया। इतनेमें ही तक्षकका पुत्र अश्वसेन उस संकटसे मुक्त हो गया॥ ९॥

तां च मायां तदा दृष्ट्वा घोरां नागेन वञ्चितः।
द्विधा त्रिधा च खगतान् प्राणिनः पाण्डवोऽच्छिनत्॥१०॥

तब उस भयानक मायाको देखकर नागसे ठगे गये पाण्डुपुत्र अर्जुनने आकाशमें उड़नेवाले प्राणियोंके दो-दो तीन-तीन टुकड़े कर डाले॥ १०॥

शशाप तं च संक्रुद्धो बीभत्सुर्जिह्मगामिनम्।
पावको वासुदेवश्चाप्यप्रतिष्ठो भविष्यसि॥ ११॥

फिर क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने टेढ़ी चालसे चलनेवाले उस नागको शाप दिया—'अरे! तू आश्रयहीन हो जायगा।' अग्नि और श्रीकृष्णने भी उसका अनुमोदन किया॥ ११॥

ततो जिष्णुः सहस्राक्षं खं वितत्याशुगैः शरैः।
योधयामास संक्रुद्धो वञ्चनां तामनुस्मरन्॥ १२॥

तदनन्तर अपने साथ की हुई वञ्चनाको बार-बार स्मरण करके क्रोधमें भरे हुए अर्जुनने शीघ्रगामी बाणोंद्वारा आकाशको आच्छादित करके इन्द्रके साथ युद्ध छेड़ दिया॥ १२॥

देवराजोऽपि तं दृष्ट्वा संरब्धं समरेऽर्जुनम्।
स्वमस्त्रमसृजत् तीव्रं छादयित्वाखिलं नभः॥ १३॥

देवराजने भी अर्जुनको युद्धमें कुपित देख सम्पूर्ण आकाशको आच्छादित करते हुए अपने दुस्सह अस्त्र (ऐन्द्रास्त्र) को प्रकट किया॥ १३॥

ततो वायुर्महाघोषः क्षोभयन् सर्वसागरान्।
वियत्स्थो जनयन् मेघाञ्जलधारासमाकुलान्॥ १४॥

फिर तो बड़ी भारी आवाजके साथ प्रचण्ड वायु चलने लगी। उसने समस्त समुद्रोंको क्षुब्ध करते हुए आकाशमें स्थित हो मुसलधार पानी बरसानेवाले मेघोंको उत्पन्न किया॥

ततोऽशनिमुचो घोरांस्तडित्स्तनितनिःस्वनान्।
तद्विघातार्थमसृजदर्जुनोऽप्यस्त्रमुत्तमम्॥ १५॥
वायव्यमभिमन्त्र्याथ प्रतिपत्तिविशारदः।
तेनेन्द्राशनिमेघानां वीर्यौजस्तद् विनाशितम्॥ १६॥

ये भयंकर मेघ बिजलीकी कड़कड़ाहटके साथ धरतीपर वज्र गिराने लगे। उस अस्त्रके प्रतीकारकी विद्यामें कुशल अर्जुनने उन मेघोंको नष्ट करनेके लिये अभिमन्त्रित करके वायव्य नामक उत्तम अस्त्रका प्रयोग किया। उस अस्त्रने इन्द्रके छोड़े हुए वज्र और मेघोंका ओज एवं बल नष्ट कर दिया ॥ १५-१६ ॥

जलधाराश्च ताः शोषं जग्मुर्नेशुश्च विद्युतः।
क्षणेन चाभवद् व्योम सम्प्रशान्तरजस्तमः ॥ १७ ॥

जलकी वे सारी धाराएँ सूख गयीं और बिजलियाँ भी नष्ट हो गयीं। क्षणभरमें आकाश धूल और अन्धकारसे रहित हो गया ॥ १७ ॥

सुखशीतानिलवहं प्रकृतिस्थार्कमण्डलम्।
निष्प्रतीकारहृष्टश्च हुतभुग् विविधाकृतिः ॥ १८ ॥
सिच्यमानो वसौघैस्तैः प्राणिनां देहनिःसृतैः।
प्रजज्वालाथ सोऽर्चिष्मान् स्वनादैः पूरयञ्जगत् ॥ १९ ॥

सुखदायिनी शीतल हवा चलने लगी। सूर्यमण्डल स्वाभाविक स्थितिमें दिखायी देने लगा। अग्निदेव प्रतीकार-शून्य होनेके कारण बहुत प्रसन्न हुए और अनेक रूपोंमें प्रकट हो प्राणियोंके शरीरसे निकली हुई वसाके समूहसे अभिषिक्त होकर बड़ी-बड़ी लपटोंके साथ प्रज्वलित हो उठे। उस समय अपनी आवाजसे वे सम्पूर्ण जगत्‌को व्याप्त कर रहे थे ॥ १८-१९ ॥

कृष्णाभ्यां रक्षितं दृष्ट्वा तं च दावमहंकृताः।
समुत्पेतुर्महाराज सुपर्णाद्याः पतत्त्रिणः ॥ २० ॥

महाराज! उस खाण्डववनको श्रीकृष्ण और अर्जुनसे सुरक्षित देख अहंकारसे युक्त सुन्दर पंख आदि अङ्गोंवाले पक्षी आकाशमें उड़ने लगे ॥ २० ॥

गरुत्मान् वज्रसदृशैः पक्षतुण्डनखैस्तथा।
प्रहर्तुकामो न्यपतदाकाशात् कृष्णपाण्डवौ ॥ २१ ॥

एक गरुडजातीय[1] पक्षी वज्रके समान पाँख, चोंच और पंजोंसे प्रहार करनेकी इच्छा रखकर आकाशसे श्रीकृष्ण और अर्जुनकी ओर झपटा ॥ २१ ॥

तथैवोरगसंघाताः पाण्डवस्य समीपतः।
उत्सृजन्तो विषं घोरं निपेतुर्ज्वलिताननाः ॥ २२ ॥

इसी प्रकार प्रज्वलित मुखवाले नागोंके समुदाय भी पाण्डव अर्जुनके समीप भयानक जहर उगलते हुए उनकी ओर टूट पड़े ॥ २२ ॥

तांश्चकर्त शरैः पार्थः सरोषाग्निसमुक्षितैः।
विविशुश्चापि तं दीप्तं देहाभावाय पावकम् ॥ २३ ॥

यह देख अर्जुनने रोषाग्निप्रेरित बाणोंद्वारा उन सबके टुकड़े-टुकड़े कर डाले और वे सभी अपने शरीरको भस्म करनेके लिये उस जलती हुई आगमें समा गये ॥ २३ ॥

ततोऽसुराः सगन्धर्वा यक्षराक्षसपन्नगाः।
उत्पेतुर्नादमतुलमुत्सृजन्तो रणार्थिनः ॥ २४ ॥

तत्पश्चात् असुर, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और नाग युद्धके लिये उत्सुक हो अनुपम गर्जना करते हुए वहाँ दौड़े आये ॥ २४ ॥

अयःकणपचक्राश्मभुशुण्ड्युद्यतबाहवः।
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः क्रोधसम्मूर्छितौजसः ॥ २५ ॥

किन्हींके हाथमें लोहेकी गोली छोड़नेवाले यन्त्र (तोप, बंदूक आदि) थे और कुछ लोगोंने हाथोंमें चक्र, पत्थर, भुशुण्डी उठा रखी थी। क्रोधाग्निसे बढ़े हुए तेजबलसे सम्पन्न वे-के-सब श्रीकृष्ण और अर्जुनको मार डालना चाहते थे ॥ २५ ॥

तेषामतिव्याहरतां शस्त्रवर्षं प्रमुञ्चताम्।
प्रममाथोत्तमाङ्गानि बीभत्सुर्निशितैः शरैः ॥ २६ ॥

वे लोग बड़ी-बड़ी डींग हाँकते हुए अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा करने लगे। उस समय अर्जुनने अपने तीखे बाणोंसे उन सबके सिर उड़ा दिये ॥ २६ ॥

कृष्णश्च सुमहातेजाश्चक्रेणारिविनाशनः।
दैत्यदानवसंघानां चकार कदनं महत् ॥ २७ ॥

शत्रुविनाशन महातेजस्वी श्रीकृष्णने भी चक्रद्वारा दैत्यों और दानवोंके समुदायका महान् संहार कर दिया ॥ २७ ॥

अथापरे शरैर्विद्धाश्चक्रवेगेरितास्तथा।
वेलामिव समासाद्य व्यतिष्ठन्नमितौजसः ॥ २८ ॥

फिर दूसरे-दूसरे अमित तेजस्वी दैत्य-दानव बाणोंसे घायल और चक्रवेगसे कम्पित हो तटपर आकर रुक जानेवाली समुद्रकी लहरोंके समान एक सीमातक ही ठहर गये, आगे न बढ़ सके ॥ २८ ॥

ततः शक्रोऽतिसंक्रुद्धस्त्रिदशानां महेश्वरः।
पाण्डुरं गजमास्थाय तावुभौ समुपाद्रवत् ॥ २९ ॥

तब देवताओंके महाराज इन्द्र श्वेत ऐरावतपर आरूढ़ हो अत्यन्त क्रोधपूर्वक उन दोनोंकी ओर दौड़े ॥ २९ ॥

वेगेनाशनिमादाय वज्रमस्त्रं च सोऽसृजत्।
हतावेताविति प्राह सुरानसुरसूदनः ॥ ३० ॥

असुरसूदन इन्द्रने बड़े वेगसे अशनि-रूप अपना वज्र उठाकर चला दिया और देवताओंसे कहा 'लो—ये दोनों मारे गये'॥ ३० ॥

ततः समुद्यतां दृष्ट्वा देवेन्द्रेण महाशनिम्।
जगृहुः सर्वशस्त्राणि स्वानि स्वानि सुरास्तथा ॥ ३१ ॥

देवराज इन्द्रको वह महान् वज्र उठाये देख देवताओंने भी अपने-अपने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्र ले लिये ॥ ३१ ॥

कालदण्डं यमो राजन् गदां चैव धनेश्वरः।
पाशांश्च तत्र वरुणो विचित्रां च तथाशनिम् ॥ ३२ ॥

[1] यह विष्णुवाहन गरुडसे भिन्न था।

राजन् ! यमराजने कालदण्ड, कुबेरने गदा तथा वरुणने पाश और विचित्र वज्र हाथमें ले लिये ॥ ३२ ॥

स्कन्दः शक्तिं समादाय तस्थौ मेरुरिवाचलः।
ओषधीर्दीप्यमानाश्च जगृहातेऽश्विनावपि ॥ ३३ ॥

देवताओंके सेनापति स्कन्द शक्ति हाथमें लेकर मेरु पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े हो गये। दोनों अश्विनीकुमारोंने भी चमकीली ओषधियाँ उठा लीं ॥ ३३ ॥

जगृहे च धनुर्धाता मुसलं तु जयस्तथा।
पर्वतं चापि जग्राह क्रुद्धस्त्वष्टा महाबलः ॥ ३४ ॥

धाताने धनुष लिया और जयने मुसल, क्रोधमें भरे हुए महाबली त्वष्टाने पर्वत उठा लिया ॥ ३४ ॥

अंशस्तु शक्तिं जग्राह मृत्युर्देवः परश्वधम्।
प्रगृह्य परिघं घोरं विचचारार्यमा अपि ॥ ३५ ॥

अंशने शक्ति हाथमें ले ली और मृत्युदेवने फरसा। अर्यमा भी भयानक परिघ लेकर युद्धके लिये विचरने लगे ॥

मित्रश्च क्षुरपर्यन्तं चक्रमादाय तस्थिवान्।
पूषा भगश्च संक्रुद्धः सविता च विशाम्पते ॥ ३६ ॥
आत्तकार्मुकनिस्त्रिंशाः कृष्णपार्थौ प्रदुद्रुवुः।

मित्र देवता जिसके किनारोंपर छुरे लगे हुए थे, वह चक्र लेकर खड़े हो गये। महाराज ! पूषा, भग और क्रोधमें भरे हुए सविता धनुष और तलवार लेकर श्रीकृष्ण और अर्जुनपर टूट पड़े ॥ ३६½ ॥

रुद्राश्च वसवश्चैव मरुतश्च महाबलाः ॥ ३७ ॥
विश्वेदेवास्तथा साध्या दीप्यमानाः स्वतेजसा।
एते चान्ये च बहवो देवास्तौ पुरुषोत्तमौ ॥ ३८ ॥
कृष्णपार्थौ जिघांसन्तः प्रतीयुर्विविधायुधाः।

रुद्र, वसु, महाबली मरुद्गण, विश्वेदेव तथा अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाले साध्यगण—ये और दूसरे बहुत-से देवता नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्र लेकर उन पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे उनकी ओर बढ़े ॥ ३७-३८½ ॥

तत्राद्भुतान्यदृश्यन्त निमित्तानि महाहवे ॥ ३९ ॥
युगान्तसमरूपाणि भूतसम्मोहनानि च।
तथा दृष्ट्वा सुसंरब्धं शक्रं देवैः सहाच्युतौ ॥ ४० ॥
अभीतौ युधि दुर्धर्षौ तस्थतुः सज्जकार्मुकौ।

उस महासंग्राममें प्रलयकालके समान रूपवाले तथा प्राणियोंको मोहमें डाल देनेवाले अद्भुत अपशकुन दिखायी देने लगे। देवताओंसहित इन्द्रको रोषमें भरा देख अपनी महिमासे च्युत न होनेवाले निर्भय तथा दुर्धर्ष वीर श्रीकृष्ण और अर्जुन धनुष तानकर युद्धके लिये खड़े हो गये ॥ ३९-४०½ ॥

आगच्छतस्ततो देवानुभौ युद्धविशारदौ ॥ ४१ ॥
व्यताडयेतां संक्रुद्धौ शरैर्वज्रोपमैस्तदा।

तदनन्तर वे दोनों युद्धकुशल वीर कुपित हो अपने वज्रोपम बाणोंद्वारा वहाँ आते हुए देवताओंको घायल करने लगे ॥ ४१½ ॥

असकृद् भग्नसंकल्पाः सुराश्च बहुशः कृताः ॥ ४२ ॥
भयाद् रणं परित्यज्य शक्रमेवाभिशिश्रियुः।

बहुत-से देवता बार-बार प्रयत्न करनेपर भी कभी सफलमनोरथ न हो सके। उनकी आशा टूट गयी और वे भयके मारे युद्ध छोड़कर इन्द्रकी ही शरणमें चले गये ॥ ४२½ ॥

दृष्ट्वा निवारितान् देवान् माधवेनार्जुनेन च ॥ ४३ ॥
आश्चर्यमगमंस्तत्र मुनयो नभसि स्थिताः।

श्रीकृष्ण और अर्जुनके द्वारा देवताओंकी गति कुण्ठित हुई देख आकाशमें खड़े हुए महर्षिगण बड़े आश्चर्यमें पड़ गये ॥ ४३½ ॥

शक्रश्चापि तयोर्वीर्यमुपलभ्यासकृद् रणे ॥ ४४ ॥
बभूव परमप्रीतो भूयश्चैतावयोधयत्।

इन्द्र भी उस युद्धमें बार-बार उन दोनों वीरोंका पराक्रम देख बड़े प्रसन्न हुए और पुनः उन दोनोंके साथ युद्ध करने लगे ॥ ४४½ ॥

ततोऽश्मवर्षं सुमहद् व्यसृजत् पाकशासनः ॥ ४५ ॥
भूय एव तदा वीर्यं जिज्ञासुः सव्यसाचिनः।

तदनन्तर इन्द्रने सव्यसाची अर्जुनके पराक्रमकी परीक्षा लेनेके लिये पुनः उनपर पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ की॥४५½॥

तच्छरैरर्जुनो वर्षं प्रतिजघ्नेऽत्यमर्षितः ॥ ४६ ॥
विफलं क्रियमाणं तत् समवेक्ष्य शतक्रतुः।
भूयः संवर्धयामास तद्वर्षं पाकशासनः ॥ ४७ ॥

अर्जुनने अत्यन्त अमर्षमें भरकर अपने बाणोंद्वारा वह सारी वर्षा नष्ट कर दी। सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करनेवाले पाकशासन इन्द्रने उस पत्थरोंकी वर्षाको विफल हुई देख पुनः पत्थरोंकी बड़ी भारी वर्षा की ॥ ४६-४७ ॥

सोऽश्मवर्षं महावेगैरिषुभिः पाकशासनिः।
विलयं गमयामास हर्षयन् पितरं तथा ॥ ४८ ॥

यह देख इन्द्रकुमार अर्जुनने अपने पिताका हर्ष बढ़ाते हुए महान् वेगशाली बाणोंद्वारा पत्थरोंकी उस वृष्टिको फिर विलीन कर दिया ॥ ४८ ॥

तत उत्पाट्य पाणिभ्यां मन्दराच्छिखरं महत्।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः पाण्डुनन्दनम् ॥ ४९ ॥

इसके बाद इन्द्रने पाण्डुनन्दन अर्जुनको मारनेके लिये अपने दोनों हाथोंसे एक पर्वतका महान् शिखर वृक्षोंसहित उखाड़ लिया और उसे उनके ऊपर चलाया ॥ ४९ ॥

ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलिताग्रैरजिह्मगैः ।
शरैर्विध्वंसयामास गिरेः श्रृङ्गं सहस्रधा ॥ ५० ॥

यह देख अर्जुनने प्रज्वलित नोकवाले वेगवान् एवं सीधे जानेवाले बाणोंद्वारा उस पर्वत-शिखरको हजारों टुकड़े करके गिरा दिया ॥ ५० ॥

गिरेर्विशीर्यमाणस्य तस्य रूपं तदा बभौ ।
सार्कचन्द्रग्रहस्येव नभसः परिशीर्यतः ॥ ५१ ॥

छिन्न-भिन्न होकर गिरता हुआ वह पर्वत ऐसा जान पड़ता था मानो सूर्य-चन्द्रमा आदि आकाशसे टूटकर गिर रहे हों ॥ ५१ ॥

तेनाभिपतिता दावं शैलेन महता भृशम् ।
श्रृङ्गेण निहतास्तत्र प्राणिनः खाण्डवालयाः ॥ ५२ ॥

वहाँ गिरे हुए उस महान् पर्वतशिखरके द्वारा खाण्डववनमें निवास करनेवाले बहुत-से प्राणी मारे गये ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि खाण्डवदाहपर्वणि देवकृष्णार्जुनयुद्धे षड्विंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत खाण्डवदाहपर्वमें देवताओंके साथ श्रीकृष्ण और अर्जुनके युद्धसे सम्बन्ध रखनेवाला दो सौ छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२६ ॥

(मयदर्शनपर्व)

सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

देवताओंकी पराजय, खाण्डववनका विनाश और मयासुरकी रक्षा

वैशम्पायन उवाच

तथा शैलनिपातेन भीषिताः खाण्डवालयाः ।
दानवा राक्षसा नागास्तरक्ष्वृक्षवनौकसः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार पर्वत-शिखरके गिरनेसे खाण्डववनमें रहनेवाले दानव, राक्षस, नाग, चीते तथा रीछ आदि वनचर प्राणी भयभीत हो उठे ॥ १ ॥

द्विपाः प्रभिन्नाः शार्दूलाः सिंहाः केसरिणस्तथा ।
मृगाश्च महिषाश्चैव शतशः पक्षिणस्तथा ॥ २ ॥
समुद्विग्ना विससृपुस्तथान्या भूतजातयः ।

मदकी धारा बहानेवाले हाथी, शार्दूल, केसरी, सिंह, मृग, भैंस, सैकड़ों पक्षी तथा दूसरी-दूसरी जातिके प्राणी अत्यन्त उद्विग्न हो इधर-उधर भागने लगे ॥ २½ ॥

तं दावं समुदैक्षन्त कृष्णौ चाभ्युद्यतायुधौ ॥ ३ ॥
उत्पातनादशब्देन त्रासिता इव च स्थिताः ।
ते वनं प्रसमीक्ष्याथ दह्यमानमनेकधा ॥ ४ ॥
कृष्णमभ्युद्यतास्त्रं च नादं मुमुचुरुल्बणम् ।

उन्होंने उस जलते हुए वनको और मारनेके लिये अस्त्र उठाये श्रीकृष्ण तथा अर्जुनको देखा । उत्पात और आर्तनादके शब्दसे उस वनमें खड़े हुए वे सभी प्राणी संत्रस्त-से हो उठे थे । उस वनको अनेक प्रकारसे दग्ध होते देख और अस्त्र उठाये हुए श्रीकृष्णपर दृष्टि डाल भयानक आर्तनाद करने लगे ॥ ३-४½ ॥

तेन नादेन रौद्रेण नादेन च विभावसोः ॥ ५ ॥
ररास गगनं कृत्स्नमुत्पातजलदैरिव ।

उस भयंकर आर्तनाद और अग्निदेवकी गर्जनासे वहाँ का सम्पूर्ण आकाश मानो उत्पातकालिक मेघोंकी गर्जनासे गूँज रहा था ॥ ५½ ॥

ततः कृष्णो महाबाहुः स्वतेजोभास्वरं महत् ॥ ६ ॥
चक्रं व्यसृजदत्युग्रं तेषां नाशाय केशवः ।

तब महाबाहु श्रीकृष्णने अपने तेजसे प्रकाशित होनेवाले उस अत्यन्त भयंकर महान् चक्रको उन दैत्य आदि प्राणियोंके विनाशके लिये छोड़ा ॥ ६½ ॥

तेनार्ता जातयः क्षुद्राः सदानवनिशाचराः ॥ ७ ॥
निकृत्ताः शतशः सर्वा निपेतुरनलं क्षणात् ।

उस चक्रके प्रहारसे पीड़ित हो दानव, निशाचर आदि समस्त क्षुद्र प्राणी सौ-सौ टुकड़े होकर क्षणभरमें आगमें गिर गये ॥ ७½ ॥

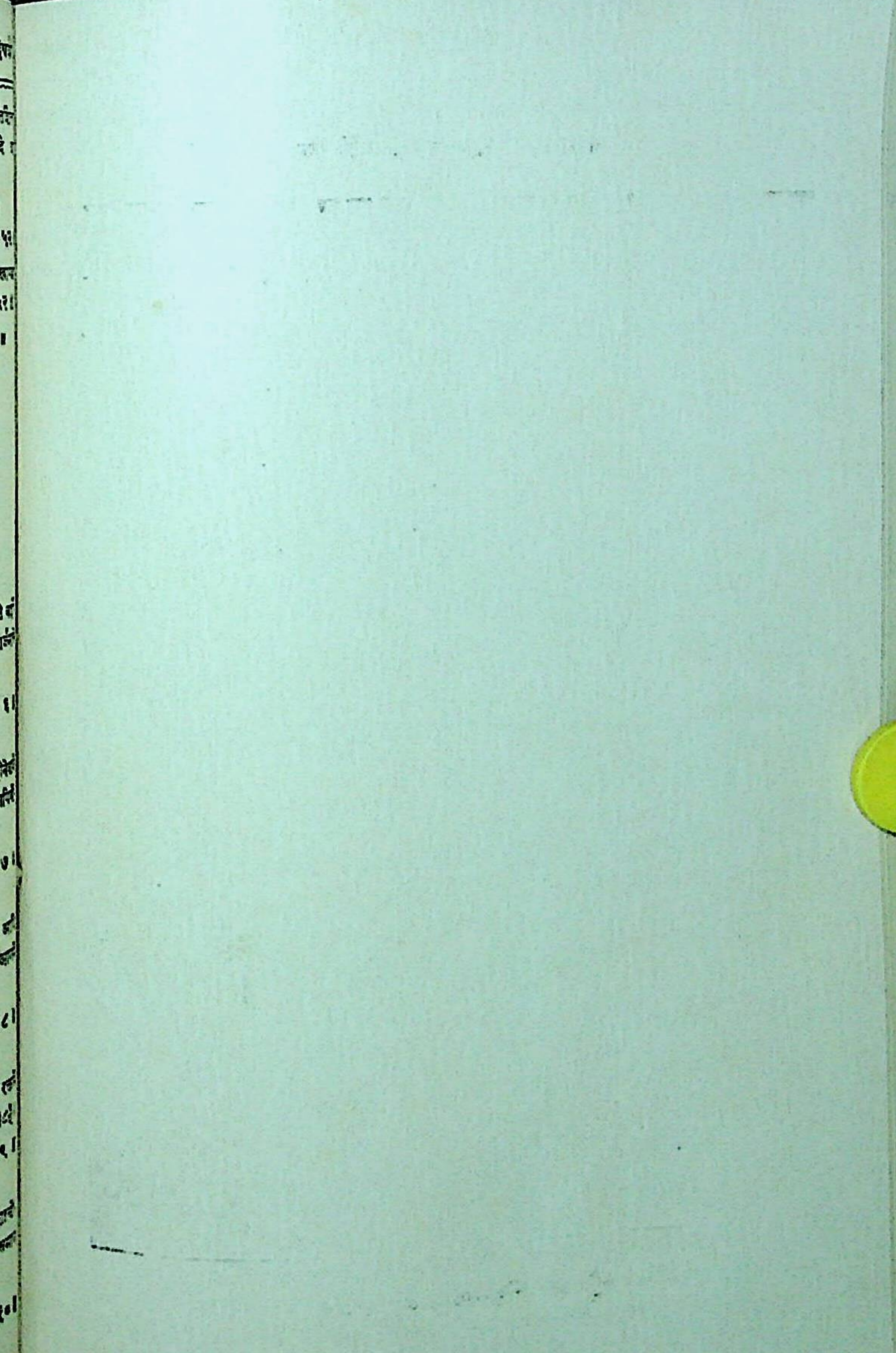
तत्रादृश्यन्त ते दैत्याः कृष्णचक्रविदारिताः ॥ ८ ॥
वसारुधिरसम्पृक्ताः संध्यायामिव तोयदाः ।

श्रीकृष्णके चक्रसे विदीर्ण हुए दैत्य मेदा तथा रक्तसे सनकर संध्याकालके मेघोंकी भाँति दिखायी देने लगे ॥ ८½ ॥

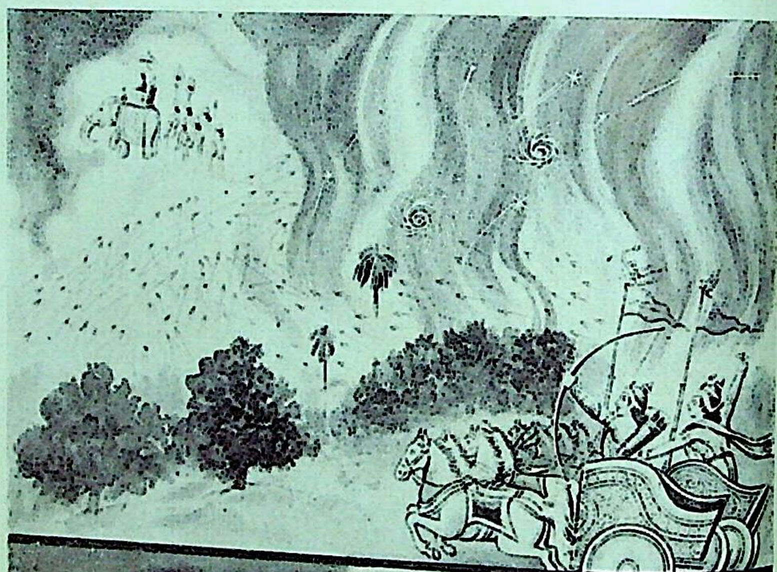
पिशाचान् पक्षिणो नागान् पशूंश्चैव सहस्रशः ॥ ९ ॥
निघ्नंश्चरति वार्ष्णेयः कालवत् तत्र भारत ।

भारत ! भगवान् श्रीकृष्ण वहाँ सहस्रों पिशाचों, पक्षियों, नागों तथा पशुओंका वध करते हुए कालके समान विचर रहे थे ॥ ९½ ॥

क्षिप्तं क्षिप्तं पुनश्चक्रं कृष्णस्यामित्रघातिनः ॥ १० ॥
छित्त्वानेकानि सत्त्वानि पाणिमेति पुनः पुनः ।



श्रीकृष्ण और अर्जुनका देवताओंसे युद्ध



अर्जुन और श्रीकृष्णको इन्द्रका वरदान

शत्रुघाती श्रीकृष्णके द्वारा बार-बार चलाया हुआ वह चक्र अनेक प्राणियोंका संहार करके पुनः उनके हाथमें चला आता था ॥ १०½ ॥

तथा तु निघ्नतस्तस्य पिशाचोरगराक्षसान् ॥ ११ ॥
बभूव रूपमत्युग्रं सर्वभूतात्मनस्तदा ।

इस प्रकार पिशाच, नाग तथा राक्षसोंका संहार करनेवाले सर्वभूतात्मा भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप उस समय बड़ा भयंकर जान पड़ता था ॥ ११½ ॥

समेतानां च सर्वेषां दानवानां च सर्वशः ॥ १२ ॥
विजेता नाभवत् कश्चित् कृष्णपाण्डवयोर्मृधे ।

वहाँ सब ओरसे सम्पूर्ण दानव एकत्र हो गये थे, तथापि उनमेंसे एक भी ऐसा नहीं निकला, जो युद्धमें श्रीकृष्ण और अर्जुनको जीत सके ॥ १२½ ॥

तयोर्बलात् परित्रातुं तं च दावं यदा सुराः ॥ १३ ॥
नाशक्नुवञ्छमयितुं तदाभूवन् पराङ्मुखाः ।

जब देवतालोग उन दोनोंके बलसे खाण्डववनकी रक्षा करने और उस आगको बुझानेमें सफल न हो सके, तब पीठ दिखाकर चल दिये ॥ १३½ ॥

शतक्रतुस्तु सम्प्रेक्ष्य विमुखानमरांस्तथा ॥ १४ ॥
बभूव मुदितो राजन् प्रशंसन् केशवार्जुनौ ।

राजन् ! शतक्रतु इन्द्र देवताओंको विमुख हुआ देख श्रीकृष्ण और अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए बड़े प्रसन्न हुए ॥ १४½ ॥

निवृत्तेष्वथ देवेषु वागुवाचाशरीरिणी ॥ १५ ॥
शतक्रतुं समाभाष्य महागम्भीरनिःस्वना ।

देवताओंके लौट जानेपर इन्द्रको सम्बोधित करके बड़े गम्भीर स्वरसे आकाशवाणी हुई—॥ १५½ ॥

न ते सखा संनिहितस्तक्षको भुजगोत्तमः ॥ १६ ॥
दाहकाले खाण्डवस्य कुरुक्षेत्रं गतो ह्यसौ ।

'वासव ! तुम्हारे सखा नागप्रवर तक्षक इस समय यहाँ नहीं हैं। वे खाण्डवदाहके समय कुरुक्षेत्र चले गये थे ॥ १६½ ॥

न च शक्यौ युधा जेतुं कथंचिदपि वासव ॥ १७ ॥
वासुदेवार्जुनावेतौ निबोध वचनान्मम ।
नरनारायणावेतौ पूर्वदेवौ दिवि श्रुतौ ॥ १८ ॥
भवानप्यभिजानाति यद्वीर्यौ यत्पराक्रमौ ।
नैतौ शक्यौ दुराधर्षौ विजेतुमजितौ युधि ॥ १९ ॥

'भगवान् वासुदेव तथा अर्जुनको किसी प्रकार युद्धसे जीता नहीं जा सकता। मेरे कहनेसे तुम इस बातको समझ लो। ये दोनों पहलेके देवता नर और नारायण हैं। देवलोकमें भी इनकी ख्याति है। इनका बल और पराक्रम कैसा है, यह तुम भी जानते हो। ये अपराजित और दुर्धर्ष वीर हैं। सम्पूर्ण लोकोंमें किसीके द्वारा भी ये युद्धमें जीते नहीं जा सकते ॥ १७—१९ ॥

अपि सर्वेषु लोकेषु पुराणावृषिसत्तमौ ।
पूजनीयतमावेतावपि सर्वैः सुरासुरैः ॥ २० ॥
यक्षराक्षसगन्धर्वनरकिंनरपन्नगैः ।

'ये दोनों पुरातन ऋषिश्रेष्ठ नर-नारायण सम्पूर्ण देवताओं, असुरों, यक्षों, राक्षसों, गन्धर्वों, मनुष्यों, किन्नरों तथा नागोंके लिये भी परम पूजनीय हैं ॥ २०½ ॥

तस्मादितः सुरैः सार्धं गन्तुमर्हसि वासव ॥ २१ ॥
दिष्टं चाप्यनुपश्यैतत् खाण्डवस्य विनाशनम् ।

'अतः इन्द्र ! तुम्हें देवताओंके साथ यहाँसे चले जाना ही उचित है। खाण्डववनके इस विनाशको तुम प्रारब्धका ही कार्य समझो' ॥ २१½ ॥

इति वाक्यमुपश्रुत्य तथ्यमित्यमरेश्वरः ॥ २२ ॥
क्रोधामर्षौ समुत्सृज्य सम्प्रतस्थे दिवं तदा ।

यह आकाशवाणी सुनकर देवराज इन्द्रने इसे ही सत्य माना और क्रोध तथा अमर्ष छोड़कर वे उसी समय स्वर्गलोकको लौट गये ॥ २२½ ॥

तं प्रस्थितं महात्मानं समवेक्ष्य दिवौकसः ॥ २३ ॥
सहिताः सेनया राजन्ननुजग्मुः पुरंदरम् ।

राजन् ! महात्मा इन्द्रको वहाँसे प्रस्थान करते देख समस्त स्वर्गवासी देवता सेनासहित उनके पीछे-पीछे चले गये ॥ २३½ ॥

देवराजं तदा यान्तं सह देवैरवेक्ष्य तु ॥ २४ ॥
वासुदेवार्जुनौ वीरौ सिंहनादं विनेदतुः ।

उस समय देवताओंसहित देवराज इन्द्रको जाते देख वीरवर श्रीकृष्ण और अर्जुनने सिंहनाद किया ॥ २४½ ॥

देवराजे गते राजन् प्रहृष्टौ केशवार्जुनौ ॥ २५ ॥
निर्विशङ्कं वनं वीरौ दाहयामासतुस्तदा ।

राजन् ! देवराजके चले जानेपर वीरवर केशव तथा अर्जुन अत्यन्त प्रसन्न हो उस समय बेखटके खाण्डववनका दाह कराने लगे ॥ २५½ ॥

स मारुत इवाभ्राणि नाशयित्वार्जुनः सुरान् ॥ २६ ॥
व्यधमच्छरसंघातैर्देहिनः खाण्डवालयान् ।

जैसे प्रबल वायु बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार अर्जुनने देवताओंको भगाकर अपने बाणोंके समुदायसे खाण्डववासी प्राणियोंको मारना आरम्भ किया ॥ २६½ ॥

न च स्म किंचिच्छक्नोति भूतं निश्चरितुं ततः ॥ २७ ॥
संछिद्यमानमिषुभिरस्यता सव्यसाचिना ।

सव्यसाची अर्जुनके बाण चलाते समय उनके बाणोंसे

कट जानेके कारण कोई भी जीव वहाँसे बाहर न निकल सका ॥

नाशक्नुवंश्च भूतानि महान्त्यपि रणेऽर्जुनम् ॥ २८ ॥
निरीक्षितुममोघास्त्रं योद्धुं चापि कुतो रणे।
शतं चैकेन विव्याध शतेनैकं पतत्रिणाम् ॥ २९ ॥

अमोघ अस्त्रधारी अर्जुनको उस समय बड़े-से-बड़े प्राणी देख भी न सके, फिर रणभूमिमें युद्ध तो कर ही कैसे सकते थे। वे कभी एक ही बाणसे सैकड़ोंको बींध डालते थे और कभी एकहीको सौ बाणोंसे घायल कर देते थे ॥ २८-२९ ॥

व्यसवस्तेऽपतन्नग्नौ साक्षात् कालहता इव।
न चालभन्त ते शर्म रोधस्सु विषमेषु च ॥ ३० ॥

वे सभी प्राणी प्राणशून्य होकर साक्षात् कालसे मारे हुएकी भाँति आगमें गिर पड़ते थे। वे वनके किनारे हों या दुर्गम स्थानोंमें हों, कहीं भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी ॥ ३० ॥

पितृदेवनिवासेषु संतापश्चाप्यजायत।
भूतसंघाश्च बहवो दीनाश्चक्रुर्महास्वनम् ॥ ३१ ॥

पितरों और देवताओंके लोकमें भी खाण्डववनके दाहकी गर्मी पहुँचने लगी। बहुतेरे प्राणियोंके समुदाय कातर हो जोर-जोरसे चीत्कार करने लगे ॥ ३१ ॥

रुरुदुर्वारणाश्चैव तथा मृगतरक्षवः।
तेन शब्देन वित्रेसुर्गङ्गोदधिचरा झषाः ॥ ३२ ॥

हाथी, मृग और चीते भी रोदन करते थे। उनके आर्तनादसे गङ्गा तथा समुद्रके भीतर रहनेवाले मत्स्य भी थर्रा उठे ॥ ३२ ॥

विद्याधरगणाश्चैव ये च तत्र वनौकसः।
न त्वर्जुनं महाबाहो नापि कृष्णं जनार्दनम् ॥ ३३ ॥
निरीक्षितुं वै शक्नोति कश्चिद् योद्धुं कुतः पुनः।

उस वनमें रहनेवाले जो विद्याधर-जातिके लोग थे, उनकी भी यही दशा थी। महाबाहो! उस समय कोई श्रीकृष्ण और अर्जुनकी ओर आँख उठाकर देख भी नहीं सकता था; फिर युद्ध करनेकी तो बात ही क्या है ॥ ३३½ ॥

एकायनगता येऽपि निष्पेतुस्तत्र केचन ॥ ३४ ॥
राक्षसा दानवा नागा जघ्ने चक्रेण तान् हरिः।

जो कोई राक्षस, दानव और नाग वहाँ एक साथ सङ्घ बनाकर निकलते थे, उन सबको भगवान् श्रीहरि चक्रद्वारा मार देते थे ॥ ३४½ ॥

ते तु भिन्नशिरोदेहाश्चक्रवेगाद् गतासवः ॥ ३५ ॥
पेतुरन्ये महाकायाः प्रदीप्ते वसुरेतसि।

वे तथा दूसरे विशालकाय प्राणी चक्रके वेगसे शरीर और मस्तक छिन्न-भिन्न हो जानेके कारण निर्जीव हो प्रज्व... आगमें गिर पड़ते थे ॥ ३५½ ॥

स मांसरुधिरौघैश्च वसाभिश्चापि तर्पितः ॥ ३...
उपर्याकाशगो भूत्वा विधूमः समपद्यत।
दीप्ताक्षो दीप्तजिह्वश्च सम्प्रदीप्तमहाननः ॥ ३...

इस प्रकार वनजन्तुओंके मांस, रुधिर और मे... समूहसे अत्यन्त तृप्त हो अग्निदेव ऊपर आकाशचारी हो... धूमरहित हो गये। उनकी आँखें चमक उठीं, जिह्वामें दी... आ गयी और उनका विशाल मुख भी अत्यन्त तेजसे प्रज्व... होने लगा ॥ ३६-३७ ॥

दीप्तोर्ध्वकेशः पिङ्गाक्षः पिबन् प्राणभृतां वसाम्।
तां स कृष्णार्जुनकृतां सुधां प्राप्य हुताशनः ॥ ३...
बभूव मुदितस्तृप्तः परां निर्वृतिमागतः।

उनके चमकीले केश ऊपरकी ओर उठे हुए थे, आँ... पिंगलवर्णकी थीं और वे प्राणियोंके मेदेका रस पी रहे थे... श्रीकृष्ण और अर्जुनका दिया हुआ वह इच्छानुसार भो... पाकर अग्निदेव बड़े प्रसन्न और पूर्ण तृप्त हो गये। उ... बड़ी शान्ति मिली ॥ ३८½ ॥

तथासुरं मयं नाम तक्षकस्य निवेशनात् ॥ ३...
विप्रद्रवन्तं सहसा ददर्श मधुसूदनः।

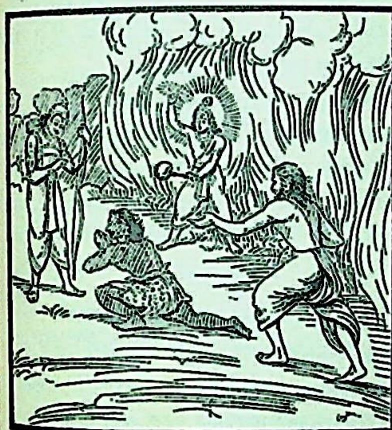
इसी समय तक्षकके निवासस्थानसे निकलकर ... भागते हुए मयासुरपर भगवान् मधुसूदनकी दृष्टि पड़ी ॥ ३...

तमग्निः प्रार्थयामास दिधक्षुर्वातसारथिः ॥ ४...
शरीरवाञ्जटी भूत्वा नदन्निव बलाहकः।

वातसारथि अग्निदेव मूर्तिमान् हो सिरपर जटा ... किये मेघके समान गर्जना करने लगे और उस असुरको ज... डालनेकी इच्छासे माँगने लगे ॥ ४०½ ॥

विज्ञाय दानवेन्द्राणां मयं वै शिल्पिनां वरम् ॥ ४...
जिघांसुर्वासुदेवस्तं चक्रमुद्यम्य धिष्ठितः।
स चक्रमुद्यतं दृष्ट्वा दिधक्षन्तं च पावकम् ॥ ४...
अभिधावार्जुनेत्येवं मयस्त्राहीति चाब्रवीत्।

मय दानवेन्द्रोंके शिल्पियोंमें श्रेष्ठ था, उसे पहचान... भगवान् वासुदेव उसका वध करनेके लिये चक्र लेकर ... हो गये। मयने देखा एक ओर मुझे मारनेके लिये चक्र ... है, दूसरी ओर अग्निदेव मुझे भस्म कर डालना चाहते ... तब वह अर्जुनकी शरणमें गया और बोला—'अर्जुन! दौ... मुझे बचाओ, बचाओ' ॥ ४१-४२½ ॥



तस्य भीतस्वनं श्रुत्वा मा भैरिति धनंजयः ॥ ४३ ॥
प्रत्युवाच मयं पार्थो जीवयन्निव भारत ।

भारत ! उसका भययुक्त स्वर सुनकर कुन्तीकुमार धनंजयने उसे जीवनदान देते हुए कहा—'डरो मत' ॥४३½॥

तं न भेतव्यमित्याह मयं पार्थो दयापरः ॥ ४४ ॥

अर्जुनके मनमें दया आ गयी थी, अतः उन्होंने मयासुरसे फिर कहा—'तुम्हें डरना नहीं चाहिये' ॥ ४४ ॥

तं पार्थेनाभये दत्ते नमुचेर्भ्रातरं मयम् ।
न हन्तुमैच्छद् दाशार्हः पावको न ददाह च ॥ ४५ ॥

अर्जुनके अभय-दान देनेपर भगवान् श्रीकृष्णने नमुचिके भ्राता मयासुरको मारनेकी इच्छा त्याग दी और अग्निदेवने भी उसे नहीं जलाया ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वनं पावको धीमान् दिनानि दश पञ्च च ।
ददाह कृष्णपार्थाभ्यां रक्षितः पाकशासनात् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—परम बुद्धिमान् अग्निदेवने श्रीकृष्ण और अर्जुनके द्वारा इन्द्रके आक्रमणसे सुरक्षित रहकर खाण्डववनको पंद्रह दिनोंतक जलाया ॥ ४६ ॥

तस्मिन् वने दह्यमाने षडग्निर्न ददाह च ।
अश्वसेनं मयं चैव चतुरः शार्ङ्गकांस्तथा ॥ ४७ ॥

उस वनके जलाये जाते समय अश्वसेन नाग, मयासुर तथा चार शार्ङ्गक नामवाले पक्षियोंको अग्निने नहीं जलाया ॥ ४७ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि मयदानवत्राणे सप्तविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें मयदानवकी रक्षाविषयक दो सौ सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२७ ॥

अष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः

शार्ङ्गकोपाख्यान मन्दपाल मुनिके द्वारा जरिता-शार्ङ्गिकासे पुत्रोंकी उत्पत्ति और उन्हें बचानेके लिये मुनिका अग्निदेवकी स्तुति करना

जनमेजय उवाच

किमर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तस्मिन् वने दह्यमाने ब्रह्मन्नेतत् प्रचक्ष्व मे ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन् ! इस प्रकार सारे वनके जलाये जानेपर भी अग्निदेवने उन चारों शार्ङ्गकोंको क्यों दग्ध नहीं किया ? यह मुझे बताइये ॥ १ ॥

अदाहे ह्यश्वसेनस्य दानवस्य मयस्य च ।
कारणं कीर्तितं ब्रह्मञ्छार्ङ्गकाणां न कीर्तितम् ॥ २ ॥

विप्रवर ! आपने अश्वसेन नाग तथा मयदानवके न जलनेका कारण तो बताया है; परंतु शार्ङ्गकोंके दग्ध न होनेका कारण नहीं कहा है ॥ २ ॥

तदेतदद्भुतं ब्रह्मञ्छार्ङ्गकाणामनामयम् ।
कीर्तयस्वाग्निसम्मर्दे कथं ते न विनाशिताः ॥ ३ ॥

ब्रह्मन् ! उस भयानक अग्निकाण्डमें उन शार्ङ्गकोंका सकुशल बच जाना, यह बड़े आश्चर्यकी बात है । कृपया बताइये, उनका नाश कैसे नहीं हुआ ? ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

यदर्थं शार्ङ्गकानग्निर्न ददाह तथागते ।
तत् ते सर्वं प्रवक्ष्यामि यथाभूतमरिंदम ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—शत्रुदमन जनमेजय ! वैसे भयंकर अग्निकाण्डमें भी अग्निदेवने जिस कारणसे शार्ङ्गकोंको दग्ध नहीं किया और जिस प्रकार वह घटना घटित हुई, वह सब मैं तुम्हें बताता हूँ, सुनो ॥ ४ ॥

धर्मज्ञानां मुख्यतमस्तपस्वी संशितव्रतः ।
आसीन्महर्षिः श्रुतवान् मन्दपाल इति श्रुतः ॥ ५ ॥

मन्दपाल नामसे विख्यात एक विद्वान् महर्षि थे । वे धर्मज्ञोंमें श्रेष्ठ और कठोर व्रतका पालन करनेवाले तपस्वी थे ॥ ५ ॥

स मार्गमाश्रितो राजन्नृषीणामूर्ध्वरेतसाम्।
स्वाध्यायवान् धर्मरतस्तपस्वी विजितेन्द्रियः ॥ ६ ॥

राजन्! ये ऊर्ध्वरेता मुनियोंके मार्ग (ब्रह्मचर्य) का आश्रय लेकर सदा वेदोंके स्वाध्यायमें संलग्न और धर्मपालनमें तत्पर रहते थे। उन्होंने सम्पूर्ण इन्द्रियोंको वशमें कर लिया था और वे सदा तपस्यामें ही लगे रहते थे ॥ ६ ॥

स गत्वा तपसः पारं देहमुत्सृज्य भारत।
जगाम पितृलोकाय न लेभे तत्र तत्फलम् ॥ ७ ॥

भारत! वे अपनी तपस्याको पूरी करके शरीरका त्याग करनेपर पितृलोकमें गये; किंतु वहाँ उन्हें अपने तप एवं सत्कर्मोंका फल नहीं मिला ॥ ७ ॥

स लोकानफलान् दृष्ट्वा तपसा निर्जितानपि।
पप्रच्छ धर्मराजस्य समीपस्थान् दिवौकसः ॥ ८ ॥

उन्होंने तपस्याद्वारा वशमें किये हुए लोकोंको भी निष्फल देखकर धर्मराजके पास बैठे हुए देवताओंसे पूछा ॥ ८ ॥

मन्दपाल उवाच

किमर्थमावृता लोका ममैते तपसार्जिताः।
किं मया न कृतं तत्र यस्यैतत् कर्मणः फलम् ॥ ९ ॥

मन्दपाल बोले—देवताओ! मेरी तपस्याद्वारा प्राप्त हुए ये लोक बंद क्यों हैं? (उपभोगके साधनोंसे शून्य क्यों हैं?) मैंने वहाँ कौन-सा सत्कर्म नहीं किया है, जिसका फल मुझे इस रूपमें मिला है ॥ ९ ॥

तत्राहं तत् करिष्यामि यदर्थमिदमावृतम्।
फलमेतस्य तपसः कथयध्वं दिवौकसः ॥ १० ॥

जिसके लिये इस तपस्याका फल ढका हुआ है, मैं उस लोकमें जाकर वह कर्म करूँगा। आपलोग मुझसे उसको बताइये ॥ १० ॥

देवा ऊचुः

ऋणिनो मानवा ब्रह्मन् जायन्ते येन तच्छृणु।
क्रियाभिर्ब्रह्मचर्येण प्रजया च न संशयः ॥ ११ ॥
तदपाक्रियते सर्वं यज्ञेन तपसा श्रुतैः।
तपस्वी यज्ञकृच्चासि न च ते विद्यते प्रजा ॥ १२ ॥

देवताओंने कहा—ब्रह्मन्! मनुष्य जिस ऋणसे ऋणी होकर जन्म लेते हैं, उसे सुनिये। यज्ञकर्म, ब्रह्मचर्य-पालन और प्रजाकी उत्पत्ति—इन तीनोंके लिये सभी मनुष्यों-पर ऋण रहता है, इसमें संशय नहीं है। यज्ञ, तपस्या और वेदाध्ययनके द्वारा वह सारा ऋण दूर किया जाता है। आप तपस्वी और यज्ञकर्ता तो हैं ही, आपके कोई संतान नहीं है ॥ ११-१२ ॥

त इमे प्रसवस्यार्थे तव लोकाः समावृताः।
प्रजायस्व ततो लोकानुपभोक्ष्यसि पुष्कलान् ॥ १३ ॥

अतः संतानके लिये ही आपके ये लोक ढके हु[ए हैं]। इसलिये पहले संतान उत्पन्न कीजिये, फिर अपने पुण्यलोकोंका फल भोगियेगा ॥ १३ ॥

पुंनाम्नो नरकात् पुत्रस्त्रायते पितरं श्रुतिः।
तस्मादपत्यसंताने यतस्व ब्रह्मसत्तम ॥ [१४ ॥]

श्रुतिका कथन है कि पुत्र 'पुत्' नामक नरकसे [पिताका] उद्धार करता है। अतः विप्रवर! आप अपनी वंशपर[म्परा]को अविच्छिन्न बनानेका प्रयत्न कीजिये ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा मन्दपालस्तु वचस्तेषां दिवौकसाम्।
क्व नु शीघ्रमपत्यं स्याद् बहुलं चेत्यचिन्तयत् ॥ [१५ ॥]

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! देवताओंका वह वचन सुनकर मन्दपालने बहुत सोचा-विचारा कि [कहाँ] जानेसे मुझे शीघ्र संतान होगी ॥ १५ ॥

स चिन्तयन्नभ्यगच्छत् सुबहुप्रसवान् खगान्।
शार्ङ्गिकां शार्ङ्गको भूत्वा जरितां समुपेयिवान् ॥ [१६ ॥]

यह सोचते हुए वे अधिक बच्चे देनेवाले प[क्षियोंके] यहाँ गये और शार्ङ्गक होकर जरिता नामवाली शा[र्ङ्गिकासे] सम्बन्ध स्थापित किया ॥ १६ ॥

तस्यां पुत्रानजनयच्चतुरो ब्रह्मवादिनः।
तानपास्य स तत्रैव जगाम लपितां प्रति ॥ [१७ ॥]
बालान् स तानण्डगतान् सह मात्रा मुनिर्वने।

जरिताके गर्भसे चार ब्रह्मवादी पुत्रोंको मुनिने [जन्म] दिया। अंडेमें पड़े हुए उन बच्चोंको मातासहित [वहीं] छोड़कर वे मुनि वनमें लपिताके पास चले गये ॥ १७ ॥

तस्मिन् गते महाभागे लपितां प्रति भारत ॥ [१८ ॥]
अपत्यस्नेहसंयुक्ता जरिता बह्वचिन्तयत्।

भारत! महाभाग मन्दपाल मुनिके लपिताके पास चले जानेपर संतानके प्रति स्नेहयुक्त जरिताको [बड़ी] चिन्ता हुई ॥ १८½ ॥

तेन त्यक्तानसंत्याज्यानृषीनण्डगतान् वने ॥ [१९ ॥]
न जहौ पुत्रशोकार्ता जरिता खाण्डवे सुतान्।
बभार चैतान् संजातान् स्ववृत्त्या स्नेहविक्लवा ॥ [२० ॥]

अंडेमें स्थित उन मुनियोंको यद्यपि मन्दपालने [त्याग] दिया था, तो भी वे त्यागने योग्य नहीं थे। अतः पुत्र[शोकसे] पीड़ित हुई जरिताने खाण्डववनमें अपने पुत्रोंको नहीं छो[ड़ा]। वह स्नेहसे विह्वल होकर अपनी वृत्तिद्वारा उन न[वजात] शिशुओंका भरण-पोषण करती रही ॥ १९-२० ॥

ततोऽग्निं खाण्डवं दग्धुमायान्तं दृष्टवानृषिः।
मन्दपालश्चरंस्तस्मिन् वने लपितया सह ॥ [२१ ॥]

उधर वनमें लपिताके साथ विचरते हुए मन्दपाल मुनिने अग्निदेवको खाण्डववनका दाह करनेके लिये आते देखा ॥

तं संकल्पं विदित्वाग्नेर्ज्ञात्वा पुत्रांश्च बालकान्।
सोऽभितुष्टाव विप्रर्षिर्ब्राह्मणो जातवेदसम् ॥ २२ ॥
पुत्रान् प्रति वदन् भीतो लोकपालं महौजसम्।

अग्निदेवके संकल्पको जानकर और अपने पुत्रोंकी बाल्यावस्थाका विचार करके ब्रह्मर्षि मन्दपाल भयभीत होकर महातेजस्वी लोकपाल अग्निसे अपने पुत्रोंकी रक्षाके लिये निवेदन करते हुए (ईश्वरकी भाँति) उनकी स्तुति करने लगे ॥ २२½ ॥

मन्दपाल उवाच

त्वमग्ने सर्वलोकानां मुखं त्वमसि हव्यवाट् ॥ २३ ॥

मन्दपालने कहा—अग्निदेव ! आप सब लोकोंके मुख हैं, आप ही देवताओंको हविष्य पहुँचाते हैं ॥ २३ ॥

त्वमन्तः सर्वभूतानां गूढश्चरसि पावक।
त्वामेकमाहुः कवयस्त्वामाहुस्त्रिविधं पुनः॥ २४ ॥

पावक ! आप समस्त प्राणियोंके अन्तस्तलमें गूढ़रूपसे विचरते हैं। विद्वान् पुरुष आपको एक (अद्वितीय ब्रह्मरूप) बताते हैं। फिर दिव्य, भौम और जठरानलरूपसे आपके त्रिविध स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं ॥ २४ ॥

त्वामष्टधा कल्पयित्वा यज्ञवाहमकल्पयन्।
त्वया विश्वमिदं सृष्टं वदन्ति परमर्षयः ॥ २५ ॥

आपको ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और यजमान—इन आठ मूर्तियोंमें विभक्त करके ज्ञानी पुरुषोंने आपको यज्ञवाहन बनाया है। महर्षि कहते हैं कि इस सम्पूर्ण विश्वकी सृष्टि आपने ही की है ॥ २५ ॥

त्वदृते हि जगत् कृत्स्नं सद्यो नश्येद्धुताशन।
तुभ्यं कृत्वा नमो विप्राः स्वकर्मविजितां गतिम्॥ २६ ॥
गच्छन्ति सह पत्नीभिः सुतैरपि च शाश्वतीम्।

हुताशन ! आपके बिना सम्पूर्ण जगत् तत्काल नष्ट हो जायगा। ब्राह्मणलोग आपको नमस्कार करके अपनी पत्नियों और पुत्रोंके साथ कर्मानुसार प्राप्त की हुई सनातन गतिको प्राप्त होते हैं ॥ २६½ ॥

त्वामग्ने जलदानाहुः खे विषक्तान् सविद्युतः ॥ २७ ॥

अग्ने ! आकाशमें विद्युत्के साथ मेघोंकी जो घटा घिर आती है, उसे भी आपका ही स्वरूप कहते हैं ॥ २७ ॥

दहन्ति सर्वभूतानि त्वत्तो निष्क्रम्य हेतयः।
जातवेदस्त्वयैवेदं विश्वं सृष्टं महाद्युते ॥ २८ ॥

प्रलयकालमें आपसे ही भयंकर ज्वालाएँ निकलकर सम्पूर्ण प्राणियोंको भस्म कर डालती हैं। महान् तेजस्वी जातवेदा ! आपसे ही यह सम्पूर्ण विश्व उत्पन्न हुआ है ॥ २८ ॥

तवैव कर्म विहितं भूतं सर्वं चराचरम्।
त्वयाऽऽपो विहिताः पूर्वं त्वयि सर्वमिदं जगत्॥ २९ ॥

तथा आपके ही द्वारा कर्मोंका विधान किया गया है और सम्पूर्ण चराचर प्राणियोंकी उत्पत्ति भी आपसे ही हुई है। आपसे ही पूर्वकालमें जलकी सृष्टि हुई है और आपमें ही यह सम्पूर्ण जगत् प्रतिष्ठित है ॥ २९ ॥

त्वयि हव्यं च कव्यं च यथावत् सम्प्रतिष्ठितम्।
त्वमेव दहनो देव त्वं धाता त्वं बृहस्पतिः ॥ ३० ॥
त्वमश्विनौ यमौ मित्रः सोमस्त्वमसि चानिलः।

आपहीमें हव्य और कव्य यथावत् प्रतिष्ठित हैं। देव ! आप ही दग्ध करनेवाले अग्नि, धारण-पोषण करनेवाले धाता और बुद्धिके स्वामी बृहस्पति हैं। आप ही युगल अश्विनीकुमार, मित्र (सूर्य), चन्द्रमा और वायु हैं ॥ ३०½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं स्तुतस्तदा तेन मन्दपालेन पावकः ॥ ३१ ॥
तुतोष तस्य नृपते मुनेरमिततेजसः।
उवाच चैनं प्रीतात्मा किमिष्टं करवाणि ते ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! मन्दपाल मुनिके इस प्रकार स्तुति करनेपर अग्निदेव उन अमिततेजस्वी महर्षिपर बहुत प्रसन्न हुए और प्रसन्नचित्त होकर उनसे बोले—'मैं आपके किस अभीष्ट कार्यकी सिद्धि करूँ ?' ॥ ३१-३२ ॥

तमब्रवीन्मन्दपालः प्राञ्जलिर्हव्यवाहनम्।
प्रदहन् खाण्डवं दावं मम पुत्रान् विसर्जय ॥ ३३ ॥

तब मन्दपालने हाथ जोड़कर हव्यवाहन अग्निसे कहा—'भगवन् ! आप खाण्डववनका दाह करते समय मेरे पुत्रोंको बचा दें' ॥ ३३ ॥

तथेति तत् प्रतिश्रुत्य भगवान् हव्यवाहनः।
खाण्डवे तेन कालेन प्रजज्वाल दिधक्षया ॥ ३४ ॥

'बहुत अच्छा' कहकर भगवान् हव्यवाहनने वैसा करनेकी प्रतिज्ञा की और उस समय खाण्डववनको जलानेके लिये वे प्रज्वलित हो उठे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गोपाख्यानेऽष्टाविंशत्यधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गोपाख्यानविषयक दो सौ अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२८ ॥

एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

जरिताका अपने बच्चोंकी रक्षाके लिये चिन्तित होकर विलाप करना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रज्वलिते वह्नौ शार्ङ्गकास्ते सुदुःखिताः ।
व्यथिताः परमोद्विग्ना नाधिजग्मुः परायणम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर जब आग प्रज्वलित हुई, तब वे शार्ङ्गक शिशु बहुत दुखी, व्यथित और अत्यन्त उद्विग्न हो गये । उस समय उन्हें अपना कोई रक्षक नहीं जान पड़ता था ॥ १ ॥

निशम्य पुत्रकान् बालान् माता तेषां तपस्विनी ।
जरिता शोकदुःखार्ता विललाप सुदुःखिता ॥ २ ॥

उन बच्चोंको छोटे जानकर उनकी तपस्विनी माता शोक और दुःखसे आतुर हुई जरिता बहुत दुखी होकर विलाप करने लगी ॥ २ ॥

जरितोवाच

अयमग्निर्दहन् कक्षमित आयाति भीषणः ।
जगत् संदीपयन् भीमो मम दुःखविवर्धनः ॥ ३ ॥

जरिता बोली—यह भयानक आग इस वनको जलाती हुई इधर ही बढ़ी आ रही है । जान पड़ता है, यह सम्पूर्ण जगत्‌को भस्म कर डालेगी । इसका स्वरूप भयंकर और मेरे दुःखको बढ़ानेवाला है ॥ ३ ॥

इमे च मां कर्षयन्ति शिशवो मन्दचेतसः ।
अबर्हाश्चरणैर्हीनाः पूर्वेषां नः परायणाः ॥ ४ ॥

ये सांसारिक ज्ञानसे शून्य चित्तवाले शिशु मुझे अपनी ओर आकर्षित करते हैं । इनके पाँखें नहीं निकलीं और अभीतक ये पैरोंसे भी हीन हैं, हमारे पितरोंके ये ही आधार हैं ॥ ४ ॥

त्रासयंश्चायमायाति लेलिहानो महीरुहान् ।
अजातपक्षाश्च सुता न शक्ताः सरणे मम ॥ ५ ॥

सबको त्रास देती और वृक्षोंको चाटती हुई यह आगकी लपट इधर ही चली आ रही है । हाय ! मेरे बच्चे बिना पंखके हैं, मेरे साथ उड़ नहीं सकते ॥ ५ ॥

आदाय च न शक्नोमि पुत्रांस्तरितुमात्मना ।
न च त्यक्तुमहं शक्ता हृदयं दूयतीव मे ॥ ६ ॥

मैं स्वयं भी इन्हें लेकर इस आगसे पार नहीं हो सकूँगी । इन्हें छोड़ भी नहीं सकती । मेरे हृदयमें इनके लिये बड़ी व्यथा हो रही है ॥ ६ ॥

कं तु जह्यामहं पुत्रं कमादाय व्रजाम्यहम् ।
किं नु मे स्यात् कृतं कृत्वा मन्यध्वं पुत्रकाः कथम् ॥ ७ ॥

मैं किस बच्चेको छोड़ दूँ और किसे साथ लेकर जाऊँ । क्या करनेसे कृतकृत्य हो सकती हूँ । मेरे बच्चो ! तुम्हारी क्या राय है ? ॥ ७ ॥

चिन्तयाना विमोक्षं वो नाधिगच्छामि किंचन ।
छादयिष्यामि वो गात्रैः करिष्ये मरणं सह ॥ ८ ॥

मैं तुमलोगोंके छुटकारेका उपाय सोचती हूँ; किंतु कुछ भी समझमें नहीं आता । अच्छा; अपने अङ्गोंसे तुम्हें ढँक लूँगी और तुम्हारे साथ ही मैं भी मर जाऊँगी ॥ ८ ॥

जरितारौ कुलं ह्येतज्ज्येष्ठत्वेन प्रतिष्ठितम् ।
सारिसृक्कः प्रजायेत पितॄणां कुलवर्धनः ॥ ९ ॥
स्तम्बमित्रस्तपः कुर्याद् द्रोणो ब्रह्मविदां वरः ।
इत्येवमुक्त्वा प्रययौ पिता वो निर्घृणः पुरा ॥ १० ॥

पुत्रो ! तुम्हारे निर्दयी पिता पहले ही यह कहकर चले गये कि 'जरितारि ज्येष्ठ है, अतः इस कुलकी रक्षाका भार इसीपर होगा । दूसरा पुत्र सारिसृक्क अपने पितरोंके कुलकी वृद्धि करनेवाला होगा । स्तम्बमित्र तपस्या करेगा और द्रोण ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ होगा' ॥ ९-१० ॥

कमुपादाय शक्येयं गन्तुं कष्टापदुत्तमा ।
किं नु कृत्वा कृतं कार्यं भवेदिति च विह्वला ।
नापश्यत् स्वधिया मोक्षं स्वसुतानां तदानलात् ॥ ११ ॥

हाय ! मुझपर बड़ी भारी कष्टदायिनी आपत्ति आ पड़ी । इन चारों बच्चोंमेंसे किसको लेकर मैं इस आगसे पार कर सकूँगी । क्या करनेसे मेरा कार्य सिद्ध हो सकता है ।

इस प्रकार विचार करते-करते जरिता अत्यन्त विह्वल हो गयी; परंतु अपने पुत्रोंको उस आगसे बचानेका कोई उपाय उस समय उसके ध्यानमें नहीं आया ॥ ११ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणां शार्ङ्गास्ते प्रत्यूचुरथ मातरम् ।
स्नेहमुत्सृज्य मातस्त्वं पत यत्र न हव्यवाट् ॥ १२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! इस प्रकार बिलखती हुई अपनी मातासे वे शार्ङ्गपक्षीके बच्चे बोले— 'माँ ! तुम स्नेह छोड़कर जहाँ आग न हो, उधर उड़ जाओ ॥ १२ ॥

अस्मास्विह विनष्टेषु भवितारः सुतास्तव ।
त्वयि मातर्विनष्टायां न नः स्यात् कुलसंततिः ॥ १३ ॥

'माँ ! यदि हम यहाँ नष्ट हो जायँ तो भी तुम्हारे दूसरे बच्चे हो सकते हैं; परंतु तुम्हारे नष्ट हो जानेपर तो हमारे इस कुलकी परम्परा ही लुप्त हो जायगी ॥ १३ ॥

अन्ववेक्ष्यैतदुभयं क्षेमं स्याद् यत् कुलस्य नः ।
तद् वै कर्तुं परः कालो मातरेष भवेत् तव ॥ १४ ॥

माँ! इन दोनों बातोंपर विचार करके जिस प्रकार हमारे कुलका कल्याण हो, वही करनेको तुम्हारे लिये यह उत्तम अवसर है ॥ १४ ॥

मा त्वं सर्वविनाशाय स्नेहं कार्षीः सुतेषु नः ।
न हीदं कर्म मोघं स्याल्लोककामस्य नः पितुः ॥ १५ ॥

'तुम हम सब पुत्रोंपर ऐसा स्नेह न करो, जिससे सबका विनाश हो जाय। उत्तम लोककी इच्छा रखनेवाले मेरे पिताका यह कर्म व्यर्थ न हो जाय' ॥ १५ ॥

जरितोवाच

इदमाखोर्बिलं भूमौ वृक्षस्यास्य समीपतः ।
तदाविशध्वं त्वरिता वह्नेरत्र न वो भयम् ॥ १६ ॥

जरिता बोली—मेरे बच्चो! इस वृक्षके पास भूमिमें यह चूहेका बिल है। तुमलोग जल्दी-से-जल्दी इसके भीतर घुस जाओ। इसके भीतर तुम्हें आगसे भय नहीं है ॥ १६ ॥

ततोऽहं पांसुना छिद्रमपिधास्यामि पुत्रकाः ।
एवं प्रतिकृतं मन्ये ज्वलतः कृष्णवर्त्मनः ॥ १७ ॥

तुमलोगोंके घुस जानेपर मैं इस बिलका छेद धूलसे बंद कर दूँगी। बच्चो! मेरा विश्वास है, ऐसा करनेसे इस जलती आगसे तुम्हारा बचाव हो सकेगा ॥ १७ ॥

तत एष्याम्यतीतेऽग्नौ विहन्तुं पांसुसंचयम् ।
रोचतामेष वो वादो मोक्षार्थं च हुताशनात् ॥ १८ ॥

फिर आग बुझ जानेपर मैं धूल हटानेके लिये यहाँ आ जाऊँगी। आगसे बचनेके लिये मेरी यह बात तुमलोगोंको पसंद आनी चाहिये ॥ १८ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

अबर्हान् मांसभूतान् नः क्रव्यादाखुर्विनाशयेत् ।
पश्यमाना भयमिदं प्रवेष्टुं नात्र शक्नुमः ॥ १९ ॥

शार्ङ्गक बोले—अभी हम बिना पंखोंके बच्चे हैं, हमारा शरीर मांसका लोथड़ामात्र है। चूहा मांसभक्षी जीव है, वह हमें नष्ट कर देगा। इस भयको देखते हुए हम इस बिलमें प्रवेश नहीं कर सकते ॥ १९ ॥

कथमग्निर्न नो धक्ष्येत् कथमाखुर्न नाशयेत् ।
कथं न स्यात् पिता मोघः कथं माता ध्रियेत नः ॥ २० ॥

हम तो यह सोचते हैं कि क्या उपाय हो, जिससे अग्नि हमें न जलावे, चूहा हमें न मारे एवं हमारे पिताका संतानोत्पादनविषयक प्रयत्न निष्फल न हो और हमारी माता भी जीवित रहे ! ॥ २० ॥

बिल आखोर्विनाशः स्यादग्नेराकाशचारिणाम् ।
अन्ववेक्ष्यैतदुभयं श्रेयान् दाहो न भक्षणम् ॥ २१ ॥

बिलमें चूहेसे हमारा विनाश हो जायगा और आकाशमें उड़नेपर अग्निसे। इन दोनों परिणामोंपर विचार करनेसे हमें आगसे जल जाना ही श्रेष्ठ जान पड़ता है, चूहेका भोजन बनना नहीं ॥ २१ ॥

गर्हितं मरणं नः स्यादाखुना भक्षिते बिले ।
शिष्टादिष्टः परित्यागः शरीरस्य हुताशनात् ॥ २२ ॥

यदि हमलोगोंको बिलमें चूहेने खा लिया तो यह हमारी निन्दित मृत्यु होगी। आगसे जलकर शरीरका परित्याग करनेके लिये शिष्ट पुरुषोंकी आज्ञा है ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि जरिताविलापे एकोनत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २२९ ॥
इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें जरिताविलापविषयक दो सौ उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२९ ॥

त्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः

जरिता और उसके बच्चोंका संवाद

जरितोवाच

अस्माद् बिलान्निष्पतितमाखुं श्येनो जहार तम् ।
क्षुद्रं पद्भ्यां गृहीत्वा च यातो नात्र भयं हि वः ॥ १ ॥

जरिताने कहा—बच्चो! चूहा इस बिलसे निकला था, उस समय उसे बाज उठा ले गया; उस छोटेसे चूहेको वह अपने दोनों पंजोंसे पकड़कर उड़ गया। अतः अब इस बिलमें तुम्हारे लिये भय नहीं है ॥ १ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

न हृतं तं वयं विद्मः श्येनेनाखुं कथंचन ।
अन्येऽपि भवितारोऽत्र तेभ्योऽपि भयमेव नः ॥ २ ॥

शार्ङ्गक बोले—हम किसी तरह यह नहीं समझ सकते कि बाज चूहेको उठा ले गया। उस बिलमें दूसरे चूहे भी तो हो सकते हैं; हमारे लिये तो उनसे भी भय ही है ॥ २ ॥

संशयो वह्निरागच्छेद् दृष्टं वायोर्निवर्तनम् ।
मृत्युर्नो बिलवासिभ्यो बिले स्यान्नात्र संशयः ॥ ३ ॥

आग यहाँतक आयेगी, इसमें संदेह है; क्योंकि वायुके वेगसे अग्निका दूसरी ओर पलट जाना भी देखा गया है। परंतु बिलमें तो उसके भीतर रहनेवाले जीवोंसे हमारी मृत्यु होनेमें कोई संशय ही नहीं है ॥ ३ ॥

निःसंशयात् संशयितो मृत्युर्मातर्विशिष्यते ।
चर खे त्वं यथान्यायं पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ॥ ४ ॥

माँ ! संशयरहित मृत्युसे संशययुक्त मृत्यु अच्छी है (क्योंकि उसमें बच जानेकी भी आशा होती है); अतः तुम आकाशमें उड़ जाओ। तुम्हें फिर (धर्मानुकूल रीतिसे) सुन्दर पुत्रोंकी प्राप्ति हो जायगी ॥ ४ ॥

जरितोवाच

अहं वेगेन तं यान्तमद्राक्षं पततां वरम्।
बिलादाखुं समादाय श्येनं पुत्रा महाबलम् ॥ ५ ॥
तं पतन्तं महावेगात् त्वरिता पृष्ठतोऽन्वगाम्।
आशिषोऽस्य प्रयुञ्जाना हरतो मूषिकं बिलात् ॥ ६ ॥

जरिताने कहा--बच्चो ! जब पक्षियोंमें श्रेष्ठ महाबली बाज बिलसे चूहेको लेकर वेगपूर्वक उड़ा जा रहा था, उस समय महान् वेगसे उड़नेवाले उस बाजके पीछे मैं भी बड़ी तीव्र गतिसे गयी और बिलसे चूहेको ले जानेके कारण उसे आशीर्वाद देती हुई बोली--॥ ५-६ ॥

यो नो द्वेष्टारमादाय श्येनराज प्रधावसि।
भव त्वं दिवमास्थाय निरमित्रो हिरण्मयः ॥ ७ ॥

'श्येनराज ! तुम मेरे शत्रुको लेकर उड़े जा रहे हो, इसलिये स्वर्गमें जानेपर तुम्हारा शरीर सोनेका हो जाय और तुम्हारे कोई शत्रु न रह जाय' ॥ ७ ॥

स यदा भक्षितस्तेन श्येनेनाखुः पतत्त्रिणा।
तदाहं तमनुज्ञाप्य प्रत्युपायां पुनर्गृहम् ॥ ८ ॥

जब उस पक्षिप्रवर बाजने चूहेको खा लिया, तब मैं उसकी आज्ञा लेकर पुनः घर लौट आयी ॥ ८ ॥

प्रविशध्वं बिलं पुत्रा विश्रब्धा नास्ति वो भयम्।
श्येनेन मम पश्यन्त्या हृत आखुर्महात्मना ॥ ९ ॥

अतः बच्चो ! तुमलोग विश्वासपूर्वक बिलमें घुसो। वहाँ तुम्हारे लिये भय नहीं है। महान् बाजने मेरी आँखोंके सामने ही चूहेका अपहरण किया था ॥ ९ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

न विद्मो हृतं मातः श्येनेनाखुं कथंचन।
अविज्ञाय न शक्ष्यामः प्रवेष्टुं विवरं भुवः ॥ १० ॥

शार्ङ्गक बोले--माँ ! बाजने चूहेको पकड़ लिया, इसको हम नहीं जानते और जाने बिना हम इस बिलमें कभी प्रवेश नहीं कर सकते ॥ १० ॥

जरितोवाच

अहं तमभिजानामि हृतं श्येनेन मूषिकम्।
नास्ति वोऽत्र भयं पुत्राः क्रियतां वचनं मम ॥ ११ ॥

जरिताने कहा--बेटो ! मैं जानती हूँ, बाजने अवश्य चूहेको पकड़ लिया। तुमलोग मेरी बात मानो। इस बिलमें तुम्हें कोई भय नहीं है ॥ ११ ॥

शार्ङ्गका ऊचुः

न त्वं मिथ्योपचारेण मोक्षयेथा भयाद्धि नः।
समाकुलेषु ज्ञानेषु न बुद्धिकृतमेव तत् ॥ १२

शार्ङ्गक बोले--माँ ! तुम झूठे बहाने बनाकर भयसे छुड़ानेकी चेष्टा न करो। संदिग्ध कार्योंमें प्रवृत्त होना बुद्धिमानीका काम नहीं है ॥ १२ ॥

न चोपकृतमस्माभिर्न चास्मान् वेत्थ ये वयम्।
पीड्यमाना बिभर्ष्यस्मान् का सती के वयं तव ॥ १३

हमने तुम्हारा कोई उपकार नहीं किया है और हम पहले कौन थे, इस बातको भी तुम नहीं जानतीं। फिर तुम क्यों कष्ट उठाकर हमारी रक्षा करना चाहती हो ? तुम हमारी कौन हो और हम तुम्हारे कौन हैं ? ॥ १३ ॥

तरुणी दर्शनीयासि समर्था भर्तुरेषणे।
अनुगच्छ पतिं मातः पुत्रानाप्स्यसि शोभनान् ॥ १४

माँ ! अभी तुम्हारी तरुण अवस्था है, तुम दर्शनीय सुन्दरी हो और पतिके अन्वेषणमें समर्थ भी हो। अतः पति का ही अनुसरण करो। तुम्हें फिर सुन्दर पुत्र मिल जायँगे।

वयमग्निं समाविश्य लोकानाप्स्याम शोभनान्।
अथास्मान् न दहेदग्निरायास्त्वं पुनरेव नः ॥ १५

हम आगमें जलकर उत्तम लोक प्राप्त करेंगे और यदि अग्निने हमें नहीं जलाया तो तुम फिर हमारे पास चली आना ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ता ततः शार्ङ्गी पुत्रानुत्सृज्य खाण्डवे।
जगाम त्वरिता देशं क्षेममग्नेरनामयम् ॥ १६

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! बच्चोंके ऐसा कहने पर शार्ङ्गी उन्हें खाण्डववनमें छोड़कर तुरंत ऐसे स्थानमें चली गयी, जहाँ आगसे कुशलपूर्वक बिना किसी कष्टके बच जानेकी सम्भावना थी ॥ १६ ॥

ततस्तीक्ष्णार्चिरभ्यागात् त्वरितो हव्यवाहनः।
यत्र शार्ङ्गा बभूवुस्ते मन्दपालस्य पुत्रकाः ॥ १७

तदनन्तर तीखी लपटोंवाले अग्निदेव तुरंत वहाँ आ पहुँचे, जहाँ मन्दपालके पुत्र शार्ङ्गक पक्षी मौजूद थे ॥ १७ ॥

ततस्तं ज्वलितं दृष्ट्वा ज्वलनं ते विहंगमाः।
जरितारिस्ततो वाक्यं श्रावयामास पावकम् ॥ १८

तब उस जलती हुई आगको देखकर वे पक्षी आपसमें वार्तालाप करने लगे। उनमेंसे जरितारिने अग्निदेवको यह बात सुनायी ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३० ॥

एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

शार्ङ्गकोंके स्तवनसे प्रसन्न होकर अग्निदेवका उन्हें अभय देना

जरितारिरुवाच

पुरतः कृच्छ्रकालस्य धीमाञ्जागर्ति पूरुषः।
स कृच्छ्रकालं सम्प्राप्य व्यथां नैवैति कर्हिचित्॥ १ ॥

जरितारि बोला—बुद्धिमान् पुरुष संकटकाल आनेके पहले ही सजग हो जाता है, वह संकटका समय आ जानेपर कभी व्यथित नहीं होता ॥ १ ॥

यस्तु कृच्छ्रमनुप्राप्तं विचेता नावबुध्यते।
स कृच्छ्रकाले व्यथितो न श्रेयो विन्दते महत्॥ २ ॥

जो मूढ़चित्त जीव आनेवाले संकटको नहीं जानता, वह संकटके समय व्यथित होनेके कारण महान् कल्याणसे वञ्चित रह जाता है ॥ २ ॥

सारिसृक्क उवाच

धीरस्त्वमसि मेधावी प्राणकृच्छ्रमिदं च नः।
प्राज्ञः शूरो बहूनां हि भवत्येको न संशयः॥ ३ ॥

सारिसृक्कने कहा—भैया ! तुम धीर और बुद्धिमान् हो और हमारे लिये यह प्राणसंकटका समय है (अतः इससे तुम्हीं हमारी रक्षा कर सकते हो); क्योंकि बहुतोंमें कोई एक ही बुद्धिमान् और शूरवीर होता है, इसमें संशय नहीं है ॥ ३ ॥

स्तम्बमित्र उवाच

ज्येष्ठस्तातो भवति वै ज्येष्ठो मुञ्चति कृच्छ्रतः।
ज्येष्ठश्चेन्न प्रजानाति कनीयान् किं करिष्यति॥ ४ ॥

स्तम्बमित्र बोला—बड़ा भाई पिताके तुल्य है, बड़ा भाई ही संकटसे छुड़ाता है। यदि बड़ा भाई ही आनेवाले भय और उससे बचनेके उपायको न जाने तो छोटा भाई क्या करेगा ? ॥ ४ ॥

द्रोण उवाच

हिरण्यरेतास्त्वरितो ज्वलन्नायाति नः क्षयम्।
सप्तजिह्वाननः क्रूरो लेलिहानो विसर्पति॥ ५ ॥

द्रोणने कहा—यह जाज्वल्यमान अग्नि हमारे घोंसलेकी ओर तीव्र वेगसे आ रहा है। इसके मुखमें सात जिह्वाएँ हैं और यह क्रूर अग्नि समस्त वृक्षोंको चाटता हुआ सब ओर फैल रहा है ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाष्य तेऽन्योन्यं मन्दपालस्य पुत्रकाः।
तुष्टुवुः प्रयता भूत्वा यथाग्निं शृणु पार्थिव॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार आपसमें बातें करके मन्दपालके वे पुत्र एकाग्रचित्त हो अग्निदेवकी स्तुति करने लगे; वह स्तुति सुनो ॥ ६ ॥

जरितारिरुवाच

आत्मासि वायोर्ज्वलन शरीरमसि वीरुधाम्।
योनिरापश्च ते शुक्रं योनिस्त्वमसि चाम्भसः॥ ७ ॥

जरितारिने कहा—अग्निदेव ! आप वायुके आत्मस्वरूप और वनस्पतियोंके शरीर हैं। तृण-लता आदिकी योनि पृथ्वी और जल तुम्हारे वीर्य हैं, जलकी योनि भी तुम्हीं हो ॥ ७ ॥

ऊर्ध्वं चाधश्च सर्पन्ति पृष्ठतः पार्श्वतस्तथा।
अर्चिषस्ते महावीर्य रश्मयः सवितुर्यथा॥ ८ ॥

महावीर्य ! आपकी ज्वालाएँ सूर्यकी किरणोंके समान ऊपर-नीचे, आगे-पीछे तथा अगल-बगल सब ओर फैल रही हैं ॥ ८ ॥

सारिसृक्क उवाच

माता प्रणष्टा पितरं न विद्मः
पक्षा जाता नैव नो धूमकेतो।
न नस्त्राता विद्यते वै त्वदन्य-
स्तस्मादस्मांस्त्राहि बालांस्त्वमग्ने॥ ९ ॥

सारिसृक्क बोला—धूममयी ध्वजासे सुशोभित अग्निदेव ! हमारी माता चली गयी, पिताका भी हमें पता नहीं है और हमारे अभी पंखतक नहीं निकले हैं। हमारा आपके सिवा दूसरा कोई रक्षक नहीं है; अतः आप ही हम बालकोंकी रक्षा करें ॥ ९ ॥

यदग्ने ते शिवं रूपं ये च ते सप्त हेतयः।
तेन नः परिपाहि त्वमार्तान् वै शरणैषिणः॥ १० ॥

अग्ने ! आपका जो कल्याणमय स्वरूप है तथा आपकी जो सात ज्वालाएँ हैं उन सबके द्वारा आप शरणमें आनेकी इच्छावाले हम आर्त प्राणियोंकी रक्षा कीजिये ॥ १० ॥

त्वमेवैकस्तपसे जातवेदो
नान्यस्तप्ता विद्यते गोषु देव।
ऋषीनस्मान् बालकान् पालयस्व
परेणास्मान् प्रेहि वै हव्यवाह॥ ११ ॥

जातवेदा ! एकमात्र आप ही सर्वत्र तपते हैं। देव ! सूर्यकी किरणोंमें तपनेवाला पुरुष भी आपसे भिन्न नहीं है। हव्यवाहन ! हम बालक ऋषि हैं; हमारी रक्षा कीजिये। हमसे दूर चले जाइये ॥ ११ ॥

स्तम्बमित्र उवाच

सर्वमग्ने त्वमेवैकस्त्वयि सर्वमिदं जगत्।
त्वं धारयसि भूतानि भुवनं त्वं बिभर्षि च ॥ १२ ॥

स्तम्बमित्रने कहा—अग्ने ! एकमात्र आप ही सब कुछ हैं, यह सम्पूर्ण जगत् आपमें ही प्रतिष्ठित है। आप ही प्राणियोंका पालन और जगत्को धारण करते हैं ॥ १२ ॥

त्वमग्निर्हव्यवाहस्त्वं त्वमेव परमं हविः।
मनीषिणस्त्वां जानन्ति बहुधा चैकधापि च ॥ १३ ॥

आप ही अग्नि, आप ही हवाका वहन करनेवाले और आप ही उत्तम हविष्य हैं। मनीषी पुरुष आपको ही अनेक और एकरूपमें स्थित जानते हैं ॥ १३ ॥

सृष्ट्वा लोकांस्त्रीनिमान् हव्यवाह
काले प्राप्ते पचसि पुनः समिद्धः।
त्वं सर्वस्य भुवनस्य प्रसूति-
स्त्वमेवाग्ने भवसि पुनः प्रतिष्ठा ॥ १४ ॥

हव्यवाह ! आप इन तीनों लोकोंकी सृष्टि करके प्रलय-काल आनेपर पुनः प्रज्वलित हो इन सबका संहार कर देते हैं। अतः अग्ने ! आप सम्पूर्ण जगत्के उत्पत्तिस्थान हैं और आप ही इसके लयस्थान भी हैं ॥ १४ ॥

द्रोण उवाच

त्वमन्नं प्राणिभिर्भुक्तमन्तर्भूतो जगत्पते।
नित्यप्रवृद्धः पचसि त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥ १५ ॥

द्रोण बोला—जगत्पते ! आप ही शरीरके भीतर रहकर प्राणियोंद्वारा खाये हुए अन्नको सदा उद्दीप्त होकर पचाते हैं। सम्पूर्ण विश्व आपमें ही प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥

सूर्यो भूत्वा रश्मिभिर्जातवेदो
भूमेरम्भो भूमिजातान् रसांश्च।
विश्वानादाय पुनरुत्सृज्य काले
दृष्ट्वा वृष्ट्या भावयसीह शुक्र ॥ १६ ॥

शुक्लवर्णवाले सर्वज्ञ अग्निदेव ! आप ही सूर्य होकर अपनी किरणोंद्वारा पृथ्वीसे जलको और सम्पूर्ण पार्थिव रसों-को ग्रहण करते हैं तथा पुनः समय आनेपर आवश्यकता देखकर वर्षाके द्वारा इस पृथ्वीपर जलरूपमें उन सब रसोंको प्रस्तुत कर देते हैं ॥ १६ ॥

त्वत्त एताः पुनः शुक्र वीरुधो हरितच्छदाः।
जायन्ते पुष्करिण्यश्च सुभद्रश्च महोदधिः ॥ १७ ॥

उज्ज्वल वर्णवाले अग्ने ! फिर आपसे ही हरे-हरे पत्तोंवाले वनस्पति उत्पन्न होते हैं और आपसे ही पोखरियाँ तथा कल्याणमय महासागर पूर्ण होते हैं ॥ १७ ॥

इदं वै सद्म तिग्मांशो वरुणस्य परायणम्।
शिवस्त्राता भवास्माकं मास्मानद्य विनाशय ॥ १८ ॥

प्रचण्ड किरणोंवाले अग्निदेव ! हमारा यह शरीररूप रसनेन्द्रियाधिपति वरुणदेवका आलम्बन है। आप आज शीतल एवं कल्याणमय बनकर हमारे रक्षक होइये; हमें नष्ट न कीजिये ॥ १८ ॥

पिङ्गाक्ष लोहितग्रीव कृष्णवर्त्मन् हुताशन।
परेण प्रेहि मुञ्चास्मान् सागरस्य गृहानिव ॥ १९ ॥

पिंगल नेत्र तथा लोहित ग्रीवावाले हुताशन ! आप कृष्णवर्त्मा हैं। समुद्रतटवर्ती गृहोंकी भाँति हमें भी छोड़ दीजिये; दूरसे ही निकल जाइये ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो जातवेदा द्रोणेन ब्रह्मवादिना।
द्रोणमाह प्रतीतात्मा मन्दपालप्रतिज्ञया ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ब्रह्मवादी द्रोणके द्वारा इस प्रकार प्रार्थना की जानेपर प्रसन्नचित्त हुए अग्निने मन्दपालसे की हुई प्रतिज्ञाका स्मरण करके द्रोणसे कहा ॥

अग्निरुवाच

ऋषिर्द्रोणस्त्वमसि वै ब्रह्म तद् व्याहृतं त्वया।
ईप्सितं ते करिष्यामि न च ते विद्यते भयम् ॥ २१ ॥

अग्नि बोले—जान पड़ता है, तुम द्रोण ऋषि हो; क्योंकि तुमने उस ब्रह्मका ही प्रतिपादन किया है। मैं तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध करूँगा, तुम्हें कोई भय नहीं है ॥ २१ ॥

मन्दपालेन वै यूयं मम पूर्वं निवेदिताः।
वर्जयेः पुत्रकान् मह्यं दहन् दावमिति स ह ॥ २२ ॥

मन्दपाल मुनिने पहले ही मुझसे तुमलोगोंके विषयमें निवेदन किया था कि 'आप खाण्डववनका दाह करते समय मेरे पुत्रोंको बचा दीजियेगा' ॥ २२ ॥

तस्य तद् वचनं द्रोण त्वया यच्चेह भाषितम्।
उभयं मे गरीयस्तु ब्रूहि किं करवाणि ते।
भृशं प्रीतोऽस्मि भद्रं ते ब्रह्मन् स्तोत्रेण सत्तम ॥ २३ ॥

द्रोण ! तुम्हारे पिताका वह वचन और तुमने यहाँ जो कुछ कहा है, वह भी मेरे लिये गौरवकी वस्तु है। बोलो, तुम्हारी और कौन-सी इच्छा पूर्ण करूँ; ब्रह्मन् ! साधुशिरो-मणे ! तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे इस स्तोत्रसे मैं बहुत प्रसन्न हूँ ॥ २३ ॥

द्रोण उवाच

इमे मार्जारकाः शुक्र नित्यमुद्वेजयन्ति नः।
एतान् कुरुष्व दंष्ट्रांस्त्वं हुताशन सबान्धवान् ॥ २४ ॥

द्रोणने कहा—शुक्लवर्ण अग्ने ! ये बिलाव हमें

प्रतिदिन उद्विग्न करते रहते हैं। हुताशन! आप इन्हें बन्धु-बान्धवोंसहित भस्म कर डालिये ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तत् कृतवानग्निरभ्यनुज्ञाय शार्ङ्गकान्।
ददाह खाण्डवं चापि समिद्धो जनमेजय ॥ २५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! शार्ङ्गकोंकी अनुमतिसे अग्निदेवने वैसा ही किया और प्रज्वलित होकर वे सम्पूर्ण खाण्डववनको जलाने लगे ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने एकत्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३१ ॥

द्वात्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

मन्दपालका अपने बाल-बच्चोंसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

मन्दपालोऽपि कौरव्य चिन्तयामास पुत्रकान्।
उक्त्वापि च स तिग्मांशुं नैव शर्माधिगच्छति ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! मन्दपाल भी अपने पुत्रोंकी चिन्तामें पड़े थे। यद्यपि वे (उनकी रक्षाके लिये) अग्निदेवसे प्रार्थना कर चुके थे, तो भी उन्हें शान्ति नहीं मिलती थी ॥

स तप्यमानः पुत्रार्थं लपितामिदमब्रवीत्।
कथं नु शक्ताः शरणे लपिते मम पुत्रकाः ॥ २ ॥

पुत्रोंके लिये संतप्त होते हुए वे लपितासे बोले—'लपिते! मेरे बच्चे अपने घोंसलेमें कैसे बच सकेंगे? ॥ २ ॥

वर्धमाने हुतवहे वाते चाशु प्रवायति।
असमर्था विमोक्षाय भविष्यन्ति ममात्मजाः ॥ ३ ॥

'जब अग्निका वेग बढ़ेगा और हवा तीव्र गतिसे चलने लगेगी, उस समय मेरे बच्चे अपनेको आगसे बचानेमें असमर्थ हो जायँगे ॥ ३ ॥

कथं त्वशक्ता त्राणाय माता तेषां तपस्विनी।
भविष्यति हि शोकार्ता पुत्रत्राणमपश्यती ॥ ४ ॥

'उनकी तपस्विनी माता स्वयं असमर्थ है, वह बेचारी उनकी रक्षा कैसे करेगी? अपने बच्चोंके बचनेका कोई उपाय न देखकर वह शोकसे आतुर हो जायगी ॥ ४ ॥

कथमुड्डयनेऽशक्तान् पतने च ममात्मजान्।
संतप्यमाना बहुधा वाशमाना प्रधावती ॥ ५ ॥

'मेरे बच्चे उड़ने और पंख फड़फड़ानेमें असमर्थ हैं। उन्हें उस दशामें देखकर संतप्त हो बार-बार चीत्कार करती और दौड़ती हुई जरिता किस दशामें होगी? ॥ ५ ॥

जरितारिः कथं पुत्रः सारिसृक्वः कथं च मे।
स्तम्बमित्रः कथं द्रोणः कथं सा च तपस्विनी ॥ ६ ॥

'मेरा बेटा जरितारि कैसे होगा, सारिसृक्वकी क्या अवस्था होगी, स्तम्बमित्र और द्रोण कैसे होंगे? तथा वह तपस्विनी जरिता किस हालतमें होगी?' ॥ ६ ॥

लालप्यमानं तमृषिं मन्दपालं तथा वने।
लपिता प्रत्युवाचेदं सासूयमिव भारत ॥ ७ ॥

भारत! मन्दपाल मुनि जब इस प्रकार वनमें (अपनी स्त्री एवं बच्चोंके लिये) विलाप कर रहे थे, उस समय लपिताने ईर्ष्यापूर्वक कहा— ॥ ७ ॥

न ते पुत्रेष्ववेक्षास्ति यानृषीनुक्तवानसि।
तेजस्विनो वीर्यवन्तो न तेषां ज्वलनाद् भयम् ॥ ८ ॥

'तुम्हें पुत्रोंको देखनेकी चिन्ता नहीं है। तुमने जिन ऋषियोंके नाम लिये हैं, वे तेजस्वी और शक्तिशाली हैं; उन्हें अग्निसे तनिक भी भय नहीं है ॥ ८ ॥

त्वयाग्नौ ते परीताश्च स्वयं हि मम संनिधौ।
प्रतिश्रुतं तथा चेति ज्वलनेन महात्मना ॥ ९ ॥

'मेरे पास ही तुमने अग्निदेवको स्वयं अपने पुत्र सौंपे थे और उन महात्मा अग्निने भी उनकी रक्षाके लिये प्रतिज्ञा की थी ॥ ९ ॥

लोकपालो न तां वाचमुक्त्वा मिथ्या करिष्यति।
समक्षं बन्धुकृत्ये न तेन ते स्वस्थ मानसम् ॥ १० ॥

'वे लोकपाल हैं। जब बात दे चुके हैं, तब उसे झूठी नहीं करेंगे। अतः स्वस्थ पुरुष! तुम्हारा मन अपने बच्चोंकी रक्षारूप बन्धुजनोचित कर्तव्यके पालनेके लिये उत्सुक नहीं है ॥ १० ॥

तामेव तु ममामित्रां चिन्तयन् परितप्यसे।
ध्रुवं मयि न ते स्नेहो यथा तस्यां पुराभवत्॥ ११ ॥

'तुम तो मेरी दुश्मन उसी जरिता सौतके लिये चिन्ता करते हुए संतप्त हो रहे हो। पहले जरितामें तुम्हारा जैसा स्नेह था वैसा अवश्य ही मुझपर नहीं है ॥ ११ ॥

न हि पक्षवता न्याय्यं निःस्नेहेन सुहृज्जने।
पीड्यमान उपद्रष्टुं शक्तेनात्मा कथंचन ॥ १२ ॥

'जो सहायकोंसे सम्पन्न और शक्तिशाली है, वह मुझ जैसे अपने सुहृद् व्यक्तिपर स्नेह नहीं रखे और अपने आत्मीयजनको पीड़ित देखकर उसकी उपेक्षा करे, यह किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता ॥ १२ ॥

गच्छ त्वं जरितामेव यदर्थं परितप्यसे।
चरिष्याम्यहमप्येका यथा कुपुरुषाश्रिता ॥ १३ ॥

'अतः अब तुम उस जरिताके ही पास जाओ, जिसके लिये तुम इतने संतप्त हो रहे हो। मैं भी दुष्ट पुरुषके आश्रयमें पड़ी हुई स्त्रीकी भाँति अकेली ही विचरूँगी' ॥ १३ ॥

मन्दपाल उवाच

नाहमेवं चरे लोके यथा त्वमभिमन्यसे।
अपत्यहेतोर्विचरे तच्च कृच्छ्रगतं मम ॥ १४ ॥

मन्दपालने कहा—अरी! तू जैसा समझती है, उस भावसे मैं इस संसारमें नहीं विचरता हूँ। मेरा विचरना तो केवल संतानके लिये होता है। मेरी वह संतान ही संकटमें पड़ी हुई है ॥ १४ ॥

भूतं हित्वा च भाव्यर्थे योऽवलम्बेत् स मन्दधीः।
अवमन्येत तं लोको यथेच्छसि तथा कुरु ॥ १५ ॥

जो पैदा हुए बच्चोंका परित्याग कर भविष्यमें होनेवालोंका भरोसा करता है, वह मूर्ख है; सब लोग उसका अनादर करते हैं; तेरी जैसी इच्छा हो, वैसा कर ॥ १५ ॥

एष हि प्रज्वलन्नग्निर्लेलिहानो महीरुहान्।
आविग्ने हृदि संतापं जनयत्यशिवं मम ॥ १६ ॥

यह प्रज्वलित आग सारे वृक्षोंको अपनी लपटोंमें लपेटती हुई मेरे उद्विग्न हृदयमें अमङ्गलसूचक संताप उत्पन्न कर रही है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्माद् देशादतिक्रान्ते ज्वलने जरिता पुनः।
जगाम पुत्रकानेव त्वरिता पुत्रगृद्धिनी ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जब अग्निदेव उस स्थानसे दूर गये, तब पुत्रोंकी लालसा रखनेवाली जरिता पुनः शीघ्रतापूर्वक अपने बच्चोंके पास गयी ॥ १७ ॥

सा तान् कुशलिनः सर्वान् विमुक्ताञ्जातवेदसः।
रोरूयमाणान् ददृशे वने पुत्रान् निरामयान् ॥ १८ ॥

उसने देखा, सभी बच्चे आगसे बच गये हैं और सकुशल हैं। उन्हें कुछ भी कष्ट नहीं हुआ है और वे वनमें जोर-जोरसे चहक रहे हैं ॥ १८ ॥

अश्रूणि मुमुचे तेषां दर्शनात् सा पुनः पुनः।
एकैकश्येन तान् सर्वान् क्रोशमानान्वपद्यत ॥ १९ ॥

उन्हें बार-बार देखकर वह नेत्रोंसे आँसू बहाने लगी और बारी-बारीसे पुकारकर वह सभी बच्चोंसे मिली ॥ १९ ॥

ततोऽभ्यगच्छत् सहसा मन्दपालोऽपि भारत।
अथ ते सर्वे एवैनं नाभ्यनन्दंस्तदा सुताः ॥ २० ॥

भारत! इतनेमें ही मन्दपाल मुनि भी सहसा वहाँ आ पहुँचे; किंतु उन बच्चोंमेंसे किसीने भी उस समय उनका अभिनन्दन नहीं किया ॥ २० ॥

लालप्यमानमेकैकं जरितां च पुनः पुनः।
न चैवोचुस्तदा किंचित् तमृषिं साध्वसाधु वा ॥ २

वे एक-एक बच्चेसे बोलते और जरिताको भी बार बुलाते, परंतु वे लोग उन मुनिसे भला या बुरा भी नहीं बोले ॥ २१ ॥

मन्दपाल उवाच

ज्येष्ठः सुतस्ते कतमः कतमस्तस्य चानुजः।
मध्यमः कतमश्चैव कनीयान् कतमश्च ते ॥ २

मन्दपालने पूछा—प्रिये! तुम्हारा ज्येष्ठ पुत्र कौन है? उससे छोटा कौन है, मझला कौन है और सबसे छोटा कौन है? ॥ २२ ॥

एवं ब्रुवन्तं दुःखार्तं किं मां न प्रतिभाषसे।
कृतवानपि हि त्यागं नैव शान्तिमितो लभे ॥ २

मैं इस प्रकार दुःखसे आतुर होकर तुमसे पूछ रहा हूँ, तुम मुझे उत्तर क्यों नहीं देती? यद्यपि मैंने तुम्हें त्याग दिया था, तो भी यहाँसे जानेपर मुझे शान्ति नहीं मिलती थी ॥ २

जरितोवाच

किं नु ज्येष्ठेन ते कार्यं किमनन्तरजेन ते।
किं वा मध्यमजातेन किं कनिष्ठेन वा पुनः ॥ २

जरिता बोली—तुम्हें ज्येष्ठ पुत्रसे क्या काम है? उसके बादवालेसे भी क्या लेना है, मझले अथवा छोटे पुत्रसे भी तुम्हें क्या प्रयोजन है? ॥ २४ ॥

यां त्वं मां सर्वतो हीनामुत्सृज्यासि गतः पुरा।
तामेव लपितां गच्छ तरुणीं चारुहासिनीम् ॥ २

पहले तुम मुझे सबसे हीन समझकर त्यागकर जिसके पास चले गये थे, उसी मनोहर मुसकानवाली तरुणी लपिताके पास जाओ ॥ २५ ॥

मन्दपाल उवाच

न स्त्रीणां विद्यते किंचिदमुत्र पुरुषान्तरात्।
सापत्नकमृते लोके नान्यदर्थविनाशनम् ॥ २

मन्दपालने कहा—परलोकमें स्त्रियोंके लिये परपुरुष-सम्बन्ध और सौतियाडाहको छोड़कर दूसरा कोई दोष उनके परमार्थका नाश करनेवाला नहीं है ॥ २६ ॥

वैराग्निदीपनं चैव भृशमुद्वेगकारि च।
सुव्रता चापि कल्याणी सर्वभूतेषु विश्रुता ॥ २
अरुन्धती महात्मानं वसिष्ठं पर्यशङ्कत।
विशुद्धभावमत्यन्तं सदा प्रियहिते रतम् ॥ २
सप्तर्षिमध्यगं धीरमवमेने च तं मुनिम्।
अपध्यानेन सा तेन धूमारुणसमप्रभा।
लक्ष्यालक्ष्या नाभिरूपा निमित्तमिव पश्यति ॥ २

यह सौतियाडाह वैरकी आगको भड़कानेवाला और अत्यन्त उद्वेगमें डालनेवाला है। समस्त प्राणियोंमें विख्यात और उत्तम व्रतका पालन करनेवाली कल्याणमयी अरुन्धतीने उन महात्मा वसिष्ठपर भी शङ्का की थी, जिनका हृदय अत्यन्त विशुद्ध है, जो सदा उनके प्रिय और हितमें लगे रहते हैं और सप्तर्षिमण्डलके मध्यमें विराजमान होते हैं। ऐसे धैर्यवान् मुनिका भी उन्होंने सौतियाडाहके कारण तिरस्कार किया था। इस अशुभ चिन्तनके कारण उनकी अङ्गकान्ति धूम और अरुणके समान (मंद) हो गयी। वे कभी लक्ष्य और कभी अलक्ष्य रहकर प्रच्छन्न वेषमें मानो कोई निमित्त देखा करती हैं ॥ २७-२९ ॥

अपत्यहेतोः सम्प्राप्तं तथा त्वमपि मामिह।
एवमेवं गते हि त्वं सा तथैवाद्य वर्तते ॥ ३० ॥

मैं पुत्रोंसे मिलनेके लिये आया हूँ, तो भी तुम मेरा तिरस्कार करती हो और इस प्रकार अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति हो जानेपर जैसे तुम मेरे साथ संदेहयुक्त व्यवहार करती हो, वैसा ही लपिता भी करती है ॥ ३० ॥

न हि भार्येति विश्वासः कार्यः पुंसा कथंचन।
न हि कार्यमनुध्याति नारी पुत्रवती सती ॥ ३१ ॥

यह मेरी भार्या है, ऐसा मानकर पुरुषको किसी प्रकार भी स्त्रीपर विश्वास नहीं करना चाहिये; क्योंकि नारी पुत्रवती हो जानेपर पतिसेवा आदि अपने कर्तव्योंपर ध्यान नहीं देती॥

वैशम्पायन उवाच

ततस्ते सर्व एवैनं पुत्राः सम्यगुपासते।
स च तानात्मजान् सर्वानाश्वासयितुमुद्यतः ॥ ३२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तदनन्तर वे सभी पुत्र यथोचितरूपसे अपने पिताके पास आ बैठे और वे मुनि भी उन सब पुत्रोंको आश्वासन देनेके लिये उद्यत हुए ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि शार्ङ्गकोपाख्याने द्वात्रिंशदधिकशततमोऽध्यायः ॥ २३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत मयदर्शनपर्वमें शार्ङ्गकोपाख्यानविषयक दो सौ बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २३२ ॥

त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः

इन्द्रदेवका श्रीकृष्ण और अर्जुनको वरदान तथा श्रीकृष्ण, अर्जुन और मयासुरका अग्निसे विदा लेकर एक साथ यमुनातटपर बैठना

मन्दपाल उवाच

युष्माकमपवर्गार्थं विज्ञप्तो ज्वलनो मया।
अग्निना च तथेत्येवं प्रतिज्ञातं महात्मना ॥ १ ॥

मन्दपाल बोले—मैंने अग्निदेवसे यह प्रार्थना की थी कि वे तुमलोगोंको दाहसे मुक्त कर दें। महात्मा अग्निने भी वैसा करनेकी प्रतिज्ञा कर ली थी ॥ १ ॥

अग्नेर्वचनमाज्ञाय मातुर्धर्मज्ञतां च वः।
भवतां च परं वीर्यं पूर्वं नाहमिहागतः ॥ २ ॥

अग्निके दिये हुए वचनको स्मरण करके, तुम्हारी माताकी धर्मज्ञताको जानकर और तुमलोगोंमें भी महान् शक्ति है, इस बातको समझकर ही मैं पहले यहाँ नहीं आया था ॥ २ ॥

न संतापो हि वः कार्यः पुत्रका हृदि मां प्रति।
ऋषीन् वेद हुताशोऽपि ब्रह्म तद् विदितं च वः ॥ ३ ॥

बच्चो! तुम्हें मेरे प्रति अपने हृदयमें संताप नहीं करना चाहिये। तुमलोग ऋषि हो, यह बात अग्निदेव भी जानते हैं; क्योंकि तुम्हें ब्रह्मतत्त्वका बोध हो चुका है ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाश्वासितान् पुत्रान् भार्यामादाय स द्विजः।
मन्दपालस्ततो देशादन्यं देशं जगाम ह ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार आश्वस्त किये हुए अपने पुत्रों और पत्नी जरिताको साथ ले द्विज मन्दपाल उस देशसे दूसरे देशमें चले गये ॥ ४॥

भगवानपि तिग्मांशुः समिद्धः खाण्डवं ततः।
ददाह सह कृष्णाभ्यां जनयञ्जगतो हितम् ॥ ५ ॥

उधर प्रज्वलित हुए प्रचण्ड ज्वालाओंवाले भगवान् हुताशनने भी जगत्‌का हित करनेके लिये भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनकी सहायतासे खाण्डववनको जला दिया ॥ ५ ॥

वसामेदोवहाः कुल्यास्तत्र पीत्वा च पावकः।
जगाम परमां तृप्तिं दर्शयामास चार्जुनम् ॥ ६ ॥

वहाँ मज्जा और मेदकी कई नहरें बह चलीं और उन सबको पीकर अग्निदेव पूर्ण तृप्त हो गये। तत्पश्चात् उन्होंने अर्जुनको दर्शन दिया ॥ ६ ॥

ततोऽन्तरिक्षाद् भगवानवतीर्य पुरंदरः।
मरुद्गणैर्वृतः पार्थं केशवं चेदमब्रवीत् ॥ ७ ॥

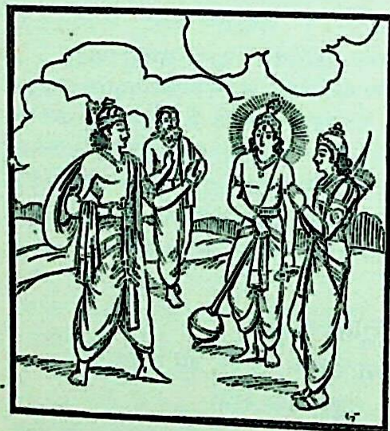
उसी समय भगवान् इन्द्र मरुद्गणों एवं अन्य देवताओंके साथ आकाशसे उतरे और अर्जुन तथा श्रीकृष्णसे इस प्रकार बोले—॥ ७ ॥

कृतं युवाभ्यां कर्मेदममरैरपि दुष्करम्।
वरं वृणीतं तुष्टोऽस्मि दुर्लभं पुरुषेष्विह ॥ ८ ॥

'आप दोनोंने यह ऐसा कार्य किया है, जो देवताओंके लिये भी दुष्कर है। मैं बहुत प्रसन्न हूँ। इस लोकमें मनुष्योंके लिये जो दुर्लभ हो ऐसा कोई वर आप दोनों माँग लें' ॥ ८ ॥

पार्थस्तु वरयामास शक्रादस्त्राणि सर्वशः।
प्रदातुं तच्च शक्रस्तु कालं चक्रे महाद्युतिः ॥ ९ ॥

तब अर्जुनने इन्द्रसे सब प्रकारके दिव्यास्त्र माँगे। महातेजस्वी इन्द्रने उन अस्त्रोंको देनेके लिये समय निश्चित कर दिया ॥ ९ ॥



यदा प्रसन्नो भगवान् महादेवो भविष्यति।
तदा तुभ्यं प्रदास्यामि पाण्डवास्त्राणि सर्वशः ॥ १० ॥

(वे बोले—) 'पाण्डुनन्दन! जब तुमपर भगवान् महादेव प्रसन्न होंगे, तब मैं तुम्हें सब प्रकारके अस्त्र-शस्त्र प्रदान करूँगा ॥

अहमेव च तं कालं वेत्स्यामि कुरुनन्दन।
तपसा महता चापि दास्यामि भवतोऽप्यहम् ॥ ११ ॥
आग्नेयानि च सर्वाणि वायव्यानि च सर्वशः।
मदीयानि च सर्वाणि ग्रहीष्यसि धनंजय ॥ १२ ॥

'कुरुनन्दन! वह समय कब आनेवाला है, इसे भी मैं जानता हूँ। तुम्हारे महान् तपसे प्रसन्न होकर मैं तुम्हें सम्पूर्ण आग्नेय तथा सब प्रकारके वायव्य अस्त्र प्रदान करूँगा। धनंजय! उसी समय तुम मेरे सम्पूर्ण अस्त्रोंको ग्रहण करोगे' ॥

वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतीम्।
ददौ सुरपतिश्चैव वरं कृष्णाय धीमते ॥ १३ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने भी यह वर माँगा कि अर्जुनके साथ मेरा प्रेम निरन्तर बढ़ता रहे। इन्द्रने परम बुद्धिमान् श्रीकृष्णको वह वर दे दिया ॥ १३ ॥

एवं दत्त्वा वरं ताभ्यां सह देवैर्मरुत्पतिः।
हुताशनमनुज्ञाप्य जगाम त्रिदिवं प्रभुः ॥ १४ ॥

इस प्रकार दोनोंको वर देकर अग्निदेवकी आज्ञा ले देवताओंसहित देवराज भगवान् इन्द्र स्वर्गलोकको चले गये ॥ १४ ॥

पावकश्च तदा दावं दग्ध्वा समृगपक्षिणम्।
अहानि पञ्च चैकं च विरराम सुतर्पितः ॥ १५ ॥

अग्निदेव भी मृगों और पक्षियोंसहित सम्पूर्ण वनको जलाकर पूर्ण तृप्त हो छः दिनोंतक विश्राम करते रहे ॥ १५ ॥

जग्ध्वा मांसानि पीत्वा च मेदांसि रुधिराणि च।
युक्तः परमया प्रीत्या तावुवाचाच्युतार्जुनौ ॥ १६ ॥

जीव-जन्तुओंके मांस खाकर उनके मेद तथा रक्त पीकर अत्यन्त प्रसन्न हो अग्निने श्रीकृष्ण और अर्जुनसे कहा— ॥ १६ ॥

युवाभ्यां पुरुषाग्र्याभ्यां तर्पितोऽस्मि यथासुखम्।
अनुजानामि वां वीरौ चरतं यत्र वाञ्छितम् ॥ १७ ॥

'वीरो! आप दोनों पुरुषरत्नोंने मुझे आनन्दपूर्वक तृप्त कर दिया। अब मैं आपको अनुमति देता हूँ, जहाँ आपकी इच्छा हो, जाइये' ॥ १७ ॥

एवं तौ समनुज्ञातौ पावकेन महात्मना।
अर्जुनो वासुदेवश्च दानवश्च मयस्तथा ॥ १८ ॥
परिक्रम्य ततः सर्वे त्रयोऽपि भरतर्षभ।
रमणीये नदीकूले सहिताः समुपाविशन् ॥ १९ ॥

भरतश्रेष्ठ! महात्मा अग्निदेवके इस प्रकार आज्ञा देनेपर अर्जुन, श्रीकृष्ण तथा मयासुर सबने उनकी परिक्रमा की। फिर तीनों ही यमुनानदीके रमणीय तटपर जाकर एक साथ बैठ गये ॥ १८-१९ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यामादिपर्वणि मयदर्शनपर्वणि वरप्रदाने त्रयस्त्रिंशदधिकद्विशततमोऽध्यायः ॥ २३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारतमें व्यासनिर्मित एक लाख श्लोकोंकी संहिताके अन्तर्गत आदिपर्वके मयदर्शनपर्वमें इन्द्रवरदानविषयक दो सौ तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३३ ॥

(आदिपर्व सम्पूर्णम्)

	अनुष्टुप् छन्द	(अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप्के अनुसार गिननेपर	गद्योंको अनुष्टुप् छन्द बनाकर जोड़नेपर	कुल
उत्तरभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	७८७०½	(५११२½)	७३६६½	२८३	८८५[illegible]
दक्षिणभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक	७१०½	(१८½)	२६	×	७३६[illegible]

आदिपर्वकी पूर्ण श्लोकसंख्या—९६२६½

महाभारतके पठन एवं श्रवणकी महिमा

द्वैपायनोष्ठपुटनिःसृतमप्रमेयं
पुण्यं पवित्रमथ पापहरं शिवं च ।
यो भारतं समधिगच्छति वाच्यमानं
किं तस्य पुष्करजलैरभिषेचनेन ॥ १ ॥
यो गोशतं कनकशृङ्गमयं ददाति
विप्राय वेदविदुषे सुबहुश्रुताय ।
पुण्यां च भारतकथां सततं शृणोति
तुल्यं फलं भवति तस्य च तस्य चैव ॥ २ ॥

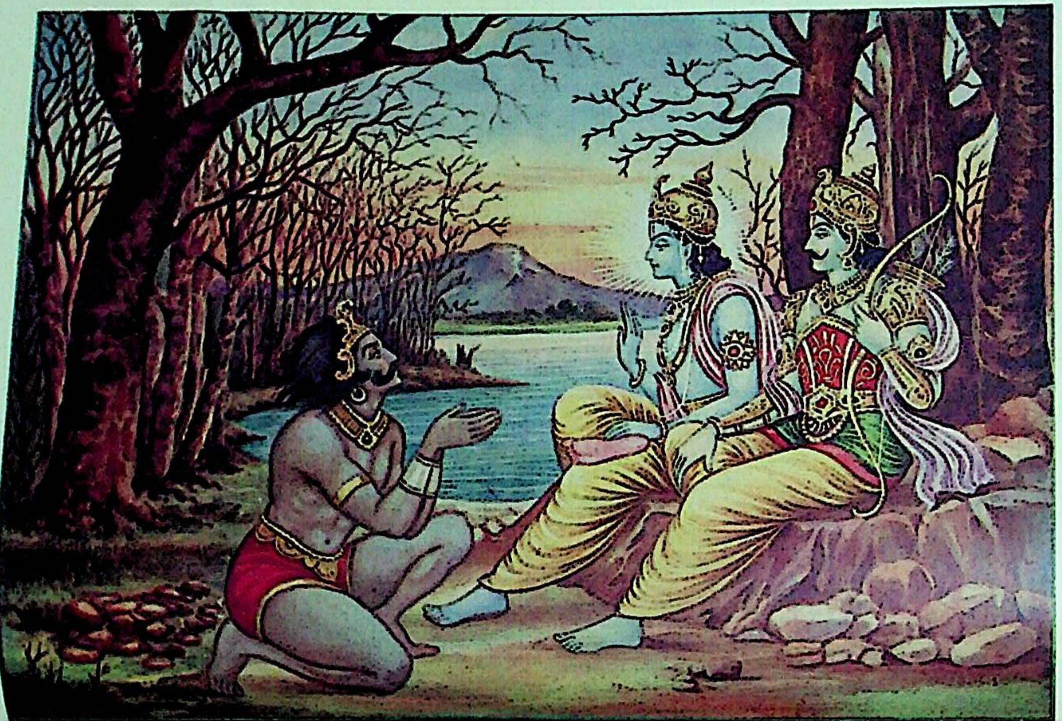
भगवान् श्रीकृष्णद्वैपायनके मुखारविन्दसे निकला हुआ यह महाभारत अत्यन्त पुण्यजनक, पवित्र, पापहारी एवं कल्याणरूप है; इसकी महिमा अपार है । जो इस महाभारतकी कथाको सुनकर उसे हृदयङ्गम कर लेता है, उसे तीर्थराज पुष्करके जलमें गोता लगानेकी क्या आवश्यकता है ? पुष्कर-स्नानका जो फल शास्त्रोंमें कहा गया है, वह उसे इस कथाके श्रवणसे ही मिल जाता है । एक ओर तो एक मनुष्य वेदज्ञ एवं अनेक शास्त्रोंके जाननेवाले ब्राह्मणको सोनेसे मढ़े हुए सींगोंवाली सौ गौएँ दान करता है और दूसरी ओर दूसरा मनुष्य नित्य महाभारतकी पुण्यमयी कथाका श्रवण करता है, उन दोनोंको समान फल मिलता है ।

(महाभारतके स्वर्गारोहणपर्वसे)

निवेदन

महाभारतका आदिपर्व पूरा हो चुका है। अब यहाँसे सभापर्वका आरम्भ हो रहा है। आदिपर्वके उत्तरभारतीय (प्रधानतया नीलकण्ठी) पाठके अनुसार ८८९० श्लोक आदिपर्वमें थे। दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी समझकर ७३६१/२ श्लोक और ले लिये गये। इससे आदिपर्व ९६२६१/२ श्लोकोंका हो गया। इसी प्रकार सभापर्वमें भी दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी श्लोक लिये जायँगे। यों श्लोकसंख्यामें वृद्धि होती रहेगी। अनुवादमें मूलका अनुसरण करनेका यथासाध्य पूरा प्रयत्न अनुवादक तथा संशोधक महोदय कर रहे हैं, तथापि भूलें तो रहती ही होंगी। विद्वान् पाठक ध्यानसे पढ़कर भूलें बतायेंगे, तो उनकी बड़ी कृपा होगी। उन भूलोंपर विचार करके आगामी संस्करणमें उनके सुधारका प्रयत्न किया जायगा। महाभारतके ग्राहक उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं, यह आनन्दका विषय है। महाभारतके अनुरागी महानुभावोंको इस ग्रन्थके ग्राहक बढ़ाकर भारतीय ज्ञान-विज्ञान तथा संस्कृतिके मूर्तस्वरूप पञ्चम वेदरूप इस महान् पुण्य ग्रन्थका प्रचार-प्रसार करनेमें विशेषरूपसे सहायक बनना चाहिये। यह हमारी विनीत प्रार्थना है।

—सम्पादक 'महाभारत'



श्रीकृष्णका मयासुरको सभानिर्माणके लिये प्रस्ताव

ॐ परमात्मने नमः

श्रीमहाभारतम्

सभापर्व

(सभाक्रियापर्व)

प्रथमोऽध्यायः

भगवान् श्रीकृष्णकी आज्ञाके अनुसार मयासुरद्वारा सभाभवन बनानेकी तैयारी

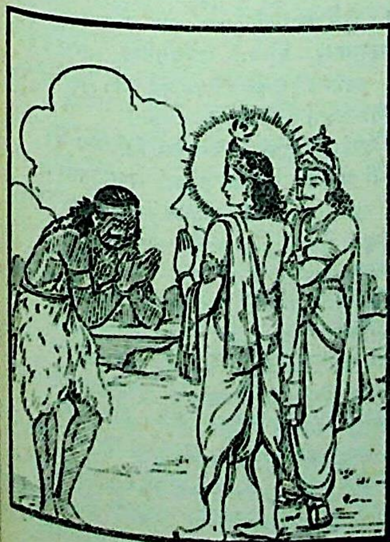
नारायणं नमस्कृत्य नरं चैव नरोत्तमम्।
देवीं सरस्वतीं व्यासं ततो जयमुदीरयेत्॥ १॥

अन्तर्यामी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण, उनके नित्यसखा नरस्वरूप नरश्रेष्ठ अर्जुन, (उनकी लीला प्रकट करनेवाली) भगवती सरस्वती और (उन लीलाओंका संकलन करनेवाले) महर्षि वेदव्यासको नमस्कार करके जय (महाभारत) का पाठ करना चाहिये॥ १॥

वैशम्पायन उवाच

ततोऽब्रवीन्मयः पार्थं वासुदेवस्य संनिधौ।
प्राञ्जलिः श्लक्ष्णया वाचा पूजयित्वा पुनः पुनः॥ २॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! खाण्डवदाहके अनन्तर मयासुरने भगवान् श्रीकृष्णके पास बैठे हुए अर्जुनकी बारंबार प्रशंसा करके हाथ जोड़कर मधुर वाणीमें उनसे कहा॥



मय उवाच

अस्मात् कृष्णात् सुसंरब्धात् पावकाच्च दिधक्षतः।
त्वया त्रातोऽस्मि कौन्तेय ब्रूहि किं करवाणि ते॥ ३॥

मयासुर बोला—कुन्तीनन्दन! आपने अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए इन भगवान् श्रीकृष्णसे तथा जला डालनेकी इच्छावाले अग्निदेवसे भी मेरी रक्षा की है। अतः बताइये, मैं (इस उपकारके बदले) आपकी क्या सेवा करूँ?॥ ३॥

अर्जुन उवाच

कृतमेव त्वया सर्वं स्वस्ति गच्छ महासुर।
प्रीतिमान् भव मे नित्यं प्रीतिमन्तो वयं च ते॥ ४॥

अर्जुनने कहा—असुरराज! तुमने इस प्रकार कृतज्ञता प्रकट करके मेरे उपकारका मानो सारा बदला चुका दिया। तुम्हारा कल्याण हो। अब तुम जाओ। मुझपर प्रेम बनाये रखना। हम भी तुम्हारे प्रति सदा स्नेहका भाव रखेंगे॥ ४॥

मय उवाच

युक्तमेतत् त्वयि विभो यथाऽऽत्थ पुरुषर्षभ।
प्रीतिपूर्वमहं किंचित् कर्तुमिच्छामि भारत॥ ५॥

मयासुर बोला—प्रभो! पुरुषोत्तम! आपने जो बात कही है, वह आप-जैसे महापुरुषके अनुरूप ही है; परंतु भारत! मैं बड़े प्रेमसे आपके लिये कुछ करना चाहता हूँ॥

अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः।
सोऽहं वै त्वत्कृते कर्तुं किंचिदिच्छामि पाण्डव॥ ६॥

पाण्डुनन्दन! मैं दानवोंका विश्वकर्मा एवं शिल्पविद्याका महान् पण्डित हूँ। अतः मैं आपके लिये किसी वस्तुका निर्माण करना चाहता हूँ॥ ६॥

(दानवानां पुरा पार्थ प्रासादा हि मया कृताः।
रम्याणि सुखगर्भाणि भोगाढ्यानि सहस्रशः॥
उद्यानानि च रम्याणि सरांसि विविधानि च।
विचित्राणि च शस्त्राणि रथाः कामगमास्तथा॥

नगराणि विशालानि साट्टप्राकारतोरणैः ।
वाहनानि च मुख्यानि विचित्राणि सहस्रशः ॥
बिलानि रमणीयानि सुखयुक्तानि वै भृशम् ।
एतत् कृतं मया सर्वं तस्मादिच्छामि फाल्गुन ॥)

कुन्तीनन्दन ! पूर्वकालमें मैंने दानवोंके बहुत-से महल बनाये हैं । इसके सिवा देखनेमें रमणीय, सुख और भोगसाधनोंसे सम्पन्न अनेक प्रकारके रमणीय उद्यानों, भाँति-भाँतिके सरोवरों, विचित्र अस्त्र-शस्त्रों, इच्छानुसार चलनेवाले रथों, अट्टालिकाओं, चहारदिवारियों और बड़े-बड़े फाटकोंसहित विशाल नगरों, हजारों अद्भुत एवं श्रेष्ठ वाहनों तथा बहुत-सी मनोहर एवं अत्यन्त सुखदायक सुरंगोंका मैंने निर्माण किया है । अतः अर्जुन ! मैं आपके लिये भी कुछ बनाना चाहता हूँ ॥

अर्जुन उवाच

प्राणकृच्छ्राद् विमुक्तं त्वमात्मानं मन्यसे मया ।
एवं गते न शक्ष्यामि किंचित् कारयितुं त्वया ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—मयासुर ! तुम मेरेद्वारा अपनेको प्राण-संकटसे मुक्त हुआ मानते हो और इसीलिये कुछ करना चाहते हो । ऐसी दशामें मैं तुमसे कोई काम नहीं करा सकूँगा ॥

न चापि तव संकल्पं मोघमिच्छामि दानव ।
कृष्णस्य क्रियतां किंचित् तथा प्रतिकृतं मयि ॥ ८ ॥

दानव ! साथ ही मैं यह भी नहीं चाहता कि तुम्हारा यह संकल्प व्यर्थ हो । इसलिये तुम भगवान् श्रीकृष्णका कोई कार्य कर दो, इससे मेरे प्रति तुम्हारा कर्तव्य पूर्ण हो जायगा ॥

चोदितो वासुदेवस्तु मयेन भरतर्षभ ।
मुहूर्तमिव संदध्यौ किमयं चोद्यतामिति ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तब मयासुरने भगवान् श्रीकृष्णसे काम बतानेका अनुरोध किया । उसके प्रेरणा करनेपर भगवान् श्रीकृष्णने अनुमानतः दो घड़ीतक विचार किया कि 'इसे कौन-सा काम बताया जाय ?' ॥ ९ ॥

ततो विचिन्त्य मनसा लोकनाथः प्रजापतिः ।
चोदयामास तं कृष्णः सभा वै क्रियतामिति ॥ १० ॥
यदि त्वं कर्तुकामोऽसि प्रियं शिल्पवतां वर ।
धर्मराजस्य दैतेय यादृशीमिह मन्यसे ॥ ११ ॥

तदनन्तर मन-ही-मन कुछ सोचकर प्रजापालक लोकनाथ भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा—'शिल्पियोंमें श्रेष्ठ दैत्यराज मय ! यदि तुम मेरा कोई प्रिय कार्य करना चाहते हो तो तुम धर्मराज युधिष्ठिरके लिये जैसा ठीक समझो, वैसा एक सभाभवन बना दो ॥ १०-११ ॥

यां कृतां नानुकुर्वन्ति मानवाः प्रेक्ष्य विस्मिताः ।
मनुष्यलोके सकले तादृशीं कुरु वै सभाम् ॥ १२ ॥

'वह सभा ऐसी बनाओ, जिसके बन जानेपर मनुष्यलोकके मानव देखकर विस्मित हो जायँ एवं उसकी नकल न कर सकें ॥ १२ ॥

यत्र दिव्यानभिप्रायान् पश्येम हि कृतांस्त्वया ।
आसुरान् मानुषांश्चैव सभां तां कुरु वै मय ॥ १३ ॥

'मयासुर ! तुम ऐसे सभाभवनका निर्माण करो, जिसमें हम तुम्हारेद्वारा अङ्कित देवता, असुर और मनुष्योंकी शिल्पनिपुणताका दर्शन कर सकें' ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रतिगृह्य तु तद्वाक्यं सम्प्रहृष्टो मयस्तदा ।
विमानप्रतिमां चक्रे पाण्डवस्य शुभां सभाम् ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! भगवान् श्रीकृष्णकी उस आज्ञाको शिरोधार्य करके मयासुर बहुत प्रसन्न हुआ और उसने उस समय पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके लिये विमान-जैसी सुन्दर सभा बनानेका निश्चय किया ॥ १४ ॥

ततः कृष्णश्च पार्थश्च धर्मराजे युधिष्ठिरे ।
सर्वमेतत् समावेद्य दर्शयामासतुर्मयम् ॥ १५ ॥

तत्पश्चात् भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुनने धर्मराज युधिष्ठिरको ये सब बातें बताकर मयासुरको उनसे मिलाया ॥ १५ ॥

तस्मै युधिष्ठिरः पूजां यथार्हमकरोत् तदा ।
स तु तां प्रतिजग्राह मयः सत्कृत्य भारत ॥ १६ ॥

भारत ! राजा युधिष्ठिरने उस समय मयासुरका यथायोग्य सत्कार किया और मयासुरने भी बड़े आदरके साथ उनका वह सत्कार ग्रहण किया ॥ १६ ॥

स पूर्वदेवचरितं तदा तत्र विशाम्पते ।
कथयामास दैतेयः पाण्डुपुत्रेण भारत ॥ १७ ॥

जनमेजय ! दैत्यराज मयने उस समय वहाँ पाण्डवोंको दैत्योंके अद्भुत चरित्र सुनाये ॥ १७ ॥

स कालं कंचिदाश्वस्य विश्वकर्मा विचिन्त्य तु ।
सभां प्रचक्रमे कर्तुं पाण्डवानां महात्मनाम् ॥ १८ ॥

कुछ दिनोंतक वहाँ आरामसे रहकर दैत्योंके विश्वकर्मा मयासुरने सोच-विचार कर महात्मा पाण्डवोंके लिये सभा बनानेकी तैयारी की ॥ १८ ॥

अभिप्रायेण पार्थानां कृष्णस्य च महात्मनः ।
पुण्येऽहनि महातेजाः कृतकौतुकमङ्गलः ॥ १९ ॥
तर्पयित्वा द्विजश्रेष्ठान् पायसेन सहस्रशः ।
धनं बहुविधं दत्त्वा तेभ्य एव च वीर्यवान् ॥ २० ॥
सर्वर्तुगुणसम्पन्नां दिव्यरूपां मनोरमाम् ।
दशकिष्कुसहस्रां तां मापयामास सर्वतः ॥ २१ ॥

उसने कुन्तीपुत्रों तथा महात्मा श्रीकृष्णकी रुचिके अनुसार सभा बनानेका निश्चय किया । किसी पवित्र तिथिको शुभ मुहूर्तमें मङ्गलानुष्ठान; स्वस्तिवाचन आदि

महातेजस्वी और पराक्रमी मयने हजारों श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको खीर खिलाकर तृप्त किया तथा उन्हें अनेक प्रकारका धन दान किया। इसके बाद उसने सभा बनानेके लिये समस्त ऋतुओंके गुणोंसे सम्पन्न दिव्य रूपवाली मनोरम सब ओरसे दस हजार हाथकी (अर्थात् दस हजार हाथ चौड़ी और दस हजार हाथ लम्बी) धरती नपवायी ॥ १९-२१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभास्थाननिर्णये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभास्थाननिर्णयविषयक पहला अध्याय पूरा हुआ ॥ १ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल २५ श्लोक हैं)

द्वितीयोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी द्वारकायात्रा

वैशम्पायन उवाच

उषित्वा खाण्डवप्रस्थे सुखवासं जनार्दनः।
पार्थैः प्रीतिसमायुक्तैः पूजनार्होऽभिपूजितः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! परम पूजनीय भगवान् श्रीकृष्ण खाण्डवप्रस्थमें सुखपूर्वक रहकर प्रेमी पाण्डवोंके द्वारा नित्य पूजित होते रहे ॥ १ ॥

गमनाय मतिं चक्रे पितुर्दर्शनलालसः।
धर्मराजमथामन्त्र्य पृथां च पृथुलोचनः ॥ २ ॥

तदनन्तर पिताके दर्शनके लिये उत्सुक होकर विशाल नेत्रोंवाले श्रीकृष्णने धर्मराज युधिष्ठिर और कुन्तीकी आज्ञा लेकर वहाँसे द्वारका जानेका विचार किया ॥ २ ॥

ववन्दे चरणौ मूर्ध्ना जगद्वन्द्यः पितृष्वसुः।
स तया मूर्ध्न्युपाघ्रातः परिष्वक्तश्च केशवः ॥ ३ ॥

जगद्वन्द्य केशवने अपनी बुआ कुन्तीके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और कुन्तीने उनका मस्तक सूँघकर उन्हें हृदयसे लगा लिया ॥ ३ ॥

ददर्शानन्तरं कृष्णो भगिनीं स्वां महायशाः।
तामुपेत्य हृषीकेशः प्रीत्या बाष्पसमन्वितः ॥ ४ ॥

तत्पश्चात् महायशस्वी हृषीकेश अपनी बहिन सुभद्रासे मिले। उसके पास जानेपर स्नेहवश उनके नेत्रोंमें आँसू भर आये ॥ ४ ॥

अर्थ्यं तथ्यं हितं वाक्यं लघु युक्तमनुत्तरम्।
उवाच भगवान् भद्रां सुभद्रां भद्रभाषिणीम् ॥ ५ ॥

भगवान्‌ने मङ्गलमय वचन बोलनेवाली कल्याणमयी सुभद्रासे बहुत थोड़े, सत्य, प्रयोजनपूर्ण, हितकारी, युक्तियुक्त एवं अकाट्य वचनोंद्वारा अपने जानेकी आवश्यकता बतायी (और उसे ढाढ़स बँधाया) ॥ ५ ॥

तया स्वजनगामीनि श्रावितो वचनानि सः।
सम्पूजितश्चाप्यसकृच्छिरसा चाभिवादितः ॥ ६ ॥

सुभद्राने बार-बार भाईकी पूजा करके मस्तक झुकाकर उन्हें प्रणाम किया और माता-पिता आदि स्वजनोंसे कहनेके लिये संदेश दिये ॥ ६ ॥

तामनुज्ञाय वार्ष्णेयः प्रतिनन्द्य च भामिनीम्।
ददर्शानन्तरं कृष्णां धौम्यं चापि जनार्दनः ॥ ७ ॥

भामिनी सुभद्राको प्रसन्न करके उससे जानेकी अनुमति लेकर वृष्णिकुलभूषण जनार्दन द्रौपदी तथा धौम्यमुनिसे मिले ॥ ७ ॥

ववन्दे च यथान्यायं धौम्यं पुरुषसत्तमः।
द्रौपदीं सान्त्वयित्वा च आमन्त्र्य च जनार्दनः॥ ८ ॥
भ्रातॄनभ्यगमद् विद्वान् पार्थेन सहितो बली।
भ्रातृभिः पञ्चभिः कृष्णो वृतः शक्र इवामरैः ॥ ९ ॥

पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने यथोचित रीतिसे धौम्यजीको प्रणाम किया और द्रौपदीको सान्त्वना दे उसकी अनुमति लेकर वे अर्जुनके साथ अन्य भाइयोंके पास गये। पाँचों भाई पाण्डवोंसे घिरे हुए विद्वान् एवं बलवान् श्रीकृष्ण देवताओंसे घिरे हुए इन्द्रकी भाँति सुशोभित हुए ॥ ८-९ ॥

यात्राकालस्य योग्यानि कर्माणि गरुडध्वजः।
कर्तुकामः शुचिर्भूत्वा स्नातवान् समलंकृतः ॥ १० ॥

तदनन्तर गरुडध्वज श्रीकृष्णने यात्राकालोचित कर्म करनेके लिये पवित्र हो स्नान करके अलङ्कार धारण किया ॥

अर्चयामास देवांश्च द्विजांश्च यदुपुङ्गवः।
माल्यजाप्यनमस्कारैर्गन्धैरुच्चावचैरपि ॥ ११ ॥

फिर उन यदुश्रेष्ठने प्रचुर पुष्प-माला, जप, नमस्कार और चन्दन आदि अनेक प्रकारके सुगन्धित पदार्थोंद्वारा देवताओं और ब्राह्मणोंकी पूजा की ॥ ११ ॥

स कृत्वा सर्वकार्याणि प्रतस्थे तस्थुषां वरः।
उपेत्य स यदुश्रेष्ठो बाह्यकक्षाद् विनिर्गतः ॥ १२ ॥

प्रतिष्ठित पुरुषोंमें श्रेष्ठ यदुप्रवर श्रीकृष्ण यात्राकालोचित सब कार्य पूर्ण करके प्रस्थित हुए और भीतरसे चलकर बाहरी ड्योढ़ीको पार करते हुए राजभवनसे बाहर निकले ॥

स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् दधिपात्रफलाक्षतैः।
वसु प्रदाय च ततः प्रदक्षिणमथाकरोत् ॥ १३ ॥

उस समय सुयोग्य ब्राह्मणोंने स्वस्तिवाचन किया और भगवान्‌ने दहीसे भरे पात्र, अक्षत, फल आदिके साथ उन ब्राह्मणोंको धन देकर उन सबकी परिक्रमा की ॥ १३ ॥

काञ्चनं रथमास्थाय ताक्ष्यकेतनमाशुगम्।
गदाचक्रासिशार्ङ्गाद्यैरायुधैरावृतं शुभम् ॥ १४ ॥
तिथावप्यथ नक्षत्रे मुहूर्ते च गुणान्विते।
प्रययौ पुण्डरीकाक्षः शैब्यसुग्रीववाहनः ॥ १५ ॥

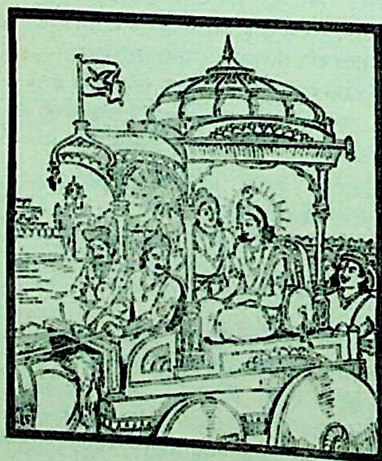
इसके बाद गरुडचिह्नित ध्वजासे सुशोभित और गदा, चक्र, खड्ग एवं शार्ङ्गधनुष आदि आयुधोंसे सम्पन्न शैब्य, सुग्रीव आदि घोड़ोंसे युक्त शुभ सुवर्णमय रथपर आरूढ़ हो कमलनयन श्रीकृष्णने उत्तम तिथि, शुभ नक्षत्र एवं गुणयुक्त मुहूर्तमें यात्रा आरम्भ की ॥ १४-१५ ॥

अन्वारुरोह चाप्येनं प्रेम्णा राजा युधिष्ठिरः।
अपास्य चास्य यन्तारं दारुकं यन्तृसत्तमम् ॥ १६ ॥

उस समय श्रीकृष्णका रथ हाँकनेवाले सारथियोंमें श्रेष्ठ दारुकको हटाकर उसके स्थानमें राजा युधिष्ठिर प्रेमपूर्वक भगवान्‌के साथ रथपर जा बैठे ॥ १६ ॥

अभीषून् सम्प्रजग्राह स्वयं कुरुपतिस्तदा।
उपारुह्यार्जुनश्चापि चामरव्यजनं सितम् ॥ १७ ॥
रुक्मदण्डं बृहद्बाहुर्विदुधाव प्रदक्षिणम्।

कुरुराज युधिष्ठिरने घोड़ोंकी बागडोर स्वयं अपने हाथमें ले ली। फिर महाबाहु अर्जुन भी रथपर बैठ गये और सुवर्णमय दण्डसे विभूषित श्वेत चँवर लेकर दाहिनी ओरसे उनके ऊपर डुलाने लगे ॥ १७½ ॥



तथैव भीमसेनोऽपि यमाभ्यां सहितो बली ॥ १८ ॥
पृष्ठतोऽनुययौ कृष्णमृत्विक्पौरजनैः सह।
(छत्रं शतशलाकं च दिव्यमाल्योपशोभितम्।
वैदूर्यमणिदण्डं च चामीकरविभूषितम् ॥
दधार तरसा भीमश्छत्रं तच्छार्ङ्गधन्वने।
उपारुह्य रथं शीघ्रं चामरव्यजने सिते ॥
नकुलः सहदेवश्च धूयमानौ जनार्दनम्।)
स तथा भ्रातृभिः सर्वैः केशवः परवीरहा ॥ १९ ॥
अन्वीयमानः शुशुभे शिष्यैरिव गुरुः प्रियैः।

इसी प्रकार नकुल सहदेवसहित बलवान् भीमसेन ऋत्विजों और पुरवासियोंके साथ भगवान् श्रीकृष्णके पीछे चल रहे थे। उन्होंने वेगपूर्वक आगे बढ़कर शार्ङ्ग धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णके ऊपर दिव्य मालाओंसे सुशोभित एवं सौ शलाकाओं (तिल्लियों) से युक्त ... विभूषित छत्र लगाया। उस छत्रमें वैदूर्यमणिका डंडा ... हुआ था। नकुल और सहदेव भी शीघ्रतापूर्वक रथपर आरूढ़ हो श्वेत चँवर और व्यजन डुलाते हुए जनार्दनकी सेवा करने लगे। उस समय अपने समस्त फुफेरे भाइयोंसे संयुक्त शत्रुदमन केशव ऐसी शोभा पाने लगे, मानो ... प्रिय शिष्योंके साथ गुरु यात्रा कर रहे हों ॥ १८-१९½ ॥

पार्थमामन्त्र्य गोविन्दः परिष्वज्य सुपीडितम् ॥ २० ॥
युधिष्ठिरं पूजयित्वा भीमसेनं यमौ तथा।
परिष्वक्तो भृशं तैस्तु यमाभ्यामभिवादितः ॥ २१ ॥

श्रीकृष्णके बिछोहसे अर्जुनको बड़ी व्यथा हो रही थी। गोविन्दने उन्हें हृदयसे लगाकर उनसे जानेकी अनुमति ली। फिर उन्होंने युधिष्ठिर और भीमसेनका चरणस्पर्श किया। युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनने भगवान्‌को छातीसे लगा लिया और नकुल-सहदेवने उनके चरणोंमें प्रणाम किया (फिर भगवान्‌ने भी उन दोनोंको छातीसे लगा लिया) ॥ २०-२१ ॥

योजनार्धमथो गत्वा कृष्णः परपुरंजयः।
युधिष्ठिरं समामन्त्र्य निवर्तस्वेति भारत ॥ २२ ॥

भारत ! शत्रुविजयी श्रीकृष्णने दो कोस दूर जानेपर युधिष्ठिरसे जानेकी अनुमति ले यह अनुरोध किया कि 'अब आप लौट जाइये' ॥ २२ ॥

ततोऽभिवाद्य गोविन्दः पादौ जग्राह धर्मवित्।
उत्थाप्य धर्मराजस्तु मूर्ध्न्युपाघ्राय केशवम् ॥ २३ ॥
पाण्डवो यादवश्रेष्ठं कृष्णं कमललोचनम्।
गम्यतामित्यनुज्ञाप्य धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

तदनन्तर धर्मज्ञ गोविन्दने प्रणाम करके युधिष्ठिरके पैर पकड़ लिये। फिर पाण्डुकुमार धर्मराज युधिष्ठिरने यादवश्रेष्ठ कमलनयन केशवको दोनों हाथोंसे उठाकर उनका मस्तक सूँघा और 'जाओ' कहकर उन्हें जानेकी आज्ञा दी ॥ २३-२४ ॥

ततस्तैः संविदं कृत्वा यथावन्मधुसूदनः।
निवर्त्य च तथा कृच्छ्रात् पाण्डवान् सपदानुगान् ॥
स्वां पुरीं प्रययौ हृष्टो यथा शक्रोऽमरावतीम्।
लोचनैरनुजग्मुस्ते तमादृष्टिपथात् तदा ॥ २६ ॥

तत्पश्चात् उनके साथ पुनः आनेका निश्चित ...

करके भगवान् मधुसूदनने पैदल आये हुए नागरिकोंसहित पाण्डवोंको बड़ी कठिनाईसे लौटाया और प्रसन्नतापूर्वक अपनी पुरी द्वारकाको गये, मानो इन्द्र अमरावतीको जा रहे हों। जबतक वे दिखायी दिये, तबतक पाण्डव अपने नेत्रोंद्वारा उनका अनुसरण करते रहे ॥ २५-२६ ॥

मनोभिरनुजग्मुस्ते कृष्णं प्रीतिसमन्वयात्।
अतृप्तमनसामेव तेषां केशवदर्शने ॥ २७ ॥
क्षिप्रमन्तर्दधे शौरिश्चक्षुषां प्रियदर्शनः।
अकामा एव पार्थास्ते गोविन्दगतमानसाः ॥ २८ ॥

अत्यन्त प्रेमके कारण उनका मन श्रीकृष्णके साथ ही चला गया। अभी केशवके दर्शनसे पाण्डवोंका मन तृप्त नहीं हुआ था, तभी नयनाभिराम भगवान् श्रीकृष्ण सहसा अदृश्य हो गये। पाण्डवोंकी श्रीकृष्णदर्शनविषयक कामना अधूरी ही रह गयी। उन सबका मन भगवान् गोविन्दके साथ ही चला गया ॥ २७-२८ ॥

निवृत्योपययुस्तूर्णं स्वं पुरं पुरुषर्षभाः।
स्यन्दनेनाथ कृष्णोऽपि त्वरितं द्वारकामगात् ॥ २९ ॥

अब वे पुरुषश्रेष्ठ पाण्डव मार्गसे लौटकर तुरंत अपने नगरकी ओर चल पड़े। उधर श्रीकृष्ण भी रथके द्वारा शीघ्र ही द्वारका जा पहुँचे ॥ २९ ॥

सात्वतेन च वीरेण पृष्ठतो यायिना तदा।
दारुकेण च सूतेन सहितो देवकीसुतः।
स गतो द्वारकां विष्णुर्गरुत्मानिव वेगवान् ॥ ३० ॥

सात्वतवंशी वीर सात्यकि भगवान् श्रीकृष्णके पीछे बैठकर यात्रा कर रहे थे और सारथि दारुक आगे था। उन दोनोंके साथ देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण वेगशाली गरुडकी भाँति द्वारकामें पहुँच गये ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

निवृत्य धर्मराजस्तु सह भ्रातृभिरच्युतः।
सुहृत्परिवृतो राजा प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपनी मर्यादासे च्युत न होनेवाले धर्मराज युधिष्ठिर भाइयोंसहित मार्गसे लौटकर सुहृदोंके साथ अपने श्रेष्ठ नगरके भीतर प्रविष्ट हुए ॥ ३१ ॥

विसृज्य सुहृदः सर्वान् भ्रातॄन् पुत्रांश्च धर्मराट्।
मुमोद पुरुषव्याघ्रो द्रौपद्या सहितो नृप ॥ ३२ ॥

राजन्! वहाँ पुरुषसिंह धर्मराजने समस्त सुहृदों, भाइयों और पुत्रोंको विदा करके राजमहलमें द्रौपदीके साथ बैठकर प्रसन्नताका अनुभव किया ॥ ३२ ॥

केशवोऽपि मुदा युक्तः प्रविवेश पुरोत्तमम्।
पूज्यमानो यदुश्रेष्ठैरुग्रसेनमुखैस्तथा ॥ ३३ ॥

इधर भगवान् केशव भी उग्रसेन आदि श्रेष्ठ यादवोंसे सम्मानित हो प्रसन्नतापूर्वक द्वारकापुरीके भीतर गये ॥ ३३ ॥

आहुकं पितरं वृद्धं मातरं च यशस्विनीम्।
अभिवाद्य बलं चैव स्थितः कमललोचनः ॥ ३४ ॥

कमलनयन श्रीकृष्णने राजा उग्रसेन, बूढ़े पिता वसुदेव और यशस्विनी माता देवकीको प्रणाम करके बलरामजीके चरणोंमें मस्तक झुकाया ॥ ३४ ॥

प्रद्युम्नसाम्बनिशठांश्चारुदेष्णं गदं तथा।
अनिरुद्धं च भानुं च परिष्वज्य जनार्दनः ॥ ३५ ॥
स वृद्धैरभ्यनुज्ञातो रुक्मिण्या भवनं ययौ।

तत्पश्चात् जनार्दनने प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, चारुदेष्ण, गद, अनिरुद्ध तथा भानु आदिको स्नेहपूर्वक हृदयसे लगाया और बड़े-बूढ़ोंकी आज्ञा लेकर रुक्मिणीजीके महलमें प्रवेश किया ॥ ३५½ ॥

मयोऽपि स महाभागः सर्वरत्नविभूषिताम्।
विधिवत् कल्पयामास सभां धर्मसुताय वै ॥ ३६ ॥

इधर महाभाग मयने भी धर्मपुत्र युधिष्ठिरके लिये विधिपूर्वक सम्पूर्ण रत्नोंसे विभूषित सभामण्डप बनानेकी मन ही-मन कल्पना की ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि भगवद्याने द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें भगवान् श्रीकृष्णकी द्वारकायात्राविषयक दूसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः

मयासुरका भीमसेन और अर्जुनको गदा और शङ्ख लाकर देना तथा उसके द्वारा अद्भुत सभाका निर्माण

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्मयः पार्थमर्जुनं जयतां वरम्।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पुनरेष्यामि चाप्यहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर मयासुरने विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनसे कहा—'भारत! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ। मैं एक जगह जाऊँगा और फिर शीघ्र ही लौट आऊँगा ॥ १ ॥

(विश्रुतां त्रिषु लोकेषु पार्थ दिव्यां सभां तव।
प्राणिनां विस्मयकरीं तव प्रीतिविवर्धिनीम्।
पाण्डवानां च सर्वेषां करिष्यामि धनंजय ॥)

'कुन्तीकुमार धनंजय! मैं आपके लिये तीनों लोकोंमें विख्यात एक दिव्य सभाका निर्माण करूँगा। जो समस्त प्राणियोंको आश्चर्यमें डालनेवाली तथा आपके साथ ही समस्त पाण्डवोंकी प्रसन्नता बढ़ानेवाली होगी ॥

उत्तरेण तु कैलासं मैनाकं पर्वतं प्रति।
यियक्षमाणेषु पुरा दानवेषु मया कृतम् ॥ २ ॥
चित्रं मणिमयं भाण्डं रम्यं बिन्दुसरः प्रति।
सभायां सत्यसंधस्य यदासीद् वृषपर्वणः ॥ ३ ॥

'पूर्वकालमें जब दैत्यलोग कैलास पर्वतसे उत्तर दिशामें स्थित मैनाक पर्वतपर यज्ञ करना चाहते थे, उस समय मैंने एक विचित्र एवं रमणीय मणिमय भाण्ड तैयार किया था, जो बिन्दुसरके समीप सत्यप्रतिज्ञ राजा वृषपर्वाकी सभामें रक्खा गया था ॥ २-३ ॥

आगमिष्यामि तद् गृह्य यदि तिष्ठति भारत।
ततः सभां करिष्यामि पाण्डवस्य यशस्विनीम् ॥ ४ ॥

'भारत ! यदि वह अबतक वहीं होगा तो उसे लेकर पुनः लौट आऊँगा। फिर उसीसे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके यशको बढ़ानेवाली सभा तैयार करूँगा ॥ ४ ॥

मनःप्रह्लादिनीं चित्रां सर्वरत्नविभूषिताम्।
अस्ति बिन्दुसरस्युग्रा गदा च कुरुनन्दन ॥ ५ ॥

'जो सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित, विचित्र एवं मनको आह्लाद प्रदान करनेवाली होगी। कुरुनन्दन! बिन्दुसरमें एक भयंकर गदा भी है ॥ ५ ॥

निहिता भावयाम्येवं राज्ञा हत्वा रणे रिपून्।
सुवर्णबिन्दुभिश्चित्रा गुर्वी भारसहा दृढा ॥ ६ ॥

'मैं समझता हूँ, राजा वृषपर्वाने युद्धमें शत्रुओंका संहार करके वह गदा वहीं रख दी थी। वह गदा बड़ी भारी है, विशेष भार या आघात सहन करनेमें समर्थ एवं सुदृढ है। उसमें सोनेकी फूलियाँ लगी हुई हैं, जिनसे वह बड़ी विचित्र दिखायी देती है ॥ ६ ॥

सा वै शतसहस्रस्य सम्मिता शत्रुघातिनी।
अनुरूपा च भीमस्य गाण्डीवं भवतो यथा ॥ ७ ॥

'शत्रुओंका संहार करनेवाली वह गदा अकेली ही एक लाख गदाओंके बराबर है। जैसे गाण्डीव धनुष आपके योग्य है, वैसे ही वह गदा भीमसेनके योग्य होगी ॥ ७ ॥

वारुणश्च महाशङ्खो देवदत्तः सुघोषवान्।
सर्वमेतत् प्रदास्यामि भवते नात्र संशयः ॥ ८ ॥

'वहाँ वरुणदेवका देवदत्त नामक महान् शङ्ख भी है, जो बड़ी भारी आवाज करनेवाला है। ये सब वस्तुएँ लाकर मैं आपको भेंट करूँगा, इसमें संशय नहीं है' ॥ ८ ॥

इत्युक्त्वा सोऽसुरः पार्थं प्रागुदीचीं दिशं गतः।
अथोत्तरेण कैलासान्मैनाकं पर्वतं प्रति ॥ ९ ॥

अर्जुनसे ऐसा कहकर मयासुर पूर्वोत्तर दिशा (ईशानकोण) में कैलाससे उत्तर मैनाक पर्वतके पास गया ॥ ९ ॥

हिरण्यशृङ्गः सुमहान् महामणिमयो गिरिः।
रम्यं बिन्दुसरो नाम यत्र राजा भगीरथः ॥ १० ॥
द्रष्टुं भागीरथीं गङ्गामुवास बहुलाः समाः।

'वहीं हिरण्यशृङ्ग नामक महामणिमय विशाल पर्वत है, जहाँ रमणीय बिन्दुसर नामक तीर्थ है। वहीं राजा भगीरथने भागीरथी गङ्गाका दर्शन करनेके लिये बहुत वर्षोंतक (तप करते हुए) निवास किया था ॥ १०½ ॥

यत्रेष्टं सर्वभूतानामीश्वरेण महात्मना ॥ ११ ॥
आहृताः क्रतवो मुख्याः शतं भरतसत्तम।
यत्र यूपा मणिमयाश्चैत्याश्चापि हिरण्मयाः ॥ १२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वहीं सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी महात्मा प्रजापतिने मुख्य-मुख्य सौ यज्ञोंका अनुष्ठान किया था, जिनमें सोनेकी वेदियाँ और मणियोंके खंभे बने थे ॥ ११-१२ ॥

शोभार्थं विहितास्तत्र न तु दृष्टान्ततः कृताः।
अत्रेष्ट्वा स गतः सिद्धिं सहस्राक्षः शचीपतिः ॥ १३ ॥

यह सब शोभाके लिये बनाया गया था, शास्त्रीय विधि अथवा सिद्धान्तके अनुसार नहीं। सहस्र नेत्रोंवाले शचीपति इन्द्रने भी वहीं यज्ञ करके सिद्धि प्राप्त की थी ॥ १३ ॥

यत्र भूतपतिः सृष्ट्वा सर्वान् लोकान् सनातनः।
उपास्यते तिग्मतेजाः स्थितो भूतैः सहस्रशः ॥ १४ ॥

सम्पूर्ण लोकोंके स्रष्टा और समस्त प्राणियोंके अधिपति उग्रतेजस्वी सनातन देवता महादेवजी वहीं रहकर सहस्रों भूतोंसे सेवित होते हैं ॥ १४ ॥

नरनारायणौ ब्रह्मा यमः स्थाणुश्च पञ्चमः।
उपासते यत्र सत्रं सहस्रयुगपर्यये ॥ १५ ॥

एक हजार युग बीतनेपर वहीं नर-नारायण ऋषि, ब्रह्मा, यमराज और पाँचवें महादेवजी यज्ञका अनुष्ठान करते हैं।

यत्रेष्टं वासुदेवेन सत्रैर्वर्षगणान् बहून्।
श्रद्दधानेन सततं धर्मसम्प्रतिपत्तये ॥ १६ ॥

यह वही स्थान है, जहाँ भगवान् वासुदेवने धर्मपरम्पराकी रक्षाके लिये बहुत वर्षोंतक निरंतर श्रद्धापूर्वक यज्ञ किया था।

सुवर्णमालिनो यूपाश्चैत्याश्चाप्यतिभास्वराः।
ददौ यत्र सहस्राणि प्रयुतानि च केशवः ॥ १७ ॥

उस यज्ञमें स्वर्णमालाओंसे मण्डित खंभे और अत्यन्त चमकीली वेदियाँ बनी थीं। भगवान् केशवने उन यज्ञोंमें सहस्रों-लाखों वस्तुएँ दानमें दी थीं ॥ १७ ॥

तत्र गत्वा स जग्राह गदां शङ्खं च भारत।
स्फाटिकं च सभाद्रव्यं यदासीद् वृषपर्वणः ॥ १८ ॥

भारत ! तदनन्तर मयासुरने वहाँ जाकर वह गदा, शङ्ख और सभा बनानेके लिये स्फटिक मणिमय द्रव्य ले लिया, जो पहले वृषपर्वाके अधिकारमें था ॥ १८ ॥

किंकरैः सह रक्षोभिर्यदरक्षन्महद् धनम्।
तदगृह्णान्मयस्तत्र गत्वा सर्वं महासुरः ॥ १९ ॥

बहुत-से किंकर तथा राक्षस जिस महान् धनकी रक्षा करते थे, वहाँ जाकर महान् असुर मयने वह सब ले लिया ॥ १९ ॥

तदाहृत्य च तां चक्रे सोऽसुरोऽप्रतिमां सभाम्।
विश्रुतां त्रिषु लोकेषु दिव्यां मणिमयीं शुभाम् ॥ २० ॥

वे सब वस्तुएँ लाकर उस असुरने वह अनुपम सभा तैयार की, जो तीनों लोकोंमें विख्यात, दिव्य, मणिमयी और शुभ एवं सुन्दर थी ॥ २० ॥

गदां च भीमसेनाय प्रवरां प्रददौ तदा।
देवदत्तं चार्जुनाय शङ्खप्रवरमुत्तमम् ॥ २१ ॥

उसने उस समय वह श्रेष्ठ गदा भीमसेनको और देवदत्त नामक उत्तम शङ्ख अर्जुनको भेंट कर दिया ॥ २१ ॥

यस्य शङ्खस्य नादेन भूतानि प्रचकम्पिरे।
सभा च सा महाराज शातकुम्भमयद्रुमा ॥ २२ ॥

उस शङ्खकी आवाज सुनकर समस्त प्राणी काँप उठते थे। महाराज! उस सभामें सुवर्णमय वृक्ष शोभा पाते थे ॥

दशकिष्कुसहस्राणि समन्तादायताभवत्।
यथा वह्नेर्यथार्कस्य सोमस्य च यथा सभा ॥ २३ ॥
भ्राजमाना तथात्यर्थं दधार परमं वपुः।

वह सब ओरसे दस हजार हाथ विस्तृत थी (अर्थात् उसकी लंबाई और चौड़ाई भी दस-दस हजार हाथ थी)। जैसे अग्नि, सूर्य और चन्द्रमाकी सभा प्रकाशित होती है, उसी प्रकार अत्यन्त उद्भासित होनेवाली उस सभाने बड़ा मनोहर रूप धारण किया ॥ २३½ ॥

अभिप्रतीव प्रभया प्रभामर्कस्य भास्वराम् ॥ २४ ॥

वह अपनी प्रभाद्वारा सूर्यदेवकी तेजोमयी प्रभासे टक्कर लेती थी ॥ २४ ॥

प्रबभौ ज्वलमानेव दिव्या दिव्येन वर्चसा।
नवमेघप्रतीकाशा दिवमावृत्य विष्ठिता।
आयता विपुला रम्या विपाप्मा विगतक्लमा ॥ २५ ॥

वह दिव्य सभा अपने अलौकिक तेजसे निरन्तर प्रदीप्त-सी जान पड़ती थी। उसकी ऊँचाई इतनी अधिक थी कि नूतन मेघोंकी घटाके समान वह आकाशको घेरकर खड़ी थी। उसका विस्तार भी बहुत था। वह रमणीय सभा पाप-तापका नाश करनेवाली थी ॥ २५ ॥

उत्तमद्रव्यसम्पन्ना रत्नप्राकारतोरणा।
बहुचित्रा बहुधना सुकृता विश्वकर्मणा ॥ २६ ॥

उत्तमोत्तम द्रव्योंसे उसका निर्माण किया गया था। उसके परकोटे और फाटक रत्नोंसे बने हुए थे। उसमें अनेक प्रकारके अद्भुत चित्र अङ्कित थे। वह बहुत धनसे पूर्ण थी। दानवोंके विश्वकर्मा मयासुरने उस सभाको बहुत सुन्दरतासे बनाया था ॥ २६ ॥

न दाशार्ही सुधर्मा वा ब्रह्मणो वाथ तादृशी।
सभारूपेण सम्पन्ना यां चक्रे मतिमान् मयः ॥ २७ ॥

बुद्धिमान् मयने जिस सभाका निर्माण किया था, उसके समान सुन्दर यादवोंकी सुधर्मा सभा अथवा ब्रह्माजीकी सभा भी नहीं थी ॥ २७ ॥

तां स्म तत्र मयेनोक्ता रक्षन्ति च वहन्ति च।
सभामष्टौ सहस्राणि किंकरा नाम राक्षसाः ॥ २८ ॥

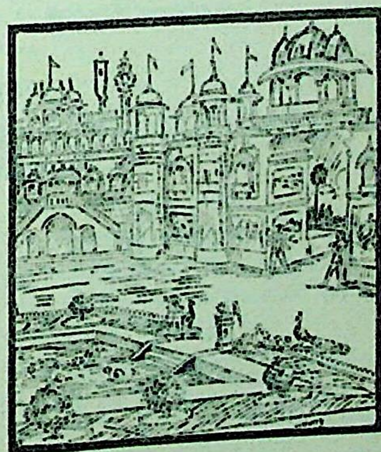
मयासुरकी आज्ञाके अनुसार आठ हजार किंकर नामक राक्षस उस सभाकी रक्षा करते और उसे एक स्थानसे दूसरे स्थानपर उठाकर ले जाते थे ॥ २८ ॥

अन्तरिक्षचरा घोरा महाकाया महाबलाः।
रक्ताक्षाः पिङ्गलाक्षाश्च शुक्तिकर्णाः प्रहारिणः ॥ २९ ॥

वे राक्षस भयंकर आकृतिवाले, आकाशमें विचरनेवाले, विशालकाय और महाबली थे। उनकी आँखें लाल और पिंगलवर्णकी थीं तथा कान सीपीके समान जान पड़ते थे। वे सब-के-सब प्रहार करनेमें कुशल थे ॥ २९ ॥

तस्यां सभायां नलिनीं चकाराप्रतिमां मयः।
वैदूर्यपत्रविततां मणिनालमयाम्बुजाम् ॥ ३० ॥

मयासुरने उस सभाभवनके भीतर एक बड़ी सुन्दर पुष्करिणी बना रक्खी थी, जिसकी कहीं तुलना नहीं थी। उसमें इन्द्रनीलमणिमय कमलके पत्ते फैले हुए थे। उन कमलोंके मृणाल मणियोंके बने थे ॥ ३० ॥



पद्मसौगन्धिकवतीं नानाद्विजगणायुताम्।
पुष्पितैः पङ्कजैश्चित्रां कूर्मैर्मत्स्यैश्च काञ्चनैः।
चित्रस्फटिकसोपानां निष्पङ्कसलिलां शुभाम् ॥ ३१ ॥

उसमें पद्मरागमणिमय कमलोंकी मनोहर सुगंध छा रही थी। अनेक प्रकारके पक्षी उसमें रहते थे। खिले हुए कमलों और सुनहली मछलियों तथा कछुओंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उस पोखरीमें उतरनेके लिये स्फटिक

मणिकी विचित्र सीढ़ियाँ बनी थीं। उसमें पंकरहित स्वच्छ जल भरा हुआ था। वह देखनेमें बड़ी सुन्दर थी ॥ ३१ ॥

मन्दानिलसमुद्धूतां मुक्ताबिन्दुभिराचिताम्।
महामणिशिलापट्टबद्धपर्यन्तवेदिकाम् ॥ ३२ ॥

मन्द वायुसे उद्वेलित हो जब जलकी बूँदें उछलकर कमलके पत्तोंपर बिखर जाती थीं, उस समय वह सारी पुष्करिणी मौक्तिकबिन्दुओंसे व्याप्त जान पड़ती थी। उसके चारों ओरके घाटोंपर बड़ी-बड़ी मणियोंकी चौकोर शिलाखण्डोंसे पक्की वेदियाँ बनायी गयी थीं ॥ ३२ ॥

मणिरत्नचितां तां तु केचिदभ्येत्य पार्थिवाः।
दृष्ट्वापि नाभ्यजानन्त तेऽज्ञानात् प्रपतन्त्युत ॥ ३३ ॥

मणियों तथा रत्नोंसे व्याप्त होनेके कारण कुछ राजालोग उस पुष्करिणीके पास आकर और उसे देखकर भी उसकी यथार्थतापर विश्वास नहीं करते थे और भ्रमसे उसे स्थल समझकर उसमें गिर पड़ते थे ॥ ३३ ॥

तां सभामभितो नित्यं पुष्पवन्तो महाद्रुमाः।
आसन् नानाविधा लोलाः शीतच्छाया मनोरमाः॥३४॥

उस सभाभवनके सब ओर अनेक प्रकारके बड़े-बड़े वृक्ष लहरा रहे थे, जो सदा फूलोंसे भरे रहते थे। उनकी छाया बड़ी शीतल थी। वे मनोरम वृक्ष सदा हवाके झोंकेसे हिलते रहते थे ॥ ३४ ॥

काननानि सुगन्धीनि पुष्करिण्यश्च सर्वशः।
हंसकारण्डवोपेताश्चक्रवाकोपशोभिताः ॥ ३५ ॥

केवल वृक्ष ही नहीं; उस भवनके चारों ओर अनेक सुगन्धित वन, उपवन और बावलियाँ भी थीं, जो हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षियोंसे युक्त होनेके कारण बड़ी शोभा पा रही थीं ॥ ३५ ॥

जलजानां च पद्मानां स्थलजानां च सर्वशः।
मारुतो गन्धमादाय पाण्डवान् स निषेवते ॥ ३६ ॥

वहाँ जल और स्थलमें होनेवाले कमलोंकी सुगन्ध लेकर वायु सदा पाण्डवोंकी सेवा किया करती थी ॥ ३६ ॥

ईदृशीं तां सभां कृत्वा मासैः परिचतुर्दशैः।
निष्ठितां धर्मराजाय मयो राजन् न्यवेदयत् ॥ ३७ ॥

मयासुरने पूरे चौदह महीनोंमें इस प्रकारकी उस अद्भुत सभाका निर्माण किया था। राजन्! जब वह बनकर तैयार हो गयी, तब उसने धर्मराजको इस बातकी सूचना दी ॥ ३७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभानिर्माणे तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभानिर्माणविषयक तीसरा अध्याय पूरा हुआ ॥ ३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३८½ श्लोक हैं)

चतुर्थोऽध्यायः

मयद्वारा निर्मित सभाभवनमें धर्मराज युधिष्ठिरका प्रवेश तथा सभामें स्थित महर्षियों और राजाओं आदिका वर्णन

(वैशम्पायन उवाच

तां तु कृत्वा सभां श्रेष्ठां मयश्चार्जुनमब्रवीत्।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस श्रेष्ठ सभाभवनका निर्माण करके मयासुरने अर्जुनसे कहा ॥

मय उवाच

एषा सभा सव्यसाचिन् ध्वजो ह्यत्र भविष्यति ॥

मयासुर बोला—सव्यसाचिन्! यह है आपकी सभा, इसमें एक ध्वजा होगी ॥

भूतानां च महावीर्यो ध्वजाग्रे किङ्करो गणः।
तव विस्फारघोषेण मेघवन्निनदिष्यति ॥

उसके अग्रभागमें भूतोंका महापराक्रमी किंकर नामक गण निवास करेगा। जिस समय तुम्हारे धनुषकी टंकारध्वनि होगी, उस समय उस ध्वनिके साथ ये भूत भी मेघोंके समान गर्जना करेंगे ॥

अयं हि सूर्यसंकाशो ज्वलनस्य रथोत्तमः।
इमे च दिविजाः श्वेता वीर्यवन्तो हयोत्तमाः ॥

मायामयः कृतो ह्येष ध्वजो वानरलक्षणः।
असज्जमानो वृक्षेषु धूमकेतुरिवोच्छ्रितः ॥

यह जो सूर्यके समान तेजस्वी अग्निदेवका उत्तम रथ है और ये जो श्वेत वर्णवाले दिव्य एवं बलवान् अश्वरत्न हैं तथा यह जो वानरचिह्नसे उपलक्षित ध्वज है, इन सबका निर्माण मायासे ही हुआ है। यह ध्वज वृक्षोंमें कहीं अटकता नहीं है तथा अग्निकी लपटोंके समान सदा ऊपरकी ओर उठा रहता है ॥

बहुवर्णं हि लक्ष्येत ध्वजं वानरलक्षणम्।
ध्वजोत्कटं ह्यनवमं युद्धे द्रक्ष्यसि विष्ठितम् ॥

आपका यह वानरचिह्नित ध्वज अनेक रंगका दिखायी देता है। आप युद्धमें इस उत्कट एवं स्थिर ध्वजको झुकता नहीं देखेंगे ॥

इत्युक्त्वाऽऽलिङ्ग्य बीभत्सुं विसृष्टः प्रययौ मयः।)

ऐसा कहकर मयासुरने अर्जुनको हृदयसे लगा लिया और उनसे विदा लेकर (अभीष्ट स्थानको) चला गया।

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रवेशनं तस्यां चक्रे राजा युधिष्ठिरः।
अयुतं भोजयित्वा तु ब्राह्मणानां नराधिपः॥ १॥
साज्येन पायसेनैव मधुना मिश्रितेन च।
कृसरेणाथ जीवन्त्या हविष्येण च सर्वशः॥ २॥
भक्ष्यप्रकारैर्विविधैः फलैश्चापि तथा नृप।
चोष्यैश्च विविधै राजन् पेयैश्च बहुविस्तरैः॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा युधिष्ठिरने घी और मधु मिलायी हुई खीर, खिचड़ी, जीवन्तिकाके साग, सब प्रकारके हविष्य, भाँति-भाँतिके भक्ष्य तथा फल, ईख आदि नाना प्रकारके चोष्य और बहुत अधिक पेय (शर्बत) आदि सामग्रियोंद्वारा दस हजार ब्राह्मणोंको भोजन कराकर उस सभाभवनमें प्रवेश किया॥ १—३॥

अहतैश्चैव वासोभिर्माल्यैरुच्चावचैरपि।
तर्पयामास विप्रेन्द्रान् नानादिग्भ्यः समागतान्॥ ४॥

उन्होंने नये-नये वस्त्र और छोटे-बड़े अनेक प्रकारके हार आदिके उपहार देकर अनेक दिशाओंसे आये हुए श्रेष्ठ ब्राह्मणोंको तृप्त किया॥ ४॥

ददौ तेभ्यः सहस्राणि गवां प्रत्येकशः पुनः।
पुण्याहघोषस्तत्रासीद् दिवस्पृगिव भारत॥ ५॥

भारत! तत्पश्चात् उन्होंने प्रत्येक ब्राह्मणको एक-एक हजार गौएँ दीं। उस समय वहाँ ब्राह्मणोंके पुण्याहवाचनका गम्भीर घोष मानो स्वर्गलोकतक गूँज उठा॥ ५॥

वादित्रैर्विविधैर्दिव्यैर्गन्धैरुच्चावचैरपि।
पूजयित्वा कुरुश्रेष्ठो दैवतानि निवेश्य च॥ ६॥

कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने अनेक प्रकारके बाजे तथा भाँति-भाँतिके दिव्य सुगन्धित पदार्थोंद्वारा उस भवनमें देवताओंकी स्थापना एवं पूजा की। इसके बाद वे उस भवनमें प्रविष्ट हुए॥ ६॥

तत्र मल्ला नटा झल्लाः सूता वैतालिकास्तथा।
उपतस्थुर्महात्मानं धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम्॥ ७॥

वहाँ धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिरकी सेवामें कितने ही मल्ल (बाहुयुद्ध करनेवाले), नट, झल्ल, (लकुटियोंसे युद्ध करनेवाले), सूत और वैतालिक उपस्थित हुए॥ ७॥

तथा स कृत्वा पूजां तां भ्रातृभिः सह पाण्डवः।
तस्यां सभायां रम्यायां रेमे शक्रो यथा दिवि॥ ८॥

इस प्रकार पूजनका कार्य सम्पन्न करके भाइयोंसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति उस रमणीय सभामें आनन्दपूर्वक रहने लगे॥ ८॥

सभायामृषयस्तस्यां पाण्डवैः सह आसते।
आसांचक्रुर्नरेन्द्राश्च नानादेशसमागताः॥ ९॥

उस सभामें ऋषि तथा विभिन्न देशोंसे आये हुए नरेश पाण्डवोंके साथ बैठा करते थे॥ ९॥

असितो देवलः सत्यः सर्पिर्माली महाशिराः।
अर्वावसुः सुमित्रश्च मैत्रेयः शुनको बलिः॥ १०॥
बको दाल्भ्यः स्थूलशिराः कृष्णद्वैपायनः शुकः।
सुमन्तुर्जैमिनिः पैलो व्यासशिष्यास्तथा वयम्॥ ११॥
तित्तिरिर्याज्ञवल्क्यश्च ससुतो लोमहर्षणः।
अप्सुहोम्यश्च धौम्यश्च अणीमाण्डव्यकौशिकौ॥ १२॥
दामोष्णीषस्त्रैबलिश्च पर्णादो घटजानुकः।
मौञ्जायनो वायुभक्षः पाराशर्यश्च सारिकः॥ १३॥
बलिवाकः सिनीवाकः सत्यपालः कृतश्रमः।
जातूकर्णः शिखावांश्च आलम्बः पारिजातकः॥ १४॥
पर्वतश्च महाभागो मार्कण्डेयो महामुनिः।
पवित्रपाणिः सावर्णो भालुकिर्गालवस्तथा॥ १५॥
जङ्घाबन्धुश्च रैभ्यश्च कोपवेगस्तथा भृगुः।
हरिबभ्रुश्च कौण्डिन्यो बभ्रुमाली सनातनः॥ १६॥
काक्षीवानौशिजश्चैव नाचिकेतोऽथ गौतमः।
पैङ्ग्यो वराहः शुनकः शाण्डिल्यश्च महातपाः॥ १७॥
कुक्कुरो वेणुजङ्घोऽथ कालापः कठ एव च।
मुनयो धर्मविद्वांसो धृतात्मानो जितेन्द्रियाः॥ १८॥

असित, देवल, सत्य, सर्पिमाली, महाशिरा, अर्वावसु, सुमित्र, मैत्रेय, शुनक, बलि, बक—दाल्भ्य, स्थूलशिरा, कृष्ण-द्वैपायन, शुकदेव, व्यासजीके शिष्य सुमन्तु, जैमिनि, पैल तथा हमलोग, तित्तिरि, याज्ञवल्क्य, पुत्रसहित लोमहर्षण, अप्सुहोम्य, धौम्य, अणीमाण्डव्य, कौशिक, दामोष्णीष, त्रैबलि, पर्णाद, घटजानुक, मौञ्जायन, वायुभक्ष, पाराशर्य, सारिक, बलिवाक, सिनीवाक, सत्यपाल, कृतश्रम, जातूकर्ण, शिखावान्, आलम्ब, पारिजातक, महाभाग पर्वत, महामुनि मार्कण्डेय, पवित्रपाणि, सावर्ण, भालुकि, गालव, जङ्घाबन्धु, रैभ्य, कोपवेग, भृगु, हरिबभ्रु, कौण्डिन्य, बभ्रुमाली, सनातन, काक्षीवान्, औशिज, नाचिकेत, गौतम, पैङ्ग्य, वराह, शुनक, (द्वितीय), महातपस्वी शाण्डिल्य, कुक्कुर, वेणुजङ्घ, कालाप तथा कठ आदि धर्मज्ञ, जितात्मा और जितेन्द्रिय मुनि उस सभामें विराजते थे॥ १०-१८॥

एते चान्ये च बहवो वेदवेदाङ्गपारगाः।
उपासते महात्मानं सभायामृषिसत्तमाः॥ १९॥

ये तथा और भी वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत बहुत-से मुनि-श्रेष्ठ उस सभामें महात्मा युधिष्ठिरके पास बैठा करते थे॥ १९॥

कथयन्तः कथाः पुण्या धर्मज्ञाः शुचयोऽमलाः।
तथैव क्षत्रियश्रेष्ठा धर्मराजमुपासते॥ २०॥

वे धर्मज्ञ, पवित्रात्मा और निर्मल महर्षि राजा युधिष्ठिरको पवित्र कथाएँ सुनाया करते थे। इसी प्रकार क्षत्रियोंमें श्रेष्ठ नरेश भी वहाँ धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते थे॥ २०॥

श्रीमान् महात्मा धर्मात्मा मुञ्जकेतुर्विवर्धनः ।
संग्रामजिद् दुर्मुखश्च उग्रसेनश्च वीर्यवान् ॥ २१ ॥
कक्षसेनः क्षितिपतिः क्षेमकश्चापराजितः ।
कम्बोजराजः कमठः कम्पनश्च महाबलः ॥ २२ ॥
सततं कम्पयामास यवनानेक एव यः ।
बलपौरुषसम्पन्नान् कृतास्त्रानमितौजसः ।
यथासुरान् कालकेयान् देवो वज्रधरस्तथा ॥ २३ ॥

श्रीमान् महामना धर्मात्मा मुञ्जकेतु, विवर्धन, संग्रामजित्, दुर्मुख, पराक्रमी उग्रसेन, राजा कक्षसेन, अपराजित क्षेमक, कम्बोजराज कमठ और महाबली कम्पन, जो अकेले ही बल-पौरुषसम्पन्न, अस्त्रविद्याके ज्ञाता तथा अमिततेजस्वी यवनोंको सदा उसी प्रकार कँपाते रहते थे, जैसे वज्रधारी इन्द्रने कालकेय नामक असुरोंको कम्पित किया था। (ये सभी नरेश धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते रहते थे)॥२१-२३॥

जटासुरो मद्रकाणां च राजा
कुन्तिः पुलिन्दश्च किरातराजः ।
तथाऽऽङ्गवाङ्गौ सह पुण्ड्रकेण
पाण्ड्योड्रराजौ च सहान्ध्रकेण ॥ २४ ॥

अङ्गो वङ्गः सुमित्रश्च शैब्यश्चामित्रकर्शनः ।
किरातराजः सुमना यवनाधिपतिस्तथा ॥ २५ ॥
चाणूरो देवरातश्च भोजो भीमरथश्च यः ।
श्रुतायुधश्च कालिङ्गो जयसेनश्च मागधः ॥ २६ ॥
सुकर्मा चेकितानश्च पुरुश्चामित्रकर्शनः ।
केतुमान् वसुदानश्च वैदेहोऽथ कृतक्षणः ॥ २७ ॥
सुधर्मा चानिरुद्धश्च श्रुतायुश्च महाबलः ।
अनूपराजो दुर्धर्षः क्रमजिच्च सुदर्शनः ॥ २८ ॥
शिशुपालः सहसुतः करूषाधिपतिस्तथा ।
वृष्णीनां चैव दुर्धर्षाः कुमारा देवरूपिणः ॥ २९ ॥
आहुको विपृथुश्चैव गदः सारण एव च ।
अक्रूरः कृतवर्मा च सत्यकश्च शिनेः सुतः ॥ ३० ॥
भीष्मकोऽथाकृतिश्चैव द्युमत्सेनश्च वीर्यवान् ।
केकयाश्च महेष्वासा यज्ञसेनश्च सौमकिः ॥ ३१ ॥
केतुमान् वसुमांश्चैव कृतास्त्रश्च महाबलः ।
एते चान्ये च बहवः क्षत्रिया मुख्यसम्मताः ॥ ३२ ॥
उपासते सभायां स्म कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ।

इनके सिवा जटासुर, मद्रराज शल्य, राजा कुन्तिभोज, किरातराज पुलिन्द, अङ्गराज, वङ्गराज, पुण्ड्रक, पाण्ड्य, उड्रराज, आन्ध्रनरेश, अङ्ग, वङ्ग, सुमित्र, शत्रुसूदन शैब्य, किरातराज सुमना, यवननरेश, चाणूर, देवरात, भोज, भीमरथ, कलिंगराज श्रुतायुध, मगधदेशीय जयसेन, सुकर्मा, चेकितान, शत्रुसंहारक पुरु, केतुमान्, वसुदान, विदेहराज कृतक्षण, सुधर्मा, अनिरुद्ध, महाबली श्रुतायु, दुर्धर्ष वीर अनूपराज, क्रमजित्, सुदर्शन, पुत्रसहित शिशुपाल, करूषराज दन्तवक्त्र, वृष्णिवंशियोंके देवस्वरूप दुर्धर्ष राजकुमार, आहुक, विपृथु, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा, शिनिपुत्र सत्यक, भीष्मक, आकृति, पराक्रमी द्युमत्सेन, महान् धनुर्धर, केकयराजकुमार, सोमक-पौत्र द्रुपद, केतुमान् (द्वितीय) तथा अस्त्रविद्यामें निपुण महाबली वसुमान्—ये तथा और भी बहुतसे प्रधान क्षत्रिय उस सभामें कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी सेवामें बैठते थे ॥ २४-३२½ ॥

अर्जुनं ये च संश्रित्य राजपुत्रा महाबलाः ॥ ३३ ॥
अशिक्षन्त धनुर्वेदं रौरवाजिनवाससः ।
तत्रैव शिक्षिता राजन् कुमारा वृष्णिनन्दनाः ॥ ३४ ॥

जो महाबली राजकुमार अर्जुनके पास रहकर कृष्ण मृगचर्म धारण किये धनुर्वेदकी शिक्षा लेते थे (वे भी उस सभा-भवनमें बैठकर राजा युधिष्ठिरकी उपासना करते थे)। राजन्! वृष्णिवंशको आनन्दित करनेवाले राजकुमारोंको वहीं शिक्षा मिली थी ॥ ३३-३४ ॥

रौक्मिणेयश्च साम्बश्च युयुधानश्च सात्यकिः ।
सुधर्मा चानिरुद्धश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः ॥ ३५ ॥
एते चान्ये च बहवो राजानः पृथिवीपते ।
धनंजयसखा चात्र नित्यमास्ते स्म तुम्बुरुः ॥ ३६ ॥

रुक्मिणीनन्दन प्रद्युम्न, जाम्बवतीकुमार साम्ब, सत्यक-पुत्र (सात्यकि) युयुधान, सुधर्मा, अनिरुद्ध, नरश्रेष्ठ शैब्य—ये और दूसरे भी बहुत-से राजा उस सभामें बैठते थे। पृथ्वीपते! अर्जुनके सखा तुम्बुरु गन्धर्व भी उस सभामें नित्य विराजमान होते थे ॥ ३५-३६ ॥

उपासते महात्मानमासीनं सप्तविंशतिः ।
चित्रसेनः सहामात्यो गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥ ३७ ॥

मन्त्रीसहित चित्रसेन आदि सत्ताईस गन्धर्व और अप्सराएँ सभामें बैठे हुए महात्मा युधिष्ठिरकी उपासना करती थीं ॥ ३७ ॥

गीतवादित्रकुशलाः साम्यतालविशारदाः ।
प्रमाणेऽथ लये स्थाने किंनराः कृतनिश्रमाः ॥ ३८ ॥
संचोदितास्तुम्बुरुणा गन्धर्वसहितास्तदा ।
गायन्ति दिव्यतानैस्ते यथान्यायं मनस्विनः ।
पाण्डुपुत्रान्नृषींश्चैव रमयन्त उपासते ॥ ३९ ॥

गाने-बजानेमें कुशल, साम्य[1] और ताल[2]के विशेषज्ञ तथा प्रमाण, लय और स्थानकी जानकारीके लिये विशेष परिश्रम किये हुए मनस्वी किंनर तुम्बुरुकी आज्ञासे वहाँ अन्य गन्धर्वोंके साथ दिव्य तान छेड़ते हुए यथोचित रीतिसे गाते और पाण्डवों...

---

१. संगीतमें नृत्य, गीत और वाद्यकी समताको लय अथवा साम्य कहते हैं; जैसा कि अमरकोषका वाक्य है—'लयः साम्यम्'।

२. नृत्य या गीतमें उसके काल और क्रियाका परिमाण, जिसे बीचमें हाथपर हाथ मारकर सूचित करते जाते हैं, ताल कहलाता है; जैसा कि अमरकोषका वचन है—'तालः कालक्रियामानम्'।

तथा महर्षियोंका मनोरञ्जन करते हुए धर्मराजकी उपासना करते थे ॥ ३८-३९ ॥

तस्यां सभायामासीनाः सुव्रताः सत्यसंगराः।
दिवीव देवा ब्रह्माणं युधिष्ठिरमुपासते ॥ ४० ॥

जैसे देवतालोग दिव्यलोककी सभामें ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं, उसी प्रकार कितने ही सत्यप्रतिज्ञ और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले महापुरुष उस सभामें बैठकर महाराज युधिष्ठिरकी आराधना करते थे ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते आदिपर्वणि सभाक्रियापर्वणि सभाप्रवेशो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत आदिपर्वके अन्तर्गत सभाक्रियापर्वमें सभाप्रवेश नामक चौथा अध्याय पूरा हुआ ॥ ४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ४५½ श्लोक हैं)

(लोकपालसभाख्यानपर्व)

पञ्चमोऽध्यायः

नारदजीका युधिष्ठिरकी सभामें आगमन और प्रश्नके रूपमें युधिष्ठिरको शिक्षा देना

वैशम्पायन उवाच

अथ तत्रोपविष्टेषु पाण्डवेषु महात्मसु।
महत्सु चोपविष्टेषु गन्धर्वेषु च भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! एक दिन उस सभामें महात्मा पाण्डव अन्यान्य महापुरुषों तथा गन्धर्वों आदिके साथ बैठे हुए थे ॥ १ ॥

वेदोपनिषदां वेत्ता ऋषिः सुरगणार्चितः।
इतिहासपुराणज्ञः पुराकल्पविशेषवित् ॥ २ ॥
न्यायविद् धर्मतत्त्वज्ञः षडङ्गविदनुत्तमः।
ऐक्यसंयोगनानात्वसमवायविशारदः ॥ ३ ॥
वक्ता प्रगल्भो मेधावी स्मृतिमान् नयवित् कविः।
परापरविभागज्ञः प्रमाणकृतनिश्चयः ॥ ४ ॥
पञ्चावयवयुक्तस्य वाक्यस्य गुणदोषवित्।
उत्तरोत्तरवक्ता च वदतोऽपि बृहस्पतेः ॥ ५ ॥
धर्मकामार्थमोक्षेषु यथावत् कृतनिश्चयः।
तथा भुवनकोशस्य सर्वस्यास्य महामतिः ॥ ६ ॥
प्रत्यक्षदर्शी लोकस्य तिर्यगूर्ध्वमधस्तथा।
सांख्ययोगविभागज्ञो निर्विवित्सुः सुरासुरान् ॥ ७ ॥
संधिविग्रहतत्त्वज्ञस्त्वनुमानविभागवित्।
षाड्गुण्यविधियुक्तश्च सर्वशास्त्रविशारदः ॥ ८ ॥
युद्धगान्धर्वसेवी च सर्वत्राप्रतिघस्तथा।
एतैश्चान्यैश्च बहुभिर्युक्तो गुणगणैर्मुनिः ॥ ९ ॥
लोकाननुचरन् सर्वानागमत् तां सभां नृप।
नारदः सुमहातेजा ऋषिभिः सहितस्तदा ॥ १० ॥
पारिजातेन राजेन्द्र पर्वतेन च धीमता।
सुमुखेन च सौम्येन देवर्षिरमितद्युतिः ॥ ११ ॥
सभास्थान् पाण्डवान् द्रष्टुं प्रीयमाणो मनोजवः।
जयाशीर्भिस्तु तं विप्रो धर्मराजानमार्चयत् ॥ १२ ॥

इसी समय वेद और उपनिषदोंके ज्ञाता, ऋषि, देवताओंद्वारा पूजित, इतिहास-पुराणके मर्मज्ञ, पूर्वकल्पकी बातोंके विशेषज्ञ, न्यायके विद्वान्, धर्मके तत्त्वको जाननेवाले, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष—इन छहों अङ्गोंके पण्डितोंमें शिरोमणि, ऐक्य[1], संयोग, नानात्व[2] और समवाय[3]के ज्ञानमें विशारद, प्रगल्भ वक्ता, मेधावी, स्मरणशक्तिसम्पन्न, नीतिज्ञ, त्रिकालदर्शी, अपर ब्रह्म और परब्रह्मको विभागपूर्वक जाननेवाले, प्रमाणोंद्वारा एक निश्चित सिद्धान्तपर पहुँचे हुए, पञ्चावयवयुक्त[4] वाक्यके गुण-दोषको जाननेवाले, बृहस्पति जैसे वक्ताके साथ भी उत्तर-प्रत्युत्तर करनेमें समर्थ, धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—चारों पुरुषार्थोंके सम्बन्धमें यथार्थ निश्चय रखनेवाले तथा इन सम्पूर्ण चौदहों भुवनोंको ऊपर, नीचे, और तिरछे सब ओरसे प्रत्यक्ष देखनेवाले, महाबुद्धिमान्, सांख्य और योगके विभागपूर्वक ज्ञाता, देवताओं और असुरोंमें भी निर्वेद (वैराग्य) उत्पन्न करनेके इच्छुक, संधि और विग्रहके

---

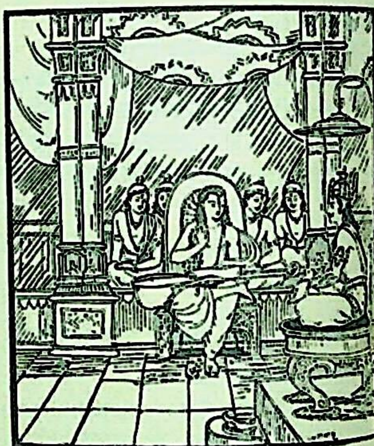
१. परस्पर विरुद्ध प्रतीत होनेवाले वेदके वचनोंकी एकवाक्यता।

२. एकमें मिले हुए वचनोंको प्रयोगके अनुसार अलग-अलग करना।

३. यज्ञके अनेक कर्मोंके एक साथ उपस्थित होनेपर अधिकारके अनुसार यजमानके साथ कर्मका जो सम्बन्ध होता है, उसका नाम समवाय है।

४. दूसरेको किसी वस्तुका बोध करानेके लिये प्रवृत्त हुआ पुरुष जिस अनुमानवाक्यका प्रयोग करता है, उसमें पाँच अवयव होते हैं—प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। जैसे किसीने कहा—'इस पर्वतपर आग है', यह वाक्य प्रतिज्ञा है। 'क्योंकि वहाँ धूम है' यह हेतु है। 'जैसे रसोईघरमें धूआँ दीखनेपर वहाँ आग देखी जाती है' यह दृष्टान्त ही उदाहरण है। 'चूँकि इस पर्वतपर धूआँ दिखायी देता है' हेतुकी इस उपलब्धिका नाम उपनय है। 'इसलिये वहाँ आग है' यह निश्चय ही निगमन है। इस वाक्यमें अनुकूल तर्कका होना गुण है और प्रतिकूल तर्कका होना दोष है, जैसे 'यदि वहाँ आग न होती, तो धूआँ भी नहीं उठता' यह अनुकूल तर्क है। जैसे कोई तालाबसे भाप उठती देखकर यह कहे कि इस तालाबमें आग है, तो उसका यह अनुमान आश्रयासिद्धरूप हेत्वाभाससे युक्त होगा।

तत्त्वको समझनेवाले, अपने और शत्रुपक्षके बलाबलका अनुमानसे निश्चय करके शत्रुपक्षके मन्त्रियों आदिको फोड़नेके लिये धन आदि बाँटनेके उपयुक्त अवसरका ज्ञान रखनेवाले, संधि (सुलह), विग्रह (कलह), यान (चढ़ाई करना), आसन (अपने स्थानपर ही चुप्पी मारकर बैठे रहना), द्वैधीभाव (शत्रुओंमें फूट डालना) और समाश्रय (किसी बलवान् राजाका आश्रय ग्रहण करना)—राजनीतिके इन छहों अङ्गोंके उपयोगके जानकार, समस्त शास्त्रोंके निपुण विद्वान्, युद्ध और संगीतकी कलामें कुशल, सर्वत्र क्रोधरहित, इन उपर्युक्त गुणोंके सिवा और भी असंख्य सद्गुणोंसे सम्पन्न, मननशील, परम कान्तिमान् महातेजस्वी देवर्षि नारद लोक-लोकान्तरोंमें घूमते-फिरते पारिजात, बुद्धिमान् पर्वत तथा सौम्य, सुमुख आदि अन्य अनेक ऋषियोंके साथ सभामें स्थित पाण्डवोंसे प्रेमपूर्वक मिलनेके लिये मनके समान वेगसे वहाँ आये और उन ब्रह्मर्षिने जय-सूचक आशीर्वादोंद्वारा धर्मराज युधिष्ठिरका अत्यन्त सम्मान किया ॥ २–१२ ॥



तमागतमृषिं दृष्ट्वा नारदं सर्वधर्मवित्।
सहसा पाण्डवश्रेष्ठः प्रत्युत्थायानुजैः सह ॥ १३ ॥
अभ्यवादयत प्रीत्या विनयावनतस्तदा।
तदर्हमासनं तस्मै सम्प्रदाय यथाविधि ॥ १४ ॥
गां चैव मधुपर्कं च सम्प्रदायार्घ्यमेव च।
अर्चयामास रत्नैश्च सर्वकामैश्च धर्मवित् ॥ १५ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता पाण्डवश्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने देवर्षि नारदको आया देख भाइयोंसहित सहसा उठकर उन्हें प्रेम, विनय और नम्रतापूर्वक उस समय नमस्कार किया और उन्हें उनके योग्य आसन देकर धर्मज्ञ नरेशने गौ, मधुपर्क तथा अर्घ्य आदि उपचार अर्पण करते हुए रत्नोंसे उनका विधिपूर्वक पूजन किया तथा उनकी सब इच्छाओंकी पूर्ति करके उन्हें संतुष्ट किया ॥ १३–१५ ॥

तुतोष च यथावच्च पूजां प्राप्य युधिष्ठिरात्।
सोऽर्चितः पाण्डवैः सर्वैर्महर्षिर्वेदपारगः।
धर्मकामार्थसंयुक्तं पप्रच्छेदं युधिष्ठिरम् ॥ १६ ॥

राजा युधिष्ठिरसे यथोचित पूजा पाकर नारदजी भी बहुत प्रसन्न हुए। इस प्रकार सम्पूर्ण पाण्डवोंसे पूजित होकर उन वेदवेत्ता महर्षिने युधिष्ठिरसे धर्म, काम और अर्थ तीनोंके उपदेशपूर्वक ये बातें पूछीं ॥ १६ ॥

नारद उवाच

कच्चिदर्थाश्च कल्पन्ते धर्मे च रमते मनः।
सुखानि चानुभूयन्ते मनश्च न विहन्यते ॥ १७ ॥

नारदजी बोले—राजन्! क्या तुम्हारा धन तुम्हारे (यज्ञ, दान तथा कुटुम्बरक्षा आदि आवश्यक कार्योंके) निर्वाहके लिये पूरा पड़ जाता है ? क्या धर्ममें तुम्हारा मन प्रसन्नतापूर्वक लगता है ? क्या तुम्हें इच्छानुसार सुख-भोग प्राप्त होते हैं ? (भगवच्चिन्तनमें लगे हुए) तुम्हारे मनको (किन्हीं दूसरी वृत्तियोंद्वारा) आघात या विक्षेप तो नहीं पहुँचता है ? ॥ १७ ॥

कच्चिदाचरितं पूर्वैर्नरदेव पितामहैः।
वर्तसे वृत्तिमक्षुद्रां धर्मार्थसहितां त्रिषु ॥ १८ ॥

नरदेव ! क्या तुम ब्राह्मण, वैश्य और शूद्र—इन तीनों वर्णोंकी प्रजाओंके प्रति अपने पिता-पितामहोंद्वारा व्यवहार में लायी हुई धर्मार्थयुक्त उत्तम एवं उदार वृत्तिसे व्यवहार करते हो ? ॥ १८ ॥

कच्चिदर्थेन वा धर्मं धर्मेणार्थमथापि वा।
उभौ वा प्रीतिसारेण न कामेन प्रबाधसे ॥ १९ ॥

तुम धनके लोभमें पड़कर धर्मको, केवल धर्ममें ही संलग्न रहकर धनको अथवा आसक्ति ही जिसका बल है, उस काम-भोगके सेवनद्वारा धर्म और अर्थ दोनोंको ही हानि तो नहीं पहुँचाते ? ॥ १९ ॥

कच्चिदर्थं च धर्मं च कामं च जयतां वर।
विभज्य काले कालज्ञः सदा वरद सेवसे ॥ २० ॥

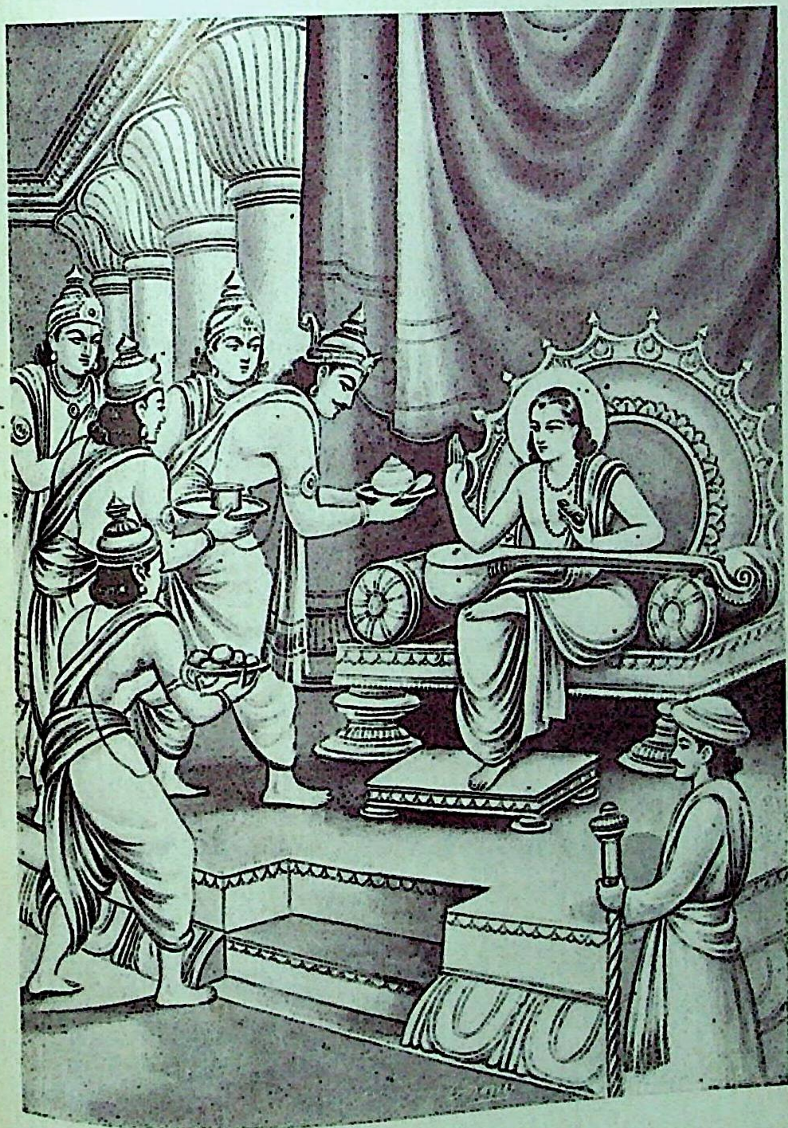
विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ एवं वरदायक नरेश ! तुम त्रिवर्ग-सेवनके उपयुक्त समयका ज्ञान रखते हो; अतः समयका विभाग करके नियत और उचित समयपर सदा धर्म, अर्थ एवं कामका सेवन करते हो न ? ॥ २० ॥*

---

* दक्षस्मृतिमें त्रिवर्गसेवनका काल-विभाग इस प्रकार बताया गया है—

पूर्वाह्णे त्वाचरेद् धर्मं मध्याह्नेऽर्थमुपार्जयेत्।
सायाह्ने चाचरेत् काममित्येषा वैदिकी श्रुतिः ॥

पूर्वाह्णकालमें धर्मका आचरण करे, मध्याह्नके समय धनोपार्जनका काम देखे और सायाह्न (रात्रि) के समय कामका सेवन करे। यह वैदिक श्रुतिका आदेश है। (नीलकण्ठीसे उद्धृत)



पाण्डवोंद्वारा देवर्षि नारदका पूजन

कच्चिद् राजगुणैः षड्भिः सप्तोपायांस्तथानघ।
बलाबलं तथा सम्यक् चतुर्दश परीक्षसे ॥ २१ ॥

निष्पाप युधिष्ठिर ! क्या तुम राजोचित छः गुणों[1] के द्वारा सात उपायों[2] की, अपने और शत्रुके बलाबलकी तथा देशपाल, दुर्गपाल आदि चौदह व्यक्तियों[3] की भलीभाँति परख करते रहते हो ? ॥ २१ ॥

कच्चिदात्मानमन्वीक्ष्य परांश्च जयतां वर।
तथा संधाय कर्माणि अष्टौ भारत सेवसे ॥ २२ ॥

विजेताओंमें श्रेष्ठ भरतवंशी युधिष्ठिर ! क्या तुम अपनी और शत्रुकी शक्तिको अच्छी तरह समझकर यदि शत्रु प्रबल हुआ तो उसके साथ संधि बनाये रखकर अपने धन और कोषकी वृद्धिके लिये आठ कर्मों[4] का सेवन करते हो ? ॥ २२ ॥

कच्चित् प्रकृतयः सप्त न लुप्ता भरतर्षभ।
आढ्यास्तथा व्यसनिनः स्वनुरक्ताश्च सर्वशः ॥ २३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! तुम्हारी मन्त्री आदि सातों प्रकृतियाँ[5] कहीं शत्रुओंमें मिल तो नहीं गयी हैं ? तुम्हारे राज्यके धनीलोग बुरे व्यसनोंसे बचे रहकर सर्वथा तुमसे प्रेम करते हैं न ? ॥

कच्चिन्न कृतकैर्दूतैर्ये चाप्यपरिशङ्किताः।
त्वत्तो वा तव चामात्यैर्भिद्यते मन्त्रितं तथा ॥ २४ ॥

जिनपर तुम्हें संदेह नहीं होता, ऐसे शत्रुके गुप्तचर कृत्रिम मित्र बनकर तुम्हारे मन्त्रियोंद्वारा तुम्हारी गुप्त मन्त्रणाको जानकर उसे प्रकाशित तो नहीं कर देते ? ॥ २४ ॥

मित्रोदासीनशत्रूणां कच्चिद् वेत्सि चिकीर्षितम्।
कच्चित् संधिं यथाकालं विग्रहं चोपसेवसे ॥ २५ ॥

क्या तुम मित्र, शत्रु और उदासीन लोगोंके सम्बन्धमें यह ज्ञान रखते हो कि वे कब क्या करना चाहते हैं ? उपयुक्त समयका विचार करके ही संधि और विग्रहकी नीतिका सेवन करते हो न ? ॥ २५ ॥

कच्चिद् वृत्तिमुदासीने मध्यमे चानुमन्यसे।
कच्चिदात्मसमा वृद्धाः शुद्धाः सम्बोधनक्षमाः ॥ २६ ॥
कुलीनाश्चानुरक्ताश्च कृतास्ते वीर मन्त्रिणः।
विजयो मन्त्रमूलो हि राज्ञो भवति भारत ॥ २७ ॥

क्या तुम्हें इस बातका अनुमान है कि उदासीन एवं मध्यम व्यक्तियोंके प्रति कैसा बर्ताव करना चाहिये ? वीर ! तुमने अपने स्वयंके समान विश्वसनीय वृद्ध, शुद्ध हृदयवाले, किसी बातको अच्छी तरह समझानेमें समर्थ, उत्तम कुलमें उत्पन्न और अपने प्रति अत्यन्त अनुराग रखनेवाले पुरुषोंको ही मन्त्री बना रक्खा है न ? क्योंकि भारत ! राजाकी विजय-प्राप्तिका मूल कारण अच्छी मन्त्रणा (सलाह) और उसकी सुरक्षा ही है, (जो सुयोग्य मन्त्रीके अधीन है) ॥ २६-२७ ॥

कच्चित् संवृतमन्त्रैस्तैरमात्यैः शास्त्रकोविदैः।
राष्ट्रं सुरक्षितं तात शत्रुभिर्न विलुप्यते ॥ २८ ॥

तात ! मन्त्रको गुप्त रखनेवाले उन शास्त्रज्ञ सचिवोंद्वारा तुम्हारा राष्ट्र सुरक्षित तो है न ? शत्रुओंद्वारा उसका नाश तो नहीं हो रहा है ? ॥ २८ ॥

कच्चिन्निद्रावशं नैषि कच्चित् काले विबुध्यसे।
कच्चिच्चापररात्रेषु चिन्तयस्यर्थमर्थवित् ॥ २९ ॥

तुम असमयमें ही निद्राके वशीभूत तो नहीं होते ? समयपर जग जाते हो न ? अर्थशास्त्रके जानकार तो तुम हो ही। रात्रिके पिछले भागमें जगकर अपने अर्थ (आवश्यक कर्तव्य एवं हित) के विषयमें विचार तो करते हो न ?* ॥ २९ ॥

---

1. राजाओंमें छः गुण होने चाहिये—व्याख्यानशक्ति, प्रगल्भता, तर्ककुशलता, भूतकालकी स्मृति, भविष्यपर दृष्टि तथा नीतिनिपुणता।

2. सात उपाय ये हैं—मन्त्र, औषध, इन्द्रजाल, साम, दान, दण्ड और भेद।

3. परीक्षाके योग्य चौदह स्थान या व्यक्ति नीतिशास्त्रमें इस प्रकार बताये गये हैं—

देशो दुर्गं रथो हस्तिवाजियोधाधिकारिणः।
अन्तःपुरान्नगणनाशास्त्रलेख्यधनासवः ॥

देश, दुर्ग, रथ, हाथी, घोड़े, शूर सैनिक, अधिकारी, अन्तःपुर, अन्न, गणना, शास्त्र, लेख्य, धन और असु (बल), इनके जो चौदह अधिकारी हैं, राजाओंको उनकी परीक्षा करते रहना चाहिये।

4. राजाके कोष और धनकी वृद्धिके लिये आठ कर्म ये हैं—

कृषिर्वणिक्पथो दुर्गं सेतुः कुञ्जरबन्धनम्।
खन्याकरकरादानं शून्यानां च निवेशनम् ॥
अष्ट संधानकर्माणि प्रयुक्तानि मनीषिभिः ॥

खेतीका विस्तार, व्यापारकी रक्षा, दुर्गकी रचना एवं रक्षा, पुलोंका निर्माण और उनकी रक्षा, हाथी बाँधना, सोने-हीरे आदिकी खानोंपर अधिकार करना, करकी वसूली और उजाड़ प्रान्तोंमें लोगोंको बसाना—मनीषी पुरुषोंद्वारा ये आठ संधानकर्म बताये गये हैं।

5. स्वामी, मन्त्री, मित्र, कोष, राष्ट्र, दुर्ग तथा सेना एवं पुरवासी—ये राज्यके सात अङ्ग ही सात प्रकृतियाँ हैं। अथवा—दुर्गाध्यक्ष, बलाध्यक्ष, धर्माध्यक्ष, सेनापति, पुरोहित, वैद्य और ज्योतिषी—ये भी सात प्रकृतियाँ कही गयी हैं।

* स्मृतिमें कहा है कि—'ब्राह्मे मुहूर्ते चोत्थाय चिन्तयेदात्मनो हितम्।'
अर्थात् ब्राह्ममुहूर्तमें उठकर अपने हितका चिन्तन करे।
(नीलकण्ठी टीकासे उद्धृत)

कच्चिन्मन्त्रयसे नैकः कच्चिन्न बहुभिः सह।
कच्चित् ते मन्त्रितो मन्त्रो न राष्ट्रं परिधावति ॥ ३० ॥

(कोई भी गुप्त मन्त्रणा दोसे चार कानोंतक ही गुप्त रहती है, छः कानोंमें जाते ही वह फूट जाती है, अतः मैं पूछता हूँ,) तुम किसी गूढ़ विषयपर अकेले ही तो विचार नहीं करते अथवा बहुत लोगोंके साथ बैठकर तो मन्त्रणा नहीं करते ? कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम्हारी निश्चित की हुई गुप्त मन्त्रणा फूटकर शत्रुके राज्यतक फैल जाती हो ? ॥ ३० ॥

कच्चिदर्थान् विनिश्चित्य लघुमूलान् महोदयान्।
क्षिप्रमारभसे कर्तुं न विघ्नयसि तादृशान् ॥ ३१॥

धनकी वृद्धिके ऐसे उपायोंका निश्चय करके, जिनमें मूलधन तो कम लगाना पड़ता हो, किंतु वृद्धि अधिक होती हो, उनका शीघ्रतापूर्वक आरम्भ कर देते हो न ? वैसे कार्योंमें अथवा वैसा कार्य करनेवाले लोगोंके मार्गमें तुम विघ्न तो नहीं डालते ? ॥ ३१ ॥

कच्चिन्न सर्वे कर्मान्ताः परोक्षास्ते विशङ्किताः।
सर्वे वा पुनरुत्सृष्टाः संसृष्टं चात्र कारणम् ॥ ३२ ॥

तुम्हारे राज्यके किसान—मजदूर आदि श्रमजीवी मनुष्य तुमसे अज्ञात तो नहीं हैं ? उनके कार्य और गति-विधिपर तुम्हारी दृष्टि है न। वे तुम्हारे अविश्वासके पात्र तो नहीं हैं अथवा तुम उन्हें बार-बार छोड़ते और पुनः कामपर लेते तो नहीं रहते। क्योंकि महान् अभ्युदय या उन्नतिमें उन सबका स्नेहपूर्ण सहयोग ही कारण है। (क्योंकि चिरकालसे अनुगृहीत होनेपर ही वे ज्ञात, विश्वासपात्र और स्वामीके प्रति अनुरक्त होते हैं) ॥ ३२ ॥

आप्तैरलुब्धैः क्रमिकैस्ते च कच्चिदनुष्ठिताः।
कच्चिद् राजन् कृतान्येव कृतप्रायाणि वा पुनः ॥ ३३ ॥
विदुस्ते वीर कर्माणि नानवाप्तानि कानिचित्।

कृषि आदिके कार्य विश्वसनीय लोभरहित और बड़े बूढ़ोंके समयसे चले आनेवाले कार्यकर्ताओंद्वारा ही कराते हो न। राजन् ! वीरशिरोमणे ! क्या तुम्हारे कार्योंके सिद्ध हो जानेपर या सिद्धिके निकट पहुँच जानेपर ही लोग जान पाते हैं ? सिद्ध होनेसे पहले ही तुम्हारे किन्हीं कार्योंको लोग जान तो नहीं लेते ॥ ३३ ॥

कच्चित् कारणिका धर्मे सर्वशास्त्रेषु कोविदाः।
कारयन्ति कुमारांश्च योधमुख्यांश्च सर्वशः॥ ३४ ॥

तुम्हारे यहाँ जो शिक्षा देनेका काम करते हैं, वे धर्म एवं सम्पूर्ण शास्त्रोंके मर्मज्ञ विद्वान् होकर ही राजकुमारों तथा मुख्य-मुख्य योद्धाओंको सब प्रकारकी आवश्यक शिक्षाएँ देते हैं न ? ॥

कच्चित् सहस्रैर्मूर्खाणामेकं क्रीणासि पण्डितम्।
पण्डितो ह्यर्थकृच्छ्रेषु कुर्यान्निःश्रेयसं परम् ॥ ३५ ॥

तुम हजारों मूर्खोंके बदले एक पण्डितको ही तो खरीदते हो न ? अर्थात् आदरपूर्वक स्वीकार करते हो न ! क्योंकि विद्वान् पुरुष ही अर्थसंकटके समय महान् कल्याण कर सकता है ॥ ३५ ॥

कच्चिद् दुर्गाणि सर्वाणि धनधान्यायुधोदकैः।
यन्त्रैश्च परिपूर्णानि तथा शिल्पिधनुर्धरैः ॥ ३६ ॥

क्या तुम्हारे सभी दुर्ग (किले) धन-धान्य, अस्त्र-शस्त्र, जल, यन्त्र (मशीन), शिल्पी और धनुर्धर सैनिकोंसे भरे-पूरे रहते हैं ? ॥ ३६ ॥

एकोऽप्यमात्यो मेधावी शूरो दान्तो विचक्षणः।
राजानं राजपुत्रं वा प्रापयेन्महतीं श्रियम् ॥ ३७ ॥

यदि एक भी मन्त्री मेधावी, शौर्यसम्पन्न, संयमी और चतुर हो तो राजा अथवा राजकुमारको विपुल सम्पत्ति प्राप्ति करा देता है ॥ ३७ ॥

कच्चिदष्टादशान्येषु स्वपक्षे दश पञ्च च।
त्रिभिस्त्रिभिरविज्ञातैर्वेत्सि तीर्थानि चारकैः ॥ ३८ ॥

क्या तुम शत्रुपक्षके अठारह[1] और अपने पक्षके पंद्रह[2] तीर्थोंकी तीन तीन अज्ञात गुप्तचरोंद्वारा देख-भाल या जाँच-पड़ताल करते रहते हो ? ॥ ३८ ॥

कच्चिद् द्विषामविदितः प्रतिपन्नश्च सर्वदा।
नित्ययुक्तो रिपून् सर्वान् वीक्षसे रिपुसूदन ॥ ३९ ॥

शत्रुसूदन ! तुम शत्रुओंसे अज्ञात, सतत सावधान और नित्य प्रयत्नशील रहकर अपने सम्पूर्ण शत्रुओंकी गति-विधिपर दृष्टि रखते हो न ? ॥ ३९ ॥

कच्चिद् विनयसम्पन्नः कुलपुत्रो बहुश्रुतः।
अनसूयुरनुप्रष्टा सत्कृतस्ते पुरोहितः ॥ ४० ॥

क्या तुम्हारे पुरोहित विनयशील, कुलीन, बहुज्ञ, विद्वान्, दोषदृष्टिसे रहित तथा शास्त्रचर्चामें कुशल हैं ? क्या तुम उनका पूर्ण सत्कार करते हो ? ॥ ४० ॥

१. शत्रुपक्षके मन्त्री, पुरोहित, युवराज, सेनापति, द्वारपाल, अन्तर्वेशिक (अन्तःपुरका अध्यक्ष), कारागाराध्यक्ष, कोषाध्यक्ष, यथायोग्य कार्योंमें धनको व्यय करनेवाला सचिव, प्रदेष्टा (पहरेदारोंको काम बतानेवाला), नगराध्यक्ष (कोतवाल), कार्यनिर्माणकर्ता (शिल्पियोंका परिचालक), धर्माध्यक्ष, सभाध्यक्ष, दण्डपाल, दुर्गपाल, राष्ट्रसीमापाल तथा वनरक्षक—ये अठारह तीर्थ हैं, जिनपर राजाको दृष्टि रखनी चाहिये।

२. उपर्युक्त टिप्पणीमें अठारह तीर्थोंमेंसे आदिके तीनको छोड़कर शेष पंद्रह तीर्थ अपने पक्षके भी सदा परीक्षणीय हैं।

कच्चिदग्निषु ते युक्तो विधिज्ञो मतिमानृजुः ।
हुतं च होष्यमाणं च काले वेदयते सदा ॥ ४१ ॥

तुमने अग्निहोत्रके लिये विधिज्ञ, बुद्धिमान् और सरल स्वभावके ब्राह्मणको नियुक्त किया है न? वह सदा किये हुए और किये जानेवाले हवनको तुम्हें ठीक समयपर सूचित कर देता है न? ॥ ४१ ॥

कच्चिदङ्गेषु निष्णातो ज्योतिषः प्रतिपादकः ।
उत्पातेषु च सर्वेषु दैवज्ञः कुशलस्तव ॥ ४२ ॥

क्या तुम्हारे यहाँ हस्त-पादादि अङ्गोंकी परीक्षामें निपुण, ग्रहोंके वक्र तथा अतिचार आदि गतियों एवं उनके शुभाशुभ परिणाम आदिको बतानेवाला तथा दिव्य, भौम एवं शरीरसम्बन्धी सब प्रकारके उत्पातोंको पहलेसे ही जान लेनेमें कुशल ज्योतिषी है? ॥

कच्चिन्मुख्या महत्स्वेव मध्यमेषु च मध्यमाः ।
जघन्याश्च जघन्येषु भृत्याः कर्मसु योजिताः ॥ ४३ ॥

तुमने प्रधान-प्रधान व्यक्तियोंको उनके योग्य महान् कार्योंमें; मध्यम श्रेणीके कार्यकर्ताओंको मध्यम कार्योंमें तथा निम्न श्रेणीके सेवकोंको उनकी योग्यताके अनुसार छोटे कामोंमें ही लगा रक्खा है न? ॥ ४३ ॥

अमात्यानुपधातीतान् पितृपैतामहाञ्छुचीन् ।
श्रेष्ठाञ्छ्रेष्ठेषु कच्चित् त्वं नियोजयसि कर्मसु ॥ ४४ ॥

क्या तुम निश्छल, बाप-दादोंके क्रमसे चले आये हुए और पवित्र आचार-विचारवाले श्रेष्ठ मन्त्रियोंको सदा श्रेष्ठ कर्मोंमें लगाये रखते हो? ॥ ४४ ॥

कच्चिन्नोग्रेण दण्डेन भृशमुद्विजसे प्रजाः ।
राष्ट्रं तवानुशासन्ति मन्त्रिणो भरतर्षभ ॥ ४५ ॥

भरतश्रेष्ठ! कठोर दण्डके द्वारा तुम प्रजाजनोंको अत्यन्त उद्वेगमें तो नहीं डाल देते? मन्त्रीलोग तुम्हारे राज्यका न्यायपूर्वक पालन करते हैं न? ॥ ४५ ॥

कच्चित् त्वां नावजानन्ति याजकाः पतितं यथा ।
उग्रप्रतिग्रहीतारं कामयानमिव स्त्रियः ॥ ४६ ॥

जैसे पवित्र याजक पतित यजमानका और स्त्रियाँ कामचारी पुरुषका तिरस्कार कर देती हैं, उसी प्रकार प्रजा कठोरतापूर्वक अधिक कर लेनेके कारण तुम्हारा अनादर तो नहीं करती? ॥ ४६ ॥

कच्चिद् धृष्टश्च शूरश्च मतिमान् धृतिमाञ्छुचिः ।
कुलीनश्चानुरक्तश्च दक्षः सेनापतिस्तथा ॥ ४७ ॥

क्या तुम्हारा सेनापति हर्ष और उत्साहसे सम्पन्न, शूर-वीर, बुद्धिमान्, धैर्यवान्, पवित्र, कुलीन स्वामिभक्त तथा अपने कार्यमें कुशल है? ॥ ४७ ॥

कच्चिद् बलस्य ते मुख्याः सर्वयुद्धविशारदाः ।
धृष्टावदाता विक्रान्तास्त्वया सत्कृत्य मानिताः ॥ ४८ ॥

तुम्हारी सेनाके मुख्य-मुख्य दलपति सब प्रकारके युद्धोंमें चतुर, धृष्ट (निर्भय), निष्कपट और पराक्रमी हैं न? तुम उनका यथोचित सत्कार एवं सम्मान करते हो न? ॥ ४८ ॥

कच्चिद् बलस्य भक्तं च वेतनं च यथोचितम् ।
सम्प्राप्तकाले दातव्यं ददासि न विकर्षसि ॥ ४९ ॥

अपनी सेनाके लिये यथोचित भोजन और वेतन ठीक समयपर दे देते हो न? जो उन्हें दिया जाना चाहिये, उसमें कमी या विलम्ब तो नहीं कर देते? ॥ ४९ ॥

कालातिक्रमणाद्येते भक्तवेतनयोर्भृताः ।
भर्तुः कुप्यन्ति यद् भृत्याः सोऽनर्थः सुमहान् स्मृतः ॥ ५० ॥

भोजन और वेतनमें अधिक विलम्ब होनेपर भृत्यगण अपने स्वामीपर कुपित हो जाते हैं और उनका वह कोप महान् अनर्थका कारण बताया गया है ॥ ५० ॥

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां कुलपुत्राः प्रधानतः ।
कच्चित् प्राणांस्तवार्थेषु संत्यजन्ति सदा युधि ॥ ५१ ॥

क्या उत्तम कुलमें उत्पन्न मन्त्री आदि सभी प्रधान अधिकारी तुमसे प्रेम रखते हैं? क्या वे युद्धमें तुम्हारे हितके लिये अपने प्राणोंतकका त्याग करनेको सदा तैयार रहते हैं? ॥

कच्चिन्नैको बहूनर्थान् सर्वशः साम्परायिकान् ।
अनुशास्ति यथाकामं कामात्मा शासनातिगः ॥ ५२ ॥

तुम्हारे कर्मचारियोंमें कोई ऐसा तो नहीं है, जो अपनी इच्छाके अनुसार चलनेवाला और तुम्हारे शासनका उल्लङ्घन करनेवाला हो तथा युद्धके सारे साधनों एवं कार्योंको अकेला ही अपनी रुचिके अनुसार चला रहा हो? ॥ ५२ ॥

कच्चित् पुरुषकारेण पुरुषः कर्म शोभयन् ।
लभते मानमधिकं भूयो वा भक्तवेतनम् ॥ ५३ ॥

(तुम्हारे यहाँ काम करनेवाला) कोई पुरुष अपने पुरुषार्थसे जब किसी कार्यको अच्छे ढंगसे सम्पन्न करता है, तब वह आपसे अधिक सम्मान अथवा अधिक भत्ता और वेतन पाता है न? ॥

कच्चिद् विद्याविनीतांश्च नराञ्ज्ञानविशारदान् ।
यथार्हं गुणतश्चैव दानेनाभ्युपपद्यसे ॥ ५४ ॥

क्या तुम विद्यासे विनयशील एवं ज्ञाननिपुण मनुष्योंको उनके गुणोंके अनुसार यथायोग्य धन आदि देकर उनका सम्मान करते हो? ॥ ५४ ॥

कच्चिद् दारान्मनुष्याणां तवार्थे मृत्युमीयुषाम् ।
व्यसनं चाभ्युपेतानां बिभर्षि भरतर्षभ ॥ ५५ ॥

भरतश्रेष्ठ! जो लोग तुम्हारे हितके लिये सहर्ष मृत्युका वरण कर लेते हैं अथवा भारी संकटमें पड़ जाते हैं, उनके बाल-बच्चोंकी रक्षा तुम करते हो न? ॥ ५५ ॥

कच्चिद् भयादुपगतं क्षीणं वा रिपुमागतम् ।
युद्धे वा विजितं पार्थ पुत्रवत् परिरक्षसि ॥ ५६ ॥

कुन्तीनन्दन ! जो भयसे अथवा अपनी धन-सम्पत्तिका नाश होनेसे तुम्हारी शरणमें आया हो या युद्धमें तुमसे परास्त हो गया हो ऐसे शत्रुका तुम पुत्रके समान पालन करते हो या नहीं ? ॥ ५६ ॥

कच्चित् त्वमेव सर्वस्याः पृथिव्याः पृथिवीपते ।
समश्चानभिशङ्क्यश्च यथा माता यथा पिता ॥ ५७ ॥

पृथ्वीपते ! क्या समस्त भूमण्डलकी प्रजा तुम्हें ही समदर्शी एवं माता-पिताके समान विश्वसनीय मानती है ? ॥ ५७ ॥

कच्चिद् व्यसनिनं शत्रुं निशम्य भरतर्षभ ।
अभियासि जवेनैव समीक्ष्य त्रिविधं बलम् ॥ ५८ ॥

भरतकुलभूषण ! क्या तुम अपने शत्रुको (स्त्री-द्यूत आदि) दुर्व्यसनोंमें फँसा हुआ सुनकर उसके त्रिविध बल (मन्त्र, कोष एवं भृत्य-बल अथवा प्रभुशक्ति, मन्त्रशक्ति एवं उत्साहशक्ति) पर विचार करके यदि वह दुर्बल हो तो उसके ऊपर बड़े वेगसे आक्रमण कर देते हो ? ॥ ५८ ॥

यात्रामारभसे दिष्ट्या प्राप्तकालमरिंदम ।
पार्ष्णिमूलं च विज्ञाय व्यवसायं पराजयम् ॥ ५९ ॥
बलस्य च महाराज दत्त्वा वेतनमग्रतः ।

शत्रुदमन ! क्या तुम पार्ष्णिग्राह आदि बारह[1] व्यक्तियोंके मण्डल (समुदाय) को जानकर अपने कर्तव्यका निश्चय करके और पराजयमूलक व्यसनों[3]का अपने पक्षमें अभाव तथा शत्रुपक्षमें आधिक्य देखकर उचित अवसर आने दैवका भरोसा करके अपने सैनिकोंको अग्रिम वेतन दे शत्रुपर चढ़ाई कर देते हो ? ॥ ५९ ॥

कच्चिच्च बलमुख्येभ्यः परराष्ट्रे परंतप ।
उपच्छन्नानि रत्नानि प्रयच्छसि यथार्हतः ॥ ६०॥

परंतप ! शत्रुके राज्यमें जो प्रधान-प्रधान योद्धा हैं उन्हें छिपे-छिपे यथायोग्य रत्न आदि भेंट करते रहते या नहीं ? ॥ ६० ॥

कच्चिदात्मानमेवाग्रे विजित्य विजितेन्द्रियः ।
परान् जिगीषसे पार्थ प्रमत्तानजितेन्द्रियान् ॥ ६१॥

कुन्तीनन्दन ! क्या तुम पहले अपनी इन्द्रियों और मनको जीतकर ही प्रमादमें पड़े हुए अजितेन्द्रिय शत्रुओंको जीतनेकी इच्छा करते हो ? ॥ ६१ ॥

कच्चित् ते यास्यतः शत्रून् पूर्वं यान्ति स्वनुष्ठिताः ।
साम दानं च भेदश्च दण्डश्च विधिवद् गुणाः ॥ ६२॥

शत्रुओंपर तुम्हारे आक्रमण करनेसे पहले अच्छी तरह प्रयोग में लाये हुए तुम्हारे साम, दान, भेद और दण्ड—ये चार गुण विधिपूर्वक उन शत्रुओंतक पहुँच जाते हैं न ? (क्योंकि शत्रुओंको वशमें करनेके लिये इनका प्रयोग आवश्यक है ।) ॥ ६२ ॥

कच्चिन्मूलं दृढं कृत्वा परान् यासि विशाम्पते ।
तांश्च विक्रमसे जेतुं जित्वा च परिरक्षसि ॥ ६३॥

महाराज ! तुम अपने राज्यकी नींवको दृढ़ करके शत्रुओंपर धावा करते हो न ? उन शत्रुओंको जीतनेके लिये पूरा पराक्रम प्रकट करते हो न ? और उन्हें जीतकर उनकी पूर्णरूपसे रक्षा तो करते रहते हो न ? ॥ ६३ ॥

कच्चिदष्टाङ्गसंयुक्ता चतुर्विधबला चमूः ।
बलमुख्यैः सुनीता ते द्विषतां प्रतिवर्धिनी ॥ ६४॥

क्या धनरक्षक, द्रव्यसंग्राहक, चिकित्सक, गुप्तचर, पाचक, सेवक, लेखक और प्रहरी—इन आठ अङ्गों और हाथी, घोड़े, रथ एवं पैदल—इन चार* प्रकारके बलोंसे युक्त तुम्हारी सेना सुयोग्य सेनापतियोंद्वारा अच्छी तरह संचालित होकर शत्रुओंका संहार करनेमें समर्थ होती है ? ॥ ६४ ॥

---

१. विजयके इच्छुक राजाके आगे खड़े होनेवाले उसके शत्रुके शत्रु २, उन शत्रुओंके मित्र २, उन मित्रोंके मित्र २—ये छः व्यक्ति युद्धमें आगे खड़े होते हैं । विजिगीषुके पीछे पार्ष्णिग्राह (पृष्ठरक्षक) और आक्रन्द (उत्साह दिलानेवाला)—ये दो व्यक्ति खड़े होते हैं । इन दोनोंकी सहायता करनेवाले एक-एक व्यक्ति इनके पीछे खड़े होते हैं, जिनकी आसार संज्ञा है । ये क्रमशः पार्ष्णिग्राहासार और आक्रन्दासार कहे जाते हैं । इस प्रकार आगेके छः और पीछेके चार मिलकर दस होते हैं । विजिगीषुके पार्श्वभागमें मध्यम और उसके भी पार्श्वभागमें उदासीन होता है । इन दोनोंको जोड़ लेनेसे इन सबकी संख्या बारह होती है इन्हींको द्वादश राजमण्डल अथवा 'पार्ष्णिमूल' कहते हैं । अपने और शत्रुपक्षके इन व्यक्तियोंको जानना चाहिये ।

२. नीतिशास्त्रके अनुसार विजयकी इच्छा रखनेवाले राजाको चाहिये कि वह शत्रुपक्षके सैनिकोंमेंसे जो लोभी हो, किंतु जिसे वेतन न मिला हो, जो मानी हो किंतु किसी तरह अपमानित हो गया हो, जो क्रोधी हो और उसे क्रोध दिलाया गया हो, जो स्वभावसे ही डरनेवाला हो और उसे पुनः डरा दिया गया हो—इन चार प्रकारके लोगोंको फोड़ ले और अपने पक्षमें ऐसे लोग हों, तो उन्हें उचित सम्मान देकर मिला ले ।

३. व्यसन दो प्रकारके हैं—दैव और मानुष ; दैव व्यसन पाँच प्रकारके हैं—अग्नि, जल, व्याधि, दुर्भिक्ष और महामारी । मानुष व्यसन भी पाँच प्रकारका है — मूर्ख पुरुषोंसे, चोरोंसे, शत्रुओंसे, राजाके प्रिय व्यक्तिसे तथा राजाके लोभसे प्रजाको प्राप्त भय ।

[नीलकण्ठी टीकाके अनुसार]

* आठ अङ्ग और चार बल भारतकौमुदीटीकाके अनुसार लिये गये हैं ।

कच्चिल्लवं च मुष्टिं च परराष्ट्रे परंतप ।
अविहाय महाराज निहंसि समरे रिपून् ॥ ६५ ॥

शत्रुओंको संतप्त करनेवाले महाराज ! तुम शत्रुओंके राज्यमें अनाज काटने और दुर्भिक्षके समयकी उपेक्षा न करके रणभूमिमें शत्रुओंको मारते हो न ? ॥ ६५ ॥

कच्चित् स्वपरराष्ट्रेषु बहवोऽधिकृतास्तव ।
अर्थान् समधितिष्ठन्ति रक्षन्ति च परस्परम् ॥ ६६ ॥

क्या अपने और शत्रुके राष्ट्रोंमें तुम्हारे बहुत-से अधिकारी स्थान-स्थानमें घूम-फिरकर प्रजाको वशमें करने एवं कर लेने आदि प्रयोजनोंको सिद्ध करते हैं और परस्पर मिलकर राष्ट्र एवं अपने पक्षके लोगोंकी रक्षामें लगे रहते हैं ? ॥ ६६ ॥

कच्चिदभ्यवहार्याणि गात्रसंस्पर्शनानि च ।
घ्रेयाणि च महाराज रक्षन्त्यनुमतास्तव ॥ ६७ ॥

महाराज ! तुम्हारे खाद्य पदार्थ, शरीरमें धारण करनेके वस्त्र आदि तथा सूँघनेके उपयोगमें आनेवाले सुगन्धित द्रव्योंकी रक्षा विश्वस्त पुरुष ही करते हैं न ? ॥ ६७ ॥

कच्चित् कोशश्च कोष्ठं च वाहनं द्वारमायुधम् ।
आयश्च कृतकल्याणैस्तव भक्तैरनुष्ठितः ॥ ६८ ॥

तुम्हारे कल्याणके लिये सदा प्रयत्नशील रहनेवाले, स्वामि-भक्त मनुष्योंद्वारा ही तुम्हारे धन-भण्डार, अन्न-भण्डार, वाहन, प्रधान द्वार, अस्त्र-शस्त्र तथा आयके साधनोंकी रक्षा एवं देख-भाल की जाती है न ? ॥ ६८ ॥

कच्चिदाभ्यन्तरेभ्यश्च बाह्येभ्यश्च विशाम्पते ।
रक्षस्यात्मानमेवाग्रे तांश्च स्वेभ्यो मिथश्च तान् ॥ ६९ ॥

प्रजापालक नरेश ! क्या तुम रसोइये आदि भीतरी सेवकों तथा सेनापति आदि बाह्य सेवकोंद्वारा भी पहले अपनी ही रक्षा करते हो, फिर आत्मीय जनोंद्वारा एवं परस्पर एक-दूसरेसे उन सबकी रक्षापर भी ध्यान देते हो ? ॥ ६९ ॥

कच्चिन्न पाने द्यूते वा क्रीडासु प्रमदासु च ।
प्रतिजानन्ति पूर्वाह्णे व्ययं व्यसनजं तव ॥ ७० ॥

तुम्हारे सेवक पूर्वाह्णकालमें (जो कि धर्माचरणका समय है) तुमसे मद्यपान, द्यूत, क्रीडा और युवती स्त्री आदि दुर्व्यसनोंमें तुम्हारा समय और धनको व्यर्थ नष्ट करनेके लिये प्रस्ताव तो नहीं करते ? ॥ ७० ॥

कच्चिदायस्य चार्धेन चतुर्भागेन वा पुनः ।
पादभागैस्त्रिभिर्वापि व्ययः संशुद्ध्यते तव ॥ ७१ ॥

क्या तुम्हारी आयके एक चौथाई या आधे अथवा तीन चौथाई भागसे तुम्हारा सारा खर्च चल जाता है ? ॥ ७१ ॥

कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान् वणिजः शिल्पिनः श्रितान् ।
अभीक्ष्णमनुगृह्णासि धनधान्येन दुर्गतान् ॥ ७२ ॥

तुम अपने आश्रित कुटुम्बके लोगों, गुरुजनों, बड़े-बूढ़ों, व्यापारियों, शिल्पियों तथा दीन-दुखियोंको धन-धान्य देकर उनपर सदा अनुग्रह करते रहते हो न ? ॥ ७२ ॥

कच्चिच्चायव्यये युक्ताः सर्वे गणकलेखकाः ।
अनुतिष्ठन्ति पूर्वाह्णे नित्यमायं व्ययं तव ॥ ७३ ॥

तुम्हारी आमदनी और खर्चको लिखने और जोड़नेके काममें लगाये हुए सभी लेखक और गणक प्रतिदिन पूर्वाह्णकालमें तुम्हारे सामने अपना हिसाब पेश करते हैं न ? ॥ ७३ ॥

कच्चिदर्थेषु सम्प्रौढान् हितकामाननुप्रियान् ।
नापकर्षसि कर्मभ्यः पूर्वमप्राप्य किल्बिषम् ॥ ७४ ॥

किन्हीं कार्योंमें नियुक्त किये हुए प्रौढ़, हितैषी एवं प्रिय कर्मचारियोंको पहले उनके किसी अपराधकी जाँच किये बिना तुम कामसे अलग तो नहीं कर देते हो ? ॥ ७४ ॥

कच्चिद् विदित्वा पुरुषानुत्तमाधममध्यमान् ।
त्वं कर्मस्वनुरूपेषु नियोजयसि भारत ॥ ७५ ॥

भारत ! तुम उत्तम, मध्यम और अधम श्रेणीके मनुष्योंको पहचानकर उन्हें उनके अनुरूप कार्योंमें ही लगाते हो न ? ॥ ७५ ॥

कच्चिन्न लुब्धाश्चौरा वा वैरिणो वा विशाम्पते ।
अप्राप्तव्यवहारा वा तव कर्मस्वनुष्ठिताः ॥ ७६ ॥

राजन् ! तुमने ऐसे लोगोंको तो अपने कामोंपर नहीं लगा रक्खा है ? जो लोभी, चोर, शत्रु अथवा व्यावहारिक अनुभवसे सर्वथा शून्य हों ? ॥ ७६ ॥

कच्चिन्न चौरैर्लुब्धैर्वा कुमारैः स्त्रीबलेन वा ।
त्वया वा पीड्यते राष्ट्रं कच्चित् तुष्टाः कृषीवलाः ॥ ७७ ॥

चोरों, लोभियों, राजकुमारों या राजकुलकी स्त्रियोंद्वारा अथवा स्वयं तुमसे ही तुम्हारे राष्ट्रको पीड़ा तो नहीं पहुँच रही है ? क्या तुम्हारे राज्यके किसान संतुष्ट हैं ? ॥ ७७ ॥

कच्चिद् राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च ।
भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ॥ ७८ ॥

क्या तुम्हारे राज्यके सभी भागोंमें जलसे भरे हुए बड़े-बड़े तालाब बनवाये गये हैं ? केवल वर्षाके पानीके भरोसे ही तो खेती नहीं होती है ? ॥ ७८ ॥

कच्चिन्न भक्तं बीजं च कर्षकस्यावसीदति ।
प्रत्येकं च शतं वृद्ध्या ददास्यृणमनुग्रहम् ॥ ७९ ॥

तुम्हारे राज्यके किसानका अन्न या बीज तो नष्ट नहीं होता ? क्या तुम प्रत्येक किसानपर अनुग्रह करके उसे एक रुपया सैकड़े ब्याजपर ऋण देते हो ? ॥ ७९ ॥

कच्चित् स्वनुष्ठिता तात वार्ता ते साधुभिर्जनैः ।
वार्तायां संश्रितस्तात लोकोऽयं सुखमेधते ॥ ८० ॥

तात! तुम्हारे राष्ट्रमें अच्छे पुरुषोंद्वारा वार्ता—कृषि, गोरक्षा तथा व्यापारका काम अच्छी तरह किया जाता है न? क्योंकि उपर्युक्त वार्तावृत्तिपर अवलम्बित रहनेवाले लोग ही सुखपूर्वक उन्नति करते हैं ॥ ८० ॥

कच्चिच्छूराः कृतप्रज्ञाः पञ्च पञ्च स्वनुष्ठिताः।
क्षेमं कुर्वन्ति संहत्य राजञ्जनपदे तव ॥ ८१ ॥

राजन्! क्या तुम्हारे जनपदके प्रत्येक गाँवमें शूरवीर, बुद्धिमान् और कार्यकुशल पाँच-पाँच पञ्च मिलकर सुचारुरूपसे जनहितके कार्य करते हुए सबका कल्याण करते हैं? ॥ ८१ ॥

कच्चिन्नगरगुप्त्यर्थं ग्रामा नगरवत् कृताः।
ग्रामवच्च कृताः प्रान्तास्ते च सर्वे त्वदर्पणाः ॥ ८२ ॥

क्या नगरोंकी रक्षाके लिये गाँवोंको भी नगरके ही समान बहुत-से शूरवीरोंद्वारा सुरक्षित कर दिया गया है? सीमावर्ती गाँवोंको भी अन्य गाँवोंकी भाँति सभी सुविधाएँ दी गयी हैं? तथा क्या वे सभी प्रान्त, ग्राम और नगर तुम्हें (कररूपमें एकत्र किया हुआ) धन समर्पित करते हैं*? ॥ ८२ ॥

कच्चिद् बलेनानुगताः समानि विषमाणि च।
पुराणि चौरान् निघ्नन्तश्चरन्ति विषये तव ॥ ८३ ॥

क्या तुम्हारे राज्यमें कुछ रक्षक पुरुष सेना साथ लेकर चोर-डाकुओंका दमन करते हुए सुगम एवं दुर्गम नगरोंमें विचरते रहते हैं? ॥ ८३ ॥

कच्चित् स्त्रियः सान्त्वयसि कच्चित् ताश्च सुरक्षिताः।
कच्चिन्न श्रद्दधास्यासां कच्चिद् गुह्यं न भाषसे ॥ ८४ ॥

तुम स्त्रियोंको सान्त्वना देकर संतुष्ट रखते हो न? क्या वे तुम्हारे यहाँ पूर्णरूपसे सुरक्षित हैं? तुम उनपर पूरा विश्वास तो नहीं करते? और विश्वास करके उन्हें कोई गुप्त बात तो नहीं बता देते? ॥ ८४ ॥

कच्चिदात्ययिकं श्रुत्वा तदर्थमनुचिन्त्य च।
प्रियाण्यनुभवञ्छेषे न त्वमन्तःपुरे नृप ॥ ८५ ॥

राजन्! तुम कोई अमङ्गलसूचक समाचार सुनकर और उसके विषयमें बार-बार विचार करके भी प्रिय भोग-विलासोंका आनन्द लेते हुए अन्तःपुरमें ही सोते तो नहीं रह जाते? ॥ ८५ ॥

कच्चिद् द्वौ प्रथमौ यामौ रात्रेः सुप्त्वा विशाम्पते।
संचिन्तयसि धर्मार्थौ याम उत्थाय पश्चिमे ॥ ८६ ॥

प्रजानाथ! क्या तुम रात्रिके (पहले पहरके बाद) जो प्रथम दो (दूसरे-तीसरे) याम हैं, उन्हींमें सोकर अन्तिम पहरमें उठकर बैठ जाते और धर्म एवं अर्थका चिन्तन करते हो? ॥ ८६ ॥

* सीमावर्ती गाँवका अधिपति अपने यहाँका राजकीय कर एकत्र करके ग्रामाधिपतिको दे, ग्रामाधिपति नगराधिपतिको, वह देशाधिपतिको और देशाधिपति साक्षात् राजाको वह धन अर्पित करे।

कच्चिदर्थयसे नित्यं मनुष्यान् समलंकृतः।
उत्थाय काले कालज्ञैः सह पाण्डव मन्त्रिभिः ॥ ८७ ॥

पाण्डुनन्दन! तुम प्रतिदिन समयपर उठकर स्नान आदिके पश्चात् वस्त्राभूषणोंसे अलंकृत हो देश-कालके ज्ञाता मन्त्रियोंके साथ बैठकर (प्रार्थी या दर्शनार्थी) मनुष्योंकी इच्छा पूर्ण करते हो न? ॥ ८७ ॥

कच्चिद् रक्ताम्बरधराः खड्गहस्ताः स्वलंकृताः।
उपासते त्वामभितो रक्षणार्थमरिंदम ॥ ८८ ॥

शत्रुदमन! क्या लाल वस्त्र धारण करके अलंकारोंसे अलंकृत हुए योद्धा अपने हाथोंमें तलवार लेकर तुम्हारी रक्षाके लिये सब ओरसे सेवामें उपस्थित रहते हैं? ॥ ८८ ॥

कच्चिद् दण्ड्येषु यमवत्पूज्येषु च विशाम्पते।
परीक्ष्य वर्तसे सम्यगप्रियेषु प्रियेषु च ॥ ८९ ॥

महाराज! क्या तुम दण्डनीय अपराधियोंके प्रति यमराज और पूजनीय पुरुषोंके प्रति धर्मराजका-सा बर्ताव करते हो? प्रिय एवं अप्रिय व्यक्तियोंकी भलीभाँति परीक्षा करके व्यवहार करते हो न? ॥ ८९ ॥

कच्चिच्छारीरमाबाधमौषधैर्नियमेन वा।
मानसं वृद्धसेवाभिः सदा पार्थापकर्षसि ॥ ९० ॥

कुन्तीकुमार! क्या तुम ओषधिसेवन या पथ्य-भोजन आदि नियमोंके पालनद्वारा अपने शारीरिक कष्टको तथा वृद्ध पुरुषोंकी सेवारूप सत्सङ्गद्वारा मानसिक संतापको सदा दूर करते रहते हो? ॥ ९० ॥

कच्चिद् वैद्याश्चिकित्सायामष्टाङ्गायां विशारदाः।
सुहृदश्चानुरक्ताश्च शरीरे ते हिताः सदा ॥ ९१ ॥

तुम्हारे वैद्य अष्टाङ्गचिकित्सामें* कुशल, हितैषी, प्रेमी एवं तुम्हारे शरीरको स्वस्थ रखनेके प्रयत्नमें सदा संलग्न रहनेवाले हैं न? ॥ ९१ ॥

कच्चिन्न लोभान्मोहाद् वा मानाद् वापि विशाम्पते।
अर्थिप्रत्यर्थिनः प्राप्तान् न पश्यसि कथंचन ॥ ९२ ॥

नरेश्वर! कहीं ऐसा तो नहीं होता कि तुम अपने यहाँ आये हुए अर्थी (याचक) और प्रत्यर्थी (राजाकी ओरसे मिली हुई वृत्ति बंद हो जानेसे दुखी हो पुनः उसीको पानेके लिये प्रार्थी) की ओर लोभ, मोह अथवा अभिमानवश किसी प्रकार आँख उठाकर देखतेतक नहीं? ॥ ९२ ॥

कच्चिन्न लोभान्मोहाद् वा विश्रम्भात् प्रणयेन वा।
आश्रितानां मनुष्याणां वृत्तिं त्वं संरुणत्सि वै ॥ ९३ ॥

* नाड़ी, मल, मूत्र, जिह्वा, नेत्र, रूप, शब्द तथा स्पर्श—ये आठ चिकित्साके प्रकार कहे जाते हैं।

कहीं अपने आश्रित जनोंकी जीविकावृत्तिको तुम लोभ, मोह, आत्मविश्वास अथवा आसक्तिसे बंद तो नहीं कर देते ?॥ ९३॥

कच्चित् पौरा न सहिता ये च ते राष्ट्रवासिनः।
त्वया सह विरुध्यन्ते परैः क्रीताः कथंचन ॥ ९४॥

तुम्हारे नगर तथा राष्ट्रके निवासी मनुष्य संगठित होकर तुम्हारे साथ विरोध तो नहीं करते ? शत्रुओंने उन्हें किसी तरह घूस देकर खरीद तो नहीं लिया है ? ॥ ९४॥

कच्चिन्न दुर्बलः शत्रुर्बलेन परिपीडितः।
मन्त्रेण बलवान् कश्चिदुभाभ्यां च कथंचन ॥ ९५॥

कोई दुर्बल शत्रु जो तुम्हारे द्वारा पहले बलपूर्वक पीड़ित किया गया (किंतु मारा नहीं गया), अब मन्त्रणाशक्तिसे अथवा मन्त्रणा और सेना दोनों ही शक्तियोंसे किसी तरह बलवान् होकर सिर तो नहीं उठा रहा है ? ॥ ९५॥

कच्चित् सर्वेऽनुरक्तास्त्वां भूमिपालाः प्रधानतः।
कच्चित् प्राणांस्त्वदर्थेषु संत्यजन्ति त्वयाऽऽदृताः॥९६॥

क्या सभी मुख्य-मुख्य भूपाल तुमसे प्रेम रखते हैं ? क्या वे तुम्हारे द्वारा सम्मान पाकर तुम्हारे लिये अपने प्राणोंकी बलि दे सकते हैं ? ॥ ९६॥

कच्चित् ते सर्वविद्यासु गुणतोऽर्चा प्रवर्तते।
ब्राह्मणानां च साधूनां तव नैःश्रेयसी शुभा।
दक्षिणास्त्वं ददास्येषां नित्यं स्वर्गापवर्गदाः ॥ ९७॥

क्या तुम्हारे मनमें सभी विद्याओंके प्रति गुणके अनुसार आदरका भाव है ? क्या तुम ब्राह्मणों तथा साधु-संतोंकी सेवा-पूजा करते हो ? जो तुम्हारे लिये शुभ एवं कल्याणकारिणी है। इन ब्राह्मणोंको तुम सदा दक्षिणा तो देते रहते हो न ? क्योंकि वह स्वर्ग और मोक्षकी प्राप्ति करानेवाली है ॥ ९७॥

कच्चिद् धर्मे त्रयीमूले पूर्वैराचरिते जनैः।
यतमानस्तथा कर्तुं तस्मिन् कर्मणि वर्तसे ॥ ९८॥

तीनों वेद ही जिसके मूल हैं और पूर्वपुरुषोंने जिसका आचरण किया है, उस धर्मका अनुष्ठान करनेके लिये तुम अपने पूर्वजोंकी ही भाँति प्रयत्नशील तो रहते हो ? धर्मानुकूल कर्ममें ही तुम्हारी प्रवृत्ति तो रहती है ? ॥ ९८॥

कच्चित्तव गृहेऽन्नानि स्वादून्यश्नन्ति वै द्विजाः।
गुणवन्ति गुणोपेतास्तवाध्यक्षं सदक्षिणम् ॥ ९९॥

क्या तुम्हारे महलमें तुम्हारी आँखोंके सामने गुणवान् ब्राह्मण स्वादिष्ट और गुणकारक अन्न भोजन करते हैं ? और भोजनके पश्चात् उन्हें दक्षिणा दी जाती है ? ॥ ९९॥

कच्चित् क्रतूनेकचित्तो वाजपेयांश्च सर्वशः।
पुण्डरीकांश्च कार्त्स्न्येन यतसे कर्तुमात्मवान् ॥१००॥

अपने मनको वशमें करके एकाग्रचित्त हो वाजपेय और पुण्डरीक आदि सभी यज्ञ-यागोंका तुम पूर्णरूपसे अनुष्ठान करनेका प्रयत्न तो करते हो न ? ॥ १००॥

कच्चिज्ज्ञातीन् गुरून् वृद्धान् दैवतांस्तापसानपि।
चैत्यांश्च वृक्षान् कल्याणान् ब्राह्मणांश्च नमस्यसि॥१०१॥

जाति-भाई, गुरुजन, वृद्ध पुरुष, देवता, तपस्वी, चैत्य वृक्ष (पीपल) आदि तथा कल्याणकारी ब्राह्मणोंको नमस्कार तो करते हो न ? ॥ १०१॥

कच्चिच्छोको न मन्युर्वा त्वया प्रोत्पाद्यतेऽनघ।
अपि मङ्गलहस्तश्च जनः पार्श्वे नु तिष्ठति ॥१०२॥

निष्पाप नरेश ! तुम किसीके मनमें शोक या क्रोध तो नहीं पैदा करते ? तुम्हारे पास कोई मनुष्य हाथमें मङ्गल-सामग्री लेकर सदा उपस्थित रहता है न ? ॥ १०२॥

कच्चिदेषा च ते बुद्धिर्वृत्तिरेषा च तेऽनघ।
आयुष्या च यशस्या च धर्मकामार्थदर्शिनी ॥१०३॥

पापरहित युधिष्ठिर ! अबतक जैसा बतलाया गया है, उसके अनुसार ही तुम्हारी बुद्धि और वृत्ति (विचार और आचार) है न ? ऐसी धर्मानुकूल बुद्धि और वृत्ति आयु तथा यशको बढ़ानेवाली एवं धर्म, अर्थ तथा कामको पूर्ण करनेवाली है ॥ १०३॥

एतया वर्तमानस्य बुद्ध्या राष्ट्रं न सीदति।
विजित्य च महीं राजा सोऽत्यन्तसुखमेधते ॥१०४॥

जो ऐसी बुद्धिके अनुसार बर्ताव करता है, उसका राष्ट्र कभी संकटमें नहीं पड़ता। वह राजा सारी पृथ्वीको जीतकर बड़े सुखसे दिनोंदिन उन्नति करता है ॥ १०४॥

कच्चिदार्यो विशुद्धात्मा क्षारितश्चौरकर्मणि।
अदृष्टशास्त्रकुशलैर्न लोभाद् वध्यते शुचिः ॥१०५॥

कहीं ऐसा तो नहीं होता कि शास्त्रकुशल विद्वानोंका सङ्ग न करनेवाले तुम्हारे मूर्ख मन्त्रियोंने किसी विशुद्ध हृदय-वाले श्रेष्ठ एवं पवित्र पुरुषपर चोरीका अपराध लगाकर उसका सारा धन हड़प लिया हो ? और फिर अधिक धनके लोभसे वे उसे प्राणदण्ड देते हों ? ॥ १०५॥

दुष्टो गृहीतस्तत्कारी तज्ज्ञैर्दृष्टः सकारणः।
कच्चिन्न मुच्यते स्तेनो द्रव्यलोभान्नरर्षभ ॥१०६॥

नरश्रेष्ठ ! कोई ऐसा दुष्ट चोर जो चोरी करते समय पहरेदारोंद्वारा देख लिया गया और चोरीके मालसहित पकड़ लिया गया हो, धनके लोभसे छोड़ तो नहीं दिया जाता ? ॥

उत्पन्नान् कच्चिदाढ्यस्य दरिद्रस्य च भारत।
अर्थान् न मिथ्या पश्यन्ति तवामात्या हृता जनैः॥१०७॥

भारत ! तुम्हारे मन्त्री चुगली करनेवाले लोगोंके बहकावेमें आकर विवेकशून्य हो किसी धनीके या दरिद्रके थोड़े समयमें ही अचानक पैदा हुए अधिक धनको मिथ्यादृष्टिसे तो नहीं देखते ?

या उनके बढ़े हुए धनको चोरी आदिसे लाया हुआ तो नहीं मान लेते ? ॥ १०७ ॥

नास्तिक्यमनृतं क्रोधं प्रमादं दीर्घसूत्रताम् ।
अदर्शनं ज्ञानवतामालस्यं पञ्चवृत्तिताम् ॥
एकचिन्तनमर्थानामनर्थज्ञैश्च चिन्तनम् ॥१०८॥
निश्चितानामनारम्भं मन्त्रस्यापरिरक्षणम् ।
मङ्गलाद्यप्रयोगं च प्रत्युत्थानं च सर्वतः ॥१०९॥
कच्चित्त्वं वर्जयस्येतान् राजदोषांश्चतुर्दश ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूलापि पार्थिवाः ॥११०॥

युधिष्ठिर ! तुम नास्तिकता, झूठ, क्रोध, प्रमाद, दीर्घसूत्रता, ज्ञानियोंका संग न करना, आलस्य, पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्ति, प्रजाजनोंपर अकेले ही विचार करना, अर्थशास्त्रको न जाननेवाले मूर्खोंके साथ विचार-विमर्श, निश्चित कार्योंके आरम्भ करनेमें विलम्ब या टालमटोल, गुप्त मन्त्रणाको सुरक्षित न रखना, माङ्गलिक उत्सव आदि न करना तथा एक साथ ही सभी शत्रुओंपर चढ़ाई कर देना—इन राजसम्बन्धी चौदह दोषोंका त्याग तो करते हो न? क्योंकि जिनके राज्यकी जड़ जम गयी है, ऐसे राजा भी इन दोषोंके कारण नष्ट हो जाते हैं ॥ १०८—११० ॥

कच्चित् ते सफला वेदाः कच्चित् ते सफलं धनम् ।
कच्चित् ते सफला दाराः कच्चित् ते सफलं श्रुतम् ॥१११॥

क्या तुम्हारे वेद सफल हैं ? क्या तुम्हारा धन सफल है ? क्या तुम्हारी स्त्री सफल है ? और क्या तुम्हारा शास्त्रज्ञान सफल है ? ॥ १११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै सफला वेदाः कथं वै सफलं धनम् ।
कथं वै सफला दाराः कथं वै सफलं श्रुतम् ॥११२॥

युधिष्ठिरने पूछा—देवर्षे ! वेद कैसे सफल होते हैं, धनकी सफलता कैसे होती है ? स्त्रीकी सफलता कैसे मानी गयी है तथा शास्त्रज्ञान कैसे सफल होता है ? ॥ ११२ ॥

नारद उवाच

अग्निहोत्रफला वेदा दत्तभुक्तफलं धनम् ।
रतिपुत्रफला दाराः शीलवृत्तफलं श्रुतम् ॥११३॥

नारदजीने कहा—राजन् ! वेदोंकी सफलता अग्निहोत्रसे होती है, दान और भोगसे ही धन सफल होता है, स्त्रीका फल है—रति और पुत्रकी प्राप्ति तथा शास्त्रज्ञानका फल है शील और सदाचार ॥ ११३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतदाख्याय स मुनिर्नारदो वै महातपाः ।
पप्रच्छानन्तरमिदं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम् ॥११४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन् ! यह कहकर महा नारद मुनिने धर्मात्मा युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार प्रश्न कि

नारद उवाच

कच्चिदभ्यागता दूराद् वणिजो लाभकारणात् ।
यथोक्तमवहार्यन्ते शुल्कं शुल्कोपजीविभिः ॥११५॥

नारदजीने पूछा—राजन् ! कर वसूलनेका काम करनेवाले तुम्हारे कर्मचारीलोग दूरसे लाभ उठानेके लिये आये हुए व्यापारियोंसे ठीक-ठीक कर वसूल करते हैं न ? (अधिक तो नहीं लेते ?) ॥ ११५ ॥

कच्चित् ते पुरुषा राजन् पुरे राष्ट्रे च मानिताः ।
उपानयन्ति पण्यानि उपधाभिरवञ्चिताः ॥११६॥

महाराज ! वे व्यापारीलोग आपके नगर और रा सम्मानित हो बिक्रीके लिये उपयोगी सामान लाते हैं न ? उन्हें तुम्हारे कर्मचारी छलसे ठगते तो नहीं ? ॥ ११६ ॥

कच्चिच्छृणोषि वृद्धानां धर्मार्थसहिता गिरः ।
नित्यमर्थविदां तात यथाधर्मार्थदर्शिनाम् ॥११७॥

तात ! तुम सदा धर्म और अर्थके ज्ञाता एवं अर्थशा पूरे पण्डित बड़े-बूढ़े लोगोंकी धर्म और अर्थसे युक्त सुनते रहते हो न ? ॥ ११७ ॥

कच्चित् ते कृषितन्त्रेषु गोषु पुष्पफलेषु च ।
धर्मार्थं च द्विजातिभ्यो दीयते मधुसर्पिषी ॥११८॥

क्या तुम्हारे यहाँ खेतीसे उत्पन्न होनेवाले अन्न फल-फूल एवं गौओंसे प्राप्त होनेवाले दूध, घी आदिमें (अन्न) और घृत आदि धर्मके लिये ब्राह्मणोंको जाते हैं ? ॥ ११८ ॥

द्रव्योपकरणं किंचित् सर्वदा सर्वशिल्पिनाम् ।
चातुर्मास्यावरं सम्यङ् नियतं सम्प्रयच्छसि ॥११९॥

नरेश्वर ! क्या तुम सदा नियमसे सभी शिल्पि व्यवस्थापूर्वक एक साथ इतनी वस्तु-निर्माणकी साम देते हो, जो कम-से-कम चौमासे भर चल सके ? ॥ ११९ ॥

कच्चित् कृतं विजानीषे कर्तारं च प्रशंससि ।
सतां मध्ये महाराज सत्करोषि च पूजयन् ॥१२०॥

महाराज ! क्या तुम्हें किसीके किये हुए उपकारका चलता है ? क्या तुम उस उपकारीकी प्रशंसा करते हो और साधु पुरुषोंसे भरी हुई सभाके बीच उस उपकारी प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए उसका आदर-सत्कार करते हो ? ॥ १२० ॥

कच्चित् सूत्राणि सर्वाणि गृह्णासि भरतर्षभ ।
हस्तिसूत्राश्वसूत्राणि रथसूत्राणि वा विभो ॥१२१॥

भरतश्रेष्ठ ! क्या तुम संक्षेपसे सिद्धान्तका प्रतिपाद

करनेवाले सभी सूत्रग्रन्थ—हस्तिसूत्र, अश्वसूत्र एवं रथसूत्र आदिका संग्रह (पठन एवं अभ्यास) करते रहते हो ? ॥

कच्चिदभ्यस्यते सम्यग् गृहे ते भरतर्षभ।
धनुर्वेदस्य सूत्रं वै यन्त्रसूत्रं च नागरम् ॥१२२॥

भरतकुलभूषण ! क्या तुम्हारे घरपर धनुर्वेद-सूत्र, यन्त्र-सूत्र[1] और नागरिक[2] सूत्रका अच्छी तरह अभ्यास किया जाता है ? ॥ १२२ ॥

कच्चिदस्त्राणि सर्वाणि ब्रह्मदण्डश्च तेऽनघ।
विषयोगास्तथा सर्वे विदिताः शत्रुनाशनाः ॥१२३॥

निष्पाप नरेश ! तुम्हें सब प्रकारके अस्त्र (जो मन्त्रबलसे प्रयुक्त होते हैं), वेदोक्त दण्ड-विधान तथा शत्रुओंका नाश करनेवाले सब प्रकारके विषप्रयोग ज्ञात हैं न ? ॥ १२३ ॥

कच्चिदग्निभयाच्चैव सर्वं व्यालभयात् तथा।
रोगरक्षोभयाच्चैव राष्ट्रं स्वं परिरक्षसि ॥१२४॥

क्या तुम अग्नि, सर्प, रोग तथा राक्षसोंके भयसे अपने सम्पूर्ण राष्ट्रकी रक्षा करते हो ? ॥ १२४ ॥

कच्चिदन्धांश्च मूकांश्च पङ्गून् व्यङ्गानबान्धवान्।
पितेव पासि धर्मज्ञ तथा प्रव्रजितानपि ॥१२५॥

धर्मज्ञ ! क्या तुम अंधों, गूँगों, पङ्गुओं, अङ्गहीनों और बन्धु-बान्धवोंसे रहित अनाथों तथा संन्यासियोंका भी पिताकी भाँति पालन करते हो ? ॥ १२५ ॥

षडनर्था महाराज कच्चित् ते पृष्ठतः कृताः।
निद्राऽऽलस्यं भयं क्रोधोऽमार्दवं दीर्घसूत्रता ॥१२६॥

महाराज ! क्या तुमने निद्रा, आलस्य, भय, क्रोध, कठोरता और दीर्घसूत्रता—इन छः दोषोंको पीछे कर दिया (त्याग दिया) है ? ॥ १२६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः कुरूणामृषभो महात्मा
श्रुत्वा गिरो ब्राह्मणसत्तमस्य।
प्रणम्य पादावभिवाद्य तुष्टो
राजाब्रवीन्नारदं देवरूपम् ॥१२७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुरुश्रेष्ठ महात्मा राजा युधिष्ठिरने ब्रह्माके पुत्रोंमें श्रेष्ठ नारदजीका यह वचन सुनकर उनके दोनों चरणोंमें प्रणाम एवं अभिवादन किया और अत्यन्त संतुष्ट हो देवस्वरूप नारदजीसे कहा ॥ १२७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवं करिष्यामि यथा त्वयोक्तं
प्रज्ञा हि मे भूय एवाभिवृद्धा।
उक्त्वा तथा चैव चकार राजा
लेभे महीं सागरमेखलां च ॥१२८॥

युधिष्ठिर बोले—देवर्षे ! आपने जैसा उपदेश दिया है, वैसा ही करूँगा। आपके इस प्रवचनसे मेरी प्रज्ञा और भी बढ़ गयी है।

ऐसा कहकर राजा युधिष्ठिरने वैसा ही आचरण किया और इसीसे समुद्रपर्यन्त पृथ्वीका राज्य पा लिया ॥ १२८ ॥

नारद उवाच

एवं यो वर्तते राजा चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे।
स विहृत्येह सुसुखी शक्रस्यैति सलोकताम् ॥१२९॥

नारदजीने कहा—जो राजा इस प्रकार चारों वर्णों (और वर्णाश्रमधर्म) की रक्षामें संलग्न रहता है, वह इस लोकमें अत्यन्त सुखपूर्वक विहार करके अन्तमें देवराज इन्द्रके लोकमें जाता है ॥ १२९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि नारदप्रश्नमुखेन राजधर्मानुशासने पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें नारदजीके द्वारा प्रश्नके व्याजसे राजधर्मका उपदेशविषयक पाँचवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५ ॥

षष्ठोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी दिव्य सभाओंके विषयमें जिज्ञासा

वैशम्पायन उवाच

सम्पूज्याथाभ्यनुज्ञातो महर्षेर्वचनात् परम्।
प्रत्युवाचानुपूर्व्येण धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवर्षि नारदका वह उपदेश पूर्ण होनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने भलीभाँति उनकी पूजा की; तदनन्तर उनसे आज्ञा लेकर उनके प्रश्नका उत्तर दिया ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भगवन् न्याय्यमाहैतं यथावद् धर्मनिश्चयम्।
यथाशक्ति यथान्यायं क्रियतेऽयं विधिर्मया ॥ २ ॥

1. लोहेकी बनी हुई उन मशीनोंको, जिनके द्वारा बारूदके बलसे शीशे, काँसे और पत्थरकी गोलियाँ चलायी जाती हैं—यन्त्र कहते हैं। उन यन्त्रोंके प्रयोगकी विधिके प्रतिपादक संक्षिप्त वाक्य ही यन्त्रसूत्र हैं।

2. नगरकी रक्षा तथा उन्नतिके साधनोंको बतानेवाले संक्षिप्त वाक्योंको ही यहाँ नागरिक सूत्र कहा गया है।

युधिष्ठिर बोले—भगवन् ! आपने जो यह राजधर्मका यथार्थ सिद्धान्त बताया है, वह सर्वथा न्यायोचित है। मैं आपके इस न्यायानुकूल आदेशका यथाशक्ति पालन करता हूँ ॥ २ ॥

राजभिर्यद् यथा कार्यं पुरा वैतन्न संशयः।
यथान्यायोपनीतार्थं कृतं हेतुमदर्थवत् ॥ ३ ॥

इसमें संदेह नहीं कि प्राचीन कालके राजाओंने जो कार्य जैसे सम्पन्न किया, वह प्रत्येक न्यायोचित, सकारण और किसी विशेष प्रयोजनसे युक्त होता था ॥ ३ ॥

वयं तु सत्पथं तेषां यातुमिच्छामहे प्रभो।
न तु शक्यं तथा गन्तुं यथा तैर्नियतात्मभिः ॥ ४ ॥

प्रभो ! हम भी उन्हींके उत्तम मार्गसे चलना चाहते हैं, परंतु उस प्रकार (सर्वथा) चल नहीं पाते; जैसे वे नियतात्मा महापुरुष चला करते थे ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स धर्मात्मा वाक्यं तदभिपूज्य च।
मुहूर्तात् प्राप्तकालं च दृष्ट्वा लोकचरं मुनिम् ॥ ५ ॥
नारदं सुस्थमासीनमुपासीनो युधिष्ठिरः।
अपृच्छत् पाण्डवस्तत्र राजमध्ये महाद्युतिः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर धर्मात्मा युधिष्ठिरने नारदजीके पूर्वोक्त प्रवचनकी बड़ी प्रशंसा की। फिर सम्पूर्ण लोकोंमें विचरनेवाले नारद मुनि जब शान्ति-पूर्वक बैठ गये, तब दो घड़ीके बाद ठीक अवसर जानकर महातेजस्वी पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर भी उनके निकट आ बैठे और सम्पूर्ण राजाओंके बीच वहाँ उनसे इस प्रकार पूछने लगे ॥ ५-६ ॥

युधिष्ठिर उवाच

भवान् संचरते लोकान् सदा नानाविधान् बहून्।
ब्रह्मणा निर्मितान् पूर्वं प्रेक्षमाणो मनोजवः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—मुनिवर ! आप मनके समान वेगशाली हैं, अतः ब्रह्माजीने पूर्वकालमें जिनका निर्माण किया है, उन अनेक प्रकारके बहुत-से लोकोंका दर्शन करते हुए आप उनमें सदा बेरोक-टोक विचरते रहते हैं ॥ ७ ॥

ईदृशी भवता काचिद् दृष्टपूर्वा सभा क्वचित्।
इतो वा श्रेयसी ब्रह्मंस्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥ ८ ॥

ब्रह्मन् ! क्या आपने पहले कहीं ऐसी या इससे भी अच्छी कोई सभा देखी है ? मैं जानना चाहता हूँ, अतः आप मुझसे यह बात बतावें ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तच्छ्रुत्वा नारदस्तस्य धर्मराजस्य भाषितम्।
पाण्डवं प्रत्युवाचेदं स्मयन् मधुरया गिरा ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धर्मराज युधिष्ठिरका यह प्रश्न सुनकर देवर्षि नारदजी मुसकराने लगे और उन पाण्डुकुमारको इसका उत्तर देते हुए मधुर वाणीमें बोले ॥ ९ ॥

नारद उवाच

मानुषेषु न मे तात दृष्टपूर्वा न च श्रुता।
सभा मणिमयी राजन् यथेयं तव भारत ॥ १० ॥

नारदजीने कहा—तात ! भरतवंशी नरेश ! मणि एवं रत्नोंकी बनी हुई जैसी तुम्हारी यह सभा है, ऐसी सभा मैंने मनुष्यलोकमें न तो पहले कभी देखी है और न कानोंसे ही सुनी है ॥ १० ॥

सभां तु पितृराजस्य वरुणस्य च धीमतः।
कथयिष्ये तथेन्द्रस्य कैलासनिलयस्य च ॥ ११ ॥
ब्रह्मणश्च सभां दिव्यां कथयिष्ये गतक्लमाम्।
दिव्यादिव्यैरभिप्रायैरुपेतां विश्वरूपिणीम् ॥ १२ ॥
देवैः पितृगणैः साध्यैर्यज्वभिर्नियतात्मभिः।
जुष्टां मुनिगणैः शान्तैर्वेदयज्ञैः सदक्षिणैः।
यदि ते श्रवणे बुद्धिर्वर्तते भरतर्षभ ॥ १३ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि तुम्हारा मन दिव्य सभाओंका वर्णन सुननेको उत्सुक हो तो मैं तुम्हें पितृराज यम, बुद्धिमान् वरुण, स्वर्गवासी इन्द्र, कैलासनिवासी कुबेर तथा ब्रह्माजीकी दिव्य सभाका वर्णन सुनाऊँगा, जहाँ किसी प्रकारका क्लेश नहीं है एवं जो दिव्य और अदिव्य भोगोंसे सम्पन्न तथा संसारके अनेक रूपोंसे अलंकृत है। वह देवता, पितृगण, साध्यगण, यज्वा तथा मनको वशमें रखनेवाले शान्त मुनिगणोंसे सेवित है और वहाँ उत्तम दक्षिणाओंसे युक्त वैदिक यज्ञोंका अनुष्ठान होता रहता है ॥ ११-१३ ॥

नारदेनैवमुक्तस्तु धर्मराजो युधिष्ठिरः।
प्राञ्जलिर्भ्रातृभिः सार्धं तैश्च सर्वैर्द्विजोत्तमैः ॥ १४ ॥
नारदं प्रत्युवाचेदं धर्मराजो महामनाः।
सभाः कथय ताः सर्वाः श्रोतुमिच्छामहे वयम् ॥ १५ ॥

नारदजीके ऐसा कहनेपर भाइयों तथा सम्पूर्ण श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके साथ महामनस्वी धर्मराज युधिष्ठिरने हाथ जोड़कर उनसे इस प्रकार कहा—'महर्षे ! हम सभी दिव्य सभाओंका वर्णन सुनना चाहते हैं। आप उनके विषयमें सब बातें बताइये ॥ १४-१५ ॥

किंद्रव्यास्ताः सभा ब्रह्मन् किंविस्ताराः किमायताः।
पितामहं च के तस्यां सभायां पर्युपासते ॥ १६ ॥

'ब्रह्मन् ! उन सभाओंका निर्माण किस द्रव्यसे हुआ है? उनकी लंबाई-चौड़ाई कितनी है ? ब्रह्माजीकी उस दिव्य सभामें कौन-कौन सभासद् उन्हें चारों ओरसे घेरकर बैठते हैं ? ॥ १६ ॥

वासवं देवराजं च यमं वैवस्वतं च के।
वरुणं च कुबेरं च सभायां पर्युपासते ॥ १७ ॥

'इसी प्रकार देवराज इन्द्र, वैवस्वत यम, वरुण तथा कुबेरकी सभामें कौन-कौन लोग उनकी उपासना करते हैं ?॥ १७॥

एतत् सर्वं यथान्यायं ब्रह्मर्षे वदतस्तव।
श्रोतुमिच्छाम सहिताः परं कौतूहलं हि नः ॥ १८ ॥

'ब्रह्मर्षे ! हम सब लोग आपके मुखसे ये सब बातें यथोचित रीतिसे सुनना चाहते हैं। हमारे मनमें इनके लिये बड़ा कौतूहल है' ॥ १८ ॥

एवमुक्तः पाण्डवेन नारदः प्रत्यभाषत।
क्रमेण राजन् दिव्यास्ताः श्रूयन्तामिह नः सभाः॥ १९ ॥

पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर नारदजीने उत्तर दिया—'राजन् ! तुम हमसे यहाँ उन सभी दिव्य सभाओंका क्रमशः वर्णन सुनो' ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि युधिष्ठिरसभाजिज्ञासायां षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें युधिष्ठिरकी दिव्य सभाओंके विषयमें जिज्ञासा-विषयक छठा अध्याय पूरा हुआ।

सप्तमोऽध्यायः

इन्द्रसभाका वर्णन

नारद उवाच

शक्रस्य तु सभा दिव्या भास्वरा कर्मनिर्मिता।
स्वयं शक्रेण कौरव्य निर्जितार्कसमप्रभा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! इन्द्रकी तेजोमयी दिव्य सभा सूर्यके समान प्रकाशित होती है। (विश्वकर्माके) प्रयत्नोंसे उसका निर्माण हुआ है। स्वयं इन्द्रने (सौ यज्ञोंका अनुष्ठान करके) उसपर विजय पायी है ॥ १ ॥

विस्तीर्णा योजनशतं शतमध्यर्धमायता।
वैहायसी कामगमा पञ्चयोजनमुच्छ्रिता ॥ २ ॥

उसकी लंबाई डेढ़ सौ और चौड़ाई सौ योजनकी है। वह आकाशमें विचरनेवाली और इच्छाके अनुसार तीव्र या मन्द गतिसे चलनेवाली है। उसकी ऊँचाई भी पाँच योजनकी है ॥ २ ॥

जराशोकक्लमापेता निरातङ्का शिवा शुभा।
वेश्मासनवती रम्या दिव्यपादपशोभिता ॥ ३ ॥

उसमें जीर्णता, शोक और थकावट आदिका प्रवेश नहीं है। वहाँ भय नहीं है, वह मङ्गलमयी और शोभासम्पन्न है। उसमें ठहरनेके लिये सुन्दर-सुन्दर महल और बैठनेके लिये उत्तमोत्तम सिंहासन बने हुए हैं। वह रमणीय सभा दिव्य वृक्षोंसे सुशोभित होती है ॥ ३ ॥

तस्यां देवेश्वरः पार्थ सभायां परमासने।
आस्ते शच्या महेन्द्राण्या श्रिया लक्ष्म्या च भारत॥ ४ ॥

भारत ! कुन्तीनन्दन ! उस सभामें सर्वश्रेष्ठ सिंहासनपर देवराज इन्द्र शोभामें लक्ष्मीके समान प्रतीत होनेवाली इन्द्राणी शचीके साथ विराजते हैं ॥ ४ ॥

बिभ्रद् वपुरनिर्देश्यं किरीटी लोहिताङ्गदः।
विरजोऽम्बरश्चित्रमाल्यो ह्रीकीर्तिद्युतिभिः सह ॥ ५ ॥

उस समय वे अवर्णनीय रूप धारण करते हैं। उनके मस्तकपर किरीट रहता है और दोनों भुजाओंमें लाल रंगके बाजूबंद शोभा पाते हैं। उनके शरीरपर स्वच्छ वस्त्र और कण्ठमें विचित्र माला सुशोभित होती है। वे लज्जा, कीर्ति और कान्ति—इन देवियोंके साथ उस दिव्य सभामें विराजमान होते हैं ॥ ५ ॥

तस्यामुपासते नित्यं महात्मानं शतक्रतुम्।
मरुतः सर्वशो राजन् सर्वे च गृहमेधिनः ॥ ६ ॥

राजन् ! उस दिव्य सभामें सभी मरुद्गण और गृहवासी देवता सौ यज्ञोंका अनुष्ठान पूर्ण कर लेनेवाले महात्मा इन्द्रकी प्रतिदिन सेवा करते हैं ॥ ६ ॥

सिद्धा देवर्षयश्चैव साध्या देवगणास्तथा।
मरुत्वन्तश्च सहिता भास्वन्तो हेममालिनः ॥ ७ ॥
एते सानुचराः सर्वे दिव्यरूपाः स्वलंकृताः।
उपासते महात्मानं देवराजमरिंदमम् ॥ ८ ॥

सिद्ध, देवर्षि, साध्य देवगण तथा मरुत्वान्, ये सभी सुवर्ण-मालाओंसे सुशोभित हो तेजस्वी रूप धारण किये एक साथ उस दिव्य सभामें बैठकर शत्रुदमन महामना देवराज इन्द्रकी उपासना करते हैं। ये सभी देवता अपने अनुचरों (सेवकों) के साथ वहाँ विराजमान होते हैं। ये दिव्यरूपधारी होनेके साथ ही उत्तमोत्तम अलंकारोंसे अलंकृत रहते हैं ॥ ७-८ ॥

तथा देवर्षयः सर्वे पार्थ शक्रमुपासते।
अमला धूतपाप्मानो दीप्यमाना इवाग्नयः ॥ ९ ॥

कुन्तीनन्दन ! इसी प्रकार जिनके पाप धुल गये हैं, वे अग्निके समान उद्दीप्त होनेवाले सभी निर्मल देवर्षि वहाँ इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥ ९ ॥

तेजस्विनः सोमयुजो विशोका विगतज्वराः।

ये देवर्षिगण तेजस्वी, सोमयाग करनेवाले तथा शोक और चिन्तासे शून्य हैं ॥ ९½ ॥

पराशरः पर्वतश्च तथा सावर्णिगालवौ ॥ १० ॥
शङ्खश्च लिखितश्चैव तथा गौरशिरा मुनिः ।
दुर्वासाः क्रोधनः श्येनस्तथा दीर्घतमा मुनिः ॥ ११ ॥
पवित्रपाणिः सावर्णिर्याज्ञवल्क्योऽथ भालुकिः ।
उद्दालकः श्वेतकेतुस्ताण्ड्यो भाण्डायनिस्तथा ॥ १२ ॥
हविष्मांश्च गरिष्ठश्च हरिश्चन्द्रश्च पार्थिवः ।
हृद्यश्चोदरशाण्डिल्यः पाराशर्यः कृषीवलः ॥ १३ ॥
वातस्कन्धो विशाखश्च विधाता काल एव च ।
करालदन्तस्त्वष्टा च विश्वकर्मा च तुम्बुरुः ॥ १४ ॥
अयोनिजा योनिजाश्च वायुभक्षा हुताशिनः ।
ईशानं सर्वलोकस्य वज्रिणं समुपासते ॥ १५ ॥

पराशर, पर्वत, सावर्णि, गालव, शङ्ख, लिखित, गौरशिरा मुनि, दुर्वासा, क्रोधन, श्येन, दीर्घतमा मुनि, पवित्रपाणि, सावर्णि (द्वितीय), याज्ञवल्क्य, भालुकि, उद्दालक, श्वेतकेतु, ताण्ड्य, भाण्डायनि, हविष्मान्, गरिष्ठ, राजा हरिश्चन्द्र, हृद्य, उदरशाण्डिल्य, पराशरनन्दन व्यास, कृषीवल, वातस्कन्ध, विशाख, विधाता, काल, करालदन्त, त्वष्टा, विश्वकर्मा तथा तुम्बुरु—ये और दूसरे अयोनिज या योनिज मुनि एवं वायु पीकर रहनेवाले तथा हविष्य-पदार्थोंको खानेवाले महर्षि सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर वज्रधारी इन्द्रकी उपासना करते हैं ॥ १०—१५ ॥

सहदेवः सुनीथश्च वाल्मीकिश्च महातपाः ।
शमीकः सत्यवाक् चैव प्रचेताः सत्यसंगरः ॥ १६ ॥
मेधातिथिर्वामदेवः पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
मरुत्तश्च मरीचिश्च स्थाणुश्चात्र महातपाः ॥ १७ ॥
कक्षीवान् गौतमस्तार्क्ष्यस्तथा वैश्वानरो मुनिः ।
(षडर्तुः कवषो धूम्रो रैभ्यो नलपरावसू ।
स्वस्त्यात्रेयो जरत्कारुः कहोलः काश्यपस्तथा ।
विभाण्डकर्ष्यशृङ्गौ च उन्मुखो विमुखस्तथा ॥)
मुनिः कालकवृक्षीय आश्राव्योऽथ हिरण्मयः ॥ १८ ॥
संवर्तो देवहव्यश्च विष्वक्सेनश्च वीर्यवान् ।
(कण्वः कात्यायनो राजन् गार्ग्यः कौशिक एव च ।)
दिव्या आपस्तथौषध्यः श्रद्धा मेधा सरस्वती ॥ १९ ॥
अर्थो धर्मश्च कामश्च विद्युतश्चैव पाण्डव ।
जलवाहास्तथा मेघा वायवः स्तनयित्नवः ॥ २० ॥
प्राची दिग् यज्ञवाहाश्च पावकाः सप्तविंशतिः ।
अग्नीषोमौ तथेन्द्राग्नी मित्रश्च सवितार्यमा ॥ २१ ॥
भगो विश्वे च साध्याश्च गुरुः शुक्रस्तथैव च ।
विश्वावसुश्चित्रसेनः सुमनस्तरुणस्तथा ॥ २२ ॥
यज्ञाश्च दक्षिणाश्चैवं ग्रहास्ताराश्च भारत ।
यज्ञवाहाश्च ये मन्त्राः सर्वे तत्र समासते ॥ २३ ॥

भरतवंशी नरेश पाण्डुनन्दन ! सहदेव, सुनीथ, महातपस्वी वाल्मीकि, सत्यवादी शमीक, सत्यप्रतिज्ञ प्रचेता, मेधातिथि, वामदेव, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, मरुत्त, मरीचि, महातपस्वी स्थाणु, कक्षीवान्, गौतम, तार्क्ष्य, वैश्वानर मुनि, षडर्तु, कवष, धूम्र, रैभ्य, नल, परावसु, स्वस्त्यात्रेय, जरत्कारु, कहोल, काश्यप, विभाण्डक, ऋष्यशृङ्ग, उन्मुख, विमुख, कालकवृक्षीय मुनि, आश्राव्य, हिरण्मय, संवर्त, देवहव्य, पराक्रमी विष्वक्सेन, कण्व, कात्यायन, गार्ग्य, कौशिक, दिव्य, जल, ओषधियाँ, श्रद्धा, मेधा, सरस्वती, अर्थ, धर्म, काम, विद्युत्, जलधर मेघ, वायु, गर्जना करनेवाले बादल, प्राची दिशा, यज्ञके हविष्यको हवन करनेवाले सत्ताईस पावक*, सम्मिलित अग्नि और सोम, संयुक्त इन्द्र और अग्नि, मित्र, सविता, अर्यमा, भग, विश्वेदेव, साध्य, बृहस्पति, शुक्र, विश्वावसु, चित्रसेन, सुमन, तरुण, विविध यज्ञ, दक्षिणा, ग्रह, तारा और यज्ञनिर्वाहक मन्त्र—ये सभी वहाँ इन्द्रसभामें बैठते हैं ॥ १६—२३ ॥

तथैवाप्सरसो राजन् गन्धर्वाश्च मनोरमाः ।
नृत्यवादित्रगीतैश्च हास्यैश्च विविधैरपि ॥ २४ ॥
रमयन्ति स्म नृपते देवराजं शतक्रतुम् ।

राजन् ! इसी प्रकार मनोहर अप्सराएँ तथा सुन्दर गन्धर्व नृत्य, वाद्य, गीत एवं नाना प्रकारके हास्योंद्वारा देवराज इन्द्रका मनोरञ्जन करते हैं ॥ २४½ ॥

स्तुतिभिर्मङ्गलैश्चैव स्तुवन्तः कर्मभिस्तथा ॥ २५ ॥
विक्रमैश्च महात्मानं बलवृत्रनिषूदनम् ।

इतना ही नहीं, वे स्तुति, मङ्गलपाठ और पराक्रमसूचक कर्मोंके गायनद्वारा बल और वृत्रनामक असुरोंके नाशक महात्मा इन्द्रका स्तवन करते हैं ॥ २५½ ॥

ब्रह्मराजर्षयश्चैव सर्वे देवर्षयस्तथा ॥ २६ ॥
विमानैर्विविधैर्दिव्यैर्दीप्यमाना इवाग्नयः ।
स्रग्विणो भूषिताः सर्वे यान्ति चायान्ति चापरे ॥ २७ ॥

ब्रह्मर्षि, राजर्षि तथा सम्पूर्ण देवर्षि माला पहने एवं वस्त्राभूषणोंसे विभूषित हो, नाना प्रकारके दिव्य विमानोंद्वारा अग्निके समान देदीप्यमान होते हुए वहाँ आते जाते रहते हैं ॥ २६-२७ ॥

बृहस्पतिश्च शुक्रश्च नित्यमास्तां हि तत्र वै ।
एते चान्ये च बहवो महात्मानो यतव्रताः ॥ २८ ॥
विमानैश्चन्द्रसंकाशैः सोमवत्प्रियदर्शनाः ।
ब्रह्मणः सदृशा राजन् भृगुः सप्तर्षयस्तथा ॥ २९ ॥

* नीलकण्ठने अपनी टीकामें इन सत्ताईस पावकोंके नाम इस प्रकार बताये हैं—अङ्गिरा, दक्षिणाग्नि, गार्हपत्याग्नि, आहवनीयाग्नि, निर्मन्थ्य, वैद्युत, शूर, संवर्त, लौकिक, जठराग्नि, विषग, क्रव्याद, क्षेमवान्, वैष्णव, दस्युमान्, बलद, शान्त, पुष्ट, विभावसु, ज्योतिष्मान्, भरत, भद्र, स्विष्टकृत्, वसुमान्, क्रतु, सोम और पितृमान् ।

बृहस्पति और शुक्र वहाँ नित्य विराजते हैं। ये तथा और भी बहुत-से संयमी महात्मा जिनका दर्शन चन्द्रमाके समान प्रिय है, चन्द्रमाकी भाँति चमकीले विमानोंद्वारा वहाँ उपस्थित होते हैं। राजन्! भृगु और सप्तर्षि, जो साक्षात् ब्रह्माजीके समान प्रभावशाली हैं, ये भी इन्द्र-सभाकी शोभा बढ़ाते हैं ॥२८-२९॥

एवा सभा मया राजन् दृष्टा पुष्करमालिनी।
शतक्रतोर्महाबाहो याम्यामपि सभां शृणु ॥ ३० ॥

महाबाहु नरेश! शतक्रतु इन्द्रकी यह कमल-मालाओंसे सुशोभित सभा मैंने अपनी आँखों देखी है। अब यमराजकी सभाका वर्णन सुनो ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि इन्द्रसभावर्णनं नाम सप्तमोऽध्यायः ॥ ७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें इन्द्र-सभा-वर्णन नामक सातवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर कुल ३२ श्लोक हैं)

अष्टमोऽध्यायः

यमराजकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

कथयिष्ये सभां याम्यां युधिष्ठिर निबोध ताम्।
वैवस्वतस्य यां पार्थ विश्वकर्मा चकार ह ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! अब मैं सूर्यपुत्र यमकी सभाका वर्णन करता हूँ, सुनो। उसकी रचना भी विश्वकर्माने ही की है ॥ १ ॥

तैजसी सा सभा राजन् बभूव शतयोजना।
विस्तारायामसम्पन्ना भूयसी चापि पाण्डव ॥ २ ॥

राजन्! वह तेजोमयी विशाल सभा लम्बाई और चौड़ाईमें भी सौ योजन है तथा पाण्डुनन्दन! सम्भव है, इससे भी कुछ बड़ी हो ॥ २ ॥

अर्कप्रकाशा भ्राजिष्णुः सर्वतः कामरूपिणी।
नातिशीता न चात्युष्णा मनसश्च प्रहर्षिणी ॥ ३ ॥

उसका प्रकाश सूर्यके समान है। इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली वह सभा सब ओरसे प्रकाशित होती है। वह न तो अधिक शीतल है, न अधिक गर्म। मनको अत्यन्त आनन्द देनेवाली है ॥ ३ ॥

न शोको न जरा तस्यां क्षुत्पिपासे न चाप्रियम्।
न च दैन्यं क्लमो वापि प्रतिकूलं न चाप्युत ॥ ४ ॥

उसके भीतर न शोक है, न जीर्णता; न भूख लगती है, न प्यास। वहाँ कोई भी अप्रिय घटना नहीं घटित होती। दीनता, थकावट अथवा प्रतिकूलताका तो वहाँ नाम भी नहीं है ॥ ४ ॥

सर्वे कामाः स्थितास्तस्यां ये दिव्या ये च मानुषाः।
सारवच्च प्रभूतं च भक्ष्यं भोज्यमरिंदम ॥ ५ ॥

शत्रुदमन! वहाँ दिव्य और मानुष, सभी प्रकारके भोग उपस्थित रहते हैं। सरस एवं स्वादिष्ट भक्ष्य-भोज्य पदार्थ प्रचुर मात्रामें संचित रहते हैं ॥ ५ ॥

लेह्यं चोष्यं च पेयं च हृद्यं स्वादु मनोहरम्।
पुण्यगन्धाः स्रजस्तत्र नित्यं कामफला द्रुमाः ॥ ६ ॥

इसके सिवा चाटने योग्य, चूसने योग्य, पीने योग्य तथा हृदयको प्रिय लगनेवाली और भी स्वादिष्ठ एवं मनोहर वस्तुएँ वहाँ सदा प्रस्तुत रहती हैं। उस सभामें पवित्र सुगन्ध फैलानेवाली पुष्प-मालाएँ और सदा इच्छानुसार फल देनेवाले वृक्ष लहलहाते रहते हैं ॥ ६ ॥

रसवन्ति च तोयानि शीतान्युष्णानि चैव हि।
तस्यां राजर्षयः पुण्यास्तथा ब्रह्मर्षयोऽमलाः ॥ ७ ॥
यमं वैवस्वतं तात प्रहृष्टाः पर्युपासते।

वहाँ ठंडे और गर्म स्वादिष्ठ जल नित्य उपलब्ध होते हैं। तात! वहाँ बहुतसे पुण्यात्मा राजर्षि और निर्मल हृदयवाले ब्रह्मर्षि प्रसन्नतापूर्वक बैठकर सूर्यपुत्र यमकी उपासना करते हैं ॥ ७½ ॥

ययातिर्नहुषः पूरुर्मान्धाता सोमको नृगः ॥ ८ ॥
त्रसदस्युश्च राजर्षिः कृतवीर्यः श्रुतश्रवाः।
अरिष्टनेमिः सिद्धश्च कृतवेगः कृतिर्निमिः ॥ ९ ॥
प्रतर्दनः शिबिर्मत्स्यः पृथुलाक्षो बृहद्रथः।
वार्तो मरुत्तः कुशिकः सांकाश्यः सांकृतिर्ध्रुवः ॥ १० ॥
चतुरश्वः सदश्वोर्मिः कार्तवीर्यश्च पार्थिवः।
भरतः सुरथश्चैव सुनीथो निशठो नलः ॥ ११ ॥
दिवोदासश्च सुमना अम्बरीषो भगीरथः।
व्यश्वः सदश्वो वध्र्यश्वः पृथुवेगः पृथुश्रवाः ॥ १२ ॥
पृषदश्वो वसुमनाः क्षुपश्च सुमहाबलः।
रुषद्गुर्वृषसेनश्च पुरुकुत्सो ध्वजी रथी ॥ १३ ॥
आर्ष्टिषेणो दिलीपश्च महात्मा चाप्युशीनरः।
औशीनरिः पुण्डरीकः शर्यातिः शरभः शुचिः ॥ १४ ॥
अङ्गोऽरिष्टश्च वेनश्च दुष्यन्तः सृञ्जयो जयः।
भाङ्गासुरिः सुनीथश्च निषधोऽथ वहीनरः ॥ १५ ॥
करन्धमो बाह्लिकश्च सुद्युम्नो बलवान् मधुः।
ऐलो मरुत्तश्च तथा बलवान् पृथिवीपतिः ॥ १६ ॥
कपोतरोमा तृणकः सहदेवार्जुनौ तथा।
व्यश्वः साश्वः कृशाश्वश्च शशबिन्दुश्च पार्थिवः ॥ १७ ॥

राजा दशरथश्चैव ककुत्स्थोऽथ प्रवर्धनः।
अलर्कः कक्षसेनश्च गयो गौराश्व एव च ॥ १८ ॥
जामदग्न्यश्च रामश्च नाभागसगरौ तथा।
भूरिद्युम्नो महाश्वश्च पृथाश्वो जनकस्तथा ॥ १९ ॥
राजा वैन्यो वारिसेनः पुरुजिज्जनमेजयः।
ब्रह्मदत्तस्त्रिगर्तश्च राजोपरिचरस्तथा ॥ २० ॥
इन्द्रद्युम्नो भीमजानुर्गौरपृष्ठोऽनघो लयः।
पद्मोऽथ मुचुकुन्दश्च भूरिद्युम्नः प्रसेनजित् ॥ २१ ॥
अरिष्टनेमिः सुद्युम्नः पृथुलाश्वोऽष्टकस्तथा।
शतं मत्स्या नृपतयः शतं नीपाः शतं गयाः ॥ २२ ॥
धृतराष्ट्राश्चैकशतमशीतिर्जनमेजयाः।
शतं च ब्रह्मदत्तानां वीरिणामीरिणां शतम् ॥ २३ ॥
भीष्माणां द्वे शतेऽप्यत्र भीमानां तु तथा शतम्।
शतं च प्रतिविन्ध्यानां शतं नागाः शतं हयाः ॥ २४ ॥
पलाशानां शतं ज्ञेयं शतं काशकुशादयः।
शान्तनुश्चैव राजेन्द्र पाण्डुश्चैव पिता तव ॥ २५ ॥
उशङ्गवः शतरथो देवराजो जयद्रथः।
वृषदर्भश्च राजर्षिर्बुद्धिमान् सह मन्त्रिभिः ॥ २६ ॥
अथापरे सहस्राणि ये गताः शशविन्दवः।
इष्ट्वाश्वमेधैर्बहुभिर्महद्भिर्भूरिदक्षिणैः ॥ २७ ॥
एते राजर्षयः पुण्याः कीर्तिमन्तो बहुश्रुताः।
तस्यां सभायां राजेन्द्र वैवस्वतमुपासते ॥ २८ ॥

ययाति, नहुष, पूरु, मान्धाता, सोमक, नृग, त्रसद्दस्यु, राजर्षि कृतवीर्य, श्रुतश्रवा, अरिष्टनेमि, सिद्ध, कृतवेग, कृति, निमि, प्रतर्दन, शिबि, मत्स्य, पृथुलाक्ष, बृहद्रथ, वार्त, मरुत्त, कुशिक, सांकाश्य, सांकृति, ध्रुव, चतुरश्व, सदश्वोर्मि, राजा कार्तवीर्य अर्जुन, भरत, सुरथ, सुनीथ, निशठ, नल, दिवोदास, सुमना, अम्बरीष, भगीरथ, व्यश्व, सदश्व, वध्र्यश्व, पृथुवेग, पृथुश्रवा, पृषदश्व, वसुमना, महाबली क्षुप, रुषद्गु, वृषसेन, रथ और ध्वजासे युक्त पुरुकुत्स, आर्ष्टिषेण, दिलीप, महात्मा उशीनर, औशीनरि, पुण्डरीक, शर्याति, शरभ, शुचि, अङ्ग, अरिष्ट, वेन, दुष्यन्त, सृञ्जय, जय, भाङ्गासुरि, सुनीथ, निषधेश्वर, वहीनर, करन्धम, बाह्लिक, सुद्युम्न, बलवान् मधु, इला-नन्दन पुरूरवा, बलवान् राजा मरुत्त, कपोतरोमा, तृणक, सहदेव, अर्जुन, व्यश्व, साश्व, कृशाश्व, राजा शशबिन्दु, महाराज दशरथ, ककुत्स्थ, प्रवर्धन, अलर्क, कक्षसेन, गय, गौराश्व, जमदग्निनन्दन परशुराम, नाभाग, सगर, भूरिद्युम्न, महाश्व, पृथाश्व, जनक, राजा पृथु, वारिसेन, पुरुजित्, जनमेजय, ब्रह्मदत्त, त्रिगर्त, राजा उपरिचर, इन्द्रद्युम्न, भीमजानु, गौरपृष्ठ, अनघ, लय, पद्म, मुचुकुन्द, भूरिद्युम्न, प्रसेनजित्, अरिष्टनेमि, सुद्युम्न, पृथुलाश्व, अष्टक, एक सौ मत्स्य, एक सौ नीप, एक सौ गय, एक सौ धृतराष्ट्र, अस्सी जनमेजय, सौ ब्रह्मदत्त, सौ वीरी, सौ ईरी, दो सौ भीष्म, एक भीम, एक सौ प्रतिविन्ध्य, एक सौ नाग तथा एक सौ हय, सौ पलाश, सौ काश और सौ कुश राजा, शान्तनु, तुम्हारे पिता पाण्डु, उशङ्गव, शतरथ, देवराज, जयद्रथ, मन्त्रियोंसहित बुद्धिमान् राजर्षि वृषदर्भ तथा इनके सिवा सहस्रों शशविन्दुनामक राजा, जो बहुत-सी दक्षिणावाले अनेक महान् अश्वमेधयज्ञोंद्वारा यजन करके धर्मराजके लोकमें गये हुए हैं। राजेन्द्र! ये सभी पुण्यात्मा, कीर्तिमान् और बहुश्रुत राजर्षि उस सभामें सूर्य-पुत्र यमकी उपासना करते हैं ॥ ८–२८ ॥

अगस्त्योऽथ मतङ्गश्च कालो मृत्युस्तथैव च।
यज्वानश्चैव सिद्धाश्च ये च योगशरीरिणः ॥ २९ ॥
अग्निष्वात्ताश्च पितरः फेनपाश्चोष्मपाश्च ये।
स्वधावन्तो बर्हिषदो मूर्तिमन्तस्तथापरे ॥ ३० ॥
कालचक्रं च साक्षाच्च भगवान् हव्यवाहनः।
नरा दुष्कृतकर्माणो दक्षिणायनमृत्यवः ॥ ३१ ॥
कालस्य नयने युक्ता यमस्य पुरुषाश्च ये।
तस्यां शिंशपपालाशास्तथा काशकुशादयः।
उपासते धर्मराजं मूर्तिमन्तो जनाधिप ॥ ३२ ॥

अगस्त्य, मतङ्ग, काल, मृत्यु, यज्ञकर्ता, सिद्ध, योग-शरीरधारी, अग्निष्वात्त पितर, फेनप, ऊष्मप, स्वधावान्, बर्हिषद् तथा दूसरे मूर्तिमान् पितर, साक्षात् कालचक्र (संवत्सर आदि कालविभागके अभिमानी देवता), भगवान् हव्य-वाहन (अग्नि), दक्षिणायनमें मरनेवाले तथा महान् दुष्कर (श्रमसाध्य) कर्म करनेवाले मनुष्य, जनेश्वर कालकी आज्ञामें तत्पर यमदूत, शिंशप एवं पलाश, काश और कुश आदिके अभिमानी देवता मूर्तिमान् होकर उस सभामें धर्म-राजकी उपासना करते हैं ॥ २९–३२ ॥

एते चान्ये च बहवः पितृराजसभासदः।
न शक्याः परिसंख्यातुं नामभिः कर्मभिस्तथा ॥ ३३ ॥

ये तथा और भी बहुत-से लोग पितृराज यमकी सभाके सदस्य हैं, जिनके नामों और कर्मोंकी गणना नहीं की जा सकती ॥ ३३ ॥

असम्बाधा हि सा पार्थ रम्या कामगमा सभा।
दीर्घकालं तपस्तप्त्वा निर्मिता विश्वकर्मणा ॥ ३४ ॥

कुन्तीनन्दन! वह सभा बाधारहित है। वह रमणीय तथा इच्छानुसार गमन करनेवाली है। विश्वकर्माने दीर्घकाल तक तपस्या करके उसका निर्माण किया है ॥ ३४ ॥

ज्वलन्ती भासमाना च तेजसा स्वेन भारत।
तामुग्रतपसो यान्ति सुव्रताः सत्यवादिनः ॥ ३५ ॥
शान्ताः संन्यासिनः शुद्धाः पूताः पुण्येन कर्मणा।
सर्वे भास्वरदेहाश्च सर्वे च विरजोऽम्बराः ॥ ३६ ॥

भारत ! वह सभा अपने तेजसे प्रज्वलित तथा उद्भासित होती रहती है। कठोर तपस्या और उत्तम व्रतका पालन करनेवाले, सत्यवादी, शान्त, संन्यासी तथा अपने पुण्यकर्मसे शुद्ध एवं पवित्र हुए पुरुष उस सभामें जाते हैं। उन सबके शरीर तेजसे प्रकाशित होते रहते हैं। सभी निर्मल वस्त्र धारण करते हैं ॥ ३५-३६ ॥

चित्राङ्गदाश्चित्रमाल्याः सर्वे ज्वलितकुण्डलाः।
सुकृतैः कर्मभिः पुण्यैः परिबर्हैश्च भूषिताः ॥ ३७ ॥

सभी अद्भुत बाजूबंद, विचित्र हार और जगमगाते हुए कुण्डल धारण करते हैं। वे अपने पवित्र शुभ कर्मों तथा वस्त्राभूषणोंसे भी विभूषित होते हैं ॥ ३७ ॥

गन्धर्वाश्च महात्मानः सङ्घशश्चाप्सरोगणाः।
वादित्रं नृत्यगीतं च हास्यं लास्यं च सर्वशः ॥ ३८ ॥

कितने ही महामना गन्धर्व और झुंड-की-झुंड अप्सराएँ उस सभामें उपस्थित हो सब प्रकारके वाद्य, नृत्य, गीत, हास्य और लास्यकी उत्तम कलाका प्रदर्शन करती हैं ॥ ३८ ॥

पुण्याश्च गन्धाः शब्दाश्च तस्यां पार्थ समन्ततः।
दिव्यानि चैव माल्यानि उपतिष्ठन्ति नित्यशः ॥ ३९ ॥

कुन्तीकुमार ! उस सभामें सदा सब ओर पवित्र गन्ध, मधुर शब्द और दिव्य मालाओंके सुखद स्पर्श प्राप्त होते रहते हैं ॥ ३९ ॥

शतं शतसहस्राणि धर्मिणां तं प्रजेश्वरम्।
उपासते महात्मानं रूपयुक्ता मनस्विनः ॥ ४० ॥

सुन्दर रूप धारण करनेवाले एक करोड़ धर्मात्मा एवं मनस्वी पुरुष महात्मा यमकी उपासना करते हैं ॥ ४० ॥

ईदृशी सा सभा राजन् पितृराज्ञो महात्मनः।
वरुणस्यापि वक्ष्यामि सभां पुष्करमालिनीम् ॥ ४१ ॥

राजन् ! पितृराज महात्मा यमकी सभा ऐसी ही है। अब मैं वरुणकी मूर्तिमान् पुष्कर आदि तीर्थमालाओंसे सुशोभित सभाका भी वर्णन करूँगा ॥ ४१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि यमसभावर्णनं नामाष्टमोऽध्यायः ॥ ८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें यम-सभा-वर्णननामक आठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८ ॥

नवमोऽध्यायः

वरुणकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

युधिष्ठिर सभा दिव्या वरुणस्यामितप्रभा।
प्रमाणेन यथा याम्या शुभप्राकारतोरणा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! वरुणदेवकी दिव्य सभा अपनी अनन्त कान्तिसे प्रकाशित होती रहती है। उसकी भी लंबाई-चौड़ाईका मान वही है, जो यमराजकी सभाका है। उसके परकोटे और फाटक बड़े सुन्दर हैं ॥ १ ॥

अन्तःसलिलमास्थाय विहिता विश्वकर्मणा।
दिव्यै रत्नमयैर्वृक्षैः फलपुष्पप्रदैर्युता ॥ २ ॥

विश्वकर्माने उस सभाको जलके भीतर रहकर बनाया है। वह फल-फूल देनेवाले दिव्य रत्नमय वृक्षोंसे सुशोभित होती है ॥ २ ॥

नीलपीतासितश्यामैः सितैर्लोहितकैरपि।
अवतानैस्तथा गुल्मैर्मञ्जरीजालधारिभिः ॥ ३ ॥

उस सभाके भिन्न-भिन्न प्रदेश नीले-पीले, काले, सफेद और लाल रंगके लतागुल्मोंसे आच्छादित हैं। उन लताओंने मनोहर मञ्जरीपुञ्ज धारण कर रक्खे हैं ॥ ३ ॥

तथा शकुनयस्तस्यां विचित्रा मधुरस्वराः।
अनिर्देश्या वपुष्मन्तः शतशोऽथ सहस्रशः ॥ ४ ॥

सभाभवनके भीतर विचित्र और मधुर स्वरसे बोलनेवाले सैकड़ों हजारों पक्षी चहकते रहते हैं। उनके विलक्षण रूप-सौन्दर्यका वर्णन नहीं हो सकता। उनकी आकृति बड़ी सुन्दर है ॥ ४ ॥

सा सभा सुखसंस्पर्शा न शीता न च घर्मदा।
वेश्मासनवती रम्या सिता वरुणपालिता ॥ ५ ॥

वरुणकी सभाका स्पर्श बड़ा ही सुखद है, वहाँ न सर्दी है न गर्मी। उसका रंग श्वेत है, उसमें कितने ही कमरे और आसन (दिव्य मञ्च आदि) सजाये गये हैं। वरुणजीके द्वारा सुरक्षित वह सभा बड़ी रमणीय जान पड़ती है ॥ ५ ॥

यस्यामास्ते स वरुणो वारुण्या च समन्वितः।
दिव्यरत्नाम्बरधरो दिव्याभरणभूषितः ॥ ६ ॥

उसमें दिव्य रत्नों और वस्त्रोंको धारण करनेवाले तथा दिव्य अलङ्कारोंसे अलंकृत वरुणदेव वारुणी देवीके साथ विराजमान होते हैं ॥ ६ ॥

स्रग्विणो दिव्यगन्धाश्च दिव्यगन्धानुलेपनाः।
आदित्यास्तत्र वरुणं जलेश्वरमुपासते ॥ ७ ॥

उस सभामें दिव्य हार, दिव्य सुगन्ध तथा दिव्य चन्दनका अङ्गराग धारण करनेवाले आदित्यगण जलके स्वामी वरुणकी उपासना करते हैं ॥ ७ ॥

वासुकिस्तक्षकश्चैव नागश्चैरावतस्तथा ।
कृष्णश्च लोहितश्चैव पद्मश्चित्रश्च वीर्यवान् ॥ ८ ॥

वासुकि नाग, तक्षक, ऐरावतनाग, कृष्ण, लोहित, पद्म और पराक्रमी चित्र, ॥ ८ ॥

कम्बलाश्वतरौ नागौ धृतराष्ट्रबलाहकौ ।
(मणिनागश्च नागश्च मणिः शङ्खनखस्तथा ।
कौरव्यः स्वस्तिकश्चैव एलापत्रश्च वामनः ॥
अपराजितश्च दोषश्च नन्दकः पूरणस्तथा ।
अभीकः शिभिकः श्वेतो भद्रो भद्रेश्वरस्तथा ॥)
मणिमान् कुण्डधारश्च कर्कोटकधनंजयौ ॥ ९ ॥

कम्बल, अश्वतर, धृतराष्ट्र, बलाहक, मणिनाग, नाग, मणि, शङ्खनख, कौरव्य, स्वस्तिक, एलापत्र, वामन, अपराजित, दोष, नन्दक, पूरण, अभीक, शिभिक, श्वेत, भद्र, भद्रेश्वर, मणिमान्, कुण्डधार, कर्कोटक, धनञ्जय, ॥ ९ ॥

पाणिमान् कुण्डधारश्च बलवान् पृथिवीपते ।
प्रह्लादो मूषिकादश्च तथैव जनमेजयः ॥ १० ॥
पताकिनो मण्डलिनः फणावन्तश्च सर्वशः ।
(अनन्तश्च महानागो यं स दृष्ट्वा जलेश्वरः ।
अभ्यर्चयति सत्कारैरासनेन च तं विभुम् ॥
वासुकिप्रमुखाश्चैव सर्वे प्राञ्जलयः स्थिताः ।
अनुज्ञाताश्च शेषेण यथार्हमुपविश्य च ॥)
एते चान्ये च बहवः सर्पास्तस्यां युधिष्ठिर ।
उपासते महात्मानं वरुणं विगतक्लमाः ॥ ११ ॥

पाणिमान्, बलवान् कुण्डधार, प्रह्लाद, मूषिकाद, जनमेजय आदि नाग जो पताका, मण्डल और फणोंसे सुशोभित वहाँ उपस्थित होते हैं, महानाग भगवान् अनन्त भी वहाँ स्थित होते हैं, जिन्हें देखते ही जलके स्वामी वरुण आसन आदि देते और सत्कारपूर्वक उनका पूजन करते हैं। वासुकि आदि सभी नाग हाथ जोड़कर उनके सामने खड़े होते और भगवान् शेषकी आज्ञा पाकर यथायोग्य आसनोंपर बैठकर वहाँकी शोभा बढ़ाते हैं। युधिष्ठिर ! ये तथा और भी बहुत-से नाग उस सभामें क्लेशरहित हो महात्मा वरुणकी उपासना करते हैं ॥ १०-११ ॥

बलिर्वैरोचनो राजा नरकः पृथिवींजयः ।
प्रह्लादो विप्रचित्तिश्च कालखञ्जाश्च दानवाः ॥ १२ ॥
सुहनुर्दुर्मुखः शङ्खः सुमनाः सुमतिस्ततः ।
घटोदरो महापार्श्वः क्रथनः पिठरस्तथा ॥ १३ ॥
विश्वरूपः स्वरूपश्च विरूपोऽथ महाशिराः ।
दशग्रीवश्च वाली च मेघवासा दशावरः ॥ १४ ॥
टिट्टिभो विटभूतश्च संह्रादश्चेन्द्रतापनः ।
दैत्यदानवसङ्घाश्च सर्वे रुचिरकुण्डलाः ॥ १५ ॥
स्रग्विणो मौलिनश्चैव तथा दिव्यपरिच्छदाः ।
सर्वे लब्धवराः शूराः सर्वे विगतमृत्यवः ॥ १६ ॥
ते तस्यां वरुणं देवं धर्मपाशधरं सदा ।
उपासते महात्मानं सर्वे सुचरितव्रताः ॥ १७ ॥

विरोचनपुत्र राजा बलि, पृथ्वीविजयी नरक, प्रह्लाद, विप्रचित्ति, कालखञ्ज दानव, सुहनु, दुर्मुख, शङ्ख, सुमना, सुमति, घटोदर, महापार्श्व, क्रथन, पिठर, विश्वरूप, स्वरूप, विरूप, महाशिरा, दशमुख रावण, वालि, मेघवासा, दशावर, टिट्टिभ, विटभूत, संह्राद तथा इन्द्रतापन आदि दैत्यों और दानवोंके समुदाय मनोहर कुण्डल, सुन्दर हार, किरीट तथा दिव्य वस्त्राभूषण धारण किये उस सभामें धर्मपाशधारी महात्मा वरुणदेवकी सदा उपासना करते हैं। ये सभी दैत्य वरदान पाकर शौर्यसम्पन्न हो मृत्युसे रहित हो गये हैं। उनका चरित्र एवं व्रत बहुत उत्तम है ॥ १२–१७ ॥

तथा समुद्राश्चत्वारो नदी भागीरथी च सा ।
कालिन्दी विदिशा वेणा नर्मदा वेगवाहिनी ॥ १८ ॥

चारों समुद्र, भागीरथी नदी, कालिन्दी, विदिशा, वेणा, नर्मदा, वेगवाहिनी, ॥ १८ ॥

विपाशा च शतद्रुश्च चन्द्रभागा सरस्वती ।
इरावती वितस्ता च सिन्धुर्देवनदी तथा ॥ १९ ॥

विपाशा, शतद्रु, चन्द्रभागा, सरस्वती, इरावती, वितस्ता, सिन्धु, देवनदी, ॥ १९ ॥

गोदावरी कृष्णवेणा कावेरी च सरिद्वरा ।
किम्पुना च विशल्या च तथा वैतरणी नदी ॥ २० ॥

गोदावरी, कृष्णवेणा, सरिताओंमें श्रेष्ठ कावेरी, किम्पुना, विशल्या, वैतरणी, ॥ २० ॥

तृतीया ज्येष्ठिला चैव शोणश्चापि महानदः ।
चर्मण्वती तथा चैव पर्णाशा च महानदी ॥ २१ ॥

तृतीया, ज्येष्ठिला, महानद शोण, चर्मण्वती, पर्णाशा, महानदी, ॥ २१ ॥

सरयूर्वारवत्याथ लाङ्गली च सरिद्वरा ।
करतोया तथात्रेयी लौहित्यश्च महानदः ॥ २२ ॥

सरयू, वारवत्या, सरिताओंमें श्रेष्ठ लाङ्गली, करतोया, आत्रेयी, महानद लौहित्य, ॥ २२ ॥

लङ्घती गोमती चैव संध्या त्रिःस्रोतसी तथा ।
एताश्चान्याश्च राजेन्द्र सुतीर्था लोकविश्रुताः ॥ २३ ॥

भरतवंशी राजेन्द्र युधिष्ठिर! लङ्घती, गोमती, संध्या और त्रिस्रोतसी, ये तथा दूसरे लोकविख्यात उत्तम तीर्थ (वरुणकी उपासना करते हैं) ॥ २३ ॥

सरितः सर्वतश्चान्यास्तीर्थानि च सरांसि च।
कूपाश्च सप्रस्रवणा देहवन्तो युधिष्ठिर ॥ २४ ॥
पल्वलानि तडागानि देहवन्त्यथ भारत।
दिशस्तथा मही चैव तथा सर्वे महीधराः ॥ २५ ॥
उपासते महात्मानं सर्वे जलचरास्तथा।

समस्त सरिताएँ, जलाशय, सरोवर, कूप, झरने, पोखरे और तालाब, सम्पूर्ण दिशाएँ, पृथ्वी, पर्वत तथा सम्पूर्ण जलचर जीव अपने-अपने स्वरूप धारण करके महात्मा वरुणकी उपासना करते हैं ॥ २४-२५½ ॥

गीतवादित्रवन्तश्च गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ २६ ॥
स्तुवन्तो वरुणं तस्यां सर्वे एव समासते।

सभी गन्धर्व और अप्सराओंके समुदाय भी गीत गाते और बाजे बजाते हुए उस सभामें वरुणदेवताकी स्तुति एवं उपासना करते हैं ॥ २६½ ॥

महीधरा रत्नवन्तो रसा ये च प्रतिष्ठिताः ॥ २७ ॥
कथयन्तः सुमधुराः कथास्तत्र समासते।

रत्नयुक्त पर्वत और प्रतिष्ठित रस (मूर्तिमान् होकर) अत्यन्त मधुर कथाएँ कहते हुए वहाँ निवास करते हैं ॥ २७½ ॥

वारुणश्च तथा मन्त्री सुनाभः पर्युपासते ॥ २८ ॥
पुत्रपौत्रैः परिवृतो गोनाम्ना पुष्करेण च।

वरुणका मन्त्री सुनाभ अपने पुत्र-पौत्रोंसे घिरा हुआ गो तथा पुष्कर नामवाले तीर्थके साथ वरुणदेवकी उपासना करता है ॥ २८½ ॥

सर्वे विग्रहवन्तस्ते तमीश्वरमुपासते ॥ २९ ॥

ये सभी शरीर धारण करके लोकेश्वर वरुणकी उपासना करते रहते हैं ॥ २९ ॥

एषा मया सम्पतता वारुणी भरतर्षभ।
दृष्टपूर्वा सभा रम्या कुबेरस्य सभां शृणु ॥ ३० ॥

भरतश्रेष्ठ ! पहले सब ओर घूमते हुए मैंने वरुणजीकी इस रमणीय सभाका भी दर्शन किया है। अब तुम कुबेरकी सभाका वर्णन सुनो ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि वरुणसभावर्णने नवमोऽध्यायः ॥ ९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें वरुण-सभा-वर्णनविषयक नवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४ श्लोक मिलाकर कुल ३४ श्लोक हैं)

दशमोऽध्यायः

कुबेरकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

सभा वैश्रवणी राजञ्छतयोजनमायता।
विस्तीर्णा सप्ततिश्चैव योजनानि सितप्रभा ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—राजन् ! कुबेरकी सभा सौ योजन लंबी और सत्तर योजन चौड़ी है, वह अत्यन्त श्वेतप्रभासे युक्त है ॥ १ ॥

तपसा निर्जिता राजन् स्वयं वैश्रवणेन सा।
शशिप्रभा प्रावरणा कैलासशिखरोपमा ॥ २ ॥

युधिष्ठिर ! विश्रवाके पुत्र कुबेरने स्वयं ही तपस्या करके उस सभाको प्राप्त किया है। वह अपनी धवल कान्तिसे चन्द्रमाकी चाँदनीको भी तिरस्कृत कर देती है और देखनेमें कैलासशिखर-सी जान पड़ती है ॥ २ ॥

गुह्यकैरुह्यमाना सा खे विषक्तेव शोभते।
दिव्या हेममयैरुच्चैः प्रासादैरुपशोभिता ॥ ३ ॥

गुह्यकगण जब उस सभाको उठाकर ले चलते हैं, उस समय वह आकाशमें सटी हुई-सी सुशोभित होती है। वह दिव्य सभा ऊँचे सुवर्णमय महलोंसे शोभायमान होती है ॥ ३ ॥

महारत्नवती चित्रा दिव्यगन्धा मनोरमा।
सिताभ्रशिखराकारा प्लवमानेव दृश्यते ॥ ४ ॥

महान् रत्नोंसे उसका निर्माण हुआ है। उसकी झाँकी बड़ी विचित्र है। उससे दिव्य सुगन्ध फैलती रहती है और वह दर्शकके मनको अपनी ओर खींच लेती है। श्वेत बादलोंके शिखर-सी प्रतीत होनेवाली वह सभा आकाशमें तैरती-सी दिखायी देती है ॥ ४ ॥

दिव्या हेममयैरङ्गैर्विद्युद्भिरिव चित्रिता।

उस दिव्य सभाकी दीवारें विद्युत्के समान उद्दीप्त होनेवाले सुनहले रंगोंसे चित्रित की गयी हैं ॥ ४½ ॥

तस्यां वैश्रवणो राजा विचित्राभरणाम्बरः ॥ ५ ॥
स्त्रीसहस्रैर्वृतः श्रीमानास्ते ज्वलितकुण्डलः।
दिवाकरनिभे पुण्ये दिव्यास्तरणसंवृते।
दिव्यपादोपधाने च निषण्णः परमासने ॥ ६ ॥

उस सभामें सूर्यके समान चमकीले दिव्य बिछौनोंसे ढके हुए तथा दिव्य पादपीठोंसे सुशोभित श्रेष्ठ सिंहासनपर कानोंमें ज्योतिसे जगमगाते कुण्डल और अङ्गोंमें विचित्र वस्त्र एवं आभूषण धारण करनेवाले श्रीमान् राजा वैश्रवण (कुबेर) सहस्रों स्त्रियोंसे घिरे हुए बैठते हैं ॥ ५-६ ॥

मन्दाराणामुदाराणां वनानि परिलोडयन्।
सौगन्धिकवनानां च गन्धं गन्धवहो वहन् ॥ ७ ॥

नलिन्याश्चालकाख्याया नन्दनस्य वनस्य च।
शीतो हृदयसंह्लादी वायुस्तमुपसेवते ॥ ८ ॥

(अपने पास आये हुए याचककी प्रत्येक इच्छा पूर्ण करनेमें अत्यन्त) उदार मन्दार वृक्षोंके वनोंको आन्दोलित करता तथा सौगन्धिक कानन, अलका नामक पुष्करिणी और नन्दन वनकी सुगन्धका भार वहन करता हुआ हृदयको आनन्द प्रदान करनेवाला गन्धवाही शीतल समीर उस सभामें कुबेरकी सेवा करता है ॥ ७-८ ॥

तत्र देवाः सगन्धर्वा गणैरप्सरसां वृताः।
दिव्यतानैर्महाराज गायन्ति स्म सभागताः ॥ ९ ॥

महाराज ! देवता और गन्धर्व अप्सराओंके साथ उस सभामें आकर दिव्य तानोंसे युक्त गीत गाते हैं ॥ ९ ॥

मिश्रकेशी च रम्भा च चित्रसेना शुचिस्मिता।
चारुनेत्रा घृताची च मेनका पुञ्जिकस्थला ॥ १० ॥
विश्वाची सहजन्या च प्रम्लोचा उर्वशी इरा।
वर्गा च सौरभेयी च समीची बुद्बुदा लता ॥ ११ ॥
एता सहस्रशश्चान्या नृत्यगीतविशारदाः।
उपतिष्ठन्ति धनदं गन्धर्वाप्सरसां गणाः ॥ १२ ॥

मिश्रकेशी, रम्भा, चित्रसेना, शुचिस्मिता, चारुनेत्रा, घृताची, मेनका, पुञ्जिकस्थला, विश्वाची, सहजन्या, प्रम्लोचा, उर्वशी, इरा, वर्गा, सौरभेयी, समीची, बुद्बुदा तथा लता आदि नृत्य और गीतमें कुशल सहस्रों अप्सराओं और गन्धर्वों-के गण कुबेरकी सेवामें उपस्थित होते हैं ॥ १०-१२ ॥

अनिशं दिव्यवादित्रैर्नृत्यगीतैश्च सा सभा।
अशून्या रुचिरा भाति गन्धर्वाप्सरसां गणैः ॥ १३ ॥

गन्धर्व और अप्सराओंके समुदायसे भरी तथा दिव्य वाद्य, नृत्य एवं गीतोंसे निरन्तर गूँजती हुई कुबेरकी वह सभा बड़ी मनोहर जान पड़ती है ॥ १३ ॥

किंनरा नाम गन्धर्वा नरा नाम तथा परे ॥ १४ ॥
मणिभद्रोऽथ धनदः श्वेतभद्रश्च गुह्यकः।
कशेरको गण्डकण्डुः प्रद्योतश्च महाबलः ॥ १५ ॥
कुस्तुम्बुरुः पिशाचश्च गजकर्णो विशालकः।
वराहकर्णस्ताम्रोष्ठः फलकक्षः फलोदकः ॥ १६ ॥
हंसचूडः शिखावर्तो हेमनेत्रो विभीषणः।
पुष्पाननः पिङ्गलकः शोणितोदः प्रवालकः ॥ १७ ॥
वृक्षवास्यनिकेतश्च चीरवासाश्च भारत।
एते चान्ये च बहवो यक्षाः शतसहस्रशः ॥ १८ ॥

किंनर तथा नर नामवाले गन्धर्व, मणिभद्र, धनद, श्वेतभद्र, गुह्यक, कशेरक, गण्डकण्डु, महाबली प्रद्योत, कुस्तुम्बुरु पिशाच, गजकर्ण, विशालक, वराहकर्ण, ताम्रोष्ठ, फलकक्ष, फलोदक, हंसचूड, शिखावर्त, हेमनेत्र, विभीषण, पुष्पानन, पिङ्गलक, शोणितोद, प्रवालक, वृक्षवासी, अनिकेत तथा चीरवासा—भारत ! ये तथा दूसरे बहुत-से यक्ष लाखोंकी संख्यामें उपस्थित होकर उस सभामें कुबेरकी सेवा करते हैं ॥ १४-१८ ॥

सदा भगवती लक्ष्मीस्तत्रैव नलकूबर।
अहं च बहुशस्तस्यां भवन्त्यन्ये च मद्विधाः ॥ १९ ॥

धन-सम्पत्तिकी अधिष्ठात्री देवी भगवती लक्ष्मी, नलकूबर, मैं तथा मेरे-जैसे और भी बहुत-से लोग प्रायः उस सभामें उपस्थित होते हैं ॥ १९ ॥

ब्रह्मर्षयो भवन्त्यत्र तथा देवर्षयोऽपरे।
क्रव्यादाश्च तथैवान्ये गन्धर्वाश्च महाबलाः ॥ २० ॥
उपासते महात्मानं तस्यां धनदमीश्वरम्।

ब्रह्मर्षि, देवर्षि तथा अन्य ऋषिगण उस सभामें विराजमान होते हैं। इनके सिवा, बहुत-से पिशाच और महाबली गन्धर्व वहाँ लोकपाल महात्मा धनदकी उपासना करते हैं ॥ २०½ ॥

भगवान् भूतसङ्घैश्च वृतः शतसहस्रशः ॥ २१ ॥
उमापतिः पशुपतिः शूलभृद् भगनेत्रहा।
त्र्यम्बको राजशार्दूल देवी च विगतक्लमा ॥ २२ ॥
वामनैर्विकटैः कुब्जैः क्षतजाक्षैर्महारवैः।
मेदोमांसाशनैरुग्रैरुग्रधन्वा महाबलः ॥ २३ ॥
नानाप्रहरणैरुग्रैर्वातैरिव महाजवैः।
वृतः सखायमन्वास्ते सदैव धनदं नृप ॥ २४ ॥

नृपश्रेष्ठ ! लाखों भूतसमूहोंसे घिरे हुए उग्र धनुर्धर महाबली पशुपति (जीवोंके स्वामी), शूलधारी, भगदेवताके नेत्र नष्ट करनेवाले तथा त्रिलोचन भगवान् उमापति और क्लेशरहित देवी पार्वती ये दोनों वामन, विकट, कुब्ज, लाल नेत्रोंवाले, महान् कोलाहल करनेवाले, मेदा और मांस खानेवाले, अनेक प्रकारके अस्त्र-शस्त्र धारण करनेवाले तथा वायुके समान महान् वेगशाली भयानक भूत-प्रेतादिके साथ उस सभामें सदैव धन देनेवाले अपने मित्र कुबेरके पास बैठते हैं ॥ २१-२४ ॥

प्रहृष्टाः शतशश्चान्ये बहुशः सपरिच्छदाः।
गन्धर्वाणां च पतयो विश्वावसुर्हहाहुहुः ॥ २५ ॥
तुम्बुरुः पर्वतश्चैव शैलूषश्च यथापरः।
चित्रसेनश्च गीतज्ञस्तथा चित्ररथोऽपि च ॥ २६ ॥
एते चान्ये च गन्धर्वा धनेश्वरमुपासते।

इनके सिवा और भी विविध वस्त्राभूषणोंसे विभूषित और प्रसन्नचित्त सैकड़ों गन्धर्वपति विश्वावसु, हाहा, हूहू, तुम्बुरु, पर्वत, शैलूष, संगीतज्ञ चित्रसेन तथा चित्ररथ—ये और अन्य गन्धर्व भी धनाध्यक्ष कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ २५-२६½ ॥

विद्याधराधिपश्चैव चक्रधर्मा सहानुजैः ॥ २७ ॥
उपाचरति तत्र स्म धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ २८ ॥

विद्याधरोंके अधिपति चक्रधर्मा भी अपने छोटे भाइयों-के साथ वहाँ धनेश्वर भगवान् कुबेरकी आराधना करते हैं ॥ २७-२८ ॥

आसते चापि राजानो भगदत्तपुरोगमाः ।
द्रुमः किम्पुरुषेशश्च उपास्ते धनदेश्वरम् ॥ २९ ॥

भगदत्त आदि राजा भी उस सभामें बैठते हैं । तथा किन्नरोंके स्वामी द्रुम कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ २९ ॥

राक्षसाधिपतिश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
सह यक्षैः सगन्धर्वैः सह सर्वैर्निशाचरैः ॥ ३० ॥
विभीषणश्च धर्मिष्ठ उपास्ते भ्रातरं प्रभुम् ।

महेन्द्र, गन्धमादन एवं धर्मनिष्ठ राक्षसराज विभीषण भी यक्षों, गन्धर्वों तथा सम्पूर्ण निशाचरोंके साथ अपने भाई भगवान् कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३०½ ॥

हिमवान् पारियात्रश्च विन्ध्यकैलासमन्दराः ॥ ३१ ॥
मलयो दर्दुरश्चैव महेन्द्रो गन्धमादनः ।
इन्द्रकीलः सुनाभश्च तथा दिव्यौ च पर्वतौ ॥ ३२ ॥
एते चान्ये च बहवः सर्वे मेरुपुरोगमाः ।
उपासते महात्मानं धनानामीश्वरं प्रभुम् ॥ ३३ ॥

हिमवान्, पारियात्र, विन्ध्य, कैलाश, मन्दराचल, मलय, दर्दुर, महेन्द्र, गन्धमादन और इन्द्रकील तथा सुनाभ नामवाले दोनों दिव्य पर्वत—ये तथा अन्य सब मेरु आदि बहुत-से पर्वत धनके स्वामी महामना प्रभु कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३१—३३ ॥

नन्दीश्वरश्च भगवान् महाकालस्तथैव च ।
शङ्कुकर्णमुखाः सर्वे दिव्याः पारिषदास्तथा ॥ ३४ ॥
काष्ठः कुटीमुखो दन्ती विजयश्च तपोऽधिकः ।
श्वेतश्च वृषभस्तत्र नर्दन्नास्ते महाबलः ॥ ३५ ॥

भगवान् नन्दीश्वर, महाकाल तथा शङ्कुकर्ण आदि भगवान् शिवके सभी दिव्य पार्षद काष्ठ, कुटीमुख, दन्ती, तपस्वी विजय तथा गर्जनशील महाबली श्वेत वृषभ वहाँ उपस्थित रहते हैं ॥ ३४-३५ ॥

धनदं राक्षसाश्चान्ये पिशाचाश्च उपासते ।
पारिषदैः परिवृतमुपायान्तं महेश्वरम् ॥ ३६ ॥
सदा हि देवदेवेशं शिवं त्रैलोक्यभावनम् ।
प्रणम्य मूर्ध्ना पौलस्त्यो बहुरूपमुमापतिम् ॥ ३७ ॥
ततोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य महादेवाद् धनेश्वरः ।
आस्ते कदाचिद् भगवान् भवो धनपतेः सखा ॥ ३८ ॥

दूसरे-दूसरे राक्षस और पिशाच भी धनदाता कुबेरकी उपासना करते हैं । पार्षदोंसे घिरे हुए देवदेवेश्वर, त्रिभुवन-भावन, बहुरूपधारी, कल्याणस्वरूप, उमावल्लभ भगवान् महेश्वर जब उस सभामें पधारते हैं, तब पुलस्त्यनन्दन धनाध्यक्ष कुबेर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम करते और उनकी आज्ञा ले उन्हींके पास बैठ जाते हैं । उनका सदाका यही नियम है । कुबेरके सखा भगवान् शङ्कर कभी-कभी उस सभामें पदार्पण किया करते हैं ॥ ३६—३८ ॥

निधिप्रवरमुख्यौ च शङ्खपद्मौ धनेश्वरौ ।
सर्वान् निधीन् प्रगृह्याथ उपासाते धनेश्वरम् ॥ ३९ ॥

श्रेष्ठ निधियोंमें प्रमुख और धनके अधीश्वर शङ्ख तथा पद्म—ये दोनों (मूर्तिमान् हो) अन्य सब निधियोंको साथ ले धनाध्यक्ष कुबेरकी उपासना करते हैं ॥ ३९ ॥

सा सभा तादृशी रम्या मया दृष्टान्तरिक्षगा ।
पितामहसभां राजन् कीर्तयिष्ये निबोध ताम् ॥ ४० ॥

राजन् ! कुबेरकी वैसी रमणीय सभा जो आकाशमें विचरनेवाली है, मैंने अपनी आँखों देखी है । अब मैं ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन करूँगा, उसे सुनो ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि धनदसभावर्णनं नाम दशमोऽध्यायः ॥ १० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें कुबेर-सभावर्णननामक दसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १० ॥

एकादशोऽध्यायः

ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन

नारद उवाच

पितामहसभां तात कथ्यमानां निबोध मे ।
शक्यते या न निर्देष्टुमेवंरूपेति भारत ॥ १ ॥

नारदजी कहते हैं—तात भारत ! अब तुम मेरे मुखसे कही हुई पितामह ब्रह्माजीकी सभाका वर्णन सुनो ! वह सभा ऐसी है, इस रूपसे नहीं बतलायी जा सकती ॥ १ ॥

पुरा देवयुगे राजन्नादित्यो भगवान् दिवः ।
आगच्छन्मानुषं लोकं दिदृक्षुर्विगतक्लमः ॥ २ ॥
चरन् मानुषरूपेण सभां दृष्ट्वा स्वयम्भुवः ।
स तामकथयन्मह्यं ब्राह्मीं तत्त्वेन पाण्डव ॥ ३ ॥

राजन् ! पहले सत्ययुगकी बात है, भगवान् सूर्य ब्रह्माजीकी सभा देखकर फिर मनुष्यलोकको देखनेके लिये बिना परिश्रमके ही द्युलोकसे उतरकर इस लोकमें आये और मनुष्यरूपसे इधर-उधर विचरने लगे । पाण्डुनन्दन ! सूर्यदेवने मुझसे उस ब्राह्मी सभाका यथार्थतः वर्णन किया ॥ २-३ ॥

अप्रमेयां सभां दिव्यां मानसीं भरतर्षभ ।
अनिर्देश्यां प्रभावेण सर्वभूतमनोरमाम् ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! वह सभा अप्रमेय, दिव्य, ब्रह्माजीके मानसिक संकल्पसे प्रकट हुई तथा समस्त प्राणियोंके मनको मोह लेनेवाली है । उसका प्रभाव अवर्णनीय है ॥ ४ ॥

श्रुत्वा गुणानहं तस्याः सभायाः पाण्डवर्षभ ।
दर्शनेप्सुस्तथा राजन्नादित्यमिदमब्रुवम् ॥ ५ ॥

पाण्डुकुलभूषण युधिष्ठिर ! उस सभाके अलौकिक गुण सुनकर मेरे मनमें उसके दर्शनकी इच्छा जाग उठी और मैंने सूर्यदेवसे कहा— ॥ ५ ॥

भगवन् द्रष्टुमिच्छामि पितामहसभां शुभाम् ।
येन वा तपसा शक्या कर्मणा वापि गोपते ॥ ६ ॥
औषधैर्वा तथा युक्तैरुत्तमा पापनाशिनी ।
तन्ममाचक्ष्व भगवन् पश्येयं तां सभां यथा ॥ ७ ॥

'भगवन् ! मैं भी ब्रह्माजीकी कल्याणमयी सभाका दर्शन करना चाहता हूँ । किरणोंके स्वामी सूर्यदेव ! जिस तपस्यासे, सत्कर्मसे अथवा उपयुक्त ओषधियोंके प्रभावसे उस पापनाशिनी उत्तम सभाका दर्शन हो सके, वह मुझे बताइये । भगवन् ! मैं जैसे भी उस सभाको देख सकूँ, उस उपायका वर्णन कीजिये' ॥ ६-७ ॥

स तन्मम वचः श्रुत्वा सहस्रांशुर्दिवाकरः ।
प्रोवाच भरतश्रेष्ठ व्रतं वर्षसहस्रिकम् ॥ ८ ॥
ब्रह्मव्रतमुपास्स्व त्वं प्रयतेनान्तरात्मना ।
ततोऽहं हिमवत्पृष्ठे समारब्धो महाव्रतम् ॥ ९ ॥

भरतश्रेष्ठ ! मेरी यह बात सुनकर सहस्रों किरणोंवाले भगवान् दिवाकरने कहा—'तुम एकाग्रचित्त होकर ब्रह्माजीके व्रतका पालन करो । वह श्रेष्ठ व्रत एक हजार वर्षोंमें पूर्ण होगा ।' तब मैंने हिमालयके शिखरपर आकर उस महान् व्रतका अनुष्ठान आरम्भ कर दिया ॥ ८-९ ॥

ततः स भगवान् सूर्यो मामुपादाय वीर्यवान् ।
आगच्छत् तां सभां ब्राह्मीं विपाप्मा विगतक्लमः ॥ १० ॥

तदनन्तर मेरी तपस्या पूर्ण होनेपर पापरहित, क्लेशशून्य और परम शक्तिशाली भगवान् सूर्य मुझे साथ ले ब्रह्माजीकी उस सभामें गये ॥ १० ॥

एवंरूपेति सा शक्या न निर्देष्टुं नराधिप ।
क्षणेन हि बिभर्त्यन्यदनिर्देश्यं वपुस्तथा ॥ ११ ॥

राजन् ! वह सभा 'ऐसी ही है' इस प्रकार नहीं कही जा सकती; क्योंकि वह एक-एक क्षणमें दूसरा अनिर्वचनीय स्वरूप धारण कर लेती है ॥ ११ ॥

न वेद परिमाणं वा संस्थानं चापि भारत ।
न च रूपं मया तादृग् दृष्टपूर्वं कदाचन ॥ १२ ॥

भारत ! उसकी लंबाई-चौड़ाई कितनी है अथवा उसकी स्थिति क्या है, यह सब मैं कुछ नहीं जानता । मैंने किसी भी सभाका वैसा स्वरूप पहले कभी नहीं देखा था ॥ १२ ॥

सुसुखा सा सदा राजन् न शीता न च घर्मदा ।
न क्षुत्पिपासे न ग्लानिं प्राप्य तां प्राप्नुवन्त्युत ॥ १३ ॥

राजन् ! वह सदा उत्तम सुख देनेवाली है । वहाँ न सर्दीका अनुभव होता है, न गर्मीका । उस सभामें पहुँच जानेपर लोगोंको भूख, प्यास और ग्लानिका अनुभव नहीं होता है ॥ १३ ॥

नानारूपैरिव कृता मणिभिः सा सुभास्वरैः ।
स्तम्भैर्न च धृता सा तु शाश्वती न च सा क्षरा ॥ १४ ॥

वह सभा अनेक प्रकारकी अत्यन्त प्रकाशमान मणियोंसे निर्मित हुई है । वह खंभोंके आधारपर नहीं टिकी है और उसमें कभी क्षयरूप विकार न आनेके कारण वह नित्य मानी गयी है* ॥ १४ ॥

दिव्यैर्नानाविधैर्भावैर्भासद्भिरमितप्रभैः ॥ १५ ॥
अति चन्द्रं च सूर्यं च शिखिनं च स्वयम्प्रभा ।
दीप्यते नाकपृष्ठस्था भर्त्सयन्तीव भास्करम् ॥ १६ ॥

अनन्त प्रभावाले नाना प्रकारके प्रकाशमान दिव्य पदार्थोंद्वारा अग्नि, चन्द्रमा और सूर्यसे भी अधिक स्वयं ही प्रकाशित होनेवाली वह सभा अपने तेजसे सूर्यमण्डलको तिरस्कृत करती हुई-सी स्वर्गसे भी ऊपर स्थित हुई प्रकाशित हो रही है ॥ १५-१६ ॥

तस्यां स भगवानास्ते विदधद् देवमायया ।
स्वयमेकोऽनिशं राजन् सर्वलोकपितामहः ॥ १७ ॥

राजन् ! उस सभामें सम्पूर्ण लोकोंके पितामह ब्रह्माजी देवमायाद्वारा समस्त जगत्की स्वयं ही सृष्टि करते हुए सदा अकेले ही विराजमान होते हैं ॥ १७ ॥

उपतिष्ठन्ति चाप्येनं प्रजानां पतयः प्रभुम् ।
दक्षः प्रचेताः पुलहो मरीचिः कश्यपः प्रभुः ॥ १८ ॥

भारत ! वहाँ दक्ष आदि प्रजापतिगण उन भगवान् ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित होते हैं । दक्ष, प्रचेता, पुलह, मरीचि, प्रभावशाली कश्यप, ॥ १८ ॥

* 'एतत् सत्यं ब्रह्मपुरम्' इस श्रुतिसे भी उसकी नित्यता ही सूचित होती है ।

भृगुरत्रिर्वसिष्ठश्च गौतमोऽथ तथाङ्गिराः ।
पुलस्त्यश्च क्रतुश्चैव प्रह्लादः कर्दमस्तथा ॥ १९ ॥

भृगु, अत्रि, वसिष्ठ, गौतम, अङ्गिरा, पुलस्त्य, क्रतु, प्रह्लाद, कर्दम, ॥ १९ ॥

अथर्वाङ्गिरसश्चैव वालखिल्या मरीचिपाः ।
मनोऽन्तरिक्षं विद्याश्च वायुस्तेजो जलं मही ॥ २० ॥
शब्दस्पर्शौ तथा रूपं रसो गन्धश्च भारत ।
प्रकृतिश्च विकारश्च यच्चान्यत् कारणं भुवः ॥ २१ ॥

अथर्वाङ्गिरस, सूर्यकिरणोंका पान करनेवाले वालखिल्य, मन, अन्तरिक्ष, विद्या, वायु, तेज, जल, पृथ्वी, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, प्रकृति, विकृति तथा पृथ्वीकी रचनाके जो अन्य कारण हैं, इन सबके अभिमानी देवता, ॥ २०-२१ ॥

अगस्त्यश्च महातेजा मार्कण्डेयश्च वीर्यवान् ।
जमदग्निर्भरद्वाजः संवर्तश्च्यवनस्तथा ॥ २२ ॥

महातेजस्वी अगस्त्य, शक्तिशाली मार्कण्डेय, जमदग्नि, भरद्वाज, संवर्त, च्यवन, ॥ २२ ॥

दुर्वासाश्च महाभाग ऋष्यशृङ्गश्च धार्मिकः ।
सनत्कुमारो भगवान् योगाचार्यो महातपाः ॥ २३ ॥

महाभाग दुर्वासा, धर्मात्मा ऋष्यशृङ्ग, महातपस्वी योगाचार्य भगवान् सनत्कुमार, ॥ २३ ॥

असितो देवलश्चैव जैगीषव्यश्च तत्त्ववित् ।
ऋषभो जितशत्रुश्च महावीर्यस्तथा मणिः ॥ २४ ॥

असित, देवल, तत्त्वज्ञानी जैगीषव्य, शत्रुविजयी ऋषभ, महापराक्रमी मणि, ॥ २४ ॥

आयुर्वेदस्तथाष्टाङ्गो देहवांस्तत्र भारत ।
चन्द्रमाः सह नक्षत्रैरादित्यश्च गभस्तिमान् ॥ २५ ॥

तथा आठ अङ्गोंसे युक्त मूर्तिमान् आयुर्वेद, नक्षत्रों-सहित चन्द्रमा, अंशुमाली सूर्य, ॥ २५ ॥

वायवः क्रतवश्चैव संकल्पः प्राण एव च ।
मूर्तिमन्तो महात्मानो महाव्रतपरायणाः ॥ २६ ॥
एते चान्ये च बहवो ब्रह्माणं समुपस्थिताः ।

वायु, क्रतु, संकल्प और प्राण—ये तथा और भी बहुत-से मूर्तिमान् महान् व्रतधारी महात्मा ब्रह्माजीकी सेवामें उपस्थित होते हैं ॥ २६½ ॥

अर्थो धर्मश्च कामश्च हर्षो द्वेषस्तपो दमः ॥ २७ ॥

अर्थ, धर्म, काम, हर्ष, द्वेष, तप और दम—ये भी मूर्तिमान् होकर ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं ॥ २७ ॥

आयान्ति तस्यां सहिता गन्धर्वाप्सरसां गणाः ।
विंशतिः सप्त चैवान्ये लोकपालाश्च सर्वशः ॥ २८ ॥
शुक्रो बृहस्पतिश्चैव बुधोऽङ्गारक एव च ।
शनैश्चरश्च राहुश्च ग्रहाः सर्वे तथैव च ॥ २९ ॥

गन्धर्वों और अप्सराओंके बीस गण एक साथ उस सभामें आते हैं। सात अन्य गन्धर्व भी जो प्रधान हैं, वहाँ उपस्थित होते हैं। समस्त लोकपाल, शुक्र, बृहस्पति, बुध, मङ्गल, शनैश्चर, राहु तथा केतु—ये सभी ग्रह, ॥ २८-२९ ॥

मन्त्रो रथन्तरं चैव हरिमान् वसुमानपि ।
आदित्याः साधिराजानो नामद्वन्द्वैरुदाहृताः ॥ ३० ॥

सामगानसम्बन्धी मन्त्र, रथन्तरसाम, हरिमान्, वसुमान्, अपने स्वामी इन्द्रसहित बारह आदित्य, अग्नि-सोम आदि युगल नामोंसे कहे जानेवाले देवता, ॥ ३० ॥

मरुतो विश्वकर्मा च वसवश्चैव भारत ।
तथा पितृगणाः सर्वे सर्वाणि च हवींष्यथ ॥ ३१ ॥

मरुद्गण, विश्वकर्मा, वसुगण, समस्त पितृगण, सभी हविष्य, ॥ ३१ ॥

ऋग्वेदः सामवेदश्च यजुर्वेदश्च पाण्डव ।
अथर्ववेदश्च तथा सर्वशास्त्राणि चैव ह ॥ ३२ ॥

पाण्डुनन्दन ! ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, अथर्ववेद तथा सम्पूर्ण शास्त्र, ॥ ३२ ॥

इतिहासोपवेदाश्च वेदाङ्गानि च सर्वशः ।
ग्रहा यज्ञाश्च सोमश्च देवताश्चापि सर्वशः ॥ ३३ ॥

इतिहास, उपवेद,* सम्पूर्ण वेदाङ्ग, ग्रह, यज्ञ, सोम और समस्त देवता, ॥ ३३ ॥

सावित्री दुर्गतरणी वाणी सप्तविधा तथा ।
मेधा धृतिः श्रुतिश्चैव प्रज्ञा बुद्धिर्यशः क्षमा ॥ ३४ ॥

सावित्री, दुर्गम दुःखसे उबारनेवाली दुर्गा, सात प्रकारकी[1] प्रणवरूपा वाणी, मेधा, धृति, श्रुति, प्रज्ञा, बुद्धि, यश और क्षमा, ॥

सामानि स्तुतिगीतानि गाथाश्च विविधास्तथा ।
भाष्याणि तर्कयुक्तानि देहवन्ति विशाम्पते ॥ ३५ ॥
नाटका विविधाः काव्याः कथाख्यायिककारिकाः ।
तत्र तिष्ठन्ति ते पुण्या ये चान्ये गुरुपूजकाः ॥ ३६ ॥

साम, स्तुति, गीत, विविध गाथा तथा तर्कयुक्त भाष्य—ये सभी देहधारी होकर एवं अनेक प्रकारके नाटक, काव्य, कथा, आख्यायिका तथा कारिका आदि उस सभामें मूर्तिमान् होकर रहते हैं। इसी प्रकार गुरुजनोंकी पूजा करनेवाले जो दूसरे पुण्यात्मा पुरुष हैं, वे सभी उस सभामें स्थित होते हैं ॥ ३५-३६ ॥

* आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद और अर्थशास्त्र—ये चार उपवेद माने गये हैं।

1. अकार, उकार, मकार, अर्धमात्रा, नाद, बिन्दु और शक्ति—ये प्रणवके सात प्रकार हैं। अथवा संस्कृत, प्राकृत, पैशाची, अपभ्रंश, शकित्र, मागध और गद्य—ये वाणीके सात प्रकार जानने चाहिये।

क्षणा लवा मुहूर्ताश्च दिवारात्रिस्तथैव च।
अर्धमासाश्च मासाश्च ऋतवः षट् च भारत ॥ ३७ ॥

युधिष्ठिर ! क्षण, लव, मुहूर्त, दिन, रात, पक्ष, मास, छहों ऋतुएँ, ॥ ३७ ॥

संवत्सराः पञ्च युगमहोरात्रश्चतुर्विधः।
कालचक्रं च तद् दिव्यं नित्यमक्षयमव्ययम् ॥ ३८ ॥
धर्मचक्रं तथा चापि नित्यमास्ते युधिष्ठिर।

साठ संवत्सर, पाँच संवत्सरोंका युग, चार प्रकारके दिन-रात (मानव, पितर, देवता और ब्रह्माजीके दिन-रात), नित्य, दिव्य, अक्षय एवं अव्यय कालचक्र तथा धर्मचक्र भी देह धारण करके सदा ब्रह्माजीकी सभामें उपस्थित रहते हैं ॥ ३८½ ॥

अदितिर्दितिर्दनुश्चैव सुरसा विनता इरा ॥ ३९ ॥
कालिका सुरभी देवी सरमा चाथ गौतमी ॥ ४० ॥
प्रभा कद्रूश्च वै देव्यौ देवतानां च मातरः।
रुद्राणी श्रीश्च लक्ष्मीश्च भद्रा षष्ठी तथापरा ॥ ४१ ॥
पृथ्वी गां गता देवी ह्रीः स्वाहा कीर्तिरेव च।
सुरा देवी शची चैव तथा पुष्टिररुन्धती ॥ ४२ ॥
संवृत्तिराशा नियतिः सृष्टिर्देवी रतिस्तथा।
एताश्चान्याश्च वै देव्य उपतस्थुः प्रजापतिम् ॥ ४३ ॥

अदिति, दिति, दनु, सुरसा, विनता, इरा, कालिका, सुरभी देवी, सरमा, गौतमी, प्रभा और कद्रू—ये दो देवियाँ, देवमाताएँ, रुद्राणी, श्री, लक्ष्मी, भद्रा तथा अपरा, षष्ठी, पृथ्वी, भूतलपर उतरी हुई गङ्गादेवी, लज्जा, स्वाहा, कीर्ति, सुरादेवी, शची, पुष्टि, अरुन्धती, संवृत्ति, आशा, नियति, सृष्टिदेवी, रति तथा अन्य देवियाँ भी उस सभामें प्रजापति ब्रह्माजीकी उपासना करती हैं ॥ ३९–४३ ॥

आदित्या वसवो रुद्रा मरुतश्चाश्विनावपि।
विश्वेदेवाश्च साध्याश्च पितरश्च मनोजवाः ॥ ४४ ॥

आदित्य, वसु, रुद्र, मरुद्गण, अश्विनीकुमार, विश्वेदेव, साध्य तथा मनके समान वेगशाली पितर भी उस सभामें उपस्थित होते हैं ॥ ४४ ॥

पितॄणां च गणान् विद्धि सप्तैव पुरुषर्षभ।
मूर्तिमन्तो हि चत्वारस्त्रयश्चाप्यशरीरिणः ॥ ४५ ॥

नरश्रेष्ठ ! तुम्हें मालूम होना चाहिये कि पितरोंके सात ही गण होते हैं, जिनमें चार तो मूर्तिमान् हैं और तीन अमूर्त॥

वैराजाश्च महाभागा अग्निष्वात्ताश्च भारत।
गार्हपत्या नाकचराः पितरो लोकविश्रुताः ॥ ४६ ॥
सोमपा एकशृङ्गाश्च चतुर्वेदाः कलास्तथा।
एते चतुर्षु वर्णेषु पूज्यन्ते पितरो नृप ॥ ४७ ॥
एतैराप्यायितैः पूर्वं सोमश्चाप्याय्यते पुनः।

त एते पितरः सर्वे प्रजापतिमुपस्थिताः ॥ ४८ ॥
उपासते च संहृष्टा ब्रह्माणममितौजसम्।

भारत ! सम्पूर्ण लोकोंमें विख्यात स्वर्गलोकमें विचरने वाले महाभाग वैराज, अग्निष्वात्त, सोमपा, गार्हपत्य (ये चार मूर्त हैं), एकशृङ्ग, चतुर्वेद तथा कला (ये तीन अमूर्त हैं) । ये सातों पितर क्रमशः चारों वर्णों पूजित होते हैं । राजन् ! पहले इन पितरोंके तृप्त होने फिर सोम देवता भी तृप्त हो जाते हैं । ये सभी पितर उक्त सभामें उपस्थित हो प्रसन्नतापूर्वक अमित तेजस्वी प्रजापति ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं ॥ ४६–४८½ ॥

राक्षसाश्च पिशाचाश्च दानवा गुह्यकास्तथा ॥ ४९ ॥
नागाः सुपर्णाः पशवः पितामहमुपासते।
स्थावरा जङ्गमाश्चैव महाभूतास्तथापरे ॥ ५० ॥
पुरंदरश्च देवेन्द्रो वरुणो धनदो यमः।
महादेवः सहोमोऽत्र सदा गच्छति सर्वशः ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार राक्षस, पिशाच, दानव, गुह्यक, नाग, सुपर्ण तथा श्रेष्ठ पशु भी वहाँ पितामह ब्रह्माजीकी उपासना करते हैं । स्थावर और जङ्गम महाभूत, देवराज इन्द्र, वरुण, कुबेर, यम तथा पार्वतीसहित महादेवजी—ये सब सदा उस सभामें पधारते हैं ॥ ४९–५१ ॥

महासेनश्च राजेन्द्र सदोपास्ते पितामहम्।
देवो नारायणस्तस्यां तथा देवर्षयश्च ये ॥ ५२ ॥
ऋषयो वालखिल्याश्च योनिजायोनिजास्तथा।

राजेन्द्र ! स्वामी कार्तिकेय भी वहाँ उपस्थित होकर सदा ब्रह्माजीकी सेवा करते हैं । भगवान् नारायण, देवर्षिगण, वालखिल्य ऋषि तथा दूसरे अयोनिज और योनिज ऋषि उस सभामें ब्रह्माजीकी आराधना करते हैं ॥ ५२½ ॥

यच्च किंचित् त्रिलोकेऽस्मिन् दृश्यते स्थाणु जङ्गमम्।
सर्वं तस्यां मया दृष्टमिति विद्धि नराधिप ॥ ५३ ॥

नरेश्वर ! संक्षेपमें यह समझ लो कि तीनों लोकोंमें स्थावर-जङ्गम भूतोंके रूपमें जो कुछ भी दिखायी देता है, वह सब मैंने उस सभामें देखा था ॥ ५३ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि ऋषीणामूर्ध्वरेतसाम्।
प्रजावतां च पञ्चाशदृषीणामपि पाण्डव ॥ ५४ ॥

पाण्डुनन्दन ! अट्ठासी हजार ऊर्ध्वरेता ऋषि और पचास संतानवान् महर्षि उस सभामें उपस्थित होते हैं ॥ ५४ ॥

ते स्म तत्र यथाकामं दृष्ट्वा सर्वे दिवौकसः।
प्रणम्य शिरसा तस्मै सर्वे यान्ति यथाऽऽगतम् ॥ ५५ ॥

वे सब महर्षि तथा सम्पूर्ण देवता वहाँ इच्छानुसार ब्रह्माजीका दर्शन करके उन्हें मस्तक झुकाकर प्रणाम करते और आज्ञा लेकर जैसे आये होते हैं, वैसे ही चले जाते हैं ॥ ५५ ॥

अतिथीनागतान् देवान् दैत्यान् नागांस्तथा द्विजान्।
यक्षान् सुपर्णान् कालेयान् गन्धर्वाप्सरसस्तथा ॥५६॥
महाभागानमितधीर्ब्रह्मा लोकपितामहः ।
दयावान् सर्वभूतेषु यथार्हं प्रतिपद्यते ॥ ५७ ॥

अगाध बुद्धिवाले दयालु लोकपितामह ब्रह्माजी अपने यहाँ आये हुए सभी महाभाग अतिथियों—देवता, दैत्य, नाग, पक्षी, यक्ष, सुपर्ण, कालेय, गन्धर्व तथा अप्सराओं एवं सम्पूर्ण भूतोंसे यथायोग्य मिलते हैं और उन्हें अनुगृहीत करते हैं ॥ ५६–५७ ॥

प्रतिगृह्य तु विश्वात्मा स्वयम्भूरमितद्युतिः ।
सान्त्वमानार्थसम्भोगैर्युनक्ति मनुजाधिप ॥ ५८ ॥

मनुजेश्वर ! अमित तेजस्वी विश्वात्मा स्वयम्भू उन सब अतिथियोंको अपनाकर उन्हें सान्त्वना देते, उनका सम्मान करते, उनके प्रयोजनकी पूर्ति करके उन सबको आवश्यकता तथा रुचिके अनुसार भोगसामग्री प्रदान करते हैं ॥ ५८ ॥

तथा तैरुपयातैश्च प्रतियद्भिश्च भारत ।
आकुला सा सभा तात भवति स्म सुखप्रदा ॥ ५९ ॥

तात भारत ! इस प्रकार वहाँ आने-जानेवाले लोगोंसे भरी हुई वह सभा बड़ी सुखदायिनी जान पड़ती है ॥ ५९ ॥

सर्वतेजोमयी दिव्या ब्रह्मर्षिगणसेविता ।
ब्राह्म्या श्रिया दीप्यमाना शुशुभे विगतक्लमा ॥ ६० ॥
सा सभा तादृशी दृष्टा मया लोकेषु दुर्लभा ।
सभेयं राजशार्दूल मनुष्येषु यथा तव ॥ ६१ ॥

नृपश्रेष्ठ ! वह सभा सम्पूर्ण तेजसे सम्पन्न, दिव्य तथा ब्रह्मर्षियोंके समुदायसे सेवित और पापरहित एवं ब्राह्मी श्रीसे उद्भासित और सुशोभित होती रहती है। वैसी उस सभाका मैंने दर्शन किया है। जैसे मनुष्यलोकमें तुम्हारी यह सभा दुर्लभ है, वैसे ही सम्पूर्ण लोकोंमें ब्रह्माजीकी सभा परम दुर्लभ है ॥ ६०–६१ ॥

एता मया दृष्टपूर्वाः सभा देवेषु भारत ।
सभेयं मानुषे लोके सर्वश्रेष्ठतमा तव ॥ ६२ ॥

भारत ! ये सभी सभाएँ मैंने पूर्वकालमें देवलोकमें देखी हैं । मनुष्यलोकमें तो तुम्हारी यह सभा ही सर्वश्रेष्ठ है ॥ ६२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि ब्रह्मसभावर्णनं नामैकादशोऽध्यायः ॥ ११ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें ब्रह्मसभावर्णननामक ग्यारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ११ ॥

द्वादशोऽध्यायः

राजा हरिश्चन्द्रका माहात्म्य तथा युधिष्ठिरके प्रति राजा पाण्डुका संदेश

युधिष्ठिर उवाच

यथोक्ता राजलोकास्ते कथितो वदतां वर ।
वैवस्वतसभायां तु यथा वदसि मे प्रभो ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ भगवन् ! जैसा आपने मुझसे वर्णन किया है, उसके अनुसार सूर्यपुत्र यमकी सभामें ही अधिकांश राजालोगोंकी स्थिति बतायी गयी है ॥ १ ॥

वरुणस्य सभायां तु नागास्ते कथिता विभो ।
दैत्येन्द्राश्चापि भूयिष्ठाः सरितः सागरास्तथा ॥ २ ॥

प्रभो ! वरुणकी सभामें तो अधिकांश नाग, दैत्येन्द्र, सरिताएँ और समुद्र ही बताये गये हैं ॥ २ ॥

तथा धनपतेर्यक्षा गुह्यका राक्षसास्तथा ।
गन्धर्वाप्सरसश्चैव भगवांश्च वृषध्वजः ॥ ३ ॥

इसी प्रकार धनाध्यक्ष कुबेरकी सभामें यक्ष, गुह्यक, राक्षस, गन्धर्व, अप्सरा तथा भगवान् शङ्करकी उपस्थितिका वर्णन हुआ है ॥ ३ ॥

पितामहसभायां तु कथितास्ते महर्षयः ।
सर्वे देवनिकायाश्च सर्वशास्त्राणि चैव हि ॥ ४ ॥

ब्रह्माजीकी सभामें आपने महर्षियों, सम्पूर्ण देवगणों तथा समस्त शास्त्रोंकी स्थिति बतायी है ॥ ४ ॥

शक्रस्य तु सभायां तु देवाः संकीर्तिता मुने ।
उद्देशतश्च गन्धर्वा विविधाश्च महर्षयः ॥ ५ ॥

परंतु मुने ! इन्द्रकी सभामें आपने अधिकांश देवताओंकी ही उपस्थितिका वर्णन किया है और थोड़े-से विभिन्न गन्धर्वों एवं महर्षियोंकी भी स्थिति बतायी है ॥ ५ ॥

एक एव तु राजर्षिर्हरिश्चन्द्रो महामुने ।
कथितस्ते सभायां वै देवेन्द्रस्य महात्मनः ॥ ६ ॥

महामुने ! महात्मा देवराज इन्द्रकी सभामें आपने राजर्षियोंमेंसे एकमात्र हरिश्चन्द्रका ही नाम लिया है ॥ ६ ॥

किं कर्म तेनाचरितं तपो वा नियतव्रत ।
येनासौ सह शक्रेण स्पर्धते सुमहायशाः ॥ ७ ॥

नियमपूर्वक व्रतका पालन करनेवाले महर्षे ! उन्होंने कौन-सा कर्म अथवा कौन-सी तपस्या की है, जिससे वे महान् यशस्वी होकर देवराज इन्द्रसे स्पर्धा कर रहे हैं ॥ ७ ॥

पितृलोकगतश्चैव त्वया विप्र पिता मम ।
दृष्टः पाण्डुर्महाभागः कथं चापि समागतः ॥ ८ ॥

किमुक्तवांश्च भगवंस्तन्ममाचक्ष्व सुव्रत।
त्वत्तः श्रोतुं सर्वमिदं परं कौतूहलं हि मे ॥ ९ ॥

विप्रवर ! आपने पितृलोकमें जाकर मेरे पिता महाभाग पाण्डुको भी देखा था, किस प्रकार वे आपसे मिले थे ? भगवन् ! उन्होंने आपसे क्या कहा ? यह मुझे बताइये। सुव्रत ! आपसे यह सब कुछ सुननेके लिये मेरे मनमें बड़ी उत्कण्ठा है ॥ ८-९ ॥

नारद उवाच

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र हरिश्चन्द्रं प्रति प्रभो।
तत् तेऽहं सम्प्रवक्ष्यामि माहात्म्यं तस्य धीमतः॥ १० ॥

नारदजीने कहा—शक्तिशाली राजेन्द्र ! तुमने जो राजर्षि हरिश्चन्द्रके विषयमें मुझसे पूछा है, उसके उत्तरमें मैं उन बुद्धिमान् नरेशका माहात्म्य बता रहा हूँ, सुनो ॥ १० ॥

(इक्ष्वाकूणां कुले जातस्त्रिशङ्कुर्नाम पार्थिवः।
अयोध्याधिपतिर्वीरो विश्वामित्रेण संस्थितः॥
तस्य सत्यवती नाम पत्नी केकयवंशजा।
तस्यां गर्भः समभवद् धर्मेण कुरुनन्दन॥
सा च काले महाभागा जन्ममासं प्रविश्य वै।
कुमारं जनयामास हरिश्चन्द्रमकल्मषम्॥
स वै राजा हरिश्चन्द्रस्त्रैशङ्कव इति स्मृतः।)

इक्ष्वाकुकुलमें त्रिशङ्कु नामसे प्रसिद्ध एक राजा हो गये हैं। वीर त्रिशङ्कु अयोध्याके स्वामी थे और वहाँ विश्वामित्र मुनिके साथ रहा करते थे। उनकी पत्नीका नाम सत्यवती था, वह केकय-कुलमें उत्पन्न हुई थी। कुरुनन्दन ! रानी सत्यवतीके धर्मानुकूल गर्भ रहा। फिर समयानुसार जन्ममास प्राप्त होनेपर महाभागा रानीने एक निष्पाप पुत्रको जन्म दिया, उसका नाम हुआ हरिश्चन्द्र। वे त्रिशङ्कुकुमार ही लोक-विख्यात राजा हरिश्चन्द्र कहे गये हैं॥

स राजा बलवानासीत् सम्राट् सर्वमहीक्षिताम्।
तस्य सर्वे महीपालाः शासनावनताः स्थिताः॥ ११ ॥

राजा हरिश्चन्द्र बड़े बलवान् और समस्त भूपालोंके सम्राट् थे। भूमण्डलके सभी नरेश उनकी आज्ञाका पालन करनेके लिये सिर झुकाये खड़े रहते थे ॥ ११ ॥

तेनैकं रथमास्थाय जैत्रं हेमविभूषितम्।
शस्त्रप्रतापेन जिता द्वीपाः सप्त जनेश्वर ॥ १२ ॥

जनेश्वर ! उन्होंने एकमात्र स्वर्णविभूषित जैत्र नामक रथपर चढ़कर अपने शस्त्रोंके प्रतापसे सातों द्वीपोंपर विजय प्राप्त कर ली थी ॥ १२ ॥

स निर्जित्य महीं कृत्स्नां सशैलवनकाननाम्।
आजहार महाराज राजसूयं महाक्रतुम् ॥ १३ ॥

महाराज ! पर्वतों और वनोंसहित इस सारी पृथ्वीको जीतकर राजा हरिश्चन्द्रने राजसूय नामक महान् यज्ञका अनुष्ठान किया ॥ १३ ॥

तस्य सर्वे महीपाला धनान्याजह्नुराज्ञया।
द्विजानां परिवेष्टारस्तस्मिन् यज्ञे च तेऽभवन्॥ १४ ॥

राजाकी आज्ञासे समस्त भूपालोंने धन लाकर भेंट किये और उस यज्ञमें ब्राह्मणोंको भोजन परोसनेका कार्य किया ॥ १४ ॥

प्रादाच्च द्रविणं प्रीत्या याचकानां नरेश्वरः।
यथोक्तवन्तस्ते तस्मिंस्ततः पञ्चगुणाधिकम् ॥ १५ ॥

महाराज हरिश्चन्द्रने बड़ी प्रसन्नताके साथ उस यज्ञमें याचकोंको, जितना उन्होंने माँगा, उससे पाँचगुना अधिक धन दान किया ॥ १५ ॥

अतर्पयच्च विविधैर्वसुभिर्ब्राह्मणांस्तदा।
प्रसर्पकाले सम्प्राप्ते नानादिग्भ्यः समागतान्॥ १६ ॥

जब अग्निदेवके विसर्जनका अवसर आया, उस समय उन्होंने विभिन्न दिशाओंसे आये हुए ब्राह्मणोंको नाना प्रकारके धन एवं रत्न देकर तृप्त किया ॥ १६ ॥

भक्ष्यभोज्यैश्च विविधैर्यथाकामपुरस्कृतैः।
रत्नौघतर्पितैस्तुष्टैर्द्विजैश्च समुदाहृतम्।
तेजस्वी च यशस्वी च नृपेभ्योऽभ्यधिकोऽभवत्॥ १७ ॥

नाना प्रकारके भक्ष्य-भोज्य पदार्थ, मनोवाञ्छित वस्तुओंके पुरस्कार तथा रत्नराशिका दान देकर तृप्त एवं संतुष्ट किये हुए ब्राह्मणोंने राजा हरिश्चन्द्रको आशीर्वाद दिये। इसीसे वे अन्य राजाओंकी अपेक्षा अधिक तेजस्वी और यशस्वी हुए हैं॥ १७ ॥

एतस्मात् कारणाद् राजन् हरिश्चन्द्रो विराजते।
तेभ्यो राजसहस्रेभ्यस्तद् विद्धि भरतर्षभ ॥ १८ ॥

राजन् ! भरतश्रेष्ठ ! यही कारण है कि उन हजारों राजाओंकी अपेक्षा महाराज हरिश्चन्द्र अधिक सम्मानपूर्वक इन्द्रसभामें विराजमान होते हैं—इस बातको तुम अच्छी तरह जान लो ॥ १८ ॥

समाप्य च हरिश्चन्द्रो महायज्ञं प्रतापवान्।
अभिषिक्तश्च शुशुभे साम्राज्येन नराधिप ॥ १९ ॥

नरेश्वर ! प्रतापी हरिश्चन्द्र उस महायज्ञको समाप्त करके जब सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुए, उस समय उनकी बड़ी शोभा हुई ॥ १९ ॥

ये चान्ये च महीपाला राजसूयं महाक्रतुम्।
यजन्ते ते सहेन्द्रेण मोदन्ते भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतकुलभूषण ! दूसरे भी जो भूपाल राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान करते हैं, वे देवराज इन्द्रके साथ रहकर आनन्द भोगते हैं ॥ २० ॥

ये चापि निधनं प्राप्ताः संग्रामेष्वपलायिनः।
ते तत् सदनमासाद्य मोदन्ते भरतर्षभ ॥ २१ ॥

भरतर्षभ ! जो लोग संग्राममें पीठ न दिखाकर वहीं मृत्युका वरण कर लेते हैं, वे भी देवराज इन्द्रकी उस सभामें जाकर वहाँ आनन्दका उपभोग करते हैं ॥ २१ ॥

तपसा ये च तीव्रेण त्यजन्तीह कलेवरम्।
ते तत् स्थानं समासाद्य श्रीमन्तो भान्ति नित्यशः॥२२॥

तथा जो लोग कठोर तपस्याके द्वारा यहाँ अपने शरीरका त्याग करते हैं, वे भी उस इन्द्रसभामें जाकर तेजस्वी रूप धारण करके सदा प्रकाशित होते रहते हैं ॥ २२ ॥

पिता च त्वाऽऽह कौन्तेय पाण्डुः कौरवनन्दन।
हरिश्चन्द्रे श्रियं दृष्ट्वा नृपतौ जातविस्मयः ॥ २३ ॥

कौरवनन्दन कुन्तीकुमार ! तुम्हारे पिता पाण्डुने राजा हरिश्चन्द्रकी सम्पत्ति देखकर अत्यन्त चकित हो तुमसे कहनेके लिये संदेश दिया है ॥ २३ ॥

विज्ञाय मानुषं लोकमायान्तं मां नराधिप।
प्रोवाच प्रणतो भूत्वा वदेथास्त्वं युधिष्ठिरम् ॥ २४ ॥

नरेश्वर ! मुझे मनुष्यलोकमें आता जान उन्होंने प्रणाम करके मुझसे कहा—'देवर्षे ! आप युधिष्ठिरसे यह कहियेगा—॥

समर्थोऽसि महीं जेतुं भ्रातरस्ते स्थिता वशे।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहरस्वेति भारत ॥ २५ ॥

'भारत ! तुम्हारे भाई तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं, तुम सारी पृथ्वीको जीतनेमें समर्थ हो; अतः राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञका अनुष्ठान करो ॥ २५ ॥

त्वयीष्टवति पुत्रेऽहं हरिश्चन्द्रवदाशु वै।
मोदिष्ये बहुलाः शश्वत् समाः शक्रस्य संसदि॥ २६ ॥

'तुम-जैसे पुत्रके द्वारा वह यज्ञ सम्पन्न होनेपर मैं भी शीघ्र ही राजा हरिश्चन्द्रकी भाँति बहुत वर्षोंतक इन्द्रभवनमें आनन्द भोगूँगा' ॥ २६ ॥

एवं भवतु वक्ष्येऽहं तव पुत्रं नराधिपम्।
भूलोकं यदि गच्छेयमिति पाण्डुमथाब्रवम् ॥ २७ ॥

तब मैंने पाण्डुसे कहा—'एवमस्तु, यदि मैं भूलोकमें जाऊँगा तो आपके पुत्र राजा युधिष्ठिरसे कह दूँगा' ॥२७॥

तस्य त्वं पुरुषव्याघ्र संकल्पं कुरु पाण्डव।
गन्तासि त्वं महेन्द्रस्य पूर्वैः सह सलोकताम्॥ २८ ॥

पुरुषसिंह पाण्डुनन्दन ! तुम अपने पिताके संकल्पको पूरा करो। ऐसा करनेपर तुम पूर्वजोंके साथ देवराज इन्द्रके लोकमें जाओगे ॥ २८ ॥

बहुविघ्नश्च नृपते क्रतुरेष स्मृतो महान्।
छिद्राण्यस्य तु वाञ्छन्ति यज्ञघ्ना ब्रह्मराक्षसाः॥ २९ ॥

राजन् ! इस महान् यज्ञमें बहुत-से विघ्न आनेकी सम्भावना रहती है; क्योंकि यज्ञनाशक ब्रह्मराक्षस इसका छिद्र ढूँढ़ते रहते हैं ॥ २९ ॥

युद्धं च क्षत्रशमनं पृथिवीक्षयकारणम्।
किंचिदेव निमित्तं च भवत्यत्र क्षयावहम् ॥ ३० ॥

तथा इसका अनुष्ठान होनेपर कोई एक ऐसा निमित्त भी बन जाता है, जिससे पृथ्वीपर विनाशकारी युद्ध उपस्थित हो जाता है, जो क्षत्रियोंके संहार और भूमण्डलके विनाशका कारण होता है ॥ ३० ॥

एतत् संचिन्त्य राजेन्द्र यत् क्षेमं तत् समाचर।
अप्रमत्तोत्थितो नित्यं चातुर्वर्ण्यस्य रक्षणे ॥ ३१ ॥

राजेन्द्र ! यह सब सोच-विचारकर तुम्हें जो हितकर जान पड़े, वह करो। चारों वर्णोंकी रक्षाके लिये सदा सावधान और उद्यत रहो ॥ ३१ ॥

भव एधस्व मोदस्व धनैस्तर्पय च द्विजान्।
एतत् ते विस्तरेणोक्तं यन्मां त्वं परिपृच्छसि।
आपृच्छे त्वां गमिष्यामि दाशार्हनगरीं प्रति ॥ ३२ ॥

संसारमें तुम्हारा अभ्युदय हो, तुम आनन्दित रहो और धनसे ब्राह्मणोंको तृप्त करो। तुमने मुझसे जो कुछ पूछा था वह सब मैंने विस्तारपूर्वक बता दिया। अब मैं यहाँसे द्वारका जाऊँगा, इसके लिये तुमसे अनुमति चाहता हूँ ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमाख्याय पार्थेभ्यो नारदो जनमेजय।
जगाम तैर्वृतो राजन्नृषिभिर्यैः समागतः ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीकुमारोंसे ऐसा कहकर नारदजी जिन ऋषियोंके साथ आये थे, उन्हींसे घिरे हुए पुनः चले गये ॥ ३३ ॥

गते तु नारदे पार्थो भ्रातृभिः सह कौरवः।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं चिन्तयामास पार्थिवः ॥ ३४ ॥

नारदजीके चले जानेपर कुरुश्रेष्ठ कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिर अपने भाइयोंके साथ राजसूय नामक श्रेष्ठ यज्ञके विषयमें विचार करने लगे ॥ ३४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि लोकपालसभाख्यानपर्वणि पाण्डुसंदेशकथने द्वादशोऽध्यायः ॥ १२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत लोकपालसभाख्यानपर्वमें पाण्डु-संदेश-कथनविषयक बारहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ श्लोक मिलाकर कुल ३०½ श्लोक हैं)

(राजसूयारम्भपर्व)

त्रयोदशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका राजसूयविषयक संकल्प और उसके विषयमें भाइयों, मन्त्रियों, मुनियों तथा श्रीकृष्णसे सलाह लेना

वैशम्पायन उवाच

ऋषेस्तद् वचनं श्रुत्वा निशश्वास युधिष्ठिरः ।
चिन्तयन् राजसूयेष्टिं न लेभे शर्म भारत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! देवर्षि नारदका यह वचन सुनकर युधिष्ठिरने लंबी साँस खींची। राजसूययज्ञके सम्बन्धमें चिन्तन करते हुए उन्हें शान्ति नहीं मिली॥१॥

राजर्षीणां च तं श्रुत्वा महिमानं महात्मनाम् ।
यज्वनां कर्मभिः पुण्यैर्लोकप्राप्तिं समीक्ष्य च ॥ २ ॥
हरिश्चन्द्रं च राजर्षिं रोचमानं विशेषतः ।
यज्वानं यज्ञमाहर्तुं राजसूयमियेष सः ॥ ३ ॥

राजसूययज्ञ करनेवाले महात्मा राजर्षियोंकी वैसी महिमा सुनकर तथा पुण्यकर्मोंद्वारा उत्तम लोकोंकी प्राप्ति होती देखकर एवं यज्ञ करनेवाले राजर्षि हरिश्चन्द्रका महान् तेज (तथा विशेष वैभव एवं आदर-सत्कार) सुनकर उनके मनमें राजसूययज्ञ करनेकी इच्छा हुई ॥ २-३ ॥

युधिष्ठिरस्ततः सर्वानर्चयित्वा सभासदः ।
प्रत्यर्चितश्च तैः सर्वैर्यज्ञायैव मनो दधे ॥ ४ ॥

तदनन्तर युधिष्ठिरने अपने समस्त सभासदोंका सत्कार किया और उन सब सदस्योंने भी उनका बड़ा सम्मान किया। अन्तमें (सबकी सम्मतिसे) उनका मन यज्ञ करनेके ही संकल्पपर दृढ़ हो गया ॥ ४ ॥

स राजसूयं राजेन्द्र कुरूणामृषभस्तदा ।
आहर्तुं प्रवणं चक्रे मनः संचिन्त्य चासकृत् ॥ ५ ॥

राजेन्द्र ! कुरुश्रेष्ठ युधिष्ठिरने उस समय बार-बार विचार करके राजसूययज्ञके अनुष्ठानमें ही मन लगाया ॥ ५ ॥

भूयश्चाद्भुतवीर्यौजा धर्ममेवानुचिन्तयन् ।
किं हितं सर्वलोकानां भवेदिति मनो दधे ॥ ६ ॥

अद्भुत बल और पराक्रमवाले धर्मराजने पुनः अपने धर्मका ही चिन्तन किया और सम्पूर्ण लोकोंका हित कैसे हो, इसी ओर वे ध्यान देने लगे ॥ ६ ॥

अनुगृह्णन् प्रजाः सर्वाः सर्वधर्मभृतां वरः ।
अविशेषेण सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर समस्त धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ थे। वे सारी प्रजापर अनुग्रह करके सबका समानरूपसे हितसाधन करने लगे ॥७॥

सर्वेषां दीयतां देयं मुञ्चन् कोपमदावुभौ ।
साधु धर्मेति धर्मेति नान्यच्छ्रूयेत भाषितम् ॥ ८

क्रोध और अभिमानसे रहित होकर राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकोंसे कह दिया कि 'देने योग्य वस्तुएँ सबको दी जायँ' अथवा सारी जनताका पावना (ऋण) चुका दिया जाय। उनके राज्यमें 'धर्मराज ! आप धन्य हैं। धर्मस्वरूप युधिष्ठिर ! आपको साधुवाद !' इसके सिवा और कोई बात नहीं सुनी जाती थी ॥ ८ ॥

एवंगते ततस्तस्मिन् पितरीवाश्वसञ्जनाः ।
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याजातशत्रुता ॥ ९

उनका ऐसा व्यवहार देख सारी प्रजा उनके ऊपर पिताके समान भरोसा रखने लगी। उनके प्रति द्वेष रखनेवाला कोई नहीं रहा ! इसीलिये वे 'अजातशत्रु' नामसे प्रसिद्ध हुए ॥ ९ ॥

परिग्रहान्नरेन्द्रस्य भीमस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव बीभत्सोः सव्यसाचिनः ॥ १०
धीमतः सहदेवस्य धर्माणामनुशासनात् ।
वैनत्यात् सर्वतश्चैव नकुलस्य स्वभावतः ।
अविग्रहा वीतभयाः स्वधर्मनिरताः सदा ॥ ११
निकामवर्षाः स्फीताश्च आसञ्जनपदास्तथा ।

महाराज युधिष्ठिर सबको आत्मीय जनोंकी भाँति अपनाते, भीमसेन सबकी रक्षा करते, सव्यसाची अर्जुन शत्रुओंके संहारमें लगे रहते, बुद्धिमान् सहदेव सबको धर्मका उपदेश दिया करते और नकुल स्वभावसे ही सबके साथ विनयपूर्ण बर्ताव करते थे। इससे उनके राज्यके सभी जनपद कलहशून्य, निर्भय, स्वधर्मपरायण तथा उन्नतिशील थे। वहाँ उनकी इच्छाके अनुसार समयपर वर्षा होती थी ॥ १०-११ ॥

वार्धुषी यज्ञसत्त्वानि गोरक्षं कर्षणं वणिक् ॥ १२
विशेषात् सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणा ।
अनुकर्षं च निष्कर्षं व्याधिपावकमूर्च्छनम् ॥ १३
सर्वमेव न तत्रासीद् धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ।

उन दिनों राजाके सुप्रबन्धसे ब्याजकी आजीविका, यज्ञकी सामग्री, गोरक्षा, खेती और व्यापार—इन सबकी विशेष उन्नति होने लगी। निर्धन प्रजाजनोंसे पिछले वर्षका बाकी कर

लिया जाता था तथा चालू वर्षका कर वसूल करनेके लिये किसीको पीड़ा नहीं दी जाती थी। सदा धर्ममें तत्पर रहनेवाले युधिष्ठिरके शासनकालमें रोग तथा अग्निका प्रकोप आदि कोई भी उपद्रव नहीं था ॥ १२-१३½ ॥

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यश्च राज्ञः प्रति परस्परम् ॥ १४ ॥
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयत मृषा कृतम् ।

लुटेरोंसे, ठगोंसे, राजासे तथा राजाके प्रिय व्यक्तियोंसे प्रजाके प्रति अत्याचार या मिथ्या व्यवहार कभी नहीं सुना जाता था और आपसमें भी सारी प्रजा दूसरेसे मिथ्या व्यवहार नहीं करती थी ॥ १४½ ॥

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वकर्मजम् ॥ १५ ॥
अभिहर्तुं नृपाः षट्सु पृथग् जात्यैश्च नैगमैः ।
ययृधे विषयस्तत्र धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ १६ ॥
कामतोऽप्युपयुञ्जानै राजसैर्लोभजैर्जनैः ।

दूसरे राजालोग विभिन्न देशके कुलीन वैश्योंके साथ धर्मराज युधिष्ठिरका प्रिय करने, उन्हें कर देने, अपने उपार्जित धन-रत्न आदिकी भेंट देने तथा संधि-विग्रहादि छः कार्योंमें राजाको सहयोग देनेके लिये उनके पास आते थे। सदा धर्ममें ही लगे रहनेवाले राजा युधिष्ठिरके शासनकालमें राजस स्वभाववाले तथा लोभी मनुष्योंद्वारा इच्छानुसार धन आदिका उपभोग किये जानेपर भी उनका देश दिनोंदिन उन्नति करने लगा ॥ १५-१६½ ॥

सर्वव्यापी सर्वगुणी सर्वसाहः स सर्वराट् ॥ १७ ॥

राजा युधिष्ठिरकी ख्याति सर्वत्र फैल रही थी। सभी सद्गुण उनकी शोभा बढ़ा रहे थे। वे शीत एवं उष्ण आदि सभी द्वन्द्वोंको सहनेमें समर्थ तथा अपने राजोचित गुणोंसे सर्वत्र सुशोभित होते थे ॥ १७ ॥

यस्मिन्नधिकृतः सम्राड् भ्राजमानो महायशाः ।
यत्र राजन् दश दिशः पितृतो मातृतस्तथा ।
अनुरक्ताः प्रजा आसन्नागोपाला द्विजातयः ॥ १८ ॥

राजन्! दसों दिशाओंमें प्रकाशित होनेवाले वे महायशस्वी सम्राट् जिस देशपर अधिकार जमाते, वहाँ ग्वालोंसे लेकर ब्राह्मणोंतक सारी प्रजा उनके प्रति पिता-माताके समान भाव रखकर प्रेम करने लगती थी ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

स मन्त्रिणः समानाय्य भ्रातॄंश्च वदतां वरः ।
राजसूयं प्रति तदा पुनः पुनरपृच्छत ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! वक्ताओंमें श्रेष्ठ राजा युधिष्ठिरने उस समय अपने मन्त्रियों और भाइयोंको बुलाकर उनसे बार-बार पूछा—'राजसूययज्ञके सम्बन्धमें आपलोगोंकी क्या सम्मति है?' ॥ १९ ॥

ते पृच्छ्यमानाः सहिता वचोऽर्थ्यं मन्त्रिणस्तदा ।
युधिष्ठिरं महाप्राज्ञं यियक्षुमिदमब्रुवन् ॥ २० ॥

इस प्रकार पूछे जानेपर उन सब मन्त्रियोंने एक साथ यज्ञकी इच्छावाले परम बुद्धिमान् युधिष्ठिरसे उस समय यह अर्थयुक्त बात कही— ॥ २० ॥

येनाभिषिक्तो नृपतिर्वारुणं गुणमृच्छति ।
तेन राजापि तं कृत्स्नं सम्राड्गुणमभीप्सति ॥ २१ ॥

'महाराज! राजसूययज्ञके द्वारा अभिषिक्त होनेपर राजा वरुणके गुणोंको प्राप्त कर लेता है; इसलिये प्रत्येक नरेश उस यज्ञके द्वारा सम्राट्के समस्त गुणोंको पानेकी अभिलाषा रखता है ॥ २१ ॥

तस्य सम्राड्गुणार्हस्य भवतः कुरुनन्दन ।
राजसूयस्य समयं मन्यन्ते सुहृदस्तव ॥ २२ ॥

'कुरुनन्दन! आप तो सम्राट्के गुणोंको पानेके सर्वथा योग्य हैं; अतः आपके हितैषी सुहृद् आपके द्वारा राजसूययज्ञके अनुष्ठानका यह उचित अवसर प्राप्त हुआ मानते हैं ॥ २२ ॥

तस्य यज्ञस्य समयः स्वाधीनः क्षत्रसम्पदा ।
साम्ना षडग्नयो यस्मिंश्चीयन्ते शंसितव्रतैः ॥ २३ ॥

उस यज्ञका समय क्षत्रसम्पत्ति यानी सेना आदिके अधीन है। उसमें उत्तम व्रतका आचरण करनेवाले ब्राह्मण सामवेदके मन्त्रोंद्वारा अग्निकी स्थापनाके लिये छः अग्निवेदियोंका निर्माण करते हैं ॥ २३ ॥

दर्वीहोमानुपादाय सर्वान् यः प्राप्नुते क्रतून् ।
अभिषेकं च यस्यान्ते सर्वजित् तेन चोच्यते ॥ २४ ॥

'जो उस यज्ञका अनुष्ठान करता है, वह 'दर्वीहोम' (अग्निहोत्र आदि) से लेकर समस्त यज्ञोंके फलको प्राप्त कर लेता है एवं यज्ञके अन्तमें जो अभिषेक होता है, उससे वह यज्ञकर्ता नरेश 'सर्वजित् सम्राट्' कहलाने लगता है ॥ २४ ॥

समर्थोऽसि महाबाहो सर्वे ते वशगा वयम् ।
अचिरात् त्वं महाराज राजसूयमवाप्स्यसि ॥ २५ ॥

'महाबाहो! आप उस यज्ञके सम्पादनमें समर्थ हैं। हम सब लोग आपकी आज्ञाके अधीन हैं। महाराज! आप शीघ्र ही राजसूययज्ञ पूर्ण कर सकेंगे ॥ २५ ॥

अविचार्य महाराज राजसूये मनः कुरु ।
इत्येवं सुहृदः सर्वे पृथक् च सह चाब्रुवन् ॥ २६ ॥

'अतः किसी प्रकारका सोच-विचार न करके आप राजसूयके अनुष्ठानमें मन लगाइये।' इस प्रकार उनके सभी सुहृदोंने अलग-अलग और सम्मिलित होकर अपनी यही सम्मति प्रकट की ॥ २६ ॥

स धर्म्यं पाण्डवस्तेषां वचः श्रुत्वा विशाम्पते ।
धृष्टमिष्टं वरिष्ठं च जग्राह मनसारिहा ॥ २७ ॥

प्रजानाथ ! शत्रुसूदन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने उनका यह महत्त्वपूर्ण, प्रिय एवं श्रेष्ठ वचन सुनकर उसे मन-ही-मन ग्रहण किया ॥ २७ ॥

श्रुत्वा सुहृद्वचस्तच्च जानंश्चाप्यात्मनः क्षमम् ।
पुनः पुनर्मनो दध्रे राजसूयाय भारत ॥ २८ ॥

भारत ! उन्होंने सुहृदोंका वह सम्मतिसूचक वचन सुनकर तथा यह भी जानते हुए कि राजसूययज्ञ अपने लिये साध्य है, उसके विषयमें बारम्बार मन-ही-मन विचार किया ॥ २८ ॥

स भ्रातृभिः पुनर्धीमानृत्विग्भिश्च महात्मभिः।
मन्त्रिभिश्चापि सहितो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
धौम्यद्वैपायनाद्यैश्च मन्त्रयामास मन्त्रवित् ॥ २९ ॥

फिर मन्त्रणाका महत्त्व जाननेवाले बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिर अपने भाइयों, महात्मा ऋत्विजों, मन्त्रियों तथा धौम्य एवं व्यास आदि महर्षियोंके साथ इस विषयपर पुनः विचार करने लगे ॥ २९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

इयं या राजसूयस्य सम्राडर्हस्य सुक्रतोः ।
श्रद्दधानस्य वदतः स्पृहा मे सा कथं भवेत् ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरने कहा—महात्माओ ! राजसूय नामक उत्तम यज्ञ किसी सम्राट्के ही योग्य है, तो भी मैं उसके प्रति श्रद्धा रखने लगा हूँ; अतः आपलोग बताइये, मेरे मनमें जो यह राजसूययज्ञ करनेकी अभिलाषा हुई है, कैसी है ? ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्तु ते तेन राज्ञा राजीवलोचन ।
इदमूचुर्वचः काले धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कमलनयन जनमेजय ! राजाके इस प्रकार पूछनेपर वे सब लोग उस समय धर्मराज युधिष्ठिरसे यों बोले—॥ ३१ ॥

अर्हस्त्वमसि धर्मज्ञ राजसूयं महाक्रतुम् ।
अथैवमुक्ते नृपतावृत्विग्भिर्ऋषिभिस्तथा ॥ ३२ ॥
मन्त्रिणो भ्रातरश्चान्ये तद्वचः प्रत्यपूजयन् ।

'धर्मज्ञ ! आप राजसूय महायज्ञ करनेके सर्वथा योग्य हैं।' ऋत्विजों तथा महर्षियोंने जब राजा युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा, तब उनके मन्त्रियों और भाइयोंने उन महात्माओंके वचनका बड़ा आदर किया ॥ ३२½ ॥

स तु राजा महाप्राज्ञः पुनरेवात्मनाऽऽत्मवान् ॥ ३३ ॥
भूयो विमम्रृशे पार्थो लोकानां हितकाम्यया ।
सामर्थ्ययोगं सम्प्रेक्ष्य देशकालौ व्ययागमौ ॥ ३४ ॥
विमृश्य सम्यक् च धिया कुर्वन् प्राज्ञो न सीदति।
न हि यज्ञसमारम्भः केवलात्मविनिश्चयात् ॥ ३५ ॥
भवतीति समाज्ञाय यत्नतः कार्यमुद्वहन्।
स निश्चयार्थं कार्यस्य कृष्णमेव जनार्दनम् ॥ ३६ ॥
सर्वलोकात् परं मत्वा जगाम मनसा हरिम्।
अप्रमेयं महाबाहुं कामाज्जातमजं नृप ॥ ३७ ॥

तदनन्तर मनको वशमें रखनेवाले महाबुद्धि राजा युधिष्ठिरने सम्पूर्ण लोकोंके हितकी इच्छासे पुनः विषयपर मन-ही-मन विचार किया—'जो बुद्धिमान् शक्ति और साधनोंको देखकर तथा देश, काल, आय व्ययको बुद्धिके द्वारा भलीभाँति समझ करके कार्य करता है, वह कष्टमें नहीं पड़ता । केवल अपने ही निश्चय यज्ञका आरम्भ नहीं किया जाता ।' ऐसा समझकर कार्यभार वहन करनेवाले युधिष्ठिरने उस कार्यके विषय निश्चय करनेके लिये जनार्दन भगवान् श्रीकृष्णको लोगोंसे उत्तम माना और वे मन-ही-मन उन अप्रमेय श्रीहरिकी शरणमें गये, जो अजन्मा होते हुए भी साधु पुरुषोंकी रक्षा आदिकी इच्छासे मनुष्यलोकमें हुए थे ॥ ३३–३७ ॥

पाण्डवस्तर्कयामास कर्मभिर्देवसम्मतैः।
नास्य किंचिदविज्ञातं नास्य किंचिदकर्मजम् ॥ ३८ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने श्रीकृष्णके देवपूजित कर्मोंद्वारा यह अनुमान किया कि श्रीकृष्णके लिये अज्ञात नहीं है तथा कोई भी ऐसा कार्य नहीं है, न सकें ॥ ३८ ॥

न स किंचिन्न विषहेदिति कृष्णममन्यत।
स तु तां नैष्ठिकीं बुद्धिं कृत्वा पार्थो युधिष्ठिरः ॥ ३९ ॥
गुरुवद् भूतगुरवे प्राहिणोद् दूतमञ्जसा।
शीघ्रगेन रथेनाशु स दूतः प्राप्य यादवान् ॥ ४० ॥
द्वारकावासिनं कृष्णं द्वारवत्यां समासदत्।

उनके लिये कुछ भी असह्य नहीं है । उन्होंने उन्हें सर्वशक्तिमान् एवं सर्वज्ञ माना । निश्चयात्मक बुद्धि करके कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने गुरु प्रति निवेदन करनेकी भाँति समस्त प्राणियोंके गुरु श्रीकृष्णके शीघ्र ही एक दूत भेजा। वह दूत शीघ्रगामी रथके द्वारा यादवोंके यहाँ पहुँचकर द्वारकावासी श्रीकृष्णसे मिला ॥ ३९-४०½ ॥

(स प्रह्वः प्राञ्जलिर्भूत्वा व्यज्ञापयत माधवम् ॥

उसने विनयपूर्वक हाथ जोड़ भगवान् श्रीकृष्णसे प्रकार निवेदन किया ॥

दूत उवाच

धर्मराजो हृषीकेश धौम्यव्यासादिभिः सह।

पाञ्चालमात्स्यसहितैर्भ्रातृभिश्चैव सर्वशः ॥
त्वद्दर्शनं महाबाहो काङ्क्षते स युधिष्ठिरः ।

दूतने कहा—महाबाहु हृषीकेश ! धर्मराज युधिष्ठिर धौम्य एवं व्यास आदि महर्षियों, द्रुपद और विराट आदि नरेशों तथा अपने समस्त भाइयोंके साथ आपका दर्शन करना चाहते हैं ॥

वैशम्पायन उवाच

इन्द्रसेनवचः श्रुत्वा यादवप्रवरो बली ।)
दर्शनाकाङ्क्षिणं पार्थं दर्शनाकाङ्क्षयाच्युतः ॥ ४१ ॥
इन्द्रसेनेन सहित इन्द्रप्रस्थमगात् तदा ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—दूत इन्द्रसेनकी यह बात सुनकर यदुवंशशिरोमणि महाबली भगवान् श्रीकृष्ण दर्शनाभिलाषी युधिष्ठिरके पास स्वयं भी उनके दर्शनकी अभिलाषासे दूत इन्द्रसेनके साथ इन्द्रप्रस्थ नगरमें आये ॥ ४१½ ॥

व्यतीत्य विविधान् देशांस्त्वरावान् क्षिप्रवाहनः ॥४२॥

मार्गमें अनेक देशोंको लाँघते हुए वे बड़ी उतावलीके साथ आगे बढ़ रहे थे । उनके रथके घोड़े बहुत तेज चलनेवाले थे ॥ ४२ ॥

इन्द्रप्रस्थगतं पार्थमभ्यगच्छज्जनार्दनः ।
स गृहे पितृवद् भ्रात्रा धर्मराजेन पूजितः ।
भीमेन च ततोऽपश्यत् स्वसारं प्रीतिमान् पितुः॥ ४३ ॥

भगवान् जनार्दन इन्द्रप्रस्थमें आकर राजा युधिष्ठिरसे मिले । फुफेरे भाई धर्मराज युधिष्ठिर तथा भीमसेनने अपने घरमें श्रीकृष्णका पिताकी भाँति पूजन किया । तत्पश्चात् श्रीकृष्ण अपनी बुआ कुन्तीसे प्रसन्नतापूर्वक मिले ॥ ४३ ॥

प्रीतः प्रीतेन सुहृदा रेमे स सहितस्तदा ।
अर्जुनेन यमाभ्यां च गुरुवत् पर्युपासितः ॥ ४४ ॥

तदनन्तर प्रेमी सुहृद् अर्जुनसे मिलकर वे बहुत प्रसन्न हुए । फिर नकुल-सहदेवने गुरुकी भाँति उनकी सेवा-पूजा की ॥ ४४ ॥

तं विश्रान्तं शुभे देशे क्षणिनं कल्पमच्युतम् ।
धर्मराजः समागम्याज्ञापयत् स्वप्रयोजनम् ॥ ४५ ॥

इसके बाद उन्होंने एक उत्तम भवनमें विश्राम किया । थोड़ी देर बाद जब वे मिलनेके योग्य हुए और इसके लिये उन्होंने अवसर निकाल लिया, तब धर्मराज युधिष्ठिरने आकर उनसे अपना सारा प्रयोजन बतलाया ॥ ४५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

प्रार्थितो राजसूयो मे न चासौ केवलेप्सया ।
प्राप्यते येन तत् ते हि विदितं कृष्ण सर्वशः ॥ ४६ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मैं राजसूययज्ञ करना चाहता हूँ; परंतु वह केवल चाहनेभरसे ही पूरा नहीं हो सकता। जिस उपायसे उस यज्ञकी पूर्ति हो सकती है, वह सब आपको ही ज्ञात है ॥ ४६ ॥

यस्मिन् सर्वं सम्भवति यश्च सर्वत्र पूज्यते ।
यश्च सर्वेश्वरो राजा राजसूयं स विन्दति ॥ ४७ ॥

जिसमें सब कुछ सम्भव है अर्थात् जो सब कुछ कर सकता है, जिसकी सर्वत्र पूजा होती है तथा जो सर्वेश्वर होता है, वही राजा राजसूययज्ञ सम्पन्न कर सकता है ॥ ४७ ॥

तं राजसूयं सुहृदः कार्यमाहुः समेत्य मे ।
तत्र मे निश्चिततमं तव कृष्ण गिरा भवेत् ॥ ४८ ॥

मेरे सब सुहृद् एकत्र होकर मुझसे वही राजसूययज्ञ करनेके लिये कहते हैं; परंतु इसके विषयमें अन्तिम निश्चय तो आपके कहनेसे ही होगा ॥ ४८ ॥

केचिद्धि सौहृदादेव न दोषं परिचक्षते ।
स्वार्थहेतोस्तथैवान्ये प्रियमेव वदन्त्युत ॥ ४९ ॥

कुछ लोग प्रेम-सम्बन्धके नाते ही मेरे दोषों या त्रुटियोंको नहीं बताते हैं । दूसरे लोग स्वार्थवश वही बात कहते हैं, जो मुझे प्रिय लगे ॥ ४९ ॥

प्रियमेव परीप्सन्ते केचिदात्मनि यद्धितम् ।
एवम्प्रायाश्च दृश्यन्ते जनवादाः प्रयोजने ॥ ५० ॥

कुछ लोग जो अपने लिये हितकर है, उसीको मेरे लिये भी प्रिय एवं हितकर समझ बैठते हैं । इस प्रकार अपने प्रयोजनको लेकर प्रायः लोगोंकी भिन्न-भिन्न बातें देखी जाती हैं ॥ ५० ॥

त्वं तु हेतूनतीत्यैतान् कामक्रोधौ व्युदस्य च ।
परमं यत् क्षमं लोके यथावद् वक्तुमर्हसि ॥ ५१ ॥

परंतु आप उपर्युक्त सभी हेतुओंसे एवं काम-क्रोधसे रहित होकर (अपने स्वरूपमें स्थित हैं । अतः) इस लोकमें मेरे लिये जो उत्तम एवं करने योग्य हो, उसको ठीक-ठीक बतानेकी कृपा करें ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि वासुदेवागमने त्रयोदशोऽध्यायः ॥ १३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें वासुदेवागमनविषयक तेरहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २½ श्लोक मिलाकर कुल ५३½ श्लोक हैं)

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीकृष्णकी राजसूययज्ञके लिये सम्मति

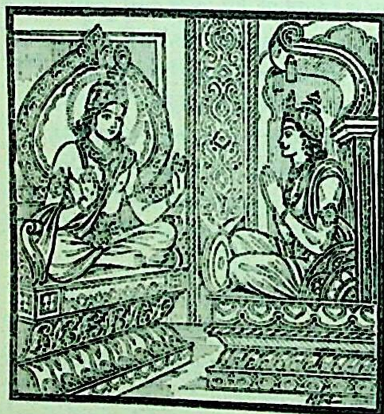
कृष्ण उवाच

सर्वैर्गुणैर्महाराज राजसूयं त्वमर्हसि।
जानतस्त्वेव ते सर्वं किंचिद् वक्ष्यामि भारत ॥ १ ॥

श्रीकृष्णने कहा—महाराज ! आपमें सभी सद्गुण विद्यमान हैं; अतः आप राजसूययज्ञ करनेके लिये योग्य हैं। भारत ! आप सब कुछ जानते हैं, तो भी आपके पूछनेपर मैं इस विषयमें कुछ निवेदन करता हूँ ॥ १ ॥

जामदग्न्येन रामेण क्षत्रं यदवशेषितम्।
तस्मादवरजं लोके यदिदं क्षत्रसंज्ञितम् ॥ २ ॥

जमदग्निनन्दन परशुरामने पूर्वकालमें जब क्षत्रियोंका संहार किया था, उस समय लुक-छिपकर जो क्षत्रिय शेष रह



गये, वे पूर्ववर्ती क्षत्रियोंकी अपेक्षा निम्नकोटिके हैं। इस प्रकार इस समय संसारमें नाममात्रके क्षत्रिय रह गये हैं ॥ २ ॥

कृतोऽयं कुलसंकल्पः क्षत्रियैर्वसुधाधिप।
निदेशवाग्भिस्तत् ते ह विदितं भरतर्षभ ॥ ३ ॥

पृथ्वीपते ! इन क्षत्रियोंने पूर्वजोंके कथनानुसार सामूहिकरूपसे यह नियम बना लिया है कि हममेंसे जो समस्त क्षत्रियोंको जीत लेगा, वही सम्राट् होगा। भरतश्रेष्ठ ! यह बात आपको भी मालूम ही होगी ॥ ३ ॥

ऐलस्येक्ष्वाकुवंशस्य प्रकृतिं परिचक्षते।
राजानः श्रेणिबद्धाश्च तथान्ये क्षत्रिया भुवि ॥ ४ ॥

इस समय श्रेणिबद्ध (सब-के-सब) राजा तथा भूमण्डलके दूसरे क्षत्रिय भी अपनेको सम्राट् पुरूरवा तथा इक्ष्वाकुकी संतान कहते हैं ॥ ४ ॥

ऐलवंश्याश्च ये राजंस्तथैवेक्ष्वाकवो नृपाः।
तानि चैकशतं विद्धि कुलानि भरतर्षभ ॥ ५ ॥

भरतश्रेष्ठ राजन् ! पुरूरवा तथा इक्ष्वाकुके वंशमें जो नरेश आजकल हैं, उनके एक सौ कुल विद्यमान हैं। यह बात आप अच्छी तरह जान लें ॥ ५ ॥

ययातेस्त्वेव भोजानां विस्तरो गुणतो महान्।
भजतेऽद्य महाराज विस्तरं स चतुर्दिशम् ॥ ६ ॥
तेषां तथैव तां लक्ष्मीं सर्वक्षत्रमुपासते।

महाराज ! आजकल राजा ययातिके कुलमें गुणवी ... भोजवंशियोंका ही अधिक विस्तार हुआ है। भोजवंशी ... चारों दिशाओंमें फैल गये हैं तथा आजके सभी क्षत्रिय उन्हींकी धन-सम्पत्तिका आश्रय ले रहे हैं ॥ ६½ ॥

इदानीमेव वै राजञ्जरासंधो महीपतिः ॥ ७ ॥
अभिभूय श्रियं तेषां कुलानामभिषेचितः।
स्थितो मूर्ध्नि नरेन्द्राणामोजसाऽऽक्रम्य सर्वशः ॥ ८ ॥

राजन् ! अभी-अभी भूपाल जरासंध उन समस्त क्षत्रिय कुलोंकी राजलक्ष्मीको लाँघकर राजाओंद्वारा सम्राट्के पदपर अभिषिक्त हुआ है और वह अपने बल-पराक्रमसे सब ओर आक्रमण करके समस्त राजाओंका सिरमौर हो रहा है ॥ ७-८ ॥

सोऽवनिं मध्यमां भुक्त्वा मिथोभेदममन्यत।
प्रभुर्यस्तु परो राजा यस्मिन्नेकवशे जगत् ॥ ९ ॥

जरासंध मध्यभूमिका उपभोग करते हुए समस्त राजाओं में परस्पर फूट डालनेकी नीतिको पसंद करता है। इस समय वही सबसे प्रबल एवं उत्कृष्ट राजा है। यह सारा जगत् एक-मात्र उसीके वशमें है ॥ ९ ॥

स साम्राज्यं महाराज प्राप्तो भवति योगतः।
तं स राजा जरासंधं संश्रित्य किल सर्वशः ॥ १० ॥
राजन् सेनापतिर्जातः शिशुपालः प्रतापवान्।

महाराज ! वह अपनी राजनीतिक युक्तियोंसे इस समय सम्राट् बन बैठा है। राजन् ! कहते हैं, प्रतापी राजा शिशुपाल सब प्रकारसे जरासंधका आश्रय लेकर ही उसका प्रधान सेनापति हो गया है ॥ १०½ ॥

तमेव च महाराज शिष्यवद् समुपस्थितः ॥ ११ ॥
वक्रः करूषाधिपतिर्मायायोधी महाबलः।

युधिष्ठिर ! मायायुद्ध करनेवाला महाबली करूषराज दन्तवक्र भी जरासंधके सामने शिष्यकी भाँति हाथ जोड़े खड़ा रहता है ॥ ११½ ॥

अपरौ च महावीर्यौ महात्मानौ समाश्रितौ ॥ १२ ॥
जरासंधं महावीर्यं तौ हंसडिम्भकावुभौ ।

विशालकाय अन्य दो महापराक्रमी योद्धा सुप्रसिद्ध हंस और डिम्भक भी महाबली जरासंधकी शरण ले चुके थे ॥

दन्तवक्रः करूषश्च करभो मेघवाहनः ।
मूर्ध्ना दिव्यमणिं बिभ्रद् यमद्भुतमणिं विदुः ॥ १३ ॥

करूषदेशका राजा दन्तवक्र, करभ और मेघवाहन—ये सभी सिरपर दिव्य मणिमय मुकुट धारण करते हुए भी जरासंधको अपने मस्तककी अद्भुत मणि मानते हैं (अर्थात् उसके चरणोंमें सिर झुकाते रहते हैं) ॥ १३ ॥

मुरं च नरकं चैव शास्ति यो यवनाधिपः ।
अपर्यन्तबलो राजा प्रतीच्यां वरुणो यथा ॥ १४ ॥
भगदत्तो महाराज वृद्धस्तव पितुः सखा ।
स वाचा प्रणतस्तस्य कर्मणा च विशेषतः ॥ १५ ॥
स्नेहबद्धश्च मनसा पितृवद् भक्तिमांस्त्वयि ।

महाराज ! जो मुर और नरक नामक देशका शासन करते हैं, जिनकी सेना अनन्त है, जो वरुणके समान पश्चिम दिशाके अधिपति कहे जाते हैं, जिनकी वृद्धावस्था हो चली है तथा जो आपके पिताके मित्र रहे हैं, वे यवनाधिपति राजा भगदत्त भी वाणी तथा क्रियाद्वारा भी जरासंधके सामने विशेषरूपसे नतमस्तक रहते हैं; फिर भी वे मन-ही-मन तुम्हारे स्नेह-पाशमें बँधे हैं और जैसे पिता अपने पुत्रपर प्रेम रखता है, वैसे ही उनका तुम्हारे ऊपर वात्सल्यभाव बना हुआ है ॥

प्रतीच्यां दक्षिणं चान्तं पृथिव्याः प्रति यो नृपः ॥ १६ ॥
मातुलो भवतः शूरः पुरुजित् कुन्तिवर्धनः ।
स ते सन्नतिमानेकः स्नेहतः शत्रुसूदनः ॥ १७ ॥

जो भारतभूमिके पश्चिमसे लेकर दक्षिणतकके भागपर शासन करते हैं, आपके मामा वे शत्रुसंहारक शूरवीर कुन्ति-भोजकुलवर्द्धक पुरुजित् अकेले ही स्नेहवश आपके प्रति प्रेम और आदरका भाव रखते हैं ॥ १६-१७ ॥

जरासंधं गतस्त्वेव पुरा यो न मया हतः ।
पुरुषोत्तमविज्ञातो योऽसौ चेदिषु दुर्मतिः ॥ १८ ॥
आत्मानं प्रतिजानाति लोकेऽस्मिन् पुरुषोत्तमम् ।
आदत्ते सततं मोहाद् यः स चिह्नं च मामकम् ॥ १९ ॥
वङ्गपुण्ड्रकिरातेषु राजा बलसमन्वितः ।
पौण्ड्रको वासुदेवेति योऽसौ लोकेऽभिविश्रुतः ॥ २० ॥

जिसे मैंने पहले मारा नहीं, उपेक्षावश छोड़ रक्खा है, जिसकी बुद्धि बड़ी खोटी है, जो चेदिदेशमें पुरुषोत्तम समझा जाता है, इस जगत्में जो अपने आपको पुरुषोत्तम ही कहकर बताया करता है और मोहवश सदा मेरे शङ्ख-चक्र आदि चिह्नोंको धारण करता है; वङ्ग, पुण्ड्र तथा किरातदेशका जो राजा है तथा लोकमें वासुदेवके नामसे जिसकी प्रसिद्धि हो रही है, वह बलवान् राजा पौण्ड्रक भी जरासंधसे ही मिला हुआ है ॥ १८–२० ॥

चतुर्थभाग् महाराज भोज इन्द्रसखो बली ।
विद्याबलाद् यो व्यजयत् सपाण्ड्यक्रथकैशिकान् ॥ २१ ॥
भ्राता यस्याकृतिः शूरो जामदग्न्यसमोऽभवत् ।
स भक्तो मागधं राजा भीष्मकः परवीरहा ॥ २२ ॥

राजन् ! जो पृथ्वीके एक चौथाई भागके स्वामी हैं, इन्द्रके सखा हैं, बलवान् हैं, जिन्होंने अस्त्र-विद्याके बलसे पाण्ड्य, क्रथ और कैशिक देशोंपर विजय पायी है, जिनका भाई आकृति जमदग्निनन्दन परशुरामके समान शौर्यसम्पन्न है, वे भोज वंशी शत्रुहन्ता राजा भीष्मक (मेरे श्वशुर होते हुए) भी मगध-राज जरासंधके भक्त हैं ॥ २१-२२ ॥

प्रियाण्याचरतः प्रह्वान् सदा सम्बन्धिनस्ततः ।
भजतो न भजत्यस्मानप्रियेषु व्यवस्थितः ॥ २३ ॥

हम सदा उनका प्रिय करते रहते हैं, उनके प्रति नम्रता दिखाते हैं और उनके सगे-सम्बन्धी हैं; तो भी वे हम-जैसे अपने भक्तोंको तो नहीं अपनाते हैं और हमारे शत्रुओंसे मिलते-जुलते हैं ॥ २३ ॥

न कुलं स बलं राजन्नभ्यजानात् तथाऽऽत्मनः ।
पश्यमानो यशो दीप्तं जरासंधमुपस्थितः ॥ २४ ॥

राजन् ! वे अपने बल और कुलकी ओर भी ध्यान नहीं देते, केवल जरासंधके उज्ज्वल यशकी ओर देखकर उसके आश्रित बन गये ॥ २४ ॥

उदीच्याश्च तथा भोजाः कुलान्यष्टादश प्रभो ।
जरासंधभयादेव प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ॥ २५ ॥

प्रभो ! इसी प्रकार उत्तर दिशामें निवास करनेवाले भोजवंशियोंके अठारह कुल जरासंधके ही भयसे भागकर पश्चिम दिशामें रहने लगे हैं ॥ २५ ॥

शूरसेना भद्रकारा बोधाः शाल्वाः पटच्चराः ।
सुस्थलाश्च सुकुट्टाश्च कुलिन्दाः कुन्तिभिः सह ॥ २६ ॥
शाल्वायनाश्च राजानः सोदर्यानुचरैः सह ।
दक्षिणा ये च पञ्चालाः पूर्वाः कुन्तिषु कोशलाः ॥ २७ ॥
तथोत्तरां दिशं चापि परित्यज्य भयार्दिताः ।
मत्स्याः संन्यस्तपादाश्च दक्षिणां दिशमाश्रिताः ॥ २८ ॥

शूरसेन, भद्रकार, बोध, शाल्व, पटच्चर, सुस्थल, सुकुट्ट, कुलिन्द, कुन्ति तथा शाल्वायन आदि राजा भी अपने भाइयों तथा सेवकोंके साथ दक्षिण दिशामें भाग गये हैं। जो लोग दक्षिण पाञ्चाल एवं पूर्वी कुन्तिप्रदेशमें रहते थे, वे सभी क्षत्रिय तथा कोशल, मत्स्य, संन्यस्तपाद आदि राजपुत्र

भी जरासंधके भयसे पीड़ित हो उत्तर दिशाको छोड़कर दक्षिण दिशाका ही आश्रय ले चुके हैं ॥ २६-२८ ॥

तथैव सर्वपञ्चाला जरासंधभयार्दिताः।
स्वराज्यं सम्परित्यज्य विद्रुताः सर्वतो दिशम् ॥ २९ ॥

उसी प्रकार समस्त पञ्चालदेशीय क्षत्रिय जरासंधके भयसे दुखी हो अपना राज्य छोड़कर चारों दिशाओंमें भाग गये हैं ॥ २९ ॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य कंसो निर्मथ्य यादवान्।
बार्हद्रथसुते देव्यावुपागच्छद् वृथामतिः ॥ ३० ॥

कुछ समय पहलेकी बात है, व्यर्थ बुद्धिवाले कंसने समस्त यादवोंको कुचलकर जरासंधकी दो पुत्रियोंके साथ विवाह किया ॥ ३० ॥

अस्तिः प्राप्तिश्च नाम्ना ते सहदेवानुजेऽबले।
बलेन तेन स्वज्ञातीनभिभूय वृथामतिः ॥ ३१ ॥
श्रैष्ठ्यं प्राप्तः स तस्यासीदतीवापनयो महान्।

उनके नाम थे अस्ति और प्राप्ति । वे दोनों अबलाएँ सहदेवकी छोटी बहिनें थीं । निःसार बुद्धिवाला कंस जरासंधके ही बलसे अपने जाति-भाइयोंको अपमानित करके सबका प्रधान बन बैठा था। यह उसका बहुत बड़ा अत्याचार था ॥ ३१½ ॥

भोजराजन्यवृद्धैश्च पीड्यमानैर्दुरात्मना ॥ ३२ ॥
ज्ञातित्राणमभीप्सद्भिरस्मत्सम्भावना कृता।

उस दुरात्मासे पीड़ित हो भोजवंशके बड़े-बूढ़े लोगोंने जाति-भाइयोंकी रक्षाके लिये हमसे प्रार्थना की ॥ ३२½॥

दत्त्वाक्रूराय सुतनुं तामाहुकसुतां तदा ॥ ३३ ॥
संकर्षणद्वितीयेन ज्ञातिकार्यं मया कृतम्।
हतौ कंससुनामानौ मया रामेण चाप्युत ॥ ३४ ॥

तब मैंने आहुककी पुत्री सुतनुका विवाह अक्रूरसे करा दिया और बलरामजीको साथी बनाकर जाति-भाइयोंका कार्य सिद्ध किया । मैंने और बलरामजीने कंस और सुनामाको मार डाला ॥ ३३-३४ ॥

भये तु समतिक्रान्ते जरासंधे समुद्यते।
मन्त्रोऽयं मन्त्रितो राजन् कुलैरष्टादशावरैः ॥ ३५ ॥

इससे कंसका भय तो जाता रहा; परंतु जरासंध कुपित हो हमसे बदला लेनेको उद्यत हो गया। राजन् ! उस समय भोजवंशके अठारह कुलों (मन्त्री-पुरोहित आदि) ने मिलकर इस प्रकार विचार-विमर्श किया—॥ ३५ ॥

अनारमन्तो निघ्नन्तो महास्त्रैः शत्रुघातिभिः।
न हन्यामो वयं तस्य त्रिभिर्वर्षशतैर्बलम् ॥ ३६ ॥

'यदि हमलोग शत्रुओंका अन्त करनेवाले बड़े-बड़े अस्त्रोंद्वारा निरन्तर आघात करते रहें, तो भी तीन सौ वर्षोंमें भी उसकी सेनाका नाश नहीं कर सकते ॥ ३६ ॥

तस्य ह्यमरसंकाशौ बलेन बलिनां वरौ।
नामभ्यां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ ॥ ३७ ॥

'क्योंकि बलवानोंमें श्रेष्ठ हंस और डिम्भक उसके सहायक हैं, जो बलमें देवताओंके समान हैं । उन दोनोंको यह वरदान प्राप्त है कि वे किसी अस्त्र-शस्त्रसे नहीं मारे जा सकते' ॥ ३७ ॥

तावुभौ सहितौ वीरौ जरासंधश्च वीर्यवान्।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ ३८ ॥

मैया युधिष्ठिर ! मेरा तो ऐसा विश्वास है कि एक साथ रहनेवाले वे दोनों वीर हंस और डिम्भक तथा पराक्रमी जरासंध—ये तीनों मिलकर तीनों लोकोंका सामना करनेके लिये पर्याप्त थे ॥ ३८ ॥

न हि केवलमस्माकं यावन्तोऽन्ये च पार्थिवाः।
तथैव तेषामासीच्च बुद्धिर्बुद्धिमतां वर ॥ ३९ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ नरेश ! यह केवल मेरा ही मत नहीं, दूसरे भी जितने भूमिपाल हैं, उन सबका यही निश्चय रहा है ॥ ३९ ॥

अथ हंस इति ख्यातः कश्चिदासीन्महान् नृपः।
रामेण स हतस्तत्र संग्रामेऽष्टादशावरे ॥ ४० ॥

जरासंधके साथ जब सत्रहवीं बार युद्ध हो रहा था, उसमें हंस नामसे प्रसिद्ध कोई दूसरा राजा भी लड़ने आया था, वह उस युद्धमें बलरामजीके हाथसे मारा गया ॥ ४० ॥

हतो हंस इति प्रोक्तमथ केनापि भारत।
तच्छ्रुत्वा डिम्भको राजन् यमुनाम्भस्यमज्जत ॥ ४१ ॥

भारत ! यह देख किसी सैनिकने चिल्लाकर कहा—'हंस मारा गया ।' राजन् ! उसकी वह बात कानमें पड़ते ही डिम्भक अपने भाईको ही मरा हुआ जान यमुनामें कूद पड़ा ॥ ४१ ॥

विना हंसेन लोकेऽस्मिन् नाहं जीवितुमुत्सहे।
इत्येतां मतिमास्थाय डिम्भको निधनं गतः ॥ ४२ ॥

'मैं हंसके विना इस संसारमें जीवित नहीं रह सकता ।' ऐसा निश्चय करके डिम्भकने अपनी जान दे दी ॥ ४२ ॥

तथा तु डिम्भकं श्रुत्वा हंसः परपुरंजयः।
प्रपेदे यमुनामेव सोऽपि तस्यां न्यमज्जत ॥ ४३ ॥

डिम्भककी इस प्रकार मृत्यु हुई सुनकर शत्रुनगरीको जीतनेवाला हंस भी भाईके शोकसे यमुनामें ही कूद पड़ा और उसीमें डूबकर मर गया ॥ ४३ ॥

तौ स राजा जरासंधः श्रुत्वा च निधनं गतौ।
पुरं शून्येन मनसा प्रययौ भरतर्षभ ॥ ४४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन दोनोंकी मृत्यु हुई सुनकर राजा जरासंध हताश हो गया और उत्साहशून्य हृदयसे अपनी राजधानीको लौट गया ॥ ४४ ॥

ततो वयममित्रघ्न तस्मिन् प्रतिगते नृपे।
पुनरानन्दिनः सर्वे मथुरायां वसामहे ॥ ४५ ॥

शत्रुसूदन ! उसके इस प्रकार लौट जानेपर हम सब लोग पुनः मथुरामें आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥ ४५ ॥

यदा त्वभ्येत्य पितरं सा वै राजीवलोचना।
कंसभार्या जरासंधं दुहिता मागधं नृपम्।
चोदयत्येव राजेन्द्र पतिव्यसनदुःखिता ॥ ४६ ॥
पतिघ्नं मे जहीत्येवं पुनः पुनररिंदम।

शत्रुदमन राजेन्द्र ! फिर जब पतिके शोकसे पीड़ित हुई कंसकी कमललोचना भार्या अपने पिता मगधनरेश जरासंधके पास जाकर उसे बार-बार उकसाने लगी कि मेरे पतिके घातकको मार डालो, ॥ ४६½ ॥

ततो वयं महाराज तं मन्त्रं पूर्वमन्त्रितम् ॥ ४७ ॥
संस्मरन्तो विमनसो व्यपयाता नराधिप।

तब हमलोग भी पहलेकी की हुई गुप्त मन्त्रणाका स्मरण करके उदास हो गये। महाराज ! फिर तो हम मथुरासे भाग खड़े हुए ॥ ४७½ ॥

पृथक्त्वेन महाराज संक्षिप्य महतीं श्रियम् ॥ ४८ ॥
पलायामो भयात् तस्य ससुतज्ञातिबान्धवाः।
इति संचिन्त्य सर्वे स्म प्रतीचीं दिशमाश्रिताः ॥ ४९ ॥

राजन् ! उस समय हमने यही निश्चय किया कि 'यहाँकी विशाल सम्पत्तिको पृथक्-पृथक् बाँटकर थोड़ी-थोड़ी करके पुत्र एवं भाई-बन्धुओंके साथ शत्रुके भयसे भाग चलें।' ऐसा विचार करके हम सबने पश्चिम दिशाकी शरण ली ॥४८-४९॥

कुशस्थलीं पुरीं रम्यां रैवतेनोपशोभिताम्।
ततो निवेशं तस्यां च कृतवन्तो वयं नृप ॥ ५० ॥

और राजन् ! रैवतक पर्वतसे सुशोभित रमणीय कुशस्थली पुरीमें जाकर हमलोग निवास करने लगे ॥ ५० ॥

तथैव दुर्गसंस्कारं देवैरपि दुरासदम्।
स्त्रियोऽपि यस्यां युध्येयुः किमु वृष्णिमहारथाः॥ ५१ ॥

हमने कुशस्थली दुर्गकी ऐसी मरम्मत करायी कि देवताओंके लिये भी उसमें प्रवेश करना कठिन हो गया। अब तो उस दुर्गमें रहकर स्त्रियाँ भी युद्ध कर सकती हैं, फिर वृष्णिकुलके महारथियोंकी तो बात ही क्या है ? ॥५१॥

तस्यां वयममित्रघ्न निवसामोऽकुतोभयाः।
आलोच्य गिरिमुख्यं तं मागधं तीर्णमेव च ॥ ५२ ॥
माधवाः कुरुशार्दूल परां मुदमवाप्नुवन्।

शत्रुसूदन ! हमलोग द्वारकापुरीमें सब ओरसे निर्भय होकर रहते हैं। कुरुश्रेष्ठ ! गिरिराज रैवतककी दुर्गमताका विचार करके अपनेको जरासंधके संकटसे पार हुआ मानकर हम सभी मधुवंशियोंको बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई है ॥ ५२½ ॥

एवं वयं जरासंधादभितः कृतकिल्बिषाः ॥ ५३ ॥
सामर्थ्यवन्तः सम्बन्धाद् गोमन्तं समुपाश्रिताः।

राजन् ! हम जरासंधके अपराधी हैं, अतः शक्तिशाली होते हुए भी जिस स्थानसे हमारा सम्बन्ध था, उसे छोड़कर गोमान् (रैवतक) पर्वतके आश्रयमें आ गये हैं ॥ ५३½ ॥

त्रियोजनायतं सद्म त्रिस्कन्धं योजनावधि ॥ ५४ ॥
योजनान्ते शतद्वारं वीरविक्रमतोरणम्।
अष्टादशावरैर्नद्धं क्षत्रियैर्युद्धदुर्मदैः ॥ ५५ ॥

रैवतक दुर्गकी लंबाई तीन योजनकी है। एक-एक योजनपर सेनाओंके तीन-तीन दलोंकी छावनी है। प्रत्येक योजनके अन्तमें सौ-सौ द्वार हैं, जो सेनाओंसे सुरक्षित हैं। वीरोंका पराक्रम ही उस गढ़का प्रधान फाटक है। युद्धमें उन्मत्त होकर पराक्रम दिखानेवाले अठारह यादववंशी क्षत्रियोंसे वह दुर्ग सुरक्षित है ॥ ५४-५५ ॥

अष्टादश सहस्राणि भ्रातृणां सन्ति नः कुले।
आहुकस्य शतं पुत्रा एकैकस्त्रिदशावरः ॥ ५६ ॥

हमारे कुलमें अठारह हजार भाई हैं। आहुकके सौ पुत्र हैं, जिनमेंसे एक-एक देवताओंके समान पराक्रमी हैं ॥५६॥

चारुदेष्णः सह भ्रात्रा चक्रदेवोऽथ सात्यकिः।
अहं च रौहिणेयश्च साम्बः प्रद्युम्न एव च ॥ ५७ ॥
एवमेतेऽतिरथाः सप्त राजन्नन्यान् निबोध मे।
कृतवर्मा ह्यनाधृष्टिः समीकः समितिंजयः ॥ ५८ ॥
कङ्कः शङ्कुश्च कुन्तिश्च सप्तैते वै महारथाः।
पुत्रौ चान्धकभोजस्य वृद्धो राजा च ते दश ॥ ५९ ॥

अपने भाईके साथ चारुदेष्ण, चक्रदेव, सात्यकि, मैं, बलरामजी, साम्ब और प्रद्युम्न—ये सात अतिरथी वीर हैं। राजन् ! अब मुझसे दूसरोंका परिचय सुनिये। कृतवर्मा, अनाधृष्टि, समीक, समितिंजय, कङ्क, शङ्कु और कुन्ति—ये सात महारथी हैं। अन्धक भोजके दो पुत्र और बूढ़े राजा उग्रसेनको भी गिन लेनेपर उन महारथियोंकी संख्या दस हो जाती है ॥ ५७-५९ ॥

वज्रसंहनना वीरा वीर्यवन्तो महारथाः।
स्मरन्तो मध्यमं देशं वृष्णिमध्ये व्यवस्थिताः ॥ ६० ॥

ये सभी वीर वज्रके समान सुदृढ़ शरीरवाले, पराक्रमी और महारथी हैं, जो मध्यदेशका स्मरण करते हुए वृष्णिकुलमें निवास करते हैं ॥ ६० ॥

(विदूरथश्च बभ्रू च उद्धवोऽथ विदूरथः।
वसुदेवोग्रसेनौ च सप्तैते मन्त्रिपुङ्गवाः ॥
प्रसेनजिच्च यमलो राजराजगुणान्वितः।
स्यमन्तको मणिर्यस्य रुक्मं निस्रवते बहु ॥)

वितद्रु, झल्लि, बभ्रु, उद्धव, विदूरथ, वसुदेव तथा उग्रसेन—ये सात मुख्य मन्त्री हैं। प्रसेनजित् और सत्राजित्—ये दोनों जुड़वें बन्धु कुबेरोपम सद्गुणोंसे सुशोभित हैं। उनके पास जो 'स्यमन्तक' नामक मणि है, उससे प्रचुरमात्रामें सुवर्ण झरता रहता है ॥

स त्वं सम्राड्गुणैर्युक्तः सदा भरतसत्तम।
क्षत्रे सम्राजमात्मानं कर्तुमर्हसि भारत ॥ ६१ ॥

भरतवंशशिरोमणे! आप सदा ही सम्राट्के गुणोंसे युक्त हैं। अतः भारत! आपको क्षत्रियसमाजमें अपनेको सम्राट् बना लेना चाहिये ॥ ६१ ॥

(दुर्योधनं शान्तनवं द्रोणं द्रौणायनिं कृपम्।
कर्णं च शिशुपालं च रुक्मिणं च धनुर्धरम् ॥
एकलव्यं द्रुमं श्वेतं शैब्यं शकुनिमेव च।
एतानजित्वा संग्रामे कथं शक्नोषि तं क्रतुम् ॥
अथैते गौरवेणैव न योत्स्यन्ति नराधिपाः।)

दुर्योधन, भीष्म, द्रोण, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, कर्ण, शिशुपाल, रुक्मी, धनुर्धर एकलव्य, द्रुम, श्वेत, शैब्य तथा शकुनि—इन सब वीरोंको संग्राममें जीते बिना आप कैसे वह यज्ञ कर सकते हैं? परंतु ये नरश्रेष्ठ आपका गौरव मानकर युद्ध नहीं करेंगे ॥

न तु शक्यं जरासंधे जीवमाने महाबले।
राजसूयस्त्वयावाप्तुमेषा राजन् मतिर्मम ॥ ६२ ॥

किंतु राजन्! मेरी सम्मति यह है कि जबतक महाबली जरासंध जीवित है, तबतक आप राजसूय यज्ञ पूर्ण नहीं कर सकते ॥ ६२ ॥

तेन रुद्धा हि राजानः सर्वे जित्वा गिरिव्रजे।
कन्दरे पर्वतेन्द्रस्य सिंहेनेव महाद्विपाः ॥ ६३ ॥

उसने सब राजाओंको जीतकर गिरिव्रजमें इस प्रकार कैद कर रक्खा है, मानो सिंहने किसी महान् पर्वतकी गुफामें बड़े-बड़े गजराजोंको रोक रक्खा हो ॥ ६३ ॥

स हि राजा जरासंधो यियक्षुर्वसुधाधिपैः।
महादेवं महात्मानमुमापतिमरिंदम ॥ ६४ ॥
आराध्य तपसोग्रेण निर्जितास्तेन पार्थिवाः।
प्रतिज्ञायाश्च पारं स गतः पार्थिवसत्तम ॥ ६५ ॥

शत्रुदमन! राजा जरासंधने उमावल्लभ महात्मा महादेवजीकी उग्र तपस्याके द्वारा आराधना करके एक विशेष प्रकारकी शक्ति प्राप्त कर ली है; इसीलिये वे सभी राजा उससे परास्त हो गये हैं। वह राजाओंकी बलि देकर एक यज्ञ करना चाहता है। नृपश्रेष्ठ! वह अपनी प्रतिज्ञा प्रायः पूरी कर चुका है ॥ ६४-६५ ॥

स हि निर्जित्य निर्जित्य पार्थिवान् पृतनागतान्।
पुरमानीय बद्ध्वा च चकार पुरुषव्रजम् ॥ ६६ ॥

क्योंकि उसने सेनाके साथ आये हुए राजाओंको एक एक करके जीता है और अपनी राजधानीमें लाकर उन्हें कैद करके राजाओंका बहुत बड़ा समुदाय एकत्र कर लिया है ॥ ६६ ॥

वयं चैव महाराज जरासंधभयात् तदा।
मथुरां सम्परित्यज्य गता द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६७ ॥

महाराज! उस समय हम भी जरासंधके भयसे ही पीडित हो मथुराको छोड़कर द्वारकापुरीमें चले गये (और अबतक वहीं निवास करते हैं) ॥ ६७ ॥

यदि त्वेनं महाराज यज्ञं प्राप्तुमभीप्ससि।
यतस्व तेषां मोक्षाय जरासंधवधाय च ॥ ६८ ॥

राजन्! यदि आप इस यज्ञको पूर्णरूपसे सम्पन्न करना चाहते हैं तो उन कैदी राजाओंको छुड़ाने और जरासंधको मारनेका प्रयत्न कीजिये ॥ ६८ ॥

समारम्भो न शक्योऽयमन्यथा कुरुनन्दन।
राजसूयश्च कार्त्स्न्येन कर्तुं मतिमतां वर ॥ ६९ ॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुनन्दन! ऐसा किये बिना राजसूय यज्ञका आयोजन पूर्णरूपसे सफल न हो सकेगा ॥ ६९ ॥

(जरासंधवधोपायश्चिन्त्यतां भरतर्षभ।
तस्मिन् जिते जितं सर्वं सकलं पार्थिवं बलम् ॥)

भरतश्रेष्ठ! आप जरासंधके वधका उपाय सोचिये। उसके जीत लिये जानेपर समस्त भूपालोंकी सेनाओंपर विजय प्राप्त हो जायगी ॥

इत्येषा मे मती राजन् यथा वा मन्यसेऽनघ।
एवंगते ममाचक्ष्व स्वयं निश्चित्य हेतुभिः ॥ ७० ॥

निष्पाप नरेश! मेरा मत तो यही है, फिर आप जैसा उचित समझें, करें। ऐसी दशामें स्वयं हेतु और युक्तियोंद्वारा कुछ निश्चय करके मुझे बताइये ॥ ७० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये चतुर्दशोऽध्यायः ॥ १४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक चौदहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५½ श्लोक मिलाकर कुल ७५½ श्लोक हैं)

पञ्चदशोऽध्यायः

जरासंधके विषयमें राजा युधिष्ठिर, भीम और श्रीकृष्णकी बातचीत

युधिष्ठिर उवाच

उक्तं त्वया बुद्धिमता यन्नान्यो वक्तुमर्हति।
संशयानां हि निर्मोक्ता त्वन्नान्यो विद्यते भुवि॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण! आप परम बुद्धिमान् हैं, आपने जैसी बात कही है, वैसी दूसरा कोई नहीं कह सकता। इस पृथ्वीपर आपके सिवा समस्त संशयोंको मिटानेवाला और कोई नहीं है॥ १॥

गृहे गृहे हि राजानः स्वस्य स्वस्य प्रियंकराः।
न च साम्राज्यमाप्तास्ते सम्राट्छब्दो हि कृच्छ्रभाक्॥

आजकल तो घर-घरमें राजा हैं और सभी अपना-अपना प्रिय कार्य करते हैं, परंतु वे सम्राट्पदको नहीं प्राप्त कर सके; क्योंकि सम्राट्की पदवी बड़ी कठिनाईसे मिलती है॥ २॥

कथं परानुभावज्ञः स्वं प्रशंसितुमर्हति।
परेण समवेतस्तु यः प्रशस्यः स पूज्यते॥ ३॥

जो दूसरोंके प्रभावको जानता है, वह अपनी प्रशंसा कैसे कर सकता है? दूसरेके साथ मुकाबला होनेपर भी जो प्रशंसनीय बना रह जाय, उसीकी सर्वत्र पूजा होती है॥ ३॥

विशाला बहुला भूमिर्बहुरत्नसमाचिता।
दूरं गत्वा विजानाति श्रेयो वृष्णिकुलोद्वह॥ ४॥

वृष्णिकुलभूषण! यह पृथ्वी बहुत विशाल है, अनेक प्रकारके रत्नोंसे भरी हुई है, मनुष्य दूर जाकर (सत्पुरुषोंका संग करके) यह समझ पाता है कि अपना कल्याण कैसे होगा॥४॥

शममेव परं मन्ये शमात् क्षेमं भवेन्मम।
आरम्भे पारमेष्ठ्ये तु न प्राप्यमिति मे मतिः॥ ५॥

मैं तो मन और इन्द्रियोंके संयमको ही सबसे उत्तम मानता हूँ, उसीसे मेरा भला होगा। राजसूय यज्ञका आरम्भ करनेपर भी उसके फलस्वरूप ब्रह्मलोककी प्राप्ति अपने लिये असम्भव है—मेरी तो यही धारणा है॥ ५॥

एवमेते हि जानन्ति कुले जाता मनस्विनः।
कश्चित् कदाचिदेतेषां भवेच्छ्रेष्ठो जनार्दन॥ ६॥

जनार्दन! ये उत्तम कुलमें उत्पन्न मनस्वी सभासद् ऐसा जानते हैं कि इनमें कभी कोई श्रेष्ठ (सर्वविजयी) भी हो सकता है॥ ६॥

वयं चैव महाभाग जरासंधभयात् तदा।
शङ्किताः स्म महाभाग दौरात्म्यात् तस्य चानघ॥ ७॥
अहं हि तव दुर्धर्ष भुजवीर्याश्रयः प्रभो।
नात्मानं बलिनं मन्ये त्वयि तस्माद् विशङ्किते॥ ८॥

पापरहित महाभाग! हम भी जरासंधके भयसे तथा उसकी दुष्टतासे सदा शङ्कित रहते हैं। किसीसे परास्त न होनेवाले प्रभो! मैं तो आपके ही बाहुबलका भरोसा रखता हूँ। जब आप ही जरासंधसे शङ्कित हैं, तब तो मैं अपनेको उसके सामने कदापि बलवान् नहीं मान सकता॥ ७-८॥

त्वत्सकाशाच्च रामाच्च भीमसेनाच्च माधव।
अर्जुनाद् वा महाबाहो हन्तुं शक्यो न वेति वै।
एवं जानन् हि वार्ष्णेय विमृशामि पुनः पुनः॥ ९॥

महाबाहु माधव! आपसे, बलरामजीसे, भीमसेनसे अथवा अर्जुनसे वह मारा जा सकता है या नहीं? वार्ष्णेय! (आपकी शक्ति अनन्त है,) यह जानते हुए भी मैं बार-बार इसी बातपर विचार करता रहता हूँ॥ ९॥

त्वं मे प्रमाणभूतोऽसि सर्वकार्येषु केशव।
तच्छ्रुत्वा चाब्रवीद् भीमो वाक्यं वाक्यविशारदः॥१०॥

केशव! मेरे लिये सभी कार्योंमें आप ही प्रमाण हैं। युधिष्ठिरका यह वचन सुनकर बोलनेमें चतुर भीमसेनने यह वचन कहा॥

भीम उवाच

अनारम्भपरो राजा वल्मीक इव सीदति।
दुर्बलश्चानुपायेन बलिनं योऽधितिष्ठति॥ ११॥

भीमसेन बोले—महाराज! जो राजा उद्योग नहीं करता तथा जो दुर्बल होकर भी उचित उपाय अथवा युक्तिसे काम न लेकर किसी बलवान्से भिड़ जाता है, वे दोनों दीमकोंके बनाये हुए मिट्टीके ढेरके समान नष्ट हो जाते हैं॥११॥

अतन्द्रितश्च प्रायेण दुर्बलो बलिनं रिपुम्।
जयेत् सम्यक् प्रयोगेण नीत्यार्थानात्मनो हितान्॥१२॥

परंतु जो आलस्य त्यागकर उत्तम युक्ति एवं नीतिसे काम लेता है, वह दुर्बल होनेपर भी बलवान् शत्रुको जीत लेता है और अपने लिये हितकर एवं अभीष्ट अर्थ प्राप्त करता है॥ १२॥

कृष्णे नयो मयि बलं जयः पार्थे धनंजये।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः॥ १३॥

श्रीकृष्णमें नीति है, मुझमें बल है और अर्जुनमें विजयकी शक्ति है। हम तीनों मिलकर मगधराज जरासंधके वधका कार्य पूरा कर लेंगे; ठीक उसी तरह, जैसे तीनों अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि कर देती हैं॥ १३॥

(त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट्।
जयोऽस्माकं हि गोविन्द येषां नाथो भवान् सदा॥)

गोविन्द ! आपके बुद्धिबलका आश्रय लेकर धर्मराज युधिष्ठिर सब कुछ पा सकते हैं। जिनकी सदा रक्षा करनेवाले आप हैं, उनकी—हम पाण्डवोंकी विजय निश्चित है ॥

कृष्ण उवाच

अर्थानारभते बालो नानुबन्धमवेक्षते।
तस्मादरिं न मृष्यन्ति बालमर्थपरायणम् ॥ १४ ॥
जित्वा जय्यान् यौवनाश्विः पालनाच्च भगीरथः।
कार्तवीर्यस्तपोवीर्याद् बलात् तु भरतो विभुः ॥ १५ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन् ! अज्ञानी मनुष्य बड़े-बड़े कार्योंका आरम्भ तो कर देता है, परंतु उनके परिणामकी ओर नहीं देखता। अतः केवल अपने स्वार्थसाधनमें लगे हुए विवेकशून्य शत्रुके व्यवहारको वीर पुरुष नहीं सह सकते। युवनाश्वके पुत्र मान्धाताने जीतने योग्य शत्रुओंको जीतकर सम्राट्का पद प्राप्त किया था। भगीरथ प्रजाका पालन करनेसे, कार्तवीर्य (सहस्रबाहु अर्जुन) तपोबलसे तथा राजा भरत स्वाभाविक बलसे सम्राट् हुए थे ॥ १४-१५ ॥

ऋद्धया मरुत्तस्तान् पञ्च सम्राजस्त्वनुशुश्रुम।
साम्राज्यमिच्छतस्ते तु सर्वाकारं युधिष्ठिर ॥ १६ ॥
निग्राह्यलक्षणं प्राप्तिर्धर्मार्थनयलक्षणैः ॥ १७ ॥

इसी प्रकार राजा मरुत्त अपनी समृद्धिके प्रभावसे सम्राट् बने थे। अबतक उन पाँच सम्राटोंका ही नाम हम सुनते आ रहे हैं। युधिष्ठिर ! वे मान्धाता आदि एक-एक गुणसे ही सम्राट् हो सके थे; परंतु आप तो सम्पूर्णरूपसे सम्राट्-पद प्राप्त करना चाहते हैं। साम्राज्य-प्राप्तिके जो पाँच गुण—शत्रुविजय, प्रजापालन, तपःशक्ति, धन-समृद्धि और उत्तम नीति हैं, उन सबसे आप सम्पन्न हैं ॥ १६-१७ ॥

बार्हद्रथो जरासंधस्तद् विद्धि भरतर्षभ।
न चैनमनुरुद्ध्यन्ते कुलान्येकशतं नृपाः।
तस्मादिह बलादेव साम्राज्यं कुरुते हि सः ॥ १८ ॥

परंतु भरतश्रेष्ठ ! आपके मार्गमें बृहद्रथका पुत्र जरासंध बाधक है, यह आपको जान लेना चाहिये। क्षत्रियोंके जो एक सौ कुल हैं, वे कभी उसका अनुसरण नहीं करते, अतः वह बलसे ही अपना साम्राज्य स्थापित कर रहा है ॥ १८ ॥

रत्नभाजो हि राजानो जरासंधमुपासते।
न च तुष्यति तेनापि बाल्यादनयमास्थितः ॥ १९ ॥

जो रत्नोंके अधिपति हैं, ऐसे राजा लोग (धन देकर) जरासंधकी उपासना करते हैं, परंतु वह उससे भी संतुष्ट नहीं होता। अपनी विवेकशून्यताके कारण अन्यायका आश्रय ले उनपर अत्याचार ही करता है ॥ १९ ॥

मूर्धाभिषिक्तं नृपतिं प्रधानपुरुषो बलात्।
आदत्ते न च नो दृष्टोऽभागः पुरुषतः क्वचित् ॥ २० ॥

आजकल वह प्रधान पुरुष बनकर मूर्धाभिषिक्त राजाको बलपूर्वक बंदी बना लेता है। जिनका विधिपूर्वक राज्याभिषेक हुआ है, ऐसे पुरुषोंमेंसे कहीं किसी एकको भी हमने ऐसा नहीं देखा, जिसे उसने बलिका भाग न बना लिया हो—कैदमें न डाल रक्खा हो ॥ २० ॥

एवं सर्वान् वशे चक्रे जरासंधः शतावरान्।
तं दुर्बलतरो राजा कथं पार्थ उपैष्यति ॥ २१ ॥

इस प्रकार जरासंधने लगभग सौ राजकुलोंके राजाओंमेंसे कुछको छोड़कर सबको वशमें कर लिया है। कुन्तीनन्दन ! कोई अत्यन्त दुर्बल राजा उससे भिड़नेका साहस कैसे करेगा ।२१।

प्रोक्षितानां प्रमृष्टानां राज्ञां पशुपतेर्गृहे।
पशूनामिव का प्रीतिर्जीविते भरतर्षभ ॥ २२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! रुद्र देवताको बलि देनेके लिये जल छिड़ककर एवं मार्जन करके शुद्ध किये हुए पशुओंकी भाँति जो पशुपतिके मन्दिरमें कैद हैं, उन राजाओंको अब अपने जीवनमें क्या प्रीति रह गयी है ! ॥ २२ ॥

क्षत्रियः शस्त्रमरणो यदा भवति सत्कृतः।
ततः स्म मागधं संख्ये प्रतिबाधेम यद् वयम् ॥ २३ ॥

क्षत्रिय जब युद्धमें अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा मारा जाता है, तब यह उसका सत्कार है; अतः हमलोग जरासंधको द्वन्द्व-युद्धमें मार डालें ॥ २३ ॥

षडशीतिः समानीताः शेषा राजंश्चतुर्दश।
जरासंधेन राजानस्ततः क्रूरं प्रवर्त्स्यते ॥ २४ ॥

राजन् ! जरासंधने सौमेंसे छियासी (प्रतिशत) राजाओंको तो कैद कर लिया है, केवल चौदह (प्रतिशत) बाकी हैं। उनको भी बंदी बनानेके पश्चात् वह क्रूर कर्ममें प्रवृत्त होगा ॥ २४ ॥

प्राप्नुयात् स यशो दीप्तं तत्र यो विघ्नमाचरेत्।
जयेद् यश्च जरासंधं स सम्राण्नियतं भवेत् ॥ २५ ॥

जो उसके इस कर्ममें विघ्न डालेगा, वह उज्ज्वल यशका भागी होगा तथा जो जरासंधको जीत लेगा, वह निश्चय ही सम्राट् होगा ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि कृष्णवाक्ये पञ्चदशोऽध्यायः ॥ १५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें श्रीकृष्णवाक्यविषयक पंद्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २६ श्लोक हैं)

षोडशोऽध्यायः

जरासंधको जीतनेके विषयमें युधिष्ठिरके उत्साहहीन होनेपर अर्जुनका उत्साहपूर्ण उद्गार

युधिष्ठिर उवाच

सम्राड्गुणमभीप्सन् वै युष्मान् स्वार्थपरायणः।
कथं प्रहिणुयां कृष्ण सोऽहं केवलसाहसात्॥ १॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मैं सम्राट्के गुणोंको प्राप्त करनेकी इच्छा रखकर स्वार्थसाधनमें तत्पर हो केवल साहसके भरोसे आपलोगोंको जरासंधके पास कैसे भेज दूँ ?

भीमार्जुनावुभौ नेत्रे मनो मन्ये जनार्दनम्।
मनश्चक्षुर्विहीनस्य कीदृशं जीवितं भवेत्॥ २॥

भीमसेन और अर्जुन मेरे दोनों नेत्र हैं और जनार्दनको मैं अपना मन मानता हूँ। अपने मन और नेत्रोंको खो देनेपर मेरा यह जीवन कैसा हो जायगा ?॥ २॥

जरासंधबलं प्राप्य दुष्पारं भीमविक्रमम्।
यमोऽपि न विजेताऽऽजौ तत्र वः किं विचेष्टितम्॥ ३॥

जरासंधकी सेनाका पार पाना कठिन है। उसका पराक्रम भयानक है। युद्धमें उस सेनाका सामना करके यमराज भी विजयी नहीं हो सकते, फिर वहाँ आपलोगोंका प्रयत्न क्या कर सकता है ?॥ ३॥

(कथं जित्वा पुनर्यूयमस्मान् सम्प्रति यास्यथ।)
अस्मिंस्त्वर्थान्तरे युक्तमनर्थः प्रतिपद्यते।
यस्मान्न प्रतिपत्तिस्तु कार्या युक्ता मता मम॥ ४॥

आपलोग किस प्रकार उसे जीतकर फिर हमारे पास लौट सकेंगे ? यह कार्य हमारे लिये इष्ट फलके विपरीत फल देनेवाला जान पड़ता है। इसमें लगे हुए मनुष्यको निश्चय ही अनर्थकी प्राप्ति होती है। इसलिये अबतक हम जिसे करना चाहते थे, उस राजसूय यज्ञकी ओर ध्यान देना उचित नहीं जान पड़ता॥ ४॥

यथाहं विमृशाम्येकस्तत् तावच्छ्रूयतां मम।
संन्यासं रोचये साधु कार्यस्यास्य जनार्दन।
प्रतिहन्ति मनो मेऽद्य राजसूयो दुराहरः॥ ५॥

जनार्दन ! इस विषयमें मैं अकेले जैसा सोचता हूँ, मेरे उस विचारको आप सुनें। मुझे तो इस कार्यको छोड़ देना ही अच्छा लगता है। राजसूय यज्ञका अनुष्ठान बहुत कठिन है। अब यह मेरे मनको निरुत्साह कर रहा है॥ ५॥

वैशम्पायन उवाच

पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्ये च महेषुधी।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत॥ ६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कुन्तीनन्दन अर्जुन उत्तम गाण्डीव धनुष, दो अक्षय तूणीर, दिव्य रथ, ध्वजा और सभा प्राप्त कर चुके थे; इससे उत्साहित होकर वे युधिष्ठिरसे बोले॥ ६॥

अर्जुन उवाच

धनुः शस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम्।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम्॥ ७॥

अर्जुनने कहा—राजन् ! धनुष, शस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रेष्ठ सहायक, भूमि, यश और बलकी प्राप्ति बड़ी कठिनाईसे होती है; किंतु ये सभी दुर्लभ वस्तुएँ मुझे अपनी इच्छाके अनुकूल प्राप्त हुई हैं॥ ७॥

कुले जन्म प्रशंसन्ति वैद्याः साधु सुनिष्ठिताः।
बलेन सदृशं नास्ति वीर्यं तु मम रोचते॥ ८॥

अनुभवी विद्वान् उत्तम कुलमें जन्मकी बड़ी प्रशंसा करते हैं; परंतु बलके समान वह भी नहीं है। मुझे तो बल-पराक्रम ही श्रेष्ठ जान पड़ता है॥ ८॥

कृतवीर्यकुले जातो निर्वीर्यः किं करिष्यति।
निर्वीर्ये तु कुले जातो वीर्यवांस्तु विशिष्यते॥ ९॥

महापराक्रमी राजा कृतवीर्यके कुलमें उत्पन्न होकर भी जो स्वयं निर्बल है, वह क्या करेगा ? निर्बल कुलमें जन्म लेकर भी जो बलवान् और पराक्रमी है, वही श्रेष्ठ है॥ ९॥

क्षत्रियः सर्वशो राजन् यस्य वृत्तिर्द्विषज्जये।
सर्वैर्गुणैर्विहीनोऽपि वीर्यवान् हि तरेद् रिपून्॥ १०॥

महाराज ! शत्रुओंको जीतनेमें जिसकी प्रवृत्ति हो, वही सब प्रकारसे श्रेष्ठ क्षत्रिय है। बलवान् पुरुष सब गुणोंसे हीन हो, तो भी वह शत्रुओंके संकटसे पार हो सकता है॥

सर्वैरपि गुणैर्युक्तो निर्वीर्यः किं करिष्यति।
गुणीभूता गुणाः सर्वे तिष्ठन्ति हि पराक्रमे॥ ११॥

जो निर्बल है, वह सर्वगुणसम्पन्न होकर भी क्या करेगा ? पराक्रममें सभी गुण उसके अङ्ग बनकर रहते हैं॥

जयस्य हेतुः सिद्धिर्हि कर्म दैवं च संश्रितम्।
संयुक्तो हि बलैः कश्चित् प्रमादान्नोपयुज्यते॥ १२॥

महाराज ! सिद्धि (मनोयोग) और प्रारब्धके अनुकूल पुरुषार्थ ही विजयका हेतु है। कोई बलसे संयुक्त होनेपर भी प्रमाद करे—कर्तव्यमें मन न लगावे, तो वह अपने उद्देश्यमें सफल नहीं हो सकता॥ १२॥

तेन द्वारेण शत्रुभ्यः क्षीयते सबलो रिपुः॥ १३॥

प्रमादरूप छिद्रके कारण बलवान् शत्रु भी अपने शत्रुओं-द्वारा मारा जाता है॥ १३॥

दैन्यं यथा बलवति तथा मोहो बलान्विते।
तावुभौ नाशकौ हेतू राज्ञा त्याज्यौ जयार्थिना ॥ १४ ॥

बलवान् पुरुषमें जैसे दीनताका होना बड़ा भारी दोष है, वैसे ही बलिष्ठ पुरुषमें मोहका होना भी महान् दुर्गुण है। दीनता और मोह दोनों विनाशके कारण हैं; अतः विजय चाहनेवाले राजाके लिये ये दोनों ही त्याज्य हैं ॥ १४ ॥

जरासंधविनाशं च राज्ञां च परिरक्षणम्।
यदि कुर्याम यज्ञार्थं किं ततः परमं भवेत् ॥ १५ ॥

यदि हम राजसूय यज्ञकी सिद्धिके लिये जरासंधका विनाश तथा कैदमें पड़े हुए राजाओंकी रक्षा कर सकें तो इससे उत्तम और क्या हो सकता है ? ॥ १५ ॥

अनारम्भे हि नियतो भवेदगुणनिश्चयः।
गुणान्निःसंशयाद् राजन् नैर्गुण्यं मन्यसे कथम् ॥ १६ ॥

यदि हम यज्ञका आरम्भ नहीं करते हैं तो निश्चय ही हमारी अयोग्यता एवं दुर्बलता प्रकट होती है; अतः राजन्! सुनिश्चित गुणकी उपेक्षा करके आप निर्गुणताको क्यों स्वीकार कर रहे हैं ? ॥ १६ ॥

काषायं सुलभं पश्चान्मुनीनां शममिच्छताम्।
साम्राज्यं तु भवेच्छक्यं वयं योत्स्यामहे परान् ॥ १७ ॥

ऐसा करनेपर तो शान्तिकी इच्छा रखनेवाले संन्यासियोंका गेरुआ वस्त्र ही हमें सुलभ होगा, परंतु हमलोग साम्राज्य प्राप्त करनेमें समर्थ हैं; अतः हमलोग शत्रुओंसे अवश्य युद्ध करेंगे ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधवधमन्त्रणे षोडशोऽध्यायः ॥ १६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधवधके लिये मन्त्रणाविषयक सोलहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १६ ॥

सप्तदशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा अर्जुनकी बातका अनुमोदन तथा युधिष्ठिरको जरासंधकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग सुनाना

वासुदेव उवाच

जातस्य भारते वंशे तथा कुन्त्याः सुतस्य च।
या वै युक्ता मतिः सेयमर्जुनेन प्रदर्शिता ॥ १ ॥

भगवान् श्रीकृष्णने कहा—राजन्! भरतवंशमें उत्पन्न पुरुष और कुन्ती-जैसी माताके पुत्रकी जैसी बुद्धि होनी चाहिये, अर्जुनने यहाँ उसीका परिचय दिया है ॥ १ ॥

न स्म मृत्युं वयं विद्म रात्रौ वा यदि वा दिवा।
न चापि कंचिदमरमयुद्धेनानुशुश्रुम ॥ २ ॥

महाराज! हमलोग यह नहीं जानते कि मौत कब आयेगी? रातमें आयेगी या दिनमें! (क्योंकि उसके नियत समयका ज्ञान किसीको नहीं है।) हमने यह भी नहीं सुना है कि युद्ध न करनेके कारण कोई अमर हो गया हो ॥ २ ॥

एतावदेव पुरुषैः कार्यं हृदयतोषणम्।
नयेन विधिदृष्टेन यदुपक्रमते परान् ॥ ३ ॥

अतः वीर पुरुषोंका इतना ही कर्तव्य है कि वे अपने हृदयके संतोषके लिये नीतिशास्त्रमें बतायी हुई नीतिके अनुसार शत्रुओंपर आक्रमण करें ॥ ३ ॥

सुनयस्यानपायस्य संयोगे परमः क्रमः।
संगत्या जायतेऽसाम्यं साम्यं च न भवेद् द्वयोः ॥ ४ ॥

दैव आदिकी प्रतिकूलतासे रहित अच्छी नीति एवं सलाह प्राप्त होनेपर आरम्भ किया हुआ कार्य पूर्णरूपसे सफल होता है। शत्रुके साथ भिड़नेपर ही दोनों पक्षोंका अन्तर ज्ञात होता है। दोनों दल सभी बातोंमें समान ही हों, ऐसा सम्भव नहीं ॥ ४ ॥

अनयस्यानुपायस्य संयुगे परमः क्षयः।
संशयो जायते साम्याज्जयश्च न भवेद् द्वयोः ॥ ५ ॥

जिसने अच्छी नीति नहीं अपनायी है और उत्तम उपायसे काम नहीं लिया है, उसका युद्धमें सर्वथा विनाश होता है। यदि दोनों पक्षोंमें समानता हो, तो संशय ही रहता है तथा दोनोंमेंसे किसीकी भी जय अथवा पराजय नहीं होती ॥ ५ ॥

ते वयं नयमास्थाय शत्रुदेहसमीपगाः।
कथमन्तं न गच्छेम वृक्षस्येव नदीरयाः।
पररन्ध्रे पराक्रान्ताः स्वरन्ध्रावरणे स्थिताः ॥ ६ ॥

जब हमलोग नीतिका आश्रय लेकर शत्रुके शरीरके निकटतक पहुँच जायँगे, तब जैसे नदीका वेग किनारेके वृक्षको नष्ट कर देता है, उसी प्रकार हम शत्रुका अन्त क्यों न कर डालेंगे? हम अपने छिद्रोंको छिपाये रखकर शत्रुके छिद्रको देखेंगे और अवसर मिलते ही उसपर बलपूर्वक आक्रमण कर देंगे ॥ ६ ॥

व्यूढानीकैरतिबलैर्न युद्ध्येदरिभिः सह।
इति बुद्धिमतां नीतिस्तन्ममापीह रोचते ॥ ७ ॥

जिनकी सेनाएँ मोर्चा बाँधकर खड़ी हों और जो अत्यन्त बलवान् हों, ऐसे शत्रुओंके साथ (सम्मुख होकर) युद्ध नहीं करना चाहिये; यह बुद्धिमानोंकी नीति है। वही नीति यहाँ मुझे भी अच्छी लगती है ॥ ७ ॥

अनवद्या ह्यसम्बुद्धाः प्रविष्टाः शत्रुसद्म तत्।
शत्रुदेहमुपाक्रम्य तं कामं प्राप्नुयामहे ॥ ८ ॥

यदि हम छिपे-छिपे शत्रुके घरतक पहुँच जायँ तो

हमारे लिये कोई निन्दाकी बात नहीं होगी। फिर हम शत्रुके शरीरपर आक्रमण करके अपना काम बना लेंगे ॥ ८ ॥

एको ह्येव श्रियं नित्यं बिभर्ति पुरुषर्षभः।
अन्तरात्मेव भूतानां तत्क्षयं नैव लक्षये ॥ ९ ॥

यह पुरुषोंमें श्रेष्ठ जरासंध प्राणियोंके भीतर स्थित आत्माकी भाँति सदा अकेला ही साम्राज्यलक्ष्मीका उपभोग करता है; अतः उसका और किसी उपायसे नाश होता नहीं दिखायी देता (उसके विनाशके लिये हमें स्वयं प्रयत्न करना होगा) ॥ ९ ॥

अथवैनं निहत्याजौ शेषेणापि समाहताः।
प्राप्नुयाम ततः स्वर्गं ज्ञातित्राणपरायणाः ॥ १० ॥

अथवा यदि जरासंधको युद्धमें मारकर उसके पक्षमें रहनेवाले शेष सैनिकोंद्वारा हम भी मारे गये, तो भी हमें कोई हानि नहीं है। अपने जातिभाइयोंकी रक्षामें संलग्न होनेके कारण हमें स्वर्गकी ही प्राप्ति होगी ॥ १० ॥

युधिष्ठिर उवाच

कृष्ण कोऽयं जरासंधः किंवीर्यः किम्पराक्रमः।
यस्त्वां स्पृष्ट्वाग्निसदृशं न दग्धः शलभो यथा ॥ ११ ॥

युधिष्ठिरने पूछा—श्रीकृष्ण! यह जरासंध कौन है? उसका बल और पराक्रम कैसा है? जो प्रज्वलित अग्निके समान आपका स्पर्श करके भी पतंगके समान जलकर भस्म नहीं हो गया? ॥ ११ ॥

कृष्ण उवाच

शृणु राजञ्जरासंधो यद्वीर्यो यत्पराक्रमः।
यथा चोपेक्षितोऽस्माभिर्बहुशः कृतविप्रियः ॥ १२ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन्! जरासंधका बल और पराक्रम कैसा है तथा अनेक बार हमारा अप्रिय करनेपर भी हमलोगोंने क्यों उसकी उपेक्षा कर दी, यह सब बता रहा हूँ, सुनिये ॥ १२ ॥

अक्षौहिणीनां तिसृणां पतिः समरदर्पितः।
राजा बृहद्रथो नाम मगधाधिपतिर्बली ॥ १३ ॥

मगधदेशमें बृहद्रथ नामसे प्रसिद्ध एक बलवान् राजा राज्य करते थे। वे तीन अक्षौहिणी सेनाओंके स्वामी और युद्धमें बड़े अभिमानके साथ लड़नेवाले थे ॥ १३ ॥

रूपवान् वीर्यसम्पन्नः श्रीमानतुलविक्रमः।
नित्यं दीक्षाङ्किततनुः शतक्रतुरिवापरः ॥ १४ ॥

राजा बृहद्रथ बड़े ही रूपवान्, बलवान्, धनवान् और अनुपम पराक्रमी थे। उनका शरीर दूसरे इन्द्रकी भाँति सदा यज्ञकी दीक्षाके चिह्नोंसे ही सुशोभित होता रहता था ॥ १४ ॥

तेजसा सूर्यसंकाशः क्षमया पृथिवीसमः।
यमान्तकसमः क्रोधे श्रिया वैश्रवणोपमः ॥ १५ ॥

वे तेजमें सूर्य, क्षमामें पृथ्वी, क्रोधमें यमराज और धनसम्पत्तिमें कुबेरके समान थे ॥ १५ ॥

तस्याभिजनसंयुक्तैर्गुणैर्भरतसत्तम।
व्याप्तेयं पृथिवी सर्वा सूर्यस्येव गभस्तिभिः ॥ १६ ॥

भरतश्रेष्ठ! जैसे सूर्यकी किरणोंसे यह सारी पृथ्वी आच्छादित हो जाती है, उसी प्रकार उनके उत्तम कुलोचित सद्गुणोंसे समस्त भूमण्डल व्याप्त हो रहा था—सर्वत्र उनके गुणोंकी चर्चा एवं प्रशंसा होती रहती थी ॥ १६ ॥

स काशिराजस्य सुते यमजे भरतर्षभ।
उपयेमे महावीर्यो रूपद्रविणसंयुते ॥ १७ ॥
तयोश्चकार समयं मिथः स पुरुषर्षभः ॥ १७ ॥
नातिवर्तिष्य इत्येवं पत्नीभ्यां संनिधौ तदा।
स ताभ्यां शुशुभे राजा पत्नीभ्यां वसुधाधिपः ॥ १८ ॥
प्रियाभ्यामनुरूपाभ्यां करेणुभ्यामिव द्विपः।

भरतकुलभूषण! महापराक्रमी राजा बृहद्रथने काशिराजकी दो जुड़वीं कन्याओंके साथ, जो अपनी रूपसम्पत्तिसे अपूर्व शोभा पा रही थीं, विवाह किया और उन नरश्रेष्ठने एकान्तमें अपनी दोनों पत्नियोंके समीप यह प्रतिज्ञा की कि मैं तुम दोनोंके साथ कभी विषम व्यवहार नहीं करूँगा (अर्थात् दोनोंके प्रति समानरूपसे मेरा प्रेमभाव बना रहेगा)। जैसे दो हथिनियोंके साथ गजराज सुशोभित होता है, उसी प्रकार वे महाराज बृहद्रथ अपने मनके अनुरूप दोनों प्रिय पत्नियोंके साथ शोभा पाने लगे ॥ १७-१८½ ॥

तयोर्मध्यगतश्चापि रराज वसुधाधिपः ॥ १९ ॥
गङ्गायमुनयोर्मध्ये मूर्तिमानिव सागरः।

जब वे दोनों पत्नियोंके बीचमें विराजमान होते, उस समय ऐसा जान पड़ता, मानो गङ्गा और यमुनाके बीचमें मूर्तिमान् समुद्र सुशोभित हो रहा हो ॥ १९½ ॥

विषयेषु निमग्नस्य तस्य यौवनमभ्यगात् ॥ २० ॥
न च वंशकरः पुत्रस्तस्याजायत कश्चन।
मङ्गलैर्बहुभिर्होमैः पुत्रकामाभिरिष्टिभिः।
नाससाद नृपश्रेष्ठः पुत्रं कुलविवर्धनम् ॥ २१ ॥

विषयोंमें डूबे हुए राजाकी सारी जवानी बीत गयी, परंतु उन्हें कोई वंश चलानेवाला पुत्र नहीं प्राप्त हुआ। उन श्रेष्ठ नरेशने बहुत-से माङ्गलिक कृत्य, होम और पुत्रेष्टियज्ञ कराये, तो भी उन्हें वंशकी वृद्धि करनेवाले पुत्रकी प्राप्ति नहीं हुई ॥ २०-२१ ॥

अथ काक्षीवतः पुत्रं गौतमस्य महात्मनः।
शुश्राव तपसि श्रान्तमुदारं चण्डकौशिकम् ॥ २२ ॥
यदृच्छयाऽऽगतं तं तु वृक्षमूलमुपाश्रितम्।
पत्नीभ्यां सहितो राजा सर्वरत्नैरतोषयत् ॥ २३ ॥

एक दिन उन्होंने सुना कि गौतमगोत्रीय महात्मा काक्षीवान्‌के पुत्र परम उदार चण्डकौशिक मुनि तपस्यासे उपरत होकर अकस्मात् इधर आ गये हैं और एक वृक्षके नीचे बैठे हैं। यह समाचार पाकर राजा बृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियों (एवं पुरवासियों) के साथ उनके पास गये तथा सब प्रकारके रत्नों (मुनिजनोचित उत्कृष्ट वस्तुओं) की भेंट देकर उन्हें संतुष्ट किया ॥ २२-२३ ॥

(बृहद्रथं च स ऋषिः यथावत् प्रत्यनन्दत ।
उपविष्टश्च तेनाथ अनुज्ञातो महात्मना ॥
तमपृच्छत् तदा विप्रः किमागमनमित्यथ ।
पौरैरनुगतस्यैव पत्नीभ्यां सहितस्य च ॥

महर्षिने भी यथोचित बर्तावद्वारा बृहद्रथको प्रसन्न किया। उन महात्माकी आज्ञा पाकर राजा उनके निकट बैठे। उस समय ब्रह्मर्षि चण्डकौशिकने उनसे पूछा—'राजन्! अपनी दोनों पत्नियों और पुरवासियोंके साथ यहाँ तुम्हारा आगमन किस उद्देश्यसे हुआ है?' ॥

स उवाच मुनिं राजा भगवन् नास्ति मे सुतः ।
अपुत्रस्य वृथा जन्म इत्याहुर्मुनिसत्तम ॥

तब राजाने मुनिसे कहा—'भगवन्! मेरे कोई पुत्र नहीं है। मुनिश्रेष्ठ! लोग कहते हैं कि पुत्रहीन मनुष्यका जन्म व्यर्थ है ॥

तादृशस्य हि राज्येन वृद्धत्वे किं प्रयोजनम् ।
सोऽहं तपश्चरिष्यामि पत्नीभ्यां सहितो वने ॥

'इस बुढ़ापेमें पुत्रहीन रहकर मुझे राज्यसे क्या प्रयोजन है? इसलिये अब मैं दोनों पत्नियोंके साथ तपोवनमें रहकर तपस्या करूँगा ॥

नाप्रजस्य मुने कीर्तिः स्वर्गश्चैवाक्षयो भवेत् ।
एवमुक्तस्य राज्ञा तु मुनेः कारुण्यमागतम् ॥)

'मुने! संतानहीन मनुष्यको न तो इस लोकमें कीर्ति प्राप्त होती है और न परलोकमें अक्षय स्वर्ग ही प्राप्त होता है।' राजाके ऐसा कहनेपर महर्षिको दया आ गयी ॥

तमब्रवीत् सत्यधृतिः सत्यवागृषिसत्तमः ।
परितुष्टोऽस्मि राजेन्द्र वरं वरय सुव्रत ॥ २४ ॥
ततः सभार्यः प्रणतस्तमुवाच बृहद्रथः ।
पुत्रदर्शननैराश्याद् बाष्पसंदिग्धया गिरा ॥ २५ ॥

तब धैर्यमें सम्पन्न और सत्यवादी मुनिवर चण्डकौशिकने राजा बृहद्रथसे कहा—'उत्तम व्रतका पालन करनेवाले राजेन्द्र! मैं तुमपर संतुष्ट हूँ। तुम इच्छानुसार वर माँगो।' यह सुनकर राजा बृहद्रथ अपनी दोनों रानियोंके साथ मुनिके चरणोंमें पड़ गये और पुत्रदर्शनसे निराश होनेके कारण नेत्रोंसे आँसू बहाते हुए गद्गद वाणीमें बोले ॥ २४-२५ ॥

राजोवाच

भगवन् राज्यमुत्सृज्य प्रस्थितोऽहं तपोवनम् ।
किं वरेणाल्पभाग्यस्य किं राज्येनाप्रजस्य मे ॥ २६ ॥

राजाने कहा—भगवन्! मैं तो अब राज्य छोड़कर तपोवनकी ओर चल पड़ा हूँ। मुझ अभागे और संतानहीनको वर अथवा राज्यकी क्या आवश्यकता? ॥ २६ ॥

कृष्ण उवाच

एतच्छ्रुत्वा मुनिर्ध्यानमगमत् क्षुभितेन्द्रियः ।
तस्यैव चाम्रवृक्षस्यच्छायायां समुपाविशत् ॥ २७ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजाका यह कातर वचन सुनकर मुनिकी इन्द्रियाँ क्षुब्ध हो गयीं (उनका हृदय द्रवित हो गया)। तब वे ध्यानस्थ हो गये और उसी आम्रवृक्षकी छायामें बैठे रहे ॥ २७ ॥

तस्योपविष्टस्य मुनेरुत्सङ्गे निपपात ह ।
अवातमशुकादष्टमेकमाम्रफलं किल ॥ २८ ॥

उसी समय वहाँ बैठे हुए मुनिकी गोदमें एक आम्रका फल गिरा। वह न हवाके चलनेसे गिरा था, न किसी तोतेने ही उस फलमें अपनी चोंच गड़ायी थी ॥ २८ ॥

तत् प्रगृह्य मुनिश्रेष्ठो हृदयेनाभिमन्त्र्य च ।
राज्ञे ददावप्रतिमं पुत्रसम्प्राप्तिकारणम् ॥ २९ ॥

मुनिश्रेष्ठ चण्डकौशिकने उस अनुपम फलको हाथमें लिया और उसे मन-ही-मन अभिमन्त्रित करके पुत्रकी प्राप्ति करानेके लिये राजाको दे दिया ॥ २९ ॥

उवाच च महाप्राज्ञस्तं राजानं महामुनिः ।
गच्छ राजन् कृतार्थोऽसि निवर्तस्व नराधिप ॥ ३० ॥

तत्पश्चात् उन महाज्ञानी महामुनिने राजासे कहा—'राजन्! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण हो गया। नरेश्वर! अब तुम अपनी राजधानीको लौट जाओ ॥ ३० ॥

(एष ते तनयो राजन् मा तप्सीस्त्वं तपो वने ।
प्रजाः पालय धर्मेण एष धर्मो महीक्षिताम् ॥

'महाराज! यह फल तुम्हें पुत्रप्राप्ति करायेगा, अब तुम वनमें जाकर तपस्या न करो; धर्मपूर्वक प्रजाका पालन करो। यही राजाओंका धर्म है ॥

यजस्व विविधैर्यज्ञैरिन्द्रं तर्पय चेन्दुना ।
पुत्रं राज्ये प्रतिष्ठाप्य तत आश्रममाव्रज ॥

'नाना प्रकारके यज्ञोंद्वारा भगवान्‌का यजन करो और देवराज इन्द्रको सोमरससे तृप्त करो। फिर पुत्रको राज्य-सिंहासनपर बिठाकर वानप्रस्थाश्रममें आ जाना ॥

अष्टौ वरान् प्रयच्छामि तव पुत्रस्य पार्थिव ।
ब्रह्मण्यतामजेयत्वं युद्धेषु च तथा रतिम् ॥

'भूपाल ! मैं तुम्हारे पुत्रके लिये आठ वर देता हूँ— वह ब्राह्मणभक्त होगा, युद्धमें अजेय होगा, उसकी युद्धविषयक रुचि कभी कम न होगी, ॥

(अतिथेयतां चैव दीनानामन्ववेक्षणम्।
तथा बलं च सुमहल्लोके कीर्तिं च शाश्वतीम्॥
अनुरागं प्रजानां च ददौ तस्मै स कौशिकः।)

'वह अतिथियोंका प्रेमी होगा, दीन-दुखियोंपर उसकी सदा कृपा-दृष्टि बनी रहेगी, उसका बल महान् होगा, लोकमें उसकी अक्षय कीर्तिका विस्तार होगा और प्रजाजनोंपर उसका सदा स्नेह बना रहेगा।' इस प्रकार चण्डकौशिक मुनिने उसके लिये ये आठ वर दिये ॥

एतच्छ्रुत्वा मुनेर्वाक्यं शिरसा प्रणिपत्य च।
मुनेः पादौ महाप्राज्ञः स नृपः स्वगृहं गतः ॥ ३१ ॥

मुनिका यह वचन सुनकर उन परम बुद्धिमान् राजा बृहद्रथने उनके दोनों चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और अपने घरको लौट गये ॥ ३१ ॥

यथासमयमाज्ञाय तदा स नृपसत्तमः।
द्वाभ्यामेकं फलं प्रादात् पत्नीभ्यां भरतर्षभ ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन उत्तम नरेशने उचित कालका विचार करके दोनों पत्नियोंके लिये वह एक फल दे दिया ॥ ३२ ॥

ते तदाम्रं द्विधा कृत्वा भक्षयामासतुः शुभे।
भावित्वादपि चार्थस्य सत्यवाक्यतया मुनेः ॥ ३३ ॥
तयोः समभवद् गर्भः फलप्राशनसम्भवः।
तं च दृष्ट्वा स नृपतिः परां मुदमवाप ह ॥ ३४ ॥

उन दोनों शुभस्वरूपा रानियोंने उस आमके दो टुकड़े करके एक-एक टुकड़ा खा लिया। होनेवाली बात होकर ही रहती है, इसलिये तथा मुनिकी सत्यवादिताके प्रभावसे वह फल खानेके कारण दोनों रानियोंके गर्भ रह गये। उन्हें गर्भवती हुई देखकर राजाको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ ३३-३४ ॥

अथ काले महाप्राज्ञ यथासमयमागते।
प्रजायेतामुभे राजञ्छरीरशकले तदा ॥ ३५ ॥

महाप्राज्ञ युधिष्ठिर ! प्रसवकाल पूर्ण होनेपर उन दोनों रानियोंने यथासमय अपने गर्भसे शरीरका एक-एक टुकड़ा पैदा किया ॥ ३५ ॥

एकाक्षिबाहुचरणे अर्धोदरमुखस्फिचे।
दृष्ट्वा शरीरशकले प्रवेपतुरुभे भृशम् ॥ ३६ ॥

प्रत्येक टुकड़ेमें एक आँख, एक हाथ, एक पैर, आधा पेट, आधा मुँह और कटिके नीचेका आधा भाग था। एक शरीरके उन टुकड़ोंको देखकर वे दोनों भयके मारे थर-थर काँपने लगीं ॥ ३६ ॥

उद्विग्ने सह सम्मन्त्र्य ते भगिन्यौ तदाबले।
सजीवे प्राणिशकले तत्यजाते सुदुःखिते ॥ ३७ ॥

उनका हृदय उद्विग्न हो उठा; अबला ही तो थीं। उन दोनों बहिनोंने अत्यन्त दुखी होकर परस्पर सलाह करके उन दोनों टुकड़ोंको, जिनमें जीव तथा प्राण विद्यमान थे, त्याग दिया ॥ ३७ ॥

तयोर्धात्र्यौ सुसंवीते कृत्वा ते गर्भसम्प्लवे।
निर्गम्यान्तःपुरद्वारात् समुत्सृज्याभिजग्मतुः ॥ ३८ ॥

उन दोनोंकी धाएँ गर्भके उन टुकड़ोंको कपड़ेसे ढककर अन्तःपुरके दरवाजेसे बाहर निकलीं और चौराहेपर फेंककर चली गयीं ॥ ३८ ॥

ते चतुष्पथनिक्षिप्ते जरा नामाथ राक्षसी।
जग्राह मनुजव्याघ्र मांसशोणितभोजना ॥ ३९ ॥

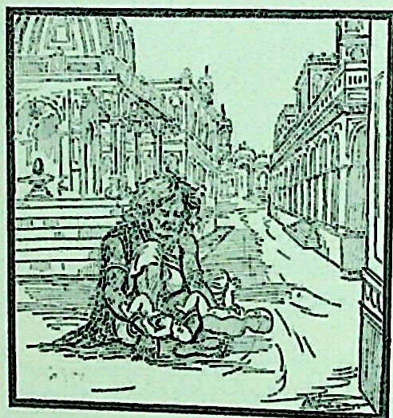
पुरुषसिंह ! चौराहेपर फेंके हुए उन टुकड़ोंको रक्त और मांस खानेवाली जरा नामकी एक राक्षसीने उठा लिया।

कर्तुकामा सुखवहे शकले सा तु राक्षसी।
संयोजयामास तदा विधानबलचोदिता ॥ ४० ॥

विधाताके विधानसे प्रेरित होकर उस राक्षसीने उन दोनों टुकड़ोंको सुविधापूर्वक ले जाने योग्य बनानेकी इच्छासे उस समय जोड़ दिया ॥ ४० ॥

ते समानीतमात्रे तु शकले पुरुषर्षभ।
एकमूर्तिधरो वीरः कुमारः समपद्यत ॥ ४१ ॥

नरश्रेष्ठ ! उन टुकड़ोंका परस्पर संयोग होते ही एक



शरीरधारी वीर कुमार बन गया ॥ ४१ ॥

ततः सा राक्षसी राजन् विस्मयोत्फुल्ललोचना।
न शशाक समुद्वोढुं वज्रसारमयं शिशुम् ॥४२॥

राजन्! यह देखकर राक्षसीके नेत्र आश्चर्यसे खिल उठे। उसे वह शिशु वज्रके सारतत्त्वका बना जान पड़ा। राक्षसी उसे उठाकर ले जानेमें असमर्थ हो गयी ॥ ४२ ॥

बालस्ताम्रतलं मुष्टिं कृत्वा चास्ये निधाय सः।
प्राक्रोशदतिसंरब्धः सतोय इव तोयदः ॥ ४३ ॥

उस बालकने अपने लाल हथेलीवाले हाथोंकी मुट्ठी बाँधकर मुँहमें डाल ली और अत्यन्त क्रुद्ध होकर जलसे भरे मेघकी भाँति गम्भीर स्वरसे रोना शुरू कर दिया ॥ ४३ ॥

तेन शब्देन सम्भ्रान्तः सहसान्तःपुरे जनः।
निर्जगाम नरव्याघ्र राज्ञा सह परंतप ॥४४॥

परंतप नरव्याघ्र! बालकके उस रोने-चिल्लानेके शब्दसे रनिवासकी सब स्त्रियाँ घबरा उठीं तथा राजाके साथ सहसा बाहर निकलीं ॥ ४४ ॥

ते चाबले परिम्लाने पयःपूर्णपयोधरे।
निराशे पुत्रलाभाय सहसैवाभ्यगच्छताम् ॥ ४५ ॥

दूधसे भरे हुए स्तनोंवाली वे दोनों अबला रानियाँ भी, जो पुत्रप्राप्तिकी आशा छोड़ चुकी थीं, मलिन मुख हो सहसा बाहर निकल आयीं ॥ ४५ ॥

अथ दृष्ट्वा तथाभूते राजानं चेष्टसंततिम्।
तं च बालं सुबलिनं चिन्तयामास राक्षसी ॥ ४६ ॥

नार्हामि विषये राज्ञो वसन्ती पुत्रगृद्धिनः।
बालं पुत्रमिमं हन्तुं धार्मिकस्य महात्मनः ॥ ४७ ॥

उन दोनों रानियोंको उस प्रकार उदास, राजाको पुत्र पानेके लिये उत्सुक तथा उस बालकको अत्यन्त बलवान् देखकर राक्षसीने सोचा, 'मैं इस राजाके राज्यमें रहती हूँ। यह पुत्रकी इच्छा रखता है; अतः इस धर्मात्मा तथा महात्मा नरेशके बालक पुत्रकी हत्या करना मेरे लिये उचित नहीं है' ॥

सा तं बालमुपादाय मेघलेखेव भास्करम्।
कृत्वा च मानुषं रूपमुवाच वसुधाधिपम् ॥ ४८ ॥

ऐसा विचारकर उस राक्षसीने मानवीका रूप धारण किया और जैसे मेघमाला सूर्यको धारण करे, उसी प्रकार वह बालकको गोदमें उठाकर भूपालसे बोली— ॥ ४८ ॥

राक्षस्युवाच

बृहद्रथ सुतस्तेऽयं मया दत्तः प्रगृह्यताम्।
तव पत्नीद्वये जातो द्विजातिवरशासनात्।
धात्रीजनपरित्यक्तो मयायं परिरक्षितः ॥ ४९ ॥

राक्षसीने कहा—बृहद्रथ! यह तुम्हारा पुत्र है, जिसे मैंने तुम्हें दिया है। तुम इसे ग्रहण करो। ब्रह्मर्षिके आदेश एवं आशीर्वादसे तुम्हारी दोनों पत्नियोंके गर्भसे इसका जन्म हुआ। धायोंने इसे घरके बाहर लाकर डाल दिया था, किंतु मैंने इसकी रक्षा की है ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

ततस्ते भरतश्रेष्ठ काशिराजसुते शुभे।
तं बालमभिपद्याशु प्रस्नवैरभ्यषिञ्चताम् ॥ ५० ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—भरतकुलभूषण! तब काशिराजकी उन दोनों शुभलक्षणा कन्याओंने उस बालकको तुरंत गोदमें लेकर उसे स्तनोंके दूधसे सींच दिया ॥ ५० ॥

ततः स राजा संहृष्टः सर्वं तदुपलभ्य च।
अपृच्छद्धेमगर्भाभां राक्षसीं तामराक्षसीम् ॥ ५१ ॥

यह सब देख-सुनकर राजाके हर्षकी सीमा न रही। उन्होंने सुवर्णकी-सी कान्तिवाली उस राक्षसीसे, जो राक्षसी नहीं जान पड़ती थी, इस प्रकार पूछा ॥ ५१ ॥

राजोवाच

का त्वं कमलगर्भाभे मम पुत्रप्रदायिनी।
कामया ब्रूहि कल्याणि देवता प्रतिभासि मे ॥ ५२ ॥

राजाने कहा—कमलके भीतरी भागके समान सुन्दर कान्तिवाली कल्याणी! मुझे पुत्र प्रदान करनेवाली तुम कौन हो? बताओ। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम इच्छानुसार विचरनेवाली कोई देवी हो ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधोत्पत्तौ सप्तदशोऽध्यायः ॥ १७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधकी उत्पत्ति-विषयक सत्रहवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल ६१½ श्लोक हैं)

अष्टादशोऽध्यायः

जरा राक्षसीका अपना परिचय देना और उसीके नामपर बालकका नामकरण होना

राक्षस्युवाच

जरा नामास्मि भद्रं ते राक्षसी कामरूपिणी।
तव वेश्मनि राजेन्द्र पूजिता न्यवसं सुखम्॥ १॥

राक्षसीने कहा—राजेन्द्र! तुम्हारा कल्याण हो। मेरा नाम जरा है। मैं इच्छानुसार रूप धारण करनेवाली राक्षसी हूँ और तुम्हारे घरमें पूजित हो सुखपूर्वक रहती चली आयी हूँ॥ १॥

गृहे गृहे मनुष्याणां नित्यं तिष्ठामि राक्षसी।
गृहदेवीति नाम्ना वै पुरा सृष्टा स्वयंभुवा॥ २॥

मैं मनुष्योंके घर-घरमें सदा मौजूद रहती हूँ। कहनेको तो मैं राक्षसी ही हूँ; किंतु पूर्वकालमें ब्रह्माजीने गृहदेवीके नामसे मेरी सृष्टि की थी॥ २॥

दानवानां विनाशाय स्थापिता दिव्यरूपिणी।
यो मां भक्त्या लिखेत् कुड्ये सपुत्रां यौवनान्विताम्॥३॥
गृहे तस्य भवेद् वृद्धिरन्यथा क्षयमाप्नुयात्।
त्वद्गृहे तिष्ठमानाहं पूजिताहं सदा विभो॥ ४॥

और उन्होंने मुझे दानवोंके विनाशके लिये नियुक्त किया था मैं दिव्य रूप धारण करनेवाली हूँ। जो अपने घरकी दीवारपर मुझे अनेक पुत्रोंसहित युवती स्त्रीके रूपमें भक्तिपूर्वक लिखता है (मेरा चित्र अङ्कित करता है), उसके घरमें सदा वृद्धि होती है; अन्यथा उसे हानि उठानी पड़ती है। प्रभो! मैं तुम्हारे घरमें रहकर सदा पूजित होती चली आयी हूँ॥ ३-४॥

लिखिता चैव कुड्येषु पुत्रैर्बहुभिरावृता।
गन्धपुष्पैस्तथा धूपैर्भक्ष्यभोज्यैः सुपूजिता॥ ५॥

एवं तुम्हारे घरकी दीवारोंपर मेरा ऐसा चित्र अंकित किया गया है, जिसमें मैं अनेक पुत्रोंसे घिरी हुई खड़ी हूँ। उस चित्रके रूपमें मेरा गन्ध, पुष्प, धूप और भक्ष्य-भोज्य पदार्थोंद्वारा भलीभाँति पूजन होता आ रहा है॥ ५॥

साहं प्रत्युपकारार्थं चिन्तयाम्यनिशं तव।
तवेमे पुत्रशकले दृष्टवत्यस्मि धार्मिक॥ ६॥
संश्लेषिते मया दैवात् कुमारः समपद्यत।
तव भाग्यान्महाराज हेतुमात्रमहं त्विह॥ ७॥

अतः मैं उस पूजनके बदले तुम्हारा कोई उपकार करनेकी बात सदा सोचती रहती थी। धर्मात्मन्! मैंने तुम्हारे पुत्रके शरीरके इन दोनों टुकड़ोंको देखा और दोनोंको जोड़ दिया। महाराज! दैववश तुम्हारे भाग्यसे ही उन टुकड़ोंके जुड़नेसे यह राजकुमार प्रकट हो गया है। मैं तो इसमें केवल निमित्तमात्र बन गयी हूँ॥ ६-७॥

(तस्य बालस्य यत् कृत्यं तत् कुरुष्व नराधिप।
मम नाम्ना च लोकेऽस्मिन् ख्यात एव भविष्यति॥)

राजन्! अब इस बालकके लिये जो आवश्यक संस्कार हैं उन्हें करो। यह इस संसारमें मेरे ही नामसे विख्यात होगा॥

मेरुं वा खादितुं शक्ता किं पुनस्तव बालकम्।
गृहसम्पूजनात् तुष्टया मया प्रत्यर्पितस्तव॥ ८॥

मुझमें सुमेरु पर्वतको भी निगल जानेकी शक्ति है; फिर तुम्हारे इस बच्चेको खा जाना कौन बड़ी बात है। किंतु तुम्हारे घरमें जो मेरी भलीभाँति पूजा होती आयी है, उसीसे संतुष्ट होकर मैंने तुम्हें यह बालक समर्पित किया है॥ ८॥

श्रीकृष्ण उवाच

एवमुक्त्वा तु सा राजंस्तत्रैवान्तरधीयत।
स संगृह्य कुमारं तं प्रविवेश गृहं नृपः॥ ९॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन्! ऐसा कहकर जरा राक्षसी वहीं अन्तर्धान हो गयी और राजा उस बालकको लेकर अपने महलमें चले आये॥ ९॥

तस्य बालस्य यत् कृत्यं तच्चकार नृपस्तदा।
आज्ञापयच्च राक्षस्या मगधेषु महोत्सवम्॥ १०॥

उस समय राजाने उस बालकके जातकर्म आदि सभी आवश्यक संस्कार सम्पन्न किये और मगधदेशमें जरा राक्षसी (गृहदेवी) के पूजनका महान् उत्सव मनानेकी आज्ञा दी॥ १०॥

तस्य नामाकरोच्चैव पितामहसमः पिता।
जरया संधितो यस्माज्जरासंधो भवत्वयम्॥ ११॥

ब्रह्माजीके समान प्रभावशाली राजा बृहद्रथने उस बालकका नाम रखते हुए कहा—'इसको जराने संधित किया (जोड़ा) है, इसलिये इसका नाम जरासंध होगा'॥ ११॥

सोऽवर्धत महातेजा मगधाधिपतेः सुतः।
प्रमाणबलसम्पन्नो हुताहुतिरिवानलः।
मातापित्रोर्नन्दिकरः शुक्लपक्षे यथा शशी॥ १२॥

मगधराजका वह महातेजस्वी बालक माता-पिताको आनन्द प्रदान करते हुए आकार और बलसे सम्पन्न हो घीकी आहुति दी जानेसे प्रज्वलित हुई अग्नि और शुक्लपक्षके चन्द्रमाकी भाँति दिनोंदिन बढ़ने लगा॥ १२॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधोत्पत्तौ अष्टादशोऽध्यायः॥ १८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधकी उत्पत्ति-विषयक अठारहवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ १८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल १३ श्लोक हैं)

एकोनविंशोऽध्यायः

चण्डकौशिक मुनिके द्वारा जरासंधका भविष्यकथन तथा पिताके द्वारा उसका राज्याभिषेक करके वनमें जाना

श्रीकृष्ण उवाच

कस्यचित् त्वथ कालस्य पुनरेव महातपाः ।
मगधेषूपचक्राम भगवांश्चण्डकौशिकः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—राजन् ! कुछ कालके पश्चात् महातपस्वी भगवान् चण्डकौशिक मुनि पुनः मगधदेशमें घूमते हुए आये ॥ १ ॥

तस्यागमनसंहृष्टः सामात्यः सपुरःसरः ।
सभार्यः सह पुत्रेण निर्जगाम बृहद्रथः ॥ २ ॥

उनके आगमनसे राजा बृहद्रथको बड़ी प्रसन्नता हुई । वे मन्त्री, अग्रगामी सेवक, रानी तथा पुत्रके साथ मुनिके पास गये ॥ २ ॥

पाद्यार्घ्याचमनीयैस्तमर्चयामास भारत ।
स नृपो राज्यसहितं पुत्रं तस्मै न्यवेदयत् ॥ ३ ॥

भारत ! पाद्य, अर्घ्य और आचमनीय आदिके द्वारा राजाने महर्षिका पूजन किया और अपने सारे राज्यके सहित पुत्रको उन्हें सौंप दिया ॥ ३ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां पार्थिवाद् भगवानृषिः ।
उवाच मागधं राजन् प्रहृष्टेनान्तरात्मना ॥ ४ ॥
सर्वमेतन्मया ज्ञातं राजन् दिव्येन चक्षुषा ।
पुत्रस्तु शृणु राजेन्द्र यादृशोऽयं भविष्यति ॥ ५ ॥

महाराज ! राजाकी ओरसे प्राप्त हुई उस पूजाको स्वीकार करके ऐश्वर्यशाली महर्षिने मगधनरेशको सम्बोधित करके प्रसन्नचित्तसे कहा—'राजन् ! जरासंधके जन्मसे लेकर अबतककी सारी बातें मुझे दिव्य दृष्टिसे ज्ञात हो चुकी हैं । राजेन्द्र ! अब यह सुनो कि तुम्हारा पुत्र भविष्यमें कैसा होगा ॥ ४-५ ॥

अस्य रूपं च सत्त्वं च बलमूर्जितमेव च ।
एष श्रिया समुदितः पुत्रस्तव न संशयः ॥ ६ ॥

'इसमें रूप, सत्त्व, बल और ओजका विशेष आविर्भाव होगा । इसमें संदेह नहीं कि तुम्हारा यह पुत्र साम्राज्यलक्ष्मीसे सम्पन्न होगा ॥ ६ ॥

प्रापयिष्यति तत् सर्वं विक्रमेण समन्वितः ।
अस्य वीर्यवतो वीर्यं नानुयास्यन्ति पार्थिवाः ॥ ७ ॥
पततो वैनतेयस्य गतिमन्ये यथा खगाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति ये चास्य परिपन्थिनः ॥ ८ ॥

'यह पराक्रमयुक्त होकर सम्पूर्ण अभीष्ट वस्तुओंको प्राप्त कर लेगा । जैसे उड़ते हुए गरुड़के वेगको दूसरे पक्षी नहीं पा सकते, उसी प्रकार इस बलवान् राजकुमारके बल(?)का अनुसरण दूसरे राजा नहीं कर सकेंगे । जो लोग इसके शत्रुता करेंगे, वे नष्ट हो जायँगे ॥ ७-८ ॥

देवैरपि विसृष्टानि शस्त्राण्यस्य महीपते ।
न रुजं जनयिष्यन्ति गिरेरिव नदीरयाः ॥ ९ ॥

'महीपते ! जैसे नदीका वेग किसी पर्वतको पीड़ा नहीं पहुँचा सकता, उसी प्रकार देवताओंके छोड़े हुए अस्त्र-शस्त्र भी इसे चोट नहीं पहुँचा सकेंगे ॥ ९ ॥

सर्वमूर्धाभिषिक्तानामेष मूर्ध्नि ज्वलिष्यति ।
प्रभाहरोऽयं सर्वेषां ज्योतिषामिव भास्करः ॥ १० ॥

'जिनके मस्तकपर राज्याभिषेक हुआ है उन सब राजाओंके ऊपर रहकर यह अपने तेजसे प्रकाशित होता रहेगा । जैसे सूर्य समस्त ग्रह-नक्षत्रोंकी कान्ति हर लेते हैं, उसी प्रकार यह राजकुमार समस्त राजाओंके तेजको तिरस्कृत कर देगा ॥ १० ॥

एनमासाद्य राजानः समृद्धबलवाहनाः ।
विनाशमुपयास्यन्ति शलभा इव पावकम् ॥ ११ ॥

'जैसे फतिंगे आगमें जलकर भस्म हो जाते हैं, उसी प्रकार सेना और सवारियोंसे भरे-पूरे समृद्धिशाली नरेश इससे टक्कर लेते ही नष्ट हो जायँगे ॥ ११ ॥

एष श्रियः समुदिताः सर्वराज्ञां ग्रहीष्यति ।
वर्षास्विवोद्दीर्णजला नदीर्नदनदीपतिः ॥ १२ ॥

'यह समस्त राजाओंकी संग्रहीत सम्पदाओंको उसी प्रकार अपने अधिकारमें कर लेगा, जैसे नदों और नदियोंका अधिपति समुद्र वर्षा-ऋतुमें बढ़े हुए जलवाली नदियोंको अपनेमें मिला लेता है ॥ १२ ॥

एष धारयिता सम्यक् चातुर्वर्ण्यं महाबलः ।
शुभाशुभमिव स्फीता सर्वसस्यधरा धरा ॥ १३ ॥

'यह महाबली राजकुमार चारों वर्णोंको भलीभाँति धारण करेगा (उन्हें आश्रय देगा); ठीक वैसे ही, जैसे सभी प्रकारके धान्योंको धारण करनेवाली समृद्धिशालिनी पृथ्वी शुभ और अशुभ सबको आश्रय देती है ॥ १३ ॥

अस्याज्ञावशगाः सर्वे भविष्यन्ति नराधिपाः ।
सर्वभूतात्मभूतस्य वायोरिव शरीरिणः ॥ १४ ॥

जैसे सब देहधारी समस्त प्राणियोंके आत्मारूप वायुदेवके अधीन होते हैं, उसी प्रकार सभी नरेश इसकी आज्ञाके अधीन होंगे ॥ १४ ॥

एष रुद्रं महादेवं त्रिपुरान्तकरं हरम्।
सर्वलोकेष्वतिबलः साक्षाद् द्रक्ष्यति मागधः ॥ १५ ॥

'यह मगधराज सम्पूर्ण लोकोंमें अत्यन्त बलवान् होगा और त्रिपुरासुरका नाश करनेवाले सर्वदुःखहारी महादेव रुद्रकी आराधना करके उनका प्रत्यक्ष दर्शन प्राप्त करेगा'॥ १५ ॥

एवं ब्रुवन्नेव मुनिः स्वकार्यमिव चिन्तयन्।
विसर्जयामास नृपं बृहद्रथमथारिहन् ॥ १६ ॥

शत्रुसूदन नरेश! ऐसा कहकर अपने कार्यके चिन्तनमें लगे हुए मुनिने राजा बृहद्रथको विदा कर दिया ॥ १६ ॥

प्रविश्य नगरीं चापि ज्ञातिसम्बन्धिभिर्वृतः।
अभिषिच्य जरासंधं मगधाधिपतिस्तदा ॥ १७ ॥
बृहद्रथो नरपतिः परां निर्वृतिमाययौ।
अभिषिक्ते जरासंधे तदा राजा बृहद्रथः।
पत्नीद्वयेनानुगतस्तपोवनचरोऽभवत् ॥ १८ ॥

राजधानीमें प्रवेश करके अपने जाति-भाइयों और सगे-सम्बन्धियोंसे घिरे हुए मगधनरेश बृहद्रथने उसी समय जरासंधका राज्याभिषेक कर दिया। ऐसा करके उन्हें बड़ा संतोष हुआ। जरासंधका अभिषेक हो जानेपर महाराज बृहद्रथ अपनी दोनों पत्नियोंके साथ तपोवनमें चले गये ॥ १७-१८ ॥

ततो वनस्थे पितरि मात्रोश्चैव विशाम्पते।
जरासंधः स्ववीर्येण पार्थिवानकरोद् वशे ॥ १९ ॥

महाराज! दोनों माताओं और पिताके वनवासी हो जानेपर जरासंधने अपने पराक्रमसे समस्त राजाओंको वशमें कर लिया ॥ १९ ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ दीर्घस्य कालस्य तपोवनचरो नृपः।
सभार्यः स्वर्गमगमत् तपस्तप्त्वा बृहद्रथः ॥ २० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर दीर्घकालतक तपोवनमें रहकर तपस्या करते हुए महाराज बृहद्रथ अपनी पत्नियोंके साथ स्वर्गवासी हो गये ॥ २० ॥

जरासंधोऽपि नृपतिर्यथोक्तं कौशिकेन तत्।
वरप्रदानमखिलं प्राप्य राज्यमपालयत् ॥ २१ ॥

इधर जरासंध भी चण्डकौशिक मुनिके कथनानुसार भगवान् शङ्करसे सारा वरदान पाकर राज्यकी रक्षा करने लगा ॥ २१ ॥

निहते वासुदेवेन तदा कंसे महीपतौ।
जातो वै वैरनिर्बन्धः कृष्णेन सह तस्य वै ॥ २२ ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके द्वारा अपने जामाता राजा कंसके मारे जानेपर श्रीकृष्णके साथ उसका वैर बहुत बढ़ गया ॥ २२ ॥

भ्रामयित्वा शतगुणमेकोनं येन भारत।
गदा क्षिप्ता बलवता मागधेन गिरिव्रजात् ॥ २३ ॥
तिष्ठतो मथुरायां वै कृष्णस्याद्भुतकर्मणः।
एकोनयोजनशते सा पपात गदा शुभा ॥ २४ ॥

भारत! उसी वैरके कारण बलवान् मगधराजने अपनी गदा निन्यानबे बार घुमाकर गिरिव्रजसे मथुराकी ओर फेंकी। उन दिनों अद्भुत कर्म करनेवाले श्रीकृष्ण मथुरामें ही रहते थे। वह उत्तम गदा निन्यानबे योजन दूर मथुरामें जाकर गिरी ॥ २३-२४ ॥

दृष्ट्वा पौरैस्तदा सम्यग् गदा चैव निवेदिता।
गदावसानं तद् ख्यातं मथुरायाः समीपतः ॥ २५ ॥

पुरवासियोंने उसे देखकर उसकी सूचना भगवान् श्रीकृष्णको दी। मथुराके समीपका वह स्थान, जहाँ गदा गिरी थी, गदावसानके नामसे विख्यात हुआ ॥ २५ ॥

तस्यास्तां हंसडिम्भकावशस्त्रनिधनावुभौ।
मन्त्रे मतिमतां श्रेष्ठौ नीतिशास्त्रे विशारदौ ॥ २६ ॥

जरासंधको सलाह देनेके लिये बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ तथा नीतिशास्त्रमें निपुण दो मन्त्री थे, जो हंस और डिम्भकके नामसे विख्यात थे। वे दोनों किसी भी शस्त्रसे मरनेवाले नहीं थे ॥ २६ ॥

यौ तौ मया ते कथितौ पूर्वमेव महाबलौ।
त्रयस्त्रयाणां लोकानां पर्याप्ता इति मे मतिः ॥ २७ ॥

जनमेजय! उन दोनों महाबली वीरोंका परिचय मैंने तुम्हें पहले ही दे दिया है। मेरा ऐसा विश्वास है, जरासंध और वे तीनों मिलकर तीनों लोकोंका सामना करनेके लिये पर्याप्त थे ॥

एवमेव तदा वीर बलिभिः कुकुरान्धकैः।
वृष्णिभिश्च महाराज नीतिहेतोरुपेक्षितः ॥ २८ ॥

वीरवर महाराज! इस प्रकार नीतिका पालन करनेके लिये ही उस समय बलवान् कुकुर, अन्धक और वृष्णिवंशके योद्धाओंने जरासंधकी उपेक्षा कर दी ॥ २८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयारम्भपर्वणि जरासंधप्रशंसायामेकोनविंशतितमोऽध्यायः ॥ १९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयारम्भपर्वमें जरासंधप्रशंसाविषयक उन्नीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ १९ ॥

(जरासंधवधपर्व)

विंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके अनुमोदन करनेपर श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेनकी मगध-यात्रा

वासुदेव उवाच

पतितौ हंसडिम्भकौ कंसश्च सगणो हतः।
जरासंधस्य निधने कालोऽयं समुपागतः॥ १॥

श्रीकृष्ण कहते हैं—धर्मराज! जरासंधके मुख्य सहायक हंस और डिम्भक यमुनाजीमें डूब मरे। कंस भी अपने सेवकों और सहायकोंसहित कालके गालमें चला गया। अब जरासंधके नाशका यह उचित अवसर आ पहुँचा है॥ १॥

न शक्योऽसौ रणे जेतुं सर्वैरपि सुरासुरैः।
बाहुयुद्धेन जेतव्यः स इत्युपलभामहे॥ २॥

युद्धमें तो सम्पूर्ण देवता और असुर भी उसे जीत नहीं सकते, अतः मेरी समझमें यही आता है कि उसे बाहुयुद्धके द्वारा जीतना चाहिये॥ २॥

मयि नीतिर्बलं भीमे रक्षिता चावयोर्जयः।
मागधं साधयिष्याम इष्टिं त्रय इवाग्नयः॥ ३॥

मुझमें नीति है, भीमसेनमें बल है और अर्जुन हम दोनोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः जैसे तीन अग्नियाँ यज्ञकी सिद्धि करती हैं, उसी प्रकार हम तीनों मिलकर जरासंधके वधका काम पूरा कर लेंगे॥ ३॥

त्रिभिरासादितोऽस्माभिर्विजने स नराधिपः।
न संदेहो यथा युद्धमेकेनाप्युपयास्यति॥ ४॥
अवमानाच्च लोभाच्च बाहुवीर्याच्च दर्पितः।
भीमसेनेन युद्धाय ध्रुवमप्युपयास्यति॥ ५॥

जब हम तीनों एकान्तमें राजा जरासंधसे मिलेंगे, तब वह हम तीनोंमेंसे किसी एकके साथ द्वन्द्वयुद्ध करना स्वीकार कर लेगा; इसमें संदेह नहीं है। अपमानके भयसे, बड़े योद्धा भीमसेनके साथ लड़नेके लोभसे तथा अपने बाहुबलसे घमंडमें चूर होनेसे निश्चय ही भीमसेनके साथ युद्ध करनेको उद्यत होगा॥ ४-५॥

अलं तस्य महाबाहुर्भीमसेनो महाबलः।
लोकस्य समुदीर्णस्य निधनायान्तको यथा॥ ६॥

जैसे उत्पन्न हुए सम्पूर्ण जगत्के विनाशके लिये एक ही यमराज काफी हैं, उसी प्रकार महाबली महाबाहु भीमसेन जरासंधके वधके लिये पर्याप्त हैं॥ ६॥

यदि मे हृदयं वेत्सि यदि ते प्रत्ययो मयि।
भीमसेनार्जुनौ शीघ्रं न्यासभूतौ प्रयच्छ मे॥ ७॥

राजन्! यदि आप मेरे हृदयको जानते हैं और आपका मुझपर विश्वास है तो भीमसेन और अर्जुनको ही धरोहरके रूपमें मुझे दे दीजिये॥ ७॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तो भगवता प्रत्युवाच युधिष्ठिरः।
भीमार्जुनौ समालोक्य सम्प्रहृष्टमुखौ स्थितौ॥ ८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भगवान्‌के ऐसा कहनेपर वहाँ खड़े हुए भीमसेन और अर्जुनका मुख प्रसन्नतासे खिल उठा। उस समय उन दोनोंकी ओर देखकर युधिष्ठिरने इस प्रकार उत्तर दिया॥ ८॥

युधिष्ठिर उवाच

अच्युताच्युत मा मैवं व्याहरामित्रकर्शन।
पाण्डवानां भवान् नाथो भवन्तं चाश्रिता वयम्॥ ९॥

युधिष्ठिर बोले—अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले शत्रुसूदन अच्युत! आप ऐसी बात न कहें। आप हम सब पाण्डवोंके स्वामी हैं, रक्षक हैं। हम सब लोग आपकी शरणमें हैं॥ ९॥

यथा वदसि गोविन्द सर्वं तदुपपद्यते।
न हि त्वमग्रतस्तेषां येषां लक्ष्मीः पराङ्मुखी॥ १०॥

गोविन्द! आप जैसा कहते हैं, वह सब ठीक है। जिनकी राज्यलक्ष्मी विमुख हो चुकी है, उनके सम्मुख आप आते ही नहीं हैं॥ १०॥

निहतश्च जरासंधो मोक्षिताश्च महीक्षितः।
राजसूयश्च मे लब्धो निदेशे तव तिष्ठतः॥ ११॥

आपकी आज्ञाके अनुसार चलनेमात्रसे मैं यह मानता हूँ कि जरासंध मारा गया। समस्त राजा उसकी कैदसे छुटकारा पा गये और मेरा राजसूय यज्ञ भी पूरा हो गया॥ ११॥

क्षिप्रमेव यथा त्वेतत् कार्यं समुपपद्यते।
अप्रमत्तो जगन्नाथ तथा कुरु नरोत्तम॥ १२॥
त्रिभिर्भवद्भिर्हि विना नाहं जीवितुमुत्सहे।
धर्मकामार्थरहितो रोगार्त इव दुःखितः॥ १३॥
न शौरिणा विना पार्थो न शौरिः पाण्डवं विना।
नाजेयोऽस्त्यनयोर्लोके कृष्णयोरिति मे मतिः॥ १४॥

जगन्नाथ! पुरुषोत्तम! आप सावधान होकर वही उपाय कीजिये, जिससे यह कार्य शीघ्र ही पूरा हो जाय। जैसे धर्म

धन और अर्थसे रहित रोगातुर मनुष्य अत्यन्त दुखी हो जीवनसे हाथ धो बैठता है, उसी प्रकार मैं भी आप तीनोंके बिना जीवित नहीं रह सकता। श्रीकृष्णके बिना अर्जुन और पाण्डुपुत्र अर्जुनके बिना श्रीकृष्ण नहीं रह सकते। इन दोनों कृष्णनामधारी वीरोंके लिये लोकमें कोई भी अजेय नहीं है; ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १२–१४ ॥

अयं च बलिनां श्रेष्ठः श्रीमानपि वृकोदरः।
युवाभ्यां सहितो वीरः किं न कुर्यान्महायशाः ॥ १५ ॥

यह बलवानोंमें श्रेष्ठ महायशस्वी कान्तिमान् वीर भीमसेन भी आप दोनोंके साथ रहकर क्या नहीं कर सकता ? ॥ १५ ॥

सुप्रणीतो बलौघो हि कुरुते कार्यमुत्तमम्।
अन्धं बलं जडं प्राहुः प्रणेतव्यं विचक्षणैः ॥ १६ ॥

चतुर सेनापतियोंद्वारा अच्छी तरह संचालित की हुई सेना उत्तम कार्य करती है, अन्यथा उस सेनाको अंधी और जड कहते हैं; अतः नीतिनिपुण पुरुषोंद्वारा ही सेनाका संचालन होना चाहिये ॥ १६ ॥

यतो हि निम्नं भवति नयन्ति हि ततो जलम्।
यतश्छिद्रं ततश्चापि नयन्ते धीवरा जलम् ॥ १७ ॥

जिधर नीची जमीन होती है, उधर ही लोग जल बहाकर ले जाते हैं। जहाँ गड्ढा होता है, उधर ही धीवर भी जल बहाते हैं (इसी प्रकार आपलोग भी जैसे कार्य-साधनमें सुविधा हो, वैसा ही करें) ॥ १७ ॥

तस्मान्नयविधानज्ञं पुरुषं लोकविश्रुतम्।
वयमाश्रित्य गोविन्दं यतामः कार्यसिद्धये ॥ १८ ॥

इसीलिये हम नीतिविधानके ज्ञाता लोकविख्यात महापुरुष श्रीगोविन्दकी शरण लेकर कार्यसिद्धिके लिये प्रयत्न करते हैं ॥

एवं प्रज्ञानयबलं क्रियोपायसमन्वितम्।
पुरस्कुर्वीत कार्येषु कृष्णं कार्यार्थसिद्धये ॥ १९ ॥

इसी प्रकार सबके लिये यह उचित है कि कार्य और प्रयोजनकी सिद्धिके लिये सभी कार्योंमें बुद्धि, नीति, बल, प्रयत्न और उपायसे युक्त श्रीकृष्णको ही आगे रक्खे ॥

एवमेव यदुश्रेष्ठं यावत्कार्यार्थसिद्धये।
अर्जुनः कृष्णमन्वेतु भीमोऽन्वेतु धनंजयम्।
नयो जयो बलं चैव विक्रमे सिद्धिमेष्यति ॥ २० ॥

यदुश्रेष्ठ ! इसी प्रकार समस्त कार्योंकी सिद्धिके लिये आपका आश्रय लेना परम आवश्यक है। अर्जुन आप श्रीकृष्णका अनुसरण करें और भीमसेन अर्जुनका। नीति, विजय और बल तीनों मिलकर पराक्रम करें, तो उन्हें अवश्य सिद्धि प्राप्त होगी ॥ २० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तास्ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः।
वार्ष्णेयः पाण्डवेयौ च प्रतस्थुर्मागधं प्रति ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर वे सब महातेजस्वी भाई—श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन मगधराज जरासंधसे भिड़नेके लिये उसकी राजधानीकी ओर चल दिये ॥ २१ ॥

वर्चस्विनां ब्राह्मणानां स्नातकानां परिच्छदम्।
आच्छाद्य सुहृदां वाक्यैर्मनोज्ञैरभिनन्दिताः ॥ २२ ॥

उन्होंने तेजस्वी स्नातक ब्राह्मणोंके-से वस्त्र पहनकर उनके द्वारा अपने क्षत्रियरूपको छिपाकर यात्रा की। उस समय हितैषी सुहृदोंने मनोहर वचनोंद्वारा उन सबका अभिनन्दन किया ॥ २२ ॥

अमर्षादभितप्तानां ज्ञात्यर्थं मुख्यतेजसाम्।
रविसोमाग्निवपुषां दीप्तमासीत् तदा वपुः ॥ २३ ॥
हतं मेने जरासंधं दृष्ट्वा भीमपुरोगमौ।
एककार्यसमुद्यन्तौ कृष्णौ युद्धेऽपराजितौ ॥ २४ ॥

जरासंधके प्रति रोषके कारण वे प्रज्वलित-से हो रहे थे। जाति-भाइयोंके उद्धारके लिये उनका महान् तेज प्रकट हुआ था। उस समय सूर्य, चन्द्रमा और अग्निके समान तेजस्वी शरीरवाले उन तीनोंका स्वरूप अत्यन्त उद्भासित हो रहा था। एक ही कार्यके लिये उद्यत हुए और युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले उन दोनों (कृष्णोंको अर्थात् नर-नारायणरूप कृष्ण और अर्जुन) को भीमसेनको आगे लिये जाते देख युधिष्ठिरको यह निश्चय हो गया कि जरासंध अवश्य मारा जायगा ॥ २३-२४ ॥

ईशौ हि तौ महात्मानौ सर्वकार्यप्रवर्तिनौ।
धर्मकामार्थलोकानां कार्याणां च प्रवर्तकौ ॥ २५ ॥

क्योंकि वे दोनों महात्मा निमेष-उन्मेषसे लेकर महाप्रलय-पर्यन्त समस्त कार्योंके नियन्ता तथा धर्म, काम और अर्थ-साधनमें लगे हुए लोगोंको तत्सम्बन्धी कार्योंमें लगानेवाले ईश्वर (नर-नारायण) हैं ॥ २५ ॥

कुरुभ्यः प्रस्थितास्ते तु मध्येन कुरुजाङ्गलम्।
रम्यं पद्मसरो गत्वा कालकूटमतीत्य च ॥ २६ ॥
गण्डकीं च महाशोणं सदानीरां तथैव च।
एकपर्वतके नद्यः क्रमेणैत्याव्रजन्त ते ॥ २७ ॥

वे तीनों कुरुदेशसे प्रस्थित हो कुरुजाङ्गलके बीचसे होते हुए रमणीय पद्मसरोवरपर पहुँचे। फिर कालकूट पर्वतको लाँघकर गण्डकी, महाशोण, सदानीरा एवं एकपर्वतक प्रदेशकी सब नदियोंको क्रमशः पार करते हुए आगे बढ़ते गये ॥

उत्तीर्य सरयूं रम्यां दृष्ट्वा पूर्वांश्च कोसलान् ।
अतीत्य जग्मुर्मिथिलां पश्यन्तो विपुला नदीः ॥ २८ ॥
अतीत्य गङ्गां शोणं च त्रयस्ते प्राङ्मुखास्तदा ।
कुशचीरच्छदा जग्मुर्मागधं क्षेत्रमच्युताः ॥ २९ ॥

इससे पहले मार्गमें उन्होंने रमणीय सरयू नदी पार करके पूर्वी कोसलप्रदेशमें भी पदार्पण किया था । कोसल पार करके बहुत-सी नदियोंका अवलोकन करते हुए वे मिथिलामें गये । गङ्गा और शोणभद्रको पार करके वे तीनों अच्युत वीर पूर्वाभिमुख होकर चलने लगे । उन्होंने कुश एवं चीरसे ही अपने शरीरको ढक रखा था । [...] जाते वे मगधक्षेत्रकी सीमामें पहुँच गये ॥ २८-२९ ॥

ते शश्वद् गोधनाकीर्णमम्बुमन्तं शुभद्रुमम् ।
गोरथं गिरिमासाद्य ददृशुर्मागधं पुरम् ॥ ३० ॥

फिर सदा गोधनसे भरे-पूरे, जलसे परिपूर्ण तथा सुन्दर वृक्षोंसे सुशोभित गोरथ पर्वतपर पहुँचकर उन्होंने मगध राजधानीको देखा ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि कृष्णपाण्डवमागधयात्रायां विंशोऽध्यायः ॥ २० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें कृष्ण, अर्जुन एवं भीमसेनकी मगधयात्राविषयक बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ।

एकविंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णद्वारा मगधकी राजधानीकी प्रशंसा, चैत्यक पर्वतशिखर और नगाड़ोंको तोड़-फोड़कर तीनोंका नगर एवं राजभवनमें प्रवेश तथा श्रीकृष्ण और जरासंधका संवाद

वासुदेव उवाच

एष पार्थ महान् भाति पशुमान् नित्यमम्बुमान् ।
निरामयः सुवेश्माढ्यो निवेशो मागधः शुभः ॥ १ ॥

श्रीकृष्ण बोले—कुन्तीनन्दन ! देखो, यह मगधदेशकी सुन्दर एवं विशाल राजधानी कैसी शोभा पा रही है । यहाँ पशुओंकी अधिकता है । जलकी भी सदा पूर्ण सुविधा रहती है । यहाँ रोग-व्याधिका प्रकोप नहीं होता । सुन्दर महलोंसे भरा-पूरा यह नगर बड़ा मनोहर प्रतीत होता है ॥ १ ॥

वैहारो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा ।
तथा ऋषिगिरिस्तात शुभाश्चैत्यकपञ्चमाः ॥ २ ॥
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः ।
रक्षन्तीवाभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम् ॥ ३ ॥

तात ! यहाँ विहारोपयोगी विपुल, वराह, वृषभ (ऋषभ), ऋषिगिरि (मातङ्ग) तथा पाँचवाँ चैत्यक नामक पर्वत है । बड़े-बड़े शिखरोंवाले ये पाँचों सुन्दर पर्वत शीतल छायावाले वृक्षोंसे सुशोभित हैं और एक साथ मिलकर एक-दूसरेके शरीरका स्पर्श करते हुए मानो गिरिव्रज नगरकी रक्षा कर रहे हैं ।२-३।

पुष्पवेष्टितशाखाग्रैर्गन्धवद्भिर्मनोहरैः ।
निगूढा इव लोध्राणां वनैः कामिजनप्रियैः ॥ ४ ॥

वहाँ लोध नामक वृक्षोंके कई मनोहर वन हैं, जिनसे वे पाँचों पर्वत ढके हुए-से जान पड़ते हैं । उनकी शाखाओंके अग्रभागमें फूल-ही-फूल दिखायी देते हैं । लोधोंके ये सुगन्धित वन कामीजनोंको बहुत प्रिय हैं ॥ ४ ॥

शूद्रायां गौतमो यत्र महात्मा संशितव्रतः ।
औशीनर्यामजनयत् काक्षीवाद्यान् सुतान् मुनिः ॥ ५ ॥

यहीं अत्यन्त कठोर व्रतका पालन करनेवाले महात्मा गौतमने उशीनरदेशकी शूद्रजातीय कन्याके गर्भसे काक्षीवान् आदि पुत्रोंको उत्पन्न किया था ॥ ५ ॥

गौतमः प्रणयात् तस्माद् यथासौ तत्र सद्मनि ।
भजते मागधं वंशं स नृपाणामनुग्रहात् ॥ ६ ॥

इसी कारण वह गौतम मुनि राजाओंके प्रेमसे [...] आश्रममें रहता तथा मगधदेशीय राजवंशकी सेवा करता है ॥ ६ ॥

अङ्गवङ्गादयश्चैव राजानः सुमहाबलाः ।
गौतमक्षयमभ्येत्य रमन्ते स्म पुरार्जुन ॥ ७ ॥

अर्जुन ! पूर्वकालमें अङ्ग-वङ्ग आदि महाबली राजा गौतमके घरमें आकर आनन्दपूर्वक रहते थे ॥ ७ ॥

वनराजीस्तु पश्येमाः पिप्पलानां मनोरमाः ।
लोध्राणां च शुभाः पार्थ गौतमौकःसमीपजाः ॥ ८ ॥

पार्थ ! गौतमके आश्रमके निकट लहलहाती हुई पीपलों और लोधोंकी इन सुन्दर एवं मनोरम वनपङ्क्तियोंको तो देखो ॥ ८ ॥

अर्बुदः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ ।
स्वस्तिकस्यालयश्चात्र मणिनागस्य चोत्तमः ॥ ९ ॥

यहाँ अर्बुद और शक्रवापी नामवाले दो नाग रहते हैं, जो अपने शत्रुओंको संतप्त करनेवाले हैं । यहीं स्वस्तिक नाग और मणिनागके भी उत्तम भवन हैं ॥ ९ ॥

अपरिहार्या मेघानां मागधा मनुना कृताः ।
कौशिको मणिमांश्चैव चक्राते चाप्यनुग्रहम् ॥ १० ॥

मनुने मगधदेशके निवासियोंको मेघोंके लिये अपरिहार्य (अनुग्राह्य) कर दिया है; (अतः वहाँ [...]

बादल समयपर यथेष्ट वर्षा करते हैं) चण्डकौशिक मुनि और मणिमान् नाग भी मगधदेशपर अनुग्रह कर चुके हैं ॥

(पाण्डरे विपुले चैव तथा वाराहकेऽपि च।
चैत्यके च गिरिश्रेष्ठे मातङ्गे च शिलोच्चये ॥
एतेषु पर्वतेन्द्रेषु सर्वसिद्धमहालयाः।
यतीनामाश्रमाश्चैव मुनीनां च महात्मनाम् ॥

श्वेतवर्णके वृषभ, विपुल, वाराह, गिरिश्रेष्ठ चैत्यक तथा मातङ्ग गिरि—इन सभी श्रेष्ठ पर्वतोंपर सम्पूर्ण सिद्धोंके विशाल भवन हैं तथा यतियों, मुनियों और महात्माओंके बहुत-से आश्रम हैं ॥

वृषभस्य तमालस्य महावीर्यस्य वै तथा।
गन्धर्वरक्षसां चैव नागानां च तथाऽऽलयाः ॥)

वृषभ, महापराक्रमी तमाल, गन्धर्वों, राक्षसों तथा नागोंके भी निवासस्थान उन पर्वतोंकी शोभा बढ़ाते हैं ॥

एवं प्राप्य पुरं रम्यं दुराधर्षं समन्ततः।
अर्थसिद्धिं त्वनुपमां जरासंधोऽभिमन्यते ॥ ११ ॥

इस प्रकार चारों ओरसे दुर्धर्ष उस रमणीय नगरको पाकर जरासंधको यह अभिमान बना रहता है कि मुझे अनुपम अर्थसिद्धि प्राप्त होगी ॥ ११ ॥

वयमासादने तस्य दर्पमद्य हरेमहि।

आज हमलोग उसके घरपर ही चलकर उसका सारा घमंड हर लेंगे ॥ ११½ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततः सर्वे भ्रातरो विपुलौजसः ॥ १२ ॥
वार्ष्णेयः पाण्डवौ चैव प्रतस्थुर्मागधं पुरम्।
हृष्टपुष्टजनोपेतं चातुर्वर्ण्यसमाकुलम् ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसी बातें करते हुए वे सभी महातेजस्वी भाई श्रीकृष्ण, अर्जुन और भीमसेन मगधकी राजधानीमें प्रवेश करनेके लिये चल पड़े। वह नगर चारों वर्णोंके लोगोंसे भरा-पूरा था। उसमें रहनेवाले सभी लोग हृष्ट-पुष्ट दिखायी देते थे ॥ १२-१३ ॥

स्फीतोत्सवमनाधृष्यमासेदुश्च गिरिव्रजम्।
ततो द्वारमनासाद्य पुरस्य गिरिमुच्छ्रितम् ॥ १४ ॥
बार्हद्रथैः पूज्यमानं तथा नगरवासिभिः।
मगधानां सुरुचिरं चैत्यकान्तं समाद्रवन् ॥ १५ ॥

वहाँ अधिकाधिक उत्सव होते रहते थे। कोई भी उसको जीत नहीं सकता था। ऐसे गिरिव्रजके निकट वे तीनों जा पहुँचे। वे मुख्य फाटकपर न जाकर नगरके चैत्यक नामक ऊँचे पर्वतपर चले गये। उस नगरमें निवास करनेवाले मनुष्य तथा बृहद्रथ-परिवारके लोग उस पर्वतकी पूजा किया करते थे। मगधदेशकी प्रजाको यह चैत्यक पर्वत बहुत ही प्रिय था ॥ १४-१५ ॥

यत्र मांसादमृषभमाससाद बृहद्रथः।
तं हत्वा मासतालाभिस्तिस्रो भेरीरकारयत् ॥ १६ ॥

उस स्थानपर राजा बृहद्रथने (वृषभरूपधारी) ऋषभ नामक एक मांसभक्षी राक्षससे युद्ध किया और उसे मारकर उसकी खालसे तीन बड़े-बड़े नगाड़े तैयार कराये, जिनपर चोट करनेसे महीनेभरतक आवाज होती रहती थी ॥ १६ ॥

स्वपुरे स्थापयामास तेन चानह्य चर्मणा।
यत्र ताः प्राणदन् भेर्यो दिव्यपुष्पावचूर्णिताः ॥ १७ ॥

राजाने उन नगाड़ोंको उस राक्षसके ही चमड़ेसे मढ़ाकर अपने नगरमें रखवा दिया। जहाँ वे नगाड़े बजते थे, वहाँ दिव्य फूलोंकी वर्षा होने लगती थी ॥ १७ ॥

भङ्क्त्वा भेरीत्रयं तेऽपि चैत्यप्राकारमाद्रवन्।
द्वारतोऽभिमुखाः सर्वे ययुर्नानाऽऽयुधास्तदा ॥ १८ ॥
मागधानां सुरुचिरं चैत्यकं तं समाद्रवन्।
शिरसीव समाघ्नन्तो जरासंधं जिघांसवः ॥ १९ ॥

इन तीनों वीरोंने उपर्युक्त तीनों नगाड़ोंको फोड़कर चैत्यक पर्वतके परकोटेपर आक्रमण किया। उन सबने अनेक प्रकारके आयुध लेकर द्वारके सामने मगधनिवासियोंके परम प्रिय उस चैत्यक पर्वतपर धावा किया था। जरासंधको मारनेकी इच्छा रखकर मानो वे उसके मस्तकपर आघात कर रहे थे ॥

स्थिरं सुविपुलं शृङ्गं सुमहत् तत् पुरातनम्।
अर्चितं गन्धमाल्यैश्च सततं सुप्रतिष्ठितम् ॥ २० ॥
विपुलैर्बाहुभिर्वीरास्तेऽभिहत्याभ्यपातयन्।
ततस्ते मागधं हृष्टाः पुरं प्रविविशुस्तदा ॥ २१ ॥

उस चैत्यकका विशाल शिखर बहुत पुराना, किंतु सुदृढ़ था। मगधदेशमें उसकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। गन्ध और पुष्पकी मालाओंसे उसकी सदा पूजा की जाती थी। श्रीकृष्ण आदि तीनों वीरोंने अपनी विशाल भुजाओंसे टक्कर मारकर उस चैत्यक पर्वतके शिखरको गिरा दिया। तदनन्तर वे अत्यन्त प्रसन्न होकर मगधकी राजधानी गिरिव्रजके भीतर घुसे ॥

एतस्मिन्नेव काले तु ब्राह्मणा वेदपारगाः।
दृष्ट्वा तु दुर्निमित्तानि जरासंधमदर्शयन् ॥ २२ ॥

इसी समय वेदोंके पारगामी विद्वान् ब्राह्मणोंने अनेक अपशकुन देखकर राजा जरासंधको उनके विषयमें सूचित किया ॥ २२ ॥

पर्यग्न्यकुर्वंश्च नृपं द्विरदस्थं पुरोहिताः।
ततस्तच्छान्तये राजा जरासंधः प्रतापवान्।
दीक्षितो नियमस्थोऽसावुपवासपरोऽभवत् ॥ २३ ॥

पुरोहितोंने राजाको हाथीपर बिठाकर उसके चारों ओर प्रज्वलित आग घुमायी। प्रतापी राजा जरासंधने अनिष्टकी

शान्तिके लिये व्रतकी दीक्षा ले नियमोंका पालन करते हुए उपवास किया ॥ २३ ॥

स्नातकव्रतिनस्ते तु बाहुशस्त्रा निरायुधाः ।
युयुत्सवः प्रविविशुर्जरासंधेन भारत ॥ २४ ॥

भारत ! इधर भगवान् श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन स्नातक-व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मणोंके वेशमें अस्त्र-शस्त्रोंका परित्याग करके अपनी भुजाओंसे ही आयुधोंका काम लेते हुए जरासंधके साथ युद्ध करनेकी इच्छा रखकर नगरमें प्रविष्ट हुए ॥ २४ ॥

भक्ष्यमाल्यापणानां च ददृशुः श्रियमुत्तमाम् ।
स्फीतः सर्वगुणोपेतां सर्वकामसमृद्धिनीम् ॥ २५ ॥
तां तु दृष्ट्वा समृद्धिं ते वीथ्यां तस्यां नरोत्तमाः ।
राजमार्गेण गच्छन्तः कृष्णभीमधनंजयाः ।
बलाद् गृहीत्वा माल्यानि मालाकारान्महाबलाः ॥ २६ ॥

उन्होंने खाने-पीनेकी वस्तुओं, फूल-मालाओं तथा अन्य आवश्यक पदार्थोंकी दूकानोंसे सजे हुए हाट-बाटकी अपूर्व शोभा और सम्पदा देखी । नगरका वह वैभव बहुत बढ़ा-चढ़ा, सर्वगुणसम्पन्न तथा समस्त कामनाओंकी पूर्ति करनेवाला था । उस गलीकी अद्भुत समृद्धिको देखकर वे महाबली नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण, भीम और अर्जुन एक मालीसे बलपूर्वक बहुत सी मालाएँ लेकर नगरकी प्रधान सड़कसे चलने लगे ॥ २५-२६ ॥

विरागवसनाः सर्वे स्रग्विणो मृष्टकुण्डलाः ।
निवेशनमथाजग्मुर्जरासंधस्य धीमतः ॥ २७ ॥

उन सबके वस्त्र अनेक रंगके थे । उन्होंने गलेमें हार और कानोंमें चमकीले कुण्डल पहन रक्खे थे । वे क्रमशः बुद्धिमान् राजा जरासंधके महलके समीप जा पहुँचे ॥ २७ ॥

गोवासमिव वीक्षन्तः सिंहा हैमवता यथा ।
शालस्तम्भनिभास्तेषां चन्दनागुरुरूषिताः ॥ २८ ॥
अशोभन्त महाराज बाहवो युद्धशालिनाम् ।

जैसे हिमालयकी गुफाओंमें रहनेवाले सिंह गौओंका स्थान ढूँढ़ते हुए आगे बढ़ते हों, उसी प्रकार वे तीनों वीर राजभवनकी तलाश करते हुए वहाँ पहुँचे थे । महाराज ! युद्धमें विशेष शोभा पानेवाले उन तीनों वीरोंकी भुजाएँ शालूके लट्ठे जैसी सुशोभित हो रही थीं । उनपर चन्दन और अगुरुका लेप किया गया था ॥ २८½ ॥

तान् दृष्ट्वा द्विरदप्रख्याञ्शालस्कन्धानिवोद्गतान् ।
व्यूढोरस्कान् मागधानां विस्मयः समपद्यत ॥ २९ ॥

सालवृक्षके तनेके समान ऊँचे डील और चौड़ी छातीवाले गजराजसदृश उन बलवान् वीरोंको देखकर मगधनिवासियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥ २९ ॥

ते त्वतीत्य जनाकीर्णाः कक्षास्तिस्रो नरर्षभाः ।
अहंकारेण राजानमुपतस्थुर्गतव्यथाः ॥ ३० ॥

वे नरश्रेष्ठ लोगोंसे भरी हुई तीन ड्योढ़ियोंको पार करके निर्भय एवं निश्चिन्त हो बड़े अभिमानके साथ जरासंधके निकट गये ॥ ३० ॥

तान् पाद्यमधुपर्कार्हान् गवार्हान् सत्कृतिं गतान् ।
प्रत्युत्थाय जरासंध उपतस्थे यथाविधि ॥ ३१ ॥

वे पाद्य, मधुपर्क और गोदान पानेके योग्य थे । उनका सर्वत्र सत्कार होता था । उन्हें आया देख जरासंध उठकर खड़ा हो गया और उसने विधिपूर्वक उनका आतिथ्य-सत्कार किया ॥ ३१ ॥

उवाच चैतान् राजासौ स्वागतं वोऽस्त्विति प्रभुः ।
मौनमासीत् तदा पार्थभीमयोर्जनमेजय ॥ ३२ ॥
तेषां मध्ये महाबुद्धिः कृष्णो वचनमब्रवीत् ।
वक्तुं नायाति राजेन्द्र एतयोर्नियमस्थयोः ॥ ३३ ॥
अर्वाङ्निशीथात् परतस्त्वया सार्धं वदिष्यतः ।

तदनन्तर शक्तिशाली राजाने इन तीनों अतिथियोंसे कहा—'आपलोगोंका स्वागत है ।' जनमेजय ! उस समय अर्जुन और भीमसेन तो मौन थे । उनमेंसे महाबुद्धिमान् श्रीकृष्णने यह बात कही—'राजेन्द्र ! ये दोनों एक नियम ले चुके हैं; अतः आधी रातसे पहले नहीं बोलते । आधी रातके बाद ये दोनों आपसे बात करेंगे' ॥ ३२-३३½ ॥

यज्ञागारे स्थापयित्वा राजा राजगृहं गतः ॥ ३४ ॥
ततोऽर्धरात्रे सम्प्राप्ते यातो यत्र स्थिता द्विजाः ।
तस्य ह्येतद् व्रतं राजन् बभूव भुवि विश्रुतम् ॥ ३५ ॥

तब राजा उन्हें यज्ञशालामें ठहराकर स्वयं राजभवनमें चला गया । फिर आधी रात होनेपर जहाँ वे ब्राह्मण ठहरे थे, वहाँ वह गया । राजन् ! उसका यह नियम भूमण्डलमें विख्यात था ॥ ३४-३५ ॥

स्नातकान् ब्राह्मणान् प्राप्ताञ्छ्रुत्वा स समितिंजयः ।
अप्यर्धरात्रे नृपतिः प्रत्युद्गच्छति भारत ॥ ३६ ॥

भारत ! युद्धविजयी राजा जरासंध स्नातक ब्राह्मणोंका आगमन सुनकर आधी रातके समय भी उनकी आवभगतके लिये उनके पास चला जाता था ॥ ३६ ॥

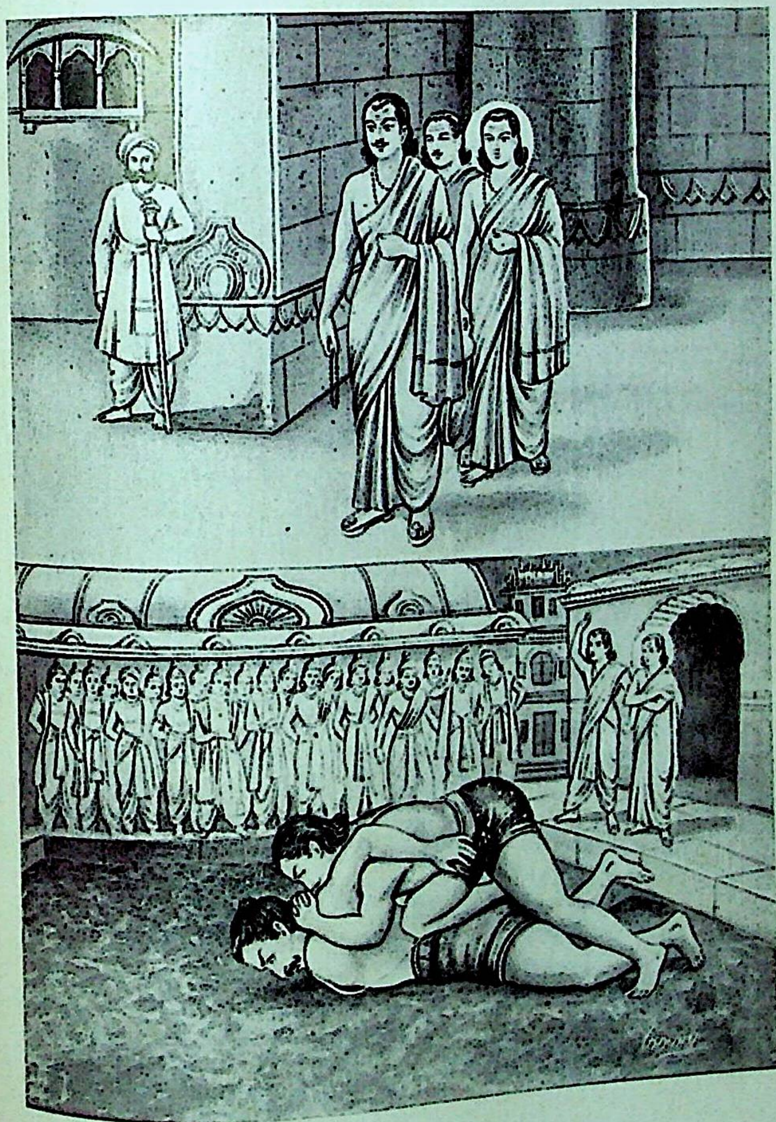
तांस्त्वपूर्वेण वेषेण दृष्ट्वा स नृपसत्तमः ।
उपतस्थे जरासंधो विस्मितश्चाभवत् तदा ॥ ३७ ॥

उन तीनोंको अपूर्व वेषमें देखकर नृपश्रेष्ठ जरासंधको बड़ा विस्मय हुआ । वह उनके पास गया ॥ ३७ ॥

ते तु दृष्ट्वैव राजानं जरासंधं नरर्षभाः ।
इदमूचुरमित्रघ्नाः सर्वे भरतसत्तम ॥ ३८ ॥
स्वस्त्यस्तु कुशलं राजन्निति तत्र व्यवस्थिताः ।
तं नृपं नृपशार्दूल प्रेक्षमाणाः परस्परम् ॥ ३९ ॥

भरतवंशशिरोमणे ! शत्रुओंका नाश करनेवाले वे सभी नरश्रेष्ठ राजा जरासंधको देखते ही इस प्रकार बोले—'महाराज!

जरासंधके भवनमें श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन



भीमसेन और जरासंधका युद्ध

आपका कल्याण हो।' जनमेजय! ऐसा कहकर वे तीनों खड़े हो गये तथा कभी राजा जरासंधको और कभी आपसमें एक दूसरेको देखने लगे ॥ ३८-३९ ॥

तानब्रवीज्जरासंधस्तथा पाण्डवयादवान्।
आस्यतामिति राजेन्द्र ब्राह्मणच्छद्मसंवृतान् ॥ ४० ॥

राजेन्द्र! ब्राह्मणोंके छद्मवेषमें छिपे हुए उन पाण्डव तथा यादव वीरोंको लक्ष्य करके जरासंधने कहा—'आप-लोग बैठ जायँ' ॥ ४० ॥

अथोपविविशुः सर्वे त्रयस्ते पुरुषर्षभाः।
सम्प्रदीप्तास्त्रयो लक्ष्म्या महाध्वर इवाग्नयः ॥ ४१ ॥

फिर वे सभी बैठ गये। वे तीनों पुरुषसिंह महान् यज्ञमें प्रज्वलित तीन अग्नियोंकी भाँति अपनी अपूर्व शोभासे उद्भासित हो रहे थे ॥ ४१ ॥

तानुवाच जरासंधः सत्यसंधो नराधिपः।
विगर्हमाणः कौरव्य वेषग्रहणवैकृतान्।
न स्नातकव्रता विप्रा बहिर्माल्यानुलेपनाः ॥ ४२ ॥
भवन्तीति नृलोकेऽस्मिन् विदितं मम सर्वशः।
के यूयं पुष्पवन्तश्च भुजैर्ज्याकृतलक्षणैः ॥ ४३ ॥

कुरुनन्दन! उस समय सत्यप्रतिज्ञ राजा जरासंधने वेषग्रहणके विपरीत आचरणवाले उन तीनोंकी निन्दा करते हुए कहा—'ब्राह्मणो! इस मानव-जगत्में सर्वत्र प्रसिद्ध है कि स्नातक-व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण समावर्तन आदि विशेष निमित्तके बिना माला और चन्दन नहीं धारण करते। मुझे भी यह अच्छी तरह मालूम है। आपलोग कौन हैं? आपके गलेमें फूलोंकी माला है और भुजाओंमें धनुषकी प्रत्यञ्चाकी रगड़का चिह्न स्पष्ट दिखायी देता है ॥ ४२-४३ ॥

बिभ्रतः क्षात्रमोजश्च ब्राह्मण्यं प्रतिजानथ।
एवं विरागवसना बहिर्माल्यानुलेपनाः।
सत्यं वदत के यूयं सत्यं राजसु शोभते ॥ ४४ ॥

'आपलोग क्षत्रियोचित तेज धारण करते हैं, परंतु ब्राह्मण होनेका परिचय दे रहे हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिके रंगीन कपड़े पहने और अकारण माला तथा चन्दन लगाये हुए आप कौन हैं? सच बताइये। राजाओंमें सत्यकी ही शोभा होती है ॥ ४४ ॥

चैत्यकस्य गिरेः शृङ्गं भित्त्वा किमिह छद्मना।
अद्वारेण प्रविष्टाः स्थ निर्भया राजकिल्बिषात् ॥ ४५ ॥

'चैत्यक पर्वतके शिखरको तोड़कर राजाका अपराध करके भी उससे भयभीत न हो छद्मवेष धारण किये दरवाजेके बिना ही इस नगरमें जो आपलोग घुस आये हैं, इसका क्या कारण है? ॥ ४५ ॥

वदध्वं वाचि वीर्यं च ब्राह्मणस्य विशेषतः।
कर्म चैतद् विलिङ्गस्थं किं वोऽद्य प्रसमीक्षितम् ॥ ४६ ॥

'बताइये, ब्राह्मणके तो प्रायः वचनमें ही वीरता होती है, उसकी क्रियामें नहीं। आपलोगोंने जो यह पर्वतशिखर तोड़नेका काम किया है, यह आपके वर्ण तथा वेषके सर्वथा विपरीत है, बताइये आपने आज क्या सोच रक्खा है? ॥ ४६ ॥

एवं च मामुपास्थाय कस्माच्च विधिनार्हणाम्।
प्रतीतां नानुगृह्णीत कार्यं किं वास्मदागमे ॥ ४७ ॥

'इस प्रकार मेरे यहाँ उपस्थित हो मेरेद्वारा विधिपूर्वक अर्पित की हुई इस पूजाको आपलोग ग्रहण क्यों नहीं करते हैं? फिर मेरे यहाँ आनेका प्रयोजन ही क्या है?' ॥ ४७ ॥

एवमुक्ते ततः कृष्णः प्रत्युवाच महामनाः।
स्निग्धगम्भीरया वाचा वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ ४८ ॥

जरासंधके ऐसा कहनेपर बोलनेमें चतुर महामना श्रीकृष्ण स्निग्ध एवं गम्भीर वाणीमें इस प्रकार बोले ॥ ४८ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

स्नातकान् ब्राह्मणान् राजन् विद्ध्यस्मांस्त्वं नराधिप।
स्नातकव्रतिनो राजन् ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः ॥ ४९ ॥

श्रीकृष्णने कहा—राजन्! तुम हमें (वेषके अनुसार) स्नातक ब्राह्मण समझ सकते हो। वैसे तो स्नातक व्रतका पालन करनेवाले ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य तीनों वर्णोंके लोग होते हैं ॥ ४९ ॥

विशेषनियमाश्चैषामविशेषाश्च सन्त्युत।
विशेषवांश्च सततं क्षत्रियः श्रियमृच्छति ॥ ५० ॥

इन स्नातकोंमें कुछ विशेष नियमका पालन करनेवाले होते हैं और कुछ साधारण। विशेष नियमका पालन करनेवाला क्षत्रिय सदा लक्ष्मीको प्राप्त करता है ॥ ५० ॥

पुष्पवत्सु ध्रुवा श्रीश्च पुष्पवन्तस्ततो वयम्।
क्षत्रियो बाहुवीर्यस्तु न तथा वाक्यवीर्यवान्।
अप्रगल्भं वचस्तस्य तस्माद् बार्हद्रथेरितम् ॥ ५१ ॥

जो पुष्प धारण करनेवाले हैं, उनमें लक्ष्मीका निवास ध्रुव है, इसीलिये हमलोग पुष्पमालाधारी हैं। क्षत्रियका बल और पराक्रम उसकी भुजाओंमें होता है, वह बोलनेमें वैसा वीर नहीं होता। बृहद्रथनन्दन! इसीलिये क्षत्रियका वचन धृष्टतारहित (विनययुक्त) बताया गया है ॥ ५१ ॥

स्ववीर्यं क्षत्रियाणां तु बाह्वोर्धाता न्यवेशयत्।
तद् दिदृक्षसि चेद् राजन् द्रष्टास्यद्य न संशयः ॥ ५२ ॥

विधाताने क्षत्रियोंका अपना बल उनकी भुजाओंमें ही भर दिया है। राजन्! यदि आज उसे देखना चाहते हो, तो निश्चय ही देख लोगे ॥ ५२ ॥

अद्वारेण रिपोर्गेहं द्वारेण सुहृदो गृहान्।
प्रविशन्ति नरा धीरा द्वाराण्येतानि धर्मतः ॥ ५३ ॥

धीर मनुष्य शत्रुके घरमें बिना दरवाजेके और मित्रके घरमें दरवाजेसे जाते हैं। शत्रु और मित्रके लिये ये धर्मतः द्वार बतलाये गये हैं ॥ ५३ ॥

कार्यवन्तो गृहानेत्य शत्रुतो नार्हणां वयम्।
प्रतिगृह्णीम तद् विद्धि एतन्नः शाश्वतं व्रतम् ॥ ५४ ॥

हम अपने कार्यसे तुम्हारे घर आये हैं; अतः शत्रुसे पूजा नहीं ग्रहण कर सकते। इस बातको तुम अच्छी तरह समझ लो। यह हमारा सनातन व्रत है ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि कृष्णजरासंधसंवादे एकविंशोऽध्यायः ॥ २१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें श्रीकृष्णजरासंधसंवादविषयक इक्कीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३ श्लोक मिलाकर कुल ५७ श्लोक हैं)

द्वाविंशोऽध्यायः

जरासंध और श्रीकृष्णका संवाद तथा जरासंधकी युद्धके लिये तैयारी एवं जरासंधका श्रीकृष्णके साथ वैर होनेके कारणका वर्णन

जरासंध उवाच

न स्मरामि कदा वैरं कृतं युष्माभिरित्युत।
चिन्तयंश्च न पश्यामि भवतां प्रति वैकृतम् ॥ १ ॥

जरासंध बोला—ब्राह्मणो! मुझे याद नहीं आता कि कब मैंने आपलोगोंके साथ वैर किया है? बहुत सोचनेपर भी मुझे आपके प्रति अपने द्वारा किया हुआ अपराध नहीं दिखायी देता ॥ १ ॥

वैकृते चासति कथं मन्यध्वं मामनागसम्।
अरिं वै ब्रूत हे विप्राः सतां समय एष हि ॥ २ ॥

विप्रगण! जब मुझसे अपराध ही नहीं हुआ है, तब मुझ निरपराधको आपलोग शत्रु कैसे मान रहे हैं? यह बताइये। क्या यही साधु पुरुषोंका बर्ताव है? ॥ २ ॥

अथ धर्मोपघाताद्धि मनः समुपतप्यते।
योऽनागसि प्रसजति क्षत्रियो हि न संशयः ॥ ३ ॥
अतोऽन्यथा चरँल्लोके धर्मज्ञः सन् महारथः।
वृजिनां गतिमाप्नोति श्रेयसोऽप्युपहन्ति च ॥ ४ ॥

किसीके धर्म (और अर्थ) में बाधा डालनेसे अवश्य ही मनको बड़ा संताप होता है। जो धर्मज्ञ महारथी क्षत्रिय लोकमें धर्मके विपरीत आचरण करता हुआ किसी निरपराध व्यक्तिपर दूसरोंके धन और धर्मके नाशका दोष लगाता है, वह कष्टमयी गतिको प्राप्त होता है और अपनेको कल्याणसे भी वञ्चित कर लेता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ३-४ ॥

त्रैलोक्ये क्षत्रधर्मो हि श्रेयान् वै साधुचारिणाम्।
नान्यं धर्मं प्रशंसन्ति ये च धर्मविदो जनाः ॥ ५ ॥

सत्कर्म करनेवाले क्षत्रियोंके लिये तीनों लोकोंमें क्षत्रिय-धर्म ही श्रेष्ठ है। धर्मज्ञ पुरुष क्षत्रियके लिये अन्य धर्मकी प्रशंसा नहीं करते ॥ ५ ॥

तस्य मेऽद्य स्थितस्येह स्वधर्मे नियतात्मनः।
अनागसं प्रजानां च प्रमादादिव जल्पथ ॥ ६ ॥

मैं अपने मनको वशमें रखकर सदा स्वधर्म (क्षत्रिय-धर्म) में स्थित रहता हूँ। प्रजाओंका भी कोई अपराध नहीं करता, ऐसी दशामें भी आपलोग प्रमादसे ही मुझे शत्रु या अपराधी बता रहे हैं ॥ ६ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

कुलकार्यं महाबाहो कश्चिदेकः कुलोद्वहः।
वहते यस्तन्नियोगाद् वयमभ्युद्यतास्त्वयि ॥ ७ ॥

श्रीकृष्णने कहा—महाबाहो! समूचे कुलमें कोई एक ही पुरुष कुलका भार सँभालता है। उस कुलके सभी लोगोंकी रक्षा आदिका कार्य सम्पन्न करता है। जो वैसे महापुरुष हैं, उन्हींकी आज्ञासे हमलोग आज तुम्हें दण्ड देनेको उद्यत हुए हैं ॥ ७ ॥

त्वया चोपहृता राजन् क्षत्रिया लोकवासिनः।
तदागः क्रूरमुत्पाद्य मन्यसे किमनागसम् ॥ ८ ॥

राजन्! तुमने भूलोकनिवासी क्षत्रियोंको कैद कर लिया है। ऐसे क्रूर अपराधका आयोजन करके भी तुम अपनेको निरपराध कैसे मानते हो? ॥ ८ ॥

राजा राज्ञः कथं साधून् हिंस्यान्नृपतिसत्तम।
तद् राज्ञः संनिगृह्य त्वं रुद्रायोपजिहीर्षसि ॥ ९ ॥

नृपश्रेष्ठ! एक राजा दूसरे श्रेष्ठ राजाओंकी हत्या कैसे कर सकता है? तुम राजाओंको कैद करके उन्हें रुद्रदेवताकी भेंट चढ़ाना चाहते हो? ॥ ९ ॥

अस्मांस्तदेनो गच्छेद्धि कृतं बार्हद्रथ त्वया।
वयं हि शक्ता धर्मस्य रक्षणे धर्मचारिणः ॥ १० ॥

बृहद्रथकुमार! तुम्हारे द्वारा किया हुआ यह पाप हम सब लोगोंपर लागू होगा; क्योंकि हम धर्मकी रक्षा करनेमें समर्थ और धर्मका पालन करनेवाले हैं ॥ १० ॥

मनुष्याणां समालम्भो न च दृष्टः कदाचन।
स कथं मानुषैर्देवं यष्टुमिच्छसि शंकरम् ॥ ११ ॥

किसी देवताकी पूजाके लिये मनुष्योंका वध कभी नहीं देखा गया। फिर तुम कल्याणकारी देवता भगवान् शिवकी पूजा मनुष्योंकी हिंसाद्वारा कैसे करना चाहते हो ? ॥ ११ ॥

सवर्णो हि सवर्णानां पशुसंज्ञां करिष्यसि।
कोऽन्य एवं यथा हि त्वं जरासंध वृथामतिः ॥ १२ ॥

जरासंध ! तुम्हारी बुद्धि मारी गयी है, तुम भी उसी वर्णके हो, जिस वर्णके वे राजालोग हैं। क्या तुम अपने ही वर्णके लोगोंको पशुनाम देकर उनकी हत्या करोगे ? तुम्हारे-जैसा क्रूर दूसरा कौन है ? ॥ १२ ॥

यस्यां यस्यामवस्थायां यद् यत् कर्म करोति यः।
तस्यां तस्यामवस्थायां तत् फलं समवाप्नुयात् ॥ १३ ॥

जो जिस-जिस अवस्थामें जो-जो कर्म करता है, वह उसी उसी अवस्थामें उसके फलको प्राप्त करता है ॥ १३ ॥

ते त्वां ज्ञातिक्षयकरं वयमार्तानुसारिणः।
ज्ञातिवृद्धिनिमित्तार्थं विनिहन्तुमिहागताः ॥ १४ ॥

तुम अपने ही जाति-भाइयोंके हत्यारे हो और हमलोग संकटमें पड़े हुए दीन-दुखियोंकी रक्षा करनेवाले हैं; अतः सजातीय बन्धुओंकी वृद्धिके उद्देश्यसे हम तुम्हारा वध करनेके लिये यहाँ आये हैं ॥ १४ ॥

नास्ति लोके पुमानन्यः क्षत्रियेष्विति चैव तत्।
मन्यसे स च ते राजन् सुमहान् बुद्धिविप्लवः ॥ १५ ॥

राजन् ! तुम जो यह मान बैठे हो कि इस जगत्के क्षत्रियोंमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है, यह तुम्हारी बुद्धिका बहुत बड़ा भ्रम है ॥ १५ ॥

को हि जानन्नभिजनमात्मवान् क्षत्रियो नृप।
नाविशेत् स्वर्गमतुलं रणानन्तरमव्ययम् ॥ १६ ॥

नरेश्वर ! कौन ऐसा स्वाभिमानी क्षत्रिय होगा जो अपने अभिजनको (जातीय बन्धुओंकी रक्षा परम धर्म है, इस बातको) जानते हुए भी युद्ध करके अनुपम एवं अक्षय स्वर्गलोकमें जाना नहीं चाहेगा ? ॥ १६ ॥

स्वर्गं ह्येव समास्थाय रणयज्ञेषु दीक्षिताः।
जयन्ति क्षत्रिया लोकांस्तद् विद्धि मनुजर्षभ ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ ! स्वर्गप्राप्तिका ही उद्देश्य रखकर रणयज्ञकी दीक्षा लेनेवाले क्षत्रिय अपने सभी लोकोंपर विजय पाते हैं, यह बात तुम्हें भलीभाँति जाननी चाहिये ॥ १७ ॥

स्वर्गयोनिर्महद् ब्रह्म स्वर्गयोनिर्महद् यशः।
स्वर्गयोनिस्तपो युद्धे मृत्युः सोऽव्यभिचारवान् ॥ १८ ॥

वेदाध्ययन स्वर्गप्राप्तिका कारण है, परोपकाररूप महान् यश भी स्वर्गका हेतु है, तपस्याको भी स्वर्गलोकका साधन बताया गया है; परंतु क्षत्रियके लिये इन तीनोंकी अपेक्षा युद्धमें मृत्युका वरण करना ही स्वर्गप्राप्तिका अमोघ साधन है ॥ १८ ॥

एष ह्यैन्द्रो वैजयन्तो गुणैर्नित्यं समाहितः।
येनासुरान् पराजित्य जगत् पाति शतक्रतुः ॥ १९ ॥

क्षत्रियका यह युद्धमें मरण इन्द्रका वैजयन्त नामक प्रासाद (राजमहल) है। यह सदा सभी गुणोंसे परिपूर्ण है। इसी युद्धके द्वारा शतक्रतु इन्द्र असुरोंको परास्त करके सम्पूर्ण जगत्की रक्षा करते हैं ॥ १९ ॥

स्वर्गमार्गाय कस्य स्याद् विग्रहो वै यथा तव।
मागधैर्विपुलैः सैन्यैर्बाहुल्यबलदर्पितः ॥ २० ॥
मावमंस्थाः परान् राजन्नस्ति वीर्यं नरे नरे।
समं तेजस्त्वया चैव विशिष्टं वा नरेश्वर ॥ २१ ॥

हमारे साथ जो तुम्हारा युद्ध होनेवाला है, वह तुम्हारे लिये जैसा स्वर्गलोककी प्राप्तिका साधक हो सकता है, वैसा युद्ध और किसको सुलभ है ? मेरे पास बहुत बड़ी सेना एवं शक्ति है, इस घमंडमें आकर मगधदेशकी अगणित सेनाओंद्वारा तुम दूसरोंका अपमान न करो। राजन् ! प्रत्येक मनुष्यमें बल एवं पराक्रम होता है। महाराज ! किसीमें तुम्हारे समान तेज है तो किसीमें तुमसे अधिक भी है ॥ २०-२१ ॥

यावदेतदसम्बुद्धं तावदेव भवेत् तव।
विषह्यमेतदस्माकमतो राजन् ब्रवीमि ते ॥ २२ ॥

भूपाल ! जबतक तुम इस बातको नहीं जानते थे, तभी तक तुम्हारा घमंड बढ़ रहा था। अब तुम्हारा यह अभिमान हमलोगोंके लिये असह्य हो उठा है, इसलिये मैं तुम्हें यह सलाह देता हूँ ॥ २२ ॥

जहि त्वं सदृशेष्वेव मानं दर्पं च मागध।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥ २३ ॥

मगधराज ! तुम अपने समान वीरोंके साथ अभिमान और घमंड करना छोड़ दो। इस घमंडको रखकर अपने पुत्र, मन्त्री और सेनाके साथ यमलोकमें जानेकी तैयारी न करो ॥ २३ ॥

दम्भोद्भवः कार्तवीर्य उत्तरश्च बृहद्रथः।
श्रेयसो ह्यवमन्येह विनेशुः सबला नृपाः ॥ २४ ॥

दम्भोद्भव, कार्तवीर्य अर्जुन, उत्तर तथा बृहद्रथ—ये सभी नरेश अपनेसे बड़ोंका अपमान करके अपनी सेनासहित नष्ट हो गये ॥ २४ ॥

युयुक्षमाणास्त्वत्तो हि न वयं ब्राह्मणा ध्रुवम्।
शौरिरस्मि हृषीकेशो नृवीरौ पाण्डवाविमौ।
अनयोर्मातुलेयं च कृष्णं मां विद्धि ते रिपुम् ॥ २५ ॥

तुमसे युद्धकी इच्छा रखनेवाले हमलोग अवश्य ही ब्राह्मण नहीं हैं। मैं वसुदेवपुत्र हृषीकेश हूँ और ये दोनों पाण्डुपुत्र वीरवर भीमसेन और अर्जुन हैं। मैं इन दोनोंके मामाका पुत्र और तुम्हारा प्रसिद्ध शत्रु श्रीकृष्ण हूँ। मुझे अच्छी तरह पहचान लो ॥ २५ ॥

त्वामाह्वयामहे राजन् स्थिरो युध्यस्व मागध।
मुञ्च वा नृपतीन् सर्वान् गच्छ वा त्वं यमक्षयम् ॥२६॥

मगधनरेश! हम तुम्हें युद्धके लिये ललकारते हैं। तुम डटकर युद्ध करो। तुम या तो समस्त राजाओंको छोड़ दो अथवा यमलोककी राह लो ॥ २६ ॥

जरासंध उवाच

नाजितान् वै नरपतीनहमादद्मि कांश्चन।
अजितः पर्यवस्थाता कोऽत्र यो न मया जितः ॥ २७ ॥

जरासंधने कहा—श्रीकृष्ण! मैं युद्धमें जीते बिना किन्हीं राजाओंको कैद करके यहाँ नहीं लाता हूँ। यहाँ कौन ऐसा शत्रु राजा है, जो दूसरोंसे अजेय होनेपर भी मेरेद्वारा जीत न लिया गया हो? ॥ २७ ॥

क्षत्रियस्यैतदेवाहुर्धर्म्यं कृष्णोपजीवनम्।
विक्रम्य वशमानीय कामतो यत् समाचरेत् ॥ २८ ॥

श्रीकृष्ण! क्षत्रियके लिये तो यह धर्मानुकूल जीविका बतायी गयी है कि वह पराक्रम करके शत्रुको अपने वशमें लाकर फिर उसके साथ मनमाना बर्ताव करे ॥ २८ ॥

देवतार्थमुपाहृत्य राज्ञः कृष्ण कथं भयात्।
अहमद्य विमुच्येयं क्षात्रं व्रतमनुस्मरन् ॥ २९ ॥

श्रीकृष्ण! मैं क्षत्रियके व्रतको सदा याद रखता हुआ देवताको बलि देनेके लिये उपहारके रूपमें लाये हुए इन राजाओंको आज तुम्हारे भयसे कैसे छोड़ सकता हूँ? ॥२९॥

सैन्यं सैन्येन व्यूढेन एक एकेन वा पुनः।
द्वाभ्यां त्रिभिर्वा योत्स्येऽहं युगपत् पृथगेव वा ॥ ३० ॥

तुम्हारी सेना मेरी व्यूहरचनायुक्त सेनाके साथ लड़ ले अथवा तुममेंसे कोई एक मुझ अकेलेके साथ युद्ध करे अथवा मैं अकेला ही तुममेंसे दो या तीनोंके साथ बारी-बारीसे या एक ही साथ युद्ध कर सकता हूँ ॥ ३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा जरासंधः सहदेवाभिषेचनम्।
आज्ञापयत् तदा राजा युयुत्सुर्भीमकर्मभिः ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर भयानक कर्म करनेवाले उन तीनों वीरोंके साथ युद्धकी इच्छा रखकर राजा जरासंधने अपने पुत्र सहदेवके राज्याभिषेककी आज्ञा दे दी ॥ ३१ ॥

स तु सेनापती राजा सस्मार भरतर्षभ।
कौशिकं चित्रसेनं च तस्मिन् युद्ध उपस्थिते ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ! तदनन्तर मगधनरेशने यह युद्ध उपस्थित होनेपर अपने सेनापति कौशिक और चित्रसेनका स्मरण किया (जो उस समय जीवित नहीं थे) ॥ ३२ ॥

ययोस्ते नामनी राजन् हंसेति डिम्भकेति च।
पूर्वं संकथिते पुम्भिर्नृलोके लोकसत्कृते ॥ ३३ ॥

राजन्! ये वे ही थे, जिनके नाम पहले तुमसे हंस और डिम्भक बताये हैं। मनुष्यलोकके सभी पुरुष उनके प्रति बड़े आदरका भाव रखते थे ॥ ३३ ॥

तं तु राजन् विभुः शौरी राजानं बलिनां वरम्।
स्मृत्वा पुरुषशार्दूलः शार्दूलसमविक्रमम् ॥ ३४ ॥
सत्यसंधो जरासंधं भुवि भीमपराक्रमम्।
भागमन्यस्य निर्दिष्टमवध्यं मधुभिर्मृधे ॥ ३५ ॥
नात्मनाऽऽत्मवतां मुख्य इयेष मधुसूदनः।
ब्राह्मीमाज्ञां पुरस्कृत्य हन्तुं हलधरानुजः ॥ ३६ ॥

जनमेजय! मनस्वी पुरुषोंमें सर्वश्रेष्ठ, सत्यप्रतिज्ञ, मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी, वसुदेवपुत्र एवं बलरामके छोटे भाई भगवान् मधुसूदनने दिव्य दृष्टिसे स्मरण करके यह जान लिया था कि सिंहके समान पराक्रमी, बलवानोंमें श्रेष्ठ और भयानक पुरुषार्थ प्रकट करनेवाला यह राजा जरासंध युद्धमें दूसरे वीरका भाग (वध्य) नियत किया गया है। यदुवंशियोंमेंसे किसीके हाथसे उसकी मृत्यु नहीं हो सकती, अतः ब्रह्माजीके आदेशकी रक्षा करनेके लिये उन्होंने स्वयं उसे मारनेकी इच्छा नहीं की ॥ ३४–३६ ॥

(जनमेजय उवाच

किमर्थं वैरिणावास्तामुभौ तौ कृष्णमागधौ।
कथं च निर्जितः संख्ये जरासंधेन माधवः ॥

जनमेजयने पूछा—मुने! भगवान् श्रीकृष्ण और मगधराज जरासंध दोनों एक-दूसरेके शत्रु क्यों हो गये थे? तथा जरासंधने यदुकुलतिलक श्रीकृष्णको युद्धमें कैसे परास्त किया? ॥

कश्च कंसो मागधस्य यस्य हेतोः स वैरवान्।
एतदाचक्ष्व मे सर्वं वैशम्पायन तत्त्वतः ॥

कंस मगधराज जरासंधका कौन था, जिसके लिये उसने भगवान्से वैर ठान लिया। वैशम्पायनजी! ये सब बातें मुझे यथार्थरूपसे बताइये ॥

वैशम्पायन उवाच

यादवानामन्ववाये वसुदेवो महामतिः।
उदपद्यत वार्ष्णेयो ह्युग्रसेनस्य मन्त्रभृत् ॥

वैशम्पायनजीने कहा—राजन्! यदुकुलमें परम बुद्धिमान् वसुदेव उत्पन्न हुए, जो वृष्णिवंशके राजकुमार तथा राजा उग्रसेनके विश्वसनीय मन्त्री थे ॥

उग्रसेनस्य कंसस्तु बभूव बलवान् सुतः।
ज्येष्ठो बहूनां कौरव्य सर्वशस्त्रविशारदः ॥

उग्रसेनका पुत्र बलवान् कंस हुआ, जो उनके अनेक पुत्रोंमें सबसे बड़ा था। कुरुनन्दन! कंसने सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंकी विद्यामें निपुणता प्राप्त की थी ॥

जरासंधस्य दुहिता तस्य भार्यातिविश्रुता ।
राज्यशुल्केन दत्ता सा जरासंधेन धीमता ॥

जरासंधकी पुत्री उसकी सुप्रसिद्ध पत्नी थी, जिसे बुद्धिमान् जरासंधने इस शर्तके साथ दिया था कि इसके पतिको तत्काल राजाके पदपर अभिषिक्त किया जाय ॥

तदर्थमुग्रसेनस्य मथुरायां सुतस्तदा ।
अभिषिक्तस्तदामात्यैः स वै तीव्रपराक्रमः ॥

इस शुल्ककी पूर्तिके लिये उग्रसेनके उस दुःसह पराक्रमी पुत्रको मन्त्रियोंने मथुराके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

ऐश्वर्यबलमत्तस्तु स तदा बलमोहितः ।
निगृह्य पितरं भुङ्क्ते तद् राज्यं मन्त्रिभिः सह ॥

तब ऐश्वर्यके बलसे उन्मत्त और शारीरिक शक्तिसे मोहित हो कंस अपने पिताको कैद करके मन्त्रियोंके साथ उनका राज्य भोगने लगा ॥

वसुदेवस्य तत् कृत्यं न शृणोति स मन्दधीः ।
स तेन सह तद् राज्यं धर्मतः पर्यपालयत् ॥

मन्दबुद्धि कंस वसुदेवजीके कर्तव्य-विषयक उपदेशको नहीं सुनता था, तो भी उसके साथ रहकर वसुदेवजी मथुराके राज्यका धर्मपूर्वक पालन करने लगे ॥

प्रीतिमान् स तु दैत्येन्द्रो वसुदेवस्य देवकीम् ।
उवाह भार्यां स तदा दुहिता देवकस्य या ॥

दैत्यराज कंसने अत्यन्त प्रसन्न होकर वसुदेवजीके साथ देवकीका ब्याह कर दिया, जो उग्रसेनके भाई देवककी पुत्री थी ॥

तस्यामुह्यमानायां रथेन जनमेजय ।
उपारुरोह वार्ष्णेयं कंसो भूमिपतिस्तदा ॥

जनमेजय ! जब रथपर बैठकर देवकी विदा होने लगी, तब राजा कंस भी उसे पहुँचानेके लिये वृष्णिवंशविभूषण वसुदेवजीके पास उस रथपर जा बैठा ॥

ततोऽन्तरिक्षे वागासीद् देवदूतस्य कस्यचित् ।
वसुदेवश्च शुश्राव तां वाचं पार्थिवश्च सः ॥

इसी समय आकाशमें किसी देवदूतकी वाणी स्पष्ट सुनायी देने लगी। वसुदेवजीने तो उसे सुना ही, राजा कंसने भी सुना॥

यामेतां वहमानोऽद्य कंसोद्वहसि देवकीम् ।
अस्या यश्चाष्टमो गर्भः स ते मृत्युर्भविष्यति ॥

देवदूत कह रहा था—'कंस ! आज तू जिस देवकीको रथपर बिठाकर लिये जा रहा है, उसका आठवाँ गर्भ तेरी मृत्युका कारण होगा ॥

सोऽवतीर्य ततो राजा खड्गमुद्धृत्य निर्मलम् ।
इयेष तस्या मूर्धानं छेत्तुं परमदुर्मतिः ॥

यह आकाशवाणी सुनते ही अत्यन्त खोटी बुद्धिवाले राजा कंसने म्यानसे चमचमाती हुई तलवार खींच ली और देवकीका सिर काट लेनेका विचार किया ॥

स सान्त्वयंस्तदा कंसं हसन् क्रोधवशानुगम् ।
राजन्ननुनयामास वसुदेवो महामतिः ॥

राजन् ! उस समय परम बुद्धिमान् वसुदेवजी हँसते हुए क्रोधके वशीभूत हुए कंसको सान्त्वना दे उसकी अनुनय-विनय करने लगे—॥

अहिंस्यां प्रमदामाहुः सर्वधर्मेषु पार्थिव ।
अकस्मादबलां नारीं हन्तासीमामनागसीम् ॥

'पृथ्वीपते ! प्रायः सभी धर्मोंमें नारीको अवध्य बताया गया है । क्या तुम इस निर्बल एवं निरपराध नारीको सहसा मार डालोगे ? ॥

यच्च तेऽत्र भयं राजन् शक्यते बाधितुं त्वया ।
इयं च शक्या पालयितुं समयश्चैव रक्षितुम् ॥

'राजन् ! इससे जो तुम्हें भय प्राप्त होनेवाला है, उसका तो तुम निवारण कर सकते हो । तुम्हें इसकी रक्षा करनी चाहिये और मुझे इसकी प्राणरक्षाके लिये जो शर्त निश्चित हो, उसका पालन करना चाहिये ॥

अस्यास्त्वमष्टमं गर्भं जातमात्रं महीपते ।
विध्वंसय तदा प्राप्तमेवं परिहृतं भवेत् ॥

'राजन् ! इसके आठवें गर्भको तुम पैदा होते ही नष्ट कर देना । इस प्रकार तुमपर आयी हुई विपत्ति टल सकती है' ॥

एवं स राजा कथितो वसुदेवेन भारत ।
तस्य तद् वचनं चक्रे शूरसेनाधिपस्तदा ॥
ततस्तस्यां सम्बभूवुः कुमाराः सूर्यवर्चसः ।
जाताञ्जातांस्तु तान् सर्वाञ्जघान मधुरेश्वरः ॥

भरतनन्दन ! वसुदेवजीके ऐसा कहनेपर शूरसेनदेशके राजा कंसने उनकी बात मान ली । तदनन्तर देवकीके गर्भसे सूर्यके समान तेजस्वी अनेक कुमार क्रमशः उत्पन्न हुए । मथुरानरेश कंस जन्म लेते ही उन सबको मार डालता था ॥

अथ तस्यां समभवद् बलदेवस्तु सप्तमः ।
याम्यया मायया तं तु यमो राजा विशाम्पते ॥
देवक्या गर्भमतुलं रोहिण्या जठरेऽक्षिपत् ।
आकृष्य कर्षणात् सम्यक् संकर्षण इति स्मृतः ॥
बलश्रेष्ठतया तस्य बलदेव इति स्मृतः ।

तदनन्तर देवकीके उदरमें सातवें गर्भके रूपमें बलदेवका आगमन हुआ । राजन् ! यमराजने यमसम्बन्धिनी मायाके द्वारा उस अनुपम गर्भको देवकीके उदरसे निकालकर रोहिणी की कुक्षिमें स्थापित कर दिया । आकर्षण होनेके कारण उस बालकका नाम संकर्षण हुआ । बलमें प्रधान होनेसे उसका नाम बलदेव हुआ ॥

पुनस्तस्यां समभवदष्टमो मधुसूदनः ॥
तस्य गर्भस्य रक्षां तु चक्रे सोऽभ्यधिकं नृपः।

तत्पश्चात् देवकीके उदरमें आठवें गर्भके रूपमें साक्षात् भगवान् मधुसूदनका आविर्भाव हुआ। राजा कंसने बड़े यत्नसे उस गर्भकी रक्षा की ॥

ततः काले रक्षणार्थं वसुदेवस्य सात्वतः ॥
उग्रः प्रयुक्तः कंसेन सचिवः क्रूरकर्मकृत्।
विमूढेषु प्रभावेन बालस्योत्तीर्य तत्र वै ॥
उपागम्य स घोषे तु जगाम स महाद्युतिः।
जातमात्रं वासुदेवमथाकृष्य पिता ततः ॥
उपजह्रे परिक्रीतां सुतां गोपस्य कस्यचित्।

तदनन्तर प्रसवकाल आनेपर सात्वतवंशी वसुदेवपर कड़ी नजर रखनेके लिये कंसने उग्र स्वभाववाले अपने क्रूरकर्मा मन्त्रीको नियुक्त किया। परंतु बालस्वरूप श्रीकृष्णके प्रभावसे रक्षकोंके निद्रासे मोहित हो जानेपर वहाँसे उठकर महातेजस्वी वसुदेवजी बालकके साथ व्रजमें चले गये। नवजात वासुदेवको मथुरासे हटाकर पिता वसुदेवने उसके बदलेमें किसी गोपकी पुत्रीको लाकर कंसको भेंट कर दिया ॥

मुमुक्षमाणस्तं शब्दं देवदूतस्य पार्थिवः ॥
जघान कंसस्तां कन्यां प्रहसन्ती जगाम सा।
आर्येति वाशती शब्दं तस्मादार्येति कीर्तिता ॥

देवदूतके कहे हुए पूर्वोक्त शब्दका स्मरण करके उसके भयसे छूटनेकी इच्छा रखनेवाले कंसने उस कन्याको भी पृथ्वीपर दे मारा। परंतु वह कन्या उसके हाथसे छूटकर हँसती और आर्य शब्दका उच्चारण करती हुई वहाँसे चली गयी। इसीलिये उसका नाम 'आर्या' हुआ ॥

एवं तं वञ्चयित्वा च राजानं स महामतिः।
वासुदेवं महात्मानं वर्धयामास गोकुले ॥

परम बुद्धिमान् वसुदेवने इस प्रकार राजा कंसको चकमा देकर गोकुलमें अपने महात्मा पुत्र वासुदेवका पालन कराया ॥

वासुदेवोऽपि गोपेषु ववृधेऽब्जमिवाम्भसि।
अज्ञायमानः कंसेन गूढोऽग्निरिव दारुषु ॥

वासुदेव भी पानीमें कमलकी भाँति गोपोंमें रहकर बड़े हुए। काठमें छिपी हुई अग्निकी भाँति वे अज्ञातभावसे वहाँ रहने लगे। कंसको उनका पता न चला ॥

विप्रचक्रेऽथ तान् सर्वान् वल्लवान् मथुरेश्वरः।
वर्धमानो महाबाहुस्तेजोबलसमन्वितः ॥

मथुरानरेश कंस उन सब गोपोंको बहुत सताया करता था। इधर महाबाहु श्रीकृष्ण बड़े होकर तेज और बलसे सम्पन्न हो गये ॥

ततस्ते क्लिश्यमानास्तु पुण्डरीकाक्षमच्युतम्।
भयेन कामादपरे गणशः पर्यवारयन् ॥

राजाके सताये हुए गोपगण भय तथा कामनासे झुंड-के-झुंड एकत्र हो कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णके पास संगठित होने लगे ॥

स तु लब्ध्वा बलं राजन्नुग्रसेनस्य सम्मतः।
वसुदेवात्मजः सर्वैर्भ्रातृभिः सहितं पुनः ॥
निर्जित्य युधि भोजेन्द्रं हत्वा कंसं महाबलः।
अभ्यषिञ्चत् ततो राज्य उग्रसेनं विशाम्पते ॥

राजन्! इस प्रकार बलका संग्रह करके महाबली वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने उग्रसेनकी सम्मतिके अनुसार समस्त भाइयोंके साथ भोजराज कंसको मारकर पुनः उग्रसेनको ही मथुराके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

ततः श्रुत्वा जरासंधो माधवेन हतं युधि।
शूरसेनाधिपं चक्रे कंसपुत्रं तदा नृपः ॥

राजन्! जरासंधने जब यह सुना कि श्रीकृष्णने कंसको युद्धमें मार डाला है, तब उसने कंसके पुत्रको शूरसेन देशका राजा बनाया ॥

स सैन्यं महदुत्थाप्य वासुदेवं प्रसह्य च।
अभ्यषिञ्चत् सुतं तत्र सुताया जनमेजय ॥

जनमेजय! उसने बड़ी भारी सेना लेकर आक्रमण किया और वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णको हराकर अपनी पुत्रीके पुत्रको वहाँ राज्यपर अभिषिक्त कर दिया ॥

उग्रसेनं च वृष्णींश्च महाबलसमन्वितः।
स तत्र विप्रकुरुते जरासंधः प्रतापवान् ॥
एतद् वैरं कौरवेय जरासंधस्य माधवे।

जनमेजय! प्रतापी जरासंध महान् बल और सैनिक शक्तिसे सम्पन्न था। वह उग्रसेन तथा वृष्णिवंशियोंको क्लेश पहुँचाया करता था। कुरुनन्दन! जरासंध और श्रीकृष्णके वैरका यही वृत्तान्त है ॥

आशासितार्थं राजेन्द्र संरुरोध विनिर्जितान्।
पार्थिवैस्तैर्नृपतिभिर्यक्ष्यमाणः समृद्धिमान् ॥
देवश्रेष्ठं महादेवं कृत्तिवासं त्रियम्बकम्।
एतत् सर्वं यथा वृत्तं कथितं भरतर्षभ ॥
यथा तु स हतो राजा भीमसेनेन तच्छृणु।

राजेन्द्र! समृद्धिशाली जरासंध कृत्तिवासा और त्र्यम्बक नामोंसे प्रसिद्ध देवश्रेष्ठ महादेवजीको भूमण्डलके राजाओंकी बलि देकर उनका यजन करना चाहता था और इसी मनोरथसे

प्रयोजनकी सिद्धिके लिये उसने अपने जीते हुए समस्त राजाओंको कैदमें डाल रक्खा था। भरतश्रेष्ठ! यह सब वृत्तान्त तुम्हें यथावत् बताया गया। अब जिस प्रकार भीमसेनने राजा जरासंधका वध किया, वह प्रसङ्ग सुनो॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधयुद्धोद्योगे द्वाविंशोऽध्यायः ॥ २२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधका युद्धके लिये उद्योगविषयक बाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २२ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३९ श्लोक मिलाकर कुल ७५ श्लोक हैं)

त्रयोविंशोऽध्यायः

जरासंधका भीमसेनके साथ युद्ध करनेका निश्चय, भीम और जरासंधका भयानक युद्ध और जरासंधकी थकावट

वैशम्पायन उवाच

ततस्तं निश्चितात्मानं युद्धाय यदुनन्दनः।
उवाच वाग्मी राजानं जरासंधमधोक्षजः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा जरासंधने अपने मनमें युद्धका निश्चय कर लिया है, यह देख बोलनेमें कुशल यदुनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उससे कहा॥ १॥

श्रीकृष्ण उवाच

त्रयाणां केन ते राजन् योद्धुमुत्सहते मनः।
अस्मदन्यतमेनेह सज्जीभवतु को युधि॥ २॥

श्रीकृष्णने पूछा—राजन्! हम तीनोंमेंसे किस एक व्यक्तिके साथ युद्ध करनेके लिये तुम्हारे मनमें उत्साह हो रहा है? हममेंसे कौन तुम्हारे साथ युद्धके लिये तैयार हो॥ २॥

एवमुक्तः स नृपतिर्युद्धं वव्रे महाद्युतिः।
जरासंधस्ततो राजा भीमसेनेन मागधः॥ ३॥

उनके इस प्रकार पूछनेपर महातेजस्वी मगधनरेश राजा जरासंधने भीमसेनके साथ युद्ध करना स्वीकार किया॥ ३॥

आदाय रोचनां माल्यं मङ्गल्यान्यपराणि च।
धारयन्नगदान् मुख्यान् निर्वृतीर्वेदनानि च।
उपतस्थे जरासंधं युयुत्सुं वै पुरोहितः॥ ४॥

जरासंधको युद्ध करनेके लिये उत्सुक देख उसके पुरोहित गोरोचन, माला, अन्यान्य माङ्गलिक वस्तुएँ तथा उत्तम-उत्तम ओषधियाँ, जो पीड़ाके समय भी सुख देनेवाली और मूर्च्छाकालमें भी होश बनाये रखनेवाली थीं, लेकर उसके पास आये॥ ४॥

कृतस्वस्त्ययनो राजा ब्राह्मणेन यशस्विना।
समनह्यज्जरासंधः क्षात्रं धर्ममनुस्मरन्॥ ५॥

यशस्वी ब्राह्मणके द्वारा स्वस्तिवाचन सम्पन्न हो जानेपर जरासंध क्षत्रियधर्मका स्मरण करके युद्धके लिये कमर कसकर तैयार हो गया॥ ५॥

अवमुच्य किरीटं स केशान् समनुगृह्य च।
उदतिष्ठज्जरासंधो वेलातिग इवार्णवः॥ ६॥

जरासंधने किरीट उतारकर केशोंको कसकर बाँध लिया। तत्पश्चात् वह युद्धके लिये उठकर खड़ा हो गया; मानो महासागर अपनी मर्यादा—तटवर्तिनी भूमिको लाँघ जानेको उद्यत हो गया हो॥ ६॥

उवाच मतिमान् राजा भीमं भीमपराक्रमः।
भीम योत्स्ये त्वया सार्धं श्रेयसा निर्जितं वरम्॥ ७॥

उस समय भयानक पराक्रम करनेवाले बुद्धिमान् राजा जरासंधने भीमसेनसे कहा—'भीम! आओ, मैं तुमसे युद्ध करूँगा; क्योंकि श्रेष्ठ पुरुषसे लड़कर हारना भी अच्छा है'॥ ७॥

एवमुक्त्वा जरासंधो भीमसेनमरिंदमः।
प्रत्युद्ययौ महातेजाः शक्रं बल इवासुरः॥ ८॥

ऐसा कहकर महातेजस्वी शत्रुदमन जरासंध भीमसेनकी ओर बढ़ा; मानो बल नामक असुर इन्द्रसे भिड़नेके लिये बढ़ा आ रहा हो॥ ८॥

ततः सम्मन्त्र्य कृष्णेन कृतस्वस्त्ययनो बली।
भीमसेनो जरासंधमाससाद युयुत्सया॥ ९॥

तदनन्तर बलवान् भीमसेन भी श्रीकृष्णसे सलाह लेकर स्वस्तिवाचनके अनन्तर युद्धकी इच्छासे जरासंधके पास आ धमके॥ ९॥

ततस्तौ नरशार्दूलौ बाहुशस्त्रौ समीयतुः।
वीरौ परमसंहृष्टावन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ॥ १०॥

फिर तो मनुष्योंमें सिंहके समान पराक्रमी वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष और उत्साहमें भरकर एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छासे अपनी भुजाओंसे ही आयुधका काम लेते हुए परस्पर भिड़ गये॥ १०॥

करग्रहणपूर्वं तु कृत्वा पादाभिवन्दनम्।
कक्षैः कक्षां विधुन्वानावास्फोटं तत्र चक्रतुः॥ ११॥

पहले उन दोनोंने हाथ मिलाये; फिर एक-दूसरेके चरणोंका अभिवन्दन किया। तत्पश्चात् भुजाओंके मूलभागके

मंचालनसे वहाँ बँधे हुए बाजूबंदकी डोरको हिलाते हुए वे दोनों वीर वहीं ताल ठोंकने लगे ॥ ११ ॥

स्कन्धे दोर्भ्यां समाहत्य निहत्य च मुहुर्मुहुः ।
अङ्गमङ्गैः समाश्लिष्य पुनरास्फालनं विभो ॥ १२ ॥

राजन्! फिर वे दोनों हाथोंसे एक-दूसरेके कंधेपर बार-बार चोट करते हुए अङ्ग-अङ्गसे भिड़कर आपसमें गुँथ गये तथा एक-दूसरेको बार-बार रगड़ने लगे ॥ १२ ॥

चित्रहस्तादिकं कृत्वा कक्षाबन्धं च चक्रतुः ।
गलगण्डाभिघातेन सस्फुलिङ्गेन चाशनिम् ॥ १३ ॥

वे कभी हाथोंको बड़े वेगसे सिकोड़ लेते, कभी फैला देते, कभी ऊपर-नीचे चलाते और कभी मुट्ठी बाँध लेते। इस प्रकार चित्रहस्त आदि दाँव दिखाकर उन दोनोंने कक्षा-बन्धका प्रयोग किया अर्थात् एक दूसरेकी काख या कमरमें दोनों हाथ डालकर प्रतिद्वन्द्वीको बाँध लेनेकी चेष्टा की। फिर गलेमें और गालमें ऐसे-ऐसे हाथ मारने लगे कि आगकी चिनगारी-सी निकलने लगी और वज्रपातका-सा शब्द होने लगा ॥ १३ ॥

बाहुपाशादिकं कृत्वा पादाहतशिरावुभौ ।
उरोहस्तं ततश्चक्रे पूर्णकुम्भौ प्रयुज्य तौ ॥ १४ ॥

तत्पश्चात् वे 'बाहुपाश' और 'चरणपाश' आदि दाँव-पेंचोंसे काम लेते हुए एक-दूसरेपर पैरोंसे ऐसा भीषण प्रहार करने लगे कि शरीरकी नस-नाड़ियाँ तक पीड़ित हो उठीं। तदनन्तर दोनोंने दोनोंपर 'पूर्णकुम्भ' नामक दाँव लगाया (दोनों हाथोंकी अङ्गुलियोंको परस्पर गूँथकर उन हाथोंकी हथेलियोंसे शत्रुके सिरको दबाया)। इसके बाद 'उरोहस्त'का प्रयोग किया (छातीपर थप्पड़ मारना शुरू कर दिया) ॥ १४ ॥

करसम्पीडनं कृत्वा गर्जन्तौ वारणाविव ।
नर्दन्तौ मेघसंकाशौ बाहुप्रहरणावुभौ ॥ १५ ॥

फिर एक-दूसरेके हाथ दबाकर वे दोनों दो गजराजोंकी भाँति गर्जने लगे। दोनों ही भुजाओंसे प्रहार करते हुए मेघके समान गम्भीर स्वरसे सिंहनाद करने लगे ॥ १५ ॥

तलेनाहन्यमानौ तु अन्योन्यं कृतवीक्षणौ ।
सिंहाविव सुसंक्रुद्धावाकृष्याकृष्य युध्यताम् ॥ १६ ॥

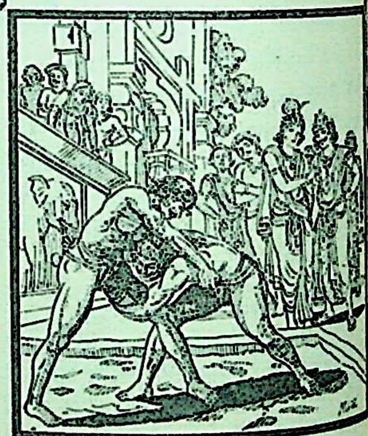
थप्पड़ोंकी मार खाकर वे परस्पर घूर-घूरकर देखते और अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए दो सिंहोंके समान एक-दूसरेको खींच-खींचकर लड़ने लगे ॥ १६ ॥

अङ्गेनाङ्गं समापीड्य बाहुभ्यामुभयोरपि ।
आवृत्य बाहुभिश्चापि उदरं च प्रचक्रतुः ॥ १७ ॥

उस समय दोनों अपने अङ्गों और भुजाओंसे प्रतिद्वन्द्वीके शरीरको दबाकर शत्रुकी पीठमें अपने गलेकी हँसली भिड़ाकर उसके पेटको दोनों बाँहोंसे कस लेते और उठाकर दूर फेंक देते।

उभौ कट्यां सुपार्श्वे तु तक्षवन्तौ च शिक्षितौ।
अधोहस्तं स्वकण्ठे तूदरस्योरसि चाक्षिपत् ॥ १८ ॥

इस प्रकार कमरमें और बगलमें भी हाथ डालकर दोनों प्रतिद्वन्द्वीको पछाड़नेकी चेष्टा करते थे। अपने अङ्गोंको सिकोड़कर शत्रुकी पकड़से छूट जानेकी कला दोनों जानते थे। दोनों ही मल्लयुद्धकी शिक्षामें प्रवीण थे। वे उदरके नीचे हाथ लगाकर दोनों हाथोंसे पेटको लपेट लेते और फिर कण्ठ एवं छातीतक ऊँचे उठाकर धरतीपर दे मारते थे ॥ १८ ॥



सर्वातिक्रान्तमर्यादं पृष्ठभङ्गं च चक्रतुः।
सम्पूर्णमूर्च्छां बाहुभ्यां पूर्णकुम्भं प्रचक्रतुः ॥ १९ ॥

फिर वे सारी मर्यादाओंसे ऊँचे उठे हुए 'पृष्ठभङ्ग' नामक दाँव-पेंचसे काम लेने लगे (अर्थात् एक दूसरेकी पीठको धरतीसे लगा देनेकी चेष्टामें लग गये)। दोनों भुजाओंद्वारा सम्पूर्ण मूर्च्छा (उदर आदिमें आघात करके मूर्च्छित करनेका प्रयत्न) तथा पूर्वोक्त पूर्णकुम्भका प्रयोग करने लगे ॥ १९ ॥

तृणपीडं यथाकामं पूर्णयोगं समुष्टिकम्।
एवमादीनि युद्धानि प्रकुर्वन्तौ परस्परम् ॥ २० ॥

तदनन्तर वे अपनी इच्छाके अनुसार 'तृणपीड' (रस्सी बनानेके लिये बटे जानेवाले तिनकोंकी भाँति हाथ-पैर आदिको ऐंठना) तथा मुष्टिकाघातसहित पूर्णयोग (मुक्के एक अङ्गमें मारनेकी चेष्टा दिखाकर दूसरे अङ्गमें आघात करना) आदि युद्धके दाँव-पेंचोंका प्रयोग एक-दूसरेपर करने लगे ॥ २० ॥

तयोर्युद्धं ततो द्रष्टुं समेताः पुरवासिनः।
ब्राह्मणा वणिजश्चैव क्षत्रियाश्च सहस्रशः ॥ २१ ॥

...द्राश्च नरशार्दूल स्त्रियो वृद्धाश्च सर्वशः।
...निरन्तरमभूत् तत्र जनौघैरभिसंवृतम् ॥ २२ ॥

जनमेजय! उस समय उनका मल्लयुद्ध देखनेके लिये ...हजारों पुरवासी ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ एवं ...ह इकट्ठे हो गये। मनुष्योंकी अपार भीड़से वह स्थान ...ठसाठस भर गया ॥ २१-२२ ॥

...योरथ भुजाघातान्निग्रहप्रग्रहात् तथा।
...आसीत् सुभीमसम्पातो वज्रपर्वतयोरिव ॥ २३ ॥

उन दोनोंकी भुजाओंके आघातसे तथा एक-दूसरेके ...निग्रह-प्रग्रहसे ऐसा भयंकर चटचट शब्द होता था, मानो ...वज्र और पर्वत परस्पर टकरा रहे हों ॥ २३ ॥

...तौ परमसंहृष्टौ बलेन बलिनां वरौ।
...अन्योन्यस्यान्तरं प्रेप्सू परस्परजयैषिणौ ॥ २४ ॥

बलवानोंमें श्रेष्ठ वे दोनों वीर अत्यन्त हर्ष एवं उत्साहमें ...भरे हुए थे और एक-दूसरेकी दुर्बलता या असावधानीपर दृष्टि ...रखते हुए परस्पर बलपूर्वक विजय पानेकी इच्छा रखते थे ॥

...भीममुत्सार्यजनं युद्धमासीदुपह्वरे।
...बलिनोः संयुगे राजन् वृत्रवासवयोरिव ॥ २५ ॥

राजन्! उस समरभूमिमें, जहाँ वृत्रासुर और इन्द्रकी भाँति ...उन दोनों बलवान् वीरोंमें संघर्ष छिड़ा था, ऐसा भयंकर ...युद्ध हुआ कि दर्शकलोग दूर भाग खड़े हुए ॥ २५ ॥

...प्रकर्षणाकर्षणाभ्यामनुकर्षविकर्षणैः।
...आचकर्षतुरन्योन्यं जानुभिश्चावजघ्नतुः ॥ २६ ॥

वे एक-दूसरेको पीछे ढकेलते और आगे खींचते थे। ...बार-बार खींचतान और छीना-झपटी करते थे। दोनोंने अपने ...एक-दूसरेके शरीरमें खरोंच एवं घाव पैदा कर ...और दोनों दोनोंको पटककर घुटनोंसे मारने तथा ...लगे ॥ २६ ॥

...ततः शब्देन महता भर्त्सयन्तौ परस्परम्।
...पाषाणसंघातनिभैः प्रहारैरभिजघ्नतुः ॥ २७ ॥

...फिर बड़े भारी गर्जन-तर्जनके द्वारा आपसमें डाँट बताते ...हुए एक-दूसरेपर ऐसे प्रहार करने लगे मानो पत्थरोंकी वर्षा ...कर रहे हों ॥ २७ ॥

...व्यूढोरस्कौ दीर्घभुजौ नियुद्धकुशलावुभौ।
...बाहुभिः समसज्जेतामायसैः परिघैरिव ॥ २८ ॥

दोनोंकी छाती चौड़ी और भुजाएँ बड़ी-बड़ी थीं। दोनों ही मल्लयुद्धमें कुशल थे और लोहेकी परिघ-जैसी मोटी भुजाओंको भिड़ाकर आपसमें गुँथ जाते थे ॥ २८ ॥

कार्तिकस्य तु मासस्य प्रवृत्तं प्रथमेऽहनि।
अनाहारं दिवारात्रमविश्रान्तमवर्तत ॥ २९ ॥

कार्तिक मासके पहले दिन उन दोनोंका युद्ध प्रारम्भ हुआ और दिन-रात बिना खाये-पिये अविरामगतिसे चलता रहा ॥ २९ ॥

तद् वृत्तं तु त्रयोदश्यां समवेतं महात्मनोः।
चतुर्दश्यां निशायां तु निवृत्तो मागधः क्लमात्॥ ३० ॥

उन महात्माओंका वह युद्ध इसी रूपमें त्रयोदशीतक होता रहा। चतुर्दशीकी रातमें मगधनरेश जरासंध क्लेशसे थककर युद्धसे निवृत्त-सा होने लगा ॥ ३० ॥

तं राजानं तथा क्लान्तं दृष्ट्वा राजञ्जनार्दनः।
उवाच भीमकर्माणं भीमं सम्बोधयन्निव ॥ ३१ ॥

राजन्! उसे इस प्रकार थका देख भगवान् श्रीकृष्ण भयानक कर्म करनेवाले भीमसेनको समझाते हुए-से बोले—॥ ३१ ॥

क्लान्तः शत्रुर्न कौन्तेय लभ्यः पीडयितुं रणे।
पीड्यमानो हि कार्त्स्न्येन जह्याज्जीवितमात्मनः॥ ३२ ॥

'कुन्तीनन्दन! शत्रु थक गया हो तो युद्धमें उसे अधिक पीड़ा देना उचित नहीं है। यदि उसे पूर्णतः पीड़ा दी जाय तो वह अपने प्राण त्याग देगा ॥ ३२ ॥

तस्मात् ते नैव कौन्तेय पीडनीयो जनाधिपः।
सममेतेन युध्यस्व बाहुभ्यां भरतर्षभ ॥ ३३ ॥

'अतः पार्थ! तुम्हें राजा जरासंधको अधिक पीड़ा नहीं देनी चाहिये। भरतश्रेष्ठ! तुम अपनी भुजाओंद्वारा इनके साथ समभावसे ही युद्ध करो' ॥ ३३ ॥

एवमुक्तः स कृष्णेन पाण्डवः परवीरहा।
जरासंधस्य तद् रूपं ज्ञात्वा चक्रे मतिं वधे ॥ ३४ ॥

भगवान् श्रीकृष्णके ऐसा कहनेपर शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुकुमार भीमसेनने जरासंधको थका हुआ जानकर उसके वधका विचार किया ॥ ३४ ॥

ततस्तमजितं जेतुं जरासंधं वृकोदरः।
संरम्भं बलिनां श्रेष्ठो जग्राह कुरुनन्दनः ॥ ३५ ॥

तदनन्तर कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले बलवानोंमें श्रेष्ठ वृकोदरने उस अपराजित शत्रु जरासंधको जीतनेके लिये भारी क्रोध धारण किया ॥ ३५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधक्लान्तौ त्रयोविंशोऽध्यायः ॥ २३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधकी थकावटसे सम्बन्ध रखनेवाला तेईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २३ ॥

---

१. दोनों हाथोंसे शत्रुका कंधा पकड़कर खींचने और उसे नीचे मुख गिरानेकी चेष्टाका नाम 'निग्रह' है तथा शत्रुको उत्तान ...देनेके लिये उसके पैरोंको पकड़कर खींचना 'प्रग्रह' कहलाता है।

चतुर्विंशोऽध्यायः

भीमके द्वारा जरासंधका वध, बंदी राजाओंकी मुक्ति, श्रीकृष्ण आदिका भेंट लेकर इन्द्रप्रस्थमें आना और वहाँसे श्रीकृष्णका द्वारका जाना

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनस्ततः कृष्णमुवाच यदुनन्दनम्।
बुद्धिमास्थाय विपुलां जरासंधवधेप्सया॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर भीमसेनने विशाल बुद्धिका सहारा ले जरासंधके वधकी इच्छासे यदुनन्दन श्रीकृष्णको सम्बोधित करके कहा—॥ १॥

नायं पापो मया कृष्ण युक्तः स्यादनुरोधितुम्।
प्राणेन यदुशार्दूल बद्धकक्षेण वाससा॥ २॥

'यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण! जरासंधने लंगोटसे अपनी कमर खूब कस ली है। यह पापी प्राण रहते मेरे वशमें आनेवाला नहीं जान पड़ता'॥ २॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णः प्रत्युवाच वृकोदरम्।
त्वरयन् पुरुषव्याघ्रो जरासंधवधेप्सया॥ ३॥

उनके ऐसा कहनेपर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने जरासंधके वधके लिये भीमसेनको उत्तेजित करते हुए कहा—॥ ३॥

यत् ते दैवं परं सत्त्वं यच्च ते मातरिश्वनः।
बलं भीम जरासंधे दर्शयाशु तदद्य नः॥ ४॥

'भीम! तुम्हारा जो सर्वोत्कृष्ट दैवी स्वरूप है और तुम्हें वायुदेवतासे जो दिव्य बल प्राप्त हुआ है, उसे आज हमारे सामने जरासंधपर शीघ्रतापूर्वक दिखाओ'॥ ४॥

(तवैष वध्यो दुर्बुद्धिः जरासंधो महारथः।
इत्यन्तरिक्षे त्वश्रौषं यदा वायुरपोह्यते॥

'यह खोटी बुद्धिवाला महारथी जरासंध तुम्हारे हाथोंसे ही मारा जा सकता है। यह बात आकाशमें मुझे उस समय सुनायी पड़ी थी जब कि बलरामजीके द्वारा जरासंधके प्राण लेनेकी चेष्टा की जा रही थी॥

गोमन्ते पर्वतश्रेष्ठे येनैष परिमोक्षितः।
बलदेवबलं प्राप्य कोऽन्यो जीवेत मागधात्॥

'इसीलिये गिरिश्रेष्ठ गोमन्तपर भैया बलरामने इसे जीवित छोड़ दिया था; अन्यथा बलदेवजीके काबूमें आ जानेपर इस जरासंधके सिवा दूसरा कौन जीवित बच सकता था?॥

तदस्य मृत्युर्विहितः त्वदृते न महाबल।
वायुं चिन्त्य महाबाहो जहीमं मगधाधिपम्॥)

'महाबली भीम! तुम्हारे सिवा और किसीके द्वारा इसकी मृत्यु नहीं होनेवाली है। महाबाहो! तुम वायुदेवका चिन्तन करके इस मगधराजको मार डालो'॥

एवमुक्तस्तदा भीमो जरासंधमरिंदमः।
उत्क्षिप्य भ्रामयामास बलवन्तं महाबलः॥ ५॥

उनके इस तरह संकेत करनेपर शत्रुओंका दमन करनेवाले महाबली भीमने उस समय बलवान् जरासंधको उठाकर आकाशमें वेगसे घुमाना आरम्भ किया॥ ५॥

(ततस्तु भगवान् कृष्णो जरासंधजिघांसया।
भीमसेनं समालोक्य नलं जग्राह पाणिना॥
द्विधा चिच्छेद वै तत् तु जरासंधवधं प्रति।)

तब भगवान् श्रीकृष्णने जरासंधका वध करानेकी इच्छासे भीमसेनकी ओर देखकर एक नरकट* हाथमें ले लिया और उसे (दातुनकी भाँति) दो टुकड़ोंमें चीर डाला (तथा उसे फेंक दिया)। यह जरासंधको मारनेके लिये एक संकेत था॥

भ्रामयित्वा शतगुणं जानुभ्यां भरतर्षभ।
बभञ्ज पृष्ठं संक्षिप्य निष्पिष्य विननाद च॥ ६॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! (भीमने उनके संकेतको समझ लिया और) उन्होंने सौ बार घुमाकर उसे धरतीपर दे मारा। फिर उसकी पीठको धनुषकी तरह मोड़कर दोनों घुटनोंकी चोटसे उसकी रीढ़ तोड़ डाली; फिर अपने शरीरकी रगड़से पीसते हुए भीमने बड़े जोरसे सिंहनाद किया॥ ६॥

करे गृहीत्वा चरणं द्वेधा चक्रे महाबलः।

इसके बाद अपने एक हाथसे उसका एक पैर पकड़कर और दूसरे पैरपर अपना पैर रखकर महाबली भीमने उसे दो खण्डोंमें चीर डाला॥ ७॥

(पुनः संधाय तु तदा जरासंधः प्रतापवान्॥
भीमेन च समागम्य बाहुयुद्धं चकार ह।
तयोः समभवद् युद्धं तुमुलं रोमहर्षणम्॥
सर्वलोकक्षयकरं सर्वभूतभयावहम्।
पुनः कृष्णस्तमिरिणं द्विधा विच्छिद्य माधवः॥
व्यत्यस्य प्राक्षिपत् तत् तु जरासंधवधेप्सया।

तब वे दोनों टुकड़े फिरसे जुड़ गये और प्रतापी जरासंध भीमसे भिड़कर बाहुयुद्ध करने लगा। उन दोनों वीरोंका वह युद्ध अत्यन्त भयंकर और रोमाञ्चकारी था। उसे देखकर ऐसा जान पड़ता था मानो सम्पूर्ण जगत्का संहार हो जायगा। वह द्वन्द्वयुद्ध सम्पूर्ण प्राणियोंके भयको बढ़ानेवाला था। उस समय भगवान् श्रीकृष्णने पुनः एक नरकट लेकर पहलेकी

---

* नरकट बेंतकी तरह पोले डंठलका एक पौधा होता है, जो कलम बनानेके काम आता है।

भाँति चीरकर उसके दो टुकड़े कर दिये और उन दोनों टुकड़ोंको अलग-अलग विपरीत दिशामें फेंक दिया। जरासंधके वधके लिये यह दूसरा संकेत था॥

भीमसेनस्तदा ज्ञात्वा निर्बिभेद च मागधम्॥
द्विधा व्यत्यस्य पादेन प्राक्षिपच्च ननाद ह।

भीमसेनने उसे समझकर पुनः मगधराजको दो टुकड़ोंमें चीर डाला और पैरसे ही उन दोनों टुकड़ोंको विपरीत दिशाओंमें करके फेंक दिया। इसके बाद वे विकट गर्जना करने लगे॥

शुष्कमांसास्थिमेदस्त्वग्भिन्नमस्तिष्कपिण्डकः॥
शवभूतस्तदा राजन् पिण्डीकृत इवाबभौ।)

राजन्! उस समय जरासंधका शरीर शवरूप होकर मांसके लौंदे-सा जान पड़ने लगा। उसके शरीरके मांस, हड्डियाँ, मेदा और चमड़ा सभी सूख गये थे। मस्तिष्क और शरीर दो भागोंमें विदीर्ण हो गये थे॥

तस्य निष्पिष्यमाणस्य पाण्डवस्य च गर्जतः।
अभवत् तुमुलो नादः सर्वप्राणिभयंकरः॥ ८॥
वित्रेसुर्मागधाः सर्वे स्त्रीणां गर्भाश्च सुस्रुवुः।
भीमसेनस्य नादेन जरासंधस्य चैव ह॥ ९॥

जब जरासंध रगड़ा जा रहा था और पाण्डुकुमार गर्ज-गर्जकर उसे पीसे डालते थे, उस समय भीमसेनकी गर्जना और जरासंधकी चीत्कारसे जो तुमुल नाद प्रकट हुआ, वह समस्त प्राणियोंको भयभीत करनेवाला था। उसे सुनकर सभी मगधनिवासी भयसे थर्रा उठे। स्त्रियोंके तो गर्भतक गिर गये॥ ८-९॥

किं नु स्याद्धिमवान् भिन्नः किं नु स्विद् दीर्यते मही।
इति वै मागधा जज्ञुर्भीमसेनस्य निःस्वनात्॥ १०॥

भीमसेनकी गर्जना सुनकर मगधके लोग भयभीत होकर सोचने लगे कि 'कहीं हिमालय पहाड़ तो नहीं फट पड़ा! कहीं पृथ्वी तो विदीर्ण नहीं हो रही है?'॥ १०॥

ततो राज्ञः कुलद्वारि प्रसुप्तमिव तं नृपम्।
रात्रौ गतासुमुत्सृज्य निश्चक्रमुररिंदमाः॥ ११॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले वे तीनों वीर रातमें राजा जरासंधके प्राणहीन शरीरको सोते हुएके समान राजभवनके द्वारपर छोड़कर वहाँसे चल दिये॥ ११॥

जरासंधरथं कृष्णो योजयित्वा पताकिनम्।
आरोप्य भ्रातरौ चैव मोक्षयामास बान्धवान्॥ १२॥

श्रीकृष्णने जरासंधके ध्वजा-पताकामण्डित दिव्य रथको जोत लिया और उसपर दोनों भाई भीमसेन और अर्जुनको बिठाकर पहाड़ी खोहके पास जा वहाँ कैदमें पड़े हुए अपने बान्धवस्वरूप समस्त राजाओंको छुड़ाया॥ १२॥

ते वै रत्नभुजं कृष्णं रत्नार्हाः पृथिवीश्वराः।
राजानश्चक्रुरासाद्य मोक्षिता महतो भयात्॥ १३॥

उस महान् भयसे छूटे हुए रत्नभोगी नरेशोंने भगवान् श्रीकृष्णसे मिलकर उन्हें विविध रत्नोंसे युक्त कर दिया॥ १३॥

अक्षतः शस्त्रसम्पन्नो जितारिः सह राजभिः।
रथमास्थाय तं दिव्यं निर्जगाम गिरिव्रजात्॥ १४॥

भगवान् श्रीकृष्ण क्षतरहित और अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न थे। वे शत्रुपर विजय पा चुके थे, उस अवस्थामें वे उन दिव्य रथपर आरूढ़ हो कैदसे छूटे हुए राजाओंके साथ गिरिव्रज नगरसे बाहर निकले॥ १४॥

यः स सोदर्यवान् नाम द्वियोधी कृष्णसारथिः।
अभ्यासघाती संदृश्यो दुर्जयः सर्वराजभिः॥ १५॥

उस रथका नाम था सोदर्यवान्, उसमें दो महारथी योद्धा एक साथ बैठकर युद्ध कर सकते थे, इस समय भगवान् श्रीकृष्ण उसके सारथि थे। उस रथमें बार-बार शत्रुओंपर आघात करनेकी सुविधा थी तथा वह दर्शनीय होनेके साथ ही समस्त राजाओंके लिये दुर्जय था॥ १५॥

भीमार्जुनाभ्यां योधाभ्यामास्थितः कृष्णसारथिः।
शुशुभे रथवर्योऽसौ दुर्जयः सर्वधन्विभिः॥ १६॥
शक्रविष्णू हि संग्रामे चेरतुस्तारकामये।

भीम और अर्जुन—ये दो योद्धा उस रथपर बैठे थे, श्रीकृष्ण सारथिका काम सँभाल रहे थे, सम्पूर्ण धनुर्धर वीरोंके लिये भी उसे जीतना कठिन था। इन दोनों रथियोंके द्वारा उस श्रेष्ठ रथकी ऐसी शोभा हो रही थी मानो इन्द्र और विष्णु एक साथ बैठकर तारकामय संग्राममें विचर रहे हों॥ १६ ½॥

रथेन तेन वै कृष्ण उपारुह्य ययौ तदा॥ १७॥
तप्तचामीकराभेण किङ्किणीजालमालिना।
मेघनिर्घोषनादेन जैत्रेणामित्रघातिना॥ १८॥

वह रथ तपाये हुए सुवर्णके समान कान्तिमान् था। उसमें क्षुद्र घण्टिकाओंसे युक्त झालरें लगी थीं। उसकी घर्घराहट मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान जान पड़ती थी। वह शत्रुओंका विघातक और विजय प्रदान करनेवाला था। उसी रथपर सवार हो उसके द्वारा श्रीकृष्णने उस समय यात्रा की॥ १७-१८॥

येन शक्रो दानवानां जघान नवतीर्नव।
तं प्राप्य समहृष्यन्त रथं ते पुरुषर्षभाः॥ १९॥

यह वही रथ था, जिसके द्वारा इन्द्रने निन्यानबे दानवोंका वध किया था। उस रथको पाकर वे तीनों नरश्रेष्ठ बहुत प्रसन्न हुए॥ १९॥

ततः कृष्णं महाबाहुं भ्रातृभ्यां सहितं तदा।
रथस्थं मागधा दृष्ट्वा समपद्यन्त विस्मिताः ॥ २० ॥

तदनन्तर दोनों फुफेरे भाइयोंके साथ रथपर बैठे हुए महाबाहु श्रीकृष्णको देखकर मगधके निवासी बड़े विस्मित हुए ॥ २० ॥

हयैर्दिव्यैः समायुक्तो रथो वायुसमो जवे।
अधिष्ठितः स शुशुभे कृष्णेनातीव भारत ॥ २१ ॥

वह रथ वायुके समान वेगशाली था, उसमें दिव्य घोड़े जुते हुए थे। भारत! श्रीकृष्णके बैठ जानेसे उस दिव्य रथकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ २१ ॥

असङ्गो देवविहितस्तस्मिन् रथवरे ध्वजः।
योजनाद् ददृशे श्रीमानिन्द्रायुधसमप्रभः ॥ २२ ॥

उस उत्तम रथपर देवनिर्मित ध्वज फहराता रहता था, जो रथसे अछूता था (रथके साथ उसका लगाव नहीं था, वह बिना आधारके ही उसके ऊपर लहराया करता था)। इन्द्रधनुषके समान प्रकाशमान बहुरंगी एवं शोभाशाली वह ध्वज एक योजन दूरसे ही दीखने लगता था ॥ २२ ॥

चिन्तयामास कृष्णोऽथ गरुत्मन्तं स चाभ्ययात्।
क्षणे तस्मिन् स तेनासीच्चैत्यवृक्ष इवोच्छ्रितः ॥ २३ ॥
व्यादितास्यैर्महानादैः सह भूतैर्ध्वजालयैः।
तस्मिन् रथवरे तस्थौ गरुत्मान् पन्नगाशनः ॥ २४ ॥

उस समय भगवान् श्रीकृष्णने गरुड़जीका स्मरण किया। गरुड़जी उस क्षण वहाँ आ गये। उस रथकी ध्वजामें बहुत-से भूत मुँह बाये हुए विकट गर्जना करते रहते थे। उन्हींके साथ सर्पभोजी गरुड़जी भी उस श्रेष्ठ रथपर स्थित हो गये। उनके द्वारा वह ध्वज ऊँचे उठे हुए चैत्य वृक्षके समान सुशोभित हो गया ॥ २३-२४ ॥

दुर्निरीक्ष्यो हि भूतानां तेजसाभ्यधिकं बभौ।
आदित्य इव मध्याह्ने सहस्रकिरणावृतः ॥ २५ ॥
न स सज्जति वृक्षेषु शस्त्रैश्चापि न रिष्यते।
दिव्यो ध्वजवरो राजन् दृश्यते चेह मानुषैः ॥ २६ ॥

अब वह उत्तम ध्वज सहस्रों किरणोंसे आवृत मध्याह्नकालके सूर्यकी भाँति अपने तेजसे अधिक प्रकाशित होने लगा। प्राणियोंके लिये उसकी ओर देखना कठिन हो गया। वह वृक्षोंमें कहीं अटकता नहीं था, अस्त्र-शस्त्रोंद्वारा कटता नहीं था। राजन्! वह दिव्य और श्रेष्ठ ध्वज इस लोकके मनुष्योंको दृष्टिगोचर मात्र होता था ॥ २५-२६ ॥

तमास्थाय रथं दिव्यं पर्जन्यसमनिःस्वनम्।
निर्ययौ पुरुषव्याघ्रः पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः ॥ २७ ॥

मेघके समान गम्भीर घर्घर ध्वनिसे परिपूर्ण उसी दिव्य रथपर भीमसेन और अर्जुनके साथ बैठे हुए पुरुषसिंह भगवान् श्रीकृष्ण नगरसे बाहर निकले ॥ २७ ॥

यं लेभे वासवाद् राजा वसुस्तस्माद् बृहद्रथः।
बृहद्रथात् क्रमेणैव प्राप्तो बार्हद्रथं नृप ॥ २८ ॥

राजन्! इन्द्रसे उस रथको राजा वसुने प्राप्त किया था। फिर क्रमशः वसुसे बृहद्रथको और बृहद्रथसे जरासंधको वह रथ मिला था ॥ २८ ॥

स निर्याय महाबाहुः पुण्डरीकेक्षणस्ततः।
गिरिव्रजाद् बहिस्तस्थौ समदेशे महायशाः ॥ २९ ॥

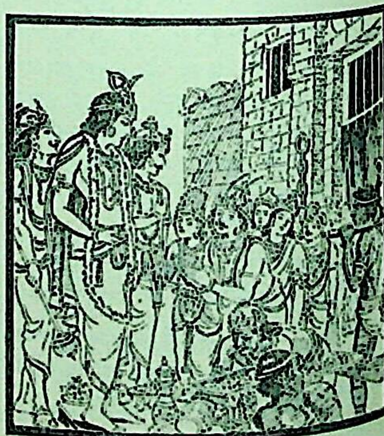
महायशस्वी कमलनयन महाबाहु श्रीकृष्ण गिरिव्रजसे बाहर आ समतल भूमिपर खड़े हुए ॥ २९ ॥

तत्रैनं नागराः सर्वे सत्कारेणाभ्ययुस्तदा।
ब्राह्मणप्रमुखा राजन् विधिदृष्टेन कर्मणा ॥ ३० ॥

जनमेजय! वहाँ ब्राह्मण आदि सभी नागरिकोंने शास्त्रीय विधिसे उनका सत्कार एवं पूजन किया ॥ ३० ॥

बन्धनाद् विप्रमुक्ताश्च राजानो मधुसूदनम्।
पूजयामासुरूचुश्च स्तुतिपूर्वमिदं वचः ॥ ३१ ॥

कैदसे छूटे हुए राजाओंने भी मधुसूदनकी पूजा की और उनकी स्तुति करते हुए इस प्रकार कहा— ॥ ३१ ॥



नैतच्चित्रं महाबाहो त्वयि देवकिनन्दने।
भीमार्जुनबलोपेते धर्मस्य प्रतिपालनम् ॥ ३२ ॥

'महाबाहो! आप देवकी देवीको आनन्दित करनेवाले साक्षात् भगवान् हैं, भीमसेन और अर्जुनका बल भी आपके साथ है। आपके द्वारा जो धर्मकी रक्षा हो रही है, वह आप सरीखे धर्मावतारके लिये आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ३२ ॥

जरासंधह्रदे घोरे दुःखपङ्के निमज्जताम्।
राज्ञां समभ्युद्धरणं यदिदं कृतमद्य वै ॥ ३३ ॥

'प्रभो! हम सब राजा दुःखरूपी पङ्कसे युक्त जरासंध

रूपी भयानक कुण्डमें डूब रहे थे, आपने जो आज हमारा यह उद्धार किया है, वह आपके योग्य ही है ॥ ३३ ॥

विष्णो समवसन्नानां गिरिदुर्गे सुदारुणे।
दिष्ट्या मोक्षाद् यशो दीप्तमाप्तं ते यदुनन्दन ॥ ३४ ॥

विष्णो ! अत्यन्त भयंकर पहाड़ी किलेमें कैद हो हम बड़े दुःखसे दिन काट रहे थे । यदुनन्दन ! आपने हमें इस संकटसे मुक्त करके अत्यन्त उज्ज्वल यश प्राप्त किया है; यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥ ३४ ॥

किं कुर्मः पुरुषव्याघ्र शाधि नः प्रणतिस्थितान्।
कृतमित्येव तद् विद्धि नृपैर्यद्यपि दुष्करम् ॥ ३५ ॥

'पुरुषसिंह ! हम आपके चरणोंमें पड़े हैं। आप हमें आज्ञा दीजिये, हम क्या सेवा करें ? कोई दुष्कर कार्य हो तो भी आपको यह समझना चाहिये मानो हम सब राजाओंने मिलकर उसे पूर्ण कर ही दिया' ॥ ३५ ॥

तानुवाच हृषीकेशः समाश्वास्य महामनाः।
युधिष्ठिरो राजसूयं क्रतुमाहर्तुमिच्छति ॥ ३६ ॥

तब महामना भगवान् हृषीकेशने उन सबको आश्वासन देकर कहा— 'राजाओ ! धर्मराज युधिष्ठिर राजसूय यज्ञ करना चाहते हैं ॥ ३६ ॥

तस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः।
सर्वैर्भवद्भिर्विज्ञाय साहाय्यं क्रियतामिति ॥ ३७ ॥

'धर्ममें तत्पर रहते हुए ही उन्हें सम्राट्-पद प्राप्त करनेकी इच्छा हुई है । इस कार्यमें तुम सब लोग उनकी सहायता करो' ॥ ३७ ॥

ततः सुप्रीतमनसस्ते नृपा नृपसत्तम।
तथेत्येवाब्रुवन् सर्वे प्रतिगृह्यास्य तां गिरम् ॥ ३८ ॥

नृपश्रेष्ठ जनमेजय ! तब उन सभी राजाओंने प्रसन्नचित्त हो 'तथास्तु' कहकर भगवान्‌की वह आज्ञा शिरोधार्य कर ली ॥ ३८ ॥

रत्नभाजं च दाशार्हं चक्रुस्ते पृथिवीश्वराः।
कृच्छ्राज्जग्राह गोविन्दस्तेषां तदनुकम्पया ॥ ३९ ॥

इतना ही नहीं, उन भूपालोंने दशार्हकुलभूषण भगवान्‌को रत्न भेंट किये । भगवान् गोविन्दने बड़ी कठिनाईसे, उन सबपर कृपा करनेके लिये ही, वह भेंट स्वीकार की ॥ ३९ ॥

जरासंधात्मजश्चैव सहदेवो महामनाः।
निर्ययौ सजनामात्यः पुरस्कृत्य पुरोहितम् ॥ ४० ॥

तदनन्तर जरासंधका पुत्र महामना सहदेव पुरोहितको आगे करके सेवकों और मन्त्रियोंके साथ नगरसे बाहर निकला ॥ ४० ॥

स नीचैः प्रणतो भूत्वा बहुरत्नपुरोगमः।
सहदेवो नृणां देवं वासुदेवमुपस्थितः ॥ ४१ ॥

उसके आगे रत्नोंका बहुत बड़ा भण्डार आ रहा था। सहदेव अत्यन्त विनीतभावसे चरणोंमें पड़कर नरदेव भगवान् वासुदेवकी शरणमें आया था ॥ ४१ ॥

सहदेव उवाच

यत् कृतं पुरुषव्याघ्र मम पित्रा जनार्दन।
तत् ते हृदि महाबाहो न कार्यं पुरुषोत्तम ॥

सहदेव बोला—पुरुषसिंह जनार्दन ! महाबाहु पुरुषोत्तम ! मेरे पिताने जो अपराध किया है, उसे आप अपने हृदयसे निकाल दें ॥

त्वां प्रपन्नोऽस्मि गोविन्द प्रसादं कुरु मे प्रभो।
पितुरिच्छामि संस्कारं कर्तुं देवकिनन्दन ॥

गोविन्द ! मैं आपकी शरणमें आया हूँ । प्रभो ! आप मुझपर कृपा कीजिये । देवकीनन्दन ! मैं अपने पिताका दाह-संस्कार करना चाहता हूँ ॥

त्वत्तोऽभ्यनुज्ञां सम्प्राप्य भीमसेनात् तथार्जुनात्।
निर्भयो विचरिष्यामि यथाकामं यथासुखम् ॥

आपसे, भीमसेनसे तथा अर्जुनसे आज्ञा लेकर यह कार्य करूँगा और आपकी कृपासे निर्भय हो इच्छानुसार सुखपूर्वक विचरूँगा ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विज्ञाप्यमानस्य सहदेवस्य मारिष।
प्रहृष्टो देवकीपुत्रः पाण्डवौ च महारथौ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! सहदेवके इस प्रकार निवेदन करनेपर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्ण तथा महारथी भीमसेन और अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए ॥

क्रियतां संस्क्रिया राजन् पितुस्त इति चाब्रुवन्।
तच्छ्रुत्वा वासुदेवस्य पार्थयोश्च स मागधः ॥
प्रविश्य नगरं तूर्णं सह मन्त्रिभिरच्युत।
चितां चन्दनकाष्ठैश्च कालेयसरलैस्तथा ॥
कालागुरुसुगन्धैश्च तैलैश्च विविधैरपि।
घृतधाराशतैश्चैव सुमनोभिश्च मागधम् ॥
समन्तादवकीर्यन्त दहन्तं मगधाधिपम्।

उन सबने एक स्वरसे कहा—'राजन् ! तुम अपने पिताका अन्त्येष्टि-संस्कार करो।' भगवान् श्रीकृष्ण तथा दोनों कुन्तीकुमारोंका यह आदेश सुनकर मगधराजकुमारने मन्त्रियोंके साथ शीघ्र ही नगरमें प्रवेश किया। फिर चन्दनकी लकड़ी तथा केसर, देवदारु और काला अगुरु आदि सुगन्धित काष्ठोंसे चिता बनाकर उसपर मगधराजका शव रखा गया। तत्पश्चात् जलती चितामें दग्ध होते हुए मगधराजके शरीरपर नाना प्रकारके चन्दनादि सुगन्धित तैल और घीकी धाराएँ गिरायी गयीं। सब ओरसे अक्षत और फूलोंकी वर्षा की गयी॥

उदकं तस्य चक्रेऽथ सहदेवः सहानुजः ॥
कृत्वा पितुः स्वर्गगतिं निर्ययौ यत्र केशवः।
पाण्डवौ च महाभागौ भीमसेनार्जुनावुभौ ॥
स प्रह्वः प्राञ्जलिर्भूत्वा विज्ञापयत माधवम्।

शवदाहके पश्चात् सहदेवने अपने छोटे भाईके साथ पिताके लिये जलाञ्जलि दी। इस प्रकार पिताका पारलौकिक कार्य करके राजकुमार सहदेव नगरसे निकलकर उस स्थानमें गया, जहाँ भगवान् श्रीकृष्ण तथा महाभाग पाण्डुपुत्र भीमसेन और अर्जुन विद्यमान थे। उसने नम्रतापूर्वक हाथ जोड़कर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा ॥

सहदेव उवाच

इमे रत्नानि भूरीणि गोऽजाविमहिषादयः।
हस्तिनोऽश्वाश्च गोविन्द वासांसि विविधानि च॥
दीयतां धर्मराजाय यथा वा मन्यते भवान्।)

सहदेवने कहा—प्रभो! ये गाय, भैंस, भेड़-बकरे आदि पशु, बहुत-से रत्न, हाथी-घोड़े और नाना प्रकारके वस्त्र आपकी सेवामें प्रस्तुत हैं। गोविन्द! ये सब वस्तुएँ धर्मराज युधिष्ठिरको दीजिये अथवा आपकी जैसी रुचि हो, उसके अनुसार मुझे सेवाके लिये आदेश दीजिये ॥

भयार्ताय ततस्तस्मै कृष्णो दत्त्वाभयं तदा।
आददेऽस्य महार्हाणि रत्नानि पुरुषोत्तमः ॥ ४२ ॥

वह भयसे पीड़ित हो रहा था; पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णने उसे अभयदान देकर उसके लाये हुए बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट स्वीकार कर ली ॥ ४२ ॥

अभ्यषिञ्चत तत्रैव जरासंधात्मजं मुदा।
गत्वैकत्वं च कृष्णेन पार्थाभ्यां चैव सत्कृतः ॥ ४३ ॥

तत्पश्चात् जरासंधकुमारको प्रसन्नतापूर्वक वहीं पिताके राज्यपर अभिषिक्त कर दिया। श्रीकृष्णने सहदेवको अपना अभिन्न सुहृद् बना लिया, इसलिये भीमसेन और अर्जुनने भी उसका बड़ा सत्कार किया ॥ ४३ ॥

विवेश राजा द्युतिमान् बार्हद्रथपुरं नृप।
अभिषिक्तो महाबाहुर्जारासंधिर्महात्मभिः ॥ ४४ ॥

राजन्! उन महात्माओंद्वारा अभिषिक्त हो महाबाहु जरासंधपुत्र तेजस्वी राजा सहदेव अपने पिताके नगरमें लौट गया ॥ ४४ ॥

कृष्णस्तु सह पार्थाभ्यां श्रिया परमया युतः।
रत्नान्यादाय भूरीणि प्रययौ पुरुषर्षभः ॥ ४५ ॥

और पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने सर्वोत्तम शोभासे सम्पन्न हो प्रचुर रत्नोंकी भेंट ले दोनों कुन्तीकुमारोंके साथ वहाँसे प्रस्थान किया ॥ ४५ ॥

इन्द्रप्रस्थमुपागम्य पाण्डवाभ्यां सहाच्युतः।
समेत्य धर्मराजानं प्रीयमाणोऽभ्यभाषत ॥ ४६ ॥

भीमसेन और अर्जुनके साथ इन्द्रप्रस्थमें आकर भगवान् श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिरसे मिले और अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले— ॥ ४६ ॥

दिष्ट्या भीमेन बलवाञ्जरासंधो निपातितः।
राजानो मोक्षिताश्चैव बन्धनान्नृपसत्तम ॥ ४७ ॥

'नृपश्रेष्ठ! सौभाग्यकी बात है कि महाबली भीमसेनने जरासंधको मार गिराया और समस्त राजाओंको उसकी कैदसे छुड़ा दिया ॥ ४७ ॥

दिष्ट्या कुशलिनौ चेमौ भीमसेनधनंजयौ।
पुनः स्वनगरं प्राप्तावक्षताविति भारत ॥ ४८ ॥

'भारत! भाग्यसे ही ये दोनों भाई भीमसेन और अर्जुन अपने नगरमें पुनः सकुशल लौट आये और इन्हें कोई क्षति नहीं पहुँची' ॥ ४८ ॥

ततो युधिष्ठिरः कृष्णं पूजयित्वा यथार्हतः।
भीमसेनार्जुनौ चैव प्रहृष्टः परिषस्वजे ॥ ४९ ॥

तब युधिष्ठिरने श्रीकृष्णका यथायोग्य सत्कार करके भीमसेन और अर्जुनको भी प्रसन्नतापूर्वक गले लगाया ॥ ४९ ॥

ततः क्षीणे जरासंधे भ्रातृभ्यां विहितं जयम्।
अजातशत्रुरासाद्य मुमुदे भ्रातृभिः सह ॥ ५० ॥

तदनन्तर जरासंधके नष्ट होनेपर अपने दोनों भाइयोंद्वारा की हुई विजयको पाकर अजातशत्रु राजा युधिष्ठिर भाइयोंसहित आनन्दमग्न हो गये ॥ ५० ॥

(हृष्टश्च धर्मराट् वाक्यं जनार्दनमभाषत।

फिर धर्मराजने हर्षमें भरकर भगवान् श्रीकृष्णसे कहा।

युधिष्ठिर उवाच

त्वां प्राप्य पुरुषव्याघ्र भीमसेनेन पातितः।
मागधोऽसौ बलोन्मत्तो जरासंधः प्रतापवान्॥

युधिष्ठिर बोले—पुरुषसिंह जनार्दन! आपका सहारा पाकर ही भीमसेनने बलके अभिमानसे उन्मत्त रहनेवाले प्रतापी मगधराज जरासंधको मार गिराया है ॥

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं प्राप्स्यामि विगतज्वरः।
त्वद्बुद्धिबलमाश्रित्य यागार्होऽस्मि जनार्दन ॥

अब मैं निश्चिन्त होकर यज्ञोंमें श्रेष्ठ राजसूयका शुभ अवसर प्राप्त करूँगा। प्रभो! आपके बुद्धि-बलका सहारा पाकर मैं यज्ञ करनेयोग्य हो गया ॥

पीतं पृथिव्यां युद्धेन यशस्ते पुरुषोत्तम।
जरासंधवधेनैव प्राप्तास्ते विपुलाः श्रियः ॥

पुरुषोत्तम! इस युद्धसे भूमण्डलमें आपके यशका विस्तार हुआ। जरासंधके वधसे ही आपको प्रचुर सम्पत्ति प्राप्त हुई।

वैशम्पायन उवाच

एवं सम्भाष्य कौन्तेयः प्रादाद् रथवरं प्रभोः।
प्रतिगृह्य तु गोविन्दो जरासंधस्य तं रथम्॥
प्रहृष्टस्तस्य मुमुदे फाल्गुनेन जनार्दनः।
प्रीतिमानभवत् राजन् धर्मराजपुरस्कृतः॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरने भगवान्‌को श्रेष्ठ रथ प्रदान किया। जरासंधके उस रथको पाकर गोविन्द बड़े प्रसन्न हुए और अर्जुनके साथ उसमें बैठकर बड़े हर्षका अनुभव करने लगे। धर्मराज युधिष्ठिरके उस भेंटको अङ्गीकार करके उन्हें बड़ा संतोष हुआ॥

यथावयः समागम्य भ्रातृभिः सह पाण्डवः।
सत्कृत्य पूजयित्वा च विससर्ज नराधिपान्॥ ५१॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भाइयोंके साथ जाकर समस्त राजाओंसे उनकी अवस्थाके अनुसार क्रमशः मिले; फिर उन सबका यथायोग्य सत्कार एवं पूजन करके उन्होंने सभी नरपतियोंको विदा कर दिया॥ ५१॥

युधिष्ठिराभ्यनुज्ञातास्ते नृपा हृष्टमानसाः।
जग्मुः स्वदेशांस्त्वरिता यानैरुच्चावचैस्ततः॥ ५२॥

राजा युधिष्ठिरकी आज्ञा ले वे सब नरेश मन-ही-मन अत्यन्त प्रसन्न हो अनेक प्रकारकी सवारियोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक अपने-अपने देशको चले गये॥ ५२॥

एवं पुरुषशार्दूलो महाबुद्धिर्जनार्दनः।
पाण्डवैर्घातयामास जरासंधमरिं तदा॥ ५३॥

जनमेजय! इस प्रकार महाबुद्धिमान् पुरुषसिंह जनार्दनने उस समय पाण्डवोंद्वारा अपने शत्रु जरासंधका वध करवाया॥

घातयित्वा जरासंधं बुद्धिपूर्वमरिंदमः।
धर्मराजमनुज्ञाप्य पृथां कृष्णां च भारत॥ ५४॥
सुभद्रां भीमसेनं च फाल्गुनं यमजौ तथा।
धौम्यमामन्त्रयित्वा च प्रययौ स्वां पुरीं प्रति॥ ५५॥
तेनैव रथमुख्येन मनसस्तुल्यगामिना।
धर्मराजविसृष्टेन दिव्येनानादयन् दिशः॥ ५६॥

भारत! जरासंधको बुद्धिपूर्वक मरवाकर शत्रुदमन श्रीकृष्ण धर्मराज युधिष्ठिर, कुन्ती तथा द्रौपदीसे आज्ञा ले, सुभद्रा, भीमसेन, अर्जुन, नकुल, सहदेव तथा धौम्यजीसे भी पूछकर धर्मराजके दिये हुए उसी मनके समान वेगशाली दिव्य एवं उत्तम रथके द्वारा सम्पूर्ण दिशाओंको गुँजाते हुए अपनी द्वारिकापुरीको चले गये॥ ५४—५६॥

ततो युधिष्ठिरमुखाः पाण्डवा भरतर्षभ।
प्रदक्षिणमकुर्वन्त कृष्णमक्लिष्टकारिणम्॥ ५७॥

भरतश्रेष्ठ! जाते समय युधिष्ठिर आदि समस्त पाण्डवोंने अनायास ही सब कार्य करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी परिक्रमा की॥ ५७॥

ततो गते भगवति कृष्णे देवकिनन्दने।
जयं लब्ध्वा सुविपुलं राज्ञां दत्त्वाभयं तदा॥ ५८॥
संवर्धितं यशो भूयः कर्मणा तेन भारत।
द्रौपद्याः पाण्डवा राजन् परां प्रीतिमवर्धयन्॥ ५९॥

भारत! महान् विजयको प्राप्त करके और जरासंधके द्वारा कैद किये हुए उन राजाओंको अभयदान देकर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके चले जानेपर उक्त कर्मके द्वारा पाण्डवोंके यशका बहुत विस्तार हुआ और वे पाण्डव द्रौपदीकी भी प्रीतिको बढ़ाने लगे॥ ५८-५९॥

तस्मिन् काले तु यद् युक्तं धर्मकामार्थसंहितम्।
तद् राजा धर्मतश्चक्रे प्रजापालनकीर्तनम्॥ ६०॥

उस समय धर्म, अर्थ और कामकी सिद्धिके लिये जो उचित कर्तव्य था, उसका राजा युधिष्ठिरने धर्मपूर्वक पालन किया। वे प्रजाओंकी रक्षा करनेके साथ ही उन्हें धर्मका उपदेश भी देते रहते थे॥ ६०॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि जरासंधवधपर्वणि जरासंधवधे चतुर्विंशोऽध्यायः॥ २४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत जरासंधवधपर्वमें जरासंधवधविषयक चौबीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ २४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १९ श्लोक मिलाकर कुल ८९ श्लोक हैं)

(दिग्विजयपर्व)

पञ्चविंशोऽध्यायः

अर्जुन आदि चारों भाइयोंकी दिग्विजयके लिये यात्रा

वैशम्पायन उवाच

पार्थः प्राप्य धनुः श्रेष्ठमक्षय्यौ च महेषुधी।
रथं ध्वजं सभां चैव युधिष्ठिरमभाषत॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुन श्रेष्ठ धनुष, दो विशाल एवं अक्षय तूणीर, दिव्य रथ, ध्वज और अद्भुत सभाभवन पहले ही प्राप्त कर चुके थे; अब वे युधिष्ठिरसे बोले॥ १॥

अर्जुन उवाच

धनुरस्त्रं शरा वीर्यं पक्षो भूमिर्यशो बलम्।
प्राप्तमेतन्मया राजन् दुष्प्रापं यदभीप्सितम्॥ २॥

अर्जुनने कहा—राजन्! मुझे धनुष, अस्त्र, बाण, पराक्रम, श्रीकृष्ण-जैसे सहायक, भूमि (राज्य एवं इन्द्रप्रस्थका दुर्ग), यश और बल—ये सभी दुर्लभ एवं मनोवाञ्छित वस्तुएँ प्राप्त हो चुकी हैं॥ २॥

तत्र कृत्यमहं मन्ये कोशस्य परिवर्धनम्।
करमाहारयिष्यामि राज्ञः सर्वान् नृपोत्तम॥ ३॥

नृपश्रेष्ठ! अब मैं अपने कोषको बढ़ाना ही आवश्यक कार्य समझता हूँ। मेरी इच्छा है कि समस्त राजाओंको जीतकर उनसे कर वसूल करूँ॥ ३॥

विजयाय प्रयास्यामि दिशं धनदपालिताम्।
तिथावथ मुहूर्ते च नक्षत्रे चाभिपूजिते॥ ४॥

आपकी आज्ञा हो तो उत्तम तिथि, मुहूर्त और नक्षत्रमें कुबेरद्वारा पालित उत्तर दिशाको जीतनेके लिये प्रस्थान करूँ॥

(एतच्छ्रुत्वा कुरुश्रेष्ठो धर्मराजः सहानुजः।
प्रहृष्टो मन्त्रिभिश्चैव व्यासधौम्यादिभिः सह॥
ततो व्यासो महाबुद्धिरुवाचेदं वचोऽर्जुनम्।

यह सुनकर भाइयोंसहित कुरुश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरको बड़ी प्रसन्नता हुई। साथ ही मन्त्रियों तथा व्यास, धौम्य आदि महर्षियोंको बड़ा हर्ष हुआ। तत्पश्चात् परम बुद्धिमान् व्यासजीने अर्जुनसे कहा॥

व्यास उवाच

साधु साध्विति कौन्तेय दिष्ट्या ते बुद्धिरीदृशी।
पृथिवीमखिलां जेतुमेकोऽध्यवसितो भवान्॥

व्यासजी बोले—कुन्तीनन्दन! मैं तुम्हें बारंबार साधुवाद देता हूँ। सौभाग्यसे तुम्हारी बुद्धिमें ऐसा संकल्प हुआ है। तुम सारी पृथ्वीको अकेले ही जीतनेके लिये उत्साहित हो रहे हो॥

धन्यः पाण्डुर्महीपालो यस्य पुत्रस्त्वमीदृशः।
सर्वं प्राप्स्यति राजेन्द्रो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः॥
त्वद्वीर्येण स धर्मात्मा सार्वभौमत्वमेष्यति।

राजा पाण्डु धन्य थे, जिनके पुत्र तुम ऐसे पराक्रमी निकले। तुम्हारे पराक्रमसे धर्मपुत्र धर्मात्मा महाराज युधिष्ठिर सब कुछ पा लेंगे। सार्वभौम सम्राट्के पदपर प्रतिष्ठित होंगे॥

त्वद्बाहुबलमाश्रित्य राजसूयमवाप्स्यति॥
सुनयाद् वासुदेवस्य भीमार्जुनबलेन च।
यमयोश्चैव वीर्येण सर्वं प्राप्स्यति धर्मराट्॥

तुम्हारे बाहुबलका सहारा पाकर ये राजसूययज्ञ पूर्ण कर लेंगे। भगवान् श्रीकृष्णकी उत्तम नीति, भीम और अर्जुनके बल तथा नकुल और सहदेवके पराक्रमसे धर्मराज युधिष्ठिरको सब कुछ प्राप्त हो जायगा॥

तस्माद् दिशं देवगुप्तामुदीचीं गच्छ फाल्गुन।
शक्तो भवान् सुराञ्जित्वा रत्नान्याहर्तुमोजसा॥

इसलिये अर्जुन! तुम तो देवताओंद्वारा सुरक्षित उत्तर दिशाकी यात्रा करो, क्योंकि देवताओंको जीतकर वहाँसे बलपूर्वक रत्न ले आनेमें तुम्हीं समर्थ हो॥

प्राचीं भीमो बलश्लाघी प्रयातु भरतर्षभः।
याम्यां तत्र दिशं यातु सहदेवो महारथः॥
प्रतीचीं नकुलो गन्ता वरुणेनाभिपालिताम्।
एषा मे नैष्ठिकी बुद्धिः क्रियतां भरतर्षभाः॥

अपने बलद्वारा दूसरोंसे होड़ लेनेवाले भरतकुलभूषण भीमसेन पूर्व दिशाकी यात्रा करें। महारथी सहदेव दक्षिण दिशाकी ओर प्रस्थान करें और नकुल वरुणपालित पश्चिम दिशापर आक्रमण करें। भरतश्रेष्ठ पाण्डवो! मेरी बुद्धिका ऐसा ही निश्चय है। तुमलोग इसका पालन करो॥

वैशम्पायन उवाच

श्रुत्वा व्यासवचो हृष्टास्तमूचुः पाण्डुनन्दनाः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! व्यासजीकी यह बात सुनकर पाण्डवोंने बड़े हर्षके साथ कहा॥

पाण्डवा ऊचुः

एवमस्तु मुनिश्रेष्ठ यथाऽऽज्ञापयसि प्रभो।)

पाण्डव बोले—मुनिश्रेष्ठ! आप जैसी आज्ञा देते हैं वैसा ही हो।

वैशम्पायन उवाच

धनंजयवचः श्रुत्वा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
स्निग्धगम्भीरनादिन्या तं गिरा प्रत्यभाषत॥ ५॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनकी पूर्वोक्त बात सुनकर धर्मराज युधिष्ठिर स्नेहयुक्त गम्भीर वाणीमें उनसे इस प्रकार बोले—॥ ५॥

स्वस्तिवाच्यार्हतो विप्रान् प्रयाहि भरतर्षभ।
दुर्हृदामप्रहर्षाय सुहृदां नन्दनाय च॥ ६॥

'भरतकुलभूषण! पूजनीय ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर यात्रा करो। तुम्हारी यह यात्रा शत्रुओंका शोक और सुहृदोंका आनन्द बढ़ानेवाली हो॥ ६॥

विजयस्ते ध्रुवं पार्थ प्रियं काममवाप्स्यसि।

'पार्थ! तुम्हारी विजय सुनिश्चित है, तुम अभीष्ट कामनाओंको प्राप्त करोगे'॥ ६½॥

इत्युक्तः प्रययौ पार्थः सैन्येन महताऽऽवृतः ॥ ७ ॥
अग्निदत्तेन दिव्येन रथेनाद्भुतकर्मणा ।
तथैव भीमसेनोऽपि यमौ च पुरुषर्षभौ ॥ ८ ॥
ससैन्याः प्रययुः सर्वे धर्मराजेन पूजिताः ।

उनके इस प्रकार आदेश देनेपर कुन्तीपुत्र अर्जुन विशाल सेनाके साथ अग्निके दिये हुए अद्भुतकर्मा दिव्य रथद्वारा वहाँसे प्रस्थित हुए। इसी प्रकार भीमसेन तथा नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेव इन सभी भाइयोंने धर्मराजसे सम्मानित हो सेनाओंके साथ दिग्विजयके लिये प्रस्थान किया ॥ ७-८½ ॥

दिशं धनपतेरिष्टामजयत् पाकशासनिः ॥ ९ ॥
भीमसेनस्तथा प्राचीं सहदेवस्तु दक्षिणाम् ।
प्रतीचीं नकुलो राजन् दिशं व्यजयतास्त्रवित् ॥ १० ॥

राजन्! इन्द्रकुमार अर्जुनने कुबेरकी प्रिय उत्तर दिशापर विजय पायी। भीमसेनने पूर्व दिशा, सहदेवने दक्षिण दिशा तथा अस्त्रवेत्ता नकुलने पश्चिम दिशाको जीता ॥ ९-१० ॥

खाण्डवप्रस्थमध्यस्थो धर्मराजो युधिष्ठिरः ।
आसीत् परमया लक्ष्म्या सुहृद्गणवृतः प्रभुः ॥ ११ ॥

केवल धर्मराज युधिष्ठिर सुहृदोंसे घिरे हुए अपनी उत्तम राजलक्ष्मीके साथ खाण्डवप्रस्थमें रह गये थे ॥ ११ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि दिग्विजयसंक्षेपकथने पञ्चविंशोऽध्यायः ॥ २५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें दिग्विजयका संक्षिप्तवर्णन विषयक पचीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ९½ श्लोक मिलाकर कुल २०½ श्लोक हैं)

षड्विंशोऽध्यायः

अर्जुनके द्वारा अनेक देशों, राजाओं तथा भगदत्तकी पराजय

जनमेजय उवाच

दिशामभिजयं ब्रह्मन् विस्तरेणानुकीर्तय ।
न हि तृप्यामि पूर्वेषां शृण्वानश्चरितं महत् ॥ १ ॥

जनमेजय बोले—ब्रह्मन्! दिग्विजयका विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये। अपने पूर्वजोंके इस महान् चरित्रको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

धनंजयस्य वक्ष्यामि विजयं पूर्वमेव ते ।
यौगपद्येन पार्थैर्हि निर्जितेयं वसुन्धरा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! यद्यपि कुन्तीके चारों पुत्रोंने एक ही समय इन चारों दिशाओंकी पृथ्वीपर विजय प्राप्त की थी, तो भी पहले तुम्हें अर्जुनका दिग्विजय-वृत्तान्त सुनाऊँगा ॥ २ ॥

पूर्वं कुलिन्दविषये वशे चक्रे महीपतीन् ।
धनंजयो महाबाहुर्नातितीव्रेण कर्मणा ॥ ३ ॥

महाबाहु धनंजयने अत्यन्त दुःसह पराक्रम प्रकट किये बिना ही पहले कुलिन्द देशके भूमिपालोंको अपने वशमें किया ॥

आनर्तान् कालकूटांश्च कुलिन्दांश्च विजित्य सः ।
सुमण्डलं च विजितं कृतवान् सहसैनिकम् ॥ ४ ॥

कुलिन्दोंके साथ-साथ कालकूट और आनर्त देशके राजाओंको जीतकर सेनासहित राजा सुमण्डलको भी जीत लिया ॥

स तेन सहितो राजन् सव्यसाची परंतपः ।
विजिग्ये शाकलं द्वीपं प्रतिविन्ध्यं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥

राजन्! तदनन्तर शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने सुमण्डलको साथी बना लिया और उनके साथ जाकर शाकलद्वीप तथा राजा प्रतिविन्ध्यपर विजय प्राप्त की ॥ ५ ॥

शाकलद्वीपवासाश्च सप्तद्वीपेषु ये नृपाः ।
अर्जुनस्य च सैन्यैस्तैर्विग्रहस्तुमुलोऽभवत् ॥ ६ ॥

शाकलद्वीप तथा अन्य सातों द्वीपोंमें जो राजा रहते थे, उनके साथ अर्जुनके सैनिकोंका घमासान युद्ध हुआ ॥ ६ ॥

स तानपि महेष्वासान् विजिग्ये भरतर्षभ ।
तैरेव सहितः सर्वैः प्राग्ज्योतिषमुपाद्रवत् ॥ ७ ॥

भरतकुलभूषण जनमेजय! अर्जुनने उन महान् धनुर्धरोंको भी जीत लिया और उन सबको साथ लेकर प्राग्ज्योतिषपुरपर धावा किया ॥ ७ ॥

तत्र राजा महानासीद् भगदत्तो विशाम्पते ।
तेनासीत् सुमहद् युद्धं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ८ ॥

महाराज! प्राग्ज्योतिषपुरके प्रधान राजा भगदत्त थे। उनके साथ महात्मा अर्जुनका बड़ा भारी युद्ध हुआ ॥ ८ ॥

स किरातैश्च चीनैश्च वृतः प्राग्ज्योतिषोऽभवत् ।
अन्यैश्च बहुभिर्योधैः सागरानूपवासिभिः ॥ ९ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश किरात, चीन तथा समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले अन्य बहुतेरे योद्धाओंसे घिरे हुए थे।

ततः स दिवसानष्टौ योधयित्वा धनंजयम् ।
प्रहसन्नब्रवीद् राजा संग्रामविगतक्लमम् ॥ १० ॥

राजा भगदत्तने अर्जुनके साथ आठ दिनोंतक युद्ध किया, तो भी उन्हें युद्धमें थकते न देख वे हँसते हुए बोले—॥ १० ॥

उपपन्नं महाबाहो त्वयि कौरवनन्दन ।
पाकशासनदायादे वीर्यमाहवशोभिनि ॥ ११ ॥

'महाबाहु कौरवनन्दन ! तुम इन्द्रके पुत्र और संग्राममें शोभा पानेवाले शूरवीर हो। तुममें ऐसा बल और पराक्रम उचित ही है ॥ ११ ॥

अहं सखा महेन्द्रस्य शक्रादनवरो रणे।
न शक्ष्यामि च ते तात स्थातुं प्रमुखतो युधि ॥ १२ ॥

'मैं देवराज इन्द्रका मित्र हूँ और युद्धमें उनसे तनिक भी कम नहीं हूँ, बेटा ! तो भी मैं संग्राममें तुम्हारे सामने खड़ा नहीं हो सकूँगा ॥ १२ ॥

त्वमीप्सितं पाण्डवेय ब्रूहि किं करवाणि ते।
यद् वक्ष्यसि महाबाहो तत् करिष्यामि पुत्रक ॥ १३ ॥

'पाण्डुनन्दन ! तुम्हारी इच्छा क्या है, बताओ ! मैं तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करूँ ? वत्स ! महाबाहो ! तुम जो कहोगे, वही करूँगा' ॥ १३ ॥

अर्जुन उवाच

कुरूणामृषभो राजा धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
धर्मज्ञः सत्यसंधश्च यज्वा विपुलदक्षिणः ॥ १४ ॥

तस्य पार्थिवतामीप्से करस्तस्मै प्रदीयताम्।
भवान् पितृसखा चैव प्रीयमाणो मयापि च।
ततो नाज्ञापयामि त्वां प्रीतिपूर्वं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥

अर्जुन बोले—महाराज ! धर्मज्ञ सत्यप्रतिज्ञ कुरुकुलरत्न धर्मपुत्र राजा युधिष्ठिर बहुत दक्षिणा देकर यज्ञ करनेवाले हैं। मैं चाहता हूँ वे चक्रवर्ती सम्राट् हों। आप उन्हें कर दीजिये। आप मेरे पिताके मित्र हैं और मुझसे भी प्रेम रखते हैं; अतः मैं आपको आज्ञा नहीं दे सकता। आप प्रेमभावसे ही उन्हें भेंट दीजिये ॥ १४-१५ ॥

भगदत्त उवाच

कुन्तीमातर्यथा मे त्वं तथा राजा युधिष्ठिरः।
सर्वमेतत् करिष्यामि किं चान्यत् करवाणि ते ॥ १६ ॥

भगदत्तने कहा—कुन्तीकुमार ! मेरे लिये जैसे तुम हो वैसे राजा युधिष्ठिर हैं, मैं यह सब कुछ करूँगा। बोलो, तुम्हारे लिये और क्या करूँ ? ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि अर्जुनदिग्विजये भगदत्तपराजये षड्विंशोऽध्यायः ॥ २६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनदिग्विजयप्रसंगमें भगदत्तपराजयसम्बन्धी छब्बीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २६ ॥

सप्तविंशोऽध्यायः

अर्जुनका अनेक पर्वतीय देशोंपर विजय पाना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रत्युवाच भगदत्तं धनंजयः।
अनेनैव कृतं सर्वमनुजानीहि याम्यहम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उनके ऐसा कहनेपर धनंजयने भगदत्तसे कहा—राजन् ! आपने जो कर देना स्वीकार कर लिया, इतनेसे ही मेरा सब सत्कार हो जायगा, अब आज्ञा दीजिये, मैं जाता हूँ' ॥ १ ॥

तं विजित्य महाबाहुः कुन्तीपुत्रो धनंजयः।
प्रययावुत्तरां तस्माद् दिशं धनदपालिताम् ॥ २ ॥

भगदत्तको जीतकर महाबाहु कुन्तीपुत्र अर्जुन वहाँसे कुबेरद्वारा सुरक्षित उत्तर दिशामें गये ॥ २ ॥

अन्तर्गिरिं च कौन्तेयस्तथैव च बहिर्गिरिम्।
तथैवोपगिरिं चैव विजिग्ये पुरुषर्षभः ॥ ३ ॥

कुरुश्रेष्ठ धनंजयने क्रमशः अन्तर्गिरि, बहिर्गिरि और उपगिरि नामक प्रदेशोंपर विजय प्राप्त की ॥ ३ ॥

विजित्य पर्वतान् सर्वान् ये च तत्र नराधिपाः।
तान् वशे स्थापयित्वा स धनान्यादाय सर्वशः ॥ ४ ॥

फिर समस्त पर्वतों और वहाँ निवास करनेवाले राजाओंको अपने अधीन करके उन्होंने सबसे धन वसूल किये। ४।

तैरेव सहितः सर्वैरनुरज्य च तान् नृपान्।
उलूकवासिनं राजन् बृहन्तमुपजग्मिवान् ॥ ५ ॥

तत्पश्चात् उन नरेशोंको प्रसन्न करके उन सबके साथ उलूकवासी राजा बृहन्तपर आक्रमण किया ॥ ५ ॥

मृदङ्गवरनादेन रथनेमिस्वनेन च।
हस्तिनां च निनादेन कम्पयन् वसुधामिमाम् ॥ ६ ॥

जुझाऊ बाजे, श्रेष्ठ मृदङ्ग आदिकी ध्वनि, रथके पहियोंकी घर्घराहट और हाथियोंकी गर्जनासे वे इस पृथ्वीको कँपाते हुए आगे बढ़ रहे थे ॥ ६ ॥

ततो बृहन्तस्त्वरितो बलेन चतुरङ्गिणा।
निष्क्रम्य नगरात् तस्माद् योधयामास फाल्गुनम् ॥ ७ ॥

तब राजा बृहन्त तुरंत ही चतुरंगिणी सेनाके साथ नगरसे बाहर निकले और अर्जुनसे युद्ध करने लगे ॥ ७ ॥

सुमहान् संनिपातोऽभूद् धनंजयबृहन्तयोः।
न शशाक बृहन्तस्तु सोढुं पाण्डवविक्रमम् ॥ ८ ॥

उस समय अर्जुन और बृहन्तमें बड़े जोरकी मार-काट शुरू हुई, परंतु बृहन्त पाण्डुपुत्र अर्जुनके पराक्रमको न सह सके ॥ ८ ॥

सोऽविषह्यतमं मत्वा कौन्तेयं पर्वतेश्वरः।
उपावर्तत दुर्धर्षो रत्नान्यादाय सर्वशः ॥ ९ ॥

कुन्तीकुमारको असह्य मानकर दुर्धर्ष वीर पर्वतराज बृहन्त युद्धसे हट गये और सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर उनकी सेवामें उपस्थित हुए ॥ ९ ॥

स तद्राज्यमवस्थाप्य उलूकसहितो ययौ।
सेनाबिन्दुमथो राजन् राज्यादाशु समाक्षिपत्॥ १० ॥

जनमेजय ! अर्जुनने बृहन्तका राज्य पुनः उन्हींके हाथमें सौंपकर उलूकराजके साथ सेनाबिन्दुपर आक्रमण किया और उन्हें शीघ्र ही राज्यच्युत कर दिया ॥ १० ॥

मोदापुरं वामदेवं सुदामानं सुसंकुलम्।
उलूकानुत्तरांश्चैव तांश्च राज्ञः समानयत् ॥ ११ ॥

तदनन्तर मोदापुर, वामदेव, सुदामा, सुसंकुल तथा उत्तर उलूक देशों और वहाँके राजाओंको अपने अधीन किया ॥

तत्रस्थः पुरुषैरेव धर्मराजस्य शासनात्।
किरीटी जितवान् राजन् देशान् पञ्चगणांस्ततः॥ १२ ॥

राजन् ! धर्मराजकी आज्ञासे किरीटधारी अर्जुनने वहीं रहकर अपने सेवकोंद्वारा पञ्चगण नामक देशोंको जीत लिया ॥

स देवप्रस्थमासाद्य सेनाबिन्दोः पुरं प्रति।
बलेन चतुरङ्गेण निवेशमकरोत् प्रभुः ॥ १३ ॥

वहाँसे सेनाबिन्दुकी राजधानी देवप्रस्थमें आकर चतुरंगिणी सेनाके साथ शक्तिशाली अर्जुनने वहीं पड़ाव डाला ॥

स तैः परिवृतः सर्वैर्विष्वगश्वं नराधिपम्।
अभ्यगच्छन्महातेजाः पौरवं पुरुषर्षभ ॥ १४ ॥

नरश्रेष्ठ ! उन सभी पराजित राजाओंसे घिरे हुए महातेजस्वी अर्जुनने पौरव राजा विष्वगश्वपर आक्रमण किया ॥१४॥

विजित्य चाहवे शूरान् पर्वतीयान् महारथान्।
जिगाय सेनया राजन् पुरं पौरवरक्षितम् ॥ १५ ॥

वहाँ संग्राममें शूरवीर पर्वतीय महारथियोंको परास्त करके पौरवद्वारा सुरक्षित उनकी राजधानीको भी सेनाद्वारा जीत लिया ॥ १५ ॥

पौरवं युधि निर्जित्य दस्यून् पर्वतवासिनः।
गणानुत्सवसंकेतानजयत् सप्त पाण्डवः ॥ १६ ॥

पौरवको युद्धमें जीतकर पर्वतनिवासी लुटेरोंके सात दलों को, जो 'उत्सवसंकेत' कहलाते थे, पाण्डुकुमार अर्जुनने विजय प्राप्त की ॥ १६ ॥

ततः काश्मीरकान् वीरान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभः।
व्यजयल्लोहितं चैव मण्डलैर्दशभिः सह ॥ १७ ॥

इसके बाद क्षत्रियशिरोमणि धनंजयने काश्मीरके क्षत्रियवीरोंको तथा दस मण्डलोंके साथ राजा लोहितको भी जीत लिया ॥ १७ ॥

ततस्त्रिगर्तान् कौन्तेयं दार्वाः कोकनदास्तथा।
क्षत्रिया बहवो राजन्नुपावर्तन्त सर्वशः ॥ १८ ॥

तदनन्तर त्रिगर्त, दार्व और कोकनद आदि बहुतसे क्षत्रियनरेशगण सब ओरसे कुन्तीनन्दन अर्जुनकी शरणमें आये ॥ १८ ॥

अभिसारीं ततो रम्यां विजिग्ये कुरुनन्दनः।
उरगावासिनं चैव रोचमानं रणेऽजयत् ॥ १९ ॥

इसके बाद कुरुनन्दन धनंजयने रमणीय अभिसारी नगरीपर विजय पायी और उरगावासी राजा रोचमानको भी युद्धमें परास्त किया ॥ १९ ॥

ततः सिंहपुरं रम्यं चित्रायुधसुरक्षितम्।
प्राधमद् बलमास्थाय पाकशासनिराहवे ॥ २० ॥

तदनन्तर इन्द्रकुमार अर्जुनने राजा चित्रायुधके द्वारा सुरक्षित सुरम्य नगर सिंहपुरपर सेना लेकर आक्रमण किया और उसे युद्धमें जीत लिया ॥ २० ॥

ततः सुह्मांश्च चोलांश्च किरीटी पाण्डवर्षभः।
सहितः सर्वसैन्येन प्रामथत् कुरुनन्दनः ॥ २१ ॥

इसके बाद पाण्डवप्रवर कुरुकुलनन्दन किरीटीने अपनी सारी सेनाके साथ धावा करके सुह्म तथा चोलदेशकी सेनाओंको मथ डाला ॥ २१ ॥

ततः परमविक्रान्तो बाह्लीकान् पाकशासनिः।
महता परिमर्देन वशे चक्रे दुरासदान् ॥ २२ ॥

तत्पश्चात् परम पराक्रमी इन्द्रकुमारने बड़ी भारी मारकाट मचाकर दुर्धर्ष वीर बाह्लीकोंको वशमें किया ॥ २२ ॥

गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः।
दरदान् सह काम्बोजैरजयत् पाकशासनिः ॥ २३ ॥

पाण्डुनन्दन अर्जुनने अपने साथ शक्तिशालिनी सेना लेकर काम्बोजोंके साथ दरदोंको भी जीत लिया ॥ २३ ॥

प्रागुत्तरां दिशं ये च वसन्त्याश्रित्य दस्यवः।
निवसन्ति वने ये च तान् सर्वानजयत् प्रभुः ॥ २४ ॥

ईशान कोणका आश्रय ले जो लुटेरे या डाकू वनमें निवास करते थे, उन सबको शक्तिशाली धनंजयने जीतकर वशमें कर लिया ॥ २४ ॥

लोहान् परमकाम्बोजानृषिकानुत्तरानपि।
सहितांस्तान् महाराज व्यजयत् पाकशासनिः ॥ २५ ॥

महाराज ! लोह, परमकाम्बोज, ऋषिक तथा उत्तर देशोंको भी अर्जुनने एक साथ जीत लिया ॥ २५ ॥

ऋषिकेष्वपि संग्रामो बभूवातिभयंकरः।
तारकामयसंकाशः परस्त्वृषिकपार्थयोः ॥ २६ ॥

ऋषिकदेशमें भी ऋषिकराज और अर्जुनमें तारकामय संग्रामके समान बड़ा भयंकर युद्ध हुआ ॥ २६ ॥

स विजित्य ततो राजन्नृषिकान् रणमूर्धनि ।
शुकोदरसमांस्तत्र हयानष्टौ समानयत् ॥ २७ ॥

राजन् ! युद्धके मुहानेपर ऋषिकोंको हराकर अर्जुनने तोतेके उदरके समान हरे रंगवाले आठ घोड़े उनसे भेंट लिये ॥

मयूरसदृशानन्यानुत्तरानपरानपि ।
जवनानाशुगांश्चैव करार्थं समुपानयत् ॥ २८ ॥

इनके सिवा, मोरके समान रंगवाले उत्तम, गतिशील और शीघ्रगामी दूसरे भी बहुतसे घोड़े वे करके रूपमें वसूल कर लाये ॥ २८ ॥

स विनिर्जित्य संग्रामे हिमवन्तं सनिष्कुटम् ।
श्वेतपर्वतमासाद्य न्यविशत् पुरुषर्षभः ॥ २९ ॥

इसके बाद पुरुषोत्तम अर्जुन संग्राममें हिमवान् और निष्कुट प्रदेशके अधिपतियोंको जीतकर धवलगिरिपर आये और वहीं सेनाका पड़ाव डाला ॥ २९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि फाल्गुनदिग्विजये नानादेशजये सप्तविंशोऽध्यायः ॥ २७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनदिग्विजयके प्रसंगमें अनेक देशोंपर विजयसम्बन्धी सत्ताईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २७ ॥

अष्टाविंशोऽध्यायः

किम्पुरुष, हाटक तथा उत्तरकुरुपर विजय प्राप्त करके अर्जुनका इन्द्रप्रस्थ लौटना

वैशम्पायन उवाच

स श्वेतपर्वतं वीरः समतिक्रम्य वीर्यवान् ।
देशं किम्पुरुषावासं द्रुमपुत्रेण रक्षितम् ॥ १ ॥
महता संनिपातेन क्षत्रियान्तकरेण ह ।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठः करे चैनं न्यवेशयत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर पराक्रमी वीर पाण्डवश्रेष्ठ अर्जुन धवलगिरिको लाँघकर द्रुमपुत्रके द्वारा सुरक्षित किम्पुरुषदेशमें गये, जहाँ किन्नरोंका निवास था । वहाँ क्षत्रियोंका विनाश करनेवाले भारी संग्रामके द्वारा उन्होंने उस देशको जीत लिया और कर देते रहनेकी शर्तपर उस राजाको पुनः उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया ॥

तं जित्वा हाटकं नाम देशं गुह्यकरक्षितम् ।
पाकशासनिरव्यग्रः सहसैन्यः समासदत् ॥ ३ ॥

किन्नरदेशको जीतकर शान्तचित्त इन्द्रकुमारने सेनाके साथ गुह्यकोंद्वारा सुरक्षित हाटकदेशपर हमला किया ॥ ३ ॥

तांस्तु सान्त्वेन निर्जित्य मानसं सर उत्तमम् ।
ऋषिकुल्यास्तथा सर्वा ददर्श कुरुनन्दनः ॥ ४ ॥

और उन गुह्यकोंको सामनीतिसे समझा-बुझाकर ही वशमें कर लेनेके पश्चात् वे परम उत्तम मानसरोवरपर गये । वहाँ कुरुनन्दन अर्जुनने समस्त ऋषि-कुल्याओं (ऋषियोंके नामसे प्रसिद्ध जल-स्रोतों) का दर्शन किया ॥ ४ ॥

सरो मानसमासाद्य हाटकानभितः प्रभुः ।
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् पाण्डवस्ततः ॥ ५ ॥

मानसरोवरपर पहुँचकर शक्तिशाली पाण्डुकुमारने हाटक देशके निकटवर्ती गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशपर भी अधिकार प्राप्त कर लिया ॥ ५ ॥

तत्र तित्तिरिकल्माषान् मण्डूकाख्यान् हयोत्तमान् ।
लेभे स करमत्यन्तं गन्धर्वनगरात् तदा ॥ ६ ॥

वहाँ गन्धर्वनगरसे उन्होंने उस समय करके रूपमें तित्तिरि, कल्माष और मण्डूक नामवाले बहुत-से उत्तम घोड़े प्राप्त किये ॥ ६ ॥

(हेमकूटमथासाद्य न्यविशत् फाल्गुनस्तथा ।
तं हेमकूटं राजेन्द्र समतिक्रम्य पाण्डवः ॥
हरिवर्षं विवेशाथ सैन्येन महताऽऽवृतः ।
तत्र पार्थो ददर्शाथ बहूनिह मनोरमान् ॥
नगरांश्च वनांश्चैव नदीश्च विमलोदकाः ।

तत्पश्चात् अर्जुनने हेमकूट पर्वतपर जाकर पड़ाव डाला । राजेन्द्र ! फिर हेमकूटको भी लाँघकर वे पाण्डुनन्दन पार्थ अपनी विशाल सेनाके साथ हरिवर्षमें जा पहुँचे । वहाँ उन्होंने बहुत-से मनोरम नगर, सुन्दर वन तथा निर्मल जलसे भरी हुई नदियाँ देखीं ॥

पुरुषान् देवकल्पांश्च नारीश्च प्रियदर्शनाः ॥
तान् सर्वांस्तत्र दृष्ट्वाथ मुदा युक्तो धनंजयः ।

वहाँके पुरुष देवताओंके समान तेजस्वी थे । स्त्रियाँ भी परम सुन्दरी थीं । उन सबका अवलोकन करके अर्जुनको वहाँ बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

वशे चक्रेऽथ रत्नानि लेभे च सुबहूनि च ॥
ततो निषधमासाद्य गिरिस्थानजयत् प्रभुः ।
अथ राजन्नतिक्रम्य निषधं शैलमायतम् ॥
विवेश मध्यमं वर्षं पार्थो दिव्यमिलावृतम् ।

उन्होंने हरिवर्षको अपने अधीन कर लिया और वहाँसे बहुतेरे रत्न प्राप्त किये । इसके बाद निषधपर्वतपर जाकर

शक्तिशाली अर्जुनने वहाँके निवासियोंको पराजित किया। तदनन्तर विशाल निषधपर्वतको लाँघकर वे दिव्य इलावृत-वर्षमें पहुँचे, जो जम्बूद्वीपका मध्यवर्ती भूभाग है॥

तत्र देवोपमान् दिव्यान् पुरुषान् देवदर्शनान्॥
अदृष्टपूर्वान् सुभगान् स ददर्श धनंजयः।

वहाँ अर्जुनने देवताओं-जैसे दिखायी देनेवाले देवोपम शक्तिशाली दिव्य पुरुष देखे। वे सब-के-सब अत्यन्त सौभाग्यशाली और अद्भुत थे। उससे पहले अर्जुनने कभी वैसे दिव्य पुरुष नहीं देखे थे॥

सदनानि च शुभ्राणि नारीश्चाप्सरसंनिभाः॥
दृष्ट्वा तानजयद् रम्यान् स तैश्च ददृशे तदा।

वहाँके भवन अत्यन्त उज्ज्वल और भव्य थे तथा नारियाँ अप्सराओंके समान प्रतीत होती थीं। अर्जुनने वहाँके रमणीय स्त्री-पुरुषोंको देखा। इनपर भी वहाँके लोगोंकी दृष्टि पड़ी॥

जित्वा च तान् महाभागान् करे च विनिवेश्य सः॥
रत्नान्यादाय दिव्यानि भूषणैर्वसनैः सह।
उदीचीमथ राजेन्द्र ययौ पार्थो मुदान्वितः॥

तत्पश्चात् उस देशके निवासियोंको अर्जुनने युद्धमें जीत लिया, जीतकर उनपर कर लगाया और फिर उन्हीं बड़भागियोंको वहाँके राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया। फिर वस्त्रों और आभूषणोंके साथ दिव्य रत्नोंकी भेंट लेकर अर्जुन बड़ी प्रसन्नताके साथ वहाँसे उत्तर दिशाकी ओर बढ़ गये॥

स ददर्श महामेरुं शिखराणां प्रभुं महत्।
तं काञ्चनमयं दिव्यं चतुर्वर्णं दुरासदम्॥
आयतं शतसाहस्रं योजनानां तु सुस्थितम्।
ज्वलन्तमचलं मेरुं तेजोराशिमनुत्तमम्॥
आक्षिपन्तं प्रभां भानोः स्वशृङ्गैः काञ्चनोज्ज्वलैः।
काञ्चनाभरणं दिव्यं देवगन्धर्वसेवितम्॥
नित्यपुष्पफलोपेतं सिद्धचारणसेवितम्।
अप्रमेयमनाधृष्यमधर्मबहुलैर्जनैः॥

आगे जाकर उन्हें पर्वतोंके स्वामी गिरिप्रवर महामेरुका दर्शन हुआ, जो दिव्य तथा सुवर्णमय है। उसमें चार प्रकारके रंग दिखायी पड़ते हैं। वहाँतक पहुँचना किसीके लिये भी अत्यन्त कठिन है। उसकी लंबाई एक लाख योजन है। वह परम उत्तम मेरुपर्वत महान् तेजके पुञ्ज-सा जगमगाता रहता है और अपने सुवर्णमय कान्तिमान् शिखरोंद्वारा सूर्यकी प्रभाको तिरस्कृत करता है। वह सुवर्णभूषित दिव्य पर्वत देवताओं तथा गन्धर्वोंसे सेवित है। सिद्ध और चारण भी वहाँ नित्य निवास करते हैं। उस पर्वतपर सदा फल और फूलोंकी बहुतायत रहती है। उसकी ऊँचाईका कोई माप नहीं है। अधर्मपरायण मनुष्य उस पर्वतका स्पर्श नहीं कर सकते॥

व्यालैराचरितं घोरैर्दिव्यौषधिविदीपितम्।
स्वर्गमावृत्य तिष्ठन्तमुच्छ्रायेण महागिरिम्॥
अगम्यं मनसाप्यन्यैर्नदीवृक्षसमन्वितम्।
नानाविहगसङ्घैश्च नादितं सुमनोहरैः॥
तं दृष्ट्वा फाल्गुनो मेरुं प्रीतिमानभवत् तदा।

बड़े भयंकर सर्प वहाँ विचरण करते हैं। दिव्य ओषधियाँ उस पर्वतको प्रकाशित करती रहती हैं। महागिरि मेरु ऊँचाईद्वारा स्वर्गलोकको भी घेरकर खड़ा है। दूसरे मनुष्य मनसे भी वहाँ नहीं पहुँच सकते। कितनी ही नदियाँ और वृक्ष उस शैल-शिखरकी शोभा बढ़ाते हैं। भाँति-भाँतिके मनोहर पक्षी वहाँ कलरव करते रहते हैं। ऐसे मनोहर मेरुगिरिको देखकर उस समय अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई॥

मेरोरिलावृतं वर्षं सर्वतः परिमण्डलम्॥
मेरोस्तु दक्षिणे पार्श्वे जम्बूर्नाम वनस्पतिः।
नित्यपुष्पफलोपेतः सिद्धचारणसेवितः॥

मेरुके चारों ओर मण्डलाकार इलावृतवर्ष बसा हुआ है। मेरुके दक्षिण पार्श्वमें जम्बू नामका एक वृक्ष है, जो सदा फल और फूलोंसे भरा रहता है। सिद्ध और चारण उस वृक्षका सेवन करते हैं॥

आस्वर्गमुच्छ्रिता राजन् तस्य शाखा वनस्पतेः।
यस्य नाम्ना त्विदं द्वीपं जम्बूद्वीपमिति श्रुतम्॥

राजन्! उक्त जम्बू-वृक्षकी शाखा ऊँचाईमें स्वर्गलोकतक फैली हुई है। उसीके नामपर इस द्वीपको जम्बूद्वीप कहते हैं॥

तां च जम्बूं ददर्शाथ सव्यसाची परंतपः।
तौ दृष्ट्वाप्रतिमौ लोके जम्बूं मेरुं च संस्थितौ॥
प्रीतिमानभवद् राजन् सर्वतः स विलोकयन्।
तत्र लेभे ततो जिष्णुः सिद्धैर्दिव्यैश्च चारणैः॥
रत्नानि बहुसाहस्रं वस्त्राण्याभरणानि च।
अन्यानि च महार्हाणि तत्र लब्ध्वार्जुनस्तदा॥
आमन्त्रयित्वा तान् सर्वान् यज्ञमुद्दिश्य वै गुरोः।
अथादाय बहून् रत्नान् गमनायोपचक्रमे॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले सव्यसाची अर्जुनने उस जम्बूवृक्षको देखा। जम्बू और मेरुगिरि दोनों ही इस जगत्में अनुपम हैं। उन्हें देखकर अर्जुनको बड़ी प्रसन्नता हुई। राजन्! वहाँ सब ओर दृष्टिपात करते हुए अर्जुनने सिद्धों और दिव्य चारणोंसे कई सहस्र रत्न, वस्त्र, आभूषण तथा अन्य बहुत-सी बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त कीं। तदनन्तर उन सबसे विदा ले बड़े भाईके यज्ञके उद्देश्यसे बहुत-से रत्नोंका संग्रह करके वे वहाँसे जानेको उद्यत हुए॥

मेरुं प्रदक्षिणं कृत्वा पर्वतप्रवरं प्रभुः।
ययौ जम्बूनदीतीरे नदीं श्रेष्ठां विलोकयन् ॥
स तां मनोरमां दिव्यां जम्बूस्वादुरसावहाम्।

पर्वतश्रेष्ठ मेरुको अपने दाहिने करके अर्जुन जम्बूनदीके तटपर गये। वे उस श्रेष्ठ सरिताकी शोभा देखना चाहते थे। वह मनोरम दिव्य नदी जलके रूपमें जम्बूवृक्षके फलोंका स्वादिष्ठ रस बहाती थी ॥

हैमपक्षिगणैर्जुष्टां सौवर्णजलजाकुलाम् ॥
हैमपङ्कां हैमजलां शुभां सौवर्णवालुकाम्।

सुनहरे पंखोंवाले पक्षी उसका सेवन करते थे। वह नदी सुवर्णमय कमलोंसे भरी हुई थी। उसकी कीचड़ भी स्वर्णमय थी। उसके जलसे भी सुवर्णमयी आभा छिटक रही थी। उस मङ्गलमयी नदीकी बालुका भी सुवर्णके चूर्ण-सी शोभा पाती थी॥

क्वचित् सौवर्णपद्मैश्च संकुलां हेमपुष्पकैः ॥
क्वचित् सुपुष्पितैः कीर्णां सुवर्णकुमुदोत्पलैः।
क्वचित् तीररुहैः कीर्णां हैमवृक्षैः सुपुष्पितैः ॥

कहीं-कहीं सुवर्णमय कमलों तथा स्वर्णमय पुष्पोंसे वह व्याप्त थी। कहीं सुन्दर खिले हुए सुवर्णमय कुमुद और उत्पल छाये हुए थे। कहीं उस नदीके तटपर सुन्दर फूलोंसे भरे हुए स्वर्णमय वृक्ष सब ओर फैले हुए थे ॥

तीर्थैश्च रुक्मसोपानैः सर्वतः संकुलां शुभाम्।
विमलैर्मणिजालैश्च नृत्यगीतरवैर्युताम् ॥

उस सुन्दर सरिताके घाटोंपर सब ओर सोनेकी सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। निर्मल मणियोंके समूह उसकी शोभा बढ़ाते थे। नृत्य और गीतके मधुर शब्द उस प्रदेशको मुखरित कर रहे थे॥

दीप्तैर्हेमवितानैश्च समन्ताच्छोभितां शुभाम्।
तथाविधां नदीं दृष्ट्वा पार्थस्तां प्रशशंस ह ॥
अदृष्टपूर्वां राजेन्द्र दृष्ट्वा हर्षमवाप च।

उसके दोनों तटोंपर सुनहरे और चमकीले चँदोवे तने थे, जिनके कारण जम्बू नदीकी बड़ी शोभा हो रही थी। राजेन्द्र! ऐसी अदृष्टपूर्व नदीका दर्शन करके अर्जुनने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की और वे मन-ही-मन बड़े प्रसन्न हुए॥

दर्शनीयान् नदीतीरे पुरुषान् सुमनोहरान् ॥
तान् नदीसलिलाहारान् सदारानमरोपमान्।
नित्यं सुखमुदा युक्तान् सर्वालंकारशोभितान्॥

उस नदीके तटपर बहुत-से देवोपम पुरुष अपनी स्त्रियों-के साथ विचर रहे थे। उनका सौन्दर्य देखने ही योग्य था। वे सबके मनको मोहे लेते थे। जम्बू नदीका जल ही उनका आहार था। वे सदा सुख और आनन्दमें निमग्न रहनेवाले तथा सब प्रकारके आभूषणोंसे विभूषित थे॥

तेभ्यो बहूनि रत्नानि तदा लेभे धनंजयः।
दिव्यजाम्बूनदं हेमभूषणानि च पेशलम् ॥
लब्ध्वा तान् दुर्लभान् पार्थः प्रतीचीं प्रययौ दिशम्।

उस समय अर्जुनने उनसे भी नाना प्रकारके रत्न प्राप्त किये। दिव्य जाम्बूनद नामक सुवर्ण और भाँति-भाँतिके आभूषण आदि दुर्लभ वस्तुएँ पाकर अर्जुन वहाँसे पश्चिम दिशाकी ओर चल दिये ॥

नागानां रक्षितं देशमजयच्चार्जुनस्ततः ॥
ततो गत्वा महाराज वारुणीं पाकशासनिः।
गन्धमादनमासाद्य तत्रस्थानजयत् प्रभुः ॥
तं गन्धमादनं राजन्नतिक्रम्य ततोऽर्जुनः।
केतुमालं विवेशाथ वर्षं रत्नसमन्वितम्।
सेवितं देवकल्पैश्च नारीभिः प्रियदर्शनैः ॥

उधर जाकर अर्जुनने नागोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशपर विजय पायी। महाराज! वहाँसे और पश्चिम जाकर शक्तिशाली अर्जुन गन्धमादन पर्वतपर पहुँच गये और वहाँके रहनेवालेको जीतकर अपने अधीन बना लिया। राजन्! इस प्रकार गन्धमादन पर्वतको लाँघकर अर्जुन रत्नसम्पन्न केतुमालवर्षमें गये, जो देवोपम पुरुषों और सुन्दरी स्त्रियोंकी निवासभूमि है ॥

तं जित्वा चार्जुनो राजन् करे च विनिवेश्य च।
आहृत्य तत्र रत्नानि दुर्लभानि तथार्जुनः ॥
पुनश्च परिवृत्याथ मध्यं देशमिलावृतम्।

राजन्! उस वर्षको जीतकर अर्जुनने उसे कर देनेवाला बना दिया और वहाँसे दुर्लभ रत्न लेकर वे पुनः मध्यवर्ती इलावृतवर्षमें लौट आये ॥

गत्वा प्राचीं दिशं राजन् सव्यसाची परंतपः ॥
मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम्।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥
खशाञ्झषांश्च नद्योतान् प्रघसान् दीर्घवेणिकान्।
पशुपांश्च कुलिन्दांश्च तङ्गणान् परतङ्गणान् ॥
रत्नान्यादाय सर्वेभ्यो माल्यवन्तं ततो ययौ।
तं माल्यवन्तं शैलेन्द्रं समतिक्रम्य पाण्डवः ॥
भद्राश्वं प्रविवेशाथ वर्षं स्वर्गोपमं शुभम्।

तदनन्तर शत्रुदमन सव्यसाची अर्जुनने पूर्व दिशामें प्रस्थान किया। मेरु और मन्दराचलके बीच शैलोदा नदीके दोनों तटोंपर जो लोग कीचक और वेणु नामक बाँसोंकी रमणीय छायाका आश्रय लेकर रहते हैं, उन खश, झष, नद्योत, प्रघस, दीर्घवेणिक, पशुप, कुलिन्द, तङ्गण तथा परतङ्गण आदि जातियोंको हराकर उन सबसे रत्नोंकी भेंट ले अर्जुन माल्यवान् पर्वतपर गये। तत्पश्चात् गिरिराज माल्यवान्‌को

मी लाँघकर उन पाण्डुकुमारने भद्राश्ववर्षमें प्रवेश किया, जो स्वर्गके समान सुन्दर है ॥

तत्रामरोपमान् रम्यान् पुरुषान् सुखसंयुतान् ॥
जित्वा तान् स्ववशे कृत्वा करे च विनिवेश्य च ।
आहृत्य सर्वरत्नानि असंख्यानि ततस्ततः ॥
नीलं नाम गिरिं गत्वा तत्रस्थानजयत् प्रभुः ।

उस देशमें देवताओंके समान सुन्दर और सुखी पुरुष निवास करते थे । अर्जुनने उन सबको जीतकर अपने अधीन कर लिया और उनपर कर लगा दिया । इस प्रकार इधर-उधरसे असंख्य रत्नोंका संग्रह करके शक्तिशाली अर्जुनने नीलगिरिकी यात्रा की और वहाँके निवासियोंको पराजित किया ॥

ततो जिष्णुरतिक्रम्य पर्वतं नीलमायतम् ॥
विवेश रम्यकं वर्षं संकीर्णं मिथुनैः शुभैः ।
तं देशमथ जित्वा च करे च विनिवेश्य च ॥
अजयच्चापि बीभत्सुर्देशं गुह्यकरक्षितम् ।
तत्र लेभे च राजेन्द्र सौवर्णान् मृगपक्षिणः ॥
अगृह्णाद् यज्ञभूत्यर्थं रमणीयान् मनोरमान् ।

तदनन्तर विशाल नीलगिरिको भी लाँघकर सुन्दर नर-नारियोंसे भरे हुए रम्यकवर्षमें उन्होंने प्रवेश किया । उस देशको भी जीतकर अर्जुनने वहाँके निवासियोंपर कर लगा दिया । तत्पश्चात् गुह्यकोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशको जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया । राजेन्द्र ! वहाँ उन्हें सोनेके मृग और पक्षी उपलब्ध हुए, जो देखनेमें बड़े ही रमणीय और मनोरम थे । उन्होंने यज्ञ-वैभवकी समृद्धिके लिये उन मृगों और पक्षियोंको ग्रहण कर लिया ॥

अन्यानि लब्ध्वा रत्नानि पाण्डवोऽथ महाबलः॥
गन्धर्वरक्षितं देशमजयत् सगणं तदा ।
तत्र रत्नानि दिव्यानि लब्ध्वा राजन्नथार्जुनः ॥
श्वेतपर्वतमासाद्य जित्वा पर्वतवासिनः ।
स श्वेतं पर्वतं राजन् समतिक्रम्य पाण्डवः ॥
वर्षं हिरण्यकं नाम विवेशाथ महीपते ।

तदनन्तर महाबली पाण्डुनन्दन अन्य बहुत-से रत्न लेकर गन्धर्वोंद्वारा सुरक्षित प्रदेशमें गये और गन्धर्वगणोंसहित उस देशपर अधिकार जमा लिया । राजन् ! वहाँ भी अर्जुनको बहुत-से दिव्य रत्न प्राप्त हुए । तदनन्तर उन्होंने श्वेत पर्वतपर जाकर वहाँके निवासियोंको जीता । फिर उस पर्वतको लाँघकर पाण्डुकुमार अर्जुनने हिरण्यकवर्षमें प्रवेश किया ॥

स तु देशेषु रम्येषु गन्तुं तत्रोपचक्रमे ॥
मध्ये प्रासादवृन्देषु नक्षत्राणां शशी यथा ।

महाराज ! वहाँ पहुँचकर वे उस देशके रमणीय प्रदेशोंमें विचरने लगे । बड़े-बड़े महलोंकी पङ्क्तियोंमें भ्रमण करते हुए श्वेताश्व अर्जुन नक्षत्रोंके बीच चन्द्रमाके समान सुशोभित होते थे ॥

महापथेषु राजेन्द्र सर्वतो यान्तमर्जुनम् ॥
प्रासादवरशृङ्गस्थाः परया वीर्यशोभया ।
ददृशुस्ताः स्त्रियः सर्वाः पार्थमात्मयशस्करम् ॥
तं कलापधरं शूरं सरथं सानुगं प्रभुम् ।
सवर्मसुकिरीटं वै संनद्धं सपरिच्छदम् ॥
सुकुमारं महासत्त्वं तेजोराशिमनुत्तमम् ।
शक्रोपममममित्रघ्नं परवारणवारणम् ॥
पश्यन्तः स्त्रीगणास्तत्र शक्तिपाणिं स्म मेनिरे ।

राजेन्द्र ! जब अर्जुन उत्तम बल और शोभासे सम्पन्न हो हिरण्यकवर्षकी विशाल सड़कोंपर चलते थे, उस समय प्रासाद-शिखरोंपर खड़ी हुई वहाँकी सुन्दरी स्त्रियाँ उनका दर्शन करती थीं । कुन्तीनन्दन अर्जुन अपने यशको बढ़ानेवाले थे । उन्होंने आभूषण धारण कर रक्खा था । वे शूरवीर, रथयुक्त, सेवकोंसे सम्पन्न और शक्तिशाली थे । उनके अङ्गोंमें कवच और मस्तकपर सुन्दर किरीट शोभा दे रहा था । वे कमर कसकर युद्धके लिये तैयार थे और सब प्रकारकी आवश्यक सामग्री उनके साथ थी । वे सुकुमार, अत्यन्त धैर्यवान्, तेजके पुञ्ज, परम उत्तम, इन्द्र-तुल्य पराक्रमी, शत्रुहन्ता तथा शत्रुओंके गजराजोंकी गतिको रोक देनेवाले थे । उन्हें देखकर वहाँकी स्त्रियोंने यही अनुमान लगाया कि इस वीर पुरुषके रूपमें साक्षात् शक्तिधारी कार्तिकेय पधारे हैं ॥

अयं स पुरुषव्याघ्रो रणेऽद्भुतपराक्रमः ॥
अस्य बाहुबलं प्राप्य न भवन्त्यसुहृद्गणाः ।

वे आपसमें इस प्रकार बातें करने लगीं—'सखियो ! ये जो पुरुषसिंह दिखायी दे रहे हैं, संग्राममें इनका पराक्रम अद्भुत है । इनके बाहुबलका आक्रमण होनेपर शत्रुओंके समुदाय अपना अस्तित्व खो बैठते हैं ॥'

इति वाचो ब्रुवन्त्यस्ताःस्त्रियःप्रेम्णा धनंजयम्॥
तुष्टुवुः पुष्पवृष्टिं च ससृजुस्तस्य मूर्धनि ।

इस प्रकारकी बातें करती हुई स्त्रियाँ बड़े प्रेमसे अर्जुन-की ओर देखकर उनके गुण गातीं और उनके मस्तकपर फूलोंकी वर्षा करती थीं ॥

दृष्ट्वा ते तु मुदा युक्ताः कौतूहलसमन्विताः ॥
रत्नैर्विभूषणैश्चैव अभ्यवर्षन्त पाण्डवम् ।

वहाँके सभी निवासी बड़ी प्रसन्नताके साथ कौतूहलवश उन्हें देखते और उनके निकट रत्नों तथा आभूषणोंकी वर्षा करते थे ॥

अथ जित्वा समस्तांस्तान् करे च विनिवेश्य च ॥
मणिहेमप्रवालानि रत्नान्याभरणानि च ।
एतानि लब्ध्वा पार्थोऽपि शृङ्गवन्तं गिरिं ययौ ॥
शृङ्गवन्तं च कौन्तेयः समतिक्रम्य फाल्गुनः ॥)
उत्तरं कुरुवर्षं तु स समासाद्य पाण्डवः ।
इयेष जेतुं तं देशं पाकशासननन्दनः ॥ ७ ॥

उन सबको जीतकर तथा उनके ऊपर कर लगाकर वहाँसे मणि, सुवर्ण, मूँगे, रत्न तथा आभूषण ले अर्जुन शृङ्गवान् पर्वतपर चले गये । वहाँसे आगे बढ़कर पाकशासनपुत्र पाण्डव अर्जुनने उत्तर कुरुवर्षमें पहुँचकर उस देशको जीतनेका विचार किया ॥ ७ ॥

तत एनं महावीर्यं महाकाया महाबलाः ।
द्वारपालाः समासाद्य हृष्टा वचनमब्रुवन् ॥ ८ ॥

इतनेहीमें महापराक्रमी अर्जुनके पास बहुतसे विशालकाय महाबली द्वारपाल आ पहुँचे और प्रसन्नतापूर्वक बोले— ॥

पार्थ नेदं त्वया शक्यं पुरं जेतुं कथंचन ।
उपावर्तस्व कल्याण पर्याप्तमिदमच्युत ॥ ९ ॥
इदं पुरं यः प्रविशेद् ध्रुवं न स भवेन्नरः ।
प्रीयामहे त्वया वीर पर्याप्तो विजयस्तव ॥ १० ॥

'पार्थ ! इस नगरको तुम किसी तरह जीत नहीं सकते । कल्याणस्वरूप अर्जुन ! यहाँसे लौट जाओ । अच्युत ! तुम यहाँतक आ गये, यही बहुत हुआ । जो मनुष्य इस नगरमें प्रवेश करता है, निश्चय ही उसकी मृत्यु हो जाती है । वीर ! हम तुमसे बहुत प्रसन्न हैं । यहाँतक आ पहुँचना ही तुम्हारी बहुत बड़ी विजय है ॥ ९-१० ॥

न चात्र किंचिज्जेतव्यमर्जुनात्र प्रदृश्यते ।
उत्तराः कुरवो ह्येते नात्र युद्धं प्रवर्तते ॥ ११ ॥
प्रविष्टोऽपि हि कौन्तेय नेह द्रक्ष्यसि किंचन ।
न हि मानुषदेहेन शक्यमत्राभिवीक्षितुम् ॥ १२ ॥

'अर्जुन ! यहाँ कोई जीतने योग्य वस्तु नहीं दिखायी देती । यह उत्तरकुरुदेश है । यहाँ युद्ध नहीं होता है । कुन्तीकुमार ! इसके भीतर प्रवेश करके भी तुम यहाँ कुछ देख नहीं सकोगे, क्योंकि मानव-शरीरसे यहाँकी कोई वस्तु देखी नहीं जा सकती ॥ ११-१२ ॥

अथेह पुरुषव्याघ्र किंचिदन्यच्चिकीर्षसि ।
तत् प्रब्रूहि करिष्यामो वचनात् तव भारत ॥ १३ ॥

'भरतकुलभूषण पुरुषसिंह ! यदि यहाँ तुम युद्धके सिवा और कोई काम करना चाहते हो तो बताओ, तुम्हारे कहनेसे हम स्वयं ही उस कार्यको पूर्ण कर देंगे' ॥ १३ ॥

ततस्तानब्रवीद् राजन्नर्जुनः प्रहसन्निव ।
पार्थिवत्वं चिकीर्षामि धर्मराजस्य धीमतः ॥ १४ ॥

राजन् ! तब अर्जुनने उनसे हँसते हुए कहा—'मैं अपने भाई बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको समस्त भूमण्डलका एकमात्र चक्रवर्ती सम्राट् बनाना चाहता हूँ ॥ १४ ॥

न प्रवेक्ष्यामि वो देशं विरुद्धं यदि मानुषैः ।
युधिष्ठिराय यत् किंचित् करपण्यं प्रदीयताम् ॥ १५ ॥

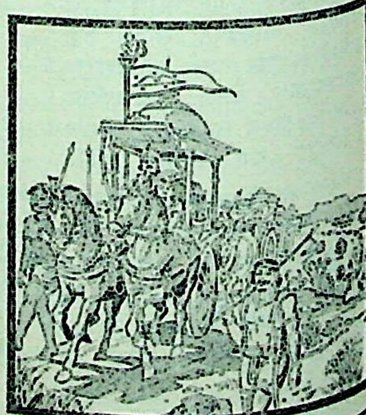
'आपलोगोंका देश यदि मनुष्योंके विपरीत पड़ता है तो मैं इसमें प्रवेश नहीं करूँगा । महाराज युधिष्ठिरके लिये करके रूपमें कुछ धन दीजिये' ॥ १५ ॥

ततो दिव्यानि वस्त्राणि दिव्यान्याभरणानि च ।
क्षौमाजिनानि दिव्यानि तस्य ते प्रददुः करम् ॥ १६ ॥

तब उन द्वारपालोंने अर्जुनको करके रूपमें बहुत-से दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण तथा दिव्य रेशमी वस्त्र एवं मृगचर्म दिये ॥

एवं स पुरुषव्याघ्रो विजित्य दिशमुत्तराम् ।
संग्रामान् सुबहून् कृत्वा क्षत्रियैर्दस्युभिस्तथा ॥ १७ ॥
स विनिर्जित्य राज्ञस्तान् करे च विनिवेश्य तु ।
धनान्यादाय सर्वेभ्यो रत्नानि विविधानि च ॥ १८ ॥
हयांस्तित्तिरिकल्माषाञ्शुकपत्रनिभानपि ।
मयूरसदृशानन्यान् सर्वाननिलरंहसः ॥ १९ ॥
वृतः सुमहता राजन् बलेन चतुरङ्गिणा ।
आजगाम पुनर्वीरः शक्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ २० ॥

इस प्रकार पुरुषसिंह अर्जुनने क्षत्रिय राजाओं तथा लुटेरोंके साथ बहुत-सी लड़ाइयाँ लड़ीं और उत्तर दिशापर विजय प्राप्त की । राजाओंको जीतकर उनसे कर लेते और उन्हें फिर अपने राज्यपर ही स्थापित कर देते थे । राजन् ! वीर अर्जुन सबसे धन और भाँति-भाँतिके रत्न लेकर तथा भेंटमें मिले हुए वायुके समान वेगवाले तित्तिरि, कल्माष, सुग्गापङ्खी एवं मोर-सदृश सभी घोड़ोंको साथ लिये और विशाल चतुरङ्गिणी सेनासे घिरे हुए फिर अपने उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थमें लौट आये ॥ १७–२० ॥



१. तीतरके समान चितकबरे रंगवाले ।

धर्मराजाय तत् पार्थो धनं सर्वं सवाहनम्।
न्यवेदयदनुज्ञातस्तेन राज्ञा गृहान् ययौ ॥ २१ ॥

पार्थने घोड़ोंसहित वह सारा धन धर्मराजको सौंप दिया और उनकी आज्ञा लेकर वे महलमें चले गये ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि अर्जुनोत्तरदिग्विजयेऽष्टाविंशोऽध्यायः ॥ २८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें अर्जुनकी उत्तर दिशापर विजय-विषयक अट्ठाईसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ५८ श्लोक मिलाकर कुल ७९ श्लोक हैं)

एकोनत्रिंशोऽध्यायः

भीमसेनका पूर्व दिशाको जीतनेके लिये प्रस्थान और विभिन्न देशोंपर विजय पाना

वैशम्पायन उवाच

एतस्मिन्नेव काले तु भीमसेनोऽपि वीर्यवान्।
धर्मराजमनुप्राप्य ययौ प्राचीं दिशं प्रति ॥ १ ॥
महता बलचक्रेण परराष्ट्रावमर्दिना।
हस्त्यश्वरथपूर्णेन दंशितेन प्रतापवान् ॥ २ ॥
वृतो भरतशार्दूलो द्विषच्छोकविवर्द्धनः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इसी समय शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाले भरतवंशशिरोमणि महाप्रतापी एवं पराक्रमी भीमसेन भी धर्मराजकी आज्ञा ले, शत्रुके राज्यको कुचल देनेवाली और हाथी, घोड़े एवं रथसे भरी हुई, कवच आदिसे सुसज्जित विशाल सेनाके साथ पूर्व दिशाको जीतनेके लिये चले ॥ १-२½ ॥

स गत्वा नरशार्दूलः पञ्चालानां पुरं महत् ॥ ३ ॥
पञ्चालान् विविधोपायैः सान्त्वयामास पाण्डवः।

नरश्रेष्ठ भीमसेनने पहले पाञ्चालोंकी महानगरी अहिच्छत्रामें जाकर भाँति-भाँतिके उपायोंसे पाञ्चाल वीरोंको समझा-बुझाकर वशमें किया ॥ ३½ ॥

ततः स गण्डकाञ्छूरो विदेहान् भरतर्षभः ॥ ४ ॥
विजित्याल्पेन कालेन दशार्णानजयत् प्रभुः।
तत्र दाशार्णको राजा सुधर्मा लोमहर्षणम् ।
कृतवान् भीमसेनेन महद् युद्धं निरायुधम् ॥ ५ ॥

वहाँसे आगे जाकर उन भरतवंशशिरोमणि शूर वीर भीमने गण्डक (गण्डकी नदीके तटवर्ती) और विदेह (मिथिला) देशोंको थोड़े ही समयमें जीतकर दशार्ण देशको भी अपने अधिकारमें कर लिया । वहाँ दशार्णनरेश सुधर्माने भीमसेनके साथ बिना अस्त्र-शस्त्रके ही महान् युद्ध किया । उन दोनोंका वह मल्लयुद्ध रोंगटे खड़े कर देनेवाला था ॥ ४-५ ॥

भीमसेनस्तु तद् दृष्ट्वा तस्य कर्म महात्मनः।
अधिसेनापतिं चक्रे सुधर्माणं महाबलम् ॥ ६ ॥

भीमसेनने उस महामना राजाका यह अद्भुत पराक्रम देखकर महाबली सुधर्माको अपना प्रधान सेनापति बना दिया ॥

ततः प्राचीं दिशं भीमो ययौ भीमपराक्रमः।
सैन्येन महता राजन् कम्पयन्निव मेदिनीम् ॥ ७ ॥

राजन् ! इसके बाद भयानक पराक्रमी भीमसेन पुनः विशाल सेनाके साथ पृथ्वीको कँपाते हुए पूर्व दिशाकी ओर बढ़े ॥ ७ ॥

सोऽश्वमेधेश्वरं राजन् रोचमानं सहानुगम्।
जिगाय समरे वीरो बलेन बलिनां वरः ॥ ८ ॥

जनमेजय ! बलवानोंमें श्रेष्ठ वीरवर भीमने अश्वमेधदेशके राजा रोचमानको उनके सेवकोंसहित बलपूर्वक जीत लिया ॥ ८ ॥

स तं निर्जित्य कौन्तेयो नातितीव्रेण कर्मणा।
पूर्वदेशं महावीर्यो विजिग्ये कुरुनन्दनः ॥ ९ ॥

उन्हें हराकर महापराक्रमी कुरुनन्दन कुन्तीकुमार भीमने कोमल बर्तावके द्वारा ही पूर्वदेशपर विजय प्राप्त कर ली ॥ ९ ॥

ततो दक्षिणमागम्य पुलिन्दनगरं महत्।
सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम् ॥ १० ॥

तदनन्तर दक्षिण आकर पुलिन्दोंके महान् नगर सुकुमार और वहाँके राजा सुमित्रको अपने अधीन कर लिया ॥ १० ॥

ततस्तु धर्मराजस्य शासनाद् भरतर्षभः।
शिशुपालं महावीर्यमभ्यगाज्जनमेजय ॥ ११ ॥

जनमेजय ! तत्पश्चात् भरतश्रेष्ठ भीम धर्मराजकी आज्ञासे महापराक्रमी शिशुपालके यहाँ गये ॥ ११ ॥

चेदिराजोऽपि तच्छ्रुत्वा पाण्डवस्य चिकीर्षितम्।
उपनिष्क्रम्य नगरात् प्रत्यगृह्णात् परंतप ॥ १२ ॥

परंतप ! चेदिराज शिशुपालने भी पाण्डुकुमार भीमका अभिप्राय जानकर नगरसे बाहर आ स्वागत सत्कारके साथ उन्हें अपनाया ॥ १२ ॥

तौ समेत्य महाराज कुरुचेदिवृषौ तदा।
उभयोरात्मकुलयोः कौशल्यं पर्यपृच्छताम् ॥ १३ ॥

महाराज ! कुरुकुल और चेदिकुलके वे श्रेष्ठ पुरुष परस्पर मिलकर दोनोंने दोनों कुलोंके कुशल-प्रश्न पूछे ॥ १३ ॥

ततो निवेद्य तद् राष्ट्रं चेदिराजो विशाम्पते।
उवाच भीमं प्रहसन् किमिदं कुरुषेऽनघ ॥ १४ ॥

राजन् ! तदनन्तर चेदिराजने अपना राष्ट्र भीमसेनको सौंपकर हँसते हुए पूछा—'अनघ ! यह क्या करते हो ?' ॥ १४ ॥

तस्य भीमस्तदाऽऽचख्यौ धर्मराजचिकीर्षितम् ।
स च तं प्रतिगृह्यैव तथा चक्रे नराधिपः ॥ १५ ॥

तब भीमने उससे धर्मराज जो कुछ करना चाहते थे, वह सब कह सुनाया । तदनन्तर राजा शिशुपालने उनकी बात मानकर कर देना स्वीकार कर लिया ॥ १५ ॥

ततो भीमस्तत्र राजन्नुषित्वा त्रिदश क्षपाः ।
सत्कृतः शिशुपालेन ययौ सबलवाहनः ॥ १६ ॥

राजन् ! उसके बाद शिशुपालसे सम्मानित हो भीमसेन अपनी सेना और सवारियोंके साथ तेरह दिन वहाँ रहे ... तत्पश्चात् वहाँसे विदा हुए ॥ १६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमदिग्विजये एकोनत्रिंशोऽध्यायः ॥ २९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें भीमदिग्विजयविषयक उन्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ २९ ॥

त्रिंशोऽध्यायः

भीमका पूर्व दिशाके अनेक देशों तथा राजाओंको जीतकर भारी धन-सम्पत्तिके साथ इन्द्रप्रस्थमें लौटना

वैशम्पायन उवाच

ततः कुमारविषये श्रेणिमन्तमथाजयत् ।
कोसलाधिपतिं चैव बृहद्बलमरिंदमः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले भीमसेनने कुमारदेशके राजा श्रेणिमान् तथा कोसलराज बृहद्बलको परास्त किया ॥ १ ॥

अयोध्यायां तु धर्मज्ञं दीर्घयज्ञं महाबलम् ।
अजयत् पाण्डवश्रेष्ठो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ २ ॥

इसके बाद अयोध्याके धर्मज्ञ नरेश महाबली दीर्घयज्ञको पाण्डवश्रेष्ठ भीमने कोमलतापूर्ण बर्तावसे वशमें कर लिया ॥ २ ॥

ततो गोपालकक्षं च सोत्तरानपि कोसलान् ।
मल्लानामधिपं चैव पार्थिवं चाजयत् प्रभुः ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् शक्तिशाली पाण्डुकुमारने गोपालकक्ष और उत्तर कोसल देशको जीतकर मल्लराष्ट्रके अधिपति पार्थिवको अपने अधीन कर लिया ॥ ३ ॥

ततो हिमवतः पार्श्वं समभ्येत्य जलोद्भवम् ।
सर्वमल्पेन कालेन देशं चक्रे वशं बली ॥ ४ ॥

इसके बाद हिमालयके पास जाकर बलवान् भीमने सारे जलोद्भव देशपर थोड़े ही समयमें अधिकार प्राप्त कर लिया ॥ ४ ॥

एवं बहुविधान् देशान् विजिग्ये भरतर्षभः ।
भल्लाटमभितो जिग्ये शुक्तिमन्तं च पर्वतम् ॥ ५ ॥

इस प्रकार भरतवंशभूषण भीमसेनने अनेक देश जीते और भल्लाटके समीपवर्ती देशों तथा शुक्तिमान् पर्वतपर भी विजय प्राप्त की ॥ ५ ॥

पाण्डवः सुमहावीर्यो बलेन बलिनां वरः ।
स काशिराजं समरे सुबाहुमनिवर्तिनम् ॥ ६ ॥
वशे चक्रे महाबाहुर्भीमो भीमपराक्रमः ।

बलवानोंमें श्रेष्ठ महापराक्रमी तथा भयंकर पुरुषार्थ प्रकट करनेवाले पाण्डुकुमार महाबाहु भीमसेनने समरमें पीठ न दिखानेवाले काशिराज सुबाहुको बलपूर्वक हराया ॥ ६½ ॥

ततः सुपार्श्वमभितस्तथा राजपतिं क्रथम् ॥ ७ ॥
युध्यमानं बलात् संख्ये विजिग्ये पाण्डवर्षभः ।

इसके बाद पाण्डुपुत्र भीमने सुपार्श्वके निकट राजराजेश्वर क्रथको, जो युद्धमें बलपूर्वक उनका सामना कर रहे थे, हरा दिया ॥ ७½ ॥

ततो मत्स्यान् महातेजा मलदांश्च महाबलान् ॥ ८ ॥
अनघानभयांश्चैव पशुभूमिं च सर्वशः ।
निवृत्य च महाबाहुर्मदधारं महीधरम् ॥ ९ ॥
सोमधेयांश्च निर्जित्य प्रययावुत्तरामुखः ।
वत्सभूमिं च कौन्तेयो विजिग्ये बलवान् बलात् ॥ १० ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी कुन्तीकुमारने मत्स्य, महाबली मलद, अनघ और अभय नामक देशोंको जीतकर पशुभूमि (पशुपतिनाथके निकटवर्ती स्थान—नेपाल) को भी सब ओरसे जीत लिया । वहाँसे लौटकर महाबाहु भीमने मदधार पर्वत और सोमधेयनिवासियोंको परास्त किया । इसके बाद बलवान् भीमने उत्तराभिमुख यात्रा की और वत्सभूमिपर बलपूर्वक अधिकार जमा लिया ॥ ८–१० ॥

भर्गाणामधिपं चैव निषादाधिपतिं तथा ।
विजिग्ये भूमिपालांश्च मणिमत्प्रमुखान् बहून् ॥ ११ ॥
ततो दक्षिणमल्लांश्च भोगवन्तं च पर्वतम् ।
तरसैवाजयद् भीमो नातितीव्रेण कर्मणा ॥ १२ ॥

फिर क्रमशः भर्गोंके स्वामी, निषादोंके अधिपति तथा मणिमान् आदि बहुत-से भूपालोंको अपने अधिकारमें कर लिया । तदनन्तर दक्षिण मल्लदेश तथा भोगवान् पर्वतको भीमसेनने अधिक प्रयास किये बिना ही वेगपूर्वक जीत लिया ॥ ११-१२ ॥

शर्मकान् वर्मकांश्चैव व्यजयत् सान्त्वपूर्वकम् ।
वैदेहकं च राजानं जनकं जगतीपतिम् ॥ १३ ॥
विजिग्ये पुरुषव्याघ्रो नातितीव्रेण कर्मणा ।
शकांश्च बर्बरांश्चैव अजयच्छद्मपूर्वकम् ॥ १४ ॥

शर्मक और वर्मकोंको उन्होंने समझा-बुझाकर ही जीत लिया । विदेह देशके राजा जनकको भी पुरुषसिंह ...

अधिक उग्र प्रयास किये बिना ही परास्त किया। फिर शकों और बर्बरोंपर छलसे विजय प्राप्त कर ली ॥ १३-१४ ॥

वैदेहस्थस्तु कौन्तेय इन्द्रपर्वतमन्तिकात्।
किरातानामधिपतीनजयत् सप्त पाण्डवः ॥ १५ ॥
ततः सुह्मान् प्रसुह्मांश्च सपक्षानतिवीर्यवान्।
विजित्य युधि कौन्तेयो मागधानभ्यधाद् बली ॥ १६ ॥

विदेह देशमें ही ठहरकर कुन्तीकुमार भीमने इन्द्रपर्वतके निकटवर्ती सात किरातराजोंको जीत लिया। इसके बाद सुह्म और प्रसुह्म देशके राजाओंको, जिनके पक्षमें बहुत लोग थे, अत्यन्त पराक्रमी और बलवान् कुन्तीकुमार भीम युद्धमें परास्त करके मगधदेशको चल दिये ॥ १५-१६ ॥

दण्डं च दण्डधारं च विजित्य पृथिवीपतीन्।
तैरेव सहितैः सर्वैर्गिरिव्रजमुपाद्रवत् ॥ १७ ॥

मार्गमें दण्ड-दण्डधार तथा अन्य राजाओंको जीतकर उन सबके साथ वे गिरिव्रज नगरमें आये ॥ १७ ॥

जारासंधिं सान्त्वयित्वा करे च विनिवेश्य ह।
तैरेव सहितैः सर्वैः कर्णमभ्यद्रवद् बली ॥ १८ ॥
स कम्पयन्निव महीं बलेन चतुरङ्गिणा।
युयुधे पाण्डवश्रेष्ठः कर्णेनामित्रघातिना ॥ १९ ॥
स कर्णं युधि निर्जित्य वशे कृत्वा च भारत।
ततो विजिग्ये बलवान् राज्ञः पर्वतवासिनः ॥ २० ॥
अथ मोदागिरौ चैव राजानं बलवत्तरम्।
पाण्डवो बाहुवीर्येण निजघान महामृधे ॥ २१ ॥

वहाँ जरासंधकुमार सहदेवको सान्त्वना देकर उसे कर देनेकी शर्तपर उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया और उन सबके साथ बलवान् भीमने कर्णपर चढ़ाई की। पाण्डवश्रेष्ठ भीमने पृथ्वीको कम्पित-सी करते हुए चतुरंगिणी सेना साथ ले शत्रुघाती कर्णके साथ युद्ध छेड़ दिया। भारत! उस युद्धमें कर्णको परास्त करके अपने वशमें कर लेनेके पश्चात् बलवान् भीमने पर्वतीय राजाओंपर विजय प्राप्त की। तदनन्तर पाण्डुनन्दन भीमसेनने मोदागिरिके अत्यन्त बलिष्ठ राजाको अपनी भुजाओंके बलसे महासमरमें मार गिराया ॥ १८-२१ ॥

ततः पुण्ड्राधिपं वीरं वासुदेवं महाबलम्।
कौशिकीकच्छनिलयं राजानं च महौजसम् ॥ २२ ॥
उभौ बलभृतौ वीरावुभौ तीव्रपराक्रमौ।
निर्जित्याजौ महाराज वङ्गराजमुपाद्रवत् ॥ २३ ॥

महाराज! तत्पश्चात् भीमसेन पुण्ड्रकदेशके अधिपति महाबली वीर राजा वासुदेवके साथ, जो कोसी नदीके कछारमें रहनेवाले तथा महान् तेजस्वी थे, जा भिड़े। ये दोनों ही बलवान् एवं दुःसह पराक्रमवाले वीर थे। भीमने विपक्षी वासुदेव (पौण्ड्रक) को युद्धमें हराकर वङ्गदेशके राजापर आक्रमण किया ॥ २२-२३ ॥

समुद्रसेनं निर्जित्य चन्द्रसेनं च पार्थिवम्।
ताम्रलिप्तं च राजानं कर्वटाधिपतिं तथा ॥ २४ ॥
सुह्मानामधिपं चैव ये च सागरवासिनः।
सर्वान् म्लेच्छगणांश्चैव विजिग्ये भरतर्षभः ॥ २५ ॥

तदनन्तर भरतश्रेष्ठ भीमसेनने समुद्रसेन, भूपाल चन्द्रसेन, राजा ताम्रलिप्त, कर्वटाधिपति तथा सुह्म-नरेशको जीतकर समुद्रके तटपर निवास करनेवाले समस्त म्लेच्छोंको भी अपने अधीन कर लिया ॥ २४-२५ ॥

एवं बहुविधान् देशान् विजित्य पवनात्मजः।
वसु तेभ्य उपादाय लौहित्यमगमद् बली ॥ २६ ॥

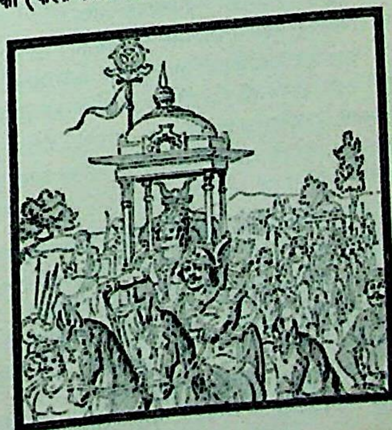
इस प्रकार पवनपुत्र बलवान् भीमने बहुत-से देशोंपर अधिकार प्राप्त करके उन सबसे धन लेकर लौहित्य देशकी यात्रा की ॥ २६ ॥

स सर्वान् म्लेच्छनृपतीन् सागरानूपवासिनः।
करमाहारयामास रत्नानि विविधानि च ॥ २७ ॥

वहाँ उन्होंने समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले बहुत-से म्लेच्छ राजाओंको जीतकर उनसे करके रूपमें भाँति-भाँतिके रत्न वसूल किये ॥ २७ ॥

चन्दनागुरुवस्त्राणि मणिमौक्तिककम्बलम्।
काञ्चनं रजतं चैव विद्रुमं च महाधनम् ॥ २८ ॥
ते कोटिशतसंख्येन कौन्तेयं महता तदा।
अभ्यवर्षन् महात्मानं धनवर्षेण पाण्डवम् ॥ २९ ॥

इतना ही नहीं, उन राजाओंने भीमसेनको चन्दन, अगर, वस्त्र, मणि, मोती, कम्बल, सोना, चाँदी और बहुमूल्य मूँगे भेंट किये। कुन्ती और पाण्डुके पुत्र महात्मा भीमसेनके पास उन्होंने करोड़ोंकी संख्यामें धन-रत्नोंकी वर्षा की (करके रूपमें धन-रत्न प्रदान किये) ॥ २८-२९ ॥



इन्द्रप्रस्थमुपागम्य भीमो भीमपराक्रमः।
निवेदयामास तदा धर्मराजाय तद् धनम् ॥ ३० ॥

तदनन्तर भयानक पराक्रमी भीमने इन्द्रप्रस्थमें आकर वह सारा धन धर्मराजको सौंप दिया ॥ ३० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि भीमप्राचीदिग्विजये त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें भीमके द्वारा पूर्व दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३० ॥

एकत्रिंशोऽध्यायः

सहदेवके द्वारा दक्षिण दिशाकी विजय

वैशम्पायन उवाच

तथैव सहदेवोऽपि धर्मराजेन पूजितः।
महत्या सेनया राजन् प्रययौ दक्षिणां दिशम् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! सहदेव भी धर्मराज युधिष्ठिरसे सम्मानित हो दक्षिण दिशापर विजय पानेके लिये विशाल सेनाके साथ प्रस्थित हुए ॥ १ ॥

स शूरसेनान् कार्त्स्न्येन पूर्वमेवाजयत् प्रभुः।
मत्स्यराजं च कौरव्यो वशे चक्रे बलाद् बली ॥ २ ॥

शक्तिशाली सहदेवने सबसे पहले समस्त शूरसेननिवासियों-को पूर्णरूपसे जीत लिया; फिर मत्स्यराज विराटको अपने अधीन बनाया ॥ २ ॥

अधिराजाधिपं चैव दन्तवक्रं महाबलम्।
जिगाय करदं चैव कृत्वा राज्ये न्यवेशयत् ॥ ३ ॥

राजाओंके अधिपति महाबली दन्तवक्रको भी परास्त किया और उसे कर देनेवाला बनाकर फिर उसी राज्यपर प्रतिष्ठित कर दिया ॥ ३ ॥

सुकुमारं वशे चक्रे सुमित्रं च नराधिपम्।
तथैवापरमत्स्यांश्च व्यजयत् स पटच्चरान् ॥ ४ ॥
निषादभूमिं गोश्रृङ्गं पर्वतप्रवरं तथा।
तरसैवाजयद् धीमान् श्रेणिमन्तं च पार्थिवम् ॥ ५ ॥

इसके बाद राजा सुकुमार तथा सुमित्रको वशमें किया। इसी प्रकार अपर मत्स्यों और लुटेरोंपर भी विजय प्राप्त की। तदनन्तर निषाददेश तथा पर्वतप्रवर गोश्रृङ्गको जीतकर बुद्धिमान् सहदेवने राजा श्रेणिमान्‌को वेगपूर्वक परास्त किया ॥ ४-५ ॥

नरराष्ट्रं च निर्जित्य कुन्तिभोजमुपाद्रवत्।
प्रीतिपूर्वं च तस्यासौ प्रतिजग्राह शासनम् ॥ ६ ॥

फिर नरराष्ट्रको जीतकर राजा कुन्तिभोजपर धावा किया। परंतु कुन्तिभोजने प्रसन्नताके साथ ही उसका शासन स्वीकार कर लिया ॥ ६ ॥

ततश्चर्मण्वतीकूले जम्भकस्यात्मजं नृपम्।
ददर्श वासुदेवेन शेषितं पूर्ववैरिणा ॥ ७ ॥

इसके बाद चर्मण्वतीके तटपर सहदेवने जम्भकके पुत्रको देखा, जिसे पूर्ववैरी वासुदेवने जीवित छोड़ दिया था ॥ ७ ॥

चक्रे तेन स संग्रामं सहदेवेन भारत।
स तमाजौ विनिर्जित्य दक्षिणाभिमुखो ययौ ॥ ८ ॥

भारत! उस जम्भकपुत्रने सहदेवके साथ घोर संग्राम किया; परंतु सहदेव उसे युद्धमें जीतकर दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ गये ॥ ८ ॥

सेकानपरसेकांश्च व्यजयत् सुमहाबलः।
करं तेभ्य उपादाय रत्नानि विविधानि च ॥ ९ ॥
ततस्तेनैव सहितो नर्मदामभितो ययौ।

वहाँ महाबली माद्रीकुमारने सेक और अपरसेक देशोंपर विजय पायी और उन सबसे नाना प्रकारके रत्न भेंटमें लिये। तत्पश्चात् सेकाधिपतिको साथ ले उन्होंने नर्मदाकी ओर प्रस्थान किया ॥ ९½ ॥

विन्दानुविन्दावावन्त्यौ सैन्येन महताऽऽवृतौ।
जिगाय समरे वीरावाश्विनेयः प्रतापवान् ॥ १० ॥

अश्विनीकुमारोंके पुत्र प्रतापी सहदेवने वहाँ युद्धमें विशाल सेनासे घिरे हुए अवन्तीके राजकुमार विन्द और अनुविन्दको परास्त किया ॥ १० ॥

ततो रत्नान्युपादाय पुरं भोजकटं ययौ।
तत्र युद्धमभूद् राजन् दिवसद्वयमच्युत ॥ ११ ॥

वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर वे भोजकट नगरमें गये। अपनी मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले राजन्! वहाँ दो दिनोंतक युद्ध होता रहा ॥ ११ ॥

स विजित्य दुराधर्षं भीष्मकं माद्रिनन्दनः।
कोसलाधिपतिं चैव तथा वेणातटाधिपम् ॥ १२ ॥
कान्तारकांश्च समरे तथा प्राक्कोसलान् नृपान्।
नाटकेयांश्च समरे तथा हेरम्बकान् युधि ॥ १३ ॥

माद्रीनन्दनने उस संग्राममें दुर्धर्ष वीर भीष्मकको पराजित करके कोसलाधिपति, वेणानदीके तटवर्ती प्रदेशोंके स्वामी, कान्तारक तथा पूर्वकोसलके राजाओंको भी समरमें पराजित किया। तत्पश्चात् नाटकेयों और हेरम्बकोंको भी युद्धमें हराया ॥ १२-१३ ॥

मारुधं च विनिर्जित्य रम्यग्राममथो बलात्।
नाचीनानर्बुकांश्चैव राज्ञश्चैव महाबलः ॥ १४ ॥
तांस्तानाटविकान् सर्वानजयत् पाण्डुनन्दनः।
वाताधिपं च नृपतिं वशे चक्रे महाबलः ॥ १५ ॥

महाबली पाण्डुनन्दन सहदेवने मारुध तथा रम्यग्रामको बलपूर्वक परास्त करके नाचीन, अर्बुक तथा समस्त वनेचर राजाओंको जीत लिया। तदनन्तर महाबली माद्रीकुमारने राजा वाताधिपको वशमें किया ॥ १४-१५ ॥

पुलिन्दांश्च रणे जित्वा ययौ दक्षिणतः पुरः।
युयुधे पाण्ड्यराजेन दिवसं नकुलानुजः ॥ १६ ॥

फिर पुलिन्दोंको संग्राममें हराकर नकुलके छोटे भाई सहदेव दक्षिण दिशामें और आगे बढ़ गये। तत्पश्चात् उन्होंने पाण्ड्य-नरेशके साथ एक दिन युद्ध किया ॥ १६ ॥

तं जित्वा स महाबाहुः प्रययौ दक्षिणापथम्।
गुहामासादयामास किष्किन्धां लोकविश्रुताम्॥ १७ ॥

उन्हें जीतकर महाबाहु सहदेव दक्षिणापथकी ओर गये और लोकविख्यात किष्किन्धा नामक गुफामें जा पहुँचे ॥१७॥

तत्र वानरराजाभ्यां मैन्देन द्विविदेन च।
युयुधे दिवसान् सप्त न च तौ विकृतिं गतौ ॥ १८ ॥

वहाँ वानरराज मैन्द और द्विविदके साथ उन्होंने सात दिनोंतक युद्ध किया; किंतु उन दोनोंका कुछ बिगाड़ न हो सका ॥ १८ ॥

ततस्तुष्टौ महात्मानौ सहदेवाय वानरौ।
ऊचतुश्चैव संहृष्टौ प्रीतिपूर्वमिदं वचः ॥ १९ ॥

तब वे दोनों महात्मा वानर अत्यन्त प्रसन्न हो सहदेवसे प्रेमपूर्वक बोले—॥ १९ ॥

गच्छ पाण्डवशार्दूल रत्नान्यादाय सर्वशः।
अविघ्नमस्तु कार्याय धर्मराजाय धीमते ॥ २० ॥

'पाण्डवप्रवर! तुम सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर जाओ। परम बुद्धिमान् धर्मराजके कार्यमें कोई विघ्न नहीं पड़ना चाहिये' ॥ २० ॥

ततो रत्नान्युपादाय पुरीं माहिष्मतीं ययौ।
तत्र नीलेन राज्ञा स चक्रे युद्धं नरर्षभः ॥ २१ ॥

तदनन्तर वे नरश्रेष्ठ वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर माहिष्मती पुरीको गये और वहाँ राजा नीलके* साथ घोर युद्ध किया॥२१॥

पाण्डवः परवीरघ्नः सहदेवः प्रतापवान्।
ततोऽस्य सुमहद् युद्धमासीद् भीरुभयंकरम् ॥ २२ ॥

सैन्यक्षयकरं चैव प्राणानां संशयावहम्।
चक्रे तस्य हि साहाय्यं भगवान् हव्यवाहनः ॥ २३ ॥

शत्रुवीरोंका नाश करनेवाले पाण्डुपुत्र सहदेव बड़े प्रतापी थे। उनसे राजा नीलका जो महान् युद्ध हुआ, वह कायरोंको भयभीत करनेवाला, सेनाओंका विनाशक और प्राणोंको संशयमें डालनेवाला था। भगवान् अग्निदेव राजा नीलकी सहायता कर रहे थे ॥ २२-२३ ॥

ततो रथा हया नागाः पुरुषाः कवचानि च।
प्रदीप्तानि व्यदृश्यन्त सहदेवबले तदा ॥ २४ ॥

उस समय सहदेवकी सेनामें रथ, घोड़े, हाथी, मनुष्य और कवच सभी आगसे जलते दिखायी देने लगे ॥ २४ ॥

ततः सुसम्भ्रान्तमना बभूव कुरुनन्दनः।
नोत्तरं प्रतिवक्तुं च शक्तोऽभूज्जनमेजय ॥ २५ ॥

जनमेजय! इससे कुरुनन्दन सहदेवके मनमें बड़ी घबराहट हुई। वे इसका प्रतीकार करनेमें असमर्थ हो गये॥२५॥

जनमेजय उवाच

किमर्थं भगवान् वह्निः प्रत्यमित्रोऽभवद् युधि।
सहदेवस्य यज्ञार्थं घटमानस्य वै द्विज ॥ २६ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! सहदेव तो यज्ञके लिये ही चेष्टा कर रहे थे, फिर भगवान् अग्निदेव उस युद्धमें उनके विरोधी कैसे हो गये? ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

तत्र माहिष्मतीवासी भगवान् हव्यवाहनः।
श्रूयते हि गृहीतो वै पुरस्तात् पारदारिकः ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—जनमेजय! सुननेमें आया है कि माहिष्मती नगरीमें निवास करनेवाले भगवान् अग्निदेव किसी समय उस नील राजाकी कन्या सुदर्शनाके प्रति आसक्त हो गये ॥ २७ ॥

नीलस्य राज्ञो दुहिता बभूवातीवशोभना।
साग्निहोत्रमुपातिष्ठद् बोधनाय पितुः सदा ॥ २८ ॥

राजा नीलके एक कन्या थी, जो अनुपम सुन्दरी थी। वह सदा अपने पिताके अग्निहोत्रगृहमें अग्निको प्रज्वलित करनेके लिये उपस्थित हुआ करती थी ॥ २८ ॥

व्यजनैर्धूयमानोऽपि तावत् प्रज्वलते न सः।
यावच्चारुपुटौष्ठेन वायुना न विधूयते ॥ २९ ॥

पंखेसे हवा करनेपर भी अग्निदेव तबतक प्रज्वलित नहीं होते थे, जबतक कि वह सुन्दरी अपने मनोहर ओष्ठसम्पुटसे फूँक मारकर हवा न देती थी ॥ २९ ॥

ततः स भगवानग्निश्चकमे तां सुदर्शनाम्।
नीलस्य राज्ञः सर्वेषामुपनीतश्च सोऽभवत् ॥ ३० ॥

* यह इक्ष्वाकुवंशीय दुर्जयका पुत्र था। इसका दूसरा नाम दुर्योधन था। यह राजा बड़ा धर्मात्मा था। इसकी कथा अनुशासन-पर्वके दूसरे अध्यायमें आती है।

तत्पश्चात् भगवान् अग्नि उस सुदर्शना नामकी राजकन्याको चाहने लगे। इस बातको राजा नील और सभी नागरिक जान गये ॥ ३० ॥

ततो ब्राह्मणरूपेण रममाणो यदृच्छया।
चकमे तां वरारोहां कन्यामुत्पललोचनाम्।
तं तु राजा यथाशास्त्रमशासद् धार्मिकस्तदा ॥ ३१ ॥

तदनन्तर एक दिन ब्राह्मणका रूप धारण करके इच्छानुसार घूमते हुए अग्निदेव उस सर्वाङ्गसुन्दरी कमलनयनी कन्याके पास आये और उसके प्रति कामभाव प्रकट करने लगे। धर्मात्मा राजा नीलने शास्त्रके अनुसार उस ब्राह्मणपर शासन किया ॥ ३१ ॥

प्रजज्वाल ततः कोपाद् भगवान् हव्यवाहनः।
तं दृष्ट्वा विस्मितो राजा जगाम शिरसावनिम् ॥ ३२ ॥

तब क्रोधसे भगवान् अग्निदेव अपने रूपमें प्रज्वलित हो उठे। उन्हें इस रूपमें देखकर राजाको बड़ा आश्चर्य हुआ और उन्होंने पृथ्वीपर मस्तक रखकर अग्निदेवको प्रणाम किया ॥ ३२ ॥

ततः कालेन तां कन्यां तथैव हि तदा नृपः।
प्रददौ विप्ररूपाय वह्नये शिरसा ततः ॥ ३३ ॥
प्रतिगृह्य च तां सुभ्रूं नीलराज्ञः सुतां तदा।
चक्रे प्रसादं भगवांस्तस्य राज्ञो विभावसुः ॥ ३४ ॥

तत्पश्चात् विवाहके योग्य समय आनेपर राजाने उस कन्याको ब्राह्मणरूपधारी अग्निदेवकी सेवामें अर्पित कर दिया और उनके चरणोंमें सिर रखकर नमस्कार किया। राजा नीलकी सुन्दरी कन्याको पत्नीरूपमें ग्रहण करके भगवान् अग्निने राजापर अपना कृपाप्रसाद प्रकट किया ॥ ३३-३४ ॥

वरेणच्छन्दयामास तं नृपं स्विष्टकृत्तमः।
अभयं च स जग्राह स्वसैन्ये वै महीपतिः ॥ ३५ ॥

वे उनकी अभीष्ट-सिद्धिमें सर्वोत्तम सहायक हो राजासे वर माँगनेका अनुरोध करने लगे। राजाने अपनी सेनाके प्रति अभयदान माँगा ॥ ३५ ॥

ततः प्रभृति ये केचिदज्ञानात् तां पुरीं नृपाः।
जिगीषन्ति बलाद् राजंस्ते दह्यन्ते स्म वह्निना ॥ ३६ ॥

राजन्! तभीसे जो कोई नरेश अज्ञानवश उस पुरीको बलपूर्वक जीतना चाहते, उन्हें अग्निदेव जला देते थे ॥ ३६ ॥

तस्यां पुर्यां तदा चैव माहिष्मत्यां कुरूद्वह।
बभूवुरनतिग्राह्या योषितश्छन्दतः किल ॥ ३७ ॥

कुरुश्रेष्ठ जनमेजय! उस समय माहिष्मतीपुरीमें युवती स्त्रियाँ इच्छानुसार ग्रहण करनेके योग्य नहीं रह गयी थीं (क्योंकि वे स्वतन्त्रतासे ही वरका वरण किया करती थीं)॥ ३७ ॥

एवमग्निर्वरं प्रादात् स्त्रीणामप्रतिवारणे।
स्वैरिण्यस्तत्र नार्यो हि यथेष्टं विचरन्त्युत ॥ ३८ ॥

अग्निदेवने स्त्रियोंके लिये यह वर दे दिया था कि उनके प्रतिकूल होनेके कारण ही कोई स्त्रियोंको वरका स्वयं ही वरण करनेसे रोक नहीं सकता। इससे वहाँकी स्त्रियाँ स्वेच्छानुसार वरका वरण करनेके लिये विचरण किया करती थीं ॥ ३८ ॥

वर्जयन्ति च राजानस्तत् पुरं भरतर्षभ।
भयादग्नेर्महाराज तदाप्रभृति सर्वदा ॥ ३९ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! तभीसे सब राजा (जो इस रहस्यसे परिचित थे) अग्निके भयके कारण माहिष्मती पुरीपर चढ़ाई नहीं करते थे ॥ ३९ ॥

सहदेवस्तु धर्मात्मा सैन्यं दृष्ट्वा भयार्दितम्।
परीतमग्निना राजन् नाकम्पत यथाचलः।
उपस्पृश्य शुचिर्भूत्वा सोऽब्रवीत् पावकं ततः ॥ ४० ॥

राजन्! धर्मात्मा सहदेव अग्निसे व्याप्त हुई अपनी सेनाको भयसे पीड़ित देख पर्वतकी भाँति अविचल भावसे खड़े रहे, भयसे कम्पित नहीं हुए। उन्होंने आचमन करके पवित्र हो अग्निदेवसे इस प्रकार कहा ॥ ४० ॥

सहदेव उवाच

त्वदर्थोऽयं समारम्भः कृष्णवर्त्मन् नमोऽस्तु ते।
मुखं त्वमसि देवानां यज्ञस्त्वमसि पावक ॥ ४१ ॥

सहदेव बोले—कृष्णवर्त्मन्! हमारा यह आयोजन आपहीके लिये है, आपको नमस्कार है। पावक! आप देवताओंके मुख हैं, यज्ञस्वरूप हैं ॥ ४१ ॥

पावनात् पावकश्चासि वहनाद्धव्यवाहनः।
वेदास्त्वदर्थं जाता वै जातवेदास्ततो ह्यसि ॥ ४२ ॥

आप सबको पवित्र करनेके कारण पावक हैं और हव्य (हवनीय पदार्थ) को वहन करनेके कारण हव्यवाहन कहलाते हैं। वेद आपके लिये ही जात अर्थात् प्रकट हुए हैं, इसीलिये आप जातवेदा हैं ॥ ४२ ॥

चित्रभानुः सुरेशश्च अनलस्त्वं विभावसो।
स्वर्गद्वारस्पृशश्चासि हुताशो ज्वलनः शिखी ॥ ४३ ॥

विभावसो! आप ही चित्रभानु, सुरेश और अनल कहलाते हैं। आप सदा स्वर्गद्वारका स्पर्श करते हैं। आप आहुति दिये हुए पदार्थोंको खाते हैं, इसलिये हुताशन हैं। प्रज्वलित होनेसे ज्वलन और शिखा (लपट) धारण करनेसे शिखी हैं ॥ ४३ ॥

वैश्वानरस्त्वं पिङ्गेशः प्लवङ्गो भूरितेजसः।
कुमारसूस्त्वं भगवान् रुद्रगर्भो हिरण्यकृत् ॥ ४४ ॥

आप ही वैश्वानर, पिङ्गेश, प्लवङ्ग और भूरितेजा नामसे प्रसिद्ध हैं। आप कुमार कार्तिकेयको जन्म दिया है, आप

ही ऐश्वर्यसम्पन्न होनेके कारण भगवान् हैं। श्रीरुद्रका वीर्य धारण करनेसे आप रुद्रगर्भ कहलाते हैं। सुवर्णके उत्पादक होनेसे आपका नाम हिरण्यकृत् है ॥ ४४ ॥

अग्निर्ददातु मे तेजो वायुः प्राणं ददातु मे।
पृथिवी बलमादध्याच्छिवं चापो दिशन्तु मे ॥ ४५ ॥

आप अग्नि मुझे तेज दें, वायुदेव प्राणशक्ति प्रदान करें, पृथ्वी मुझमें बलका आधान करें और जल मुझे कल्याण प्रदान करें ॥ ४५ ॥

अपांगर्भ महासत्त्व जातवेदः सुरेश्वर।
देवानां मुखमग्ने त्वं सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४६ ॥

जलको प्रकट करनेवाले महान् शक्तिसम्पन्न जातवेदा सुरेश्वर अग्निदेव ! आप देवताओंके मुख हैं, अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र कीजिये ॥ ४६ ॥

ऋषिभिर्ब्राह्मणैश्चैव दैवतैरसुरैरपि।
नित्यं सुहुत यज्ञेषु सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४७ ॥

ऋषि, ब्राह्मण, देवता तथा असुर भी सदा यज्ञ करते समय आपमें आहुति डालते हैं, अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र करें ॥ ४७ ॥

धूमकेतुः शिखी च त्वं पापहानिलसम्भवः।
सर्वप्राणिषु नित्यस्थः सत्येन विपुनीहि माम् ॥ ४८ ॥

देव! धूम आपका ध्वज है, आप शिखा धारण करनेवाले हैं, वायुसे आपका प्राकट्य हुआ है। आप समस्त पापोंके नाशक हैं। सम्पूर्ण प्राणियोंके भीतर आप सदा विराजमान होते हैं। अपने सत्यके प्रभावसे आप मुझे पवित्र कीजिये।४८।

एवं स्तुतोऽसि भगवन् प्रीतेन शुचिना मया।
तुष्टिं पुष्टिं श्रुतिं चैव प्रीतिं चाग्ने प्रयच्छ मे ॥ ४९ ॥

भगवन् ! मैंने पवित्र होकर प्रेमभावसे आपका इस प्रकार स्तवन किया है। अग्निदेव ! आप मुझे तुष्टि, पुष्टि, श्रवण-शक्ति एवं शास्त्रज्ञान और प्रीति प्रदान करें ॥ ४९ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं मन्त्रमाग्नेयं पठन् यो जुहुयाद् विभुम्।
ऋद्धिमान् सततं दान्तः सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ५० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! जो द्विज इस प्रकार इन दस(?) आग्नेय मन्त्रोंका पाठ करते हुए(अन्तमें स्वाहा बोलकर)भगवान् अग्निदेवको आहुति समर्पित करता है वह सदा समृद्धिशाली और जितेन्द्रिय होकर सब पापोंसे मुक्त हो जाता है॥

सहदेव उवाच

यज्ञविघ्नमिमं कर्तुं नार्हस्त्वं हव्यवाहन।

सहदेव बोले—हव्यवाहन ! आपको यज्ञमें यह विघ्न नहीं डालना चाहिये।

एवमुक्त्वा तु माद्रेयः कुशैरास्तीर्य मेदिनीम् ॥ ५१ ॥
विधिवत् पुरुषव्याघ्रः पावकं प्रत्युपाविशत्।
प्रमुखे तस्य सैन्यस्य भीतोद्विग्नस्य भारत ॥ ५२ ॥

भारत ! ऐसा कहकर नरश्रेष्ठ माद्रीकुमार सहदेव धरतीपर कुश बिछाकर अपनी भयभीत और उद्विग्न सेनाके अग्रभागमें विधिपूर्वक अग्निके सम्मुख धरना देकर बैठ गये॥५१-५२॥

न चैनमत्यगाद् वह्निर्वेलामिव महोदधिः।
तमुपेत्य शनैर्वह्निरुवाच कुरुनन्दनम् ॥ ५३ ॥
सहदेवं नृणां देवं सान्त्वपूर्वमिदं वचः।
उत्तिष्ठोत्तिष्ठ कौरव्य जिज्ञासेयं कृता मया।
वेद्मि सर्वमभिप्रायं तव धर्मसुतस्य च ॥ ५४ ॥

जैसे महासागर अपनी तटभूमिका उल्लङ्घन नहीं करता, उसी प्रकार अग्निदेव सहदेवको लाँघकर उनकी सेनामें नहीं गये। वे कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले नरदेव सहदेवके पास धीरे-धीरे आकर उन्हें सान्त्वना देते हुए यह वचन बोले— 'कौरव्य ! उठो, उठो, मैंने यह तुम्हारी परीक्षा की है। तुम्हारे और धर्मपुत्र युधिष्ठिरके सम्पूर्ण अभिप्रायको मैं जानता हूँ ॥ ५३-५४ ॥

मया तु रक्षितव्येयं पुरी भरतसत्तम।
यावद् राज्ञो हि नीलस्य कुले वंशधरा इति ॥ ५५ ॥
ईप्सितं तु करिष्यामि मनसस्तव पाण्डव ॥ ५६ ॥

'परंतु भरतसत्तम ! राजा नीलके कुलमें जबतक उनकी वंशपरम्परा चलती रहेगी, तबतक मुझे इस माहिष्मतीपुरीकी रक्षा करनी होगी। पाण्डुकुमार ! साथ ही मैं तुम्हारा मनोरथ भी पूर्ण करूँगा' ॥ ५५-५६ ॥

तत उत्थाय हृष्टात्मा प्राञ्जलिः शिरसा नतः।
पूजयामास माद्रेयः पावकं भरतर्षभ ॥ ५७ ॥

भरतश्रेष्ठ ! जनमेजय ! यह सुनकर माद्रीकुमार सहदेव प्रसन्नचित्त हो वहाँसे उठे और हाथ जोड़कर एवं सिर झुकाकर उन्होंने अग्निदेवका पूजन किया ॥ ५७ ॥

पावके विनिवृत्ते तु नीलो राजाभ्यगात् तदा।
पावकस्याज्ञया चैनमर्चयामास पार्थिवः ॥ ५८ ॥
सत्कारेण नरव्याघ्रं सहदेवं युधाम्पतिम्।

अग्निके लौट जानेपर उन्हींकी आज्ञासे राजा नील उस समय वहाँ आये और उन्होंने योद्धाओंके अधिपति पुरुषसिंह सहदेवका सत्कारपूर्वक पूजन किया ॥ ५८½ ॥

प्रतिगृह्य च तां पूजां करे च विनिवेश्य च ॥ ५९ ॥
माद्रीसुतस्ततः प्रायाद् विजयी दक्षिणां दिशम्।

राजा नीलकी यह पूजा ग्रहणकर और उनपर कर लगाकर विजयी माद्रीकुमार सहदेव दक्षिण दिशाकी ओर बढ़ गये।५९½।

त्रैपुरं स वशे कृत्वा राजानममितौजसम् ॥ ६० ॥
निजग्राह महाबाहुस्तरसा पौरवेश्वरम् ।
आकृतिं कौशिकाचार्यं यत्नेन महता ततः ॥ ६१ ॥
वशे चक्रे महाबाहुः सुराष्ट्राधिपतिं तदा ।

फिर त्रिपुरीके राजा अमितौजाको वशमें करके महाबाहु सहदेवने पौरवेश्वरको वेगपूर्वक बंदी बना लिया । तदनन्तर बड़े भारी प्रयत्नके द्वारा विशाल भुजाओंवाले माद्रीकुमारने सुराष्ट्रदेशके अधिपति कौशिकाचार्य आकृतिको वशमें किया ॥ ६०-६१½ ॥

सुराष्ट्रविषयस्थश्च प्रेषयामास रुक्मिणे ॥ ६२ ॥
राज्ञे भोजकटस्थाय महामात्राय धीमते ।
भीष्मकाय स धर्मात्मा साक्षादिन्द्रसखाय वै ॥ ६३ ॥
स चास्य प्रतिजग्राह ससुतः शासनं तदा ।
प्रीतिपूर्वं महाराज वासुदेवमवेक्ष्य च ॥ ६४ ॥
ततः स रत्नान्यादाय पुनः प्रायाद् युधाम्पतिः ।

महाराज ! सुराष्ट्रमें ही ठहरकर धर्मात्मा सहदेवने भोजकट-निवासी रुक्मी तथा विशाल राज्यके अधिपति परम बुद्धिमान् साक्षात् इन्द्रसखा भीष्मकके पास दूत भेजा । पुत्रसहित भीष्मकने वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णकी ओर दृष्टि रखकर प्रेमपूर्वक ही सहदेवका शासन स्वीकार कर लिया । तदनन्तर योद्धाओंके अधिपति सहदेव वहाँसे रत्नोंकी भेंट लेकर पुनः आगे बढ़ गये ॥ ६२-६४½ ॥

ततः शूर्पारकं चैव तालाकटमथापि च ॥ ६५ ॥
वशे चक्रे महातेजा दण्डकांश्च महाबलः ।
सागरद्वीपवासांश्च नृपतीन् म्लेच्छयोनिजान् ॥ ६६ ॥
निषादान् पुरुषादांश्च कर्णप्रावरणानपि ।

महाबलशाली महातेजस्वी माद्रीकुमारने शूर्पारक और तालाकट नामक देशोंको जीतते हुए दण्डकारण्यको अपने अधीन कर लिया । तत्पश्चात् समुद्रके द्वीपोंमें निवास करनेवाले म्लेच्छ-जातीय राजाओं, निषादों तथा राक्षसों, कर्णप्रावरणों-को भी परास्त किया ॥ ६५-६६½ ॥

ये च कालमुखा नाम नरराक्षसयोनयः ॥ ६७ ॥

कालमुख नामसे प्रसिद्ध जो मनुष्य और राक्षस दोनोंके संयोगसे उत्पन्न हुए योद्धा थे, उनपर भी विजय प्राप्त की ॥

कृत्स्नं कोलगिरिं चैव सुरभीपत्तनं तथा ।
द्वीपं ताम्राह्वयं चैव पर्वतं रामकं तथा ॥ ६८ ॥
तिमिङ्गिलं च स नृपं वशे कृत्वा महामतिः ।
एकपादांश्च पुरुषान् केरलान् वनवासिनः ॥ ६९ ॥
नगरीं संजयन्तीं च पाखण्डं करहाटकम् ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥ ७० ॥

समूचे कोलगिरि, सुरभीपत्तन, ताम्रद्वीप, रामकपर्वत तथा तिमिंगिलनरेशको भी अपने वशमें करके परम बुद्धिमान् सहदेवने एक पैरके पुरुषों, केरलों, वनवासियों, संजयन्ती नगरी तथा पाखण्ड और करहाटक देशोंको दूतोंद्वारा संदेश देकर ही अपने अधीन कर लिया और उन सबसे कर वसूल किया ॥ ६८-७० ॥

पाण्ड्यांश्च द्रविडांश्चैव सहितांश्चोण्ड्रकेरलैः ।
आन्ध्रांस्तालवनांश्चैव कलिङ्गानुष्ट्रकर्णिकान् ॥ ७१ ॥
आटवीं च पुरीं रम्यां यवनानां पुरं तथा ।
दूतैरेव वशे चक्रे करं चैनानदापयत् ॥ ७२ ॥

पाण्ड्य, द्रविड, उण्ड्र, केरल, आन्ध्र, तालवन, कलिङ्ग, उष्ट्रकर्णिक, रमणीय आटवीपुरी तथा यवनोंके नगर—इन सबको उन्होंने दूतोंद्वारा ही वशमें कर लिया और उन्हें कर देनेके लिये विवश किया ॥ ७१-७२ ॥

(समुद्रतीरमासाद्य न्यविशत् पाण्डुनन्दनः ।
सहदेवस्ततो राजन् मन्त्रिभिः सह भारत ।
सम्प्रधार्य महाबाहुः सचिवैर्बुद्धिमत्तरैः ॥

वहाँसे समुद्रके तटपर पहुँचकर पाण्डुनन्दन सहदेवने सेनाका पड़ाव डाला । भारत ! तदनन्तर महाबाहु सहदेवने अत्यन्त बुद्धिमान् मन्त्रणा देनेमें कुशल सचिवोंके साथ बैठकर बहुत देरतक विचारविमर्श किया ॥

अनुमान्य स तां राजन् सहदेवस्त्वरान्वितः ।
चिन्तयामास राजेन्द्र भ्रातुः पुत्रं घटोत्कचम् ॥

राजेन्द्र जनमेजय ! उन सबकी सम्मतिको आदर देते हुए माद्रीकुमारने अपने भतीजे राक्षसराज घटोत्कचका तुरंत चिन्तन किया ।

ततश्चिन्तितमात्रे तु राक्षसः प्रत्यदृश्यत ।
अतिदीर्घो महाकायः सर्वाभरणभूषितः ॥

उनके चिन्तन करते ही वह बड़े डील-डौलवाला विशाल-काय राक्षस दिखायी दिया । उसने सब प्रकारके आभूषण धारण कर रक्खे थे ॥

नीलजीमूतसंकाशस्तप्तकाञ्चनकुण्डलः ।
विचित्रहारकेयूरः किङ्किणीमणिभूषितः ॥

उसके शरीरका रंग मेघोंकी काली घटाके समान था । उसके कानोंमें तपाये हुए सुवर्णके कुण्डल झिलमिला रहे थे । उसके गलेमें हार और भुजाओंमें केयूरकी विचित्र शोभा हो रही थी । कटिभागमें वह किंकिणीकी मणियोंसे विभूषित था ।

हेममाली महादंष्ट्रः किरीटी कुक्षिबन्धनः ।
ताम्रकेशो हरिश्मश्रुर्भीमाक्षः कनकाङ्गदः ॥

उसके कण्ठमें सुवर्णकी माला, मस्तकपर किरीट और कमरसे करधनीकी शोभा हो रही थी । उसकी दाढ़ें बड़ी थीं, सिरके बाल ताँबेके समान लाल थे, मूँछ

१. जो अपने कानोंसे ही शरीरको ढक लें उन्हें 'कर्णप्रावरण' कहते हैं । प्राचीन कालमें ऐसी जातिके लोग थे, जिनके कान पैरोंतक लटकते थे ।

के बाल हरे दिखायी देते थे एवं आँखें बड़ी भयंकर थीं। उसकी भुजाओंमें सोनेके बाजूबंद चमक रहे थे ॥

रक्तचन्दनदिग्धाङ्गः सूक्ष्माम्बरधरो बली।
जवेन स ययौ तत्र चालयन्निव मेदिनीम् ॥

उसने अपने सब अङ्गोंमें लाल चन्दन लगा रक्खा था। उसके कपड़े बहुत महीन थे। वह बलवान् राक्षस अपने वेगसे समूची पृथ्वीको हिलाता हुआ-सा वहाँ पहुँचा ॥

ततो दृष्ट्वा जना राजन्नायान्तं पर्वतोपमम्।
भयाद्धि दुद्रुवुः सर्वे सिंहात् क्षुद्रमृगा यथा ॥

राजन्! उस पर्वताकार घटोत्कचको आता देख वहाँके सब लोग भयके मारे भाग खड़े हुए; मानो किसी सिंहके भयसे जंगलके मृग आदि क्षुद्र पशु भाग रहे हों ॥

आससाद च माद्रेयं पुलस्त्यं रावणो यथा।
अभिवाद्य ततो राजन् सहदेवं घटोत्कचः ॥
प्रह्वः कृताञ्जलिस्तस्थौ किं कार्यमिति चाब्रवीत्।

घटोत्कच माद्रीनन्दन सहदेवके पास आया, मानो रावणने महर्षि पुलस्त्यके पास पदार्पण किया हो। महाराज! तदनन्तर घटोत्कच सहदेवको प्रणाम करके उनके सामने विनीतभावसे हाथ जोड़कर खड़ा हो गया और बोला—'मेरे लिये क्या आज्ञा है?' ॥

तं मेरुशिखराकारमागतं पाण्डुनन्दनः ॥
सम्परिष्वज्य बाहुभ्यां मूर्ध्न्युपाघ्राय चासकृत्।
पूजयित्वा सहामात्यः प्रीतो वाक्यमुवाच ह ॥

घटोत्कच मेरुपर्वतके शिखर-जैसा जान पड़ता था। उसको आया देख पाण्डुनन्दन सहदेवने दोनों भुजाओंमें भरकर उसे हृदयसे लगा लिया और बार-बार उसका मस्तक सूँघा। तत्पश्चात् उसका स्वागत-सत्कार करके मन्त्रियोंसहित सहदेव बड़े प्रसन्न हुए और इस प्रकार बोले ॥

सहदेव उवाच

गच्छ लङ्कां पुरीं वत्स करार्थं मम शासनात्।
तत्र दृष्ट्वा महात्मानं राक्षसेन्द्रं विभीषणम् ॥
रत्नानि राजसूयार्थं विविधानि बहूनि च।
उपादाय च सर्वाणि प्रत्यागच्छ महाबल ॥

सहदेवने कहा—वत्स! तुम मेरी आज्ञासे कर लेनेके लिये लंकापुरीमें जाओ और वहाँ राक्षसराज महात्मा विभीषणसे मिलकर राजसूययज्ञके लिये भाँति-भाँतिके बहुत-से रत्न प्राप्त करो। महाबली वीर! उनकी ओरसे भेंटमें मिली हुई सब वस्तुएँ लेकर शीघ्र यहाँ लौट आओ ॥

नो चेद्दद्याद् यदेः पुत्र समर्थमिदमुत्तरम्।
विरूपाक्षो भुजबलं वीक्ष्य राजसूयमथारभत् ॥
कौन्तेयो भ्रातृभिः सार्धं सर्वं जानीहि साम्प्रतम्।
स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि सर्वं वैश्रवणानुज ॥
इत्युक्त्वा शीघ्रमागच्छ मा भूत् कालस्य पर्ययः।

बेटा! यदि विभीषण तुम्हें भेंट न दें, तो उन्हें अपनी शक्तिका परिचय देते हुए इस प्रकार कहना—'कुबेरके छोटे भाई लंकेश्वर! कुन्तीकुमार युधिष्ठिरने भगवान् श्रीकृष्णके बाहुबलको देखकर भाइयोंसहित राजसूययज्ञ आरम्भ किया है। आप इस समय इन बातोंको अच्छी तरह जान लें। आपका कल्याण हो, अब मैं यहाँसे चला जाऊँगा।' इतना कहकर तुम शीघ्र लौट आना; अधिक विलम्ब मत करना ॥

वैशम्पायन उवाच

पाण्डवेनैवमुक्तस्तु मुदा युक्तो घटोत्कचः।
तथेत्युक्त्वा महाराज प्रतस्थे दक्षिणां दिशम् ॥
ययौ प्रदक्षिणं कृत्वा सहदेवं घटोत्कचः।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—महाराज जनमेजय! पाण्डुकुमार सहदेवके ऐसा कहनेपर घटोत्कच बहुत प्रसन्न हुआ और 'तथास्तु' कहकर सहदेवकी परिक्रमा करके दक्षिण दिशाकी ओर चल दिया ॥

ततः कच्छगतो धीमान् दूतं माद्रवतीसुतः।
प्रेषयामास हैडिम्बं पौलस्त्याय महात्मने।
विभीषणाय धर्मात्मा प्रीतिपूर्वमरिंदमः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार समुद्रके तटपर पहुँचकर बुद्धिमान् शत्रुदमन धर्मात्मा माद्रवतीकुमारने महात्मा पुलस्त्यनन्दन विभीषणके पास प्रेमपूर्वक घटोत्कचको अपना दूत बनाकर भेजा ॥ ७३ ॥

(लङ्कामभिमुखो राजन् समुद्रमवलोकयत् ॥
कूर्मग्राहझषाकीर्णं नक्रैर्मीनैस्तथाऽऽकुलम्।
शुक्तिव्रातैः समाकीर्णं शङ्खानां निचयाकुलम् ॥

राजन्! लङ्काकी ओर जाते हुए घटोत्कचने समुद्रको देखा। वह कछुओं, मगरों, नाकों तथा मत्स्य आदि जल-जन्तुओंसे भरा हुआ था। उसमें ढेर-के-ढेर शङ्ख और सीपियाँ छा रही थीं ॥

स दृष्ट्वा रामसेतुं च चिन्तयन् रामविक्रमम्।
प्रणम्य तमतिक्रम्य याम्यां वेलामलोकयत् ॥

भगवान् श्रीरामके द्वारा बनवाये हुए पुलको देखकर घटोत्कचको भगवान्के पराक्रमका चिन्तन हो आया और उस सेतुतीर्थको प्रणाम करके उसने समुद्रके दक्षिणतटकी ओर दृष्टिपात किया ॥

गत्वा पारं समुद्रस्य दक्षिणं स घटोत्कचः।
ददर्श लङ्कां राजेन्द्र नाकपृष्ठोपमां शुभाम् ॥

राजेन्द्र ! तत्पश्चात् दक्षिणतटपर पहुँचकर घटोत्कचने लङ्कापुरी देखी, जो स्वर्गके समान सुन्दर थी ॥

प्राकारेणावृतां रम्यां शुभद्वारैश्च शोभिताम् ।
प्रासादैर्बहुसाहस्रैः श्वेतरक्तैश्च संकुलाम् ॥

उसके चारों ओर चहारदीवारी बनी थी। सुन्दर फाटक उस रमणीय पुरीकी शोभा बढ़ाते थे । सफेद और लाल रंगके हजारों महलोंसे वह लंकापुरी भरी हुई थी ॥

तापनीयगवाक्षेण मुक्ताजालान्तरेण च ।
हैमराजतजालेन दान्तजालैश्च शोभिताम् ॥

वहाँके गवाक्ष (जँगले) सोनेके बने हुए थे और उनके भीतर मोतियोंकी जाली लगी हुई थी । कितने ही गवाक्ष सोने, चाँदी तथा हाथीदाँतकी जालियोंसे सुशोभित थे ॥

हर्म्यगोपुरसम्बाधां रुक्मतोरणसंकुलाम् ।
दिव्यदुन्दुभिनिर्ह्रादामुद्यानवनशोभिताम् ॥

कितनी ही अट्टालिकाएँ तथा गोपुर उस नगरीकी शोभा बढ़ाते थे । स्थान-स्थानपर सोनेके फाटक लगे हुए थे । वहाँ दिव्य दुन्दुभियोंकी गम्भीर ध्वनि गूँजती रहती थी । बहुत-से उद्यान और वन उस नगरीकी श्रीवृद्धि कर रहे थे ॥

पुष्पगन्धैश्च संकीर्णां रमणीयमहापथाम् ।
नानारत्नैश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम् ॥

उसमें चारों ओर फूलोंकी सुगन्ध छा रही थी। वहाँकी लंबी-चौड़ी सड़कें बहुत सुन्दर थीं । भाँति-भाँतिके रत्नोंसे भरी-पुरी लंका इन्द्रकी अमरावतीपुरीको भी लज्जित कर रही थी ॥

विवेश स पुरीं लङ्कां राक्षसैश्च निषेविताम् ।
ददर्श राक्षसव्राताञ्छूलप्रासधरान् बहून् ॥

घटोत्कचने राक्षसोंसे सेवित उस लङ्कापुरीमें प्रवेश किया और देखा, झुंड-के-झुंड राक्षस त्रिशूल और भाले लिये विचर रहे हैं ॥

नानावेषधरान् दक्षान् नारीश्च प्रियदर्शनाः ।
दिव्यमाल्याम्बरधरा दिव्याभरणभूषिताः ॥

ये सभी युद्धमें कुशल हैं और नाना प्रकारके वेष धारण करते हैं । घटोत्कचने वहाँकी नारियोंको भी देखा । वे सब-की-सब बड़ी सुन्दर थीं । उनके अङ्गोंमें दिव्य वस्त्र, दिव्य आभूषण तथा दिव्य हार शोभा दे रहे थे ॥

मदरक्तान्तनयना पीनश्रोणिपयोधराः ।
भैमसेनिं ततो दृष्ट्वा हृष्टास्ते विस्मयं गताः ॥

उनके नेत्रोंके किनारे मदिराके नशेसे कुछ लाल हो रहे थे । उनके नितम्ब और उरोज उभरे हुए तथा मांसल थे । भीमसेनपुत्र घटोत्कचको वहाँ आया देख लङ्कानिवासी राक्षसोंको बड़ा हर्ष और विस्मय हुआ ॥

आससाद गृहं राज्ञ इन्द्रस्य सदनोपमम् ।
स द्वारपालमासाद्य वाक्यमेतदुवाच ह ॥

इधर घटोत्कच इन्द्रभवनके समान मनोहर राजमहलके द्वारपर जा पहुँचा और द्वारपालसे इस प्रकार बोला ॥

घटोत्कच उवाच

कुरूणामृषभो राजा पाण्डुर्नाम महाबलः ।
कनीयांस्तस्य दायादः सहदेव इति श्रुतः ॥

घटोत्कचने कहा—कुरुकुलमें एक श्रेष्ठ राजा हो गये हैं । वे महाबली नरेश 'पाण्डु' के नामसे विख्यात थे। उनके सबसे छोटे पुत्रका नाम 'सहदेव' है ॥

कृष्णमित्रस्य तु गुरो राजसूयार्थमुद्यतः ।
तेनाहं प्रेषितो दूतः करार्थं कौरवस्य च ॥

वे अपने बड़े भाई युधिष्ठिरका राजसूययज्ञ सम्पन्न करानेके लिये कटिबद्ध हैं । धर्मराज युधिष्ठिरके सहायक भगवान् श्रीकृष्ण हैं । सहदेवने कुरुराज युधिष्ठिरके लिये कर लेनेके निमित्त मुझे दूत बनाकर यहाँ भेजा है ॥

द्रष्टुमिच्छामि पौलस्त्यं त्वं क्षिप्रं मां निवेदय ।

मैं पुलस्त्यनन्दन महाराज विभीषणसे मिलना चाहता हूँ । तुम शीघ्र जाकर उन्हें मेरे आगमनकी सूचना दो ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा द्वारपालो महीपते ।
तथेत्युक्त्वा विवेशाथ भवनं स निवेदकः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! घटोत्कचका वह वचन सुनकर वह द्वारपाल 'बहुत अच्छा' कहकर सूचना देनेके लिये राजभवनके भीतर गया ॥

साञ्जलिः स समाचष्ट सर्वां दूतगिरं तदा ।
द्वारपालवचः श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः ॥
उवाच वाक्यं धर्मात्मा समीपे मे प्रवेश्यताम् ।

वहाँ उसने हाथ जोड़कर दूतकी कही हुई सारी बातें कह सुनायीं । द्वारपालकी बात सुनकर धर्मात्मा राक्षसराज विभीषणने उससे कहा—'दूतको मेरे समीप ले आओ' ॥

एवमुक्तस्तु राजेन्द्र धर्मज्ञेन महात्मना ।
अथ निष्क्रम्य सम्भ्रान्तो द्वाःस्थो हैडिम्बमब्रवीत् ॥

राजेन्द्र ! धर्मज्ञ महात्मा विभीषणकी ऐसी आज्ञा होनेपर द्वारपाल बड़ी उतावलीके साथ बाहर निकला और घटोत्कचसे बोला—॥

एहि दूत नृपं द्रष्टुं क्षिप्रं प्रविश च स्वयम् ।
द्वारपालवचः श्रुत्वा प्रविवेश घटोत्कचः ॥

'दूत ! आओ । महाराजसे मिलनेके लिये राजभवनमें स्वयं प्रवेश करो ।' द्वारपालका कथन सुनकर घटोत्कचने राजभवनमें प्रवेश किया ॥

स प्रविश्य ददर्शाथ राक्षसेन्द्रस्य मन्दिरम्।
ततः कैलाससंकाशं तप्तकाञ्चनतोरणम्॥

तदनन्तर उसमें प्रवेश करके उसने राक्षसराज विभीषणका महल देखा, जो अपनी उज्ज्वल आभासे कैलासके समान जान पड़ता था। उसका फाटक तपाकर शुद्ध किये हुए सोनेसे तैयार किया गया था॥

प्राकारेण परिक्षिप्तं गोपुरैश्चापि शोभितम्।
हर्म्यप्रासादसम्बाधं नानारत्नसमन्वितम्॥

चहारदीवारीसे घिरा हुआ वह राजमन्दिर अनेक गोपुरोंसे सुशोभित हो रहा था। उसमें बहुत-सी अट्टालिकाएँ तथा महल बने हुए थे। भाँति-भाँतिके रत्न उस राजभवनकी शोभा बढ़ाते थे॥

काञ्चनैस्तापनीयैश्च स्फाटिकै राजतैरपि।
वज्रवैदूर्यगर्भैश्च स्तम्भैर्दृष्टिमनोहरैः।
नानाध्वजपताकाभिः सुवर्णाभिश्च चित्रितम्।

तपाये हुए सुवर्ण, रजत (चाँदी) तथा स्फटिकमणिके बने हुए खम्भे नेत्र और मनको बरबस अपनी ओर खींच लेते थे। उन खम्भोंमें हीरे और वैदूर्य जड़े हुए थे। सुनहरे रंगकी विविध ध्वजा-पताकाओंसे उस भव्य भवनकी विचित्र शोभा हो रही थी॥

चित्रमाल्यावृतं रम्यं तप्तकाञ्चनवेदिकम्॥
तान् दृष्ट्वा तत्र सर्वान् स भैमसेनिर्मनोरमान्।
प्रविशन्नेव हैडिम्बः शुश्राव मुरजस्वनम्॥

विचित्र मालाओंसे अलंकृत तथा विशुद्ध स्वर्णमय वेदिकाओंसे विभूषित वह राजभवन बड़ा रमणीय दिखायी दे रहा था। उस महलकी इन सारी मनोरम विशेषताओंको देखकर घटोत्कचने ज्यों ही भीतर प्रवेश किया, त्यों ही उसके कानोंमें मृदंगकी मधुर ध्वनि सुनायी पड़ी॥

तन्त्रीगीतसमाकीर्णं समतालमिताक्षरम्।
दिव्यदुन्दुभिनिर्ह्रादं वादित्रशतसंकुलम्॥

वहाँ वीणाके तार झंकृत हो रहे थे और उसके लयपर गीत गाया जा रहा था। जिसका एक-एक अक्षर समतालके अनुसार उच्चारित हो रहा था। सैकड़ों वाद्योंके साथ दिव्य दुन्दुभियोंका मधुर घोष गूँज रहा था॥

स श्रुत्वा मधुरं शब्दं प्रीतिमानभवत् तदा।
ततो विगाह्य हैडिम्बो बहुकक्षां मनोरमाम्॥
स ददर्श महात्मानं द्वाःस्थेन भरतर्षभ।
तं विभीषणमासीनं काञ्चने परमासने॥

भरतश्रेष्ठ! वह मधुर शब्द सुनकर घटोत्कचके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने अनेक मनोरम कक्षाओंको पार करके द्वारपालके साथ जा सुन्दर स्वर्णसिंहासनपर बैठे हुए महात्मा विभीषणका दर्शन किया॥

दिव्ये भास्करसंकाशे मुक्तामणिविभूषिते।
दिव्याभरणचित्राङ्गं दिव्यरूपधरं विभुम्॥

उनका सिंहासन सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा था और उसमें मोती तथा मणि आदि रत्न जड़े हुए थे। दिव्य आभूषणोंसे राक्षसराज विभीषणके अङ्गोंकी विचित्र शोभा हो रही थी। उनका रूप दिव्य था॥

दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धोक्षितं शुभम्॥
विभ्राजमानं वपुषा सूर्यवैश्वानरप्रभम्।

वे दिव्य माला और दिव्य वस्त्र धारण करके दिव्य गन्धसे अभिषिक्त हो बड़े सुन्दर दिखायी दे रहे थे। उनकी अङ्गकान्ति सूर्य तथा अग्निके समान उद्भासित हो रही थी॥

उपोपविष्टं सचिवैर्देवैरिव शतक्रतुम्॥
यक्षैर्महारथैर्दिव्यैर्नारीभिः प्रियदर्शनैः।
गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिः पूज्यमानं यथाविधि॥

जैसे इन्द्रके पास बहुत-से देवता बैठते हैं, उसी प्रकार विभीषणके समीप उनके अनेक सचिव बैठे थे। बहुत-से दिव्य सुन्दर महारथी यक्ष अपनी स्त्रियोंके साथ मङ्गलयुक्त वाणीद्वारा विभीषणका विधिपूर्वक पूजन कर रहे थे॥

चामरे व्यजने चाग्र्ये हेमदण्डे महाधने।
गृहीते वरनारीभ्यां धूयमाने च मूर्धनि॥

दो सुन्दरी नारियाँ सुवर्णमय दण्डसे विभूषित बहुमूल्य चँवर तथा व्यजन लेकर उनके मस्तकपर डुला रही थीं।

अर्चिष्मन्तं श्रिया जुष्टं कुबेरवरुणोपमम्।
धर्मे चैव स्थितं नित्यमद्भुतं राक्षसेश्वरम्॥

राक्षसराज विभीषण कुबेर और वरुणके समान राजलक्ष्मीसे सम्पन्न एवं अद्भुत दिखायी देते थे। उनके अङ्गोंसे दिव्य प्रभा छिटक रही थी। वे सदा धर्ममें स्थित रहते थे॥

राममिक्ष्वाकुनाथं वै स्मरन्तं मनसा सदा।
दृष्ट्वा घटोत्कचो राजन् ववन्दे तं कृताञ्जलिः॥

वे मन-ही-मन इक्ष्वाकुवंशशिरोमणि श्रीरामचन्द्रजीका स्मरण करते थे। राजन्! उन राक्षसराज विभीषणको देख घटोत्कचने हाथ जोड़कर उन्हें प्रणाम किया॥

प्रह्वस्तस्थौ महावीर्यः शक्रं चित्ररथो यथा।
तं दूतमागतं दृष्ट्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः॥
पूजयित्वा यथान्यायं सान्त्वपूर्वं वचोऽब्रवीत्।

और जैसे महापराक्रमी चित्ररथ इन्द्रके सामने नम्र रहते हैं, उसी प्रकार महाबली घटोत्कच भी विनीतभावसे उनके सम्मुख खड़ा हो गया। राक्षसराज विभीषणने उस दूतको आया हुआ देख उसका यथायोग्य सम्मान करके सान्त्वनापूर्ण वचनोंमें कहा॥

विभीषण उवाच

कस्य वंशे तु संजातः कमिच्छन् महीपतिः॥
तस्यानुजान् समस्तांश्च पुरं देशं च तस्य वै।

त्वां च कार्यं च तत् सर्वं श्रोतुमिच्छामि तत्त्वतः ॥
विस्तरेण मम ब्रूहि सर्वानेतान् पृथक् पृथक् ।

विभीषणने पूछा—दूत ! जो महाराज मुझसे कर लेना चाहते हैं, वे किसके कुलमें उत्पन्न हुए हैं । उनके समस्त भाइयों तथा ग्राम और देशका परिचय दो । मैं तुम्हारे विषयमें भी जानना चाहता हूँ तथा तुम जिस कार्यके लिये कर लेने आये हो उस समस्त कार्यके विषयमें भी मैं यथार्थरूपसे सुनना चाहता हूँ । तुम मेरी पूछी हुई इन सब बातोंको विस्तारपूर्वक पृथक्-पृथक् बताओ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तु हैडिम्बः पौलस्त्येन महात्मना ।
कृताञ्जलिरुवाचाथ सान्त्वयन् राक्षसाधिपम् ।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! महात्मा विभीषणके इस प्रकार पूछनेपर हिडिम्बाकुमार घटोत्कचने हाथ जोड़कर राक्षसराजको आश्वासन देते हुए कहा ॥

घटोत्कच उवाच

सोमस्य वंशे राजाऽऽसीत् पाण्डुर्नाम महाबलः ।
पाण्डोः पुत्राश्च पञ्चासञ्छक्रतुल्यपराक्रमाः ॥
तेषां ज्येष्ठस्तु नाम्नाभूद् धर्मपुत्र इति श्रुतः ।

घटोत्कच बोला—महाराज ! चन्द्रवंशमें पाण्डु नामसे प्रसिद्ध एक महाबली राजा हो गये हैं । उनके पाँच पुत्र हैं, जो इन्द्रके समान पराक्रमी हैं । उन पाँचोंमें जो बड़े हैं, वे धर्मपुत्रके नामसे विख्यात हैं ॥

अजातशत्रुर्धर्मात्मा धर्मो विग्रहवानिव ॥
ततो युधिष्ठिरो राजा प्राप्य राज्यमकारयत् ।
गङ्गाया दक्षिणे तीरे नगरे नागसाह्वये ॥

उनके मनमें किसीके प्रति शत्रुता नहीं है; इसलिये लोग उन्हें अजातशत्रु कहते हैं । उनका मन सदा धर्ममें ही लगा रहता है । वे धर्मके मूर्तिमान् स्वरूप जान पड़ते हैं । गङ्गाके दक्षिणतटपर हस्तिनापुर नामका एक नगर है । राजा युधिष्ठिर वहीं अपना पैतृक राज्य प्राप्त करके उसकी रक्षा करते थे ॥

तद् दत्त्वा धृतराष्ट्राय शक्रप्रस्थं ययौ ततः ।
भ्रातृभिः सह राजेन्द्र शक्रप्रस्थे प्रमोदते ॥

राक्षसराज ! कुछ कालके पश्चात् उन्होंने हस्तिनापुरका राज्य धृतराष्ट्रको सौंप दिया और स्वयं वे भाइयोंसहित इन्द्रप्रस्थ चले गये । इन दिनों वे वहीं आनन्दपूर्वक रहते हैं ॥

गङ्गायमुनयोर्मध्ये तावुभौ नगरोत्तमौ ।
नित्यं धर्मे स्थितो राजा शक्रप्रस्थे प्रशास्ति ॥

वे दोनों श्रेष्ठ नगर गङ्गा-यमुनाके बीचमें बसे हुए हैं । नित्य धर्मपरायण राजा युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थमें ही रहकर शासन करते हैं ॥

तस्यानुजो महाबाहुः भीमसेनो महाबलः ।
महातेजा महावीर्यः सिंहतुल्यः स पाण्डवः ॥

उनके छोटे भाई पाण्डुकुमार महाबाहु भीमसेन भी बड़े बलवान् हैं । वे सिंहके समान महापराक्रमी और अत्यन्त तेजस्वी हैं ॥

दशनागसहस्राणां बले तुल्यः स पाण्डवः ।
तस्यानुजोऽर्जुनो नाम महावीर्यपराक्रमः ॥
सुकुमारो महासत्त्वो लोके वीर्येण विश्रुतः ।

उनमें दस हजार हाथियोंका बल है । उनसे छोटे भाईका नाम अर्जुन है, जो महान् बल-पराक्रमसे सम्पन्न, सुकुमार तथा अत्यन्त धैर्यवान् हैं । उनका पराक्रम विश्वविख्यात है ॥

कार्तवीर्यसमो वीर्ये सागरप्रतिमो बले ॥
जामदग्न्यसमो ह्यस्त्रे संख्ये रामसमोऽर्जुनः ।
रूपे शक्रसमः पार्थस्तेजसा भास्करोपमः ॥

वे कुन्तीनन्दन अर्जुन कार्तवीर्य अर्जुनके समान पराक्रमी, सगरपुत्रके समान बलवान्, परशुरामजीके समान अस्त्रविद्याके ज्ञाता, श्रीरामचन्द्रजीके समान समरविजयी, इन्द्रके समान रूपवान् तथा भगवान् सूर्यके समान तेजस्वी हैं ॥

देवदानवगन्धर्वैः पिशाचोरगराक्षसैः ।
मानुषैश्च समस्तैश्च अजेयः फाल्गुनो रणे ॥

देवता, दानव, गन्धर्व, पिशाच, नाग, राक्षस और मनुष्य—ये सब मिलकर भी युद्धमें अर्जुनको परास्त नहीं कर सकते ॥

तेन तत् खाण्डवं दावं तर्पितं जातवेदसे ।
तरसा धर्षयित्वा तं शक्रं देवगणैः सह ॥
लब्धान्यस्त्राणि दिव्यानि तर्पयित्वा हुताशनम् ।

उन्होंने खाण्डववनको जलाकर अग्निदेवको तृप्त किया है । देवताओंसहित इन्द्रको वेगपूर्वक पराजित करके उन्होंने अग्निदेवको संतुष्ट किया और उनसे दिव्यास्त्र प्राप्त किये ॥

तेन लब्धा महाराज दुर्लभा दैवतैरपि ॥
वासुदेवस्य भगिनी सुभद्रा नाम विश्रुता ।

महाराज ! उन्होंने भगवान् श्रीकृष्णकी बहिन सुभद्राको पत्नीरूपमें प्राप्त किया है, जो देवताओंके लिये भी दुर्लभ थी ॥

अर्जुनस्यानुजो राजन् नकुलश्चेति विश्रुतः ॥
दर्शनीयतमो लोके मूर्तिमानिव मन्मथः ।

राजन् ! अर्जुनके छोटे भाई नकुल नामसे विख्यात हैं, जो इस जगत्में मूर्तिमान् कामदेवके समान दर्शनीय हैं ॥

तस्यानुजो महातेजाः सहदेव इति श्रुतः ।
तेनाहं प्रेषितो राजन् सहदेवेन मारिष ॥

नकुलके छोटे भाई महातेजस्वी सहदेवके नामसे विख्यात हैं । माननीय महाराज ! उन्हीं सहदेवने मुझे यहाँ भेजा है ॥

अहं घटोत्कचो नाम भीमसेनसुतो बली।
मम माता महाभागा हिडिम्बा नाम राक्षसी ॥

मेरा नाम घटोत्कच है। मैं भीमसेनका बलवान् पुत्र हूँ। मेरी सौभाग्यशालिनी माताका नाम हिडिम्बा है। वे राक्षसकुलकी कन्या हैं ॥

पार्थानामुपकारार्थं चरामि पृथिवीमिमाम्।
आसीत् पृथिव्याः सर्वस्या महीपालो युधिष्ठिरः॥

मैं कुन्तीपुत्रोंका उपकार करनेके लिये ही इस पृथ्वीपर विचरता हूँ। महाराज युधिष्ठिर सम्पूर्ण भूमण्डलके शासक हो गये हैं ॥

राजसूयं क्रतुश्रेष्ठमाहर्तुमुपचक्रमे ।
संदिदेश च स भ्रातॄन् करार्थं सर्वतोदिशम् ॥

उन्होंने क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करनेकी तैयारी की है। उन्हीं महाराजने अपने सब भाइयोंको कर वसूल करनेके लिये सब दिशाओंमें भेजा है ॥

वृष्णिवीरेण सहितः संदिदेशानुजान् नृपः।
प्रतीचीमर्जुनस्तूर्णं करार्थं समुपाययौ ॥

वृष्णिवीर भगवान् श्रीकृष्णके साथ धर्मराजने जब अपने भाइयोंको दिग्विजयके लिये आदेश दिया, तब महाबली अर्जुन कर वसूल करनेके लिये तुरंत उत्तर दिशाकी ओर चल दिये ॥

गत्वा शतसहस्राणि योजनानि महाबलः।
जित्वा सर्वान् नृपान् युद्धे हत्वा च तरसा वशी॥
स्वर्गद्वारमुपागम्य रत्नान्यादाय वै भृशम्।

उन्होंने लाख योजनकी यात्रा करके सम्पूर्ण राजाओंको युद्धमें हराया है और सामना करनेके लिये आये हुए विपक्षियोंको वेगपूर्वक मारा है। जितेन्द्रिय अर्जुनने स्वर्गके द्वारतक जाकर प्रचुर रत्न-राशि प्राप्त की है ॥

अश्वांश्च विविधान् दिव्यान् सर्वानादाय फाल्गुनः ॥
धनं बहुविधं राजन् धर्मपुत्राय वै ददौ।

नाना प्रकारके दिव्य अश्व उन्हें भेंटमें मिले हैं। इस प्रकार भाँति-भाँतिके धन लाकर उन्होंने धर्मपुत्र युधिष्ठिरकी सेवामें समर्पित किये हैं ॥

भीमसेनो हि राजेन्द्र जित्वा प्राचीं दिशं बलात् ॥
वशे कृत्वा महीपालान् पाण्डवाय धनं ददौ।

राजेन्द्र! युधिष्ठिरके दूसरे भाई भीमसेनने पूर्व दिशामें जाकर उसे बलपूर्वक जीता है और वहाँके राजाओंको अपने वशमें करके पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरको बहुत धन अर्पित किया है॥

दिशं प्रतीचीं नकुलः करार्थं प्रययौ तथा ॥
सहदेवो दिशं याम्यां जित्वा सर्वान् महीक्षितः।

नकुल कर लेनेके लिये पश्चिम दिशाकी ओर गये हैं और सहदेव सम्पूर्ण राजाओंको जीतते हुए दक्षिण दिशामें बढ़ते चले आये हैं ॥

मां संदिदेश राजेन्द्र करार्थमिह सत्कृतः ॥
पार्थानां चरितं तुभ्यं संक्षेपात् समुदाहृतम्।

राजेन्द्र! उन्होंने बड़े सत्कारपूर्वक मुझे आपके यहाँ राजकीय कर देनेके लिये संदेश भेजा है। महाराज! पाण्डवोंका यह चरित्र मैंने अत्यन्त संक्षेपमें आपके समक्ष रक्खा है ॥

तमवेक्ष्य महाराज धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥
पावकं राजसूयं च भगवन्तं हरिं प्रभुम्।
एतानवेक्ष्य धर्मज्ञ करं त्वं दातुमर्हसि ॥

आप धर्मराज युधिष्ठिरकी ओर देखिये, पवित्र करनेवाले राजसूययज्ञ तथा जगदीश्वर भगवान् श्रीहरिकी ओर भी ध्यान दीजिये। धर्मज्ञ नरेश! इन सबकी ओर दृष्टि रखते हुए आपको मुझे कर देना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

तेन तद् भाषितं श्रुत्वा राक्षसेन्द्रो विभीषणः।
प्रीतिमानभवद् राजन् धर्मात्मा सचिवैः सह ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! घटोत्कचकी वह बात सुनकर धर्मात्मा राक्षसराज विभीषण अपने मन्त्रियोंके साथ बड़े प्रसन्न हुए ॥

स चास्य प्रतिजग्राह शासनं प्रीतिपूर्वकम्।
तच्च कालकृतं धीमानभ्यमन्यत स प्रभुः ॥ ७४ ॥

विभीषणने प्रेमपूर्वक ही उनका शासन स्वीकार कर लिया। शक्तिशाली एवं बुद्धिमान् विभीषणने उसे कालका ही विधान समझा ॥ ७४ ॥

(ततो ददौ विचित्राणि कम्बलानि कुथानि च।
दन्तकाञ्चनपर्यङ्कान् मणिहेमविचित्रितान् ॥

उन्होंने सहदेवके लिये हाथीकी पीठपर बिछाने योग्य विचित्र कम्बल (कालीन) तथा हाथीदाँत और सुवर्णके बने हुए पलंग दिये, जिनमें सोने तथा रत्न जड़े हुए थे ॥

भूषणानि विचित्राणि महार्हाणि बहूनि च।
प्रवालानि च शुभ्राणि मणींश्च विविधान् बहून् ॥
काञ्चनानि च भाण्डानि कलशानि घटानि च।
कटाहान्यपि चित्राणि द्रोण्यश्चैव सहस्रशः ॥

इसके सिवा बहुत-से विचित्र और बहुमूल्य आभूषण भी भेंट किये। सुन्दर मूँगे, भाँति-भाँतिके मणिरत्न, सोनेके बर्तन, कलश, घड़े, विचित्र कड़ाहे और हजारों जलपात्र समर्पित किये ॥

राजतानि च भाण्डानि चित्राणि च बहूनि च।
शस्त्राणि रुक्मचित्राणि मणिमुक्तैर्विचित्रितान् ॥

इनके सिवा चाँदीके भी बहुत-से ऐसे बर्तन दिये, जिनमें

चित्रकारी की गयी थी। कुछ ऐसे शस्त्र भेंट किये, जिनमें सुवर्ण, मणि और मोती जड़े हुए थे ॥

यज्ञस्य तोरणे युक्तान् ददौ तालांश्चतुर्दश।
रुक्मपङ्कजपुष्पाणि शिबिका मणिभूषिताः॥

यज्ञके फाटकपर लगाने योग्य चौदह ताड़ प्रदान किये। सुवर्णमय कमलपुष्प और मणिजटित शिबिकाएँ भी दीं ॥

मुकुटानि महार्हाणि हेमवर्णांश्च कुण्डलान्।
हेमपुष्पाण्यनेकानि रुक्ममाल्यानि चापरान्॥
शङ्खांश्च चन्द्रसंकाशाञ्छतावर्तान् विचित्रिणः।

बहुमूल्य मुकुट, सुनहले कुण्डल, सोनेके बने हुए अनेकानेक पुष्प, सोनेके ही हार तथा चन्द्रमाके समान उज्ज्वल एवं विचित्र शतावर्त शङ्ख भेंट किये ॥

चन्दनानि च मुख्यानि रुक्मरत्नान्यनेकशः॥
वासांसि च महार्हाणि कम्बलानि बहून्यपि।
अन्यांश्च विविधान् राजन् रत्नानि च बहूनि च॥
स ददौ सहदेवाय तदा राजा विभीषणः।)

श्रेष्ठ चन्दन, अनेक प्रकारके सुवर्ण तथा रत्न, महँगे वस्त्र, बहुत-से कम्बल, अनेक जातिके रत्न तथा और भी भाँति-भाँतिके बहुमूल्य पदार्थ राजा विभीषणने सहदेवको भेंट किये॥

ततः सम्प्रेषयामास रत्नानि विविधानि च।
चन्दनागुरुकाष्ठानि दिव्यान्याभरणानि च॥ ७५॥
वासांसि च महार्हाणि मणींश्चैव महाधनान्।

तथा उन्होंने नाना प्रकारके रत्न, चन्दन, अगुरुके काष्ठ, दिव्य आभूषण, बहुमूल्य वस्त्र और विशेष मूल्यवान् मणि-रत्न भी उसके साथ भिजवाये ॥ ७५½ ॥

(विभीषणं च राजानमभिवाद्य कृताञ्जलिः॥
प्रदक्षिणं परीत्यैव निर्जगाम घटोत्कचः।

तदनन्तर घटोत्कचने हाथ जोड़कर राजा विभीषणको प्रणाम किया और उनकी परिक्रमा करके वहाँसे प्रस्थान किया॥

तानि सर्वाणि रत्नानि अष्टाशीतिर्निशाचराः॥
आजह्रुः समुदा राजन् हैडिम्बेन तदा सह।

राजन्! घटोत्कचके साथ अट्ठासी निशाचर उन सब रत्नोंको पहुँचानेके लिये प्रसन्नतापूर्वक आये॥

रत्नान्यादाय सर्वाणि प्रतस्थे स घटोत्कचः॥
ततो रत्नान्युपादाय हैडिम्बो राक्षसैः सह।
जगाम तूर्णं लङ्कायाः सहदेवपदं प्रति॥
आसेदुः पाण्डवं सर्वे लङ्घयित्वा महोदधिम्॥

इस प्रकार उन सब रत्नोंको साथ ले घटोत्कचने राक्षसोंके साथ लङ्कासे सहदेवके पड़ावकी ओर प्रस्थान किया और समुद्र लाँघकर वे सब-के-सब पाण्डुनन्दन सहदेवके निकट आ पहुँचे ॥

सहदेवो ददर्शाथ रत्नाहारान् निशाचरान्।
आगतान् भीमसंकाशान् हैडिम्बं च तथा नृप॥

राजन्! सहदेवने रत्न लेकर आये हुए भयंकर निशाचरों तथा घटोत्कचको भी देखा ॥

द्रमिला नैर्ऋतान् दृष्ट्वा दुद्रुवुस्ते भयार्दिताः।
भैमसेनिस्ततो गत्वा माद्रेयं प्राञ्जलिः स्थितः॥

उस समय उन राक्षसोंको देखकर द्राविड सैनिक भय[illegible] हो सब ओर भागने लगे। इतनेमें ही भीमसेनकु[illegible] घटोत्कच माद्रीनन्दन सहदेवके पास आ हाथ जोड़कर खड़ा हो गया ॥

प्रीतिमानभवद् दृष्ट्वा रत्नौघं तं च पाण्डवः।
तं परिष्वज्य पाणिभ्यां दृष्ट्वा तान् प्रीतिमानभूत्॥
विसृज्य द्रमिलान् सर्वान् गमनायोपचक्रमे।)

पाण्डुकुमार सहदेव वह रत्न-राशि देखकर बड़े प्र[illegible] हुए। उन्होंने घटोत्कचको दोनों हाथोंसे पकड़कर [illegible] लगाया और दूसरे राक्षसोंकी ओर देखकर भी बड़ी प्र[illegible] प्रकट की। इसके बाद समस्त द्राविड सैनिकोंको विदा कर[illegible] सहदेव वहाँसे लौटनेकी तैयारी करने लगे ॥

न्यवर्तत ततो धीमान् सहदेवः प्रतापवान्॥ ७६॥

तैयारी पूरी हो जानेपर प्रतापी और बुद्धिमान् सहदे[illegible] इन्द्रप्रस्थकी ओर चल दिये ॥ ७६ ॥

एवं निर्जित्य तरसा सान्त्वेन विजयेन च।
करदान् पार्थिवान् कृत्वा प्रत्यागच्छदरिंदमः॥ ७७॥

इस प्रकार बलपूर्वक जीतकर तथा सामनीतिसे [illegible] बुझाकर सब राजाओंको अपने अधीन करके उन्हें कर[illegible] बनाकर शत्रुदमन माद्रीनन्दन इन्द्रप्रस्थमें वापस [illegible] गये ॥ ७७ ॥

(रत्नभारमुपादाय ययौ सह निशाचरैः।
इन्द्रप्रस्थं विवेशाथ कम्पयन्निव मेदिनीम्॥

रत्नोंका वह भारी भार साथ लिये निशाचरोंके [illegible] सहदेवने इन्द्रप्रस्थ नगरमें प्रवेश किया। उस समय वे [illegible] धमकसे सारी पृथ्वीको कम्पित करते हुए-से चल रहे थे।

दृष्ट्वा युधिष्ठिरं राजन् सहदेवः कृताञ्जलिः।
प्रह्वोऽभिवाद्य तस्थौ स पूजितश्चैव तेन वै॥

राजन्! युधिष्ठिरको देखते ही सहदेव हाथ जोड़ नम[illegible] पूर्वक उनके चरणोंमें पड़ गये। फिर विनीतभावसे उन[illegible] समीप खड़े हो गये। उस समय युधिष्ठिरने भी उनका [illegible] सम्मान किया॥

लङ्काप्राप्तान् धनौघांश्च दृष्ट्वा तान् दुर्लभान् बहून्।
प्रीतिमानभवद् राजा विस्मयं च ययौ तदा॥

लङ्कासे प्राप्त हुई अत्यन्त दुर्लभ एवं प्रचुर धनराशियों-को देखकर राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न और विस्मित हुए॥

कोटीसहस्रमधिकं हिरण्यस्य महात्मने।
विचित्रांस्तु मणींश्चैव गोऽजाविमहिषांस्तथा॥)

धर्मराजाय तत् सर्वं निवेद्य भरतर्षभ।
कृतकर्मा सुखं राजन्नुवास जनमेजय॥ ७८॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! उस धनराशिमें सहस्र कोटिसे भी अधिक सुवर्ण था। विचित्र मणि एवं रत्न थे। गाय, भैंस, भेड़ और बकरियोंकी संख्या भी अधिक थी। राजन्! इन सबको महात्मा धर्मराजकी सेवामें समर्पित करके कृतकृत्य हो सहदेव सुखपूर्वक राजधानीमें रहने लगे॥ ७८॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि सहदेवदक्षिणदिग्विजये एकत्रिंशोऽध्यायः॥ ३१॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें सहदेवके द्वारा दक्षिण दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला इकतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ३१॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १०० श्लोक मिलाकर कुल १७८ श्लोक हैं)

द्वात्रिंशोऽध्यायः

नकुलके द्वारा पश्चिम दिशाकी विजय

वैशम्पायन उवाच

नकुलस्य तु वक्ष्यामि कर्माणि विजयं तथा।
वासुदेवजितामाशां यथासावजयत् प्रभुः॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अब मैं नकुलके पराक्रम और विजयका वर्णन करूँगा। शक्तिशाली नकुलने जिस प्रकार भगवान् वासुदेवद्वारा अधिकृत पश्चिम दिशापर विजय पायी थी, वह सुनो॥ १॥

निर्याय खाण्डवप्रस्थात् प्रतीचीमभितो दिशम्।
उद्दिश्य मतिमान् प्रायान्महत्या सेनया सह॥ २॥

बुद्धिमान् माद्रीकुमारने विशाल सेनाके साथ खाण्डवप्रस्थसे निकलकर पश्चिम दिशामें जानेके लिये प्रस्थान किया॥ २॥

सिंहनादेन महता योधानां गर्जितेन च।
रथनेमिनिनादैश्च कम्पयन् वसुधामिमाम्॥ ३॥

वे अपने सैनिकोंके महान् सिंहनाद, गर्जना तथा रथके पहियोंकी घर्घराहटकी तुमुल ध्वनिसे इस पृथ्वीको कम्पित करते हुए जा रहे थे॥ ३॥

ततो बहुधनं रम्यं गवाढ्यं धनधान्यवत्।
कार्तिकेयस्य दयितं रोहीतकमुपाद्रवत्॥ ४॥

जाते-जाते वे बहुत धन-धान्यसे सम्पन्न, गौओंकी बहुलतासे युक्त तथा स्वामिकार्तिकेयके अत्यन्त प्रिय रमणीय रोहीतक[1] पर्वत एवं उसके समीपवर्ती देशमें जा पहुँचे॥ ४॥

तत्र युद्धं महच्चासीच्छूरैर्मत्तमयूरकैः।
मरुभूमिं स कार्त्स्न्येन तथैव बहुधान्यकम्॥ ५॥
शैरीषकं महेत्थं च वशे चक्रे महाद्युतिः।
आक्रोशं चैव राजर्षिं तेन युद्धमभून्महत्॥ ६॥

वहाँ उनका मत्तमयूर नामवाले शूरवीर क्षत्रियोंके साथ घोर संग्राम हुआ। उसपर अधिकार करनेके पश्चात् महान् तेजस्वी नकुलने समूची मरुभूमि (मारवाड़), प्रचुर धन-धान्यपूर्ण शैरीषक और महेत्थ नामक देशोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया। महेत्थ देशके अधिपति राजर्षि आक्रोशको भी जीत लिया। आक्रोशके साथ उनका बड़ा भारी युद्ध हुआ था॥ ५-६॥

तान् दशार्णान् स जित्वा च प्रतस्थे पाण्डुनन्दनः।
शिबींस्त्रिगर्तानम्बष्ठान् मालवान् पञ्चकर्पटान्॥ ७॥
तथा माध्यमिकांश्चैव वाटधानान् द्विजानथ।

तत्पश्चात् दशार्णदेशपर विजय प्राप्त करके पाण्डुनन्दन नकुलने शिबि, त्रिगर्त, अम्बष्ठ, मालव, पञ्चकर्पट एवं माध्यमिक देशोंको प्रस्थान किया और उन सबको जीतकर वाटधानदेशीय क्षत्रियोंको भी हराया॥ ७½॥

पुनश्च परिवृत्याथ पुष्करारण्यवासिनः॥ ८॥
गणानुत्सवसंकेतान् व्यजयत् पुरुषर्षभः।

पुनः उधरसे लौटकर नरश्रेष्ठ नकुलने पुष्करारण्य-निवासी उत्सवसंकेत नामक गणोंको परास्त किया॥ ८½॥

सिन्धुकूलाश्रिता ये च ग्रामणीया महाबलाः॥ ९॥
शूद्राभीरगणाश्चैव ये चाश्रित्य सरस्वतीम्।
वर्तयन्ति च ये मत्स्यैर्ये च पर्वतवासिनः॥ १०॥

समुद्रके तटपर रहनेवाले जो महाबली ग्रामणीय (ग्राम शासकके वंशज) क्षत्रिय थे, सरस्वती नदीके किनारे निवास करनेवाले जो शूद्र आभीरगण थे, मछलियोंसे जीविका चलानेवाले जो धीवर जातिके लोग थे तथा जो पर्वतोंपर वास करनेवाले दूसरे-दूसरे मनुष्य थे, उन सबको नकुलने जीतकर अपने वशमें कर लिया॥ ९-१०॥

कृत्स्नं पञ्चनदं चैव तथैवामरपर्वतम्।

१. इसीको आजकल रोहतक (पंजाब) कहते हैं।

उत्तरज्योतिषं चैव तथा दिव्यकटं पुरम् ॥ ११ ॥
द्वारपालं च तरसा वशे चक्रे महाद्युतिः ।

फिर सम्पूर्ण पञ्चनददेश (पंजाब), अमरपर्वत, उत्तरज्योतिष, दिव्यकट नगर और द्वारपालपुरको अत्यन्त कान्तिमान् नकुलने शीघ्र ही अपने अधिकारमें कर लिया ॥ ११½ ॥

रामठान् हारहूणांश्च प्रतीच्याश्चैव ये नृपाः ॥ १२ ॥
तान् सर्वान् स वशे चक्रे शासनादेव पाण्डवः ।
तत्रस्थः प्रेषयामास वासुदेवाय भारत ॥ १३ ॥

रामठ, हार, हूण तथा अन्य जो पश्चिमी नरेश थे, उन सबको पाण्डुकुमार नकुलने आज्ञामात्रसे ही अपने अधीन कर लिया । भारत ! वहीं रहकर उन्होंने वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीकृष्णके पास दूत भेजा ॥ १२-१३ ॥

स चास्य गतभी राजन् प्रतिजग्राह शासनम् ।
ततः शाकलमभ्येत्य मद्राणां पुटभेदनम् ॥ १४ ॥
मातुलं प्रीतिपूर्वेण शल्यं चक्रे वशे बली ।

राजन् ! उन्होंने केवल प्रेमके कारण नकुलका शासन स्वीकार कर लिया । इसके बाद शाकलदेशको जीतकर बलवान् नकुलने मद्रदेशकी राजधानीमें प्रवेश किया और वहाँके शासक अपने मामा शल्यको प्रेमसे ही वशमें कर लिया ॥ १४½ ॥

स तेन सत्कृतो राज्ञा सत्कारार्हो विशाम्पते ॥ १५ ॥
रत्नानि भूरीण्यादाय सम्प्रतस्थे युधाम्पतिः ।

राजन् ! राजा शल्यने सत्कारके योग्य नकुलका यथावत् सत्कार किया । शल्यसे भेंटमें बहुत-से रत्न लेकर योद्धाओंके अधिपति माद्रीकुमार आगे बढ़ गये ॥ १५½ ॥

ततः सागरकुक्षिस्थान् म्लेच्छान् परमदारुणान् ॥ १६ ॥
पह्लवान् बर्बरांश्चैव किरातान् यवनाञ्छकान् ।
ततो रत्नान्युपादाय वशे कृत्वा च पार्थिवान् ।
न्यवर्तत कुरुश्रेष्ठो नकुलश्चित्रमार्गवित् ॥ १७ ॥

तदनन्तर समुद्री टापुओंमें रहनेवाले अत्यन्त भयङ्कर म्लेच्छ, पह्लव, बर्बर, किरात, यवन और शकोंको जीतकर उनसे रत्नोंकी भेंट ले विजयके विचित्र उपायोंको जाननेवाले कुरुश्रेष्ठ नकुल इन्द्रप्रस्थकी ओर लौटे ॥ १६-१७ ॥

करभाणां सहस्राणि कोशं तस्य महात्मनः ।
ऊहुर्दश महाराज कृच्छ्रादिव महाधनम् ॥ १८ ॥

महाराज ! उन महामना नकुलके बहुमूल्य खजानेको दस हजार हाथी बड़ी कठिनाईसे ढो रहे थे ॥ १८ ॥

इन्द्रप्रस्थगतं वीरमभ्येत्य स युधिष्ठिरम् ।
ततो माद्रीसुतः श्रीमान् धनं तस्मै न्यवेदयत् ॥ १९ ॥

तदनन्तर श्रीमान् माद्रीकुमारने इन्द्रप्रस्थमें विराजमान वीरवर राजा युधिष्ठिरसे मिलकर वह सारा धन उन्हें समर्पित कर दिया ॥ १९ ॥

एवं विजित्य नकुलो दिशं वरुणपालिताम् ।
प्रतीचीं वासुदेवेन निर्जितां भरतर्षभ ॥ २० ॥

भरतश्रेष्ठ ! इस प्रकार भगवान् वासुदेवके द्वारा अपने अधिकारमें की हुई वरुणपालित पश्चिम दिशापर विजय पाकर नकुल इन्द्रप्रस्थ लौट आये ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि दिग्विजयपर्वणि नकुलप्रतीचीविजये द्वात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत दिग्विजयपर्वमें नकुलके द्वारा पश्चिम दिशाकी विजयसे सम्बन्ध रखनेवाला बत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३२ ॥

(राजसूयपर्व)

त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके शासनकी विशेषता, श्रीकृष्णकी आज्ञासे युधिष्ठिरका राजसूययज्ञकी दीक्षा लेना तथा राजाओं, ब्राह्मणों एवं सगे-सम्बन्धियोंको बुलानेके लिये निमन्त्रण भेजना

वैशम्पायन उवाच

(एवं निर्जित्य पृथिवीं भ्रातरः कुरुनन्दन ।
वर्तमानाः स्वधर्मेण शशासुः पृथिवीमिमाम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! इस प्रकार सारी पृथ्वीको जीतकर अपने धर्मके अनुसार बर्ताव करते हुए पाँचों भाई पाण्डव इस भूमण्डलका शासन करने लगे ॥

चतुर्भिर्भीमसेनाद्यैर्भ्रातृभिः सहितो नृपः ।
अनुगृह्य प्रजाः सर्वाः सर्ववर्णानगोपयत् ॥

भीमसेन आदि चारों भाइयोंके साथ राजा युधिष्ठिर सम्पूर्ण प्रजापर अनुग्रह करते हुए सब वर्णके लोगोंको संतुष्ट रखते थे ॥

अविरोधेन सर्वेषां हितं चक्रे युधिष्ठिरः ।
प्रीयतां दीयतां सर्वं मुक्त्वा कोपं बलं विना ॥
साधु धर्मेति पार्थस्य नान्यच्छ्रूयेत भाषितम् ।

युधिष्ठिर किसीका भी विरोध न करके सबके हितसाधनमें लगे रहते थे । [illegible] एवं प्रसन्न किया जाय, [illegible]

खोलकर सबको खुले हाथ दान दिया जाय, किसीपर बल-प्रयोग न किया जाय, धर्म ! तुम धन्य हो !' इत्यादि बातोंके सिवा युधिष्ठिरके मुखसे और कुछ नहीं सुनायी पड़ता था ॥

एवंवृत्ते जगत् तस्मिन् पितरीवान्वरज्यत ॥
न तस्य विद्यते द्वेष्टा ततोऽस्याजातशत्रुता ।)

उनके ऐसे बर्तावके कारण सारा जगत् उनके प्रति वैसा ही अनुराग रखने लगा, जैसे पुत्र पिताके प्रति अनुरक्त होता है। राजा युधिष्ठिरसे द्वेष रखनेवाला कोई नहीं था, इसीलिये वे 'अजातशत्रु' कहलाते थे ॥

रक्षणाद् धर्मराजस्य सत्यस्य परिपालनात् ।
शत्रूणां क्षपणाच्चैव स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥ १ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर प्रजाकी रक्षा, सत्यका पालन और शत्रुओंका संहार करते थे । उनके इन कार्योंसे निश्चिन्त एवं उत्साहित होकर प्रजावर्गके सब लोग अपने-अपने वर्णाश्रमोचित कर्मोंके पालनमें संलग्न रहते थे ॥ १ ॥

बलीनां सम्यगादानाद् धर्मतश्चानुशासनात् ।
निकामवर्षी पर्जन्यः स्फीतो जनपदोऽभवत् ॥ २ ॥

न्यायपूर्वक कर लेने और धर्मपूर्वक शासन करनेसे उनके राज्यमें मेघ इच्छानुसार वर्षा करते थे । इस प्रकार युधिष्ठिर-का सम्पूर्ण जनपद धन-धान्यसे सम्पन्न हो गया था ॥ २ ॥

सर्वारम्भाः सुप्रवृत्ता गोरक्षा कर्षणं वणिक् ।
विशेषात् सर्वमेवैतत् संजज्ञे राजकर्मणः ॥ ३ ॥

गोरक्षा, खेती और व्यापार आदि सभी कार्य अच्छे ढंगसे होने लगे । विशेषतः राजाकी सुव्यवस्थासे ही यह सब कुछ उत्तमरूपसे सम्पन्न होता था ॥ ३ ॥

दस्युभ्यो वञ्चकेभ्यो वा राजन् प्रति परस्परम् ।
राजवल्लभतश्चैव नाश्रूयन्त मृषा गिरः ॥ ४ ॥

राजन् ! औरोंकी तो बात ही क्या है, चोरों, ठगों, राजा अथवा राजाके विश्वासपात्र व्यक्तियोंके मुखसे भी वहाँ कोई झूठी बात नहीं सुनी जाती थी । केवल प्रजाके साथ ही नहीं, आपसमें भी वे लोग झूठ-कपटका बर्ताव नहीं करते थे ॥ ४ ॥

अवर्षं चातिवर्षं च व्याधिपावकमूर्च्छनम् ।
सर्वमेतत् तदा नासीद् धर्मनित्ये युधिष्ठिरे ॥ ५ ॥

धर्मपरायण युधिष्ठिरके शासनकालमें अनावृष्टि, अतिवृष्टि, रोग-व्याधि तथा आग लगने आदि उपद्रवोंका नाम भी नहीं था ॥ ५ ॥

प्रियं कर्तुमुपस्थातुं बलिकर्म स्वभावजम् ।
अभिहर्तुं नृपा जग्मुर्नान्यैः कार्यैः कथंचन ॥ ६ ॥

राजालोग उनके यहाँ स्वाभाविक भेंट देने अथवा उनका कोई प्रिय कार्य करनेके लिये ही आते थे, युद्ध आदि दूसरे किसी कामसे नहीं ॥ ६ ॥

धर्म्यैर्धनागमैस्तस्य ववृधे निचयो महान् ।
कर्तुं यस्य न शक्येत क्षयो वर्षशतैरपि ॥ ७ ॥

धर्मपूर्वक प्राप्त होनेवाले धनकी आयसे उनका महान् धन-भंडार इतना बढ़ गया था कि सैकड़ों वर्षोंतक खुले हाथ लुटानेपर भी उसे समाप्त नहीं किया जा सकता था ॥ ७ ॥

स्वकोष्ठस्य परीमाणं कोशस्य च महीपतिः ।
विज्ञाय राजा कौन्तेयो यज्ञायैव मनो दधे ॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने अपने अन्न-वस्त्रके भंडार तथा खजानेका परिमाण जानकर यज्ञ करनेका ही निश्चय किया ॥

सुहृदश्चैव ये सर्वे पृथक् च सह चाब्रुवन् ।
यज्ञकालस्तव विभो क्रियतामत्र साम्प्रतम् ॥ ९ ॥

उनके जितने हितैषी सुहृद् थे, वे सभी अलग-अलग और एक साथ यही कहने लगे—'प्रभो ! यह आपके यज्ञ करनेका उपयुक्त समय आया है; अतः अब उसका आरम्भ कीजिये' ॥ ९ ॥

अथैवं ब्रुवतामेव तेषामभ्याययौ हरिः ।
ऋषिः पुराणो वेदात्मा दृश्यश्चैव विजानताम् ॥ १० ॥

वे सुहृद् इस तरहकी बातें कर ही रहे थे कि उसी समय भगवान् श्रीहरि आ पहुँचे । वे पुराणपुरुष, नारायण ऋषि, वेदात्मा एवं विज्ञानी जनोंके लिये भी अगम्य परमेश्वर हैं ॥ १० ॥

जगतस्तस्थुषां श्रेष्ठः प्रभवश्चाप्ययश्च ह ।
भूतभव्यभवन्नाथः केशवः केशिसूदनः ॥ ११ ॥

वे ही स्थावर-जङ्गम प्राणियोंके उत्तम उत्पत्ति-स्थान और लयके अधिष्ठान हैं । भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालोंके नियन्ता हैं । वे ही केशी दैत्यको मारनेवाले केशव हैं ॥ ११ ॥

प्राकारः सर्ववृष्णीनामापत्स्वभयदोऽरिहा ।
बलाधिकारे निक्षिप्य सम्यगानकदुन्दुभिम् ॥ १२ ॥
उच्चावचमुपादाय धर्मराजाय माधवः ।
धनौघं पुरुषव्याघ्रो बलेन महताऽऽवृतः ॥ १३ ॥

वे सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंके परकोटेकी भाँति संरक्षक, आपत्ति-में अभय देनेवाले तथा उनके शत्रुओंका संहार करनेवाले हैं । पुरुषसिंह माधव अपने पिता वसुदेवजीको द्वारकाकी सेनाके आधिपत्यपर स्थापित करके धर्मराजके लिये नाना प्रकारके धन-रत्नोंकी भेंट ले विशाल सेनाके साथ वहाँ आये थे ॥ १२-१३ ॥

तं धनौघमपर्यन्तं रत्नसागरमक्षयम् ।
नादयन् रथघोषेण प्रविवेश पुरोत्तमम् ॥ १४ ॥

उस धनराशिकी कहीं सीमा नहीं थी, मानो रत्नोंका

अक्षय महासागर हो । उसे लेकर रथोंकी आवाजसे समूची दिशाओंको प्रतिध्वनित करते हुए वे उत्तम नगर इन्द्रप्रस्थमें प्रविष्ट हुए ॥ १४ ॥

पूर्णमापूरयंस्तेषां द्विषच्छोकावहोऽभवत् ।
असूर्यमिव सूर्येण निवातमिव वायुना ।
कृष्णेन समुपेतेन जहृषे भारतं पुरम् ॥ १५ ॥

पाण्डवोंका धन-भण्डार तो यों ही भरा-पूरा था, भगवान्‌ने (उन्हें अक्षय धनकी भेंट देकर) उसे और भी पूर्ण कर दिया। उनका शुभागमन पाण्डवोंके शत्रुओंका शोक बढ़ानेवाला था । बिना सूर्यका अन्धकारपूर्ण जगत् सूर्योदय होनेसे जिस प्रकार प्रकाशसे भर जाता है, बिना वायुके स्थानमें वायुके चलनेसे जैसे नूतन प्राण-शक्तिका संचार हो उठता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके पदार्पण करनेपर समस्त इन्द्रप्रस्थमें हर्षोल्लास छा गया ॥ १५ ॥

तं मुदाभिसमागम्य सत्कृत्य च यथाविधि ।
स पृष्ट्वा कुशलं चैव सुखासीनं युधिष्ठिरः ॥ १६ ॥
धौम्यद्वैपायनमुखैर्ऋत्विग्भिः पुरुषर्षभ ।
भीमार्जुनयमैश्चैव सहितः कृष्णमब्रवीत् ॥ १७ ॥

नरश्रेष्ठ जनमेजय ! राजा युधिष्ठिर बड़े प्रसन्न होकर उनसे मिले । उनका विधिपूर्वक स्वागत-सत्कार करके कुशल-मङ्गल पूछा और जब वे सुखपूर्वक बैठ गये, तब धौम्य, द्वैपायन आदि ऋत्विजों तथा भीम, अर्जुन, नकुल, सहदेव—चारों भाइयोंके साथ निकट जाकर युधिष्ठिरने श्रीकृष्णसे कहा ॥ १६-१७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

त्वत्कृते पृथिवी सर्वा मद्वशे कृष्ण वर्तते ।
धनं च बहु वार्ष्णेय त्वत्प्रसादादुपार्जितम् ॥ १८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—श्रीकृष्ण ! आपकी दयासे आपकी सेवाके लिये सारी पृथ्वी इस समय मेरे अधीन हो गयी है । वार्ष्णेय ! मुझे धन भी बहुत प्राप्त हो गया है ॥ १८ ॥

सोऽहमिच्छामि तत् सर्वं विधिवद् देवकीसुत ।
उपयोक्तुं द्विजाग्र्येभ्यो हव्यवाहे च माधव ॥ १९ ॥

देवकीनन्दन माधव ! वह सारा धन मैं विधिपूर्वक श्रेष्ठ ब्राह्मणों तथा हव्यवाहन अग्निके उपयोगमें लाना चाहता हूँ। १९।

तदहं यष्टुमिच्छामि दाशार्ह सहितस्त्वया ।
अनुजैश्च महाबाहो तन्मानुज्ञातुमर्हसि ॥ २० ॥

महाबाहु दाशार्ह ! अब मैं आप तथा अपने छोटे भाइयोंके साथ यज्ञ करना चाहता हूँ । इसके लिये आप मुझे आज्ञा दें ॥ २० ॥

तद् दीक्षापय गोविन्द त्वमात्मानं महाभुज ।
त्वयीष्टवति दाशार्ह विपाप्मा भविता ह्यहम् ॥ २१ ॥

विशाल भुजाओंवाले गोविन्द ! आप स्वयं यज्ञकी दीक्षा ग्रहण कीजिये । दाशार्ह ! आपके यज्ञ करनेपर मैं पापरहित हो जाऊँगा ॥ २१ ॥

मां वाप्यभ्यनुजानीहि सहैभिरनुजैर्विभो ।
अनुज्ञातस्त्वया कृष्ण प्राप्नुयां क्रतुमुत्तमम् ॥ २२ ॥

प्रभो ! अथवा मुझे अपने इन छोटे भाइयोंके साथ दीक्षा ग्रहण करनेकी आज्ञा दीजिये । श्रीकृष्ण ! आपकी अनुज्ञा मिलनेपर ही मैं उस उत्तम यज्ञकी दीक्षा ग्रहण करूँगा ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तं कृष्णः प्रत्युवाचेदं बहूक्त्वा गुणविस्तरम् ।
त्वमेव राजशार्दूल सम्राडर्हो महाक्रतुम् ।
सम्प्राप्नुहि त्वया प्राप्ते कृतकृत्यास्ततो वयम् ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब भगवान् श्रीकृष्णने राजसूययज्ञके गुणोंका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उनसे इस प्रकार कहा—'राजसिंह ! आप सम्राट् होने योग्य हैं, अतः आप ही इस महान् यज्ञकी दीक्षा ग्रहण कीजिये। आपके दीक्षा लेनेपर हम सब लोग कृतकृत्य हो जायँगे ॥ २३ ॥

यजस्वाभीप्सितं यज्ञं मयि श्रेयस्यवस्थिते ।
नियुङ्क्ष्व त्वं च मां कृत्ये सर्वं कर्तास्मि ते वचः ॥ २४ ॥

आप अपने इस अभीष्ट यज्ञको प्रारम्भ कीजिये । मैं आपका कल्याण करनेके लिये सदा उद्यत हूँ । मुझे आवश्यक कार्यमें लगाइये, मैं आपकी सब आज्ञाओंका पालन करूँगा' ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सफलः कृष्ण संकल्पः सिद्धिश्च नियता मम ।
यस्य मे त्वं हृषीकेश यथेप्सितमुपस्थितः ॥ २५ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्रीकृष्ण ! मेरा संकल्प सफल हो गया, मेरी सिद्धि सुनिश्चित है; क्योंकि हृषीकेश ! आप मेरी इच्छाके अनुसार स्वयं ही यहाँ उपस्थित हो गये हैं ॥ २५ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातस्तु कृष्णेन पाण्डवो भ्रातृभिः सह ।
ईजितुं राजसूयेन साधनान्युपचक्रमे ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णसे आज्ञा लेकर भाइयोंसहित पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने राजसूय यज्ञ करनेके लिये साधन जुटाना आरम्भ किया ॥ २६ ॥

ततस्त्वाज्ञापयामास पाण्डवोऽरिनिबर्हणः ।
सहदेवं युधां श्रेष्ठं मन्त्रिणश्चैव सर्वशः ॥ २७ ॥

उस समय शत्रुओंका संहार करनेवाले पाण्डुकुमारने योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेव तथा सम्पूर्ण मन्त्रियोंको आज्ञा दी— ॥ २७ ॥

अस्मिन् क्रतौ यथोक्तानि यज्ञाङ्गानि द्विजातिभिः ।
तथोपकरणं सर्वं मङ्गलानि च सर्वशः ॥ २८ ॥

अधियज्ञांश्च सम्भारान् धौम्योक्तान् क्षिप्रमेव हि।
समानयन्तु पुरुषा यथायोगं यथाक्रमम्॥ २९॥

'इस यज्ञके लिये ब्राह्मणोंके बताये अनुसार यज्ञके अङ्गभूत सामान, आवश्यक उपकरण, सब प्रकारकी माङ्गलिक वस्तुएँ तथा धौम्यजीकी बतायी हुई यज्ञोपयोगी सामग्री—इन सभी वस्तुओंको क्रमशः जैसे मिलें, वैसे शीघ्र ही अपने लोग जाकर ले आवें॥ २८-२९॥

इन्द्रसेनो विशोकश्च पूरुश्चार्जुनसारथिः।
अन्नाद्याहरणे युक्ताः सन्तु मत्प्रियकाम्यया॥ ३०॥

'इन्द्रसेन, विशोक और अर्जुनका सारथि पूरु—ये मेरा प्रिय करनेकी इच्छासे अन्न आदिके संग्रहके काममें जुट जायँ। ३०।

सर्वकामाश्च कार्यन्तां रसगन्धसमन्विताः।
मनोरथप्रीतिकरा द्विजानां कुरुसत्तम॥ ३१॥

'कुरुश्रेष्ठ! जिनको खानेकी प्रायः सभी इच्छा करते हैं, वे रस और गन्धसे युक्त भाँति-भाँतिके मिष्टान्न आदि तैयार कराये जायँ, जो ब्राह्मणोंको उनकी इच्छाके अनुसार प्रीति प्रदान करनेवाले हों'॥ ३१॥

तद्वाक्यसमकालं च कृतं सर्वं न्यवेदयत्।
सहदेवो युधां श्रेष्ठो धर्मराजे युधिष्ठिरे॥ ३२॥

धर्मराज युधिष्ठिरकी यह बात समाप्त होते ही योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेवने उनसे निवेदन किया, 'यह सब व्यवस्था हो चुकी है'।३२।

ततो द्वैपायनो राजन्नृत्विजः समुपानयत्।
वेदानिव महाभागान् साक्षान्मूर्तिमतो द्विजान्॥ ३३॥

राजन्! तदनन्तर द्वैपायन व्यासजी बहुत-से ऋत्विजोंको ले आये। वे महाभाग ब्राह्मण मानो साक्षात् मूर्तिमान् वेद ही थे। ३३।

स्वयं ब्रह्मत्वमकरोत् तस्य सत्यवतीसुतः।
धनंजयानामृषभः सुसामा सामगोऽभवत्॥ ३४॥

स्वयं सत्यवतीनन्दन व्यासने उस यज्ञमें ब्रह्माका काम सँभाला। धनंजयगोत्रीय ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ सुसामा सामगान करनेवाले हुए॥ ३४॥

याज्ञवल्क्यो बभूवाथ ब्रह्मिष्ठोऽध्वर्युसत्तमः।
पैलो होता वसोः पुत्रो धौम्येन सहितोऽभवत्॥ ३५॥

और ब्रह्मनिष्ठ याज्ञवल्क्य उस यज्ञके श्रेष्ठतम अध्वर्यु थे। वसुपुत्र पैल धौम्य मुनिके साथ होता बने थे॥ ३५॥

एतेषां पुत्रवर्गाश्च शिष्याश्च भरतर्षभ।
बभूवुर्होत्रगाः सर्वे वेदवेदाङ्गपारगाः॥ ३६॥

भरतश्रेष्ठ! इनके पुत्र और शिष्यवर्गके लोग, जो सब-के-सब वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् थे, 'होत्रग' (सद होता) हुए॥ ३६॥

ते वाचयित्वा पुण्याहमूहयित्वा च तं विधिम्।
शास्त्रोक्तं पूजयामासुस्तद् देवयजनं महत्॥ ३७॥

उन सबने पुण्याहवाचन कराकर उस विधिका ऊहन (अर्थात् राजसूयेन यक्ष्ये; स्वाराज्यमवाप्नवानि—मैं स्वाराज्य प्राप्त करूँ, इस उद्देश्यसे राजसूययज्ञ करूँगा, इत्यादि रूपसे संकल्प) कराकर शास्त्रोक्त विधिसे उस महान् यज्ञस्थानका पूजन कराया॥

तत्र चक्रुरनुज्ञाताः शरणान्युत शिल्पिनः।
गन्धवन्ति विशालानि वेश्मानीव दिवौकसाम्॥ ३८॥

उस स्थानपर राजाकी आज्ञासे शिल्पियोंने देवमन्दिरोंके समान विशाल एवं सुगन्धित भवन बनाये॥ ३८॥

तत आज्ञापयामास स राजा राजसत्तमः।
सहदेवं तदा सद्यो मन्त्रिणं पुरुषर्षभः॥ ३९॥
आमन्त्रणार्थं दूतांस्त्वं प्रेषयस्वाशुगान् द्रुतम्।
उपश्रुत्य वचो राज्ञः स दूतान् प्राहिणोत् तदा॥ ४०॥

तदनन्तर राजशिरोमणि नरश्रेष्ठ धर्मराज युधिष्ठिरने तुरंत ही मन्त्री सहदेवको आज्ञा दी, 'सब राजाओं तथा ब्राह्मणोंको आमन्त्रित करनेके लिये तुरंत ही शीघ्रगामी दूत भेजो।' राजाकी यह बात सुनकर सहदेवने दूतोंको भेजा और कहा—॥ ३९-४०॥

आमन्त्रयध्वं राष्ट्रेषु ब्राह्मणान् भूमिपानपि।
विशश्च मान्यान् शूद्रांश्च सर्वानानयतेति च॥ ४१॥

'तुमलोग सभी राज्योंमें घूम-घूमकर वहाँके राजाओं, ब्राह्मणों, वैश्यों तथा सब माननीय शूद्रोंको निमन्त्रित कर दो और बुला ले आओ'॥ ४१॥

वैशम्पायन उवाच

समाज्ञप्तास्ततो दूताः पाण्डवेयस्य शासनात्।
आमन्त्रयाम्बभूवुश्च आनयंश्चापरान् द्रुतम्।
तथा परानपि नरानात्मनः शीघ्रगामिनः॥ ४२॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिरके आदेशसे सहदेवकी आज्ञा पाकर सब शीघ्रगामी दूत गये और उन्होंने ब्राह्मण आदि सब वर्णोंके लोगोंको निमन्त्रित किया तथा बहुतोंको वे अपने साथ ही शीघ्र बुला लाये। वे अपनेसे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य व्यक्तियोंको भी साथ लाना न भूले॥ ४२॥

ततस्ते तु यथाकालं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम्।
दीक्षयाञ्चक्रिरे विप्रा राजसूयाय भारत॥ ४३॥

भारत! तदनन्तर वहाँ आये हुए सब ब्राह्मणोंने ठीक समयपर कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको राजसूययज्ञकी दीक्षा दी॥ ४३॥

दीक्षितः स तु धर्मात्मा धर्मराजो युधिष्ठिरः।
जगाम यज्ञायतनं वृतो विप्रैः सहस्रशः॥ ४४॥

यज्ञकी दीक्षा लेकर धर्मात्मा धर्मराज युधिष्ठिर सहस्रों ब्राह्मणोंसे घिरे हुए यज्ञमण्डपमें गये॥ ४४॥

भ्रातृभिर्ज्ञातिभिश्चैव सुहृद्भिः सचिवैः सह ।
क्षत्रियैश्च मनुष्येन्द्रैर्नानादेशसमागतैः ॥ ४५ ॥
अमात्यैश्च नरश्रेष्ठो धर्मो विग्रहवानिव ।

उस समय उनके सगे भाई, जाति-बन्धु, सुहृद्, सहायक, अनेक देशोंसे आये हुए क्षत्रिय नरेश तथा मन्त्रिगण भी थे । नरश्रेष्ठ युधिष्ठिर मूर्तिमान् धर्म ही जान पड़ते थे ॥ ४५½ ॥

आजग्मुर्ब्राह्मणास्तत्र विषयेभ्यस्ततस्ततः ॥ ४६ ॥
सर्वविद्यासु निष्णाता वेदवेदाङ्गपारगाः ।

तत्पश्चात् वहाँ भिन्न-भिन्न देशोंसे ब्राह्मणलोग आये, जो सम्पूर्ण विद्याओंमें निष्णात तथा वेद-वेदाङ्गोंके पारङ्गत विद्वान् थे ॥ ४६½ ॥

तेषामावसथांश्चक्रुर्धर्मराजस्य शासनात् ॥ ४७ ॥
बह्वन्नाच्छादनैर्युक्तान् सगणानां पृथक् पृथक् ।
सर्वर्तुगुणसम्पन्नान् शिल्पिनोऽथ सहस्रशः ॥ ४८ ॥

धर्मराजकी आज्ञासे हजारों शिल्पियोंने आत्मीयजनोंके साथ आये हुए उन ब्राह्मणोंके ठहरनेके लिये पृथक्-पृथक् घर बनाये थे, जो बहुत-से अन्न और वस्त्रोंसे परिपूर्ण थे और जिनमें सभी ऋतुओंमें सुखपूर्वक रहनेकी सुविधाएँ थीं ।४७-४८।

तेषु ते न्यवसन् राजन् ब्राह्मणा नृपसत्कृताः ।
कथयन्तः कथा बह्वीः पश्यन्तो नटनर्तकान् ॥ ४९ ॥

राजन् ! उन घरोंमें वे ब्राह्मणलोग राजासे सत्कार पाकर निवास करने लगे । वहाँ वे नाना प्रकारकी कथाएँ कहते और नट-नर्तकोंके खेल देखते थे ॥ ४९ ॥

भुञ्जतां चैव विप्राणां वदतां च महास्वनः ।
अनिशं श्रूयते तत्र मुदितानां महात्मनाम् ॥ ५० ॥

वहाँ भोजन करते और बोलते हुए आनन्दमग्न महात्मा ब्राह्मणोंका निरन्तर महान् कोलाहल सुनायी पड़ता था ॥५०॥

दीयतां दीयतामेषां भुज्यतां भुज्यतामिति ।
एवम्प्रकाराः संजल्पाः श्रूयन्ते स्मात्र नित्यशः ॥५१॥

'इनको दीजिये, इन्हें परोसिये, भोजन कीजिये, भोजन कीजिये' इसी प्रकारके शब्द वहाँ प्रतिदिन कानोंमें पड़ते थे ॥५१॥

गवां शतसहस्राणि शयनानां च भारत ।
रुक्मस्य योषितां चैव धर्मराजः पृथग् ददौ ॥ ५२॥

भारत ! धर्मराज युधिष्ठिरने एक लाख गौएँ, उतनी ही शय्याएँ, एक लाख स्वर्णमुद्राएँ तथा उतनी ही अविवाहित युवतियाँ पृथक्-पृथक् ब्राह्मणोंको दान कीं ॥ ५२ ॥

प्रावर्ततैवं यज्ञः स पाण्डवस्य महात्मनः ।
पृथिव्यामेकवीरस्य शक्रस्येव त्रिविष्टपे ॥ ५३॥

इस प्रकार स्वर्गमें इन्द्रकी भाँति भूमण्डलमें अद्वितीय वीर महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरका वह यज्ञ प्रारम्भ हुआ ।

ततो युधिष्ठिरो राजा प्रेषयामास पाण्डवम् ।
नकुलं हास्तिनपुरं भीष्माय पुरुषर्षभः ॥ ५४॥
द्रोणाय धृतराष्ट्राय विदुराय कृपाय च ।
भ्रातॄणां चैव सर्वेषां येऽनुरक्ता युधिष्ठिरे ॥ ५५॥

तदनन्तर पुरुषोत्तम राजा युधिष्ठिरने भीष्म, द्रोणाचार्य, धृतराष्ट्र, विदुर, कृपाचार्य तथा दुर्योधन आदि सब भाइयों एवं अपनेमें अनुराग रखनेवाले अन्य जो लोग वहाँ रहते थे, उन सबको बुलानेके लिये पाण्डुपुत्र नकुलको हस्तिनापुर भेजा ॥ ५४-५५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि राजसूयदीक्षायां त्रयस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें राजसूयदीक्षाविषयक तैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३३ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ५९½ श्लोक हैं)

चतुस्त्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरके यज्ञमें सब देशके राजाओं, कौरवों तथा यादवोंका आगमन और उन सबके भोजन-विश्राम आदिकी सुव्यवस्था

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा हास्तिनपुरं नकुलः समितिंजयः ।
भीष्ममामन्त्रयाञ्चक्रे धृतराष्ट्रं च पाण्डवः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युद्धविजयी पाण्डुकुमार नकुलने हस्तिनापुरमें जाकर भीष्म और धृतराष्ट्र-को निमन्त्रित किया ॥ १ ॥

सत्कृत्यामन्त्रितास्तेन आचार्यप्रमुखास्ततः ।
प्रययुः प्रीतमनसो यज्ञं ब्रह्मपुरःसराः ॥ २ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने बड़े सत्कारके साथ आचार्य आदिको भी न्यौता दिया । वे सब लोग बड़े प्रसन्न मनसे ब्राह्मणोंको आगे करके उस यज्ञमें गये ॥ २ ॥

संश्रुत्य धर्मराजस्य यज्ञं यज्ञविदस्तदा ।
अन्ये च शतशस्तुष्टैर्मनोभिर्भरतर्षभ ॥ ३ ॥

भरतकुलभूषण ! यज्ञवेत्ता धर्मराजका यज्ञ सुनकर अन्य सैकड़ों मनुष्य भी संतुष्ट हृदयसे वहाँ गये ॥ ३ ॥

द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं च पाण्डवम् ।
दिग्भ्यः सर्वे समापेतुः क्षत्रियास्तत्र भारत ॥ ४ ॥
समुपादाय रत्नानि विविधानि महान्ति च ।

भारत ! धर्मराज युधिष्ठिर और उनकी सभाको देखनेके लिये सम्पूर्ण दिशाओंसे सभी क्षत्रिय वहाँ नाना प्रकारके बहुमूल्य रत्नोंकी भेंट लेकर आये ॥ ४½ ॥

धृतराष्ट्रश्च भीष्मश्च विदुरश्च महामतिः ॥ ५ ॥
दुर्योधनपुरोगाश्च भ्रातरः सर्व एव ते ।
गान्धारराजः सुबलः शकुनिश्च महाबलः ॥ ६ ॥
अचलो वृषकश्चैव कर्णश्च रथिनां वरः ।
तथा शल्यश्च बलवान् बाह्लिकश्च महाबलः ॥ ७ ॥
सोमदत्तोऽथ कौरव्यो भूरिर्भूरिश्रवाः शलः ।
अश्वत्थामा कृपो द्रोणः सैन्धवश्च जयद्रथः ॥ ८ ॥
यज्ञसेनः सपुत्रश्च शाल्वश्च वसुधाधिपः ।
प्राग्ज्योतिषश्च नृपतिर्भगदत्तो महारथः ॥ ९ ॥
स तु सर्वैः सह म्लेच्छैः सागरानूपवासिभिः ।
पर्वतीयाश्च राजानो राजा चैव बृहद्बलः ॥ १० ॥
पौण्ड्रको वासुदेवश्च वङ्गः कालिङ्गकस्तथा ।
आकर्षः कुन्तलाश्चैव मालवाश्चान्ध्रकास्तथा ॥ ११ ॥
द्राविडाः सिंहलाश्चैव राजा काश्मीरकस्तथा ।
कुन्तिभोजो महातेजाः पार्थिवो गौरवाहनः ॥ १२ ॥
बाह्लिकाश्चापरे शूरा राजानः सर्व एव ते ।
विराटः सह पुत्राभ्यां मावेल्लश्च महाबलः ॥ १३ ॥
राजानो राजपुत्राश्च नानाजनपदेश्वराः ।

धृतराष्ट्र, भीष्म, महाबुद्धिमान् विदुर, दुर्योधन आदि सभी भाई, गान्धरराज सुबल,महाबली शकुनि, अचल, वृषक, रथियोंमें श्रेष्ठ कर्ण, बलवान् राजा शल्य, महाबली बाह्लिक, सोमदत्त, कुरुनन्दन भूरि, भूरिश्रवा, शल, अश्वत्थामा, कृपाचार्य, द्रोणाचार्य, सिन्धुराज जयद्रथ, पुत्रोंसहित द्रुपद, राजा शाल्व, प्राग्ज्योतिषपुरके नरेश महारथी भगदत्त, जिनके साथ समुद्रके टापुओंमें रहनेवाले सब जातियोंके म्लेच्छ भी थे, पर्वतीय नृपतिगण, राजा बृहद्बल, पौण्ड्रक वासुदेव, वङ्गदेशके राजा, कलिङ्गनरेश, आकर्ष, कुन्तल, मालव, आन्ध्र, द्राविड और सिंहलदेशके नरेशगण, काश्मीर-नरेश, महातेजस्वी कुन्तिभोज, राजा गौरवाहन, बाह्लिक, दूसरे शूर नृपतिगण, अपने दोनों पुत्रोंके साथ विराट, महाबली मावेल्ल तथा नाना जनपदोंके शासक राजा एवं राजकुमार उस यज्ञमें पधारे थे ॥ ५–१३½ ॥

शिशुपालो महावीर्यः सह पुत्रेण भारत ॥ १४ ॥
आगच्छत् पाण्डवेयस्य यज्ञं समरदुर्मदः ।
रामश्चैवानिरुद्धश्च कङ्कश्च सहसारणः ॥ १५ ॥
गदप्रद्युम्नसाम्बाश्च चारुदेष्णश्च वीर्यवान् ।
उल्मुको निशठश्चैव वीरश्चाङ्गावहस्तथा ॥ १६ ॥
वृष्णयो निखिलाश्चान्ये समाजग्मुर्महारथाः ।

भारत ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके उस यज्ञमें रणदुर्मद महापराक्रमी राजा शिशुपाल भी अपने पुत्रके साथ आया था। इसके सिवा बलराम, अनिरुद्ध, कङ्क, सारण, गद, प्रद्युम्न, साम्ब, पराक्रमी चारुदेष्ण, उल्मुक, निशठ, वीर अङ्गावह तथा अन्य सभी वृष्णिवंशी महारथी उस यज्ञमें आये थे ॥ १४–१६½ ॥

एते चान्ये च बहवो राजानो मध्यदेशजाः ॥ १७ ॥
आजग्मुः पाण्डुपुत्रस्य राजसूयं महाक्रतुम् ।

ये तथा दूसरे भी बहुत-से मध्यदेशीय नरेश पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञमें सम्मिलित हुए थे ॥ १७½ ॥

ददुस्तेषामावसथान् धर्मराजस्य शासनात् ॥ १८ ॥
बहुभक्ष्यान्वितान् राजन् दीर्घिकावृक्षशोभितान् ।
तथा धर्मात्मजः पूजां चक्रे तेषां महात्मनाम् ॥ १९ ॥

धर्मराजकी आज्ञासे प्रबन्धकोंने उनके ठहरनेके लिये उत्तम भवन दिये, जो बहुत अधिक भोजनसामग्रीसे सम्पन्न थे। राजन् ! उन घरोंके भीतर स्नानके लिये बावलियाँ बनी थीं और वे भाँति-भाँतिके वृक्षोंसे भी सुशोभित थे। धर्मपुत्र युधिष्ठिर उन सभी महात्मा नरेशोंका स्वागत-सत्कार करते थे ॥ १८-१९ ॥

सत्कृताश्च यथोद्दिष्टाञ्जग्मुरावसथान् नृपाः ।
कैलासशिखरप्रख्यान् मनोज्ञान् द्रव्यभूषितान् ॥ २० ॥

उनसे सम्मानित हो उन्हींके बताये हुए विभिन्न भवनोंमें जाकर राजालोग ठहरते थे। वे सभी भवन कैलासशिखरके समान ऊँचे और भव्य थे। नाना प्रकारके द्रव्योंसे विभूषित एवं मनोहर थे ॥ २० ॥

सर्वतः संवृतानुच्चैः प्राकारैः सुकृतैः सितैः ।
सुवर्णजालसंवीतान् मणिकुट्टिमभूषितान् ॥ २१ ॥

वे भव्य भवन सब ओरसे सुन्दर, सफेद और ऊँचे परकोटोंद्वारा घिरे हुए थे। उनमें सोनेकी झालरें लगी थीं। उनके आँगनके फर्शमें मणि एवं रत्न जड़े हुए थे ॥ २१ ॥

सुखारोहणसोपानान् महासनपरिच्छदान् ।
स्रग्दामसमवच्छन्नानुत्तमागुरुगन्धिनः ॥ २२ ॥

उनमें सुखपूर्वक ऊपर चढ़नेके लिये सीढ़ियाँ बनी हुई थीं। उन महलोंके भीतर बहुमूल्य एवं बड़े-बड़े आसन तथा अन्य आवश्यक सामान थे। उन घरोंको मालाओंसे सजाया गया था। उनमें उत्तम अगुरुकी सुगन्ध व्याप्त हो रही थी ॥ २२ ॥

हंसेन्दुवर्णसदृशानायोजनसुदर्शनान् ।
असम्बाधान् समद्वारान् युतानुच्चावचैर्गुणैः ॥ २३ ॥

वे सभी अतिथिभवन हंस और चन्द्रमाके समान सफेद थे। एक योजन दूरसे ही वे अच्छी तरह दिखायी देने लगते थे। उनमें स्थानकी संकीर्णता या तंगी नहीं थी। सबके दरवाजे बराबर थे। वे सभी गृह विभिन्न गुणों (सुख-सुविधाओं) से युक्त थे ॥ २३ ॥

बहुधातुनिबद्धाङ्गान् हिमवच्छिखराणिव ।

उनकी दीवारें अनेक प्रकारकी धातुओंसे चित्रित थीं तथा वे हिमालयके शिखरोंकी भाँति सुशोभित हो रहे थे ॥ २३ ॥

विश्रान्तास्ते ततोऽपश्यन् भूमिपा भूरिदक्षिणम् ॥ २४ ॥
वृतं सदस्यैर्बहुभिर्धर्मराजं युधिष्ठिरम् ।
तत् सदः पार्थिवैः कीर्णं ब्राह्मणैश्च महर्षिभिः ।
भ्राजते स्म तदा राजन् नाकपृष्ठं यथामरैः ॥ २५ ॥

वहाँ विश्राम करनेके अनन्तर वे भूमिपाल बहुत दक्षिणा देनेवाले एवं बहुतेरे सदस्योंसे घिरे हुए धर्मराज युधिष्ठिरसे मिले। जनमेजय ! उस समय राजाओं, ब्राह्मणों तथा महर्षियोंसे भरा हुआ वह यज्ञमण्डप देवताओंसे भरे-पूरे स्वर्गलोकके समान शोभा पा रहा था ॥ २४-२५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि निमन्त्रितराजागमने चतुस्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें निमन्त्रित राजाओंका आगमनविषयक चौंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३४ ॥

पञ्चत्रिंशोऽध्यायः

राजसूययज्ञका वर्णन

वैशम्पायन उवाच

पितामहं गुरुं चैव प्रत्युद्गम्य युधिष्ठिरः ।
अभिवाद्य ततो राजन्निदं वचनमब्रवीत् ॥ १ ॥
भीष्मं द्रोणं कृपं द्रौणिं दुर्योधनविविंशती ।
अस्मिन् यज्ञे भवन्तो मामनुगृह्णन्तु सर्वशः ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! पितामह भीष्म तथा गुरु द्रोणाचार्य आदिकी अगवानी करके युधिष्ठिरने उनके चरणोंमें प्रणाम किया और भीष्म, द्रोण, कृप, अश्वत्थामा, दुर्योधन और विविंशतिसे कहा—'इस यज्ञमें आपलोग सब प्रकारसे मुझपर अनुग्रह करें ॥ १-२ ॥

इदं वः सुमहच्चैव यदिहास्ति धनं मम ।
प्रणयन्तु भवन्तो मां यथेष्टमभिमन्त्रिताः ॥ ३ ॥

'यहाँ मेरा जो यह महान् धन है, उसे आपलोग मेरी प्रार्थना मानकर इच्छानुसार सत्कर्मोंमें लगाइये' ॥ ३ ॥

एवमुक्त्वा स तान् सर्वान् दीक्षितः पाण्डवाग्रजः ।
युयोज स यथायोगमधिकारेष्वनन्तरम् ॥ ४ ॥

यज्ञदीक्षित युधिष्ठिरने ऐसा कहकर उन सबको यथायोग्य अधिकारोंमें लगाया ॥ ४ ॥

भक्ष्यभोज्याधिकारेषु दुःशासनमयोजयत् ।
परिग्रहे ब्राह्मणानामश्वत्थामानमुक्तवान् ॥ ५ ॥

भक्ष्य-भोज्य आदि सामग्रीकी देख-रेख तथा उसके बाँटने-परोसनेकी व्यवस्थाका अधिकार दुःशासनको दिया। ब्राह्मणोंके स्वागत-सत्कारका भार उन्होंने अश्वत्थामाको सौंप दिया ॥ ५ ॥

राज्ञां तु प्रतिपूजार्थं संजयं स न्ययोजयत् ।
कृताकृतपरिज्ञाने भीष्मद्रोणौ महामती ॥ ६ ॥

राजाओंकी सेवा और सत्कारके लिये धर्मराजने संजयको नियुक्त किया। कौन काम हुआ और कौन नहीं हुआ, इसकी देख-रेखका काम महाबुद्धिमान् भीष्म और द्रोणाचार्यको मिला ॥ ६ ॥

हिरण्यस्य सुवर्णस्य रत्नानां चान्ववेक्षणे ।
दक्षिणानां च वै दाने कृपं राजा न्ययोजयत् ॥ ७ ॥
तथान्यान् पुरुषव्याघ्रांस्तस्मिंस्तस्मिन् न्ययोजयत् ।
बाह्लिको धृतराष्ट्रश्च सोमदत्तो जयद्रथः ।
नकुलेन समानीताः स्वामिवत् तत्र रेमिरे ॥ ८ ॥

उत्तम वर्णके स्वर्ण तथा रत्नोंको परखने, रखने और दक्षिणा देनेके कार्यमें राजाने कृपाचार्यकी नियुक्ति की। इसी प्रकार दूसरे-दूसरे श्रेष्ठ पुरुषोंको यथायोग्य भिन्न-भिन्न कार्योंमें लगाया। नकुलके द्वारा सम्मानपूर्वक बुलाकर लाये हुए बाह्लिक, धृतराष्ट्र, सोमदत्त और जयद्रथ वहाँ घरके मालिककी तरह सुखपूर्वक रहने और इच्छानुसार विचरने लगे ॥ ७-८ ॥

क्षत्ता व्ययकरस्त्वासीद् विदुरः सर्वधर्मवित् ।
दुर्योधनस्त्वर्हणानि प्रतिजग्राह सर्वशः ॥ ९ ॥

सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरजी धनको व्यय करनेके कार्यमें नियुक्त किये गये थे तथा राजा दुर्योधन कर देनेवाले राजाओंसे सब प्रकारकी भेंट स्वीकार करने और उसे सुरक्षापूर्वक रखनेका काम सँभाल रहे थे ॥ ९ ॥

चरणक्षालने कृष्णो ब्राह्मणानां स्वयं ह्यभूत् ।
सर्वलोकसमावृत्तः पिप्रीषुः फलमुत्तमम् ॥ १० ॥

सब लोगोंसे घिरे हुए भगवान् श्रीकृष्ण सबको संतुष्ट करनेकी इच्छासे स्वयं ही ब्राह्मणोंके चरण पखारनेमें लगे, जिससे उत्तम फलकी प्राप्ति होती है ॥ १० ॥



द्रष्टुकामाः सभां चैव धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
न कश्चिदाहरत् तत्र सहस्रावरमर्हणम् ॥ ११ ॥

धर्मराज युधिष्ठिरको और उनकी सभाको देखनेकी इच्छासे आये हुए राजाओंमेंसे कोई भी ऐसा नहीं था, जो एक हजार स्वर्णमुद्राओंसे कम भेंट लाया हो ॥ ११ ॥

रत्नैश्च बहुभिस्तत्र धर्मराजमवर्धयत्।
कथं तु मम कौरव्यो रत्नदानैः समाप्नुयात् ॥ १२ ॥
यज्ञमित्येव राजानः स्पर्धमाना ददुर्धनम्।

प्रत्येक राजा बहुसंख्यक रत्नोंकी भेंट देकर धर्मराज युधिष्ठिरके धनकी वृद्धि करने लगा। सभी राजा यह होड़ लगाकर धन दे रहे थे कि कुरुनन्दन युधिष्ठिर किसी प्रकार मेरे ही दिये हुए रत्नोंके दानसे अपना यज्ञ सम्पूर्ण करें ॥ १२½ ॥

भवनैः सविमानाग्रैः सोदर्कैर्बलसंवृतैः ॥ १३ ॥
लोकराजविमानैश्च ब्राह्मणावसथैः सह।
कृतैरावसथैर्दिव्यैर्विमानप्रतिमैस्तथा ॥ १४ ॥
विचित्रै रत्नवद्भिश्च ऋद्ध्या परमया युतैः।
राजभिश्च समावृत्तैरतीव श्रीसमृद्धिभिः।
अशोभत सदो राजन् कौन्तेयस्य महात्मनः ॥ १५ ॥

राजन्! जिनके शिखर यज्ञ देखनेके लिये आये हुए देवताओंके विमानोंका स्पर्श कर रहे थे, जो जलाशयोंसे परिपूर्ण और सेनाओंसे घिरे हुए थे, उन सुन्दर भवनों, इन्द्रादि लोकपालोंके विमानों, ब्राह्मणोंके निवासस्थानों तथा परम समृद्धिसे सम्पन्न रत्नोंसे परिपूर्ण चित्र एवं विमानके तुल्य बने हुए दिव्य गृहोंसे, समागत राजाओंसे तथा असीम श्री-समृद्धियोंसे महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी वह सभा बड़ी शोभा पा रही थी ॥ १३–१५ ॥

ऋद्ध्या तु वरुणं देवं स्पर्धमानो युधिष्ठिरः।
षडग्निनाथ यज्ञेन सोऽयजद् दक्षिणावता ॥ १६ ॥

महाराज युधिष्ठिर अपनी अनुपम समृद्धिद्वारा वरुण-देवताकी बराबरी कर रहे थे। उन्होंने यज्ञमें छः अग्नियोंकी* स्थापना करके पर्याप्त दक्षिणा देकर उस यज्ञके द्वारा भगवान्‌का यजन किया ॥ १६ ॥

सर्वाञ्जनान् सर्वकामैः समृद्धैः समतर्पयत्।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च भुक्तवज्जनसंवृतः।
रत्नोपहारसम्पन्नो बभूव स समागमः ॥ १७ ॥

राजाने उस यज्ञमें आये हुए सब लोगोंको उनकी सभी कामनाएँ पूर्ण करके संतुष्ट किया। वह यज्ञसमारोह अन्नसे भरा-पूरा था, उसमें खाने-पीनेकी सब सामग्रियाँ पर्याप्त मात्रामें सदा प्रस्तुत रहती थीं। वह यज्ञ खा-पीकर तृप्त हुए लोगोंसे ही पूर्ण था। वहाँ कोई भूखा नहीं रहने पाता था तथा उस उत्सव-समारोहमें सब ओर रत्नोंका ही उपहार दिया जाता था ॥ १७ ॥

इडाज्यहोमाहुतिभिर्मन्त्रशिक्षाविशारदैः।
तस्मिन् हि ततृपुर्देवास्तते यज्ञे महर्षिभिः ॥ १८ ॥

मन्त्रशिक्षामें निपुण महर्षियोंद्वारा विस्तारपूर्वक किये जानेवाले उस यज्ञमें इडा (मन्त्र-पाठ एवं स्तुति), घृत-होम तथा तिल आदि शाकल्य पदार्थोंकी आहुतियोंसे देवतालोग तृप्त हो गये ॥ १८ ॥

यथा देवास्तथा विप्रा दक्षिणान्नमहाधनैः।
ततृपुः सर्ववर्णाश्च तस्मिन् यज्ञे मुदान्विताः ॥ १९ ॥

जिस प्रकार देवता तृप्त हुए उसी प्रकार दक्षिणामें अन्न और महान् धन पाकर ब्राह्मण भी तृप्त हो गये। अधिक क्या कहा जाय, उसी यज्ञमें सभी वर्णके लोग बड़े प्रसन्न थे, सबको पूर्ण तृप्ति मिली थी ॥ १९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि राजसूयपर्वणि यज्ञकरणे पञ्चत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत राजसूयपर्वमें यज्ञकरणविषयक पैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३५ ॥

* नीलकण्ठीकी टीकामें छः अग्नियाँ इस प्रकार बतायी गयी हैं—अग्न्याधेय, पशु, धृति, व्युष्टि, द्विरात्र और दशपेय।

(अर्घाभिहरणपर्व)

षट्त्रिंशोऽध्यायः

राजसूययज्ञमें ब्राह्मणों तथा राजाओंका समागम, श्रीनारदजीके द्वारा श्रीकृष्ण-महिमाका वर्णन और भीष्मजीकी अनुमतिसे श्रीकृष्णकी अग्रपूजा

वैशम्पायन उवाच

ततोऽभिषेचनीयेऽह्नि ब्राह्मणा राजभिः सह।
अन्तर्वेदीं प्रविविशुः सत्कारार्हा महर्षयः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर अभिषेचनीय[1] कर्मके दिन सत्कारके योग्य महर्षिगण और ब्राह्मणलोग राजाओंके साथ यज्ञभवनमें गये ॥ १ ॥

नारदप्रमुखास्तस्यामन्तर्वेद्यां महात्मनः ।
समासीनाः शुशुभिरे सह राजर्षिभिस्तदा ॥ २ ॥
समेता ब्रह्मभवने देवा देवर्षयस्तथा ।
कर्मान्तरमुपासन्तो जजल्पुरमितौजसः ॥ ३ ॥
एवमेतन्न चाप्येवमेवं चैतन्न चान्यथा ।
इत्यूचुर्बहवस्तत्र वितण्डा वै परस्परम् ॥ ४ ॥

महात्मा राजा युधिष्ठिरके उस यज्ञभवनमें राजर्षियोंके साथ बैठे हुए नारद आदि महर्षि उस समय ब्रह्माजीकी सभामें एकत्र हुए देवताओं और देवर्षियोंके समान सुशोभित हो रहे थे। बीच-बीचमें यज्ञसम्बन्धी एक-एक कर्मसे अवकाश पाकर अत्यन्त प्रतिभाशाली विद्वान् आपसमें जल्प[2] (वाद-विवाद) करते थे। 'यह इसी प्रकार होना चाहिये,' 'नहीं, ऐसे नहीं होना चाहिये,' 'यह बात ऐसी ही है, ऐसी ही है, इससे भिन्न नहीं है।' इस प्रकार कह-कहकर बहुत-से वितण्डावादी[3] द्विज वहाँ वाद-विवाद करते थे ॥ २–४ ॥

कृशानर्थांस्ततः केचिदकृशांस्तत्र कुर्वते ।
अकृशांश्च कृशांश्चक्रुर्हेतुभिः शास्त्रनिश्चयैः ॥ ५ ॥

कुछ विद्वान् शास्त्रनिश्चित नाना प्रकारके तर्कों और युक्तियोंसे दुर्बल पक्षोंको पुष्ट और पुष्ट पक्षोंको दुर्बल सिद्ध कर देते थे।

तत्र मेधाविनः केचिदर्थमन्यैरुदीरितम् ।
विचिक्षिपुर्यथा श्येना नभोगतमिवामिषम् ॥ ६ ॥

वहीं कुछ मेधावी पण्डित, जो दूसरोंके कथनमें दोष दिखानेके ही अभ्यासी थे, अन्य लोगोंके कहे हुए अनुमानसाधित विषयको उसी तरह बीचसे ही लोक लेते थे, जैसे बाज मांसके लोथड़ेको आकाशमें ही एक दूसरेसे छीन लेते हैं।

केचिद् धर्मार्थकुशलाः केचित् तत्र महाव्रताः ।
रेमिरे कथयन्तश्च सर्वभाष्यविदां वराः ॥ ७ ॥

उन्हींमें कुछ लोग धर्म और अर्थके निर्णयमें अत्यन्त निपुण थे। कोई महान् व्रतका पालन करनेवाले थे। इस प्रकार सम्पूर्ण भाष्य विद्वानोंमें श्रेष्ठ वे महात्मा अच्छी कथाएँ और शिक्षाप्रद बातें कहकर स्वयं भी सुखी होते और दूसरोंको भी प्रसन्न करते थे॥ ७ ॥

सा वेदिर्वेदसम्पन्नैर्देवद्विजमहर्षिभिः ।
आबभासे समाकीर्णा नक्षत्रैर्द्यौरिवायता ॥ ८ ॥

जैसे नक्षत्रमालाओंद्वारा मण्डित विशाल आकाशमण्डलकी शोभा होती है, उसी प्रकार वेदज्ञ देवर्षियों, ब्रह्मर्षियों और महर्षियोंसे वह वेदी सुशोभित हो रही थी ॥ ८ ॥

न तस्यां संनिधौ शूद्रः कश्चिदासीन्न चाव्रती ।
अन्तर्वेद्यां तदा राजन् युधिष्ठिरनिवेशने ॥ ९ ॥

राजन् ! युधिष्ठिरकी यज्ञशालाके भीतर उस अन्तर्वेदीके आस-पास उस समय न तो कोई शूद्र था और न व्रतहीन द्विज ही।

तां तु लक्ष्मीवतो लक्ष्मीं तदा यज्ञविधानजाम् ।
तुतोष नारदः पश्यन् धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥

परम बुद्धिमान् राजलक्ष्मीसम्पन्न धर्मराज युधिष्ठिरके उस धन-वैभव और यज्ञविधिको देखकर देवर्षि नारदको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥ १० ॥

अथ चिन्तां समापेदे स मुनिर्मनुजाधिप ।
नारदस्तु तदा पश्यन् सर्वक्षत्रसमागमम् ॥ ११ ॥

जनमेजय ! उस समय वहाँ समस्त क्षत्रियोंका सम्मेलन देखकर मुनिवर नारदजी सहसा चिन्तित हो उठे ॥ ११ ॥

---

१. जिसमें पूजनीय पुरुषोंका अभिषेक— अर्घ्य देकर सम्मान किया जाता है, उस कर्मका नाम अभिषेचनीय है। यह राजसूय-यज्ञका अङ्गभूत सोमयागविशेष है।

२. यह एक प्रकारका वाद है, जिसमें वादी छल, जाति और निग्रहस्थानको लेकर अपने पक्षका मण्डन और विपक्षीके पक्षका खण्डन करता है। इसमें वादीका उद्देश्य तत्त्वनिर्णय नहीं होता, किंतु स्वपक्षस्थापन और परपक्षखण्डनमात्र होता है। वादके समान इसमें भी प्रतिज्ञा, हेतु आदि पाँच अवयव होते हैं।

३. जिस बहस या वाद-विवादका उद्देश्य अपने पक्षकी स्थापना या परपक्षका खण्डन न होकर व्यर्थकी बकवादमात्र हो, उसका नाम 'वितण्डा' है।

सस्मार च पुरा वृत्तां कथां तां पुरुषर्षभ।
अंशावतरणे यासौ ब्रह्मणो भवनेऽभवत्॥ १२॥

नरश्रेष्ठ! भगवान्‌के सम्पूर्ण अंशों (देवताओं) सहित अवतार लेनेके सम्बन्धमें ब्रह्मलोकमें पहले जो चर्चा हुई थी, वह प्राचीन घटना उन्हें याद आ गयी॥ १२॥

देवानां संगमं तं तु विज्ञाय कुरुनन्दन।
नारदः पुण्डरीकाक्षं सस्मार मनसा हरिम्॥ १३॥

कुरुनन्दन! नारदजीने यह जानकर कि राजाओंके इस समुदायके रूपमें वास्तवमें देवताओंका ही समागम हुआ है, मन-ही-मन कमलनयन भगवान् श्रीहरिका चिन्तन किया॥

साक्षात् स विबुधारिघ्नः क्षत्रे नारायणो विभुः।
प्रतिज्ञां पालयंश्चेमां जातः परपुरंजयः॥ १४॥

वे सोचने लगे—'अहो! सर्वव्यापक देवशत्रुविनाशक वैरिनगरविजयी साक्षात् भगवान नारायणने ही अपनी इस प्रतिज्ञाको पूर्ण करनेके लिये क्षत्रियकुलमें अवतार ग्रहण किया है॥ १४॥

संदिदेश पुरा योऽसौ विबुधान् भूतकृत् स्वयम्।
अन्योन्यमभिनिघ्नन्तः पुनर्लोकानवाप्स्यथ॥ १५॥

पूर्वकालमें सम्पूर्ण भूतोंके उत्पादक साक्षात् उन्हीं भगवान्‌ने देवताओंको यह आदेश दिया था कि तुमलोग भूतलपर जन्म ग्रहण करके अपना अभीष्ट साधन करते हुए आपसमें एक-दूसरेको मारकर फिर देवलोकमें आ जाओगे॥

इति नारायणः शम्भुर्भगवान् भूतभावनः।
आदिश्य विबुधान् सर्वानजायत यदुक्षये॥ १६॥

'कल्याणस्वरूप भूतभावन भगवान् नारायणने सब देवताओंको यह आज्ञा देनेके पश्चात् स्वयं भी यदुकुलमें अवतार लिया॥ १६॥

क्षितावन्धकवृष्णीनां वंशे वंशभृतां वरः।
परया शुशुभे लक्ष्म्या नक्षत्राणामिवोडुराट्॥ १७॥

'अन्धक और वृष्णियोंके कुलमें वंशधारियोंमें श्रेष्ठ वे ही भगवान् इस पृथ्वीपर प्रकट हो अपनी सर्वोत्तम कान्तिसे उसी प्रकार शोभायमान हैं, जैसे नक्षत्रोंमें चन्द्रमा सुशोभित होते हैं॥

यस्य बाहुबलं सेन्द्राः सुराः सर्व उपासते।
सोऽयं मानुषवन्नाम हरिरास्तेऽरिमर्दनः॥ १८॥

'इन्द्र आदि सम्पूर्ण देवता जिनके बाहुबलकी उपासना करते हैं, वे ही शत्रुमर्दन श्रीहरि यहाँ मनुष्यके समान बैठे हैं॥ १८॥

अहो बत महद्भूतं स्वयंभूर्यदिदं स्वयम्।
आदास्यति पुनः क्षत्रमेवं बलसमन्वितम्॥ १९॥

'अहो! ये स्वयम्भू महाविष्णु ऐसे बलसम्पन्न क्षत्रिय-समुदायको पुनः उच्छिन्न करना चाहते हैं' ॥ १९॥

इत्येतां नारदश्चिन्तां चिन्तयामास सर्ववित्।
हरिं नारायणं ध्यात्वा यज्ञैरीज्यन्तमीश्वरम्॥ २०॥
तस्मिन् धर्मविदां श्रेष्ठो धर्मराजस्य धीमतः।
महाध्वरे महाबुद्धिस्तस्थौ स बहुमानतः॥ २१॥

धर्मज्ञ नारदजीने इसी पुरातन वृत्तान्तका स्मरण किया और ये भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त यज्ञोंके द्वारा आराधनीय, सर्वेश्वर नारायण हैं; ऐसा समझकर वे धर्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् देवर्षि मेधावी धर्मराजके उस महायज्ञमें बड़े आदरके साथ बैठे रहे॥ २०-२१॥

ततो भीष्मोऽब्रवीद् राजन् धर्मराजं युधिष्ठिरम्।
क्रियतामर्हणं राज्ञां यथार्हमिति भारत॥ २२॥

जनमेजय! तत्पश्चात् भीष्मजीने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा— 'भरतकुलभूषण युधिष्ठिर! अब तुम यहाँ पधारे हुए राजाओंका यथायोग्य सत्कार करो॥ २२॥

आचार्यमृत्विजं चैव संयुजं च युधिष्ठिर।
स्नातकं च प्रियं प्राहुः षडर्घ्यार्हान् नृपं तथा॥ २३॥

'आचार्य, ऋत्विज, सम्बन्धी, स्नातक, प्रिय मित्र तथा राजा—इन छहोंको अर्घ्य देकर पूजने योग्य बताया गया है॥ २३॥

एतानर्घ्यानभिगतानाहुः संवत्सरोषितान्।
त इमे कालपूगस्य महतोऽस्मानुपागताः॥ २४॥

'ये यदि एक वर्ष बिताकर अपने यहाँ आवें तो इनके लिये अर्घ्यनिवेदन करके इनकी पूजा करनी चाहिये, ऐसा शास्त्रज्ञ पुरुषोंका कथन है। ये सभी नरेश हमारे यहाँ सुदीर्घकालके पश्चात् पधारे हैं॥ २४॥

एषामेकैकशो राजन्नर्घ्यमानीयतामिति।
अथ चैषां वरिष्ठाय समर्थायोपनीयताम्॥ २५॥

'इसलिये राजन्! तुम बारी-बारीसे इन सबके लिये अर्घ्य दो और इन सबमें जो श्रेष्ठ एवं शक्तिशाली हों, उनको सबसे पहले अर्घ्य समर्पित करो' ॥ २५॥

युधिष्ठिर उवाच

कस्मै भवान् मन्यतेऽर्घ्यमेकस्मै कुरुनन्दन।
उपनीयमानं युक्तं च तन्मे ब्रूहि पितामह॥ २६॥

युधिष्ठिरने पूछा—कुरुनन्दन पितामह! इन समागत

नरेशोंमें किस एकको सबसे पहले अर्घ्य निवेदन करना आप उचित समझते हैं ? यह मुझे बताइये ॥ २६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो भीष्मः शान्तनवो बुद्ध्या निश्चित्य वीर्यवान्।
अमन्यत तदा कृष्णमर्हणीयतमं भुवि ॥ २७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—तब महापराक्रमी शान्तनुनन्दन भीष्मने अपनी बुद्धिसे निश्चय करके भगवान् श्रीकृष्णको ही भूमण्डलमें सबसे अधिक पूजनीय माना ॥ २७ ॥

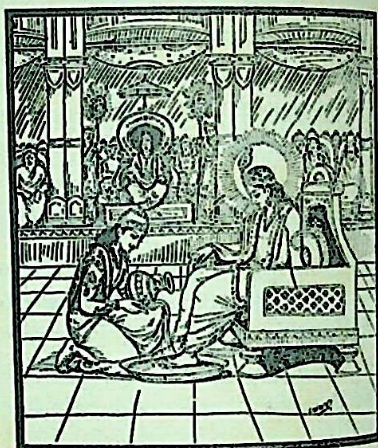
भीष्म उवाच

एष ह्येषां समस्तानां तेजोबलपराक्रमैः।
मध्ये तपन्निवाभाति ज्योतिषामिव भास्करः ॥ २८ ॥
असूर्यमिव सूर्येण निर्वातमिव वायुना।
भासितं ह्लादितं चैव कृष्णेनेदं सदो हि नः ॥ २९ ॥

भीष्मने कहा—कुन्तीनन्दन ! ये भगवान् श्रीकृष्ण इन सब राजाओंके बीचमें अपने तेज, बल और पराक्रमसे उसी प्रकार देदीप्यमान हो रहे हैं, जैसे ग्रह-नक्षत्रोंमें भुवनभास्कर भगवान् सूर्य। अन्धकारपूर्ण स्थान जैसे सूर्यका उदय होनेपर ज्योतिसे जगमग हो उठता है और वायुहीन स्थान जैसे वायुके संचारसे सजीव-सा हो जाता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा हमारी यह सभा आह्लादित और प्रकाशित हो रही है (अतः ये ही अग्रपूजाके योग्य हैं)॥

तस्मै भीष्माभ्यनुज्ञातः सहदेवः प्रतापवान्।
उपजह्रेऽथ विधिवद् वार्ष्णेयायार्घ्यमुत्तमम् ॥ ३० ॥

भीष्मजीकी आज्ञा मिल जानेपर प्रतापी सहदेवने वृष्णिकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णको विधिपूर्वक उत्तम अर्घ्य



निवेदन किया ॥ ३० ॥

प्रतिजग्राह तत् कृष्णः शास्त्रदृष्टेन कर्मणा।
शिशुपालस्तु तां पूजां वासुदेवे न चक्षमे ॥ ३१ ॥

श्रीकृष्णने शास्त्रीय विधिके अनुसार वह अर्घ्य स्वीकार किया। वसुदेवनन्दन भगवान् श्रीहरिकी वह पूजा राजा शिशुपाल नहीं सह सका ॥ ३१ ॥

स उपालभ्य भीष्मं च धर्मराजं च संसदि।
अपाक्षिपद् वासुदेवं चेदिराजो महाबलः ॥ ३२ ॥

महाबली चेदिराज भरी सभामें भीष्म और धर्मराज युधिष्ठिरको उलाहना देकर भगवान् वासुदेवपर आक्षेप करने लगा ॥ ३२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि श्रीकृष्णार्घ्यदाने षट्त्रिंशोऽध्यायः ॥ ३६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें श्रीकृष्णको अर्घ्यदानविषयक छत्तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३६ ॥

सप्तत्रिंशोऽध्यायः

शिशुपालके आक्षेपपूर्ण वचन

शिशुपाल उवाच

नायमर्हति वार्ष्णेयस्तिष्ठत्स्विह महात्मसु।
महीपतिषु कौरव्य राजवत् पार्थिवार्हणम् ॥ १ ॥

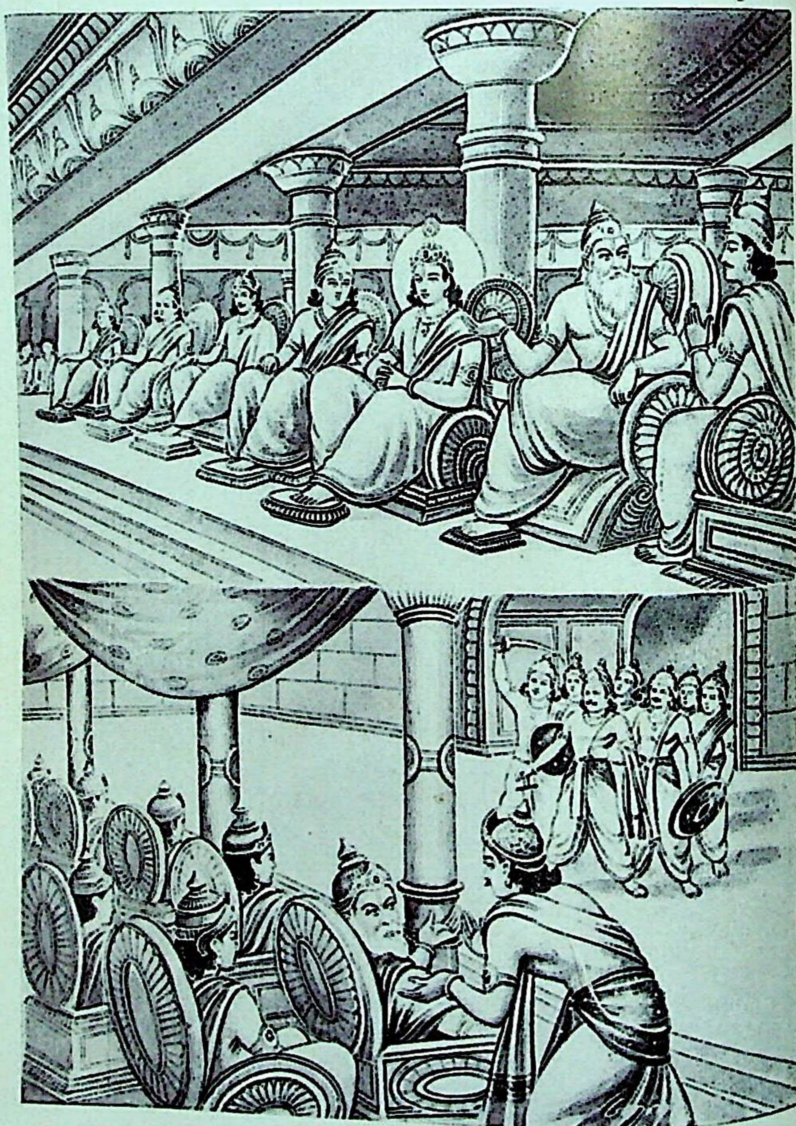
शिशुपाल बोला—कौरव्य ! यहाँ इन महात्मा भूमिपतियोंके रहते हुए यह वृष्णिवंशी कृष्ण राजाओंकी भाँति राजोचित पूजाका अधिकारी कदापि नहीं हो सकता ॥ १ ॥

नायं युक्तः समाचारः पाण्डवेषु महात्मसु।
यत् कामात् पुण्डरीकाक्षं पाण्डवार्चितवानसि ॥ २ ॥

बाला यूयं न जानीध्वं धर्मः सूक्ष्मो हि पाण्डवाः।
अयं च स्मृत्यतिक्रान्तो ह्यापगेयोऽल्पदर्शनः ॥ ३ ॥

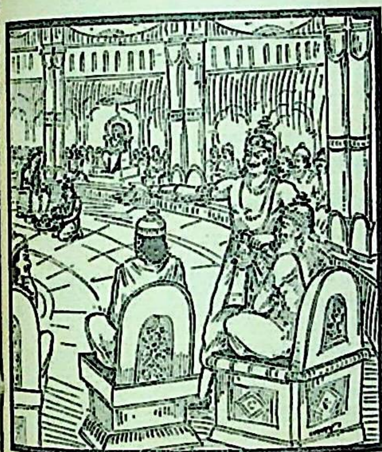
महात्मा पाण्डवोंके लिये यह विपरीत आचार कभी उचित नहीं है। पाण्डुकुमार ! तुमने स्वार्थवश कमलनयन कृष्णका पूजन किया है। पाण्डवो ! अभी तुमलोग बालक हो, तुम्हें धर्मका पता नहीं है; क्योंकि धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म है। ये गङ्गानन्दन भीष्म बहुत बूढ़े हो गये हैं। अब इनकी स्मरणशक्ति [illegible] है, इनकी समझ और [illegible]

भीष्मका युधिष्ठिरको श्रीकृष्णकी महिमा बताना



शिशुपालका युद्धके लिये उद्योग

बहुत कम हो गयी है (तभी इन्होंने श्रीकृष्णपूजाकी सम्मति दी है) ॥ २-३ ॥



त्वादृशो धर्मयुक्तो हि कुर्वाणः प्रियकाम्यया।
भवत्यभ्यधिकं भीष्म लोकेष्ववमतः सताम्॥ ४ ॥

भीष्म ! तुम्हारे-जैसा धर्मात्मा पुरुष भी जब मनमाना अथवा किसीका प्रिय करनेके लिये मुँहदेखी करने लगता है, तब वह साधु पुरुषोंके समाजमें अधिक अपमानका पात्र बन जाता है ॥ ४ ॥

कथं ह्यराजा दाशार्हो मध्ये सर्वमहीक्षिताम्।
अर्हणामर्हति तथा यथा युष्माभिरर्चितः॥ ५ ॥

यह सभी जानते हैं कि यदुवंशी कृष्ण राजा नहीं है, फिर सम्पूर्ण भूपालोंके बीच तुमलोगोंने जिस प्रकार इसकी पूजा की है, वैसी पूजाका अधिकारी यह कैसे हो सकता है ? ॥५॥

अथ वा मन्यसे कृष्णं स्थविरं कुरुपुङ्गव।
वसुदेवे स्थिते वृद्धे कथमर्हति तत्सुतः॥ ६ ॥

कुरुपुङ्गव ! अथवा यदि तुम श्रीकृष्णको बड़ा-बूढ़ा समझते हो तो इसके पिता वृद्ध वसुदेवजीके रहते हुए उनका यह पुत्र कैसे पूजाका पात्र हो सकता है ? ॥ ६ ॥

अथ वा वासुदेवोऽपि प्रियकामोऽनुवृत्तवान्।
द्रुपदे तिष्ठति कथं माधवोऽर्हति पूजनम्॥ ७ ॥
आचार्यं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन।
द्रोणे तिष्ठति वार्ष्णेयं कस्मादर्चितवानसि॥ ८ ॥

अथवा यह मान लिया जाय कि वासुदेव कृष्ण तुम लोगोंका प्रिय चाहनेवाला और तुम्हारा अनुसरण करनेवाला सुहृद् है, इसीलिये तुमने इसकी पूजा की है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि तुम्हारे सबसे बड़े सुहृद् तो राजा द्रुपद हैं। उनके रहते यह माधव पूजा पानेका अधिकारी कैसे हो सकता है ? कुरुनन्दन ! अथवा यह समझ लें कि तुम कृष्णको आचार्य मानते हो, फिर भी आचार्योंमें भी बड़े-बूढ़े द्रोणाचार्यके रहते हुए इस यदुवंशीकी पूजा तुमने क्यों की है ? ॥ ७-८ ॥

ऋत्विजं मन्यसे कृष्णमथ वा कुरुनन्दन।
द्वैपायने स्थिते वृद्धे कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया॥ ९ ॥

कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर ! अथवा यदि यह कहा जाय कि तुम कृष्णको अपना ऋत्विज समझते हो तो ऋत्विजोंमें भी सबसे वृद्ध द्वैपायन वेदव्यासके रहते हुए तुमने कृष्णकी अग्रपूजा कैसे की ? ॥ ९ ॥

भीष्मे शान्तनवे राजन् स्थिते पुरुषसत्तमे।
स्वच्छन्दमृत्युके राजन् कथं कृष्णोऽर्चितस्त्वया॥१०॥
अश्वत्थाम्नि स्थिते वीरे सर्वशास्त्रविशारदे।
कथं कृष्णस्त्वया राजन्नर्चितः कुरुनन्दन॥ ११ ॥

राजन् ! शान्तनुनन्दन भीष्म पुरुषशिरोमणि तथा स्वच्छन्दमृत्यु हैं। इनके रहते तुमने कृष्णकी अर्चना कैसे की ? कुरुनन्दन युधिष्ठिर ! सम्पूर्ण शास्त्रोंके निपुण विद्वान् वीर अश्वत्थामाके रहते हुए तुमने कृष्णकी पूजा कैसे कर डाली ? ॥ १०-११ ॥

दुर्योधने च राजेन्द्रे स्थिते पुरुषसत्तमे।
कृपे च भारताचार्ये कथं कृष्णस्त्वयार्चितः॥ १२ ॥
द्रुमं किम्पुरुषाचार्यमतिक्रम्य तथार्चितः।
भीष्मके चैव दुर्धर्षे पाण्डुवत् कृतलक्षणे॥ १३ ॥
नृपे च रुक्मिणि श्रेष्ठे एकलव्ये तथैव च।
शल्ये मद्राधिपे चैव कथं कृष्णस्त्वयार्चितः॥ १४ ॥

पुरुषप्रवर राजाधिराज दुर्योधन और भरतवंशके आचार्य महात्मा कृपके रहते हुए तुमने कृष्णकी पूजाका औचित्य कैसे स्वीकार किया ? तुमने किम्पुरुषोंके आचार्य द्रुमका उल्लङ्घन करके कृष्णकी अग्रपूजा क्यों की ? पाण्डुके समान दुर्धर्ष वीर तथा राजोचित शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न भीष्मक, राजा रुक्मी और उसी प्रकार श्रेष्ठ धनुर्धर एकलव्य तथा मद्रराज शल्यके रहते हुए तुम्हारे द्वारा कृष्णकी पूजा किस दृष्टिसे की गयी ? ॥ १२-१४॥

अयं च सर्वराज्ञां वै बलश्लाघी महाबलः।
जामदग्न्यस्य दयितः शिष्यो विप्रस्य भारत॥ १५ ॥
येनात्मबलमाश्रित्य राजानो युधि निर्जिताः।
तं च कर्णमतिक्रम्य कथं कृष्णस्त्वयार्चितः॥ १६ ॥

भारत ! ये जो अपने बलके द्वारा सब राजाओंसे होड़ लेते हैं, विप्रवर परशुरामजीके प्रिय शिष्य हैं तथा जिन्होंने अपने बलका भरोसा करके युद्धमें अनेक राजाओंको परास्त किया है, उन महाबली कर्णको छोड़कर तुमने कृष्णकी आराधना कैसे की ? ॥ १५-१६ ॥

नैवर्त्विग् नैव चाचार्यो न राजा मधुसूदनः।
अर्चितश्च कुरुश्रेष्ठ किमन्यत्प्रियकाम्यया ॥ १७ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! मधुसूदन कृष्ण न ऋत्विज है, न आचार्य है और न राजा ही है; फिर तुमने किस प्रिय कामनासे इसकी पूजा की है ? ॥ १७ ॥

अथ वाप्यर्चनीयोऽयं युष्माकं मधुसूदनः।
किं राजभिरिहानीतैरवमानाय भारत ॥ १८ ॥

भारत ! अथवा यदि यह मधुसूदन ही तुमलोगोंका पूजनीय देवता है, इसलिये इसकी ही पूजा तुम्हें करनी थी तो इन राजाओंको केवल अपमानित करनेके लिये बुलानेकी क्या आवश्यकता थी ? ॥ १८ ॥

वयं तु न भयादस्य कौन्तेयस्य महात्मनः।
प्रयच्छामः करान् सर्वे न लोभान्न च सान्त्वनात् ॥ १९ ॥

राजाओ ! हम सब लोग इन महात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जो कर दे रहे हैं, वह भय, लोभ अथवा कोई विशेष आश्वासन मिलनेके कारण नहीं ॥ १९ ॥

अस्य धर्मप्रवृत्तस्य पार्थिवत्वं चिकीर्षतः।
करानस्मै प्रयच्छामः सोऽयमस्मान् न मन्यते ॥ २० ॥

हमने तो यही समझा था कि यह धर्माचरणमें संलग्न रहनेवाला क्षत्रिय सम्राट्का पद पाना चाहता है तो अच्छा ही है। यही सोचकर हम उसे कर देते हैं, परंतु यह राजा युधिष्ठिर हमलोगोंको नहीं मानता है ॥ २० ॥

किमन्यदवमानाद्धि यदेनं राजसंसदि।
अप्राप्तलक्षणं कृष्णमर्घ्येणार्चितवानसि ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर ! इससे बढ़कर दूसरा अपमान और क्या हो सकता है कि तुमने राजाओंकी सभामें जिसे राजोचित चिह्न छत्र-चँवर आदि प्राप्त नहीं हुआ है, उस कृष्णकी अर्घ्यके द्वारा पूजा की है ॥ २१ ॥

अकस्माद् धर्मपुत्रस्य धर्मात्मेति यशो गतम्।
को हि धर्मच्युते पूजामेवं युक्तां नियोजयेत् ॥ २२ ॥

धर्मपुत्र युधिष्ठिरको अकस्मात् ही धर्मात्मा होनेका यश प्राप्त हो गया है, अन्यथा कौन ऐसा धर्मनिष्ठ पुरुष होगा जो किसी धर्मच्युतकी इस प्रकार पूजा करेगा ॥ २२ ॥

योऽयं वृष्णिकुले जातो राजानं हतवान् पुरा।
जरासंधं महात्मानमन्यायेन दुरात्मवान् ॥ २३ ॥

वृष्णिकुलमें पैदा हुए इस दुरात्माने तो कुछ ही दिन पहले महात्मा राजा जरासंधका अन्यायपूर्वक वध किया है ॥ २३ ॥

अद्य धर्मात्मता चैव व्यपकृष्टा युधिष्ठिरात्।
दर्शितं कृपणत्वं च कृष्णेऽर्घ्यस्य निवेदनात् ॥ २४ ॥

आज युधिष्ठिरका धर्मात्मापन दूर निकल गया, क्योंकि इन्होंने कृष्णको अर्घ्य निवेदन करके अपनी कायरता दिखायी है ॥ २४ ॥

यदि भीताश्च कौन्तेयाः कृपणाश्च तपस्विनः।
ननु त्वयापि बोद्धव्यं यां पूजां माधवार्हसि ॥ २५ ॥

(अब शिशुपालने भगवान् श्रीकृष्णको देखकर कहा-) माधव ! कुन्तीके पुत्र डरपोक, कायर और तपस्वी हैं। इन्होंने तुम्हें ठीक-ठीक न जानकर यदि तुम्हारी पूजा कर दी तो तुम्हें तो समझना चाहिये था कि तुम किस पूजाके अधिकारी हो ? ॥ २५ ॥

अथ वा कृपणैरेतामुपनीतां जनार्दन।
पूजामनर्हः कस्मात् त्वमभ्यनुज्ञातवानसि ॥ २६ ॥

अथवा जनार्दन ! इन कायरोंद्वारा उपस्थित की हुई इस अग्रपूजाको उसके योग्य न होते हुए भी तुमने क्यों स्वीकार कर लिया ? ॥ २६ ॥

अयुक्तामात्मनः पूजां त्वं पुनर्बहु मन्यसे।
हविषः प्राप्य निष्यन्दं प्राशिता श्वेव निर्जने ॥ २७ ॥

जैसे कुत्ता एकान्तमें चूकर गिरे हुए थोड़े-से हविष्य (घृत) को चाट ले और अपनेको धन्य-धन्य मानने लगे, उसी प्रकार तुम अपने लिये अयोग्य पूजा स्वीकार करके अपने आपको बहुत बड़ा मान रहे हो ॥ २७ ॥

न त्वयं पार्थिवेन्द्राणामपमानः प्रयुज्यते।
त्वामेव कुरवो व्यक्तं प्रलम्भन्ते जनार्दन ॥ २८ ॥

कृष्ण ! तुम्हारी इस अग्रपूजासे हम राजाधिराजोंका कोई अपमान नहीं होता, परंतु ये कुरुवंशी पाण्डव तुम्हें अर्घ्य देकर वास्तवमें तुम्हींको ठग रहे हैं ॥ २८ ॥

क्लीबे दारक्रिया यादृगन्धे वा रूपदर्शनम्।
अराज्ञो राजवत् पूजा तथा ते मधुसूदन ॥ २९ ॥

मधुसूदन ! जैसे नपुंसकका ब्याह रचाना और अंधेको रूप दिखाना उनका उपहास ही करना है, उसी प्रकार तुम जैसे राज्यहीनकी यह राजाओंके समान पूजा भी विडम्बना मात्र ही है ॥ २९ ॥

दृष्टो युधिष्ठिरो राजा दृष्टो भीष्मश्च यादृशः।
वासुदेवोऽप्ययं दृष्टः सर्वमेतद् यथातथम् ॥ ३० ॥

आज मैंने राजा युधिष्ठिरको देख लिया, भीष्म भी जैसे हैं, उनको भी देख लिया और इन वासुदेव कृष्णका भी वास्तविक रूप क्या है, यह भी देख लिया। वास्तवमें ये सब ऐसे ही हैं ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा शिशुपालस्तानुत्थाय परमासनात्।

निर्ययौ सदसस्तस्मात् सहितो राजभिस्तदा ॥ ३१ ॥

उनसे ऐसा कहकर शिशुपाल अपने उत्तम आसनसे उठकर कुछ राजाओंके साथ उस सभामण्डपसे जानेको उद्यत हो गया ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि शिशुपालक्रोधे सप्तत्रिंशोऽध्यायः ॥ ३७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें शिशुपालका क्रोधविषयक सैंतीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३७ ॥

अष्टात्रिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरका शिशुपालको समझाना और भीष्मजीका उसके आक्षेपोंका उत्तर देना

वैशम्पायन उवाच

ततो युधिष्ठिरो राजा शिशुपालमुपाद्रवत्।
उवाच चैनं मधुरं सान्त्वपूर्वमिदं वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब राजा युधिष्ठिर शिशुपालके समीप दौड़े गये और उसे शान्तिपूर्वक समझाते हुए मधुर वाणीमें बोले—॥ १ ॥

नेदं युक्तं महीपाल यादृशं वै त्वमुक्तवान्।
अधर्मश्च परो राजन् पारुष्यं च निरर्थकम् ॥ २ ॥

राजन् ! तुमने जैसी बात कह डाली है, वह कदापि उचित नहीं है। किसीके प्रति इस प्रकार व्यर्थ कठोर बातें कहना महान् अधर्म है ॥ २ ॥

न हि धर्मं परं जातु नावबुध्येत पार्थिवः।
भीष्मः शान्तनवस्त्वेनं मावमंस्थास्त्वमन्यथा ॥ ३ ॥

शान्तनुनन्दन भीष्मजी धर्मके तत्त्वको न जानते हों ऐसी बात नहीं है, अतः तुम इनका अनादर न करो ॥ ३ ॥

पश्य चैतान् महीपालांस्त्वत्तो वृद्धतरान् बहून्।
मृष्यन्ते चार्हणां कृष्णे तद्वत् त्वं क्षन्तुमर्हसि ॥ ४ ॥

देखो ! ये सभी नरेश, जिनमेंसे कई तो तुम्हारी अपेक्षा बहुत बड़ी अवस्थाके हैं, श्रीकृष्णकी अग्रपूजाको चुपचाप सहन कर रहे हैं, इसी प्रकार तुम्हें भी इस विषयमें कुछ नहीं कहना चाहिये ॥ ४ ॥

वेद तत्त्वेन कृष्णं हि भीष्मश्चेदिपते भृशम्।
न ह्येनं त्वं तथा वेत्थ यथैनं वेद कौरवः ॥ ५ ॥

चेदिराज ! भगवान् श्रीकृष्णको यथार्थरूपसे हमारे पितामह भीष्मजी ही जानते हैं। कुरुनन्दन भीष्मजीको उनके तत्त्वका जैसा ज्ञान है, वैसा तुम्हें नहीं है' ॥ ५ ॥

भीष्म उवाच

नास्मै देयो ह्यनुनयो नायमर्हति सान्त्वनम्।
लोकवृद्धतमे कृष्णे योऽर्हणां नाभिमन्यते ॥ ६ ॥

भीष्मजीने कहा—धर्मराज ! भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्में सबसे बढ़कर हैं। वे ही परम पूजनीय हैं। जो उनकी अग्रपूजा स्वीकार नहीं करता है, उसकी अनुनय-विनय नहीं करनी चाहिये। वह सान्त्वना देने या समझाने-बुझानेके योग्य भी नहीं है ॥ ६ ॥

क्षत्रियः क्षत्रियं जित्वा रणे रणकृतां वरः।
यो मुञ्चति वशे कृत्वा गुरुर्भवति तस्य सः ॥ ७ ॥

जो योद्धाओंमें श्रेष्ठ क्षत्रिय जिसे युद्धमें जीतकर अपने वशमें करके छोड़ देता है, वह उस पराजित क्षत्रियके लिये गुरुतुल्य पूज्य हो जाता है ॥ ७ ॥

अस्यां हि समितौ राज्ञामेकमप्यजितं युधि।
न पश्यामि महीपालं सात्वतीपुत्रतेजसा ॥ ८ ॥

राजाओंके इस समुदायमें एक भी भूपाल ऐसा नहीं दिखायी देता, जो युद्धमें देवकीनन्दन श्रीकृष्णके तेजसे परास्त न हो चुका हो ॥ ८ ॥

न हि केवलमस्माकमयमर्च्यतमोऽच्युतः।
त्रयाणामपि लोकानामर्चनीयो महाभुजः ॥ ९ ॥

महाबाहु श्रीकृष्ण केवल हमारे लिये ही परम पूजनीय हों, ऐसी बात नहीं है, ये तो तीनों लोकोंके पूजनीय हैं ॥ ९ ॥

कृष्णेन हि जिता युद्धे बहवः क्षत्रियर्षभाः।
जगत् सर्वं च वार्ष्णेये निखिलेन प्रतिष्ठितम् ॥ १० ॥

श्रीकृष्णके द्वारा संग्राममें अनेक क्षत्रियशिरोमणि परास्त हुए हैं। यह सम्पूर्ण जगत् वृष्णिकुलभूषण भगवान् श्रीकृष्णमें ही पूर्णरूपसे प्रतिष्ठित है ॥ १० ॥

तस्मात् सत्स्वपि वृद्धेषु कृष्णमर्चाम नेतरान्।
एवं वक्तुं न चार्हस्त्वं मा ते भूद् बुद्धिरीदृशी ॥ ११ ॥

इसीलिये हम दूसरे वृद्ध पुरुषोंके होते हुए भी श्रीकृष्णकी ही पूजा करते हैं, दूसरोंकी नहीं। राजन् ! तुम्हें श्रीकृष्णके प्रति वैसी बातें मुँहसे नहीं निकालनी चाहिये थी। उनके प्रति तुम्हें ऐसी बुद्धि नहीं रखनी चाहिये ॥ ११ ॥

ज्ञानवृद्धा मया राजन् बहवः पर्युपासिताः।
तेषां कथयतां शौरेरहं गुणवतो गुणान् ॥ १२ ॥
समागतानामश्रौषं बहून् बहुमतान् सताम्।

मैंने बहुत-से ज्ञानवृद्ध महात्माओंका संग किया है। अपने

यहाँ पधारे हुए उन संतोंके मुखसे अनन्तगुणशाली भगवान् श्रीकृष्णके असंख्य बहुसम्मत गुणोंका वर्णन सुना है ॥ १२½ ॥

कर्माण्यपि च यान्यस्य जन्मप्रभृति धीमतः ॥ १३ ॥
बहुशः कथ्यमानानि नरैर्भूयः श्रुतानि मे ।

जन्मकालसे लेकर अबतक इन बुद्धिमान् श्रीकृष्णके जो-जो चरित्र बहुधा बहुतेरे मनुष्योंद्वारा कहे गये हैं, उन सबको मैंने बार-बार सुना है ॥ १३½ ॥

न केवलं वयं कामाच्चेदिराज जनार्दनम् ॥ १४ ॥
न सम्बन्धं पुरस्कृत्य कृतार्थं वा कथंचन ।
अर्चामहेऽर्चितं सद्भिर्भुवि भूतसुखावहम् ॥ १५ ॥

चेदिराज ! हमलोग किसी कामनासे, अपना सम्बन्धी मानकर अथवा इन्होंने हमारा किसी प्रकारका उपकार किया है, इस दृष्टिसे श्रीकृष्णकी पूजा नहीं कर रहे हैं। हमारी दृष्टि तो यह है कि ये इस भूमण्डलके सभी प्राणियोंको सुख पहुँचानेवाले हैं और बड़े-बड़े संत-महात्माओंने इनकी पूजा की है ॥ १४-१५ ॥

यशः शौर्यं जयं चास्य विज्ञायार्चां प्रयुञ्जमहे ।
न च कश्चिदिहास्माभिः सुबालोऽप्यपरीक्षितः॥ १६ ॥

हम इनके यश, शौर्य और विजयको भलीभाँति जानकर इनकी पूजा कर रहे हैं। यहाँ बैठे हुए लोगोंमेंसे कोई छोटा-सा बालक भी ऐसा नहीं है, जिसके गुणोंकी हमलोगोंने पूर्णतः परीक्षा न की हो ॥ १६ ॥

गुणैर्वृद्धानतिक्रम्य हरिरर्च्यतमो मतः ।
ज्ञानवृद्धो द्विजातीनां क्षत्रियाणां बलाधिकः ॥ १७ ॥

श्रीकृष्णके गुणोंको ही दृष्टिमें रखते हुए हमने वयोवृद्ध पुरुषोंका उल्लङ्घन करके इनको ही परम पूजनीय माना है। ब्राह्मणोंमें वही पूजनीय समझा जाता है, जो ज्ञानमें बड़ा हो तथा क्षत्रियोंमें वही पूजाके योग्य है, जो बलमें सबसे अधिक हो ॥

वैश्यानां धान्यधनवाञ्छूद्राणामेव जन्मतः ।
पूज्यतायां च गोविन्दे हेतू द्वावपि संस्थितौ ॥ १८ ॥

वैश्योंमें वही सर्वमान्य है, जो धन-धान्यमें बढ़कर हो, केवल शूद्रोंमें ही जन्मकालको ध्यानमें रखकर जो अवस्थामें बड़ा हो, उसको पूजनीय माना जाता है। श्रीकृष्णके परम पूजनीय होनेमें दोनों ही कारण विद्यमान हैं ॥ १८ ॥

वेदवेदाङ्गविज्ञानं बलं चाप्यधिकं तथा ।
नृणां लोके हि कोऽन्योऽस्ति विशिष्टः केशवादृते॥ १९॥

इनमें वेद-वेदाङ्गोंका ज्ञान तो है ही, बल भी सबसे अधिक है। श्रीकृष्णके सिवा संसारके मनुष्योंमें दूसरा कौन सबसे बढ़कर है ? ॥ १९ ॥

दानं दाक्ष्यं श्रुतं शौर्यं ह्रीः कीर्तिर्बुद्धिरुत्तमा ।
सन्नतिः श्रीर्धृतिस्तुष्टिः पुष्टिश्च नियताच्युते ॥ २०॥

दान, दक्षता, शास्त्रज्ञान, शौर्य, लज्जा, कीर्ति, उत्तम बुद्धि, विनय, श्री, धृति, तुष्टि और पुष्टि—ये सभी सद्गुण भगवान् श्रीकृष्णमें नित्य विद्यमान हैं ॥ २० ॥

तमिमं गुणसम्पन्नमार्यं च पितरं गुरुम् ।
अर्घ्यमर्चितमर्चार्हं सर्वे संक्षन्तुमर्हथ ॥ २१॥

जो अर्घ्य पानेके सर्वथा योग्य और पूजनीय हैं, उन सद्गुणसम्पन्न, श्रेष्ठ, पिता और गुरु भगवान् श्रीकृष्णकी हमलोगोंने पूजा की है, अतः सब राजालोग इसके लिये हमें क्षमा करें ॥ २१ ॥

ऋत्विग् गुरुस्तथाऽऽचार्यः स्नातको नृपतिः प्रियः।
सर्वमेतद्धृषीकेशस्तस्मादभ्यर्चितोऽच्युतः ॥ २२॥

श्रीकृष्ण हमारे ऋत्विक्, गुरु, आचार्य, स्नातक, राजा और प्रिय मित्र सब कुछ हैं। इसीलिये हमने इनकी अग्रपूजा की है ॥ २२ ॥

कृष्ण एव हि लोकानामुत्पत्तिरपि चाप्ययः ।
कृष्णस्य हि कृते विश्वमिदं भूतं चराचरम् ॥ २३॥

भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण जगत्की उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं। यह सारा चराचर विश्व इन्हींके लिये प्रकट हुआ है ॥ २३ ॥

एष प्रकृतिरव्यक्ता कर्ता चैव सनातनः ।
परश्च सर्वभूतेभ्यस्तस्मात् पूज्यतमोऽच्युतः ॥ २४॥

ये ही अव्यक्त प्रकृति, सनातन कर्ता तथा सम्पूर्ण भूतोंसे परे हैं, अतः भगवान् अच्युत ही सबसे बढ़कर पूजनीय हैं॥

बुद्धिर्मनो महद् वायुस्तेजोऽम्भः खं मही च या ।
चतुर्विधं च यद् भूतं सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २५॥

महत्तत्त्व, अहंकार, मनसहित ग्यारह इन्द्रियाँ, आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी तथा जरायुज, अण्डज, स्वेदज और उद्भिज्ज—ये चार प्रकारके प्राणी सभी भगवान् श्रीकृष्णमें ही प्रतिष्ठित हैं॥

आदित्यश्चन्द्रमाश्चैव नक्षत्राणि ग्रहाश्च ये ।
दिशश्च विदिशश्चैव सर्वं कृष्णे प्रतिष्ठितम् ॥ २६॥
अग्निहोत्रमुखा वेदा गायत्री छन्दसां मुखम् ।
राजा मुखं मनुष्याणां नदीनां सागरो मुखम् ॥ २७॥
नक्षत्राणां मुखं चन्द्र आदित्यस्तेजसां मुखम् ।
पर्वतानां मुखं मेरुर्गरुडः पततां मुखम् ॥ २८॥
ऊर्ध्वं तिर्यगधश्चैव यावती जगतो गतिः ।
सदेवकेषु लोकेषु भगवान् केशवो मुखम् ॥ २९॥

सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रह, दिशा और विदिशा सब उन्हींमें स्थित हैं। जैसे वेदोंमें अग्निहोत्रकर्म, छन्दोंमें गायत्री

मनुष्योंमें राजा, नदियों (जलाशयों)में समुद्र, नक्षत्रोंमें चन्द्रमा, तेजोमय पदार्थोंमें सूर्य, पर्वतोंमें मेरु और पक्षियोंमें गरुड श्रेष्ठ हैं, उसी प्रकार देवलोकसहित सम्पूर्ण लोकोंमें ऊपर-नीचे, दाँयें-बाँयें, जितने भी जगत्‌के आश्रय हैं, उन सबमें भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रेष्ठ हैं ॥ २६-२९ ॥

[भगवान् नारायणकी महिमा और उनके द्वारा मधु-कैटभका वध]

(वैशम्पायन उवाच

ततो भीष्मस्य तच्छ्रुत्वा वचः काले युधिष्ठिरः ।
उवाच मतिमान् भीष्मं ततः कौरवनन्दनः ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर भीष्मजीका वह समयोचित वचन सुनकर कौरवनन्दन बुद्धिमान् युधिष्ठिरने उनसे इस प्रकार कहा ॥

युधिष्ठिर उवाच

विस्तरेणास्य देवस्य कर्माणीच्छामि सर्वशः ।
श्रोतुं भगवतस्तानि प्रब्रवीहि पितामह ॥
कर्मणामानुपूर्व्यं च प्रादुर्भावांश्च मे विभोः ।
यथा च प्रकृतिः कृष्णे तन्मे ब्रूहि पितामह ॥

युधिष्ठिर बोले—पितामह ! मैं इन भगवान् श्रीकृष्णके सम्पूर्ण चरित्रोंको विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ । आप उन्हें कृपापूर्वक बतावें । पितामह ! भगवान्‌के अवतारों और चरित्रोंका क्रमशः वर्णन कीजिये । साथ ही मुझे यह भी बताइये कि श्रीकृष्णका शील-स्वभाव कैसा है ?

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तदा भीष्मः प्रोवाच भरतर्षभम् ।
युधिष्ठिरममित्रघ्नं तस्मिन् क्षत्रसमागमे ॥
समक्षं वासुदेवस्य देवस्येव शतक्रतोः ।
कर्माण्यसुकराण्यन्यैराचचक्षे जनाधिप ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय युधिष्ठिरके इस प्रकार अनुरोध करनेपर भीष्मने राजाओंके उस समुदायमें देवराज इन्द्रके समान सुशोभित होनेवाले भगवान् वासुदेवके सामने ही शत्रुहन्ता भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिरसे भगवान् श्रीकृष्णके अलौकिक कर्मोंका, जिन्हें दूसरा कोई कदापि नहीं कर सकता, वर्णन किया ॥

शृण्वतां पार्थिवानां च धर्मराजस्य चान्तिके ।
इदं मतिमतां श्रेष्ठः कृष्णं प्रति विशाम्पते ॥
साम्नैवामन्त्र्य राजेन्द्र चेदिराजमरिंदमम् ।
भीमकर्मा ततो भीष्मो भूयः स इदमब्रवीत् ॥
कुरूणां चापि राजानं युधिष्ठिरमुवाच ह ।

धर्मराजके समीप बैठे हुए सम्पूर्ण नरेश उनकी यह बात सुन रहे थे । राजन् ! बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ भीमकर्मा भीष्मने शत्रुदमन चेदिराज शिशुपालको सान्त्वनापूर्ण शब्दोंमें ही समझाकर कुरुराज युधिष्ठिरसे पुनः इस प्रकार कहना आरम्भ किया ॥

भीष्म उवाच

वर्तमानामतीतां च श्रृणु राजन् युधिष्ठिर ।
ईश्वरस्योत्तमस्यैनां कर्मणां गहनां गतिम् ।

भीष्म बोले—राजा युधिष्ठिर ! पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्णके दिव्य कर्मोंकी गति बड़ी गहन है । इन्होंने पूर्वकालमें और इस समय भी जो महान् कर्म किये हैं, उन्हें बताता हूँ, सुनो ॥

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ॥
पुरा नारायणो देवः स्वयम्भूः प्रपितामहः ।

ये सर्वशक्तिमान् भगवान् अव्यक्त होते हुए भी व्यक्त स्वरूप धारण करके स्थित हैं । पूर्वकालमें ये भगवान् श्रीकृष्ण ही नारायणरूपमें स्थित थे । ये ही स्वयम्भू एवं सम्पूर्ण जगत्‌के प्रपितामह हैं ॥

सहस्रशीर्षः पुरुषो ध्रुवोऽव्यक्तः सनातनः ॥
सहस्राक्षः सहस्रास्यः सहस्रचरणो विभुः ।
सहस्रबाहुः साहस्रो देवो नामसहस्रवान् ॥

इनके सहस्रों मस्तक हैं । ये ही पुरुष, ध्रुव, अव्यक्त एवं सनातन परमात्मा हैं । इनके सहस्रों नेत्र, सहस्रों मुख और सहस्रों चरण हैं । ये सर्वव्यापी परमेश्वर सहस्रों भुजाओं, सहस्रों रूपों और सहस्रों नामोंसे युक्त हैं ॥

सहस्रमुकुटो देवो विश्वरूपो महाद्युतिः ।
अनेकवर्णो देवादिरव्यक्ताद् वै परे स्थितः ॥

इनके मस्तक सहस्रों मुकुटोंसे मण्डित हैं । ये महान् तेजस्वी देवता हैं । सम्पूर्ण विश्व इन्हींका स्वरूप है । इनके अनेक वर्ण हैं । ये देवताओंके भी आदि कारण हैं और अव्यक्त प्रकृतिसे परे (अपने सच्चिदानन्दघन स्वरूपमें स्थित) हैं ॥

असृजत् सलिलं पूर्वं स च नारायणः प्रभुः ।
ततस्तु भगवांस्तोये ब्रह्माणमसृजत् स्वयम् ॥

उन्हीं सामर्थ्यवान् भगवान् नारायणने सबसे पहले जलकी सृष्टि की । फिर उस जलमें उन्होंने स्वयं ही ब्रह्माजीको उत्पन्न किया ॥

ब्रह्मा चतुर्मुखो लोकान् सर्वांस्तानसृजत् स्वयम् ।
आदिकाले पुरा ह्येवं सर्वलोकस्य चोद्भवः ॥

ब्रह्माजीके चार मुख हैं । उन्होंने स्वयं ही सम्पूर्ण लोकोंकी सृष्टि की है । इस प्रकार आदिकालमें समस्त जगत्‌की उत्पत्ति हुई ॥

पुरा च प्रलये प्राप्ते नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
ब्रह्मादिषु प्रलीनेषु नष्टे लोके चराचरे ॥

फिर प्रलयकाल आनेपर, जैसा कि पहले हुआ था, समस्त स्थावर-जङ्गम सृष्टिका नाश हो जाता है एवं चराचर जगत्‌का नाश होनेके पश्चात् ब्रह्मा आदि देवता भी अपने कारण-तत्त्वमें लीन हो जाते हैं ॥

आभूतसम्प्लवे प्राप्ते प्रलीने प्रकृतौ महान् ।
एकस्तिष्ठति सर्वात्मा स तु नारायणः प्रभुः ॥

और समस्त भूतोंका प्रवाह प्रकृतिमें विलीन हो जाता है, उस समय एकमात्र सर्वात्मा भगवान् महानारायण शेष रह जाते हैं ॥

नारायणस्य चाङ्गानि सर्वदैवानि भारत ।
शिरस्तस्य दिवं राजन् नाभिः खं चरणौ मही ॥

भरतनन्दन ! भगवान् नारायणके सब अङ्ग सर्वदेवमय हैं । राजन् ! द्युलोक उनका मस्तक, आकाश नाभि और पृथ्वी चरण हैं ॥

अश्विनौ घ्राणयोर्देवौ चक्षुषी शशिभास्करौ ।
इन्द्रवैश्वानरौ देवौ मुखं तस्य महात्मनः ॥

दोनों अश्विनीकुमार उनकी नासिकाके स्थानमें हैं, चन्द्रमा और सूर्य नेत्र हैं एवं इन्द्र और अग्निदेवता परमात्माके मुख हैं ॥

अन्यानि सर्वदैवानि तस्याङ्गानि महात्मनः ।
सर्वं व्याप्य हरिस्तस्थौ सूत्रं मणिगणानिव ॥

इसी प्रकार अन्य सब देवता भी उन महात्माके विभिन्न अवयव हैं । जैसे गुँथी हुई मालाकी सभी मणियोंमें एक ही सूत्र व्याप्त रहता है, उसी प्रकार भगवान् श्रीहरि सम्पूर्ण जगत्को व्याप्त करके स्थित हैं ॥

आभूतसम्प्लवान्तेऽथ दृष्ट्वा सर्वं तमोऽन्वितम् ।
नारायणो महायोगी सर्वज्ञः परमात्मवान् ॥
ब्रह्मभूतस्तदाऽऽत्मानं ब्रह्माणमसृजत् स्वयम् ।

प्रलयकालके अन्तमें सबको अन्धकारसे व्याप्त देख सर्वज्ञ परमात्मा ब्रह्मभूत महायोगी नारायणने स्वयं अपने आपको ही ब्रह्मारूपमें प्रकट किया ॥

सोऽध्यक्षः सर्वभूतानां प्रभूतः प्रभवोऽच्युतः ॥
सनत्कुमारं रुद्रं च मनुं चैव तपोधनान् ।
सर्वमेवासृजद् ब्रह्मा ततो लोकान् प्रजास्तथा ॥

इस प्रकार अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले सबकी उत्पत्तिके कारणभूत और सम्पूर्ण भूतोंके अध्यक्ष श्रीहरिने ब्रह्मारूपसे प्रकट हो सनत्कुमार, रुद्र, मनु तथा तपस्वी ऋषि-मुनियोंको उत्पन्न किया । सबकी सृष्टि उन्होंने ही की । उन्हींसे सम्पूर्ण लोकों और प्रजाओंकी उत्पत्ति हुई ॥

ते च तद् व्यसृजंस्तत्र प्राप्ते काले युधिष्ठिर ।
तेभ्योऽभवन्महात्मभ्यो बहुधा ब्रह्म शाश्वतम् ॥

युधिष्ठिर ! समय आनेपर उन मनु आदिने भी सृष्टिका विस्तार किया । उन सब महात्माओंसे नाना प्रकारकी सृष्टि प्रकट हुई । इस प्रकार एक ही सनातन ब्रह्म अनेक रूपोंमें अभिव्यक्त हो गया ॥

कल्पानां बहुकोट्यश्च समतीता हि भारत ।
आभूतसम्प्लवाश्चैव बहुकोट्योऽतिचक्रमुः ॥

भरतनन्दन ! अबतक कई करोड़ कल्प बीत चुके हैं और कितने ही करोड़ प्रलयकाल भी गत हो चुके हैं ॥

मन्वन्तरयुगेऽजस्रं सकल्पा भूतसम्प्लवाः ।
चक्रवत् परिवर्तन्ते सर्वं विष्णुमयं जगत् ॥

मन्वन्तर, युग, कल्प और प्रलय—ये निरन्तर चक्रकी भाँति घूमते रहते हैं । यह सम्पूर्ण जगत् विष्णुमय है ॥

सृष्ट्वा चतुर्मुखं देवं देवो नारायणः प्रभुः ।
स लोकानां हितार्थाय क्षीरोदे वसति प्रभुः ॥

देवाधिदेव भगवान् नारायण चतुर्मुख भगवान् ब्रह्माकी सृष्टि करके सम्पूर्ण लोकोंका हित करनेके लिये क्षीरसागरमें निवास करते हैं ॥

ब्रह्मा च सर्वदेवानां लोकस्य च पितामहः ।
ततो नारायणो देवः सर्वस्य प्रपितामहः ॥

ब्रह्माजी सम्पूर्ण देवताओं तथा लोकोंके पितामह हैं, इसलिये श्रीनारायणदेव सबके प्रपितामह हैं ॥

अव्यक्तो व्यक्तलिङ्गस्थो य एष भगवान् प्रभुः ।
नारायणो जगच्चक्रे प्रभवाप्ययसंहितः ॥

जो अव्यक्त होते हुए व्यक्त शरीरमें स्थित हैं, वही और प्रलयकालमें भी जो नित्य विद्यमान रहते हैं, उन सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणने इस जगत्की रचना की है ॥

एष नारायणो भूत्वा हरिरासीद् युधिष्ठिर ।
ब्रह्माणं शशिसूर्यौ च धर्मं चैवासृजत् स्वयम् ॥

युधिष्ठिर ! इन भगवान् श्रीकृष्णने ही नारायणरूपमें स्थित होकर स्वयं ब्रह्मा, सूर्य, चन्द्रमा और धर्मकी सृष्टि की है ॥

बहुशः सर्वभूतात्मा प्रादुर्भवति कार्यतः ।
प्रादुर्भावांस्तु वक्ष्यामि दिव्यान् देवगणैर्युतान् ॥

ये समस्त प्राणियोंके अन्तरात्मा हैं और कार्यवश अनेक रूपोंमें अवतीर्ण होते रहते हैं । इनके सभी अवतार दिव्य हैं और देवगणोंसे संयुक्त भी हैं । मैं उन सबका वर्णन करता हूँ ॥

सुप्त्वा युगसहस्रं स प्रादुर्भवति कार्यवान् ।
पूर्णे युगसहस्रेऽथ देवदेवो जगत्पतिः ॥
ब्रह्माणं कपिलं चैव परमेष्ठिनमेव च ।
देवान् सप्त ऋषींश्चैव शङ्करं च महायशाः ॥

देवाधिदेव जगदीश्वर महायशस्वी भगवान् श्रीहरि सहस्र युगोंतक शयन करनेके पश्चात् कल्पान्तकी सहस्रयुगात्मक अवधि पूरी होनेपर प्रकट होते और सृष्टिकार्यमें संलग्न हो परमेष्ठी ब्रह्मा, कपिल, देवगणों, सप्तर्षियों तथा शङ्करकी उत्पत्ति करते हैं ॥

सनत्कुमारं भगवान् मनुं चैव प्रजापतिम् ।
पुरा चक्रेऽथ देवादीन् प्रदीप्ताग्निसमप्रभः ॥

इसी प्रकार भगवान् श्रीहरि सनत्कुमार, मनु एवं प्रजापतिको भी उत्पन्न करते हैं । पूर्वकालमें प्रज्वलित अग्निके समान तेजस्वी नारायणदेवने ही देवताओं आदिकी सृष्टि की है ॥

येन चार्णवमध्यस्थौ नष्टे स्थावरजङ्गमे ।
नष्टदेवासुरनरे प्रणष्टोरगराक्षसे ॥

योद्धुकामौ सुदुर्धर्षौ भ्रातरौ मधुकैटभौ।
हतौ भगवता तेन तयोर्दत्त्वा वृतं वरम्॥

पहलेकी बात है, प्रलयकालमें समस्त चराचर प्राणी, देवता, असुर, मनुष्य, नाग तथा राक्षस सभी नष्ट हो चुके थे। उस समय एकार्णव (महासागर) की जलराशिमें दो अत्यन्त दुर्धर्ष दैत्य रहते थे, जिनके नाम थे मधु और कैटभ। वे दोनों भाई युद्धकी इच्छा रखते थे। उन्हीं भगवान् नारायणने उन्हें मनोवाञ्छित वर देकर उन दोनों दैत्योंका वध किया था॥

भूमिं बद्ध्वा कृतौ पूर्वं मृन्मयौ द्वौ महासुरौ।
कर्णस्रोतोद्भवौ तौ तु विष्णोस्तस्य महात्मनः॥

कहते हैं, वे दोनों महान् असुर महात्मा भगवान् विष्णुके कानोंकी मैलसे उत्पन्न हुए थे। पहले भगवान्ने इस पृथ्वीको आबद्ध करके मिट्टीसे ही उनकी आकृति बनायी थी॥

महार्णवे प्रस्वपतः शैलराजसमौ स्थितौ।
तौ विवेश स्वयं वायुः ब्रह्मणा साधु चोदितः॥

वे पर्वतराज हिमालयके समान विशाल शरीर लिये महासागरके जलमें सो रहे थे। उस समय ब्रह्माजीकी प्रेरणासे स्वयं वायुदेवने उनके भीतर प्रवेश किया॥

तौ दिवं छादयित्वा तु ववृधाते महासुरौ।
वायुप्राणौ तु तौ दृष्ट्वा ब्रह्मा पर्यामृशच्छनैः॥

फिर तो वे दोनों महान् असुर सम्पूर्ण द्युलोकको आच्छादित करके बढ़ने लगे। वायुदेव ही जिनके प्राण थे, उन दोनों असुरोंको देखकर ब्रह्माजीने धीरे-धीरे उनके शरीरपर हाथ फेरा॥

एकं मृदुतरं बुद्ध्वा कठिनं बुध्य चापरम्।
नामनी तु तयोश्चक्रे स विभुः सलिलोद्भवः॥

एकका शरीर उन्हें अत्यन्त कोमल प्रतीत हुआ और दूसरेका अत्यन्त कठोर। तब जलमें उत्पन्न होनेवाले भगवान् ब्रह्माने उन दोनोंका नामकरण किया॥

मृदुस्त्वयं मधुर्नाम कठिनः कैटभः स्वयम्।
तौ दैत्यौ कृतनामानौ चेरतुर्बलगर्वितौ॥

यह जो मृदुल शरीरवाला असुर है, इसका नाम मधु होगा और जिसका शरीर कठोर है, वह कैटभ कहलायेगा। इस प्रकार नाम निश्चित हो जानेपर वे दोनों दैत्य बलसे उन्मत्त होकर सब ओर विचरने लगे॥

तौ पुराथ दिवं सर्वां प्राप्तौ राजन् महासुरौ।
प्रच्छाद्याथ दिवं सर्वां चेरतुर्मधुकैटभौ॥

राजन्! सबसे पहले वे दोनों महादैत्य मधु और कैटभ द्युलोकमें पहुँचे और उस सारे लोकको आच्छादित करके सब ओर विचरने लगे॥

सर्वमेकार्णवं लोकं योद्धुकामौ सुनिर्भयौ।
तौ गतावसुरौ दृष्ट्वा ब्रह्मा लोकपितामहः॥
एकार्णवाम्बुनिचये तत्रैवान्तरधीयत।

उस समय सारा लोक जलमय हो गया था। उसमें युद्धकी कामनासे अत्यन्त निर्भय होकर आये हुए उन दोनों असुरोंको देखकर लोकपितामह ब्रह्माजी वहीं एकार्णवरूप जलराशिमें अन्तर्धान हो गये॥

स पद्मे पद्मनाभस्य नाभिदेशात् समुत्थिते॥
आसीदादौ स्वयंजन्म तत् पङ्कजमपङ्कजम्।
पूजयामास वसतिं ब्रह्मा लोकपितामहः॥

वे भगवान् पद्मनाभ (विष्णु) की नाभिसे प्रकट हुए कमलमें जा बैठे। वह कमल वहाँ पहले ही स्वयं प्रकट हुआ था। कहनेको तो वह पङ्कज था, परंतु पङ्कसे उसकी उत्पत्ति नहीं हुई थी। लोकपितामह ब्रह्माने अपने निवासके लिये उस कमलको ही पसंद किया और उसकी भूरि-भूरि सराहना की॥

तावुभौ जलगर्भस्थौ नारायणचतुर्मुखौ।
बहून् वर्षायुतानप्सु शयानौ न चकम्पतुः॥
अथ दीर्घस्य कालस्य तावुभौ मधुकैटभौ।
आजग्मतुस्तौ तं देशं यत्र ब्रह्मा व्यवस्थितः॥

भगवान् नारायण और ब्रह्मा दोनों ही अनेक सहस्र वर्षोंतक उस जलके भीतर सोते रहे; किंतु कभी तनिक भी कम्पायमान नहीं हुए। तदनन्तर दीर्घकालके पश्चात् वे दोनों असुर मधु और कैटभ उसी स्थानपर आ पहुँचे, जहाँ ब्रह्माजी स्थित थे॥

तौ दृष्ट्वा लोकनाथस्तु कोपात् संरक्तलोचनः।
उत्पपाताथ शयनात् पद्मनाभो महाद्युतिः॥
तद् युद्धमभवद् घोरं तयोस्तस्य च वै तदा।
एकार्णवे तदा घोरे त्रैलोक्ये जलतां गते॥
तदभूत् तुमुलं युद्धं वर्षसङ्घान् सहस्रशः।
न च तावसुरौ युद्धे तदा श्रममवापतुः॥

उन दोनोंको आया देख महातेजस्वी लोकनाथ भगवान् पद्मनाभ अपनी शय्यासे खड़े हो गये। क्रोधसे उनकी आँखें लाल हो गयीं। फिर तो उन दोनोंके साथ उनका बड़ा भयंकर युद्ध हुआ। उस भयानक एकार्णवमें, जहाँ त्रिलोकी जलरूप हो गयी थी, सहस्रों वर्षोंतक उनका वह घमासान युद्ध चलता रहा; परंतु उस समय उस युद्धमें उन दोनों दैत्योंको तनिक भी थकावट नहीं होती थी॥

अथ दीर्घस्य कालस्य तौ दैत्यौ युद्धदुर्मदौ।
ऊचतुः प्रीतमनसौ देवं नारायणं प्रभुम्॥
प्रीतौ स्वस्तव युद्धेन श्लाघ्यस्त्वं मृत्युरावयोः।
आवां जहि न यत्रोर्वी सलिलेन परिप्लुता॥

तत्पश्चात् दीर्घकाल व्यतीत होनेपर वे दोनों रणोन्मत्त दैत्य प्रसन्न होकर सर्वशक्तिमान् भगवान् नारायणसे बोले—सुरश्रेष्ठ! हम दोनों तुम्हारे युद्ध-कौशलसे बहुत प्रसन्न हैं। तुम हमारे लिये स्पृहणीय मृत्यु हो। हमें ऐसी जगह मारो, जहाँकी भूमि पानीमें डूबी हुई न हो॥

हतौ च तव पुत्रत्वं प्राप्नुयाव सुरोत्तम।
यो ह्यावां युधि निर्जेता तस्यावां विहितौ सुतौ॥

तयोः स वचनं श्रुत्वा तदा नारायणः प्रभुः ।
तौ प्रगृह्य मृधे दैत्यौ दोर्भ्यां तौ समपीडयत् ॥
ऊरुभ्यां निधनं चक्रे तावुभौ मधुकैटभौ ।

'तथा मरनेके पश्चात् हम दोनों तुम्हारे पुत्र हों। जो हमें युद्धमें जीत ले, हम उसीके पुत्र हों—ऐसी हमारी इच्छा है।' उनकी बात सुनकर भगवान् नारायणने उन दोनों दैत्योंको युद्धमें पकड़कर उन्हें दोनों हाथोंसे दबाया और मधु तथा कैटभ दोनोंको अपनी जाँघोंपर रखकर मार डाला ॥

तौ हतौ चाप्लुतौ तोये वपुर्भ्यामेकतां गतौ ॥
मेदो मुमुचतुर्दैत्यौ मथ्यमानौ जलोर्मिभिः ।
मेदसा तज्जलं व्याप्तं ताभ्यामन्तर्दधे तदा ॥
नारायणश्च भगवानसृजद् विविधाः प्रजाः ।
दैत्ययोर्मेदसाच्छन्ना सर्वा राजन् वसुन्धरा ॥
तदा प्रभृति कौन्तेय मेदिनीति स्मृता मही ।
प्रभावात् पद्मनाभस्य शाश्वती च कृता नृणाम् ॥

मरनेपर उन दोनोंकी लाशें जलमें डूबकर एक हो गयीं। जलकी लहरोंसे मथित होकर उन दोनों दैत्योंने जो मेद छोड़ा, उससे आच्छादित होकर वहाँका जल अदृश्य हो गया। उसीपर भगवान् नारायणने नाना प्रकारके जीवोंकी सृष्टि की। राजन् कुन्तीकुमार ! उन दोनों दैत्योंके मेदसे सारी वसुधा आच्छादित हो गयी; अतः तभीसे यह मही 'मेदिनी'के नामसे प्रसिद्ध हुई। भगवान् पद्मनाभके प्रभावसे यह मनुष्योंके लिये शाश्वत आधार बन गयी ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[वराह, नृसिंह, वामन, दत्तात्रेय, परशुराम, श्रीराम, श्रीकृष्ण तथा कल्कि अवतारोंकी संक्षिप्त कथा]

भीष्म उवाच

प्रादुर्भावसहस्राणि समतीतान्यनेकशः ।
यथाशक्ति तु वक्ष्यामि शृणु तान् कुरुनन्दन ॥

भीष्मजी कहते हैं—कुरुनन्दन ! भगवान्‌के अबतक कई सहस्र अवतार हो चुके हैं। मैं यहाँ कुछ अवतारोंका यथाशक्ति वर्णन करूँगा। तुम ध्यान देकर उनका वृत्तान्त सुनो ॥

पुरा कमलनाभस्य स्वपतः सागराम्भसि ।
पुष्करे यत्र सम्भूता देवा ऋषिगणैः सह ॥

पूर्वकालमें जब भगवान् पद्मनाभ समुद्रके जलमें शयन कर रहे थे, पुष्करमें उनसे अनेक देवताओं और महर्षियोंका प्रादुर्भाव हुआ ॥

एष पौष्करिको नाम प्रादुर्भावः प्रकीर्तितः ।
पुराणः कथ्यते यत्र वेदश्रुतिसमाहितः ॥

यह भगवान्‌का 'पौष्करिक' (पुष्करसम्बन्धी) पुरातन अवतार कहा गया है, जो वैदिक श्रुतियोंद्वारा अनुमोदित है ॥

वाराहस्तु श्रुतिमुखः प्रादुर्भावो महात्मनः ।
यत्र विष्णुः सुरश्रेष्ठो वाराहं रूपमास्थितः ॥
उज्जहार महीं तोयात् सशैलवनकाननाम् ।

महात्मा श्रीहरिका जो वराह नामक अवतार है, उसमें भी प्रधानतः वैदिक श्रुति ही प्रमाण है। उस अवतारके समय भगवान्‌ने वराहरूप धारण करके पर्वतों और वनोंसहित सारी पृथ्वीको जलसे बाहर निकाला था ॥

वेदपादो यूपदंष्ट्रः क्रतुदन्तश्चितीमुखः ॥
अग्निजिह्वो दर्भरोमा ब्रह्मशीर्षो महातपाः ।

चारों वेद ही भगवान् वराहके चार पैर थे। यूप ही उनकी दाढ़ थे। क्रतु (यज्ञ) ही दाँत और 'चिति' (इष्टिका-चयन) ही मुख थे। अग्नि जिह्वा, कुश रोम तथा ब्रह्म मस्तक थे। वे महान् तपसे सम्पन्न थे ॥

अहोरात्रेक्षणो दिव्यो वेदाङ्गः श्रुतिभूषणः ॥
आज्यनासः स्रुवतुण्डः सामघोषस्वनो महान् ।

दिन और रात ही उनके दो नेत्र थे। उनका स्वरूप दिव्य था। वेदाङ्ग ही उनके विभिन्न अङ्ग थे। श्रुतियाँ ही उनके लिये आभूषणका काम देती थीं। घी उनकी नासिका, स्रुवा उनकी थूथुन और सामवेदका स्वर ही उनकी भीषण गर्जना थी। उनका शरीर बहुत बड़ा था ॥

धर्मसत्यमयः श्रीमान् कर्मविक्रमसत्कृतः ॥
प्रायश्चित्तनखो धीरः पशुजानुर्महावृषः ।

धर्म और सत्य उनका स्वरूप था, वे अलौकिक तेजसे सम्पन्न थे। वे विभिन्न कर्मरूपी विक्रमसे सुशोभित हो रहे थे। प्रायश्चित्त उनके नख थे, वे धीर स्वभावसे युक्त थे, पशु उनके घुटनोंके स्थानमें थे और महान् वृषभ (धर्म) ही उनका श्रीविग्रह था ॥

औद्गात्रहोमलिङ्गोऽसौ फलबीजमहौषधिः ॥
बाह्यान्तरात्मा मन्त्रास्थिविकृतः सौम्यदर्शनः ।

उद्गाताका होमरूप कर्म उनका लिङ्ग था, फल और बीज ही उनके लिये महान् औषध थे, वे बाह्य और आन्तर जगत्‌के आत्मा थे, वैदिक मन्त्र ही उनके शारीरिक अस्थि-विकार थे। देखनेमें उनका स्वरूप बड़ा ही सौम्य था ॥

वेदिस्कन्धो हविर्गन्धो हव्यकव्यादिवेगवान् ॥
प्राग्वंशकायो द्युतिमान् नानादीक्षाभिराचितः ।

यज्ञकी वेदी ही उनके कंधे, हविष्य सुगन्ध और हव्य-कव्य आदि उनके वेग थे। प्राग्वंश (यजमानगृह एवं पत्नीशाला) उनका शरीर कहा गया है। वे महान् तेजस्वी और अनेक प्रकारकी दीक्षाओंसे व्याप्त थे ॥

दक्षिणाहृदयो योगी महाशास्त्रमयो महान् ॥
उपाकर्मोष्ठरुचकः प्रवर्ग्यावर्तभूषणः ।

दक्षिणा उनके हृदयके स्थानमें थी, वे महान् योगी और महान् शास्त्रस्वरूप थे। प्रीतिकारक उपाकर्म उनके ओठ और प्रवर्ग्य कर्म ही उनके रत्नोंके आभूषण थे ॥

छायापत्नीसहायो वै मणिशृङ्ग इवोच्छ्रितः ॥
एवं यज्ञवराहो वै भूत्वा विष्णुः सनातनः ।
महीं सागरपर्यन्तां सशैलवनकाननाम् ॥

एकार्णवजले भ्रष्टामेकार्णवगतः प्रभुः।
मज्जितां सलिले तस्मिन् स्वदेवीं पृथिवीं तदा ॥
उज्जहार विषाणेन मार्कण्डेयस्य पश्यतः।

जलमें पड़नेवाली छाया (परछाईं) ही पत्नीकी भाँति उनकी सहायिका थी। वे मणिमय पर्वत-शिखरकी भाँति ऊँचे जान पड़ते थे। इस प्रकार यज्ञमय वराहरूप धारण करके एकार्णवके जलमें प्रविष्ट हो सर्वशक्तिमान् सनातन भगवान् विष्णुने उस जलमें गिरकर डूबी हुई पर्वत, वन और समुद्रों-सहित अपनी महारानी भूदेवीका (दाढ़ या) सींगकी सहायता-से मार्कण्डेय मुनिके देखते-देखते उद्धार किया ॥

शृङ्गेणेमां समुद्धृत्य लोकानां हितकाम्यया ॥
सहस्रशीर्षो देवो हि निर्ममे जगतीं प्रभुः।

सहस्रों मस्तकोंसे सुशोभित होनेवाले उन भगवान्ने सींग (या दाढ़) के द्वारा सम्पूर्ण जगत्के हितके लिये इस पृथ्वीका उद्धार करके उसे जगत्का एक सुदृढ़ आश्रय बना दिया ॥

एवं यज्ञवराहेण भूतभव्यभवात्मना ॥
उद्धृता पृथिवी देवी सागराम्बुधरा पुरा।
निहता दानवाः सर्वे देवदेवेन विष्णुना ॥

इस प्रकार भूत, भविष्य और वर्तमानस्वरूप भगवान् यज्ञवराहने समुद्रका जल हरण करनेवाली भूदेवीका पूर्वकालमें उद्धार किया था। उस समय उन देवाधिदेव विष्णुने समस्त दानवोंका संहार किया था ॥

वाराहः कथितो ह्येष नारसिंहमथो शृणु।
यत्र भूत्वा मृगेन्द्रेण हिरण्यकशिपुर्हतः ॥

यह वराह-अवतारका वृत्तान्त बतलाया गया। अब नृसिंहावतारका वर्णन सुनो, जिसमें नरसिंहरूप धारण करके भगवान्ने हिरण्यकशिपु नामक दैत्यका वध किया था ॥

दैत्येन्द्रो बलवान् राजन् सुरारिर्बलगर्वितः।
हिरण्यकशिपुर्नाम आसीत् त्रैलोक्यकण्टकः ॥

राजन्! प्राचीनकालमें देवताओंका शत्रु हिरण्यकशिपु समस्त दैत्योंका राजा था। वह बलवान् तो था ही, उसे अपने बलका घमंड भी बहुत था। वह तीनों लोकोंके लिये कण्टकरूप हो रहा था ॥

दैत्यानामादिपुरुषो वीर्यवान् धृतिमान् बली।
प्रविश्य स वनं राजंश्चकार तप उत्तमम् ॥

पराक्रमी हिरण्यकशिपु धीर और बलवान् था। दैत्यकुलका आदिपुरुष वही था। राजन्! उसने वनमें जाकर बड़ी भारी तपस्या की ॥

दशवर्षसहस्राणि शतानि दश पञ्च च।
जलोपवासैस्तस्यासीत् स्थाणुर्मौनव्रतो दृढः ॥

साढ़े ग्यारह हजार वर्षोंतक पूर्वोक्त तपस्याके हेतुभूत जप और उपवासमें संलग्न रहनेसे वह ठूँठे काठके समान निश्चल और दृढ़तापूर्वक मौनव्रतका पालन करनेवाला हो गया॥

ततो दमशमाभ्यां च ब्रह्मचर्येण चानघ।
ब्रह्मा प्रीतमनास्तस्य तपसा नियमेन च ॥

निष्पाप नरेश! उसके इन्द्रियसंयम, मनोनिग्रह, ब्रह्मचर्य, तपस्या तथा शौच-संतोषादि नियमोंके पालनसे ब्रह्माजीके मनमें बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

ततः स्वयम्भूर्भगवान् स्वयमागम्य भूपते।
विमानेनार्कवर्णेन हंसयुक्तेन भास्वता ॥

भूपाल! तदनन्तर स्वयम्भू भगवान् ब्रह्मा हंस जुते हुए सूर्यके समान तेजस्वी विमानद्वारा स्वयं वहाँ पधारे ॥

आदित्यैर्वसुभिः साध्यैः मरुद्भिर्दैवतैः सह।
रुद्रैर्विश्वसहायैश्च यक्षराक्षसकिंनरैः ॥
दिशाभिर्विदिशाभिश्च नदीभिः सागरैस्तथा।
नक्षत्रैश्च मुहूर्तैश्च खेचरैश्चापरैर्ग्रहैः ॥
देवर्षिभिस्तपोयुक्तैः सिद्धैः सप्तर्षिभिस्तथा।
राजर्षिभिः पुण्यतमैर्गन्धर्वैरप्सरोगणैः ॥

उनके साथ आदित्य, वसु, साध्य, मरुद्गण, देवगण, रुद्रगण, विश्वेदेव, यक्ष, राक्षस, किंनर, दिशा, विदिशा, नदी, समुद्र, नक्षत्र, मुहूर्त, अन्यान्य आकाशचारी ग्रह, तपस्वी, देवर्षि, सिद्ध, सप्तर्षि, पुण्यात्मा राजर्षि, गन्धर्व तथा अप्सराएँ भी थीं॥

चराचरगुरुः श्रीमान् वृतः सर्वसुरैस्तथा।
ब्रह्मा ब्रह्मविदां श्रेष्ठो दैत्यमागम्य चाब्रवीत् ॥

सम्पूर्ण देवताओंसे घिरे हुए ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ चराचर-गुरु श्रीमान् ब्रह्मा उस दैत्यके पास आकर बोले ॥



ब्रह्मोवाच

प्रीतोऽस्मि तव भक्तस्य तपसानेन सुव्रत।
वरं वरय भद्रं ते यथेष्टं काममाप्नुहि ॥

ब्रह्माजीने कहा—उत्तम व्रतका पालन करनेवाले दैत्यराज! तुम मेरे भक्त हो। तुम्हारी इस तपस्यासे मैं बहुत प्रसन्न हूँ। तुम्हारा भला हो। तुम कोई वर माँगो और मनोवाञ्छित वस्तु प्राप्त करो ॥

हिरण्यकशिपुरुवाच

न देवासुरगन्धर्वा न यक्षोरगराक्षसाः।
न मानुषाः पिशाचाश्च हन्युर्मां देवसत्तम ॥

हिरण्यकशिपु बोला—सुरश्रेष्ठ! मुझे देवता, असुर, गन्धर्व, यक्ष, नाग, राक्षस, मनुष्य और पिशाच—कोई भी न मार सके ॥

ऋषयो वा न मां शापैः क्रुद्धा लोकपितामह।
शपेयुस्तपसा युक्ता वर एष वृतो मया ॥

लोकपितामह! तपस्वी ऋषि-महर्षि कुपित होकर मुझे शाप भी न दें यही वर मैंने माँगा है ॥

न शस्त्रेण न चास्त्रेण गिरिणा पादपेन च।
न शुष्केण न चार्द्रेण स्याद् वान्येन मे वधः ॥

न शस्त्रसे, न अस्त्रसे, न पर्वतसे, न वृक्षसे, न सूखेसे, न

गीलेसे और न दूसरे ही किसी आयुधसे मेरा वध हो ॥

नाकाशे वा न भूमौ वा रात्रौ वा दिवसेऽपि वा।
नान्तर्वा न बहिर्वापि स्याद् वधो मे पितामह ॥

पितामह! न आकाशमें, न पृथ्वीपर, न रातमें, न दिनमें तथा न बाहर और न भीतर ही मेरा वध हो सके ॥

पशुभिर्वा मृगैर्न स्यात् पक्षिभिर्वा सरीसृपैः।
ददासि चेद् वरानेतान् देवदेव वृणोम्यहम् ॥

पशु या मृग, पक्षी अथवा सरीसृप (सर्प-बिच्छू) आदिसे भी मेरी मृत्यु न हो। देवदेव! यदि आप वर दे रहे हैं तो मैं इन्हीं वरोंको लेना चाहता हूँ ॥

ब्रह्मोवाच

एते दिव्या वरास्तात मया दत्तास्तवाद्भुताः।
सर्वकामान् वरांस्तात प्राप्स्यसे त्वं न संशयः ॥

ब्रह्माजीने कहा—तात! ये दिव्य और अद्भुत वर मैंने तुम्हें दे दिये। वत्स! इसमें संशय नहीं कि सम्पूर्ण कामनाओंसहित इन मनोवाञ्छित वरोंको तुम अवश्य प्राप्त कर लोगे ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवानाकाशेन जगाम ह।
रराज ब्रह्मलोके स ब्रह्मर्षिगणसेवितः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ऐसा कहकर भगवान् ब्रह्मा आकाशमार्गसे चले गये और ब्रह्मलोकमें जाकर ब्रह्मर्षिगणोंसे सेवित होकर अत्यन्त शोभा पाने लगे ॥

ततो देवाश्च नागाश्च गन्धर्वा मुनयस्तथा।
वरप्रदानं श्रुत्वा ते ब्रह्माणमुपतस्थिरे ॥

तदनन्तर देवता, नाग, गन्धर्व और मुनि उस वरदानका समाचार सुनकर ब्रह्माजीकी सभामें उपस्थित हुए ॥

देवा ऊचुः

वरेणानेन भगवन् बाधिष्यति स नोऽसुरः।
तत् प्रसीदस्व भगवन् वधोऽस्य प्रविचिन्त्यताम् ॥

देवता बोले—भगवन्! इस वरके प्रभावसे वह असुर हमलोगोंको बहुत कष्ट देगा, अतः आप प्रसन्न होइये और उसके वधका कोई उपाय सोचिये ॥

भवान् हि सर्वभूतानां स्वयम्भूरादिकृद् विभुः।
स्रष्टा च हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्ध्रुवः ॥

क्योंकि आप ही सम्पूर्ण भूतोंके आदिस्रष्टा, स्वयम्भू, सर्वव्यापी, हव्य-कव्यके निर्माता तथा अव्यक्त प्रकृति और ध्रुवस्वरूप हैं ॥

भीष्म उवाच

ततो लोकहितं वाक्यं श्रुत्वा देवः प्रजापतिः।
प्रोवाच भगवान् वाक्यं सर्वान् देवगणांस्तदा ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! देवताओंका यह लोकहितकारी वचन सुनकर दिव्यशक्तिसम्पन्न भगवान् प्रजापतिने उन सब देवगणोंसे इस प्रकार कहा ॥

ब्रह्मोवाच

अवश्यं त्रिदशास्तेन प्राप्तव्यं तपसः फलम्।
तपसोऽन्ते ऽस्य भगवान् वधं कृष्णः करिष्यति ॥

ब्रह्माजीने कहा—देवताओ! उस असुरको अपनी तपस्याका फल अवश्य प्राप्त होगा। फलभोगके द्वारा जब तपस्याकी समाप्ति हो जायगी, तब भगवान् विष्णु स्वयं ही उसका वध करेंगे ॥

भीष्म उवाच

एतच्छ्रुत्वा सुराः सर्वे ब्रह्मणा तस्य वै वधम्।
स्वानि स्थानानि दिव्यानि जग्मुस्ते वै मुदान्विताः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! ब्रह्माजीके द्वारा इस प्रकार उसके वधकी बात सुनकर सब देवता प्रसन्नतापूर्वक अपने दिव्य धामको चले गये ॥

लब्धमात्रे वरे चापि सर्वास्ता बाधते प्रजाः।
हिरण्यकशिपुर्दैत्यो वरदानेन दर्पितः ॥

दैत्य हिरण्यकशिपु ब्रह्माजीका वर पाते ही समस्त प्रजाको कष्ट पहुँचाने लगा। वरदानसे उसका घमण्ड बहुत बढ़ गया था ॥

राज्यं चकार दैत्येन्द्रो दैत्यसङ्घैः समावृतः।
सप्त द्वीपान् वशे चक्रे लोकान् लोकान्तरान् बलात् ॥

वह दैत्योंका राजा होकर राज्य भोगने लगा। झुंड-के-झुंड दैत्य उसे घेरे रहते थे। उसने सातों द्वीपों और अनेक लोक-लोकान्तरोंको बलपूर्वक अपने वशमें कर लिया ॥

दिव्यलोकान् समस्तान् वै भोगान् दिव्यानवाप सः।
देवांस्त्रिभुवनस्थांस्तान् पराजित्य महासुरः ॥

उस महान् असुरने तीनों लोकोंमें रहनेवाले समस्त देवताओंको जीतकर सम्पूर्ण दिव्य लोकों और वहाँके दिव्य भोगोंपर अधिकार प्राप्त कर लिया ॥

त्रैलोक्यं वशमानीय स्वर्गे वसति दानवः।
यदा वरमदोन्मत्तो न्यवसद् दानवो दिवि ॥

इस प्रकार तीनों लोकोंको अपने अधीन करके वह दैत्य स्वर्गलोकमें निवास करने लगा। वरदानके मदसे उन्मत्त हो दानव हिरण्यकशिपु देवलोकका निवासी बन बैठा ॥

अथ लोकान् समस्तांश्च विजित्य स महासुरः।
भवेयमहमेवेन्द्रः सोमोऽग्निर्मारुतो रविः ॥
सलिलं चान्तरिक्षं च नक्षत्राणि दिशो दश।
अहं क्रोधश्च कामश्च वरुणो वसवोऽर्यमा ॥
धनदश्च धनाध्यक्षो यक्षः किम्पुरुषाधिपः।
एते भवेयमित्युक्त्वा स्वयं भूत्वा बलात् स च ॥

तदनन्तर वह महान् असुर अन्य समस्त लोकोंको जीतकर यह सोचने लगा कि मैं ही इन्द्र हो जाऊँ, चन्द्रमा, अग्नि, वायु, सूर्य, जल, आकाश, नक्षत्र, दसों दिशाएँ, क्रोध, काम, वरुण, वसुगण, अर्यमा, धन देनेवाले धनाध्यक्ष, यक्ष और किम्पुरुषोंका स्वामी—ये सब मैं ही हो जाऊँ।

देख सोचकर उसने स्वयं ही बलपूर्वक उन-उन पदोंपर अधिकार जमा लिया ॥

तेषां गृहीत्वा स्थानानि तेषां कार्याण्यवाप सः।
इत्यश्चासीन्मखवरैः स तैर्देवर्षिसत्तमैः ॥
नरकस्थान् समानीय स्वर्गस्थांस्तांश्चकार सः।
एवमादीनि कर्माणि कृत्वा दैत्यपतिर्बली ॥
आश्रमेषु महाभागान् मुनीन् वै संशितव्रतान्।
सत्यधर्मपरान् दान्तान् पुरा धर्षितवांश्च सः ॥

उनके स्थान ग्रहण करके उन सबके कार्य वह स्वयं देखने लगा। उत्तम देवर्षिगण श्रेष्ठ यज्ञोंद्वारा जिन देवताओंका यजन करते थे, उन सबके स्थानपर वह स्वयं ही यज्ञभागका अधिकारी बन बैठा। नरकमें पड़े हुए सब जीवोंको वहाँसे निकालकर उसने स्वर्गका निवासी बना दिया। बलवान् दैत्यराजने ये सब कार्य करके मुनियोंके आश्रमोंपर धावा किया और कठोर व्रतका पालन करनेवाले, सत्यधर्मपरायण एवं जितेन्द्रिय महाभाग मुनियोंको सताना आरम्भ किया ॥

यज्ञीयान् कृतवान् दैत्यानयज्ञीयांश्च देवताः।
यत्र यत्र सुरा जग्मुस्तत्र तत्र व्रजत्युत ॥
स्थानानि देवतानां तु हृत्वा राज्यमपालयत्।

उसने दैत्योंको यज्ञका अधिकारी बनाया और देवताओंको उस अधिकारसे वञ्चित कर दिया। जहाँ-जहाँ देवता जाते थे, वहाँ-वहाँ वह उनका पीछा करता था। देवताओंके सारे स्थान हड़पकर वह स्वयं ही त्रिलोकीके राज्यका पालन करने लगा ॥

पञ्च कोट्यश्च वर्षाणि नियुतान्येकषष्टि च ॥
षष्टिश्चैव सहस्राणां जग्मुस्तस्य दुरात्मनः।
एतद् वर्षं स दैत्येन्द्रो भोगैश्वर्यमवाप सः ॥

उस दुरात्माके राज्य करते पाँच करोड़ इकसठ लाख साठ हजार वर्ष व्यतीत हो गये। इतने वर्षोंतक दैत्यराज हिरण्यकशिपुने दिव्य भोगों और ऐश्वर्यका उपभोग किया ॥

तेनातिबाध्यमानास्ते दैत्येन्द्रेण बलीयसा।
ब्रह्मलोकं सुरा जग्मुः सर्वे शक्रपुरोगमाः ॥
पितामहं समासाद्य खिन्नाः प्राञ्जलयोऽब्रुवन्।

महाबली दैत्यराज हिरण्यकशिपुके द्वारा अत्यन्त पीड़ित हो इन्द्र आदि सब देवता ब्रह्मलोकमें गये और ब्रह्माजीके पास पहुँचकर खेदग्रस्त हो हाथ जोड़कर बोले ॥

देवा ऊचुः

भगवन् भूतभव्येश नस्त्रायस्व इहागतान्।
भयं दितिसुताद् घोरं भयत्यद्य दिवानिशम् ॥

देवताओंने कहा—भूत, वर्तमान और भविष्यके स्वामी भगवान् पितामह! हम यहाँ आपकी शरणमें आये हैं। आप हमारी रक्षा कीजिये। अब हमें उस दैत्यसे दिन-रात घोर भयकी प्राप्ति हो रही है ॥

भगवन् सर्वभूतानां स्वयम्भूरादिकृद् विभुः।
स्रष्टा त्वं हव्यकव्यानामव्यक्तप्रकृतिर्ध्रुवः ॥

भगवन्! आप सम्पूर्ण भूतोंके आदिस्रष्टा, स्वयम्भू, सर्वव्यापी, हव्य-कव्योंके निर्माता, अव्यक्त प्रकृति एवं नित्यस्वरूप हैं ॥

ब्रह्मोवाच

श्रूयतामापदेवं हि दुर्विज्ञेया मयापि च।
नारायणस्तु पुरुषो विश्वरूपो महाद्युतिः ॥
अव्यक्तः सर्वभूतानामचिन्त्यो विभुरव्ययः।

ब्रह्माजी बोले—देवताओ! सुनो, ऐसी विपत्तिको समझना मेरे लिये भी अत्यन्त कठिन है। अन्तर्यामी भगवान् नारायण ही हमारी सहायता कर सकते हैं। वे विश्वरूप, महातेजस्वी, अव्यक्तस्वरूप, सर्वव्यापी, अविनाशी तथा सम्पूर्ण भूतोंके लिये अचिन्त्य हैं ॥

ममापि स तु युष्माकं व्यसने परमागतिः ॥
नारायणः परोऽव्यक्तादहमव्यक्तसम्भवः।

संकटकालमें मेरे और तुम्हारे वे ही परम गति हैं। भगवान् नारायण अव्यक्तसे परे हैं और मेरा आविर्भाव अव्यक्तसे हुआ है ॥

मत्तो जज्ञुः प्रजा लोकाः सर्वे देवासुराश्च ते ॥
देवा यथाहं युष्माकं तथा नारायणो मम।
पितामहोऽहं सर्वस्य स विष्णुः प्रपितामहः ॥
तमिमं विबुधा दैत्यं स विष्णुः संहरिष्यति।
तस्य नास्ति ह्यशक्यं च तस्माद् व्रजत मा चिरम् ॥

मुझसे समस्त प्रजा, सम्पूर्ण लोक तथा देवता और असुर भी उत्पन्न हुए हैं। देवताओ! जैसे मैं तुमलोगोंका जनक हूँ, उसी प्रकार भगवान् नारायण मेरे जनक हैं। मैं सबका पितामह हूँ और वे भगवान् विष्णु प्रपितामह हैं। देवताओ! इस हिरण्यकशिपु नामक दैत्यका वे विष्णु ही संहार करेंगे। उनके लिये कुछ भी असम्भव नहीं है, अतः सब लोग उन्हींकी शरणमें जाओ, विलम्ब न करो ॥

भीष्म उवाच

पितामहवचः श्रुत्वा सर्वे ते भरतर्षभ।
विबुधा ब्रह्मणा सार्धं जग्मुः क्षीरोदधिं प्रति ॥

भीष्मजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! पितामह ब्रह्माका यह वचन सुनकर सब देवता उनके साथ ही क्षीरसमुद्रके तटपर गये ॥

आदित्या मरुतः साध्या विश्वे च वसवस्तथा।
रुद्रा महर्षयश्चैव अश्विनौ च सुरूपिणौ ॥
अन्ये च दिव्या ये राजंस्ते सर्वे सगणाः सुराः।
चतुर्मुखं पुरस्कृत्य श्वेतद्वीपमुपस्थिताः ॥

आदित्य, मरुद्गण, साध्य, विश्वेदेव, वसु, रुद्र, महर्षि, सुन्दर रूपवाले अश्विनीकुमार तथा अन्यान्य जो दिव्य योनिके पुरुष हैं, वे सब अर्थात् अपने गणोंसहित समस्त देवता

चतुर्मुख ब्रह्माजीको आगे करके श्वेतद्वीपमें उपस्थित हुए ॥

गत्वा क्षीरसमुद्रं तं शाश्वतीं परमां गतिम् ।
अनन्तशयनं देवमनन्तं दीप्ततेजसम् ॥
शरण्यं त्रिदशा विष्णुमुपतस्थुः सनातनम् ।
देवं ब्रह्ममयं यज्ञं ब्रह्मदेवं महाबलम् ॥
भूतं भव्यं भविष्यच्च प्रभुं लोकनमस्कृतम् ।
नारायणं विभुं देवं शरण्यं शरणं गताः ॥

क्षीरसमुद्रके तटपर पहुँचकर सब देवता अनन्त नामक शेषनागकी शय्यापर शयन करनेवाले अनन्त एवं उद्दीप्त तेजसे प्रकाशमान उन शरणागतवत्सल सनातन देवता श्रीविष्णुके सम्मुख उपस्थित हुए, जो सबके सनातन परम गति हैं। वे प्रभु देवस्वरूप, वेदमय, यज्ञरूप, ब्राह्मणको देवता माननेवाले, महान् बल और पराक्रमके आश्रय, भूत, वर्तमान और भविष्यरूप, सर्वसमर्थ, विश्ववन्दित, सर्वव्यापी, दिव्य शक्तिसम्पन्न तथा शरणागतरक्षक हैं। वे सब देवता उन्हीं भगवान् नारायणकी शरणमें गये ॥

देवा ऊचुः

त्रायस्व नोऽद्य देवेश हिरण्यकशिपोर्वधात् ।
त्वं हि नः परमो धाता ब्रह्मादीनां सुरोत्तम ॥

देवता बोले—देवेश्वर ! आज आप हिरण्यकशिपुका वध करके हमारी रक्षा कीजिये। सुरश्रेष्ठ ! आप ही हमारे और ब्रह्मा आदिके भी धारण-पोषण करनेवाले परमेश्वर हैं ॥

उत्फुल्लपद्मपत्राक्ष शत्रुपक्षभयङ्कर ।
क्षयाय दितिवंशस्य शरण्यस्त्वं भवाद्य नः ॥

खिले हुए कमलदलके समान नेत्रोंवाले नारायण ! आप शत्रुपक्षको भय प्रदान करनेवाले हैं। प्रभो ! आज आप दैत्योंका विनाश करनेके लिये उद्यत हो हमारे शरणदाता होइये ॥

भीष्म उवाच

देवानां वचनं श्रुत्वा तदा विष्णुः शुचिश्रवाः ।
अदृश्यः सर्वभूतानां वक्तुमेवोपचक्रमे ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवताओंकी यह बात सुनकर पवित्र कीर्तिवाले भगवान् विष्णुने उस समय सम्पूर्ण भूतोंसे अदृश्य रहकर बोलना आरम्भ किया ॥

श्रीभगवानुवाच

भयं त्यजध्वममरा अभयं वो ददाम्यहम् ।
तदेवं त्रिदिवं देवाः प्रतिपद्यत मा चिरम् ॥

श्रीभगवान् बोले—देवताओ ! भय छोड़ दो। मैं तुम्हें अभय देता हूँ। देवगण ! तुमलोग अविलम्ब स्वर्गलोकमें जाओ और पहलेकी ही भाँति वहाँ निर्भय होकर रहो ।

एषोऽहं सगणं दैत्यं वरदानेन दर्पितम् ।
अवध्यममरेन्द्राणां दानवेन्द्रं निहन्म्यहम् ।

मैं वरदान पाकर घमंडमें भरे हुए दानवराज हिरण्यकशिपुको, जो देवेश्वरोंके लिये भी अवध्य हो रहा है, सेवकोंसहित अभी मार डालता हूँ ॥

ब्रह्मोवाच

भगवन् भूतभव्येश खिन्ना ह्येते भृशं सुराः ।
तस्मात् त्वं जहि दैत्येन्द्रं क्षिप्रं कालोऽस्य मा चिरम् ।

ब्रह्माजीने कहा—भूत, भविष्य और वर्तमानके स्वामी नारायण ! ये देवता बहुत दुखी हो गये हैं, अतः दैत्यराज हिरण्यकशिपुको शीघ्र मार डालिये। उसकी मृत्युका समय आ गया है, इसमें विलम्ब नहीं होना चाहिये ॥

श्रीभगवानुवाच

क्षिप्रं देवाः करिष्यामि त्वरया दैत्यनाशनम् ।
तस्मात् त्वं विबुधाश्चैव प्रतिपद्यत वै दिवम् ॥

श्रीभगवान् बोले— ब्रह्मा तथा देवताओ ! मैं शीघ्र ही उस दैत्यका नाश करूँगा, अतः तुम सब लोग अपने-अपने दिव्यलोकमें जाओ ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् विसृज्य त्रिदिवेश्वरान् ।
नरस्यार्धतनुं कृत्वा सिंहस्यार्धतनुं तथा ॥
नारसिंहेन वपुषा पाणिं निष्पिष्य पाणिना ।
भीमरूपो महातेजा व्यादितास्य इवान्तकः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! ऐसा कहकर भगवान् विष्णुने देवेश्वरोंको विदा करके आधा शरीर मनुष्यका और आधा सिंहका-सा बनाकर नरसिंहविग्रह धारण करके एक हाथसे दूसरे हाथको रगड़ते हुए बड़ा भयंकर रूप बना लिया। वे महातेजस्वी नरसिंह मुँह बाये हुए कालके समान जान पड़ते थे ॥

हिरण्यकशिपुं राजन् जगाम हरिरीश्वरः ।
दैत्यास्तमागतं दृष्ट्वा नारसिंहं महाबलम् ॥
ववर्षुः शस्त्रवर्षैस्ते सुसंक्रुद्धास्तदा हरिम् ।

राजन् ! तदनन्तर भगवान् विष्णु हिरण्यकशिपुके पास गये। नृसिंहरूपधारी महाबली भगवान् श्रीहरिको आया देख दैत्योंने कुपित होकर उनपर अस्त्र-शस्त्रोंकी वर्षा आरम्भ की ॥

तैर्विसृष्टानि शस्त्राणि भक्षयामास वै हरिः ।
जघान च रणे दैत्यान् सहस्राणि बहून्यपि ।

उनके द्वारा चलाये हुए सभी शस्त्रोंको भगवान् खा गये, साथ ही उन्होंने उस युद्धमें कई हजार दैत्योंका संहार कर डाला ॥

तान् निहत्य च दैत्येन्द्रान् सर्वान् क्रुद्धान् महाबलान् ।
अभ्यधावत् सुसंक्रुद्धो दैत्येन्द्रं बलगर्वितम् ।

क्रोधमें भरे हुए उन सभी महाबलवान् दैत्येश्वरोंका विनाश करके अत्यन्त कुपित हो भगवान्ने दैत्यराज हिरण्यकशिपुपर धावा किया ॥

जीमूतघनसंकाशो जीमूतघननिस्वनः ।
जीमूत इव दीप्तौजा जीमूत इव वेगवान् ।

भगवान् नृसिंहकी अङ्गकान्ति मेघोंकी घटाके समान श्याम थी। वे मेघोंकी गर्जनाके समान

रहे थे। उनका उद्दीप्त तेज भी मेघोंके ही समान शोभा पाता था और वे मेघोंके ही समान महान् वेगशाली थे ॥

दैत्यारिर्दितिजो दुष्टो नृसिंहं समुपाद्रवत् ॥

भगवान् नृसिंहको आया देख देवताओंसे द्वेष रखनेवाला दुष्ट दैत्य हिरण्यकशिपु उनकी ओर दौड़ा ॥

दैत्यं सोऽतिबलं दृष्ट्वा क्रुद्धशार्दूलविक्रमम् ।
दीप्तैर्दैत्यगणैर्गुप्तं खरैर्नखमुखैरुत ॥
ततः कृत्वा तु युद्धं वै तेन दैत्येन वै हरिः ।

कुपित सिंहके समान पराक्रमी उस अत्यन्त बलशाली, दर्पयुक्त एवं दैत्यगणोंसे सुरक्षित दैत्यको सामने आया देख महातेजस्वी भगवान् नृसिंहने नखोंके तीखे अग्रभागोंके द्वारा उस दैत्यके साथ घोर युद्ध किया ॥

संध्याकाले महातेजाः प्रघाणे च त्वरान्वितः ॥
ऊरौ निधाय दैत्येन्द्रं निर्बिभेद नखैर्हि तम् ।

फिर संध्याकाल आनेपर बड़ी उतावलीके साथ उसे पकड़कर वे राजभवनकी देहलीपर बैठ गये। तदनन्तर उन्होंने अपनी जाँघोंपर दैत्यराजको रखकर नखोंसे उसका वक्षःस्थल विदीर्ण कर डाला ॥

महाबलं महावीर्यं वरदानेन दर्पितम् ॥
दैत्यश्रेष्ठं सुरश्रेष्ठो जघान तरसा हरिः ।

सुरश्रेष्ठ श्रीहरिने वरदानसे घमंडमें भरे हुए महाबली महापराक्रमी दैत्यराजको बड़े वेगसे मार डाला ॥

हिरण्यकशिपुं हत्वा सर्वदैत्यांश्च वै तदा ॥
विबुधानां प्रजानां च हितं कृत्वा महाद्युतिः ।
प्रमुमोद हरिर्देवः स्थाप्य धर्मं तदा भुवि ॥

इस प्रकार हिरण्यकशिपु तथा उसके अनुयायी सब दैत्योंका संहार करके महातेजस्वी भगवान् श्रीहरिने देवताओं तथा प्रजाजनोंका हितसाधन किया और इस पृथ्वीपर धर्मकी स्थापना करके वे बड़े प्रसन्न हुए ॥

एष ते नारसिंहोऽत्र कथितः पाण्डुनन्दन ।
शृणु त्वं वामनं नाम प्रादुर्भावं महात्मनः ॥

पाण्डुनन्दन ! यह मैंने तुम्हें संक्षेपसे नृसिंहावतारकी कथा सुनायी है। अब तुम परमात्मा श्रीहरिके वामन-अवतारका वृत्तान्त सुनो ॥

पुरा त्रेतायुगे राजन् बलिर्वैरोचनोऽभवत् ।
दैत्यानां पार्थिवो वीरो बलेनाप्रतिमो बली ॥

राजन् ! प्राचीन त्रेतायुगकी बात है; विरोचनकुमार बलि दैत्योंके राजा थे। बलमें उनके समान दूसरा कोई नहीं था। बलि अत्यन्त बलवान् होनेके साथ ही महान् वीर भी थे ॥

तदा बलिर्महाराज दैत्यसङ्घैः समावृतः ।
विजित्य तरसा शक्रमिन्द्रस्थानमवाप सः ॥

महाराज ! दैत्यसमूहसे घिरे हुए बलिने बड़े वेगसे इन्द्रपर आक्रमण किया और उन्हें जीतकर इन्द्रलोकपर अधिकार प्राप्त कर लिया ॥

तेन वित्रासिता देवा बलिनाऽऽखण्डलादयः ।
ब्रह्माणं तु पुरस्कृत्य गत्वा क्षीरोदधिं तदा ॥
तुष्टुवुः सहिताः सर्वे देवं नारायणं प्रभुम् ।

राजा बलिके आक्रमणसे अत्यन्त त्रस्त हुए इन्द्र आदि देवता ब्रह्माजीको आगे करके क्षीरसागरके तटपर गये और सबने मिलकर देवाधिदेव भगवान् नारायणका स्तवन किया ॥

स तेषां दर्शनं चक्रे विबुधानां हरिः स्तुतः ॥
प्रसादजं ह्यस्य विभोरदित्यां जन्म चोच्यते ।

देवताओंके स्तुति करनेपर श्रीहरिने उन्हें दर्शन दिया और कहा जाता है, उनपर कृपाप्रसाद करनेके फलस्वरूप भगवान्का अदितिके गर्भसे प्रादुर्भाव हुआ ॥

अदितेरपि पुत्रत्वमेत्य यादवनन्दनः ॥
एष विष्णुरिति ख्यात इन्द्रस्यावरजोऽभवत् ।

जो इस समय यदुकुलको आनन्दित कर रहे हैं, ये ही भगवान् श्रीकृष्ण पहले अदितिके पुत्र होकर इन्द्रके छोटे भाई विष्णु (या उपेन्द्र) के नामसे विख्यात हुए ॥

तस्मिन्नेव च काले तु दैत्येन्द्रो वीर्यवान् बलिः ॥
अश्वमेधं क्रतुश्रेष्ठमाहर्तुमुपचक्रमे ।

उन्हीं दिनों महापराक्रमी दैत्यराज बलिने क्रतुश्रेष्ठ अश्वमेधके अनुष्ठानकी तैयारी आरम्भ की ॥

वर्तमाने तदा यज्ञे दैत्येन्द्रस्य युधिष्ठिर ॥
स विष्णुर्वामनो भूत्वा प्रच्छन्नो ब्रह्मवेषधृक् ।
मुण्डो यज्ञोपवीती च कृष्णाजिनधरः शिखी ॥
पलाशदण्डं संगृह्य वामनोऽद्भुतदर्शनः ।
प्रविश्य स बलेर्यज्ञे वर्तमाने तु दक्षिणाम् ॥
देहीत्युवाच दैत्येन्द्रं विक्रमांस्त्रीन् ममैव ह ।

युधिष्ठिर ! जब दैत्यराजका यज्ञ आरम्भ हो गया, उस समय भगवान् विष्णु ब्राह्मणवेषधारी वामन ब्रह्मचारीके रूपमें अपनेको छिपाकर सिर मुँड़ाये, यज्ञोपवीत, काला मृगचर्म और शिखा धारण किये, हाथमें पलाशका डंडा लिये उस यज्ञमें गये। उस समय भगवान् वामनकी अद्भुत शोभा दिखायी देती थी। बलिके वर्तमान यज्ञमें प्रवेश करके उन्होंने दैत्यराजसे कहा—'मुझे तीन पग भूमि दक्षिणारूपमें दीजिये' ॥

दीयतां त्रिपदीमात्रमित्ययाचन्महासुरम् ॥
स तथेति प्रतिश्रुत्य प्रददौ विष्णवे तदा ।

'केवल तीन पग भूमि मुझे दे दीजिये' ऐसा कहकर उन्होंने महान् असुर बलिसे याचना की। बलिने भी 'तथास्तु' कहकर श्रीविष्णुको भूमि दे दी ॥

तेन लब्ध्वा हरिर्भूमिं जृम्भयामास वै भृशम् ।
स शिशुः सदिवं खं च पृथिवीं च विशाम्पते ॥
त्रिभिर्विक्रमणैरेतत् सर्वमाक्रमताभिभूः ।
बलेर्बलवतो यज्ञे बलिना विष्णुना पुरा ॥
विक्रमैस्त्रिभिरक्षोभ्याः क्षोभितास्ते महासुराः ।

बलिसे वह भूमि पाकर भगवान् विष्णु बड़े वेगसे बढ़ने लगे। राजन्! वे पहले तो बालक-जैसे लगते थे; किंतु उन्होंने बढ़कर तीन ही पगोंमें स्वर्ग, आकाश और पृथ्वी—सबको माप लिया। इस प्रकार बलवान् राजा बलिके यज्ञमें जब महाबली भगवान् विष्णुने केवल तीन पगोंद्वारा त्रिलोकीको नाप लिया, तब किसीसे भी क्षुब्ध न किये जा सकनेवाले महान् असुर क्षुब्ध हो उठे॥

विप्रचित्तिमुखाः क्रुद्धा दैत्यसङ्घा महाबलाः॥
नानावक्त्रा महाकाया नानावेषधरा नृप।

राजन्! उनमें विप्रचित्ति आदि दानव प्रधान थे। क्रोधमें भरे हुए उन महाबली दैत्योंके समुदाय अनेक प्रकारके वेष धारण किये वहाँ उपस्थित थे। उनके मुख अनेक प्रकारके दिखायी देते थे। वे सब-के-सब विशालकाय थे॥

नानाप्रहरणा रौद्रा नानामाल्यानुलेपनाः॥
स्वान्यायुधानि संगृह्य प्रदीप्ता इव तेजसा।
क्रममाणं हरिं तत्र उपावर्तन्त भारत॥

उनके हाथोंमें भाँति-भाँतिके अस्त्र-शस्त्र थे। उन्होंने विविध प्रकारकी मालाएँ तथा चन्दन धारण कर रक्खे थे। वे देखनेमें बड़े भयंकर थे और तेजसे मानो प्रज्वलित हो रहे थे। भरतनन्दन! जब भगवान् विष्णुने तीनों लोकोंको नापना आरम्भ किया, उस समय सभी दैत्य अपने अपने आयुध लेकर उन्हें चारों ओरसे घेरकर खड़े हो गये॥

प्रमथ्य सर्वान् दैतेयान् पादहस्ततलैस्तु तान्।
रूपं कृत्वा महाभीमं जहाराशु स मेदिनीम्॥
सम्प्राप्य पादमाकाशमादित्यसदने स्थितः।
अत्यरोचत भूतात्मा भास्करं स्वेन तेजसा॥

भगवान्ने महाभयंकर रूप धारण करके उन सब दैत्योंको लातों-थप्पड़ोंसे मारकर भूमण्डलका सारा राज्य उनसे शीघ्र छीन लिया। उनका एक पैर आकाशमें पहुँचकर आदित्य-मण्डलमें स्थित हो गया। भूतात्मा भगवान् श्रीहरि उस समय अपने तेजसे सूर्यकी अपेक्षा बहुत बढ़-चढ़कर प्रकाशित हो रहे थे॥

प्रकाशयन् दिशः सर्वाः प्रदिशश्च महाबलः।
शुशुभे स महाबाहुः सर्वलोकान् प्रकाशयन्॥
तस्य विक्रमतो भूमिं चन्द्रादित्यौ स्तनान्तरे।
नभः प्रक्रममाणस्य नाभ्यां किल तदा स्थितौ।

महाबली महाबाहु भगवान् विष्णु सम्पूर्ण दिशाओं-विदिशाओंतथा समस्त लोकोंको प्रकाशित करते हुए बड़ी शोभा पा रहे थे। जिस समय वे वसुधाको अपने पैरोंसे माप रहे थे, उस समय वे इतने बढ़े कि चन्द्रमा और सूर्य उनकी छातीके सामने आ गये थे। जब वे आकाशको लाँघने लगे, तब वे ही चन्द्रमा और सूर्य उनके नाभिदेशमें आ गये॥

परमाक्रममाणस्य जानुभ्यां तौ व्यवस्थितौ॥
विष्णोरमितवीर्यस्य वदन्त्येवं द्विजातयः।
अथासाद्य कपालं स अण्डस्य तु युधिष्ठिर॥
तच्छिद्रात् स्यन्दिनी तस्य पादाद् भ्रष्टा तु निम्नगा।
ससार सागरं साऽऽशु पावनी सागरङ्गमा॥

जब वे आकाश या स्वर्गलोकसे भी ऊपरको पैर बढ़ाने लगे, उस समय उनका रूप इतना विशाल हो गया कि सूर्य और चन्द्रमा उनके घुटनोंमें स्थित दिखायी देने लगे। इस प्रकार ब्राह्मणलोग अमितपराक्रमी भगवान् विष्णुके उस विशाल रूपका वर्णन करते हैं। युधिष्ठिर! भगवान्का पैर ब्रह्माण्ड-कपालतक पहुँच गया और उसके आघातसे कपालमें छिद्र हो गया, जिससे झर-झर करके एक नदी प्रकट हो गयी, जो शीघ्र ही नीचे उतरकर समुद्रमें जा मिली। सागरमें मिलनेवाली वह पावन सरिता ही गङ्गा है॥

जहार मेदिनीं सर्वां हत्वा दानवपुङ्गवान्।
आसुरीं श्रियमाहृत्य त्रींल्लोकान् स जनार्दनः॥
सपुत्रदारानसुरान् पाताले तानपातयत्।
नमुचिः शम्बरश्चैव प्रह्लादश्च महामनाः॥
पादपाताभिनिर्धूताः पाताले विनिपातिताः।
महाभूतानि भूतात्मा स विशेषेण वै हरिः॥
कालं च सकलं राजन् गात्रभूतान्यदर्शयत्।

भगवान् श्रीहरिने बड़े-बड़े दानवोंको मारकर सारी पृथ्वी उनके अधिकारसे छीन ली और तीनों लोकोंके साथ सारी आसुरी-सम्पदाका अपहरण करके उन असुरोंको स्त्री-पुत्रोंसहित पातालमें भेज दिया। नमुचि, शम्बर और महामना प्रह्लाद भगवान्के चरणोंके स्पर्शसे पवित्र हो गये। भगवान्ने उनको भी पातालमें भेज दिया। राजन्! भूतात्मा भगवान् श्रीहरिने अपने श्रीअङ्गोंमें विशेषरूपसे पञ्चमहाभूतों तथा भूत, भविष्य और वर्तमान—सभी कालोंका दर्शन कराया॥

तस्य गात्रे जगत् सर्वमानीतमिव दृश्यते॥
न किंचिदस्ति लोकेषु यदव्याप्तं महात्मना।
तद्धि रूपं महेशस्य देवदानवमानवाः॥
दृष्ट्वा तं मुमुहुः सर्वे विष्णुतेजोऽभिपीडिताः।

उनके शरीरमें सारा संसार इस प्रकार दिखायी देता था, मानो उसमें लाकर रख दिया गया हो। संसारमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जो उन परमात्मासे व्याप्त न हो। परमेश्वर भगवान् विष्णुके उस रूपको देखकर उनके तेजसे तिरस्कृत हो देवता, दानव और मानव सभी मोहित हो गये॥

बलिर्बद्धोऽभिमानी च यज्ञवाटे महात्मना॥
विरोचनकुलं सर्वं पाताले विनिपातितम्॥

अभिमानी राजा बलिको भगवान्ने यज्ञमण्डपमें ही बाँध लिया और विरोचनके समस्त कुलको स्वर्गसे पातालमें भेज दिया॥

एवंविधानि कर्माणि कृत्वा गरुडवाहनः।
न विस्मयमुपागच्छत् पारमेष्ठ्येन तेजसा॥

गरुडवाहन भगवान् विष्णुको अपने परमेश्वरीय तेजसे उपर्युक्त कर्म करके भी अहंकार नहीं हुआ ॥

स सर्वममरैश्वर्यं सम्प्रदाय शचीपतेः।
त्रैलोक्यं च ददौ शक्रे विष्णुर्दानवसूदनः॥

दानवसूदन श्रीविष्णुने शचीपति इन्द्रको समस्त देवताओंका आधिपत्य देकर त्रिलोकीका राज्य भी उन्हें दे दिया।

एष ते वामनो नाम प्रादुर्भावो महात्मनः।
वेदविद्भिर्द्विजैरेतत् कथ्यते वैष्णवं यशः॥
मानुषेषु यथा विष्णोः प्रादुर्भावं तथा शृणु॥

इस प्रकार परमात्मा श्रीहरिके वामन-अवतारका वृत्तान्त संक्षेपसे तुम्हें बताया गया। वेदवेत्ता ब्राह्मण भगवान् विष्णुके इस सुयशका वर्णन करते हैं। युधिष्ठिर! अब तुम मनुष्योंमें श्रीहरिके जो अवतार हुए हैं, उनका वृत्तान्त सुनो॥

विष्णोः पुनर्महाराज प्रादुर्भावो महात्मनः।
दत्तात्रेय इति ख्यात ऋषिरासीन्महायशाः॥

महाराज! अब मैं पुनः भगवान् विष्णुके दत्तात्रेय नामक अवतारका वर्णन करता हूँ। दत्तात्रेयजी महान् यशस्वी महर्षि थे।

तेन नष्टेषु वेदेषु क्रियासु च मखेषु च।
चातुर्वर्ण्ये च संकीर्णे धर्मे शिथिलतां गते॥
अभिवर्धति चाधर्मे सत्ये नष्टे स्थितेऽनृते।
प्रजासु क्षीयमाणासु धर्मे चाकुलतां गते॥
सयज्ञाः सक्रिया वेदाः प्रत्यानीताश्च तेन वै।
चातुर्वर्ण्यमसंकीर्णं कृतं तेन महात्मना॥
स एव वै यदा प्रादाद्धैहयाधिपतेर्वरम्।
तं हैहयानामधिपस्त्वर्जुनोऽभिप्रसादयत्॥

एक समयकी बात है, सारे वेद नष्ट-से हो गये। वैदिक कर्मों और यज्ञ-यागादिकोंका लोप हो गया। चारों वर्ण एकमें मिल गये और सर्वत्र वर्णसंकरता फैल गयी। धर्म शिथिल हो गया एवं अधर्म दिनों दिन बढ़ने लगा। सत्य दब गया और सब ओर असत्यने सिक्का जमा लिया! प्रजा क्षीण होने लगी और धर्मको अधर्मद्वारा हर तरहसे पीड़ा (हानि) पहुँचने लगी। ऐसे समयमें महात्मा दत्तात्रेयने यज्ञ और कर्मानुष्ठानकी विधिसहित सम्पूर्ण वेदोंका पुनरुद्धार किया और पुनः चारों वर्णोंको पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी मर्यादामें स्थापित किया। इन्होंने ही हैहयराज अर्जुनको वर प्रदान किया था। हैहयराज अर्जुनने अपनी सेवाओंद्वारा दत्तात्रेयजीको प्रसन्न कर लिया था॥

वने पर्यचरत् सम्यक् शुश्रूषुरनसूयकः।
निर्ममो निरहंकारो दीर्घकालमतोषयत्॥
आराध्य दत्तात्रेयं हि अगृह्णात् स वरानिमान्।
आप्तादाप्ततराद् विप्राद् विद्वान् विद्वद्भिरेवितात्॥
ऋतेऽमरत्वं विप्रेण दत्तात्रेयेण धीमता।
वरैश्चतुर्भिः प्रवृत इमांस्तत्राभ्यनन्दत॥

वह अच्छी तरह सेवामें संलग्न हो वनमें मुनिवर दत्तात्रेयकी परिचर्यामें लगा रहता था। उसने दूसरोंका दोष देखना छोड़ दिया था। वह ममता और अहङ्कारसे रहित था। उसने दीर्घकालतक दत्तात्रेयजीकी आराधना करके उन्हें संतुष्ट किया। दत्तात्रेयजी आप्त पुरुषोंसे भी बढ़कर आप्त पुरुष थे। बड़े-बड़े विद्वान् उनकी सेवामें रहते थे। विद्वान् सहस्रबाहु अर्जुनने उन ब्रह्मर्षिसे ये निम्नाङ्कित वर प्राप्त किये। अमरत्व छोड़कर उसके माँगे हुए सभी वर विद्वान् ब्राह्मण दत्तात्रेयजीने दे दिये। उसने चार वरोंके लिये महर्षिसे प्रार्थना की थी और उन चारोंका ही महर्षिने अभिनन्दन किया था॥

श्रीमान् मनस्वी बलवान् सत्यवागनसूयकः।
सहस्रबाहुर्भूयासमेष मे प्रथमो वरः॥
जरायुजाण्डजं सर्वं सर्वं चैव चराचरम्।
प्रशास्तुमिच्छे धर्मेण द्वितीयस्त्वेष मे वरः॥

(वे वर इस प्रकार हैं - हैहयराज बोला—) 'मैं श्रीमान्, मनस्वी, बलवान्, सत्यवादी, अदोषदर्शी तथा सहस्र भुजाओंसे विभूषित होऊँ' यह मेरे लिये पहला वर हो। 'मैं जरायुज और अण्डज जीवोंके साथ-साथ समस्त चराचर जगत्का धर्मपूर्वक शासन करना चाहता हूँ' मेरे लिये दूसरा वर यही हो॥

पितॄन् देवानृषीन् विप्रान् यजेयं विपुलैर्मखैः।
अमित्रान् निशितैर्बाणैर्घातयेयं रणाजिरे॥
दत्तात्रेयेह भगवंस्तृतीयो वर एष मे।
यस्य नासीन्न भविता न चास्ति सदृशः पुमान्।
इह वा दिवि वा लोके स मे हन्ता भवेदिति॥

'मैं अनेक प्रकारके यज्ञोंद्वारा देवताओं, ऋषियों, पितरों तथा ब्राह्मण अतिथियोंका यजन करूँ और जो लोग मेरे शत्रु हैं, उन्हें समराङ्गणमें तीखे बाणोंद्वारा मारकर यमलोक पहुँचा दूँ। भगवन् दत्तात्रेय! मेरे लिये यही तीसरा वर हो। 'जिसके समान इहलोक या स्वर्गलोकमें कोई पुरुष न था, न है और न होगा ही, वही मेरा वध करनेवाला हो' (यह मेरे लिये चौथा वर हो)॥

सोऽर्जुनः कृतवीर्यस्य वरः पुत्रोऽभवद् युधि।
स सहस्रं सहस्राणां माहिष्मत्यामवर्धत॥

वह अर्जुन राजा कृतवीर्यका ज्येष्ठ पुत्र था और युद्धमें महान् शौर्यका परिचय देता था। उसने माहिष्मती नगरीमें दस लाख वर्षोंतक निरन्तर अभ्युदयशील होकर राज्य किया॥

पृथिवीमखिलां जित्वा द्वीपांश्चापि समुद्रिणः।
नभसीव ज्वलन् सूर्यः पुण्यैः कर्मभिरर्जुनः॥

जैसे आकाशमें सूर्यदेव सदा प्रकाशमान होते हैं, उसी प्रकार कार्तवीर्य अर्जुन सारी पृथ्वी और समुद्री द्वीपोंको जीतकर इस भूतलपर अपने पुण्य कर्मोंसे प्रकाशित हो रहा था॥

इन्द्रद्वीपं कशेरुं च ताम्रद्वीपं गभस्तिमत्।
गान्धर्वं वारुणं द्वीपं सौम्याक्षमिति च प्रभुः॥

पूर्वैरजितपूर्वांश्च द्वीपानजयदर्जुनः ॥
सौवर्णं सर्वमप्यासीद् विमानवरमुत्तमम्।
चतुर्धा व्यभजद् राष्ट्रं तद् विभज्यान्वपालयत् ॥

शक्तिशाली सहस्रबाहुने इन्द्रद्वीप, कशेरुद्वीप, ताम्रद्वीप, गभस्तिमान् द्वीप, गन्धर्वद्वीप, वरुणद्वीप और सौम्याक्षद्वीपको, जिन्हें उसके पूर्वजोंने भी नहीं जीता था, जीतकर अपने अधिकारमें कर लिया। उसका श्रेष्ठ राजभवन बहुत ही सुन्दर और सारा-का-सारा सुवर्णमय था। उसने अपने राज्यकी आयको चार भागोंमें बाँट रखा था और इस विभाजनके अनुसार ही वह प्रजाका पालन करता था ॥

एकांशेनाहरत् सेनामेकांशेनावसद् गृहान्।
यस्तु तस्य तृतीयांशो राजाऽऽसीज्जनसंग्रहे ॥
आप्तः परमकल्याणस्तेन यज्ञानकल्पयत् ॥

वह उस आयके एक अंशके द्वारा सेनाका संग्रह और संरक्षण करता था, दूसरे अंशके द्वारा गृहस्थीका खर्च चलाता था तथा उसका जो तीसरा अंश था, उसके द्वारा राजा अर्जुन प्रजाजनोंकी भलाईके लिये यज्ञोंका अनुष्ठान करता था। वह सबका विश्वासपात्र और परम कल्याणकारी था ॥

ये दस्यवो ग्रामचरा अरण्ये च वसन्ति ये।
चतुर्थेन च सोऽशेन तान् सर्वान् प्रत्यषेधयत् ॥
सर्वेभ्यश्चान्तवासिभ्यः कार्तवीर्योऽहरद् बलिम्।
आहृतं स्वबलैर्यत् तदर्जुनश्चाभिमन्यते ॥
काको वा मूषिको वापि तं तमेव व्यबर्हयत्।
द्वाराणि नापिधीयन्ते राष्ट्रेषु नगरेषु च ॥

वह राजकीय आयके चौथे अंशके द्वारा गाँवों और जंगलोंमें डाकुओं और लुटेरोंको शासनपूर्वक रोकता था। कृतवीर्यकुमार अर्जुन उसी धनको अच्छा मानता था, जिसे उसने अपने बल-पराक्रमद्वारा प्राप्त किया हो। काक या मूषकवृत्तिसे जो लोग प्रजाके धनका अपहरण करते थे, उन सबको वह नष्ट कर देता था। उसके राज्यके भीतर गाँवों तथा नगरोंमें घरके दरवाजे बंद नहीं किये जाते थे ॥

स एव राष्ट्रपालोऽभूत् स्त्रीपालोऽभवदर्जुनः।
स एवासीदजापालः स गोपालो विशाम्पते ॥

राजन्! कार्तवीर्य अर्जुन ही समूचे राष्ट्रका पोषक, स्त्रियोंका संरक्षक, बकरियोंकी रक्षा करनेवाला तथा गौओंका पालक था ॥

स ह्यारण्ये मनुष्याणां राजा क्षेत्राणि रक्षति।
इदं तु कार्तवीर्यस्य बभूवासदृशं जनैः ॥

वही जंगलोंमें मनुष्योंके खेतोंकी रक्षा करता था। यह है कार्तवीर्यका अद्भुत कार्य, जिसकी मनुष्योंसे तुलना नहीं हो सकती ॥

न पूर्वे नापरे तस्य गमिष्यन्ति गतिं नृपाः।
यदर्णवे प्रयातस्य वस्त्रं न परिषिच्यते ॥
शतं वर्षसहस्राणामनुदिष्याऽर्जुनो महीम्।
दत्तात्रेयप्रसादेन एवं राज्यं चकार सः ॥

न पहलेका कोई राजा कार्तवीर्यकी स्थिति प्राप्त कर सका और न भविष्यमें ही कोई प्राप्त कर सकेगा। वह जब समुद्रमें चलता था, तब उसका वस्त्र नहीं भींगता था। राजा अर्जुन दत्तात्रेयजीके कृपाप्रसादसे लाखों वर्षतक पृथ्वीका शासन करते हुए इस प्रकार राज्यका पालन करता रहा ॥

एवं बहूनि कर्माणि चक्रे लोकहिताय सः।
दत्तात्रेय इति ख्यातः प्रादुर्भावस्तु वैष्णवः ॥
कथितो भरतश्रेष्ठ शृणु भूयो महात्मनः।
यदा भृगुकुले जन्म यदर्थं च महात्मनः।
जामदग्न्य इति ख्यातः प्रादुर्भावस्तु वैष्णवः ॥

इस प्रकार उसने लोकहितके लिये बहुत से कार्य किये। भरतश्रेष्ठ! यह मैंने भगवान् विष्णुके दत्तात्रेय नामक अवतारका वर्णन किया। अब पुनः उन महात्माके अन्य अवतारका वर्णन सुनो। भगवान्का वह अवतार जामदग्न्य (परशुराम) के नामसे विख्यात है। उन्होंने किसलिये और कब भृगुकुलमें अवतार ग्रहण किया, यह प्रसंग बतलाता हूँ; सुनो ॥

जमदग्निसुतो राजन् रामो नाम स वीर्यवान्।
हैहयान्तकरो राजन् स रामो बलिनां वरः ॥
कार्तवीर्यो महावीर्यो बलेनाप्रतिमस्तथा।
रामेण जामदग्न्येन हतो विषममाचरन् ॥

महाराज युधिष्ठिर! महर्षि जमदग्निके पुत्र परशुराम बड़े पराक्रमी हुए हैं। बलवानोंमें श्रेष्ठ परशुरामजीने ही हैहयवंशका संहार किया था। महापराक्रमी कार्तवीर्य अर्जुन बलमें अपना सानी नहीं रखता था; किंतु अपने अनुचित बर्तावके कारण जमदग्निनन्दन परशुरामके द्वारा मारा गया ॥

तं कार्तवीर्यं राजानं हैहयानामरिंदमम्।
रथस्थं पार्थिवं रामः पातयित्वावधीद् रणे ॥

शत्रुसूदन हैहयराज कार्तवीर्य अर्जुन रथपर बैठा था, परंतु युद्धमें परशुरामजीने उसे नीचे गिराकर मार डाला ॥

जम्भस्य मूर्ध्नि भेत्ता च हन्ता च शतदुन्दुभेः।
स एष कृष्णो गोविन्दो जातो भृगुषु वीर्यवान् ॥
सहस्रबाहुमुद्धर्तुं सहस्रजितमाहवे ॥
क्षत्रियाणां चतुष्षष्टिमयुतानां महायशाः।
सरस्वत्यां समेतानि एष वै धनुषाजयत् ॥
ब्रह्मद्विषां वधे तस्मिन् सहस्राणि चतुर्दश।
पुनर्जग्राह शूराणामन्तं चक्रे नरर्षभः ॥
ततो दशसहस्रस्य हन्ता पूर्वमरिंदमः।
सहस्रं मुसलेनाहन् सहस्रमुदकृन्तत ॥

ये भगवान् गोविन्द ही पराक्रमी परशुरामरूपसे भृगुवंशमें अवतीर्ण हुए। ये ही जम्भासुरका मस्तक विदीर्ण करनेवाले तथा शतदुन्दुभिके घातक हैं। इन्होंने सहस्रोंपर विजय पानेवाले सहस्रबाहु अर्जुनका युद्धमें संहार करनेके लिये ही

अवतार लिया था। महायशस्वी परशुरामने केवल धनुषकी सहायतासे सरस्वती नदीके तटपर एकत्रित हुए छः लाख चालीस हजार क्षत्रियोंपर विजय पायी थी। वे सभी क्षत्रिय ब्राह्मणोंसे द्वेष करनेवाले थे। उनका वध करते समय नरश्रेष्ठ परशुरामने और भी चौदह हजार शूरवीरोंका अन्त कर डाला। तदनन्तर शत्रुदमन रामने दस हजार क्षत्रियोंका और वध किया। इसके बाद उन्होंने हजारों वीरोंको मूसलसे मारकर यमलोक पहुँचा दिया तथा सहस्रोंको फरसेसे काट डाला॥

चतुर्दश सहस्राणि क्षणमात्रमपातयत्।
शिष्टान् ब्रह्मद्विषश्छित्वा ततोऽस्नायत भार्गवः॥
राम रामेत्यभिक्रुष्टो ब्राह्मणैः क्षत्रियार्दितैः।
न्यघ्नद् दशसहस्राणि रामः परशुनाभिभूः॥

भृगुनन्दन परशुरामने चौदह हजार क्षत्रियोंको क्षणमात्रमें मार गिराया तथा शेष ब्रह्मद्रोहियोंका भी मूलोच्छेद करके स्नान किया। क्षत्रियोंसे पीड़ित होकर ब्राह्मणोंने 'राम-राम' कहकर आर्तनाद किया था; इसीलिये सर्वविजयी परशुरामने पुनः फरसेसे दस हजार क्षत्रियोंका अन्त किया॥

न ह्यमृष्यत तां वाचमार्तैर्भृशमुदीरिताम्।
भृगो रामाभिधावेति यदाक्रन्दन् द्विजातयः॥

जिस समय द्विजलोग 'भृगुनन्दन परशुराम! दौड़ो, बचाओ' इत्यादि बातें कहकर करुणक्रन्दन करते, उस समय उन पीड़ितोंद्वारा कही हुई वह आर्तवाणी परशुरामजी नहीं सहन कर सके॥

काश्मीरान् दरदान् कुन्तीन् क्षुद्रकान् मालवाञ्छकान्।
चेदिकाशिकरूषांश्च ऋषिकान् क्रथकैशिकान्॥
अङ्गान् वङ्गान् कलिङ्गांश्च मागधान् काशिकोसलान्।
रात्रायणान् वीतिहोत्रान् किरातान् मार्तिकावतान्॥
एतानन्यांश्च राजेन्द्रान् देशे देशे सहस्रशः।
निकृत्य निशितैर्बाणैः सम्प्रदाय विवस्वते॥

उन्होंने काश्मीर, दरद, कुन्तिभोज, क्षुद्रक, मालव, शक, चेदि, काशि, करूष, ऋषिक, क्रथ, कैशिक, अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, मागध, काशी, कोसल, रात्रायण, वीतिहोत्र, किरात तथा मार्तिकावत—इनको तथा अन्य सहस्रों राजेश्वरोंको प्रत्येक देशमें तीखे बाणोंसे मारकर यमराजके भेंट कर दिया।

कीर्णा क्षत्रियकोटीभिः मेरुमन्दरभूषणा।
त्रिःसप्तकृत्वः पृथिवी तेन निःक्षत्रिया कृता॥

मेरु और मन्दर पर्वत जिसके आभूषण हैं, वह पृथ्वी करोड़ों क्षत्रियोंकी लाशोंसे पट गयी। एक-दो बार नहीं, इक्कीस बार परशुरामने यह पृथ्वी क्षत्रियोंसे सूनी कर दी॥

एवमिष्ट्वा महाबाहुः क्रतुभिर्भूरिदक्षिणैः।
अन्वयुद् वर्षशतं रामः सौभे शाल्वमयोधयत्॥
ततः स भृगुशार्दूलस्तं सौभं योधयन् प्रभुः।
सुबन्धुरं रथं राजन्नास्थाय भरतर्षभ॥
नग्निकानां कुमारीणां गायन्तीनामुपाशृणोत्।

तदनन्तर महाबाहु परशुरामने प्रचुर दक्षिणावाले यज्ञोंका अनुष्ठान करके सौ वर्षोंतक सौभ नामक विमानपर बैठे हुए राजा शाल्वके साथ युद्ध किया। भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर! तदनन्तर सुन्दर रथपर बैठकर सौभ विमानके साथ युद्ध करनेवाले शक्तिशाली वीर भृगुश्रेष्ठ परशुरामने गीत गाती हुई नग्निका[1] कुमारियोंके मुखसे यह सुना—॥

राम राम महाबाहो भृगूणां कीर्तिवर्धन॥
त्यज शस्त्राणि सर्वाणि न त्वं सौभं वधिष्यसि।
चक्रहस्तो गदापाणिर्भीतानामभयंकरः॥
युधि प्रद्युम्नसाम्बाभ्यां कृष्णः सौभं वधिष्यति।

'राम! राम! महाबाहो! तुम भृगुवंशकी कीर्ति बढ़ानेवाले हो; अपने सारे अस्त्र-शस्त्र नीचे डाल दो। तुम सौभ विमानका नाश नहीं कर सकोगे। भयभीतोंको अभय देनेवाले चक्रधारी गदापाणि भगवान् श्रीविष्णु प्रद्युम्न और साम्बको साथ लेकर युद्धमें सौभ विमानका नाश करेंगे'॥

तच्छ्रुत्वा पुरुषव्याघ्रस्तत एव वनं ययौ॥
न्यस्य सर्वाणि शस्त्राणि कालकाङ्क्षी महायशाः॥
रथं वर्मायुधं चैव शरान् परशुमेव च।
धनूंष्यप्सु प्रतिष्ठाप्य रामस्तेपे परं तपः॥

यह सुनकर पुरुषसिंह परशुराम उसी समय वनको चल दिये। राजन्! वे महायशस्वी मुनि कृष्णावतारके समयकी प्रतीक्षा करते हुए अपने सारे अस्त्र-शस्त्र, रथ, कवच, आयुध, बाण, परशु और धनुष जलमें डालकर बड़ी भारी तपस्यामें लग गये॥

ह्रियं प्रज्ञां श्रियं कीर्तिं लक्ष्मीं चामित्रकर्शनः।
पञ्चाधिष्ठाय धर्मात्मा तं रथं विससर्ज ह॥

शत्रुओंका नाश करनेवाले धर्मात्मा परशुरामने लज्जा, प्रज्ञा, श्री, कीर्ति और लक्ष्मी—इन पाँचोंका आश्रय लेकर अपने पूर्वोक्त रथको त्याग दिया॥

आदिकाले प्रवृत्तं हि विभजन् कालमीश्वरः।
नाहनच्छ्रद्धया सौभं न ह्यशक्तो महायशाः॥
जामदग्न्य इति ख्यातो यस्त्वसौ भगवानृषिः।
सोऽस्य भागस्तपस्तेपे भार्गवो लोकविश्रुतः॥
शृणु राजंस्तथा विष्णोः प्रादुर्भावं महात्मनः।
चतुर्विंशे युगे चापि विश्वामित्रपुरःसरः॥

आदिकालमें जिसकी प्रवृत्ति हुई थी, उस कालका विभाग करके भगवान् परशुरामने कुमारियोंकी बातपर श्रद्धा होनेके कारण ही सौभ विमानका नाश नहीं किया, असमर्थताके कारण नहीं। जमदग्निनन्दन परशुरामके नामसे विख्यात जो महर्षि, जो विश्वविदित ऐश्वर्यशाली महर्षि हैं, वे इन्हीं

---

[1] १. जिनमें ऋतुधर्म (रजस्वलावस्था) का प्रादुर्भाव न हुआ हो, उन्हें नग्निका कहते हैं।

श्रीकृष्णके अंश हैं, जो इस समय तपस्या कर रहे हैं। राजन्! अब महात्मा भगवान् विष्णुके साक्षात् स्वरूप श्रीरामके अवतारका वर्णन सुनो, जो विश्वामित्र मुनिको आगे करके चलनेवाले थे॥

तिथौ नावमिके जज्ञे तथा दशरथादपि।
कृत्वाऽऽत्मानं महाबाहुश्चतुर्धा विष्णुरव्ययः॥

चैत्रमासके शुक्लपक्षकी नवमी तिथिको अविनाशी भगवान् महाबाहु विष्णुने अपने आपको चार स्वरूपोंमें विभक्त करके महाराज दशरथके सकाशसे अवतार ग्रहण किया था॥

लोके राम इति ख्यातस्तेजसा भास्करोपमः।
प्रसादनार्थं लोकस्य विष्णुस्तस्य सनातनः॥
धर्मार्थमेव कौन्तेय जज्ञे तत्र महायशाः।

वे भगवान् सूर्यके समान तेजस्वी राजकुमार लोकमें श्रीरामके नामसे विख्यात हुए। कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर! जगत्को प्रसन्न करने तथा धर्मकी स्थापनाके लिये ही महायशस्वी सनातन भगवान् विष्णु वहाँ प्रकट हुए थे॥

तमप्याहुर्मनुष्येन्द्रं सर्वभूतपतेस्तनुम्॥
यज्ञविघ्नं तदा कृत्वा विश्वामित्रस्य भारत।
सुबाहुर्निहतस्तेन मारीचस्ताडितो भृशम्॥

मनुष्योंके स्वामी भगवान् श्रीरामको साक्षात् सर्वभूतपति श्रीहरिका ही स्वरूप बतलाया जाता है। भारत! उस समय विश्वामित्रके यज्ञमें विघ्न डालनेके कारण राक्षस सुबाहु श्रीरामचन्द्रजीके हाथों मारा गया और मारीच नामक राक्षसको भी बड़ी चोट पहुँची॥

तस्मै दत्तानि शस्त्राणि विश्वामित्रेण धीमता।
वधार्थं देवशत्रूणां दुर्वाराणि सुरैरपि॥

परम बुद्धिमान् विश्वामित्र मुनिने देवशत्रु राक्षसोंका वध करनेके लिये श्रीरामचन्द्रजीको ऐसे-ऐसे दिव्यास्त्र प्रदान किये थे, जिनका निवारण करना देवताओंके लिये भी अत्यन्त कठिन था॥

वर्तमाने तदा यज्ञे जनकस्य महात्मनः।
भग्नं माहेश्वरं चापं क्रीडता लीलया परम्॥
ततो विवाहं सीतायाः कृत्वा स रघुवल्लभः।
नगरीं पुनरासाद्य मुमुदे तत्र सीतया॥

उन्हीं दिनों महात्मा जनकके यहाँ धनुषयज्ञ हो रहा था, उसमें श्रीरामने भगवान् शङ्करके महान् धनुषको खेल-खेलमें ही तोड़ डाला। तदनन्तर सीताजीके साथ विवाह करके रघुनाथजी अयोध्यापुरीमें लौट आये और वहाँ सीताजी-के साथ आनन्दपूर्वक रहने लगे॥

कस्यचित् त्वथ कालस्य पित्रा तत्राभिचोदितः।
कैकेय्याः प्रियमन्विच्छन् वनमभ्यवपद्यत॥

कुछ कालके पश्चात् पिताकी आज्ञा पाकर वे अपनी विमाता महारानी कैकेयीका प्रिय करनेकी इच्छासे वनमें चले गये॥

यः समाः सर्वधर्मज्ञश्चतुर्दश वने वसन्।
लक्ष्मणानुचरो रामः सर्वभूतहिते रतः॥
चतुर्दश वने तप्त्वा तपो वर्षाणि भारत।
रूपिणी यस्य पार्श्वस्था सीतेत्यभिहिता जनैः॥

वहाँ सब धर्मोंके ज्ञाता और समस्त प्राणियोंके हितमें तत्पर श्रीरामचन्द्रजीने लक्ष्मणके साथ चौदह वर्षोंतक वनमें निवास किया। भरतवंशी राजन्! चौदह वर्षोंतक उन्होंने वनमें तपस्यापूर्वक जीवन बिताया। उनके साथ उनकी अत्यन्त रूपवती धर्मपत्नी भी थीं, जिन्हें लोग सीता कहते थे॥

पूर्वोचितत्वात् सा लक्ष्मीर्भर्तारमनुगच्छति।
जनस्थाने वसन् कार्यं त्रिदशानां चकार सः॥
मारीचं दूषणं हत्वा खरं त्रिशिरसं तथा।
चतुर्दश सहस्राणि रक्षसां घोरकर्मणाम्॥
जघान रामो धर्मात्मा प्रजानां हितकाम्यया।

अवतारके पहले श्रीविष्णुरूपमें रहते समय भगवान्के साथ उनकी जो योग्यतमा भार्या लक्ष्मी रहा करती हैं, उन्होंने ही उपयुक्त होनेके कारण श्रीरामावतारके समय सीताके रूपमें अवतीर्ण हो अपने पतिदेवका अनुसरण किया था। भगवान् श्रीराम जनस्थानमें रहकर देवताओंके कार्य सिद्ध करते थे। धर्मात्मा श्रीरामने प्रजाजनोंके हितकी कामनासे भयानक कर्म करनेवाले चौदह हजार राक्षसोंका वध किया। जिनमें मारीच, खर-दूषण और त्रिशिरा आदि प्रधान थे॥

विराधं च कबन्धं च राक्षसौ क्रूरकर्मिणौ॥
जघान च तदा रामो गन्धर्वौ शापविक्षतौ।

उन्हीं दिनों दो शापग्रस्त गन्धर्व क्रूरकर्मा राक्षसोंके रूपमें वहाँ रहते थे, जिनके नाम विराध और कबन्ध थे। श्रीरामने उन दोनोंका भी संहार कर डाला॥

स रावणस्य भगिनीनासाच्छेदं चकार ह॥
भार्यावियोगं तं प्राप्य मृगयन् व्यचरद् वनम्।
ततस्तमृष्यमूकं स गत्वा पम्पामतीत्य च।
सुग्रीवं मारुतिं दृष्ट्वा चक्रे मैत्रीं तयोः स वै॥

उन्होंने रावणकी बहिन शूर्पणखाकी नाक भी लक्ष्मणके द्वारा कटवा दी; इसीके कारण (राक्षसोंके षड्यन्त्रसे) उन्हें पत्नीका वियोग देखना पड़ा। तब वे सीताकी खोज करते हुए वनमें विचरने लगे। तदनन्तर ऋष्यमूक पर्वतपर जा पम्पा सरोवरको लाँघकर श्रीरामजी सुग्रीव और हनुमान्जीसे मिले और उन दोनोंके साथ उन्होंने मैत्री स्थापित कर ली॥

अथ गत्वा स किष्किन्धां सुग्रीवेण तदा सह।
निहत्य वालिनं युद्धे वानरेन्द्रं महाबलम्॥
अभ्यषिञ्चत् तदा रामः सुग्रीवं वानरेश्वरम्।
ततः स वीर्यवान् राजंस्त्वरयन् वै समुत्सुकः॥
विचिन्त्य वायुपुत्रेण लङ्कादेशं निवेदितम्।

तत्पश्चात् श्रीरामचन्द्रजीने सुग्रीवके साथ किष्किन्धामें जाकर महाबली वानरराज वालीको युद्धमें मारा और सुग्रीवको वानरोंके राजाके पदपर अभिषिक्त कर दिया। राजन्! तदनन्तर पराक्रमी श्रीराम सीताजीके लिये उत्सुक हो बड़ी उतावलीके साथ उनकी खोज कराने लगे। वायुपुत्र हनुमान्जीने पता लगाकर यह बतलाया कि सीताजी लङ्कामें हैं ॥

सेतुं बद्ध्वा समुद्रस्य वानरैः सहितस्तदा।
सीतायाः पदमन्विच्छन् रामो लङ्कां विवेश ह॥

तब समुद्रपर पुल बाँधकर वानरोंसहित श्रीरामजीने सीताजीके स्थानका पता लगाते हुए लङ्कामें प्रवेश किया ॥

देवोरगगणानां हि यक्षराक्षसपक्षिणाम्।
तत्रावध्यं राक्षसेन्द्रं रावणं युधि दुर्जयम्॥
युक्तं राक्षसकोटीभिर्भिन्नाञ्जनचयोपमम्।

वहाँ देवता, नागगण, यक्ष, राक्षस तथा पक्षियोंके लिये अवध्य और युद्धमें दुर्जय राक्षसराज रावण करोड़ों राक्षसोंके साथ रहता था। वह देखनेमें खानसे खोदकर निकाले हुए कोयलेके ढेरके समान जान पड़ता था ॥

दुर्निरीक्ष्यं सुरगणैर्वरदानेन दर्पितम्॥
जघान सचिवैः सार्धं सान्वयं रावणं रणे।
त्रैलोक्यकण्टकं वीरं महाकायं महाबलम्॥
रावणं सगणं हत्वा रामो भूतपतिः पुरा॥
लङ्कायां तं महात्मानं राक्षसेन्द्रं विभीषणम्।
अभिषिच्य च तत्रैव अमरत्वं ददौ तदा॥

देवताओंके लिये उसकी ओर आँख उठाकर देखना भी कठिन था। ब्रह्माजीसे वरदान मिलनेसे उसका घमंड बहुत बढ़ गया था। श्रीरामने त्रिलोकीके लिये कण्टकरूप महाबली विशालकाय वीर रावणको उसके मन्त्रियों और बान्धवोंसहित युद्धमें मार डाला। इस प्रकार सम्पूर्ण भूतोंके स्वामी श्रीरघुनाथजीने प्राचीनकालमें रावणको सेवकोंसहित मारकर लङ्काके राज्यपर राक्षसपति महात्मा विभीषणका अभिषेक करके उन्हें वहीं अमरत्व प्रदान किया ॥

आरुह्य पुष्पकं रामः सीतामादाय पाण्डव।
सबलः स्वपुरं गत्वा धर्मराज्यमपालयत्॥
दानवो लवणो नाम मधोः पुत्रो महाबलः।
शत्रुघ्नेन हतो राजंस्ततो रामस्य शासनात्॥

पाण्डुनन्दन! तत्पश्चात् श्रीरामने पुष्पक विमानपर आरूढ़ हो सीताको साथ ले दलबलसहित अपनी राजधानीमें जाकर धर्मपूर्वक राज्यका पालन किया। राजन्! उन्हीं दिनों मथुरामें मधुका पुत्र लवण नामक दानव राज्य करता था, जिसे रामचन्द्रजीकी आज्ञासे शत्रुघ्नने मार डाला ॥

एवं बहूनि कर्माणि कृत्वा लोकहिताय सः।
राज्यं चकार विधिवद् रामो धर्मभृतां वरः॥

इस प्रकार धर्मात्माओंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने लोकहितके लिये बहुतसे कार्य करके विधिपूर्वक राज्यका पालन किया ॥

दशाश्वमेधानाजह्रे जारुधिस्थान् निरर्गलान्॥
नाश्रूयन्ताशुभा वाचो नात्ययः प्राणिनां तदा।
न वित्तजं भयं चासीद् रामे राज्यं प्रशासति॥
प्राणिनां च भयं नासीज्जलानलविधानजम्।
पर्यदेवन्न विधवा नानाथाः काश्चनाभवन्॥

उन्होंने दस अश्वमेध यज्ञोंका अनुष्ठान किया और सरयूतटके जारुधिप्रदेशको विघ्न-बाधाओंसे रहित कर दिया। श्रीरामचन्द्रजीके शासनकालमें कभी कोई अमङ्गलकी बात नहीं सुनी गयी। उस समय प्राणियोंकी अकालमृत्यु नहीं होती थी और किसीको भी धनकी रक्षा आदिके निमित्त भय नहीं प्राप्त होता था। संसारके जीवोंको जल और अग्नि आदिसे भी भय नहीं होता था। विधवाओंका करुण क्रन्दन नहीं सुना जाता था तथा स्त्रियाँ अनाथ नहीं होती थीं ॥

सर्वमासीत् तदा तृप्तं रामे राज्यं प्रशासति॥
न संकरकरा वर्णा नाकृष्टकरकृज्जनः।

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यशासनकालमें सम्पूर्ण जगत् संतुष्ट था। किसी भी वर्णके लोग वर्णसंकर संतान नहीं उत्पन्न करते थे। कोई भी मनुष्य ऐसी जमीनके लिये कर नहीं देता था, जो जोतने-बोनेके काममें न आती हो ॥

न च स्म वृद्धा बालानां प्रेतकार्याणि कुर्वते॥
विशः पर्यचरन् क्षत्रं क्षत्रं नापीडयद् विशः।
नरा नात्यचरन् भार्या भार्या नात्यचरन् पतीन्॥
नासीदल्पकृषिर्लोके रामे राज्यं प्रशासति।
आसन् वर्षसहस्राणि तथा पुत्रसहस्रिणः।
अरोगाःप्राणिनोऽप्यासन् रामे राज्यं प्रशासति॥

बूढ़े लोग बालकोंका अन्त्येष्टि-संस्कार नहीं करते थे (उनके सामने ऐसा अवसर ही नहीं आता था)। वैश्य-लोग क्षत्रियोंकी परिचर्या करते थे और क्षत्रियलोग भी वैश्योंको कष्ट नहीं होने देते थे। पुरुष अपनी पत्नियोंकी अवहेलना नहीं करते थे और पत्नियाँ भी पतियोंकी अवहेलना नहीं करती थीं। श्रीरामचन्द्रजीके राज्यशासन करते समय लोकमें खेतीकी उपज कम नहीं होती थी। लोग सहस्र पुत्रोंसे युक्त होकर सहस्रों वर्षोंतक जीवित रहते थे। श्रीरामके राज्य शासनकालमें सब प्राणी नीरोग थे ॥

ऋषीणां देवतानां च मनुष्याणां तथैव च।
पृथिव्यां सहवासोऽभूद् रामे राज्यं प्रशासति॥
सर्वे ह्यासंस्तृप्तरूपास्तदा तस्मिन् विशाम्पते।
धर्मेण पृथिवीं सर्वामनुशासति भूमिपे॥

श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें इस पृथ्वीपर ऋषि, देवता और मनुष्य साथ-साथ रहते थे। राजन्! भूमिपाल श्रीरघुनाथजी जिन दिनों सारी पृथ्वीका शासन करते थे, उस समय उनके राज्यमें सब लोग पूर्णतः तृप्तिका अनुभव करते थे ॥

तपस्येवाभवन् सर्वे सर्वे धर्ममनुव्रताः।
पृथिव्यां धार्मिके तस्मिन् रामे राज्यं प्रशासति॥

धर्मात्मा राजा रामके राज्यमें पृथ्वीपर सब लोग तपस्यामें ही लगे रहते थे और सब-के-सब धर्मानुरागी थे ॥

नाधर्मिष्ठो नरः कश्चिद् बभूव प्राणिनां क्वचित्।
प्राणापानौ समावास्तां रामे राज्यं प्रशासति ॥

श्रीरामके राज्य-शासनकालमें कोई भी मनुष्य अधर्ममें प्रवृत्त नहीं होता था। सबके प्राण और अपान समवृत्तिमें स्थित थे ॥

गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः।
श्यामो युवा लोहिताक्षो मातङ्गानामिवर्षभः ॥
आजानुबाहुः सुमुखः सिंहस्कन्धो महाबलः।
दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ॥
राज्यं भोगं च सम्प्राप्य शशास पृथिवीमिमाम्।

जो पुराणवेत्ता विद्वान् हैं, वे इस विषयमें निम्नाङ्कित गाथा गाया करते हैं—'भगवान् श्रीरामकी अङ्गकान्ति श्याम है, युवावस्था है, उनके नेत्रोंमें कुछ-कुछ लाली है। वे गजराज-जैसे पराक्रमी हैं। उनकी भुजाएँ घुटनोंतक लंबी हैं। मुख बहुत सुन्दर है। कंधे सिंहके समान हैं और वे महान् बलशाली हैं। उन्होंने राज्य और भोग पाकर ग्यारह हजार वर्षोंतक इस पृथ्वीका शासन किया ॥

रामो रामो राम इति प्रजानामभवन् कथाः ॥
रामभूतं जगदिदं रामे राज्यं प्रशासति।
ऋग्यजुःसामहीनाश्च न तदासन् द्विजातयः ॥

प्रजाजनोंमें 'राम राम राम' इस प्रकार केवल रामकी ही चर्चा होती थी। रामके राज्य-शासनकालमें यह सारा जगत् राममय हो रहा था। उस समयके द्विज ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेदके ज्ञानसे शून्य नहीं थे ॥

उषित्वा दण्डके कार्यं त्रिदशानां चकार सः।
पूर्वापकारिणं संख्ये पौलस्त्यं मनुजर्षभः ॥
देवगन्धर्वनागानामरिं स निजघान ह।
सत्त्ववान् गुणसम्पन्नो दीप्यमानः स्वतेजसा ॥
एवमेव महाबाहुरिक्ष्वाकुकुलवर्धनः ॥

इस प्रकार मनुष्योंमें श्रेष्ठ श्रीरामचन्द्रजीने दण्डकारण्यमें निवास करके देवताओंका कार्य सिद्ध किया और पहलेके अपराधी पुलस्त्यनन्दन रावणको, जो देवताओं, गन्धर्वों और नागोंका शत्रु था, युद्धमें मार गिराया। इक्ष्वाकु-कुलका अभ्युदय करनेवाले महाबाहु श्रीराम महान् पराक्रमी, सर्वगुणसम्पन्न और अपने तेजसे देदीप्यमान थे ॥

रावणं सगणं हत्वा दिवमाक्रमताभिभूः।
इति दाशरथेः ख्यातः प्रादुर्भावो महात्मनः ॥

वे इसी प्रकार सेवकोंसहित रावणका वध करके राज्य-पालनके पश्चात् साकेतलोकमें पधारे। इस प्रकार परमात्मा दशरथनन्दन श्रीरामके अवतारका वर्णन किया गया ॥

(कृष्णावतारः)

ततः कृष्णो महाबाहुर्भीतानामभयङ्करः।
अष्टाविंशे युगे राजञ्जज्ञे श्रीवत्सलक्षणः ॥

राजन्! तदनन्तर अब अट्ठाईसवें द्वापरमें भयभीतोंको अभय देनेवाले श्रीवत्स-विभूषित महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णके रूपमें श्रीविष्णुका अवतार हुआ है ॥

पेशलश्च वदान्यश्च लोके बहुमतो नृपु।
स्मृतिमान् देशकालज्ञः शङ्खचक्रगदासिधृक् ॥

ये इस लोकमें परम सुन्दर, उदार, मनुष्योंमें अत्यन्त सम्मानित, स्मरणशक्तिसे सम्पन्न, देशकालके ज्ञाता एवं शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग आदि आयुध धारण करनेवाले हैं।

वासुदेव इति ख्यातो लोकानां हितकृत् सदा।
वृष्णीनां च कुले जातो भूमेः प्रियचिकीर्षया ॥

वासुदेवके नामसे इनकी प्रसिद्धि है। ये सदा सब लोगोंके हितमें संलग्न रहते हैं। भूदेवीका प्रिय कार्य करनेकी इच्छासे इन्होंने वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण किया है ॥

स नृणामभयं दाता मधुहेति स विश्रुतः।
शकटार्जुनरामाणां किल स्थानान्यसूदयत् ॥

ये ही मनुष्योंको अभयदान करनेवाले हैं। इन्हींकी मधुसूदन नामसे प्रसिद्धि है। इन्होंने ही शकटासुर, यमलार्जुन और पूतनाके मर्मस्थानोंमें आघात करके उनका संहार किया है।

कंसादीन् निजघानाजौ दैत्यान् मानुषविग्रहान्।
अयं लोकहितार्थाय प्रादुर्भावो महात्मनः ॥

मनुष्य-शरीरमें प्रकट हुए कंस आदि दैत्योंको युद्धमें मार गिराया। परमात्माका यह अवतार भी लोकहितके लिये ही हुआ है ॥

(कल्क्यवतारः)

कल्की विष्णुयशा नाम भूयश्चोत्पत्स्यते हरिः।
कलेर्युगान्ते सम्प्राप्ते धर्मे शिथिलतां गते ॥
पाखण्डिनां गणानां हि वधार्थं भरतर्षभः।
धर्मस्य च विवृद्ध्यर्थं विप्राणां हितकाम्यया ॥

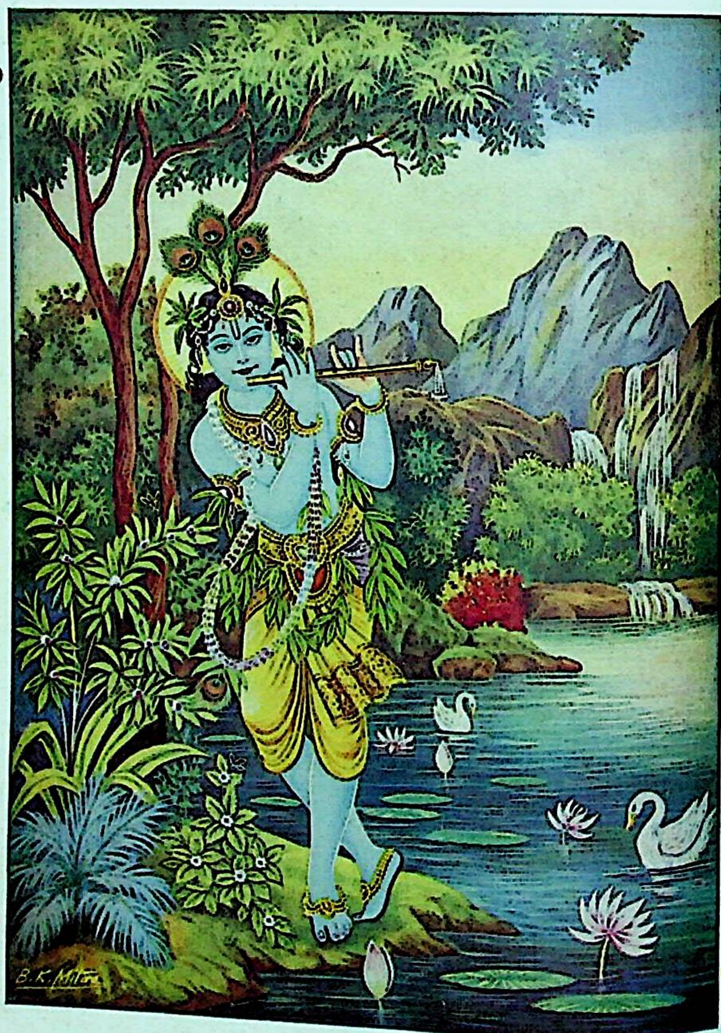
कलियुगके अन्तमें जब धर्म शिथिल हो जायगा, उस समय भगवान् श्रीहरि पाखण्डियोंके वध तथा धर्मकी वृद्धिके लिये और ब्राह्मणोंके हितकी कामनासे पुनः अवतार लेंगे। उनके उस अवतारका नाम होगा 'कल्कि विष्णुयशा' ॥

एते चान्ये च बहवो दिव्या देवगणैर्युताः।
प्रादुर्भावाः पुराणेषु गीयन्ते ब्रह्मवादिभिः ॥

भगवान्‌के ये तथा और भी बहुत-से दिव्य अवतार देवगणोंके साथ होते हैं, जिनका ब्रह्मवादी पुरुष पुराणोंमें वर्णन करते हैं ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

वृन्दावनमें श्रीकृष्ण



काकपक्षधरः श्रीमाञ्छ्यामः पद्मनिभेक्षणः । श्रीवत्सेनोरसा युक्तः शशाङ्क इव लक्ष्मणा ॥
गोपवेषः स मधुरं गायन् वेणुं च वादयन् । प्रह्लादनार्थं तु गवां क्वचिद्वनगतो युवा ॥

[श्रीकृष्णका प्राकट्य तथा श्रीकृष्ण-बलरामकी बाललीलाओंका वर्णन]

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तोऽथ कौन्तेयस्ततः पौरवनन्दनः।
आबभाषे पुनर्भीष्मं धर्मराजो युधिष्ठिरः॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मजीके इस प्रकार कहनेपर पूरुवंशको आनन्दित करनेवाले कुन्ती-कुमार धर्मराज युधिष्ठिरने पुनः उनसे कहा॥

युधिष्ठिर उवाच

भूय एव मनुष्येन्द्र उपेन्द्रस्य यशस्विनः।
जन्म वृष्णिषु विज्ञातुमिच्छामि वदतां वर॥

युधिष्ठिर बोले—वक्ताओंमें श्रेष्ठ नरेन्द्र! मैं यशस्वी भगवान् विष्णुके वृष्णिवंशमें अवतार ग्रहण करनेका वृत्तान्त पुनः (विस्तारपूर्वक) जानना चाहता हूँ॥

यथैव भगवाञ्जातः क्षिताविह जनार्दनः।
माधवेषु महाबुद्धिस्तन्मे ब्रूहि पितामह॥

पितामह! परम बुद्धिमान् भगवान् जनार्दन इस पृथ्वीपर मधुवंशमें जिस प्रकार उत्पन्न हुए, वह सब प्रसङ्ग मुझसे कहिये॥

यदर्थं च महातेजा गास्तु गोवृषभेक्षणः।
ररक्ष कंसस्य वधाल्लोकानामभिरक्षिता॥

बैलके समान विशाल नेत्रोंवाले लोकरक्षक महातेजस्वी श्रीकृष्णने किसलिये कंसका वध करके गौओंकी रक्षा की!॥

क्रीडता चैव यद् बाल्ये गोविन्देन विचेष्टितम्।
तदा मतिमतां श्रेष्ठ तन्मे ब्रूहि पितामह॥

बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ पितामह! उस समय बाल्यावस्थामें बालकोचित क्रीडाएँ करते समय भगवान् गोविन्दने क्या-क्या लीलाएँ कीं! यह सब मुझे बताइये॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्ततो भीष्मः केशवस्य महात्मनः।
माधवेषु तदा जन्म कथयामास वीर्यवान्॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! राजा युधिष्ठिर-के इस प्रकार पूछनेपर महापराक्रमी भीष्मने मधुवंशमें भगवान् केशवके अवतार लेनेकी कथा कहनी प्रारम्भ की॥

भीष्म उवाच

हन्त ते कथयिष्यामि युधिष्ठिर यथातथम्।
यतो नारायणस्येह जन्म वृष्णिषु कौरव॥

भीष्मजी बोले—कुरुरत्न युधिष्ठिर! अब मैं वृष्णिवंशमें भगवान् नारायणके अवतार-ग्रहणका यथावत् वृत्तान्त कहूँगा॥

अजातशत्रो जातस्तु यथैष भुवि भूमिपः।
कीर्त्यमानं मया तात निबोध भरतर्षभ॥

भरतकुलभूषण तात अजातशत्रो! वसुधाकी रक्षा करनेवाले ये भगवान् यहाँ किस प्रकार प्रकट हुए। यह मैं बतला रहा हूँ, ध्यान देकर सुनो॥

सागराः समकम्पन्त मुदा चेलुश्च पर्वताः।
जज्वलुश्चाग्नयः शान्ता जायमाने जनार्दने॥

भगवान्‌के जन्मके समय आनन्दोद्रेकके कारण समुद्रमें उत्ताल तरंगें उठने लगीं, पर्वत हिलने लगे और बुझी हुई अग्नियाँ भी सहसा प्रज्वलित हो उठीं॥

शिवाः सम्प्रववुर्वाताः प्रशान्तमभवद् रजः।
ज्योतींषि सम्प्रकाशन्ते जायमाने जनार्दने॥

भगवान् जनार्दनके जन्मकालमें शीतल, मन्द एवं सुखद वायु चलने लगी। धरतीकी धूल शान्त हो गयी और नक्षत्र प्रकाशित होने लगे॥

देवदुन्दुभयश्चापि सस्वनुर्भृशमम्बरे।
अभ्यवर्षंस्तदाऽऽगम्य देवताः पुष्पवृष्टिभिः॥

आकाशमें देवलोकके नगाड़े जोर-जोरसे बजने लगे और देवगण आ-आकर वहाँ फूलोंकी वर्षा करने लगे॥

गीर्भिर्मङ्गलयुक्ताभिरस्तुवन् मधुसूदनम्।
उपतस्थुस्तदा प्रीताः प्रादुर्भावे महर्षयः॥

वे मङ्गलमयी वाणीद्वारा भगवान् मधुसूदनकी स्तुति करने लगे। भगवान्‌के अवतारका समय जान महर्षिगण भी अत्यन्त प्रसन्न होकर वहाँ आ पहुँचे॥

ततस्तानभिसम्प्रेक्ष्य नारदप्रमुखानृषीन्।
उपानृत्यन्नुपजगुर्गन्धर्वाप्सरसां गणाः॥

नारद आदि देवर्षियोंको उपस्थित देख गन्धर्व और अप्सराएँ नाचने और गाने लगीं॥

उपतस्थे च गोविन्दं सहस्राक्षः शचीपतिः।
अभ्यभाषत तेजस्वी महर्षीन् पूजयंस्तदा॥

उस समय सहस्र नेत्रोंवाले शचीवल्लभ तेजस्वी इन्द्र भगवान् गोविन्दकी सेवामें उपस्थित हुए और महर्षियोंका आदर करते हुए बोले॥

इन्द्र उवाच

कृत्यानि देवकार्याणि कृत्वा लोकहिताय च।
स्वलोकं लोककृद् देव पुनर्गच्छ स्वतेजसा॥

इन्द्रने कहा—देव! आप सम्पूर्ण जगत्‌के स्रष्टा हैं। देवताओंके जो कर्तव्य कार्य हैं, उन सबको सम्पूर्ण जगत्‌के हितके लिये सिद्ध करके आप अपने तेजसहित पुनः परमधामको पधारिये॥

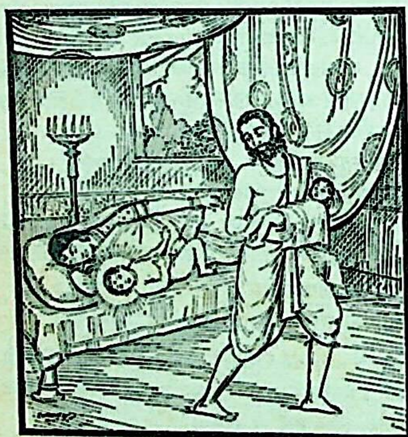
भीष्म उवाच

इत्युक्त्वा मुनिभिः सार्धं जगाम त्रिदिवेश्वरः।

भीष्मजी कहते हैं—ऐसा कहकर स्वर्गलोकके स्वामी इन्द्र देवर्षियोंके साथ अपने लोकको चले गये ॥

वसुदेवस्ततो जातं बालमादित्यसंनिभम्।
नन्दगोपकुले राजन् भयात् प्राच्छादयद्धरिम् ॥

राजन्! तदनन्तर वसुदेवजीने कंसके भयसे सूर्यके समान तेजस्वी अपने नवजात बालक श्रीहरिको नन्दगोपके घरमें छिपा दिया ॥



नन्दगोपकुले कृष्ण उवास बहुलाः समाः।
ततः कदाचित् सुप्तं तं शकटस्य त्वधः शिशुम् ॥
यशोदा सम्परित्यज्य जगाम यमुनां नदीम्।

श्रीकृष्ण बहुत वर्षोंतक नन्दगोपके ही घरमें रहे। एक दिन वहाँ शिशु श्रीकृष्ण एक छकड़ेके नीचे सोये थे। माता यशोदा उन्हें वहीं छोड़कर यमुनाजीके तटपर चली गयीं ॥

शिशुलीलां ततः कुर्वन् स्वहस्तचरणौ क्षिपन् ॥
रुरोद मधुरं कृष्णः पादावूर्ध्वं प्रसारयन्।
पादाङ्गुष्ठेन शकटं धारयन्नथ केशवः ॥
तत्रार्थैकेन पादेन पातयित्वा तथा शिशुः।

उस समय श्रीकृष्ण शिशुलीलाका प्रदर्शन करते हुए अपने हाथ-पैर फेंक-फेंककर मधुर स्वरमें रोने लगे। पैरोंको ऊपर फेंकते समय भगवान् केशवने अपने पैरके अँगूठेसे छकड़ेको धक्का दे दिया और इस प्रकार एक ही पाँवसे छकड़ेको उलटकर गिरा दिया ॥

न्युब्जः पयोधराकाङ्क्षी चकार च रुरोद च ॥
पातितं शकटं दृष्ट्वा भिन्नभाण्डघटीघटम्।
जनास्ते शिशुना तेन विस्मयं परमं ययुः ॥

उसके बाद वे स्वयं औंधे मुँह हो गये और माताका स्तन पीनेकी इच्छासे जोर-जोरसे रोने लगे। शिशुके ही पदाघातसे छकड़ा उलटकर गिर गया तथा उसपर रखे हुए सभी मटके और घड़े आदि बर्तन चकनाचूर होगये। यह देखकर सब लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥

प्रत्यक्षं शूरसेनानां दृश्यते महदद्भुतम्।
पूतना चापि निहता महाकाया महास्तनी ॥
पश्यतां सर्वदेवानां वासुदेवेन भारत।

भरतनन्दन! शूरसेन देश (मथुरामण्डल)के निवासियोंको यह अत्यन्त अद्भुत घटना प्रत्यक्ष दिखायी दी तथा वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने (आकाशमें स्थित) सब देवताओंके देखते-देखते महाकाय एवं विशाल स्तनोंवाली पूतनाको भी पहले मार डाला था ॥

ततः काले महाराज संसक्तौ रामकेशवौ ॥
विष्णुः सङ्कर्षणश्चोभौ रिङ्गिणौ समपद्यताम्।

महाराज! तदनन्तर संकर्षण और विष्णुके स्वरूप बलराम और श्रीकृष्ण दोनों भाई कुछ कालके अनन्तर एक साथ ही घुटनोंके बल रेंगने लगे ॥

अन्योन्यकिरणग्रस्तौ चन्द्रसूर्याविवाम्बरे ॥
विसर्पयेतां सर्वत्र सर्पभोगभुजौ तदा।

जैसे चन्द्रमा और सूर्य एक दूसरेकी किरणोंसे बँधकर आकाशमें एक साथ विचरते हों, उसी प्रकार बलराम और श्रीकृष्ण सर्वत्र एक साथ चलते-फिरते थे। उनकी भुजाएँ सर्पके शरीरकी भाँति सुशोभित होती थीं ॥

रेजतुः पांसुदिग्धाङ्गौ रामकृष्णौ तदा नृप ॥
क्वचिच्च जानुभिर्घृष्टौ क्रीडमानौ क्वचिद् वने।
पिबन्तौ दधिकुल्याश्च मथ्यमाने च भारत ॥

नरेश्वर! बलराम और श्रीकृष्ण दोनोंके अङ्ग धूलि-धूसरित होकर बड़ी शोभा पाते। भारत! कभी वे दोनों भाई घुटनोंके बल चलते थे, जिससे उनमें घट्ठे पड़ गये थे। कभी वे वनमें खेला करते और कभी मथते समय दहीका घोल लेकर पीया करते थे ॥

ततः स बालो गोविन्दो नवनीतं तदा क्षये।
ग्रसमानस्तु तत्रायं गोपीभिर्ददृशेऽथ वै ॥

एक दिन बालक श्रीकृष्ण एकान्त गृहमें छिपकर माखन खा रहे थे। उस समय वहाँ उन्हें कुछ गोपियोंने देख लिया।

दाम्नाथोलूखले कृष्णो गोपस्त्रीभिश्च बन्धितः।
तदाथ शिशुना तेन राजंस्तावर्जुनावुभौ ॥
समूलविटपौ भग्नौ तदद्भुतमिवाभवत्।

तब उन यशोदा आदि गोपाङ्गनाओंने एक रस्सीसे श्रीकृष्णको ऊखलमें बाँध दिया। राजन्! उस समय उन्होंने उस ऊखलको यमलार्जुन वृक्षोंके बीचमें अड़ाकर उन्हें जड़ और शाखाओं सहित तोड़ डाला। वह एक अद्भुत-सी घटना घटित हुई।

तत्रासुरौ महाकायौ गतप्राणौ बभूवतुः ॥

उन वृक्षोंपर दो विशालकाय असुर रहा करते थे। वे भी वृक्षोंके टूटनेके साथ ही अपने प्राणोंसे हाथ धो बैठे ॥

ततस्तौ बाल्यमुत्तीर्णौ कृष्णसङ्कर्षणावुभौ।
तस्मिन्नेव व्रजस्थाने सप्तवर्षौ बभूवतुः ॥

तदनन्तर वे दोनों भाई श्रीकृष्ण और बलराम बाल्यावस्थाकी सीमाको पार करके उस व्रजमण्डलमें ही सात वर्षकी अवस्थावाले हो गये ॥

नीलपीताम्बरधरौ पीतश्वेतानुलेपनौ।
बभूवतुर्वत्सपालौ काकपक्षधरावुभौ ॥

बलराम नीले रंगके और श्रीकृष्ण पीले रंगके वस्त्र धारण करते थे। एकके श्रीअङ्गोंपर पीले रंगका अङ्गराग लगता था और दूसरेके श्वेत रंगका! दोनों भाई काकपक्ष (सिरके पिछले भागमें बड़े-बड़े केश) धारण किये बछड़े चराने लगे ॥

पर्णवाद्यं श्रुतिसुखं वादयन्तौ वराननौ।
शुशुभाते वनगतावुद्दीर्णाविव पन्नगौ ॥

उन दोनोंकी मुखच्छवि बड़ी मनोहारिणी थी। वे वनमें जाकर श्रवण-सुखद पर्णवाद्य (पत्तोंके बाजे पिपिहरी आदि) बजाया करते थे। वहाँ दो तरुण नागकुमारोंकी भाँति उन दोनोंकी बड़ी शोभा होती थी ॥

मयूराङ्गजकर्णौ तौ पल्लवापीडधारिणौ।
वनमालापरिक्षिप्तौ सालपोताविवोद्गतौ ॥

वे अपने कानोंमें मोरके पंख लगा लेते, मस्तकपर पल्लवोंके मुकुट धारण करते और गलेमें वनमाला डाल लेते थे। उस समय शालके नये पौधोंकी भाँति उन दोनोंकी बड़ी शोभा होती थी ॥

अरविन्दकृतापीडौ रज्जुयज्ञोपवीतिनौ।
शिक्यतुम्बधरौ वीरौ गोपवेणुप्रवादकौ ॥

वे कभी कमलके फूलोंके शिरोभूषण धारण करते और कभी बछड़ोंकी रस्सियोंको यज्ञोपवीतकी भाँति धारण कर लेते थे। वीरवर श्रीकृष्ण और बलराम छींके और तुम्बी लिये वनमें घूमते और गोपजनोचित वेणु बजाया करते थे ॥

क्वचिद् वसन्तावन्योन्यं क्रीडमानौ क्वचिद् वने।
पर्णशय्यासु संसुप्तौ क्वचिन्निद्रान्तरैषिणौ ॥

वे दोनों भाई कहीं ठहर जाते, कहीं वनमें एक दूसरेके साथ खेलने लगते और कहीं पत्तोंकी शय्या बिछाकर सो जाते तथा नींद लेने लगते थे ॥

तौ वत्सान् पालयन्तौ हि शोभयन्तौ महद् वनम्।
चञ्चूर्यन्तौ रमन्तौ स्म राजन्नेवं तदा शुभौ ॥

राजन्! इस प्रकार वे मङ्गलमय बलराम और श्रीकृष्ण बछड़ोंकी रक्षा करते तथा उस महान् वनकी शोभा बढ़ाते हुए सब ओर घूमते और भाँति-भाँतिकी क्रीड़ाएँ करते थे ॥

ततो वृन्दावनं गत्वा वसुदेवसुतावुभौ।
गोव्रजं तत्र कौन्तेय चारयन्तौ विजह्रतुः ॥

कुन्तीनन्दन! तदनन्तर वे दोनों वसुदेवपुत्र वृन्दावनमें जाकर गौएँ चराते हुए लीला-विहार करने लगे ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[कालिय-मर्दन एवं धेनुकासुर, अरिष्टासुर और कंस आदिका वध, श्रीकृष्ण और बलरामका विद्याभ्यास तथा गुरु-दक्षिणारूपसे गुरुजीको उनके मरे हुए पुत्रको जीवित करके देना]

भीष्म उवाच

ततः कदाचिद् गोविन्दो ज्येष्ठं सङ्कर्षणं विना।
चचार तद् वनं रम्यं रम्यरूपो वराननः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर! तदनन्तर एक दिन मनोहर रूप और सुन्दर मुखवाले भगवान् गोविन्द अपने बड़े भाई संकर्षणको साथ लिये बिना ही रमणीय वृन्दावनमें चले गये और वहाँ इधर-उधर भ्रमण करने लगे ॥

काकपक्षधरः श्रीमाञ्छ्यामः पद्मनिभेक्षणः।
श्रीवत्सेनोरसा युक्तः शशाङ्क इव लक्ष्मणा ॥

उन्होंने काक-पक्ष धारण कर रक्खा था। वे परम शोभायमान, श्याम-वर्ण तथा कमलके समान सुन्दर नेत्रोंसे सुशोभित थे। जैसे चन्द्रमा कलंकसे युक्त होकर शोभा पाता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णका वक्षःस्थल श्रीवत्स-चिह्नसे शोभा पा रहा था ॥

रज्जुयज्ञोपवीती स पीताम्बरधरो युवा।
श्वेतगन्धेन लिप्ताङ्गो नीलकुञ्चितमूर्धजः ॥
राजता बर्हिपत्रेण मन्दमारुतकम्पिना।
क्वचिद् गायन् क्वचित् क्रीडन् क्वचिन्नृत्यन् क्वचिद्धसन्।
गोपवेषः स मधुरं गायन् वेणुं च वादयन्।
प्रह्लादनार्थं तु गवां क्वचिद् वनगतो युवा ॥
गोकुले मेघकाले तु चचार द्युतिमान् प्रभुः।
बहुरम्येषु देशेषु वनस्य वनराजिषु ॥
तासु कृष्णो मुदं लेभे क्रीडया भरतर्षभ।
स कदाचिद् वने तस्मिन् गोभिः स परिव्रजन्॥

उन्होंने रस्सियोंको यज्ञोपवीतकी भाँति पहन रक्खा था। उनके श्रीअङ्गोंपर पीताम्बर शोभा पा रहा था। विभिन्न अङ्गोंमें श्वेत चन्दनका अनुलेप किया गया था। उनके मस्तकपर काले-घुँघराले केश सुशोभित थे। सिरपर मोरपंखका मुकुट शोभा पाता था, जो मन्द-मन्द वायुके झोंकोंसे लहरा रहा था। भगवान् कहीं गीत गाते, कहीं क्रीड़ा करते, कहीं नाचते और कहीं हँसते थे। इस प्रकार गोपालोचित वेष धारण किये मधुर गीत

गाते और वेणु बजाते हुए तरुण श्रीकृष्ण गौओंको आनन्दित करनेके लिये कभी-कभी वनमें घूमते थे। अत्यन्त कान्तिमान् भगवान् श्रीकृष्ण वर्षाके समय गोकुलमें वहाँके अतिशय रमणीय प्रदेशों तथा वनश्रेणियोंमें विचरण करते थे। भरतश्रेष्ठ! उन वनश्रेणियोंमें भाँति-भाँतिके खेल करके श्यामसुन्दर बड़े प्रसन्न होते थे। एक दिन वे गौओंके साथ वनमें घूम रहे थे॥

भाण्डीरं नाम दृष्ट्वाथ न्यग्रोधं केशवो महान्।
तच्छायायां निवासाय मतिं चक्रे तदा प्रभुः॥

घूमते-घूमते महात्मा भगवान् केशवने भाण्डीर नामक वटवृक्ष देखा और उसकी छायामें बैठनेका विचार किया॥

स तत्र वयसा तुल्यैः वत्सपालैः सहानघ।
रेमे स दिवसान् कृष्णः पुरा स्वर्गपुरे तथा॥

निष्पाप युधिष्ठिर! वहाँ श्रीकृष्ण समान अवस्थावाले दूसरे गोप-बालकोंके साथ बछड़े चराते थे, दिनभर खेल-कूद करते थे और पहले दिव्य धाममें जिस प्रकार वे आनन्दित होते थे, उसी प्रकार वनमें आनन्दपूर्वक दिन बिताते थे॥

तं क्रीडमानं गोपालाः कृष्णं भाण्डीरवासिनः।
रमयन्ति स्म बहवो मान्यैः क्रीडनकैस्तदा॥
अन्ये स्म परिगायन्ति गोपा मुदितमानसाः।
गोपालाः कृष्णमेवान्ये गायन्ति स्म वनप्रियाः॥

भाण्डीरवनमें निवास करनेवाले बहुत-से ग्वाले वहाँ क्रीडा करते हुए श्रीकृष्णको अच्छे-अच्छे खिलौनोंद्वारा प्रसन्न रखते थे। दूसरे प्रसन्नचित्त रहनेवाले गोप, जिन्हें वनमें घूमना प्रिय था, सदा श्रीकृष्णकी महिमाका गान किया करते थे॥

तेषां संगायतामेव वादयामास केशवः।
पर्णवाद्यान्तरे वेणुं तुम्बं वीणां च तत्र वै॥
एवं क्रीडान्तरैः कृष्णो गोपालैर्विजहार सः।

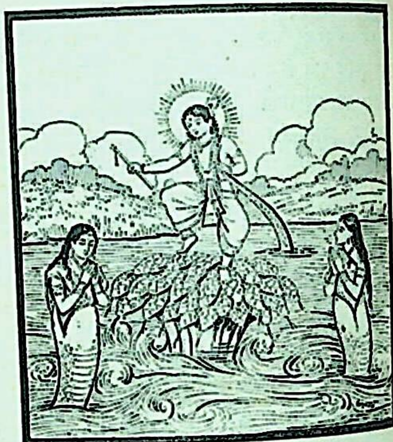
जब वे गीत गाते, उस समय भगवान् श्रीकृष्ण पत्तोंके बाजोंके बीच-बीचमें वेणु, तुम्बी और वीणा बजाया करते थे। इस प्रकार विभिन्न लीलाओंद्वारा श्रीकृष्ण गोपबालकोंके साथ खेलते थे॥

तेन बालेन कौन्तेय कृतं लोकहितं तदा॥
पश्यतां सर्वभूतानां वासुदेवेन भारत।

भरतनन्दन! उस समय बालक श्रीकृष्णने सम्पूर्ण भूतोंके देखते-देखते लोकहितके अनेक कार्य किये॥

ह्रदे नीपवने तत्र क्रीडितं नागमूर्धनि॥
कालियं शासयित्वा तु सर्वलोकस्य पश्यतः।
विजहार ततः कृष्णो बलदेवसहायवान्॥

वृन्दावनमें कदम्बवनके पास जो ह्रद (कुण्ड) था, उसमें प्रवेश करके उन्होंने कालियनागके मस्तकपर नृत्यक्रीडा की



थी! फिर सब लोगोंके सामने ही कालियनागको अन्यत्र जानेका आदेश देकर वे बलदेवजीके साथ वनमें इधर-उधर विचरण करने लगे॥

धेनुको दारुणो दैत्यो राजन् रासभविग्रहः।
तदा तालवने राजन् बलदेवेन वै हतः॥

राजन्! तालवनमें धेनुक नामक भयंकर दैत्य निवास करता था, जो गधेका रूप धारण करके रहता था। उस समय वह बलदेवजीके हाथसे मारा गया॥

ततः कदाचित् कौन्तेय रामकृष्णौ वनं गतौ।
चारयन्तौ प्रवृद्धानि गोधनानि शुभाननौ॥

कुन्तीनन्दन! तदनन्तर किसी समय सुन्दर मुखवाले बलराम और श्रीकृष्ण अपने बढ़े हुए गोधनको चरानेके लिये वनमें गये॥

विहरन्तौ मुदा युक्तौ वीक्षमाणौ वनानि वै।
क्ष्वेलयन्तौ प्रगायन्तौ विचिन्वन्तौ च पादपान्॥

वहाँ वनकी शोभा निहारते हुए वे दोनों भाई घूमते-खेलते, गीत गाते और विभिन्न वृक्षोंकी खोज करते हुए बड़े प्रसन्न होते थे॥

नामभिर्व्याहरन्तौ च वत्सान् गाश्च परंतपौ।
चेरतुर्लोकसिद्धाभिः क्रीडाभिरपराजितौ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले वे दोनों अजेय वीर लोकप्रसिद्ध गौओं और बछड़ोंको नाम ले-लेकर बुलाते और लोकप्रसिद्ध बालोचित क्रीडाएँ करते रहते थे॥

तौ देवौ मानुषीं दीक्षां वहन्तौ सुरपूजितौ।
तज्जातिगुणयुक्ताभिः क्रीडाभिश्चेरतुर्वनम्॥

वे दोनों देववन्दित देवता थे तो भी मानवी दीक्षा धारण करनेके कारण मानव-जातिके अनुरूप गुणोंवाली क्रीडाएँ करते हुए वनमें विचरते थे॥

ततः कृष्णो महातेजास्तदा गत्वा तु गोव्रजम्।
गिरियज्ञं तमेवैष प्रकृतं गोपदारकैः॥
बुभुजे पायसं शौरिरीश्वरः सर्वभूतकृत्।

तत्पश्चात् महातेजस्वी श्रीकृष्ण गौओंके व्रजमें जाकर गोपबालकोंद्वारा किये जानेवाले गिरियज्ञमें सम्मिलित हो वहाँ सर्वभूतस्रष्टा ईश्वरके रूपमें अपनेको प्रकट करके (गिरिराजके लिये समर्पित) खीरको स्वयं ही खाने लगे ॥

तं दृष्ट्वा गोपकाः सर्वे कृष्णमेव समर्चयन्॥
पूज्यमानस्ततो गोपैर्दिव्यं वपुरधारयत्।

उन्हें देखकर सब गोप भगवद्बुद्धिसे श्रीकृष्णके उस स्वरूपकी ही पूजा करने लगे। गोपालोंद्वारा पूजित श्रीकृष्णने दिव्य रूप धारण कर लिया ॥

धृतो गोवर्धनो नाम सप्ताहं पर्वतस्तदा॥
शिशुना वासुदेवेन गवार्थमरिमर्दन।

शत्रुमर्दन युधिष्ठिर! (जब इन्द्र वर्षा कर रहे थे, उस समय) बालक वासुदेवने गौओंकी रक्षाके लिये एक सप्ताहतक गोवर्धन पर्वतको अपने हाथपर उठा रक्खा था ॥

क्रीडमानस्तदा कृष्णः कृतवान् कर्म दुष्करम्॥
तदद्भुतमिवात्रासीत् सर्वलोकस्य भारत।

भरतनन्दन! उस समय श्रीकृष्णने खेल-खेलमें ही अत्यन्त दुष्कर कर्म कर डाला, जो सब लोगोंके लिये अत्यन्त अद्भुत-सा था ॥

देवदेवः क्षितिं गत्वा कृष्णं दृष्ट्वा मुदान्वितः॥
गोविन्द इति तं ह्युक्त्वा ह्यभ्यषिञ्चत् पुरंदरः।
इत्युक्त्वाऽऽश्लिष्य गोविन्दं पुरुहूतोऽभ्ययाद् दिवम्।

देवाधिदेव इन्द्रने भूतलपर जाकर जब श्रीकृष्णको (गोवर्धन धारण किये) देखा, तब उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई। उन्होंने श्रीकृष्णको 'गोविन्द' नाम देकर उनका ('गवेन्द्र' पदपर) अभिषेक किया। देवराज इन्द्र गोविन्दको हृदयसे लगाकर उनकी अनुमति ले स्वर्गलोकको चले गये ॥

अथारिष्ट इति ख्यातं दैत्यं वृषभविग्रहम्।
जघान तरसा कृष्णः पशूनां हितकाम्यया॥

तदनन्तर श्रीकृष्णने पशुओंके हितकी कामनासे वृषभरूपधारी अरिष्ट नामक दैत्यको वेगपूर्वक मार गिराया ॥

केशिनं नाम दैतेयं राजन् वै हयविग्रहम्।
तथा वनगतं पार्थ गजायुतबलं हयम्॥
प्रहितं भोजपुत्रेण जघान पुरुषोत्तमः।

राजन्! व्रजमें केशी नामका एक दैत्य रहता था, जिसका शरीर घोड़ेके समान था। उसमें दस हजार हाथियोंका बल था। कुन्तीनन्दन! उस अश्वरूपधारी दैत्यको भोजकुलोत्पन्न कंसने भेजा था। वृन्दावनमें आनेपर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने उसे भी अरिष्टासुरकी भाँति मार दिया ॥

आन्ध्रं मल्लं च चाणूरं निजघान महासुरम्॥

कंसके दरबारमें एक आन्ध्रदेशीय मल्ल था, जिसका नाम था चाणूर। वह एक महान् असुर था। श्रीकृष्णने उसे भी मार डाला ॥

सुनामानममित्रघ्नं सर्वसैन्यपुरस्कृतम्।
बालरूपेण गोविन्दो निजघान च भारत॥

भरतनन्दन! (कंसका भाई) शत्रुनाशक सुनामा कंसकी सारी सेनाका अगुआ—सेनापति था। गोविन्द अभी बालक थे, तो भी उन्होंने सुनामाको मार दिया ॥

बलदेवेन चायत्तः समाजे मुष्टिको हतः।

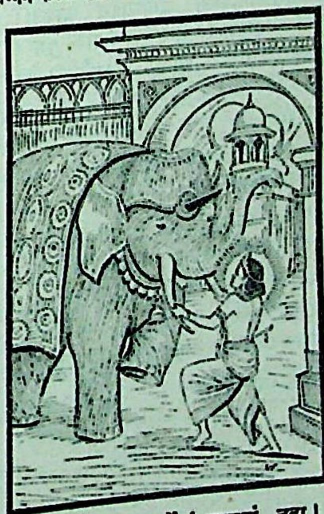
भारत! (दंगल देखनेके लिये जुटे हुए) जनसमाजमें युद्धके लिये तैयार खड़े हुए मुष्टिक नामक पहलवानको बलरामजीने अखाड़ेमें ही मार दिया ॥

त्रासितश्च तदा कंस स हि कृष्णेन भारत॥

युधिष्ठिर! उस समय श्रीकृष्णने कंसके मनमें भारी भय उत्पन्न कर दिया ॥

ऐरावतं युयुत्सन्तं मातङ्गानामिवर्षभम्।
कृष्णः कुवलयापीडं हतवांस्तस्य पश्यतः॥

हाथियोंमें श्रेष्ठ कुवलयापीडको, जो ऐरावतकुलमें उत्पन्न हुआ था और श्रीकृष्णको कुचल देना चाहता था, श्रीकृष्णने कंसके देखते-देखते ही मार गिराया ॥



हत्वा कंसममित्रघ्नः सर्वेषां पश्यतां तदा।
अभिषिच्योग्रसेनं तं पित्रोः पादमवन्दत॥

फिर शत्रुनाशन श्रीकृष्णने सब लोगोंके सामने ही कंसको मारकर उग्रसेनको राजपदपर अभिषिक्त कर दिया और अपने माता-पिता देवकी-वसुदेवके चरणोंमें प्रणाम किया ॥

एवमादीनि कर्माणि कृतवान् वै जनार्दनः।
उवास कतिचित् तत्र दिनानि सहलायुधः ॥

इस प्रकार जनार्दनने कितने ही अद्भुत कार्य किये और कुछ दिनोंतक बलरामजीके साथ वे मथुरामें ही रहे ॥

ततस्तौ जग्मतुस्तात गुरुं सान्दीपनिं पुनः।
गुरुशुश्रूषया युक्तौ धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ ॥

तात युधिष्ठिर ! तदनन्तर वे दोनों धर्मज्ञ भाई गुरु सान्दीपनिके यहाँ (उज्जयिनीपुरीमें) विद्याध्ययनके लिये गये। वहाँ वे गुरुसेवा-परायण हो सदा धर्मके ही अनुष्ठानमें लगे रहे ॥

व्रतमुग्रं महात्मानौ विचरन्तावतिष्ठताम्।
अहोरात्रचतुष्षष्ट्या षडङ्गं वेदमापतुः ॥

वे दोनों महात्मा कठोर व्रतका पालन करते हुए वहाँ रहते थे। उन्होंने चौंसठ दिन-रातमें ही छहों अङ्गों-सहित सम्पूर्ण वेदोंका ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥

लेख्यं च गणितं चोभौ प्राप्नुतां यदुनन्दनौ।
गान्धर्ववेदं वैद्यं च सकलं समवापतुः ॥

इतना ही नहीं, उन यदुकुलकुमारोंने लेख्य (चित्रकला), गणित, गान्धर्ववेद तथा सारे वैद्यको भी उतने ही समयके भीतर जान लिया ॥

हस्तिशिक्षामश्वशिक्षां द्वादशाहेन चापतुः।
तावुभौ जग्मतुर्वीरौ गुरुं सान्दीपनिं पुनः ॥
धनुर्वेदचिकीर्षार्थं धर्मज्ञौ धर्मचारिणौ।

गजशिक्षा तथा अश्वशिक्षाको तो उन्होंने कुल बारह दिनोंमें ही प्राप्त कर लिया। इसके बाद वे दोनों धर्मज्ञ एवं धर्मपरायण वीर धनुर्वेद सीखनेके लिये पुनः सान्दीपनि मुनिके पास गये ॥

ताविष्वस्त्रवराचार्यमभिगम्य प्रणम्य च ॥
तेन तौ सत्कृतौ राजन् विचरन्ताववन्तिषु।

राजन्! धनुर्वेदके श्रेष्ठ आचार्य सान्दीपनिके पास जाकर उन दोनोंने प्रणाम किया। सान्दीपनिने उन्हें सत्कारपूर्वक अपनाया एवं वे फिर अवन्तीमें विचरते हुए वहाँ रहने लगे ॥

पञ्चाशद्भिरहोरात्रैर्दशाङ्गं सुप्रतिष्ठितम् ॥
सरहस्यं धनुर्वेदं सकलं ताववापतुः।

पचास दिन-रातमें ही उन दोनोंने दस अङ्गोंसे युक्त, सुप्रतिष्ठित एवं रहस्यसहित सम्पूर्ण धनुर्वेदका ज्ञान प्राप्त कर लिया ॥

दृष्ट्वा कृतास्त्रौ विप्रेन्द्रो गुर्वर्थे तावचोदयत् ॥
अयाचतार्थं गोविन्दं ततः सान्दीपनिर्विभुः।

उन दोनों भाइयोंको अस्त्र-विद्यामें निपुण देखकर विप्रवर सान्दीपनिने उन्हें गुरुदक्षिणा देनेकी आज्ञा दी। सान्दीपनिजी सब विषयोंके विद्वान् थे। उन्होंने श्रीकृष्णसे अपने अभीष्ट मनोरथकी याचना इस प्रकार की ॥

मम पुत्रः समुद्रेऽस्मिंस्तिमिना चापवाहितः ॥
पुत्रमानय भद्रं ते भक्षितं तिमिना मम।

सान्दीपनिरुवाच

सान्दीपनिजी बोले—मेरा पुत्र इस समुद्रमें नहा रहा था, उस समय 'तिमि' नामक जलजन्तु उसे पकड़कर भीतर ले गया और उसके शरीरको खा गया। तुम दोनोंका भला हो। मेरे उस मरे हुए पुत्रको जीवित करके यहाँ ला दो ॥

भीष्म उवाच

आर्ताय गुरवे तत्र प्रतिशुश्राव दुष्करम् ॥
अशक्यं त्रिषु लोकेषु कर्तुमन्येन केनचित्।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! इतना कहते-कहते गुरु सान्दीपनि पुत्रशोकसे आर्त हो गये। यद्यपि उनकी माँग बहुत कठिन थी, तीनों लोकोंमें दूसरे किसी पुरुषके लिये इस कार्यका साधन करना असम्भव था, तो भी श्रीकृष्णने उसे पूर्ण करनेकी प्रतिज्ञा कर ली ॥

यश्च सान्दीपनेः पुत्रं जघान भरतर्षभ ॥
सोऽसुरः समरे ताभ्यां समुद्रे विनिपातितः।

भरतश्रेष्ठ ! जिसने सान्दीपनिके पुत्रको मारा था, उस असुरको उन दोनों भाइयोंने युद्ध करके समुद्रमें मार गिराया ॥

ततः सान्दीपनेः पुत्रः प्रसादादमितौजसः ॥
दीर्घकालं गतः प्रेतं पुनरासीच्छरीरवान्।

तदनन्तर अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णके कृपाप्रसादसे सान्दीपनिका पुत्र, जो दीर्घकालसे यमलोकमें जा चुका था, पुनः पूर्ववत् शरीर धारण करके जी उठा ॥

तदशक्यमचिन्त्यं च दृष्ट्वा सुमहदद्भुतम् ॥
सर्वेषामेव भूतानां विस्मयः समजायत।

वह अशक्य, अचिन्त्य और अत्यन्त अद्भुत कार्य देखकर सभी प्राणियोंको बड़ा आश्चर्य हुआ ॥

ऐश्वर्याणि च सर्वाणि गवाश्वं च धनानि च ॥
सर्वं तदुपजह्राते गुरवे रामकेशवौ।
ततस्तं पुत्रमादाय ददौ च गुरवे प्रभुः ॥

बलराम और श्रीकृष्णने अपने गुरुको सब प्रकारके ऐश्वर्य, गाय, घोड़े और प्रचुर धन सब कुछ दिये। तत्पश्चात् गुरुपुत्रको लेकर भगवान्ने गुरुजीको सौंप दिया ॥

तं दृष्ट्वा पुत्रमायान्तं सान्दीपनिपुरे जनाः।
अशक्यमेतत् सर्वेषामचिन्त्यमिति मेनिरे ॥
कश्च नारायणादन्यश्चिन्तयेदिदमद्भुतम्।

उस पुत्रको आया देख सान्दीपनिके नगरके लोग यह मान

गये कि श्रीकृष्णके द्वारा यह ऐसा कार्य सम्पन्न हुआ है, जो अन्य सब लोगोंके लिये असम्भव और अचिन्त्य है। भगवान् नारायणके सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष है, जो इस अद्भुत कार्यको सोच भी सके (करना तो दूरकी बात है) ॥

गदापरिघयुद्धेषु सर्वास्त्रेषु च केशवः ॥
परमां मुख्यतां प्राप्तः सर्वलोकेषु विश्रुतः ।

भगवान् श्रीकृष्णने गदा और परिघके युद्धमें तथा सम्पूर्ण अस्त्र-शस्त्रोंके ज्ञानमें सबसे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त कर लिया। वे समस्त लोकोंमें विख्यात हो गये ॥

भोजराजतनूजोऽपि कंसस्तात युधिष्ठिर ॥
अस्त्रज्ञाने बले वीर्ये कार्तवीर्यसमोऽभवत् ।

तात युधिष्ठिर ! भोजराजकुमार कंस भी अस्त्रज्ञान, बल और पराक्रममें कार्तवीर्य अर्जुनकी समानता करता था ॥

तस्य भोजपतेः पुत्राद् भोजराज्यविवर्धनात् ॥
उद्विजन्ते स्म राजानः सुपर्णादिव पन्नगाः ।

भोजवंशके राज्यकी वृद्धि करनेवाले भोजराजकुमार कंससे भूमण्डलके सब राजा उसी प्रकार उद्विग्न रहते थे, जैसे गरुड़से सर्प ॥

चित्रकार्मुकनिस्त्रिंशविमलप्रासयोधिनः ॥
शतं शतसहस्राणि पादातास्तस्य भारत ।

भरतनन्दन ! उसके यहाँ धनुष, खड्ग और चमचमाते हुए भाले लेकर विचित्र प्रकारसे युद्ध करनेवाले एक करोड़ पैदल सैनिक थे ॥

अष्टौ शतसहस्राणि शूराणामनिवर्तिनाम् ॥
अभवन् भोजराजस्य जाम्बूनदमयध्वजाः ।

भोजराजके रथी सैनिक, जिनके रथोंपर सुवर्णमय ध्वज फहराते रहते थे तथा जो शूरवीर होनेके साथ ही युद्धमें कभी पीठ दिखलानेवाले नहीं थे, आठ लाखकी संख्यामें थे ॥

रुक्मकाञ्चनकक्ष्यास्तु गजास्तस्य युधिष्ठिर ॥
तावन्त्येव सहस्राणि गजानामनिवर्तिनाम् ।

युधिष्ठिर ! कंसके यहाँ युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले हाथी-सवार भी आठ ही लाख थे । उनके हाथियोंकी पीठपर सुवर्णके चमकीले हौदे कसे होते थे ॥

ते च पर्वतसङ्काशाश्चित्रध्वजपताकिनः ॥
बभूवुर्भोजराजस्य नित्यं प्रमुदिता गजाः ।

भोजराजके ये पर्वताकार गजराज विचित्र ध्वजा-पताकाओंसे सुशोभित होते थे और सदा संतुष्ट रहते थे ॥

अलङ्कृतानां शीघ्राणां करेणूनां युधिष्ठिर ।
अभवद् भोजराजस्य द्विस्तावद्धि महद् बलम् ॥

युधिष्ठिर ! भोजराज कंसके यहाँ आभूषणोंसे सजी हुई शीघ्रगामिनी हथिनियोंकी विशाल सेना गजराजोंकी अपेक्षा दूनी थी ॥

षोडशाश्वसहस्राणि किंशुकाभानि तस्य वै ।
अपरस्तु महाव्यूहः किशोराणां युधिष्ठिर ॥
आरोहवरसम्पन्नो दुर्धर्षः केनचिद् बलात् ।
स च षोडशसाहस्रः कंसभ्रातृपुरस्सरः ॥

उसके यहाँ सोलह हजार घोड़े ऐसे थे, जिनका रङ्ग पलासके फूलकी भाँति लाल था। राजन् ! किशोर-अवस्थाके घोड़ोंका एक दूसरा दल भी मौजूद था, जिसकी संख्या सोलह हजार थी। इन अश्वोंके सवार भी बहुत अच्छे थे । इस अश्वसेनाको कोई भी बलपूर्वक दबा नहीं सकता था । कंसका भाई सुनामा इन सबका सरदार था ॥

सुनामा सहशस्तेन स कंसं पर्यपालयत् ।

वह भी कंसके ही समान बलवान् था एवं सदा कंसकी रक्षाके लिये तत्पर रहता था ॥

य आसन् सर्ववर्णास्तु हयास्तस्य युधिष्ठिर ॥
स गणो मिश्रको नाम षष्टिसाहस्र उच्यते ।

युधिष्ठिर ! कंसके यहाँ घोड़ोंका एक और भी बहुत बड़ा दल था, जिसमें सभी रङ्गके घोड़े थे। उस दलका नाम था मिश्रक। मिश्रकोंकी संख्या साठ हजार बतलायी जाती है ॥

कंसरोषमहावेगां ध्वजानूपमहाद्रुमाम् ॥
मत्तद्विपमहाग्राहां वैवस्वतवशानुगाम् ।

(कंसके साथ होनेवाला महान् समर एक भयंकर नदीके समान था।) कंसका रोष ही उस नदीका महान् वेग था। ऊँचे-ऊँचे ध्वज तटवर्ती वृक्षोंके समान जान पड़ते थे। मतवाले हाथी बड़े-बड़े ग्राहोंके समान थे। वह नदी यमराजकी आज्ञाके अधीन होकर चलती थी ॥

शस्त्रजालमहाफेनां सादिवेगमहाजलाम् ॥
गदापरिघपाठीनां नानाकवचशैवलाम् ।

अस्त्र-शस्त्रोंके समूह उसमें फेनका भ्रम उत्पन्न करते थे। सवारोंका वेग उसमें महान् जलप्रवाह-सा प्रतीत होता था। गदा और परिघ पाठीन नामक मछलियोंके सदृश जान पड़ते थे। नाना प्रकारके कवच सेवारके समान थे ॥

रथनागमहावर्तां नानारुधिरकर्दमाम् ॥
चित्रकार्मुककल्लोलां रथाश्वकलिलह्रदाम् ।

रथ और हाथी उसमें बड़ी-बड़ी भँवरोंका दृश्य उपस्थित करते थे। नाना प्रकारका रक्त ही कीचड़का काम करता था। विचित्र धनुष उठती हुई लहरोंके समान जान पड़ते थे। रथ और अश्वोंका समूह ह्रदके समान था ॥

महामृधनदीं घोरां योधावर्तननिःस्वनाम् ॥
को वा नारायणादन्यः कंसहन्ता युधिष्ठिर ।

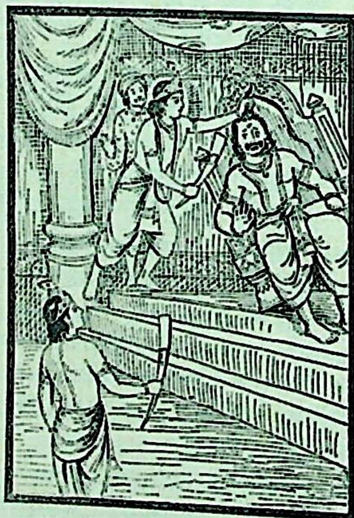
योद्धाओंके इधर-उधर दौड़ने या बोलनेसे जो शब्द होता था, वही उस भयानक समर-सरिताका कलकल नाद था। युधिष्ठिर ! भगवान् नारायणके सिवा ऐसे कंसको कौन मार सकता था ? ॥

एष शक्ररथे तिष्ठंस्तान्यनीकानि भारत ॥
व्यधमद् भोजपुत्रस्य महाभ्राणीव मारुतः ।

भारत ! जैसे हवा बड़े-बड़े बादलोंको छिन्न-भिन्न कर देती है, उसी प्रकार इन भगवान् श्रीकृष्णने इन्द्रके रथमें बैठकर कंसकी उपर्युक्त सारी सेनाओंका संहार कर डाला ॥

तं सभास्थं सहामात्यं हत्वा कंसं सहान्वयम् ॥
मानयामास मानार्हां देवकीं ससुहृद्गणाम् ।

सभामें विराजमान कंसको मन्त्रियों और परिवारके साथ



मारकर श्रीकृष्णने सुहृदोंसहित सम्माननीय माता देवकीका समादर किया ॥

यशोदां रोहिणीं चैव अभिवाद्य पुनः पुनः ॥
उग्रसेनं च राजानमभिषिच्य जनार्दनः ।
अर्चितो यदुमुख्यैश्च भगवान् वासवानुजः ॥

जनार्दनने यशोदा और रोहिणीको भी बारंबार प्रणाम करके उग्रसेनको राजाके पदपर अभिषिक्त किया। उस समय यदुकुलके प्रधान-प्रधान पुरुषोंने इन्द्रके छोटे भाई भगवान् श्रीहरिका पूजन किया ॥

ततः पार्थिवमायान्तं सहितं सर्वराजभिः ।
सरस्वत्यां जरासंधमजयत् पुरुषोत्तमः ॥

तदनन्तर पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने समस्त राजाओंके साथ आक्रमण करनेवाले राजा जरासंधको सरोवरों या हृदोंसे सुशोभित यमुनाके तटपर परास्त किया ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[नरकासुरका सैनिकोंसहित वध, देवता आदिकी सोलह हजार कन्याओंको पत्नीरूपमें स्वीकार करके श्रीकृष्णका उन्हें द्वारका भेजना तथा इन्द्रलोकमें जाकर अदितिको कुण्डल अर्पण कर द्वारकापुरीमें वापस आना]

भीष्म उवाच

शूरसेनपुरं त्यक्त्वा सर्वयादवनन्दनः ।
द्वारकां भगवान् कृष्णः प्रत्यपद्यत केशवः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तदनन्तर समस्त यदुवंशियोंको आनन्दित करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण शूरसेनपुरी मथुराको छोड़कर द्वारकामें चले गये ॥

प्रत्यपद्यत यानानि रत्नानि च बहूनि च ।
यथार्हं पुण्डरीकाक्षो नैर्ऋतान् प्रतिपालयन् ॥

कमलनयन श्रीकृष्णने असुरोंको पराजित करके जो बहुत-से रत्न और वाहन प्राप्त किये थे, उनका वे द्वारकामें यथोचितरूपसे संरक्षण करते थे ॥

तत्र विघ्नं चरन्ति स्म दैतेयाः सह दानवैः ।
ताञ्जघान महाबाहुः वरमत्तान् महासुरान् ॥

उनके इस कार्यमें दैत्य और दानव विघ्न डालने लगे। तब महाबाहु श्रीकृष्णने वरदानसे उन्मत्त हुए उन बड़े-बड़े असुरोंको मार डाला ॥

स विघ्नमकरोत् तत्र नरको नाम नैर्ऋतः ।
त्रासनः सुरसंघानां विदितो वः प्रभावतः ॥

तत्पश्चात् नरक नामक राक्षसने भगवान्के कार्यमें विघ्न डालना आरम्भ किया। वह समस्त देवताओंको भयभीत करनेवाला था। राजन् ! तुम्हें तो उसका प्रभाव विदित ही है ॥

स भूम्यां मूर्तिलिङ्गस्थः सर्वदेवासुरान्तकः ।
मानुषाणामृषीणां च प्रतीपमकरोत् तदा ॥

समस्त देवताओंके लिये अन्तकरूप नरकासुर इस धरतीके भीतर मूर्तिलिङ्ग[1]में स्थित हो मनुष्यों और ऋषियोंके प्रतिकूल आचरण किया करता था ॥

त्वष्टुर्दुहितरं भौमः कशेरुमगमत् तदा ।
गजरूपेण जग्राह रुचिराङ्गीं चतुर्दशीम् ॥

---

१. मूर्ति या शिवलिङ्गके आकारका कोई दुर्भेद्य गृह, जो पृथ्वीके भीतर गुफामें बनाया गया हो। शत्रुओंसे आत्मरक्षाकी दृष्टिसे नरकासुरने ऐसे निवासस्थानका निर्माण करा रक्खा था।

भूमिका पुत्र होनेसे नरकको भौमासुर भी कहते हैं। उसने हाथीका रूप धारण करके प्रजापति त्वष्टाकी पुत्री कशेरुके पास जाकर उसे पकड़ लिया। कशेरु बड़ी सुन्दरी और चौदह वर्षकी अवस्थावाली थी ॥

प्रमथ्य च जहारैतां हृत्वा च नरकोऽब्रवीत्।
नष्टशोकभयाबाधः प्राग्ज्योतिषपतिस्तदा ॥

नरकासुर प्राग्ज्योतिषपुरका राजा था। उसके शोक, भय और बाधाएँ दूर हो गयी थीं। उसने कशेरुको मूर्च्छित करके हर लिया और अपने घर लाकर उससे इस प्रकार कहा ॥

नरक उवाच

यानि देवमनुष्येषु रत्नानि विविधानि च।
बिभर्ति च मही कृत्स्ना सागरेषु च यद् वसु ॥
अद्यप्रभृति तद् देवि सहिताः सर्वनैर्ऋताः।
तवैवोपहरिष्यन्ति दैत्याश्च सह दानवैः ॥

नरकासुर बोला—देवि! देवताओं और मनुष्योंके पास जो नाना प्रकारके रत्न हैं, सारी पृथ्वी जिन रत्नोंको धारण करती है तथा समुद्रोंमें जो रत्न संचित हैं, उन सबको आजसे सभी राक्षस ला-लाकर तुम्हें ही अर्पित किया करेंगे। दैत्य और दानव भी तुम्हें उत्तमोत्तम रत्नोंकी भेंट देंगे ॥

भीष्म उवाच

एवमुत्तमरत्नानि बहूनि विविधानि च।
स जहार तदा भौमः स्त्रीरत्नानि च भारत ॥

भीष्मजी कहते हैं—भारत! इस प्रकार भौमासुरने नाना प्रकारके बहुत-से उत्तम रत्नों तथा स्त्री-रत्नोंका भी अपहरण किया॥

गन्धर्वाणां च याः कन्या जहार नरको बलात्।
याश्च देवमनुष्याणां सप्त चाप्सरसां गणाः ॥

गन्धर्वोंकी जो कन्याएँ थीं, उन्हें भी नरकासुर बलपूर्वक हर लाया। देवताओं और मनुष्योंकी कन्याओं तथा अप्सराओंके सात समुदायोंका भी उसने अपहरण कर लिया॥

चतुर्दशसहस्राणां चैकविंशच्छतानि च।
एकवेणीधराः सर्वाः सतां मार्गमनुव्रताः ॥

इस प्रकार सोलह हजार एक सौ सुन्दरी कुमारियाँ उसके घरमें एकत्र हो गयीं। वे सब-की-सब सत्पुरुषोंके मार्गका अनुसरण करके व्रत और नियमके पालनमें तत्पर हो एक वेणी धारण करती थीं ॥

तासामन्तःपुरं भौमोऽकारयन्मणिपर्वते।
औदकायामदीनात्मा मुरस्य विषयं प्रति ॥

उत्साहयुक्त मनवाले भौमासुरने उनके रहनेके लिये मणिपर्वत-पर अन्तःपुरका निर्माण कराया। उस स्थानका नाम था औदका (जलकी सुविधासे सम्पन्न भूमि)। वह अन्तःपुर मुर नामक दैत्यके अधिकृत प्रदेशमें बना था ॥

ताश्च प्राग्ज्योतिषो राजा मुरस्य दश चात्मजाः।
नैर्ऋताश्च यथा मुख्याः पालयन्त उपासते ॥

प्राग्ज्योतिषपुरका राजा भौमासुर, मुरके दस पुत्र तथा प्रधान-प्रधान राक्षस उस अन्तःपुरकी रक्षा करते हुए सदा उसके समीप ही रहते थे ॥

स एव तपसां पारे वरदत्तो महीसुतः।
अदितिं धर्षयामास कुण्डलार्थं युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर! पृथ्वीपुत्र भौमासुर तपस्याके अन्तमें वरदान पाकर इतना गर्वोन्मत्त हो गया था कि इसने कुण्डलके लिये देवमाता अदितितकका तिरस्कार कर दिया ॥

न चासुरगणैः सर्वैः सहितैः कर्म तत् पुरा।
कृतपूर्वं महाघोरं यदकार्षीन्महासुरः ॥

पूर्वकालमें समस्त महादैत्योंने एक साथ मिलकर भी वैसा अत्यन्त घोर पाप नहीं किया था, जैसा अकेले इस महान् असुर-ने कर डाला था ॥

यं मही सुषुवे देवी यस्य प्राग्ज्योतिषं पुरम्।
विषयान्तपालाश्चत्वारो यस्यासन् युद्धदुर्मदाः ॥

पृथ्वीदेवीने उसे उत्पन्न किया था, प्राग्ज्योतिषपुर उसकी राजधानी थी तथा चार युद्धोन्मत्त दैत्य उसके राज्य-की सीमाकी रक्षा करनेवाले थे ॥

आदेवयानमावृत्य पन्थानं पर्यवस्थिताः।
त्रासनाः सुरसङ्घानां विरूपै राक्षसैः सह ॥

वे पृथ्वीसे लेकर देवयानतकके मार्गको रोककर खड़े रहते थे। भयानक रूपवाले राक्षसोंके साथ रहकर वे देव-समुदायको भयभीत किया करते थे ॥

हयग्रीवो निशुम्भश्च घोरः पञ्चजनस्तथा।
मुरः पुत्रसहस्रैश्च वरदत्तो महासुरः ॥

उन चारों दैत्योंके नाम इस प्रकार हैं—हयग्रीव, निशुम्भ, भयंकर पञ्चजन तथा सहस्र पुत्रोंसहित महान् असुर मुर, जो वरदान प्राप्त कर चुका था ॥

तद्वधार्थं महाबाहुरेष चक्रगदासिधृक्।
जातो वृष्णिषु देवक्यां वासुदेवो जनार्दनः ॥

उसीके वधके लिये चक्र, गदा और खड्ग धारण करने-वाले ये महाबाहु श्रीकृष्ण वृष्णिकुलमें देवकीके गर्भसे उत्पन्न हुए हैं। वसुदेवजीके पुत्र होनेसे ये जनार्दन 'वासुदेव' कहलाते हैं ॥

तस्यास्य पुरुषेन्द्रस्य लोकप्रथिततेजसः।
निवासो द्वारका तात विदितो वः प्रधानतः ॥

तात युधिष्ठिर! इनका तेज सम्पूर्ण विश्वमें विख्यात है। इन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णका निवासस्थान प्रधानतः द्वारका ही है, यह तुम सब लोग जानते हो ॥

अतीव हि पुरी रम्या द्वारका वासवक्षयात्।
अति वै राजते पृथ्व्यां प्रत्यक्षं ते युधिष्ठिर ॥

द्वारकापुरी इन्द्रके निवासस्थान अमरावती पुरीसे भी अत्यन्त रमणीय है। युधिष्ठिर ! भूमण्डलमें द्वारकाकी शोभा सबसे अधिक है। यह तो तुम प्रत्यक्ष ही देख चुके हो ॥

तस्मिन् देवपुरप्रख्ये सा सभा वृष्ण्युपाश्रया।
या दाशार्हीति विख्याता योजनायतविस्तृता ॥

देवपुरीके समान सुशोभित द्वारका नगरीमें वृष्णिवंशियोंके बैठनेके लिये एक सुन्दर सभा है, जो दाशार्हीके नामसे विख्यात है। उसकी लम्बाई और चौड़ाई एक-एक योजनकी है ॥

तत्र वृष्ण्यन्धकाः सर्वे रामकृष्णपुरोगमाः।
लोकयात्रामिमां कृत्स्नां परिरक्षन्त आसते ॥

उसमें बलराम और श्रीकृष्ण आदि वृष्णि और अन्धक-वंशके सभी लोग बैठते हैं और सम्पूर्ण लोक-जीवनकी रक्षामें दत्तचित्त रहते हैं ॥

तत्रासीनेषु सर्वेषु कदाचिद् भरतर्षभ।
दिव्यगन्धा ववुर्वाताः कुसुमानां च वृष्टयः ॥

भरतश्रेष्ठ ! एक दिनकी बात है; सभी यदुवंशी उस सभामें विराजमान थे। इतनेमें ही दिव्य सुगन्धसे भरी हुई वायु चलने लगी और दिव्य कुसुमोंकी वर्षा होने लगी ॥

ततः सूर्यसहस्राभस्तेजोराशिर्महाद्भुतः।
मुहूर्तमन्तरिक्षेऽभूत् ततो भूमौ प्रतिष्ठितः ॥

तदनन्तर दो ही घड़ीके अंदर आकाशमें सहस्रों सूर्योंके समान महान् एवं अद्भुत तेजोराशि प्रकट हुई। वह धीरे-धीरे पृथ्वीपर आकर खड़ी हो गयी ॥

मध्ये तु तेजसस्तस्य पाण्डरं गजमास्थितः।
वृतो देवगणैः सर्वैर्वासवः प्रत्यदृश्यत ॥

उस तेजोमण्डलके भीतर श्वेत हाथीपर बैठे हुए इन्द्र सम्पूर्ण देवताओंसहित दिखायी दिये ॥

रामकृष्णौ च राजा च वृष्ण्यन्धकगणैः सह।
उत्पत्य सहसा तस्मै नमस्कारमकुर्वत ॥

बलराम, श्रीकृष्ण तथा राजा उग्रसेन वृष्णि और अन्धकवंशके अन्य लोगोंके साथ सहसा उठकर बाहर आये और सबने देवराज इन्द्रको नमस्कार किया ॥

सोऽवतीर्य गजात् तूर्णं परिष्वज्य जनार्दनम्।
सस्वजे बलदेवं च राजानं च तमाहुकम् ॥

इन्द्रने हाथीसे उतरकर शीघ्र ही भगवान् श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया। फिर बलराम तथा राजा उग्रसेनसे भी उसी प्रकार मिले॥

उद्धवं वसुदेवं च विकद्रुं च महामतिम्।
प्रद्युम्नसाम्बनिशठाननिरुद्धं ससात्यकिम् ॥
गदं सारणमक्रूरं कृतवर्माणमेव च।
चारुदेष्णं सुदेष्णं च अन्यानपि यथोचितम् ॥
परिष्वज्य च दृष्ट्वा च भगवान् भूतभावनः।

भूतभावन ऐश्वर्यशाली इन्द्रने वसुदेव, उद्धव, महामति विकद्रु, प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, अनिरुद्ध, सात्यकि, गद, सारण, अक्रूर, कृतवर्मा, चारुदेष्ण तथा सुदेष्ण आदि अन्य यादवोंको भी यथोचित रीतिसे आलिङ्गन करके उन सबकी ओर दृष्टिपात किया ॥

वृष्ण्यन्धकमहामात्रान् परिष्वज्याथ वासवः ॥
प्रगृह्य पूजां तैर्दत्तामुवाचावनताननः।

इस प्रकार उन्होंने वृष्णि और अन्धकवंशके प्रधान व्यक्तियोंको हृदयसे लगाकर उनकी दी हुई पूजा ग्रहण की तथा मुखको नीचेकी ओर झुकाकर वे इस प्रकार बोले ॥

इन्द्र उवाच

अदित्या चोदितः कृष्ण तव मात्राहमागतः ॥
कुण्डलेऽपहृते तात भौमेन नरकेण च।

इन्द्रने कहा—भैया कृष्ण ! तुम्हारी माता अदितिकी आज्ञासे मैं यहाँ आया हूँ। तात ! भूमिपुत्र नरकासुरने उनके कुण्डल छीन लिये हैं ॥

निर्देशशब्दवाच्यस्त्वं लोकेऽस्मिन् मधुसूदन ॥
तस्माज्जहि महाभाग भूमिपुत्रं नरेश्वर।

मधुसूदन ! इस लोकमें माताका आदेश सुननेके पात्र केवल तुम्हीं हो। अतः महाभाग नरेश्वर ! तुम भौमासुरको मार डालो ॥

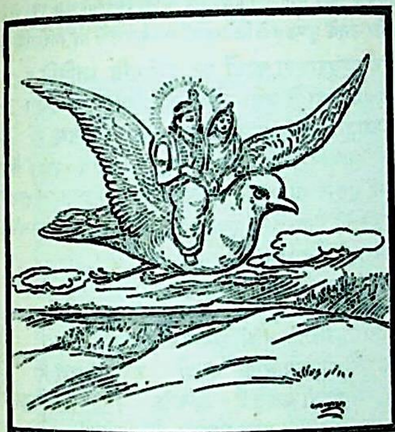
भीष्म उवाच

तमुवाच महाबाहुः प्रीयमाणो जनार्दनः।
निर्जित्य नरकं भौममाहरिष्यामि कुण्डले ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! तब महाबाहु जनार्दन अत्यन्त प्रसन्न होकर बोले—'देवराज ! मैं भूमिपुत्र नरकासुरको पराजित करके माताजीके कुण्डल अवश्य ला दूँगा' ॥

एवमुक्त्वा तु गोविन्दो राममेवाभ्यभाषत।
प्रद्युम्नमनिरुद्धं च साम्बं चाप्रतिमं बले ॥
एतांश्चोक्त्वा तदा तत्र वासुदेवो महायशाः।
अथारुह्य सुपर्णं वै शङ्खचक्रगदासिधृक् ॥
ययौ तदा हृषीकेशो देवानां हितकाम्यया।

ऐसा कहकर भगवान् गोविन्दने बलरामजीसे बातचीत की ! तत्पश्चात् प्रद्युम्न, अनिरुद्ध और अनुपम बलशाली साम्बसे भी इसके विषयमें वार्तालाप करके महायशस्वी इन्द्रियाधीश्वर भगवान् श्रीकृष्ण शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग



धारणकर गरुड़पर आरूढ़ हो देवताओंका हित करनेकी इच्छासे वहाँसे चल दिये ॥

तं प्रयान्तममित्रघ्नं देवाः सहपुरन्दराः ॥
पृष्ठतोऽनुययुः प्रीताः स्तुवन्तो विष्णुमच्युतम् ।

शत्रुनाशन भगवान् श्रीकृष्णको प्रस्थान करते देख इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवता बड़े प्रसन्न हुए और अच्युत भगवान् कृष्णकी स्तुति करते हुए उन्हींके पीछे-पीछे चले ॥

सोऽप्रस्थान् रक्षोगणान् हत्वा नरकस्य महासुरान् ॥
क्षुरान्तान् मौरवान् पाशान् षट् सहस्रं ददर्श सः ।

भगवान् श्रीकृष्णने नरकासुरके उन मुख्य-मुख्य राक्षसोंको मारकर मुर दैत्यके बनाये हुए छः हजार पाशोंको देखा, जिनके किनारोंके भागोंमें छुरे लगे हुए थे ॥

संच्छिद्य पाशांस्त्वस्त्रेण मुरं हत्वा सहान्वयम् ॥
शिलासङ्घानतिक्रम्य निशुम्भमवपोथयत् ।

भगवान्ने अपने अस्त्र (चक्र) से मुर दैत्यके पाशोंको काटकर मुरनामक असुरको उसके वंशजोंसहित मार डाला और शिलाओंके समूहोंको लाँघकर निशुम्भको भी मार गिराया ॥

यः सहस्रसमस्त्वेकः सर्वान् देवानयोधयत् ॥
तं जघान महावीर्यं हयग्रीवं महाबलम् ।

तत्पश्चात् जो अकेला ही सहस्रों योद्धाओंके समान था, और सम्पूर्ण देवताओंके साथ अकेला ही युद्ध कर सकता था, उस महाबली एवं महापराक्रमी हयग्रीवको भी मार दिया ॥

अपारतेजा दुर्धर्षः सर्वयादवनन्दनः ॥
मध्ये लोहितगङ्गायां भगवान् देवकीसुतः ।
औदकायां विरूपाक्षं जघान भरतर्षभ ॥
पञ्च पञ्चजनान् घोरान् नरकस्य महासुरान् ।

भरतश्रेष्ठ ! सम्पूर्ण यादवोंको आनन्दित करनेवाले अमित तेजस्वी दुर्धर्ष वीर भगवान् देवकीनन्दनने औदकाके अन्तर्गत लोहितगङ्गाके बीच विरूपाक्षको तथा 'पञ्चजन' नामसे प्रसिद्ध नरकासुरके पाँच भयंकर राक्षसोंको भी मार गिराया ॥

ततः प्राग्ज्योतिषं नाम दीप्यमानमिव श्रिया ॥
पुरमासादयामास तत्र युद्धमवर्तत ।

फिर भगवान् अपनी शोभासे उद्दीप्त-से दिखायी देनेवाले प्राग्ज्योतिषपुरमें जा पहुँचे । वहाँ उनका दानवोंसे फिर युद्ध छिड़ गया ॥

महद् दैवासुरं युद्धं यद् वृत्तं भरतर्षभ ॥
युद्धं न स्यात् समं तेन लोकविस्मयकारकम् ।

भरतकुलभूषण ! वह युद्ध महान् देवासुर-संग्रामके रूपमें परिणत हो गया । उसके समान लोकविस्मयकारी युद्ध दूसरा कोई नहीं हो सकता ॥

चक्रलाञ्छनसंछिन्नाः शक्तिखड्गहतास्तदा ॥
निपेतुर्दानवास्तत्र समासाद्य जनार्दनम् ।

चक्रधारी भगवान् श्रीकृष्णसे भिड़कर सभी दानव वहाँ चक्रसे छिन्न-भिन्न एवं शक्ति तथा खड्गसे आहत होकर धराशायी हो गये ॥

अष्टौ शतसहस्राणि दानवानां परंतप ।
निहत्य पुरुषव्याघ्रः पातालविवरं ययौ ॥
त्रासनं सुरसङ्घानां नरकं पुरुषोत्तमः ।
योधयत्यतितेजस्वी मधुवन्मधुसूदनः ॥

परंतप युधिष्ठिर ! इस प्रकार आठ लाख दानवोंका संहार करके पुरुषसिंह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण पातालगुफामें गये। जहाँ देवसमुदायको आतंकित करनेवाला नरकासुर रहता था। अत्यन्त तेजस्वी भगवान् मधुसूदनने मधुकी भाँति पराक्रमी नरकासुरसे युद्ध प्रारम्भ किया ॥

तद् युद्धमभवद् घोरं तेन भौमेन भारत ।
कुण्डलार्थे सुरेशस्य नरकेण महात्मना ॥

भारत ! देवमाता अदितिके कुण्डलोंके लिये भूमिपुत्र महाकाय नरकासुरके साथ छिड़ा हुआ वह युद्ध बड़ा भयंकर था॥

मुहूर्तं लालयित्वाथ नरकं मधुसूदनः ।
प्रवृत्तचक्रं चक्रेण प्रममाथ बलाद् बली ॥

बलवान् मधुसूदनने चक्र हाथमें लिये हुए नरकासुरके साथ दो घड़ीतक खिलवाड़ करके बलपूर्वक चक्रसे उसके मस्तकको काट डाला ॥

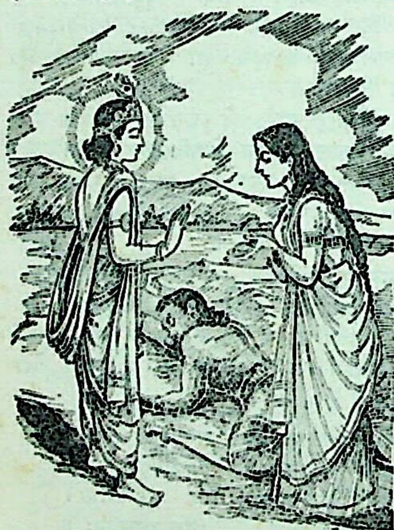
चक्रप्रमथितं तस्य पपात सहसा भुवि ।
उत्तमाङ्गं हताङ्गस्य वृत्रे वज्रहते यथा ॥

चक्रसे छिन्न-भिन्न होकर घायल हुए शरीरवाले नरका-

सुरका मस्तक वज्रके मारे हुए वृत्रासुरके सिरकी भाँति सहसा पृथ्वीपर गिर पड़ा ॥

भूमिस्तु पतितं दृष्ट्वा ते वै प्रादाच्च कुण्डले।
प्रदाय च महाबाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥

भूमिने अपने पुत्रको रणभूमिमें गिरा देख अदितिके दोनों कुण्डल लौटा दिये और महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहा ॥



भूमिरुवाच

सृष्टस्त्वयैव मधुहंस्त्वयैव निहतः प्रभो।
यथेच्छसि तथा क्रीडन् प्रजास्तस्यानुपालय ॥

भूमि बोली—प्रभो मधुसूदन ! आपने ही इसे जन्म दिया था और आपने ही इसे मारा है। आपकी जैसी इच्छा हो, वैसी ही लीला करते हुए नरकासुरकी संतानका पालन कीजिये ॥

श्रीभगवानुवाच

देवानां च मुनीनां च पितृणां च महात्मनाम्।
उद्वेजनीयो भूतानां ब्रह्मद्विट् पुरुषाधमः ॥
लोकद्विष्टः सुतस्ते तु देवारिर्लोककण्टकः।

श्रीभगवान्‌ने कहा—भामिनी ! तुम्हारा यह पुत्र देवताओं, मुनियों, पितरों, महात्माओं तथा सम्पूर्ण भूतोंके उद्वेगका पात्र हो रहा था। यह पुरुषाधम ब्राह्मणोंसे द्वेष रखनेवाला, देवताओंका शत्रु तथा सम्पूर्ण विश्वका कण्टक था, इसलिये सब लोग इससे द्वेष रखते थे ॥

सर्वलोकनमस्कार्यामदितिं बाधते बली ॥
कुण्डले दर्पसम्पूर्णस्ततोऽसौ निहतोऽसुरः।

इस बलवान् असुरने बलके घमंडमें आकर सम्पूर्ण विश्वके लिये वन्दनीय देवमाता अदितिको भी कष्ट पहुँचाया और उनके कुण्डल ले लिये। इन्हीं सब कारणोंसे यह मारा गया है ॥

नैव मन्युस्त्वया कार्यो यत् कृतं मयि भामिनि ॥
मत्प्रभावाच्च ते पुत्रो लब्धवान् गतिमुत्तमाम्।
तस्माद् गच्छ महाभागे भारावतरणं कृतम् ॥

भामिनि ! मैंने इस समय जो कुछ किया है, उसके लिये तुम्हें मुझपर क्षोभ नहीं करना चाहिये। महाभागे ! तुम्हारे पुत्रने मेरे प्रभावसे अत्यन्त उत्तम गति प्राप्त की है; इसलिये जाओ, मैंने तुम्हारा भार उतार दिया है ॥

भीष्म उवाच

निहत्य नरकं भौमं सत्यभामासहायवान्।
सहितो लोकपालैश्च ददर्श नरकालयम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भूमिपुत्र नरकासुरको मारकर सत्यभामा सहित भगवान् श्रीकृष्णने लोकपालोंके साथ जाकर नरकासुरके घरको देखा ॥

अथास्य गृहमासाद्य नरकस्य यशस्विनः।
ददर्श धनमक्षय्यं रत्नानि विविधानि च ॥

यशस्वी नरकके घरमें जाकर उन्होंने नाना प्रकारके रत्न और अक्षय धन देखा ॥

मणिमुक्ताप्रवालानि वैडूर्यविकृतानि च।
अश्मसारानर्कमणीन् विमलान् स्फाटिकानपि ॥

मणि, मोती, मूँगे, वैदूर्यमणिकी बनी हुई वस्तुएँ, पुखराज, सूर्यकान्त मणि और निर्मल स्फटिक मणिकी वस्तुएँ भी वहाँ देखनेमें आयीं ॥

जाम्बूनदमयान्येव शातकुम्भमयानि च।
प्रदीप्तज्वलनाभानि शीतरश्मिप्रभाणि च ॥

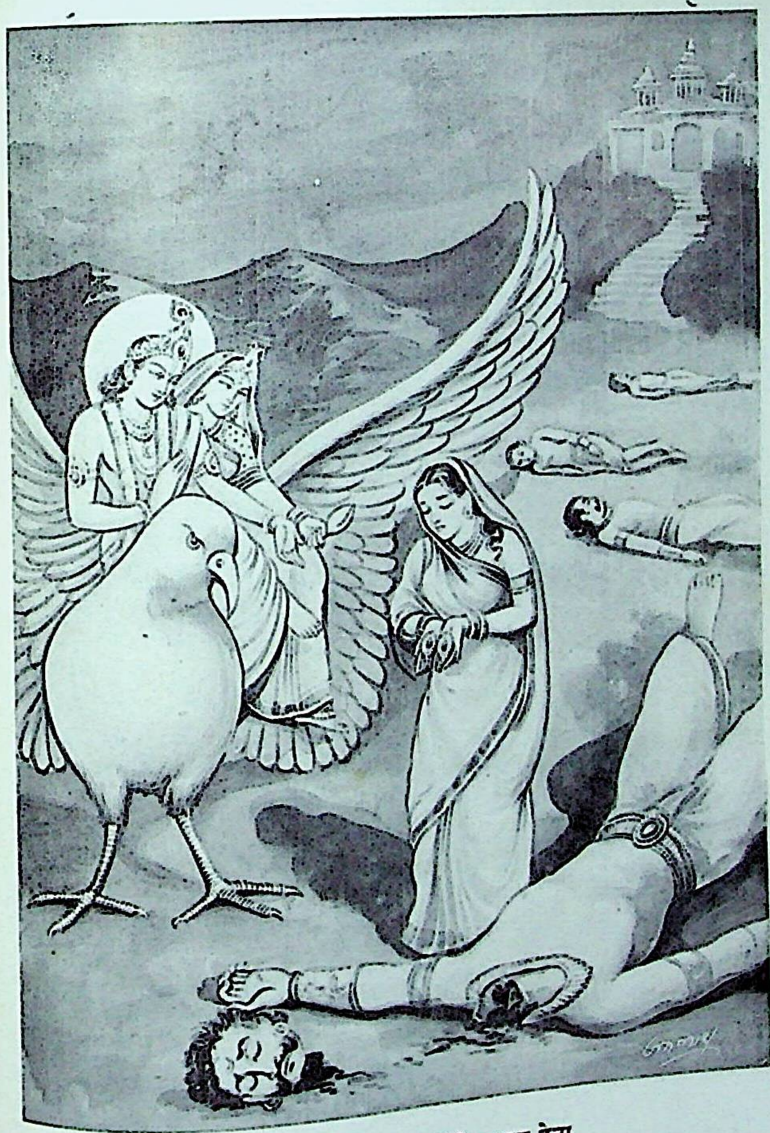
जाम्बूनद तथा शातकुम्भसंज्ञक सुवर्णकी बनी हुई बहुत-सी ऐसी वस्तुएँ वहाँ दृष्टिगोचर हुईं, जो प्रज्वलित अग्नि और शीतरश्मि चन्द्रमाके समान प्रकाशित हो रही थीं ॥

हिरण्यवर्णं रुचिरं श्वेतमभ्यन्तरं गृहम्।
यदक्षयं गृहे दृष्टं नरकस्य धनं बहु ॥
न हि राज्ञः कुबेरस्य तावद् धनसमुच्छ्रयः।
दृष्टपूर्वः पुरा साक्षान्महेन्द्रसदनेष्वपि ॥

नरकासुरका भीतरी भवन सुवर्णके समान सुन्दर, कान्तिमान् एवं उज्ज्वल था। उसके घरमें जो असंख्य एवं अक्षय धन दिखायी दिया, उतनी धनराशि राजा कुबेरके घरमें भी नहीं है। देवराज इन्द्रके भवनमें भी पहले कभी उतना वैभव नहीं देखा गया था ॥

इन्द्र उवाच

इमानि मणिरत्नानि विविधानि वसूनि च ॥
हेमसूत्रा महाकक्ष्यास्तोमरैर्वीर्यशालिनः।



भूमिका भगवान्‌को अदितिके कुण्डल देना

भीमरूपाश्च मातङ्गाः प्रवालविकृताः कुथाः ॥
विमलाभिः पताकाभिर्वासांसि विविधानि च ।
ते च विंशतिसाहस्रा द्विस्तावत्यः करेणवः ॥

इन्द्र बोले—जनार्दन ! ये जो नाना प्रकारके माणिक्य, रत्न, धन तथा सोनेकी जालियोंसे सुशोभित बड़े-बड़े हौदोंवाले, दोषरहित पराक्रमशाली बड़े भारी गजराज एवं उनपर बिछानेके लिये मूँगोंसे विभूषित कम्बल, निर्मल पताकाओंसे युक्त नाना प्रकारके वस्त्र आदि हैं, इन सबपर आपका अधिकार है। इन गजराजोंकी संख्या बीस हजार है तथा इससे दूनी हथिनियाँ हैं।

अष्टौ शतसहस्राणि देशजाश्चोत्तमा हयाः ।
गोभिर्द्वाविकृतैर्यानैः कामं तव जनार्दन ॥

जनार्दन ! यहाँ आठ लाख उत्तम देशी घोड़े हैं और बैल जुते हुए नये-नये वाहन हैं। इनमेंसे जिनकी आपको आवश्यकता हो, वे सब आपके यहाँ जा सकते हैं ॥

आविकानि च सूक्ष्माणि शयनान्यासनानि च ।
कामव्याहारिणश्चैव पक्षिणः प्रियदर्शनाः ॥
चन्दनागुरुमिश्राणि यानानि विविधानि च ।
एतत् ते प्रापयिष्यामि वृष्ण्यावासमरिंदम ॥

शत्रुदमन ! ये महीन ऊनी वस्त्र, अनेक प्रकारकी शय्याएँ, बहुत-से आसन, इच्छानुसार बोली बोलनेवाले देखनेमें सुन्दर पक्षी, चन्दन और अगुरुमिश्रित नाना प्रकारके रथ—ये सब वस्तुएँ मैं आपके लिये वृष्णियोंके निवासस्थान द्वारकामें पहुँचा दूँगा ॥

भीष्म उवाच

देवगन्धर्वरत्नानि दैतेयासुरजानि च ।
यानि सन्तीह रत्नानि नरकस्य निवेशने ॥
एतत् तु गरुडे सर्वं क्षिप्रमारोप्य वासवः ।
दाशार्हपतिना सार्धमुपायान्मणिपर्वतम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवता, गन्धर्व, दैत्य और असुरसम्बन्धी जितने भी रत्न नरकासुरके घरमें उपलब्ध हुए, उन्हें शीघ्र ही गरुड़पर रखकर देवराज इन्द्र दाशार्हवंशके अधिपति भगवान् श्रीकृष्णके साथ मणिपर्वतपर गये ॥

तत्र पुण्या ववुर्वाताः प्रभाश्चित्राः समुज्ज्वलाः ।
देवतां सुरसङ्घानां विस्मयः समपद्यत ॥

वहाँ बड़ी पवित्र हवा बह रही थी तथा विचित्र एवं उज्ज्वल प्रभा सब ओर फैली हुई थी। यह सब देखकर देवताओंको बड़ा विस्मय हुआ ॥

विबुधा ऋषयश्चैव चन्द्रादित्यौ यथा दिवि ।
प्रभया तस्य शैलस्य निर्विशेषमिवाभवत् ॥

आकाशमण्डलमें प्रकाशित होनेवाले देवता, ऋषि, चन्द्रमा और सूर्यकी भाँति वहाँ आये हुए देवगण उस पर्वतकी प्रभासे तिरस्कृत हो साधारण-से प्रतीत हो रहे थे ॥

अनुज्ञातस्तु रामेण वासवेन च केशवः ।
प्रीयमाणो महाबाहुर्विवेश मणिपर्वतम् ॥

तदनन्तर बलरामजी तथा देवराज इन्द्रकी आज्ञासे महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने नरकासुरके मणिपर्वतपर बने हुए अन्तःपुरमें प्रसन्नतापूर्वक प्रवेश किया ॥

तत्र वैडूर्यवर्णानि ददर्श मधुसूदनः ।
सतोरणपताकानि द्वाराणि शरणानि च ॥

मधुसूदनने देखा, उस अन्तःपुरके द्वार और गृह वैडूर्य-मणिके समान प्रकाशित हो रहे हैं। उनके फाटकोंपर पताकाएँ फहरा रही थीं ॥

चित्रग्रथितमेघाभः प्रबभौ मणिपर्वतः ।
हेमचित्रपताकैश्च प्रासादैरुपशोभितः ॥

सुवर्णमय विचित्र पताकाओंवाले महलोंसे सुशोभित वह मणिपर्वत चित्रलिखित मेघोंके समान प्रतीत होता था ॥

हर्म्याणि च विशालानि मणिसोपानवन्ति च ।
तत्रस्था वरवर्णाभा ददृशुर्मधुसूदनम् ॥
गन्धर्वासुरमुख्यानां प्रिया दुहितरस्तदा ।
त्रिविष्टपसमे देशे तिष्ठन्तमपराजितम् ॥

उन महलोंमें विशाल अट्टालिकाएँ बनी थीं, जिनपर चढ़नेके लिये मणिनिर्मित सीढ़ियाँ सुशोभित हो रही थीं। वहाँ रहनेवाली प्रधान-प्रधान गन्धर्वों और असुरोंकी परम सुन्दरी प्यारी पुत्रियोंने उस स्वर्गके समान प्रदेशमें खड़े हुए अपराजित वीर भगवान् मधुसूदनको देखा ॥

परिवव्रुर्महाबाहुमेकवेणीधराः स्त्रियः ।
सर्वाः काषायवासिन्यः सर्वाश्च नियतेन्द्रियाः ॥

देखते-देखते ही उन सबने महाबाहु श्रीकृष्णको घेर लिया। वे सभी स्त्रियाँ एक वेणी धारण किये गेरुए वस्त्र पहिने इन्द्रियसंयमपूर्वक वहाँ तपस्या करती थीं ॥

व्रतसंतापजः शोको नात्र कांश्चिदपीडयत् ।
अरजांसि च वासांसि बिभ्रत्यः कौशिकान्यपि ॥
समेत्य यदुसिंहस्य चक्रुरस्याञ्जलिं स्त्रियः ।
ऊचुश्चैनं हृषीकेशं सर्वास्ताः कमलेक्षणाः ॥

उस समय व्रत और संतापजनित शोक उनमेंसे किसीको पीड़ा नहीं दे सका। वे निर्मल रेशमी वस्त्र पहने हुए यदुवीर श्रीकृष्णके पास जा उनके सामने हाथ जोड़कर खड़ी हो गयीं। उन कमलनयनी कामिनियोंने अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों-के स्वामी श्रीहरिसे इस प्रकार कहा ॥



कन्यका ऊचुः

नारदेन समाख्यातमस्माकं पुरुषोत्तम ।
आगमिष्यति गोविन्दः सुरकार्यार्थसिद्धये ॥

कन्याएँ बोलीं—पुरुषोत्तम ! देवर्षि नारदने हमसे कह रक्खा था कि 'देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये भगवान् गोविन्द यहाँ पधारेंगे ॥

सोऽसुरं नरकं हत्वा निशुम्भं मुरमेव च ।
भौमं च सपरीवारं हयग्रीवं च दानवम् ॥
तथा पञ्चजनं चैव प्राप्स्यते धनमक्षयम् ।

'एवं वे सपरिवार नरकासुर, निशुम्भ, मुर, दानव हयग्रीव तथा पञ्चजनको मारकर अक्षय धन प्राप्त करेंगे ॥

सोऽचिरेणैव कालेन युष्मन्मोक्ता भविष्यति ॥
एवमुक्त्वागमद् धीमान् देवर्षिर्नारदस्तथा ।

'थोड़े ही दिनोंमें भगवान् यहाँ पधारकर तुम सब लोगोंका इस संकटसे उद्धार करेंगे ।' ऐसा कहकर परम बुद्धिमान् देवर्षि नारद यहाँसे चले गये ॥

त्वां चिन्तयानाः सततं तपो घोरमुपास्महे ॥
कालेऽतीते महाबाहुं कदा द्रक्ष्याम माधवम् ।

हम सदा आपका ही चिन्तन करती हुई घोर तपस्यामें लग गयीं । हमारे मनमें यह संकल्प उठता रहता था कि कितना समय बीतनेपर हमें महाबाहु माधवका दर्शन प्राप्त होगा ॥

इत्येवं हृदि संकल्पं कृत्वा पुरुषसत्तम ॥
तपश्चराम सततं रक्ष्यमाणा हि दानवैः ।

पुरुषोत्तम ! यही संकल्प लेकर दानवोंद्वारा सुरक्षित हो हम सदा तपस्या करती आ रही हैं ॥

गान्धर्वेण विवाहेन विवाहं कुरु नः प्रियम् ॥
ततोऽस्मत्प्रियकामार्थं भगवान् मारुतोऽब्रवीत् ।
यथोक्तं नारदेनाद्य न चिरात् तद् भविष्यति ॥

भगवन् ! आप गान्धर्व विवाहकी रीतिसे हमारे साथ विवाह करके हमारा प्रिय करें । हमारे पूर्वोक्त मनोरथको जानकर भगवान् वायुदेवने भी हम सबके प्रिय मनोरथकी सिद्धिके लिये कहा था कि 'देवर्षि नारदजीने जो कहा है, वह शीघ्र ही पूर्ण होगा' ॥

भीष्म उवाच

तासां परमनारीणामृषभाक्षं पुरस्कृतम् ।
ददृशुर्देवगन्धर्वा गृष्टीनामिव गोपतिम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! देवताओं तथा गन्धर्वोंने देखा, वृषभके समान विशाल नेत्रोंवाले भगवान् श्रीकृष्ण उन परम सुन्दरी नारियोंके समक्ष वैसे ही खड़े थे, जैसे नयी गायोंके आगे साँड़ हो ॥

तस्य चन्द्रोपमं वक्त्रमुदीक्ष्य मुदितेन्द्रियाः ।
सम्प्रहृष्टा महाबाहुमिदं वचनमब्रुवन् ॥

भगवान्‌के मुखचन्द्रको देखकर उन सबकी इन्द्रियाँ उल्लसित हो उठीं और वे हर्षमें भरकर महाबाहु श्रीकृष्णसे पुनः इस प्रकार बोलीं ॥

कन्यका ऊचुः

सत्यं बत पुरा वायुरिदमस्मानिहाब्रवीत् ।
सर्वभूतकृतज्ञश्च महर्षिरपि नारदः ॥

कन्याओंने कहा—बड़े हर्षकी बात है कि पूर्वकालमें वायुदेवने तथा सम्पूर्ण भूतोंके प्रति कृतज्ञता रखनेवाले महर्षि नारदजीने जो बात कही थी, वह सत्य हो गयी ।

विष्णुर्नारायणो देवः शङ्खचक्रगदासिधृक् ।
स भौमं नरकं हत्वा भर्ता वो भविता ह्यतः ॥

उन्होंने कहा था कि 'शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले सर्वव्यापी नारायण भगवान् विष्णु भूमिपुत्र नरकको मारकर तुमलोगोंके पति होंगे' ॥

दिष्ट्या तस्यर्षिमुख्यस्य नारदस्य महात्मनः ।
वचनं दर्शनादेव सत्यं भवितुमर्हति ॥

ऋषियोंमें प्रधान महात्मा नारदका वह वचन आज आपके दर्शनमात्रसे सत्य होने जा रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है ॥

यत् प्रियं बत पश्याम वक्त्रं चन्द्रोपमं तु ते ।
दर्शनेन कृतार्थाः स्मो वयमद्य महात्मनः ॥

तभी तो आज हम आपके परम प्रिय चन्द्रतुल्य मुखका दर्शन कर रही हैं । आप परमात्माके दर्शनमात्रसे हम कृतार्थ हो गयीं ॥

भीष्म उवाच

उवाच स यदुश्रेष्ठः सर्वास्ता जातमन्मथाः ।

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! भगवान्‌के

उन सबके हृदयमें कामभावका संचार हो गया था। उस समय यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने उनसे कहा ॥

श्रीभगवानुवाच

यथा ब्रूत विशालाक्ष्यस्तत् सर्वं वो भविष्यति ॥

श्रीभगवान् बोले--विशाल नेत्रोंवाली सुन्दरियो ! जैसा तुम कहती हो, उसके अनुसार तुम्हारी सारी अभिलाषा पूर्ण हो जायगी ॥

भीष्म उवाच

तानि सर्वाणि रत्नानि गमयित्वाथ किङ्करैः ।
स्त्रियश्च गमयित्वाथ देवतानृपकन्यकाः ॥
वैनतेयभुजे कृष्णो मणिपर्वतमुत्तमम् ।
क्षिप्रमारोपयाञ्चक्रे भगवान् देवकीसुतः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सेवकोंद्वारा उन सब रत्नोंको तथा देवताओं एवं राजाओं आदिकी कन्याओंको द्वारका भेजकर देवकीनन्दन भगवान् श्रीकृष्णने उस उत्तम मणिपर्वतको शीघ्र ही गरुड़की बाँह (पंख या पीठ) पर चढ़ा दिया ॥

सपक्षिगणमातङ्गं सव्यालमृगपन्नगम् ।
शाखामृगगणैर्जुष्टं सप्रस्तरशिलातलम् ॥
न्यङ्कुभिश्च वराहैश्च रुरुभिश्च निषेवितम् ।
सप्रपातमहासानुं विचित्रशिखिसंकुलम् ॥
तं महेन्द्रानुजः शौरिश्चकार गरुडोपरि ।
पश्यतां सर्वभूतानामुत्पाट्य मणिपर्वतम् ॥

केवल पर्वत ही नहीं, उसपर रहनेवाले जो पक्षियोंके समुदाय, हाथी, सर्प, मृग, नाग, बंदर, पत्थर, शिला, न्यङ्कु, वराह, रुरुमृग, झरने, बड़े-बड़े शिखर तथा विचित्र मोर आदि थे, उन सबके साथ मणिपर्वतको उखाड़कर इन्द्रके छोटे भाई श्रीकृष्णने सब प्राणियोंके देखते-देखते गरुड़पर रख लिया ॥

उपेन्द्रं बलदेवं च वासवं च महाबलम् ।
तं च रत्नौघमतुलं पर्वतं च महाबलः ॥
वरुणस्यामृतं दिव्यं छत्रं चन्द्रोपमं शुभम् ॥
स पक्षबलविक्षेपैर्महाद्रिशिखरोपमः ॥
दिक्षु सर्वासु संरावं स चक्रे गरुडो वहन् ॥

महाबली गरुड़ श्रीकृष्ण, बलराम तथा महाबलवान् इन्द्रको, उस अनुपम रत्नराशि तथा पर्वतको, वरुणदेवताके दिव्य अमृत तथा चन्द्रतुल्य उज्ज्वल शुभकारक छत्रको वहन करते हुए चल दिये। उनका शरीर विशाल पर्वत-शिखरके समान था। वे अपनी पाँखोंको बलपूर्वक हिला-डुलाकर सब दिशाओंमें भारी शोर मचाते जा रहे थे ॥

आरुजन् पर्वताग्राणि पादपांश्च समुत्क्षिपन् ॥
संजहार महाभ्राणि वैश्वानरपथं गतः ।

उड़ते समय गरुड़ पर्वतोंके शिखर तोड़ डालते थे, पेड़ोंको उखाड़ फेंकते थे और ज्योतिष्पथ (आकाश) में चलते समय बड़े-बड़े बादलोंको अपने साथ उड़ा ले जाते थे ॥

ग्रहनक्षत्रताराणां सप्तर्षीणां स्वतेजसा ॥
प्रभाजालमतिक्रम्य चन्द्रसूर्यपथं ययौ ।

वे अपने तेजसे ग्रह, नक्षत्र, तारों और सप्तर्षियोंके प्रकाशपुञ्जको तिरस्कृत करते हुए चन्द्रमा और सूर्यके मार्गपर जा पहुँचे ॥

मेरोः शिखरमासाद्य मध्यमं मधुसूदनः ॥
देवस्थानानि सर्वाणि ददर्श भरतर्षभ ।

भरतश्रेष्ठ ! तदनन्तर मधुसूदनने मेरुपर्वतके मध्यम शिखरपर पहुँचकर समस्त देवताओंके निवासस्थानोंका दर्शन किया ॥

विश्वेषां मरुतां चैव साध्यानां च युधिष्ठिर ॥
भ्राजमानान्यतिक्रम्य अश्विनोश्च परंतप ।
प्राप्य पुण्यतमं स्थानं देवलोकमरिंदमः ॥

युधिष्ठिर ! उन्होंने विश्वेदेवों, मरुद्गणों और साध्योंके प्रकाशमान स्थानोंको लाँघकर अश्विनीकुमारोंके पुण्यतम लोकमें पदार्पण किया। परंतप ! तत्पश्चात् शत्रुहन्ता भगवान् श्रीकृष्ण देवलोकमें जा पहुँचे ॥

शक्रसद्म समासाद्य चावरुह्य जनार्दनः ।
सोऽभिवाद्यादितेः पादावर्चितः सर्वदैवतैः ॥
ब्रह्मदक्षपुरोगैश्च प्रजापतिभिरेव च ।

इन्द्रभवनके निकट आकर भगवान् जनार्दन गरुड़परसे उतर पड़े। वहाँ उन्होंने देवमाता अदितिके चरणोंमें प्रणाम किया। फिर ब्रह्मा और दक्ष आदि प्रजापतियोंने तथा सम्पूर्ण देवताओंने उनका भी स्वागत-सत्कार किया ॥

अदितेः कुण्डले दिव्ये ददावथ तदा विभुः ॥
रत्नानि च परार्घ्याणि रामेण सह केशवः ।

उस समय बलरामसहित भगवान् केशवने माता अदितिको दोनों दिव्य कुण्डल और बहुमूल्य रत्न भेंट किये ॥

प्रतिगृह्य च तत् सर्वमदितिर्वासवानुजम् ॥
पूजयामास दाशार्हं रामं च विगतज्वरा ।

वह सब ग्रहण करके माता अदितिका मानसिक दुःख दूर हो गया और उन्होंने इन्द्रके छोटे भाई यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण और बलरामका बहुत आदर-सत्कार किया ॥

शची महेन्द्रमहिषी कृष्णस्य महिषीं तदा ॥
सत्यभामां तु संगृह्य अदित्यै वै न्यवेदयत् ।

इन्द्रकी महारानी शचीने उस समय भगवान् श्रीकृष्णकी

पटरानी सत्यभामाका हाथ पकड़कर उन्हें माता अदितिकी सेवामें पहुँचाया ॥

सा तस्याः सत्यभामायाः कृष्णप्रियचिकीर्षया ॥
वरं प्रादाद् देवमाता सत्यायै विगतज्वरा ।

देवमाताकी सारी चिन्ता दूर हो गयी थी। उन्होंने श्रीकृष्णका प्रिय करनेकी इच्छासे सत्यभामाको उत्तम वर प्रदान किया ॥

अदितिरुवाच

जरां न यास्यसि वधूर्यावद् वै कृष्णमानुषम् ॥
सर्वगन्धगुणोपेता भविष्यसि वरानने ।

अदिति बोलीं—सुन्दर मुखवाली बहू ! जबतक श्रीकृष्ण मानवशरीरमें रहेंगे, तबतक तू वृद्धावस्थाको प्राप्त न होगी और सब प्रकारकी दिव्य सुगन्ध एवं उत्तम गुणोंसे सुशोभित होती रहेगी ॥

भीष्म उवाच

विहृत्य सत्यभामा वै सह शच्या सुमध्यमा ॥
शच्यापि समनुज्ञाता ययौ कृष्णनिवेशनम् ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सुन्दरी सत्यभामा शचीदेवीके साथ घूम-फिरकर उनकी आज्ञा ले भगवान् श्रीकृष्णके विश्रामगृहमें चली गयीं ॥

सम्पूज्यमानस्त्रिदशैर्महर्षिगणसेवितः ।
द्वारकां प्रययौ कृष्णो देवलोकादरिंदमः ॥

तदनन्तर शत्रुओंका दमन करनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण महर्षियोंसे सेवित और देवताओंद्वारा पूजित होकर देवलोकसे द्वारकाको चले गये ॥

सोऽतिपत्य महाबाहुर्दीर्घमध्वानमच्युतः ।
वर्धमानपुरद्वारमाससाद पुरोत्तमम् ॥

महाबाहु भगवान् श्रीकृष्ण लंबा मार्ग तय करके उत्तम द्वारका नगरीमें, जिसके प्रधान द्वारका नाम वर्धमान था, जा पहुँचे ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[द्वारकापुरी एवं रुक्मिणी आदि रानियोंके महलोंका वर्णन, श्रीबलराम और श्रीकृष्णका द्वारकामें प्रवेश]

भीष्म उवाच

तां पुरीं द्वारकां दृष्ट्वा विभुर्नारायणो हरिः ।
हृष्टः सर्वार्थसम्पन्नां प्रवेष्टुमुपचक्रमे ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! सर्वव्यापी नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णने सब प्रकारके मनोवाञ्छित पदार्थोंसे भरी-पूरी द्वारकापुरीको देखकर प्रसन्नतापूर्वक उसमें प्रवेश करनेकी तैयारी की ॥

सोऽपश्यद् वृक्षषण्डांश्च रम्यानारामजान् बहून् ।
समन्ततो द्वारवत्यां नानापुष्पफलान्वितान् ॥

उन्होंने देखा, द्वारकापुरीके सब ओर बगीचोंमें सुन्दर रमणीय वृक्षसमूह शोभा पा रहे हैं, जिनमें नाना प्रकारके फल और फूल लगे हुए हैं ॥

अर्कचन्द्रप्रतीकाशैर्मेरुकूटनिभैर्गृहैः ।
द्वारका रचिता रम्यैः सुकृता विश्वकर्मणा ॥

वहाँके रमणीय राजसदन सूर्य और चन्द्रमाके समान प्रकाशमान तथा मेरुपर्वतके शिखरोंकी भाँति गगनचुम्बी थे। उन भवनोंसे विभूषित द्वारकापुरीकी रचना साक्षात् विश्वकर्माने की थी ॥

पद्मषण्डाकुलाभिश्च हंससेवितवारिभिः ।
गङ्गासिन्धुप्रकाशाभिः परिखाभिरलंकृता ॥

उस पुरीके चारों ओर बनी हुई चौड़ी खाइयाँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं। उनमें कमलके फूल खिले हुए थे। हंस आदि पक्षी उनके जलका सेवन करते थे। वे देखनेमें गङ्गा और सिन्धुके समान जान पड़ती थीं ॥

प्राकारेणार्कवर्णेन पाण्डुरेण विराजिता ।
वियन्मूर्ध्नि निविष्टेन द्यौरिवाभ्रपरिच्छदा ॥

सूर्यके समान प्रकाशित होनेवाली ऊँची गगनचुम्बिनी सफेद चहारदीवारीसे सुशोभित द्वारकापुरी सफेद बादलोंसे घिरी हुई देवपुरी (अमरावती) के समान जान पड़ती थी ॥

नन्दनप्रतिमैश्चापि मिश्रकप्रतिमैर्वनैः ।
भाति चैत्ररथं दिव्यं पितामहवनं यथा ॥
वैभ्राजप्रतिमैश्चैव सर्वर्तुकुसुमोत्कटैः ।
भाति तारापरिक्षिप्ता द्वारका द्यौरिवाम्बरे ॥

नन्दन और मिश्रकके जैसे वन उस पुरीकी शोभा बढ़ा रहे थे। वहाँका दिव्य चैत्ररथ वन ब्रह्माजीके अलौकिक उद्यानकी भाँति शोभित था। सभी ऋतुओंके फूलोंसे भरे हुए वैभ्राज नामक वनके सदृश मनोहर उपवनोंसे घिरी हुई द्वारकापुरी ऐसी जान पड़ती थी, मानो आकाशमें तारिकाओंसे व्याप्त स्वर्गपुरी शोभा पा रही हो ॥

भाति रैवतकः शैलो रम्यसानुर्महाजिरः ।
पूर्वस्यां दिशि रम्यायां द्वारकायां विभूषणम् ॥

रमणीय द्वारकापुरीकी पूर्वदिशामें महाकाय रैवतक पर्वत, जो उस पुरीका आभूषणरूप था, सुशोभित हो रहा था। उसके शिखर बड़े मनोहर थे ॥

दक्षिणस्यां लतावेष्टः पञ्चवर्णो विराजते ।
इन्द्रकेतुप्रतीकाशः पश्चिमां दिशमाश्रितः ॥
सुकक्षो राजतः शैलश्चित्रपुष्पमहावनः ।
उत्तरस्यां दिशि तथा वेणुमन्तो विराजते ॥
मन्दराद्रिप्रतीकाशः पाण्डुरः पाण्डवर्षभ ।

पुरीके दक्षिण भागमें लतावेष्ट नामक पर्वत शोभा पा रहा था, जो पाँच रंगका होनेके कारण इन्द्रध्वज-सा प्रतीत होता था। पश्चिमदिशामें सुकक्ष नामक रजत-पर्वत था, जिसके ऊपर विचित्र पुष्पोंसे सुशोभित महान् वन शोभा पा रहा था। पाण्डवश्रेष्ठ ! इसी प्रकार उत्तर दिशामें मन्दराचलके सदृश श्वेत वर्णवाला वेणुमन्त पर्वत शोभायमान था ॥

चित्रकम्बलवर्णाभं पाञ्चजन्यवनं तथा ॥
सर्वर्तुकवनं चैव भाति रैवतकं प्रति।

रैवतक पर्वतके पास चित्रकम्बलके-से वर्णवाले पाञ्चजन्य-वन तथा सर्वर्तुकवनकी भी बड़ी शोभा होती थी ॥

लतावेष्टं समन्तात् तु मेरुप्रभवनं महत् ॥
भाति तालवनं चैव पुष्पकं पुण्डरीकवत्।

लतावेष्ट पर्वतके चारों ओर मेरुप्रभ नामक महान् वन, तालवन तथा कमलोंसे सुशोभित पुष्पकवन शोभा पा रहे हैं ॥

सुकक्षं परिवार्यैनं चित्रपुष्पं महावनम् ॥
शतपत्रवनं चैव करवीरकुसुम्भि च।

सुकक्ष पर्वतको चारों ओरसे घेरकर चित्रपुष्प नामक महावन, शतपत्रवन, करवीरवन और कुसुम्भिवन सुशोभित होते हैं ॥

भाति चैत्ररथं चैव नन्दनं च महावनम् ॥
रमणं भावनं चैव वेणुमन्तं समन्ततः।

वेणुमन्त पर्वतके सब ओर चैत्ररथ, नन्दन, रमण और भावन नामक महान् वन शोभा पाते हैं ॥

भाति पुष्करिणी रम्या पूर्वस्यां दिशि भारत ॥
धनुःशतपरीणाहा केशवस्य महात्मनः ॥

भारत ! महात्मा केशवकी उस पुरीमें पूर्वदिशाकी ओर एक रमणीय पुष्करिणी शोभा पाती है, जिसका विस्तार सौ धनुष है ॥

महापुरीं द्वारवतीं पञ्चाशद्भिर्मुखैर्युताम्।
प्रविष्टो द्वारकां रम्यां भासयन्तीं समन्ततः ॥

पचास दरवाजोंसे सुशोभित और सब ओरसे प्रकाशमान उस सुरम्य महापुरी द्वारकामें श्रीकृष्णने प्रवेश किया ॥

अप्रमेयां महोत्सेधां महागाधपरिप्लवाम्।
प्रासादवरसम्पन्नां श्वेतप्रासादशालिनीम् ॥

वह कितनी बड़ी है, इसका कोई माप नहीं था। उसकी ऊँचाई भी बहुत अधिक थी। वह पुरी चारों ओर अत्यन्त अगाध जलराशिसे घिरी हुई थी, सुन्दर-सुन्दर महलोंसे भरी हुई द्वारका श्वेत अट्टालिकाओंसे सुशोभित होती थी ॥

तीक्ष्णयन्त्रशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैः समन्विताम्।
आयसैश्च महाचक्रैर्ददर्श द्वारकां पुरीम् ॥

तीखे यन्त्र, शतघ्नी, विभिन्न यन्त्रोंके समुदाय और लोहेके बने हुए बड़े-बड़े चक्रोंसे सुरक्षित द्वारकापुरीको भगवान्‌ने देखा ॥

अष्टौ रथसहस्राणि प्राकारे किङ्किणीकिनः।
समुच्छ्रितपताकानि यथा देवपुरे तथा ॥

देवपुरीकी भाँति उसकी चहारदीवारीके निकट क्षुद्र-घण्टिकाओंसे सुशोभित आठ हजार रथ शोभा पाते थे, जिनमें पताकाएँ फहराती रहती थीं ॥

अष्टयोजनविस्तीर्णामचलां द्वादशायताम्।
द्विगुणोपनिवेशां च ददर्श द्वारकां पुरीम् ॥

द्वारकापुरीकी चौड़ाई आठ योजन है एवं लम्बाई बारह योजन है अर्थात् वह कुल ९६ योजन विस्तृत है। उसका उपनिवेश (समीपस्थ प्रदेश) उससे दुगुना अर्थात् १९२ योजन विस्तृत है। वह पुरी सब प्रकारसे अविचल है। श्रीकृष्णने उस पुरीको देखा ॥

अष्टमार्गां महाकक्ष्यां महाषोडशचत्वराम्।
एवं मार्गपरिक्षिप्तां साक्षादुशनसा कृताम् ॥

उसमें जानेके लिये आठ मार्ग हैं, बड़ी-बड़ी ड्योढ़ियाँ हैं और सोलह बड़े-बड़े चौराहे हैं। इस प्रकार विभिन्न मार्गोंसे परिष्कृत द्वारकापुरी साक्षात् शुक्राचार्यकी नीतिके अनुसार बनायी गयी है ॥

व्यूहानामन्तरा मार्गाः सप्त चैव महापथाः।
तत्र सा विहिता साक्षान्नगरी विश्वकर्मणा ॥

व्यूहोंके बीच-बीचमें मार्ग बने हैं, सात बड़ी-बड़ी सड़कें हैं। साक्षात् विश्वकर्माने इस द्वारकानगरीका निर्माण किया है ॥

काञ्चनैर्मणिसोपानैरुपेता जनहर्षिणी।
गीतघोषमहाघोषैः प्रासादप्रवरैः शुभा ॥

सोने और मणियोंकी सीढ़ियोंसे सुशोभित यह नगरी जन-जनको हर्ष प्रदान करनेवाली है। यहाँ गीतके मधुर स्वर तथा अन्य प्रकारके घोष गूँजते रहते हैं। बड़ी-बड़ी अट्टालिकाओंके कारण वह पुरी परम सुन्दर प्रतीत होती है ॥

तस्मिन् पुरवरश्रेष्ठे दाशार्हाणां यशस्विनाम्।
वेश्मानि जहृषे दृष्ट्वा भगवान् पाकशासनः ॥

नगरोंमें श्रेष्ठ उस द्वारकामें यशस्वी दशार्हवंशियोंके महल देखकर भगवान् पाकशासन इन्द्रको बड़ी प्रसन्नता हुई ॥

समुच्छ्रितपताकानि पारिप्लवनिभानि च।
काञ्चनाभानि भास्वन्ति मेरुकूटनिभानि च ॥

उन महलोंके ऊपर ऊँची पताकाएँ फहरा रही थीं। वे मनोहर भवन मेघोंके समान जान पड़ते थे और सुवर्णमय होनेके कारण अत्यन्त प्रकाशमान थे। वे मेरुपर्वतके उत्तुङ्ग शिखरोंके समान आकाशको चूम रहे थे।

सुधापाण्डरशृङ्गैश्च शातकुम्भपरिच्छदैः ।
रत्नसानुगुहाशृङ्गैः सर्वरत्नविभूषितैः ॥

उन गृहोंके शिखर चूनेसे लिपे-पुते और सफेद थे। उनकी छतें सुवर्णकी बनी हुई थीं। वहाँके शिखर, गुफा और शृङ्ग—सभी रत्नमय थे। उस पुरीके भवन सब प्रकारके रत्नोंसे विभूषित थे ॥

सहर्म्यैः सार्धचन्द्रैश्च सनिर्यूहैः सपञ्जरैः ।
सयन्त्रगृहसम्बाधैः सधातुभिरिवाद्रिभिः ॥

(भगवान्‌ने देखा) वहाँ बड़े-बड़े महल, अटारी तथा छज्जे हैं और उन छज्जोंमें लटकते हुए पक्षियोंके पिंजड़े शोभा पाते हैं। कितने ही यन्त्रगृह वहाँके महलोंकी शोभा बढ़ाते हैं। अनेक प्रकारके रत्नोंसे जटित होनेके कारण द्वारकाके भवन विविध धातुओंसे विभूषित पर्वतोंके समान शोभा धारण करते हैं ॥

मणिकाञ्चनभौमैश्च सुधामृष्टतलैस्तथा ।
जाम्बूनदमयैर्द्वारैर्वैडूर्यविकृतार्गलैः ॥

कुछ गृह तो मणिके बने हैं, कुछ सुवर्णसे तैयार किये गये हैं और कुछ पार्थिव पदार्थों (ईंट, पत्थर आदि) द्वारा निर्मित हुए हैं। उन सबके निम्नभाग चूनेसे स्वच्छ किये गये हैं। उनके दरवाजे (चौखट-किंवाड़े) जाम्बूनद सुवर्णके बने हैं और अर्गलाएँ (सिटकनियाँ) वैदूर्यमणिसे तैयार की गयी हैं ॥

सर्वर्तुसुखसंस्पर्शैर्महाधनपरिच्छदैः ।
रम्यसानुगुहाशृङ्गैर्विचित्रैरिव पर्वतैः ॥

उन गृहोंका स्पर्श सभी ऋतुओंमें सुख देनेवाला है। ये सभी बहुमूल्य सामानोंसे भरे हैं। उनकी समतल भूमि, गुफा और शिखर सभी अत्यन्त मनोहर हैं। इससे उन भवनोंकी शोभा विचित्र पर्वतोंके समान जान पड़ती है ॥

पञ्चवर्णसुवर्णैश्च पुष्पवृष्टिसमप्रभैः ।
तुल्यपर्जन्यनिर्घोषैर्नानावर्णैरिवाम्बुदैः ॥

उन गृहोंमें पाँच रंगोंके सुवर्ण मढ़े गये हैं। उनसे जो बहुरङ्गी आभा फैलती है, वह फुलझड़ी-सी जान पड़ती है। उन गृहोंसे मेघकी गम्भीर गर्जनाके समान शब्द होते रहते हैं। ये देखनेमें अनेक वर्णोंके बादलोंके समान जान पड़ते हैं ॥

महेन्द्रशिखरप्रख्यैर्विहितैर्विश्वकर्मणा ।
आलिखद्भिरिवाकाशमतिचन्द्रार्कभास्वरैः ॥

विश्वकर्माके बनाये हुए ये (ऊँचे और विशाल) भवन महेन्द्र पर्वतके शिखरोंकी शोभा धारण करते हैं। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता है, मानो ये आकाशमें रेखा खींच रहे हों। उनका प्रकाश चन्द्रमा और सूर्यसे भी बढ़कर है ॥

तैर्दाशार्हमहाभागैर्बभासे भवनह्रदैः ।
चण्डनागाकुलैर्घोरैर्ह्रदैर्भोगवती यथा ॥

जैसे भोगवती गङ्गा प्रचण्ड नागगणोंसे भरे हुए भयंकर कुण्डोंसे सुशोभित होती है, उसी प्रकार द्वारकापुरी दशार्ह-कुलके महान् सौभाग्यशाली पुरुषोंसे भरे हुए उपर्युक्त भवन-रूपी ह्रदोंके द्वारा शोभा पा रही है ॥

कृष्णध्वजोपवाह्यैश्च दाशार्हायुधरोहितैः ।
वृष्णिमत्तमयूरैश्च स्त्रीसहस्रप्रभाकुलैः ॥
वासुदेवेन्द्रपर्जन्यैर्गृहमेघैरलङ्कृता ।
ददृशे द्वारकातीव मेघैर्द्यौरिव संवृता ।

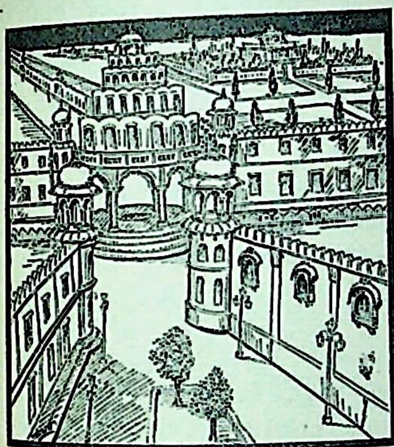
जैसे आकाश मेघोंकी घटासे आच्छादित होता है, उसी प्रकार द्वारकापुरी मनोहर भवनरूपी मेघोंसे अलङ्कृत दिखायी देती है। ये भगवान् श्रीकृष्ण ही वहाँ इन्द्र एवं पर्जन्य (प्रमुख मेघ) के समान हैं। वृष्णिवंशी युवक मतवाले मयूरोंके समान उन भवनरूपी मेघोंको देखकर हर्षसे नाच उठते हैं। सहस्रों स्त्रियोंकी कान्ति विद्युत्‌की प्रभाके समान उनमें व्याप्त है। जैसे मेघ कृष्णध्वज (अग्नि या सूर्यकिरण) के उपवाह्य (आधेय अथवा कार्य) हैं, उसी प्रकार द्वारका-के भवन भी कृष्णध्वजसे विभूषित उपवाह्य (वाहनों) से सम्पन्न हैं। यदुवंशियोंके विविध प्रकारके अस्त्र-शस्त्र उन मेघसदृश महलोंमें इन्द्रधनुषकी बहुरङ्गी छटा छिटकाते हैं ॥

साक्षाद् भगवतो वेश्म विहितं विश्वकर्मणा ॥
ददृशुर्देवदेवस्य चतुर्योजनमायतम् ।
तावदेव च विस्तीर्णमप्रमेयं महाधनैः ॥
प्रासादवरसम्पन्नं युक्तं जगति पर्वतैः ।

भारत ! देवाधिदेव भगवान् श्रीकृष्णका भवन, जिसे साक्षात् विश्वकर्माने अपने हाथों बनाया है, चार योजन लम्बा और उतना ही चौड़ा दिखायी देता है। उसमें कितनी बहुमूल्य सामग्रियाँ लगी हैं ! इसका अनुमान लगाना असम्भव है। उस विशाल भवनके भीतर सुन्दर-सुन्दर महल और अट्टालिकाएँ बनी हुई हैं। वह प्रासाद जगत्‌के सभी पर्वतीय दृश्योंसे युक्त है। श्रीकृष्ण, बलराम और इन्द्रने उस द्वारकाको देखा ॥

यं चकार महाबाहुस्त्वष्टा वासवचोदितः ॥
प्रासादं पद्मनाभस्य सर्वतो योजनायतम् ।
मेरोरिव गिरेः शृङ्गमुच्छ्रितं काञ्चनायुतम् ।
रुक्मिण्याः प्रवरो वासो विहितः सुमहात्मना ॥

महाबाहु विश्वकर्माने इन्द्रकी प्रेरणासे भगवान् पद्मनाभ-के लिये जिस मनोहर प्रासादका निर्माण किया है, उसका विस्तार सब ओरसे एक-एक योजनका है। उसके ऊँचे शिखरपर सुवर्ण मढ़ा गया है, जिससे वह मेरु पर्वतके उत्तुङ्ग शृङ्गकी शोभा धारण कर रहा है। वह प्रासाद महात्मा विश्वकर्माने महारानी रुक्मिणीके रहनेके लिये बनाया है। यह उनका सर्वोत्तम निवास है ॥



सत्यभामा पुनर्वेश्म सदा वसति पाण्डरम् ।
विचित्रमणिसोपानं यं विदुः शीतवानिति ॥

श्रीकृष्णकी दूसरी पटरानी सत्यभामा सदा श्वेत-रङ्गके प्रासादमें निवास करती हैं, जिसमें विचित्र मणियोंके सोपान बनाये गये हैं। उसमें प्रवेश करनेपर लोगोंको (ग्रीष्म ऋतुमें भी) शीतलताका अनुभव होता है ॥

विमलादित्यवर्णाभिः पताकाभिरलङ्कृतम् ।
व्यक्तबद्धं वनोद्देशे चतुर्दिशि महाध्वजम् ॥

निर्मल सूर्यके समान तेजस्विनी पताकाएँ उस मनोरम प्रासादकी शोभा बढ़ाती हैं। एक सुन्दर उद्यानमें उस भवनका निर्माण किया गया है। उसके चारों ओर ऊँची-ऊँची ध्वजाएँ फहराती रहती हैं ॥

स च प्रासादमुख्योऽत्र जाम्बवत्या विभूषितः ।
प्रभया भूषणैश्चित्रैस्त्रैलोक्यमिव भासयन् ॥
यस्तु पाण्डरवर्णाभस्तयोरन्तरमाश्रितः ।
विश्वकर्माकरोदेनं कैलासशिखरोपमम् ॥

इसके सिवा वह प्रमुख प्रासाद, जो रुक्मिणी तथा सत्यभामाके महलोंके बीचमें पड़ता है और जिसकी उज्ज्वल प्रभा सब ओर फैली रहती है, जाम्बवतीदेवीद्वारा विभूषित किया गया है। वह अपनी दिव्य प्रभा और विचित्र सजावटसे मानो तीनों लोकोंको प्रकाशित कर रहा है। उसे भी विश्वकर्माने ही बनाया है। जाम्बवतीका वह विशाल भवन कैलास-शिखरके समान सुशोभित होता है ॥

जाम्बूनदप्रदीप्ताग्रः प्रदीप्तज्वलनोपमः ।
सागरप्रतिमोऽतिष्ठन् मेरुरित्यभिविश्रुतः ॥
तस्मिन् गान्धारराजस्य दुहिता कुलशालिनी ।
सुकेशी नाम विख्याता केशवेन निवेशिता ॥

जिसका दरवाजा जाम्बूनद सुवर्णके समान उद्दीप्त होता है, जो देखनेमें प्रज्वलित अग्निके समान जान पड़ता है। विशालतामें समुद्रसे जिसकी उपमा दी जाती है, जो मेरुके नामसे विख्यात है, उस महान् प्रासादमें गान्धारराजकी कुलीन कन्या सुकेशीको भगवान् श्रीकृष्णने ठहराया है ॥

पद्मकूट इति ख्यातः पद्मवर्णो महाप्रभः ।
सुप्रभाया महाबाहो निवासः परमार्चितः ॥

महाबाहो ! पद्मकूट नामसे विख्यात जो कमलके समान कान्तिवाला प्रासाद है, वह महारानी सुप्रभाका परम पूजित निवासस्थान है ॥

यस्तु सूर्यप्रभो नाम प्रासादवर उच्यते ।
लक्ष्मणायाः कुरुश्रेष्ठ स दत्तः शार्ङ्गधन्वना ॥

कुरुश्रेष्ठ ! जिस उत्तम प्रासादकी प्रभा सूर्यके समान है, उसे शार्ङ्गधन्वा श्रीकृष्णने महारानी लक्ष्मणाको दे रक्खा है ॥

वैडूर्यवरवर्णाभः प्रासादो हरितप्रभः ।
यं विदुः सर्वभूतानि हरिरित्येव भारत ॥
वासः स मित्रविन्दाया देवर्षिगणपूजितः ॥
महिष्या वासुदेवस्य भूषणं सर्ववेश्मनाम् ।

भारत ! वैदूर्यमणिके समान कान्तिमान् हरे रङ्गका महल जिसे देखकर सब प्राणियोंको 'श्रीहरि' ही हैं, ऐसा अनुभव होता है, वह मित्रविन्दाका निवासस्थान है। उसकी देवगण भी सराहना करते हैं। भगवान् वासुदेवकी रानी मित्रविन्दाका यह भवन अन्य सब महलोंका आभूषणरूप है ॥

यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र विहितः सर्वशिल्पिभिः ॥
अतीव रम्यः सोऽप्यत्र प्रहसन्निव तिष्ठति ।
सुदत्तायाः सुवासस्तु पूजितः सर्वशिल्पिभिः ॥
महिष्या वासुदेवस्य केतुमानिति विश्रुतः ।

युधिष्ठिर ! द्वारकामें जो दूसरा प्रमुख प्रासाद है, उसे सम्पूर्ण शिल्पियोंने मिलकर बनाया है। वह अत्यन्त रमणीय भवन हँसता-सा खड़ा है। सभी शिल्पी उसके निर्माण-कौशलकी सराहना करते हैं। उस प्रासादका नाम है केतुमान्। वह भगवान् वासुदेवकी महारानी सुदत्तादेवीका सुन्दर निवासस्थान है ॥

प्रासादो विरजो नाम विरजस्को महात्मनः ॥
उपस्थानगृहं तात केशवस्य महात्मनः ।

वहाँ 'विरज' नामसे प्रसिद्ध एक प्रासाद है, जो निर्मल एवं रजोगुणके प्रभावसे शून्य है। वह परमात्मा श्रीकृष्णका उपस्थानगृह (खास रहनेका स्थान) है ॥

यस्तु प्रासादमुख्योऽत्र यं त्वष्टा व्यदधात् स्वयम् ॥
योजनायतविष्कुम्भं सर्वरत्नमयं विभोः ।

इसी प्रकार वहाँ एक और भी प्रमुख प्रासाद है, जिसे

स्वयं विश्वकर्माने बनाया है। उसकी लंबाई-चौड़ाई एक-एक योजनकी है। भगवान्‌का वह भवन सब प्रकारके रत्नोंद्वारा निर्मित हुआ है ॥

तेषां तु विहिताः सर्वे रुक्मदण्डाः पताकिनः।
सदने वासुदेवस्य मार्गसंजनना ध्वजाः ॥

वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णके सुन्दर सदनमें जो मार्गदर्शक-ध्वज हैं, उन सबके दण्ड सुवर्णमय बनाये गये हैं। उन सब-पर पताकाएँ फहराती रहती हैं ॥

घण्टाजालानि तत्रैव सर्वेषां च निवेशने।
आहृत्य यदुसिंहेन वैजयन्त्यचलो महान् ॥

द्वारकापुरीमें सभीके घरोंमें घंटा लगाया गया है। यदुसिंह श्रीकृष्णने वहाँ लाकर वैजयन्ती पताकाओंसे युक्त पर्वत स्थापित किया है ॥

हंसकूटस्य यच्छृङ्गमिन्द्रद्युम्नसरो महत्।
षष्टितालसमुत्सेधमर्धयोजनविस्तृतम् ॥

वहाँ हंसकूट पर्वतका शिखर है, जो साठ ताड़के बराबर ऊँचा और आधा योजन चौड़ा है। वहीं इन्द्रद्युम्नसरोवर भी है, जिसका विस्तार बहुत बड़ा है ॥

सकिंनरमहानादं तदप्यमिततेजसः ।
पश्यतां सर्वभूतानां त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥

वहाँ सब भूतोंके देखते-देखते किन्नरोंके संगीतका महान् शब्द होता रहता है। वह भी अमिततेजस्वी भगवान् श्रीकृष्णका ही लीलास्थल है। उसकी तीनों लोकोंमें प्रसिद्धि है ॥

आदित्यपथगं यत् तन्मेरोः शिखरमुत्तमम्।
जाम्बूनदमयं दिव्यं त्रिषु लोकेषु विश्रुतम् ॥
तदप्युत्पाट्य कृच्छ्रेण स्वं निवेशनमाहृतम्।
भ्राजमानं पुरा तत्र सर्वौषधिविभूषितम् ॥

मेरुपर्वतका जो सूर्यके मार्गतक पहुँचा हुआ जाम्बूनद-मय दिव्य और त्रिभुवनविख्यात उत्तम शिखर है, उसे उखाड़कर भगवान् श्रीकृष्ण कठिनाई उठाकर भी अपने महलमें ले आये हैं। सब प्रकारकी ओषधियोंसे अलंकृत वह मेरुशिखर द्वारकामें पूर्ववत् प्रकाशित है ॥

यमिन्द्रभवनाच्छौरिराजहार परंतपः।
पारिजातः स तत्रैव केशवेन निवेशितः ॥

शत्रुओंको संताप देनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण जिसे इन्द्रभवनसे हर ले आये थे, वह पारिजातवृक्ष भी उन्होंने द्वारकामें ही लगा रक्खा है ॥

विहिता वासुदेवेन ब्रह्मस्थलमहाद्रुमाः ॥
शालतालाश्वकर्णाश्च शतशाखाश्च रोहिणाः।
भल्लातककपित्थाश्च चन्द्रवृक्षाश्च चम्पकाः ॥
खर्जूराः केतकाश्चैव समन्तात् परिरोपिताः।

भगवान् वासुदेवने ब्रह्मलोकके बड़े-बड़े वृक्षोंको भी लाकर द्वारकामें लगाया है। शाल, ताल, अश्वकर्ण (कनेर), सौ शाखाओंसे सुशोभित वटवृक्ष, भल्लातक (भिलावा), कपित्थ (कैथ), चन्द्र (बड़ी इलायचीके) वृक्ष, चम्पा, खजूर और केतक (केवड़ा)—ये वृक्ष वहाँ सब ओर लगाये गये थे ॥

पद्माकुलजलोपेता रक्ताः सौगन्धिकोत्पलाः॥
मणिमौक्तिकवालूकाः पुष्करिण्यः सरांसि च।
तासां परमकूलानि शोभयन्ति महाद्रुमाः ॥

द्वारकामें जो पुष्करिणियाँ और सरोवर हैं, वे कमल-पुष्पोंसे सुशोभित स्वच्छ जलसे भरे हुए हैं। उनकी आभा लाल रङ्गकी है। उनमें सुगन्धयुक्त उत्पल खिले हुए हैं। उनमें स्थित वालूके कण मणियों और मोतियोंके चूर्ण जैसे जान पड़ते हैं। वहाँ लगाये हुए बड़े-बड़े वृक्ष उन सरोवरोंके सुन्दर तटोंकी शोभा बढ़ाते हैं ॥

ये च हैमवता वृक्षा ये च नन्दनजास्तथा।
आहृत्य यदुसिंहेन तेऽपि तत्र निवेशिताः॥

जो वृक्ष हिमालयपर उगते हैं तथा जो नन्दनवनमें उत्पन्न होते हैं, उन्हें भी यदुप्रवर श्रीकृष्णने वहाँ लाकर लगाया है॥

रक्तपीतारुणप्रख्याः सितपुष्पाश्च पादपाः।
सर्वर्तुफलपूर्णास्ते तेषु काननसंधिषु ॥

कोई वृक्ष लाल रङ्गके हैं, कोई पीत वर्णके हैं और कोई अरुण कान्तिसे सुशोभित हैं तथा बहुत-से वृक्ष ऐसे हैं, जिनमें श्वेत रङ्गके पुष्प शोभा पाते हैं। द्वारकाके उपवनोंमें लगे हुए पूर्वोक्त सभी वृक्ष सम्पूर्ण ऋतुओंके फलोंसे परिपूर्ण हैं ॥

सहस्रपत्रपद्माश्च मन्दराश्च सहस्रशः।
अशोकाः कर्णिकाराश्च तिलका नागमल्लिकाः ॥
कुरवा नागपुष्पाश्च चम्पकास्तृणगुल्मकाः।
सप्तपर्णाः कदम्बाश्च नीपाः कुरबकास्तथा ॥
केतक्यः केसराश्चैव हिन्तालतलताटकाः।
तालाः प्रियङ्गुबकुलाः पिण्डिका बीजपूरकाः ॥
द्राक्षामलकखर्जूरा मृद्वीका जम्बुकास्तथा।
आम्राः पनसवृक्षाश्च अङ्कोलास्तिलतिन्दुकाः ॥
लिकुचाम्रातकाश्चैव क्षीरिका कण्टकी तथा।
नालिकेरेङ्गुदाश्चैव उत्क्रोशकवनानि च ॥
वनानि च कदल्याश्च जातिमल्लिकपाटलाः।
भल्लातककपित्थाश्च तैतभा बन्धुजीवकाः ॥
प्रवालाशोककाश्मर्यः प्राचीनाश्चैव सर्वशः।
प्रियङ्गुबदरीभिश्च यवैः स्पन्दनचन्दनैः ॥
शमीबिल्वपलाशैश्च पाटलावटपिप्पलैः।
उदुम्बरैश्च द्विदलैः पालाशैः पारिभद्रकैः ॥

इन्द्रवृक्षार्जुनैश्चैव अश्वत्थैश्चिरिविल्वकैः ।
सौभञ्जनकवृक्षैश्च भल्लटैरश्वसाह्वयैः ॥
सर्जैस्ताम्बूलवल्लीभिर्लवङ्गैः क्रमुकैस्तथा ।
वंशैश्च विविधैस्तत्र समन्तात् परिरोपितैः ॥

सहस्रदल कमल, सहस्रों मन्दार, अशोक, कर्णिकार, तिलक, नागमल्लिका, कुरव (कटसरैया), नागपुष्प, चम्पक, तृण, गुल्म, सप्तपर्ण (छितवन), कदम्ब, नीप, कुरबक, केतकी, केसर, हिंताल, तल, ताटक, ताल, प्रियङ्गु, वकुल (मौलसिरी), पिण्डिका, बीजपूर (बिजौरा), दाख, आँवला, खजूर, मुनक्का, जामुन, आम, कटहल, अङ्कोल, तिल, तिन्दुक, लिकुच(लीची), आमड़ा, क्षीरिका (काकोली नामकी जड़ी या पिंडखजूर), कण्टकी (बेर), नारियल, इङ्गुद (हिंगोट), उत्क्रोशकवन, कदली-वन, जाति (चमेली), मल्लिका (मोतिया), पाटल, भल्लातक, कपित्थ, तैतभ, बन्धुजीव (दुपहरिया), प्रवाल, अशोक और काश्मरी (गाँभारी) आदि सब प्रकारके प्राचीन वृक्ष, प्रियङ्गुलता, बेर, जौ, स्पन्दन, चन्दन, शमी, बिल्व, पलाश, पाटला, बड़, पीपल, गूलर, द्विदल, पालाश, पारिभद्रक, इन्द्रवृक्ष, अर्जुनवृक्ष, अश्वत्थ, चिरिबिल्व, सौभञ्जन, भल्लट, अश्व-पुष्प, सर्ज, ताम्बूललता, लवङ्ग, सुपारी तथा नाना प्रकारके बाँस—ये सब द्वारकापुरीमें श्रीकृष्णभवनके चारों ओर लगाये हैं ॥

ये च नन्दनजा वृक्षा ये च चैत्ररथे वने ।
सर्वे ते यदुनाथेन समन्तात् परिरोपिताः ॥

नन्दनवनमें और चैत्ररथवनमें जो-जो वृक्ष होते हैं, वे सभी यदुपति भगवान् श्रीकृष्णने लाकर यहाँ सब ओर लगाये हैं ॥

कुमुदोत्पलपूर्णाश्च वाप्यः कूपाः सहस्रशः ।
समाकुलमहावाप्यः पीता लोहितवालुकाः ॥

भगवान् श्रीकृष्णके गृहोद्यानमें कुमुद और कमलोंसे भरी हुई कितनी ही छोटी बावलियाँ हैं । सहस्रों कुएँ बने हुए हैं । जलसे भरी हुई बड़ी-बड़ी वापिकाएँ भी तैयार करायी गयी हैं, जो देखनेमें पीत वर्णकी हैं और जिनकी बालुकाएँ लाल हैं ॥

तस्मिन् गृहवने नद्यः प्रसन्नसलिला ह्रदाः ।
फुल्लोत्पलजलोपेता नानाद्रुमसमाकुलाः ॥

उनके गृहोद्यानमें स्वच्छ जलसे भरे हुए कुण्डवाली कितनी ही कृत्रिम नदियाँ प्रवाहित होती रहती हैं, जो प्रफुल्ल उत्पलयुक्त जलसे परिपूर्ण हैं तथा जिन्हें दोनों ओरसे अनेक प्रकारके वृक्षोंने घेर रक्खा है ॥

तस्मिन् गृहवने नद्यो मणिशर्करवालुकाः ।
मत्तबर्हिणसङ्घाश्च कोकिलाश्च मदोत्कटाः ॥

उस भवनके उद्यानकी सीमामें मणिमय कंकड़ और बालुकाओंसे सुशोभित नदियाँ निकाली गयी हैं, जहाँ मतवाले मयूरोंके झुंड विचरते हैं और मदोन्मत्त कोकिलाएँ कुहू-कुहू किया करती हैं ॥

बभूवुः परमोपेताः सर्वे जगतिपर्वताः ।
तत्रैव गजयूथानि तत्र गोमहिषास्तथा ॥
निवासाश्च कृतास्तत्र वराहमृगपक्षिणाम् ।

उस गृहोद्यानमें जगत्के सभी श्रेष्ठ पर्वत अंशतः संगृहीत हुए हैं । वहाँ हाथियोंके यूथ तथा गाय-भैंसोंके झुंड रहते हैं । वहीं जंगली सूअर, मृग और पक्षियोंके रहने योग्य निवासस्थान भी बनाये गये हैं ॥

विश्वकर्मकृतः शैलः प्राकारस्तस्य वेश्मनः ॥
व्यक्तं किष्कुशतोच्चामः सुधाकरसमप्रभः ।

विश्वकर्माद्वारा निर्मित पर्वतमाला ही उस विशाल भवनकी चहारदीवारी है । उसकी ऊँचाई सौ हाथकी है और वह चन्द्रमा-के समान अपनी श्वेत छटा छिटकाती रहती है ॥

तेन ते च महाशैलाः सरितश्च सरांसि च ॥
परिक्षिप्तानि हर्म्यस्य वनान्युपवनानि च ।

पूर्वोक्त बड़े-बड़े पर्वत, सरिताएँ, सरोवर और प्रासादके समीपवर्ती वन-उपवन इस चहारदीवारीसे घिरे हुए हैं ॥

एवं तच्छिल्पिवर्येण विहितं विश्वकर्मणा ॥
प्रविशन्नेव गोविन्दो ददर्श परितो मुहुः ।

इस प्रकार शिल्पियोंमें श्रेष्ठ विश्वकर्माद्वारा बनाये हुए द्वारका नगरमें प्रवेश करते समय भगवान् श्रीकृष्णने बारंबार सब ओर दृष्टिपात किया ॥

इन्द्रः सहामरैः श्रीमांस्तत्र तत्रावलोकयत् ।

देवताओंके साथ श्रीमान् इन्द्रने वहाँ द्वारकाको सब ओर दृष्टि दौड़ाते हुए देखा ॥

एवमालोकयांचक्रुर्द्वारकामृषभास्त्रयः ।
उपेन्द्रबलदेवौ च वासवश्च महायशाः ॥

इस प्रकार उपेन्द्र (श्रीकृष्ण), बलराम तथा महायशस्वी इन्द्र इन तीनों श्रेष्ठ महापुरुषोंने द्वारकापुरीकी शोभा देखी ॥

ततस्तं पाण्डरं शौरिर्मूर्ध्नि तिष्ठन् गरुत्मतः ॥
प्रीतः शङ्खमुपादध्मौ विद्विषां रोमहर्षणम् ।

तदनन्तर गरुड़के ऊपर बैठे हुए भगवान् श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक श्वेतवर्णवाले अपने उस पाञ्चजन्य शङ्खको बजाया, जो शत्रुओंके रोंगटे खड़े कर देनेवाला है ॥

तस्य शङ्खस्य शब्देन सागरश्चुक्षुभे भृशम् ॥
ररास च नभः सर्वं तच्चित्रमभवत् तदा ।

उस घोर शङ्खध्वनिसे समुद्र विक्षुब्ध हो उठा तथा

सारा आकाशमण्डल गूँजने लगा। उस समय वहाँ यह अद्भुत बात हुई ॥

पाञ्चजन्यस्य निर्घोषं निशम्य कुकुरान्धकाः ॥
विशोकाः समपद्यन्त गरुडस्य च दर्शनात्।

पाञ्चजन्यका गम्भीर घोष सुनकर और गरुडका दर्शन कर कुकुर और अन्धकवंशी यादव शोकरहित हो गये ॥

शङ्खचक्रगदापाणिं सुपर्णशिरसि स्थितम् ॥
दृष्ट्वा जहृषिरे कृष्णं भास्करोदयतेजसम्।

भगवान् श्रीकृष्णके हाथोंमें शङ्ख, चक्र और गदा आदि आयुध सुशोभित थे। वे गरुडके ऊपर बैठे थे। उनका तेज सूर्योदयके समान नूतन चेतना और उत्साह पैदा करनेवाला था। उन्हें देखकर सबको बड़ा हर्ष हुआ ॥

ततस्तूर्यप्रणादश्च भेरीणां च महास्वनः ॥
सिंहनादश्च संजज्ञे सर्वेषां पुरवासिनाम्।

तदनन्तर तुरही और भेरियाँ बज उठीं। उनकी आवाज बहुत दूरतक फैल गयी। समस्त पुरवासी भी सिंहनाद कर उठे ॥

ततस्ते सर्वदाशार्हाः सर्वे च कुकुरान्धकाः ॥
प्रीयमाणाः समाजग्मुरालोक्य मधुसूदनम्।

उस समय दशार्ह, कुकुर और अन्धकवंशके सब लोग भगवान् मधुसूदनका दर्शन करके बड़े प्रसन्न हुए और सभी उनकी अगवानीके लिये आ गये ॥

वासुदेवं पुरस्कृत्य वेणुशङ्खरवैः सह ॥
उग्रसेनो ययौ राजा वासुदेवनिवेशनम्।

राजा उग्रसेन भगवान् वासुदेवको आगे करके वेणुनाद और शङ्खध्वनिके साथ उनके महलतक उन्हें पहुँचानेके लिये गये ॥

आनन्दितुं पर्यचरन् स्वेषु वेश्मसु देवकी ॥
रोहिणी च यथोद्देशमाहुकस्य च याः स्त्रियः।

देवकी, रोहिणी तथा उग्रसेनकी स्त्रियाँ अपने अपने महलोंमें भगवान् श्रीकृष्णका अभिनन्दन करनेके लिये यथास्थान खड़ी थीं। पास आनेपर उन सबने उनका यथावत् सत्कार किया ॥

हता ब्रह्मद्विषः सर्वे जयन्त्यन्धकवृष्णयः ॥
एवमुक्तः स ह स्त्रीभिरीक्षितो मधुसूदनः।

वे आशीर्वाद देती हुई इस प्रकार बोलीं—'समस्त ब्राह्मणद्वेषी असुर मारे गये; अन्धक और वृष्णिवंशके वीर सर्वत्र विजयी हो रहे हैं।' स्त्रियोंने भगवान् मधुसूदनसे ऐसा कहकर उनकी ओर देखा ॥

ततः शौरिः सुपर्णेन स्वं निवेशनमभ्ययात् ॥
चकारार्थ यथोद्देशमीश्वरो मणिपर्वतम्।

तदनन्तर श्रीकृष्ण गरुडके द्वारा ही अपने महलमें गये। वहाँ उन परमेश्वरने एक उपयुक्त स्थानमें मणिपर्वतको स्थापित कर दिया ॥

ततो धनानि रत्नानि सभायां मधुसूदनः ॥
निधाय पुण्डरीकाक्षः पितुर्दर्शनलालसः।

इसके बाद कमलनयन मधुसूदनने सभाभवनमें धन और रत्नोंको रखकर मन-ही-मन पिताके दर्शनकी अभिलाषा की ॥

ततः सान्दीपनिं पूर्वमुपस्पृष्ट्वा महायशाः ॥
ववन्दे पृथुताम्राक्षः प्रीयमाणो महाभुजः।

फिर विशाल एवं कुछ लाल नेत्रोंवाले उन महायशस्वी महाबाहुने पहले मन-ही-मन गुरु सान्दीपनिके चरणोंका स्पर्श किया ॥

तथाश्रुपरिपूर्णाक्षमानन्दगतचेतसम् ॥
ववन्दे सह रामेण पितरं वासवानुजः।

तत्पश्चात् भाई बलरामजीके साथ जाकर श्रीकृष्णने प्रसन्नतापूर्वक पिताके चरणोंमें प्रणाम किया। उस समय पिता वसुदेवके नेत्रोंमें प्रेमके आँसू भर आये और उनका हृदय आनन्दके समुद्रमें निमग्न हो गया ॥

रामकृष्णौ समाश्लिष्य सर्वे चान्धकवृष्णयः ॥

अन्धक और वृष्णिवंशके सब लोगोंने बलराम और श्रीकृष्णको हृदयसे लगाया ॥

तं तु कृष्णः समाहृत्य रत्नौघधनसंचयम् ॥
व्यभजत् सर्ववृष्णिभ्य आदध्वमिति चाब्रवीत्।

भगवान् श्रीकृष्णने रत्न और धनकी उस राशिको एकत्र करके अलग-अलग बाँट दिया और सम्पूर्ण वृष्णिवंशियोंसे कहा—'यह सब आपलोग ग्रहण करें' ॥

यथाश्रेष्ठमुपागम्य सात्वतान् यदुनन्दनः ॥
सर्वेषां नाम जग्राह दाशार्हाणामधोक्षजः।

ततः सर्वाणि वित्तानि सर्वरत्नमयानि च ॥
व्यभजत् तानि तेभ्योऽथ सर्वेभ्यो यदुनन्दनः।

तदनन्तर यदुनन्दन श्रीकृष्णने यदुवंशियोंमें जो श्रेष्ठ पुरुष थे, उन सबसे क्रमशः मिलकर सब यादवोंको नाम ले-लेकर बुलाया और उन सबको वे सभी रत्नमय धन पृथक्-पृथक् बाँट दिये ॥

सा केशवमहामात्रैर्महेन्द्रप्रमुखैः सह ॥
शुशुभे वृष्णिशार्दूलैः सिंहैरिव गिरेर्गुहा।

जैसे पर्वतकी कन्दरा सिंहोंसे सुशोभित होती है, उसी प्रकार द्वारकापुरी उस समय भगवान् श्रीकृष्ण, देवराज

इन्द्र तथा वृष्णिवंशी वीर पुरुषसिंहोंसे अत्यन्त शोभा पा रही थी ॥

यथासनगतान् सर्वानुवाच विबुधाधिपः ॥
शुभया हर्षयन् वाचा महेन्द्रस्तान् महायशाः ।
कुकुरान्धकमुख्यांश्च तं च राजानमाहुकम् ॥

जब सभी यदुवंशी अपने-अपने आसनोंपर बैठ गये, उस समय देवताओंके स्वामी महायशस्वी महेन्द्र अपनी कल्याणमयी वाणीद्वारा कुकुर और अन्धक आदि यादवों तथा राजा उग्रसेनका हर्ष बढ़ाते हुए बोले ॥

इन्द्र उवाच

यदर्थं जन्म कृष्णस्य मानुषेषु महात्मनः ।
यत् कृतं वासुदेवेन तद् वक्ष्यामि समासतः ॥

इन्द्रने कहा—यदुवंशी वीरो ! परमात्मा श्रीकृष्णका मनुष्य-योनिमें जिस उद्देश्यको लेकर अवतार हुआ है और भगवान् वासुदेवने इस समय जो महान् पुरुषार्थ किया है, वह सब मैं संक्षेपसे बताऊँगा ॥

अयं शतसहस्राणि दानवानामरिंदमः ।
निहत्य पुण्डरीकाक्षः पातालविवरं ययौ ॥
यत्र नाधिगतं पूर्वैः प्रह्लादबलिशम्बरैः ।
तदिदं शौरिणा वित्तं प्रापितं भवतामिह ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले कमलनयन श्रीहरिने एक लाख दानवोंका संहार करके उस पाताल-विवरमें प्रवेश किया था, जहाँ पहलेके प्रह्लाद, बलि और शम्बर आदि दैत्य भी नहीं पहुँच सके थे। भगवान् आपलोगोंके लिये यह धन वहींसे लाये हैं ॥

सपाशं मुरमाक्रम्य पाञ्चजन्यं च धीमता ।
शिलासङ्घानतिक्रम्य निशुम्भः सगणो हतः ॥

बुद्धिमान् श्रीकृष्णने पाशसहित मुर नामक दैत्यको कुचलकर पञ्चजन नामवाले राक्षसोंका विनाश किया और शिला-समूहोंको लाँघकर सेवकगणोंसहित निशुम्भको मौतके घाट उतार दिया ॥

हयग्रीवश्च विक्रान्तो निहतो दानवो बली ॥
मथितश्च मृधे भौमः कुण्डले चाहृते पुनः ।
प्राप्तं च दिवि देवेषु केशवेन महद् यशः ॥

तत्पश्चात् इन्होंने बलवान् एवं पराक्रमी दानव हयग्रीवपर आक्रमण करके उसे मार गिराया और भौमासुरका भी युद्धमें संहार कर डाला। इसके बाद केशवने माता अदितिके कुण्डल प्राप्त करके उन्हें यथास्थान पहुँचाया और स्वर्गलोक तथा देवताओंमें अपने महान् यशका विस्तार किया ॥

वीतशोकभयाबाधाः कृष्णबाहुबलाश्रयाः ।
यजन्तु विविधैः सोमैर्यज्ञैरन्धकवृष्णयः ॥

अन्धक और वृष्णिवंशके लोग श्रीकृष्णके बाहुबलका आश्रय लेकर शोक, भय और बाधाओंसे मुक्त हैं। अब ये सभी नाना प्रकारके यज्ञों तथा सोमरसद्वारा भगवान्‌का यजन करें ॥

पुनर्बाणवधे शौरिमादित्या वसुभिः सह ।
सन्मुखा हि गमिष्यन्ति साध्याश्च मधुसूदनम् ॥

अब पुनः बाणासुरके वधका अवसर उपस्थित होनेपर मैं तथा सब देवता, वसु और साध्यगण मधुसूदन श्रीकृष्ण-की सेवामें उपस्थित होंगे ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा ततः सर्वानामन्त्र्य कुकुरान्धकान् ।
सस्वजे रामकृष्णौ च वसुदेवं च वासवः ॥

भीष्मजी कहते हैं—युधिष्ठिर ! समस्त कुकुर और अन्धकवंशके लोगोंसे ऐसा कहकर सबसे विदा ले देवराज इन्द्रने बलराम, श्रीकृष्ण और वसुदेवको हृदयसे लगाया ॥

प्रद्युम्नसाम्बनिशठाननिरुद्धं च सारणम् ।
बभ्रुं झल्लिं गदं भानुं चारुदेष्णं च वृत्रहा ॥
सत्कृत्य सारणाक्रूरौ पुनराभाष्य सात्यकिम् ।
सस्वजे वृष्णिराजानमाहुकं कुकुराधिपम् ॥

प्रद्युम्न, साम्ब, निशठ, अनिरुद्ध, सारण, बभ्रु, झल्लि, गद, भानु, चारुदेष्ण, सारण और अक्रूरका भी सत्कार करके वृत्रासुरनिषूदन इन्द्रने पुनः सात्यकिसे वार्तालाप किया। इसके बाद वृष्णि और कुकुरवंशके अधिपति राजा उग्रसेन-को गले लगाया ॥

भोजं च कृतवर्माणमन्यांश्चान्धकवृष्णिषु ।
आमन्त्र्य देवप्रवरो वासवो वासवानुजम् ॥

तत्पश्चात् भोज, कृतवर्मा तथा अन्य अन्धकवंशी एवं वृष्णिवंशियोंका आलिङ्गन करके देवराजने अपने छोटे भाई श्रीकृष्णसे विदा ली ॥

ततः श्वेताचलप्रख्यं गजमैरावतं प्रभुः ।
पश्यतां सर्वभूतानामारुरोह शचीपतिः ॥

तदनन्तर शचीपति भगवान् इन्द्र सब प्राणियोंके देखते-देखते श्वेतपर्वतके समान सुशोभित ऐरावत हाथीपर आरूढ़ हुए ॥

पृथिवीं चान्तरिक्षं च दिवं च वरवारणम् ।
मुखाडम्बरनिर्घोषैः पूरयन्तमिवासकृत् ॥

वह श्रेष्ठ गजराज अपनी गम्भीर गर्जनासे पृथ्वी, अन्तरिक्ष और स्वर्गलोकको बारंबार निनादित-सा कर रहा था ॥

हैमयन्त्रमहाकक्ष्यं हिरण्मयविषाणिनम् ।
मनोहरकुथास्तीर्णं सर्वरत्नविभूषितम् ॥

उसकी पीठपर सोनेके खंभोंसे युक्त बहुत बड़ा हौदा कसा हुआ था । उसके दाँतोंमें सोना मढ़ा गया था । उसके ऊपर मनोहर झूल पड़ी हुई थी । वह सब प्रकारके रत्नमय आभूषणोंसे विभूषित था ॥

अनेकशतरत्नाभिः पताकाभिरलंकृतम् ।
नित्यस्रुतमदस्रावं क्षरन्तमिव तोयदम् ॥

सैकड़ों रत्नोंसे अलंकृत पताकाएँ उसकी शोभा बढ़ा रही थीं । उसके मस्तकसे निरन्तर मदकी धारा इस प्रकार बहती रहती थी, मानो मेघ पानी बरसा रहा हो ॥

दिशागजं महामात्रं काञ्चनस्रजमास्थितः ।
प्रबभौ मन्दराग्रस्थः प्रतपन् भानुमानिव ॥

वह विशालकाय दिग्गज सोनेकी माला धारण किये हुए था । उसपर बैठे हुए देवराज इन्द्र मन्दराचलके शिखरपर तपते हुए सूर्यदेवकी भाँति उद्भासित हो रहे थे ॥

ततो वज्रमयं भीमं प्रगृह्य परमाङ्कुशम् ।
ययौ बलवता सार्धं पावकेन शचीपतिः ॥

तदनन्तर शचीपति इन्द्र वज्रमय भयंकर एवं विशाल अङ्कुश लेकर बलवान् अग्निदेवके साथ स्वर्गलोकको चल दिये॥

तं करेणुगजव्रातैर्विमानैश्च मरुद्गणाः ।
पृष्ठतोऽनुययुः प्रीताः कुबेरवरुणग्रहाः ॥

उनके पीछे हाथी-हथिनियोंके समुदायों और विमानोंद्वारा मरुद्गण, कुबेर तथा वरुण आदि देवता भी प्रसन्नतापूर्वक चल पड़े ॥

स वायुपथमास्थाय वैश्वानरपथं गतः ।
प्राप्य सूर्यपथं देवस्तत्रैवान्तरधीयत ॥

इन्द्रदेव पहले वायुपथमें पहुँचकर वैश्वानरपथ (तेजोमय लोक) में जा पहुँचे । तत्पश्चात् सूर्यदेवके मार्गमें जाकर वहाँ अन्तर्धान हो गये ॥

ततः सर्वदशार्हाणामाहुकस्य च याः स्त्रियः ।
नन्दगोपस्य महिषी यशोदा लोकविश्रुता ॥
रेवती च महाभागा रुक्मिणी च पतिव्रता ।
सत्या जाम्बवती चोभे गान्धारी शिंशुमापि वा ॥
विशोका लक्ष्मणा साध्वी सुमित्रा केतुमा तथा ।
वासुदेवमहिष्योऽन्याः श्रिया सार्धं ययुस्तदा ॥
विभूतिं द्रष्टुमनसः केशवस्य वराङ्गनाः ।
प्रीयमाणाः सभां जग्मुरालोकयितुमच्युतम् ॥

तदनन्तर सब दशार्हकुलकी स्त्रियाँ, राजा उग्रसेनकी रानियाँ, नन्दगोपकी विश्वविख्यात रानी यशोदा, महाभागा रेवती(बलभद्र-पत्नी) तथा पतिव्रता रुक्मिणी, सत्या, जाम्बवती, गान्धारराज-कन्या शिंशुमा, विशोका, लक्ष्मणा, साध्वी सुमित्रा, केतुमा तथा भगवान् वासुदेवकी अन्य रानियाँ— ये सब-की-सब श्रीजीके साथ भगवान् केशवकी विभूति एवं नवागत सुन्दरी रानियोंको देखनेके लिये और श्रीअच्युतका दर्शन करनेके लिये बड़ी प्रसन्नताके साथ सभाभवनमें गयीं ॥

देवकी सर्वदेवीनां रोहिणी च पुरस्कृता ।
ददृशुर्देवमासीनं कृष्णं हलभृता सह ॥

देवकी तथा रोहिणीजी सब रानियोंके आगे चल रही थीं । सबने वहाँ जाकर श्रीबलरामजीके साथ बैठे हुए श्रीकृष्णको देखा ॥

तौ तु पूर्वमुपक्रम्य रोहिणीमभिवाद्य च ।
अभ्यवादयतां देवौ देवकीं रामकेशवौ ॥
देवकीं सप्तदेवीनां यथाश्रेष्ठं च मातरः ।

उन दोनों भाई बलराम और श्रीकृष्णने उठकर पहले रोहिणीजीको प्रणाम किया । फिर देवकीजी तथा सात देवियोंमेंसे श्रेष्ठताके क्रमसे अन्य सभी माताओंकी चरणवन्दना की ॥

ववन्दे सह रामेण भगवान् वासवानुजः ॥
अथासनवरं प्राप्य वृष्णिदारपुरस्कृता ॥
उभावङ्कगतौ चक्रे देवकी रामकेशवौ ।

बलरामसहित भगवान् उपेन्द्रने जब इस प्रकार माताके चरणोंमें प्रणाम किया, तब वृष्णिकुलकी महिलाओंमें अग्रगण्य माता देवकीजीने एक श्रेष्ठ आसनपर बैठकर बलराम और श्रीकृष्ण दोनोंको गोदमें ले लिया ॥

सा ताभ्यामृषभाक्षाभ्यां पुत्राभ्यां शुशुभे तदा ॥
देवकी देवमातेव मित्रेण वरुणेन च ।

वृषभके सदृश विशाल नेत्रोंवाले उन दोनों पुत्रोंके साथ उस समय माता देवकीकी वैसी ही शोभा हुई, जैसी मित्र और वरुणके साथ देवमाता अदितिकी होती है ॥

ततः प्राप्ता यशोदाया दुहिता वै क्षणेन हि ॥
जाज्वल्यमाना वपुषा प्रभयातीव भारत ।

इसी समय यशोदाजीकी पुत्री क्षणभरमें वहाँ आ पहुँची। भारत ! उसके श्रीअङ्ग दिव्य प्रभासे प्रज्वलित-से हो रहे थे ॥

एकानङ्गेति यामाहुः कन्यां तां कामरूपिणीम् ॥
यत्कृते सगणं कंसं जघान पुरुषोत्तमः ।

उस कामरूपिणी कन्याका नाम था 'एकानङ्गा', जिसके निमित्तसे पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने सेवकोंसहित कंसका वध किया था ॥

ततः स भगवान् रामस्तामुपाक्रम्य भामिनीम् ॥
मूर्ध्न्युपाघ्राय सव्येन परिजग्राह पाणिना ।
दक्षिणेन कराग्रेण परिजग्राह माधवः ॥

तब भगवान् बलरामने आगे बढ़कर उस मानिनी बहिनको बायें हाथसे पकड़ लिया और वात्सल्य-स्नेह

उसका मस्तक सूँघा। तदनन्तर श्रीकृष्णने भी उस कन्याको दाहिने हाथसे पकड़ लिया ॥

ददृशुस्तां सभामध्ये भगिनीं रामकृष्णयोः ॥
रुक्मपद्माशयां पद्मां श्रीमिवोत्तमनागयोः ।

लोगोंने उस सभामें बलराम और श्रीकृष्णकी इस बहिनको देखा; मानो दो श्रेष्ठ गजराजोंके बीचमें सुवर्णमय कमलके आसनपर विराजमान भगवती लक्ष्मी हों ॥

अथाक्षतमहावृष्ट्या लाजपुष्पघृतैरपि ॥
वृष्णयोऽवाकिरन् प्रीताः संकर्षणजनार्दनौ ।

तत्पश्चात् वृष्णिवंशी पुरुषोंने प्रसन्न होकर बलराम और श्रीकृष्णपर लाजा (खील), फूल और घीसे युक्त अक्षतकी वर्षा की ॥

सबालाः सहवृद्धाश्च सज्ञातिकुलबान्धवाः ॥
उपोपविविशुः प्रीता वृष्णयो मधुसूदनम् ।

उस समय बालक, वृद्ध, ज्ञाति, कुल और बन्धु-बान्धवोंसहित समस्त वृष्णिवंशी प्रसन्नतापूर्वक भगवान् मधुसूदनके समीप बैठ गये ॥

पूज्यमानो महाबाहुः पौराणां रतिवर्धनः ॥
विवेश पुरुषव्याघ्रः स्ववेश्म मधुसूदनः ।

इसके बाद पुरवासियोंकी प्रीति बढ़ानेवाले पुरुषसिंह महाबाहु मधुसूदनने सबसे पूजित हो अपने महलमें प्रवेश किया॥

रुक्मिण्या सहितो देव्या प्रमुमोद सुखी सुखम् ।
अनन्तरं च सत्याया जाम्बवत्याश्च भारत ।
सर्वासां च यदुश्रेष्ठः सर्वकालविहारवान् ॥

वहाँ सदा प्रसन्न रहनेवाले श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके साथ बड़े सुखका अनुभव करने लगे। भारत ! तत्पश्चात् सदा लीला-विहार करनेवाले यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्ण क्रमशः सत्यभामा तथा जाम्बवती आदि सभी देवियोंके निवासस्थानोंमें गये ॥

जगाम च हृषीकेशो रुक्मिण्याः स्वं निवेशनम् ।

फिर अन्तमें श्रीकृष्ण रुक्मिणीदेवीके महलमें पधारे ॥

एष तात महाबाहो विजयः शार्ङ्गधन्वनः॥
एतदर्थं च जन्माहुर्मानुषेषु महात्मनः ।

तात ! महाबाहु युधिष्ठिर ! शार्ङ्ग नामक धनुष धारण करनेवाले भगवान् श्रीकृष्णकी यह विजयगाथा कही गयी है। इसीके लिये महात्मा श्रीकृष्णका मनुष्योंमें अवतार हुआ बताया जाता है ॥

(दाक्षिणात्य प्रतिमें अध्याय समाप्त)

[भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा बाणासुरपर विजय और भीष्मके द्वारा श्रीकृष्ण-माहात्म्यका उपसंहार]

भीष्म उवाच

द्वारकायां ततः कृष्णः स्वदारेषु दिवानिशम् ।
सुखं लब्ध्वा महाराज प्रमुमोद महायशाः ॥

भीष्मजी कहते हैं—महाराज युधिष्ठिर ! तदनन्तर महायशस्वी भगवान् श्रीकृष्ण अपनी रानियोंके साथ दिन-रात सुखका अनुभव करते हुए द्वारकापुरीमें आनन्दपूर्वक रहने लगे ॥

पौत्रस्य कारणाच्चक्रे विबुधानां हितं तदा ।
सवासवैः सुरैः सर्वैर्दुष्करं भरतर्षभ ॥

भरतश्रेष्ठ ! उन्होंने अपने पौत्र अनिरुद्धको निमित्त बनाकर देवताओंका जो हित-साधन किया, वह इन्द्रसहित सम्पूर्ण देवताओंके लिये अत्यन्त दुष्कर था ॥

बाणो नामाभवद् राजा बलेर्ज्येष्ठसुतो बली ।
वीर्यवान् भरतश्रेष्ठ स च बाहुसहस्रवान् ॥

भरतकुलभूषण ! बाण नामक एक राजा हुआ था, जो बलिका ज्येष्ठ पुत्र था। वह महान् बलवान् और पराक्रमी होनेके साथ ही सहस्र भुजाओंसे सुशोभित था ॥

ततश्चक्रे तपस्तीव्रं सत्येन मनसा नृप ।
रुद्रमाराधयामास स च बाणः समा बहूः ॥

राजन् ! बाणासुरने सच्चे मनसे बड़ी कठोर तपस्या की। उसने बहुत वर्षोंतक भगवान् शङ्करकी आराधना की ॥

तस्मै बहुवरा दत्ताः शङ्करेण महात्मना ।
तस्माल्लब्ध्वा वरान् बाणो दुर्लभान् ससुरैरपि॥
स शोणितपुरे राज्यं चकाराप्रतिमो बली ।

महात्मा शङ्करने उसे अनेक वरदान दिये। भगवान् शङ्करसे देवदुर्लभ वरदान पाकर बाणासुर अनुपम बलशाली हो गया और शोणितपुरमें राज्य करने लगा ॥

त्रासिताश्च सुराः सर्वे तेन बाणेन पाण्डव ॥
विजित्य विबुधान् सर्वान् सेन्द्रान् बाणः समा बहूः।
अशासत महद् राज्यं कुबेर इव भारत ॥

भरतवंशी पाण्डुनन्दन ! बाणासुरने सब देवताओंको आतङ्कित कर रक्खा था। उसने इन्द्र आदि सब देवताओंको जीतकर कुबेरकी भाँति दीर्घकालतक इस भूतलपर महान् राज्यका शासन किया ॥

ऋद्ध्यर्थं कुरुते यत्नं तस्य चैवोशना कविः ।

ज्ञानी विद्वान् शुक्राचार्य उसकी समृद्धि बढ़ानेके लिये प्रयत्न करते रहते थे ॥

ततो राजन्नुषा नाम बाणस्य दुहिता तथा ॥
रूपेणाप्रतिमा लोके मेनकायाः सुता यथा ।

राजन् ! बाणासुरके एक पुत्री थी, जिसका नाम उषा था। संसारमें उसके रूपकी तुलना करनेवाली दूसरी कोई स्त्री नहीं थी। वह मेनका अप्सराकी पुत्री-सी प्रतीत होती थी ॥

अथोपायेन कौन्तेय अनिरुद्धो महाद्युतिः ॥
प्राद्युम्निस्तामुषां प्राप्य प्रच्छन्नः प्रमुमोद ह ।

कुन्तीनन्दन ! महान् तेजस्वी प्रद्युम्नपुत्र अनिरुद्ध किसी उपायसे उषातक पहुँचकर छिपे रहकर उसके साथ आनन्दका उपभोग करने लगे ॥

अथ बाणो महातेजास्तदा तत्र युधिष्ठिर ॥
तं गुह्यनिलयं ज्ञात्वा प्राद्युम्निं सुतया सह।
गृहीत्वा कारयामास वस्तुं कारागृहे बलात् ॥

युधिष्ठिर ! महातेजस्वी बाणासुरने गुप्तरूपसे छिपे हुए प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धका अपनी पुत्रीके साथ रहना जान लिया और उन्हें अपनी पुत्रीसहित बलपूर्वक कारागारमें ठूँस देनेके लिये बंदी बना लिया ॥

सुकुमारः सुखार्होऽथ तदा दुःखमवाप सः।
बाणेन खेदितो राजन्ननिरुद्धो मुमोह च ॥

राजन् ! वे सुकुमार एवं सुख भोगनेके योग्य थे, तो भी उन्हें उस समय दुःख उठाना पड़ा। बाणासुरके द्वारा भाँति-भाँतिके कष्ट दिये जानेपर अनिरुद्ध मूर्च्छित हो गये ॥

एतस्मिन्नेव काले तु नारदो मुनिपुङ्गवः।
द्वारकां प्राप्य कौन्तेय कृष्णं दृष्ट्वा वचोऽब्रवीत् ॥

कुन्तीकुमार ! इसी समय मुनिप्रवर नारदजी द्वारकामें आकर श्रीकृष्णसे मिले और इस प्रकार बोले ॥

नारद उवाच

कृष्ण कृष्ण महाबाहो यदूनां कीर्तिवर्धन।
त्वत्पौत्रो बाध्यमानोऽथ बाणेनामिततेजसा ॥
कृच्छ्रं प्राप्तोऽनिरुद्धो वै शेते कारागृहे सदा।

नारदजीने कहा—महाबाहु श्रीकृष्ण ! आप यदुवंशियों-की कीर्ति बढ़ानेवाले हैं। इस समय अमिततेजस्वी बाणासुर आपके पौत्र अनिरुद्धको बहुत कष्ट दे रहा है। वे संकटमें पड़े हैं और सदा कारागारमें निवास कर रहे हैं ॥

भीष्म उवाच

एवमुक्त्वा सुरर्षिर्वै बाणस्याथ पुरं ययौ ॥
नारदस्य वचः श्रुत्वा ततो राजञ्जनार्दनः।
आहूय बलदेवं वै प्रद्युम्नं च महाद्युतिम् ॥
आरुरोह गरुत्मन्तं ताभ्यां सह जनार्दनः।

भीष्मजी कहते हैं—राजन् ! ऐसा कहकर देवर्षि नारद बाणासुरकी राजधानी शोणितपुरको चले गये। नारदजीकी बात सुनकर भगवान् श्रीकृष्णने बलरामजी तथा महातेजस्वी प्रद्युम्नको बुलाया और उन दोनोंके साथ वे गरुड़पर आरूढ़ हुए ॥

ततः सुपर्णमारुह्य त्रयस्ते पुरुषर्षभाः ॥
जग्मुः क्रुद्धा महावीर्या बाणस्य नगरं प्रति।

तदनन्तर वे तीनों महापराक्रमी पुरुषरत्न गरुड़पर आरूढ़ हो क्रोधमें भरकर बाणासुरके नगरकी ओर चल दिये ॥

अथासाद्य महाराज तत्पुरीं ददृशुश्च ते ॥
ताम्रप्राकारसंवीतां रूप्यद्वारैश्च शोभिताम्।

महाराज ! वहाँ जाकर उन्होंने बाणासुरकी पुरीको देखा, जो ताँबेकी चहारदिवारीसे घिरी हुई थी। चाँदीके बने हुए दरवाजे उसकी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

हेमप्रासादसम्बाधां मुक्तामणिविचित्रिताम् ॥
उद्यानवनसम्पन्नां नृत्तगीतैश्च शोभिताम्।

वह पुरी सुवर्णमय प्रासादोंसे भरी हुई थी और मुक्ता-मणियोंसे उसकी विचित्र शोभा हो रही थी। उसमें स्थान-स्थानपर उद्यान और वन शोभा पा रहे थे। वह नगरी नृत्य और गीतोंसे सुशोभित थी ॥

तोरणैःपक्षिभिःकीर्णां पुष्करिण्या च शोभिताम्॥
तां पुरीं स्वर्गसंकाशां हृष्टपुष्टजनाकुलाम्।
दृष्ट्वा मुदा युतां हैमां विस्मयं परमं ययुः ॥

वहाँ अनेक सुन्दर फाटक बने थे। सब ओर भाँति-भाँतिके पक्षी चहचहाते थे। कमलोंसे भरी हुई पुष्करिणी उस पुरीकी शोभा बढ़ाती थी। उसमें हृष्ट-पुष्ट स्त्री-पुरुष निवास करते थे और वह पुरी स्वर्गके समान मनोहर दिखायी देती थी। प्रसन्नतासे भरी हुई उस सुवर्णमयी नगरीको देखकर श्रीकृष्ण, बलराम और प्रद्युम्न तीनोंको बड़ा विस्मय हुआ ॥

तस्य बाणपुरस्यासन् द्वारस्था देवताः सदा।
महेश्वरो गुहश्चैव भद्रकाली च पावकः ॥
एता वै देवता राजन् ररक्षुस्तां पुरीं सदा।

बाणासुरकी राजधानीमें कितने ही देवता सदा द्वारपर बैठकर पहरा देते थे। राजन् ! भगवान् शङ्कर, कार्तिकेय, भद्रकालीदेवी और अग्नि—ये देवता सदा उस पुरीकी रक्षा करते थे ॥

अथ कृष्णो बलाज्जित्वा द्वारपालान् युधिष्ठिर ॥
सुसंक्रुद्धो महातेजाः शङ्खचक्रगदाधरः।
आससादोत्तरद्वारं शङ्करेणाभिपालितम् ॥

युधिष्ठिर! शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महातेजस्वी श्रीकृष्णने अत्यन्त कुपित हो पूर्वद्वारके रक्षकोंको बलपूर्वक जीत-कर भगवान् शङ्करके द्वारा सुरक्षित उत्तरद्वारपर आक्रमण किया ॥

तत्र तस्थौ महातेजाः शूलपाणिर्महेश्वरः।
पिनाकं सशरं गृह्य बाणस्य हितकाम्यया ॥
ज्ञात्वा तमागतं कृष्णं व्यादितास्यमिवान्तकम्।
महेश्वरो महाबाहुः कृष्णाभिमुखमाययौ ॥

वहाँ महान् तेजस्वी भगवान् महेश्वर हाथमें पिनाक लिये खड़े थे। जब उन्हें मालूम हुआ कि भगवान् श्रीकृष्ण मुँह बाये कालकी भाँति आ रहे हैं, तब वे महाबाहु महेश्वर

बाणासुरके हित-साधनकी इच्छासे बाणसहित पिनाक नामक धनुष हाथमें लेकर श्रीकृष्णके सम्मुख आये ॥

ततस्तौ चक्रतुर्युद्धं वासुदेवमहेश्वरौ ।
तद् युद्धमभवद् घोरमचिन्त्यं रोमहर्षणम् ॥

तदनन्तर भगवान् वासुदेव और महेश्वर परस्पर युद्ध करने लगे। उनका वह युद्ध अचिन्त्य, रोमाञ्चकारी तथा भयंकर था ॥

अन्योन्यं तौ ततक्षाते अन्योन्यजयकाङ्क्षिणौ ।
दिव्यास्त्राणि च तौ देवौ क्रुद्धौ मुमुचतुस्तदा ॥

वे दोनों देवता एक दूसरेपर विजय पानेकी इच्छासे परस्पर प्रहार करने लगे। दोनों ही क्रोधमें भरकर एक दूसरेपर दिव्यास्त्रोंका प्रयोग करते थे ॥

ततः कृष्णो रणं कृत्वा मुहूर्तं शूलपाणिना ।
विजित्य तं महादेवं ततो युद्धे जनार्दनः ॥
अन्यांश्च जित्वा द्वारस्थान् प्रविवेश पुरोत्तमम् ।

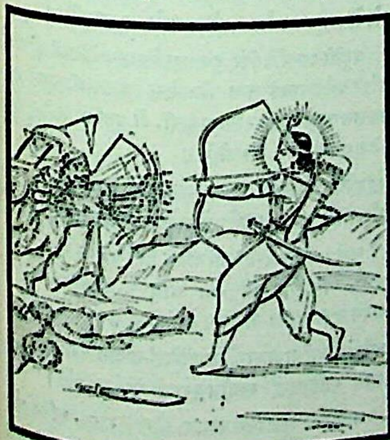
तदनन्तर भगवान् श्रीकृष्णने शूलपाणि भगवान् शङ्करके साथ दो घड़ीतक युद्ध करके महादेवजीको जीत लिया तथा द्वारपर खड़े हुए अन्य शिवगणोंको भी परास्त करके उस उत्तम नगरमें प्रवेश किया ।

प्रविश्य बाणमासाद्य स तत्राथ जनार्दनः ॥
चक्रे युद्धं महाक्रुद्धस्तेन बाणेन पाण्डव ।

पाण्डुनन्दन ! पुरीमें प्रवेश करके अत्यन्त क्रोधमें भरे हुए श्रीजनार्दनने बाणासुरके पास पहुँचकर उसके साथ युद्ध छेड़ दिया ॥

बाणोऽपि सर्वशस्त्राणि शितानि भरतर्षभ ॥
सुसंक्रुद्धस्तदा युद्धे पातयामास केशवे ।

भरतश्रेष्ठ ! बाणासुर भी क्रोधसे आगबबूला हो रहा था। उसने भी युद्धमें भगवान् केशवपर सभी तीखे तीखे अस्त्र-शस्त्र चलाये ॥



पुनरुद्यम्य शस्त्राणां सहस्रं सर्वबाहुभिः ॥
मुमोच बाणः संक्रुद्धः कृष्णं प्रति रणाजिरे ।

फिर उसने उद्योगपूर्वक अपनी सभी भुजाओंसे उस समराङ्गणमें कुपित हो श्रीकृष्णपर सहस्रों शस्त्रोंका प्रहार किया ॥

ततः कृष्णस्तु सञ्छिद्य तानि सर्वाणि भारत ॥
कृत्वा मुहूर्तं बाणेन युद्धं राजन्नधोक्षजः ।
चक्रमुद्यम्य राजन् वै दिव्यं शस्त्रोत्तमं ततः ॥
सहस्रबाहूंश्चिच्छेद बाणस्यामिततेजसः ।

भारत ! परंतु श्रीकृष्णने वे सभी शस्त्र काट डाले। राजन् ! तदनन्तर भगवान् अधोक्षजने दो घड़ीतक बाणासुरके साथ युद्ध करके अपना दिव्य उत्तम शस्त्र चक्र हाथमें उठाया और अमित तेजस्वी बाणासुरकी सहस्र भुजाओंको काट दिया ॥

ततो बाणो महाराज कृष्णेन भृशपीडितः ॥
छिन्नबाहुः पपाताशु विशाख इव पादपः ।

महाराज ! तब श्रीकृष्णद्वारा अत्यन्त पीड़ित होकर बाणासुर भुजाएँ कट जानेपर शाखाहीन वृक्षकी भाँति धरती-पर गिर पड़ा ॥

स पातयित्वा बालेयं बाणं कृष्णस्त्वरान्वितः ॥
प्राद्युम्निं मोक्षयामास क्षिप्तं कारागृहे तदा ।

इस प्रकार बलिपुत्र बाणासुरको रणभूमिमें गिराकर श्रीकृष्णने बड़ी उतावलीके साथ कैदमें पड़े हुए प्रद्युम्नकुमार अनिरुद्धको छुड़ा लिया ॥

मोक्षयित्वाथ गोविन्दः प्राद्युम्निं सह भार्यया ।
बाणस्य सर्वरत्नानि असंख्यानि जहार सः ॥

पत्नीसहित अनिरुद्धको छुड़ाकर भगवान् गोविन्दने बाणासुरके सभी प्रकारके असंख्य रत्न हर लिये ॥

गोधनान्यथ सर्वस्वं स बाणस्यालये बलात् ।
जहार च हृषीकेशो यदूनां कीर्तिवर्धनः ॥
ततः स सर्वरत्नानि चाहृत्य मधुसूदनः ।
क्षिप्रमारोपयाञ्चक्रे तत् सर्वं गरुडोपरि ॥

उसके घरमें जो भी गोधन अथवा अन्य किसी प्रकारके धन मौजूद थे, उन सबको भी यदुकुलकी कीर्ति बढ़ानेवाले भगवान् हृषीकेशने हर लिया। फिर वे सब रत्न लेकर मधुसूदनने शीघ्रतापूर्वक गरुड़पर रख लिये ॥

त्वरयाथ स कौन्तेय बलदेवं महाबलम् ।
प्रद्युम्नं च महावीर्यमनिरुद्धं महाद्युतिम् ॥
उषां च सुन्दरीं राजन् भृत्यदासीगणैः सह ।
सर्वानेतान् समारोप्य रत्नानि विविधानि च ॥

कुन्तीनन्दन ! तत्पश्चात् उन्होंने महाबली बलदेव, अमितपराक्रमी प्रद्युम्न, परमकान्तिमान् अनिरुद्ध तथा सेवकों और दासियोंसहित सुन्दरी उषा—इन सबको और नाना प्रकारके रत्नोंको भी गरुड़पर चढ़ाया ॥

मुदा युक्तो महातेजाः पीताम्बरधरो बली ।
दिव्याभरणचित्राङ्गः शङ्खचक्रगदासिभृत् ॥
आरुरोह गरुत्मन्तमुदयं भास्करो यथा ।

इसके बाद शङ्ख, चक्र, गदा और खड्ग धारण करनेवाले, पीताम्बरधारी, महाबली एवं महातेजस्वी श्रीकृष्ण बड़ी प्रसन्नताके साथ स्वयं भी गरुड़पर आरूढ़ हुए, मानो भगवान् भास्कर उदयाचलपर आसीन हुए हों। उस समय भगवान‌के श्रीअङ्ग दिव्य आभूषणोंसे विचित्र शोभा धारण कर रहे थे ॥

अथारुह्य सुपर्णं स प्रययौ द्वारकां प्रति ॥
प्रविश्य स्वपुरं कृष्णो यादवैः सहितस्ततः ।
प्रमुमोद तदा राजन् स्वर्गस्थो वासवो यथा ॥

गरुड़पर आरूढ़ हो श्रीकृष्ण द्वारकाकी ओर चल दिये। राजन् ! अपनी पुरी द्वारकामें पहुँचकर वे यदुवंशियोंके साथ ठीक वैसे ही आनन्दपूर्वक रहने लगे, जैसे इन्द्र स्वर्गलोकमें देवताओंके साथ रहते हैं ॥

सूदिता मौरवाः पाशा निशुम्भनरकौ हतौ ।
कृतक्षेमः पुनः पन्थाः पुरं प्राग्ज्योतिषं प्रति ॥
शौरिणा पृथिवीपालास्त्रासिता भरतर्षभ ।
धनुषश्च प्रणादेन पाञ्चजन्यस्वनेन च ।

भरतश्रेष्ठ ! भगवान् श्रीकृष्णने मुरदैत्यके पाश काट दिये, निशुम्भ और नरकासुरको मार डाला और प्राग्ज्योतिषपुरका मार्ग सब लोगोंके लिये निष्कण्टक बना दिया। इन्होंने अपने धनुषकी टंकार और पाञ्चजन्य शङ्खके हुंकारसे समस्त भूपालोंको आतङ्कित कर दिया है ॥

मेघप्रख्यैरनीकैश्च दाक्षिणात्यैः सुसंवृतम् ।
रुक्मिणं त्रासयामास केशवो भरतर्षभ ॥

भरतकुलभूषण ! भगवान् केशवने उस रुक्मीको भी भयभीत कर दिया, जिसके पास मेघोंकी घटाके समान असंख्य सेनाएँ हैं और जो दाक्षिणात्य सेवकोंसे सदा सुरक्षित रहता है ॥

ततः पर्जन्यघोषेण रथेनादित्यवर्चसा ।
उवाह महिषीं भोज्यामेष चक्रगदाधरः ॥

इन चक्र और गदा धारण करनेवाले भगवान‌ने रुक्मीको हराकर सूर्यके समान तेजस्वी तथा मेघके समान गम्भीर घोष करनेवाले रथके द्वारा भोजकुलोत्पन्ना रुक्मिणीका अपहरण किया, जो इस समय इनकी महारानीके पदपर प्रतिष्ठित है ॥

जारूथ्यामाहुतिः क्राथः शिशुपालश्च निर्जितः ।
वक्रश्च सह शैब्येन शतधन्वा च क्षत्रियः ॥

ये जारूथी नगरीमें वहाँके राजा आहुतिको तथा क्राथ एवं शिशुपालको भी परास्त कर चुके हैं। इन्होंने शैब्य, दन्तवक्र तथा शतधन्वा नामक क्षत्रियोंको भी हराया है ॥

इन्द्रद्युम्नो हतः क्रोधाद् यवनश्च कशेरुमान् ।

इन्होंने इन्द्रद्युम्न, कालयवन और कशेरुमान्‌का भी क्रोधपूर्वक वध किया है ॥

पर्वतानां सहस्रं च चक्रेण पुरुषोत्तमः ॥
विभिद्य पुण्डरीकाक्षो द्युमत्सेनमयोधयत् ।

कमलनयन पुरुषोत्तम श्रीकृष्णने चक्रद्वारा सहस्रों पर्वतोंको विदीर्ण करके द्युमत्सेनके साथ युद्ध किया ॥

महेन्द्रशिखरे चैव निमेषान्तरचारिणौ ॥
जग्राह भरतश्रेष्ठ वरुणस्याभितश्चरौ ।
इरावत्यामुभौ चैतावग्निसूर्यसमौ बले ॥
गोपतिस्तालकेतुश्च निहतौ शार्ङ्गधन्वना ।

भरतश्रेष्ठ ! जो बलमें अग्नि और सूर्यके समान थे और वरुणदेवताके उभय पार्श्वमें विचरण करते तथा जिनमें पलक मारते-मारते एक स्थानसे दूसरे स्थानमें पहुँच जानेकी शक्ति थी, वे गोपति और तालकेतु भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा महेन्द्र पर्वतके शिखरपर इरावती नदीके किनारे पकड़े और मारे गये ॥

अक्षप्रपतने चैव नेमिहंसपथेषु च ॥
उभौ तावपि कृष्णेन स्वराष्ट्रे विनिपातितौ ।

अक्षप्रपतनके अन्तर्गत नेमिहंसपथ नामक स्थानमें, जो उनके अपने ही राज्यमें पड़ता था, उन दोनोंको भगवान् श्रीकृष्णने मारा था ॥

प्राग्ज्योतिषं पुरश्रेष्ठमसुरैर्बहुभिर्वृतम् ।
प्राप्य लोहितकूटानि कृष्णेन वरुणो जितः ॥
अजेयो दुष्प्रधर्षश्च लोकपालो महाद्युतिः ।

बहुतेरे असुरोंसे घिरे हुए पुरश्रेष्ठ प्राग्ज्योतिषमें पहुँचकर वहाँकी पर्वतमालाके लाल शिखरोंपर जाकर श्रीकृष्णने उन लोकपाल वरुणदेवतापर विजय पायी, जो दूसरोंके लिये दुर्धर्ष, अजेय एवं अत्यन्त तेजस्वी हैं ॥

इन्द्रद्वीपो महेन्द्रेण गुप्तो मघवता स्वयम् ॥
पारिजातो हृतः पार्थ केशवेन बलीयसा ।

पार्थ ! यद्यपि इन्द्र पारिजातके लिये द्वीप (रक्षक) बने हुए थे, स्वयं ही उसकी रक्षा करते थे, तथापि महाबली केशवने उस वृक्षका अपहरण कर लिया ॥

पाण्ड्यं पौण्ड्रं च मात्स्यं च कलिङ्गं च जनार्दनः ॥
जघान सहितान् सर्वानङ्गराजं च माधवः ।

लक्ष्मीपति जनार्दनने पाण्ड्य, पौण्ड्र, मत्स्य, कलिङ्ग और अङ्ग आदि देशोंके समस्त राजाओंको एक साथ पराजित किया

एष चैकशतं हत्वा रथेन क्षत्रपुङ्गवान् ॥
गान्धारीमवहत् कृष्णो महिषीं यादवर्षभः ।

यदुश्रेष्ठ श्रीकृष्णने केवल एक रथपर चढ़कर अपने विरोधमें खड़े हुए सौ क्षत्रियनरेशोंको मौतके घाट उतारकर गान्धारराजकुमारी शिशुमाको अपनी महारानी बनाया ॥

बभ्रोश्च प्रियमन्विच्छन्नेष चक्रगदाधरः ॥
वेणुदारिहृतां भार्यामुन्ममाथ युधिष्ठिर ।

युधिष्ठिर ! चक्र और गदा धारण करनेवाले इन भगवान्‌ने बभ्रुका प्रिय करनेकी इच्छासे वेणुदारिके द्वारा अपहृत की हुई उनकी भार्याका उद्धार किया था ॥

पर्यातां पृथिवीं सर्वां साश्वां सरथकुञ्जराम् ॥
वेणुदारिवशे युक्तां जिगाय मधुसूदनः ।

इतना ही नहीं; मधुसूदनने वेणुदारिके वशमें पड़ी हुई घोड़ों, हाथियों एवं रथोंसहित सम्पूर्ण पृथ्वीको भी जीत लिया ॥

अवाप्य तपसा वीर्यं बलमोजश्च भारत ॥
त्रासिताः सगणाः सर्वे बाणेन विबुधाधिपाः ।
वज्राशनिगदापाशैस्त्रासयद्भिरनेकशः ॥
तस्य नासीद् रणे मृत्युर्देवैरपि सवासवैः ।
सोऽभिभूतश्च कृष्णेन निहतश्च महात्मना ॥
छित्त्वा बाहुसहस्रं तद् गोविन्देन महात्मना ।

भारत ! जिस बाणासुरने तपस्याद्वारा बल, वीर्य और ओज पाकर समस्त देवेश्वरोंको उनके गणोंसहित भयभीत कर दिया था, इन्द्र आदि देवताओंके द्वारा बारंबार वज्र, अशनि, गदा और पाशोंका प्रहार करके त्रास दिये जानेपर भी समराङ्गणमें जिसकी मृत्यु न हो सकी, उसी दैत्यराज बाणासुरको महामना भगवान् गोविन्दने उसकी सहस्र भुजाएँ काटकर पराजित एवं क्षत-विक्षत कर दिया ॥

एष पीठं महाबाहुः कंसं च मधुसूदनः ॥
पैठकं चातिलोमानं निजघान जनार्दनः ।

मधु दैत्यका विनाश करनेवाले इन महाबाहु जनार्दनने पीठ, कंस, पैठक और अतिलोमा नामक असुरोंको भी मार दिया ॥

जम्भमैरावतं चैव विरूपं च महायशाः ॥
जघान भरतश्रेष्ठ शम्बरं चारिमर्दनम् ।

भरतश्रेष्ठ ! इन महायशस्वी श्रीकृष्णने जम्भ, ऐरावत, विरूप और शत्रुमर्दन शम्बरासुरको भी (अपनी विभूतियों-द्वारा) मरवा डाला ॥

एष भोगवतीं गत्वा वासुकिं भरतर्षभ ॥
निर्जित्य पुण्डरीकाक्षो रौहिणेयममोचयत् ।

भरतकुलभूषण ! इन कमलनयन श्रीहरिने भोगवती-पुरीमें जाकर वासुकि नागको हराकर रोहिणीनन्दनको बन्धनसे छुड़ाया ॥

एवं बहूनि कर्माणि शिशुरेव जनार्दनः ॥
कृतवान् पुण्डरीकाक्षः संकर्षणसहायवान् ।

इस प्रकार संकर्षणसहित कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णने बाल्यावस्थामें ही बहुत से अद्भुत कर्म किये थे ॥

एवमेषोऽसुराणां च सुराणां चापि सर्वशः ॥
भयाभयकरः कृष्णः सर्वलोकेश्वरः प्रभुः ।

ये ही देवताओं और असुरोंको सर्वथा अभय तथा भय देनेवाले हैं । भगवान् श्रीकृष्ण ही सम्पूर्ण लोकोंके अधीश्वर हैं ॥

एवमेष महाबाहुः शास्ता सर्वदुरात्मनाम् ॥
कृत्वा देवार्थममितं स्वस्थानं प्रतिपत्स्यते ।

इस प्रकार सम्पूर्ण दुष्टोंका दमन करनेवाले ये महाबाहु भगवान् श्रीहरि अनन्त देवकार्य सिद्ध करके अपने परम-धामको पधारेंगे ॥

एष भोगवतीं रम्यामृषिकान्तां महायशाः ॥
द्वारकामात्मसात् कृत्वा सागरं गमयिष्यति ।

ये महायशस्वी श्रीकृष्ण मुनिजनवाञ्छित एवं भोगोंसे सम्पन्न रमणीय द्वारकापुरीको आत्मसात् करके समुद्रमें विलीन कर देंगे ॥

बहुपुण्यवतीं रम्यां चैत्ययूपवतीं शुभाम् ॥
द्वारकां वरुणावासं प्रवेक्ष्यति सकाननाम् ।

ये चैत्य और यूपोंसे सम्पन्न, परम पुण्यवती, रमणीय एवं मङ्गलमयी द्वारकाको वन-उपवनोंसहित वरुणालयमें डुबा देंगे ॥

तां सूर्यसदनप्रख्यां मनोज्ञां शार्ङ्गधन्वना ॥
विसृष्टां वासुदेवेन सागरः प्लावयिष्यति ।

सूर्यलोकके समान कान्तिमती एवं मनोरम द्वारकापुरी-को जब शार्ङ्गधन्वा वासुदेव त्याग देंगे, उस समय समुद्र इसे अपने भीतर ले लेगा ॥

सुरासुरमनुष्येषु नाभून्न भविता क्वचित् ॥
यस्तामध्यवसद् राजा अन्यत्र मधुसूदनात् ।

भगवान् मधुसूदनके सिवा देवताओं, असुरों और मनुष्योंमें ऐसा कोई राजा न हुआ और न होगा ही, जो द्वारकापुरीमें रहनेका संकल्प भी कर सके ॥

भ्राजमानास्तु शिशवो वृष्ण्यन्धकमहारथाः ॥
तज्जुष्टं प्रतिपत्स्यन्ते नाकपृष्ठं गतासवः ।

उस समय वृष्णि और अन्धकवंशके महारथी एवं उनके कान्तिमान् शिशु भी प्राण त्यागकर भगवत्सेवित परमधामको प्राप्त करेंगे ॥

एवमेव दशार्हाणां विधाय विधिना विधिम् ॥
विष्णुर्नारायणः सोमः सूर्यश्च सविता स्वयम् ।

१. रोहिणीके गद और सारण आदि कई पुत्र थे ।

इस प्रकार ये दशार्हवंशियोंके सब कार्य विधिपूर्वक सम्पन्न करेंगे। ये स्वयं ही विष्णु, नारायण, सोम, सूर्य और सविता हैं ॥

अप्रमेयोऽनियोज्यश्च यत्रकामगमो वशी ॥
मोदते भगवान् भूतैर्बालः क्रीडनकैरिव ।

ये अप्रमेय हैं। इनपर किसीका नियन्त्रण नहीं चल सकता। ये इच्छानुसार चलनेवाले और सबको अपने वशमें रखनेवाले हैं। जैसे बालक खिलौनेसे खेलता है, उसी प्रकार ये भगवान् सम्पूर्ण प्राणियोंके साथ आनन्दमयी क्रीडा करते हैं ॥

नैष गर्भत्वमापेदे न योन्यामवसत् प्रभुः ॥
आत्मनस्तेजसा कृष्णः सर्वेषां कुरुते गतिम् ।

ये प्रभु न तो किसीके गर्भमें आते हैं और न किसी योनिविशेषमें ही इनका आवास हुआ है अर्थात् ये अपने-आप ही प्रकट हो जाते हैं। श्रीकृष्ण अपने ही तेजसे सबकी सद्गति करते हैं ॥

यथा बुद्बुद उत्थाय तत्रैव प्रविलीयते ॥
चराचराणि भूतानि तथा नारायणे सदा ।

जैसे बुद्बुद पानीसे उठकर फिर उसीमें विलीन हो जाता है, उसी प्रकार समस्त चराचर भूत सदा भगवान् नारायणसे प्रकट होकर उन्हींमें विलीन हो जाते हैं ॥

न प्रमातुं महाबाहुः शक्यो भारत केशवः ॥
परं ह्यपरमेतस्माद् विश्वरूपान्न विद्यते ।

भारत! इन महाबाहु केशवकी कोई इतिश्री नहीं बतायी जा सकती। इन विश्वरूप परमेश्वरसे भिन्न पर और अपर कुछ भी नहीं है ॥

अयं तु पुरुषो बालः शिशुपालो न बुध्यते।
सर्वत्र सर्वदा कृष्णं तस्मादेवं प्रभाषते ॥ ३० ॥

यह शिशुपाल मूढ़बुद्धि पुरुष है, यह भगवान् श्रीकृष्णको सर्वत्र व्यापक तथा सर्वदा स्थिर नहीं जानता है, इसीसे उनके सम्बन्धमें ऐसी बातें कहता है ॥ ३० ॥

यो हि धर्मं विचिनुयादुत्कृष्टं मतिमान् नरः।
स वै पश्येद् यथा धर्मं न तथा चेदिराडयम् ॥ ३१ ॥

जो बुद्धिमान् मनुष्य उत्तम धर्मकी खोज करता है, वह धर्मके स्वरूपको जैसा समझता है, वैसा यह चेदिराज शिशुपाल नहीं समझता ॥ ३१ ॥

सवृद्धबालेष्वथवा पार्थिवेषु महात्मसु।
को नार्हं मन्यते कृष्णं को वाप्येनं न पूजयेत् ॥ ३२ ॥

अथवा वृद्धों और बालकोंसहित यहाँ बैठे हुए समस्त महात्मा राजाओंमें ऐसा कौन है, जो श्रीकृष्णको पूज्य न मानता हो या कौन है, जो इनकी पूजा न करता हो? ॥ ३२ ॥

अथैनां दुष्कृतां पूजां शिशुपालो व्यवस्यति।
दुष्कृतायां यथान्यायं तथायं कर्तुमर्हति ॥ ३३ ॥

यदि शिशुपाल इस पूजाको अनुचित मानता है, तो अब उस अनुचित पूजाके विषयमें उसे जो उचित जान पड़े, वैसा करे ॥ ३३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि भीष्मवाक्ये अष्टात्रिंशोऽध्यायः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें भीष्मवाक्यनामक अड़तीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७२८½ श्लोक मिलाकर कुल ७६१½ श्लोक हैं)

एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः

सहदेवकी राजाओंको चुनौती तथा क्षुब्ध हुए शिशुपाल आदि नरेशोंका युद्धके लिये उद्यत होना

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा ततो भीष्मो विरराम महाबलः।
व्याजहारोत्तरं तत्र सहदेवोऽर्थवद् वचः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! ऐसा कहकर महाबली भीष्म चुप हो गये। तत्पश्चात् माद्रीकुमार सहदेवने शिशुपालकी बातोंका मुँहतोड़ उत्तर देते हुए यह सार्थक बात कही—॥ १ ॥

केशवं केशिहन्तारमप्रमेयपराक्रमम् ।
पूज्यमानं मया यो वः कृष्णं न सहते नृपाः ॥ २ ॥
सर्वेषां बलिनां मूर्ध्नि मयेदं निहितं पदम् ।
एवमुक्ते मया सम्यगुत्तरं प्रब्रवीतु सः ॥ ३ ॥
स एव हि मया वध्यो भविष्यति न संशयः ।

'राजाओ! केशी दैत्यका वध करनेवाले अनन्तपराक्रमी भगवान् श्रीकृष्णकी मेरेद्वारा जो पूजा की गयी है, उसे आपलोगोंमेंसे जो सहन न कर सकें, उन सब बलवानोंके मस्तकपर मैंने यह पैर रख दिया। मैंने खूब सोच-समझकर यह बात कही है। जो इसका उत्तर देना चाहे, वह सामने आ जाय। मेरेद्वारा वह वधके योग्य होगा; इसमें संशय नहीं है ॥ २-३½ ॥

मतिमन्तश्च ये केचिदाचार्यं पितरं गुरुम् ॥ ४ ॥
अर्च्यमर्चितमर्घार्हमनुजानन्तु ते नृपाः।

'जो बुद्धिमान् राजा हों वे मेरेद्वारा की हुई आचार्य, पिता, गुरु, पूजनीय तथा अर्घ्यनिवेदनके सर्वथा योग्य भगवान् श्रीकृष्णकी पूजाका हृदयसे अनुमोदन करें' ॥ ४½ ॥

ततो न व्याजहारैषां कश्चिद् बुद्धिमतां सताम् ॥ ५ ॥

मानिनां बलिनां राज्ञां मध्ये वै दर्शिते पदे।

सहदेवने महामानी और बलवान् राजाओंके बीच खड़े होकर अपना पैर दिखाया था, तो भी जो बुद्धिमान् एवं श्रेष्ठ नरेश थे, उनमेंसे कोई कुछ न बोला ॥ ५½ ॥

ततोऽपतत् पुष्पवृष्टिः सहदेवस्य मूर्धनि ॥ ६ ॥
अदृश्यरूपा वाचश्चाप्यब्रुवन् साधु साध्विति।

उस समय सहदेवके मस्तकपर आकाशसे फूलोंकी वर्षा होने लगी और अदृश्यरूपसे खड़े हुए देवताओंने 'साधु', 'साधु', कहकर उनके सत्साहसकी प्रशंसा की ॥ ६½ ॥

आविध्यदजितं कृष्णं भविष्यद्भूतजल्पकः ॥ ७ ॥
सर्वसंशयनिर्मोक्ता नारदः सर्वलोकवित्।
उवाचाखिलभूतानां मध्ये स्पष्टतरं वचः ॥ ८ ॥

तदनन्तर कभी पराजित न होनेवाले भगवान् श्रीकृष्ण-की महिमाके ज्ञाता, भूत, वर्तमान और भविष्य—तीनों कालों-की बातें बतानेवाले, सब लोगोंके सभी संशयोंका निवारण करनेवाले तथा सम्पूर्ण लोकोंसे परिचित देवर्षि नारद समस्त उपस्थित प्राणियोंके बीच स्पष्ट शब्दोंमें बोले—॥ ७-८ ॥

कृष्णं कमलपत्राक्षं नार्चयिष्यन्ति ये नराः।
जीवन्मृतास्तु ते ज्ञेया न सम्भाष्याः कदाचन ॥ ९ ॥

'जो मानव कमलनयन भगवान् श्रीकृष्णकी पूजा नहीं करेंगे, वे जीते-जी ही मृतक-तुल्य समझे जायँगे। ऐसे लोगोंसे कभी बातचीत नहीं करनी चाहिये' ॥ ९ ॥

वैशम्पायन उवाच

पूजयित्वा च पूजार्हान् ब्रह्मक्षत्रविशेषवित्।
सहदेवो नृणां देवः समापद्यत कर्म तत् ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! वहाँ आये हुए ब्राह्मणों और क्षत्रियोंमें विशिष्ट व्यक्तियोंको पहचानने-वाले नरदेव सहदेवने क्रमशः पूज्य व्यक्तियोंकी पूजा करके वह अर्घ्यनिवेदनका कार्य पूरा कर दिया ॥ १० ॥

तस्मिन्नभ्यर्चिते कृष्णे सुनीथः शत्रुकर्षणः।
अतिताम्रेक्षणः कोपादुवाच मनुजाधिपान् ॥११॥

इस प्रकार श्रीकृष्णका पूजन सम्पन्न हो जानेपर शत्रु-विजयी शिशुपालने क्रोधसे अत्यन्त लाल आँखें करके समस्त राजाओंसे कहा—॥ ११ ॥

स्थितः सेनापतिर्योऽहं मन्यध्वं किं तु साम्प्रतम्।
युधि तिष्ठाम संनह्य समेतान् वृष्णिपाण्डवान् ॥१२॥

'भूमिपालो ! मैं सबका सेनापति बनकर खड़ा हूँ। अब तुमलोग किस चिन्तामें पड़े हो। आओ, हम सब लोग युद्धके लिये सुसज्जित हो पाण्डवों और यादवोंकी सम्मिलित सेनाका सामना करनेके लिये डट जायँ' ॥ १२ ॥

इति सर्वान् समुत्साह्य राजस्तांश्चेदिपुङ्गवः।
यज्ञोपघाताय ततः सोऽमन्त्रयत राजभिः ॥१३॥
तत्राहूता गताः सर्वे सुनीथप्रमुखा गणाः।
समदृश्यन्त संक्रुद्धा विवर्णवदनास्तथा ॥१४॥

इस प्रकार उन सब राजाओंको युद्धके लिये उत्साहित करके चेदिराजने युधिष्ठिरके यज्ञमें विघ्न डालनेके उद्देश्यसे राजाओंसे सलाह की। शिशुपालके इस प्रकार बुलानेपर उसके सेनापतित्व-में सुनीथ आदि कुछ प्रमुख नरेशगण चले आये। वे सब-के-सब अत्यन्त क्रोधसे भर रहे थे एवं उनके मुखकी कान्ति बदली हुई दिखायी देती थी ॥ १३-१४ ॥

युधिष्ठिराभिषेकं च वासुदेवस्य चार्हणम्।
न स्याद् यथा तथा कार्यमेवं सर्वे तदाब्रुवन् ॥१५॥

उन सबने यह कहा कि 'युधिष्ठिरके अभिषेक और श्रीकृष्णकी पूजाका कार्य सफल न हो, वैसा प्रयत्न करना चाहिये' ॥ १५ ॥

निष्कर्षान्निश्चयात् सर्वे राजानः क्रोधमूर्छिताः।
अब्रुवंस्तत्र राजानो निर्वेदादात्मनिश्चयात् ॥१६॥

इस निर्णय एवं निष्कर्षपर पहुँचकर वे सभी नरेश क्रोधसे मोहित हो गये। सहदेवकी बातोंसे अपमानका अनुभव करके अपनी शक्तिकी प्रबलताका विश्वास करके राजाओंने उपर्युक्त बातें कही थीं ॥ १६ ॥

सुहृद्भिर्वार्यमाणानां तेषां हि वपुराबभौ।
आमिषादपकृष्टानां सिंहानामिव गर्जताम् ॥१७॥

अपने सगे-सम्बन्धियोंके मना करनेपर भी उनका क्रोधसे तमतमाता हुआ शरीर उन सिंहोंके समान सुशोभित हुआ, जो मांससे वञ्चित कर दिये जानेके कारण दहाड़ रहे हों ॥

तं बलौघमपर्यन्तं राजसागरमक्षयम्।
कुर्वाणं समयं कृष्णो युद्धाय बुबुधे तदा ॥१८॥

राजाओंका वह समुदाय अक्षय समुद्रकी भाँति उमड़ रहा था। उसका कहीं अन्त नहीं दिखायी देता था। सेनाएँ ही उसकी अपार जलराशि थीं। उसे इस प्रकार शपथ करते देख भगवान् श्रीकृष्णने यह समझ लिया कि अब ये नरेश युद्धके लिये तैयार हैं ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अर्घाभिहरणपर्वणि राजमन्त्रणे एकोनचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ३९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अर्घाभिहरणपर्वमें राजाओंकी मन्त्रणाविषयक उन्तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ३९ ॥

(शिशुपालवधपर्व)

चत्वारिंशोऽध्यायः

युधिष्ठिरकी चिन्ता और भीष्मजीका उन्हें सान्त्वना देना

वैशम्पायन उवाच

ततः सागरसंकाशं दृष्ट्वा नृपतिमण्डलम्।
संवर्तवाताभिहतं भीमं क्षुब्धमिवार्णवम् ॥ १ ॥
रोषात् प्रचलितं सर्वमिदमाह युधिष्ठिरः।
भीष्मं मतिमतां मुख्यं वृद्धं कुरुपितामहम्।
बृहस्पतिं बृहत्तेजाः पुरुहूत इवारिहा ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तदनन्तर प्रलयकालीन महावायुके थपेड़ोंसे क्षुब्ध हुए भयंकर महासागरकी भाँति राजाओंके उस समुदायको क्रोधसे चञ्चल हुआ देख धर्मराज युधिष्ठिर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ और कुरुकुलके वृद्ध पितामह भीष्मजीसे उसी प्रकार बोले, जैसे शत्रुहन्ता महातेजस्वी इन्द्र बृहस्पतिजीसे कोई बात पूछते हैं—॥१-२॥

असौ रोषात् प्रचलितो महान् नृपतिसागरः।
अत्र यत् प्रतिपत्तव्यं तन्मे ब्रूहि पितामह ॥ ३ ॥

'पितामह ! यह देखिये, राजाओंका महासमुद्र रोषसे अत्यन्त चञ्चल हो उठा है। अब यहाँ इन सबको शान्त करनेका जो उचित उपाय जान पड़े, वह मुझे बताइये ॥३॥

यज्ञस्य च न विघ्नः स्यात् प्रजानां च हितं भवेत्।
यथा सर्वत्र तत् सर्वं ब्रूहि मेऽद्य पितामह ॥ ४ ॥

'दादाजी ! यज्ञमें विघ्न न पड़े और प्रजाओंका हित हो तथा जिस प्रकार सर्वत्र शान्ति भी बनी रहे, वह सब उपाय अब मुझे बतानेकी कृपा करें ॥ ४ ॥'

इत्युक्तवति धर्मज्ञे धर्मराजे युधिष्ठिरे।
उवाचेदं वचो भीष्मस्ततः कुरुपितामहः ॥ ५ ॥

धर्मके ज्ञाता धर्मराज युधिष्ठिरके ऐसा कहनेपर कुरुकुल पितामह भीष्मजी इस प्रकार बोले—॥ ५ ॥

मा भैस्त्वं कुरुशार्दूल श्वा सिंहं हन्तुमर्हति।
शिवः पन्थाः सुनीतोऽत्र मया पूर्वतरं वृतः ॥ ६ ॥

'कुरुवंशके वीर ! तुम डरो मत, क्या कुत्ता कभी सिंहको मार सकता है ? हमने कल्याणमय मार्ग पहले ही चुन लिया है (श्रीकृष्णका आश्रय ही वह मार्ग है, जिसका मैंने वरण कर लिया है)॥

प्रसुप्ते हि यथा सिंहे श्वानस्तस्मिन् समागताः।
भषेयुः सहिताः सर्वे तथेमे वसुधाधिपाः ॥ ७ ॥
वृष्णिसिंहस्य सुप्तस्य तथामी प्रमुखे स्थिताः।

'जैसे सिंहके सो जानेपर बहुत-से कुत्ते उसके निकट आकर एक साथ भूँकने लगते हैं, उसी प्रकार ये सामने खड़े हुए राज[illegible] तभीतक भूँक रहे हैं, जबतक वृष्णिवंशका सिंह सो रहा है ॥[illegible]

भषन्ते तात संक्रुद्धाः श्वानः सिंहस्य संनिधौ ॥ ८ ॥
न हि सम्बुध्यते यावत् सुप्तः सिंह इवाच्युतः।
तेन सिंहीकरोत्येतान् नृसिंहश्चेदिपुङ्गवः ॥ ९ ॥
पार्थिवान् पार्थिवश्रेष्ठः शिशुपालोऽप्यचेतनः।
सर्वान् सर्वात्मना तात नेतुकामो यमक्षयम् ॥ १० ॥

'क्रोधमें भरे हुए कुत्तोंके समान ये लोग सिंहके निकट तभीतक कोलाहल मचा रहे हैं, जबतक भगवान् श्रीकृष्ण सिंहकी तरह जाग नहीं उठते—इन्हें दण्ड देनेके लिये उद्यत नहीं हो जाते। राजाओंमें श्रेष्ठ चेदिकुलभूषण नृसिंह शिशुपाल ने अपनी विवेकशक्ति खो बैठा है, तभी इन सब नरेशोंको यमलोकमें भेज देनेकी इच्छासे कुत्तेसे सिंह बनानेकी कोशिश कर रहा है ॥ ८—१० ॥

नूनमेतत् समादातुं पुनरिच्छत्यधोक्षजः।
यदस्य शिशुपालस्य तेजस्तिष्ठति भारत ॥ ११ ॥

'भारत ! अवश्य ही भगवान् श्रीकृष्ण इस शिशुपालके भीतर उनका जो तेज है, उसे पुनः समेट लेना चाहते हैं ॥ ११ ॥

विप्लुता चास्य भद्रं ते बुद्धिर्बुद्धिमतां वर।
चेदिराजस्य कौन्तेय सर्वेषां च महीक्षिताम् ॥ १२ ॥

'बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! तुम्हारा कल्याण हो। अवश्य ही इस चेदिराज शिशुपालकी तथा इन सब भूपालोंकी बुद्धि मारी गयी है ॥ १२ ॥

आदातुं च नरव्याघ्रो यं यमिच्छत्ययं तदा।
तस्य विप्लवते बुद्धिरेवं चेदिपतेर्यथा ॥ १३ ॥

'क्योंकि नरश्रेष्ठ श्रीकृष्ण जिस-जिसको अपनेमें विलीन कर लेना चाहते हैं, उस-उस मनुष्यकी बुद्धि इसी प्रकार नष्ट हो जाती है, जैसे इस चेदिराज शिशुपालकी ॥ १३ ॥

चतुर्विधानां भूतानां त्रिषु लोकेषु माधवः।
प्रभवश्चैव सर्वेषां निधनं च युधिष्ठिर ॥ १४ ॥

'युधिष्ठिर ! माधव श्रीकृष्ण तीनों लोकोंमें जो स्वेदज, अण्डज, उद्भिज्ज और जरायुज—ये चार प्रकारके प्राणी हैं, उन सबकी उत्पत्ति और प्रलयके स्थान हैं ॥ १४ ॥

वैशम्पायन उवाच

इति तस्य वचः श्रुत्वा ततश्चेदिपतिर्नृपः।
भीष्मं रूक्षाक्षरा वाचः श्रावयामास भारत ॥ १५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मजीकी यह बात सुनकर चेदिराज शिशुपाल उनको बड़ी कठोर बातें सुनाने लगा ॥ १५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि युधिष्ठिराश्वासने चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें युधिष्ठिरको आश्वासन नामक चालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४० ॥

एकचत्वारिंशोऽध्यायः

शिशुपालद्वारा भीष्मकी निन्दा

शिशुपाल उवाच

विभीषिकाभिर्बह्वीभिर्भीषयन् सर्वपार्थिवान्।
न व्यपत्रपसे कस्माद् वृद्धः सन् कुलपांसन ॥ १ ॥

शिशुपाल बोला—कुलको कलंकित करनेवाले भीष्म ! तुम अनेक प्रकारकी विभीषिकाओंद्वारा इन सब राजाओंको डरानेकी चेष्टा कर रहे हो । बड़े-बूढ़े होकर भी तुम्हें अपने इस कृत्यपर लज्जा क्यों नहीं आती ? ॥ १ ॥

युक्तमेतत् तृतीयायां प्रकृतौ वर्तता त्वया।
वक्तुं धर्मादपेतार्थं त्वं हि सर्वकुरूत्तमः ॥ २ ॥

तुम तीसरी प्रकृतिमें स्थित (नपुंसक) हो, अतः तुम्हारे लिये इस प्रकार धर्मविरुद्ध बातें कहना उचित ही है। फिर भी यह आश्चर्य है कि तुम समूचे कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष कहे जाते हो ॥ २ ॥

नावि नौरिव सम्बद्धा यथान्धो वान्धमन्वियात्।
तथाभूता हि कौरव्या येषां भीष्म त्वमग्रणीः ॥ ३ ॥

भीष्म ! जैसे एक नाव दूसरी नावमें बाँध दी जाय, एक अंधा दूसरे अंधेके पीछे चले; वही दशा इन सब कौरवोंकी है, जिन्हें तुम-जैसा अगुआ मिला है ॥ ३ ॥

पूतनाघातपूर्वाणि कर्माण्यस्य विशेषतः।
त्वया कीर्तयतास्माकं भूयः प्रव्यथितं मनः ॥ ४ ॥

तुमने श्रीकृष्णके पूतना-वध आदि कर्मोंका जो विशेषरूपसे वर्णन किया है, उससे हमारे मनको पुनः बहुत बड़ी चोट पहुँची है ॥ ४ ॥

अवलिप्तस्य मूर्खस्य केशवं स्तोतुमिच्छतः।
कथं भीष्म न ते जिह्वा शतधेयं विदीर्यते ॥ ५ ॥

भीष्म ! तुम्हें अपने ज्ञानीपनका बड़ा घमंड है, परंतु तुम वास्तवमें बड़े मूर्ख । ओह ! इस केशवकी स्तुति करनेकी इच्छा होते ही तुम्हारी जीभके सैकड़ों टुकड़े क्यों नहीं हो जाते ? ॥ ५ ॥

यत्र कुत्सा प्रयोक्तव्या भीष्म बालतरैर्नरैः।
तमिमं ज्ञानवृद्धः सन् गोपं संस्तोतुमिच्छसि ॥ ६ ॥

भीष्म ! जिसके प्रति मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्योंको भी घृणा करनी चाहिये, उसी ग्वालियेकी तुम ज्ञानवृद्ध होकर भी स्तुति करना चाहते हो (यह आश्चर्य है !) ॥ ६ ॥

यद्यनेन हतो बाल्ये शकुनिश्चित्रमत्र किम्।
तौ वाश्ववृषभौ भीष्म यौ न युद्धविशारदौ ॥ ७ ॥

भीष्म ! यदि इसने बचपनमें एक पक्षी (बकासुर) को अथवा जो युद्धकी कलासे सर्वथा अनभिज्ञ थे, उन अश्व (केशी) और वृषभ (अरिष्टासुर) नामक पशुओंको मार डाला तो इसमें क्या आश्चर्यकी बात हो गयी ? ॥ ७ ॥

चेतनारहितं काष्ठं यद्यनेन निपातितम्।
पादेन शकटं भीष्म तत्र किं कृतमद्भुतम् ॥ ८ ॥

भीष्म ! छकड़ा क्या है, चेतनाशून्य लकड़ियोंका ढेर ही तो, यदि इसने पैरसे उसको उलट ही दिया तो कौन अनोखी करामात कर डाली ? ॥ ८ ॥

(अर्कप्रमाणौ तौ वृक्षौ यद्यनेन निपातितौ।
नागश्च पातितोऽनेन तत्र को विस्मयः कृतः ॥)

आकके पौधोंके बराबर दो अर्जुन वृक्षोंको यदि श्रीकृष्णने गिरा दिया अथवा एक नागको ही मार गिराया तो कौन बड़े आश्चर्यका काम कर डाला ! ॥

वल्मीकमात्रः सप्ताहं यद्यनेन धृतोऽचलः।
तदा गोवर्धनो भीष्म न तच्चित्रं मतं मम ॥ ९ ॥

भीष्म ! यदि इसने गोवर्धनपर्वतको सात दिनतक अपने हाथपर उठाये रक्खा तो उसमें भी मुझे कोई आश्चर्यकी बात नहीं जान पड़ती; क्योंकि गोवर्धन तो दीमकोंकी खोदी हुई मिट्टीका ढेर मात्र है ॥ ९ ॥

भुक्तमेतेन बह्वन्नं क्रीडता नगमूर्धनि।
इति ते भीष्म शृण्वानाः परे विस्मयमागताः ॥ १० ॥

भीष्म ! कृष्णने गोवर्धनपर्वतके शिखरपर खेलते हुए अकेले ही बहुत-सा अन्न खा लिया, यह बात भी तुम्हारे मुँहसे सुनकर दूसरे लोगोंको ही आश्चर्य हुआ होगा (मुझे नहीं) ॥ १० ॥

यस्य चानेन धर्मज्ञ भुक्तमन्नं बलीयसः।
स चानेन हतः कंस इत्येतन्न महाद्भुतम् ॥ ११ ॥

धर्मज्ञ भीष्म ! जिस महाबली कंसका अन्न खाकर यह पला था, उसीको इसने मार डाला। यह भी इसके लिये कोई बड़ी अद्भुत बात नहीं है ॥ ११ ॥

न ते श्रुतमिदं भीष्म नूनं कथयतां सताम्।
यद् वक्ष्ये त्वामधर्मज्ञं वाक्यं कुरुकुलाधम ॥ १२ ॥

कुरुकुलाधम भीष्म ! तुम धर्मको बिलकुल नहीं जानते। मैं तुमसे धर्मकी जो बात कहूँगा, वह तुमने संत-महात्माओंके मुखसे भी नहीं सुनी होगी ॥ १२ ॥

स्त्रीषु गोषु न शस्त्राणि पातयेद् ब्राह्मणेषु च।
यस्य चान्नानि भुञ्जीत यत्र च स्यात् प्रतिश्रयः॥ १३ ॥

स्त्रीपर, गौपर, ब्राह्मणोंपर तथा जिसका अन्न खाय अथवा जिनके यहाँ अपनेको आश्रय मिला हो, उनपर भी हथियार न चलाये ॥ १३ ॥

इति सन्तोऽनुशासन्ति सज्जनं धर्मिणः सदा।
भीष्म लोके हि तत् सर्वं वितथं त्वयि दृश्यते॥ १४ ॥

भीष्म ! जगत्में साधु धर्मात्मा पुरुष सज्जनोंको सदा इसी धर्मका उपदेश देते रहते हैं; किंतु तुम्हारे निकट यह सब धर्म मिथ्या दिखायी देता है ॥ १४ ॥

ज्ञानवृद्धं च वृद्धं च भूयांसं केशवं मम।
अजानत इवाख्यासि संस्तुवन् कौरवाधम ॥ १५ ॥

कौरवाधम ! तुम मेरे सामने इस कृष्णकी स्तुति करते हुए इसे ज्ञानवृद्ध और वयोवृद्ध बता रहे हो, मानो मैं इसके विषयमें कुछ जानता ही न होऊँ ॥ १५ ॥

गोघ्नः स्त्रीघ्नश्च सन् भीष्म त्वद्वाक्याद् यदि पूज्यते।
एवंभूतश्च यो भीष्म कथं संस्तवमर्हति ॥ १६ ॥

भीष्म ! यदि तुम्हारे कहनेसे गोघाती और स्त्रीहन्ता होते हुए भी इस कृष्णकी पूजा हो रही है तो तुम्हारी धर्मज्ञताकी हद हो गयी। तुम्हीं बताओ, जो इन दोनों ही प्रकारकी हत्याओंका अपराधी है, वह स्तुतिका अधिकारी कैसे हो सकता है ? ॥ १६ ॥

असौ मतिमतां श्रेष्ठो य एष जगतः प्रभुः।
सम्भावयति चाप्येवं त्वद्वाक्याच्च जनार्दनः।
एवमेतत् सर्वमिति तत् सर्वं वितथं ध्रुवम् ॥ १७ ॥

तुम कहते हो, 'ये बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ हैं, ये ही सम्पूर्ण जगत्के ईश्वर हैं' और तुम्हारे ही कहनेसे यह कृष्ण अपनेको ऐसा ही समझने भी लगा है। वह इन सभी बातोंको ज्यों-की-त्यों ठीक मानता है; परंतु मेरी दृष्टिमें कृष्णके सम्बन्धमें तुम्हारे द्वारा जो कुछ कहा गया है, वह सब निश्चय ही झूठा है ॥ १७ ॥

न गाथागाथिनं शास्ति बहु चेदपि गायति।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥ १८ ॥

कोई भी गीत गानेवालेको कुछ सिखा नहीं सकता, चाहे वह कितनी ही बार क्यों न गाता हो। भूलिङ्ग पक्षीकी भाँति सब प्राणी अपनी प्रकृतिका ही अनुसरण करते हैं ॥ १८ ॥

नूनं प्रकृतिरेषा ते जघन्या नात्र संशयः।
अति पापीयसी चैषा पाण्डवानामपीष्यते ॥ १९ ॥

निश्चय ही तुम्हारी यह प्रकृति बड़ी अधम है, इसमें संशय नहीं है। अतएव इन पाण्डवोंकी प्रकृति भी तुम्हारे ही समान अत्यन्त पापमयी होती जा रही है ॥ १९ ॥

येषामर्च्यतमः कृष्णस्त्वं च येषां प्रदर्शकः।
धर्मवांस्त्वमधर्मज्ञः सतां मार्गादवप्लुतः ॥ २० ॥

अथवा क्यों न हो, जिनका परम पूजनीय कृष्ण है और सत्पुरुषोंके मार्गसे गिरा हुआ तुम-जैसा धर्मज्ञानशून्य धर्मात्मा जिनका मार्गदर्शक है ॥ २० ॥

को हि धर्मिणमात्मानं जानञ्ज्ञानविदां वरः।
कुर्याद् यथा त्वया भीष्म कृतं धर्ममवेक्षता ॥ २१ ॥

भीष्म ! कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपनेको ज्ञानवानोंमें श्रेष्ठ और धर्मात्मा जानते हुए भी ऐसे नीच कर्म करेगा, जो धर्मपर दृष्टि रखते हुए भी तुम्हारे द्वारा किये गये हैं ॥ २१ ॥

चेत् त्वं धर्मं विजानासि यदि प्राज्ञा मतिस्तव।
अन्यकामा हि धर्मज्ञा कन्यका प्राज्ञमानिना।
अम्बा नामेति भद्रं ते कथं सापहृता त्वया ॥ २२ ॥

यदि तुम धर्मको जानते हो, यदि तुम्हारी बुद्धि उत्तम ज्ञान और विवेकसे सम्पन्न है तो तुम्हारा भला हो, बताओ, काशिराजकी जो धर्मज्ञ कन्या अम्बा दूसरे पुरुषमें अनुरक्त थी, उसका अपनेको पण्डित माननेवाले तुमने क्यों अपहरण किया ? ॥ २२ ॥

तां त्वयापि हृतां भीष्म कन्यां नैषितवान् यतः।
भ्राता विचित्रवीर्यस्ते सतां मार्गमनुष्ठितः ॥ २३ ॥

भीष्म ! तुम्हारे द्वारा अपहरण की गयी उस काशिराजकी कन्याको तुम्हारे भाई विचित्रवीर्यने अपनानेकी इच्छा नहीं की, क्योंकि वे सन्मार्गपर स्थित रहनेवाले थे ॥ २३ ॥

दारयोर्यस्य चान्येन मिषतः प्राज्ञमानिनः।
तव जातान्यपत्यानि सज्जनाचरिते पथि ॥ २४ ॥

उन्हींकी दोनों विधवा पत्नियोंके गर्भसे तुम-जैसे पण्डित

भानीके देखते-देखते दूसरे पुरुषद्वारा संतानें उत्पन्न की गयीं, फिर भी तुम अपनेको साधु पुरुषोंके मार्गपर स्थिर मानते हो ॥ २४ ॥

को हि धर्मोऽस्ति ते भीष्म ब्रह्मचर्यमिदं वृथा।
यद् धारयसि मोहाद् वा क्लीवत्वाद् वा न संशयः ॥ २५ ॥

भीष्म ! तुम्हारा धर्म क्या है! तुम्हारा यह ब्रह्मचर्य भी व्यर्थका ढकोसलामात्र है, जिसे तुमने मोहवश अथवा नपुंसकताके कारण धारण कर रखा है, इसमें संशय नहीं॥

न त्वहं तव धर्मज्ञ पश्याम्युपचयं क्वचित्।
न हि ते सेविता वृद्धा य एवं धर्ममब्रवीः ॥ २६ ॥

धर्मराज भीष्म ! मैं तुम्हारी कहीं कोई उन्नति भी तो नहीं देख रहा हूँ। मेरा तो विश्वास है, तुमने ज्ञानवृद्ध पुरुषोंका कभी सङ्ग नहीं किया है। तभी तो तुम ऐसे धर्मका उपदेश करते हो ॥ २६ ॥

इष्टं दत्तमधीतं च यज्ञाश्च बहुदक्षिणाः।
सर्वमेतदपत्यस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् ॥ २७ ॥

यज्ञ, दान, स्वाध्याय तथा बहुत दक्षिणावाले बड़े-बड़े यज्ञ—ये सब संतानकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हो सकते ॥ २७ ॥

व्रतोपवासैर्बहुभिः कृतं भवति भीष्म यत्।
सर्वं तदनपत्यस्य मोघं भवति निश्चयात् ॥ २८ ॥

भीष्म ! अनेक व्रतों और उपवासोंद्वारा जो पुण्य कार्य किया जाता है, वह सब संतानहीन पुरुषके लिये निश्चय ही व्यर्थ हो जाता है ॥ २८ ॥

सोऽनपत्यश्च वृद्धश्च मिथ्याधर्मानुसारकः।
हंसवत् त्वमपीदानीं ज्ञातिभ्यः प्राप्नुया वधम् ॥ २९ ॥

तुम संतानहीन, वृद्ध और मिथ्याधर्मका अनुसरण करनेवाले हो; अतः इस समय हंसकी भाँति तुम भी अपने जातिभाइयोंके हाथसे ही मारे जाओगे ॥ २९ ॥

एवं हि कथयन्त्यन्ये नरा ज्ञानविदः पुरा।
भीष्म यत् तदहं सम्यग् वक्ष्यामि तव शृण्वतः ॥ ३० ॥

भीष्म ! पहलेके विवेकी मनुष्य एक प्राचीन वृत्तान्त सुनाया करते हैं, वही मैं ज्यों-का-त्यों तुम्हारे सामने उपस्थित करता हूँ, सुनो ॥ ३० ॥

वृद्धः किल समुद्रान्ते कश्चिद्धंसोऽभवत् पुरा।
धर्मवागन्यथावृत्तः पक्षिणः सोऽनुशास्ति च ॥ ३१ ॥
धर्मं चरत माधर्ममिति तस्य वचः किल।
पक्षिणः शुश्रुवुर्भीष्म सततं सत्यवादिनः ॥ ३२ ॥

पूर्वकालकी बात है, समुद्रके निकट कोई बूढ़ा हंस रहता था। वह बातें तो धर्मकी करता, परंतु उसका आचरण ठीक उसके विपरीत होता था। वह पक्षियोंको सदा यह उपदेश दिया करता कि धर्म करो, अधर्मसे दूर रहो। सदा सत्य बोलनेवाले उस हंसके मुखसे दूसरे-दूसरे पक्षी यही उपदेश सुना करते थे ॥ ३१-३२ ॥

अथास्य भक्ष्यमाजह्रुः समुद्रजलचारिणः।
अण्डजा भीष्म तस्यान्ये धर्मार्थमिति शुश्रुम ॥ ३३ ॥

भीष्म ! ऐसा सुननेमें आया है कि वे समुद्रके जलमें विचरनेवाले पक्षी धर्म समझकर उसके लिये भोजन जुटा दिया करते थे ॥ ३३ ॥

ते च तस्य समभ्याशे निक्षिप्याण्डानि सर्वशः।
समुद्राम्भस्यमज्जन्त चरन्तो भीष्म पक्षिणः।
तेषामण्डानि सर्वेषां भक्षयामास पापकृत् ॥ ३४ ॥

भीष्म ! हंसपर विश्वास हो जानेके कारण वे सभी पक्षी अपने अण्डे उसके पास ही रखकर समुद्रके जलमें गोते लगाते और विचरते थे; परंतु वह पापी हंस उन सबके अण्डे खा जाता था ॥ ३४ ॥

स हंसः सम्प्रमत्तानामप्रमत्तः स्वकर्मणि।
ततः प्रक्षीयमाणेषु तेषु तेष्वण्डजोऽपरः।
अशङ्कत महाप्राज्ञः स कदाचिद् ददर्श ह ॥ ३५ ॥

वे बेचारे पक्षी असावधान थे और वह अपना काम बनानेके लिये सदा चौकन्ना रहता था। तदनन्तर जब वे अण्डे नष्ट होने लगे, तब एक बुद्धिमान् पक्षीको हंसपर कुछ संदेह हुआ और एक दिन उसने उसकी सारी करतूत देख भी ली ॥ ३५ ॥

ततः स कथयामास दृष्ट्वा हंसस्य किल्बिषम्।
तेषां परमदुःखार्तः स पक्षी सर्वपक्षिणाम् ॥ ३६ ॥

हंसका यह पापपूर्ण कृत्य देखकर वह पक्षी दुःखसे अत्यन्त आतुर हो उठा और उसने अन्य सब पक्षियोंसे सारा हाल कह सुनाया ॥ ३६ ॥

ततः प्रत्यक्षतो दृष्ट्वा पक्षिणस्ते समीपगाः।
निजघ्नुस्तं तदा हंसं मिथ्यावृत्तं कुरूद्वह ॥ ३७ ॥

कुरुवंशी भीष्म ! तब उन पक्षियोंने निकट जाकर सब कुछ प्रत्यक्ष देख लिया और धर्मात्माका मिथ्या ढोंग बनाये हुए उस हंसको मार डाला ॥ ३७ ॥

ते त्वां हंसधर्माणमपीमे वसुधाधिपाः।
निहन्युर्भीष्म संक्रुद्धाः पक्षिणस्तं यथाण्डजम् ॥ ३८ ॥
गाथामप्यत्र गायन्ति ये पुराणविदो जनाः।
भीष्म यां तां च ते सम्यक् कथयिष्यामि भारत ॥ ३९ ॥

तुम भी उस हंसके ही समान हो, अतः ये सब नरेश अत्यन्त कुपित होकर आज तुम्हें उसी तरह मार डालेंगे, जैसे उन पक्षियोंने हंसकी हत्या कर डाली थी। भीष्म! इस

विषयमें पुराणवेत्ता विद्वान् एक गाथा गाया करते हैं। भरतकुलभूषण ! मैं उसे भी तुमको भलीभाँति सुनाये देता हूँ ॥ ३८-३९ ॥

अन्तरात्मन्यभिहते रौपि पत्रस्थाशुचि।
अण्डभक्षणकर्मैतत् तव वाचमतीयते ॥ ४० ॥

'हंस ! तुम्हारी अन्तरात्मा रागादि दोषोंसे दूषित है, तुम्हारा यह अण्डभक्षणरूप अपवित्र कर्म तुम्हारी इस धर्मोपदेशमयी वाणीके सर्वथा विरुद्ध है' ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवाक्ये एकचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवाक्यविषयक इकतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४१ ॥
(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल ४१ श्लोक हैं)

द्विचत्वारिंशोऽध्यायः

शिशुपालकी बातोंपर भीमसेनका क्रोध और भीष्मजीका उन्हें शान्त करना

शिशुपाल उवाच

स मे बहुमतो राजा जरासंधो महाबलः।
योऽनेन युद्धं नेयेष दासोऽयमिति संयुगे ॥ १ ॥

शिशुपाल बोला—महाबली राजा जरासंध मेरे लिये बड़े ही सम्माननीय थे। वे कृष्णको दास समझकर इसके साथ युद्धमें लड़ना ही नहीं चाहते थे ॥ १ ॥

केशवेन कृतं कर्म जरासंधवधे तदा।
भीमसेनार्जुनाभ्यां च कस्तत् साध्विति मन्यते ॥ २ ॥

तब इस केशवने जरासंधके वधके लिये भीमसेन और अर्जुनको साथ लेकर जो नीच कर्म किया है, उसे कौन अच्छा मान सकता है ? ॥ २ ॥

अद्वारेण प्रविष्टेन छद्मना ब्रह्मवादिना।
दृष्टः प्रभावः कृष्णेन जरासंधस्य भूपतेः ॥ ३ ॥

पहले तो (चैत्यकगिरिके शिखरको तोड़कर) बिना दरवाजेके ही इसने नगरमें प्रवेश किया। उसपर भी छद्मवेष बना लिया और अपनेको ब्राह्मण प्रसिद्ध कर दिया। इस प्रकार इस कृष्णने भूपाल जरासंधका प्रभाव देखा ॥ ३ ॥

येन धर्मात्मनाऽऽत्मानं ब्रह्मण्यमविजानता।
नेषितं पाद्यमस्मै तद् दातुमग्रे दुरात्मने ॥ ४ ॥

उस धर्मात्मा जरासंधने जब इस दुरात्माके आगे ब्राह्मण अतिथिके योग्य पाद्य आदि प्रस्तुत किये, तब इसने यह जानकर कि मैं ब्राह्मण नहीं हूँ, उसे ग्रहण करनेकी इच्छा नहीं की ॥ ४ ॥

भुज्यतामिति तेनोक्ताः कृष्णभीमधनंजयाः।
जरासंधेन कौरव्य कृष्णेन विकृतं कृतम् ॥ ५ ॥

कौरव्य भीष्म ! तत्पश्चात् जब उन्होंने कृष्ण, भीम और अर्जुन तीनोंसे भोजन करनेका आग्रह किया, तब इस कृष्णने ही उसका निषेध किया था ॥ ५ ॥

यद्ययं जगतः कर्ता यथैनं मूर्ख मन्यसे।
कस्मान्न ब्राह्मणं सम्यगात्मानमवगच्छति ॥ ६ ॥

मूर्ख भीष्म ! यदि यह कृष्ण सम्पूर्ण जगत्का कर्ता-धर्ता है, जैसा कि तुम इसे मानते हो तो यह अपनेको भलीभाँति ब्राह्मण भी क्यों नहीं मानता ? ॥ ६ ॥

इदं त्वाश्चर्यभूतं मे यदिमे पाण्डवास्त्वया।
अपकृष्टाः सतां मार्गान्मन्यन्ते तच्च साध्विति ॥ ७ ॥

मुझे सबसे बढ़कर आश्चर्यकी बात तो यह जान पड़ती है कि ये पाण्डव भी तुम्हारे द्वारा सन्मार्गसे दूर हटा दिये गये हैं; इसलिये ये भी कृष्णके इस कार्यको ठीक समझते हैं ॥ ७ ॥

अथ वा नैतदाश्चर्यं येषां त्वमसि भारत।
स्त्रीसधर्मा च वृद्धश्च सर्वार्थानां प्रदर्शकः ॥ ८ ॥

अथवा भारत ! स्त्रीके समान धर्मवाले (नपुंसक) और बूढ़े तुम-जैसे लोग जिनके सभी कार्योंमें पथप्रदर्शन करते हैं, उनका ऐसा समझना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा रूक्षं रूक्षाक्षरं बहु।
चुकोप बलिनां श्रेष्ठो भीमसेनः प्रतापवान् ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शिशुपालकी बातें बड़ी रूखी थीं। उनका एक-एक अक्षर कटुतासे भरा हुआ था। उन्हें सुनकर बलवानोंमें श्रेष्ठ प्रतापी भीमसेन क्रोधाग्निसे जल उठे ॥ ९ ॥

तथा पद्मप्रतीकाशे स्वभावायतविस्तृते।
भूयः क्रोधाभिताम्राक्षे रक्ते नेत्रे बभूवतुः ॥ १० ॥

उनकी आँखें स्वभावतः बड़ी-बड़ी और कमलके समान सुन्दर थीं। वे क्रोधके कारण अधिक लाल हो गयीं; मानो उनमें खून उतर आया हो ॥ १० ॥

त्रिशिखां भ्रुकुटीं चास्य ददृशुः सर्वपार्थिवाः।
ललाटस्थां त्रिकूटस्थां गङ्गां त्रिपथगामिव ॥ ११ ॥

सब राजाओंने देखा, उनके ललाटमें तीन रेखाओंसे युक्त भ्रुकुटी तन गयी है; मानो त्रिकूट पर्वतपर त्रिपथगामिनी गङ्गा लहरा उठी हों ॥ ११ ॥

दन्तान् संदशतस्तस्य कोपाद् ददृशुराननम्।
युगान्ते सर्वभूतानि कालस्येव जिघत्सतः ॥ १२ ॥

वे दाँतोंसे दाँत पीसने लगे, रोषकी अधिकतासे उनका मुख ऐसा भयंकर दिखायी देने लगा; मानो प्रलयकालमें सम्पूर्ण प्राणियोंको निगल जानेकी इच्छावाला विकराल काल ही प्रकट हो गया हो ॥ १२ ॥

उत्पतन्तं तु वेगेन जग्राहैनं मनस्विनम्।
भीष्म एव महाबाहुर्महासेनमिवेश्वरः ॥ १३ ॥

वे उछलकर शिशुपालके पास पहुँचना ही चाहते थे कि महाबाहु भीष्मने बड़े वेगसे उठकर उन मनस्वी भीमको पकड़ लिया, मानो महेश्वरने कार्तिकेयको रोक लिया हो॥१३॥

तस्य भीमस्य भीष्मेण वार्यमाणस्य भारत।
गुरुणा विविधैर्वाक्यैः क्रोधः प्रशममागतः ॥ १४ ॥

भारत! पितामह भीष्मके द्वारा अनेक प्रकारकी बातें कहकर रोके जानेपर भीमसेनका क्रोध शान्त हो गया ॥१४॥

नातिचक्राम भीष्मस्य स हि वाक्यमरिंदमः।
समुद्वृत्तो घनापाये वेलामिव महोदधिः ॥ १५ ॥

शत्रुदमन भीम भीष्मजीकी आज्ञाका उल्लंघन उसी प्रकार न कर सके, जैसे वर्षाके अन्तमें उमड़ा हुआ होनेपर भी महासागर अपनी तटभूमिसे आगे नहीं बढ़ता है ॥ १५ ॥

शिशुपालस्तु संक्रुद्धे भीमसेने जनाधिप।
नाकम्पत तदा वीरः पौरुषे स्वे व्यवस्थितः ॥ १६ ॥

राजन्! भीमसेनके कुपित होनेपर भी वीर शिशुपाल भयभीत नहीं हुआ। उसे अपने पुरुषार्थका पूरा भरोसा था ॥ १६ ॥

उत्पतन्तं तु वेगेन पुनः पुनररिंदमः।
न स तं चिन्तयामास सिंहः क्रुद्धो मृगं यथा ॥ १७ ॥

भीमको बार-बार वेगसे उछलते देख शत्रुदमन शिशुपालने उनकी कुछ भी परवा नहीं की, जैसे क्रोधमें भरा हुआ सिंह मृगको कुछ भी नहीं समझता ॥ १७ ॥

प्रहसंश्चाब्रवीद् वाक्यं चेदिराजः प्रतापवान्।
भीमसेनमभिक्रुद्धं दृष्ट्वा भीमपराक्रमम् ॥ १८ ॥

उस समय भयानक पराक्रमी भीमसेनको कुपित देख प्रतापी चेदिराज हँसते हुए बोला—॥ १८ ॥

मुञ्चैनं भीष्म पश्यन्तु यावदेनं नराधिपाः।
मत्प्रभावविनिर्दग्धं पतङ्गमिव वह्निना ॥ १९ ॥

'भीष्म! छोड़ दो इसे, ये सभी राजा देख लें कि यह भीम मेरे प्रभावसे उसी प्रकार दग्ध हो जायगा जैसे पतिंगा आगके पास जाते ही भस्म हो जाता है' ॥ १९ ॥

ततश्चेदिपतेर्वाक्यं श्रुत्वा तत् कुरुसत्तमः।
भीमसेनमुवाचेदं भीष्मो मतिमतां वरः ॥ २० ॥

तब चेदिराजकी वह बात सुनकर बुद्धिमानोंमें श्रेष्ठ कुरुकुलतिलक भीष्मने भीमसे यह कहा ॥ २० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीमक्रोधे द्विचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें भीमक्रोधविषयक बयालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४२ ॥

त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मजीके द्वारा शिशुपालके जन्मके वृत्तान्तका वर्णन

भीष्म उवाच

चेदिराजकुले जातस्त्र्यक्ष एष चतुर्भुजः।
रासभारावसदृशं रुराव च ननाद च ॥ १ ॥

भीष्मजी बोले—भीमसेन! सुनो, चेदिराज दमघोषके कुलमें जब यह शिशुपाल उत्पन्न हुआ, उस समय इसके तीन आँखें और चार भुजाएँ थीं। इसने रोनेकी जगह गदहे-के रेंकनेकी भाँति शब्द किया और जोर-जोरसे गर्जना भी की ॥ १ ॥



तेनास्य मातापितरौ त्रेसतुस्तौ सबान्धवौ।
वैकृतं तस्य तौ दृष्ट्वा त्यागायाकुरुतां मतिम् ॥ २ ॥

इससे इसके माता-पिता अन्य भाई-बन्धुओंसहित भयसे थर्रा उठे। इसकी वह विकराल आकृति देख उन्होंने इसे त्याग देनेका निश्चय किया ॥ २ ॥

ततः सभार्यं नृपतिं सामात्यं सपुरोहितम्।
चिन्तासम्मूढहृदयं वागुवाचाशरीरिणी ॥ ३ ॥

पत्नी, पुरोहित तथा मन्त्रियोंसहित चेदिराजका हृदय चिन्तासे मोहित हो रहा था। उस समय आकाशवाणी हुई—॥३॥

एष ते नृपते पुत्रः श्रीमाञ्जातो बलाधिकः।
तस्मादस्मान्न भेतव्यमव्यग्रः पाहि वै शिशुम् ॥ ४ ॥

'राजन्! तुम्हारा यह पुत्र श्रीसम्पन्न और महाबली है, अतः तुम्हें इससे डरना नहीं चाहिये। तुम शान्तचित्त होकर इस शिशुका पालन करो ॥ ४ ॥

न च वै तस्य मृत्युर्वै न कालः प्रत्युपस्थितः।
मृत्युर्हन्तास्य शस्त्रेण स चोत्पन्नो नराधिप ॥ ५ ॥

'नरेश्वर ! अभी इसकी मृत्यु नहीं आयी है और न काल ही उपस्थित हुआ है। जो इसकी मृत्युका कारण है तथा जो शस्त्रद्वारा इसका वध करेगा, वह अन्यत्र उत्पन्न हो चुका है' ॥ ५ ॥

संश्रुत्योदाहृतं वाक्यं भूतमन्तर्हितं ततः।
पुत्रस्नेहाभिसंतप्ता जननी वाक्यमब्रवीत् ॥ ६ ॥

तदनन्तर यह आकाशवाणी सुनकर उस अन्तर्हित भूतको लक्ष्य करके पुत्रस्नेहसे संतप्त हुई इसकी माता बोली— ॥ ६ ॥

येनेदमीरितं वाक्यं ममैतं तनयं प्रति।
प्राञ्जलिस्तं नमस्यामि ब्रवीतु स पुनर्वचः ॥ ७ ॥
याथातथ्येन भगवान् देवो वा यदि वेतरः।
श्रोतुमिच्छामि पुत्रस्य कोऽस्य मृत्युर्भविष्यति ॥ ८ ॥

'मेरे इस पुत्रके विषयमें जिन्होंने यह बात कही है, उन्हें मैं हाथ जोड़कर प्रणाम करती हूँ। चाहे वे कोई देवता हों अथवा और कोई प्राणी ! वे फिर मेरे प्रश्नका उत्तर दें। मैं यह यथार्थरूपसे सुनना चाहती हूँ कि मेरे इस पुत्रकी मृत्युमें कौन निमित्त बनेगा ?' ॥ ७-८ ॥

अन्तर्भूतं ततो भूतमुवाचेदं पुनर्वचः।
यस्योत्सङ्गे गृहीतस्य भुजावभ्यधिकावुभौ ॥ ९ ॥
पतिष्यतः क्षितितले पञ्चशीर्षाविवोरगौ।
तृतीयमेतद् बालस्य ललाटस्थं तु लोचनम् ॥ १० ॥
निमज्जिष्यति यं दृष्ट्वा सोऽस्य मृत्युर्भविष्यति।

तब पुनः उसी अदृश्य भूतने यह उत्तर दिया—'जिसके द्वारा गोदमें लिये जानेपर पाँच सिरवाले दो सर्पोंकी भाँति इसकी पाँचों अँगुलियोंसे युक्त दो अधिक भुजाएँ पृथ्वीपर गिर जायँगी और जिसे देखकर इस बालकका ललाटवर्ती तीसरा नेत्र भी ललाटमें लीन हो जायगा, वही इसकी मृत्युमें निमित्त बनेगा' ॥ ९-१०½ ॥

त्र्यक्षं चतुर्भुजं श्रुत्वा तथा च समुदाहृतम् ॥ ११ ॥
पृथिव्यां पार्थिवाः सर्वे अभ्यागच्छन् दिदृक्षवः।

चार बाँह और तीन आँखवाले बालकके जन्मका समाचार सुनकर भूमण्डलके सभी नरेश उसे देखनेके लिये आये ॥ ११½ ॥

तान् पूजयित्वा सम्प्राप्तान् यथार्हं स महीपतिः ॥ १२ ॥
एकैकस्य नृपस्याङ्के पुत्रमारोपयत् तदा।

चेदिराजने अपने घर पधारे हुए उन सभी नरेशोंका यथायोग्य सत्कार करके अपने पुत्रको हर एककी गोदमें रक्खा ॥ १२½ ॥

एवं राजसहस्राणां पृथक्त्वेन यथाक्रमम् ॥ १३ ॥
शिशुरङ्कसमारूढो न तत् प्राप निदर्शनम्।

इस प्रकार वह शिशु क्रमशः सहस्रों राजाओंकी गोदमें अलग-अलग रक्खा गया; परंतु मृत्युसूचक लक्षण कहीं भी प्राप्त नहीं हुआ ॥ १३½ ॥

एतदेव तु संश्रुत्य द्वारवत्यां महाबलौ ॥ १४ ॥
ततश्चेदिपुरं प्राप्तौ संकर्षणजनार्दनौ।
यादवौ यादवीं द्रष्टुं स्वसारं तौ पितुस्तदा ॥ १५ ॥

द्वारकामें यही समाचार सुनकर महाबली बलराम और श्रीकृष्ण दोनों यदुवंशी वीर अपनी बुआसे मिलनेके लिये उस समय चेदिराज्यकी राजधानीमें गये ॥ १४-१५ ॥

अभिवाद्य यथान्यायं यथाश्रेष्ठं नृपं च ताम्।
कुशलानामयं पृष्ट्वा निषण्णौ रामकेशवौ ॥ १६ ॥

वहाँ बलराम और श्रीकृष्णने बड़े-छोटेके क्रमसे सबको यथायोग्य प्रणाम किया एवं राजा दमघोष और अपनी बुआ श्रुतश्रवासे कुशल और आरोग्यविषयक प्रश्न किया। तत्पश्चात् दोनों भाई एक उत्तम आसनपर विराजमान हुए ॥ १६ ॥

साभ्यर्च्य तौ तदा वीरौ प्रीत्या चाभ्यधिकं ततः।
पुत्रं दामोदरोत्सङ्गे देवी संन्यदधात् स्वयम् ॥ १७ ॥

महादेवी श्रुतश्रवाने बड़े प्रेमसे उन दोनों वीरोंका सत्कार किया और स्वयं ही अपने पुत्रको श्रीकृष्णकी गोदमें डाल दिया ॥ १७ ॥

न्यस्तमात्रस्य तस्याङ्के भुजावभ्यधिकावुभौ।
पेततुस्तच्च नयनं न्यमज्जत ललाटजम् ॥ १८ ॥

उनकी गोदमें रखते ही बालककी वे दोनों बाँहें गिर गयीं और ललाटवर्ती नेत्र भी वहीं विलीन हो गया ॥ १८ ॥

तद् दृष्ट्वा व्यथिता त्रस्ता वरं कृष्णमयाचत।
ददस्व मे वरं कृष्ण भयार्ताया महाभुज ॥ १९ ॥

यह देखकर बालककी माता भयभीत हो मन-ही-मन व्यथित हो गयी और श्रीकृष्णसे वर माँगती हुई बोली—'महाबाहु श्रीकृष्ण ! मैं भयसे व्याकुल हो रही हूँ। मुझे इस पुत्रकी जीवनरक्षाके लिये कोई वर दो ॥ १९ ॥

त्वं ह्यार्तानां समाश्वासो भीतानामभयप्रदः।
एवमुक्तस्ततः कृष्णः सोऽब्रवीद् यदुनन्दनः ॥ २० ॥

'क्योंकि तुम संकटमें पड़े हुए प्राणियोंके सबसे बड़े सहारे और भयभीत मनुष्योंको अभय देनेवाले हो।'

अपनी बुआके ऐसा कहनेपर यदुनन्दन श्रीकृष्णने कहा— ॥ २० ॥

मा भैस्त्वं देवि धर्मज्ञे न मत्तोऽस्ति भयं तव।
ददामि कं वरं किं च करवाणि पितृष्वसः ॥ २१ ॥

'देवि ! धर्मज्ञे ! तुम डरो मत। तुम्हें मुझसे कोई भय नहीं है। बुआ ! तुम्हीं कहो, मैं तुम्हें कौन-सा वर दूँ ? तुम्हारा कौन-सा कार्य सिद्ध कर दूँ ? ॥ २१ ॥

शक्यं वा यदि वाशक्यं करिष्यामि वचस्तव ।
एवमुक्ता ततः कृष्णमब्रवीद् यदुनन्दनम् ॥ २२ ॥

'सम्भव हो या असम्भव, तुम्हारे वचनका मैं अवश्य पालन करूँगा ।' इस प्रकार आश्वासन मिलनेपर श्रुतश्रवा यदुनन्दन श्रीकृष्णसे बोली—॥ २२ ॥

शिशुपालस्यापराधान् क्षमेथास्त्वं महाबल ।
मत्कृते यदुशार्दूल विद्ध्येनं मे वरं प्रभो ॥ २३ ॥

'महाबली यदुकुलतिलक श्रीकृष्ण ! तुम मेरे लिये शिशुपालके सब अपराध क्षमा कर देना । प्रभो ! यही मेरा मनोवाञ्छित वर समझो' ॥ २३ ॥

श्रीकृष्ण उवाच

अपराधशतं क्षम्यं मया ह्यस्य पितृष्वसः ।
पुत्रस्य ते वधार्हस्य मा त्वं शोके मनः कृथाः ॥ २४ ॥

श्रीकृष्णने कहा—बुआ ! तुम्हारा पुत्र अपने दोषोंके कारण मेरेद्वारा यदि वधके योग्य होगा, तो भी मैं इसके सौ अपराध क्षमा करूँगा । तुम अपने मनमें शोक न करो ॥ २४ ॥

भीष्म उवाच

एवमेष नृपः पापः शिशुपालः सुमन्दधीः ।
त्वां समाह्वयते वीर गोविन्दवरदर्पितः ॥ २५ ॥

भीष्मजी कहते हैं—वीरवर भीमसेन ! इस प्रकार यह मन्दबुद्धि पापी राजा शिशुपाल भगवान् श्रीकृष्णके दिये हुए वरदानसे उन्मत्त होकर तुम्हें युद्धके लिये ललकार रहा है ॥ २५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवृत्तान्तकथने त्रिचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवृत्तान्तवर्णनविषयक तैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४३ ॥

चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः

भीष्मकी बातोंसे चिढ़े हुए शिशुपालका उन्हें फटकारना तथा भीष्मका श्रीकृष्णसे युद्ध करनेके लिये समस्त राजाओंको चुनौती देना

भीष्म उवाच

नैषा चेदिपतेर्बुद्धिर्यया त्वाऽऽह्वयतेऽच्युतम् ।
नूनमेष जगद्भर्तुः कृष्णस्यैव विनिश्चयः ॥ १ ॥

भीष्मजी कहते हैं—भीमसेन ! यह चेदिराज शिशुपालकी बुद्धि नहीं है, जिसके द्वारा वह युद्धसे कभी पीछे न हटनेवाले तुम-जैसे महावीरको ललकार रहा है, अवश्य ही सम्पूर्ण जगत्के स्वामी भगवान् श्रीकृष्णका ही यह निश्चित विधान है ॥ १ ॥

को हि मां भीमसेनाद्य क्षितावर्हति पार्थिवः ।
क्षेप्तुं कालपरीतात्मा यथैष कुलपांसनः ॥ २ ॥

भीमसेन ! कालने ही इसके मन और बुद्धिको ग्रस लिया है, अन्यथा इस भूमण्डलमें कौन ऐसा राजा होगा, जो मुझपर इस तरह आक्षेप कर सके, जैसे यह कुलकलङ्क शिशुपाल कर रहा है ॥ २ ॥

एष ह्यस्य महाबाहुस्तेजोंऽशश्च हरेर्ध्रुवम् ।
तमेव पुनरादातुमिच्छत्युत तथा विभुः ॥ ३ ॥

यह महाबाहु चेदिराज निश्चय ही भगवान् श्रीकृष्णके तेजका अंश है । ये सर्वव्यापी भगवान् अपने उस अंशको पुनः समेट लेना चाहते हैं ॥ ३ ॥

येनैष कुरुशार्दूल शार्दूल इव चेदिराट् ।
गर्जत्यतीव दुर्बुद्धिः सर्वानस्मानचिन्तयन् ॥ ४ ॥

कुरुसिंह भीम ! यही कारण है कि यह दुर्बुद्धि शिशुपाल हम सबको कुछ न समझकर आज सिंहके समान गरज रहा है ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो न ममृषे चैद्यस्तद् भीष्मवचनं तदा ।
उवाच चैनं संक्रुद्धः पुनर्भीष्ममथोत्तरम् ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीष्मकी यह बात शिशुपाल न सह सका । वह पुनः अत्यन्त क्रोधमें भरकर भीष्मको उनकी बातोंका उत्तर देते हुए बोला ॥ ५ ॥

शिशुपाल उवाच

द्विषतां नोऽस्तु भीष्मैष प्रभावः केशवस्य यः ।
यस्य संस्तववक्ता त्वं वन्दिवत् सततोत्थितः ॥ ६ ॥

शिशुपालने कहा—भीष्म ! तुम सदा भाटकी तरह खड़े होकर जिसकी स्तुति गाया करते हो, उस कृष्णका जो प्रभाव है, वह हमारे शत्रुओंके पास ही रहे ॥ ६ ॥

संस्तवे च मनो भीष्म परेषां रमते यदि ।
तदा संस्तौषि राज्ञस्त्वमिमं हित्वा जनार्दनम् ॥ ७ ॥

भीष्म ! यदि तुम्हारा मन सदा दूसरोंकी स्तुतिमें ही लगता है तो इस जनार्दनको छोड़कर इन राजाओंकी ही स्तुति करो ॥ ७ ॥

दरदं स्तुहि बाह्लीकमिमं पार्थिवसत्तमम् ।
जायमानेन येनेयमभवद् दारिता मही ॥ ८ ॥

ये दरददेशके राजा हैं, इनकी स्तुति करो । ये

भूमिपालोंमें श्रेष्ठ बाह्लीक बैठे हैं, इनके गुण गाओ। इन्होंने जन्म लेते ही अपने शरीरके भारसे इस पृथ्वीको विदीर्ण कर दिया था ॥ ८ ॥

वङ्गाङ्गविषयाध्यक्षं सहस्राक्षसमं बले।
स्तुहि कर्णमिमं भीष्म महाचापविकर्षणम् ॥ ९ ॥

भीष्म! ये जो वङ्ग और अङ्ग दोनों देशोंके राजा हैं, इन्द्रके समान बल-पराक्रमसे सम्पन्न हैं तथा महान् धनुषकी प्रत्यञ्चा खींचनेवाले हैं, इन वीरवर कर्णकी कीर्तिका गान करो ॥ ९ ॥

यस्येमे कुण्डले दिव्ये सहजे देवनिर्मिते।
कवचं च महाबाहो बालार्कसदृशप्रभम् ॥ १० ॥

महाबाहो! इन कर्णके ये दोनों दिव्य कुण्डल जन्मके साथ ही प्रकट हुए हैं। किसी देवताने ही इन कुण्डलोंका निर्माण किया है। कुण्डलोंके साथ-साथ इनके शरीरपर यह दिव्य कवच भी जन्मसे ही पैदा हुआ है, जो प्रातःकालके सूर्यके समान प्रकाशित हो रहा है ॥ १० ॥

वासवप्रतिमो येन जरासंधोऽतिदुर्जयः।
विजितो बाहुयुद्धेन देहभेदं च लम्भितः ॥ ११ ॥

जिन्होंने इन्द्रके तुल्य पराक्रमी तथा अत्यन्त दुर्जय जरासंधको बाहुयुद्धके द्वारा केवल परास्त ही नहीं किया, उनके शरीरको चीर भी डाला, उन भीमसेनकी स्तुति करो। ११।

द्रोणं द्रौणिं च साधु त्वं पितापुत्रौ महारथौ।
स्तुहि स्तुत्यावुभौ भीष्म सततं द्विजसत्तमौ ॥ १२ ॥

द्रोणाचार्य और अश्वत्थामा दोनों पिता-पुत्र महारथी हैं तथा ब्राह्मणोंमें श्रेष्ठ हैं, अतएव स्तुत्य भी हैं। भीष्म! तुम उन दोनोंकी अच्छी तरह स्तुति करो ॥ १२ ॥

ययोरन्यतरो भीष्म संक्रुद्धः सचराचराम्।
इमां वसुमतीं कुर्यान्निःशेषामिति मे मतिः ॥ १३ ॥

भीष्म! इन दोनों पिता-पुत्रोंमेंसे यदि एक भी अत्यन्त क्रोधमें भर जाय, तो चराचर प्राणियोंसहित इस सारी पृथ्वीको नष्ट कर सकता है, ऐसा मेरा विश्वास है ॥ १३ ॥

द्रोणस्य हि समं युद्धे न पश्यामि नराधिपम्।
नाश्वत्थाम्नः समं भीष्म न च तौ स्तोतुमिच्छसि ॥ १४ ॥

भीष्म! मुझे तो कोई भी ऐसा राजा नहीं दिखायी देता, जो युद्धमें द्रोण अथवा अश्वत्थामाकी बराबरी कर सके। तो भी तुम इन दोनोंकी स्तुति करना नहीं चाहते ॥ १४ ॥

पृथिव्यां सागरान्तायां यो वै प्रतिसमो भवेत्।
दुर्योधनं त्वं राजेन्द्रमतिक्रम्य महाभुजम् ॥ १५ ॥
जयद्रथं च राजानं कृतास्त्रं दृढविक्रमम्।
द्रुमं किम्पुरुषाचार्यं लोके प्रथितविक्रमम्।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १६ ॥

इस समुद्रपर्यन्त सारी पृथ्वीपर जो अद्वितीय अनुपम वीर हैं, उन राजाधिराज महाबाहु दुर्योधनको, अस्त्रविद्यामें निपुण और सुदृढ़पराक्रमी राजा जयद्रथको और विश्वविख्यात विक्रमशाली महाबली किम्पुरुषाचार्य द्रुमको छोड़कर तुम कृष्णकी प्रशंसा क्यों करते हो। ॥ १५-१६ ॥

वृद्धं च भारताचार्यं तथा शारद्वतं कृपम्।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १७ ॥

शरद्वान् मुनिके पुत्र महापराक्रमी कृप भरतवंशके वृद्ध आचार्य हैं। इनका उल्लङ्घन करके तुम कृष्णका गुण क्यों गाते हो? ॥ १७ ॥

धनुर्धराणां प्रवरं रुक्मिणं पुरुषोत्तमम्।
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम् ॥ १८ ॥

धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ पुरुषरत्न महाबली रुक्मीकी अवहेलना करके तुम केशवकी प्रशंसाके गीत क्यों गाते हो? ॥ १८ ॥

भीष्मकं च महावीर्यं दन्तवक्रं च भूमिपम्।
भगदत्तं यूपकेतुं जयत्सेनं च मागधम् ॥ १९ ॥
विराटद्रुपदौ चोभौ शकुनिं च बृहद्बलम्।
विन्दानुविन्दावावन्त्यौ पाण्ड्यं श्वेतमथोत्तरम् ॥ २० ॥
शङ्खं च सुमहाभागं वृषसेनं च मानिनम्।
एकलव्यं च विक्रान्तं कालिङ्गं च महारथम् ॥ २१ ॥
अतिक्रम्य महावीर्यं किं प्रशंससि केशवम्।

महापराक्रमी भीष्मक, भूमिपाल दन्तवक्र, भगदत्त, यूपकेतु, जयत्सेन, मगधराज सहदेव, विराट, द्रुपद, शकुनि, बृहद्बल, अवन्तीके राजकुमार विन्द-अनुविन्द, पाण्ड्यनरेश, श्वेत, उत्तर, महाभाग शङ्ख, अभिमानी वृषसेन, पराक्रमी एकलव्य तथा महारथी एवं महाबली कलिंगनरेशकी अवहेलना करके कृष्णकी प्रशंसा क्यों कर रहे हो? ॥ १९—२१½ ॥

शल्यादीनपि कस्मात् त्वं न स्तौषि वसुधाधिपान्।
स्तवाय यदि ते बुद्धिर्वर्तते भीष्म सर्वदा ॥ २२ ॥

भीष्म! यदि तुम्हारा मन सदा दूसरोंकी स्तुति करनेमें ही लगता है तो इन शल्य आदि श्रेष्ठ राजाओंकी स्तुति क्यों नहीं करते? ॥ २२ ॥

किं हि शक्यं मया कर्तुं यद् वृद्धानां त्वया नृप।
पुरा कथयतां नूनं न श्रुतं धर्मवादिनाम् ॥ २३ ॥

भीष्म! तुमने पहले बड़े-बूढ़े धर्मोपदेशकोंके मुखसे यदि यह धर्मसंगत बात, जिसे मैं अभी बताऊँगा नहीं सुनी, तो मैं क्या कर सकता हूँ? ॥ २३ ॥

आत्मनिन्दाऽऽत्मपूजा च परनिन्दा परस्तवः।
अनाचरितमार्याणां वृत्तमेतच्चतुर्विधम् ॥ २४ ॥

भीष्म ! अपनी निन्दा, अपनी प्रशंसा, दूसरेकी निन्दा और दूसरेकी स्तुति--ये चार प्रकारके कार्य पहलेके श्रेष्ठ पुरुषोंने कभी नहीं किये हैं ॥ २४ ॥

अस्तव्यमिमं शश्वन्मोहात् संस्तौषि भक्तितः।
केशवं तच्च ते भीष्म न कश्चिदनुमन्यते ॥२५॥

भीष्म ! जो स्तुतिके सर्वथा अयोग्य है, उसी केशवकी तुम मोहवश सदा भक्तिभावसे जो स्तुति करते रहते हो, उसका कोई अनुमोदन नहीं करता ॥ २५ ॥

कथं भोजस्य पुरुषे वर्गपाले दुरात्मनि।
समावेशयसे सर्वं जगत् केवलकाम्यया ॥२६॥

दुरात्मा कृष्ण तो राजा कंसका सेवक है, उनकी गौओंका चरवाहा रहा है। तुम केवल स्वार्थवश इसमें सारे जगत्का समावेश कर रहे हो ॥ २६ ॥

अथ चैषा न ते बुद्धिः प्रकृतिं याति भारत।
मयैव कथितं पूर्वं भूलिङ्गशकुनिर्यथा ॥२७॥

भारत ! तुम्हारी बुद्धि ठिकानेपर नहीं आ रही है। मैं यह बात पहले ही बता चुका हूँ कि तुम भूलिङ्ग पक्षीके समान कहते कुछ और करते कुछ हो ॥ २७ ॥

भूलिङ्गशकुनिर्नाम पार्श्वे हिमवतः परे।
भीष्म तस्याः सदा वाचः श्रूयन्तेऽर्थविगर्हिताः ॥२८॥

भीष्म ! हिमालयके दूसरे भागमें भूलिङ्ग नामसे प्रसिद्ध एक चिड़िया रहती है। उसके मुखसे सदा ऐसी बात सुनायी पड़ती है, जो उसके कार्यके विपरीत भावकी सूचक होनेके कारण अत्यन्त निन्दनीय जान पड़ती है ॥ २८ ॥

मा साहसमितीदं सा सततं वाशते किल।
साहसं चात्मनातीव चरन्ती नावबुध्यते ॥२९॥

वह चिड़िया सदा यही बोला करती है 'मा साहसम्' (अर्थात् साहसका काम न करो), परंतु वह स्वयं ही भारी साहसका काम करती हुई भी यह नहीं समझ पाती ॥२९॥

सा हि मांसार्गलं भीष्म मुखात् सिंहस्य खादतः।
दन्तान्तरविलग्नं यत् तदादत्तेऽल्पचेतना ॥३०॥

भीष्म ! वह मूर्ख चिड़िया मांस खाते हुए सिंहके दाँतोंमें लगे हुए मांसके टुकड़ेको अपनी चोंचसे चुगती रहती है ॥३०॥

इच्छतः सा हि सिंहस्य भीष्म जीवत्यसंशयम्।
तद्वत् त्वमप्यधर्मिष्ठ सदा वाचः प्रभाषसे ॥३१॥

निःसंदेह सिंहकी इच्छासे ही वह अबतक जी रही है। पापी भीष्म ! इसी प्रकार तुम भी सदा बढ़-बढ़कर बातें करते हो ॥ ३१ ॥

इच्छतां भूमिपालानां भीष्म जीवस्यसंशयम्।
लोकविद्विष्टकर्मा हि नान्योऽस्ति भवता समः ॥३२॥

भीष्म ! निःसंदेह तुम्हारा जीवन इन राजाओंकी इच्छासे ही बचा हुआ है; क्योंकि तुम्हारे समान दूसरा कोई राजा ऐसा नहीं है, जिसके कर्म सम्पूर्ण जगत्से द्वेष करनेवाले हों ॥ ३२ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततश्चेदिपतेः श्रुत्वा भीष्मः स कटुकं वचः।
उवाचेदं वचो राजंश्चेदिराजस्य शृण्वतः ॥३३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं--जनमेजय ! शिशुपालका यह कटु वचन सुनकर भीष्मजीने शिशुपालके सुनते हुए यह बात कही-॥ ३३ ॥

इच्छतां किल नामाहं जीवाम्येषां महीक्षिताम्।
सोऽहं न गणयाम्येतांस्तृणेनापि नराधिपान् ॥३४॥

'अहो ! शिशुपालके कथनानुसार मैं इन राजाओंकी इच्छापर जी रहा हूँ; परंतु मैं तो इन समस्त भूपालोंको तिनके-बराबर भी नहीं समझता' ॥ ३४ ॥

एवमुक्ते तु भीष्मेण ततः संचुक्रुशुर्नृपाः।
केचिज्जहृषिरे तत्र केचिद् भीष्मं जगर्हिरे ॥३५॥

भीष्मके ऐसा कहनेपर बहुत-से राजा कुपित हो उठे। कुछ लोगोंको हर्ष हुआ तथा कुछ भीष्मजीकी निन्दा करने लगे ॥ ३५ ॥

केचिदूचुर्महेष्वासाः श्रुत्वा भीष्मस्य तद् वचः।
पापोऽवलिप्तो वृद्धश्च नायं भीष्मोऽर्हति क्षमाम् ॥३६॥

कुछ महान् धनुर्धर नरेश भीष्मकी वह बात सुनकर कहने लगे-'यह बूढ़ा भीष्म पापी और घमण्डी है, अतः क्षमाके योग्य नहीं है ॥ ३६ ॥

हन्यतां दुर्मतिर्भीष्मः पशुवत् साध्वयं नृपाः।
सर्वैः समेत्य संरब्धैर्दह्यतां वा कटाग्निना ॥३७॥

'राजाओ ! क्रोधमें भरे हुए हम सब लोग मिलकर इस खोटी बुद्धिवाले भीष्मको पशुकी भाँति गला दबाकर मार डालें अथवा घास-फूसकी आगमें इसे जीते-जी जला दें' ॥३७॥

इति तेषां वचः श्रुत्वा ततः कुरुपितामहः।
उवाच मतिमान् भीष्मस्तानेव वसुधाधिपान् ॥३८॥

उन राजाओंकी ये बातें सुनकर कुरुकुलके पितामह बुद्धिमान् भीष्मजी फिर उन्हीं नरेशोंसे बोले—॥ ३८ ॥

उक्तस्योक्तस्य नेहान्तमहं समुपलक्षये।
यत् तु वक्ष्यामि तत् सर्वं शृणुध्वं वसुधाधिपाः ॥३९॥

'राजाओ ! यदि मैं सबकी बातका अलग-अलग उत्तर दूँ तो यहाँ उसकी समाप्ति होती नहीं दिखायी देती। अतः मैं जो कुछ कह रहा हूँ, वह सब ध्यान देकर सुनो ॥ ३९ ॥

पशुवद् घातनं वा मे दहनं वा कटाग्निना।
क्रियतां मूर्ध्नि वो न्यस्तं मयेदं सकलं पदम् ॥४०॥

'तुमलोगोंमें साहस या शक्ति हो, तो पशुकी भाँति मेरी हत्या कर दो अथवा घास-फूसकी आगमें मुझे जला दो। मैंने तो तुमलोगोंके मस्तकपर अपना यह पूरा पैर रख दिया ॥ ४० ॥

एष तिष्ठति गोविन्दः पूजितोऽस्माभिरच्युतः।
यस्य वस्त्वरते बुद्धिर्मरणाय स माधवम् ॥४१॥
कृष्णमाह्वयतामद्य युद्धे चक्रगदाधरम्।
यादवस्यैव देवस्य देहं विशतु पातितः ॥४२॥

'हमने जिनकी पूजा की है, अपनी महिमासे कभी च्युत न होनेवाले वे भगवान् गोविन्द तुमलोगोंके सामने मौजूद हैं। तुमलोगोंमेंसे जिसकी बुद्धि मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये उतावली हो रही हो, वह इन्हीं यदुकुलतिलक चक्रगदाधर श्रीकृष्णको आज युद्धके लिये ललकारे और इनके हाथों मारा जाकर इन्हीं भगवान्‌के शरीरमें प्रविष्ट हो जाय' ।४१-४२।

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि भीष्मवाक्ये चतुश्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक चौवालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४४ ॥

पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः

श्रीकृष्णके द्वारा शिशुपालका वध, राजसूययज्ञकी समाप्ति तथा सभी ब्राह्मणों, राजाओं और श्रीकृष्णका स्वदेशगमन

वैशम्पायन उवाच

ततः श्रुत्वैव भीष्मस्य चेदिराडुरुविक्रमः।
युयुत्सुर्वासुदेवेन वासुदेवमुवाच ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! भीष्मकी यह बात सुनते ही महापराक्रमी चेदिराज शिशुपाल भगवान् वासुदेवके साथ युद्धके लिये उत्सुक हो उनसे इस प्रकार बोला ॥ १ ॥

आह्वये त्वां रणं गच्छ मया सार्धं जनार्दन।
यावदद्य निहन्मि त्वां सहितं सर्वपाण्डवैः ॥ २ ॥

जनार्दन! मैं तुम्हें बुला रहा हूँ। आओ, मेरे साथ युद्ध करो, जिससे आज मैं समस्त पाण्डवोंसहित तुम्हें मार डालूँ॥

सह त्वया हि मे वध्याः सर्वथा कृष्ण पाण्डवाः।
नृपतीन् समतिक्रम्य यैरराजा त्वमर्चितः ॥ ३ ॥

'कृष्ण! तुम्हारे साथ ये पाण्डव भी सर्वथा मेरे वध्य हैं; क्योंकि इन्होंने सब राजाओंकी अवहेलना करके राजा न होनेपर भी तुम्हारी पूजा की ॥ ३ ॥

ये त्वां दासमराजानं बाल्यादर्चन्ति दुर्मतिम्।
अनर्हमर्हवत् कृष्ण वध्यास्त इति मे मतिः ॥ ४ ॥

'तुम कंसके दास थे तथा राजा भी नहीं हो, इसीलिये राजोचित पूजाके अनधिकारी हो। तो भी कृष्ण! जो लोग मूर्खतावश तुम-जैसे दुर्बुद्धिकी पूजनीय पुरुषकी भाँति पूजा करते हैं, वे अवश्य ही मेरे वध्य हैं, मैं तो ऐसा ही मानता हूँ' ॥ ४ ॥

इत्युक्त्वा राजशार्दूलस्तस्थौ गर्जन्नमर्षणः।

ऐसा कहकर क्रोधमें भरा हुआ राजसिंह शिशुपाल दहाड़ता हुआ युद्धके लिये डट गया ॥ ४½ ॥

एवमुक्तस्ततः कृष्णो मृदुपूर्वमिदं वचः।
उवाच पार्थिवान् सर्वान् स समक्षं च वीर्यवान् ॥ ५ ॥

शिशुपालके ऐसा कहनेपर अनन्तपराक्रमी भगवान् श्रीकृष्णने उसके सामने समस्त राजाओंसे मधुर वाणीमें कहा—॥

एष नः शत्रुरत्यन्तं पार्थिवाः सात्वतीसुतः।
सात्वतानां नृशंसात्मा न हितोऽनपकारिणाम् ॥ ६ ॥

'भूमिपालो! यह है तो यदुकुलकी कन्याका पुत्र, परंतु हमलोगोंसे अत्यन्त शत्रुता रखता है। यद्यपि यादवोंने इसका कभी कोई अपराध नहीं किया है, तो भी यह क्रूरात्मा उनके अहितमें ही लगा रहता है ॥ ६ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरं यातानस्माञ्ज्ञात्वा नृशंसकृत्।
अदहद् द्वारकामेष स्वस्रीयः सन् नराधिपाः ॥ ७ ॥

'नरेश्वरो! हम प्राग्ज्योतिषपुरमें गये थे, यह बात जब इसे मालूम हुई, तब इस क्रूरकर्माने मेरे पिताजीका भानजा होकर भी द्वारकामें आग लगवा दी ॥ ७ ॥

क्रीडतो भोजराजस्य एष रैवतके गिरौ।
हत्वा बद्ध्वा च तान् सर्वानुपायात् स्वपुरं पुरा ॥ ८ ॥

'एक बार भोजराज (उग्रसेन) रैवतक पर्वतपर क्रीड़ा कर रहे थे। उस समय यह वहीं जा पहुँचा और उनके सेवकोंको मारकर तथा शेष व्यक्तियोंको कैद करके उन सबको अपने नगरमें ले गया ॥ ८ ॥

अश्वमेधे हयं मेध्यमुत्सृष्टं रक्षिभिर्वृतम्।
पितुर्मे यज्ञविघ्नार्थमहरत् पापनिश्चयः ॥ ९ ॥

'मेरे पिताजी अश्वमेधयज्ञकी दीक्षा ले चुके थे। उसमें रक्षकोंसे घिरा हुआ पवित्र अश्व छोड़ा गया था। इस पापपूर्ण विचारवाले दुष्टात्माने पिताजीके यज्ञमें विघ्न डालनेके लिये उस अश्वको भी चुरा लिया था ॥ ९ ॥

सौवीरान् प्रति यातां च बभ्रोरेष तपस्विनः।
भार्यामभ्यहरन्मोहादकामां तामितो गताम् ॥ १० ॥

'इतना ही नहीं, इसने बभ्रुकी पत्नीका, जो यहाँसे [सौवीर] जाते समय सौवीरदेश पहुँची थी और इसके प्रति जिसके मनमें तनिक भी अनुराग नहीं था, मोहवश अपहरण कर लिया ॥ १० ॥

स मायाप्रतिच्छन्नः करूषार्थे तपस्विनीम् ।
जहार भद्रां वैशालीं मातुलस्य नृशंसकृत् ॥ ११ ॥

'इस क्रूरकर्माने मायासे अपने असली रूपको छिपाकर करूषराजकी प्राप्तिके लिये तपस्या करनेवाली अपने मामा विशालनरेशकी कन्या भद्राका (करूषराजके ही वेषमें उपस्थित हो उसे धोखा देकर) अपहरण कर लिया ॥ ११ ॥

पितृष्वसुः कृते दुःखं सुमहन्मर्षयाम्यहम् ।
दिष्ट्या हीदं सर्वराज्ञां संनिधावद्य वर्तते ॥ १२ ॥

'मैं अपनी बुआके संतोषके लिये ही इसके बड़े दुःखद अपराधोंको सहन कर रहा हूँ; सौभाग्यकी बात है कि आज यह समस्त राजाओंके समीप मौजूद है ॥ १२ ॥

पश्यन्ति हि भवन्तोऽद्य मय्यतीव व्यतिक्रमम् ।
कृतानि तु परोक्षं मे यानि तानि निबोधत ॥ १३ ॥

'आप सब लोग देख ही रहे हैं कि इस समय यह मेरे साथ कैसा अभद्र बर्ताव कर रहा है। इसने परोक्षमें मेरे प्रति जो अपराध किये हैं, उन्हें भी आप अच्छी तरह समझ लें ॥ १३ ॥

इमं त्वस्य न शक्ष्यामि क्षन्तुमद्य व्यतिक्रमम् ।
अवलेपाद् वधार्हस्य समग्रे राजमण्डले ॥ १४ ॥

'परंतु आज इसने अहंकारवश समस्त राजाओंके सामने मेरे साथ जो दुर्व्यवहार किया है, उसे मैं कभी क्षमा न कर सकूँगा ॥ १४ ॥

रुक्मिण्यामस्य मूढस्य प्रार्थनाऽऽसीन्मुमूर्षतः ।
न च तां प्राप्तवान् मूढः शूद्रो वेदश्रुतीमिव ॥ १५ ॥

'अब यह मरना ही चाहता है। इस मूर्खने पहले रुक्मिणीके लिये उसके बन्धु-बान्धवोंसे याचना की थी, परंतु जैसे शूद्र वेदकी ऋचाओंको श्रवण नहीं कर सकता, उसी प्रकार इस अज्ञानीको वह प्राप्त न हो सकी' ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमादि ततः सर्वे सहितास्ते नराधिपाः ।
वासुदेववचः श्रुत्वा चेदिराजं व्यगर्हयन् ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भगवान् श्रीकृष्णकी ये सब बातें सुनकर उन समस्त राजाओंने एक साथ चेदिराज शिशुपालको धिक्कारा और उसकी निन्दा की ॥ १६ ॥

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा शिशुपालः प्रतापवान् ।
जहास स्वनवद्धासं वाक्यं चेदमुवाच ह ॥ १७ ॥

श्रीकृष्णका उपर्युक्त वचन सुनकर प्रतापी शिशुपाल खिलखिलाकर हँसने लगा और इस प्रकार बोला—॥ १७ ॥

मत्पूर्वां रुक्मिणीं कृष्ण संसत्सु परिकीर्तयन् ।
विशेषतः पार्थिवेषु व्रीडां न कुरुषे कथम् ॥ १८ ॥

'कृष्ण ! तुम इस भरी सभामें, विशेषतः सभी राजाओंके सामने रुक्मिणीको मेरी पहलेकी मनोनीत पत्नी बताते हुए लज्जाका अनुभव कैसे नहीं करते ! ॥ १८ ॥

मन्यमानो हि कः सत्सु पुरुषः परिकीर्तयेत् ।
अन्यपूर्वां स्त्रियं जातु त्वदन्यो मधुसूदन ॥ १९ ॥

'मधुसूदन ! तुम्हारे सिवा दूसरा कौन ऐसा पुरुष होगा, जो अपनी स्त्रीको पहले दूसरेकी वाग्दत्ता पत्नी स्वीकार करते हुए सत्पुरुषोंकी सभामें इसका वर्णन करेगा ! ॥ १९ ॥

क्षम वा यदि ते श्रद्धा मा वा कृष्ण मम क्षम ।
क्रुद्धाद् वापि प्रसन्नाद् वा किं मे त्वत्तो भविष्यति ॥ २० ॥

'कृष्ण ! यदि अपनी बुआकी बातोंपर तुम्हें श्रद्धा हो तो मेरे अपराध क्षमा करो या न भी करो, तुम्हारे कुपित होने या प्रसन्न होनेसे मेरा क्या बनने-बिगड़नेवाला है ?' ॥ २० ॥

तथा ब्रुवत एवास्य भगवान् मधुसूदनः ।
मनसाचिन्तयच्चक्रं दैत्यवर्गनिषूदनम् ॥ २१ ॥

शिशुपाल इस तरहकी बातें कर ही रहा था कि भगवान् मधुसूदनने मन-ही-मन दैत्यवर्गविनाशक सुदर्शन चक्रका स्मरण किया ॥ २१ ॥

एतस्मिन्नेव काले तु चक्रे हस्तगते सति ।
उवाच भगवानुच्चैर्वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ २२ ॥

चिन्तन करते ही तत्काल चक्र हाथमें आ गया । तब बोलनेमें कुशल भगवान् श्रीकृष्णने उच्च स्वरसे यह वचन कहा—॥ २२ ॥

शृण्वन्तु मे महीपाला येनैतत् क्षमितं मया ।
अपराधशतं क्षाम्यं मातुरस्यैव याचने ॥ २३ ॥
दत्तं मया याचितं च तानि पूर्णानि पार्थिवाः ।
अधुना वधयिष्यामि पश्यतां वो महीक्षिताम् ॥ २४ ॥

'यहाँ बैठे हुए सब महीपाल यह सुन लें कि मैंने क्यों अबतक इसके अपराध क्षमा किये हैं ! इसीकी माताके याचना करनेपर मैंने उसे यह प्रार्थित वर दिया था कि शिशुपालके सौ अपराध क्षमा कर दूँगा । राजाओ ! वे सब अपराध अब पूरे हो गये हैं; अतः आप सभी भूमिपतियोंके देखते-देखते मैं अभी इसका वध किये देता हूँ' ॥ २३-२४ ॥

एवमुक्त्वा यदुश्रेष्ठश्चेदिराजस्य तत्क्षणात्।
व्यपाहरच्छिरः क्रुद्धश्चक्रेणामित्रकर्षणः ॥ २५ ॥

ऐसा कहकर कुपित हुए शत्रुहन्ता यदुकुलतिलक भगवान् श्रीकृष्णने चक्रसे उसी क्षण चेदिराज शिशुपालका सिर उड़ा दिया ॥ २५ ॥



स पपात महाबाहुर्वज्राहत इवाचलः।
ततश्चेदिपतेर्देहात् तेजोऽग्र्यं ददृशुर्नृपाः ॥ २६ ॥
उत्पतन्तं महाराज गगनादिव भास्करम्।
ततः कमलपत्राक्षं कृष्णं लोकनमस्कृतम्।
ववन्दे तत् तदा तेजो विवेश च नराधिप ॥ २७ ॥

महाबाहु शिशुपाल वज्रके मारे हुए पर्वत-शिखरकी भाँति धराशायी हो गया। महाराज! तदनन्तर सभी नरेशोंने देखा; चेदिराजके शरीरसे एक उत्कृष्ट तेज निकलकर ऊपर उठ रहा है; मानो आकाशसे सूर्य उदित हुआ हो। नरेश्वर! उस तेजने विश्ववन्दित कमलदललोचन श्रीकृष्ण-को नमस्कार किया और उसी समय उनके भीतर प्रविष्ट हो गया ॥ २६-२७ ॥

तदद्भुतममन्यन्त दृष्ट्वा सर्वे महीक्षितः।
यद् विवेश महाबाहुं तत् तेजः पुरुषोत्तमम् ॥ २८ ॥

यह देखकर सभी राजाओंको बड़ा आश्चर्य हुआ, क्योंकि उसका तेज महाबाहु पुरुषोत्तममें प्रविष्ट हो गया ॥ २८ ॥

अनभ्रे प्रववर्ष द्यौः पपात ज्वलिताशनिः।
कृष्णेन निहते चैद्ये चचाल च वसुंधरा ॥ २९ ॥

श्रीकृष्णके द्वारा शिशुपालके मारे जानेपर सारी पृथ्वी हिलने लगी, बिना बादलोंके ही आकाशसे वर्षा होने लगी और प्रज्वलित बिजली टूट-टूटकर गिरने लगी ॥ २९ ॥

ततः केचिन्महीपाला नाब्रुवंस्तत्र किंचन।
अतीतवाक्पथे काले प्रेक्षमाणा जनार्दनम् ॥ ३० ॥

वह समय वाणीकी पहुँचके परे था। उसका वर्णन करना कठिन था। उस समय कोई भूपाल वहाँ इस विषयमें कुछ भी न बोल सके—मौन रह गये। वे बार-बार केवल श्रीकृष्णके मुखकी ओर देखते रहे ॥ ३० ॥

हस्तैर्हस्ताग्रमपरे प्रत्यपिंषन्नमर्षिताः।
अपरे दशनैरोष्ठानदशन् क्रोधमूर्च्छिताः ॥ ३१ ॥

कुछ अन्य नरेश अत्यन्त अमर्षमें भरकर हाथोंसे हाथ मसलने लगे तथा दूसरे लोग क्रोधसे मूर्च्छित होकर दाँतोंसे ओठ चबाने लगे ॥ ३१ ॥

रहश्च केचिद् वार्ष्णेयं प्रशशंसुर्नराधिपाः।
केचिदेव सुसंरब्धा मध्यस्थास्त्वपरेऽभवन् ॥ ३२ ॥

कुछ राजा एकान्तमें भगवान् श्रीकृष्णकी प्रशंसा करने लगे। कुछ ही भूपाल अत्यन्त क्रोधके वशीभूत हो रहे थे तथा कुछ लोग तटस्थ थे ॥ ३२ ॥

प्रहृष्टाः केशवं जग्मुः संस्तुवन्तो महर्षयः।
ब्राह्मणाश्च महात्मानः पार्थिवाश्च महाबलाः ॥ ३३ ॥
शशंसुर्निर्वृताः सर्वे दृष्ट्वा कृष्णस्य विक्रमम्।

बड़े-बड़े ऋषि, महात्मा ब्राह्मणों तथा महाबली भूमिपालोंने भगवान् श्रीकृष्णका वह पराक्रम देखकर अत्यन्त प्रसन्न हो उनकी स्तुति करते हुए उन्हींकी शरण ली ॥ ३३½ ॥

पाण्डवस्त्वब्रवीद् भ्रातॄन् सत्कारेण महीपतिम् ॥ ३४ ॥
दमघोषात्मजं वीरं संस्कारयत मा चिरम्।
तथा च कृतवन्तस्ते भ्रातुर्वै शासनं तदा ॥ ३५ ॥

पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरने अपने भाइयोंसे कहा—'दम-घोषपुत्र वीर राजा शिशुपालका अन्त्येष्टि संस्कार बड़े सत्कारके साथ करो, इसमें देर न लगाओ।' पाण्डवोंने भाईकी उस आज्ञाका यथार्थरूपसे पालन किया ॥ ३४-३५ ॥

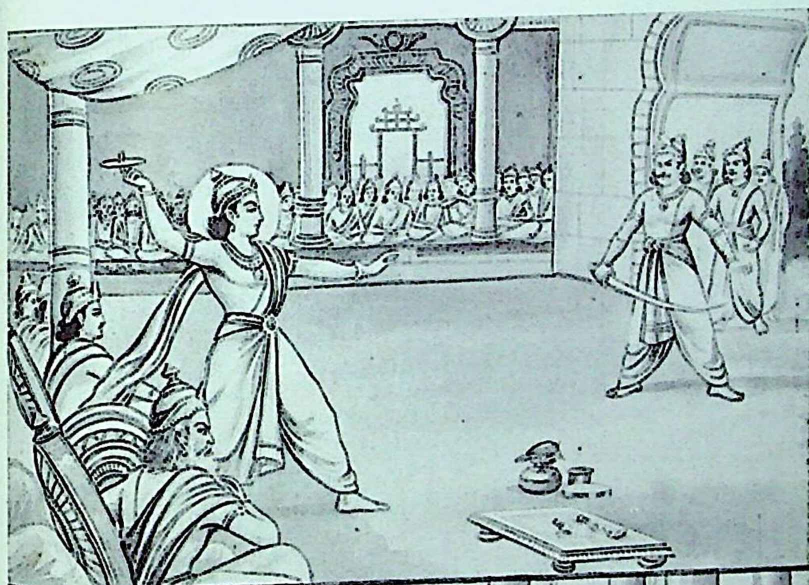
चेदीनामाधिपत्ये च पुत्रमस्य महीपतेः।
अभ्यषिञ्चत् तदा पार्थः सह तैर्वसुधाधिपैः ॥ ३६ ॥

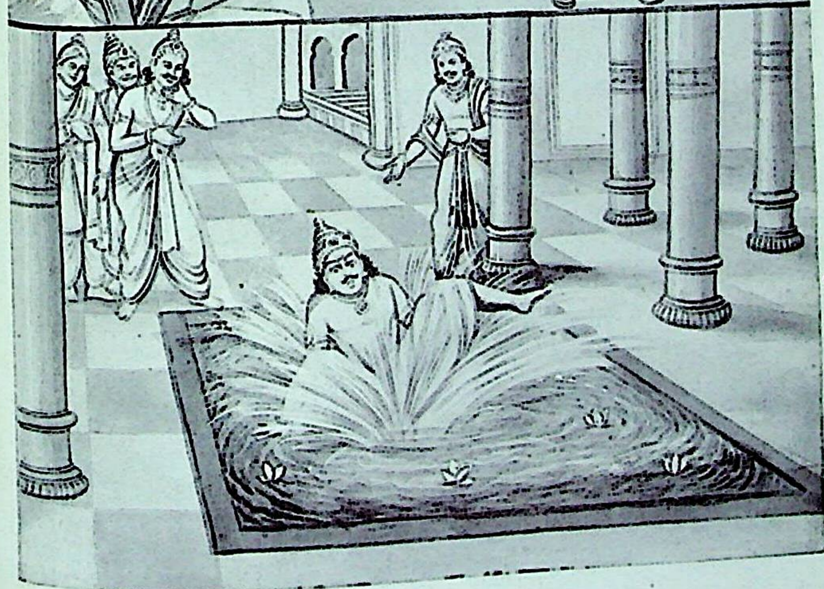
उस समय कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठिरने वहाँ आये हुए सभी भूमिपालोंके साथ चेदिदेशके राजसिंहासनपर शिशुपालके पुत्रको अभिषिक्त कर दिया ॥ ३६ ॥

ततः स कुरुराजस्य क्रतुः सर्वसमृद्धिमान्।
यूनां प्रीतिकरो राजन् स बभौ विपुलौजसः ॥ ३७ ॥

तदनन्तर महातेजस्वी कुरुराज युधिष्ठिरका वह सम्पूर्ण समृद्धियोंसे भरा-पूरा राजसूययज्ञ तरुण राजाओंकी प्रसन्नताको बढ़ाता हुआ अनुपम शोभा पाने लगा ॥ ३७ ॥

शिशुपालके वधके लिये भगवान्‌का हाथमें चक्र ग्रहण करना





दुर्योधनका स्थलके भ्रमसे जलमें गिरना

शान्तविघ्नः सुखारम्भः प्रभूतधनधान्यवान् ।
अन्नवान् बहुभक्ष्यश्च केशवेन सुरक्षितः ॥ ३८ ॥

उस यज्ञका विघ्न शान्त हो गया था; अतः उसका सुखपूर्वक आरम्भ हुआ । उसमें अपरिमित धन-धान्यका संग्रह एवं सदुपयोग किया गया था । भगवान् श्रीकृष्णसे सुरक्षित होनेके कारण उस यज्ञमें कभी अन्नकी कमी नहीं होने पायी । उसमें सदा पर्याप्तमात्रामें भक्ष्य-भोज्य आदिकी सामग्री प्रस्तुत रहती थी ॥ ३८ ॥

ददृशुस्तं नृपतयो यज्ञस्य विधिमुत्तमम् ।
उपेन्द्रबुद्ध्या विहितं सहदेवेन भारत ॥

भरतनन्दन ! राजाओंने सहदेवके द्वारा विष्णु-बुद्धिसे भगवान् श्रीकृष्णकी प्रसन्नताके लिये किये जानेवाले उस यज्ञका उत्तम विधि-विधान देखा ॥

ददृशुस्तोरणान्यत्र हेमतालमयानि च ।
दीप्तभास्करतुल्यानि प्रदीप्तानीव तेजसा ।
स यज्ञस्तोरणैस्तैश्च ग्रहैर्द्यौरिव सम्बभौ ॥

उस यज्ञमण्डपमें सुवर्णमय तालके बने हुए फाटक दिखायी देते थे, जो अपनी प्रभासे तेजस्वी सूर्यके समान देदीप्यमान हो रहे थे । उन तेजस्वी द्वारोंसे वह विशाल यज्ञ-मन्दिर ग्रहोंसे आकाशकी भाँति प्रकाशित हो रहा था ॥

शय्यासनविहारांश्च सुबहून् वित्तसम्भृतान् ।
घटान् पात्रीः कटाहानि कलशानि समन्ततः ।
न ते किञ्चिदसौवर्णमपश्यंस्तत्र पार्थिवाः ॥

वहाँ शय्या, आसन और क्रीडाभवनोंकी संख्या बहुत थी । उनके निर्माणमें प्रचुर धन लगा था । चारों ओर घड़े, भाँति-भाँतिके पात्र, कड़ाहे और कलश आदि स्वर्णनिर्मित सामान दृष्टिगोचर हो रहे थे । वहाँ राजाओंने कोई ऐसी वस्तु नहीं देखी, जो सोनेकी बनी हुई न हो ॥

ओदनानां विकाराणि स्वादूनि विविधानि च ।
सुबहूनि च भक्ष्याणि पेयानि मधुराणि च ।
ददुर्द्विजानां सततं राजप्रेष्या महाध्वरे ॥

उस महान् यज्ञमें राजसेवकगण ब्राह्मणोंके आगे सदा नाना प्रकारके स्वादिष्ट भात तथा चावलकी बनी हुई बहुत-सी दूसरी भोज्य वस्तुएँ परोसते रहते थे । वे उनके लिये प्रचुर पेय पदार्थ भी अर्पण करते थे ॥

पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां भुञ्जतां तदा ।
स्थापिता तत्र संज्ञाभूच्छङ्खोऽध्मायत नित्यशः ॥

भोजन करनेवाले ब्राह्मणोंकी संख्या जब एक लाख पूरी हो जाती थी, तब वहाँ प्रतिदिन शङ्ख बजाया जाता था ॥

मुहुर्मुहुः प्रणादस्तु तस्य शङ्खस्य भारत ।
उत्तमं शङ्खशब्दं तं श्रुत्वा विस्मयमागताः ॥

जनमेजय ! दिनमें कई बार इस तरहकी शंख-ध्वनि होती थी । वह उत्तम शंखनाद सुनकर लोगोंको बड़ा विस्मय होता था ॥

एवं प्रवृत्ते यज्ञे तु तुष्टपुष्टजनायुते ।
अन्नस्य बहवो राजन्नुत्सेधाः पर्वतोपमाः ।
दधिकुल्याश्च ददृशुः सर्पिषां च ह्रदाञ्जनाः ॥

इस प्रकार सहस्रों हृष्ट-पुष्ट मनुष्योंसे भरे हुए उस यज्ञका कार्य चलने लगा । राजन् ! उसमें अन्नके बहुत-से ऊँचे ढेर लगाये गये थे, जो पर्वतोंके समान जान पड़ते थे । लोगोंने देखा, वहाँ दहीकी नहरें बह रही थीं तथा घीके कितने ही कुण्ड भरे हुए थे ॥

जम्बूद्वीपो हि सकलो नानाजनपदायुतः ।
राजन्नदृश्यतैकस्थो राज्ञस्तस्मिन् महाक्रतौ ॥

राजन् ! महाराज युधिष्ठिरके उस महान् यज्ञमें नाना जनपदोंसे युक्त सारा जम्बूद्वीप ही एकत्र हुआ-सा दिखायी देता था ॥

राजानः स्रग्विणस्तत्र सुमृष्टमणिकुण्डलाः ।
विविधान्यन्नपानानि लेह्यानि विविधानि च ।
तेषां नृपोपभोग्यानि ब्राह्मणेभ्यो ददुः स्म ते ॥

वहाँ विशुद्ध मणिमय कुण्डल तथा हार धारण किये नरेश ब्राह्मणोंको राजाओंके उपभोगमें आनेयोग्य नाना प्रकारके अन्न-पान और भाँति-भाँतिकी चटनी परोसते थे ॥

एतानि सततं भुक्त्वा तस्मिन् यज्ञे द्विजातयः ।
परां प्रीतिं ययुः सर्वे मोदमानास्तदा भृशम् ॥

उस यज्ञमें निरन्तर उपर्युक्त पदार्थ भोजन करके सब ब्राह्मण आनन्दमग्न हो बड़ी तृप्ति और प्रसन्नताका अनुभव करते थे ॥

एवं समुदितं सर्वं बहुगोधनधान्यवत् ।
यज्ञवाटं नृपा दृष्ट्वा विस्मयं परमं ययुः ॥

इस प्रकार बहुत-सी गायों तथा धन-धान्यसे सम्पन्न उस समृद्धिशाली यज्ञमण्डपको देखकर सब राजाओंको बड़ा आश्चर्य होता था ॥

ऋत्विजश्च यथाशास्त्रं राजसूयं महाक्रतुम् ।
पाण्डवस्य यथाकालं जुहुवुः सर्वयाजकाः ॥

ऋत्विजलोग शास्त्रीय विधिके अनुसार राजा युधिष्ठिरके उस राजसूय नामक महायज्ञका अनुष्ठान करते थे और समस्त याजक ठीक समयपर अग्निमें आहुतियाँ देते थे ॥

व्यासधौम्यादयः सर्वे विधिवद् षोडशर्त्विजः।
स्वस्वकर्माणि चक्रुस्ते पाण्डवस्य महाक्रतौ॥

व्यास और धौम्य आदि जो सोलह ऋत्विज थे, वे युधिष्ठिरके उस महायज्ञमें विधिपूर्वक अपने-अपने निश्चित कार्योंका सम्पादन करते थे॥

नाषडङ्गविदत्रासीत् सदस्यो नाबहुश्रुतः।
नाव्रतो नानुपाध्यायो नपापो नाक्षमो द्विजः॥

उस यज्ञमण्डपमें कोई भी सदस्य ऐसा नहीं था, जो वेदके छहों अङ्गोंका ज्ञाता, बहुश्रुत, व्रतशील, अध्यापक, पापरहित, क्षमाशील एवं सामर्थ्यशील न हो॥

न तत्र कृपणः कश्चिद् दरिद्रो न बभूव ह।
क्षुधितो दुःखितो वापि प्राकृतो वापि मानुषः॥

उस यज्ञमें कोई भी मनुष्य दीन, दरिद्र, दुखी, भूखा-प्यासा अथवा मूढ़ नहीं था॥

भोजनं भोजनार्थिभ्यो दापयामास सर्वदा।
सहदेवो महातेजाः सततं राजशासनात्॥

महातेजस्वी सहदेव महाराज युधिष्ठिरकी आज्ञासे भोजनार्थियोंको सदा भोजन दिलाया करते थे॥

सस्तरे कुशलाश्चापि सर्वकर्माणि याजकाः।
दिवसे दिवसे चक्रुर्यथाशास्त्रार्थचक्षुषः॥

शास्त्रोक्त अर्थपर दृष्टि रखनेवाले यज्ञकुशल याजक प्रतिदिन सब कार्योंको विधिवत् सम्पन्न करते थे॥

ब्राह्मणा वेदशास्त्रज्ञाः कथाश्चक्रुश्च सर्वदा।
रेमिरे च कथान्ते तु सर्वे तस्मिन् महाक्रतौ॥

वेद-शास्त्रोंके ज्ञाता ब्राह्मण वहाँ सदा कथा-प्रवचन किया करते थे। उस महायज्ञमें सब लोग कथाके अन्तमें बड़े सुखका अनुभव करते थे॥

देवैरन्यैश्च यक्षैश्च उरगैर्दिव्यमानुषैः।
विद्याधरगणैः कीर्णः पाण्डवस्य महात्मनः॥
स राजसूयः शुशुभे धर्मराजस्य धीमतः।

देवता, असुर, यक्ष, नाग, दिव्य मानव तथा विद्याधरगणोंसे भरा हुआ बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन महात्मा धर्मराजका वह राजसूययज्ञ बड़ी शोभा पाता था॥

गन्धर्वगणसंकीर्णः शोभितोऽप्सरसां गणैः॥
देवैर्मुनिगणैर्यक्षैर्देवलोक इवापरः।
स किम्पुरुषगीतैश्च किंनरैरुपशोभितः॥

वह यज्ञमण्डप गन्धर्वों, अप्सरा-समूहों, देवताओं, मुनिगणों तथा यक्षोंसे सुशोभित हो दूसरे देवलोकके समान जान पड़ता था। किम्पुरुषोंके गीत तथा किंनरगण उस स्थानकी शोभा बढ़ा रहे थे॥

नारदश्च जगौ तत्र तुम्बुरुश्च महाद्युतिः।
विश्वावसुश्चित्रसेनस्तथान्ये गीतकोविदाः॥
रमयन्ति स्म तान् सर्वान् यज्ञकर्मान्तरेष्वथ॥

नारद, महातेजस्वी तुम्बुरु, विश्वावसु, चित्रसेन तथा दूसरे गीतकुशल गन्धर्व वहाँ गीत गाकर यज्ञकार्योंके बीच-बीचमें अवकाश मिलनेपर सब लोगोंका मनोरंजन करते थे॥

इतिहासपुराणानि आख्यानानि च सर्वशः।
ऊचुर्वै शब्दशास्त्रज्ञा नित्यं कर्मान्तरेष्वथ॥

यज्ञसम्बन्धी कर्मोंके बीचमें अवसर मिलनेपर व्याकरणशास्त्रके ज्ञाता विद्वान् पुरुष इतिहास, पुराण तथा सब प्रकारके उपाख्यान सुनाया करते थे॥

भेर्यश्च मुरजाश्चैव मड्डुका गोमुखाश्च ये।
शृङ्गवंशाम्बुजाश्चैव श्रूयन्ते स्म सहस्रशः॥

वहाँ सहस्रों भेरी, मृदङ्ग, मड्डुक, गोमुख, शृङ्ग, वंशी और शंखोंके शब्द सुनायी पड़ते थे॥

लोकेऽस्मिन् सर्वविप्राश्च वैश्याः शूद्राश्च सर्वशः।
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णाः सादिमध्यान्तजास्तथा॥
नानादेशसमुद्भूतैर्नानाजातिभिरागतैः।
पर्याप्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने॥

इस जगत्में रहनेवाले समस्त ब्राह्मण, (क्षत्रिय,) वैश्य, शूद्र, सब प्रकारके म्लेच्छ तथा अग्रज, मध्यज और अन्त्यज आदि सभी वर्णोंके लोग उस यज्ञमें उपस्थित हुए थे। अनेक देशोंमें उत्पन्न विभिन्न जातिके लोगोंके शुभागमनसे युधिष्ठिरके उस राजभवनमें ऐसा जान पड़ता था कि यह समस्त लोक यहाँ उपस्थित हो गया है॥

भीष्मद्रोणादयः सर्वे कुरवः ससुयोधनाः।
वृष्णयश्च समग्राश्च पञ्चालाश्चापि सर्वशः।
यथार्हं सर्वकर्माणि चक्रुर्दासा इव क्रतौ॥

उस राजसूययज्ञमें भीष्म, द्रोण और दुर्योधन आदि समस्त कौरव, सारे वृष्णिवंशी तथा सम्पूर्ण पाञ्चाल भी सेवकोंकी भाँति यथायोग्य सभी कार्य अपने हाथों करते थे॥

एवं प्रवृत्तो यज्ञः स धर्मराजस्य धीमतः।
शुशुभे च महाबाहो सोमस्येव क्रतुर्यथा॥

महाबाहु जनमेजय! इस प्रकार बुद्धिमान् युधिष्ठिरका वह यज्ञ चन्द्रमाके राजसूययज्ञकी भाँति शोभा पाता था॥

वस्त्राणि कम्बलांश्चैव प्रावारांश्चैव सर्वदा।
निष्कहेमजभाण्डानि भूषणानि च सर्वशः।
प्रददौ तत्र सततं धर्मराजो युधिष्ठिरः॥

धर्मराज युधिष्ठिर उस यज्ञमें हर समय वस्त्र, कम्बल,

चादर, स्वर्णपदक, सोनेके बर्तन और सब प्रकारके आभूषणोंका दान करते रहते थे ॥

यानि तत्र महीपेभ्यो लब्धं वा धनमुत्तमम्।
तानि रत्नानि सर्वाणि विप्राणां प्रददौ तदा ॥

वहाँ राजाओंसे जो-जो रत्न अथवा उत्तम धन भेंटके रूपमें प्राप्त हुए, उन सबको युधिष्ठिरने ब्राह्मणोंकी सेवामें समर्पित कर दिया ॥

कोटीसहस्रं प्रददौ ब्राह्मणानां महात्मनाम्।

उन्होंने महात्मा ब्राह्मणोंको दक्षिणाके रूपमें सहस्र कोटि स्वर्णमुद्राएँ प्रदान कीं ॥

न करिष्यति तं लोके कश्चिदन्यो महीपतिः ॥
याजकाः सर्वकामैश्च सततं तत्पूर्धनैः।

उन्होंने संसारमें वह कार्य किया जिसे दूसरा कोई राजा नहीं कर सकेगा। यज्ञ करानेवाले ब्राह्मण सम्पूर्ण मनोवाञ्छित वस्तुएँ और प्रचुर धन पाकर सदाके लिये तृप्त हो गये ॥

व्यासं धौम्यं च प्रयतो नारदं च महामतिम् ॥
सुमन्तुं जैमिनिं पैलं वैशम्पायनमेव च।
याज्ञवल्क्यं कठं चैव कलापं च महौजसम् ॥
सर्वांश्च विप्रप्रवरान् पूजयामास सत्कृतान् ॥

फिर राजा युधिष्ठिरने व्यास, धौम्य, महामति नारद, सुमन्तु, जैमिनि, पैल, वैशम्पायन, याज्ञवल्क्य, कठ तथा महातेजस्वी कलाप—इन सब श्रेष्ठ ब्राह्मणोंका पूर्ण मनोयोगके साथ सत्कार एवं पूजन किया ॥

युधिष्ठिर उवाच

युष्मत्प्रभावात् प्राप्तोऽयं राजसूयो महाक्रतुः।
जनार्दनप्रभावाच्च सम्पूर्णो मे मनोरथः ॥

युधिष्ठिर उनसे बोले—महर्षियो ! आपलोगोंके प्रभावसे यह राजसूय महायज्ञ साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न हुआ। भगवान् श्रीकृष्णके प्रतापसे मेरा सारा मनोरथ पूर्ण हो गया ॥

वैशम्पायन उवाच

अथ यज्ञं समाप्यान्ते पूजयामास माधवम्।
बलदेवं च देवेशं भीष्माद्यांश्च कुरूत्तमान् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार यज्ञसमाप्तिके समय राजा युधिष्ठिरने अन्तमें लक्ष्मीपति भगवान् श्रीकृष्ण, देवेश्वर बलदेव तथा कुरुश्रेष्ठ भीष्म आदिका पूजन किया ॥

समापयामास च तं राजसूयं महाक्रतुम्।
तं तु यज्ञं महाबाहुरासमाप्तेर्जनार्दनः।
ररक्ष भगवाञ्छौरिः शार्ङ्गचक्रगदाधरः ॥ ३९ ॥

तदनन्तर उस राजसूय महायज्ञको विधिपूर्वक समाप्त किया। शङ्ख, चक्र और गदा धारण करनेवाले महाबाहु भगवान् श्रीकृष्णने आरम्भसे लेकर अन्ततक उस यज्ञकी रक्षा की ॥ ३९ ॥

ततस्त्ववभृथस्नातं धर्मात्मानं युधिष्ठिरम्।
समस्तं पार्थिवं क्षत्रमुपगम्येदमब्रवीत् ॥ ४० ॥

तदनन्तर धर्मात्मा युधिष्ठिर जब अवभृथस्नान कर चुके, उस समय समस्त क्षत्रियराजाओंका समुदाय उनके पास जाकर बोला—॥ ४० ॥

दिष्ट्या वर्धसि धर्मज्ञ साम्राज्यं प्राप्तवानसि।
आजमीढाजमीढानां यशः संवर्धितं त्वया ॥ ४१ ॥
कर्मणैतेन राजेन्द्र धर्मश्च सुमहान् कृतः।
आपृच्छामो नरव्याघ्र सर्वकामैः सुपूजिताः ॥ ४२ ॥

'धर्मज्ञ ! आपका अभ्युदय हो रहा है, यह बड़े सौभाग्यकी बात है। आपने सम्राट्‌का पद प्राप्त कर लिया। अजमीढ-कुलनन्दन राजाधिराज ! आपने इस कर्मद्वारा अजमीढवंशी क्षत्रियोंके यशका विस्तार तो किया ही है, महान् धर्मका भी सम्पादन किया है। नरव्याघ्र ! आपने हमारे लिये सब प्रकारके अभीष्ट पदार्थ सुलभ करके हमारा बड़ा सम्मान किया है। अब हम आपसे जानेकी अनुमति लेना चाहते हैं ॥ ४१-४२ ॥

स्वराष्ट्राणि गमिष्यामस्तदनुज्ञातुमर्हसि।
श्रुत्वा तु वचनं राज्ञां धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ४३ ॥
यथार्हं पूज्य नृपतीन् भ्रातॄन् सर्वानुवाच ह।
राजानः सर्व एवैते प्रत्यासान् समुपागताः ॥ ४४ ॥
प्रस्थिताः स्वानि राष्ट्राणि मामापृच्छ्य परंतपाः।
अनुव्रजत भद्रं वो विषयान्तं नृपोत्तमान् ॥ ४५ ॥

'हम अपने-अपने राष्ट्रको जायँगे, आप हमें आज्ञा दें।' राजाओंका यह वचन सुनकर धर्मराज युधिष्ठिरने उन पूजनीय नरेशोंका यथायोग्य सत्कार करके सब भाइयोंसे कहा—'ये सभी राजा प्रेमसे ही हमारे यहाँ पधारे थे। ये परंतप भूपाल अब मुझसे पूछकर अपने राष्ट्रको जानेके लिये उद्यत हैं। तुमलोगोंका भला हो। तुमलोग अपने राज्यकी सीमातक आदरपूर्वक इन श्रेष्ठ नरपतियोंको पहुँचा आओ' ॥ ४३-४५ ॥

भ्रातुर्वचनमाज्ञाय पाण्डवा धर्मचारिणः।
यथार्हं नृपतीन् सर्वानेकैकं समनुव्रजन् ॥ ४६ ॥

भाईकी बात मानकर वे धर्मात्मा पाण्डव एक-एक करके यथायोग्य सभी राजाओंके साथ गये ॥ ४६ ॥

विराटमन्वयात् तूर्णं धृष्टद्युम्नः प्रतापवान्।
धनंजयो यज्ञसेनं महात्मानं महारथम् ॥ ४७ ॥

प्रतापी धृष्टद्युम्न तुरंत ही राजा विराटके साथ गया। धनंजयने महारथी महात्मा द्रुपदका अनुसरण किया ॥ ४७ ॥

भीष्मं च धृतराष्ट्रं च भीमसेनो महाबलः।
द्रोणं तु ससुतं वीरं सहदेवो युधाम्पतिः ॥ ४८ ॥

महाबली भीमसेन भीष्म और धृतराष्ट्रके साथ गये। योद्धाओंमें श्रेष्ठ सहदेवने द्रोणाचार्य तथा उनके वीर पुत्र अश्वत्थामाको पहुँचाया ॥ ४८ ॥

नकुलः सुबलं राजन् सहपुत्रं समन्वयात्।
द्रौपदेयाः ससौभद्राः पर्वतीयान् महारथान् ॥ ४९ ॥

राजन्! सुबल और उनके पुत्रके साथ नकुल गये। द्रौपदीके पाँच पुत्रों तथा अभिमन्युने पर्वतीय महारथियोंको अपने राज्यकी सीमातक पहुँचाया ॥ ४९ ॥

अन्वगच्छंस्तथैवान्यान् क्षत्रियान् क्षत्रियर्षभाः।
एवं सुपूजिताः सर्वे जग्मुर्विप्राः सहस्रशः ॥ ५० ॥
गतेषु पार्थिवेन्द्रेषु सर्वेषु ब्राह्मणेषु च।
युधिष्ठिरमुवाचेदं वासुदेवः प्रतापवान् ॥ ५१ ॥

इसी प्रकार अन्य क्षत्रियशिरोमणियोंने दूसरे दूसरे क्षत्रिय राजाओंका अनुगमन किया। इसी तरह सभी ब्राह्मण भी अत्यन्त पूजित हो सहस्रोंकी संख्यामें वहाँसे विदा हुए। राजाओं तथा ब्राह्मणोंके चले जानेपर प्रतापी भगवान् श्रीकृष्णने युधिष्ठिरसे कहा—॥ ५०-५१ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि द्वारकां कुरुनन्दन।
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं दिष्ट्या त्वं प्राप्तवानसि ॥ ५२ ॥

'कुरुनन्दन! मैं आपकी आज्ञा चाहता हूँ, अब मैं द्वारकापुरीको जाऊँगा। सौभाग्यसे आपने सब यज्ञोंमें उत्तम राजसूयका सम्पादन कर लिया ॥ ५२ ॥

तमुवाचैवमुक्तस्तु धर्मराजो जनार्दनम्।
तव प्रसादाद् गोविन्द प्राप्तः क्रतुवरो मया ॥ ५३ ॥

उनके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिर जनार्दनसे बोले—'गोविन्द! आपकी ही कृपासे मैंने यह श्रेष्ठ यज्ञ सम्पन्न किया है ॥ ५३ ॥

क्षत्रं समग्रमपि च त्वत्प्रसादाद् वशे स्थितम्।
उपादाय बलिं मुख्यं मामेव समुपस्थितम् ॥ ५४ ॥

'तथा सारा क्षत्रियमण्डल भी आपके ही प्रसादसे मेरे अधीन हुआ और उत्तमोत्तम रत्नोंकी भेंट ले मेरे पास आया॥

कथं त्वद्गमनार्थं मे वाणी वितरतेऽनघ।
न ह्यहं त्वामृते वीर रतिं प्राप्नोमि कर्हिचित् ॥ ५५ ॥

'अनघ! आपको जानेके लिये मेरी वाणी कैसे कह सकती है? वीर! मैं आपके बिना कभी प्रसन्न नहीं रह सकूँगा ॥

अवश्यं चैव गन्तव्या भवता द्वारकापुरी।
एवमुक्तः स धर्मात्मा युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५६ ॥
अभिगम्याब्रवीत् प्रीतः पृथां पृथुयशा हरिः।
साम्राज्यं समनुप्राप्ताः पुत्रास्तेऽद्य पितृष्वसः ॥ ५७ ॥
सिद्धार्था वसुमन्तश्च सा त्वं प्रीतिमवाप्नुहि।
अनुज्ञातस्त्वया चाहं द्वारकां गन्तुमुत्सहे ॥ ५८ ॥

'परंतु आपका द्वारकापुरी जाना भी आवश्यक ही है।' उनके ऐसा कहनेपर महायशस्वी धर्मात्मा श्रीहरि युधिष्ठिरको साथ ले बुआ कुन्तीके पास गये और प्रसन्नतापूर्वक बोले—'बुआजी! तुम्हारे पुत्रोंने अब साम्राज्य प्राप्त कर लिया, उनका मनोरथ पूर्ण हो गया। वे सब-के-सब धन तथा रत्नोंसे सम्पन्न हैं। अब तुम इनके साथ प्रसन्नतापूर्वक रहो। यदि तुम्हारी आज्ञा हो तो मैं द्वारका जाना चाहता हूँ' ॥ ५६—५८ ॥

सुभद्रां द्रौपदीं चैव सभाजयत केशवः।
निष्क्रम्यान्तःपुरात् तस्माद् युधिष्ठिरसहायवान् ॥ ५९ ॥

कुन्तीकी आज्ञा ले श्रीकृष्ण सुभद्रा और द्रौपदीसे भी मिले और मीठे वचनोंसे उन दोनोंको प्रसन्न किया। तत्पश्चात् वे युधिष्ठिरके साथ अन्तःपुरसे बाहर निकले ॥ ५९ ॥

स्नातश्च कृतजप्यश्च ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च।
ततो मेघवपुःप्रख्यं स्यन्दनं च सुकल्पितम् ॥
योजयित्वा महाबाहुर्दारुकः समुपस्थितः ॥ ६० ॥
उपस्थितं रथं दृष्ट्वा तार्क्ष्यप्रवरकेतनम्।
प्रदक्षिणमुपावृत्य समारुह्य महामनाः ॥ ६१ ॥
प्रययौ पुण्डरीकाक्षस्ततो द्वारवतीं पुरीम् ॥ ६२ ॥

फिर स्नान और जप करके उन्होंने ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराया। इसके बाद महाबाहु दारुक मेघके समान नीले रंगका सुन्दर रथ जोतकर उनकी सेवामें उपस्थित हुआ। गरुडध्वजसे सुशोभित उस सुन्दर रथको उपस्थित देख महामना कमलनयन श्रीकृष्णने उसकी दक्षिणावर्त प्रदक्षिणा की और उसपर आरूढ़ हो वे द्वारकापुरीकी ओर चल पड़े ॥

(सात्यकिः कृतवर्मा च रथमारुह्य सत्वरौ।
वीजयामासतुस्तत्र चामराभ्यां हरिं तदा ॥
बलदेवश्च देवेशो यादवाश्च सहस्रशः।
प्रययू राजवत् सर्वे धर्मपुत्रेण पूजिताः।
ततः स सम्मतं राजा हित्वा सौवर्णमासनम् ॥)
तं पद्भ्यामनुवव्राज धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् वासुदेवं महाबलम् ॥ ६३ ॥

सात्यकि और कृतवर्मा शीघ्रतापूर्वक उस रथपर आरूढ़ हो श्रीहरिकी सेवाके लिये चँवर डुलाने लगे। देवेश्वर बलदेवजी तथा सहस्रों यदुवंशी धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे पूजित हो राजाकी भाँति वहाँसे विदा हुए। तदनन्तर सोनेके श्रेष्ठ सिंहासनको छोड़कर भाइयोंसहित श्रीमान् धर्मराज युधिष्ठिर पैदल ही महाबली भगवान् वासुदेवके पीछे-पीछे चलने लगे॥

ततो मुहूर्तं संगृह्य स्यन्दनप्रवरं हरिः।
अब्रवीत् पुण्डरीकाक्षः कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ६४ ॥

तब कमललोचन भगवान् श्रीहरिने दो घड़ीतक अपने श्रेष्ठ रथको रोककर कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे कहा—॥ ६४ ॥

अप्रमत्तः स्थितो नित्यं प्रजाः पाहि विशाम्पते।
पर्जन्यमिव भूतानि महाद्रुममिव द्विजाः ॥६५॥
बान्धवास्त्वोपजीवन्तु सहस्राक्षमिवामराः।
कृत्वा परस्परेणैवं संविदं कृष्णपाण्डवौ ॥६६॥
अन्योन्यं समनुज्ञाप्य जग्मतुः स्वगृहान् प्रति।

'राजन्! आप सदा सावधान रहकर प्रजाजनोंके पालनमें लगे रहें। जैसे सब प्राणी मेघको, पक्षी महान् वृक्षको और सम्पूर्ण देवता इन्द्रको अपने जीवनका आधार मानकर उनका आश्रय लेते हैं, उसी प्रकार सभी बन्धु-बान्धव जीवन-निर्वाहके लिये आपका आश्रय लें।' श्रीकृष्ण और युधिष्ठिर आपसमें इस प्रकार बातें करके एक दूसरेकी आज्ञा ले अपने-अपने स्थानको चल दिये ॥ ६५-६६½ ॥

गते द्वारवतीं कृष्णे सात्वतप्रवरे नृप ॥६७॥
एको दुर्योधनो राजा शकुनिश्चापि सौबलः।
तस्यां सभायां दिव्यायामूषतुस्तौ नरर्षभौ ॥६८॥

राजन्! यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णके द्वारका चले जानेपर भी राजा दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ये दोनों नरश्रेष्ठ उस दिव्य सभाभवनमें ही रहे ॥ ६७-६८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि शिशुपालवधपर्वणि शिशुपालवधे पञ्चचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत शिशुपालवधपर्वमें शिशुपालवधविषयक पैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४२ श्लोक मिलाकर कुल ११० श्लोक हैं)

(द्यूतपर्व)

षट्चत्वारिंशोऽध्यायः

व्यासजीकी भविष्यवाणीसे युधिष्ठिरकी चिन्ता और समत्वपूर्ण बर्ताव करनेकी प्रतिज्ञा

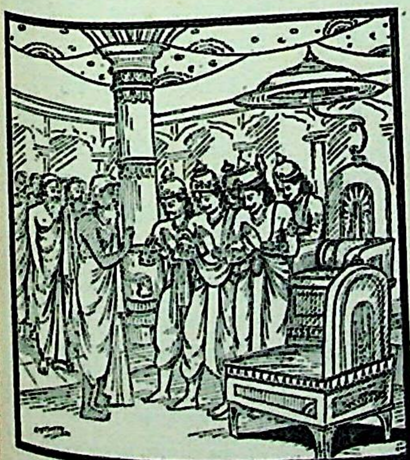
वैशम्पायन उवाच

समाप्ते राजसूये तु क्रतुश्रेष्ठे सुदुर्लभे।
शिष्यैः परिवृतो व्यासः पुरस्तात् समपद्यत ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यज्ञोंमें श्रेष्ठ परम दुर्लभ राजसूययज्ञके समाप्त हो जानेपर शिष्योंसे घिरे हुए भगवान् व्यास राजा युधिष्ठिरके पास आये ॥ १ ॥

सोऽभ्ययादासनात् तूर्णं भ्रातृभिः परिवारितः।
पाद्येनासनदानेन पितामहमपूजयत् ॥ २ ॥

उन्हें देखकर भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर तुरंत आसनसे उठकर खड़े हो गये और आसन एवं पाद्य आदि समर्पण करके उन्होंने पितामह व्यासजीका यथावत् पूजन किया॥



अथोपविश्य भगवान् काञ्चने परमासने।
आस्यतामिति चोवाच धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥

तत्पश्चात् सुवर्णमय उत्तम आसनपर बैठकर भगवान् व्यासने धर्मराज युधिष्ठिरसे कहा—'बैठ जाओ' ॥ ३ ॥

अथोपविष्टं राजानं भ्रातृभिः परिवारितम्।
उवाच भगवान् व्यासस्तत्तद्वाक्यविशारदः ॥ ४ ॥

भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरके बैठ जानेपर बातचीतमें कुशल भगवान् व्यासने उनसे कहा—॥ ४ ॥

दिष्ट्या वर्धसि कौन्तेय साम्राज्यं प्राप्य दुर्लभम्।
वर्धिताः कुरवः सर्वे त्वया कुरुकुलोद्वह ॥ ५ ॥

'कुन्तीनन्दन! बड़े आनन्दकी बात है कि तुम परम दुर्लभ सम्राट्का पद पाकर सदा उन्नतिशील हो रहे हो। कुरुकुलका भार वहन करनेवाले नरेश! तुमने समस्त कुरुवंशियोंको समृद्धिशाली बना दिया ॥ ५ ॥

आपृच्छे त्वां गमिष्यामि पूजितोऽस्मि विशाम्पते।
एवमुक्तः स कृष्णेन धर्मराजो युधिष्ठिरः ॥ ६ ॥
अभिवाद्योपसंगृह्य पितामहमथाब्रवीत्।

'राजन्! अब मैं जाऊँगा। इसके लिये तुम्हारी अनुमति चाहता हूँ। तुमने मेरा अच्छी तरह सम्मान किया है।'

महात्मा कृष्णद्वैपायन व्यासके ऐसा कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिरने उन पितामहके दोनों चरणोंको पकड़कर प्रणाम किया और कहा ॥ ६½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

संशयो द्विपदां श्रेष्ठ ममोत्पन्नः सुदुर्लभः ॥ ७ ॥
तस्य नान्योऽस्ति वक्ता वै त्वामृते द्विजपुङ्गव ।

युधिष्ठिर बोले—नरश्रेष्ठ ! मेरे मनमें एक भारी संशय उत्पन्न हो गया है । विप्रवर ! आपके सिवा दूसरा कोई ऐसा नहीं है, जो उसका समाधान कर सके ॥ ७½ ॥

उत्पातांस्त्रिविधान् प्राह नारदो भगवानृषिः ॥ ८ ॥
दिव्यांश्चैवान्तरिक्षांश्च पार्थिवांश्च पितामह ।
अपि चैद्यस्य पतनाच्छन्नमौत्पातिकं महत् ॥ ९ ॥

पितामह ! देवर्षि भगवान् नारदने स्वर्ग, अन्तरिक्ष और पृथ्वीविषयक तीन प्रकारके उत्पात बताये हैं । क्या शिशुपालके मारे जानेसे वे महान् उत्पात शान्त हो गये ? ॥ ८-९ ॥

वैशम्पायन उवाच

राज्ञस्तु वचनं श्रुत्वा पराशरसुतः प्रभुः ।
कृष्णद्वैपायनो व्यास इदं वचनमब्रवीत् ॥१०॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! राजा युधिष्ठिरका यह प्रश्न सुनकर पराशरनन्दन कृष्णद्वैपायन भगवान् व्यासने इस प्रकार कहा—॥ १० ॥

त्रयोदश समा राजन्नुत्पातानां फलं महत् ।
सर्वक्षत्रविनाशाय भविष्यति विशाम्पते ॥११॥

'राजन् ! उत्पातोंका महान् फल तेरह वर्षोंतक हुआ करता है । इस समय जो उत्पात प्रकट हुआ था, वह समस्त क्षत्रियोंका विनाश करनेवाला होगा ॥ ११ ॥

त्वामेकं कारणं कृत्वा कालेन भरतर्षभ ।
समेतं पार्थिवं क्षत्रं क्षयं यास्यति भारत ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥१२॥

'भरतकुलतिलक ! एकमात्र तुम्हींको निमित्त बनाकर यथासमय समस्त भूमिपालोंका समुदाय आपसमें लड़कर नष्ट हो जायगा । भारत ! क्षत्रियोंका यह विनाश दुर्योधनके अपराधसे तथा भीमसेन और अर्जुनके पराक्रमद्वारा सम्पन्न होगा ॥

स्वप्ने द्रक्ष्यसि राजेन्द्र क्षपान्ते त्वं वृषध्वजम् ।
नीलकण्ठं भवं स्थाणुं कपालिं त्रिपुरान्तकम् ॥१३॥
उग्रं रुद्रं पशुपतिं महादेवमुमापतिम् ।
हरं शर्वं वृषं शूलं पिनाकिं कृत्तिवाससम् ॥१४॥

'राजेन्द्र ! तुम रातके अन्तमें स्वप्नमें उन वृषभध्वज भगवान् शंकरका दर्शन करोगे, जो नीलकण्ठ, भव, स्थाणु, कपाली, त्रिपुरान्तक, उग्र, रुद्र, पशुपति, महादेव, उमापति, हर, शर्व, वृष, शूली, पिनाकी तथा कृत्तिवासा कहलाते हैं ॥१३-१४॥

कैलासकूटप्रतिमं वृषभेऽवस्थितं शिवम् ।
निरीक्षमाणं सततं पितृराजाश्रितां दिशम् ॥१५॥

उन भगवान् शिवकी कान्ति कैलासशिखरके समान उज्ज्वल होगी । वे वृषभपर आरूढ़ हुए सदा दक्षिण दिशाकी ओर देख रहे होंगे ॥ १५ ॥

एवमीदृशकं स्वप्नं द्रक्ष्यसि त्वं विशाम्पते ।
मा तत्कृते ह्यनुध्याहि कालो हि दुरतिक्रमः ॥१६॥

'राजन् ! तुम्हें इस प्रकार ऐसा स्वप्न दिखायी देगा, किंतु उसके लिये तुम्हें चिन्ता नहीं करनी चाहिये; क्योंकि काल सबके लिये दुर्लङ्घ्य है ॥ १६ ॥

स्वस्ति तेऽस्तु गमिष्यामि कैलासं पर्वतं प्रति ।
अप्रमत्तः स्थितो दान्तः पृथिवीं परिपालय ॥१७॥

'तुम्हारा कल्याण हो, अब मैं कैलासपर्वतपर जाऊँगा । तुम सावधान एवं जितेन्द्रिय होकर पृथ्वीका पालन करो' ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा स भगवान् कैलासं पर्वतं ययौ ।
कृष्णद्वैपायनो व्यासः सह शिष्यैः श्रुतानुगैः ॥१८॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर भगवान् कृष्ण द्वैपायन व्यास वेदमार्गका अनुसरण करनेवाले अपने शिष्योंके साथ कैलासपर्वतपर चले गये ॥ १८ ॥

गते पितामहे राजा चिन्ताशोकसमन्वितः ।
निःश्वसन्नुष्णमसकृत् तमेवार्थं विचिन्तयन् ॥१९॥
कथं तु दैवं शक्येत पौरुषेण प्रबाधितुम् ।
अवश्यमेव भविता यदुक्तं परमर्षिणा ॥२०॥

अपने पितामह व्यासजीके चले जानेपर चिन्ता और शोकसे युक्त राजा युधिष्ठिर बारंबार गरम साँसें लेते हुए उसी बातका चिन्तन करते रहे । अहो ! दैवका विधान पुरुषार्थसे किस प्रकार टाला जा सकता है ? महर्षिने जो कुछ कहा है, वह निश्चय ही होगा ॥ १९-२० ॥

ततोऽब्रवीन्महातेजाः सर्वान् भ्रातॄन् युधिष्ठिरः ।
श्रुतं वै पुरुषव्याघ्रा यन्मां द्वैपायनोऽब्रवीत् ॥२१॥
तदा तद्वचनं श्रुत्वा मरणे निश्चिता मतिः ।
सर्वक्षत्रस्य निधने यद्यहं हेतुरीप्सितः ॥२२॥
कालेन निर्मितस्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः ।
एवं ब्रुवन्तं राजानं फाल्गुनः प्रत्यभाषत ॥२३॥

यही सोचते-सोचते महातेजस्वी युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे कहा—'पुरुषसिंहो ! महर्षि व्यासने मुझसे जो कहा है, उसे तुमलोगोंने सुना है न ? उनकी वह बात सुनकर मैंने मरनेका निश्चय कर लिया है । तात ! यदि समस्त क्षत्रियोंके विनाशमें विधाताने मुझे ही निमित्त बनानेकी इच्छा की है, कालने मुझे ही इस अनर्थका कारण बनाया है तो

मेरे जीवनका क्या प्रयोजन है ?' राजाकी ऐसी बातें सुनकर अर्जुनने उत्तर दिया—॥ २१-२३ ॥

मा राजन् कश्मलं घोरं प्रविशो बुद्धिनाशनम्।
सम्प्रधार्य महाराज यत् क्षेमं तत् समाचर ॥ २४ ॥

'राजन्! इस भयंकर मोहमें न पड़िये, यह बुद्धिको नष्ट करनेवाला है। महाराज! अच्छी तरह सोच-विचारकर आपको जो कल्याणप्रद जान पड़े, वह कीजिये' ॥ २४ ॥

ततोऽब्रवीत् सत्यधृतिर्भ्रातॄन् सर्वान् युधिष्ठिरः।
द्वैपायनस्य वचनं ह्येवं समनुचिन्तयन् ॥ २५ ॥

तब सत्यवादी युधिष्ठिरने अपने सब भाइयोंसे व्यासजीकी बातोंपर विचार करते हुए कहा—॥ २५ ॥

अद्यप्रभृति भद्रं वः प्रतिज्ञां मे निबोधत।
त्रयोदश समास्तात को ममार्थोऽस्ति जीवतः ॥ २६ ॥

'तात! तुमलोगोंका कल्याण हो, भाइयोंके विनाशका कारण बननेके लिये मुझे तेरह वर्षोंतक जीवित रहनेसे क्या काम ! यदि जीना ही है तो आजसे मेरी यह प्रतिज्ञा सुन लो—॥ २६ ॥

न प्रवक्ष्यामि परुषं भ्रातॄनन्यांश्च पार्थिवान्।
स्थितो निदेशे ज्ञातीनां योक्ष्ये तत् समुदाहरन् ॥ २७ ॥

'मैं अपने भाइयों तथा दूसरे राजाओंसे कभी कड़वी बात नहीं बोलूँगा। बन्धु-बान्धवोंकी आज्ञामें रहकर प्रसन्नतापूर्वक उनकी मुँहमाँगी वस्तुएँ लानेमें संलग्न रहूँगा' ॥ २७ ॥

एवं मे वर्तमानस्य स्वसुतेष्वितरेषु च।
भेदो न भविता लोके भेदमूलो हि विग्रहः ॥ २८ ॥

'इस प्रकार समतापूर्ण बर्ताव करते हुए मेरा अपने पुत्रों तथा दूसरोंके प्रति भेदभाव न होगा; क्योंकि जगत्में लड़ाई-झगड़ेका मूल कारण भेदभाव ही है ॥ २८ ॥

विग्रहं दूरतो रक्षन् प्रियाण्येव समाचरन्।
वाच्यतां न गमिष्यामि लोकेषु मनुजर्षभाः ॥ २९ ॥

'नररत्नो! विग्रह या वैर-विरोधको अपनेसे दूर ही रखकर सबका प्रिय करते हुए मैं संसारमें निन्दाका पात्र नहीं हो सकूँगा ॥ २९ ॥

भ्रातुर्ज्येष्ठस्य वचनं पाण्डवाः संनिशम्य तत्।
तमेव समवर्तन्त धर्मराजहिते रताः ॥ ३० ॥

अपने बड़े भाईकी बात सुनकर सब पाण्डव उन्हींके हितमें तत्पर हो सदा उनका ही अनुसरण करने लगे ॥ ३० ॥

संसत्सु समयं कृत्वा धर्मराड् भ्रातृभिः सह।
पितॄंस्तर्प्य यथान्यायं देवताश्च विशाम्पते ॥ ३१ ॥

राजन्! धर्मराजने अपने भाइयोंके साथ भरी सभामें यह प्रतिज्ञा करके देवताओं तथा पितरोंका विधिपूर्वक तर्पण किया ॥ ३१ ॥

कृतमङ्गलकल्याणो भ्रातृभिः परिवारितः।
गतेषु क्षत्रियेन्द्रेषु सर्वेषु भरतर्षभ ॥ ३२ ॥
युधिष्ठिरः सहामात्यः प्रविवेश पुरोत्तमम्।
दुर्योधनो महाराज शकुनिश्चापि सौबलः।
सभायां रमणीयायां तत्रैवास्ते नराधिप ॥ ३३ ॥

भरतश्रेष्ठ जनमेजय! समस्त क्षत्रियोंके चले जानेपर कल्याणमय माङ्गलिक कृत्य पूर्ण करके भाइयोंसे घिरे हुए राजा युधिष्ठिरने मन्त्रियोंके साथ अपने उत्तम नगरमें प्रवेश किया। महाराज! दुर्योधन तथा सुबलपुत्र शकुनि ये दोनों उस रमणीय सभामें ही रह गये ॥ ३२-३३ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसमये षट्चत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिर-प्रतिज्ञाविषयक छियालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४६ ॥

सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः

दुर्योधनका मयनिर्मित सभाभवनको देखना और पग-पगपर भ्रमके कारण उपहासका पात्र बनना तथा युधिष्ठिरके वैभवको देखकर उसका चिन्तित होना

वैशम्पायन उवाच

वसन् दुर्योधनस्तस्यां सभायां पुरुषर्षभ।
शनैर्ददर्श तां सर्वां सभां शकुनिना सह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—नरश्रेष्ठ जनमेजय! राजा दुर्योधनने उस सभाभवनमें निवास करते समय शकुनिके साथ धीरे-धीरे उस सारी सभाका निरीक्षण किया ॥ १ ॥

तस्यां दिव्यानभिप्रायान् ददर्श कुरुनन्दनः।
न दृष्टपूर्वा ये तेन नगरे नागसाह्वये ॥ २ ॥

कुरुनन्दन दुर्योधन उस सभामें उन दिव्य अभिप्रायों (दृश्यों) को देखने लगा, जिन्हें उसने हस्तिनापुरमें पहले कभी नहीं देखा था ॥ २ ॥

स कदाचित् सभामध्ये धार्तराष्ट्रो महीपतिः।
स्फाटिकं स्थलमासाद्य जलमित्यभिशङ्कया ॥ ३ ॥

स्ववस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान् बुद्धिमोहितः।
दुर्मना विमुखश्चैव परिचक्राम तां सभाम् ॥ ४ ॥

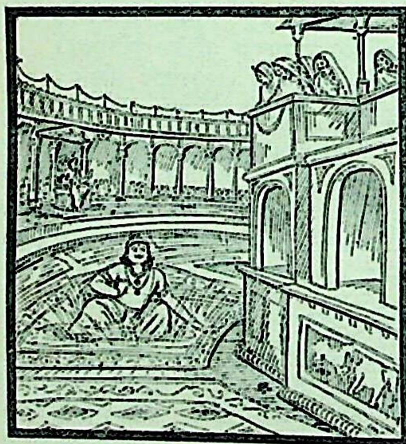
एक दिनकी बात है, राजा दुर्योधन उस सभाभवनमें घूमता हुआ स्फटिक-मणिमय स्थलपर जा पहुँचा और वहाँ जलकी आशंकासे उसने अपना वस्त्र ऊपर उठा लिया। इस प्रकार बुद्धि-मोह हो जानेसे उसका मन उदास हो गया और वह उस स्थानसे लौटकर सभामें दूसरी ओर चक्कर लगाने लगा ॥ ३-४ ॥

ततः स्थले निपतितो दुर्मना व्रीडितो नृपः।
निःश्वसन् विमुखश्चापि परिचक्राम तां सभाम्॥ ५ ॥

तदनन्तर वह स्थलमें ही गिर पड़ा, इससे वह मन-ही-मन दुखी और लज्जित हो गया तथा वहाँसे हटकर लम्बी साँसें लेता हुआ सभाभवनमें घूमने लगा ॥ ५ ॥

ततः स्फाटिकतोयां वै स्फाटिकाम्बुजशोभिताम्।
वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले ॥ ६ ॥

तत्पश्चात् स्फटिकमणिके समान स्वच्छ जलसे भरी और स्फटिकमणिमय कमलोंसे सुशोभित बावलीको स्थल मानकर वह वस्त्रसहित जलमें गिर पड़ा ॥ ६ ॥



जले निपतितं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः।
जहास जहसुश्चैव किंकराश्च सुयोधनम् ॥ ७ ॥
वासांसि च शुभान्यस्मै प्रददू राजशासनात्।
तथागतं तु तं दृष्ट्वा भीमसेनो महाबलः ॥ ८ ॥
अर्जुनश्च यमौ चोभौ सर्वे ते प्राहसंस्तदा।
नामर्षयत् ततस्तेषामवहासममर्षणः ॥ ९ ॥

उसे जलमें गिरा देख महाबली भीमसेन हँसने लगे। उनके सेवकोंने भी दुर्योधनकी हँसी उड़ायी तथा राजाज्ञासे उन्होंने दुर्योधनको सुन्दर वस्त्र दिये। दुर्योधनकी यह दुरवस्था देख महाबली भीमसेन, अर्जुन और नकुल-सहदेव सभी उस समय जोर-जोरसे हँसने लगे। दुर्योधन स्वभावसे ही अमर्षशील था; अतः वह उनका उपहास न सह सका ॥ ७-९ ॥

आकारं रक्षमाणस्तु न स तान् समुदैक्षत।
पुनर्वसनमुत्क्षिप्य प्रतरिष्यन्निव स्थलम् ॥ १० ॥

वह अपने चेहरेके भावको छिपाये रखनेके लिये उनकी ओर दृष्टि नहीं डालता था। फिर स्थलमें ही जलका भ्रम हो जानेसे वह कपड़े उठाकर इस प्रकार चलने लगा; मानो तैरनेकी तैयारी कर रहा हो ॥ १० ॥

आरुरोह ततः सर्वे जहसुश्च पुनर्जनाः।
द्वारं तु पिहिताकारं स्फाटिकं प्रेक्ष्य भूमिपः।
प्रविशन्नाहतो मूर्ध्नि व्याघूर्णित इव स्थितः ॥ ११ ॥

इस प्रकार जब वह ऊपर चढ़ा, तब सब लोग उसकी भ्रान्तिपर हँसने लगे। उसके बाद राजा दुर्योधनने एक स्फटिकमणिका बना हुआ दरवाजा देखा, जो वास्तवमें बंद था, तो भी खुला दीखता था। उसमें प्रवेश करते ही उसका सिर टकरा गया और उसे चक्कर-सा आ गया॥११॥

तादृशं च परं द्वारं स्फाटिकोरुकपाटकम्।
विघट्टयन् कराभ्यां तु निष्क्रम्याग्रे पपात ह ॥ १२ ॥

ठीक उसी तरहका एक दूसरा दरवाजा मिला, जिसमें स्फटिकमणिके बड़े-बड़े किंवाड़ लगे थे। यद्यपि वह खुला था, तो भी दुर्योधनने उसे बंद समझकर उसपर दोनों हाथोंसे धक्का देना चाहा। किंतु धक्केसे वह स्वयं द्वारके बाहर निकलकर गिर पड़ा॥ १२ ॥

द्वारं तु वितताकारं समापेदे पुनश्च सः।
तद्वृत्तं चेति मन्वानो द्वारस्थानादुपारमत् ॥ १३ ॥

आगे जानेपर उसे एक बहुत बड़ा फाटक और मिला; परंतु कहीं पिछले दरवाजोंकी भाँति यहाँ भी कोई अप्रिय घटना न घटित हो इस भयसे वह उस दरवाजेके इधरसे ही लौट आया ॥ १३ ॥

एवं प्रलम्भान् विविधान् प्राप्य तत्र विशाम्पते।
पाण्डवेयाभ्यनुज्ञातस्ततो दुर्योधनो नृपः ॥ १४ ॥
अप्रहृष्टेन मनसा राजसूये महाक्रतौ।
प्रेक्ष्य तामद्भुतामृद्धिं जगाम गजसाह्वयम् ॥ १५ ॥

राजन्! इस प्रकार बार-बार धोखा खाकर राजा दुर्योधन राजसूय महायज्ञमें पाण्डवोंके पास आयी हुई अद्भुत समृद्धिपर दृष्टि डालकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी आज्ञा ले अप्रसन्न मनसे हस्तिनापुरको चला गया ॥ १४-१५ ॥

पाण्डवश्रीप्रतप्तस्य ध्यायमानस्य गच्छतः।
दुर्योधनस्य नृपतेः पापा मतिरजायत ॥ १६ ॥

पाण्डवोंकी राजलक्ष्मीसे संतप्त हो उसीका चिन्तन करते

[हो]नेवाले राजा दुर्योधनके मनमें पापपूर्ण विचारका उदय [हु]आ ॥ १६ ॥

[पाण्डवा]न् सुमनसो दृष्ट्वा पार्थिवांश्च वशानुगान् ।
[कृत्]स्नं चापि हितं लोकमाकुमारं कुरूद्वह ॥ १७ ॥
[म]हिमानं परं चापि पाण्डवानां महात्मनाम् ।
[दुर्यो]धनो धार्तराष्ट्रो विवर्णः समपद्यत ॥ १८ ॥

कुरुश्रेष्ठ ! यह देखकर कि कुन्तीके पुत्रोंका मन प्रसन्न है, [भूम]ण्डलके सब नरेश उनके वशमें हैं तथा बच्चोंसे लेकर बूढ़ोंतक [सारा] जगत् उनका हितैषी है, इस प्रकार महात्मा पाण्डवोंकी [महि]मा अत्यन्त बढ़ी हुई देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनका [मुँह] फीका पड़ गया ॥ १७-१८ ॥

[स] तु गच्छन्ननेकाग्रः सभामेकोऽन्वचिन्तयत् ।
[श्रियं] च तामनुपमां धर्मराजस्य धीमतः ॥ १९ ॥

रास्तेमें जाते समय वह नाना प्रकारके विचारोंसे चिन्तातुर [था]। वह अकेला ही परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी [अलौ]किक सभा तथा अनुपम लक्ष्मीके विषयमें सोच [रहा] था ॥ १९ ॥

[प्रम]त्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रो दुर्योधनस्तदा ।
[ना]भ्यभाषत् सुबलजं भाषमाणं पुनः पुनः ॥ २० ॥

उस समय धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन उन्मत्त-सा हो रहा था । [श]कुनिके बार-बार पूछनेपर भी उसे कोई उत्तर नहीं [दे र]हा था ॥ २० ॥

[अने]काग्रं तु तं दृष्ट्वा शकुनिः प्रत्यभाषत ।
[दुर्यो]धन कुतोमूलं निःश्वसन्निव गच्छसि ॥ २१ ॥

उसे नाना प्रकारकी चिन्ताओंसे युक्त देख शकुनिने [कहा]—'दुर्योधन ! तुम्हें कहाँसे यह दुःखका कारण प्राप्त हो [गया], जिससे तुम लंबी साँसें खींचते चल रहे हो ?' ॥ २१ ॥



दुर्योधन उवाच

दृष्ट्वेमां पृथिवीं कृत्स्नां युधिष्ठिरवशानुगाम् ।
जितामस्त्रप्रतापेन श्वेताश्वस्य महात्मनः ॥ २२ ॥
तं च यज्ञं तथाभूतं दृष्ट्वा पार्थस्य मातुल ।
यथा शक्रस्य देवेषु तथाभूतं महाद्युतेः ॥ २३ ॥
अमर्षेण तु सम्पूर्णो दह्यमानो दिवानिशम् ।
शुचिशुक्रागमे काले शुष्येत् तोयमिवाल्पकम् ॥ २४ ॥

दुर्योधनने कहा—मामाजी ! मैंने देखा है, श्वेतवाहन महात्मा अर्जुनके अस्त्रोंके प्रतापसे जीती हुई यह सारी पृथ्वी युधिष्ठिरके वशमें हो गयी है । महातेजस्वी युधिष्ठिरका वह राजसूययज्ञ उसी प्रकार सम्पन्न हुआ है, जैसे देवताओंमें देवराज इन्द्रका यज्ञ पूर्ण हुआ था । यह सब देखकर मैं दिन-रात ईर्ष्यासे भरा ठीक उसी प्रकार जलता रहता हूँ, जैसे ग्रीष्म-ऋतुमें थोड़ा-सा जल जल्दी सूख जाता है ॥ २२–२४ ॥

पश्य सात्वतमुख्येन शिशुपालो निपातितः ।
न च तत्र पुमानासीत् कश्चित् तस्य पदानुगः ॥ २५ ॥

और भी देखिये, यदुवंशशिरोमणि श्रीकृष्णने शिशुपालको मार गिराया, परंतु वहाँ कोई भी वीर पुरुष उसका बदला लेनेको तैयार नहीं हुआ ॥ २५ ॥

दह्यमाना हि राजानः पाण्डवोत्थेन वह्निना ।
क्षान्तवन्तोऽपराधं ते को हि तत् क्षन्तुमर्हति ॥ २६ ॥

पाण्डवजनित आगसे दग्ध होनेवाले राजाओंने वह अपराध क्षमा कर दिया । अन्यथा इतने बड़े अन्यायको कौन सह सकता है ? ॥ २६ ॥

वासुदेवेन तत् कर्म यथायुक्तं महत् कृतम् ।
सिद्धं च पाण्डुपुत्राणां प्रतापेन महात्मनाम् ॥ २७ ॥

वासुदेव श्रीकृष्णने जैसा महान् अनुचित कर्म किया था वह महामना पाण्डवोंके प्रतापसे सफल हो गया ॥ २७ ॥

तथा हि रत्नान्यादाय विविधानि नृपा नृपम् ।
उपातिष्ठन्त कौन्तेयं वैश्या इव करप्रदाः ॥ २८ ॥

जैसे कर देनेवाले व्यापारी वैश्य नाना प्रकारके रत्नोंकी भेंट लेकर राजाकी सेवामें उपस्थित होते हैं, उसी प्रकार सब राजा अनेक प्रकारके उत्तम रत्न लेकर राजा युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित हुए थे ॥ २८ ॥

श्रियं तथाऽऽगतां दृष्ट्वा ज्वलन्तीमिव पाण्डवे ।
अमर्षवशमापन्नो दह्यामि न तथोचितः ॥ २९ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके समीप प्राप्त हुई उस प्रकाशमयी लक्ष्मीको देखकर मैं ईर्ष्यावश जल रहा हूँ । यद्यपि मेरी यह दुरवस्था उचित नहीं है ॥ २९ ॥

एवं स निश्चयं कृत्वा ततो वचनमब्रवीत्।
पुनर्गान्धारनृपतिं दह्यमान इवाग्निना ॥ ३० ॥

ऐसा निश्चय करके दुर्योधन चिन्ताकी आगसे दग्ध-सा होता हुआ पुनः गान्धारराज शकुनिसे बोला ॥ ३० ॥

वह्निमेव प्रवेक्ष्यामि भक्षयिष्यामि वा विषम्।
अपो वापि प्रवेक्ष्यामि न हि शक्ष्यामि जीवितुम्॥ ३१ ॥

मैं आगमें प्रवेश कर जाऊँगा, विष खा लूँगा अथवा जलमें डूब मरूँगा, अब मैं जीवित नहीं रह सकूँगा ॥ ३१ ॥

को हि नाम पुमाँल्लोके मर्षयिष्यति सत्त्ववान्।
सपत्नानृद्ध्यतो दृष्ट्वा हीनमात्मानमेव च ॥ ३२ ॥

संसारमें कौन ऐसा शक्तिशाली पुरुष होगा, जो शत्रुओंकी वृद्धि और अपनी हीन दशा होती देखकर भी चुपचाप सहन कर लेगा ॥ ३२ ॥

सोऽहं न स्त्री न चाप्यस्त्री न पुमान्नापुमानपि।
योऽहं तां मर्षयाम्यद्य तादृशीं श्रियमागताम् ॥ ३३ ॥

मैं इस समय न तो स्त्री हूँ, न अस्त्रबलसे सम्पन्न हूँ, न पुरुष हूँ और न नपुंसक ही हूँ, तो भी अपने शत्रुओंके पास आयी हुई वैसी उत्कृष्ट सम्पत्तिको देखकर भी चुपचाप सहन कर रहा हूँ ! ॥ ३३ ॥

ईश्वरत्वं पृथिव्याश्च वसुमत्तां च तादृशीम्।
यज्ञं च तादृशं दृष्ट्वा मादृशः को न संज्वरेत् ॥ ३४ ॥

शत्रुओंके पास समस्त भूमण्डलका वह साम्राज्य, वैसी धन-रत्नोंसे भरी सम्पदा और उनका वैसा उत्कृष्ट राजसूययज्ञ देखकर मेरे-जैसा कौन पुरुष चिन्तित न होगा ? ॥ ३४ ॥

अशक्तश्चैक एवाहं तामाहर्तुं नृपश्रियम्।
सहायांश्च न पश्यामि तेन मृत्युं विचिन्तये ॥ ३५ ॥

मैं अकेला उस राजलक्ष्मीको हड़प लेनेमें असमर्थ हूँ और अपने पास योग्य सहायक नहीं देखता हूँ, इसीलिये मृत्युका चिन्तन करता हूँ ॥ ३५ ॥

दैवमेव परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम्।
दृष्ट्वा कुन्तीसुते शुभ्रां श्रियं तामहतां तथा ॥ ३६ ॥

कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके पास उस अक्षय विशुद्ध लक्ष्मीका संचय देख मैं दैवको ही प्रबल मानता हूँ, पुरुषार्थ तो निरर्थक जान पड़ता है ॥ ३६ ॥

कृतो यत्नो मया पूर्वं विनाशे तस्य सौबल।
तच्च सर्वमतिक्रम्य संवृद्धोऽप्स्विव पङ्कजम् ॥ ३७ ॥

सुबलपुत्र ! मैंने पहले धर्मराज युधिष्ठिरको नष्ट कर देनेका प्रयत्न किया था, किंतु उन सारे संकटोंको लाँघ करके ये जलमें कमलकी भाँति उत्तरोत्तर बढ़ते गये ॥ ३७ ॥

तेन दैवं परं मन्ये पौरुषं च निरर्थकम्।
धार्तराष्ट्राश्च हीयन्ते पार्था वर्धन्ति नित्यशः ॥ ३८ ॥

इसीसे मैं दैवको उत्तम मानता हूँ और पुरुषार्थको निरर्थक; क्योंकि हम धृतराष्ट्रपुत्र हानि उठा रहे हैं और ये कुन्तीके पुत्र प्रतिदिन उन्नति करते जा रहे हैं ॥ ३८ ॥

सोऽहं श्रियं च तां दृष्ट्वा सभां तां च तथाविधाम्।
रक्षिभिश्चावहासं तं परितप्ये यथाग्निना ॥ ३९ ॥

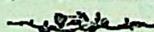
मैं उस राजलक्ष्मीको, उस दिव्य सभाको तथा रक्षकों-द्वारा किये गये अपने उपहासको देखकर निरन्तर संतप्त हो रहा हूँ मानो आगमें जलता होऊँ ॥ ३९ ॥

स मामभ्यनुजानीहि मातुलाद्य सुदुःखितम्।
अमर्षं च समाविष्टं धृतराष्ट्रे निवेदय ॥ ४० ॥

मामाजी ! अब मुझे (मरनेके लिये) आज्ञा दीजिये, क्योंकि मैं बहुत दुखी हूँ और ईर्ष्याकी आगमें जल रहा हूँ। महाराज धृतराष्ट्रको मेरी यह अवस्था सूचित कर दीजियेगा ॥ ४० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे सप्तचत्वारिंशोऽध्यायः ॥ ४७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक सैंतालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४७ ॥



अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः

पाण्डवोंपर विजय प्राप्त करनेके लिये शकुनि और दुर्योधनकी बातचीत

शकुनिरुवाच

दुर्योधन न तेऽमर्षः कार्यः प्रति युधिष्ठिरम्।
भागधेयानि हि स्वानि पाण्डवा भुञ्जते सदा ॥ १ ॥
विधानं विविधाकारं परं तेषां विधानतः।
अनेकैरभ्युपायैश्च त्वया न शकिताः पुरा ॥ २ ॥

शकुनि बोला—दुर्योधन ! तुम्हें युधिष्ठिरके प्रति ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये; क्योंकि पाण्डव सदा अपने भाग्यका ही उपभोग करते आ रहे हैं। तुमने उन्हें वशमें लानेके लिये अनेक प्रकारके उपायोंका अवलम्बन किया, परंतु उनके द्वारा तुम उन्हें अपने अधीन न कर सके ॥ १-२ ॥

आरब्धाश्च महाराज पुनः पुनररिंदम।
विमुक्ताश्च नरव्याघ्रा भागधेयपुरस्कृताः ॥ ३ ॥

शत्रुओंका दमन करनेवाले महाराज ! तुमने बार-बार पाण्डवोंपर कुचक्र चलाये, परंतु वे नरश्रेष्ठ अपने भाग्यसे

...ह सभी संकटोंसे छुटकारा पाते गये ॥ ३ ॥

...था द्रौपदी भार्या द्रुपदश्च सुतैः सह ।
...यः पृथिवीलाभे वासुदेवश्च वीर्यवान् ॥ ४ ॥

उन पाँचोंने पत्नीरूपमें द्रौपदीको तथा पुत्रोंसहित ...ज द्रुपद एवं सम्पूर्ण पृथ्वीकी प्राप्तिमें कारण महापराक्रमी ...देवनन्दन श्रीकृष्णको सहायकरूपमें प्राप्त किया है ॥ ४ ॥

...जितः सोऽपि सर्वैर्हि सदेवासुरमानुषैः ।
...तेजसा प्रवृद्धोऽसौ तत्र का परिदेवना ॥)

श्रीकृष्णको सब देवता, असुर और मनुष्य मिलकर भी ... नहीं सकते । उन्हींके तेजसे राजा युधिष्ठिरकी उन्नति ... है; इसके लिये शोक करनेकी क्या बात है ? ॥

...ख्यालभिभूतार्थैः पित्र्योंऽशः पृथिवीपते ।
...दस्तेजसा तेषां तत्र का परिदेवना ॥ ५ ॥

पृथ्वीपते ! पाण्डवोंने अपने उद्देश्यसे विचलित न होकर ...तर प्रयत्न करके राज्यमें अपना पैतृक अंश प्राप्त ...ा है और वह पैतृक सम्पत्ति आज उन्हींके तेजसे बहुत ... गयी है, अतः उसके लिये चिन्ता करनेकी क्या ...सकता है ? ॥ ५ ॥

...नंजयेन गाण्डीवमक्षय्यौ च महेषुधी ।
...न्यस्त्राणि दिव्यानि तोषयित्वा हुताशनम् ॥ ६ ॥
... कार्मुकमुख्येन बाहुवीर्येण चात्मनः ।
... वशे महीपालास्तत्र का परिदेवना ॥ ७ ॥

अर्जुनने अग्निदेवको संतुष्ट करके गाण्डीव धनुष, अक्षय ... तथा कितने ही दिव्य अस्त्र प्राप्त किये हैं । उस श्रेष्ठ ...के द्वारा तथा अपनी भुजाओंके बलसे उन्होंने समस्त ...ओंको वशमें किया है, अतः इसके लिये शोककी ... आवश्यकता है ? ॥ ६-७ ॥

...ग्निदाहान्मयं चापि मोक्षयित्वा स दानवम् ।
... तां कारयामास सव्यसाची परंतपः ॥ ८ ॥

सव्यसाची परंतप अर्जुनने मय दानवको आगमें जलनेसे ...या और उसीके द्वारा उस दिव्य सभाका ...र्माण कराया ॥ ८ ॥

... चैव मयेनोक्ताः किंकरा नाम राक्षसाः ।
...न्ति तां सभां भीमास्तत्र का परिदेवना ॥ ९ ॥
...यसहायतां राजन्नुक्तवानसि भारत ।
...मिथ्या भ्रातरो हीमे तव सर्वे वशानुगाः ॥ १० ॥

उस मयके ही कहनेसे किंकरनामधारी भयंकर राक्षसगण ... सभाको एक स्थानसे दूसरे स्थानपर ले जाते हैं । अतः ...के लिये भी शोक-संताप क्यों किया जाय ? भारत ! तुमने ... अपनेको असहाय बताया है, वह मिथ्या है; क्योंकि ...हारे ये सब भाई तुम्हारी आज्ञाके अधीन हैं ॥ ९-१० ॥

द्रोणस्तव महेष्वासः सह पुत्रेण वीर्यवान् ।
सूतपुत्रश्च राधेयो गौतमश्च महारथः ॥ ११ ॥
अहं च सह सोदर्यैः सौमदत्तिश्च पार्थिवः ।
एतैस्त्वं सहितः सर्वैर्जय कृत्स्नां वसुन्धराम् ॥ १२ ॥

महान् धनुर्धर और पराक्रमी द्रोणाचार्य अपने पुत्र अश्वत्थामाके साथ तुम्हारी सहायताके लिये उद्यत हैं । राधानन्दन सूतपुत्र कर्ण, महारथी कृपाचार्य, भाइयोंसहित मैं तथा राजा भूरिश्रवा—इन सबके साथ तुम भी सारी पृथ्वीपर विजय प्राप्त करो ॥ ११-१२ ॥

दुर्योधन उवाच

त्वया च सहितो राजन्नेतैश्चान्यैर्महारथैः ।
एतानेव विजेष्यामि यदि त्वमनुमन्यसे ॥ १३ ॥
एतेषु विजितेष्वद्य भविष्यति मही मम ।
सर्वे च पृथिवीपालाः सभा सा च महाधना ॥ १४ ॥

दुर्योधनने कहा—राजन् ! यदि तुम्हारी अनुमति हो, तो तुम्हारे और इन द्रोण आदि अन्य महारथियोंके साथ इन पाण्डवोंको ही युद्धमें जीत लूँ । इनके पराजित हो जानेपर अभी यह सारी पृथ्वी, समस्त भूपाल और वह महाधनसम्पन्न सभा भी हमारे अधीन हो जायगी ॥ १३-१४ ॥

शकुनिरुवाच

धनंजयो वासुदेवो भीमसेनो युधिष्ठिरः ।
नकुलः सहदेवश्च द्रुपदश्च सहात्मजैः ॥ १५ ॥
नैते युधि पराजेतुं शक्या देवगणैरपि ।
महारथा महेष्वासाः कृतास्त्रा युद्धदुर्मदाः ॥ १६ ॥

शकुनि बोला—राजन् ! अर्जुन, श्रीकृष्ण, भीमसेन, युधिष्ठिर, नकुल, सहदेव तथा पुत्रोंसहित द्रुपद—इन्हें देवता भी युद्धमें परास्त नहीं कर सकते । ये सब-के-सब महारथी, महान् धनुर्धर, अस्त्रविद्यामें निपुण तथा युद्धमें उन्मत्त होकर लड़नेवाले हैं ॥ १५-१६ ॥

अहं तु तद् विजानामि विजेतुं येन शक्यते ।
युधिष्ठिरं स्वयं राजंस्तन्निबोध जुषस्व च ॥ १७ ॥

राजन् ! मैं वह उपाय जानता हूँ, जिससे युधिष्ठिर स्वयं पराजित हो सकते हैं । तुम उसे सुनो और उसका सेवन करो ॥ १७ ॥

दुर्योधन उवाच

अप्रमादेन सुहृदामन्येषां च महात्मनाम् ।
यदि शक्या विजेतुं ते तन्ममाचक्ष्व मातुल ॥ १८ ॥

दुर्योधनने कहा—मामाजी ! यदि मेरे सगे-सम्बन्धियों तथा अन्य महात्माओंकी सतत सावधानीसे किसी उपायद्वारा पाण्डवोंको जीता जा सके तो वह मुझे बताइये ॥ १८ ॥

शकुनिरुवाच

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न स जानाति देवितुम्।
समाहूतश्च राजेन्द्रो न शक्ष्यति निवर्तितुम्॥ १९॥

शकुनि बोला—राजन्! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जूए-का खेल बहुत प्रिय है, किंतु वे उसे खेलना नहीं जानते। यदि महाराज युधिष्ठिरको द्यूतक्रीडाके लिये बुलाया जाय तो वे पीछे नहीं हट सकेंगे॥ १९॥

देवने कुशलश्चाहं न मेऽस्ति सदृशो भुवि।
त्रिषु लोकेषु कौरव्य तं त्वं द्यूते समाह्वय॥ २०॥

मैं जूआ खेलनेमें बहुत निपुण हूँ। इस कलामें मेरी समानता करनेवाला पृथ्वीपर दूसरा कोई नहीं है। केवल यहीं नहीं, तीनों लोकोंमें मेरे-जैसा द्यूतविद्याका जानकार नहीं है। अतः कुरुनन्दन! तुम द्यूतक्रीड़ाके लिये युधिष्ठिरको बुलाओ॥ २०॥

तस्याक्षकुशलो राजन्नादास्येऽहमसंशयम्।
राज्यं श्रियं च तां दीप्तां त्वदर्थं पुरुषर्षभ॥ २१॥

नरश्रेष्ठ! मैं पासा फेंकनेमें कुशल हूँ; अतः युधिष्ठिरके राज्य तथा देदीप्यमान राजलक्ष्मीको तुम्हारे लिये अवश्य प्राप्त कर लूँगा, इसमें संशय नहीं है॥ २१॥

इदं तु सर्वं त्वं राज्ञे दुर्योधन निवेदय।
अनुज्ञातस्तु ते पित्रा विजेष्ये तान् न संशयः॥ २२॥

दुर्योधन! तुम ये सारी बातें पिताजीसे कहो। उनकी आज्ञा मिल जानेपर मैं निःसंदेह पाण्डवोंको जीत लूँगा॥ २२॥

दुर्योधन उवाच

त्वमेव कुरुमुख्याय धृतराष्ट्राय सौबल।
निवेदय यथान्यायं नाहं शक्ष्ये निवेदितुम्॥ २३॥

दुर्योधनने कहा—सुबलनन्दन! आप ही कुरुकुलके प्रधान महाराज धृतराष्ट्रसे इन सब बातोंको यथोचित रूपसे कहिये। मैं स्वयं कुछ नहीं कह सकूँगा॥ २३॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे अष्टचत्वारिंशोऽध्यायः॥ ४८॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक अड़तालीसवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ४८॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका १ श्लोक मिलाकर कुल २४ श्लोक हैं)

एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रके पूछनेपर दुर्योधनका अपनी चिन्ता बताना और द्यूतके लिये धृतराष्ट्रसे अनुरोध करना एवं धृतराष्ट्रका विदुरको इन्द्रप्रस्थ जानेका आदेश

वैशम्पायन उवाच

अनुभूय तु राज्ञस्तं राजसूयं महाक्रतुम्।
युधिष्ठिरस्य नृपतेर्गान्धारीपुत्रसंयुतः॥ १॥
प्रियकृन्मतमाज्ञाय पूर्वं दुर्योधनस्य तत्।
प्रज्ञाचक्षुषमासीनं शकुनिः सौबलस्तदा॥ २॥
दुर्योधनवचः श्रुत्वा धृतराष्ट्रं जनाधिपम्।
उपगम्य महाप्राज्ञं शकुनिर्वाक्यमब्रवीत्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! गान्धारीपुत्र दुर्योधनके सहित सुबलनन्दन शकुनि राजा युधिष्ठिरके राजसूय महायज्ञका उत्सव देखकर जब लौटा, तब पहले दुर्योधनके अपने अनुकूल मतको जानकर और उसकी पूरी बातें सुनकर सिंहासनपर बैठे हुए प्रज्ञाचक्षु महाप्राज्ञ राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर इस प्रकार बोला॥ १—३॥

शकुनिरुवाच

दुर्योधनो महाराज विवर्णो हरिणः कृशः।
दीनश्चिन्तापरश्चैव तं विद्धि मनुजाधिप॥ ४॥

शकुनिने कहा—महाराज! दुर्योधनकी कान्ति फीकी पड़ती जा रही है। वह सफेद और दुर्बल हो गया है। उसकी बड़ी दयनीय दशा है। वह निरन्तर चिन्तामें डूबा रहता है। नरेश्वर! उसके मनोभावको समझिये॥ ४॥

न वै परीक्षसे सम्यगसह्यं शत्रुसम्भवम्।
ज्येष्ठपुत्रस्य हृच्छोकं किमर्थं नावबुध्यसे॥ ५॥

उसे शत्रुओंकी ओरसे कोई असह्य कष्ट प्राप्त हुआ है। आप उसकी अच्छी तरह परीक्षा क्यों नहीं करते? दुर्योधन आपका ज्येष्ठ पुत्र है। उसके हृदयमें महान् शोक व्याप्त है। आप उसका पता क्यों नहीं लगाते?॥ ५॥

धृतराष्ट्र उवाच

दुर्योधन कुतोमूलं भृशमार्तोऽसि पुत्रक।
श्रोतव्यश्चेन्मया सोऽर्थो ब्रूहि मे कुरुनन्दन॥ ६॥

धृतराष्ट्र दुर्योधनके पास जाकर बोले—बेटा दुर्योधन! तुम्हारे दुःखका कारण क्या है? सुना है, तुम बड़े कष्टमें हो। कुरुनन्दन! यदि मेरे सुनने योग्य हो तो वह बात मुझे बताओ॥ ६॥

अयं त्वां शकुनिः प्राह विवर्णं हरिणं कृशम्।
चिन्तयंश्च न पश्यामि शोकस्य तव सम्भवम्॥ ७॥

यह शकुनि कहता है कि तुम्हारी कान्ति फीकी पड़ गयी है। तुम सफेद और दुबले हो गये हो; परंतु मैं बहुत सोचनेपर भी तुम्हारे शोकका कोई कारण नहीं देखता॥ ७॥

ऐश्वर्यं हि महत् पुत्र त्वयि सर्वं प्रतिष्ठितम् ।
भ्रातरः सुहृदश्चैव नाचरन्ति तवाप्रियम् ॥ ८ ॥

बेटा ! इस सम्पूर्ण महान् ऐश्वर्यका भार तुम्हारे ही ऊपर है। तुम्हारे भाई और सुहृद् कभी तुम्हारे प्रतिकूल आचरण नहीं करते ॥ ८ ॥

आच्छादयसि प्रावारानश्नासि पिशितौदनम् ।
आजानेया वहन्त्यश्वाः केनासि हरिणः कृशः ॥ ९ ॥

तुम बहुमूल्य वस्त्र ओढ़ते-पहनते हो, बढ़िया विशुद्ध अन्न खाते हो तथा अच्छी जातिके घोड़े तुम्हारी सवारीमें रहते हैं; फिर किस दुःखसे तुम सफेद और दुबले हो गये हो ! ॥ ९ ॥

शयनानि महार्हाणि योषितश्च मनोरमाः ।
गुणवन्ति च वेश्मानि विहाराश्च यथासुखम् ॥ १० ॥
देवानामिव ते सर्वं वाचि बद्धं न संशयः ।
स दीन इव दुर्धर्ष कस्माच्छोचसि पुत्रक ॥ ११ ॥

बहुमूल्य शय्याएँ, मनको प्रिय लगनेवाली युवतियाँ, सभी ऋतुओंमें लाभदायक भवन और इच्छानुसार सुख देनेवाले विहारस्थान—देवताओंकी भाँति ये सभी वस्तुएँ निःसंदेह तुम्हें वाणीद्वारा कहनेमात्रसे सुलभ हैं। मेरे दुर्द्धर्ष पुत्र ! फिर तुम दीनकी भाँति क्यों शोक करते हो ! ॥ १०-११ ॥

(उपस्थितः सर्वकामैस्त्रिदिवे वासवो यथा ।
विविधैरन्नपानैश्च प्रवरैः किं नु शोचसि ॥

जैसे स्वर्गमें इन्द्रको सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोग सुलभ हैं, उसी प्रकार समस्त अभिलषित भोग और खाने-पीनेकी विविध उत्तम वस्तुएँ तुम्हारे लिये सदा प्रस्तुत हैं। फिर तुम किसलिये शोक करते हो ? ॥

निरुक्तं निगमं छन्दः सषडङ्गार्थशास्त्रवान् ।
अधीतः कृतविद्यस्त्वमष्टव्याकरणैः कृपात् ॥

तुमने कृपाचार्यसे निरुक्त, निगम, छन्द, वेदके छहों अङ्ग, अर्थशास्त्र तथा आठ प्रकारके व्याकरणशास्त्रोंका अध्ययन किया है ॥

हलायुधात् कृपाद् द्रोणादस्त्रविद्यामधीतवान् ।
प्रभुस्त्वं भुञ्जसे पुत्र संस्तुतः सूतमागधैः ॥
तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम् ।
लोकेऽस्मिञ्ज्येष्ठभागी त्वं तन्ममाचक्ष्व पुत्रक ॥

हलायुध, कृपाचार्य तथा द्रोणाचार्यसे तुमने अस्त्रविद्या सीखी है। बेटा ! तुम इस राज्यके स्वामी होकर इच्छानुसार सब वस्तुओंका उपभोग करते हो । सूत और मागध सदा तुम्हारी स्तुति करते रहते हैं। तुम्हारी बुद्धिकी प्रखरता प्रसिद्ध है। तुम इस जगत्में ज्येष्ठ पुत्रके लिये सुलभ समस्त राजोचित सुखोंके भागी हो। फिर भी तुम्हें कैसे चिन्ता हो रही है ? बेटा ! तुम्हारे इस शोकका कारण क्या है ? यह मुझे बताओ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य तद् वचनं श्रुत्वा मन्दः क्रोधवशानुगः ।
पितरं प्रत्युवाचेदं स्वमतिं सम्प्रकाशयन् ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—पिताका यह कथन सुनकर क्रोधके वशीभूत हुए मूढ़ दुर्योधनने उन्हें अपना विचार बताते हुए इस प्रकार उत्तर दिया ॥

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादये चाहं यथा कुपुरुषस्तथा ।
अमर्षं धारये चोग्रं निनीषुः कालपर्ययम् ॥ १२ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! मैं अच्छा खाता-पहनता तो हूँ, परंतु कायरोंकी भाँति । मैं समयके परिवर्तनकी प्रतीक्षामें रहकर अपने हृदयमें भारी ईर्ष्या धारण करता हूँ ॥ १२ ॥

अमर्षणः स्वाः प्रकृतीरभिभूय परं स्थितः ।
क्लेशान्मुमुक्षुः परजान् स वै पुरुष उच्यते ॥ १३ ॥

जो शत्रुओंके प्रति अमर्ष रख उन्हें पराजित करके विश्राम लेता है और अपनी प्रजाको शत्रुजनित क्लेशसे छुड़ानेकी इच्छा करता है, वही पुरुष कहलाता है ॥ १३ ॥

संतोषो वै श्रियं हन्ति ह्यभिमानं च भारत ।
अनुक्रोशभये चोभे यैर्वृतो नाश्नुते महत् ॥ १४ ॥

भारत ! संतोष लक्ष्मी और अभिमानका नाश कर देता है। दया और भय—ये दोनों भी वैसे ही हैं। इन (संतोषादि) से युक्त मनुष्य कभी ऊँचा पद नहीं पा सकता ॥ १४ ॥

न मां प्रीणाति मद्भुक्तं श्रियं दृष्ट्वा युधिष्ठिरे ।
अति ज्वलन्तीं कौन्तेये विवर्णकरणीं मम ॥ १५ ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी वह अत्यन्त प्रकाशमान राजलक्ष्मी देखकर मुझे भोजन अच्छा नहीं लगता। वही मेरी कान्तिको नष्ट करनेवाली है ॥ १५ ॥

सपत्नानृध्यतोऽऽत्मानं हीयमानं निशम्य च ।
अदृश्यामपि कौन्तेयश्रियं पश्यन्निवोद्यताम् ॥ १६ ॥
तस्मादहं विवर्णश्च दीनश्च हरिणः कृशः ।

शत्रुओंको बढ़ते और अपनेको हीन दशामें जाते देख तथा युधिष्ठिरकी उस अदृश्य लक्ष्मीपर भी प्रत्यक्षकी भाँति दृष्टिपात करके मैं चिन्तित हो उठा हूँ। यही कारण है कि मेरी कान्ति फीकी पड़ गयी है तथा मैं दीन, दुर्बल और सफेद हो गया हूँ ॥ १६ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ॥ १७ ॥
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः ।

राजा युधिष्ठिर अपने घरमें बसनेवाले अट्ठासी हजार

स्नातकोंका भरण-पोषण करते हैं। उनमेंसे प्रत्येककी सेवाके लिये तीस-तीस दासियाँ प्रस्तुत रहती हैं ॥ १७½ ॥

दशान्यानि सहस्राणि नित्यं तत्रान्नमुत्तमम्।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥ १८ ॥

इसके सिवा युधिष्ठिरके महलमें दस हजार अन्य ब्राह्मण प्रतिदिन सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ॥ १८ ॥

कदलीमृगमोकानि कृष्णश्यामारुणानि च।
काम्बोजः प्राहिणोत् तस्मै परार्ध्यानपि कम्बलान्।

काम्बोजराजने काले, नीले और लाल रंगके कदलीमृगके चर्म तथा अनेक बहुमूल्य कम्बल युधिष्ठिरके लिये भेंटमें भेजे थे ॥ १८½ ॥

रथयोषिद्गवाश्वस्य शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १९ ॥
त्रिंशतं चोष्ट्रवामीनां शतानि विचरन्त्युत।
राजन्या बलिमादाय समेता हि नृपक्षये ॥ २० ॥

उन्हींकी भेजी हुई सैकड़ों हथिनियाँ, सहस्रों गायें और घोड़े तथा तीस-तीस हजार ऊँट और घोड़ियाँ वहाँ विचरती थीं। सभी राजालोग भेंट लेकर युधिष्ठिरके भवनमें एकत्र हुए थे ॥ १९-२० ॥

पृथग्विधानि रत्नानि पार्थिवाः पृथिवीपते।
आहरन् क्रतुमुख्येऽस्मिन् कुन्तीपुत्राय भूरिशः॥ २१ ॥

पृथ्वीपते ! उस महान् यज्ञमें भूपालगण कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरके लिये भाँति-भाँतिके बहुत-से रत्न लाये थे ॥२१॥

न क्वचिद्धि मया तादृग् दृष्टपूर्वो न च श्रुतः।
यादृग् धनागमो यज्ञे पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ २२ ॥

बुद्धिमान् पाण्डुकुमार युधिष्ठिरके यज्ञमें धनकी जैसी प्राप्ति हुई है, वैसी मैंने पहले कहीं न तो देखी है और न सुनी ही है ॥ २२ ॥

अपर्यन्तं धनौघं तं दृष्ट्वा शत्रोरहं नृप।
शमं नैवाभिगच्छामि चिन्तयानो विशाम्पते ॥ २३ ॥

महाराज ! शत्रुकी वह अनन्त धनराशि देखकर मैं चिन्तित हो रहा हूँ; मुझे चैन नहीं मिलता ॥ २३ ॥

ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसङ्घशः।
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २४ ॥

ब्राह्मणलोग तथा हरी-भरी खेती उपजाकर जीवन-निर्वाह करनेवाले और बहुत-से गाय-बैल रखनेवाले वैश्य सैकड़ों दलोंमें इकट्ठे होकर तीन खर्व भेंट लेकर राजाके द्वारपर रोके हुए खड़े थे ॥ २४ ॥

कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान्।
एतद् धनं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ २५ ॥

वे सब लोग सोनेके सुन्दर कलश और इतना धन लेकर आये थे, तो भी वे सभी राजद्वारमें प्रवेश नहीं कर पाते थे अर्थात् उनमेंसे कोई-कोई ही प्रवेश कर पाते थे ॥

यथैव मधु शक्राय धारयन्त्यमरस्त्रियः।
तदस्मै कांस्यमाहार्षीद् वारुणं कलशोदधिः ॥ २६ ॥

देवाङ्गनाएँ इन्द्रके लिये कलशोंमें जैसा मधु लिये रहती हैं, वैसा ही वरुणदेवताका दिया हुआ और काँसके पात्रमें रक्खा हुआ मधु समुद्रने युधिष्ठिरके लिये उपहारमें भेजा था ॥ २६ ॥

शैक्यं रुक्मसहस्रस्य बहुरत्नविभूषितम्।
शङ्खप्रवरमादाय वासुदेवोऽभिषिक्तवान् ॥ २७ ॥

वहाँ छींकेपर रखकर लाया हुआ एक हजार स्वर्णमुद्राओंका बना हुआ कलश रक्खा था, जिसमें अनेक प्रकारके रत्न जड़े हुए थे। उस पात्रमें स्थित समुद्रजलको उत्तम शङ्खमें लेकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरका अभिषेक किया था ॥ २७ ॥

दृष्ट्वा च मम तत् सर्वं ज्वररूपमिवाभवत्।
गृहीत्वा तत् तु गच्छन्ति समुद्रौ पूर्वदक्षिणौ ॥ २८ ॥
तथैव पश्चिमं यान्ति गृहीत्वा भरतर्षभ।
उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिणः ॥ २९ ॥
तत्र गत्वार्जुनो दण्डमाजहारामितं धनम्।

तात ! वह सब देखकर मुझे ज्वर-सा आ गया। भरतश्रेष्ठ ! वैसे ही सुवर्णकलशोंको लेकर पाण्डवलोग जल लानेके लिये पूर्व, दक्षिण, पश्चिम समुद्रतट तो जाया करते थे, किंतु सुना जाता है कि उत्तर समुद्रके समीप, जहाँ पक्षियोंके सिवा मनुष्य नहीं जा सकते, वहाँ भी आकर अर्जुन अपार धन करके रूपमें वसूल कर लाये ॥२८-२९½ ॥

इदं चाद्भुतमत्रासीत् तन्मे निगदतः शृणु ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरके राजसूययज्ञमें एक यह अद्भुत बात और भी हुई थी, वह मैं बताता हूँ, सुनिये ॥ ३० ॥

पूर्णे शतसहस्रे तु विप्राणां परिविष्यताम्।
स्थापिता तत्र संज्ञाभूच्छङ्खो ध्मायति नित्यशः ॥ ३१ ॥

जब एक लाख ब्राह्मणोंको रसोई परोस दी जाती, तब उसके लिये एक संकेत नियत किया गया था; प्रतिदिन लाखकी संख्या पूरी होते ही बड़े जोरसे शङ्ख बजाया जाता था ॥ ३१ ॥

मुहुर्मुहुः प्रणदतस्तस्य शङ्खस्य भारत।
अनिशं शब्दमश्रौषं ततो रोमाणि मेऽहृषन् ॥ ३२ ॥

भारत ! ऐसा शङ्ख वहाँ बार-बार बजता था और मैं निरन्तर उस शङ्ख-ध्वनिको सुना करता था; इससे मेरे शरीरमें रोमाञ्च हो आता था ॥ ३२ ॥

पार्थिवैर्बहुभिः कीर्णमुपस्थानं दिदृक्षुभिः।
अशोभत महाराज नक्षत्रैर्द्यौरिवामला ॥ ३३ ॥

महाराज ! वहाँ यज्ञ देखनेके लिये आये हुए बहुत-से राजाओंद्वारा भरी हुई यज्ञमण्डपकी बैठक ताराओंसे व्याप्त हुए निर्मल आकाशकी भाँति शोभा पाती थी ॥ ३३ ॥

सर्वरत्नान्युपादाय पार्थिवा वै जनेश्वर।
यज्ञे तस्य महाराज पाण्डुपुत्रस्य धीमतः ॥ ३४ ॥

जनेश्वर ! बुद्धिमान् पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके उस यज्ञमें भूपालगण सब रत्नोंकी भेंट लेकर आये थे ॥ ३४ ॥

वैश्या इव महीपाला द्विजातिपरिवेषकाः।
न सा श्रीर्देवराजस्य यमस्य वरुणस्य च।
गुह्यकाधिपतेर्वापि या श्री राजन् युधिष्ठिरे ॥ ३५ ॥

राजालोग वैश्योंकी भाँति ब्राह्मणोंको भोजन परोसते थे। राजा युधिष्ठिरके पास जो लक्ष्मी है, वह देवराज इन्द्र, यम, वरुण अथवा यक्षराज कुबेरके पास भी नहीं होगी ॥

तां दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रस्य श्रियं परमिकामहम्।
शान्तिं न परिगच्छामि दह्यमानेन चेतसा ॥ ३६ ॥

पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी उस उत्कृष्ट लक्ष्मीको देखकर मेरे हृदयमें जलन पैदा हो गयी है; अतः मुझे क्षणभर भी शान्ति नहीं मिलती ॥ ३६ ॥

(अप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं शमो मम न विद्यते।
अवाप्स्ये वा रणं बाणैः शयिष्ये वा हतः परैः ॥
एतादृशस्य मे किं नु जीवितेन परंतप।
वर्धन्ते पाण्डवा राजन् वयं हि स्थितवृद्धयः ॥)

पाण्डवोंका ऐश्वर्य यदि मुझे नहीं प्राप्त हुआ तो मेरे मनको शान्ति नहीं मिलेगी। या तो मैं बाणोंद्वारा रण भूमिमें उपस्थित होकर शत्रुओंकी सम्पत्तिपर अधिकार प्राप्त करूँगा या शत्रुओंद्वारा मारा जाकर संग्राममें सदाके लिये सो जाऊँगा। परंतप ! ऐसी स्थितिमें मेरे इस जीवनसे क्या लाभ ? पाण्डव दिनों दिन बढ़ रहे हैं और हमारी उन्नति रुक गयी है ॥

शकुनिरुवाच

यामेतामतुलां लक्ष्मीं दृष्टवानसि पाण्डवे।
तस्याः प्राप्तावुपायं मे शृणु सत्यपराक्रम ॥ ३७ ॥

शकुनिने दुर्योधनसे पुनः कहा—सत्यपराक्रमी दुर्योधन ! तुमने पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरके यहाँ जो अनुपम लक्ष्मी देखी है, उसकी प्राप्तिका उपाय मुझसे सुनो ॥ ३७ ॥

अहमक्षेष्वभिज्ञातः पृथिव्यामपि भारत।
हृदयज्ञः पणज्ञश्च विशेषज्ञश्च देवने ॥ ३८ ॥

भारत ! मैं इस भूमण्डलमें द्यूतविद्याका विशेष जानकर हूँ, द्यूतक्रीडाका मर्म जानता हूँ; दाव लगानेका भी मुझे ज्ञान है तथा पासे फेंकनेकी कलाका भी मैं विशेषज्ञ हूँ ॥ ३८ ॥

द्यूतप्रियश्च कौन्तेयो न च जानाति देवितुम्।

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको जुआ खेलना बहुत प्रिय है, परंतु वे उसे खेलना जानते नहीं हैं ॥ ३८½ ॥

आहूतश्चैष्यति व्यक्तं द्यूतादपि रणादपि ॥ ३९ ॥

द्यूत अथवा युद्ध किसी भी उद्देश्यसे यदि उन्हें बुलाया जाय तो वे अवश्य पधारेंगे ॥ ३९ ॥

नियतं तं विजेष्यामि कृत्वा तु कपटं विभो।
आनयामि समृद्धिं तां दिव्यां चोपाह्वयस्व तम् ॥ ४० ॥

प्रभो ! मैं छल करके युधिष्ठिरको निश्चय ही जीत लूँगा और उनकी उस दिव्य समृद्धिको यहाँ मँगा लूँगा; अतः तुम उन्हें बुलाओ ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः शकुनिना राजा दुर्योधनस्ततः।
धृतराष्ट्रमिदं वाक्यमपदान्तरमब्रवीत् ॥ ४१ ॥
अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित्।
द्यूतेन पाण्डुपुत्रस्य तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! शकुनिके ऐसा कहनेपर राजा दुर्योधनने तुरंत ही धृतराष्ट्रसे इस प्रकार कहा—'राजन् ! ये अक्षविद्याका मर्म जाननेवाले हैं और जूएके द्वारा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी राजलक्ष्मीका अपहरण कर लेनेका उत्साह रखते हैं; अतः इसके लिये इन्हें आज्ञा दीजिये' ॥ ४१-४२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्ता मन्त्री महाप्राज्ञः स्थितो यस्यास्मि शासने।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र बोले—महाबुद्धिमान् विदुर मेरे मन्त्री हैं, जिनके आदेशके अनुसार मैं चलता हूँ। उनसे मिलकर विचार करनेके पश्चात् मैं यह समझ सकूँगा कि इस कार्यके सम्बन्धमें क्या निश्चय किया जाय ॥ ४३ ॥

स हि धर्मं पुरस्कृत्य दीर्घदर्शी परं हितम्।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं वक्ष्यत्यर्थविनिश्चयम् ॥ ४४ ॥

विदुर दूरदर्शी हैं, वे धर्मको सामने रखकर दोनों पक्षोंके लिये उचित और परम हितकी बात सोचकर उसके अनुकूल ही कार्यका निश्चय बतायेंगे ॥ ४४ ॥

दुर्योधन उवाच

निवर्तयिष्यति त्वासौ यदि क्षत्ता समेष्यति।
निवृत्ते त्वयि राजेन्द्र मरिष्येऽहमसंशयम् ॥ ४५ ॥

दुर्योधनने कहा—विदुरजी जब आपसे मिलेंगे, तब अवश्य ही आपको इस कार्यसे निवृत्त कर देंगे। राजेन्द्र ! यदि आपने इस कार्यसे मुँह मोड़ लिया तो मैं निःसंदेह प्राण त्याग दूँगा ॥ ४५ ॥

स त्वं मयि मृते राजन् विदुरेण सुखी भव।
भोक्ष्यसे पृथिवीं कृत्स्नां किं मया त्वं करिष्यसि ॥ ४६ ॥

राजन्! मेरी मृत्यु हो जानेपर आप विदुरके साथ सुखसे रहियेगा और सारी पृथ्वीका राज्य भोगियेगा। मेरे जीवित रहनेसे आप क्या प्रयोजन सिद्ध करेंगे? ॥ ४६ ॥

वैशम्पायन उवाच

आर्तवाक्यं तु तत् तस्य प्रणयोक्तं निशम्य सः।
धृतराष्ट्रोऽब्रवीत् प्रेष्यान् दुर्योधनमते स्थितः ॥ ४७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पुत्रका यह प्रेमपूर्ण आर्त वचन सुनकर राजा धृतराष्ट्र दुर्योधनके मतमें आ गये और सेवकोंसे इस प्रकार बोले— ॥ ४७ ॥

स्थूणासहस्रैर्बृहतीं शतद्वारां सभां मम।
मनोरमां दर्शनीयामाशु कुर्वन्तु शिल्पिनः ॥ ४८ ॥

'बहुत-से शिल्पी लगकर एक परम सुन्दर दर्शनीय एवं विशाल सभाभवनका शीघ्र निर्माण करें। उसमें सौ दरवाजे हों और एक हजार खंभे लगे हुए हों ॥ ४८ ॥

ततः संस्तीर्य रत्नैस्तां तक्ष्ण आनाय्य सर्वशः।
सुकृतां सुप्रवेशां च निवेदयत मे शनैः ॥ ४९ ॥

फिर सब देशोंसे बढ़ई बुलाकर उस सभाभवनके खंभों और दीवारोंमें रत्न जड़वा दिये जायँ। इस प्रकार वह सुन्दर एवं सुसज्जित सभाभवन जब सुखपूर्वक प्रवेशके योग्य हो जाय, तब धीरे-से मेरे पास आकर इसकी सूचना दो' ॥४९॥

दुर्योधनस्य शान्त्यर्थमिति निश्चित्य भूमिपः।
धृतराष्ट्रो महाराज प्राहिणोद् विदुराय वै ॥ ५० ॥

महाराज! दुर्योधनकी शान्तिके लिये ऐसा निश्चय करके राजा धृतराष्ट्रने विदुरके पास दूत भेजा ॥ ५० ॥

अपृष्ट्वा विदुरं ह्यस्य नासीत् कश्चिद् विनिश्चयः।
द्यूते दोषांश्च जानन् स पुत्रस्नेहादकृष्यत ॥ ५१ ॥

विदुरसे पूछे बिना उनका कोई भी निश्चय नहीं होता था। जूएके दोषोंको जानते हुए भी वे पुत्रस्नेहसे उसकी ओर आकृष्ट हो गये थे ॥ ५१ ॥

तच्छ्रुत्वा विदुरो धीमान् कलिद्वारमुपस्थितम्।
विनाशमुखमुत्पन्नं धृतराष्ट्रमुपाद्रवत् ॥ ५२ ॥

बुद्धिमान् विदुर कलहके द्वाररूप जूएका अवसर उपस्थित हुआ सुनकर और विनाशका मुख प्रकट हुआ जान धृतराष्ट्रके पास दौड़े आये ॥ ५२ ॥

सोऽभिगम्य महात्मानं भ्राता भ्रातरमग्रजम्।
मूर्ध्ना प्रणम्य चरणाविदं वचनमब्रवीत् ॥ ५३ ॥

विदुरने अपने श्रेष्ठ भ्राता महामना धृतराष्ट्रके पास आकर उनके चरणोंमें मस्तक रखकर प्रणाम किया और इस प्रकार कहा ॥ ५३ ॥

विदुर उवाच

नाभिनन्दामि ते राजन् व्यवसायमिमं प्रभो।
पुत्रैर्भेदो यथा न स्याद् द्यूतहेतोस्तथा कुरु ॥ ५४ ॥

विदुर बोले—राजन्! मैं आपके इस निश्चयको पसंद नहीं करता। प्रभो! आप ऐसा प्रयत्न कीजिये, जिससे, जूएके लिये आपके और पाण्डुके पुत्रोंमें भेदभाव न हो ॥५४॥

धृतराष्ट्र उवाच

क्षत्तः पुत्रेषु पुत्रैर्मे कलहो न भविष्यति।
यदि देवाः प्रसादं नः करिष्यन्ति न संशयः ॥ ५५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! यदि हमलोगोंपर देवताओंकी कृपा होगी तो मेरे पुत्रोंका पाण्डुपुत्रोंके साथ निःसंदेह कलह न होगा ॥ ५५ ॥

अशुभं वा शुभं वापि हितं वा यदि वाहितम्।
प्रवर्ततां सुहृद्द्यूतं दिष्टमेतन्न संशयः ॥ ५६ ॥

अशुभ हो या शुभ, हितकर हो या अहितकर, सुहृदोंमें यह द्यूतक्रीड़ा प्रारम्भ होनी ही चाहिये। निःसंदेह यह भाग्यसे ही प्राप्त हुई है ॥ ५६ ॥

मयि संनिहिते द्रोणे भीष्मे त्वयि च भारत।
अनयो दैवविहितो न कथंचिद् भविष्यति ॥ ५७ ॥

भारत! जब मैं, द्रोणाचार्य, भीष्मजी तथा तुम—ये सब लोग संनिकट रहेंगे, तब किसी प्रकार दैवविहित अन्याय नहीं होने पायगा ॥ ५७ ॥

गच्छ त्वं रथमास्थाय हयैर्वातसमैर्जवे।
खाण्डवप्रस्थमद्यैव समानय युधिष्ठिरम् ॥ ५८ ॥

तुम वायुके समान वेगशाली घोड़ोंद्वारा जुते हुए रथपर बैठकर अभी खाण्डवप्रस्थको जाओ और युधिष्ठिरको बुला ले आओ ॥ ५८ ॥

न वाच्यो व्यवसायो मे विदुरैतद् ब्रवीमि ते।
दैवमेव परं मन्ये येनैतदुपपद्यते ॥ ५९ ॥

विदुर! मेरा निश्चय तुम युधिष्ठिरसे न बताना; यह बात मैं तुमसे कहे देता हूँ। मैं दैवको भी प्रबल मानता हूँ, जिसकी प्रेरणासे यह द्यूतक्रीड़ाका आरम्भ होने जा रहा है ॥

इत्युक्तो विदुरो धीमान् नेदमस्तीति चिन्तयन्।
आपगेयं महाप्राज्ञमभ्यगच्छत् सुदुःखितः ॥ ६० ॥

धृतराष्ट्रके ऐसा कहनेपर बुद्धिमान् विदुरजी यह सोचते हुए कि यह द्यूतक्रीड़ा अच्छी नहीं है, अत्यन्त दुःखी हो महाज्ञानी गङ्गानन्दन भीष्मजीके पास गये ॥ ६० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकोनपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ४९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक उनचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ४९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ७ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रको अपने दुःख और चिन्ताका कारण बताना

जनमेजय उवाच

कथं समभवद् द्यूतं भ्रातॄणां तन्महात्ययम्।
यत्र तद् व्यसनं प्राप्तं पाण्डवैर्मे पितामहैः॥ १॥

जनमेजयने पूछा—मुने! भाइयोंमें वह महाविनाशकारी द्यूत किस प्रकार आरम्भ हुआ; जिसमें मेरे पितामह पाण्डवोंको उस महान् संकटका सामना करना पड़ा?॥ १॥

के च तत्र सभास्तारा राजानो ब्रह्मवित्तम।
के चैनमन्वमोदन्त के चैनं प्रत्यषेधयन्॥ २॥

ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ महर्षे! वहाँ कौन-कौनसे राजा सभासद् थे? किसने द्यूतक्रीडाका अनुमोदन किया और किसने निषेध?॥ २॥

विस्तरेणैतदिच्छामि कथ्यमानं त्वया द्विज।
मूलं ह्येतद् विनाशस्य पृथिव्या द्विजसत्तम॥ ३॥

ब्रह्मन्! मैं इस प्रसङ्गको आपके मुखसे विस्तारपूर्वक सुनना चाहता हूँ। विप्रवर! यह द्यूत ही समस्त भूमण्डलके विनाशका मुख्य कारण है॥ ३॥

सौतिरुवाच

एवमुक्तस्ततो राज्ञा व्यासशिष्यः प्रतापवान्।
आचचक्षेऽथ यद् वृत्तं तत् सर्वं वेदतत्त्ववित्॥ ४॥

सौति कहते हैं—राजाके इस प्रकार पूछनेपर व्यासजीके प्रतापी शिष्य वेदतत्त्वज्ञ वैशम्पायनजी वह सब प्रसङ्ग कहने लगे॥ ४॥

वैशम्पायन उवाच

शृणु मे विस्तरेणेमां कथां भारतसत्तम।
भूय एव महाराज यदि ते श्रवणे मतिः॥ ५॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतवंशशिरोमणे! महाराज जनमेजय! यदि तुम्हारा मन यह सब सुननेमें लगता है तो पुनः विस्तारके साथ इस कथाको सुनो॥ ५॥

विदुरस्य मतिं ज्ञात्वा धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः।
दुर्योधनमिदं वाक्यमुवाच विजने पुनः॥ ६॥

विदुरका विचार जानकर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने एकान्तमें दुर्योधनसे पुनः इस प्रकार कहा—॥ ६॥

अलं द्यूतेन गान्धारे विदुरो न प्रशंसति।
न ह्यसौ सुमहाबुद्धिरहितं नो वदिष्यति॥ ७॥

'गान्धारीनन्दन! जूएका खेल नहीं होना चाहिये, विदुर इसे अच्छा नहीं बताते हैं। महाबुद्धिमान् विदुर हमें कोई ऐसी सलाह नहीं देंगे, जिससे हमलोगोंका अहित होनेवाला हो॥ ७॥

हितं हि परमं मन्ये विदुरो यत् प्रभाषते।
क्रियतां पुत्र तत् सर्वमेतन्मन्ये हितं तव॥ ८॥

'विदुर जो कहते हैं, उसीको मैं अपना सर्वोत्तम हित मानता हूँ। बेटा! तुम भी वही सब करो। मेरी समझमें तुम्हारे लिये यही हितकर है॥ ८॥

देवर्षिर्वासवगुरुर्देवराजाय धीमते।
यत् प्राह शास्त्रं भगवान् बृहस्पतिरुदारधीः॥
तद् वेद विदुरः सर्वं सरहस्यं महाकविः॥ ९॥
स्थितस्तु वचने तस्य सदाहमपि पुत्रक।
विदुरो वापि मेधावी कुरूणां प्रवरो मतः॥ १०॥
उद्धवो वा महाबुद्धिर्वृष्णीनामर्चितो नृप।
तदलं पुत्र द्यूतेन द्यूते भेदो हि दृश्यते॥ ११॥

'उदार बुद्धिवाले इन्द्रगुरु देवर्षि भगवान् बृहस्पतिने परम बुद्धिमान् देवराज इन्द्रको जिस शास्त्रका उपदेश दिया था, वह सब उसके रहस्यसहित महाज्ञानी विदुर जानते हैं। बेटा! मैं भी सदा विदुरकी बात मानता हूँ। कुरुकुलमें सबसे श्रेष्ठ और मेधावी विदुर माने गये हैं तथा वृष्णिवंशमें पूजित उद्धवको परम बुद्धिमान् बताया गया है। अतः बेटा! जूआ खेलनेसे कोई लाभ नहीं है। जूएमें वैर-विरोधकी सम्भावना दिखायी देती है॥ ९—११॥

भेदे विनाशो राज्यस्य तत् पुत्र परिवर्जय।
पित्रा मात्रा च पुत्रस्य यद् वै कार्यं परं स्मृतम्॥ १२॥

'वैर-विरोध होनेसे राज्यका नाश हो जाता है, अतः पुत्र! जूएका आग्रह छोड़ दो। पिता-माताको चाहिये कि वे पुत्रको उत्तम कर्तव्यकी शिक्षा दें; इसीलिये मैंने ऐसा कहा है॥ १२॥

प्राप्तस्त्वमसि तद्धाम पितृपैतामहं पदम्।
अधीतवान् कृती शास्त्रे लालितः सततं गृहे॥ १३॥

'बेटा! तुम अपने बाप-दादोंके पदपर प्रतिष्ठित हो, तुमने वेदोंका स्वाध्याय किया है, शास्त्रोंकी विद्वत्ता प्राप्त की है और घरमें सदा तुम्हारा लालन-पालन हुआ है॥ १३॥

भ्रातृज्येष्ठः स्थितो राज्ये विन्दसे किं न शोभनम्।
पृथग्जनैरलभ्यं यद् भोजनाच्छादनं परम्॥ १४॥
तत् प्राप्तोऽसि महाबाहो कस्माच्छोचसि पुत्रक।
स्फीतं राष्ट्रं महाबाहो पितृपैतामहं महत्॥ १५॥

'महाबाहो! तुम अपने भाइयोंमें बड़े हो, अतः राज्यके पदपर स्थित हो, तुम्हें किस कल्याणमय वस्तुकी प्राप्ति नहीं होती है? दूसरे लोगोंके लिये जो अलभ्य है, वह उत्तम भोजन और

वस्त्र तुम्हें प्राप्त हैं। फिर तुम क्यों शोक करते हो। महाबाहो! तुम्हारे बाप-दादोंका यह महान् राष्ट्र धन-धान्यसे सम्पन्न है ॥ १४-१५ ॥

नित्यमाज्ञापयन् भासि दिवि देवेश्वरो यथा।
तस्य ते विदितप्रज्ञ शोकमूलमिदं कथम्।
समुत्थितं दुःखकरं यन्मे शंसितुमर्हसि ॥ १६ ॥

'स्वर्गमें देवराज इन्द्रकी भाँति तुम इस लोकमें सदा सबपर शासन करते हुए शोभा पाते हो। तुम्हारी उत्तम बुद्धि प्रसिद्ध है। फिर तुम्हें शोककी कारणभूत यह दुःखदायिनी चिन्ता कैसे प्राप्त हुई है। यह मुझसे बताओ' ॥ १६ ॥

दुर्योधन उवाच

अश्नाम्याच्छादयामीति प्रपश्यन् पापपूरुषः।
नामर्षं कुरुते यस्तु पुरुषः सोऽधमः स्मृतः ॥ १७ ॥

दुर्योधन बोला—मैं अच्छा खाता हूँ और अच्छा पहिनता हूँ, इतना ही देखते हुए जो पापी पुरुष शत्रुओंके प्रति ईर्ष्या नहीं करता, वह अधम बताया गया है ॥ १७ ॥

न मां प्रीणाति राजेन्द्र लक्ष्मीः साधारणी विभो।
ज्वलितामेव कौन्तेये श्रियं दृष्ट्वा च विव्यथे ॥ १८ ॥

राजेन्द्र! यह साधारण लक्ष्मी मुझे प्रसन्न नहीं कर पाती। मैं तो कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी उस जगमगाती हुई लक्ष्मीको देखकर व्यथित हो रहा हूँ ॥ १८ ॥

सर्वां च पृथिवीं चैव युधिष्ठिरवशानुगाम्।
स्थिरोऽस्मि योऽहं जीवामि दुःखादेतद् ब्रवीमि ते ॥ १९ ॥

सारी पृथ्वी युधिष्ठिरके अधीन हो गयी है; फिर भी मैं पाषाणतुल्य हूँ जो कि ऐसा दुःख प्राप्त होनेपर भी जीवित हूँ और आपसे बातें करता हूँ ॥ १९ ॥

आवर्जिता इवाभान्ति नीपाश्चित्रककौकुराः।
कारस्करा लोहजङ्घा युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २० ॥

नीप, चित्रक, कुकुर, कारस्कर तथा लोहजङ्घ आदि क्षत्रियनरेश युधिष्ठिरके घरमें सेवकोंकी भाँति सेवा करते हुए शोभा पा रहे थे ॥ २० ॥

हिमवत्सागरानूपाः सर्वे रत्नाकरास्तथा।
अन्त्याः सर्वे पर्युदस्ता युधिष्ठिरनिवेशने ॥ २१ ॥

हिमालय प्रदेश तथा समुद्री द्वीपोंके रहनेवाले और रत्नोंकी खानोंके सभी अधिपति म्लेच्छजातीय नरेश युधिष्ठिरके घरमें प्रवेश करने नहीं पाते थे, उन्हें महलसे दूर ही ठहराया गया था ॥ २१ ॥

ज्येष्ठोऽयमिति मां मत्वा श्रेष्ठश्चेति विशाम्पते।
युधिष्ठिरेण सत्कृत्य युक्तो रत्नपरिग्रहे ॥ २२ ॥

महाराज! मुझे अन्य सब भाइयोंसे ज्येष्ठ और श्रेष्ठ मानकर युधिष्ठिरने सत्कारपूर्वक रत्नोंकी भेंट लेनेके कामपर नियुक्त कर दिया था ॥ २२ ॥

उपस्थितानां रत्नानां श्रेष्ठानामर्घहारिणाम्।
नादृश्यत परः पारो नापरस्तत्र भारत ॥ २३ ॥

भारत! वहाँ भेंट लाये हुए नरेशोंके द्वारा उपस्थित श्रेष्ठ और बहुमूल्य रत्नोंकी जो राशि एकत्र हुई थी, उसका आरपार दिखायी नहीं देता था ॥ २३ ॥

न मे हस्तः समभवद् वसु तत् प्रतिगृह्णतः।
अतिष्ठन्त मयि श्रान्ते गृह्य दूराहृतं वसु ॥ २४ ॥

उस रत्नराशिको ग्रहण करते-करते जब मेरा हाथ थक गया, तब मेरे थक जानेपर राजालोग रत्नराशि लिये बहुत दूरतक खड़े दिखायी देने लगते थे ॥ २४ ॥

कृतां बिन्दुसरोरत्नैर्मयेन स्फाटिकच्छदाम्।
अपश्यं नलिनीं पूर्णामुदकस्येव भारत ॥ २५ ॥
वस्त्रमुत्कर्षति मयि प्राहसत् स वृकोदरः।
शत्रोर्ऋद्धिविशेषेण विमूढं रत्नवर्जितम् ॥ २६ ॥

भारत! बिन्दु-सरोवरसे लाये हुए रत्नोंद्वारा मयासुरने एक कृत्रिम पुष्करिणीका निर्माण किया था, जो स्फटिक-मणिकी शिलाओंसे आच्छादित है। वह मुझे जलसे भरी हुई-सी दिखायी दी। भारत! जब मैं उसमें उतरनेके लिये वस्त्र उठाने लगा, तब भीमसेन ठठाकर हँस पड़े। शत्रुकी विशिष्ट समृद्धिसे मैं मूढ़-सा हो रहा था और रत्नोंसे रहित तो था ही ॥ २५-२६ ॥

तत्र स्म यदि शक्तः स्यां पातयेऽहं वृकोदरम्।
यदि कुर्यां समारम्भं भीमं हन्तुं नराधिप ॥ २७ ॥
शिशुपाल इवास्माकं गतिः स्यान्नात्र संशयः।
सपत्नेनावहासो मे स मां दहति भारत ॥ २८ ॥

उस समय वहाँ यदि मैं समर्थ होता तो भीमसेनको वहीं मार गिराता। राजन्! यदि मैं भीमसेनको मारनेका उद्योग करता तो मेरी भी शिशुपालकी-सी ही दशा हो जाती; इसमें संशय नहीं है। भारत! शत्रुके द्वारा किया हुआ उपहास मुझे दग्ध किये देता है ॥ २७-२८ ॥

पुनश्च तादृशीमेव वापीं जलजशालिनीम्।
मत्वा शिलासमां तोये पतितोऽस्मि नराधिप ॥ २९ ॥

नरेश्वर! मैंने पुनः एक वैसी ही बावलीको देखकर, जो कमलोंसे सुशोभित हो रही थी, समझा कि यह भी पहली पुष्करिणीकी भाँति स्फटिकशिलासे पाटकर बराबर कर दी गयी होगी; परंतु वह वास्तवमें जलसे परिपूर्ण थी, इसलिये मैं भ्रमसे उसमें गिर पड़ा ॥ २९ ॥

तत्र मां प्राहसत् कृष्णः पार्थेन सह सुस्वरम्।
द्रौपदी च सह स्त्रीभिर्व्यथयन्ती मनो मम ॥ ३० ॥

वहाँ श्रीकृष्ण अर्जुनके साथ मेरी ओर देखकर जोर-जोरसे हँसने लगे। स्त्रियोंसहित द्रौपदी भी मेरे हृदयमें चोट पहुँचाती हुई हँस रही थी ॥ ३० ॥

क्लिन्नवस्त्रस्य तु जले किंकरा राजनोदिताः।
ददुर्वासांसि मेऽन्यानि तच्च दुःखं परं मम ॥ ३१ ॥

मेरे सब कपड़े जलमें भीग गये थे; अतः राजाकी आज्ञासे सेवकोंने मुझे दूसरे वस्त्र दिये। यह मेरे लिये बड़े दुःखकी बात हुई ॥ ३१ ॥

प्रलम्भं च शृणुष्वान्यद् वदतो मे नराधिप।
अद्वारेण विनिर्गच्छन् द्वारसंस्थानरूपिणा।
अभिहत्य शिलां भूयो ललाटेनास्मि विक्षतः ॥ ३२ ॥

महाराज! एक और वञ्चना मुझे सहनी पड़ी, जिसे बताता हूँ, सुनिये। एक जगह बिना द्वारके ही द्वारकी आकृति बनी हुई थी, मैं उसीसे निकलने लगा; अतः शिलासे टकरा गया। जिससे मेरे ललाटमें बड़े जोरकी चोट लगी ॥ ३२ ॥

तत्र मां यमजौ दूरादालोक्याभिहतं तदा।
बाहुभिः परिगृह्णीतां शोचन्तौ सहितावुभौ ॥ ३३ ॥

उस समय नकुल और सहदेवने दूरसे मुझे टकराते देख निकट आकर अपने हाथोंसे मुझे पकड़ लिया और दोनों भाई साथ रहकर मेरे लिये शोक करने लगे ॥ ३३ ॥

उवाच सहदेवस्तु तत्र मां विस्मयन्निव।
इदं द्वारमितो गच्छ राजन्निति पुनः पुनः ॥ ३४ ॥

वहाँ सहदेवने मुझे आश्चर्यमें डालते हुए बार-बार यह कहा—'राजन्! यह दरवाजा है, इधर चलिये' ॥ ३४ ॥

भीमसेनेन तत्रोक्तो धृतराष्ट्रात्मजेति च।
सम्बोध्य प्रहसित्वा च इतो द्वारं नराधिप ॥ ३५ ॥

महाराज! वहाँ भीमसेनने मुझे 'धृतराष्ट्रपुत्र' कहकर सम्बोधित किया और हँसते हुए कहा—'राजन्! इधर दरवाजा है' ॥ ३५ ॥

नामधेयानि रत्नानां पुरस्तान्न श्रुतानि मे।
यानि दृष्टानि मे तस्यां मनस्तपति तच्च मे ॥ ३६ ॥

मैंने उस सभामें जो-जो रत्न देखे हैं, उनके पहले कभी नाम भी नहीं सुने थे; अतः इन सब बातोंके लिये मेरे मनमें बड़ा संताप हो रहा है ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक पचासवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५० ॥

एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको भेंटमें मिली हुई वस्तुओंका दुर्योधनद्वारा वर्णन

दुर्योधन उवाच

यन्मया पाण्डवेयानां दृष्टं तच्छृणु भारत।
आहृतं भूमिपालैर्हि वसु मुख्यं ततस्ततः ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—भारत! मैंने पाण्डवोंके यज्ञमें राजाओंके द्वारा भिन्न-भिन्न देशोंसे लाये हुए जो उत्तम धनरत्न देखे थे, उन्हें बताता हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

नाविदं मूढमात्मानं दृष्ट्वाहं तदरेर्धनम्।
फलतो भूमितो वापि प्रतिपद्यस्व भारत ॥ २ ॥

भरतकुलभूषण! आप सच मानिये, शत्रुओंका वह वैभव देखकर मेरा मन मूढ़-सा हो गया था। मैं इस बातको न जान सका कि यह धन कितना है और किस देशसे लाया गया है ॥ २ ॥

और्णान् बैलान् वार्षदंशाञ्जातरूपपरिष्कृतान्।
प्रावाराजिनमुख्यांश्च काम्बोजः प्रददौ बहून् ॥ ३ ॥
अश्वांस्तित्तिरिकल्माषांस्त्रिशतं शुकनासिकान्।
उष्ट्रवामीस्त्रिशतं च पुष्टाः पीलुशमीङ्गुदैः ॥ ४ ॥

काम्बोजनरेशने भेड़के ऊन, बिलमें रहनेवाले चूहे आदिके रोएँ तथा बिल्लियोंकी रोमावलियोंसे तैयार किये हुए, सुवर्णचित्रित बहुत-से सुन्दर वस्त्र और मृगचर्म भेंटमें दिये थे। तीतर पक्षीकी भाँति चितकबरे और तोतेके समान नाकवाले तीन सौ घोड़े दिये थे। इसके सिवा तीन-तीन सौ ऊँटनियाँ और खचरियाँ भी दी थीं, जो पीलु, शमी और इङ्गुद खाकर मोटी-ताजी हुई थीं ॥ ३-४ ॥

गोवासना ब्राह्मणाश्च दासनीयाश्च सर्वशः।
प्रीत्यर्थं ते महाराज धर्मराज्ञो महात्मनः ॥ ५ ॥
त्रिखर्वं बलिमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः।
ब्राह्मणा वाटधानाश्च गोमन्तः शतसङ्घशः ॥ ६ ॥
कमण्डलूनुपादाय जातरूपमयाञ्छुभान्।
एवं बलिं समादाय प्रवेशं लेभिरे न च ॥ ७ ॥

महाराज! ब्राह्मण लोग तथा गाय-बैलोंका पोषण करनेवाले वैश्य और दास-कर्मके योग्य शूद्र आदि सभी महात्मा धर्मराजकी प्रसन्नताके लिये तीन खर्वके लागतकी भेंट लेकर दरवाजेपर रोके हुए खड़े थे। ब्राह्मणलोग तथा हरी-भरी

खेती उपजाकर जीवन-निर्वाह करनेवाले और बहुत-से गाय-बैल रखनेवाले वैश्य सैकड़ों दलोंमें इकट्ठे होकर सोनेके बने हुए सुन्दर कलश एवं अन्य भेंट-सामग्री लेकर द्वारपर खड़े थे । परंतु भीतर प्रवेश नहीं



कर पाते थे ॥ ५—७ ॥

(यश्च स द्विजमुख्येन राज्ञः शङ्खो निवेदितः ।
प्रीत्या दत्तः कुणिन्देन धर्मराजाय धीमते ॥

द्विजोंमें प्रधान राजा कुणिन्दने परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरको बड़े प्रेमसे एक शङ्ख निवेदन किया ॥

तं सर्वे भ्रातरो भ्रात्रे दद्युः शङ्खं किरीटिने ।
तं प्रत्यगृह्णाद् बीभत्सुस्तोयजं हेममालिनम् ॥
चितं निष्कसहस्रेण भ्राजमानं स्वतेजसा ।

उस शङ्खको सब भाइयोंने मिलकर किरीटधारी अर्जुनको दे दिया । उसमें सोनेका हार जड़ा हुआ था और एक हजार स्वर्णमुद्राएँ मढ़ी गयी थीं । अर्जुनने उसे सादर ग्रहण किया । वह शङ्ख अपने तेजसे प्रकाशित हो रहा था ॥

रुचिरं दर्शनीयं च भूषितं विश्वकर्मणा ॥
अधारयच्च धर्मश्च तं नमस्य पुनः पुनः ।

साक्षात् विश्वकर्माने उसे रत्नोंद्वारा विभूषित किया था । वह बहुत ही सुन्दर और दर्शनीय था । साक्षात् धर्मने उस शङ्खको बार-बार नमस्कार करके धारण किया था ॥

योऽन्नदाने नदति स ननादाधिकं तदा ॥
प्रणादाद् भूमिपास्तस्य पेतुर्हीनाः स्वतेजसा ॥

अन्नदान करनेपर वह शङ्ख अपने आप बज उठता था । उस समय उस शङ्खने बड़े जोरसे अपनी ध्वनिका विस्तार किया । उसके गम्भीर नादसे समस्त भूमिपाल तेजोहीन होकर पृथ्वीपर गिर पड़े ॥

धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः ।
सत्त्वस्थाः शौर्यसम्पन्ना अन्योन्यप्रियकारिणः ॥

केवल धृष्टद्युम्न, पाँच पाण्डव, सात्यकि तथा आठवें श्रीकृष्ण धैर्यपूर्वक खड़े रहे । ये सब-के-सब एक दूसरेका प्रिय करनेवाले तथा शौर्यसे सम्पन्न हैं ॥

विसंज्ञान् भूमिपान् दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा ॥
ततः प्रहृष्टो बीभत्सुरददाद्धेमशृङ्गिणः ।
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्याय भारत ॥

इन्होंने मुझको तथा दूसरे भूमिपालोंको मूर्छित हुआ देख जोर-जोरसे हँसना आरम्भ किया । उस समय अर्जुनने अत्यन्त प्रसन्न होकर एक श्रेष्ठ ब्राह्मणको पाँच सौ हृष्ट-पुष्ट बैल दिये । वे बैल गाड़ीका बोझ ढोनेमें समर्थ थे और उनके सींगोंमें सोना मढ़ा गया था ॥

सुमुखेन बलिर्मुख्यः प्रेषितोऽजातशत्रवे ।
कुणिन्देन हिरण्यं च वासांसि विविधानि च ॥

भारत ! राजा सुमुखने अजातशत्रु युधिष्ठिरके पास भेंटकी प्रमुख वस्तुएँ भेजी थीं । कुणिन्दने भाँति-भाँतिके वस्त्र और सुवर्ण दिये थे ॥

काश्मीरराजो मार्द्वीकं शुद्धं च रसवन्मधु ।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवायाभ्युपाहरत् ॥

काश्मीरनरेशने मीठे तथा रसीले शुद्ध अंगूरोंके गुच्छे भेंट किये थे । साथ ही सब प्रकारकी उपहार-सामग्री लेकर उन्होंने पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरकी सेवामें उपस्थित की थी ॥

यवना हयानुपादाय पर्वतीयान् मनोजवान् ।
आसनानि महार्हाणि कम्बलांश्च महाधनान् ॥
नवान् विचित्रान् सूक्ष्मांश्च परार्ध्यान् सुप्रदर्शनान् ।
अन्यच्च विविधं रत्नं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥

कितने ही यवन मनके समान वेगशाली पर्वतीय घोड़े, बहुमूल्य आसन, नूतन, सूक्ष्म, विचित्र दर्शनीय और कीमती कम्बल, भाँति-भाँतिके रत्न तथा अन्य वस्तुएँ लेकर राजद्वारपर खड़े थे, फिर भी अंदर नहीं जाने पाते थे ॥

श्रुतायुरपि कालिङ्गो मणिरत्नमनुत्तमम् ।

कलिङ्गनरेश श्रुतायुने उत्तम मणिरत्न भेंट किये ॥

दक्षिणात् सागराभ्याशात् प्रावारांश्च परःशतान् ॥
औदकानि सरत्नानि बलिं चादाय भारत ।
अन्येभ्यो भूमिपालेभ्यः पाण्डवाय न्यवेदयत् ॥

इसके सिवा, उन्होंने दूसरे भूपालोंसे दक्षिण समुद्रके निकटसे सैकड़ों उत्तरीय वस्त्र, शङ्ख, रत्न तथा अन्य उपहार-सामग्री लेकर पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको समर्पित की ॥

दार्दुरं चन्दनं मुख्यं भारान् षण्णवतिं ध्रुवम् ।
पाण्डवाय ददौ पाण्ड्यः शङ्खांस्तावत एव च ॥

पाण्ड्यनरेशने मलय और दर्दुरपर्वतके श्रेष्ठ चन्दनके छियानबे भार युधिष्ठिरको भेंट किये। फिर उतने ही शङ्ख भी समर्पित किये ॥

चन्दनागुरु चानन्तं मुक्तावैदूर्यचित्रकाः।
चोलश्च केरलश्चोभौ ददतुः पाण्डवाय वै ॥

चोल और केरलदेशके नरेशोंने असंख्य चन्दन, अगुरु तथा मोती, वैदूर्य तथा चित्रक नामक रत्न धर्मराज युधिष्ठिरको अर्पित किये ॥

अश्मको हेमश‍ृङ्गीश्च दोग्ध्रीर्हेमविभूषिताः।
सवत्साः कुम्भदोहाश्च गाः सहस्राण्यदाद् दश ॥

राजा अश्मकने बछड़ोंसहित दस हजार दुधारू गौएँ भेंट कीं, जिनके सींगोंमें सोना मढ़ा हुआ था और गलेमें सोनेके आभूषण पहनाये गये थे। उनके थन घड़ोंके समान दिखायी देते थे ॥

सैन्धवानां सहस्राणि हयानां पञ्चविंशतिम्।
अददात् सैन्धवो राजा हेममाल्यैरलंकृतान् ॥

सिन्धुनरेशने सुवर्ण-मालाओंसे अलंकृत पचीस हजार सिन्धुदेशीय घोड़े उपहारमें दिये थे ॥

सौवीरो हस्तिभिर्युक्तान् रथांश्च त्रिशतावरान्।
जातरूपपरिष्कारान् मणिरत्नविभूषितान् ॥
मध्यंदिनार्कप्रतिमांस्तेजसाप्रतिमानिव।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवाय न्यवेदयत् ॥

सौवीरराजने हाथी जुते हुए रथ प्रदान किये, जो तीन सौसे कम न रहे होंगे। उन रथोंको सुवर्ण, मणि तथा रत्नोंसे सजाया गया था। वे दोपहरके सूर्यकी भाँति जगमगा रहे थे। उनसे जो प्रभा फैल रही थी, उसकी कहीं भी उपमा न थी। इन रथोंके सिवा, उन्होंने अन्य सब प्रकारकी उपहार-सामग्री युधिष्ठिरको भेंट की थी ॥

अवन्तिराजो रत्नानि विविधानि सहस्रशः।
हारानङ्गदांश्च मुख्यान् वै विविधं च विभूषणम् ॥
दासीनामयुतं चैव बलिमादाय भारत।
सभाद्वारि नरश्रेष्ठ दिदृक्षुरवतिष्ठते ॥

नरश्रेष्ठ भरतनन्दन! अवन्तीनरेश नाना प्रकारके सहस्रों रत्न, हार, श्रेष्ठ अङ्गद (बाजूबंद), भाँति-भाँतिके अन्यान्य आभूषण, दस हजार दासियों तथा अन्यान्य उपहार-सामग्री साथ लेकर राजसभाके द्वारपर खड़े थे और भीतर जाकर युधिष्ठिरका दर्शन पानेके लिये उत्सुक हो रहे थे ॥

दशार्णश्चेदिराजश्च शूरसेनश्च वीर्यवान्।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवाय न्यवेदयत् ॥

दशार्णनरेश, चेदिराज तथा पराक्रमी राजा शूरसेनने सब प्रकारकी उपहार-सामग्री लाकर युधिष्ठिरको समर्पित की ॥

काशिराजेन हृष्टेन बली राजन् निवेदितः ॥
अशीतिगोसहस्राणि शतान्यष्टौ च दन्तिनाम्।
विविधानि च रत्नानि काशिराजो बलिं ददौ ॥

राजन्! काशीनरेशने भी बड़ी प्रसन्नताके साथ अस्सी हजार गौएँ, आठ सौ गजराज तथा नाना प्रकारके रत्न भेंट किये ॥

कृतक्षणश्च वैदेहः कौसलश्च बृहद्बलः।
ददतुर्वाजिमुख्यांश्च सहस्राणि चतुर्दश ॥

विदेहराज कृतक्षण तथा कोसलनरेश बृहद्बलने चौदह-चौदह हजार उत्तम घोड़े दिये थे ॥

शैब्यो वसादिभिः सार्धं त्रिगर्तो मालवैः सह।
तस्मै रत्नानि ददतुरेकैको भूमिपोऽमितम् ॥
हारांस्तु मुक्तान् मुख्यांश्च विविधं च विभूषणम्।)

वस आदि नरेशोंसहित राजा शैब्य तथा मालवोंसहित त्रिगर्तराजने युधिष्ठिरको बहुत-से रत्न भेंट किये, उनमेंसे एक-एक भूपालने असंख्य हार, श्रेष्ठ मोती तथा भाँति-भाँतिके आभूषण समर्पित किये थे ॥

शतं दासीसहस्राणां कार्पासिकनिवासिनाम् ॥ ८ ॥
श्यामास्तन्व्यो दीर्घकेश्यो हेमाभरणभूषिताः।

कार्पासिक देशमें निवास करनेवाली एक लाख दासियाँ उस यज्ञमें सेवा कर रही थीं। वे सब-की-सब श्यामा तथा तन्वङ्गी थीं। उन सबके केश बड़े-बड़े थे और वे सभी सोनेके आभूषणोंसे विभूषित थीं ॥ ८½ ॥

शूद्रा विप्रोत्तमार्हाणि राङ्कवाण्यजिनानि च ॥ ९ ॥
बलिं च कृत्स्नमादाय भरुकच्छनिवासिनः।
उपनिन्युर्महाराज हयान् गान्धारदेशजान् ॥ १० ॥

महाराज! भरुकच्छ (भड़ौंच) निवासी शूद्र श्रेष्ठ ब्राह्मणोंके उपभोगमें आने योग्य रङ्कुमृगके चर्म तथा अन्य सब प्रकारकी भेंट-सामग्री लेकर उपस्थित हुए थे। वे अपने साथ गान्धार-देशके बहुत से घोड़े भी लाये थे ॥ ९-१० ॥

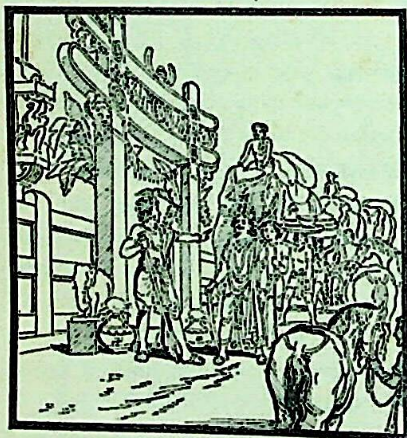
इन्द्रकृष्टैर्वर्तयन्ति धान्यैर्ये च नदीमुखैः।
समुद्रनिष्कुटे जाताः पारेसिन्धु च मानवाः ॥ ११ ॥
ते वैरामाः पारदाश्च आभीराः कितवैः सह।
विविधं बलिमादाय रत्नानि विविधानि च ॥ १२ ॥
अजाविकं गोहिरण्यं खरोष्ट्रं फलजं मधु।
कम्बलान् विविधांश्चैव द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १३ ॥

जो समुद्रतटवर्ती गृहोद्यानमें तथा सिन्धुके उस पार रहते हैं, वर्षाद्वारा इन्द्रके पैदा किये हुए तथा नदीके जलसे उत्पन्न हुए नाना प्रकारके धान्योंद्वारा जीवननिर्वाह करते हैं, वे वैराम, पारद, आभीर तथा कितव जातिके लोग नाना प्रकारके रत्न एवं भाँति-भाँतिकी भेंट-सामग्री—बकरी,

मेंढ़, गाय, सुवर्ण, गधे, ऊँट, फलसे तैयार किया हुआ मधु तथा अनेक प्रकारके कम्बल लेकर राजद्वारपर रोक दिये जानेके कारण (बाहर ही) खड़े थे और भीतर नहीं जाने पाते थे ॥ ११–१३ ॥

प्राग्ज्योतिषाधिपः शूरो म्लेच्छानामधिपो बली ।
यवनैः सहितो राजा भगदत्तो महारथः ॥ १४ ॥
आजानेयान् हयाञ्छीघ्रानादायानिलरंहसः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठति वारितः ॥ १५ ॥

प्राग्ज्योतिषपुरके अधिपति तथा म्लेच्छोंके स्वामी शूरवीर एवं बलवान् महारथी राजा भगदत्त यवनोंके साथ पधारे थे और वायुके समान वेगवाले अच्छी जातिके शीघ्रगामी घोड़े तथा सब प्रकारकी भेंट-सामग्री लेकर



राजद्वारपर खड़े थे । (अधिक भीड़के कारण) उनका प्रवेश भी रोक दिया गया था ॥ १४-१५ ॥

अश्मसारमयं भाण्डं शुद्धदन्तत्सरूनसीन् ।
प्राग्ज्योतिषाधिपो दत्त्वा भगदत्तोऽव्रजत् तदा ॥ १६ ॥

उस समय प्राग्ज्योतिषनरेश भगदत्त हीरे और पद्मराग आदि मणियोंके आभूषण तथा विशुद्ध हाथी-दाँतकी मूँठवाले खड्ग देकर भीतर गये थे ॥ १६ ॥

द्व्यक्षांस्त्र्यक्षांल्ललाटाक्षान् नानादिग्भ्यः समागतान् ।
औष्णीकानन्तवासांश्च रोमकान् पुरुषादकान् ॥ १७ ॥
एकपादांश्च तत्राहमपश्यं द्वारि वारितान् ।
राजानो बलिमादाय नानावर्णाननेकशः ॥ १८ ॥
कृष्णग्रीवान् महाकायान् रासभान् दूरपातिनः ।
आजह्रुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षु विश्रुतान् ॥ १९ ॥

द्व्यक्ष, त्र्यक्ष, ललाटाक्ष, औष्णीक, अन्तवास, रोमक, पुरुषादक तथा एकपाद—इन देशोंके राजा नाना दिशाओंसे आकर राजद्वारपर रोक दिये जानेके कारण खड़े थे, यह मैंने अपनी आँखों देखा था । ये राजालोग भेंट-सामग्री लेकर आये थे और अपने साथ अनेक रंगवाले बहुत-से दूरगामी गधे (खच्चर) लाये थे, जिनकी गर्दन काली और शरीर विशाल थे । उनकी संख्या दस हजार थी । वे सभी रासभ सिखलाये हुए तथा सम्पूर्ण दिशाओंमें विख्यात थे ॥ १७–१९ ॥

प्रमाणरागसम्पन्नान् वङ्क्षुतीरसमुद्भवान् ।
बल्यर्थं ददतस्तस्मै हिरण्यं रजतं बहु ॥ २० ॥
दत्त्वा प्रवेशं प्राप्तास्ते युधिष्ठिरनिवेशने ।

उनकी लंबाई, चौड़ाई और ऊँचाई जैसी होनी चाहिये, वैसी ही थी । उसका रंग भी अच्छा था । वे समस्त रासभ वङ्क्षु नदीके तटपर उत्पन्न हुए थे । उक्त राजालोग युधिष्ठिरको भेंटके लिये बहुत-सा सोना और चाँदी देते थे और देकर युधिष्ठिर यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट होते थे ॥ २०½ ॥

इन्द्रगोपकवर्णाभाञ्छुकवर्णान् मनोजवान् ॥ २१ ॥
तथैवेन्द्रायुधनिभान् संध्याभ्रसदृशानपि ।
अनेकवर्णानारण्यान् गृहीत्वाश्वान् महाजवान् ॥ २२ ॥
जातरूपमनर्घ्यं च ददुस्तस्यैकपादकाः ।

एकपाददेशीय राजाओंने इन्द्रगोप (वीरबहूटी) के समान लाल, तोतेके समान हरे, मनके समान वेगशाली, इन्द्रधनुषके तुल्य बहुरंगे, संध्याकालके बादलोंके सदृश लाल और अनेक वर्णवाले महावेगशाली जंगली घोड़े एवं बहुमूल्य सुवर्ण उन्हें भेंटमें दिये ॥ २१–२२½ ॥

चीनाञ्छकांस्तथा चौड्रान् बर्बरान् वनवासिनः ॥ २३ ॥
वार्ष्णेयान् हारहूणांश्च कृष्णान् हैमवतांस्तथा ।
नीपानूपानधिगतान् विविधान् द्वारवारितान् ॥ २४ ॥
बल्यर्थं ददतस्तस्य नानारूपाननेकशः ।
कृष्णग्रीवान् महाकायान् रासभाञ्छतपातिनः ।
अहार्षुर्दशसाहस्रान् विनीतान् दिक्षु विश्रुतान् ॥ २५ ॥

चीन, शक, ओड्र, वनवासी बर्बर, वार्ष्णेय, हार, हूण, कृष्ण, हिमालयप्रदेश, नीप और अनूप देशोंके नाना रूपधारी राजा वहाँ भेंट देनेके लिये आये थे, किंतु रोक दिये जानेके कारण दरवाजेपर ही खड़े थे । उन्होंने अनेक रूपवाले दस हजार गधे भेंटके लिये वहाँ प्रस्तुत किये थे, जिनकी गर्दन काली और शरीर विशाल थे, जो सौ कोसतक लगातार चल सकते थे । वे सभी सिखलाये हुए तथा सब दिशाओंमें विख्यात थे ॥ २३–२५ ॥

प्रमाणरागस्पर्शाढ्यं बाह्लीचीनसमुद्भवम् ।
और्णं च राङ्कवं चैव कीटजं पट्टजं तथा ॥ २६ ॥
कुटीकृतं तथैवात्र कमलाभं सहस्रशः ।
श्लक्ष्णं वस्त्रमकार्पासमाविकं मृदु चाजिनम् ॥ २७ ॥

निसितांश्चैव दीर्घासीनृष्टिशक्तिपरश्वधान् ।
अपरान्तसमुद्भूतांस्तथैव परशूञ्छितान् ॥ २८ ॥
रसान् गन्धांश्च विविधान् रत्नानि च सहस्रशः ।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ २९ ॥
शकास्तुषाराः कङ्काश्च रोमशाः शृङ्गिणो नराः ।

जिनकी लंबाई-चौड़ाई पूरी थी, जिनका रंग सुन्दर और स्पर्श सुखद था, ऐसे बाह्लीकचीनके बने हुए, ऊनी, हिरनके रोमसमूहसे बने हुए, रेशमी, पाटके, विचित्र गुच्छेदार तथा कमलके तुल्य कोमल सहस्रों चिकने वस्त्र, जिनमें कपासका नाम भी नहीं था तथा मुलायम मृगचर्म—ये सभी वस्तुएँ भेंटके लिये प्रस्तुत थीं। तीखी और लंबी तलवारें, ऋष्टि, शक्ति, फरसे, अपरान्त (पश्चिम) देशके बने हुए तीखे परशु, भाँति-भाँतिके रस और गन्ध, सहस्रों रत्न तथा सम्पूर्ण भेंट-सामग्री लेकर शक, तुषार, कंक, रोमश तथा शृङ्गीदेशके लोग राजद्वारपर रोके जाकर खड़े थे ॥२६–२९½॥

महागजान् दूरगमान् गणितानर्बुदान् हयान् ॥ ३० ॥
शतशश्चैव बहुशः सुवर्णं पद्मसम्मितम् ।
बलिमादाय विविधं द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ३१ ॥

दूरतक जानेवाले बड़े-बड़े हाथी, जिनकी संख्या एक अर्बुद थी एवं घोड़े, जिनकी संख्या कई सौ अर्बुद थी और सुवर्ण जो एक पद्मकी लागतका था—इन सबको तथा भाँति-भाँतिकी दूसरी उपहार-सामग्रीको साथ लेकर कितने ही नरेश राजद्वारपर रोके जाकर भेंट देनेके लिये खड़े थे ॥३०-३१॥

आसनानि महार्हाणि यानानि शयनानि च ।
मणिकाञ्चनचित्राणि गजदन्तमयानि च ॥ ३२ ॥
कवचानि विचित्राणि शस्त्राणि विविधानि च ।
रथांश्च विविधाकाराञ्जातरूपपरिष्कृतान् ॥ ३३ ॥
हयैर्विनीतैः सम्पन्नान् वैयाघ्रपरिवारितान् ।
विचित्रांश्च परिस्तोमान् रत्नानि विविधानि च ॥ ३४ ॥
नाराचानर्धनाराचाञ्छस्त्राणि विविधानि च ।
एतद् दत्त्वा महद् द्रव्यं पूर्वदेशाधिपा नृपाः ॥
प्रविष्टा यज्ञसदनं पाण्डवस्य महात्मनः ॥ ३५ ॥

बहुमूल्य आसन, वाहन, रत्न तथा सुवर्णसे जटित हाथीदाँतकी बनी हुई शय्याएँ, विचित्र कवच, भाँति-भाँतिके शस्त्र, सुवर्णभूषित, व्याघ्रचर्मसे आच्छादित और सुशिक्षित घोड़ोंसे जुते हुए अनेक प्रकारके रथ, हाथियोंपर बिछानेयोग्य विचित्र कम्बल, विभिन्न प्रकारके रत्न, नाराच, अर्धनाराच तथा अनेक तरहके शस्त्र—इन सब बहुमूल्य वस्तुओंको देकर पूर्वदेशके नरपतिगण महात्मा पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें प्रविष्ट हुए थे ॥ ३२–३५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे एकपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक इक्यावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५१ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २६ श्लोक मिलाकर कुल ६१ श्लोक हैं)

द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

युधिष्ठिरको भेंटमें मिली हुई वस्तुओंका दुर्योधनद्वारा वर्णन

दुर्योधन उवाच

दायं तु विविधं तस्मै शृणु मे गदतोऽनघ ।
यज्ञार्थं राजभिर्दत्तं महान्तं धनसंचयम् ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—अनघ ! राजाओंद्वारा युधिष्ठिरके यज्ञके लिये दिये हुए जिस महान् धनका संग्रह वहाँ हुआ था, वह अनेक प्रकारका था। मैं उसका वर्णन करता हूँ, सुनिये ॥ १ ॥

मेरुमन्दरयोर्मध्ये शैलोदामभितो नदीम् ।
ये ते कीचकवेणूनां छायां रम्यामुपासते ॥ २ ॥
खसा एकासना ह्यर्हाः प्रदरा दीर्घवेणवः ।
पारदाश्च कुलिन्दाश्च तङ्गणाः परतङ्गणाः ॥ ३ ॥
तद् वै पिपीलिकं नाम उद्धृतं यत् पिपीलिकैः ।
जातरूपं द्रोणमेयमहार्षुः पुञ्जशो नृपाः ॥ ४ ॥

मेरु और मन्दराचलके बीचमें प्रवाहित होनेवाली शैलोदा नदीके दोनों तटोंपर छिद्रोंमें वायुके भर जानेसे वेणुकी तरह बजनेवाले बाँसोंकी रमणीय छायामें जो लोग बैठते और विश्राम करते हैं, वे खस, एकासन, अर्ह, प्रदर, दीर्घवेणु, पारद, पुलिन्द, तङ्गण और परतङ्गण आदि नरेश भेंटमें देनेके लिये पिपीलिकाओं (चींटियों) द्वारा निकाले हुए पिपीलिक नामवाले सुवर्णके ढेर-के-ढेर उठा लाये थे। उसका माप द्रोणसे किया जाता था ॥ २–४ ॥

कृष्णाँल्ललामांश्चमरान्छुक्लांश्चान्याञ्छशिप्रभान् ।
हिमवत्पुष्पजं चैव स्वादु क्षौद्रं तथा बहु ॥ ५ ॥
उत्तरेभ्यः कुरुभ्यश्चाप्यपोढं माल्यमम्बुभिः ।
उत्तरादपि कैलासादोषधीः सुमहाबलाः ॥ ६ ॥
पार्वतीया बलिं चान्यमाहृत्य प्रणताः स्थिताः ।
अजातशत्रोर्नृपतेर्द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ ७ ॥

इतना ही नहीं, वे सुन्दर काले रंगके चँवर तथा चन्द्रमाके समान श्वेत दूसरे चामर एवं हिमालयके पुष्पोंसे उत्पन्न हुआ स्वादिष्ट मधु भी प्रचुर मात्रामें लाये थे। उत्तरकुरु

देशसे गङ्गाजल और मालाके योग्य रत्न तथा उत्तरकैलाससे प्राप्त हुई अतीव बलसम्पन्न ओषधियाँ एवं अन्य भेंटकी सामग्री साथ लेकर आये हुए पर्वतीय भूपालगण अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरके द्वारपर रोके जाकर विनीतभावसे खड़े थे ॥५-७॥

ये परार्धे हिमवतः सूर्योदयगिरौ नृपाः।
कारूषे च समुद्रान्ते लौहित्यमभितश्च ये ॥ ८ ॥
फलमूलाशना ये च किराताश्चर्मवाससः।
क्रूरशस्त्राः क्रूरकृतस्तांश्च पश्याम्यहं प्रभो ॥ ९ ॥

पिताजी! मैंने देखा कि जो राजा हिमालयके परार्धभागमें निवास करते हैं, जो उदयगिरिके निवासी हैं, जो समुद्रतटवर्ती कारूषदेशमें रहते हैं तथा जो लौहित्यपर्वतके दोनों ओर वास करते हैं, फल और मूल ही जिनका भोजन है, वे चर्मवस्त्रधारी क्रूरतापूर्वक शस्त्र चलानेवाले और क्रूरकर्मा किरातनरेश भी वहाँ भेंट लेकर आये थे ॥ ८-९ ॥

चन्दनागुरुकाष्ठानां भारान् कालीयकस्य च।
चर्मरत्नसुवर्णानां गन्धानां चैव राशयः ॥ १० ॥
कैरातकीनामयुतं दासीनां च विशाम्पते।
आहृत्य रमणीयार्थान् दूरजान् मृगपक्षिणः ॥ ११ ॥
निचितं पर्वतेभ्यश्च हिरण्यं भूरिवर्चसम्।
बलिं च कृत्स्नमादाय द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः ॥ १२ ॥

राजन्! चन्दन और अगुरुकाष्ठ तथा कृष्णागुरु काष्ठके अनेक भार, चर्म, रत्न, सुवर्ण तथा सुगन्धित पदार्थोंकी राशि और दस हजार किरातदेशीय दासियाँ, सुन्दर-सुन्दर पदार्थ, दूर देशोंके मृग और पक्षी तथा पर्वतोंसे संगृहीत तेजस्वी सुवर्ण एवं सम्पूर्ण भेंट-सामग्री लेकर आये हुए राजालोग द्वारपर रोके जानेके कारण खड़े थे ॥ १०-१२ ॥

कैराता दरदा दर्वाः शूरा वै यमकास्तथा।
औदुम्बरा दुर्विभागाः पारदा बाह्लिकैः सह ॥ १३ ॥
काश्मीराश्च कुमाराश्च घोरका हंसकायनाः।
शिबित्रिगर्तयौधेया राजन्या भद्रकेकयाः ॥ १४ ॥
अम्बष्ठाः कौकुरास्तार्क्ष्या वस्त्रपाः पह्लवैः सह।
वशातलाश्च मौलेयाः सह क्षुद्रकमालवैः ॥ १५ ॥
शौण्डिकाः कुकुराश्चैव शकाश्चैव विशाम्पते।
अङ्गा वङ्गाश्च पुण्ड्राश्च शाणवत्या गयास्तथा ॥ १६ ॥
सुजातयः श्रेणिमन्तः श्रेयांसः शस्त्रधारिणः।
अहार्षुः क्षत्रिया वित्तं शतशोऽजातशत्रवे ॥ १७ ॥

किरात, दरद, दर्व, शूर, यमक, औदुम्बर, दुर्विभाग, पारद, बाह्लिक, काश्मीर, कुमार, घोरक, हंसकायन, शिबि, त्रिगर्त, यौधेय, भद्र, केकय, अम्बष्ठ, कौकुर, तार्क्ष्य, वस्त्रप, पह्लव, वशातल, मौलेय, क्षुद्रक, मालव, शौण्डिक, कुक्कुर, शक, अङ्ग, वङ्ग, पुण्ड्र, शाणवत्य तथा गय—ये उत्तम कुलमें उत्पन्न श्रेष्ठ एवं शस्त्रधारी क्षत्रिय राजकुमार सैकड़ोंकी संख्यामें पङ्क्तिबद्ध खड़े होकर अजातशत्रु युधिष्ठिरको बहुत धन अर्पित कर रहे थे ॥ १३-१७ ॥

वङ्गाः कलिङ्गा मगधास्ताम्रलिप्ताः सपुण्ड्रकाः।
दौवालिकाः सागरकाः पत्त्रोर्णाः शैशवास्तथा ॥१८॥
कर्णप्रावरणाश्चैव बहवस्तत्र भारत।
तत्रस्था द्वारपालैस्ते प्रोच्यन्ते राजशासनात्।
कृतकालाः सुबलयस्ततो द्वारमवाप्स्यथ ॥१९॥

भारत! वङ्ग, कलिङ्ग, मगध, ताम्रलिप्त, पुण्ड्रक, दौवालिक, सागरक, पत्त्रोर्ण, शैशव तथा कर्णप्रावरण आदि बहुत-से क्षत्रियनरेश वहाँ दरवाजेपर खड़े थे तथा राजाज्ञासे द्वारपालगण उन सबको यह संदेश देते थे कि आपलोग अपने लिये समय निश्चित कर लें। फिर उत्तम भेंट-सामग्री अर्पित करें। इसके बाद आपलोगोंको भीतर जानेका मार्ग मिल सकेगा ॥ १८-१९ ॥

ईषादन्तान् हेमकक्षान् पद्मवर्णान् कुथावृतान्।
शैलाभान् नित्यमत्तांश्चाप्यभितः काम्यकं सरः ॥२०॥
दत्त्वैकैको दश शतान् कुञ्जरान् कवचावृतान्।
क्षमावन्तः कुलीनाश्च द्वारेण प्राविशंस्तदा ॥२१॥

तदनन्तर एक-एक क्षमाशील और कुलीन राजाने काम्यक सरोवरके निकट उत्पन्न हुए एक-एक हजार हाथियोंकी भेंट देकर द्वारके भीतर प्रवेश किया। उन हाथियोंके दाँत हलदण्डके समान लंबे थे। उनको बाँधनेकी रस्सी सोनेकी बनी हुई थी। उन हाथियोंका रंग कमलके समान सफेद था। उनकी पीठपर झूल पड़ा हुआ था। वे देखनेमें पर्वताकार और उन्मत्त प्रतीत होते थे ॥ २०-२१ ॥

एते चान्ये च बहवो गणा दिग्भ्यः समागताः।
अन्यैश्चोपाहृतान्यत्र रत्नानीह महात्मभिः ॥२२॥

ये तथा और भी बहुत-से भूपालगण अनेक दिशाओंसे भेंट लेकर आये थे। दूसरे-दूसरे महामना नरेशोंने भी वहाँ रत्नोंकी भेंट अर्पित की थी ॥ २२ ॥

राजा चित्ररथो नाम गन्धर्वो वासवानुगः।
शतानि चत्वार्यददद्धयानां वातरंहसाम् ॥२३॥

इन्द्रके अनुगामी गन्धर्वराज चित्ररथने चार सौ दिव्य अश्व दिये, जो वायुके समान वेगशाली थे ॥ २३ ॥

तुम्बुरुस्तु प्रमुदितो गन्धर्वो वाजिनां शतम्।
आम्रपत्त्रसवर्णानामददाद्धेममालिनाम् ॥२४॥

तुम्बुरु नामक गन्धर्वराजने प्रसन्नतापूर्वक सौ घोड़े भेंट किये, जो आमके पत्तेके समान हरे रंगवाले तथा सुवर्णकी मालाओंसे विभूषित थे ॥ २४ ॥

कृती राजा च कौरव्य शूकराणां विशाम्पते।
अददाद् गजरत्नानां शतानि सुबहून्यथ ॥२५॥

महाराज! शूकरदेशके पुण्यात्मा राजाने कई सौ गजरत्न भेंट किये ॥ २५ ॥

विराटेन तु मत्स्येन बल्यर्थं हेममालिनाम्।
कुञ्जराणां सहस्रे द्वे मत्तानां समुपाहृते ॥२६॥

मत्स्यदेशके राजा विराटने सुवर्णमालाओंसे विभूषित दो हजार मतवाले हाथी उपहारके रूपमें दिये ॥ २६ ॥

पांशुराष्ट्राद् वसुदानो राजा षड्विंशतिं गजान्।
अश्वानां च सहस्रे द्वे राजन् काञ्चनमालिनाम् ॥२७॥
जवसत्त्वोपपन्नानां वयस्थानां नराधिप।
बलिं च कृत्स्नमादाय पाण्डवेभ्यो न्यवेदयत् ॥२८॥

राजन्! राजा वसुदानने पांशुदेशसे छब्बीस हाथी, वेग और शक्तिसे सम्पन्न दो हजार सुवर्णमालाभूषित जवान घोड़े और सब प्रकारकी दूसरी भेंट-सामग्री भी पाण्डवोंको अर्पित की ॥ २७–२८ ॥

यज्ञसेनेन दासीनां सहस्राणि चतुर्दश।
दासानामयुतं चैव सदाराणां विशाम्पते।
गजयुक्ता महाराज रथाः षड्विंशतिस्तथा ॥२९॥
राज्यं च कृत्स्नं पार्थेभ्यो यज्ञार्थं वै निवेदितम्।

राजन्! राजा द्रुपदने चौदह हजार दासियाँ, दस हजार सपत्नीक दास, हाथी जुते हुए छब्बीस रथ तथा अपना सम्पूर्ण राज्य कुन्तीपुत्रोंको यज्ञके लिये समर्पित किया था॥२९½॥

वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन् किरीटिनः ॥३०॥
अददाद् गजमुख्यानां सहस्राणि चतुर्दश।
आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः ॥३१॥

वृष्णिकुलभूषण वसुदेवनन्दन श्रीकृष्णने भी अर्जुनका आदर करते हुए चौदह हजार उत्तम हाथी दिये। श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं॥ ३०-३१ ॥

यद् ब्रूयादर्जुनः कृष्णं सर्वं कुर्यादसंशयम्।
कृष्णो धनंजयस्यार्थे स्वर्गलोकमपि त्यजेत् ॥३२॥

अर्जुन श्रीकृष्णसे जो कह देंगे, वह सब वे निःसंदेह पूर्ण करेंगे। श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये परमधामको भी त्याग सकते हैं ॥ ३२ ॥

तथैव पार्थः कृष्णार्थे प्राणानपि परित्यजेत्।
सुरभींश्चन्दनरसान् हेमकुम्भसमास्थितान् ॥३३॥
मलयाद् दर्दुराच्चैव चन्दनागुरुसंचयान्।

इसी प्रकार अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये अपने प्राणोंतकका त्याग कर सकते हैं। मलय तथा दर्दुरपर्वतसे वहाँके राजा-लोग सोनेके घड़ोंमें रक्खे हुए सुगन्धित चन्दन-रस तथा चन्दन एवं अगुरुके ढेर भेंटके लिये लेकर आये थे ॥ ३३½ ॥

मणिरत्नानि भास्वन्ति काञ्चनं सूक्ष्मवस्त्रकम् ॥३४॥
चोलपाण्ड्यावपि द्वारं न लेभाते ह्युपस्थितौ।

चोल और पाण्ड्यदेशोंके नरेश चमकीले मणि-रत्न, सुवर्ण तथा महीन वस्त्र लेकर उपस्थित हुए थे; परंतु उन्हें भी भीतर जानेके लिये रास्ता नहीं मिला ॥ ३४½ ॥

समुद्रसारं वैदूर्यं मुक्तासङ्घांस्तथैव च ॥३५॥
शतशश्च कुथांस्तत्र सिंहलाः समुपाहरन्।

सिंहलदेशके क्षत्रियोंने समुद्रका सारभूत वैदूर्य, मोतियोंके ढेर तथा हाथियोंके सैकड़ों झूल अर्पित किये ॥ ३५½ ॥

संवृता मणिचीरैस्तु श्यामास्ताम्रान्तलोचनाः ॥३६॥
ता गृहीत्वा नरास्तत्र द्वारि तिष्ठन्ति वारिताः।
प्रीत्यर्थं ब्राह्मणाश्चैव क्षत्रियाश्च विनिर्जिताः ॥३७॥
उपाजह्रुर्विशश्चैव शूद्राः शुश्रूषवस्तथा।

वे सिंहलदेशीय वीर मणियुक्त वस्त्रोंसे अपने शरीरोंको ढके हुए थे। उनके शरीरका रंग काला था और उनकी आँखोंके कोने लाल दिखायी देते थे। उन भेंट-सामग्रियोंको लेकर वे सब लोग दरवाजेपर रोके हुए खड़े थे। ब्राह्मण, विजित क्षत्रिय, वैश्य तथा सेवाकी इच्छावाले शूद्र प्रसन्नतापूर्वक वहाँ उपहार अर्पित करते थे ॥ ३६-३७½ ॥

प्रीत्या च बहुमानाच्चाप्युपागच्छन् युधिष्ठिरम् ॥३८॥
सर्वे म्लेच्छाः सर्ववर्णा आदिमध्यान्तजास्तथा।

सभी म्लेच्छ तथा आदि, मध्य और अन्तमें उत्पन्न सभी वर्णके लोग विशेष प्रेम और आदरके साथ युधिष्ठिरके पास भेंट लेकर आये थे ॥ ३८½ ॥

नानादेशसमुत्थैश्च नानाजातिभिरेव च ॥३९॥
पर्यस्त इव लोकोऽयं युधिष्ठिरनिवेशने।

अनेक देशोंमें उत्पन्न और विभिन्न जातिके लोगोंके आगमनसे युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें मानो यह सम्पूर्ण लोक ही एकत्र हुआ जान पड़ता था ॥ ३९½ ॥

उच्चावचानुपग्राहान् राजभिः प्रापितान् बहून् ॥४०॥
शत्रूणां पश्यतो दुःखान्मुमूर्षा मे व्यजायत।
भृत्यास्तु ये पाण्डवानां तांस्ते वक्ष्यामि पार्थिव ॥४१॥
येषामामं च पक्वं च संविधत्ते युधिष्ठिरः।

मेरे शत्रुओंके घरमें राजाओंद्वारा लाये हुए बहुत-से छोटे-बड़े उपहारोंको देखकर दुःखसे मुझे मरनेकी इच्छा होती थी। राजन्! पाण्डवोंके यहाँ जिन लोगोंका भरण-पोषण होता है, उनकी संख्या मैं आपको बता रहा हूँ। राजा युधिष्ठिर उन सबके लिये कच्चे-पक्के भोजनकी व्यवस्था करते हैं ॥ ४०-४१½ ॥

अयुतं त्रीणि पद्मानि गजारोहाः ससादिनः ॥४२॥
रथानामर्बुदं चापि पादाता बहवस्तथा।

युधिष्ठिरके यहाँ तीन पद्म दस हजार हाथीसवार और घुड़सवार, एक अर्बुद (दस करोड़) रथारोही तथा असंख्य पैदल सैनिक हैं ॥ ४२½ ॥

प्रमीयमाणमामं च पच्यमानं तथैव च ॥४३॥
विसृज्यमानं चान्यत्र पुण्याहस्वन एव च।

युधिष्ठिरके यज्ञमें कहीं कच्चा अन्न तौला जा रहा था, कहीं पक रहा था, कहीं परोसा जाता था और कहीं ब्राह्मणोंके पुण्याहवाचनकी ध्वनि सुनायी पड़ती थी ॥४३½॥

नाभुक्तवन्तं नापीतं नालंकृतमसत्कृतम् ॥४४॥
अपश्यं सर्ववर्णानां युधिष्ठिरनिवेशने।

मैंने युधिष्ठिरके यज्ञमण्डपमें सभी वर्णके लोगोंमेंसे किसीको ऐसा नहीं देखा, जो खा-पीकर आभूषणोंसे विभूषित और सत्कृत न हुआ हो ॥ ४४½ ॥

अष्टाशीतिसहस्राणि स्नातका गृहमेधिनः ॥४५॥
त्रिंशद्दासीक एकैको यान् बिभर्ति युधिष्ठिरः।

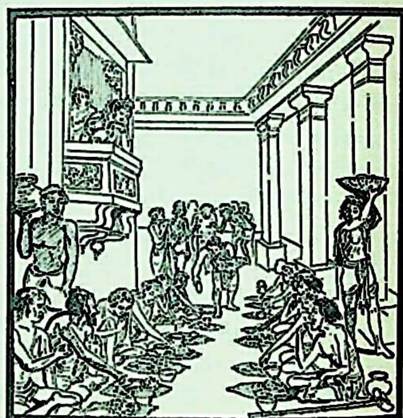
राजा युधिष्ठिर घरमें बसनेवाले जिन अट्ठासी हजार स्नातकोंका भरण-पोषण करते हैं, उनमेंसे प्रत्येककी सेवामें तीस-तीस दास-दासी उपस्थित रहते हैं ॥ ४५½ ॥

सुप्रीताः परितुष्टाश्च ते ह्याशंसन्त्यरिक्षयम् ॥४६॥

वे सब ब्राह्मण भोजनसे अत्यन्त तृप्त एवं संतुष्ट हो राजा युधिष्ठिरको उनके (काम-क्रोधादि) शत्रुओंके विनाशके लिये आशीर्वाद देते हैं ॥ ४६ ॥

दशान्यानि सहस्राणि यतीनामूर्ध्वरेतसाम्।
भुञ्जते रुक्मपात्रीभिर्युधिष्ठिरनिवेशने ॥४७॥

इसी प्रकार युधिष्ठिरके महलमें दूसरे दस हजार ऊर्ध्वरेता यति भी सोनेकी थालियोंमें भोजन करते हैं ॥ ४७ ॥



अभुक्तं भुक्तवद् वापि सर्वमाकुब्जवामनम्।
अभुञ्जाना याज्ञसेनी प्रत्यवैक्षद् विशाम्पते ॥४८॥

राजन्! उस यज्ञमें द्रौपदी प्रतिदिन स्वयं पहले भोजन न करके इस बातकी देखभाल करती थी कि कुबड़े और बौनेसे लेकर सब मनुष्योंमें किसने खाया है और किसने अभीतक भोजन नहीं किया है ॥ ४८ ॥

द्वौ करौ न प्रयच्छेतां कुन्तीपुत्राय भारत।
सम्बन्धिकेन पञ्चालाः सख्येनान्धकवृष्णयः ॥४९॥

भारत! कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको दो ही कुलके लोग कर नहीं देते थे। सम्बन्धके कारण पाञ्चाल और मित्रताके कारण अन्धक एवं वृष्णि ॥ ४९ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे द्विपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक बावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५२ ॥

त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनद्वारा युधिष्ठिरके अभिषेकका वर्णन

दुर्योधन उवाच

आर्यास्तु ये वै राजानः सत्यसंधा महाव्रताः।
पर्याप्तविद्या वक्तारो वेदान्ताावभृथप्लुताः ॥ १ ॥
धृतिमन्तो ह्रीनिषेवा धर्मात्मानो यशस्विनः।
मूर्धाभिषिक्तास्ते चैनं राजानः पर्युपासते ॥ २ ॥
दक्षिणार्थं समानीता राजभिः कांस्यदोहनाः।
आरण्या बहुसाहस्रा अपश्यंस्तत्र तत्र गाः ॥ ३ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी! जो राजा आर्य, सत्यप्रतिज्ञ, महाव्रती, विद्वान्, वक्ता, वेदोक्त यज्ञोंके अन्तमें अवभृथ-स्नान करनेवाले, धैर्यवान्, लज्जाशील, धर्मात्मा, यशस्वी तथा मूर्धाभिषिक्त थे, वे सभी इन धर्मराज युधिष्ठिरकी उपासना करते थे। राजाओंने दक्षिणामें देनेके लिये जो गौएँ मँगवायी थीं, उन सबको मैंने जहाँ-तहाँ देखा। उनके दुग्धपात्र काँसेके थे। वे सब-की-सब जंगलोंमें खुली चरनेवाली थीं तथा उनकी संख्या कई हजार थी ॥ १–३ ॥

आजह्रुस्तत्र सत्कृत्य स्वयमुद्यम्य भारत।
अभिषेकार्थमव्यग्रा भाण्डमुच्चावचं नृपाः ॥ ४ ॥

बाह्लीको रथमाहार्षीज्जाम्बूनदविभूषितम् ।
सुदक्षिणस्तु युयुजे श्वेतैः काम्बोजजैर्हयैः ॥ ५ ॥

भारत ! राजालोग युधिष्ठिरके अभिषेकके लिये स्वयं प्रयत्न करके शान्तचित्त हो सत्कारपूर्वक छोटे-बड़े पात्र उठा-उठाकर ले आये थे । बाह्लीकनरेश रथ ले आये, जो सुवर्णसे सजाया गया था । सुदक्षिणने उस रथमें काम्बोज-देशके सफेद घोड़े जोत दिये ॥ ४-५ ॥

सुनीथः प्रीतिमांश्चैव ह्यनुकर्षं महाबलः ।
ध्वजं चेदिपतिश्चैवमहार्षीत् स्वयमुद्यतम् ॥ ६ ॥
दाक्षिणात्यः संनहनं स्रगुष्णीषे च मागधः ।
वसुदानो महेष्वासो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ॥ ७ ॥
मत्स्यस्त्वक्षान् हेमनद्धानेकलव्य उपानहौ ।
आवन्त्यस्त्वभिषेकार्थमापो बहुविधास्तथा ॥ ८ ॥
चेकितान उपासङ्गं धनुः काश्य उपाहरत् ।
असिं च सुत्सरुं शल्यः शैक्यं काञ्चनभूषणम् ॥ ९ ॥

महाबली सुनीथने बड़ी प्रसन्नताके साथ उसमें अनुकर्ष (रथके नीचे लगने योग्य काष्ठ) लगा दिया । चेदिराजने स्वयं उस रथमें ध्वजा फहरा दी । दक्षिणदेशके राजाने कवच दिया । मगधनरेशने माला और पगड़ी प्रस्तुत की । महान् धनुर्धर वसुदानने साठ वर्षकी अवस्थाका एक गजराज उपस्थित कर दिया । मत्स्यनरेशने सुवर्णजटित धुरी ला दी । एकलव्यने पैरोंके समीप जूते लाकर रख दिये । अवन्ती-नरेशने अभिषेकके लिये अनेक प्रकारका जल एकत्र कर दिया । चेकितानने तूणीर और काशिराजने धनुष अर्पित किया । शल्यने अच्छी मूठवाली तलवार तथा छींकेपर रखा हुआ सुवर्णभूषित कलश प्रदान किया ॥ ६-९ ॥

अभ्यषिञ्चत् ततो धौम्यो व्यासश्च सुमहातपाः ।
नारदं च पुरस्कृत्य देवलं चासितं मुनिम् ॥ १० ॥

तदनन्तर धौम्य तथा महातपस्वी व्यासने देवर्षि नारद, देवल और असित मुनिको आगे करके युधिष्ठिरका अभिषेक किया ॥ १० ॥

प्रीतिमन्त उपातिष्ठन्नभिषेकं महर्षयः ।
जामदग्न्येन सहितास्तथान्ये वेदपारगाः ॥ ११ ॥

परशुरामजीके साथ वेदके पारंगत दूसरे विद्वान् महर्षियोंने बड़ी प्रसन्नताके साथ राजा युधिष्ठिरका अभिषेक किया ॥ ११ ॥

अभिजग्मुर्महात्मानो मन्त्रवद् भूरिदक्षिणम् ।
महेन्द्रमिव देवेन्द्रं दिवि सप्तर्षयो यथा ॥ १२ ॥

जैसे स्वर्गमें देवराज इन्द्रके पास सप्तर्षि पधारते हैं, उसी प्रकार पर्याप्त दक्षिणा देनेवाले महाराज युधिष्ठिरके पास बहुत-से महात्मा मन्त्रोच्चारण करते हुए पधारे थे ॥ १२ ॥

अधारयच्छत्रमस्य सात्यकिः सत्यविक्रमः ।
धनंजयश्च व्यजने भीमसेनश्च पाण्डवः ॥ १३ ॥

सत्यपराक्रमी सात्यकिने युधिष्ठिरके लिये छत्र धारण किया तथा अर्जुन और भीमसेनने व्यजन डुलाये ॥ १३ ॥

चामरे चापि शुद्धे द्वे यमौ जगृहतुस्तथा ।
उपागृह्णाद् यमिन्द्राय पुराकल्पे प्रजापतिः ॥ १४ ॥
तमस्मै शङ्खमाहार्षीद् वारुणं कलशोदधिः ।
शैक्यं निष्कसहस्रेण सुकृतं विश्वकर्मणा ॥ १५ ॥
तेनाभिषिक्तः कृष्णेन तत्र मे कश्मलोऽभवत् ।

तथा नकुल और सहदेवने दो विशुद्ध चँवर हाथमें ले लिये । पूर्वकालमें प्रजापतिने इन्द्रके लिये जिस शङ्खको धारण किया था, वही वरुणदेवताका शङ्ख समुद्रने युधिष्ठिरको भेंट किया था । विश्वकर्माने एक हजार स्वर्णमुद्राओंसे जिस शैक्यपात्र (छींकेपर रखे हुए सुवर्णकलश) का निर्माण किया था; उसमें स्थित समुद्रजलको शङ्खमें लेकर श्रीकृष्णने युधिष्ठिरका अभिषेक किया । उस समय वहाँ मुझे मूर्च्छा आ गयी थी ॥ १४-१५½ ॥

गच्छन्ति पूर्वादपरं समुद्रं चापि दक्षिणम् ॥ १६ ॥

पिताजी ! लोग जल लानेके लिये पूर्वसे पश्चिम समुद्र-तक जाते हैं, दक्षिण समुद्रकी भी यात्रा करते हैं ॥ १६ ॥

उत्तरं तु न गच्छन्ति विना तात पतत्रिभिः ।
तत्र स्म दध्मुः शतशः शङ्खान् मङ्गलकारकान् ॥ १७ ॥
प्राणदन्त समाध्मातास्ततो रोमाणि मेऽहृषन् ।
प्रापतन् भूमिपालाश्च ये तु हीनाः स्वतेजसा ॥ १८ ॥

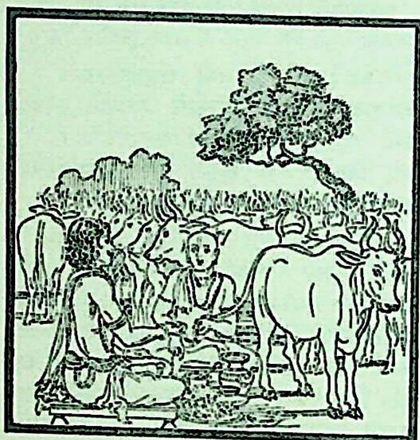
परंतु उत्तर समुद्रतक पक्षियोंके सिवा और कोई नहीं जाता; (किंतु वहाँ भी अर्जुन पहुँच गये ।) वहाँ अभिषेकके समय सैकड़ों मङ्गलकारी शङ्ख एक साथ ही जोर-जोरसे बजने लगे, जिससे मेरे रोंगटे खड़े हो गये । उस समय वहाँ जो तेजोहीन भूपाल थे, वे भयके मारे मूर्च्छित होकर गिर पड़े ॥ १७-१८ ॥

धृष्टद्युम्नः पाण्डवाश्च सात्यकिः केशवोऽष्टमः ।
सत्त्वस्था वीर्यसम्पन्ना ह्यन्योन्यप्रियदर्शनाः ॥ १९ ॥

धृष्टद्युम्न, पाँचों पाण्डव, सात्यकि और आठवें श्रीकृष्ण—ये ही धैर्यपूर्वक स्थिर रहे । ये सभी पराक्रमसम्पन्न तथा एक दूसरेका प्रिय करनेवाले हैं ॥ १९ ॥

विसंज्ञान् भूमिपान् दृष्ट्वा मां च ते प्राहसंस्तदा ।
ततः प्रहृष्टो बीभत्सुः प्रादाद्धेमविषाणिनाम् ॥ २० ॥
शतान्यनडुहां पञ्च द्विजमुख्येषु भारत ।
न रन्तिदेवो नाभागो यौवनाश्वो मनुर्न च ॥ २१ ॥
न च राजा पृथुर्वैन्यो न चाप्यासीद् भगीरथः ।
ययातिर्नहुषो वापि यथा राजा युधिष्ठिरः ॥ २२ ॥

वे मुझे तथा अन्य राजाओंको अचेत हुए देखकर उस समय जोर-जोरसे हँस रहे थे । भारत ! तदनन्तर अर्जुनने



प्रसन्न होकर पाँच सौ बैलोंको, जिनके सींगोंमें सोना मँढ़ा हुआ था, मुख्य-मुख्य ब्राह्मणोंमें बाँट दिया । पिताजी ! न रन्तिदेव, न नाभाग, न मान्धाता, न मनु, न वेननन्दन राजा पृथु, न भगीरथ, न ययाति और न नहुष ही वैसे ऐश्वर्यसम्पन्न सम्राट् थे, जैसे कि आज राजा युधिष्ठिर हैं ॥ २०-२२ ॥

यथातिमात्रं कौन्तेयः श्रिया परमया युतः।
राजसूयमवाप्यैवं हरिश्चन्द्र इव प्रभुः ॥ २३॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर राजसूययज्ञ पूर्ण करके अत्यन्त उच्च कोटिकी राजलक्ष्मीसे सम्पन्न हो गये हैं । ये शक्तिशाली महाराज हरिश्चन्द्रकी भाँति सुशोभित होते हैं ॥ २३ ॥

एतां दृष्ट्वा श्रियं पार्थे हरिश्चन्द्रे यथा विभो।
कथं तु जीवितं श्रेयो मम पश्यसि भारत ॥ २४॥

भारत ! हरिश्चन्द्रकी भाँति कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरकी इस राजलक्ष्मीको देखकर मेरा जीवित रहना आप किस दृष्टिसे अच्छा समझते हैं ? ॥ २४ ॥

अन्धेनेव युगं नद्धं विपर्यस्तं नराधिप।
कनीयांसो विवर्धन्ते ज्येष्ठा हीयन्त एव च ॥ २५॥

राजन् ! यह युग अंधे विधातासे बँधा हुआ है । इसीलिये इसमें सब बातें उलटी हो रही हैं । छोटे बढ़ रहे हैं और बड़े हीन दशामें गिरते जा रहे हैं ॥ २५ ॥

एवं दृष्ट्वा नाभिविन्दामि शर्म
समीक्षमाणोऽपि कुरुप्रवीर।
तेनाहमेवं कृशतां गतश्च
विवर्णतां चैव सशोकतां च ॥ २६॥

कुरुप्रवीर ! ऐसा देखकर अच्छी तरह विचार करनेपर भी मुझे चैन नहीं पड़ता । इसीसे मैं दुर्बल, कान्तिहीन और शोकमग्न हो रहा हूँ ॥ २६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे त्रिपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक तिरपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५३ ॥

चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका दुर्योधनको समझाना

धृतराष्ट्र उवाच

त्वं वै ज्येष्ठो ज्यैष्ठिनेयः पुत्र मा पाण्डवान् द्विषः।
द्वेष्टा ह्यसुखमादत्ते यथैव निधनं तथा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र बोले—दुर्योधन ! तुम मेरे ज्येष्ठ पुत्र हो, जेठी रानीके गर्भसे उत्पन्न हुए हो । बेटा ! पाण्डवोंसे द्वेष मत करो; क्योंकि द्वेष करनेवाला मनुष्य मृत्युके समान कष्ट पाता है ॥ १ ॥

अव्युत्पन्नं समानार्थं तुल्यमित्रं युधिष्ठिरम्।
अद्विषन्तं कथं द्विष्यात् त्वादृशो भरतर्षभ ॥ २ ॥

युधिष्ठिर किसीके साथ छल नहीं करते, उनका धन तुम्हारे ही-जैसा है । जो तुम्हारे मित्र हैं, वे उनके भी मित्र हैं और युधिष्ठिर तुमसे कभी द्वेष नहीं करते । भरतकुलतिलक ! फिर तुम्हारे-जैसे पुरुषको उनसे द्वेष क्यों करना चाहिये ? ॥ २ ॥

तुल्याभिजनवीर्यश्च कथं भ्रातुः श्रियं नृप।
पुत्र कामयसे मोहान्मैवं भूः शाम्य मा शुचः ॥ ३ ॥

राजन् ! तुम्हारा और युधिष्ठिरका कुल एवं पराक्रम एक-सा है । बेटा ! तुम मोहवश अपने भाईकी लक्ष्मीकी इच्छा क्यों करते हो ? ऐसे अधम न बनो; शान्तभावसे रहो । शोक न करो ॥ ३ ॥

अथ यज्ञविभूतिं तां काङ्क्षसे भरतर्षभ।
ऋत्विजस्तव तन्वन्तु सप्ततन्तुं महाध्वरम् ॥ ४ ॥

भरतश्रेष्ठ ! यदि तुम उस यज्ञ-वैभवको पानेकी अभिलाषा रखते हो तो ऋत्विजलोग तुम्हारे लिये भी गायत्री आदि सात छन्दरूपी तन्तुओंसे युक्त राजसूय महायज्ञका अनुष्ठान करा देंगे ॥ ४ ॥

आहरिष्यन्ति राजानस्तवापि विपुलं धनम्।
प्रीत्या च बहुमानाच्च रत्नान्याभरणानि च ॥ ५ ॥

उसमें देश-देशके राजालोग तुम्हारे लिये भी बड़े प्रेम और आदरसे रत्न, आभूषण तथा बहुत धन ले आयेंगे॥५॥

(मही कामदुघा सा हि वीरपत्नीति चोच्यते।
तथा वीर्याश्रिता भूमिस्तनुते हि मनोरथम्॥
शक्यस्ति हि चेद् वीर्यं भोक्ष्यसे हि महीमिमाम्॥)

बेटा! यह पृथ्वी कामधेनु है। इसे वीरपत्नी भी कहते हैं। अपने पराक्रमसे जीती हुई भूमि मनोवाञ्छित फल प्रदान करती है। यदि तुममें भी बल और पराक्रम हो तो तुम इस पृथ्वीका यथेष्ट उपभोग कर सकते हो॥

अनार्याचरितं तात परस्वस्पृहणं भृशम्।
स्वसंतुष्टः स्वधर्मस्थो यः स वै सुखमेधते॥ ६॥
अव्यापारः परार्थेषु नित्योद्योगः स्वकर्मसु।
रक्षणं समुपात्तानामेतद् वैभवलक्षणम्॥ ७॥

तात! दूसरेके धनकी स्पृहा रखना नीच पुरुषोंका काम है। जो भलीभाँति अपने धनसे संतुष्ट तथा अपने धर्ममें ही स्थित है, वही सुखपूर्वक उन्नतिशील होता है। दूसरेके धनको हड़पनेकी कोई चेष्टा न करना, अपने कर्त्तव्यको पूरा करनेके लिये सदा प्रयत्नशील रहना और अपनेको जो कुछ प्राप्त है, उसकी रक्षा करना—यही उत्तम वैभवका लक्षण है॥ ६-७॥

विपत्तिष्वव्यथो दक्षो नित्यमुत्थानवान् नरः।
अप्रमत्तो विनीतात्मा नित्यं भद्राणि पश्यति॥ ८॥

जो विपत्तिमें व्यथित नहीं होता, सदा उद्योगशील बना रहता है, जिसमें प्रमादका अभाव है तथा जिसके हृदयमें विनयरूप सद्गुण है, वह चतुर मनुष्य सदा कल्याण ही देखता है॥ ८॥

बाहूनिवैतान् मा छेत्सीः पाण्डुपुत्रास्तथैव ते।
भ्रातॄणां तद्धनार्थं वै मित्रद्रोहं च मा कुरु॥ ९॥

ये पाण्डुपुत्र तुम्हारी भुजाओंके समान हैं, इन्हें काटो मत। इसी प्रकार तुम भाइयोंके धनके लिये मित्रद्रोह न करो॥ ९॥

पाण्डोः पुत्रान् मा द्विषस्वेह राजं-
स्तथैव ते भ्रातृधनं समग्रम्।
मित्रद्रोहे तात महानधर्मः
पितामहा ये तव तेऽपि तेषाम्॥ १०॥

राजन्! तुम पाण्डवोंसे द्वेष न करो। वे तुम्हारे भाई हैं और भाइयोंका सारा धन तुम्हारा ही है। तात! मित्रद्रोहमें बहुत बड़ा पाप होता है। देखो, जो तुम्हारे बाप-दादे हैं, वे ही उनके भी हैं॥ १०॥

अन्तर्वेद्यां ददद् वित्तं कामाननुभवन् प्रियान्।
क्रीडन् स्त्रीभिर्निरातङ्कः प्रशाम्य भरतर्षभ॥ ११॥

भरतश्रेष्ठ! तुम यज्ञमें धन दान करो, मनको प्रिय लगनेवाले भोग भोगो और निर्भय होकर स्त्रियोंके साथ क्रीड़ा करते हुए शान्त रहो॥ ११॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे चतुःपञ्चाशत्तमोऽध्यायः॥ ५४॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक चौवनवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ५४॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके $1\frac{1}{2}$ श्लोक मिलाकर कुल $12\frac{1}{2}$ श्लोक हैं)

पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रको उकसाना

दुर्योधन उवाच

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलं तु बहुश्रुतः।
न स जानाति शास्त्रार्थं दर्वी सूपरसानिव॥ १॥

दुर्योधन बोला—पिताजी! जिसके पास अपनी बुद्धि नहीं है, जिसने केवल बहुत-से शास्त्रोंका श्रवणभर किया है, वह शास्त्रके तात्पर्यको नहीं समझ सकता; ठीक उसी तरह, जैसे कलछी दालके रसको नहीं जानती॥ १॥

जानन् वै मोहयसि मां नावि नौरिव संयता।
स्वार्थे किं नावधानं ते उताहो द्वेषि मां भवान्॥ २॥

एक नौकामें बँधी हुई दूसरी नौकाके समान आप विदुरकी बुद्धिके आश्रित हैं। जानते हुए भी मुझे मोहमें क्यों डालते हैं, स्वार्थसाधनके लिये क्या आपमें तनिक भी सावधानी नहीं है, अथवा आप मुझसे द्वेष रखते हैं?॥ २॥



न सन्तीमे धार्तराष्ट्रा येषां त्वमनुशासिता।
भविष्यमर्थमाख्यासि सर्वदा कृत्यमात्मनः॥ ३॥

आप जिनके शासक हैं, वे धार्तराष्ट्र नदीके बराबर हैं (क्योंकि आप उन्हें स्वेच्छासे उन्नतिके पथपर बढ़ने नहीं देते)। आप सदा अपने वर्तमान कर्तव्यको भविष्यपर ही टालते रहते हैं ॥ ३ ॥

परनेयोऽग्रणीर्यस्य स मार्गान् प्रति मुह्यति।
पन्थानमनुगच्छेयुः कथं तस्य पदानुगाः ॥ ४ ॥

जिस दलका अगुआ दूसरेकी बुद्धिपर चलता हो वह अपने मार्गमें सदा मोहित होता रहता है। फिर उसके पीछे चलनेवाले लोग अपने मार्गका अनुसरण कैसे कर सकते हैं ? ॥ ४ ॥

राजन् परिणतप्रज्ञो वृद्धसेवी जितेन्द्रियः।
प्रतिपद्यान् स्वकार्येषु सम्मोहयसि नो भृशम् ॥ ५ ॥

राजन् ! आपकी बुद्धि परिपक्व है, आप वृद्ध पुरुषोंकी सेवा करते रहते हैं, आपने अपनी इन्द्रियोंपर विजय पा ली है, तो भी जब हमलोग अपने कार्योंमें तत्पर होते हैं, उस समय आप हमें बार-बार मोहमें ही डाल देते हैं ॥ ५ ॥

लोकवृत्ताद् राजवृत्तमन्यदाह बृहस्पतिः।
तस्माद् राज्ञाप्रमत्तेन स्वार्थश्चिन्त्यः सदैव हि ॥ ६ ॥
क्षत्रियस्य महाराज जये वृत्तिः समाहिता।
स वै धर्मस्त्वधर्मो वा स्ववृत्तौ का परीक्षणा ॥ ७ ॥

बृहस्पतिने राजव्यवहारको लोकव्यवहारसे भिन्न बताया है; अतः राजाको सावधान होकर सदा अपने प्रयोजनका ही चिन्तन करना चाहिये। महाराज! क्षत्रियकी वृत्ति विजयमें ही लगी रहती है, वह चाहे धर्म हो या अधर्म। अपनी वृत्तिके विषयमें क्या परीक्षा करनी है ? ॥ ६-७ ॥

प्रकालयेद् दिशः सर्वाः प्रतोदेनेव सारथिः।
प्रत्यमित्रश्रियं दीप्तां जिघृक्षुर्भरतर्षभ ॥ ८ ॥

भरतकुलभूषण ! शत्रुकी जगमगाती हुई राजलक्ष्मीको अपने अधिकारमें करनेकी इच्छावाला भूपाल सम्पूर्ण दिशाओंका उसी प्रकार संचालन करे, जैसे सारथि चाबुकसे घोड़ोंको हाँककर अपनी रुचिके अनुसार चलाता है ॥ ८ ॥

प्रच्छन्नो वा प्रकाशो वा योगो योऽरिं प्रबाधते।
तद् वै शस्त्रं शस्त्रविदां न शस्त्रं छेदनं स्मृतम् ॥ ९ ॥

गुप्त या प्रकट, जो उपाय शत्रुको संकटमें डाल दे, वही शस्त्रज्ञ पुरुषोंका शस्त्र है। केवल काटनेवाला शस्त्र ही शस्त्र नहीं है ॥ ९ ॥

शत्रुश्चैव हि मित्रं च न लेख्यं न च मातृका।
यो वै संतापयति यं स शत्रुः प्रोच्यते नृप ॥ १० ॥

राजन् ! अमुक शत्रु है और अमुक मित्र, इसका कोई लेखा नहीं है और न शत्रु-मित्र-सूचक कोई अक्षर ही है। जो जिसको संताप देता है, वही उसका शत्रु कहा जाता है ॥ १० ॥

असंतोषः श्रियो मूलं तस्मात् तं कामयाम्यहम्।
समुच्छ्रये यो यतते स राजन् परमो नयः ॥ ११ ॥

असंतोष ही लक्ष्मीकी प्राप्तिका मूल कारण है; अतः मैं असंतोष चाहता हूँ। राजन् ! जो अपनी उन्नतिके लिये प्रयत्न करता है, उसका वह प्रयत्न ही सर्वोत्तम नीति है॥११॥

ममत्वं हि न कर्तव्यमैश्वर्ये वा धनेऽपि वा।
पूर्वावाप्तं हरन्त्यन्ये राजधर्मं हि तं विदुः ॥ १२ ॥

ऐश्वर्य अथवा धनमें ममता नहीं करनी चाहिये, क्योंकि पहलेके उपार्जित धनको दूसरे लोग बलात्कारसे छीन लेते हैं। यही राजधर्म माना गया है ॥ १२ ॥

अद्रोहसमयं कृत्वा चिच्छेद नमुचेः शिरः।
शक्रः साभिमता तस्य रिपौ वृत्तिः सनातनी ॥ १३ ॥

इन्द्रने नमुचिसे कभी वैर न करनेकी प्रतिज्ञा करके उसपर विश्वास जमाया और मौका देखकर उसका सिर काट लिया। तात! शत्रुके प्रति इसी प्रकारका व्यवहार सदासे होता चला आया है। यह इन्द्रको भी मान्य है ॥ १३ ॥

द्वावेतौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ १४ ॥

जैसे सर्प बिलमें रहनेवाले चूहों आदिको निगल जाता है, उसी प्रकार यह भूमि विरोध न करनेवाले राजा तथा परदेशमें न विचरनेवाले ब्राह्मण (संन्यासी) को ग्रस लेती है॥ १४ ॥

नास्ति वै जातितः शत्रुः पुरुषस्य विशाम्पते।
येन साधारणी वृत्तिः स शत्रुर्नेतरो जनः ॥ १५ ॥

नरेश्वर ! मनुष्यका जन्मसे कोई शत्रु नहीं होता, जिसके साथ एक-सी जीविका होती है, अर्थात् जो लोग एक ही वृत्तिसे जीवननिर्वाह करते हैं, वे ही (ईर्ष्याके कारण) आपसमें एक-दूसरेके शत्रु होते हैं, दूसरे नहीं ॥ १५ ॥

शत्रुपक्षं समृध्यन्तं यो मोहात् समुपेक्षते।
व्याधिराप्यायित इव तस्य मूलं छिनत्ति सः ॥ १६ ॥

जो निरन्तर बढ़ते हुए शत्रुपक्षकी ओरसे मोहवश उदासीन हो जाता है, बढ़े हुए रोगकी भाँति शत्रु उस उदासीन राजाकी जड़ काट डालता है ॥ १६ ॥

अल्पोऽपि ह्यरिरत्यर्थं वर्धमानः पराक्रमैः।
वल्मीको मूलज इव ग्रसते वृक्षमन्तिकात् ॥ १७ ॥

जैसे वृक्षकी जड़में उत्पन्न हुई दीमक उसमें लगी रहनेके कारण उस वृक्षको ही खा जाती है, वैसे ही छोटा-सा भी शत्रु यदि पराक्रमसे बहुत बढ़ जाय, तो वह पहलेके प्रबल शत्रुको भी नष्ट कर डालता है ॥ १७ ॥

आजमीढ रिपोर्लक्ष्मीर्मा ते रोचिष्ट भारत।
एष भारः सत्त्ववतां नयः शिरसि विष्ठितः ॥ १८ ॥

भरतकुलभूषण ! अजमीढनन्दन ! आपको शत्रुकी

...भी अच्छी नहीं लगनी चाहिये। हर समय न्यायको सिरपर ...उठाये रखना भी बुद्धिमानोंके लिये भार ही है ॥ १८ ॥

...जन्मवृद्धिमिवार्थानां यो वृद्धिमभिकाङ्क्षते।
...एधते ज्ञातिषु स वै सद्यो वृद्धिर्हि विक्रमः ॥ १९ ॥

जो जन्मकालसे शरीर आदिकी वृद्धिके समान धनवृद्धि-...की भी अभिलाषा करता है, वह कुटुम्बीजनोंमें बहुत आगे ...बढ़ जाता है। पराक्रम करना तत्काल उन्नतिका कारण है ॥१९॥

...अप्राप्य पाण्डवैश्वर्यं संशयो मे भविष्यति।
...अवाप्स्ये वा श्रियं तां हि शयिष्ये वा हतो युधि ॥ २० ॥

जबतक मैं पाण्डवोंकी सम्पत्तिको प्राप्त न कर लूँ, तबतक मेरे मनमें दुविधा ही रहेगी। इसलिये या तो मैं पाण्डवोंकी उस सम्पत्तिको ले लूँगा अथवा युद्धमें मरकर सो जाऊँगा (तभी मेरी दुविधा मिटेगी) ॥ २० ॥

एतादृशस्य किं मेऽद्य जीवितेन विशाम्पते।
वर्धन्ते पाण्डवा नित्यं वयं त्वस्थिरवृद्धयः ॥ २१ ॥

महाराज ! आज जो मेरी दशा है, इसमें मेरे जीवित रहनेसे क्या लाभ ? पाण्डव प्रतिदिन उन्नति कर रहे हैं और हम-लोगोंकी वृद्धि (उन्नति) अस्थिर है—अधिक कालतक टिकनेवाली नहीं जान पड़ती है ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि दुर्योधनसंतापे पञ्चपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें दुर्योधनसंतापविषयक पचपनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५५ ॥

षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र और दुर्योधनकी बातचीत, द्यूतक्रीडाके लिये सभानिर्माण और धृतराष्ट्रका युधिष्ठिरको बुलानेके लिये विदुरको आज्ञा देना

शकुनिरुवाच

...यां त्वमेतां श्रियं दृष्ट्वा पाण्डुपुत्रे युधिष्ठिरे।
...तप्यसे तां हरिष्यामि द्यूतेन जयतां वर ॥ १ ॥

शकुनि बोला—विजयी वीरोंमें श्रेष्ठ दुर्योधन ! तुम ...पाण्डुपुत्र युधिष्ठिरकी जिस लक्ष्मीको देखकर संतप्त हो ...रहे हो, उसका मैं द्यूतके द्वारा अपहरण कर लूँगा ॥ १ ॥

...आहूयतां परं राजन् कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
...अगत्वा संशयमहमयुद्ध्वा च चमूमुखे ॥ २ ॥
...अक्षान् क्षिपन्नक्षतः सन् विद्वानविदुषो जये।
...ग्लहान् धनूंषि मे विद्धि शरानक्षांश्च भारत ॥ ३ ॥

परंतु राजन् ! तुम कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरको बुला लो। मैं ...किसी संशयमें पड़े बिना, सेनाके सामने युद्ध किये बिना ...केवल पासे फेंककर स्वयं किसी प्रकारकी क्षति उठाये ...बिना ही पाण्डवोंको जीत लूँगा; क्योंकि मैं द्यूतविद्याका ...ज्ञाता हूँ और पाण्डव इस कलासे अनभिज्ञ हैं। भारत ! ...दावोंको मेरे धनुष समझो और पासोंको मेरे बाण ॥ २-३ ॥

...अक्षाणां हृदयं मे ज्यां रथं विद्धि ममास्तरम् ॥ ४ ॥

पासोंका जो हृदय (मर्म) है, उसीको मेरे धनुषकी ...प्रत्यञ्चा समझो और जहाँसे पासे फेंके जाते हैं, वह स्थान ...ही मेरा रथ है ॥ ४ ॥

दुर्योधन उवाच

...अयमुत्सहते राजञ्छ्रियमाहर्तुमक्षवित्।
...द्यूतेन पाण्डुपुत्रेभ्यस्तदनुज्ञातुमर्हसि ॥ ५ ॥

दुर्योधन बोला—राजन् ! ये मामाजी पासे फेंकनेकी कलामें निपुण हैं। ये द्यूतके द्वारा पाण्डवोंसे उनकी सम्पत्ति ले लेनेका उत्साह रखते हैं। उसके लिये इन्हें आज्ञा दीजिये ॥५॥

धृतराष्ट्र उवाच

स्थितोऽस्मि शासने भ्रातुर्विदुरस्य महात्मनः।
तेन संगम्य वेत्स्यामि कार्यस्यास्य विनिश्चयम् ॥ ६ ॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा ! मैं अपने भाई महात्मा विदुरकी सम्मतिके अनुसार चलता हूँ। उनसे मिलकर यह जान सकूँगा कि इस कार्यके विषयमें क्या निश्चय करना चाहिये ? ॥६॥

दुर्योधन उवाच

व्यपनेष्यति ते बुद्धिं विदुरो मुक्तसंशयः।
पाण्डवानां हिते युक्तो न तथा मम कौरव ॥ ७ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! विदुर सब प्रकारसे संशय-रहित हैं। वे आपकी बुद्धिको जूएके निश्चयसे हटा देंगे। कुरुनन्दन ! वे जैसे पाण्डवोंके हितमें संलग्न रहते हैं, वैसे मेरे हितमें नहीं ॥ ७ ॥

नारभेतान्यसामर्थ्यात् पुरुषः कार्यमात्मनः।
मतिसाम्यं द्वयोर्नास्ति कार्येषु कुरुनन्दन ॥ ८ ॥

मनुष्यको चाहिये कि वह अपना कार्य दूसरेके बलपर न करे। कुरुराज ! किसी भी कार्यमें दो पुरुषोंकी राय पूर्णरूपसे नहीं मिलती ॥ ८ ॥

भयं परिहरन् मन्द आत्मानं परिपालयन्।
वर्षासु क्लिन्नकटवत् तिष्ठन्नेवावसीदति ॥ ९ ॥

मूर्ख मनुष्य भयका त्याग और आत्मरक्षा करते हुए भी यदि चुपचाप बैठा रहे, उद्योग न करे, तो वह वर्षा-

कालमें भींगी हुई चटाईके समान नष्ट हो जाता है ॥ ९ ॥

न व्याधयो नापि यमः प्राप्तुं श्रेयः प्रतीक्षते ।
यावदेव भवेत् कल्पस्तावच्छ्रेयः समाचरेत् ॥ १० ॥

रोग अथवा यमराज इस बातकी प्रतीक्षा नहीं करते कि इसने श्रेय प्राप्त कर लिया या नहीं । अतः जबतक अपनेमें सामर्थ्य हो, तभीतक अपने हितका साधन कर लेना चाहिये ॥ १० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

सर्वथा पुत्र बलिभिर्विग्रहो मे न रोचते ।
वैरं विकारं सृजति तद् वै शस्त्रमनायसम् ॥ ११ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! मुझे तो बलवानोंके साथ विरोध करना किसी प्रकार भी अच्छा नहीं लगता; क्योंकि वैर-विरोध बड़ा भारी झगड़ा खड़ा कर देता है, जो (कुलके विनाशके लिये) बिना लोहेका शस्त्र है ॥ ११ ॥

अनर्थमर्थं मन्यसे राजपुत्र
संग्रन्थनं कलहस्याति घोरम् ।
तद् वै प्रवृत्तं तु यथा कथंचित्
सृजेदसीन् निशितान् सायकांश्च ॥ १२ ॥

राजकुमार ! तुम द्यूतरूपी अनर्थको ही अर्थ मान रहे हो। यह जूआ कलहको ही गूँथनेवाला एवं अत्यन्त भयंकर है । यदि किसी प्रकार यह शुरू हो गया तो तीखी तलवारों और बाणोंकी भी सृष्टि कर देगा ॥ १२ ॥

दुर्योधन उवाच

द्यूते पुराणैर्व्यवहारः प्रणीत-
स्तत्रात्ययो नास्ति न सम्प्रहारः ।
तद् रोचतां शकुनेर्वाक्यमद्य
सभां क्षिप्रं त्वमिहाज्ञापयस्व ॥ १३ ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी ! पुराने लोगोंने भी द्यूतक्रीडाका व्यवहार किया है । उसमें न तो दोष है और न युद्ध ही होता है । अतः आप शकुनि मामाकी बात मान लीजिये और शीघ्र ही यहाँ (द्यूतके लिये) सभामण्डप बन जानेकी आज्ञा दीजिये । १३ ।

स्वर्गद्वारं दीव्यतां नो विशिष्टं
तद्वर्तिनां चापि तथैव युक्तम् ।
भवेदेवं ह्यात्मना तुल्यमेव
दुरोदरं पाण्डवैस्त्वं कुरुष्व ॥ १४ ॥

यह जूआ हम खेलनेवालोंके लिये एक विशिष्ट स्वर्गीय सुखका द्वार है । उसके आस-पास बैठनेवाले लोगोंके लिये भी वह वैसा ही सुखद होता है । इस प्रकार इसमें पाण्डवोंको भी हमारे समान ही सुख प्राप्त होगा । अतः आप पाण्डवोंके साथ द्यूतक्रीडाकी व्यवस्था कीजिये ॥ १४ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

वाक्यं न मे रोचते यत् त्वयोक्तं
यत् ते प्रियं तत् क्रियतां नरेन्द्र ।
पश्चात् तप्स्यसे तदुपाक्रम्य वाक्यं
न हीदृशं भावि वचो हि धर्म्यम् ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! तुमने जो बात कही है, वह मुझे अच्छी नहीं लगती । नरेन्द्र ! जैसी तुम्हारी रुचि हो, वैसा करो । जूएका आरम्भ करनेपर मेरी बातोंको याद करके तुम पीछे पछताओगे; क्योंकि ऐसी बातें जो तुम्हारे मुखसे निकली हैं, धर्मानुकूल नहीं कही जा सकतीं ॥ १५ ॥

दृष्टं ह्येतद् विदुरेणैव सर्वं
विपश्चिता बुद्धिविद्यानुगेन ।
तदेवैतदवशस्याभ्युपैति
महद् भयं क्षत्रियजीवघाति ॥ १६ ॥

बुद्धि और विद्याका अनुसरण करनेवाले विद्वान् विदुरने यह सब परिणाम पहलेसे ही देख लिया था । क्षत्रियोंके लिये विनाशकारी वही यह महान् भय मुझ विवशके सामने आ रहा है ॥ १६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी
दैवं मत्वा परमं दुस्तरं च ।
शशासोच्चैः पुरुषान् पुत्रवाक्ये
स्थितो राजा दैवसम्मूढचेताः ॥ १७ ॥
सहस्रस्तम्भां हेमवैदूर्यचित्रां
शतद्वारां तोरणस्फाटिकाख्याम् ।
सभामग्र्यां क्रोशमात्रायतां मे
तद्विस्तारामाशु कुर्वन्तु युक्ताः ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने दैवको परम दुस्तर माना और दैवके प्रतापसे ही उनके चित्तपर मोह छा गया । वे कर्तव्या-कर्तव्यका निर्णय करनेमें असमर्थ हो गये । फिर पुत्रकी बात मानकर उन्होंने सेवकोंको आज्ञा दी कि शीघ्र ही तत्पर होकर तोरणस्फाटिक नामक सभा तैयार कराओ । उसमें सुवर्ण तथा वैदूर्यसे जटित एक हजार खम्भे और सौ दरवाजे हों । उस सुन्दर सभाकी लम्बाई और चौड़ाई एक-एक कोसकी होनी चाहिये ॥ १७-१८ ॥

श्रुत्वा तस्य त्वरिता निर्विशङ्काः
प्राज्ञा दक्षास्तां तदा चक्रुराशु ।
सर्वद्रव्याण्युपजह्रुः सभायां
सहस्रशः शिल्पिनश्चैव युक्ताः ॥ १९ ॥

उनकी यह आज्ञा सुनकर तेज काम करनेवाले चतुर

तं बुद्धिमान् सहस्रों शिल्पी निर्भीक होकर काममें लग गये। उन्होंने शीघ्र ही वह सभा तैयार कर दी और उसमें सब तरहकी वस्तुएँ यथास्थान सजा दीं ॥ १९ ॥

कालेनाल्पेनाथ निष्ठां गतां तां
सभां रम्यां बहुरत्नां विचित्राम्।
चित्रैर्हैमैरासनैरभ्युपेता-
माचख्युस्ते तस्य राज्ञः प्रतीताः ॥ २० ॥

थोड़े ही समयमें तैयार हुई उस असंख्य रत्नोंसे सुशोभित रमणीय एवं विचित्र सभाको अद्भुत सोनेके आसनोंद्वारा सजा दिया गया। तत्पश्चात् विश्वस्त सेवकोंने राजा धृतराष्ट्र-को उस सभाभवनके तैयार हो जानेकी सूचना दी ॥ २० ॥

ततो विद्वान् विदुरं मन्त्रिमुख्य-
मुवाचेदं धृतराष्ट्रो नरेन्द्रः।
युधिष्ठिरं राजपुत्रं च गत्वा
मद्वाक्येन क्षिप्रमिहानयस्व ॥ २१ ॥

तत्पश्चात् विद्वान् राजा धृतराष्ट्रने मन्त्रियोंमें प्रधान विदुरको यह आज्ञा दी कि तुम राजकुमार युधिष्ठिरके पास जाकर मेरी आज्ञासे उन्हें शीघ्र यहाँ लिवा लाओ ॥ २१ ॥

सभेयं मे बहुरत्ना विचित्रा
शय्यासनैरुपपन्ना महार्हैः।
सा दृश्यतां भ्रातृभिः सार्धमेत्य
सुहृद्द्यूतं वर्ततामत्र चेति ॥ २२ ॥

उनसे कहना, मेरी यह विचित्र सभा अनेक प्रकारके रत्नोंसे जटित है। इसे बहुमूल्य शय्याओं और आसनोंद्वारा सजाया गया है। युधिष्ठिर! तुम अपने भाइयोंके साथ यहाँ आकर इसे देखो और इसमें सुहृदोंकी द्यूतक्रीड़ा आरम्भ हो' ॥ २२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने षट्पञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरके बुलानेसे सम्बन्ध रखनेवाला छप्पनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५६ ॥

सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विदुर और धृतराष्ट्रकी बातचीत

वैशम्पायन उवाच

मतमाज्ञाय पुत्रस्य धृतराष्ट्रो नराधिपः।
मत्वा च दुस्तरं दैवमेतद् राजंश्चकार ह ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अपने पुत्र दुर्योधनका मत जानकर राजा धृतराष्ट्रने दैवको दुस्तर माना और यह कार्य किया ॥ १ ॥

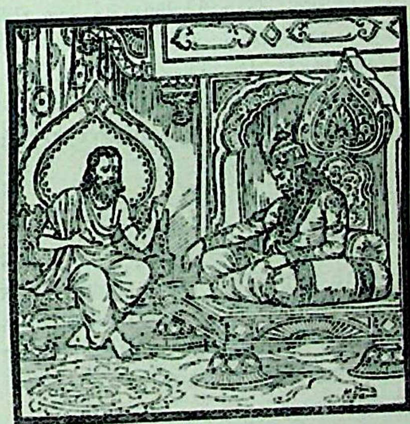
अन्यायेन तथोक्तस्तु विदुरो विदुषां वरः।
नाभ्यनन्दद् वचो भ्रातुर्वचनं चेदमब्रवीत् ॥ २ ॥

विद्वानोंमें श्रेष्ठ विदुरने धृतराष्ट्रका वह अन्यायपूर्ण आदेश सुनकर भाईकी उस बातका अभिनन्दन नहीं किया और इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

विदुर उवाच

नाभिनन्दे नृपते प्रैषमेतं
मैवं कृथाः कुलनाशाद् बिभेमि।
पुत्रैर्भिन्नैः कलहस्ते ध्रुवं स्या-
देतच्छङ्के द्यूतकृते नरेन्द्र ॥ ३ ॥

विदुर बोले—महाराज! मैं आपके इस आदेशका अभिनन्दन नहीं करता, आप ऐसा काम मत कीजिये। इससे मुझे समस्त कुलके विनाशका भय है। नरेन्द्र! पुत्रोंमें भेद होनेपर निश्चय ही आपको कलहका सामना करना पड़ेगा। इस जूएके कारण मुझे ऐसी आशङ्का हो रही है ॥ ३ ॥



धृतराष्ट्र उवाच

नेह क्षत्तः कलहस्तप्स्यते मां
न चेद् दैवं प्रतिलोमं भविष्यत्।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं
सर्वं जगच्चेष्टति न स्वतन्त्रम् ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—विदुर! यदि दैव प्रतिकूल न हो,

तो मुझे कलह भी कष्ट नहीं दे सकेगा। विधाताका बनाया हुआ यह सम्पूर्ण जगत् दैवके अधीन होकर ही चेष्टा कर रहा है, स्वतन्त्र नहीं है ॥ ४ ॥

तदद्य विदुर प्राप्य राजानं मम शासनात्।
क्षिप्रमानय दुर्धर्षं कुन्तीपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ५ ॥

इसलिये विदुर! तुम मेरी आज्ञासे आज राजा युधिष्ठिरके पास जाकर उन दुर्धर्ष कुन्तीकुमार युधिष्ठिरको यहाँ शीघ्र बुला ले आओ ॥ ५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरानयने सप्तपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरके बुलानेसे सम्बन्ध रखनेवाला सत्तावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५७ ॥

अष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः

विदुर और युधिष्ठिरकी बातचीत तथा युधिष्ठिरका हस्तिनापुरमें जाकर सबसे मिलना

वैशम्पायन उवाच

ततः प्रायाद् विदुरोऽश्वैरुदारै-
र्महाजवैर्बलिभिः साधुदान्तैः।
बलान्नियुक्तो धृतराष्ट्रेण राज्ञा
मनीषिणां पाण्डवानां सकाशे ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर राजा धृतराष्ट्रके बलपूर्वक भेजनेपर विदुरजी अत्यन्त वेगशाली, बलवान् और अच्छी प्रकार काबूमें किये हुए महान् अश्वोंसे जुते रथपर सवार हो परम बुद्धिमान् पाण्डवोंके समीप गये ॥ १ ॥

सोऽभिपत्य तदध्वानमासाद्य नृपतेः पुरम्।
प्रविवेश महाबुद्धिः पूज्यमानो द्विजातिभिः ॥ २ ॥

महाबुद्धिमान् विदुरजी उस मार्गको तय करके राजा युधिष्ठिरकी राजधानीमें जा पहुँचे और वहाँ द्विजातियोंसे सम्मानित होकर उन्होंने नगरमें प्रवेश किया ॥ २ ॥

स राजगृहमासाद्य कुबेरभवनोपमम्।
अभ्यागच्छत धर्मात्मा धर्मपुत्रं युधिष्ठिरम् ॥ ३ ॥
तं वै राजा सत्यधृतिर्महात्मा
अजातशत्रुर्विदुरं यथावत्।
पूजापूर्वं प्रतिगृह्याजमीढ-
स्ततोऽपृच्छद् धृतराष्ट्रं सपुत्रम् ॥ ४ ॥

कुबेरके भवनके समान सुशोभित राजमहलमें जाकर धर्मात्मा विदुर धर्मपुत्र युधिष्ठिरसे मिले। सत्यवादी महात्मा अजमीढनन्दन अजातशत्रु राजा युधिष्ठिरने विदुरजीका यथावत् आदर-सत्कार करके उनसे पुत्रसहित धृतराष्ट्रकी कुशल पूछी ॥ ३-४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

विज्ञायते ते मनसोऽप्रहर्षः
कच्चित् क्षत्तः कुशलेनागतोऽसि।
कच्चित् पुत्राः स्थविरस्यानुलोमा
वशानुगाश्चापि विशोऽथ कच्चित् ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर बोले—विदुरजी! आपका मन प्रसन्न नहीं जान पड़ता। आप कुशलसे तो आये हैं? बूढ़े राजा धृतराष्ट्रके पुत्र उनके अनुकूल चलते हैं न? तथा सारी प्रजा उनके वशमें है न? ॥ ५ ॥

विदुर उवाच

राजा महात्मा कुशली सपुत्र
आस्ते वृतो ज्ञातिभिरिन्द्रकल्पः।
प्रीतो राजन् पुत्रगणैर्विनीतै-
र्विशोक एवात्मरतिर्महात्मा ॥ ६ ॥

विदुरने कहा—राजन्! इन्द्रके समान प्रभावशाली महामना राजा धृतराष्ट्र अपने जातिभाइयों तथा पुत्रोंसहित सकुशल हैं। अपने विनीत पुत्रोंसे वे प्रसन्न रहते हैं। उनमें शोकका अभाव है। वे महामना अपनी आत्मामें ही अनुराग रखनेवाले हैं ॥ ६ ॥

इदं तु त्वां कुरुराजोऽभ्युवाच
पूर्वं पृष्ट्वा कुशलं चाव्ययं च।
इयं सभा त्वत्सभातुल्यरूपा
भ्रातॄणां ते दृश्यतामेत्य पुत्र ॥ ७ ॥
समागम्य भ्रातृभिः पार्थ तस्यां
सुहृद्द्यूतं क्रियतां रम्यतां च।
प्रीयामहे भवतां संगमेन
समागताः कुरवश्चापि सर्वे ॥ ८ ॥

कुरुराज धृतराष्ट्रने पहले तुमसे कुशल और आरोग्य पूछकर यह संदेश दिया है कि वत्स! मैंने तुम्हारी सभाके समान ही एक सभा तैयार करायी है। तुम अपने भाइयोंके साथ आकर अपने दुर्योधन आदि भाइयोंकी इस सभाको देखो। इसमें सभी इष्ट-मित्र मिलकर द्यूतक्रीडा करें और मन बहलावें। हम सभी कौरव तुम सबसे मिलकर बहुत प्रसन्न होंगे ॥ ७-८ ॥

दुरोदरा विहिता ये तु तत्र
महात्मना धृतराष्ट्रेण राज्ञा।
तान् द्रक्ष्यसे कितवान् संनिविष्टा-
नित्यागतोऽहं नृपते तज्जुषस्व ॥ ९ ॥

महामना राजा धृतराष्ट्रने वहाँ जो जूएके स्थान बनवाये हैं, उनको और वहाँ जुटकर बैठे हुए धूर्त जुआरियोंको तुम देखोगे। राजन्! मैं इसीलिये आया हूँ। तुम चलकर उस सभा एवं द्यूतक्रीडाका सेवन करो ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

द्यूते क्षत्तः कलहो विद्यते नः
को वै द्यूतं रोचयेद् बुध्यमानः।
किं वा भवान् मन्यते युक्तरूपं
भवद्वाक्ये सर्व एव स्थिताः स्म॥ १०॥

युधिष्ठिरने पूछा—विदुरजी! जूएमें तो झगड़ा-फसाद होता है। कौन समझदार मनुष्य जूआ खेलना पसंद करेगा अथवा आप क्या ठीक समझते हैं; हम सब लोग तो आपकी आज्ञाके अनुसार ही चलनेवाले हैं॥ १०॥

विदुर उवाच

जानाम्यहं द्यूतमनर्थमूलं
कृतश्च यत्नोऽस्य मया निवारणे।
राजा च मां प्राहिणोत् त्वत्सकाशं
श्रुत्वा विद्वञ्छ्रेय इहाचरस्व॥ ११॥

विदुरजीने कहा—विद्वन्! मैं जानता हूँ, जूआ अनर्थकी जड़ है; इसीलिये मैंने उसे रोकनेका प्रयत्न भी किया तथापि राजा धृतराष्ट्रने मुझे तुम्हारे पास भेजा है, यह सुनकर तुम्हें जो कल्याणकर जान पड़े, वह करो॥ ११॥

युधिष्ठिर उवाच

के तत्रान्ये कितवा दीव्यमाना
विना राज्ञो धृतराष्ट्रस्य पुत्रैः।
पृच्छामि त्वां विदुर ब्रूहि नस्तान्
यैर्दीव्यामः शतशः संनिपत्य॥ १२॥

युधिष्ठिरने पूछा—विदुरजी! वहाँ राजा धृतराष्ट्रके पुत्रोंको छोड़कर दूसरे कौन-कौन धूर्त जूआ खेलनेवाले हैं। यह मैं आपसे पूछता हूँ। आप उन सबको बताइये, जिनके साथ मिलकर और सैकड़ोंकी बाजी लगाकर हमें जूआ खेलना पड़ेगा॥ १२॥



विदुर उवाच

गान्धारराजः शकुनिर्विशाम्पते
राजातिदेवी कृतहस्तो मताक्षः।
विविंशतिश्चित्रसेनश्च राजा
सत्यव्रतः पुरुमित्रो जयश्च॥ १३॥

विदुरने कहा—राजन्! वहाँ गान्धारराज शकुनि है, जो जुएका बहुत बड़ा खिलाड़ी है। वह अपनी इच्छाके अनुसार पासे फेंकनेमें सिद्धहस्त है। उसे द्यूतविद्याके रहस्यका ज्ञान है। उसके सिवा राजा विविंशति, चित्रसेन, राजा सत्यव्रत, पुरुमित्र और जय भी रहेंगे॥ १३॥

युधिष्ठिर उवाच

महाभयाः कितवाः संनिविष्टा
मायोपधा देवितारोऽत्र सन्ति।
धात्रा तु दिष्टस्य वशे किलेदं
सर्वं जगत् तिष्ठति न स्वतन्त्रम्॥ १४॥

युधिष्ठिर बोले—तब तो वहाँ बड़े भयंकर, कपटी और धूर्त जुआरी जुटे हुए हैं। विधाताका रचा हुआ यह सम्पूर्ण जगत् दैवके ही अधीन है; स्वतन्त्र नहीं है॥ १४॥

नाहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य शासना-
न्न गन्तुमिच्छामि कवे दुरोदरम्।
इष्टो हि पुत्रस्य पिता सदैव
तदस्मि कर्ता विदुरात्थ मां यथा॥ १५॥

बुद्धिमान् विदुरजी! मैं राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे जूएमें अवश्य चलना चाहता हूँ। पुत्रको पिता सदैव प्रिय है; अतः आपने मुझे जैसा आदेश दिया है, वैसा ही करूँगा॥ १५॥

न चाकामः शकुनिना देविताहं
न चेन्मां जिष्णुराह्वयिता सभायाम्।
आहूतोऽहं न निवर्ते कदाचित्
तदाहितं शाश्वतं वै व्रतं मे॥ १६॥

मेरे मनमें जूआ खेलनेकी इच्छा नहीं है। यदि मुझे विजयशील राजा धृतराष्ट्र सभामें न बुलाते, तो मैं शकुनिसे कभी जुआ नहीं खेलता; किंतु बुलानेपर मैं कभी पीछे नहीं हटूँगा। यह मेरा सदाका नियम है॥ १६॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा विदुरं धर्मराजः
प्रायात्रिकं सर्वमाज्ञाप्य तूर्णम्।
प्रायाच्छ्वोभूते सगणः सानुयात्रः
सह स्त्रीभिर्द्रौपदीमादि कृत्वा॥ १७॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! विदुरसे ऐसा कहकर धर्मराज युधिष्ठिरने तुरंत ही यात्राकी सारी तैयारी करनेके

लिये आज्ञा दे दी। फिर सवेरा होनेपर उन्होंने अपने भाई-बन्धुओं, सेवकों तथा द्रौपदी आदि स्त्रियोंके साथ हस्तिनापुरकी यात्रा की ॥ १७ ॥

दैवं हि प्रज्ञां मुष्णाति चक्षुस्तेज इवापतत्।
धातुश्च वशमन्वेति पाशैरिव नरः सितः ॥ १८ ॥

जैसे उत्कृष्ट तेज सामने आनेपर आँखकी ज्योतिको हर लेता है, उसी प्रकार दैव मनुष्यकी बुद्धिको हर लेता है। दैवसे ही प्रेरित होकर मनुष्य रस्सीमें बँधे हुएकी भाँति विधाताके वशमें घूमता रहता है ॥ १८ ॥

इत्युक्त्वा प्रययौ राजा सह क्षत्त्रा युधिष्ठिरः।
अमृष्यमाणस्तस्याथ समाह्वानमरिंदमः ॥ १९ ॥

ऐसा कहकर शत्रुदमन राजा युधिष्ठिर जूएके लिये राजा धृतराष्ट्रके उस बुलावेको सहन न करते हुए भी विदुरजीके साथ वहाँ जानेको उद्यत हो गये ॥ १९ ॥

बाह्लीकेन रथं यत्तमास्थाय परवीरहा।
परिच्छन्नो ययौ पार्थो भ्रातृभिः सह पाण्डवः॥ २० ॥

बाह्लीकद्वारा जोते हुए रथपर बैठकर शत्रुसूदन पाण्डुकुमार युधिष्ठिरने अपने भाइयोंके साथ हस्तिनापुरकी यात्रा प्रारम्भ की ॥ २० ॥

राजश्रिया दीप्यमानो ययौ ब्रह्मपुरःसरः।

वे अपनी राजलक्ष्मीसे देदीप्यमान हो रहे थे। उन्होंने ब्राह्मणको आगे करके प्रस्थान किया ॥ २०½ ॥

(संदिदेश ततः प्रेष्यान् नागाह्वयगतिं प्रति ॥
ततस्ते नरशार्दूलाश्चक्रुर्वै नृपशासनम् ॥

सबसे पहले राजा युधिष्ठिरने अपने सेवकोंको हस्तिनापुरकी ओर चलनेका आदेश दिया। वे नरश्रेष्ठ राजसेवक महाराजकी आज्ञाका पालन करनेमें तत्पर हो गये ॥

ततो राजा महातेजाः सधौम्यः सपरिच्छदः।
ब्राह्मणैः स्वस्ति वाच्यैव निर्ययौ मन्दिराद् बहिः ॥

तत्पश्चात् महातेजस्वी राजा युधिष्ठिर समस्त सामग्रियोंसे सुसज्जित हो ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर पुरोहित धौम्यके साथ राजभवनसे बाहर निकले ॥

ब्राह्मणेभ्यो धनं दत्त्वा गत्यर्थं स यथाविधि।
अन्येभ्यः स तु दत्त्वार्थं गन्तुमेवोपचक्रमे ॥

यात्राकी सफलताके लिये उन्होंने ब्राह्मणोंको विधिपूर्वक धन देकर और दूसरोंको भी मनोवाञ्छित वस्तुएँ अर्पित करके यात्रा प्रारम्भ की ॥

सर्वलक्षणसम्पन्नं राजार्हं सपरिच्छदम्।
तमारुह्य महाराजो गजेन्द्रं षष्टिहायनम् ॥
निषसाद गजस्कन्धे काञ्चने परमासने।
हारी किरीटी हेमाभः सर्वाभरणभूषितः ॥
रराज राजन् पार्थो वै परया नृपशोभया।
रुक्मवेदिगतः प्राज्यो ज्वलन्निव हुताशनः ॥

राजाके बैठनेके योग्य एक साठ वर्षका गजराज सब आवश्यक सामग्रियोंसे सुसज्जित करके लाया गया। वह समस्त शुभ लक्षणोंसे सम्पन्न था। उसकी पीठपर सोनेका सुन्दर हौदा कसा गया था। महाराज युधिष्ठिर (पूर्वोक्त रथसे उतर कर) उस गजराजपर आरूढ़ हो हौदेमें बैठे। उस समय वे हार, किरीट तथा अन्य सभी आभूषणोंसे विभूषित हो अपनी स्वर्णगौर-कान्ति तथा उत्कृष्ट राजोचित शोभासे सुशोभित हो रहे थे। उन्हें देखकर ऐसा जान पड़ता था, मानो सोनेकी वेदीपर स्थापित अग्निदेव घीकी आहुतिसे प्रज्वलित हो रहे हों ॥

ततो जगाम राजा स प्रहृष्टनरवाहनः।
रथघोषेण महता पूरयन् वै नभःस्थलम् ॥
संस्तूयमानः स्तुतिभिः सूतमागधवन्दिभिः।
महासैन्येन संवीतो यथाऽऽदित्यः स्वरश्मिभिः॥

तदनन्तर हर्षमें भरे हुए मनुष्यों तथा वाहनोंके साथ राजा युधिष्ठिर वहाँसे चल पड़े। वे (राजपरिवारके लोगोंसे भरे हुए पूर्वोक्त) रथके महान् घोषसे समस्त आकाशमण्डलको गुँजाते जा रहे थे। सूत, मागध और वन्दीजन नाना प्रकारकी स्तुतियोंद्वारा उनके गुण गाते थे। उस समय विशाल सेनासे घिरे हुए राजा युधिष्ठिर अपनी किरणोंसे आवृत हुए सूर्यदेवकी भाँति शोभा पा रहे थे॥

पाण्डुरेणातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि।
बभौ युधिष्ठिरो राजा पौर्णमास्यामिवोडुराट् ॥

उनके मस्तकपर श्वेत छत्र तना हुआ था, जिससे राजा युधिष्ठिर पूर्णिमाके चन्द्रमाकी भाँति शोभा पाते थे ॥

चामरैर्हेमदण्डैश्च धूयमानः समन्ततः।
जयाशिषः प्रहृष्टानां नराणां पथि पाण्डवः ॥
प्रत्यगृह्णाद् यथान्यायं यथावद् भरतर्षभ।

उनके चारों ओर स्वर्णदण्डविभूषित चँवर डुलाये जाते थे। भरतश्रेष्ठ! पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको मार्गमें बहुतेरे मनुष्य हर्षोल्लासमें भरकर 'महाराजकी जय हो' कहते हुए शुभाशीर्वाद देते थे और वे यथोचितरूपसे सिर झुकाकर उन सबको स्वीकार करते थे ॥

अपरे कुरुराजानं पथि यान्तं समाहिताः ॥
स्तुवन्ति सततं सौख्यान्मृगपक्षिस्वनैर्नराः।

उस मार्गमें दूसरे बहुत-से मनुष्य एकाग्रचित्त हो मृगों और पक्षियोंकी-सी आवाजमें निरन्तर सुखपूर्वक कुरुराज युधिष्ठिरकी स्तुति करते थे ॥

तथैव सैनिका राजन् राजानमनुयान्ति ये ॥
तेषां हलहलाशब्दो दिवं स्तब्ध्वा प्रतिष्ठितः।

जनमेजय ! इसी प्रकार जो सैनिक राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जा रहे थे, उनका कोलाहल भी समूचे आकाशमण्डलको स्तब्ध करके गूँज रहा था ॥

नृपस्याग्रे ययौ भीमो गजस्कन्धगतो बली ॥
उभौ पार्श्वगतौ राज्ञः सदश्वौ वै-सुकल्पितौ ।
अधिरूढौ यमौ चापि जग्मतुर्भरतर्षभ ॥
शोभयन्तौ महासैन्यं तावुभौ रूपशालिनौ ।

हाथीकी पीठपर बैठे हुए बलवान् भीमसेन राजाके आगे-आगे जा रहे थे । उनके दोनों ओर सजे-सजाये दो श्रेष्ठ अश्व थे, जिनपर नकुल और सहदेव बैठे थे । भरतश्रेष्ठ ! वे दोनों भाई स्वयं तो अपने रूप-सौन्दर्यसे सुशोभित थे ही, उस विशाल सेनाकी भी शोभा बढ़ा रहे थे ॥

पृष्ठतोऽनुययौ धीमान् पार्थः शस्त्रभृतां वरः ॥
श्वेताश्वो गाण्डिवं गृह्य अग्निदत्तं रथं गतः ।

शस्त्रधारियोंमें श्रेष्ठ परम बुद्धिमान् श्वेतवाहन अर्जुन अग्निदेवके दिये हुए रथपर बैठकर गाण्डीव धनुष धारण किये महाराजके पीछे-पीछे जा रहे थे ॥

सैन्यमध्ये ययौ राजन् कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥
द्रौपदीप्रमुखा नार्यः सानुगाः सपरिच्छदाः ।
आरुह्य ता विचित्राणि शिबिकानां शतानि च ॥
महत्या सेनया राजन्नग्रे राज्ञो ययुस्तदा ।

राजन् ! कुरुराज युधिष्ठिर सेनाके बीचमें चल रहे थे । द्रौपदी आदि स्त्रियाँ अपनी सेविकाओं तथा आवश्यक सामग्रियोंके साथ सैकड़ों विचित्र शिबिकाओं (पालकियों) पर आरूढ़ हो बड़ी भारी सेनाके साथ महाराजके आगे-आगे जा रही थीं ।

समृद्धनरनागाश्वं सपताकरथध्वजम् ॥
समृद्धरथनिस्त्रिंशं पत्तिभिर्घोषितस्वनम् ।

पाण्डवोंकी वह सेना हाथी-घोड़ों तथा पैदल सैनिकोंसे भरी-पूरी थी । उसमें बहुत-से रथ भी थे, जिनकी ध्वजाओंपर पताकाएँ फहरा रही थीं । उन सभी रथोंमें खड्ग आदि अस्त्र-शस्त्र संगृहीत थे । पैदल सैनिकोंका कोलाहल सब ओर फैल रहा था ॥

शङ्खदुन्दुभितालानां वेणुवीणानुनादितम् ॥
शुशुभे पाण्डवं सैन्यं प्रयातं तत् तदा नृप ।

राजन् ! शङ्ख, दुन्दुभि, ताल, वेणु और वीणा आदि वाद्योंकी तुमुल ध्वनि वहाँ गूँज रही थी । उस समय हस्तिनापुरकी ओर जाती हुई पाण्डवोंकी उस सेनाकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥

स सरांसि नदीश्चैव वनान्युपवनानि च ॥
अत्यक्रामन्महाराज पुरीं चाभ्यवपद्यत ।
हस्तीपुरसमीपं तु कुरुराजो युधिष्ठिरः ॥

जनमेजय ! कुरुराज युधिष्ठिर अनेक सरोवर, नदी, वन और उपवनोंको लाँघते हुए हस्तिनापुरके समीप जा पहुँचे ॥

चक्रे निवेशनं तत्र ततः स सहसैनिकः ।
शिवे देशे समे चैव न्यवसत् पाण्डवस्तदा ॥

वहाँ उन्होंने एक सुखद एवं समतल प्रदेशमें सैनिकोंसहित पड़ाव डाल दिया । उसी छावनीमें पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर स्वयं भी ठहर गये ॥

ततो राजन् समाहूय शोकविह्वलया गिरा ।
एतद् वाक्यं च सर्वस्वं धृतराष्ट्रचिकीर्षितम् ।
आचचक्षे यथावृत्तं विदुरोऽथ नृपस्य ह ॥)

राजन् ! तदनन्तर विदुरजीने शोकाकुल वाणीमें महाराज युधिष्ठिरको वहाँका सारा वृत्तान्त ठीक-ठीक बता दिया कि धृतराष्ट्र क्या करना चाहते हैं और इस द्यूतक्रीडाके पीछे क्या रहस्य है ? ॥

धृतराष्ट्रेण चाहूतः कालस्य समयेन च ॥ २१ ॥
स हास्तिनपुरं गत्वा धृतराष्ट्रगृहं ययौ ।
समियाय च धर्मात्मा धृतराष्ट्रेण पाण्डवः ॥ २२ ॥

तब धृतराष्ट्रके द्वारा बुलाये हुए कालके समयानुसार धर्मात्मा पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर हस्तिनापुरमें पहुँचकर धृतराष्ट्रके भवनमें गये और उनसे मिले ॥ २१-२२ ॥

तथा भीष्मेण द्रोणेन कर्णेन च कृपेण च ।
समियाय यथान्यायं द्रौणिना च विभुः सह ॥ २३ ॥

इसी प्रकार महाराज युधिष्ठिर भीष्म, द्रोण, कर्ण, कृपाचार्य और अश्वत्थामाके साथ भी यथायोग्य मिले ॥ २३ ॥

समेत्य च महाबाहुः सोमदत्तेन चैव ह ।
दुर्योधनेन शल्येन सौबलेन च वीर्यवान् ॥ २४ ॥
ये चान्ये तत्र राजानः पूर्वमेव समागताः ।
दुःशासनेन वीरेण सर्वैर्भ्रातृभिरेव च ॥ २५ ॥
जयद्रथेन च तथा कुरुभिश्चापि सर्वशः ।
ततः सर्वैर्महाबाहुर्भ्रातृभिः परिवारितः ॥ २६ ॥
प्रविवेश गृहं राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ।
ददर्श तत्र गान्धारीं देवीं पतिमनुव्रताम् ॥ २७ ॥
स्नुषाभिः संवृतां शश्वत् ताराभिरिव रोहिणीम् ।
अभिवाद्य स गान्धारीं तया च प्रतिनन्दितः ॥ २८ ॥

तत्पश्चात् पराक्रमी महाबाहु युधिष्ठिर सोमदत्तसे मिलकर दुर्योधन, शल्य, शकुनि तथा जो राजा वहाँ पहलेसे ही आये हुए थे, उन सबसे मिले । फिर वीर दुःशासन, उसके समस्त भाई, राजा जयद्रथ तथा सम्पूर्ण कौरवोंसे मिल करके भाइयोंसहित महाबाहु युधिष्ठिरने बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रके भवनमें प्रवेश किया और वहाँ सदा ताराओंसे घिरी रहनेवाली रोहिणीदेवीके समान पुत्रवधुओंके साथ बैठी हुई पतिव्रता गान्धारीदेवीको देखा । युधिष्ठिरने गान्धारीको

प्रणाम किया और गान्धारीने भी उन्हें आशीर्वाद देकर प्रसन्न किया ॥ २४-२८ ॥

ददर्श पितरं वृद्धं प्रज्ञाचक्षुषमीश्वरम् ॥ २९ ॥

तत्पश्चात् उन्होंने अपने बूढ़े चाचा प्रज्ञाचक्षु राजा धृतराष्ट्रका पुनः दर्शन किया ॥ २९ ॥

राज्ञा मूर्धन्युपाघ्रातास्ते च कौरवनन्दनाः ।
चत्वारः पाण्डवा राजन् भीमसेनपुरोगमाः ॥ ३० ॥

राजा धृतराष्ट्रने कुरुकुलको आनन्दित करनेवाले युधिष्ठिर तथा भीमसेन आदि अन्य चारों पाण्डवोंका मस्तक सूँघा ॥ ३० ॥

ततो हर्षः समभवत् कौरवाणां विशाम्पते ।
तान् दृष्ट्वा पुरुषव्याघ्रान् पाण्डवान् प्रियदर्शनान् ॥ ३१ ॥

जनमेजय ! उन पुरुषश्रेष्ठ प्रियदर्शन पाण्डवोंको आये देख कौरवोंको बड़ा हर्ष हुआ ॥ ३१ ॥

विविशुस्तेऽभ्यनुज्ञाता रत्नवन्ति गृहाणि च ।
ददृशुश्चोपयातांस्तान् दुःशलाप्रमुखाः स्त्रियः ॥ ३२ ॥
याज्ञसेन्याः परामृद्धिं दृष्ट्वा प्रज्वलितामिव ।
स्नुषास्ता धृतराष्ट्रस्य नातिप्रमनसोऽभवन् ॥ ३३ ॥

तत्पश्चात् धृतराष्ट्रकी आज्ञा ले पाण्डवोंने रत्नमय गृहोंमें प्रवेश किया । दुःशला आदि स्त्रियोंने वहाँ आये हुए उन सबको देखा । द्रुपदकुमारीकी प्रज्वलित अग्निके समान उत्तम समृद्धि देखकर धृतराष्ट्रकी पुत्रवधुएँ अधिक प्रसन्न नहीं हुईं ॥ ३२-३३ ॥

ततस्ते पुरुषव्याघ्रा गत्वा स्त्रीभिस्तु संविदम् ।
कृत्वा व्यायामपूर्वाणि कृत्यानि प्रतिकर्म च ॥ ३४ ॥
ततः कृताह्निकाः सर्वे दिव्यचन्दनभूषिताः ।
कल्याणमनसश्चैव ब्राह्मणान् स्वस्ति वाच्य च ॥ ३५ ॥
मनोज्ञमशनं भुक्त्वा विविशुः शरणान्यथ ।

तदनन्तर वे नरश्रेष्ठ पाण्डव द्रौपदी आदि अपनी स्त्रियोंसे बातचीत करके पहले व्यायाम एवं केश-प्रसाधन आदि कार्य किया । तदनन्तर नित्यकर्म करके सबने अपनेको दिव्य चन्दन आदिसे विभूषित किया । तत्पश्चात् मनमें कल्याणकी भावना रखनेवाले पाण्डव ब्राह्मणोंसे स्वस्तिवाचन कराकर मनोनुकूल भोजन करनेके पश्चात् शयनगृहमें गये ॥ ३४-३५½ ॥

उपगीयमाना नारीभिरस्वपन् कुरुपुङ्गवाः ॥ ३६ ॥

वहाँ स्त्रियोंद्वारा अपने सुयशका गान सुनते हुए वे कुरुकुलके श्रेष्ठ पुरुष सो गये ॥ ३६ ॥

जगाम तेषां सा रात्रिः पुण्या रतिविहारिणाम् ।
स्तूयमानाश्च विश्रान्ताः काले निद्रामथात्यजन् ॥ ३७ ॥

उनकी वह पुण्यमयी रात्रि रति-विलासपूर्वक समाप्त हुई । प्रातःकाल बन्दीजनोंके द्वारा स्तुति सुनते हुए पूर्ण विश्रामके पश्चात् उन्होंने निद्राका त्याग किया ॥ ३७ ॥

सुखोषितास्ते रजनीं प्रातः सर्वे कृताह्निकाः ।
सभां रम्यां प्रविविशुः कितवैरभिनन्दिताः ॥ ३८ ॥

इस प्रकार सुखपूर्वक रात बिताकर वे प्रातःकाल उठे और संध्योपासनादि नित्यकर्म करनेके अनन्तर उस रमणीय सभामें गये । वहाँ जुआरियोंने उनका अभिनन्दन किया ॥ ३८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरसभागमनेऽष्टपञ्चाशत्तमोऽध्यायः ॥ ५८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरसभागमनविषयक अट्ठावनवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २३½ श्लोक मिलाकर कुल ६१½ श्लोक हैं)

एकोनषष्टितमोऽध्यायः

जूएके अनौचित्यके सम्बन्धमें युधिष्ठिर और शकुनिका संवाद

वैशम्पायन उवाच

प्रविश्य तां सभां पार्था युधिष्ठिरपुरोगमाः ।
समेत्य पार्थिवान् सर्वान् पूजार्हानभिपूज्य च ॥ १ ॥
यथावयः समेयाना उपविष्टा यथार्हतः ।
आसनेषु विचित्रेषु स्पर्ध्यास्तरणवत्सु च ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! युधिष्ठिर आदि कुन्तीकुमार उस सभामें पहुँचकर सब राजाओंसे मिले। अवस्थाक्रमके अनुसार समस्त पूजनीय राजाओंका बारी-बारीसे सम्मान करके सबसे मिलने-जुलनेके पश्चात् वे यथायोग्य सुन्दर रमणीय गलीचोंसे युक्त विचित्र आसनोंपर बैठे ॥ १-२ ॥

तेषु तत्रोपविष्टेषु सर्वेष्वथ नृपेषु च ।
शकुनिः सौबलस्तत्र युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३ ॥

उनके एवं सब नरेशोंके बैठ जानेपर वहाँ सुबलकुमार शकुनिने युधिष्ठिरसे कहा ॥ ३ ॥

शकुनिरुवाच

उपस्तीर्णा सभा राजन् सर्वे त्वयि कृतक्षणाः ।
अक्षानुप्त्वा देवनस्य समयोऽस्तु युधिष्ठिर ॥ ४ ॥

शकुनि बोला—महाराज युधिष्ठिर! सभामें पासे फेंकनेवाला वस्त्र बिछा दिया गया है, सब आपकी ही प्रतीक्षा कर रहे हैं। अब पासे फेंककर जूआ खेलनेका अवसर मिलना चाहिये ॥ ४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

निकृतिर्देवनं पापं न क्षात्रोऽत्र पराक्रमः।
न च नीतिर्ध्रुवा राजन् किं त्वं द्यूतं प्रशंससि ॥ ५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! जूआ तो एक प्रकारका छल है तथा पापका कारण है! इसमें न तो क्षत्रियोचित पराक्रम दिखाया जा सकता है और न इसकी कोई निश्चित नीति ही है। फिर तुम द्यूतकी प्रशंसा क्यों करते हो? ॥ ५ ॥

न हि मानं प्रशंसन्ति निकृतौ कितवस्य हि।
शकुने मैव नो जैपीरमार्गेण नृशंसवत् ॥ ६ ॥

शकुने! जुआरियोंका छल-कपटमें ही सम्मान होता है; सज्जन पुरुष वैसे सम्मानकी प्रशंसा नहीं करते। अतः तुम क्रूर मनुष्यकी भाँति अनुचित मार्गसे हमें जीतनेकी चेष्टा न करो ॥ ६ ॥

शकुनिरुवाच

योऽन्वेति संख्यां निकृतौ विधिज्ञ-
श्चेष्टास्वखिन्नः कितवोऽक्षजासु।
महामतिर्यश्च जानाति द्यूतं
स वै सर्वं सहते प्रक्रियासु ॥ ७ ॥

शकुनि बोला—जिस अङ्कपर पासा पड़ता है, उसे जो पहले ही समझ लेता है, जो शठताका प्रतीकार करना जानता है एवं पासे फेंकने आदि समस्त व्यापारोंमें उत्साहपूर्वक लगा रहता है तथा जो परम बुद्धिमान् पुरुष द्यूतक्रीडाविषयक सब बातोंकी जानकारी रखता है, वही जूएका असली खिलाड़ी है; वह द्यूतक्रीडामें दूसरोंकी सारी शठतापूर्ण चेष्टाओंको सह लेता है ॥ ७ ॥

अक्षग्लहः सोऽभिभवेत् परं न-
स्तेनैव दोषो भवतीह पार्थ।
दीव्यामहे पार्थिव मा विशङ्कां
कुरुष्व पाणं च चिरं च मा कृथाः ॥ ८ ॥

कुन्तीनन्दन! यदि पासा विपरीत पड़ जाय तो हम खिलाड़ियोंमेंसे एक पक्षको पराजित कर सकता है; अतः जय-पराजय दैवाधीन पासोंके ही आश्रित है। उसीसे पराजयरूप दोषकी प्राप्ति होती है। हारनेकी शङ्का तो हमें भी है, फिर भी हम खेलते हैं। अतः भूमिपाल! आप शङ्का न कीजिये, दाँव लगाइये, अब विलम्ब न कीजिये ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एवमाहायमसितो देवलो मुनिसत्तमः।
इमानि लोकद्वाराणि यो वै भ्राम्यति सर्वदा ॥ ९ ॥

इदं वै देवनं पापं निकृत्या कितवैः सह।
धर्मेण तु जयो युद्धे तत्परं न तु देवनम् ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मुनिश्रेष्ठ असित देवलने, जो सदा इन लोकद्वारोंमें भ्रमण करते रहते हैं, ऐसा कहा है कि जुआरियोंके साथ शठतापूर्वक जो जूआ खेला जाता है, पाप है। धर्मानुकूल विजय तो युद्धमें ही प्राप्त होती है; अतः क्षत्रियोंके लिये युद्ध ही उत्तम है, जूआ खेलना नहीं ॥ ९-१० ॥

नार्या म्लेच्छन्ति भाषाभिर्मायया न चरन्त्युत।
अजिह्ममशठं युद्धमेतत् सत्पुरुषव्रतम् ॥ ११ ॥

श्रेष्ठ पुरुष वाणीद्वारा किसीके प्रति अनुचित शब्द नहीं निकालते तथा कपटपूर्ण बर्ताव नहीं करते। कुटिलता और शठतासे रहित युद्ध ही सत्पुरुषोंका व्रत है ॥ ११ ॥

शक्तितो ब्राह्मणान् नूनं रक्षितुं प्रयतामहे।
तद् वै वित्तं मातिदेवीर्मा जैषीः शकुने परान् ॥ १२ ॥

शकुने! हमलोग जिस धनसे अपनी शक्तिके अनुसार ब्राह्मणोंकी रक्षा करनेका ही प्रयत्न करते हैं, उसको तुम जूआ खेलकर हमलोगोंसे हड़पनेकी चेष्टा न करो ॥ १२ ॥

निकृत्या कामये नाहं सुखान्युत धनानि वा।
कितवस्येह कृतिनो वृत्तमेतन्न पूज्यते ॥ १३ ॥

मैं धूर्ततापूर्ण बर्तावके द्वारा सुख अथवा धन पानेकी इच्छा नहीं करता; क्योंकि जुआरीके कार्यको विद्वान् पुरुष अच्छा नहीं समझते ॥ १३ ॥

शकुनिरुवाच

श्रोत्रियः श्रोत्रियानेति निकृत्यैव युधिष्ठिर।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १४ ॥

शकुनि बोला—युधिष्ठिर! श्रोत्रिय विद्वान् दूसरे श्रोत्रिय विद्वानोंके पास जब उन्हें जीतनेके लिये जाता है, तब शठतासे ही काम लेता है। विद्वान् अविद्वानोंको शठतासे ही पराजित करता है; परंतु इसे जनसाधारण शठता नहीं कहते ॥ १४ ॥

अक्षैर्हि शिक्षितोऽभ्येति निकृत्यैव युधिष्ठिर।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १५ ॥

धर्मराज! जो द्यूतविद्यामें पूर्ण शिक्षित है, वह अशिक्षितोंपर शठतासे ही विजय पाता है। विद्वान् पुरुष अविद्वानोंको जो परास्त करता है, वह भी शठता ही है; किंतु लोग उसे शठता नहीं कहते ॥ १५ ॥

अकृतास्त्रं कृतास्त्रश्च दुर्बलं बलवत्तरः।
एवं कर्मसु सर्वेषु निकृत्यैव युधिष्ठिर।
विद्वानविदुषोऽभ्येति नाहुस्तां निकृतिं जनाः ॥ १६ ॥

धर्मराज युधिष्ठिर! अस्त्रविद्यामें निपुण योद्धा अनाड़ी-

को एवं बलिष्ठ पुरुष दुर्बलको शठतासे ही जीतना चाहता है। इस प्रकार सब कार्योंमें विद्वान् पुरुष अविद्वानोंको शठतासे ही जीतते हैं; किंतु लोग उसे शठता नहीं कहते॥१६॥

एवं त्वं मामिहाभ्येत्य निकृतिं यदि मन्यसे।
देवनाद् विनिवर्तस्व यदि ते विद्यते भयम् ॥ १७ ॥

इसी प्रकार आप यदि मेरे पास आकर यह मानते हैं कि आपके साथ शठता की जायगी एवं यदि आपको भय मालूम होता है तो इस जूएके खेलसे निवृत्त हो जाइये ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

आहूतो न निवर्तेयमिति मे व्रतमाहितम्।
विधिश्च बलवान् राजन् दिष्टस्यास्मि वशे स्थितः ॥१८॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! मैं बुलानेपर पीछे नहीं हटता, यह मेरा निश्चित व्रत है। दैव बलवान् है। मैं दैवके वशमें हूँ ॥ १८ ॥

अस्मिन् समागमे केन देवनं मे भविष्यति।
प्रतिपाणश्च कोऽन्योऽस्ति ततो द्यूतं प्रवर्तताम्॥ १९ ॥

अच्छा तो यहाँ जिन लोगोंका जमाव हुआ है, उनमें किसके साथ मुझे जूआ खेलना होगा? मेरे मुकाबलेमें बैठकर दूसरा कौन पुरुष दाँव लगायेगा? इसका निश्चय हो जाय, तो जूएका खेल प्रारम्भ हो ॥ १९ ॥

दुर्योधन उवाच

अहं दातास्मि रत्नानां धनानां च विशाम्पते ॥ २० ॥
मदर्थे देविता चायं शकुनिर्मातुलो मम।

दुर्योधन बोला—महाराज! दाँवपर लगानेके लिये धन और रत्न तो मैं दूँगा; परंतु मेरी ओरसे खेलेंगे ये मेरे मामा शकुनि ॥ २०½ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अन्येनान्यस्य वै द्यूतं विषमं प्रतिभाति मे।
एतद् विद्वन्नुपादत्स्व काममेवं प्रवर्तताम् ॥ २१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—दूसरेके लिये दूसरेका जूआ खेलना मुझे तो अनुचित ही प्रतीत होता है। विद्वन्! इस बातको समझ लो, फिर इच्छानुसार जूएका खेल प्रारम्भ हो ॥ २१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि युधिष्ठिरशकुनिसंवादे एकोनषष्टितमोऽध्यायः ॥ ५९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें युधिष्ठिरशकुनिसंवादविषयक उनसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ५९ ॥

षष्टितमोऽध्यायः

द्यूतक्रीडाका आरम्भ

वैशम्पायन उवाच

उपोह्यमाने द्यूते तु राजानः सर्व एव ते।
धृतराष्ट्रं पुरस्कृत्य विविशुस्तां सभां ततः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! जब जूएका खेल आरम्भ होने लगा, उस समय सब राजालोग धृतराष्ट्रको आगे करके उस सभामें आये ॥ १ ॥

भीष्मो द्रोणः कृपश्चैव विदुरश्च महामतिः।
नातिप्रीतेन मनसा तेऽन्ववर्तन्त भारत ॥ २ ॥

भारत! भीष्म, द्रोण, कृप और परम बुद्धिमान् विदुर—ये सब लोग असंतुष्ट चित्तसे ही धृतराष्ट्रके पीछे-पीछे वहाँ आये ॥ २ ॥

ते द्वन्द्वशः पृथक् चैव सिंहग्रीवा महौजसः।
सिंहासनानि भूरीणि विचित्राणि च भेजिरे ॥ ३ ॥

सिंहके समान ग्रीवावाले वे महातेजस्वी राजालोग कहीं एक-एक आसनपर दो-दो तथा कहीं पृथक्-पृथक् एक-एक आसनपर एक ही व्यक्ति बैठे। इस प्रकार उन्होंने वहाँ रक्खे हुए बहुसंख्यक विचित्र सिंहासनोंको ग्रहण किया ॥

शुशुभे सा सभा राजन् राजभिस्तैः समागतैः।
देवैरिव महाभागैः समवेतैस्त्रिविष्टपम् ॥ ४ ॥

राजन्! जैसे महाभाग देवताओंके एकत्र होनेसे स्वर्गलोक सुशोभित होता है, उसी प्रकार उन आगन्तुक नरेशोंसे उस सभाकी बड़ी शोभा हो रही थी ॥ ४ ॥

सर्वे वेदविदः शूराः सर्वे भास्वरमूर्तयः।
प्रावर्तत महाराज सुहृद्द्यूतमनन्तरम् ॥ ५ ॥

महाराज! वे सब-के-सब वेदवेत्ता एवं शूरवीर थे तथा उनके शरीर तेजोयुक्त थे। उनके बैठ जानेके अनन्तर वहाँ सुहृदोंकी द्यूतक्रीडा आरम्भ हुई ॥ ५ ॥

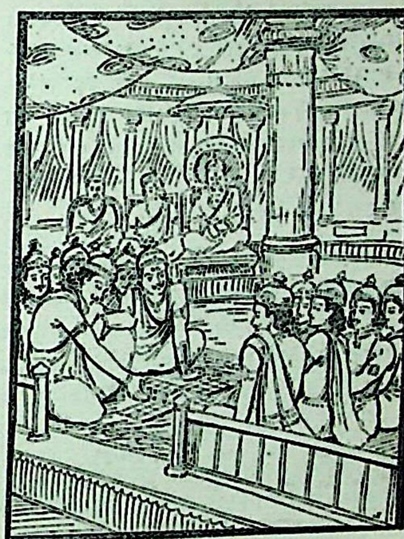
युधिष्ठिर उवाच

अयं बहुधनो राजन् सागरावर्तसम्भवः।
मणिर्हारोत्तरः श्रीमान् कनकोत्तमभूषणः ॥ ६ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! यह समुद्रके आवर्तमें उत्पन्न हुआ कान्तिमान् मणिरत्न बहुत बड़े मूल्यका है। मेरे हारोंमें यह सर्वोत्तम है तथा इसपर उत्तम सुवर्ण जड़ा गया है ॥ ६ ॥

एतद् राजन् मम धनं प्रतिपाणोऽस्ति कस्तव।
येन मां त्वं महाराज धनेन प्रतिदीव्यसे ॥ ७ ॥

राजन्! मेरी ओरसे यही धन दाँवपर रक्खा गया है। इसके बदलेमें तुम्हारी ओरसे कौन-सा धन दाँवपर रक्खा जाता है, जिस धनके द्वारा तुम मेरे साथ खेलना चाहते हो॥



दुर्योधन उवाच

सन्ति मे मणयश्चैव धनानि सुबहूनि च।
मत्सरश्च न मेऽर्थेषु जयस्वैनं दुरोदरम्॥ ८॥

दुर्योधन बोला—मेरे पास भी मणियाँ और बहुत-सा धन है, मुझे अपने धनपर अहंकार नहीं है। आप इस दाँवको जीतिये॥ ८॥

वैशम्पायन उवाच

ततो जग्राह शकुनिस्तानक्षानक्षतत्त्ववित्।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत॥ ९॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर पासे फेंकनेकी कलामें अत्यन्त निपुण शकुनिने उन पासोंको हाथमें लिया और उन्हें फेंककर युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव मैंने जीता'॥ ९॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्यूतारम्भे षष्टितमोऽध्यायः॥ ६०॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्यूतारम्भविषयक साठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६०॥

एकषष्टितमोऽध्यायः

जूएमें शकुनिके छलसे प्रत्येक दाँवपर युधिष्ठिरकी हार

युधिष्ठिर उवाच

मत्तः कैतवकेनैव यज्जितोऽस्मि दुरोदरे।
शकुने हन्त दीव्यामो ग्लहमानाः परस्परम्॥ १॥

युधिष्ठिरने कहा—शकुने! तुमने छलसे इस दाँवमें मुझे हरा दिया, इसीपर तुम गर्वित हो उठे हो; आओ, हमलोग पुनः परस्पर पासे फेंककर जूआ खेलें॥ १॥

सन्ति निष्कसहस्रस्य भाण्डिन्यो भरिताः शुभाः।
कोशो हिरण्यमक्षय्यं जातरूपमनेकशः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ २॥

मेरे पास हजारों निष्कों[1] से भरी हुई बहुत-सी सुन्दर पेटियाँ रक्खी हैं। इसके सिवा खजाना है, अक्षय धन है और अनेक प्रकारके सुवर्ण हैं। राजन्! मेरा यह सब धन दाँवपर लगा दिया गया। मैं इसीके द्वारा तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

कौरवाणां कुलकरं ज्येष्ठं पाण्डवमच्युतम्।
इत्युक्तः शकुनिः प्राह जितमित्येव तं नृपम्॥ ३॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर मर्यादासे कभी च्युत न होनेवाले कौरवोंके वंशधर एवं पाण्डुके ज्येष्ठ पुत्र राजा युधिष्ठिरसे शकुनिने फिर कहा—'लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता'॥ ३॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं सहस्रसमितो वैयाघ्रः सुप्रतिष्ठितः।
सुचक्रोपस्करः श्रीमान् किङ्किणीजालमण्डितः॥ ४॥
संह्लादनो राजरथो य इहास्मानुपावहत्।
जैत्रो रथवरः पुण्यो मेघसागरनिःस्वनः॥
अष्टौ यं कुररच्छायाः सदश्वा राष्ट्रसम्मताः। ५॥
वहन्ति नैषां मुच्येत पदाद् भूमिमुपस्पृशन्।
एतद् राजन् धनं मह्यं तेन दीव्याम्यहं त्वया॥ ६॥

युधिष्ठिरने कहा—यह जो परमानन्ददायक राजरथ है, जो हमलोगोंको यहाँतक ले आया है, रथोंमें श्रेष्ठ जैत्र नामक पुण्यमय श्रेष्ठ रथ है। चलते समय इससे मेघ और समुद्रकी गर्जनाके समान गम्भीर ध्वनि होती रहती है। यह अकेला ही एक हजार रथोंके समान है। इसके ऊपर बाघका चमड़ा लगा हुआ है। यह अत्यन्त सुदृढ़ है। इसके पहिये तथा अन्य आवश्यक सामग्री बहुत सुन्दर है। यह परम शोभायमान

1. प्राचीन कालमें प्रचलित एक सिक्का, जो एक कर्ष अथवा [illegible] मासे सोनेका बना होता था।

रथ क्षुद्र घण्टिकाओंसे सजाया गया है। कुरर पक्षीकी-सी कान्तिवाले आठ अच्छे घोड़े, जो समूचे राष्ट्रमें सम्मानित हैं, इस रथको वहन करते हैं। भूमिका स्पर्श करनेवाला कोई भी प्राणी इन घोड़ोंके सामने पड़ जानेपर बच नहीं सकता। राजन्! इन घोड़ोंसहित यह रथ मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ ॥ ४-६ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं श्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पुनः पासे फेंके और जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह भी जीत लिया' ॥

युधिष्ठिर उवाच

शतं दासीसहस्राणि तरुण्यो हेमभद्रिकाः।
कम्बुकेयूरधारिण्यो निष्ककण्ठ्यः स्वलंकृताः ॥ ८ ॥
महार्हमाल्याभरणाः सुवस्त्राश्चन्दनोक्षिताः।
मणीन् हेम च बिभ्रत्यश्चतुःषष्टिविशारदाः ॥ ९ ॥
अनुसेवां चरन्तीमाः कुशला नृत्यसामसु।
स्नातकानाममात्यानां राज्ञां च मम शासनात्।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास एक लाख तरुणी दासियाँ हैं, जो सुवर्णमय माङ्गलिक आभूषण धारण करती हैं। जिनके हाथोंमें शङ्खकी चूड़ियाँ, बाँहोंमें भुजबंद, कण्ठमें निष्कोंका हार तथा अन्य अङ्गोंमें भी सुन्दर आभूषण हैं। बहुमूल्य हार उनकी शोभा बढ़ाते हैं। उनके वस्त्र बहुत ही सुन्दर हैं। वे अपने शरीरमें चन्दनका लेप लगाती हैं, मणि और सुवर्ण धारण करती हैं तथा चौंसठ कलाओंमें निपुण हैं। नृत्य और गानमें भी वे कुशल हैं। ये सब-के-सब मेरे आदेशसे स्नातकों, मन्त्रियों तथा राजाओंकी सेवा-परिचर्या करती हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ ८-१० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटी शकुनिने पुनः जीतका निश्चय करके पासे फेंके और युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

एतावन्ति च दासानां सहस्राण्युत सन्ति मे।
प्रदक्षिणानुलोमाश्च प्रावारवसनाः सदा ॥ १२ ॥

युधिष्ठिरने कहा—दासियोंकी तरह ही मेरे यहाँ एक लाख दास हैं। वे कार्यकुशल तथा अनुकूल रहनेवाले हैं। उनके शरीरपर सदा सुन्दर उत्तरीय वस्त्र सुशोभित होते हैं ॥ १२ ॥

प्राज्ञा मेधाविनो दान्ता युवानो मृष्टकुण्डलाः।
पात्रीहस्ता दिवारात्रमतिथीन् भोजयन्त्युत।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १३ ॥

वे चतुर, बुद्धिमान्, संयमी और तरुण अवस्थावाले हैं। उनके कानोंमें कुण्डल झिलमिलाते रहते हैं। वे हाथोंमें भोजनपात्र लिये दिन-रात अतिथियोंको भोजन परोसते रहते हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर पुनः शठताका आश्रय लेनेवाले शकुनिने अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव भी मैंने जीत लिया' ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

सहस्रसंख्या नागा मे मत्तास्तिष्ठन्ति सौबल।
हेमकक्षाः कृतापीडाः पद्मिनो हेममालिनः ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—सुबलकुमार! मेरे यहाँ एक हजार मतवाले हाथी हैं, जिनके बाँधनेके रस्से सुवर्णमय हैं। वे सदा आभूषणोंसे विभूषित रहते हैं। उनके कपोल और मस्तक आदि अङ्गोंपर कमलके चिह्न बने हुए हैं। उनके गलेमें सोनेके हार सुशोभित होते हैं ॥ १५ ॥

सुदान्ता राजवहनाः सर्वशब्दक्षमा युधि।
ईषादन्ता महाकायाः सर्वे चाष्टकरेणवः ॥ १६ ॥

वे अच्छी तरह वशमें किये हुए हैं और राजाओंकी सवारीके काममें आते हैं। युद्धमें वे सब प्रकारके शब्द सहन करनेवाले हैं। उनके दाँत हलदण्डके समान लंबे हैं और शरीर विशाल है। उनमेंसे प्रत्येकके आठ-आठ हथिनियाँ हैं ॥ १६ ॥

सर्वे च पुरभेत्तारो नवमेघनिभा गजाः।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १७ ॥

उनकी कान्ति नूतन मेघोंकी घटाके समान है। वे सब-के-सब बड़े-बड़े नगरोंको भी नष्ट कर देनेकी शक्ति रखते हैं। राजन्! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवंवादिनं पार्थं प्रहसन्निव सौबलः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय ! ऐसी बातें कहते हुए कुन्तीपुत्र युधिष्ठिरसे शकुनिने हँसकर कहा—'इस दाँवको भी मैंने ही जीता' ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

रथास्तावन्त एवेमे हेमदण्डाः पताकिनः ।
हयैर्विनीतैः सम्पन्ना रथिभिश्चित्रयोधिभिः ॥ १९ ॥
एकैको ह्यत्र लभते सहस्रपरमां भृतिम् ।
युध्यतोऽयुध्यतो वापि वेतनं मासकालिकम् ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास उतने ही अर्थात् एक हजार रथ हैं, जिनकी ध्वजाओंमें सोनेके डंडे लगे हैं। उन रथोंपर पताकाएँ फहराती रहती हैं। उनमें सधे हुए घोड़े जोते जाते हैं और विचित्र युद्ध करनेवाले रथी उनमें बैठते हैं। उन रथियोंमेंसे प्रत्येकको अधिक-से-अधिक एक सहस्र स्वर्णमुद्राएँ तक वेतनमें मिलती हैं। वे युद्ध कर रहे हों या न कर रहे हों, प्रत्येक मासमें उन्हें यह वेतन प्राप्त होता रहता है। राजन् ! यह मेरा धन है, इसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १९-२० ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्येवमुक्ते वचने कृतवैरो दुरात्मवान् ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उनके ऐसा कहनेपर वैरी दुरात्मा शकुनिने युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह भी जीत लिया' ॥ २१ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अश्वांस्तित्तिरिकल्माषान् गन्धर्वान् हेममालिनः ।
ददौ चित्ररथस्तुष्टो यांस्तान् गाण्डीवधन्वने ॥ २२ ॥
युद्धे जितः पराभूतः प्रीतिपूर्वमरिंदमः ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे यहाँ तीतर पक्षीके समान चितकबरे वर्णवाले गन्धर्वदेशके घोड़े हैं, जो सोनेके हारसे विभूषित हैं। शत्रुदमन चित्ररथ गन्धर्वने युद्धमें पराजित एवं तिरस्कृत होनेके पश्चात् संतुष्ट हो गाण्डीवधारी अर्जुनको प्रेमपूर्वक वे घोड़े भेंट किये थे। राजन् ! यह मेरा धन है इसे दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥२२-२३॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पुनः अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता है' ॥ २४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

रथानां शकटानां च श्रेष्ठानां चायुतानि मे ।
युक्तान्येव हि तिष्ठन्ति वाहैरुच्चावचैस्तथा ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास दस हजार श्रेष्ठ रथ और छकड़े हैं। जिनमें छोटे-बड़े वाहन सदा जुते ही रहते हैं ॥ २५ ॥

एवं वर्णस्य वर्णस्य समुच्चीय सहस्रशः ।
यथा समुदिता वीराः सर्वे वीरपराक्रमाः ॥ २६ ॥

इसी प्रकार प्रत्येक वर्णके हजारों चुने हुए योद्धा मेरे यहाँ एक साथ रहते हैं। वे सब-के-सब वीरोचित पराक्रमसे सम्पन्न एवं शूरवीर हैं ॥ २६ ॥

क्षीरं पिबन्तस्तिष्ठन्ति भुञ्जानाः शालितण्डुलान् ।
षष्टिस्तानि सहस्राणि सर्वे विपुलवक्षसः ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ २७ ॥

उनकी संख्या साठ हजार है। वे दूध पीते और शालिके चावलका भात खाकर रहते हैं। उन सबकी छाती बहुत चौड़ी है। राजन् ! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २७ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर शठताके उपासक शकुनिने पुनः युधिष्ठिरसे पूर्ण निश्चयके साथ कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता है' ॥ २८ ॥

युधिष्ठिर उवाच

ताम्रलोहैः परिवृता निधयो ये चतुःशताः ।
पञ्चद्रौणिक एकैकः सुवर्णस्याहतस्य वै ॥ २९ ॥
जातरूपस्य मुख्यस्य अनर्घेयस्य भारत ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३० ॥

युधिष्ठिरने कहा—मेरे पास ताँबे और लोहेकी चार सौ निधियाँ यानी खजानेसे भरी हुई पेटियाँ हैं। प्रत्येकमें पाँच-पाँच द्रोण विशुद्ध सोना भरा हुआ है, वह सारा सोना तपाकर शुद्ध किया हुआ है, उसकी कीमत आँकी नहीं जा सकती। भारत ! यह मेरा धन है, जिसे दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २९-३० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा सुनकर छलका आश्रय लेनेवाले शकुनिने पूर्ववत् पूर्ण निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि देवने एकषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्यूतक्रीडाविषयक इकसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६१ ॥

द्विषष्टितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रको विदुरकी चेतावनी

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवर्तिते द्यूते घोरे सर्वापहारिणि।
सर्वसंशयनिर्मोक्ता विदुरो वाक्यमब्रवीत्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार जब सर्वस्वका अपहरण करनेवाली वह भयानक द्यूतक्रीडा चल रही थी, उसी समय समस्त संशयोंका निवारण करनेवाले विदुरजी बोल उठे॥ १॥

विदुर उवाच

महाराज विजानीहि यत् त्वां वक्ष्यामि भारत।
मुमूर्षोरौषधमिव न रोचेतापि ते श्रुतम्॥ २॥

विदुरजीने कहा—भरतकुलतिलक महाराज धृतराष्ट्र! मरणासन्न रोगीको जैसे ओषधि अच्छी नहीं लगती, उसी प्रकार आपलोगोंको मेरी शास्त्रसम्मत बात भी अच्छी नहीं लगेगी। फिर भी मैं आपसे जो कुछ कह रहा हूँ, उसे अच्छी तरह सुनिये और समझिये॥ २॥

यद् वै पुरा जातमात्रो रुराव
गोमायुवद् विस्वरं पापचेताः।
दुर्योधनो भरतानां कुलघ्नः
सोऽयं युक्तो भवतां कालहेतुः॥ ३॥

यह भरतवंशका विनाश करनेवाला पापी दुर्योधन पहले जब गर्भसे बाहर निकला था, गीदड़के समान जोर-जोरसे चिल्लाने लगा था; अतः यह निश्चय ही आप सब लोगोंके विनाशका कारण बनेगा॥ ३॥

गृहे वसन्तं गोमायुं त्वं वै मोहान्न बुध्यसे।
दुर्योधनस्य रूपेण शृणु काव्यां गिरं मम॥ ४॥

राजन्! दुर्योधनके रूपमें आपके घरके भीतर एक गीदड़ निवास कर रहा है; परंतु आप मोहवश इस बातको समझ नहीं पाते। सुनिये, मैं आपको शुक्राचार्यकी कही हुई नीतिकी बात बतलाता हूँ॥ ४॥

मधु वै माध्विको लब्ध्वा प्रपातं नैव बुध्यते।
आरुह्य तं मज्जति वा पतनं चाधिगच्छति॥ ५॥

मधु बेचनेवाला मनुष्य जब कहीं ऊँचे वृक्ष आदिपर मधुका छत्ता देख लेता है, तब वहाँसे गिरनेकी सम्भावनाकी ओर ध्यान नहीं देता। वह ऊँचे स्थानपर चढ़कर या तो मधु पाकर मग्न हो जाता है अथवा उस स्थानसे नीचे गिर जाता है॥ ५॥

सोऽयं मत्तोऽक्षद्यूतेन मधुवन्न परीक्षते।
प्रपातं बुध्यते नैव वैरं कृत्वा महारथैः॥ ६॥

वैसे ही यह दुर्योधन जूएके नशेमें इतना उन्मत्त हो गया है कि मधुमत्त पुरुषकी भाँति अपने ऊपर आनेवाले संकटको नहीं देखता। महारथी पाण्डवोंके साथ वैर करके हमें पतनके गर्तमें गिरकर मरना पड़ेगा, इस बातको समझ नहीं पा रहा है॥ ६॥

विदितं मे महाप्राज्ञ भोजेष्वेवासमञ्जसम्।
पुत्रं संत्यक्तवान् पूर्वं पौराणां हितकाम्यया॥ ७॥

महाप्राज्ञ! मुझे मालूम है कि भोजवंशके एक नरेशने पूर्वकालमें पुरवासियोंके हितकी इच्छासे अपने कुमार्गगामी पुत्रका परित्याग कर दिया था॥ ७॥

अन्धका यादवा भोजाः समेताः कंसमत्यजन्।
नियोगात् तु हते तस्मिन् कृष्णेनामित्रघातिना॥ ८॥

अन्धकों, यादवों और भोजोंने मिलकर कंसको त्याग दिया तथा उन्हींके आदेशसे शत्रुघाती श्रीकृष्णने उसको मार डाला॥ ८॥

एवं ते ज्ञातयः सर्वे मोदमानाः शतं समाः।
त्वन्नियुक्तः सव्यसाची निगृह्णातु सुयोधनम्॥ ९॥

इस प्रकार उसके मारे जानेसे समस्त बन्धु-बान्धव सदाके लिये सुखी हो गये हैं। आप भी आज्ञा दें तो ये सव्यसाची अर्जुन इस दुर्योधनको बंदी बना ले सकते हैं॥ ९॥

निग्रहादस्य पापस्य मोदन्तां कुरवः सुखम्।
काकेनेमांश्चित्रबर्हान् शार्दूलान् क्रोष्टुकेन च।
क्रीणीष्व पाण्डवान् राजन् मा मज्जीः शोकसागरे॥ १०॥

इसी पापीके कैद हो जानेसे समस्त कौरव सुख और आनन्दसे रह सकते हैं। राजन्! दुर्योधन कौवा है और पाण्डव मोर। इस कौवेको देकर आप विचित्र पंखवाले मयूरोंको खरीद लीजिये। इस गीदड़के द्वारा इन पाण्डवरूपी शेरोंको अपनाइये। शोकके समुद्रमें डूबकर प्राण न दीजिये॥ १०॥

त्यजेत् कुलार्थे पुरुषं ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्।
ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्॥ ११॥

समूचे कुलकी भलाईके लिये एक मनुष्यको त्याग दे, गाँवके हितके लिये एक कुलको छोड़ दे, देशकी भलाईके लिये एक गाँवको त्याग दे और आत्माके उद्धारके लिये सारी पृथ्वीका ही परित्याग कर दे॥ ११॥

सर्वज्ञः सर्वभावज्ञः सर्वशत्रुभयंकरः।
इति स्म भाषते काव्यो जम्भत्यागे महासुरान्॥ १२॥

सबके मनोभावोंको जाननेवाले तथा सब शत्रुओंके लिये भयंकर सर्वज्ञ शुक्राचार्यने जम्भ दैत्यको त्याग करनेके समय समस्त बड़े-बड़े असुरोंसे यह कथा सुनायी थी॥ १२॥

हिरण्यष्ठीविनः कांश्चित् पक्षिणो वनगोचरान्।
गृहे किल कृतावासान् लोभाद् राजा न्यपीडयत्।
स चोपभोगलोभान्धो हिरण्यार्थी परंतप ॥१३॥

एक वनमें कुछ पक्षी रहते थे, जो अपने मुखसे सोना उगला करते थे। एक दिन जब वे अपने घोंसलोंमें आरामसे बैठे थे, उस देशके राजाने उन्हें लोभवश मरवा डाला। शत्रुओंको संताप देनेवाले नरेश! उस राजाको एक साथ बहुत-सा सुवर्ण पा लेनेकी इच्छा थी। उपभोगके लोभने उसे अंधा बना दिया था॥ १३॥

आयतिं च तदात्वं च उभे सद्यो व्यनाशयत्।
तदर्थकामस्तद्वत् त्वं मा द्रुहः पाण्डवान् नृप ॥१४॥

अतः उसने उस धनके लोभसे उन पक्षियोंका वध करके वर्तमान और भविष्य दोनों लाभोंका तत्काल नाश कर दिया। राजन्! इसी प्रकार आप पाण्डवोंका सारा धन हड़प लेनेके लोभसे उनके साथ द्रोह न करें॥ १४॥

मोहात्मा तप्स्यसे पश्चात् पक्षिहा पुरुषो यथा।
(पतेन तव नाशः स्याद् बडिशाच्छफरो यथा।)
जातं जातं पाण्डवेभ्यः पुष्पमादत्स्व भारत ॥१५॥
मालाकार इवारामे स्नेहं कुर्वन् पुनः पुनः।

अन्यथा उन पक्षियोंकी हिंसा करनेवाले राजाकी भाँति आपको भी मोहवश पश्चात्ताप करना पड़ेगा। इस द्रोहसे आपका उसी तरह सर्वनाश हो जायगा, जैसे बंसीका काँटा निगल लेनेसे मछलीका नाश हो जाता है। भरतकुलभूषण! जैसे माली उद्यानके वृक्षोंको बार-बार सींचता रहता है और समय-समयपर उनसे खिले पुष्पोंको चुनता भी रहता है, उसी प्रकार आप पाण्डवरूपी वृक्षोंको स्नेहजलसे सींचते हुए उनसे उत्पन्न होनेवाले धनरूपी पुष्पोंको लेते रहिये॥ १५½॥

वृक्षानङ्गारकारीव मैनान् धाक्षीः समूलकान्।
मा गमः ससुतामात्यः सबलश्च यमक्षयम् ॥१६॥

जैसे कोयला बनानेवाला वृक्षोंको जलाकर भस्म कर देता है, उसी प्रकार आप उन्हें जड़मूलसहित जलानेकी चेष्टा न कीजिये। कहीं ऐसा न हो कि पाण्डवोंके साथ विरोध करनेके कारण आपको पुत्र, मन्त्री और सेनाके साथ यमलोकमें जाना पड़े॥ १६॥

समवेतान् हि कः पार्थान् प्रतियुध्येत भारत।
मरुद्भिः सहितो राजन्नपि साक्षान्मरुत्पतिः ॥१७॥

भरतवंशीय राजन्! देवताओंसहित साक्षात् देवराज इन्द्र ही क्यों न हों, जब कुन्तीपुत्र संगठित होकर युद्धके लिये तैयार होंगे, उनका मुकाबला कौन कर सकता है?॥ १७॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये द्विषष्टितमोऽध्यायः॥ ६२॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरके हितकारक वचनसम्बन्धी बासठवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६२॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठका ½ श्लोक मिलाकर कुल १७½ श्लोक हैं)

त्रिषष्टितमोऽध्यायः

विदुरजीके द्वारा जूएका घोर विरोध

विदुर उवाच

द्यूतं मूलं कलहस्याभ्युपैति
मिथो भेदं महते दारुणाय।
यदास्थितोऽयं धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
दुर्योधनः सृजते वैरमुग्रम् ॥ १ ॥

विदुरजी बोले—महाराज! जूआ खेलना झगड़ेकी जड़ है। इससे आपसमें फूट पैदा होती है, जो बड़े भयंकर संकटकी सृष्टि करती है। यह धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन उसीका आश्रय लेकर इस समय भयानक वैरकी सृष्टि कर रहा है॥१॥

प्रातीपेयाः शान्तनवा भैमसेनाः सबाह्लिकाः।
दुर्योधनापराधेन कृच्छ्रं प्राप्स्यन्ति सर्वशः ॥ २ ॥

दुर्योधनके अपराधसे प्रतीप, शन्तनु, भीमसेन[1] तथा बाह्लीकके वंशज सब प्रकारसे घोर संकटमें पड़ जायँगे॥ २॥

दुर्योधनो मदेनैव क्षेमं राष्ट्रादपोहति।
विषाणं गौरिव मदात् स्वयमारुजतेऽऽत्मनः ॥ ३ ॥

जैसे मतवाला बैल मदोन्मत्त होकर स्वयं ही अपने सींगोंको तोड़ लेता है, उसी प्रकार यह दुर्योधन मदान्धताके कारण स्वयं अपने राज्यसे मङ्गलका बहिष्कार कर रहा है॥ ३॥

यश्चित्तमन्वेति परस्य राजन्
वीरः कविः स्वामवमन्य दृष्टिम्।
नावं समुद्र इव बालनेत्रा-
मारुह्य घोरे व्यसने निमज्जेत् ॥ ४ ॥

राजन्! जो वीर और विद्वान् मनुष्य अपनी दृष्टिकी अवहेलना करके दूसरेके चित्तके अनुसार चलता है, वह समुद्रमें मूर्ख नाविकद्वारा चलायी जाती हुई नावपर बैठे हुए मनुष्यके समान भयंकर विपत्तिमें पड़ जाता है॥ ४॥

दुर्योधनो ग्लहते पाण्डवेन
प्रियायसे त्वं जयतीति तच्च।
अतिनर्मा जायते सम्प्रहारो
यतो विनाशः समुपैति पुंसाम् ॥ ५ ॥

[1] १. कुरुकुलका एक पूर्वपुरुष।

दुर्योधन पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरके साथ दाँव लगाकर जूआ खेल रहा है, साथ ही वह जीत भी रहा है; यह सोचकर तुम बहुत प्रसन्न हो रहे हो; किंतु आजका यह अतिशय विनोद शीघ्र ही भयंकर युद्धके रूपमें परिणत होनेवाला है, जिससे (अगणित) मनुष्योंका संहार होगा ॥ ५ ॥

आकर्षस्तेऽवाक्फलः सुप्रणीतो
हृदि प्रौढो मन्त्रपदः समाधिः ।
युधिष्ठिरेण कलहस्तवाय-
मचिन्तितोऽनभिमतः स्वबन्धुना ॥ ६ ॥

जूआ अधःपतन करनेवाला है; परंतु शकुनिने इसे उत्तम मानकर यहाँ उपस्थित किया है। यह जूएका निश्चय आपलोगोंके हृदयमें गुप्त मन्त्रणाके पश्चात् स्थिर हुआ है। परंतु यह जूए-का खेल आपके अपने ही बन्धु युधिष्ठिरके साथ आपके विचार और इच्छाके विरुद्ध कलहके रूपमें परिणत हो जायगा ॥

प्रातीपेयाः शान्तनवाः शृणुध्वं
काव्यां वाचं संसदि कौरवाणाम् ।
वैश्वानरं प्रज्वलितं सुघोरं
मा यास्यध्वं मन्दमनुप्रपन्नाः ॥ ७ ॥

प्रतीप और शन्तनुके वंशजो ! कौरवोंकी सभामें मेरी कही हुई बात ध्यानसे सुनो। यह विद्वानोंको भी मान्य है। तुमलोग इस मूर्ख दुर्योधनके पीछे चलकर वैरकी धधकती हुई भयानक आगमें न कूदो ॥ ७ ॥

यदा मन्युं पाण्डवोऽजातशत्रु-
र्न संयच्छेदक्षमदाभिभूतः ।
वृकोदरः सव्यसाची यमौ च
कोऽत्र द्वीपः स्यात् तुमुले वस्तदानीम् ॥ ८ ॥

जूएके मदमें भूले हुए अजातशत्रु युधिष्ठिर जब अपना क्रोध न रोक सकेंगे तथा भीमसेन, अर्जुन एवं नकुल-सहदेव भी जब क्रुद्ध हो उठेंगे, उस समय घमासान युद्ध छिड़ जानेपर विपत्तिके महासागरमें डूबते हुए तुमलोगोंका कौन आश्रयदाता होगा ? ॥ ८ ॥

महाराज प्रभवस्त्वं धनानां
पुरा द्यूतान्मनसा यावदिच्छेः ।
बहुवित्तान् पाण्डवांश्चेज्जयस्त्वं
किं ते तत् स्याद् वसु विन्देह पार्थान् ॥ ९ ॥

महाराज ! आप जूएसे पहले भी मनसे जितना धन चाहते, उतना धन पा सकते थे; यदि अत्यन्त धनवान् पाण्डवोंको आपने जूएके द्वारा जीत ही लिया तो इससे आपका क्या होगा ? कुन्तीके पुत्र स्वयं ही धनस्वरूप हैं। आप इन्हींको अपनाइये ॥ ९ ॥

जानीमहे देवितं सौबलस्य
वेद द्यूते निकृतिं पर्वतीयः ।
यतः प्राप्तः शकुनिस्तत्र यातु
मा यूयुधो भारत पाण्डवेयान् ॥ १० ॥

मैं सुबलपुत्र शकुनिका जूआ खेलना कैसा है, यह जानता हूँ। यह पर्वतीय नरेश जूएकी सारी कपटविद्याको जानता है। मेरी इच्छा है कि यह शकुनि जहाँसे आया है, वहीं लौट जाय। भारत ! इस तरह कौरवों तथा पाण्डवोंमें युद्धकी आग न भड़काओ ॥ १० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये त्रिषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरवाक्यविषयक तिरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६३ ॥

चतुष्षष्टितमोऽध्यायः

दुर्योधनका विदुरको फटकारना और विदुरका उसे चेतावनी देना

दुर्योधन उवाच

परेषामेव यशसा श्लाघसे त्वं
सदा क्षत्तः कुत्सयन् धार्तराष्ट्रान् ।
जानीमहे विदुर यत् प्रियस्त्वं
बालानिवास्मानवमन्यसे नित्यमेव ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—विदुर ! तुम सदा हमारे शत्रुओंके ही सुयशकी डींग हाँकते रहते हो और हम सभी धृतराष्ट्रके पुत्रोंकी निन्दा किया करते हो। तुम किसके प्रेमी हो, यह हम जानते हैं, हमें मूर्ख समझकर तुम सदा हमारा अपमान ही करते रहते हो ॥ १ ॥

स विज्ञेयः पुरुषोऽन्यत्रकामो
निन्दाप्रशंसे हि तथा युनक्ति ।
जिह्वा कथं ते हृदयं व्यनक्ति यो
न ज्यायसः कुथा मनसः प्रातिकूल्यम् ॥ २ ॥

जो दूसरोंको चाहनेवाला है, वह मनुष्य पहचानमें आ जाता है; क्योंकि वह जिसके प्रति द्वेष होता है, उसकी निन्दा और जिसके प्रति राग होता है, उसकी प्रशंसामें संलग्न रहता है। तुम्हारा हृदय हमारे प्रति किस प्रकार द्वेषसे परिपूर्ण है, यह बात तुम्हारी जिह्वा प्रकट कर देती है। तुम अपनेसे श्रेष्ठ पुरुषोंके प्रति इस प्रकार हृदयका द्वेष न प्रकट करो ॥

उत्सङ्गे च व्याल इवाहितोऽसि
मार्जारवत् पोषकं चोपहंसि।
भर्तृघ्नं त्वां न हि पापीय आहु-
स्तस्मात् क्षत्तः किं न बिभेषि पापात्॥ ३॥

हमारे लिये तुम गोदमें बैठे साँपके समान हो और बिलावकी भाँति पालनेवालेका ही गला घोंट रहे हो। तुम स्वामि-द्रोह रखते हो, फिर भी तुम्हें लोग पापी नहीं कहते ! विदुर! तुम इस पापसे डरते क्यों नहीं ?॥ ३॥

जित्वा शत्रून् फलमाप्तं महद् वै
मास्मान् क्षत्तः परुषाणीह वोचः।
द्विषद्भिस्त्वं सम्प्रयोगाभिनन्दी
मुहुर्द्वेषं यासि नः सम्प्रयोगात्॥ ४॥

हमने शत्रुओंको जीतकर (धनरूप) महान् फल प्राप्त किया है। विदुर! तुम हमसे यहाँ कटु वचन न बोलो। तुम शत्रुओंके साथ मेल करके प्रसन्न हो रहे हो और हमारे साथ मेल करके भी अब (हमारे शत्रुओंकी प्रशंसा करके) हमलोगोंके बारंबार द्वेषके पात्र बन रहे हो॥ ४॥

अमित्रतां याति नरोऽक्षमं ब्रुवन्
निगूहते गुह्यममित्रसंस्तवे।
तदाश्रितोऽपत्रप किं नु बाधसे
यदिच्छसि त्वं तदिहाभिभाषसे॥ ५॥

अक्षम्य कटुवचन बोलनेवाला मनुष्य शत्रु बन जाता है। शत्रुकी प्रशंसा करते समय भी लोग अपने गूढ़ मनोभावको छिपाये रखते हैं। निर्लज्ज विदुर! तुम भी उसी नीतिका आश्रय लेकर चुप क्यों नहीं रहते ? हमारे काममें बाधा क्यों डालते हो ? तुम जो मनमें आता है, वही बक जाते हो॥ ५॥

मा नोऽवमंस्था विद्म मनस्तवेदं
शिक्षस्व बुद्धिं स्थविराणां सकाशात्।
यशो रक्षस्व विदुर सम्प्रणीतं
मा व्यापृतः परकार्येषु भूस्त्वम्॥ ६॥

विदुर! तुम हमलोगोंका अपमान न करो, तुम्हारे इस मनको हम जान चुके हैं। तुम बड़े-बूढ़ोंके निकट बैठकर बुद्धि सीखो। अपने पूर्वार्जित यशकी रक्षा करो। दूसरोंके कामोंमें हस्तक्षेप न करो॥ ६॥

अहं कर्तेति विदुर मा च मंस्था
मा नो नित्यं परुषाणीह वोचः।
न त्वां पृच्छामि विदुर यद्धितं मे
स्वस्ति क्षत्तर्मा तितिक्षून् क्षिणु त्वम्॥ ७॥

विदुर! 'मैं ही कर्ता-धर्ता हूँ' ऐसा न समझो और हमें प्रतिदिन कड़वी बातें न कहो। मैं अपने हितके सम्बन्धमें तुमसे कोई सलाह नहीं पूछता हूँ। तुम्हारा भला हो। हम तुम्हारी कठोर बातें सहते चले जाते हैं, इसलिये हम क्षमाशीलोंको तुम अपने वचनरूपी बाणोंसे छेदो मत॥ ७॥

एकः शास्ता न द्वितीयोऽस्ति शास्ता
गर्भे शयानं पुरुषं शास्ति शास्ता।
तेनानुशिष्टः प्रवणादिवाम्भो
यथा नियुक्तोऽस्मि तथा भवामि॥ ८॥

देखो, इस जगत्‌का शासन करनेवाला एक ही है, दूसरा नहीं। वही शासक माताके गर्भमें सोये हुए शिशुपर भी शासन करता है; उसीके द्वारा मैं भी अनुशासित हूँ। अतः जैसे जल स्वाभाविक ही नीचेकी ओर जाता है, वैसे ही वह जगन्नियन्ता मुझे जिस काममें लगाता है, मैं वैसे ही उसी काममें लगता हूँ॥ ८॥

भिनत्ति शिरसा शैलमहिं भोजयते च यः।
धीरेव कुरुते तस्य कार्याणामनुशासनम्।
यो बलादनुशास्तीह सोऽमित्रं तेन विन्दति॥ ९॥

जिनसे प्रेरित होकर मनुष्य अपने सिरसे पर्वतको विदीर्ण करना चाहता है—अर्थात् पत्थरपर सिर पटककर स्वयं ही अपनेको पीड़ा देता है तथा जिनकी प्रेरणासे मनुष्य सर्पको भी दूध पिलाकर पालता है, उसी सर्वनियन्ताकी बुद्धि समस्त जगत्‌के कार्योंका अनुशासन करती है। जो बलपूर्वक किसीपर अपना उपदेश लादता है, वह अपने उस व्यवहारके द्वारा उसे अपना शत्रु बना लेता है॥ ९॥

मित्रतामनुवृत्तं तु समुपेक्षेत पण्डितः।
प्रदीप्य यः प्रदीप्ताग्निं प्राक् चिरं नाभिधावति।
भस्मापि न स विन्देत शिष्टं क्वचन भारत॥ १०॥

इस प्रकार मित्रताका अनुसरण करनेवाले मनुष्यको विद्वान् पुरुष त्याग दे। भारत! जो पहले कपूरमें आग लगाकर उसके प्रज्वलित हो जानेपर देरतक उसे बुझानेके लिये नहीं दौड़ता, वह कहीं उसकी बची हुई राख भी नहीं पाता॥ १०॥

न वासयेत् पारवर्ग्यं द्विषन्तं
विशेषतः क्षत्तरहितं मनुष्यम्।
स यत्रेच्छसि विदुर तत्र गच्छ
सुसान्त्विता ह्यसती स्त्री जहाति॥ ११॥

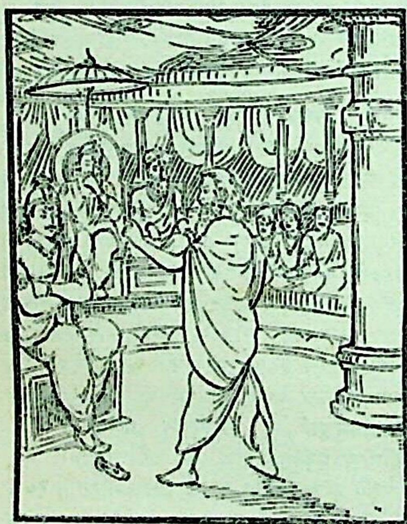
विदुर! जो शत्रुका पक्षपाती हो, अपनेसे द्वेष रखता हो और अहित करनेवाला हो, ऐसे मनुष्यको घरमें नहीं रहने देना चाहिये। अतः तुम्हारी जहाँ इच्छा हो, चले जाओ। कुलटा स्त्रीको मीठी-मीठी बातोंद्वारा कितनी ही सान्त्वना दी जाय, वह पतिको छोड़ ही देती है॥ ११॥

विदुर उवाच

एतावता पुरुषं ये त्यजन्ति
तेषां वृत्तं साक्षिवद् ब्रूहि राजन्।

राज्ञां हि चित्तानि परिप्लुतानि
सान्त्वं दत्त्वा मुसलैर्घातयन्ति ॥ १२ ॥

विदुरने कहा—राजन्! जो इस प्रकार मनके प्रतिकूल किंतु हितभरी शिक्षा देनेमात्रसे अपने हितैषी पुरुषको त्याग देते हैं, उनका वह बर्ताव कैसा है, यह आप साक्षीकी भाँति पक्षपातरहित होकर बताइये; क्योंकि राजाओंके चित्त द्वेषसे भरे होते हैं, इसलिये वे सामने मीठे वचनोंद्वारा सान्त्वना देकर पीठ-पीछे मूसलोंसे आघात करवाते हैं ॥ १२ ॥



अबालत्वं मन्यसे राजपुत्र
बालोऽहमित्येव सुमन्दबुद्धे।
यः सौहृदे पुरुषं स्थापयित्वा
पश्चादेनं दूषयते स बालः ॥ १३ ॥

राजकुमार दुर्योधन! तुम्हारी बुद्धि बड़ी मन्द है। तुम अपनेको विद्वान् और मुझे मूर्ख समझते हो। जो किसी पुरुषको सुहृद्‌के पदपर स्थापित करके फिर स्वयं ही उसपर दोषारोपण करता है, वही मूर्ख है ॥ १३ ॥

न श्रेयसे नीयते मन्दबुद्धिः
स्त्री श्रोत्रियस्येव गृहे प्रदुष्टा।
ध्रुवं न रोचेद् भरतर्षभस्य
पतिः कुमार्या इव षष्टिवर्षः ॥ १४ ॥

जैसे श्रोत्रियके घरमें दुराचारिणी स्त्री कल्याणमय अग्निहोत्र आदि कार्योंमें नहीं लगायी जा सकती, उसी प्रकार मन्दबुद्धि पुरुषको कल्याणके मार्गपर नहीं लगाया जा सकता। जैसे कुमारी कन्याको साठ वर्षका बूढ़ा पति नहीं पसंद आ सकता, उसी प्रकार भरतवंशशिरोमणि दुर्योधनको निश्चय ही मेरा उपदेश रुचिकर नहीं प्रतीत होता ॥ १४ ॥

अतः प्रियं चेदनुकाङ्क्षसे त्वं
सर्वेषु कार्येषु हिताहितेषु।
स्त्रियश्च राजञ्जडपङ्गुकांश्च
पृच्छ त्वं वै तादृशांश्चैव सर्वान् ॥ १५ ॥

राजन्! यदि तुम भले-बुरे सभी कार्योंमें केवल चिकनी-चुपड़ी बातें ही सुनना चाहते हो, तो स्त्रियों मूर्खों, पङ्गुओं तथा उसी तरहके अन्य सब मनुष्योंसे सलाह लिया करो ॥ १५ ॥

लभ्यते खलु पापीयान् नरो नु प्रियवागिह।
अप्रियस्य हि पथ्यस्य वक्ता श्रोता च दुर्लभः ॥ १६ ॥

इस संसारमें सदा मनको प्रिय लगनेवाले वचन बोलनेवाला महापापी मनुष्य भी अवश्य मिल सकता है; परंतु हितकर होते हुए भी अप्रिय वचनको कहने और सुननेवाले दोनों दुर्लभ हैं ॥ १६ ॥

यस्तु धर्मपरश्च स्याद्धित्वा भर्तुः प्रियाप्रिये।
अप्रियाण्याह पथ्यानि तेन राजा सहायवान् ॥ १७ ॥

जो धर्ममें तत्पर रहकर स्वामीके प्रिय-अप्रियका विचार छोड़कर अप्रिय होनेपर भी हितकर वचन बोलता है, वही राजाका सच्चा सहायक है ॥ १७ ॥

अव्याधिजं कटुकं तीक्ष्णमुष्णं
यशोमुषं परुषं पूतिगन्धि।
सतां पेयं यन्न पिबन्त्यसन्तो
मन्युं महाराज पिब प्रशाम्य ॥ १८ ॥

महाराज! जो पी लेनेपर मानसिक रोगोंका नाश करनेवाला है, कड़वी बातोंसे जिसकी उत्पत्ति होती है, जो तीखा, तापदायक, कीर्तिनाशक, कठोर और दूषित प्रतीत होता है, जिसे दुष्टलोग नहीं पी सकते तथा जो सत्पुरुषोंके पीनेकी वस्तु है, उस क्रोधको पीकर शान्त हो जाइये ॥ १८ ॥

वैचित्रवीर्यस्य यशो धनं च
वाञ्छाम्यहं सहपुत्रस्य शश्वत्।
यथा तथा तेऽस्तु नमश्च तेऽस्तु
ममापि च स्वस्ति दिशन्तु विप्राः ॥ १९ ॥

मैं तो चाहता हूँ कि विचित्रवीर्यनन्दन धृतराष्ट्र और उनके पुत्रोंको सदा यश और धन दोनों प्राप्त हों, परंतु दुर्योधन! तुम जैसे रहना चाहते हो, वैसे रहो, तुम्हें नमस्कार है। ब्राह्मणलोग मेरे लिये भी कल्याणका आशीर्वाद दें ॥ १९ ॥

आशीविषान् नेत्रविषान् कोपयेन्न च पण्डितः।
एवं तेऽहं वदामीदं प्रयतः कुरुनन्दन ॥ २० ॥

कुरुनन्दन ! मैं एकाग्र हृदयसे तुमसे यह बात कह रहा हूँ, 'विद्वान् पुरुष उन सर्पोंको कुपित न करें, जो दाँतों और नेत्रोंसे भी विष उगलते रहते हैं (अर्थात् ये पाण्डव तुम्हारे लिये सर्पोंसे भी अधिक भयंकर हैं, इन्हें मत छेड़ो)'॥ २०॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरहितवाक्ये चतुष्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरके हितकारक वचनविषयक चौसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६४ ॥

पञ्चषष्टितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धन, राज्य, भाइयों तथा द्रौपदीसहित अपनेको भी हारना

शकुनिरुवाच

बहु वित्तं पराजैषीः पाण्डवानां युधिष्ठिर ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥ १ ॥

शकुनि बोला—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर ! आप अबतक पाण्डवोंका बहुत-सा धन हार चुके । यदि आपके पास बिना हारा हुआ कोई धन शेष हो तो बताइये ॥ १ ॥

युधिष्ठिर उवाच

मम वित्तमसंख्येयं यदहं वेद सौबल ।
अथ त्वं शकुने कस्मात् वित्तं समनुपृच्छसि ॥ २ ॥

युधिष्ठिर बोले—सुबलपुत्र ! मेरे पास असंख्य धन है, जिसे मैं जानता हूँ । शकुने ! तुम मेरे धनका परिमाण क्यों पूछते हो ? ॥ २ ॥

अयुतं प्रयुतं चैव शङ्कुं पद्मं तथार्बुदम् ।
खर्वं शङ्खं निखर्वं च महापद्मं च कोटयः ॥ ३ ॥
मध्यं चैव परार्धं च सपरं चात्र पण्यताम् ।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ४ ॥

अयुत, प्रयुत, शङ्कु, पद्म, अर्बुद, खर्व, शङ्ख, निखर्व, महापद्म, कोटि, मध्य, परार्ध और पर इतना धन मेरे पास है। राजन् ! खेलो, मैं इसीको दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर शकुनिने छलका आश्रय ले पुनः इसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह धन भी मैंने जीत लिया' ॥ ५ ॥

युधिष्ठिर उवाच

गवाश्वं बहुधेनूकमसंख्येयमजाविकम् ।
यत् किंचिदनुपर्णाशां प्राक् सिन्धोरपि सौबल ।
एतन्मम धनं सर्वं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ६ ॥

युधिष्ठिर बोले—सुबलपुत्र ! मेरे पास सिन्धु नदीके पूर्वी तटसे लेकर पर्णाशा' नदीके किनारेतक जो भी बैल, घोड़े, गाय, भेड़ एवं बकरी आदि पशुधन हैं, वह असंख्य हैं। उनमें भी दूध देनेवाली गौओंकी संख्या अधिक है। यह सारा मेरा धन है, जिसे मैं दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ खेलता हूँ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर शठताके आश्रित हुए शकुनिने अपनी ही जीत घोषित करते हुए युधिष्ठिरसे कहा—'लो, यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ ७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

पुरं जनपदो भूमिरब्राह्मणधनैः सह ।
अब्राह्मणाश्च पुरुषा राजञ्छिष्टं धनं मम ।
एतद् राजन् मम धनं तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ ८ ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! ब्राह्मणोंको जीविकारूपमें जो ग्रामादि दिये गये हैं, उन्हें छोड़कर शेष जो नगर, जनपद तथा भूमि मेरे अधिकारमें है तथा जो ब्राह्मणेतर मनुष्य मेरे यहाँ रहते हैं, वे सब मेरे शेष धन हैं । शकुने ! मैं इसी धनको दाँवपर रखकर तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर कपटका आश्रय ग्रहण करके शकुनिने पुनः अपनी ही जीतका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'इस दाँवपर भी मेरी ही विजय हुई' ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

राजपुत्रा इमे राजञ्छोभन्ते यैर्विभूषिताः ।
कुण्डलानि च निष्काश्च सर्वं राजविभूषणम् ।
एतन्मम धनं राजंस्तेन दीव्याम्यहं त्वया ॥ १० ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन् ! ये राजपुत्र जिन आभूषणोंसे विभूषित होकर शोभित हो रहे हैं, वे कुण्डल और गलेके स्वर्णभूषण आदि समस्त राजकीय आभूषण मेरे धन हैं । इन्हें दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छल-कपटका आश्रय लेनेवाले शकुनिने युधिष्ठिरसे निश्चयपूर्वक कहा—'लो, यह भी मैंने जीता' ॥ ११ ॥

युधिष्ठिर उवाच

श्यामो युवा लोहिताक्षः सिंहस्कन्धो महाभुजः।
नकुलो ग्लह एवैको विद्ध्येतन्मम तद्धनम् ॥ १२ ॥

युधिष्ठिर बोले—श्यामवर्ण, तरुण, लाल नेत्रों और सिंहके समान कंधोंवाले महाबाहु नकुलको ही इस समय मैं दाँवपर रखता हूँ, इन्हींको मेरे दाँवका धन समझो ॥ १२ ॥

शकुनिरुवाच

प्रियस्ते नकुलो राजन् राजपुत्रो युधिष्ठिर।
अस्माकं वशतां प्राप्तो भूयः केनेह दीव्यसे ॥ १३ ॥

शकुनि बोला—धर्मराज युधिष्ठिर ! आपके परमप्रिय राजकुमार नकुल तो हमारे अधीन हो गये, अब किस धनसे आप यहाँ खेल रहे हैं ? ॥ १३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा तु तानक्षाञ्छकुनिः प्रत्यदीव्यत।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा कहकर शकुनिने पासे फेंके और युधिष्ठिरसे कहा—'लो, इस दाँवपर भी मेरी ही विजय हुई' ॥ १४ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अयं धर्मान् सहदेवोऽनुशास्ति
लोके ह्यस्मिन् पण्डिताख्यां गतश्च।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन
दीव्याम्यहं चाप्रियवत् प्रियेण ॥ १५ ॥

युधिष्ठिर बोले—ये सहदेव धर्मोंका उपदेश करते हैं। संसारमें पण्डितके रूपमें इनकी ख्याति है। मेरे प्रिय राजकुमार सहदेव यद्यपि दाँवपर लगानेके योग्य नहीं हैं, तो भी मैं अप्रिय वस्तुकी भाँति इन्हें दाँवपर रखकर खेलता हूँ ॥ १५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ १६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर छली शकुनिने उसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ १६ ॥

शकुनिरुवाच

माद्रीपुत्रौ प्रियौ राजंस्तवेमौ विजितौ मया।
गरीयांसौ तु ते मन्ये भीमसेनधनंजयौ ॥ १७ ॥

शकुनि बोला—राजन् ! आपके ये दोनों प्रिय भाई माद्रीके पुत्र नकुल-सहदेव तो मेरेद्वारा जीत लिये गये, अब रहे भीमसेन और अर्जुन। मैं समझता हूँ, ये दोनों आपके लिये अधिक गौरवकी वस्तु हैं (इसीलिये आप इन्हें दाँवपर नहीं लगाते) ॥ १७ ॥

युधिष्ठिर उवाच

अधर्मं चरसे नूनं यो नावेक्षसि वै नयम्।
यो नः सुमनसां मूढ विभेदं कर्तुमिच्छसि ॥ १८ ॥

युधिष्ठिर बोले—ओ मूढ़ ! तू निश्चय ही अधर्मका आचरण कर रहा है, जो न्यायकी ओर नहीं देखता। तू शुद्ध हृदयवाले हमारे भाइयोंमें फूट डालना चाहता है ॥ १८ ॥

शकुनिरुवाच

गर्ते मत्तः प्रपतते प्रमत्तः स्थाणुमृच्छति।
ज्येष्ठो राजन् वरिष्ठोऽसि नमस्ते भरतर्षभ ॥ १९ ॥

शकुनि बोला—राजन् ! धनके लोभसे अधर्म करनेवाला मतवाला मनुष्य नरककुण्डमें गिरता है। अधिक उन्मत्त हुआ ठूँठा काठ हो जाता है। आप तो आयुमें बड़े और गुणोंमें श्रेष्ठ हैं। भरतवंशविभूषण ! आपको नमस्कार है ॥ १९ ॥

स्वप्ने तानि न दृश्यन्ते जाग्रतो वा युधिष्ठिर।
कितवा यानि दीव्यन्तः प्रलपन्त्युत्कटा इव ॥ २० ॥

धर्मराज युधिष्ठिर ! जुआरी जूआ खेलते समय पागल होकर जो अनाप-शनाप बातें बक जाया करते हैं, वे न कभी स्वप्नमें दिखायी देती हैं और न जाग्रत्कालमें ही ॥ २० ॥

युधिष्ठिर उवाच

यो नः संख्ये नौरिव पारनेता
जेता रिपूणां राजपुत्रस्तरस्वी।
अनर्हता लोकवीरेण तेन
दीव्याम्यहं शकुने फाल्गुनेन ॥ २१ ॥

युधिष्ठिरने कहा—शकुने ! जो युद्धरूपी समुद्रमें हमलोगोंको नौकाकी भाँति पार लगानेवाले हैं तथा शत्रुओंपर विजय पाते हैं, वे लोकविख्यात वेगशाली वीर राजकुमार अर्जुन यद्यपि दाँवपर लगानेयोग्य नहीं हैं, तो भी उनको दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! यह सुनकर कपटी शकुनिने पूर्ववत् विजयका निश्चय करके युधिष्ठिरसे कहा—'यह भी मैंने ही जीता' ॥ २२ ॥

शकुनिरुवाच

अयं मया पाण्डवानां धनुर्धरः
पराजितः पाण्डवः सव्यसाची ।
भीमेन राजन् दयितेन दीव्य
यत् कैतवं पाण्डव तेऽवशिष्टम् ॥ २३ ॥

शकुनि फिर बोला—राजन्! ये पाण्डवोंमें धनुर्धर वीर सव्यसाची अर्जुन मेरे द्वारा जीत लिये गये। पाण्डुनन्दन! अब आपके पास भीमसेन ही जुआरियोंको प्राप्त होनेवाले धनके रूपमें शेष हैं, अतः उन्हींको दाँवपर रखकर खेलिये ॥ २३॥

युधिष्ठिर उवाच

यो नो नेता युधि नः प्रणेता
यथा वज्री दानवशत्रुरेकः ।
तिर्यक्प्रेक्षी संनतभ्रूर्महात्मा
सिंहस्कन्धो यश्च सदात्यमर्षी ॥ २४ ॥
बलेन तुल्यो यस्य पुमान् न विद्यते
गदाभृतामग्र्य इहारिमर्दनः ।
अनर्हता राजपुत्रेण तेन
दीव्याम्यहं भीमसेनेन राजन् ॥ २५ ॥

युधिष्ठिरने कहा—राजन्! जो युद्धमें हमारे सेनापति और दानवशत्रु वज्रधारी इन्द्रके समान अकेले ही आगे बढ़नेवाले हैं; जो तिरछी दृष्टिसे देखते हैं, जिनकी भौंहें सिंहकी भाँति झुकी हुई हैं, जिनका हृदय विशाल और कंधे सिंहके समान हैं, जो सदा अत्यन्त अमर्षमें भरे रहते हैं, बलमें जिनकी समानता करनेवाला कोई पुरुष नहीं है, जो गदाधारियोंमें अग्रगण्य तथा अपने शत्रुओंको कुचल डालनेवाले हैं, उन्हीं राजकुमार भीमसेनको दाँवपर लगाकर मैं जुआ खेलता हूँ। यद्यपि वे इसके योग्य नहीं हैं ॥ २४-२५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर शठताका आश्रय लेकर शकुनिने उसी निश्चयके साथ युधिष्ठिरसे कहा, यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ २६ ॥

शकुनिरुवाच

अहु वित्तं पराजैषीर्भ्रातॄंश्च सहयद्विपान् ।
आचक्ष्व वित्तं कौन्तेय यदि तेऽस्त्यपराजितम् ॥ २७ ॥

शकुनि बोला—कुन्तीनन्दन! आप अपने भाइयों और हाथी-घोड़ोंसहित बहुत धन हार चुके, अब आपके पास बिना हारा हुआ धन कोई अवशिष्ट हो, तो बतलाइये ॥२७॥

युधिष्ठिर उवाच

अहं विशिष्टः सर्वेषां भ्रातॄणां दयितस्तथा ।
कुर्यामहं जितः कर्म स्वयमात्मन्युपप्लुते ॥ २८ ॥

युधिष्ठिरने कहा—मैं अपने सब भाइयोंमें बड़ा और सबका प्रिय हूँ; अतः अपनेको ही दाँवपर लगाता हूँ। यदि मैं हार गया तो पराजित दासकी भाँति सब कार्य करूँगा ॥ २८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एतच्छ्रुत्वा व्यवसितो निकृतिं समुपाश्रितः ।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत ॥ २९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! यह सुनकर कपटी शकुनिने निश्चयपूर्वक अपनी जीत घोषित करते हुए युधिष्ठिरसे कहा—'यह दाँव भी मैंने ही जीता' ॥ २९ ॥

शकुनिरुवाच

एतत् पापिष्ठमकरोर्यदात्मानमहारयः ।
शिष्टे सति धने राजन् पाप आत्मपराजयः ॥ ३० ॥

शकुनि फिर बोला—राजन्! आप अपनेको दाँवपर लगाकर जो हार गये, यह आपके द्वारा बड़ा अधर्म-कार्य हुआ। धनके शेष रहते हुए अपने आपको हार जाना महान् पाप है॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्त्वा मताक्षस्तान् ग्लहे सर्वानवस्थितान् ।
पराजयं लोकवीरानुक्त्वा राज्ञां पृथक् पृथक् ॥ ३१ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पासा फेंकनेकी विद्यामें निपुण शकुनिने राजा युधिष्ठिरसे दाँव लगानेके विषयमें उक्त बातें कहकर सभामें बैठे हुए लोकप्रसिद्ध वीर राजाओंको पृथक्-पृथक् पाण्डवोंकी पराजय सूचित की ॥ ३१ ॥

शकुनिरुवाच

अस्ति ते वै प्रिया राजन् ग्लह एकोऽपराजितः ।
पणस्व कृष्णां पाञ्चालीं तयाऽऽत्मानं पुनर्जय ॥ ३२ ॥

तत्पश्चात् शकुनिने फिर कहा—राजन्! आपकी प्रियतमा द्रौपदी एक ऐसा दाँव है, जिसे आप अबतक नहीं हारे हैं; अतः पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको आप दाँवपर रखिये और उसके द्वारा फिर अपनेको जीत लीजिये ॥ ३२ ॥

युधिष्ठिर उवाच

नैव ह्रस्वा न महती न कृष्णा नातिरोहिणी ।
नीलकुञ्चितकेशी च तया दीव्याम्यहं त्वया ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—जो न नाटी है न लंबी, न कृष्णवर्णा है न अधिक रक्तवर्णा तथा जिसके केश नीले और घुँघराले हैं, उस द्रौपदीको दाँवपर लगाकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ ॥ ३३ ॥

शारदोत्पलपत्राक्ष्या शारदोत्पलगन्धया ।
शारदोत्पलसेविन्या रूपेण श्रीसमानया ॥ ३४ ॥

उसके नेत्र शरद्‌ऋतुके प्रफुल्ल कमलदलके समान सुन्दर एवं विशाल हैं। उसके शरीरसे शारदीय कमलके समान सुगन्ध

फैलती रहती है । वह शरद्-ऋतुके कमलोंका सेवन करती है तथा रूपमें साक्षात् लक्ष्मीके समान है ॥ ३४ ॥

तथैव स्यादानृशंस्यात् तथा स्याद् रूपसम्पदा ।
तथा स्याच्छीलसम्पत्त्या यामिच्छेत् पुरुषः स्त्रियम् ॥ ३५ ॥

पुरुष जैसी स्त्री प्राप्त करनेकी अभिलाषा रखता है, उसमें वैसा ही दयाभाव है, वैसी ही रूपसम्पत्ति है तथा वैसे ही शील-स्वभाव हैं ॥ ३५ ॥

सर्वैर्गुणैर्हि सम्पन्नामनुकूलां प्रियंवदाम् ।
यादृशीं धर्मकामार्थसिद्धिमिच्छेन्नरः स्त्रियम् ॥ ३६ ॥

वह समस्त सद्‌गुणोंसे सम्पन्न तथा मनके अनुकूल और प्रिय वचन बोलनेवाली है । मनुष्य धर्म, काम और अर्थकी सिद्धिके लिये जैसी पत्नीकी इच्छा रखता है, द्रौपदी वैसी ही है ॥ ३६ ॥

चरमं संविशति या प्रथमं प्रतिबुध्यते ।
आगोपालाविपालेभ्यः सर्वं वेद कृताकृतम् ॥ ३७ ॥

वह ग्वालों और भेड़ोंके चरवाहोंसे भी पीछे सोती और सबसे पहले जागती है । कौन-सा कार्य हुआ और कौन-सा नहीं हुआ, इन सबकी वह जानकारी रखती है ॥ ३७ ॥

आभाति पद्मवद् वक्त्रं सस्वेदं मल्लिकेव च ।
वेदिमध्या दीर्घकेशी ताम्रास्या नातिलोमशा ॥ ३८ ॥

उसका स्वेदबिन्दुओंसे विभूषित मुख कमलके समान सुन्दर और मल्लिकाके समान सुगन्धित है । उसका मध्यभाग वेदीके समान कृश दिखायी देता है । उसके सिरके केश बड़े-बड़े हैं, मुख और ओष्ठ अरुणवर्णके हैं तथा उसके अङ्गोंमें अधिक रोमावलियाँ नहीं हैं ॥ ३८ ॥

तयैवंविधया राजन् पाञ्चाल्याहं सुमध्यया ।
ग्लहं दीव्यामि चार्वङ्ग्या द्रौपद्या हन्त सौबल ॥ ३९ ॥

सुबलपुत्र ! ऐसी सर्वाङ्गसुन्दरी सुमध्यमा पाञ्चाल-राजकुमारी द्रौपदीको दाँवपर रखकर मैं तुम्हारे साथ जूआ खेलता हूँ; यद्यपि ऐसा करते हुए मुझे महान् कष्ट हो रहा है ॥ ३९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्ते तु वचने धर्मराजेन धीमता ।
धिग्धिगित्येव वृद्धानां सभ्यानां निःसृता गिरः ॥ ४० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! बुद्धिमान् धर्मराजके ऐसा कहते ही उस सभामें बैठे हुए बड़े-बूढ़े लोगोंके मुखसे 'धिक्कार है, धिक्कार है' की आवाज आने लगी ॥

चुक्षुभे सा सभा राजन् राज्ञां संजज्ञिरे शुचः ।
भीष्मद्रोणकृपादीनां स्वेदश्च समजायत ॥ ४१ ॥

राजन् ! उस समय सारी सभामें हलचल मच गयी । राजाओंको बड़ा शोक हुआ । भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके शरीरसे पसीना छूटने लगा ॥ ४१ ॥

शिरो गृहीत्वा विदुरो गतसत्त्व इवाभवत् ।
आस्ते ध्यायन्नधोवक्त्रो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ४२ ॥

विदुरजी तो दोनों हाथोंसे अपना सिर थामकर बेहोश-से हो गये । वे फुफकारते हुए सर्पकी भाँति उच्छ्वास लेकर मुँह नीचे किये हुए गम्भीर चिन्तामें निमग्न हो बैठे रह गये ॥ ४२ ॥

(बाह्लीकः सोमदत्तश्च प्रातीपेयः ससंजयः ।
द्रौणिर्भूरिश्रवाश्चैव युयुत्सुर्धृतराष्ट्रजः ॥
हस्तौ पिंषन्नधोवक्त्रा निःश्वसन्त इवोरगाः ॥)

बाह्लीक, प्रतीपके पौत्र सोमदत्त, भीष्म, सञ्जय, अश्वत्थामा, भूरिश्रवा तथा धृतराष्ट्रपुत्र युयुत्सु—ये सब मुँह नीचे किये सर्पोंके समान लंबी साँसें खींचते हुए अपने दोनों हाथ मलने लगे ॥

धृतराष्ट्रस्तु तं हृष्टः पर्यपृच्छत् पुनः पुनः ।
किं जितं किं जितमिति ह्याकारं नाभ्यरक्षत ॥ ४३ ॥

धृतराष्ट्र मन-ही-मन प्रसन्न हो उनसे बार-बार पूछ रहे थे, 'क्या हमारे पक्षकी जीत हो रही है ?' वे अपनी प्रसन्नताकी आकृतिको न छिपा सके ॥ ४३ ॥

जहर्ष कर्णोऽतिभृशं सह दुःशासनादिभिः ।
इतरेषां तु सभ्यानां नेत्रेभ्यः प्रापतज्जलम् ॥ ४४ ॥

दुःशासन आदिके साथ कर्णको तो बड़ा हर्ष हुआ; परंतु अन्य सभासदोंकी आँखोंसे आँसू गिरने लगे ॥ ४४ ॥

सौबलस्त्वभिधायैवं जितकाशी मदोत्कटः ।
जितमित्येव तानक्षान् पुनरेवान्वपद्यत ॥ ४५ ॥

सुबलपुत्र शकुनिने मैंने यह भी जीत लिया, ऐसा कह-कर पासोंको पुनः उठा लिया । उस समय वह विजयोल्लाससे सुशोभित और मदोन्मत्त हो रहा था ॥ ४५ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीपराजये पञ्चषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीपराजयविषयक पैंसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६५ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १½ मिलाकर कुल ४६½ श्लोक हैं)

षट्षष्टितमोऽध्यायः

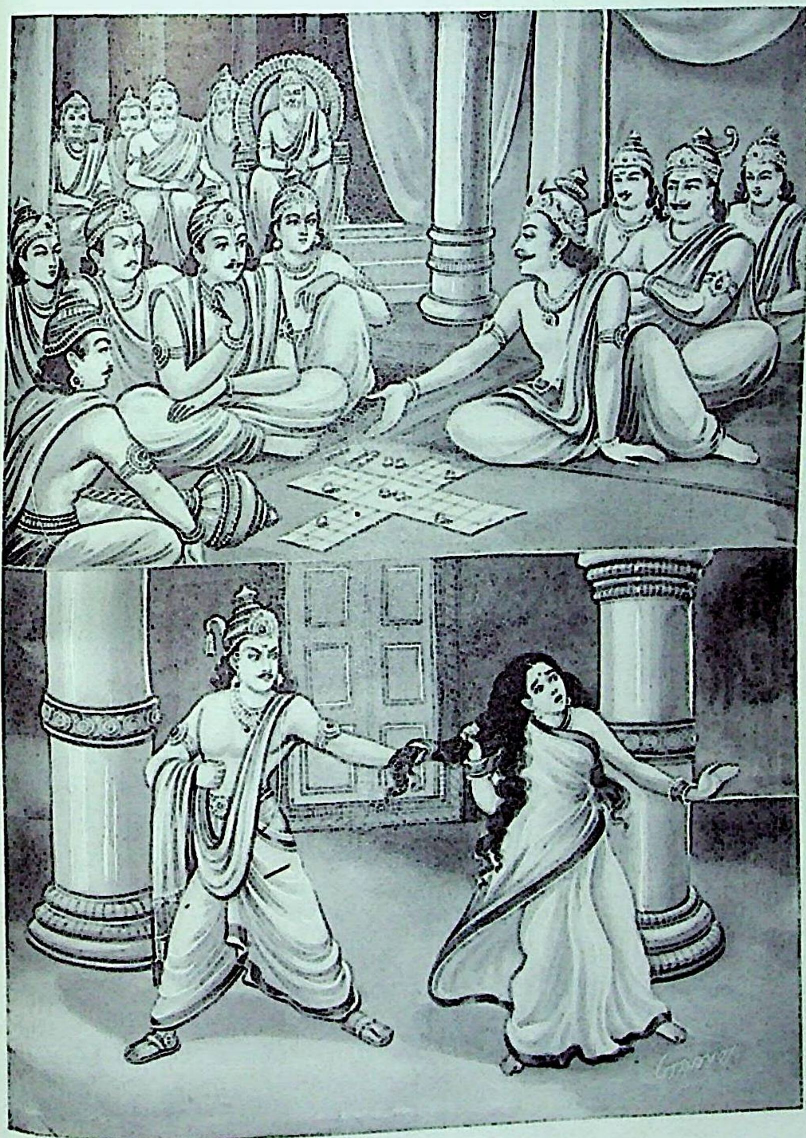
विदुरका दुर्योधनको फटकारना

दुर्योधन उवाच

एहि क्षत्तर्द्रौपदीमानयस्व
प्रियां भार्यां सम्मतां पाण्डवानाम् ।
सम्मार्जतां वेश्म परैतु शीघ्रं
तत्रास्तु दासीभिरपुण्यशीला ॥ १ ॥

दुर्योधन बोला—विदुर ! यहाँ आओ । तुम जाकर

द्यूत-क्रीडामें युधिष्ठिरकी पराजय



दुःशासनका द्रौपदीके केश पकड़कर खींचना

पाण्डवोंकी प्यारी और मनोऽनुकूल पत्नी द्रौपदीको यहाँ ले आओ। वह पापाचारिणी शीघ्र यहाँ आये और मेरे महलमें झाड़ू लगाये। उसे वहीं दासियोंके साथ रहना होगा ॥ १ ॥

विदुर उवाच

दुर्विभाष्यं भाषितं त्वादृशेन
न मन्द सम्बुध्यसि पाशबद्धः।
प्रपाते त्वं लम्बमानो न वेत्सि
व्याघ्रान् मृगः कोपयसेऽतिवेलम् ॥ २ ॥

विदुर बोले—ओ मूर्ख! तेरे-जैसे नीचके मुखसे ही ऐसा दुर्वचन निकल सकता है। अरे! तू कालपाशसे बँधा हुआ है, इसीलिये कुछ समझ नहीं पाता। तू ऐसे ऊँचे स्थानमें लटक रहा है, जहाँसे गिरकर प्राण जानेमें अधिक विलम्ब नहीं; किंतु तुझे इस बातका पता नहीं है। तू एक साधारण मृग होकर व्याघ्रोंको अत्यन्त क्रुद्ध कर रहा है ॥ २ ॥

आशीविषास्ते शिरसि पूर्णकोपा महाविषाः।
मा कोपिष्ठाः सुमन्दात्मन् मा गमस्त्वं यमक्षयम् ॥ ३ ॥

मन्दात्मन्! तेरे सिरपर कोपमें भरे हुए महान् विषधर सर्प चढ़ आये हैं। तू उनका क्रोध न बढ़ा, यमलोकमें जानेको उद्यत न हो ॥ ३ ॥

न हि दासीत्वमापन्ना कृष्णा भवितुमर्हति।
अनीशेन हि राज्ञैषा पणे न्यस्तेति मे मतिः ॥ ४ ॥

द्रौपदी कभी दासी नहीं हो सकती, क्योंकि राजा युधिष्ठिर जब पहले अपनेको हारकर द्रौपदीको दाँवपर लगानेका अधिकार खो चुके थे, उस दशामें उन्होंने इसे दाँवपर रखा है (अतः मेरा विश्वास है कि द्रौपदी हारी नहीं गयी) ॥ ४ ॥

अयं धत्ते वेणुरिवात्मघाती
फलं राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
द्यूतं हि वैराय महाभयाय
मत्तो न बुध्यत्ययमन्तकालम् ॥ ५ ॥

जैसे बाँस अपने नाशके लिये ही फल धारण करता है, उसी प्रकार धृतराष्ट्रके पुत्र इस राजा दुर्योधनने महान् भयदायक वैरकी सृष्टिके लिये इस जूएके खेलको अपनाया है। यह ऐसा मतवाला हो गया है कि मौत सिरपर नाच रही है; किंतु इसे उसका पता ही नहीं है ॥ ५ ॥

नारुन्तुदः स्यान्न नृशंसवादी
न हीनतः परमभ्याददीत।
ययास्य वाचा पर उद्विजेत
न तां वदेदुषतीं पापलोक्याम् ॥ ६ ॥

किसीको मर्मभेदी बात न कहे, किसीसे कठोर वचन न बोले। नीच कर्मके द्वारा शत्रुको वशमें करनेकी चेष्टा न करे। जिस बातसे दूसरेको उद्वेग हो, जो जलन पैदा करनेवाली और नरककी प्राप्ति करानेवाली हो, वैसी बात मुँहसे कभी न निकाले ॥ ६ ॥

समुच्चरन्त्यतिवादाश्च वक्त्राद्
यैराहतः शोचति रात्र्यहानि।
परस्य नामर्मसु ते पतन्ति
तान् पण्डितो नावसृजेत् परेषु ॥ ७ ॥

मुँहसे जो कटु वचनरूपी बाण निकलते हैं, उनसे आहत हुआ मनुष्य रात-दिन शोक और चिन्तामें डूबा रहता है। वे दूसरेके मर्मपर ही आघात करते हैं; अतः विद्वान् पुरुषको दूसरोंके प्रति निष्ठुर वचनोंका प्रयोग नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

अजो हि शस्त्रमगिलत् किलैकः
शस्त्रे विपन्ने शिरसास्य भूमौ।
निकृन्तनं स्वस्य कण्ठस्य घोरं
तद्वद् वैरं मा कृथाः पाण्डुपुत्रैः ॥ ८ ॥

कहते हैं, एक बकरा कोई शस्त्र निगलने लगा; किंतु जब वह निगला न जा सका, तब उसने पृथ्वीपर अपना सिर पटक-पटककर उस शस्त्रको निगल जानेका प्रयत्न किया। जिसका परिणाम यह हुआ कि वह भयानक शस्त्र उस बकरेका ही गला काटनेवाला हो गया। इसी प्रकार तुम पाण्डवोंसे वैर न ठानो ॥ ८ ॥

न किंचिदित्थं प्रवदन्ति पार्था
वनेचरं वा गृहमेधिनं वा।
तपस्विनं वा परिपूर्णविद्यं
भषन्ति हैवं श्वनराः सदैव ॥ ९ ॥

कुन्तीके पुत्र किसी वनवासी, गृहस्थ, तपस्वी अथवा विद्वान्से ऐसी कड़ी बात कभी नहीं बोलते। तुम्हारे-जैसे कुत्तेके-से स्वभाववाले मनुष्य ही सदा इस तरह दूसरोंको भूँका करते हैं ॥ ९ ॥

द्वारं सुघोरं नरकस्य जिह्मं
न बुध्यते धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
तमन्वेतारो बहवः कुरूणां
द्यूतोदये सह दुःशासनेन ॥ १० ॥

धृतराष्ट्रका पुत्र नरकके अत्यन्त भयंकर एवं कुटिल द्वारको नहीं देख रहा है। दुःशासनके साथ कौरवोंमेंसे बहुत-से लोग दुर्योधनकी इस द्यूतक्रीडामें उसके साथी बन गये ॥ १० ॥

मज्जन्त्यलाबूनि शिलाः प्लवन्ते
मुह्यन्ति नावोऽम्भसि शश्वदेव।
मूढो राजा धृतराष्ट्रस्य पुत्रो
न मे वाचः पथ्यरूपाः शृणोति ॥ ११ ॥

चाहे तूँबी जलमें डूब जाय, पत्थर तैरने लग जाय तथा नौकाएँ भी सदा ही जलमें डूब जाया करें; परंतु धृतराष्ट्रका यह मूर्ख पुत्र राजा दुर्योधन मेरी हितकर बातें नहीं सुन सकता ॥ ११ ॥

अन्तो नूनं भवितायं कुरूणां
सुदारुणः सर्वहरो विनाशः ।
वाचः काव्याः सुहृदां पथ्यरूपा
न श्रूयन्ते वर्धते लोभ एव ॥१२॥

यह दुर्योधन निश्चय ही कुरुकुलका नाश करनेवाला होगा। इसके द्वारा अत्यन्त भयंकर सर्वनाशका अवसर उपस्थित होगा। यह अपने सुहृदोंका पाण्डित्यपूर्ण हितकर वचन भी नहीं सुनता; इसका लोभ बढ़ता ही जा रहा है ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि विदुरवाक्ये षट्षष्टितमोऽध्यायः ॥ ६६ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें विदुरवाक्यविषयक छाछठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६६ ॥

सप्तषष्टितमोऽध्यायः

प्रातिकामीके बुलानेसे न आनेपर दुःशासनका सभामें द्रौपदीको केश पकड़कर घसीटकर लाना एवं सभासदोंसे द्रौपदीका प्रश्न

वैशम्पायन उवाच

धिगस्तु क्षत्तारमिति ब्रुवाणो
दर्पेण मत्तो धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ।
अवैक्षत प्रातिकामीं सभाया-
मुवाच चैनं परमार्यमध्ये ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधन गर्वसे उन्मत्त हो रहा था। उसने 'विदुरको धिक्कार है' ऐसा कहकर प्रातिकामीकी ओर देखा और सभामें बैठे हुए श्रेष्ठ पुरुषोंके बीच उससे कहा ॥ १ ॥

दुर्योधन उवाच

प्रातिकामिन् द्रौपदीमानयस्व
न ते भयं विद्यते पाण्डवेभ्यः ।
क्षत्ता ह्ययं विवदत्येव भीतो
न चास्माकं वृद्धिकामः सदैव ॥ २ ॥

दुर्योधन बोला—प्रातिकामिन् ! तुम द्रौपदीको यहाँ ले आओ। तुम्हें पाण्डवोंसे कोई भय नहीं है। ये विदुर तो डरपोक हैं, अतः सदा ऐसी ही बातें कहा करते हैं। ये कभी हमलोगोंकी वृद्धि नहीं चाहते ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तः प्रातिकामी स सूतः
प्रायाच्छीघ्रं राजवचो निशम्य ।
प्रविश्य च श्वेव हि सिंहगोष्ठं
समासदन्महिषीं पाण्डवानाम् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधनके ऐसा कहनेपर राजाकी आज्ञा शिरोधार्य करके वह सूत प्रातिकामी शीघ्र चला गया एवं जैसे कुत्ता सिंहकी माँदमें घुसे, उसी प्रकार उस राजभवनमें प्रवेश करके वह पाण्डवोंकी महारानीके पास गया॥

प्रातिकाम्युवाच

युधिष्ठिरो द्यूतमदेन मत्तो
दुर्योधनो द्रौपदि त्वामजैषीत् ।
सा त्वं प्रपद्यस्व धृतराष्ट्रस्य वेश्म
नयामि त्वां कर्मणे याज्ञसेनि ॥ ४ ॥

प्रातिकामी बोला—द्रुपदकुमारी ! धर्मराज युधिष्ठिर जूएके मदसे उन्मत्त हो गये थे। उन्होंने सर्वस्व हारकर आपको दाँवपर लगा दिया। तब दुर्योधनने आपको जीत लिया। याज्ञसेनी ! अब आप धृतराष्ट्रके महलमें पधारें। मैं आपको वहाँ दासीका काम करवानेके लिये ले चलता हूँ ॥ ४ ॥

द्रौपद्युवाच

कथं त्वेवं वदसि प्रातिकामिन्
को हि दीव्येद् भार्यया राजपुत्रः ।
मूढो राजा द्यूतमदेन मत्तो
ह्यभून्नान्यत् कैतवमस्य किंचित् ॥ ५ ॥

द्रौपदीने कहा—प्रातिकामिन् ! तू ऐसी बात कैसे कहता है ? कौन राजकुमार अपनी पत्नीको दाँवपर रखकर जूआ खेलेगा ? क्या राजा युधिष्ठिर जूएके नशेमें इतने पागल हो गये कि उनके पास जुआरियोंको देनेके लिये दूसरा कोई धन नहीं रह गया ? ॥ ५ ॥

प्रातिकाम्युवाच

यदा नाभूत् कैतवमन्यदस्य
तदादेवीत् पाण्डवोऽजातशत्रुः ।
न्यस्ताः पूर्वं भ्रातरस्तेन राज्ञा
स्वयं चात्मा त्वमथो राजपुत्रि ॥ ६ ॥

प्रातिकामी बोला—राजकुमारी ! जब जुआरियोंको देनेके लिये दूसरा कोई धन नहीं रह गया, तब अजातशत्रु पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर इस प्रकार जूआ खेलने लगे। पहले तो

उन्होंने अपने भाइयोंको दाँवपर लगाया, उसके बाद अपनेको और अन्तमें आपको भी दाँवपर रख दिया ॥ ६ ॥

द्रौपद्युवाच

गच्छ त्वं कितवं गत्वा सभायां पृच्छ सूतज ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवा नु माम् ॥ ७ ॥

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र ! तुम सभामें उन जुआरी महाराजके पास जाओ और जाकर यह पूछो कि 'आप पहले अपनेको हारे थे या मुझे ?' ॥ ७ ॥

एतज्ज्ञात्वा समागच्छ ततो मां नय सूतज ।
ज्ञात्वा चिकीर्षितमहं राज्ञो यास्यामि दुःखिता ॥ ८ ॥

सूतनन्दन ! यह जानकर आओ । तब मुझे ले चलो । राजा क्या करना चाहते हैं ? यह जानकर ही मैं दुःखिनी अबला उस सभामें चलूँगी ॥ ८ ॥

वैशम्पायन उवाच

सभां गत्वा स चोवाच द्रौपद्यास्तद् वचस्तदा ।
युधिष्ठिरं नरेन्द्राणां मध्ये स्थितमिदं वचः ॥ ९ ॥
कस्येशो नः पराजैषीरिति त्वामाह द्रौपदी ।
किं नु पूर्वं पराजैषीरात्मानमथवापि माम् ॥ १० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रातिकामीने सभामें जाकर राजाओंके बीचमें बैठे हुए युधिष्ठिरसे द्रौपदीकी वह बात कह सुनायी । उसने कहा—'द्रौपदी आपसे पूछना चाहती है कि किस-किस वस्तुके स्वामी रहते हुए आप मुझे हारे हैं ? आप पहले अपनेको हारे हैं या मुझे ?' ॥ ९-१० ॥

युधिष्ठिरस्तु निश्चेता गतसत्त्व इवाभवत् ।
न तं सूतं प्रत्युवाच वचनं साध्वसाधु वा ॥ ११ ॥

राजन् ! उस समय युधिष्ठिर अचेत और निष्प्राण-से हो रहे थे, अतः उन्होंने प्रातिकामीको भला-बुरा कुछ भी उत्तर नहीं दिया ॥ ११ ॥

दुर्योधन उवाच

इहैवागत्य पाञ्चाली प्रश्नमेनं प्रभाषताम् ।
इहैव सर्वे शृण्वन्तु तस्याश्चैतस्य यद् वचः ॥ १२ ॥

तब दुर्योधन बोला—सूतपुत्र ! जाकर कह दो, द्रौपदी यहीं आकर अपने इस प्रश्नको पूछे । यहीं सब सभासद् उसके प्रश्न और युधिष्ठिरके उत्तरको सुनें ॥ १२ ॥

वैशम्पायन उवाच

स गत्वा राजभवनं दुर्योधनवशानुगः ।
उवाच द्रौपदीं सूतः प्रातिकामी व्यथान्वितः ॥ १३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! प्रातिकामी दुर्योधनके वशमें था, इसलिये वह राजभवनमें जाकर द्रौपदीसे व्यथित होकर बोला ॥ १३ ॥

प्रातिकाम्युवाच

सभ्यास्त्वमी राजपुत्र्याह्वयन्ति
मन्ये प्राप्तः संक्षयः कौरवाणाम् ।
न वै समृद्धिं पालयते लघीयान्
यस्त्वां सभां नेष्यति राजपुत्रि ॥ १४ ॥

प्रातिकामीने कहा—राजकुमारी ! वे (दुर्योधन आदि) सभासद् तुम्हें सभामें ही बुला रहे हैं । मुझे तो ऐसा जान पड़ता है, अब कौरवोंके विनाशका समय आ गया है जो (दुर्योधन) इतना गिर गया है कि तुम्हें सभामें बुलानेका साहस करता है, वह कभी अपने धन-वैभवकी रक्षा नहीं कर सकता ॥ १४ ॥

द्रौपद्युवाच

एवं नूनं व्यदधात् संविधाता
स्पर्शावुभौ स्पृशतो वृद्धबालौ ।
धर्मं त्वेकं परमं प्राह लोके
स नः शमं धास्यति गोप्यमानः ॥ १५ ॥

द्रौपदीने कहा—सूतपुत्र ! निश्चय ही विधाताका ऐसा ही विधान है । बालक और वृद्ध सबको सुख-दुःख प्राप्त होते हैं । जगत्में एकमात्र धर्मको ही श्रेष्ठ बतलाया जाता है । यदि हम उसका पालन करें तो वह हमारा कल्याण करेगा ॥ १५ ॥

सोऽयं धर्मो मात्यगात् कौरवान् वै
सभ्यान् गत्वा पृच्छ धर्म्यं वचो मे ।
ते मां ब्रूयुर्निश्चितं तत् करिष्ये
धर्मात्मानो नीतिमन्तो वरिष्ठाः ॥ १६ ॥

मेरे इस धर्मका उल्लंघन न हो, इसलिये तुम सभामें बैठे हुए कुरुवंशियोंके पास जाकर मेरी यह धर्मानुकूल बात पूछो—'इस समय मुझे क्या करना चाहिये?' वे धर्मात्मा, नीतिज्ञ और श्रेष्ठ महापुरुष मुझे जैसी आज्ञा देंगे, मैं निश्चय ही वैसा करूँगी ॥

श्रुत्वा सूतस्तद्वचो याज्ञसेन्याः
सभां गत्वा प्राह वाक्यं तदानीम् ।
अधोमुखास्ते न च किंचिदूचु-
र्निर्बन्धं तं धार्तराष्ट्रस्य बुद्ध्वा ॥ १७ ॥

द्रौपदीका यह कथन सुनकर सूत प्रातिकामीने पुनः सभामें आकर द्रौपदीके प्रश्नको दुहराया; किंतु उस समय दुर्योधनके उस दुराग्रहको जानकर सभी नीचे मुँह किये बैठे रहे, कोई कुछ भी नहीं बोला ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

युधिष्ठिरस्तु तच्छ्रुत्वा दुर्योधनचिकीर्षितम् ।
द्रौपद्याः सम्मतं दूतं प्राहिणोद् भरतर्षभ ॥ १८ ॥
एकवस्त्रा त्वधोनीवी रोदमाना रजस्वला ।
सभामागम्य पाञ्चालि श्वशुरस्याग्रतो भव ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुर्योधन क्या करना चाहता है, यह सुनकर युधिष्ठिरने द्रौपदीके पास एक ऐसा दूत भेजा, जिसे वह पहचानती थी और उसीके द्वारा यह संदेश कहलाया, 'पाञ्चालराजकुमारी ! यद्यपि तुम रजस्वला और नीवीको नीचे रखकर एक ही वस्त्र धारण कर रही हो, तो भी उसी दशामें रोती हुई सभामें आकर अपने श्वशुरके सामने खड़ी हो जाओ ॥ १८-१९ ॥

अथ त्वामागतां दृष्ट्वा राजपुत्रीं सभां तदा ।
सभ्याः सर्वे निनिन्देरन् मनोभिर्धृतराष्ट्रजम् ॥ २० ॥

'तुम-जैसी राजकुमारीको सभामें आयी देख सभी सभासद् मन-ही-मन इस दुर्योधनकी निन्दा करेंगे' ॥ २० ॥

स गत्वा त्वरितं दूतः कृष्णाया भवनं नृप ।
न्यवेदयन्मतं धीमान् धर्मराजस्य निश्चितम् ॥ २१ ॥

राजन् ! वह बुद्धिमान् दूत तुरंत द्रौपदीके भवनमें गया। वहाँ उसने धर्मराजका निश्चित मत उसे बता दिया ॥ २१ ॥

पाण्डवाश्च महात्मानो दीना दुःखसमन्विताः ।
सत्येनातिपरीताङ्गा नोदीक्षन्ते स्म किंचन ॥ २२ ॥

इधर महात्मा पाण्डव सत्यके बन्धनसे बँधकर अत्यन्त दीन और दुःखमग्न हो गये । उन्हें कुछ भी सूझ नहीं पड़ता था ॥ २२ ॥

ततस्त्वेषां मुखमालोक्य राजा
दुर्योधनः सूतमुवाच हृष्टः ।
इहैवैतामानय प्रातिकामिन्
प्रत्यक्षमस्याः कुरवो ब्रुवन्तु ॥ २३ ॥

उनके दीन मुँहकी ओर देखकर राजा दुर्योधन अत्यन्त प्रसन्न हो सूतसे बोला—'प्रातिकामिन् ! तुम द्रौपदीको यहीं ले आओ। उसके सामने ही धर्मात्मा कौरव उसके प्रश्नोंका उत्तर देंगे' ॥

ततः सूतस्तस्य वशानुगामी
भीतश्च कोपाद् द्रुपदात्मजायाः ।
विहाय मानं पुनरेव सभ्या-
नुवाच कृष्णां किमहं ब्रवीमि ॥ २४ ॥

तदनन्तर दुर्योधनके वशमें रहनेवाले प्रातिकामीने द्रौपदीके क्रोधसे डरते हुए अपने मान-सम्मानकी परवा न करके पुनः सभासदोंसे पूछा—'मैं द्रौपदीको क्या उत्तर दूँ ?' ॥ २४ ॥

दुर्योधन उवाच

दुःशासनैष मम सूतपुत्रो
वृकोदरादुद्विजतेऽल्पचेताः ।
स्वयं प्रगृह्यानय याज्ञसेनीं
किं ते करिष्यन्त्यवशाः सपत्नाः ॥ २५ ॥

दुर्योधन बोला—दुःशासन ! यह मेरा सेवक सूतपुत्र प्रातिकामी बड़ा मूर्ख है। इसे भीमसेनका डर लगा हुआ है। तुम स्वयं द्रौपदीको यहाँ पकड़ लाओ । हमारे शत्रु पाण्डव इस समय हमलोगोंके वशमें हैं । वे तुम्हारा क्या कर लेंगे ॥ २५ ॥

ततः समुत्थाय स राजपुत्रः
श्रुत्वा भ्रातुः शासनं रक्तदृष्टिः ।
प्रविश्य तद् वेश्म महारथाना-
मित्यब्रवीद् द्रौपदीं राजपुत्रीम् ॥ २६ ॥

भाईका यह आदेश सुनकर राजकुमार दुःशासन उठ खड़ा हुआ और लाल आँख किये वहाँसे चल दिया। महारथी पाण्डवोंके महलमें प्रवेश करके उसने राजकुमारी द्रौपदीसे इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

एह्येहि पाञ्चालि जितासि कृष्णे
दुर्योधनं पश्य विमुक्तलज्जा ।
कुरून् भजस्वायतपत्रनेत्रे
धर्मेण लब्धासि सभां परैहि ॥ २७ ॥

'पाञ्चालि ! आओ, आओ, तुम जूएमें जीती जा चुकी हो । कृष्णे ! अब लज्जा छोड़कर दुर्योधनकी ओर देखो। कमलके समान विशाल नेत्रोंवाली द्रौपदी ! हमने धर्मके अनुसार तुम्हें प्राप्त किया है, अतः तुम कौरवोंकी सेवा करो। अभी राजसभामें चली चलो' ॥ २७ ॥

ततः समुत्थाय सुदुर्मनाः सा
विवर्णमामृज्य मुखं करेण ।
आर्ता प्रदुद्राव यतः स्त्रियस्ता
वृद्धस्य राज्ञः कुरुपुङ्गवस्य ॥ २८ ॥

यह सुनकर द्रौपदीका हृदय अत्यन्त दुःखित होने लगा । उसने अपने मलिन मुखको हाथसे पोंछा । फिर उठकर वह आर्त अबला उसी ओर भागी, जहाँ बूढ़े महाराज धृतराष्ट्रकी स्त्रियाँ बैठी हुई थीं ॥ २८ ॥

ततो जवेनाभिससार रोषाद्
दुःशासनस्तामभिगर्जमानः ।
दीर्घेषु नीलेष्वथ चोर्मिमत्सु
जग्राह केशेषु नरेन्द्रपत्नीम् ॥ २९ ॥

तब दुःशासन भी रोषसे गर्जता हुआ बड़े वेगसे उसके पीछे दौड़ा। उसने महाराज युधिष्ठिरकी पत्नी द्रौपदीके लम्बे, नीले और लहराते हुए केशोंको पकड़ लिया ॥ २९ ॥

ये राजसूयावभृथे जलेन
महाक्रतौ मन्त्रपूतेन सिक्ताः ।
ते पाण्डवानां परिभूय वीर्यं
बलात् प्रमृष्टा धृतराष्ट्रजेन ॥ ३० ॥

जो केश राजसूय महायज्ञके अवभृथस्नानमें मन्त्रपूत जलसे सींचे गये थे, उन्हींको दुःशासनने पाण्डवोंके पराक्रमकी अवहेलना करके बलात्कारपूर्वक पकड़ लिया ॥ ३० ॥

स तां पराकृष्य सभासमीप-
मानीय कृष्णामतिदीर्घकेशीम् ।
दुःशासनो नाथवतीमनाथव-
च्चकर्ष वायुः कदलीमिवार्ताम् ॥ ३१ ॥

लम्बे-लम्बे केशोंवाली वह द्रौपदी यद्यपि सनाथा थी, तो भी दुःशासन उस बेचारी आर्त अबलाको अनाथकी भाँति घसीटता हुआ सभाके समीप ले आया और जैसे वायु केलेके वृक्षको झकझोरकर झुका देता है, उसी प्रकार वह द्रौपदीको बलपूर्वक खींचने लगा ॥ ३१ ॥

सा कृष्यमाणा नमिताङ्गयष्टिः
शनैरुवाचाथ रजस्वलास्मि ।
एकं च वासो मम मन्दबुद्धे
सभां नेतुं नार्हसि मामनार्य ॥ ३२ ॥

दुःशासनके खींचनेसे द्रौपदीका शरीर झुक गया। उसने धीरेसे कहा—'ओ मन्दबुद्धि दुष्टात्मा दुःशासन ! मैं रजस्वला हूँ तथा मेरे शरीरपर एक ही वस्त्र है। इस दशामें मुझे सभामें ले जाना अनुचित है' ॥ ३२ ॥

ततोऽब्रवीत् तां प्रसभं निगृह्य
केशेषु कृष्णेषु तदा स कृष्णाम् ।
कृष्णं च जिष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी ॥ ३३ ॥

यह सुनकर दुःशासन उसके काले-काले केशोंको और जोरसे पकड़कर कुछ बकने लगा; इधर यज्ञसेनकुमारी कृष्णाने अपनी रक्षाके लिये सर्वपापहारी, सर्वविजयी, नरस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णको पुकारने लगी ॥ ३३ ॥

दुःशासन उवाच

रजस्वला वा भव याज्ञसेनि
एकाम्बरा वाप्यथवा विवस्त्रा ।
द्यूते जिता चासि कृतासि दासी
दासीषु वासश्च यथोपजोषम् ॥ ३४ ॥

दुःशासन बोला—द्रौपदी ! तू रजस्वला, एकवस्त्रा अथवा नंगी ही क्यों न हो, हमने तुझे जूएमें जीता है; अतः तू हमारी दासी हो चुकी है, इसलिये अब तुझे हमारी इच्छाके अनुसार दासियोंमें रहना पड़ेगा ॥ ३४ ॥

वैशम्पायन उवाच

प्रकीर्णकेशी पतितार्धवस्त्रा
दुःशासनेन व्यवधूयमाना ।
ह्रीमत्यमर्षेण च दह्यमाना
शनैरिदं वाक्यमुवाच कृष्णा ॥ ३५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय द्रौपदीके केश बिखर गये थे। दुःशासनके झकझोरनेसे उसका आधा वस्त्र भी खिसककर गिर गया था। वह लाजसे गड़ी जाती थी और भीतर-ही-भीतर क्रोधसे दग्ध हो रही थी। उसी दशामें वह धीरेसे इस प्रकार बोली ॥ ३५ ॥

द्रौपद्युवाच

इमे सभायामुपनीतशास्त्राः
क्रियावन्तः सर्व एवेन्द्रकल्पाः ।
गुरुस्थाना गुरवश्चैव सर्वे
तेषामग्रे नोत्सहे स्थातुमेवम् ॥ ३६ ॥

द्रौपदीने कहा—अरे दुष्ट ! ये सभामें शास्त्रोंके विद्वान्, कर्मठ और इन्द्रके समान तेजस्वी मेरे पिताके समान सभी गुरुजन बैठे हुए हैं। मैं उनके सामने इस रूपमें खड़ी होना नहीं चाहती ॥ ३६ ॥

नृशंसकर्मंस्त्वमनार्यवृत्त
मा मा विवस्त्रां कुरु मा विकर्षीः ।
न मर्षयेयुस्तव राजपुत्राः
सेन्द्राश्च देवा यदि ते सहायाः ॥ ३७ ॥

क्रूरकर्मा दुराचारी दुःशासन ! तू इस प्रकार मुझे न खींच, न खींच, मुझे वस्त्रहीन मत कर। इन्द्र आदि देवता भी तेरी सहायताके लिये आ जायँ, तो भी मेरे पति राजकुमार पाण्डव तेरे इस अत्याचारको सहन नहीं कर सकेंगे ॥ ३७ ॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा
धर्मश्च सूक्ष्मो निपुणोपलक्ष्यः ।
वाचापि भर्तुः परमाणुमात्र-
मिच्छामि दोषं न गुणान् विसृज्य ॥ ३८ ॥

धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिर धर्ममें ही स्थित हैं। धर्मका स्वरूप बड़ा सूक्ष्म है। सूक्ष्म बुद्धिवाले धर्मपालनमें निपुण महापुरुष ही उसे समझ सकते हैं। मैं अपने पतिके गुणोंको छोड़कर वाणीद्वारा उनके परमाणुतुल्य छोटे-से-छोटे दोषको भी कहना नहीं चाहती ॥ ३८ ॥

इदं त्वकार्यं कुरुवीरमध्ये
रजस्वलां यत् परिकर्षसे माम् ।
न चापि कश्चित् कुरुतेऽत्र कुत्सां
ध्रुवं तवेदं मतमभ्युपेताः ॥ ३९ ॥

अरे ! तू इन कौरववीरोंके बीचमें जो मुझ रजस्वला स्त्रीको खींचकर लिये जा रहा है, यह अत्यन्त पापपूर्ण कृत्य है। मैं देखती हूँ यहाँ कोई भी मनुष्य तेरे इस कुकर्मकी निन्दा नहीं कर रहा है। निश्चय ही ये सब लोग तेरे मतमें हो गये ॥ ३९ ॥

धिगस्तु नष्टः खलु भारतानां
धर्मस्तथा क्षत्रविदां च वृत्तम् ।
यत्र ह्यतीतां कुरुधर्मवेलां
प्रेक्षन्ति सर्वे कुरवः सभायाम् ॥ ४० ॥

अहो! धिक्कार है! भरतवंशके नरेशोंका धर्म निश्चय ही नष्ट हो गया तथा क्षत्रियधर्मके जाननेवाले इन महापुरुषोंका सदाचार भी लुप्त हो गया; क्योंकि यहाँ कौरवोंकी धर्ममर्यादाका उल्लंघन हो रहा है, तो भी सभामें बैठे हुए सभी कुरुवंशी चुपचाप देख रहे हैं ॥ ४० ॥

द्रोणस्य भीष्मस्य च नास्ति सत्त्वं
क्षत्तुस्तथैवास्य महात्मनोऽपि।
राज्ञस्तथा हीममधर्ममुग्रं
न लक्षयन्ते कुरुवृद्धमुख्याः ॥ ४१ ॥

जान पड़ता है द्रोणाचार्य, पितामह भीष्म, महात्मा विदुर तथा राजा धृतराष्ट्रमें अब कोई शक्ति नहीं रह गयी है; तभी तो ये कुरुवंशके बड़े-बूढ़े महापुरुष राजा दुर्योधनके इस भयानक पापाचारकी ओर दृष्टिपात नहीं कर रहे हैं॥४१॥

(इमं प्रश्नमिमे ब्रूत सर्व एव सभासदः।
जितां वाप्यजितां वा मां मन्यध्वे सर्वभूमिपाः ॥)

मेरे इस प्रश्नका सभी सभासद् उत्तर दें। राजाओ! आपलोग क्या समझते हैं? धर्मके अनुसार मैं जीती गयी हूँ या नहीं? ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा ब्रुवन्ती करुणं सुमध्यमा
भर्तॄन् कटाक्षैः कुपितानपश्यत्।
सा पाण्डवान् कोपपरीतदेहान्
संदीपयामास कटाक्षपातैः ॥ ४२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार करुण स्वरमें विलाप करती सुमध्यमा द्रौपदीने क्रोधमें भरे हुए अपने पतियोंकी ओर तिरछी दृष्टिसे देखा। पाण्डवोंके अङ्ग-अङ्गमें क्रोधकी अग्नि व्याप्त हो गयी थी। द्रौपदीने अपने कटाक्षद्वारा देखकर उनकी क्रोधाग्निको और भी उद्दीप्त कर दिया ॥ ४२ ॥

हृतेन राज्येन तथा धनेन
रत्नैश्च मुख्यैर्न तथा बभूव।
यथा त्रपाकोपसमीरितेन
कृष्णाकटाक्षेण बभूव दुःखम् ॥ ४३ ॥

राज्य, धन तथा मुख्य-मुख्य रत्नोंको हार जानेपर भी पाण्डवोंको उतना दुःख नहीं हुआ था, जितना कि द्रौपदीके लज्जा एवं क्रोधयुक्त कटाक्षपातसे हुआ था ॥ ४३ ॥

दुःशासनश्चापि समीक्ष्य कृष्णा-
मवेक्षमाणां कृपणान् पतींस्तान्।
आधूय वेगेन विसंज्ञकल्पा-
मुवाच दासीति हसन् सशब्दम् ॥४४॥

द्रौपदीको अपने दीन पतियोंकी ओर देखती देख दुःशासन उसे बड़े वेगसे झकझोरकर जोर-जोरसे हँसते हुए 'दासी' कहकर पुकारने लगा। उस समय द्रौपदी मूर्छित-सी हो रही थी ॥ ४४ ॥

कर्णस्तु तद्वाक्यमतीव हृष्टः
सम्पूजयामास हसन् सशब्दम्।
गान्धारराजः सुबलस्य पुत्र-
स्तथैव दुःशासनमभ्यनन्दत् ॥ ४५ ॥

कर्णको बड़ी प्रसन्नता हुई। उसने खिलखिलाकर हँसते हुए दुःशासनके उस कथनकी बड़ी सराहना की। सुबलपुत्र गान्धारराज शकुनिने भी दुःशासनका अभिनन्दन किया॥४५॥

सभ्यास्तु ये तत्र बभूवुरन्ये
ताभ्यामृते धार्तराष्ट्रेण चैव।
तेषामभूद् दुःखमतीव कृष्णां
दृष्ट्वा सभायां परिकृष्यमाणाम् ॥ ४६ ॥

उस समय वहाँ जितने सभासद् उपस्थित थे, उनमेंसे कर्ण, शकुनि और दुर्योधनको छोड़कर अन्य सब लोगोंको सभामें इस प्रकार घसीटी जाती हुई द्रौपदीकी दुर्दशा देखकर बड़ा दुःख हुआ ॥ ४६ ॥

भीष्म उवाच

न धर्मसौक्ष्म्यात् सुभगे विवेक्तुं
शक्नोमि ते प्रश्नमिमं यथावत्।
अस्वाम्यशक्तः पणितुं परस्वं
स्त्रियाश्च भर्तुर्वशतां समीक्ष्य ॥ ४७ ॥

उस समय भीष्मने कहा—सौभाग्यशालिनी बहू! धर्मका स्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण मैं तुम्हारे इस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन नहीं कर सकता। जो स्वामी नहीं है वह पराये धनको दाँवपर नहीं लगा सकता, परंतु स्त्रीको सदा अपने स्वामीके अधीन देखा जाता है, अतः इन सब बातोंपर विचार करनेसे मुझसे कुछ कहते नहीं बनता ॥ ४७ ॥

त्यजेत सर्वां पृथिवीं समृद्धां
युधिष्ठिरो धर्ममथो न जह्यात्।
उक्तं जितोऽस्मीति च पाण्डवेन
तस्मान्न शक्नोमि विवेक्तुमेतत् ॥ ४८ ॥

मेरा विश्वास है कि धर्मराज युधिष्ठिर धन-समृद्धिसे भरी हुई इस सारी पृथ्वीको त्याग सकते हैं, किंतु धर्मको नहीं छोड़ सकते। इन पाण्डुनन्दनने स्वयं कहा है कि मैं अपनेको हार गया; अतः मैं इस प्रश्नका विवेचन नहीं कर सकता ॥ ४८ ॥

द्यूतेऽद्वितीयः शकुनिर्नरेषु
कुन्तीसुतस्तेन निसृष्टकामः।
न मन्यते तां निकृतिं युधिष्ठिर-
स्तस्मान्न ते प्रश्नमिमं ब्रवीमि ॥ ४९ ॥

यह शकुनि मनुष्योंमें द्यूतविद्याका अद्वितीय जानकार है। इसीने कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरको प्रेरित करके उनके मनमें मुझे दाँवपर रखनेकी इच्छा उत्पन्न की है, परंतु युधिष्ठिर शकुनिका छल नहीं मानते; इसीलिये मैं तुम्हारे इस प्रश्नका विवेचन नहीं कर पाता हूँ ॥ ४९ ॥

द्रौपद्युवाच

आहूय राजा कुशलैरनार्यै-
र्दुष्टात्मभिर्नैकृतिकैः सभायाम्।
द्यूतप्रियैर्नातिकृतप्रयत्नः
कस्मादयं नाम निसृष्टकामः ॥ ५० ॥

द्रौपदीने कहा—जूआ खेलनेमें निपुण, अनार्य, दुष्टात्मा, कपटी तथा द्यूतप्रेमी धूर्तोंने राजा युधिष्ठिरको सभामें बुलाकर जूएका खेल आरम्भ कर दिया। इन्हें जूआ खेलनेका अधिक अभ्यास नहीं है। फिर इनके मनमें जूएकी इच्छा क्यों उत्पन्न की गयी ! ॥ ५० ॥

अशुद्धभावैर्निकृतिप्रवृत्तै-
रबुध्यमानः कुरुपाण्डवाग्र्यः।
सम्भूय सर्वैश्च जितोऽपि यस्मात्
पश्चादयं कैतवमभ्युपेतः ॥ ५१ ॥

जिनके हृदयकी भावना शुद्ध नहीं है, जो सदा छल और कपटमें लगे रहते हैं, उन समस्त दुरात्माओंने मिलकर इन भोलेभाले कुरु-पाण्डव-शिरोमणि महाराज युधिष्ठिरको पहले जूएमें जीत लिया है, तत्पश्चात् ये मुझे दाँवपर लगानेके लिये विवश किये गये हैं ॥ ५१ ॥

तिष्ठन्ति चेमे कुरवः सभाया-
मीशाः सुतानां च तथा स्नुषाणाम्।
समीक्ष्य सर्वे मम चापि वाक्यं
विब्रूत मे प्रश्नमिमं यथावत् ॥ ५२ ॥

ये कुरुवंशी महापुरुष जो सभामें बैठे हुए हैं, सभी पुत्रों और पुत्रवधुओंके स्वामी हैं (सभीके घरमें पुत्र और पुत्र-वधुएँ हैं), अतः ये सब लोग मेरे कथनपर अच्छी तरह विचार करके इस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन करें ॥ ५२ ॥

(न सा सभा यत्र न सन्ति वृद्धा
न ते वृद्धा ये न वदन्ति धर्मम्।
नासौ धर्मो यत्र न सत्यमस्ति
न तत् सत्यं यच्छलेनानुविद्धम् ॥)

वह सभा नहीं है जहाँ वृद्ध पुरुष न हों, वे वृद्ध नहीं हैं जो धर्मकी बात न बतावें, वह धर्म नहीं है जिसमें सत्य न हो और वह सत्य नहीं है जो छलसे युक्त हो ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा ब्रुवन्तीं करुणां रुदन्ती-
मवेक्षमाणां कृपणान् पतींस्तान्।
दुःशासनः परुषाण्यप्रियाणि
वाक्यान्युवाचामधुराणि चैव ॥ ५३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! इस प्रकार द्रौपदी करुणस्वरमें बोलकर रोती हुई अपने दीन पतियोंकी ओर देखने लगी। उस समय दुःशासनने उसके प्रति कितने ही अप्रिय कठोर एवं कटुवचन कहे ॥ ५३ ॥

तां कृष्यमाणां च रजस्वलां च
स्रस्तोत्तरीयामतदर्हमाणाम्।
वृकोदरः प्रेक्ष्य युधिष्ठिरं च
चकार कोपं परमार्तरूपः ॥ ५४ ॥

कृष्णा रजस्वलावस्थामें घसीटी जा रही थी, उसके सिरका कपड़ा सरक गया था, वह इस तिरस्कारके योग्य कदापि नहीं थी। उसकी यह दुरवस्था देखकर भीमसेनको बड़ी पीड़ा हुई। वे युधिष्ठिरकी ओर देखकर अत्यन्त कुपित हो उठे ॥ ५४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीप्रश्ने सप्तषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीप्रश्नविषयक सरसठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६७ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २ श्लोक मिलाकर ५६ श्लोक हैं)

अष्टषष्टितमोऽध्यायः

भीमसेनका क्रोध एवं अर्जुनका उन्हें शान्त करना, विकर्णकी धर्मसङ्गत बातका कर्णके द्वारा विरोध, द्रौपदीका चीरहरण एवं भगवान्‌द्वारा उसकी लज्जारक्षा तथा विदुरके द्वारा प्रह्लादका उदाहरण देकर सभासदोंको विरोधके लिये प्रेरित करना

भीम उवाच

भवन्ति गेहे बन्धक्यः कितवानां युधिष्ठिर।
न ताभिरुत दीव्यन्ति दया चैवास्ति तास्वपि ॥ १ ॥

भीमसेन बोले—भैया युधिष्ठिर ! जुआरियोंके घरमें प्रायः कुल्टा स्त्रियाँ रहती हैं, किंतु वे भी उन्हें दाँवपर लगाकर जूआ नहीं खेलते। उन कुल्टाओंके प्रति भी उनके हृदयमें दया रहती है ॥ १ ॥

काश्यो यद् धनमाहार्षीद् द्रव्यं यच्चान्यदुत्तमम्।
तथान्ये पृथिवीपाला यानि रत्नान्युपाहरन् ॥ २ ॥
वाहनानि धनं चैव कवचान्यायुधानि च।
राज्यमात्मा वयं चैव कैतवेन हृतं परैः ॥ ३ ॥

काशिराजने जो धन उपहारमें दिया था एवं और भी जो उत्तम द्रव्य वे हमारे लिये लाये थे तथा अन्य राजाओंने भी जो रत्न हमें भेंट किये थे, उन सबको और हमारे वाहनों, वैभवों, कवचों, आयुधों, राज्य, आपके शरीर तथा हम सब भाइयोंको भी शत्रुओंने जूएके दाँवपर रखवाकर अपने अधिकारमें कर लिया ॥ २-३ ॥

न च मे तत्र कोपोऽभूत् सर्वस्येशो हि नो भवान्।
इमं त्वतिक्रमं मन्ये द्रौपदी यत्र पण्यते ॥ ४ ॥

किंतु इसके लिये मेरे मनमें क्रोध नहीं हुआ; क्योंकि आप हमारे सर्वस्वके स्वामी हैं। पर द्रौपदीको जो दाँवपर लगाया गया, इसे मैं बहुत ही अनुचित मानता हूँ ॥ ४ ॥

एषा ह्यनर्हति बाला पाण्डवान् प्राप्य कौरवैः।
त्वत्कृते क्लिश्यते क्षुद्रैर्नृशंसैरकृतात्मभिः ॥ ५ ॥

यह भोली-भाली अबला पाण्डवोंको पतिरूपमें पाकर इस प्रकार अपमानित होनेके योग्य नहीं थी, परंतु आपके कारण ये नीच, नृशंस और अजितेन्द्रिय कौरव इसे नाना प्रकारके कष्ट दे रहे हैं ॥ ५ ॥

अस्याः कृते मन्युरयं त्वयि राजन् निपात्यते।
बाहू ते सम्प्रधक्ष्यामि सहदेवाग्निमानय ॥ ६ ॥

राजन्! द्रौपदीकी इस दुर्दशाके लिये मैं आपपर ही अपना क्रोध छोड़ता हूँ। आपकी दोनों बाहें जला डालूँगा। सहदेव! आग ले आओ ॥ ६ ॥

अर्जुन उवाच

न पुरा भीमसेन त्वमीदृशीर्वदिता गिरः।
परैस्ते नाशितं नूनं नृशंसैर्धर्मगौरवम् ॥ ७ ॥

अर्जुन बोले—भैया भीमसेन! तुमने पहले कभी ऐसी बातें नहीं कही थीं। निश्चय ही क्रूरकर्मा शत्रुओंने तुम्हारी धर्मविषयक गौरव बुद्धिको नष्ट कर दिया है ॥ ७ ॥

न सकामाः परे कार्या धर्ममेवाचरोत्तमम्।
भ्रातरं धार्मिकं ज्येष्ठं कोऽतिवर्तितुमर्हति ॥ ८ ॥

भैया! शत्रुओंकी कामना सफल न करो; उत्तम धर्मका ही आचरण करो। भला, अपने धर्मात्मा ज्येष्ठ भ्राताका अपमान कौन कर सकता है? ॥ ८ ॥

आहूतो हि परै राजा क्षात्रं व्रतमनुस्मरन्।
दीव्यते परकामेन तन्नः कीर्तिकरं महत् ॥ ९ ॥

महाराज युधिष्ठिरको शत्रुओंने द्यूतके लिये बुलाया है; अतः ये क्षत्रियव्रतको ध्यानमें रखकर दूसरोंकी इच्छासे जूआ खेलते हैं। यह हमारे महान् यशका विस्तार करनेवाला है ॥ ९ ॥

भीमसेन उवाच

एवमस्मिन् कृतं विद्यां यदि नाहं धनंजय।
दीप्तेऽग्नौ सहितौ बाहू निर्दहेयं बलादिव ॥ १० ॥

भीमसेनने कहा—अर्जुन! यदि मैं इस विषयमें यह न जानता कि इनका यह कार्य क्षत्रियधर्मके अनुकूल ही है, तो बलपूर्वक प्रज्वलित अग्निमें इनकी दोनों बाँहोंको एक साथ ही जलाकर राख कर डालता ॥ १० ॥

वैशम्पायन उवाच

तथा तान् दुःखितान् दृष्ट्वा पाण्डवान् धृतराष्ट्रजः।
कृष्यमाणां च पाञ्चालीं विकर्ण इदमब्रवीत् ॥ ११ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! पाण्डवोंको दुखी और पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीको घसीटी जाती हुई देख धृतराष्ट्रनन्दन विकर्णने यह कहा—॥ ११ ॥

याज्ञसेन्या यदुक्तं तद् वाक्यं विब्रूत पार्थिवाः।
अविवेकेन वाक्यस्य नरकः सद्य एव नः ॥ १२ ॥

'भूमिपालो! द्रौपदीने जो प्रश्न उपस्थित किया है, उसका आपलोग उत्तर दें। यदि इसके प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन नहीं किया गया, तो हमें शीघ्र ही नरक भोगना पड़ेगा ॥ १२ ॥

भीष्मश्च धृतराष्ट्रश्च कुरुवृद्धतमावुभौ।
समेत्य नाहतुः किंचिद् विदुरश्च महामतिः ॥ १३ ॥

'पितामह भीष्म और पिता धृतराष्ट्र—ये दोनों कुरुवंशके सबसे वृद्ध पुरुष हैं। ये तथा परम बुद्धिमान् विदुरजी मिलकर कुछ उत्तर क्यों नहीं देते? ॥ १३ ॥

भारद्वाजश्च सर्वेषामाचार्यः कृप एव च।
कुत एतावपि प्रश्नं नाहतुर्द्विजसत्तमौ ॥ १४ ॥

'हम सबके आचार्य भरद्वाजनन्दन द्रोणाचार्य और कृपाचार्य ये दोनों ब्राह्मणकुलके श्रेष्ठ पुरुष हैं। ये दोनों भी इस प्रश्नपर अपने विचार क्यों नहीं प्रकट करते? ॥ १४ ॥

ये त्वन्ये पृथिवीपालाः समेताः सर्वतो दिशः।
कामक्रोधौ समुत्सृज्य ते ब्रुवन्तु यथामति ॥ १५ ॥

'जो दूसरे राजालोग चारों दिशाओंसे यहाँ पधारे हैं, वे सभी काम और क्रोधको त्यागकर अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रश्नका उत्तर दें ॥ १५ ॥

यदिदं द्रौपदी वाक्यमुक्तवत्यसकृच्छुभा।
विमृश्य कस्य कः पक्षः पार्थिवा वदतोत्तरम् ॥ १६ ॥

'राजाओ! कल्याणी द्रौपदीने बार-बार जिस प्रश्नको दुहराया है, उसपर विचार करके आपलोग उत्तर दें, जिससे मालूम हो जाय कि इस विषयमें किसका क्या पक्ष (विचार) है' ॥ १६ ॥

एवं स बहुशः सर्वानुक्तवांस्तान् सभासदः।
न च ते पृथिवीपालास्तमूचुः साध्वसाधु वा ॥ १७ ॥

इस प्रकार विकर्णने उन सब सभासदोंसे बार-बार अनुरोध किया; परंतु उन नरेशोंने उस विषयमें उससे भला-बुरा कुछ नहीं कहा ॥ १७ ॥

उक्त्वा सकृत् तथा सर्वान् विकर्णः पृथिवीपतीन्।
पाणौ पाणिं विनिष्पिष्य निःश्वसन्निदमब्रवीत् ॥ १८ ॥

उन सब राजाओंसे बार-बार आग्रह करनेपर भी जब कुछ उत्तर नहीं मिला, तब विकर्णने हाथपर हाथ मलते हुए लंबी साँस खींचकर कहा—॥ १८ ॥

विब्रूत पृथिवीपाला वाक्यं मा वा कथंचन।
मन्ये न्याय्यं यदत्राहं तद्धि वक्ष्यामि कौरवाः ॥ १९ ॥

'कौरवो तथा अन्य भूमिपालो! आपलोग द्रौपदीके प्रश्नपर किसी प्रकारका विचार प्रकट करें या न करें, मैं इस विषयमें जो न्यायसंगत समझता हूँ, वह कहता हूँ ॥ १९ ॥

चत्वार्याहुर्नरश्रेष्ठा व्यसनानि महीक्षिताम्।
मृगयां पानमक्षांश्च ग्राम्ये चैवातिरक्तताम् ॥ २० ॥

'नरश्रेष्ठ भूपालो! राजाओंके चार दुर्व्यसन बताये गये हैं—शिकार, मदिरापान, जूआ तथा विषयभोगमें अत्यन्त आसक्ति ॥ २० ॥

एतेषु हि नरः सक्तो धर्ममुत्सृज्य वर्तते।
यथायुक्तेन च कृतां क्रियां लोको न मन्यते ॥ २१ ॥

'इन दुर्व्यसनोंमें आसक्त मनुष्य धर्मकी अवहेलना करके मनमाना बर्ताव करने लगता है। इस प्रकार व्यसनासक्त पुरुषके द्वारा किये हुए किसी भी कार्यको लोग सम्मान नहीं देते हैं ॥ २१ ॥

तदयं पाण्डुपुत्रेण व्यसने वर्तता भृशम्।
समाहूतेन कितवैरास्थितो द्रौपदीपणः ॥ २२ ॥

'ये पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर द्यूतरूपी दुर्व्यसनमें अत्यन्त आसक्त हैं। इन्होंने धूर्त जुआरियोंसे प्रेरित होकर द्रौपदीको दाँवपर लगा दिया है ॥ २२ ॥

साधारणी च सर्वेषां पाण्डवानामनिन्दिता।
जितेन पूर्वं चानेन पाण्डवेन कृतः पणः ॥ २३ ॥

'सती-साध्वी द्रौपदी समस्त पाण्डवोंकी समानरूपसे पत्नी है, केवल युधिष्ठिरकी ही नहीं है। इसके सिवा, पाण्डुकुमार युधिष्ठिर पहले अपने आपको हार चुके थे, उसके बाद उन्होंने द्रौपदीको दाँवपर रक्खा है ॥ २३ ॥

इयं च कीर्तिता कृष्णा सौबलेन पणार्थिना।
एतत् सर्वं विचार्याहं मन्ये न विजितामिमाम् ॥ २४ ॥

'सब दाँवोंको जीतनेकी इच्छावाले सुबलपुत्र शकुनिने ही द्रौपदीको दाँवपर लगानेकी बात उठायी है। इन सब बातोंपर विचार करके मैं द्रुपदकुमारी कृष्णाको जीती हुई नहीं मानता' ॥ २४ ॥

एतच्छ्रुत्वा महान् नादः सभ्यानामुदतिष्ठत।
विकर्णं शंसमानानां सौबलं चापि निन्दताम् ॥ २५ ॥

यह सुनकर सभी सभासद् विकर्णकी प्रशंसा और सुबलपुत्र शकुनिकी निन्दा करने लगे। उस समय वहाँ बड़ा कोलाहल मच गया ॥ २५ ॥

तस्मिन्नुपरते शब्दे राधेयः क्रोधमूर्च्छितः।
प्रगृह्य रुचिरं बाहुमिदं वचनमब्रवीत् ॥ २६ ॥

उस कोलाहलके शान्त होनेपर राधानन्दन कर्ण क्रोधसे मूर्च्छित हो उसकी सुन्दर बाँह पकड़कर इस प्रकार बोला—॥ २६ ॥

कर्ण उवाच

दृश्यन्ते वै विकर्णेह वैकृतानि बहून्यपि।
तज्जातस्तद्विनाशाय यथाग्निररणिप्रजः ॥ २७ ॥

कर्णने कहा—विकर्ण! इस जगत्‌में बहुत-सी वस्तुएँ विपरीत परिणाम उत्पन्न करनेवाली देखी जाती हैं। जैसे अरणिसे उत्पन्न हुई अग्नि उसीको जला देती है, उसी प्रकार कोई-कोई मनुष्य जिस कुलमें उत्पन्न होता है, उसीका विनाश करनेवाला बन जाता है ॥ २७ ॥

(व्याधिर्बलं नाशयते शरीरस्थोऽपि सम्भृतः।
तृणानि पशवो घ्नन्ति स्वपक्षं चैव कौरवः ॥
द्रोणो भीष्मः कृपो द्रौणिर्विदुरश्च महामतिः।
धृतराष्ट्रश्च गान्धारी भवतः प्राज्ञवत्तराः ॥)

रोग यद्यपि शरीरमें ही पलता है, तथापि वह शरीरके ही बलका नाश करता है। पशु घासको ही चरते हैं, फिर भी उसे पैरोंसे कुचल डालते हैं। उसी प्रकार कुरु-कुलमें उत्पन्न होकर भी तुम अपने ही पक्षको हानि पहुँचाना चाहते हो। विकर्ण! द्रोण, भीष्म, कृप, अश्वत्थामा, महाबुद्धिमान् विदुर, धृतराष्ट्र तथा गान्धारी—ये तुमसे अधिक बुद्धिमान् हैं ॥

एते न किंचिदप्याहुश्चोदिता ह्यपि कृष्णया।
धर्मेण विजितामेतां मन्यन्ते द्रुपदात्मजाम् ॥ २८ ॥

द्रौपदीने बार-बार प्रेरित किया है, तो भी ये सभासद् कुछ भी नहीं बोलते हैं; क्योंकि ये सब लोग द्रुपदकुमारीको धर्मके अनुसार जीती हुई समझते हैं ॥ २८ ॥

त्वं तु केवलबाल्येन धार्तराष्ट्र विदीर्यसे।
यद् ब्रवीषि सभामध्ये बालः स्थविरभाषितम् ॥ २९ ॥

धृतराष्ट्रकुमार! तुम केवल अपनी मूर्खताके कारण आप ही अपने पैरोंमें कुल्हाड़ी मार रहे हो; क्योंकि तुम बालक होकर भी भरी सभामें बूढ़ोंकी-सी बातें करते हो ॥

न च धर्मं यथावत् त्वं वेत्सि दुर्योधनावर।
यद् ब्रवीषि जितां कृष्णां न जितेति सुमन्दधीः ॥ ३० ॥

दुर्योधनके छोटे भाई! तुम्हें धर्मके विषयमें यथार्थ ज्ञान नहीं है। तुम जो जीती हुई द्रौपदीको नहीं जीती हुई

बता रहे हो, इससे तुम्हारे मन्दबुद्धि होनेका परिचय मिलता है ॥ ३० ॥

कथं ह्यविजितां कृष्णां मन्यसे धृतराष्ट्रज।
यदा सभायां सर्वस्वं न्यस्तवान् पाण्डवाग्रजः ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रकुमार ! तुम कृष्णाको नहीं जीती हुई कैसे मानते हो ? जब कि पाण्डवोंके बड़े भाई युधिष्ठिरने द्यूतसभाके बीच अपना सर्वस्व दाँवपर लगा दिया है ॥ ३१ ॥

अभ्यन्तरा च सर्वस्वे द्रौपदी भरतर्षभ।
एवं धर्मजितां कृष्णां मन्यसे न जितां कथम् ॥ ३२ ॥

भरतश्रेष्ठ ! द्रौपदी भी तो सर्वस्वके भीतर ही है। इस प्रकार जब कृष्णाको धर्मपूर्वक जीत लिया गया है, तब तुम उसे नहीं जीती हुई क्यों समझते हो ? ॥ ३२ ॥

कीर्तिता द्रौपदी वाचा अनुज्ञाता च पाण्डवैः।
भवत्यविजिता केन हेतुनैषा मता तव ॥ ३३ ॥

युधिष्ठिरने अपनी वाणीद्वारा कहकर द्रौपदीको दाँवपर रखा और शेष पाण्डवोंने मौन रहकर उसका अनुमोदन किया। फिर किस कारणसे तुम उसे नहीं जीती हुई मानते हो ? ॥ ३३ ॥

मन्यसे वा सभामेतामानीतामेकवाससम्।
अधर्मेणेति तत्रापि शृणु मे वाक्यमुत्तमम् ॥ ३४ ॥

अथवा यदि तुम्हारी यह राय हो कि एकवस्त्रा द्रौपदीको इस सभामें अधर्मपूर्वक लाया गया है, तो इसके उत्तरमें भी मेरी उत्तम बात सुनो ॥ ३४ ॥

एको भर्ता स्त्रिया देवैर्विहितः कुरुनन्दन।
इयं त्वनेकवशगा बन्धकीति विनिश्चिता ॥ ३५ ॥
अस्याः सभामानयनं न चित्रमिति मे मतिः।
एकाम्बरधरत्वं वाप्यथ वापि विवस्त्रता ॥ ३६ ॥

कुरुनन्दन ! देवताओंने स्त्रीके लिये एक ही पतिका विधान किया है; परंतु यह द्रौपदी अनेक पतियोंके अधीन है, अतः यह निश्चय ही वेश्या है। इसका सभामें लाया जाना कोई अनोखी बात नहीं है। यह एकवस्त्रा अथवा नंगी हो तो भी यहाँ लायी जा सकती है, यह मेरा स्पष्ट मत है ॥ ३५-३६ ॥

यच्चैषां द्रविणं किंचिद् या चैषा ये च पाण्डवाः।
सौबलेनेह तत् सर्वं धर्मेण विजितं वसु ॥ ३७ ॥

इन पाण्डवोंके पास जो कुछ धन है, जो यह द्रौपदी है तथा जो ये पाण्डव हैं, इन सबको सुबलपुत्र शकुनिने यहाँ जूएके धनके रूपमें धर्मपूर्वक जीता है ॥ ३७ ॥

दुःशासन सुबालोऽयं विकर्णः प्राज्ञवादिकः।
पाण्डवानां च वासांसि द्रौपद्याश्चाप्युपाहर ॥ ३८ ॥

दुःशासन ! यह विकर्ण अत्यन्त मूढ़ है, तथापि विद्वानोंकी-सी बातें बनाता है। तुम पाण्डवोंके और द्रौपदीके भी वस्त्र उतार लो ॥ ३८ ॥

तच्छ्रुत्वा पाण्डवाः सर्वे स्वानि वासांसि भारत।
अवकीर्योत्तरीयाणि सभायां समुपाविशन् ॥ ३९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कर्णकी बात सुनकर समस्त पाण्डव अपने-अपने उत्तरीय वस्त्र उतारकर सभामें बैठ गये ॥ ३९ ॥

ततो दुःशासनो राजन् द्रौपद्या वसनं बलात्।
सभामध्ये समाक्षिप्य व्यपाक्रष्टुं प्रचक्रमे ॥ ४० ॥

राजन् ! तब दुःशासनने उस भरी सभामें द्रौपदीका वस्त्र बलपूर्वक पकड़कर खींचना प्रारम्भ किया ॥ ४० ॥

वैशम्पायन उवाच

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्याश्चिन्तितो हरिः।

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब वस्त्र खींचा जाने लगा, तब द्रौपदीने भगवान् श्रीकृष्णका स्मरण किया ॥ ४० $\frac{1}{2}$ ॥

(*द्रौपद्युवाच*

ज्ञातं मया वसिष्ठेन पुरा गीतं महात्मना।
महत्यापदि सम्प्राप्ते स्मर्तव्यो भगवान् हरिः ॥

द्रौपदीने मन-ही-मन कहा—मैंने पूर्वकालमें महात्मा वसिष्ठजीकी बतायी हुई इस बातको अच्छी तरह समझा है कि भारी विपत्ति पड़नेपर भगवान् श्रीहरिका स्मरण करना चाहिये ॥

वैशम्पायन उवाच

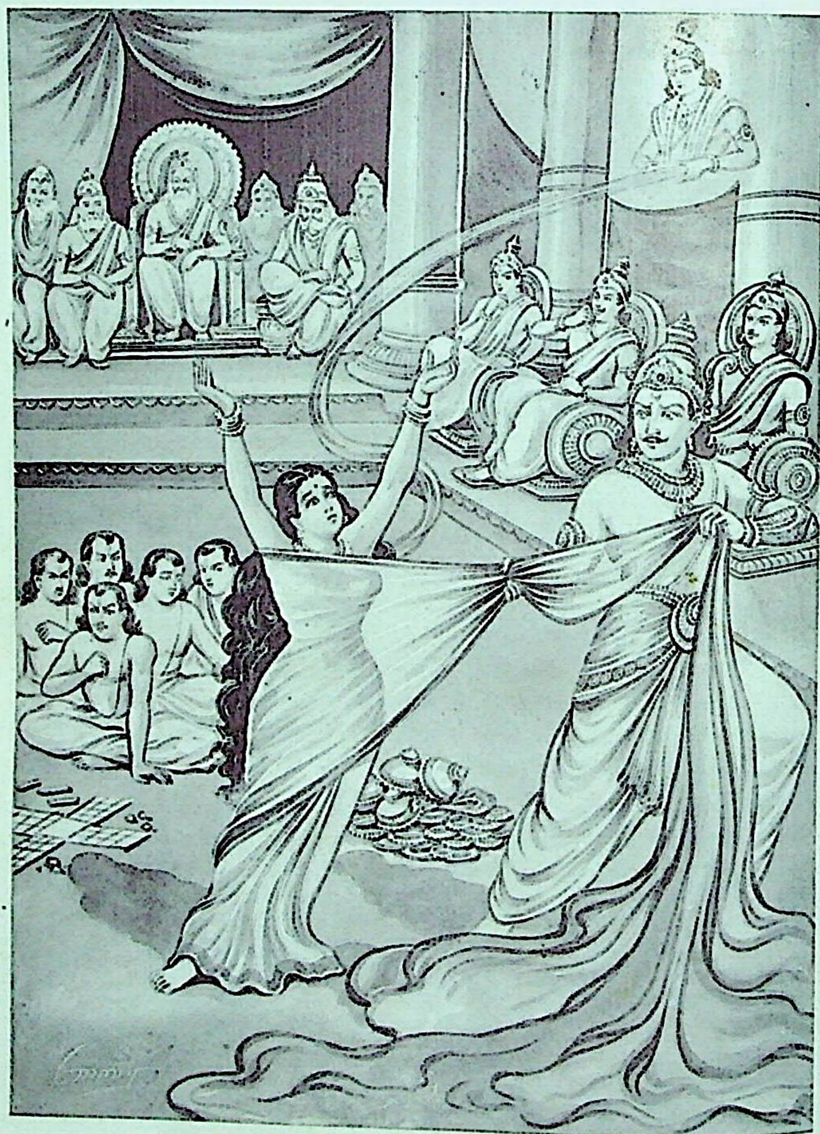
गोविन्देति समाभाष्य कृष्णेति च पुनः पुनः।
मनसा चिन्तयामास देवं नारायणं प्रभुम् ॥
आपत्स्वभयदं कृष्णं लोकानां प्रपितामहम्।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! ऐसा विचारकर द्रौपदीने बारम्बार 'गोविन्द' और 'कृष्ण'का नाम लेकर पुकारा और आपत्तिकालमें अभय देनेवाले लोकप्रपितामह नारायणस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णका मन-ही-मन चिन्तन किया ॥

गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्णगोपीजनप्रिय ॥ ४१ ॥
कौरवैः परिभूतां मां किं न जानासि केशव।
हे नाथ हे रमानाथ व्रजनाथार्तिनाशन।
कौरवार्णवमग्नां मामुद्धरस्व जनार्दन ॥ ४२ ॥

'हे गोविन्द ! हे द्वारकावासी श्रीकृष्ण ! हे गोपाङ्गनाओंके प्राणवल्लभ केशव ! कौरव मेरा अपमान कर रहे हैं, क्या आप नहीं जानते ? हे नाथ ! हे रमानाथ ! हे व्रजनाथ ! हे संकटनाशन जनार्दन ! मैं कौरवरूप समुद्रमें डूबी जा रही हूँ, मेरा उद्धार कीजिये ॥ ४१-४२ ॥

कृष्ण कृष्ण महायोगिन् विश्वात्मन् विश्वभावन।
प्रपन्नां पाहि गोविन्द कुरुमध्येऽवसीदतीम् ॥ ४३ ॥



द्रौपदी-चीर-हरण

सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्ण ! महायोगिन् ! विश्वात्मन् ! विश्वभावन ! गोविन्द ! कौरवोंके बीचमें कष्ट पाती हुई मुझ शरणागत अबलाकी रक्षा कीजिये' ॥ ४३ ॥

इत्यनुस्मृत्य कृष्णं सा हरिं त्रिभुवनेश्वरम्।
प्रारुदद् दुःखिता राजन् मुखमाच्छाद्य भामिनी ॥४४॥

राजन् ! इस प्रकार तीनों लोकोंके स्वामी श्यामसुन्दर श्रीकृष्णका बार-बार चिन्तन करके मानिनी द्रौपदी दुखी हो अंचलसे मुँह ढककर जोर-जोरसे रोने लगी ॥ ४४ ॥

याज्ञसेन्या वचः श्रुत्वा कृष्णो गह्वरितोऽभवत्।
त्यक्त्वा शय्याऽऽसनं पद्भ्यां कृपालुः कृपयाभ्यगात्॥
कृष्णं च विष्णुं च हरिं नरं च
त्राणाय विक्रोशति याज्ञसेनी।
ततस्तु धर्मोऽन्तरितो महात्मा
समावृणोद् वै विविधैः सुवस्त्रैः ॥४६॥

द्रुपदनन्दिनीकी वह करुण पुकार सुनकर कृपालु श्रीकृष्ण गद्गद हो गये तथा शय्या और आसन छोड़कर दयासे द्रवित हो पैदल ही दौड़ पड़े। यज्ञसेनकुमारी कृष्णा अपनी रक्षाके लिये श्रीकृष्ण, विष्णु, हरि और नर आदि भगवन्नामोंको जोर-जोरसे पुकार रही थी। इसी समय धर्मस्वरूप महात्मा श्रीकृष्णने अव्यक्तरूपसे उसके वस्त्रमें प्रवेश करके भाँति-भाँतिके सुन्दर वस्त्रोंद्वारा द्रौपदीको आच्छादित कर लिया ॥ ४५-४६ ॥

आकृष्यमाणे वसने द्रौपद्यास्तु विशाम्पते।
तद्रूपमपरं वस्त्रं प्रादुरासीदनेकशः ॥४७॥

जनमेजय ! द्रौपदीके वस्त्र खींचे जाते समय उसी तरहके दूसरे-दूसरे अनेक वस्त्र प्रकट होने लगे ॥ ४७ ॥

नानारागविरागाणि वसनान्यथ वै प्रभो।
प्रादुर्भवन्ति शतशो धर्मस्य परिपालनात् ॥४८॥

राजन् ! धर्मपालनके प्रभावसे वहाँ भाँति-भाँतिके सैकड़ों रंग-बिरंगे वस्त्र प्रकट होते रहे ॥ ४८ ॥

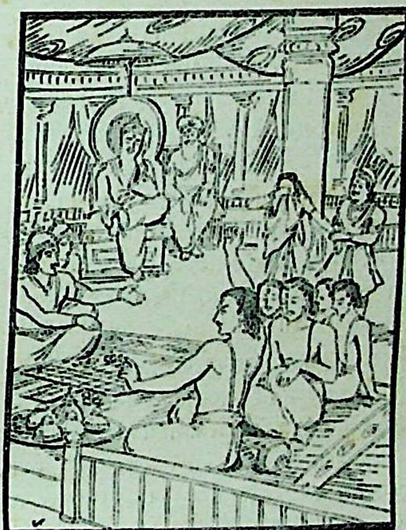
ततो हलहलाशब्दस्तत्रासीद् घोरदर्शनः।
तदद्भुततमं लोको वीक्ष्य सर्वे महीभृतः।
शशंसुर्द्रौपदीं तत्र कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥४९॥
शशाप तत्र भीमस्तु राजमध्ये बृहत्स्वनः।
क्रोधाद् विस्फुरमाणौष्ठो विनिष्पिष्य करे करम् ॥५०॥

उस समय वहाँ बड़ा भयंकर कोलाहल मच गया। जगत्‌में यह अद्भुत दृश्य देखकर सब राजा द्रौपदीकी प्रशंसा और दुःशासनकी निन्दा करने लगे। उस समय वहाँ समस्त राजाओंके बीच हाथपर हाथ मलते हुए भीमसेनने क्रोधसे फड़कते हुए ओठोंद्वारा भयंकर गर्जनाके साथ यह शाप दिया (प्रतिज्ञा की) ॥ ४९-५० ॥

भीम उवाच

इदं मे वाक्यमादध्वं क्षत्रिया लोकवासिनः।
नोक्तपूर्वं नरैरन्यैर्न चान्यो यद् वदिष्यति ॥५१॥

भीमसेनने कहा—देश-देशान्तरके निवासी क्षत्रियो ! आपलोग मेरी इस बातपर ध्यान दें। ऐसी बात आजसे पहले न तो किसीने कही होगी और न दूसरा कोई कहेगा ही ॥५१॥



यद्येतदेवमुक्त्वाहं न कुर्यां पृथिवीश्वराः।
पितामहानां पूर्वेषां नाहं गतिमवाप्नुयाम् ॥५२॥
अस्य पापस्य दुर्बुद्धेर्भारतापसदस्य च।
न पिबेयं बलाद् वक्षो भित्त्वा चेद् रुधिरं युधि ॥५३॥

भूमिपालो ! यह खोटी बुद्धिवाला दुःशासन भरतवंशके लिये कलङ्क है। मैं युद्धमें बलपूर्वक इस पापीकी छाती फाड़कर इसका रक्त पीऊँगा। यदि न पीऊँ—अर्थात् अपनी कही हुई उस बातको पूरा न करूँ, तो मुझे अपने पूर्वज बाप-दादोंकी श्रेष्ठ गति न मिले ॥ ५२-५३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य ते तद् वचः श्रुत्वा रौद्रं लोमप्रहर्षणम्।
प्रचक्रुर्बहुलां पूजां कुत्सन्तो धृतराष्ट्रजम् ॥५४॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! भीमसेनकी यह रोंगटे खड़े कर देनेवाली भयंकर बात सुनकर वहाँ बैठे हुए राजाओंने धृतराष्ट्रपुत्र दुःशासनकी निन्दा करते हुए भीमसेनकी भूरि-भूरि प्रशंसा की ॥ ५४ ॥

यदा तु वाससां राशिः सभामध्ये समाचितः।
ततो दुःशासनः श्रान्तो व्रीडितः समुपाविशत् ॥५५॥

जब सभामें वस्त्रोंका ढेर लग गया, तब दुःशासन थककर लज्जित हो चुपचाप बैठ गया ॥ ५५ ॥

धिक्शब्दस्तु ततस्तत्र समभूल्लोमहर्षणः।
सभ्यानां नरदेवानां दृष्ट्वा कुन्तीसुतांस्तथा ॥५६॥

उस समय कुन्तीपुत्रोंकी ओर देखकर सभामें उपस्थित नरेशोंकी ओरसे दुःशासनपर रोमाञ्चकारी शब्दोंमें धिक्कारकी बौछार होने लगी ॥ ५६ ॥

न विब्रुवन्ति कौरव्याः प्रश्नमेतमिति स्म ह।
स जनः क्रोशति स्मात्र धृतराष्ट्रं विगर्हयन् ॥५७॥

कौरव द्रौपदीके पूर्वोक्त प्रश्नपर स्पष्ट विवेचन नहीं कर रहे थे, अतः वहाँ बैठे हुए लोग राजा धृतराष्ट्रकी निन्दा करते हुए उन्हें कोसने लगे ॥ ५७ ॥

ततो बाहू समुच्छ्रित्य निवार्य च सभासदः।
विदुरः सर्वधर्मज्ञ इदं वचनमब्रवीत् ॥५८॥

तब सम्पूर्ण धर्मोंके ज्ञाता विदुरजीने अपनी दोनों भुजाएँ ऊपर उठाकर सभासदोंको चुप कराया और इस प्रकार कहा ॥ ५८ ॥

विदुर उवाच

द्रौपदी प्रश्नमुक्त्वैवं रोरवीति ह्यनाथवत्।
न च विब्रूत तं प्रश्नं सभ्या धर्मोऽत्र पीड्यते ॥५९॥

विदुरजी बोले—इस सभामें पधारे हुए भूपालगण ! द्रुपदकुमारी कृष्णा यहाँ अपना प्रश्न उपस्थित करके इस तरह अनाथकी भाँति रो रही है; परंतु आपलोग उसका विवेचन नहीं करते, अतः यहाँ धर्मकी हानि हो रही है॥५९॥

सभां प्रपद्यते ह्यार्तः प्रज्वलन्निव हव्यवाट्।
तं वै सत्येन धर्मेण सभ्याः प्रशमयन्त्युत ॥६०॥

संकटमें पड़ा हुआ मनुष्य अग्निकी भाँति चिन्तासे प्रज्वलित हुआ सभाकी शरण लेता है, उस समय सभासद्गण धर्म और सत्यका आश्रय लेकर अपने वचनोंद्वारा उसे शान्त करते हैं ॥ ६० ॥

धर्मप्रश्नमतो ब्रूयादार्यः सत्येन मानवः।
विब्रूयुस्तत्र तं प्रश्नं कामक्रोधबलातिगाः ॥६१॥

अतः श्रेष्ठ मनुष्यको उचित है कि वह धर्मानुकूल प्रश्नको सचाईके साथ उपस्थित करे और सभासदोंको चाहिये कि वे काम-क्रोधके वेगसे ऊपर उठकर उस प्रश्नका ठीक-ठीक विवेचन करें ॥ ६१ ॥

विकर्णेन यथाप्रज्ञमुक्तः प्रश्नो नराधिपाः।
भवन्तोऽपि हि तं प्रश्नं विब्रुवन्तु यथामति ॥६२॥

राजाओ ! विकर्णने अपनी बुद्धिके अनुसार इस प्रश्नका उत्तर दिया है, अब आपलोग भी अपनी-अपनी बुद्धिके अनुसार उस प्रश्नका निर्णय करें ॥ ६२ ॥

यो हि प्रश्नं न विब्रूयाद् धर्मदर्शी सभां गतः।
अनृते या फलावाप्तिस्तस्याः सोऽर्धं समश्नुते ॥६३॥

जो धर्मज्ञ पुरुष सभामें जाकर वहाँ उपस्थित हुए प्रश्नका उत्तर नहीं देता, वह झूठ बोलनेके आधे फलका भागी होता है ॥ ६३ ॥

यः पुनर्वितथं ब्रूयाद् धर्मदर्शी सभां गतः।
अनृतस्य फलं कृत्स्नं सम्प्राप्नोतीति निश्चयः ॥६४॥

इसी प्रकार जो धर्मज्ञ मानव सभामें जाकर किसी प्रश्नपर झूठा निर्णय देता है, वह निश्चय ही असत्यभाषणका पूरा फल (दण्ड) पाता है ॥ ६४ ॥

अत्राप्युदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम्।
प्रह्लादस्य च संवादं मुनेराङ्गिरसस्य च ॥६५॥

इस विषयमें विज्ञपुरुष प्रह्लाद और अङ्गिराकुमार मुनि सुधन्वाके संवादरूप इस प्राचीन इतिहासका उदाहरण दिया करते हैं ॥ ६५ ॥

प्रह्लादो नाम दैत्येन्द्रस्तस्य पुत्रो विरोचनः।
कन्याहेतोराङ्गिरसं सुधन्वानमुपाद्रवत् ॥६६॥

दैत्यराज प्रह्लादके एक पुत्र था विरोचन। उसका केशिनी नामवाली एक कन्याकी प्राप्तिके लिये अङ्गिराके पुत्र सुधन्वाके साथ विवाद हो गया ॥ ६६ ॥

अहं ज्यायानहं ज्यायानिति कन्येप्सया तदा।
तयोर्देवनमत्रासीत् प्राणयोरिति नः श्रुतम् ॥६७॥

दोनों ही उस कन्याको पानेकी इच्छासे 'मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ' ऐसा कहने लगे। मेरे सुननेमें आया है कि उन दोनोंने अपनी बात सत्य करनेके लिये प्राणोंकी बाजी लगा दी ॥६७॥

तयोः प्रश्नविवादोऽभूत् प्रह्लादं तावपृच्छताम्।
ज्यायान् क आवयोरेकः प्रश्नं प्रब्रूहि मा मृषा ॥६८॥

श्रेष्ठताके प्रश्नको लेकर जब उनका विवाद बहुत बढ़ गया, तब उन्होंने दैत्यराज प्रह्लादसे जाकर पूछा—'हम दोनोंमें कौन श्रेष्ठ है ? आप इस प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर दीजिये, झूठ न बोलियेगा' ॥ ६८ ॥

स वै विवदनाद् भीतः सुधन्वानं विलोकयन्।
तं सुधन्वाब्रवीत् क्रुद्धो ब्रह्मदण्ड इव ज्वलन् ॥६९॥

प्रह्लाद उस विवादसे भयभीत हो सुधन्वाकी ओर देखने लगे, तब सुधन्वाने प्रज्वलित ब्रह्मदण्डके समान कुपित होकर कहा—॥ ६९ ॥

यदि वै वक्ष्यसि मृषा प्रह्लादाथ न वक्ष्यसि।
शतधा ते शिरो वज्री वज्रेण प्रहरिष्यति ॥७०॥

'प्रह्लाद ! यदि तुम इस प्रश्नके उत्तरमें झूठ बोलोगे अथवा मौन रह जाओगे, तो वज्रधारी इन्द्र अपने वज्रद्वारा तुम्हारे सिरके सैकड़ों टुकड़े कर देगा' ॥ ७० ॥

सुधन्वना तथोक्तः सन् व्यथितोऽश्वत्थपर्णवत्।
जगाम कश्यपं दैत्यः परिप्रष्टुं महौजसम् ॥७१॥

सुधन्वाके ऐसा कहनेपर प्रह्लाद व्यथित हो पीपलके पत्तेकी तरह काँपने लगे और इसके विषयमें कुछ पूछनेके लिये वे महातेजस्वी कश्यपजीके पास गये ॥ ७१ ॥

प्रह्लाद उवाच

त्वं वै धर्मस्य विज्ञाता दैवस्येहासुरस्य च।
ब्राह्मणस्य महाभाग धर्मकृच्छ्रमिदं शृणु ॥७२॥

प्रह्लाद बोले—महाभाग ! आप देवताओं, असुरों तथा ब्राह्मणके भी धर्मको जानते हैं। मुझपर एक धर्मसंकट उपस्थित हुआ है, उसे सुनिये ॥ ७२ ॥

यो वै प्रश्नं न विब्रूयाद् वितथं चैव निर्दिशेत्।
के वै तस्य परे लोकास्तन्ममाचक्ष्व पृच्छतः ॥७३॥

मैं पूछता हूँ कि जो प्रश्नका उत्तर ही न दे अथवा असत्य उत्तर दे दे, उसे परलोकमें कौन-से लोक प्राप्त होते हैं? यह मुझे बताइये ॥ ७३ ॥

कश्यप उवाच

जानन्नविब्रुवन् प्रश्नान् कामात् क्रोधाद् भयात् तथा।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥७४॥

कश्यपजीने कहा-जो जानते हुए भी काम, क्रोध तथा भयसे प्रश्नोंका उत्तर नहीं देता, वह अपने ऊपर वरुणदेवताके सहस्रों पाश डाल लेता है ॥ ७४ ॥

साक्षी वा विब्रुवन् साक्ष्यं गोकर्णशिथिलश्चरन्।
सहस्रं वारुणान् पाशानात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥७५॥

जो गवाह गाय-बैलके ढीले-ढाले कानोंकी तरह शिथिल हो दोनों पक्षोंसे सम्बन्ध बनाये रखकर गवाही नहीं देता, वह भी अपनेको वरुणदेवताके सहस्रों पाशोंसे बाँध लेता है ॥७५॥

तस्य संवत्सरे पूर्णे पाश एकः प्रमुच्यते।
तस्मात् सत्यं तु वक्तव्यं जानता सत्यमञ्जसा ॥७६॥

एक वर्ष पूरा होनेपर उसका एक पाश खुलता है, अतः सच्ची बात जाननेवाले पुरुषको यथार्थरूपसे सत्य ही बोलना चाहिये ॥ ७६ ॥

विद्धो धर्मो ह्यधर्मेण सभां यत्रोपपद्यते।
न चास्य शल्यं कृन्तन्ति विद्धास्तत्र सभासदः ॥७७॥

जहाँ धर्म अधर्मसे विद्ध होकर सभामें उपस्थित होता है, उसके काँटेको उससे बिंधे हुए सभासद्‌लोग नहीं काट पाते (अर्थात् उनको पापका फल भोगना ही पड़ता है) ॥७७॥

अर्धं हरति वै श्रेष्ठः पादो भवति कर्तृषु।
पादश्चैव सभासत्सु ये न निन्दन्ति निन्दितम् ॥७८॥

सभामें जो अधर्म होता है, उसका आधा भाग स्वयं सभापति ले लेता है, एक चौथाई भाग करनेवालोंको मिलता है और एक चतुर्थांश उन सभासदोंको प्राप्त होता है जो निन्दनीय पुरुषकी निन्दा नहीं करते ॥ ७८ ॥

अनेना भवति श्रेष्ठो मुच्यन्ते च सभासदः।
एनो गच्छति कर्तारं निन्दार्हो यत्र निन्द्यते ॥७९॥

जिस सभामें निन्दाके योग्य मनुष्यकी निन्दा की जाती है, वहाँ सभापति निष्पाप हो जाता है, सभासद् भी पापसे मुक्त हो जाते हैं और सारा पाप करनेवालेको ही लगता है ॥ ७९ ॥

वितथं तु वदेयुर्ये धर्मं प्रह्लाद पृच्छते।
इष्टापूर्तं च ते घ्नन्ति सप्त सप्त परावरान् ॥८०॥

प्रह्लाद ! जो लोग धर्मविषयक प्रश्न पूछनेवालेको झूठा उत्तर देते हैं, वे अपने इष्टापूर्त धर्मका नाश तो करते ही हैं आगे-पीछेकी सात-सात पीढ़ियोंके भी पुण्योंका वे हवन करते हैं ॥

हृतस्वस्य हि यद् दुःखं हतपुत्रस्य चैव यत्।
ऋणिनः प्रति यच्चैव स्वार्थाद् भ्रष्टस्य चैव यत् ॥८१॥
स्त्रियाः पत्या विहीनाया राज्ञा ग्रस्तस्य चैव यत्।
अपुत्रायाश्च यद् दुःखं व्याघ्राघ्रातस्य चैव यत् ॥८२॥
अध्यूढायाश्च यद् दुःखं साक्षिभिर्विहतस्य च।
एतानि वै समान्याहुर्दुःखानि त्रिदिवेश्वराः ॥८३॥

जिसका सर्वस्व छीन लिया गया हो, उसे जो दुःख होता है, जिसका पुत्र मर गया हो, उसे जो शोक होता है, ऋणग्रस्त और स्वार्थसे वञ्चित मनुष्यको जो क्लेश होता है, पतिसे विहीन होनेपर स्त्रीको तथा राजाके कोपभाजन मनुष्यको जो कष्ट उठाना पड़ता है, पुत्रहीना नारीको जो संताप होता है, शेरके चंगुलमें फँसे हुए प्राणीकी जो व्याकुलता होती है, सौतवाली स्त्रीको जो दुःख होता है, साक्षियोंने जिसे धोखा दिया हो, उस मनुष्यको जो महान् क्लेश होता है—इन सभी प्रकारके दुःखों-को देवताओंने समान बतलाया है ॥ ८१—८३ ॥

तानि सर्वाणि दुःखानि प्राप्नोति वितथं ब्रुवन्।
समक्षदर्शनात् साक्षी श्रवणाच्चेति धारणात् ॥८४॥
तस्मात् सत्यं ब्रुवन् साक्षी धर्मार्थाभ्यां न हीयते।

झूठ बोलनेवाला मनुष्य उन सभी दुःखोंका भागी होता है। समक्ष दर्शन, श्रवण और धारणसे साक्षी संज्ञा होती है, अतः सत्य बोलनेवाला साक्षी कभी धर्म और अर्थसे वञ्चित नहीं होता ॥ ८४½ ॥

कश्यपस्य वचः श्रुत्वा प्रह्लादः पुत्रमब्रवीत् ॥८५॥

कश्यपजीकी यह बात सुनकर प्रह्लादने अपने पुत्रसे कहा—॥ ८५ ॥

श्रेयान् सुधन्वा त्वत्तो वै मत्तः श्रेयांस्तथाङ्गिराः।
माता सुधन्वनश्चापि मातृतः श्रेयसी तव।
विरोचन सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ॥८६॥

'विरोचन ! सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है, उसके पिता अङ्गिरा मुझसे श्रेष्ठ हैं और सुधन्वाकी माता तुम्हारी मातासे श्रेष्ठ है। अब यह सुधन्वा ही तुम्हारे प्राणोंका स्वामी है' ॥ ८६ ॥

सुधन्वोवाच

पुत्रस्नेहं परित्यज्य यस्त्वं धर्मे व्यवस्थितः।
अनुजानामि ते पुत्रं जीवत्वेष शतं समाः ॥ ८७ ॥

सुधन्वाने कहा—दैत्यराज ! तुम पुत्रस्नेहकी परवा न करके जो धर्मपर डटे रह गये, इससे प्रसन्न होकर मैं तुम्हारे पुत्रको यह आज्ञा देता हूँ कि यह सौ वर्षोंतक जीवित रहे ॥ ८७ ॥

विदुर उवाच

एवं वै परमं धर्मं श्रुत्वा सर्वे सभासदः।
यथाप्रश्नं तु कृष्णाया मन्यध्वं तत्र किं परम् ॥ ८८ ॥

विदुरजी कहते हैं—सभासदो ! इस प्रकार इस उत्तम धर्ममय प्रसङ्गको सुनकर आप सब लोग द्रौपदीके प्रश्नके अनुसार यह बतावें कि उसके सम्बन्धमें आपकी क्या मान्यता है ? ॥ ८८ ॥

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा नोचुः किंचन पार्थिवाः।
कर्णो दुःशासनं त्वाह कृष्णां दासीं गृहान् नय ॥ ८९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरकी यह बात सुनकर भी सब राजालोग कुछ न बोले। उस समय कर्णने दुःशासनसे कहा—'इस दासी द्रौपदीको अपने घर ले जाओ' ॥ ८९ ॥

तां वेपमानां सव्रीडां प्रलपन्तीं स्म पाण्डवान्।
दुःशासनः सभामध्ये विचकर्ष तपस्विनीम् ॥ ९० ॥

द्रौपदी लज्जामें डूबी हुई थरथर काँपती और पाण्डवोंको पुकारती थी। उस दशामें दुःशासनने उस भरी सभाके बीच उस बेचारी दुखिया तपस्विनीको घसीटना आरम्भ किया ॥ ९० ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपद्याकर्षणेऽष्टषष्टितमोऽध्यायः ॥ ६८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें 'द्रौपदीको भरी सभामें खींचना' इस विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला अड़सठवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ६८ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ४½ श्लोक मिलाकर कुल ९४½ श्लोक हैं)

एकोनसप्ततितमोऽध्यायः

द्रौपदीका चेतावनीयुक्त विलाप एवं भीष्मका वचन

द्रौपद्युवाच

पुरस्तात् करणीयं मे न कृतं कार्यमुत्तरम्।
विह्वलास्मि कृतानेन कर्षता बलिना बलात् ॥ १ ॥

द्रौपदी बोली—हाय ! मेरा जो कार्य सबसे पहले करनेका था, वह अभीतक नहीं हुआ। मुझे अब यह कार्य कर लेना चाहिये। इस बलवान् दुरात्मा दुःशासनने मुझे बलपूर्वक घसीटकर व्याकुल कर दिया है ॥ १ ॥

अभिवादं करोम्येषां कुरूणां कुरुसंसदि।
न मे स्यादपराधोऽयं यदिदं न कृतं मया ॥ २ ॥

कौरवोंकी सभामें मैं समस्त कुरुवंशी महात्माओंको प्रणाम करती हूँ। मैंने घबराहटके कारण पहले प्रणाम नहीं किया; अतः यह मेरा अपराध न माना जाय ॥ २ ॥

वैशम्पायन उवाच

सा तेन च समाधूता दुःखेन च तपस्विनी।
पतिता विललापेदं सभायामतथोचिता ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! दुःशासनके बार-बार खींचनेसे तपस्विनी द्रौपदी पृथ्वीपर गिर पड़ी और उस सभामें अत्यन्त दुःखित हो विलाप करने लगी। वह जिस दुरवस्थामें पड़ी थी, उसके योग्य कदापि न थी ॥ ३ ॥

द्रौपद्युवाच

स्वयंवरे यास्मि नृपैर्दृष्टा रङ्गे समागतैः।
न दृष्टपूर्वा चान्यत्र साहमद्य सभां गता ॥ ४ ॥

द्रौपदीने कहा—हा ! मैं स्वयंवरके समय सभामें आयी थी और उस समय रंगभूमिमें पधारे हुए राजाओंने मुझे देखा था। उसके सिवा, अन्य अवसरोंपर कहीं भी आजसे पहले किसीने मुझे नहीं देखा। वही मैं आज सभामें बलपूर्वक लायी गयी हूँ ॥ ४ ॥

यां न वायुर्न चादित्यो दृष्टवन्तौ पुरा गृहे।
साहमद्य सभामध्ये दृश्यास्मि जनसंसदि ॥ ५ ॥

पहले राजभवनमें रहते हुए जिसे वायु तथा सूर्य भी नहीं देख पाते थे, वही मैं आज इस सभाके भीतर महान् जनसमुदायमें आकर सबके नेत्रोंकी लक्ष्य बन गयी हूँ ॥ ५ ॥

यां न मृष्यन्ति वातेन स्पृश्यमानां गृहे पुरा।
स्पृश्यमानां सहन्तेऽद्य पाण्डवास्तां दुरात्मना ॥ ६ ॥

पहले अपने महलमें रहते समय जिसका वायुद्वारा स्पर्श भी पाण्डवोंको सहन नहीं होता था, उसी मुझ द्रौपदीका यह दुरात्मा दुःशासन भरी सभामें स्पर्श कर रहा है, तो भी आज ये पाण्डुकुमार सह रहे हैं ॥ ६ ॥

मृष्यन्ति कुरवश्चेमे मन्ये कालस्य पर्ययम्।
स्नुषां दुहितरं चैव क्लिश्यमानामनर्हतीम्॥ ७ ॥

मैं कुरुकुलकी पुत्रवधू एवं पुत्रीतुल्य हूँ। सताये जानेके योग्य नहीं हूँ, फिर भी मुझे यह दारुण क्लेश दिया जा रहा है और ये समस्त कुरुवंशी इसे सहन करते हैं। मैं समझती हूँ, बड़ा विपरीत समय आ गया है॥ ७॥

किं त्वतः कृपणं भूयो यदहं स्त्री सती शुभा।
सभामध्यं विगाहेऽद्य क्व नु धर्मो महीक्षिताम्॥ ८ ॥

इससे बढ़कर दयनीय दशा और क्या हो सकती है कि मुझ-जैसी शुभकर्मपरायणा सती-साध्वी स्त्री भरी सभामें विवश करके लायी गयी है। आज राजाओंका धर्म कहाँ चला गया? ॥

धर्म्यां स्त्रियं सभां पूर्वं न नयन्तीति नः श्रुतम्।
स नष्टः कौरवेयेषु पूर्वो धर्मः सनातनः॥ ९ ॥

मैंने सुना है, पहले लोग धर्मपरायणा स्त्रीको कभी सभामें नहीं लाते थे, किंतु इन कौरवोंके समाजमें वह प्राचीन सनातन धर्म नष्ट हो गया है॥ ९॥

कथं हि भार्या पाण्डूनां पार्षतस्य स्वसा सती।
वासुदेवस्य च सखी पार्थिवानां सभामियाम्॥ १० ॥

अन्यथा मैं पाण्डवोंकी पत्नी, धृष्टद्युम्नकी सुशीला बहन और भगवान् श्रीकृष्णकी सखी होकर राजाओंकी इस सभामें कैसे लायी जा सकती थी? ॥ १०॥

तामिमां धर्मराजस्य भार्यां सदृशवर्णजाम्।
ब्रूत दासीमदासीं वा तत् करिष्यामि कौरवाः॥ ११ ॥

कौरवो! मैं धर्मराज युधिष्ठिरकी धर्मपत्नी तथा उनके समान वर्णकी कन्या हूँ। आपलोग बतावें, मैं दासी हूँ या अदासी? आप जैसा कहेंगे मैं वैसा ही करूँगी॥ ११॥

अयं मां सुदृढं क्षुद्रः कौरवाणां यशोहरः।
क्लिश्नाति नाहं तत् सोढुं चिरं शक्ष्यामि कौरवाः॥

कुरुवंशी क्षत्रियो! यह कुरुकुलकी कीर्तिमें कलङ्क लगानेवाला नीच दुःशासन मुझे बहुत कष्ट दे रहा है। मैं इस क्लेशको देरतक नहीं सह सकूँगी॥ १२॥

जितां वाप्यजितां वापि मन्यध्वं मां यथा नृपाः।
तथा प्रत्युक्तमिच्छामि तत् करिष्यामि कौरवाः॥ १३ ॥

कुरुवंशियो! आप क्या मानते हैं? मैं जीती गयी हूँ या नहीं। मैं आपके मुँहसे इसका ठीक-ठीक उत्तर सुनना चाहती हूँ। फिर उसीके अनुसार कार्य करूँगी॥ १३॥

भीष्म उवाच

उक्तवानस्मि कल्याणि धर्मस्य परमा गतिः।
लोके न शक्यते ज्ञातुमपि विप्रैर्महात्मभिः॥ १४ ॥

भीष्मजीने कहा—कल्याणि! मैं पहले ही कह चुका हूँ कि धर्मकी गति बड़ी सूक्ष्म है। लोकमें विज्ञ महात्मा भी उसे ठीक-ठीक नहीं जान सकते॥ १४॥

बलवांश्च यथा धर्मं लोके पश्यति पूरुषः।
स धर्मो धर्मवेलायां भवत्यभिहतः परः॥ १५ ॥

संसारमें बलवान् मनुष्य जिसको धर्म समझता है, धर्मविचारके समय लोग उसीको धर्म मान लेते हैं और बलहीन पुरुष जो धर्म बतलाता है, वह बलवान् पुरुषके बताये धर्मसे दब जाता है (अतः इस समय कर्ण और दुर्योधनका बताया हुआ धर्म ही सर्वोपरि हो रहा है।) ॥ १५॥

न विवेक्तुं च ते प्रश्नमिमं शक्नोमि निश्चयात्।
सूक्ष्मत्वाद् गहनत्वाच्च कार्यस्यास्य च गौरवात्॥ १६ ॥

मैं तो धर्मका स्वरूप सूक्ष्म और गहन होनेके कारण तथा इस धर्मनिर्णयके कार्यके अत्यन्त गुरुतर होनेसे तुम्हारे इस प्रश्नका निश्चितरूपसे यथार्थ विवेचन नहीं कर सकता॥ १६॥

नूनमन्तः कुलस्यायं भविता नचिरादिव।
तथा हि कुरवः सर्वे लोभमोहपरायणाः॥ १७ ॥

अवश्य ही बहुत शीघ्र इस कुलका नाश होनेवाला है, क्योंकि समस्त कौरव लोभ और मोहके वशीभूत हो गये हैं॥ १७॥

कुलेषु जाताः कल्याणि व्यसनैराहता भृशम्।
धर्म्यान्मार्गान्न च्यवन्ते येषां नस्त्वं वधूः स्थिता॥ १८ ॥

कल्याणि! तुम जिनकी पत्नी हो, वे पाण्डव हमारे उत्तम कुलमें उत्पन्न हैं और भारी-से-भारी संकटमें पड़कर भी धर्मके मार्गसे विचलित नहीं होते हैं॥ १८॥

उपपन्नं च पाञ्चालि तवेदं वृत्तमीदृशम्।
यत् कृच्छ्रमपि सम्प्राप्ता धर्ममेवान्ववेक्षसे॥ १९ ॥

पाञ्चालराजकुमारी! तुम्हारा यह आचार-व्यवहार तुम्हारे योग्य ही है; क्योंकि भारी संकटमें पड़कर भी तुम धर्मकी ओर ही देख रही हो॥ १९॥

एते द्रोणादयश्चैव वृद्धा धर्मविदो जनाः।
शून्यैः शरीरैस्तिष्ठन्ति गतासव इवानताः॥ २० ॥
युधिष्ठिरस्तु प्रश्नेऽस्मिन् प्रमाणमिति मे मतिः।
अजितां वा जितां वेति स्वयं व्याहर्तुमर्हति॥ २१ ॥

ये द्रोणाचार्य आदि वृद्ध एवं धर्मज्ञ पुरुष भी सिर लटकाये शून्य शरीरसे इस प्रकार बैठे हैं, मानो निष्प्राण हो गये हों। मेरी राय यह है कि इस प्रश्नका निर्णय करनेके लिये धर्मराज युधिष्ठिर ही सबसे प्रामाणिक व्यक्ति हैं। तुम जीती गयी हो या नहीं? यह बात स्वयं इन्हें बतलानी चाहिये॥ २०-२१॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीष्मवाक्ये एकोनसप्ततितमोऽध्यायः॥ ६९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीष्मवाक्यविषयक उनहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ६९॥

सप्ततितमोऽध्यायः

दुर्योधनके छल-कपटयुक्त वचन और भीमसेनका रोषपूर्ण उद्गार

वैशम्पायन उवाच

तथा तु दृष्ट्वा बहु तत्र देवीं
रोरूयमाणां कुररीमिवार्ताम्।
नोचुर्वचः साध्वथ वाप्यसाधु
महीक्षितो धार्तराष्ट्रस्य भीताः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! महारानी द्रौपदीको वहाँ आर्त होकर कुररीकी भाँति बहुत विलाप करती देखकर भी सभामें बैठे हुए राजालोग दुर्योधनके भयसे भला या बुरा कुछ भी नहीं कह सके ॥ १ ॥

दृष्ट्वा तथा पार्थिवपुत्रपौत्रां-
स्तूष्णींभूतान् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः।
स्मयन्निवेदं वचनं बभाषे
पाञ्चालराजस्य सुतां तदानीम् ॥ २ ॥

राजाओंके बेटों और पोतोंको मौन देखकर धृतराष्ट्रपुत्र दुर्योधनने उस समय मुसकराते हुए पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदीसे यह बात कही ॥ २ ॥

दुर्योधन उवाच

तिष्ठत्वयं प्रश्न उदारसत्त्वे
भीमेऽर्जुने सहदेवे तथैव।
पत्यौ च ते नकुले याज्ञसेनि
वदन्त्वेते वचनं त्वत्प्रसूतम् ॥ ३ ॥

दुर्योधन बोला—द्रौपदी! तुम्हारा यह प्रश्न तुम्हारे ही पति महाबली भीम, अर्जुन, सहदेव और नकुलपर छोड़ दिया जाता है। ये ही तुम्हारी पूछी हुई बातका उत्तर दें ॥ ३ ॥

अनीश्वरं विब्रुवन्त्वार्यमध्ये
युधिष्ठिरं तव पाञ्चालि हेतोः।
कुर्वन्तु सर्वे चानृतं धर्मराजं
पाञ्चालि त्वं मोक्ष्यसे दासभावात् ॥ ४ ॥

पाञ्चालि! इन श्रेष्ठ राजाओंके बीच ये लोग यह स्पष्ट कह दें कि युधिष्ठिरको तुम्हें दाँवपर रखनेका कोई अधिकार नहीं था। सभी पाण्डव मिलकर धर्मराज युधिष्ठिरको झूठा ठहरा दें। फिर तुम दास्यभावसे मुक्त कर दी जाओगी ॥४॥

धर्मे स्थितो धर्मसुतो महात्मा
स्वयं चेदं कथयत्विन्द्रकल्पः।
ईशो वा ते ह्यनीशोऽथ वैष
वाक्यादस्य क्षिप्रमेकं भजस्व ॥ ५ ॥

ये धर्मपुत्र महात्मा युधिष्ठिर इन्द्रके समान तेजस्वी तथा सदा धर्ममें स्थित रहनेवाले हैं। तुमको दाँवपर रखनेका इन्हें अधिकार था या नहीं? ये स्वयं ही कह दें; फिर इन्हींके कथनानुसार तुम शीघ्र दासीपन या अदासीपन किसी एकका आश्रय लो ॥ ५ ॥

सर्वे हीमे कौरवेयाः सभायां
दुःखान्तरे वर्तमानास्तवैव।
न विब्रुवन्त्यार्यसत्त्वा यथाव-
त्पतींश्च ते समवेक्ष्याल्पभाग्यान् ॥ ६ ॥

द्रौपदी! ये सभी उत्तम स्वभाववाले कुरुवंशी इस सभामें तुम्हारे लिये ही दुखी हैं और तुम्हारे मन्दभाग्य पतियोंको देखकर तुम्हारे प्रश्नका ठीक-ठीक उत्तर नहीं दे पाते हैं ॥ ६ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततः सभ्याः कुरुराजस्य तस्य
वाक्यं सर्वे प्रशशंसुस्तथोच्चैः।
चेलावेधांश्चापि चक्रुर्नदन्तो
हाहेत्यासीदपि चैवार्तनादः ॥ ७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! तदनन्तर एक ओर सभी सभासदोंने कुरुराज दुर्योधनके उस कथनकी उच्च स्वरसे भूरि-भूरि प्रशंसा की और गर्जना करते हुए वे वस्त्र हिलाने लगे तथा वहीं दूसरी ओर हाहाकार और आर्तनाद होने लगा ॥ ७ ॥

श्रुत्वा तु वाक्यं सुमनोहरं त-
द्धर्षश्चासीत् कौरवाणां सभायाम्।
सर्वे चासन् पार्थिवाः प्रीतिमन्तः
कुरुश्रेष्ठं धार्मिकं पूजयन्तः ॥ ८ ॥

दुर्योधनका वह मनोहर वचन सुनकर उस समय सभामें कौरवोंको बड़ा हर्ष हुआ। अन्य सब राजा भी बड़े प्रसन्न हुए तथा दुर्योधनको कौरवोंमें श्रेष्ठ और धार्मिक कहते हुए उसका आदर करने लगे ॥ ८ ॥

युधिष्ठिरं च ते सर्वे समुदैक्षन्त पार्थिवाः।
किं नु वक्ष्यति धर्मज्ञ इति साचीकृताननाः ॥ ९ ॥

फिर वे सब नरेश मुँह घुमाकर राजा युधिष्ठिरकी ओर इस आशासे देखने लगे कि देखें, ये धर्मज्ञ पाण्डुकुमार क्या कहते हैं? ॥ ९ ॥

किं नु वक्ष्यति बीभत्सुरजितो युधि पाण्डवः।
भीमसेनो यमौ चोभौ भृशं कौतूहलान्विताः ॥ १० ॥

युद्धमें कभी पराजित न होनेवाले पाण्डुनन्दन अर्जुन

किस प्रकार अपना मत व्यक्त करते हैं। भीमसेन, नकुल तथा सहदेव भी क्या कहते हैं। इसके लिये उन राजाओंके मनमें बड़ी उत्कण्ठा थी ॥ १० ॥

ततः प्रशान्ते शब्दे भीमसेनोऽब्रवीदिदम्।
प्रगृह्य रुचिरं दिव्यं भुजं चन्दनचर्चितम् ॥ ११ ॥

वह कोलाहल शान्त होनेपर भीमसेन अपनी चन्दन-चर्चित सुन्दर दिव्य भुजा उठाकर इस प्रकार बोले ॥ ११ ॥

भीमसेन उवाच

यद्येष गुरुरस्माकं धर्मराजो महामनाः।
न प्रभुः स्यात् कुलस्यास्य न वयं मर्षयेमहि ॥ १२ ॥

भीमसेनने कहा—यदि ये महामना धर्मराज युधिष्ठिर हमारे पितृतुल्य तथा इस पाण्डुकुलके स्वामी न होते तो हम कौरवोंका यह अत्याचार कदापि सहन नहीं करते ॥ १२ ॥

ईशो नः पुण्यतपसां प्राणानामपि चेश्वरः।
मन्यतेऽजितमात्मानं यद्येष विजिता वयम् ॥ १३ ॥
न हि मुच्येत मे जीवन् पदा भूमिमुपस्पृशन्।
मर्त्यधर्मा परामृश्य पाञ्चाल्या मूर्धजानिमान् ॥ १४ ॥
पश्यध्वं ह्यायतौ वृत्तौ भुजौ मे परिघाविव।
नैतयोरन्तरं प्राप्य मुच्येतापि शतक्रतुः ॥ १५ ॥

ये हमारे पुण्य, तप और प्राणोंके भी प्रभु हैं। यदि ये द्रौपदीको दाँवपर लगानेसे पूर्व अपनेको हारा हुआ नहीं मानते हैं तो हम सब लोग इनके द्वारा दाँवपर रखे जानेके कारण हारे जा चुके हैं। यदि मैं हारा गया न होता तो अपने पैरोंसे पृथ्वीका स्पर्श करनेवाला कोई भी मरणधर्मा मनुष्य द्रौपदी-के इन केशोंको छू लेनेपर मेरे हाथसे जीवित नहीं बच सकता था। राजाओ! परिघके समान मोटी और गोलाकार मेरी इन विशाल भुजाओंकी ओर तो देखो। इनके बीचमें आकर इन्द्र भी जीवित नहीं बच सकता ॥ १३—१५ ॥

धर्मपाशसितस्त्वेवं नाधिगच्छामि संकटम्।
गौरवेण विरुद्धश्च निग्रहादर्जुनस्य च ॥ १६ ॥

मैं धर्मके बन्धनमें बँधा हूँ, बड़े भाईके गौरवने मुझे रोक रक्खा है और अर्जुन भी मना कर रहा है, इसीलिये मैं इस संकटसे पार नहीं हो पाता ॥ १६ ॥

धर्मराजनिसृष्टस्तु सिंहः क्षुद्रमृगानिव।
धार्तराष्ट्रानिमान् पापान् निष्पिषेयं तलासिभिः॥ १७ ॥

यदि धर्मराज मुझे आज्ञा दे दें तो जैसे सिंह छोटे मृगोंको दबोच लेता है, उसी प्रकार मैं धृतराष्ट्रके इन पापी पुत्रोंको तलवारकी जगह हाथोंके तलवोंसे ही मसल डालूँ ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

तमुवाच तदा भीष्मो द्रोणो विदुर एव च।
क्षम्यतामिदमित्येवं सर्वं सम्भाव्यते त्वयि ॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तब भीष्म, द्रोण और विदुरने भीमसेनको शान्त करते हुए कहा—'भीम! क्षमा करो, तुम सब कुछ कर सकते हो' ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमवाक्ये सप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीमवाक्यविषयक सत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७० ॥

एकसप्ततितमोऽध्यायः

कर्ण और दुर्योधनके वचन, भीमसेनकी प्रतिज्ञा, विदुरकी चेतावनी और द्रौपदीको धृतराष्ट्रसे वरप्राप्ति

कर्ण उवाच

त्रयः किलेमे ह्यधना भवन्ति
दासः पुत्रश्चास्वतन्त्रा च नारी।
दासस्य पत्नी त्वधनस्य भद्रे
हीनेश्वरा दासधनं च सर्वम् ॥ १ ॥

कर्ण बोला—भद्रे द्रौपदी! दास, पुत्र और सदा पराधीन रहनेवाली स्त्री—ये तीनों धनके स्वामी नहीं होते। जिसका पति अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो गया है, ऐसी निर्धन दासकी पत्नी और दासका सारा धन—इन सबपर उस दासके स्वामीका ही अधिकार होता है ॥ १ ॥

प्रविश्य राज्ञः परिवारं भजस्व
तत् ते कार्यं शिष्टमादिश्यतेऽत्र।
ईशास्तु सर्वे तव राजपुत्रि
भवन्ति वै धार्तराष्ट्रा न पार्थाः॥ २ ॥

राजकुमारी! अतः अब तुम राजा दुर्योधनके परिवारमें जाकर सबकी सेवा करो। यही कार्य तुम्हारे लिये शेष बचा है, जिसके लिये तुम्हें यहाँ आदेश दिया जा रहा है। आजसे धृतराष्ट्रके समस्त पुत्र ही तुम्हारे स्वामी हैं, कुन्तीके पुत्र नहीं ॥

अन्यं वृणीष्व पतिमाशु भाविनि
यस्माद् दास्यं न लभसि देवनेन।
अवाच्या वै पतिषु कामवृत्ति-
र्नित्यं दास्ये विदितं तत् तवास्तु॥ ३ ॥

सुन्दरी! अब तुम शीघ्र ही दूसरा पति चुन लो, जिससे द्यूतक्रीडाके द्वारा तुम्हें फिर किसीकी दासी न बनना

पड़े। पतियोंके प्रति इच्छानुसार बर्ताव तुम-जैसी स्त्रीके लिये निन्दनीय नहीं है। दासीपनमें तो स्त्रीकी स्वेच्छाचारिता प्रसिद्ध है ही, अतः यह दास्यभाव ही तुम्हें प्राप्त हो ॥ ३ ॥

पराजितो नकुलो भीमसेनो
युधिष्ठिरः सहदेवार्जुनौ च।
दासीभूता त्वं हि वै याज्ञसेनि
पराजितास्ते पतयो नैव सन्ति ॥ ४ ॥

यज्ञसेनकुमारी ! नकुल हार गये, भीमसेन, युधिष्ठिर, सहदेव तथा अर्जुन भी पराजित होकर दास बन गये। अब तुम दासी हो चुकी हो। ये हारे हुए पाण्डव अब तुम्हारे पति नहीं हैं ॥ ४ ॥

प्रयोजनं जन्मनि किं न मन्यते
पराक्रमं पौरुषं चैव पार्थः।
पाञ्चाल्यस्य द्रुपदस्यात्मजामिमां
सभामध्ये यो व्यदेवीद् ग्लहेषु ॥ ५ ॥

क्या कुन्तीकुमार युधिष्ठिर इस जीवनमें पराक्रम और पुरुषार्थकी आवश्यकता नहीं समझते, जिन्होंने सभामें इस द्रुपदराजकुमारी कृष्णाको दाँवपर लगाकर जूएका खेल किया ? ॥ ५ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी
भृशं निशश्वास तदाऽऽर्तरूपः।
राजानुगो धर्मपाशानुबद्धो
दहन्निवैनं क्रोधसंरक्तदृष्टिः ॥ ६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! कर्णकी वह बात सुनकर अत्यन्त अमर्षमें भरे हुए भीमसेन बड़ी वेदनाका अनुभव करते हुए उस समय जोर-जोरसे उच्छ्वास लेने लगे। वे राजा युधिष्ठिरके अनुगामी होकर धर्मके पाशमें बँधे हुए थे। क्रोधसे उनके नेत्र रक्तवर्ण हो रहे थे। वे युधिष्ठिरको दग्ध करते हुए-से बोले ॥ ६ ॥

भीम उवाच

नाहं कुप्ये सूतपुत्रस्य राज-
न्नेष सत्यं दासधर्मः प्रविष्टः।
किं विद्विषो वै मामेवं व्याहरेयु-
र्नादेवीस्त्वं यद्यनया नरेन्द्र ॥ ७ ॥

भीमसेनने कहा—राजन् ! मुझे सूतपुत्र कर्णपर क्रोध नहीं आता। सचमुच ही दासधर्म वही है, जो उसने बताया है। महाराज ! यदि आप इस द्रौपदीको दाँवपर लगाकर जूआ न खेलते तो क्या ये शत्रु हमलोगोंसे ऐसी बातें कह सकते थे ? ॥

वैशम्पायन उवाच

भीमसेनवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा।
युधिष्ठिरमुवाचेदं तूष्णीम्भूतमचेतनम् ॥ ८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भीमसेनका यह कथन सुनकर उस समय राजा दुर्योधनने मौन एवं अचेतकी-सी दशामें बैठे हुए युधिष्ठिरसे इस प्रकार कहा—॥ ८ ॥

भीमार्जुनौ यमौ चैव स्थितौ ते नृप शासने।
प्रश्नं ब्रूहि च कृष्णां त्वमजितां यदि मन्यसे ॥ ९ ॥

'नरेश ! भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव आपकी आज्ञाके अधीन हैं। आप ही द्रौपदीके प्रश्नपर कुछ बोलिये। क्या आप कृष्णाको हारी हुई नहीं मानते हैं ?' ॥ ९ ॥

एवमुक्त्वा तु कौन्तेयमपोह्य वसनं स्वकम्।
स्मयन्नवेक्ष्य पाञ्चालीमैश्वर्यमदमोहितः ॥ १० ॥
कदलीस्तम्भसदृशं सर्वलक्षणसंयुतम्।
गजहस्तप्रतीकाशं वज्रप्रतिमगौरवम् ॥ ११ ॥
अभ्युत्स्मयित्वा राधेयं भीममाधर्षयन्निव।
द्रौपद्याः प्रेक्षमाणायाः सव्यमूरुमदर्शयत् ॥ १२ ॥

कुन्तीकुमार युधिष्ठिरसे ऐसा कहकर ऐश्वर्यमदसे मोहित हुए दुर्योधनने इशारेसे राधानन्दन कर्णको बढ़ावा देते और भीमसेनका तिरस्कार-सा करते हुए अपनी जाँघका वस्त्र हटाकर द्रौपदीकी ओर मुसकराते हुए देखा। उसने केलेके खंभेके समान मोटी, समस्त लक्षणोंसे सुशोभित, हाथीकी सूँड़के सदृश चढ़ाव-उतारवाली और वज्रके समान कठोर अपनी बायीं जाँघ द्रौपदीकी दृष्टिके सामने करके दिखायी ॥ १०—१२ ॥

भीमसेनस्तमालोक्य नेत्रे उत्फाल्य लोहिते।
प्रोवाच राजमध्ये तं सभां विश्रावयन्निव ॥ १३ ॥

उसे देखकर भीमसेनकी आँखें क्रोधसे लाल हो गयीं। वे आँखें फाड़-फाड़कर देखते और सारी सभाको सुनाते हुए-से राजाओंके बीचमें बोले—॥ १३ ॥

पितृभिः सह सालोक्यं मा स्म गच्छेद् वृकोदरः।
यद्येतमूरुं गदया न भिन्द्यां ते महाहवे ॥ १४ ॥

'दुर्योधन ! यदि महासमरमें तेरी इस जाँघको मैं अपनी गदासे न तोड़ डालूँ तो मुझ भीमसेनको अपने पूर्वजोंके साथ उन्हींके समान पुण्यलोकोंकी प्राप्ति न हो' ॥ १४ ॥

क्रुद्धस्य तस्य सर्वेभ्यः स्रोतोभ्यः पावकार्चिषः।
वृक्षस्येव विनिश्चेरुः कोटरेभ्यः प्रदह्यतः ॥ १५ ॥

उस समय क्रोधमें भरे हुए भीमसेनके रोम-रोमसे आगकी चिनगारियाँ निकल रही थीं; ठीक उसी तरह, जैसे जलते हुए वृक्षके कोटरोंसे आगकी लपटें निकलती दिखायी देती हैं ॥

विदुर उवाच

परं भयं पश्यत भीमसेनात्
तद् बुध्यध्वं धृतराष्ट्रस्य पुत्राः।
दैवेरितो नूनमयं पुरस्तात्
परोऽनयो भरतेषूदपादि ॥ १६ ॥

विदुरजीने कहा—धृतराष्ट्रके पुत्रो ! देखो, भीमसेनसे यह बड़ा भारी भय उपस्थित हो गया है । इसपर ध्यान दो । निश्चय ही प्रारब्धकी प्रेरणासे ही भरतवंशियोंके समक्ष यह महान् अन्याय उत्पन्न हुआ है ॥ १६ ॥

अतिद्यूतं कृतमिदं धार्तराष्ट्रा
यस्मात् स्त्रियं विवदध्वं सभायाम् ।
योगक्षेमौ नश्यतो वः समग्रौ
पापान् मन्त्रान् कुरवो मन्त्रयन्ति ॥ १७ ॥

धृतराष्ट्रके पुत्रो ! तुमलोगोंने मर्यादाका उल्लङ्घन करके यह जूएका खेल किया है । तभी तो तुम भरी सभामें स्त्रीको लाकर उसके लिये विवाद कर रहे हो । तुम्हारे योग और क्षेम दोनों पूर्णतया नष्ट हो रहे हैं । आज सब लोगोंको मालूम हो गया कि कौरव पापपूर्ण मन्त्रणा ही करते हैं ॥ १७ ॥

इमं धर्मं कुरवो जानताशु
ध्वस्ते धर्मे परिषत् सम्प्रदुष्येत् ।
इमां चेत् पूर्वं कितवोऽग्लहिष्य-
दीशोऽभविष्यदपराजितात्मा ॥ १८ ॥

कौरवो ! तुम धर्मकी इस महत्ताको शीघ्र ही समझ लो; क्योंकि धर्मका नाश होनेपर सारी सभाको दोष लगता है । यदि जूआ खेलनेवाले राजा युधिष्ठिर अपने शरीरको हारे बिना पहले ही इस द्रौपदीको दाँवपर लगाते तो वे ऐसा करनेके अधिकारी हो सकते थे ॥ १८ ॥

स्वप्ने यथैतद् विजितं धनं स्या-
देवं मन्ये यस्य दीव्यत्यनीशः ।
गान्धारराजस्य वचो निशम्य
धर्मादस्मात् कुरवो मापयात ॥ १९ ॥

(परंतु जब वे पहले अपनेको हारकर उसे दाँवपर लगानेका अधिकार ही खो बैठे थे, तब उसका मूल्य ही क्या रहा !) अनधिकारी पुरुष जिस धनको दाँवपर लगाता है, उसकी हार-जीत मैं वैसी ही मानता हूँ जैसे कोई स्वप्नमें किसी धनको हारता या जीतता है । कौरवो ! तुमलोग गान्धारराज शकुनिकी बात सुनकर अपने धर्मसे भ्रष्ट न होओ ॥ १९ ॥

दुर्योधन उवाच

भीमस्य वाक्ये तद्वदेवार्जुनस्य
स्थितोऽहं वै यमयोश्चैवमेव ।
युधिष्ठिरं ते प्रवदन्त्वनीश-
मथो दास्यान्मोक्ष्यसे याज्ञसेनि ॥ २० ॥

दुर्योधन बोला—द्रौपदी ! मैं भीम, अर्जुन एवं नकुल-सहदेवकी बात माननेके लिये तैयार हूँ । ये सब लोग कह दें कि युधिष्ठिरको तुम्हें हारनेका कोई अधिकार नहीं था, फिर तुम दासीपनसे मुक्त कर दी जाओगी ॥ २० ॥

अर्जुन उवाच

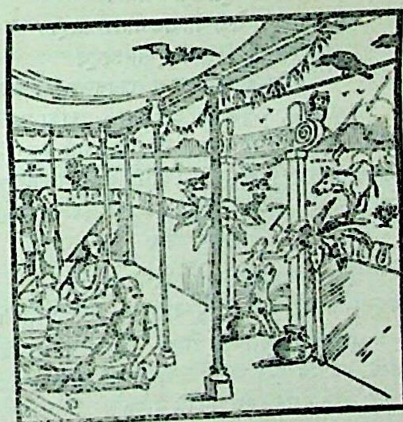
ईशो राजा पूर्वमासीद् ग्लहे नः
कुन्तीसुतो धर्मराजो महात्मा ।
ईशस्त्वयं कस्य पराजितात्मा
तज्जानीध्वं कुरवः सर्व एव ॥ २१ ॥

अर्जुनने कहा—कुन्तीनन्दन महात्मा धर्मराज राजा युधिष्ठिर पहले तो हमें दाँवपर लगानेके अधिकारी थे ही, किंतु जब वे अपने शरीरको ही हार गये, तब किसके स्वामी रहे ! इस बातपर सब कौरव विचार करें ॥ २१ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो राज्ञो धृतराष्ट्रस्य गेहे
गोमायुरुच्चैर्व्याहरदग्निहोत्रे ।
तं रासभाः प्रत्यभाषन्त राजन्
समन्ततः पक्षिणश्चैव रौद्राः ॥ २२ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तत्पश्चात् राजा धृतराष्ट्रकी अग्निशालाके भीतर एक गीदड़ आकर ज़ोर-ज़ोरसे



हुँआ-हुँआ करने लगा । उस शब्दको लक्ष्य करके सब ओर गदहे रेंकने लगे तथा गृध्र आदि भयंकर पक्षी भी चारों ओर अशुभसूचक कोलाहल करने लगे ॥ २२ ॥

तं वै शब्दं विदुरस्तत्त्ववेदी
शुश्राव घोरं सुबलात्मजा च ।
भीष्मो द्रोणो गौतमश्चापि विद्वान्
स्वस्ति स्वस्तीत्यपि चैवाहुरुच्चैः ॥ २३ ॥

तत्त्वज्ञानी विदुर तथा सुबलपुत्री गान्धारीने भी उस भयानक शब्दको सुना । भीष्म, द्रोण और गौतमवंशीय विद्वान् कृपाचार्यके

कानोंमें भी वह अमङ्गलकारी शब्द सुन पड़ा। फिर तो वे सभी लोग उच्च स्वरसे 'स्वस्ति' 'स्वस्ति' ऐसा कहने लगे ॥ २३॥

ततो गान्धारी विदुरश्चापि विद्वां-
स्तमुत्पातं घोरमालक्ष्य राज्ञे।
निवेदयामासतुरार्तवत् तदा
ततो राजा वाक्यमिदं बभाषे ॥ २४ ॥

तदनन्तर गान्धारी और विद्वान् विदुरने उस उत्पातसूचक भयंकर शब्दको लक्ष्य करके अत्यन्त दुखी हो राजा धृतराष्ट्रसे उसके विषयमें निवेदन किया, तब राजाने इस प्रकार कहा॥२४॥

धृतराष्ट्र उवाच

हतोऽसि दुर्योधन मन्दबुद्धे
यस्त्वं सभायां कुरुपुङ्गवानाम्।
स्त्रियं समाभाषसि दुर्विनीत
विशेषतो द्रौपदीं धर्मपत्नीम् ॥ २५ ॥

धृतराष्ट्र बोले—रे मन्दबुद्धि दुर्योधन! तू तो जीता ही मारा गया। दुर्विनीत! तू श्रेष्ठ कुरुवंशियोंकी सभामें अपने ही कुलकी महिला एवं विशेषतः पाण्डवोंकी धर्मपत्नीको ले आकर उससे पापपूर्ण बातें कर रहा है ॥ २५ ॥

एवमुक्त्वा धृतराष्ट्रो मनीषी
हितान्वेषी बान्धवानामपायात्।
कृष्णां पाञ्चालीमब्रवीत् सान्त्वपूर्वं
विमृश्यैतत् प्रज्ञया तत्त्वबुद्धिः ॥ २६ ॥

ऐसा कहकर बन्धु-बान्धवोंको विनाशसे बचाकर उनके हितकी इच्छा रखनेवाले तत्त्वदर्शी एवं मेधावी राजा धृतराष्ट्रने अपनी बुद्धिसे इस दुःखद प्रसंगपर विचार करके पाञ्चालराजकुमारी कृष्णाको सान्त्वना देते हुए इस प्रकार कहा—॥ २६ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

वरं वृणीष्व पाञ्चालि मत्तो यदभिवाञ्छसि।
वधूनां हि विशिष्टा मे त्वं धर्मपरमा सती ॥ २७ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—बहू द्रौपदी! तुम मेरी पुत्रवधुओंमें सबसे श्रेष्ठ एवं धर्मपरायणा सती हो। तुम्हारी जो इच्छा हो, उसके अनुसार मुझसे वर माँग लो ॥ २७ ॥

द्रौपद्युवाच

ददासि चेद् वरं मह्यं वृणोमि भरतर्षभ।
सर्वधर्मानुगः श्रीमानदासोऽस्तु युधिष्ठिरः ॥ २८ ॥
मनस्विनमजानन्तो मैवं ब्रूयुः कुमारकाः।
एष वै दासपुत्रो हि प्रतिविन्ध्यं ममात्मजम् ॥ २९ ॥

द्रौपदी बोली—भरतवंशशिरोमणे! यदि आप मुझे वर देते हैं तो मैं यही माँगती हूँ कि सम्पूर्ण धर्मका आचरण करनेवाले राजा युधिष्ठिर दासभावसे मुक्त हो जायँ। जिससे मेरे मनस्वी पुत्र प्रतिविन्ध्यको अज्ञानवश दूसरे राजकुमार ऐसा न कह सकें कि यह 'दासपुत्र' है ॥ २८-२९ ॥

राजपुत्रः पुरा भूत्वा यथा नान्यः पुमान् क्वचित्।
राजभिर्लालितस्यास्य न युक्ता दासपुत्रता ॥ ३० ॥

जैसे पहले राजकुमार होकर फिर कोई मनुष्य कभी दासपुत्र नहीं हुआ है, उसी प्रकार राजाओंके द्वारा जिसका लालन-पालन हुआ है, उस मेरे पुत्र प्रतिविन्ध्यका दासपुत्र होना कदापि उचित नहीं है ॥ ३० ॥

धृतराष्ट्र उवाच

एवं भवतु कल्याणि यथा त्वमभिभाषसे।
द्वितीयं ते वरं भद्रे ददानि वरयस्व ह।
मनो हि मे वितरति नैकं त्वं वरमर्हसि ॥ ३१ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—कल्याणि! तुम जैसा कहती हो, वैसे ही हो। भद्रे! अब मैं तुम्हें दूसरा वर देता हूँ, वह भी माँग लो। मेरा मन मुझे वर देनेके लिये प्रेरित कर रहा है कि तुम एक ही वर पानेके योग्य नहीं हो ॥ ३१ ॥

द्रौपद्युवाच

सरथौ सधनुष्कौ च भीमसेनधनंजयौ।
यमौ च वरये राजन्नदासान् स्ववशानहम् ॥ ३२ ॥

द्रौपदी बोली—राजन्! मैं दूसरा वर यह माँगती हूँ कि भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव अपने रथ और धनुष-बाणसहित दासभावसे रहित एवं स्वतन्त्र हो जायँ ॥ ३२ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तथास्तु ते महाभागे यथा त्वं नन्दिनीच्छसि।
तृतीयं वरयास्मत्तो नासि द्वाभ्यां सुसत्कृता।
त्वं हि सर्वस्नुषाणां मे श्रेयसी धर्मचारिणी ॥ ३३ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—महाभागे! तुम अपने कुलको आनन्द प्रदान करनेवाली हो। तुम जैसा चाहती हो, वैसा ही हो। अब तुम तीसरा वर और माँगो। तुम मेरी सब पुत्रवधुओंमें श्रेष्ठ एवं धर्मका पालन करनेवाली हो। मैं समझता हूँ, केवल दो वरोंसे तुम्हारा पूरा सत्कार नहीं हुआ ॥ ३३ ॥

द्रौपद्युवाच

लोभो धर्मस्य नाशाय भगवन् नाहमुत्सहे।
अनर्हा वरमादातुं तृतीयं राजसत्तम ॥ ३४ ॥

द्रौपदी बोली—भगवन्! लोभ धर्मका नाशक होता है, अतः अब मेरे मनमें वर माँगनेका उत्साह नहीं है। राजशिरोमणे! तीसरा वर लेनेका मुझे अधिकार भी नहीं है॥ ३४॥

एकमाहुर्वैश्यवरं द्वौ तु क्षत्रस्त्रिया वरौ।
त्रयस्तु राज्ञो राजेन्द्र ब्राह्मणस्य शतं वराः ॥ ३५ ॥

राजेन्द्र! वैश्यको एक वर माँगनेका अधिकार बताया गया है, क्षत्रियकी स्त्री दो वर माँग सकती है, क्षत्रियको तीन

र तथा ब्राह्मणको सौ वर लेनेका अधिकार है ॥ ३५ ॥

पापीयांस इमे भूत्वा संतीर्णाः पतयो मम।
वेत्स्यन्ति चैव भद्राणि राजन् पुण्येन कर्मणा ॥ ३६ ॥

राजन्! ये मेरे पति दासभावको प्राप्त होकर भारी विपत्तिमें फँस गये थे। अब उससे पार हो गये। इसके बाद पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानद्वारा ये लोग स्वयं कल्याण प्राप्त कर लेंगे ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि द्रौपदीवरलाभे एकसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७१ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें द्रौपदीवरलाभविषयक इकहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७१ ॥

द्विसप्ततितमोऽध्यायः

शत्रुओंको मारनेके लिये उद्यत हुए भीमको युधिष्ठिरका शान्त करना

कर्ण उवाच

या नः श्रुता मनुष्येषु स्त्रियो रूपेण सम्मताः।
तासामेतादृशं कर्म न कस्याश्चन शुश्रुम ॥ १ ॥

कर्ण बोला—मैंने मनुष्योंमें जिन सुन्दरी स्त्रियोंके नाम सुने हैं, उनमेंसे किसीने भी ऐसा अद्भुत कार्य किया हो, यह मेरे सुननेमें नहीं आया ॥ १ ॥

क्रोधाविष्टेषु पार्थेषु धार्तराष्ट्रेषु चाप्यति।
द्रौपदी पाण्डुपुत्राणां कृष्णा शान्तिरिहाभवत् ॥ २ ॥

कुन्तीके पुत्र तथा धृतराष्ट्रके पुत्र सभी एक-दूसरेके प्रति अत्यन्त क्रोधसे भरे हुए थे, ऐसे समयमें यह द्रुपदकुमारी कृष्णा इन पाण्डवोंको परम शान्ति देनेवाली बन गयी ॥ २ ॥

अप्लवेऽम्भसि मग्नानामप्रतिष्ठे निमज्जताम्।
पाञ्चाली पाण्डुपुत्राणां नौरेषा पारगाभवत् ॥ ३ ॥

पाण्डवलोग नौका और आधारसे रहित जलमें गोते खा रहे थे अर्थात् संकटके अथाह सागरमें डूब रहे थे, किंतु यह पाञ्चालराजकुमारी इनके लिये पार लगानेवाली नौका बन गयी ॥ ३ ॥

वैशम्पायन उवाच

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनः कुरुमध्येऽत्यमर्षणः।
स्त्रीगतिः पाण्डुपुत्राणामित्युवाच सुदुर्मनाः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! कौरवोंके बीचमें कर्णकी वह बात सुनकर अत्यन्त असहनशील भीमसेन मन-ही-मन बहुत दुखी होकर बोले—'हाय! पाण्डवोंको उबारनेवाली एक स्त्री हुई' ॥ ४ ॥

भीम उवाच

त्रीणि ज्योतींषि पुरुष इति वै देवलोऽब्रवीत्।
अपत्यं कर्म विद्या च यतः सृष्टाः प्रजास्ततः ॥ ५ ॥

भीमसेनने कहा—महर्षि देवलका कथन है कि पुरुषमें तीन प्रकारकी ज्योतियाँ हैं—संतान, कर्म और ज्ञान; क्योंकि इन्हींसे सारी प्रजाकी सृष्टि हुई ॥ ५ ॥

अमेध्ये वै गतप्राणे शून्ये ज्ञातिभिरुज्झिते।
देहे त्रितयमेवैतत् पुरुषस्योपयुज्यते ॥ ६ ॥

जब यह शरीर प्राणरहित होकर शून्य एवं अपवित्र हो जाता है तथा समस्त बन्धु-बान्धव उसे त्याग देते हैं तब ये ही ज्ञान आदि तीनों ज्योतियाँ (परलोकगत) पुरुषके उपयोगमें आती हैं ॥ ६ ॥

तन्नो ज्योतिरभिहतं दाराणामभिमर्शनात्।
धनंजय कथंस्वित् स्यादपत्यमभिमृष्टजम् ॥ ७ ॥

धनंजय! हमारी धर्मपत्नी द्रौपदीके शरीरका बलपूर्वक स्पर्श करके दुःशासनने उसे अपवित्र कर दिया है, इससे हमारी संतानरूप ज्योति नष्ट हो गयी। जो पराये पुरुषसे छू गयी, उस स्त्रीसे उत्पन्न संतान किस कामकी होगी? ॥ ७ ॥

अर्जुन उवाच

न चैवोक्ता न चानुक्ता हीनतः परुषा गिरः।
भारत प्रतिजल्पन्ति सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ८ ॥

अर्जुन बोले—भारत! (द्रौपदी सती है। उसके विषयमें आप ऐसी बात न कहें। दुःशासनने अवश्य नीचता की है, किंतु) श्रेष्ठ पुरुष नीच पुरुषोंद्वारा कही या न कही गयी कड़वी बातोंका कभी उत्तर नहीं देते ॥ ८ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्धसम्भावनाः स्वयम् ॥ ९ ॥

प्रतिशोधका उपाय जानते हुए भी सत्पुरुष दूसरोंके उपकारोंको ही याद रखते हैं, उनके द्वारा किये हुए वैरको नहीं। उन साधु पुरुषोंको स्वयं सबसे सम्मान प्राप्त होता रहता है ॥ ९ ॥

भीम उवाच

इहैवैतांस्त्वहं सर्वान् हन्मि शत्रून् समागतान्।
अथ निष्क्रम्य राजेन्द्र समूलान् हन्मि भारत ॥ १० ॥

भीमसेनने (राजा युधिष्ठिरसे) कहा—भरतवंशी राजराजेश्वर! (यदि आपकी आज्ञा हो, तो) यहाँ आये हुए इन सब शत्रुओंको मैं यहीं समाप्त कर दूँ। और यहाँसे

बाहर निकलकर इनके मूलका भी नाश कर डालूँ ॥ १० ॥

किं नो विवदितेनेह किमुक्तेन च भारत।
अद्यैवैतान् निहन्मीह प्रशाधि पृथिवीमिमाम् ॥ ११ ॥

भारत! अब यहाँ विवाद या उत्तर-प्रत्युत्तर करनेकी हमें क्या आवश्यकता है? मैं आज ही इन सबको यमलोक भेज देता हूँ, आप इस सारी पृथ्वीका शासन कीजिये ॥ ११ ॥

इत्युक्त्वा भीमसेनस्तु कनिष्ठैर्भ्रातृभिः सह।
मृगमध्ये यथा सिंहो मुहुर्मुहुरुदैक्षत ॥ १२ ॥

अपने छोटे भाइयोंके साथ खड़े हुए भीमसेन उपर्युक्त बात कहकर शत्रुओंकी ओर बार-बार देखने लगे; मानो सिंह मृगोंके समूहमें खड़ा हो उन्हींकी ओर देख रहा हो ॥१२॥

सान्त्व्यमानो वीक्षमाणः पार्थेनाक्लिष्टकर्मणा।
खिद्यत्येव महाबाहुरन्तर्दाहेन वीर्यवान् ॥ १३ ॥

अनायास ही महान् पराक्रम कर दिखानेवाले अर्जुन शत्रुओंकी ओर देखनेवाले भीमसेनको बार-बार शान्त कर रहे थे, परंतु पराक्रमी महाबाहु भीमसेन अपने भीतर धधकती हुई क्रोधाग्निसे जल रहे थे ॥ १३ ॥

क्रुद्धस्य तस्य स्रोतोभ्यः कर्णादिभ्यो नराधिप।
सधूमः सस्फुलिङ्गार्चिः पावकः समजायत ॥ १४ ॥

राजन्! उस समय क्रोधमें भरे हुए भीमसेनकी श्रवणादि इन्द्रियोंके छिद्रों तथा रोमकूपोंसे धूम और चिनगारियोंसहित आगकी लपटें निकल रही थीं ॥ १४ ॥

भ्रुकुटीकृतदुष्प्रेक्ष्यमभवत् तस्य तन्मुखम्।
युगान्तकाले सम्प्राप्ते कृतान्तस्येव रूपिणः ॥ १५ ॥

भौंहें तनी होनेके कारण प्रलयकालमें मूर्तिमान् यमराजकी भाँति उनके भयानक मुखकी ओर देखना भी कठिन हो रहा था ॥ १५ ॥

युधिष्ठिरस्तमावार्य बाहुना बाहुशालिनम्।
मैवमित्यब्रवीच्चैनं जोषमास्स्वेति भारत ॥ १६ ॥

भारत! तब विशाल भुजाओंसे सुशोभित होनेवाले भीमसेनको अपने एक हाथसे रोकते हुए युधिष्ठिरने कहा— 'ऐसा न करो, शान्तिपूर्वक बैठ जाओ' ॥ १६ ॥

निवार्य च महाबाहुं कोपसंरक्तलोचनम्।
पितरं समुपातिष्ठद् धृतराष्ट्रं कृताञ्जलिः ॥ १७ ॥

उस समय महाबाहु भीमके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे। उन्हें रोककर राजा युधिष्ठिर हाथ जोड़े हुए अपने ताऊ महाराज धृतराष्ट्रके पास गये ॥ १७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि भीमक्रोधे द्विसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७२ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें भीमसेनका क्रोधविषयक बहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७२ ॥

त्रिसप्ततितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रका युधिष्ठिरको सारा धन लौटाकर एवं समझा-बुझाकर इन्द्रप्रस्थ जानेका आदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

राजन् किं करवामस्ते प्रशाध्यस्मांस्त्वमीश्वरः।
नित्यं हि स्थातुमिच्छामस्तव भारत शासने ॥ १ ॥

युधिष्ठिर बोले—राजन्! आप हमारे स्वामी हैं। आज्ञा दीजिये, हम क्या करें। भारत! हमलोग सदा आपकी आज्ञाके अधीन रहना चाहते हैं ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अजातशत्रो भद्रं ते अरिष्टं स्वस्ति गच्छत।
अनुज्ञाताः सहधनाः स्वराज्यमनुशासत ॥ २ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—अजातशत्रो! तुम्हारा कल्याण हो। तुम मेरी आज्ञासे हारे हुए धनके साथ बिना किसी विघ्न-बाधाके कुशलपूर्वक अपनी राजधानीको जाओ और अपने राज्यका शासन करो ॥ २ ॥

इदं चैवावबोद्धव्यं वृद्धस्य मम शासनम्।
मया निगदितं सर्वं पथ्यं निःश्रेयसं परम् ॥ ३ ॥

मुझ वृद्धकी यही आज्ञा है। एक बात और है, उसपर भी ध्यान देना। मेरी कही हुई सारी बातें तुम्हारे हित और परम मङ्गलके लिये होंगी ॥ ३ ॥

वेत्थ त्वं तात धर्माणां गतिं सूक्ष्मां युधिष्ठिर।
विनीतोऽसि महाप्राज्ञ वृद्धानां पर्युपासिता ॥ ४ ॥

तात युधिष्ठिर! तुम धर्मकी सूक्ष्म गतिको जानते हो। महामते! तुममें विनय है। तुमने बड़े-बूढ़ोंकी उपासना की है ॥ ४ ॥

यतो बुद्धिस्ततः शान्तिः प्रशमं गच्छ भारत।
नादारुणि पतेच्छस्त्रं दारुण्येतन्निपात्यते ॥ ५ ॥

जहाँ बुद्धि है, वहीं शान्ति है। भारत! तुम शान्त हो जाओ। (जो कुछ हुआ है, उसे भूल जाओ।) पत्थर या लोहेपर कुल्हाड़ी नहीं पड़ती। लोग उसे लकड़ीपर ही चलाते हैं ॥ ५ ॥

न वैराण्यभिजानन्ति गुणान् पश्यन्ति नागुणान्।
विरोधं नाधिगच्छन्ति ये त उत्तमपूरुषाः ॥ ६ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि।
सन्तः परार्थं कुर्वाणा नावेक्षन्ते प्रतिक्रियाम् ॥ ७ ॥

जो पुरुष वैरको याद नहीं रखते, गुणोंको ही देखते हैं, अवगुणोंको नहीं तथा किसीसे विरोध नहीं रखते, वे ही उत्तम पुरुष कहे गये हैं। साधु पुरुष दूसरोंके सत्कर्मों (उपकारादि) को ही याद रखते हैं, उनके किये हुए वैरको नहीं। वे दूसरोंकी भलाई तो करते हैं; परंतु उनसे बदला लेनेकी भावना नहीं रखते ॥ ६-७ ॥

संवादे परुषाण्याहुर्युधिष्ठिर नराधमाः।
प्रत्याहुर्मध्यमास्त्वेतेऽनुक्ताः परुषमुत्तरम् ॥ ८ ॥
न चोक्ता नैव चानुक्तास्त्वहिताः परुषा गिरः।
प्रतिजल्पन्ति वै धीराः सदा तूत्तमपूरुषाः ॥ ९ ॥

युधिष्ठिर! नीच मनुष्य साधारण बातचीतमें भी कटुवचन बोलने लगते हैं। जो स्वयं पहले कटु वचन न कहकर प्रत्युत्तरमें कठोर बातें कहते हैं, वे मध्यम श्रेणीके पुरुष हैं। परंतु जो धीर एवं श्रेष्ठ पुरुष हैं, वे किसीके कटुवचन बोलने या न बोलनेपर भी अपने मुखसे कभी कठोर एवं अहितकर बात नहीं निकालते ॥ ८-९ ॥

स्मरन्ति सुकृतान्येव न वैराणि कृतान्यपि।
सन्तः प्रतिविजानन्तो लब्ध्वा प्रत्ययमात्मनः ॥ १० ॥

महात्मा पुरुष अपने अनुभवको सामने रखकर दूसरोंके सुख-दुःखको भी अपने समान जानते हुए उनके अच्छे बर्तावोंको ही याद रखते हैं, उनके द्वारा किये हुए वैर-विरोधको नहीं ॥ १० ॥

असम्भिन्नार्यमर्यादाः साधवः प्रियदर्शनाः।
तथा चरितमार्येण त्वयास्मिन् सत्समागमे ॥ ११ ॥

सत्पुरुष आर्यमर्यादाको कभी भङ्ग नहीं करते। उनके दर्शनसे सभी लोग प्रसन्न हो जाते हैं। युधिष्ठिर! कौरव-पाण्डवोंके समागममें तुमने श्रेष्ठ पुरुषोंके समान ही आचरण किया है ॥ ११ ॥

दुर्योधनस्य पारुष्यं तत् तात हृदि मा कृथाः।
मातरं चैव गान्धारीं मां च त्वं गुणकाङ्क्षया ॥ १२ ॥
उपस्थितं वृद्धमन्धं पितरं पश्य भारत।

तात! दुर्योधनने जो कठोर बर्ताव किया है, उसे तुम अपने हृदयमें मत लाना। भारत! तुम तो उत्तम गुण ग्रहण करनेकी इच्छासे अपनी माता गान्धारी तथा यहाँ बैठे हुए मुझ अंधे बूढ़े ताऊकी ओर देखो ॥ १२½ ॥

प्रेक्षापूर्वं मया द्यूतमिदमासीदुपेक्षितम् ॥ १३ ॥
मित्राणि द्रष्टुकामेन पुत्राणां च बलाबलम्।
अशोच्याः कुरवो राजन् येषां त्वमनुशासिता ॥ १४ ॥
मन्त्री च विदुरो धीमान् सर्वशास्त्रविशारदः।

मैंने सोच-समझकर भी इस जूएकी इसलिये उपेक्षा कर दी—उसे रोकनेकी चेष्टा नहीं की कि मैं मित्रों और सुहृदोंसे मिलना चाहता था और अपने पुत्रोंके बलाबलको देखना चाहता था। राजन्! जिनके तुम शासक हो और सब शास्त्रोंमें निपुण परम बुद्धिमान् विदुर जिनके मन्त्री हैं, वे कुरुवंशी कदापि शोकके योग्य नहीं हैं ॥ १३-१४½ ॥

त्वयि धर्मोऽर्जुने धैर्यं भीमसेने पराक्रमः ॥ १५ ॥
श्रद्धा च गुरुशुश्रूषा यमयोः पुरुषाग्र्ययोः।
अजातशत्रो भद्रं ते खाण्डवप्रस्थमाविश।
भ्रातृभिस्तेऽस्तु सौभ्रात्रं धर्मे ते धीयतां मनः ॥ १६ ॥

तुममें धर्म है, अर्जुनमें धैर्य है, भीमसेनमें पराक्रम है और नरश्रेष्ठ नकुल-सहदेवमें श्रद्धा एवं विशुद्ध गुरुसेवाका भाव है। अजातशत्रो! तुम्हारा भला हो। अब तुम खाण्डवप्रस्थको जाओ। दुर्योधन आदि बन्धुओंके प्रति तुम्हें अच्छे भाईका-सा स्नेहभाव रहे और तुम्हारा मन सदा धर्ममें लगा रहे ॥ १५-१६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तो भरतश्रेष्ठ धर्मराजो युधिष्ठिरः।
कृत्वाऽऽर्यसमयं सर्वं प्रतस्थे भ्रातृभिः सह ॥ १७ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—भरतश्रेष्ठ! राजा धृतराष्ट्रके इस प्रकार कहनेपर धर्मराज युधिष्ठिर पूज्यवर धृतराष्ट्रके आदेशको स्वीकार करके भाइयोंके सहित वहाँसे विदा हो गये ॥ १७ ॥

ते रथान् मेघसंकाशानास्थाय सह कृष्णया।
प्रययुर्हृष्टमनस इन्द्रप्रस्थं पुरोत्तमम् ॥ १८ ॥

वे मेघके समान शब्द करनेवाले रथोंपर द्रौपदीके साथ बैठकर प्रसन्न मनसे नगरोंमें उत्तम इन्द्रप्रस्थको चल दिये ॥ १८ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि द्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रवरप्रदानपूर्वकमिन्द्रप्रस्थं प्रति युधिष्ठिरगमने त्रिसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७३ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत द्यूतपर्वमें धृतराष्ट्रवरदानपूर्वक युधिष्ठिरका इन्द्रप्रस्थगमनविषयक तिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७३ ॥

(अनुद्यूतपर्व)

चतुःसप्ततितमोऽध्यायः

दुर्योधनका धृतराष्ट्रसे अर्जुनकी वीरता बतलाकर पुनः द्यूतक्रीडाके लिये पाण्डवोंको बुलानेका अनुरोध और उनकी स्वीकृति

जनमेजय उवाच

अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा सरत्नधनसंचयान्।
पाण्डवान् धार्तराष्ट्राणां कथमासीन्मनस्तदा ॥ १ ॥

जनमेजयने पूछा—ब्रह्मन्! जब कौरवोंको यह मालूम हुआ कि पाण्डवोंको रथ और धनके संग्रहसहित खाण्डवप्रस्थ जानेकी आज्ञा मिल गयी, तब उनके मनकी अवस्था कैसी हुई? ॥ १ ॥

वैशम्पायन उवाच

अनुज्ञातांस्तान् विदित्वा धृतराष्ट्रेण धीमता।
राजन् दुःशासनः क्षिप्रं जगाम भ्रातरं प्रति ॥ २ ॥
दुर्योधनं समासाद्य सामात्यं भरतर्षभ।
दुःखार्तो भरतश्रेष्ठमिदं वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

वैशम्पायनजीने कहा—भरतकुलभूषण जनमेजय! परम बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको जानेकी आज्ञा दे दी, यह जानकर दुःशासन शीघ्र ही अपने भाई भरतश्रेष्ठ दुर्योधनके पास,जो अपने मन्त्रियों(कर्ण एवं शकुनि)के साथ बैठा था, गया और दुःखसे पीडित होकर इस प्रकार बोला ॥२-३॥

दुःशासन उवाच

दुःखेनैतत् समानीतं स्थविरो नाशयत्यसौ।
शत्रुसाद् गमयद् द्रव्यं तद् बुध्यध्वं महारथाः ॥ ४ ॥

दुःशासनने कहा—महारथियो! आपलोगोंको यह मालूम होना चाहिये कि हमने बड़े दुःखसे जिस धनराशिको प्राप्त किया था, उसे हमारा बूढ़ा बाप नष्ट कर रहा है। उसने सारा धन शत्रुओंके अधीन कर दिया ॥ ४ ॥

अथ दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः।
मिथः संगम्य सहिताः पाण्डवान् प्रति मानिनः ॥ ५ ॥
वैचित्रवीर्यं राजानं धृतराष्ट्रं मनीषिणम्।
अभिगम्य त्वरायुक्ताः श्लक्ष्णं वचनमब्रुवन् ॥ ६ ॥

यह सुनकर दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनि, जो बड़े ही अभिमानी थे, पाण्डवोंसे बदला लेनेके लिये परस्पर मिलकर सलाह करने लगे। फिर उन सबने बड़ी उतावलीके साथ विचित्रवीर्यनन्दन मनीषी राजा धृतराष्ट्रके पास जाकर मधुरवाणीमें कहा ॥ ५-६ ॥

दुर्योधन उवाच

अर्जुनेन समो वीर्ये नास्ति लोके धनुर्धरः।
योऽर्जुनेनार्जुनस्तुल्यो द्विबाहुर्बहुबाहुना ॥

दुर्योधन बोला—पिताजी! संसारमें अर्जुनके समान पराक्रमी धनुर्धर दूसरा कोई नहीं है। ये दो बाहुवाले अर्जुन सहस्र भुजाओंवाले कार्तवीर्य अर्जुनके समान शक्तिशाली हैं ॥

शृणु राजन् पुराचिन्त्यानर्जुनस्य च साहसान्।
अर्जुनो धन्विनां श्रेष्ठो दुष्कृतं कृतवान् पुरा ॥
द्रुपदस्य पुरे राजन् द्रौपद्याश्च स्वयंवरे।

महाराज! अर्जुनने पहले जो-जो अचिन्त्य साहसपूर्ण कार्य किये हैं, उनका वर्णन करता हूँ, सुनिये। राजन्! पहले राजा द्रुपदके नगरमें द्रौपदीके स्वयंवरके समय धनुर्धरोंमें श्रेष्ठ अर्जुनने वह पराक्रम कर दिखाया था, जो दूसरोंके लिये अत्यन्त कठिन है ॥

स दृष्ट्वा पार्थिवान् सर्वान् क्रुद्धान् पार्थो महाबलः॥
वारयित्वा शरैस्तीक्ष्णैरजयत् तत्र स स्वयम्।
जित्वा तु तान् महीपालान् सर्वान् कर्णपुरोगमान्॥
लेभे कृष्णां शुभां पार्थो युद्ध्वा वीर्यबलात् तदा।
सर्वक्षत्रसमूहेषु अम्बां भीष्मो यथा पुरा ॥

उस समय महाबली अर्जुनने सब राजाओंको कुपित देख तीखे बाणोंके प्रहारसे उन्हें जहाँके तहाँ रोक दिया और स्वयं ही सबपर विजय पायी। कर्ण आदि सभी राजाओंको अपने बल और पराक्रमसे युद्धमें जीतकर कुन्तीकुमार अर्जुनने उस समय शुभलक्षणा द्रौपदीको प्राप्त किया; ठीक वैसे ही, जैसे पूर्वकालमें भीष्मजीने सम्पूर्ण क्षत्रियसमुदायमें अपने बल-पराक्रमसे काशिराजकी कन्या अम्बा आदिको प्राप्त किया था ॥

ततः कदाचिद् बीभत्सुस्तीर्थयात्रां ययौ स्वयम्।
अथोलूपीं शुभां जातां नागराजसुतां तदा ॥
नागेष्ववाप चाग्र्येषु प्रार्थितोऽथ यथातथम्।
ततो गोदावरीं वेण्णां कावेरीं चावगाहत।

तदनन्तर अर्जुन किसी समय स्वयं तीर्थयात्राके लिये गये। उस यात्रामें ही उन्होंने नागलोकमें पहुँचकर परम सुन्दरी नागराजकन्या उलूपीको उसके प्रार्थना करनेपर विधिपूर्वक पत्नीरूपमें ग्रहण किया। फिर क्रमशः अन्य तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए दक्षिण दिशामें जाकर गोदावरी, वेण्णा तथा कावेरी आदि नदियोंमें स्नान किया ॥

स दक्षिणं समुद्रान्तं गत्वा चाप्सरसां च वै।
कुमारीतीर्थमासाद्य मोक्षयामास चार्जुनः॥
ग्राहरूपान्विताः पञ्च अतिशौर्येण वै बलात्॥

दक्षिणसमुद्रके तटपर कुमारीतीर्थमें पहुँचकर अर्जुनने अत्यन्त शौर्यका परिचय देते हुए ग्राहरूपधारिणी पाँच अप्सराओंका बलपूर्वक उद्धार किया॥

कन्यातीर्थं समभ्येत्य ततो द्वारवतीं ययौ॥
तत्र कृष्णनिदेशात् स सुभद्रां प्राप्य फाल्गुनः।
तामारोप्य रथोपस्थे प्रययौ स्वपुरीं प्रति॥

तत्पश्चात् कन्याकुमारीतीर्थकी यात्रा करके वे दक्षिणसे लौट आये और अनेक तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए द्वारकापुरी जा पहुँचे। वहाँ भगवान् श्रीकृष्णके आदेशसे अर्जुनने सुभद्राको लेकर रथपर बिठा लिया और अपनी नगरी इन्द्रप्रस्थकी ओर प्रस्थान किया॥

भूयः शृणु महाराज फाल्गुनस्य तु साहसम्।
ददौ च वह्नेर्बीभत्सुः प्रार्थितं खाण्डवं वनम्॥
लब्धमात्रे तु तेनाथ भगवान् हव्यवाहनः।
भक्षितुं खाण्डवं राजंस्ततः समुपचक्रमे॥

महाराज! अर्जुनके साहसका और भी वर्णन सुनिये; उन्होंने अग्निदेवको उनके माँगनेपर खाण्डववन समर्पित किया था। राजन्! उनके द्वारा उपलब्ध होते ही भगवान् अग्निदेवने उस वनको अपना आहार बनाना आरम्भ किया॥

ततस्तं भक्षयन्तं वै सव्यसाची विभावसुम्।
रथी धन्वी शरान् गृह्य स कलापयुतः प्रभुः॥
पालयामास राजेन्द्र स्ववीर्येण महाबलः॥

राजेन्द्र! जब अग्निदेव खाण्डववनको जलाने लगे, उस समय (अग्निदेवसे) रथ, धनुष, बाण और कवच आदि लेकर महान् बल तथा प्रभावसे युक्त सव्यसाची अर्जुन अपने पराक्रमसे उसकी रक्षा करने लगे॥

ततः श्रुत्वा महेन्द्रस्तं मेघांस्तान् संदिदेश ह।
तेनोक्ता मेघसङ्घास्ते ववर्षुरतिवृष्टिभिः॥

खाण्डववनके दाहका समाचार सुनकर देवराज इन्द्रने मेघोंको आग बुझानेकी आज्ञा दी। उनकी प्रेरणासे मेघोंने बड़ी भारी वर्षा प्रारम्भ की॥

ततो मेघगणान् पार्थः शरव्रातैः समन्ततः।
खगमैर्वारयामास तदाश्चर्यमिवाभवत्॥

यह देखकर अर्जुनने आकाशगामी बाणसमूहोंद्वारा सब ओरसे बादलोंको रोक दिया। यह एक अद्भुत-सी घटना हुई॥

वारितान् मेघसङ्घांश्च श्रुत्वा क्रुद्धः पुरंदरः।
पाण्डरं गजमास्थाय सर्वदेवगणैर्वृतः॥
ययौ पार्थेन संयोद्धुं रक्षार्थं खाण्डवस्य च॥

मेघोंको रोका गया सुनकर इन्द्रदेव कुपित हो उठे। श्वेत वर्णवाले ऐरावत हाथीपर आरूढ हो वे समस्त देवताओंके साथ खाण्डववनकी रक्षाके निमित्त अर्जुनसे युद्ध करनेके लिये गये॥

रुद्राश्च मरुतश्चैव वसवश्चाश्विनौ तदा।
आदित्याश्चैव साध्याश्च विश्वेदेवाश्च भारत॥
गन्धर्वाश्चैव सहिता अन्ये सुरगणाश्च ये।
ते सर्वे शस्त्रसम्पन्ना दीप्यमानाः स्वतेजसा।
धनंजयं जिघांसन्तः प्रपेतुर्विबुधाधिपाः॥

भारत! उस समय रुद्र, मरुद्गण, वसु, अश्विनीकुमार, आदित्य, साध्यगण, विश्वेदेव, गन्धर्व तथा अन्य देवगण अपने-अपने तेजसे देदीप्यमान एवं अस्त्र-शस्त्रोंसे सम्पन्न हो युद्धके लिये गये। वे सभी देवेश्वर अर्जुनको मार डालनेकी इच्छासे उनपर टूट पड़े॥

ततो देवगणाः सर्वे युद्ध्वा पार्थेन वै मुहुः।
रणे जेतुमशक्यं तं ज्ञात्वा ते भरतर्षभ॥
शान्तास्ते विबुधाः सर्वे पार्थबाणाभिपीडिताः।

भरतश्रेष्ठ! कुन्तीकुमार अर्जुनके साथ बारंबार युद्ध करके जब देवताओंने यह समझ लिया कि इन्हें समराङ्गणमें पराजित करना असम्भव है, तब वे अर्जुनके बाणोंसे अत्यन्त पीड़ित होनेके कारण युद्धसे विरत हो गये (भाग खड़े हुए)

युगान्ते यानि दृश्यन्ते निमित्तानि महान्त्यपि।
सर्वाणि तत्र दृश्यन्ते सुघोराणि महीपते॥

महाराज ! प्रलयकालमें जो विनाशसूचक अत्यन्त भयंकर अपशकुन दिखायी देते हैं, वे सभी उस समय प्रत्यक्ष दीखने लगे ॥

ततो देवगणाः सर्वे पार्थं समभिदुद्रुवुः ।
असम्भ्रान्तस्तु तान् दृष्ट्वा स तां देवमयीं चमूम् ।
त्वरितः फाल्गुनो गृह्य तीक्ष्णांस्तानाशुगांस्तदा॥
शक्रं देवांश्च सम्प्रेक्ष्य तस्थौ काल इवात्यये ॥

तदनन्तर सब देवताओंने एक साथ अर्जुनपर धावा किया; परंतु उस देवसेनाको देखकर अर्जुनके मनमें घबराहट नहीं हुई । वे तुरंत ही तीखे बाण हाथमें लेकर इन्द्र और देवताओंकी ओर देखते हुए प्रलयकालमें सर्वसंहारक कालकी भाँति अविचलभावसे खड़े हो गये ॥

ततो देवगणाः सर्वे बीभत्सुं सपुरंदराः ।
अवाकिरञ्छरव्रातैर्मानुषं तं महीपते ॥

राजन् ! अर्जुनको मानव समझकर इन्द्रसहित सब देवता उनपर बाणसमूहोंकी बौछार करने लगे ॥

ततः पार्थो महातेजा गाण्डीवं गृह्य सत्वरः ॥
वारयामास देवानां शरव्रातैः शरांस्तदा ।

परंतु महातेजस्वी पार्थने शीघ्रतापूर्वक गाण्डीव धनुष लेकर अपने बाणसमूहोंकी वर्षासे देवताओंके बाणोंको रोक दिया ॥

पुनः क्रुद्धाः सुराः सर्वे मर्त्यं संख्ये महाबलाः ॥
नानाशस्त्रैर्ववर्षुस्तं सव्यसाचिं महीपते ॥

पिताजी ! यह देख समस्त महाबली देवता पुनः कुपित हो गये और उस युद्धमें मरणधर्मा अर्जुनपर नाना प्रकारके अस्त्र-शस्त्रोंकी बौछार करने लगे ॥

तान् पार्थः शस्त्रवर्षान् वै विसृष्टान् विबुधैस्तदा।
द्विधा त्रिधा च चिच्छेद स एव निशितैः शरैः ॥

अर्जुनने अपने तीखे बाणोंद्वारा देवताओंके छोड़े हुए उन अस्त्र-शस्त्रोंके आकाशमें ही दो-दो, तीन-तीन टुकड़े कर दिये ॥

पुनश्च पार्थः संक्रुद्धो मण्डलीकृतकार्मुकः ।
देवसङ्घाञ्छरैस्तीक्ष्णैरार्पयद् वै समन्ततः ॥

फिर अधिक क्रोधमें भरकर अर्जुनने अपने धनुषको इस प्रकार खींचा कि वह मण्डलाकार दिखायी देने लगा और उसके द्वारा सब ओर तीखे सायकोंकी वृष्टि करके सब देवताओंको घायल कर दिया ॥

विद्रुतान् देवसङ्घांस्तान् रणे दृष्ट्वा पुरंदरः ।
ततः क्रुद्धो महातेजाः पार्थं बाणैरवाकिरत् ॥

देवताओंको युद्धसे भागा हुआ देख महातेजस्वी इन्द्रने अत्यन्त कुपित हो पार्थपर बाणोंकी झड़ी लगा दी ॥

पार्थोऽपि शक्रं विव्याध मानुषो विबुधाधिपम् ॥
ततः सोऽश्ममयं वर्षं व्यसृजद् विबुधाधिपः ।
तच्छरैरर्जुनो वर्षं प्रतिजघ्नेऽत्यमर्षणः ॥
अथ संवर्धयामास तद् वर्षं देवराडपि ।
भूय एव तदा वीर्यं जिज्ञासुः सव्यसाचिनः ॥

पार्थने मनुष्य होकर भी देवताओंके स्वामी इन्द्रको अपने सायकोंसे बींध डाला । तब देवेश्वरने अर्जुनपर पत्थरोंकी वर्षा आरम्भ की । यह देख अर्जुन अत्यन्त अमर्षमें भर गये और अपने बाणोंद्वारा उन्होंने इन्द्रकी उस पाषाण-वर्षाका निवारण कर दिया । तदनन्तर देवराज इन्द्रने सव्यसाची अर्जुनके पराक्रमकी परीक्षा लेनेके लिये पुनः उस पाषाणवर्षाको पहलेसे भी अधिक बढ़ा दिया ॥

सोऽश्मवर्षं महावेगमिषुभिः पाण्डवोऽपि च ।
विलयं गमयामास हर्षयन् पाकशासनम् ॥

यह देख पाण्डुनन्दन अर्जुनने इन्द्रका हर्ष बढ़ाते हुए उस अत्यन्त वेगशालिनी पाषाणवर्षाको अपने बाणोंसे विलीन कर दिया ॥

उपादाय तु पाणिभ्यामङ्गदं नाम पर्वतम् ।
सद्रुमं व्यसृजच्छक्रो जिघांसुः श्वेतवाहनम् ॥
ततोऽर्जुनो वेगवद्भिर्ज्वलमानैरजिह्मगैः ।
बाणैर्विध्वंसयामास गिरिराजं सहस्रशः ॥
शक्रं च वारयामास शरैः पार्थो बलाद् युधि ।

तब इन्द्रने श्वेतवाहन अर्जुनको कुचल डालनेकी इच्छासे वृक्षोंसहित अंगद नामक पर्वत (जो मन्दराचलका एक शिखर है) को दोनों हाथोंसे उठाकर उनके ऊपर छोड़ दिया । यह देख अर्जुनने अग्निके समान प्रज्वलित और सीधे लक्ष्यतक पहुँचनेवाले सहस्रों वेगशाली बाणोंद्वारा उस पर्वतराजको खण्ड-खण्ड कर दिया । साथ ही पार्थने उस युद्धमें बलपूर्वक बाण मारकर इन्द्रको स्तब्ध कर दिया ॥

ततः शक्रो महाराज रणे वीरं धनंजयम् ॥
ज्ञात्वा जेतुमशक्यं तं तेजोबलसमन्वितम् ॥
परां प्रीतिं ययौ तत्र पुत्रशौर्येण वासवः ।

महाराज ! तदनन्तर तेज और बलसे सम्पन्न वीर धनंजयको युद्धमें जीतना असम्भव जानकर इन्द्रको अपने पुत्रके पराक्रमसे वहाँ बड़ी प्रसन्नता प्राप्त हुई ॥

तदा तत्र न तस्यासीद् दिवि कश्चिन्महायशाः ॥
समर्थो निर्जये राजन्नपि साक्षात् प्रजापतिः ॥

राजन् ! उस समय वहाँ स्वर्गका कोई भी महायशस्वी वीर, चाहे साक्षात् प्रजापति ही क्यों न हों, ऐसा नहीं था, जो अर्जुनको जीतनेमें समर्थ हो सके ।

ततः पार्थः शरैर्हत्वा यक्षराक्षसपन्नगान् ।
दीप्ते चाग्नौ महातेजाः पातयामास संततम् ॥
प्रतिप्रेक्षयितुं पार्थं न शेकुस्तत्र केचन ।
दृष्ट्वा निवारितं शक्रं दिवि देवगणैः सह ॥

तदनन्तर महातेजस्वी अर्जुन अपने बाणोंसे यक्ष, राक्षस और नागोंको मारकर उन्हें लगातार प्रज्वलित अग्निमें गिराने लगे । स्वर्गवासी देवताओंसहित इन्द्रको अर्जुनने युद्धसे विरत कर दिया, यह देख उस समय कोई भी उनकी ओर दृष्टिपात नहीं कर पाते थे ॥

यथा सुपर्णः सोमार्थं विबुधानजयत् पुरा ।
तथा जित्वा सुरान् पार्थस्तर्पयामास पावकम्॥
ततोऽर्जुनः स्ववीर्येण तर्पयित्वा विभावसुम् ।
रथं ध्वजं हयांश्चैव दिव्यास्त्राणि सभां च वै ॥
गाण्डीवं च धनुःश्रेष्ठं तूणी चाक्षयसायकौ ।
एतान्यवाप बीभत्सुर्लेभे कीर्तिं च भारत ॥

भारत ! जैसे पूर्वकालमें गरुड़ने अमृत के लिये देवताओंको जीत लिया था, उसी प्रकार कुन्तीपुत्र अर्जुनने भी देवताओंको जीतकर खाण्डववनके द्वारा अग्निदेवको तृप्त किया । इस प्रकार पार्थने अपने पराक्रमसे अग्निदेवको तृप्त करके उनसे रथ, ध्वजा, अश्व, दिव्यास्त्र, उत्तम धनुष गाण्डीव तथा अक्षय बाणोंसे भरे हुए दो तूणीर प्राप्त किये । इनके सिवा अनुपम यश और मयासुरसे एक सभाभवन भी उन्हें प्राप्त हुआ ॥

भूयोऽपि शृणु राजेन्द्र पार्थो गत्वोत्तरां दिशम्।
विजित्य नववर्षांश्च सपुरांश्च सपर्वतान् ॥
जम्बूद्वीपं वशे कृत्वा सर्वं तद् भरतर्षभ ।
बलाज्जित्वा नृपान् सर्वान् करे च विनिवेश्य च॥
रत्नान्यादाय सर्वाणि गत्वा चैव पुनः पुरीम् ।
ततो ज्येष्ठं महात्मानं धर्मराजं युधिष्ठिरम् ॥
राजसूयं क्रतुश्रेष्ठं कारयामास भारत ॥

राजेन्द्र ! अर्जुनके पराक्रमकी कथा अभी और सुनिये । उन्होंने उत्तर दिशामें जाकर नगरों और पर्वतोंसहित जम्बूद्वीपके नौ वर्षोंपर विजय पायी । भरतश्रेष्ठ ! उन्होंने समस्त जम्बूद्वीपको वशमें करके सब राजाओंको बलपूर्वक जीत लिया और सबपर कर लगाकर उनसे सब प्रकारके रत्नोंकी भेंट ले वे पुनः अपनी पुरीको लौट आये । भारत ! तदनन्तर अर्जुनने अपने बड़े भाई महात्मा धर्मराज युधिष्ठिरसे क्रतुश्रेष्ठ राजसूयका अनुष्ठान करवाया ॥

स तान्यन्यानि कर्माणि कृतवानर्जुनः पुरा ।
अर्जुनेन समो वीर्ये नास्ति लोके पुमान् क्वचित्॥

पिताजी ! इस प्रकार अर्जुनने पूर्वकालमें ये तथा और भी बहुत-से पराक्रम कर दिखाये हैं । संसारमें कहीं कोई ऐसा पुरुष नहीं है, जो बल और पराक्रममें अर्जुनकी समानता कर सके ॥

देवदानवयक्षाश्च पिशाचोरगराक्षसाः ।
भीष्मद्रोणादयः सर्वे कुरवश्च महारथाः ॥
लोके सर्वनृपाश्चैव वीराश्चान्ये धनुर्धराः ।
एते चान्ये च बहवः परिवार्य महीपते ॥
एकं पार्थं रणे यत्ताः प्रतियोद्धुं न शक्नुयुः ॥

देवता, दानव, यक्ष, पिशाच, नाग, राक्षस एवं भीष्म, द्रोण आदि समस्त कौरव महारथी, भूमण्डलके सम्पूर्ण नरेश तथा अन्य धनुर्धर वीर—ये तथा अन्य बहुत-से शूरवीर युद्धभूमिमें अकेले अर्जुनको चारों ओरसे घेरकर पूरी सावधानीके साथ खड़े हो जायँ, तो भी उनका सामना नहीं कर सकते ॥

अहं हि नित्यं कौरव्य फाल्गुनं प्रति सत्तमम् ।
अनिशं चिन्तयित्वा तं समुद्विग्नोऽस्मि तद्भयात्॥

कुरुश्रेष्ठ ! मैं साधुशिरोमणि अर्जुनके विषयमें निरन्तर चिन्तन करते हुए उनके भयसे अत्यन्त उद्विग्न हो जाता हूँ ॥

गृहे गृहे च पश्यामि तात पार्थमहं सदा ।
शरगाण्डीवसंयुक्तं पाशहस्तमिवान्तकम् ॥
अपि पार्थसहस्राणि भीतः पश्यामि भारत ।
पार्थभूतमिदं सर्वं नगरं प्रतिभाति मे ॥

पिताजी ! मुझे प्रत्येक घरमें सदा हाथमें पाश लिये यमराजकी भाँति गाण्डीव धनुषपर बाण चढ़ाये अर्जुन दिखायी देते हैं । भारत ! मैं इतना डर गया हूँ कि मुझे सहस्रों अर्जुन दृष्टिगोचर होते हैं । यह सारा नगर मुझे अर्जुनरूप ही प्रतीत होता है ॥

पार्थमेव हि पश्यामि रहिते तात भारत ।
दृष्ट्वा स्वप्नगतं पार्थमुद्भ्रमामि ह्यचेतनः ॥

भारत ! मैं एकान्तमें अर्जुनको ही देखता हूँ । स्वप्नमें भी अर्जुनको देखकर मैं अचेत और उद्भ्रान्त हो उठता हूँ ॥

अकारादीनि नामानि अर्जुनत्रस्तचेतसः ।
अश्वाश्चार्था ह्यजाश्चैव त्रासं संजनयन्ति मे ॥

मेरा हृदय अर्जुनसे इतना भयभीत हो गया है कि अश्व, अर्थ और अज आदि अकारादि नाम मेरे मनमें त्रास उत्पन्न कर देते हैं ॥

नास्ति पार्थादृते तात परवीराद् भयं मम ।
प्रह्लादं वा बलिं वापि हन्याद्धि विजयो रणे ॥
तस्मात् तेन महाराज युद्धमसज्जनक्षयम् ।
अहं तस्य प्रभावज्ञो नित्यं दुःखं वहामि च ॥

तात ! अर्जुनके सिवा शत्रुपक्षके दूसरे किसी वीरसे मुझे डर

नहीं लगता है। महाराज! मेरा विश्वास है कि अर्जुन युद्धमें प्रह्लाद अथवा बलिको भी मार सकते हैं; अतः उनके साथ किया हुआ युद्ध हमारे सैनिकोंके ही संहारका कारण होगा। मैं अर्जुनके प्रभावको जानता हूँ। इसीलिये सदा दुःखके भारसे दबा रहता हूँ॥

पुरा हि दण्डकारण्ये मारीचस्य यथा भयम्।
भवेद् रामे महावीर्ये तथा पार्थे भयं मम॥

जैसे पूर्वकालमें दण्डकारण्यवासी महापराक्रमी श्रीरामचन्द्रजीसे मारीचको भय हो गया था, उसी प्रकार अर्जुनसे मुझे भय हो रहा है॥

धृतराष्ट्र उवाच

जानाम्येव महद् वीर्यं जिष्णोरेतद् दुरासदम्।
तात वीरस्य पार्थस्य मा कार्षीस्त्वं तु विप्रियम्॥
द्यूतं वा शस्त्रयुद्धं वा दुर्वाक्यं वा कदाचन।
एतेष्वेवं कृते तस्य विग्रहश्चैव वो भवेत्॥
तस्मात् त्वं पुत्र पार्थेन नित्यं स्नेहेन वर्तय॥
यश्च पार्थेन सम्बन्धाद् वर्तते च नरो भुवि।
तस्य नास्ति भयं किंचित् त्रिषु लोकेषु भारत॥
तस्मात् त्वं जिष्णुना वत्स नित्यं स्नेहेन वर्तय॥

धृतराष्ट्र बोले—बेटा! अर्जुनके महान् पराक्रमको तो मैं जानता ही हूँ। उनके इस पराक्रमका सामना करना अत्यन्त कठिन है। अतः तुम वीर अर्जुनका कोई अपराध न करो। उनके साथ द्यूतक्रीड़ा, शस्त्रयुद्ध अथवा कटु वचनका प्रयोग कभी न करो; क्योंकि इन्हींके कारण उनका तुमलोगोंके साथ विवाद हो सकता है। अतः बेटा! तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो। भारत! जो मनुष्य इस पृथ्वीपर अर्जुनके साथ प्रेमपूर्ण सम्बन्ध रखते हुए उनसे सद्व्यवहार करता है, उसे तीनों लोकोंमें तनिक भी भय नहीं है; अतः वत्स! तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो॥

दुर्योधन उवाच

द्यूते पार्थस्य कौरव्य मायया निकृतिः कृता।
तस्माद्धि तं जहि सदा त्वन्योपायेन नो भवेत्॥

दुर्योधन बोला—कुरुश्रेष्ठ! जूएमें हमलोगोंने अर्जुनके प्रति छल-कपटका बर्ताव किया था, अतः आप किसी दूसरे उपायसे उन्हें मार डालें। इसीसे हमलोगोंका सदा भला होगा॥

धृतराष्ट्र उवाच

उपायश्च न कर्तव्यः पाण्डवान् प्रति भारत।
पार्थान् प्रति पुरा वत्स बहूपायाः कृतास्त्वया॥
तानुपायान् हि कौन्तेया बहुशो व्यतिचक्रमुः॥
तस्माद्धितं जीविताय नः कुलस्य जनस्य च।
त्वं चिकीर्षसि चेद् वत्स समित्रः सहबान्धवः।
सभ्रातृकस्त्वं पार्थेन नित्यं स्नेहेन वर्तय॥

धृतराष्ट्रने कहा—भारत! पाण्डवोंके प्रति किसी अनुचित उपायका प्रयोग नहीं करना चाहिये। बेटा! तुमने उन सबको मारनेके लिये पहले बहुत-से उपाय किये हैं। कुन्तीके पुत्र तुम्हारे उन सभी प्रयत्नोंका उल्लंघन करके बहुत बार आगे बढ़ गये हैं; अतः वत्स! यदि तुम अपने कुल और आत्मीयजनोंकी जीवनरक्षाके लिये किसी हितकर उपायका अवलम्बन करना चाहते हो तो मित्र, बन्धु-बान्धव तथा भाइयोंसहित तुम अर्जुनके साथ सदा स्नेहपूर्ण बर्ताव करो॥

वैशम्पायन उवाच

धृतराष्ट्रवचः श्रुत्वा राजा दुर्योधनस्तदा।
चिन्तयित्वा मुहूर्तं तु विधिना चोदितोऽब्रवीत्॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—धृतराष्ट्रकी यह बात सुनकर राजा दुर्योधन दो घड़ीतक कुछ सोच-विचार करके विधातासे प्रेरित हो इस प्रकार बोला॥

दुर्योधन उवाच

न त्वयेदं श्रुतं राजन् यज्जगाद बृहस्पतिः।
शक्रस्य नीतिं प्रवदन् विद्वान् देवपुरोहितः॥ ७॥

दुर्योधन बोला—राजन्! देवगुरु विद्वान् बृहस्पतिजीने इन्द्रको नीतिका उपदेश करते हुए जो बात कही है, उसे शायद आपने नहीं सुना है॥ ७॥

सर्वोपायैर्निहन्तव्याः शत्रवः शत्रुसूदन।
पुरा युद्धाद् बलाद् वापि प्रकुर्वन्ति तवाहितम्॥ ८॥

शत्रुसूदन! जो आपका अहित करते हैं, उन शत्रुओंको बिना युद्धके अथवा युद्ध करके—सभी उपायोंसे मार डालना चाहिये॥ ८॥

ते वयं पाण्डवधनैः सर्वान् सम्पूज्य पार्थिवान्।
यदि तान् योधयिष्यामः किं वै नः परिहास्यति॥ ९॥

महाराज! यदि हम पाण्डवोंके धनसे सब राजाओंका सत्कार करके उन्हें साथ ले पाण्डवोंसे युद्ध करें, तो हमारा क्या बिगड़ जायगा?॥ ९॥

अहीनाशीविषान् क्रुद्धान् नाशाय समुपस्थितान्।
कृत्वा कण्ठे च पृष्ठे च कः समुत्स्रष्टुमर्हति॥ १०॥

क्रोधमें भरकर काटनेके लिये उद्यत हुए विषधर सर्पोंको अपने गलेमें लटकाकर अथवा पीठपर चढ़ाकर कौन मनुष्य उन्हें उसी अवस्थामें छोड़ सकता है?॥ १०॥

आत्तशस्त्रा रथगताः कुपितास्तात पाण्डवाः।
निःशेषं वः करिष्यन्ति क्रुद्धा ह्याशीविषा इव॥ ११॥

तात! अस्त्र-शस्त्रोंको लेकर रथमें बैठे हुए पाण्डव कुपित होकर क्रुद्ध विषधर सर्पोंकी भाँति आपके कुलका संहार कर डालेंगे॥ ११॥

संनद्धो ह्यर्जुनो याति विधूत्य परमेषुधी।
गाण्डीवं मुहुरादत्ते निःश्वसंश्च निरीक्षते ॥१२॥
गदां गुर्वीं समुद्यम्य त्वरितश्च वृकोदरः।
स्वरथं योजयित्वाऽऽशु निर्यात इति नः श्रुतम् ॥१३॥

हमने सुना है, अर्जुन कवच धारण करके दो उत्तम तूणीर पीठपर लटकाये हुए जाते हैं। वे बार-बार गाण्डीव धनुप हाथमें लेते हैं और लम्बी साँसें खींचकर इधर-उधर देखते हैं। इसी प्रकार भीमसेन शीघ्र ही अपना रथ जोतकर भारी गदा उठाये बड़ी उतावलीके साथ यहाँसे निकलकर गये हैं ॥ १२-१३ ॥

नकुलः खड्गमादाय चर्म चाप्यर्धचन्द्रवत्।
सहदेवश्च राजा च चक्रुराकारमिङ्गितैः ॥१४॥

नकुल अर्धचन्द्रविभूपित ढाल एवं तलवार लेकर जा रहे हैं। सहदेव तथा राजा युधिष्ठिरने भी विभिन्न चेष्टाओं-द्वारा यह व्यक्त कर दिया है कि वे लोग क्या करना चाहते हैं ?॥

ते त्वास्थाय रथान् सर्वे बहुशस्त्रपरिच्छदान्।
अभिघ्नन्तो रथव्रातान् सेनायोगाय निर्ययुः ॥१५॥

वे सब लोग अनेक शस्त्र आदि सामग्रियोंसे सम्पन्न रथोंपर बैठकर शत्रुपक्षके रथियोंका संहार करनेके उद्देश्यसे सेना एकत्र करनेके लिये गये हैं ॥ १५ ॥

न क्षंस्यन्ते तथास्माभिर्जातु विप्रकृता हि ते।
द्रौपद्याश्च परिक्लेशं कस्तेषां क्षन्तुमर्हति ॥१६॥

हमने उनका तिरस्कार किया है, अतः वे इसके लिये हमें कभी क्षमा न करेंगे। द्रौपदीको जो कष्ट दिया गया है, उसे उनमेंसे कौन चुपचाप सह लेगा ! ॥ १६ ॥

पुनर्दीव्याम भद्रं ते वनवासाय पाण्डवैः।
एवमेतान् वशे कर्तुं शक्ष्यामः पुरुषर्षभ ॥१७॥

पुरुषश्रेष्ठ! आपका भला हो, हम चाहते हैं कि वनवासकी शर्त रखकर पाण्डवोंके साथ फिर एक बार जूआ खेलें। इस प्रकार इन्हें हम अपने वशमें कर सकेंगे ॥ १७ ॥

ते वा द्वादश वर्षाणि वयं वा द्यूतनिर्जिताः।
प्रविशेम महारण्यमजिनैः प्रतिवासिताः ॥१८॥

जूएमें हार जानेपर वे या हम मृगचर्म धारण करके महान् वनमें प्रवेश करें और बारह वर्षतक वनमें ही निवास करें ॥ १८ ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥१९॥
निवसेम वयं ते वा तथा द्यूतं प्रवर्तताम्।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥२०॥

तेरहवें वर्षमें लोगोंकी जानकारीसे दूर किसी नगरमें रहें। यदि तेरहवें वर्ष किसीकी जानकारीमें आ जायँ तो फिर दुबारा बारह वर्षतक वनवास करें। हम हारें तो हम ऐसा करें और उनकी हार हो तो वे। इसी शर्तपर फिर जूएका खेल आरम्भ हो। पाण्डव पासे फेंककर जूआ खेलें ॥१९-२०॥

एतत् कृत्यतमं राजन्नस्माकं भरतर्षभ।
अयं हि शकुनिर्वेद सविद्यामक्षसम्पदम् ॥२१॥

भरतकुलभूपण महाराज ! यही हमारा सबसे महान् कार्य है। ये शकुनि मामा विद्यासहित पासे फेंकनेकी कलाको अच्छी तरह जानते हैं ॥ २१ ॥

दृढमूला वयं राज्ये मित्राणि परिगृह्य च।
सारवद् विपुलं सैन्यं सत्कृत्य च दुरासदम् ॥२२॥

(हमारी विजय होनेपर) हमलोग बहुत-से मित्रोंका संग्रह करके बलशाली, दुर्धर्ष एवं विशाल सेनाका पुरस्कार आदिके द्वारा सत्कार करते हुए इस राज्यपर अपनी जड़ जमा लेंगे ॥ २२ ॥

ते च त्रयोदशं वर्षं पारयिष्यन्ति चेद् व्रतम्।
जेष्यामस्तान् वयं राजन् रोचतां ते परंतप ॥२३॥

यदि वे तेरहवें वर्षके अज्ञातवासकी प्रतिज्ञा पूर्ण कर लेंगे तो हम उन्हें युद्धमें परास्त कर देंगे। शत्रुओंको संताप देने-वाले नरेश ! आप हमारे इस प्रस्तावको पसंद करें ॥ २३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तूर्णं प्रत्यानयस्वैतान् कामं व्यध्वगतानपि।
आगच्छन्तु पुनर्द्यूतमिदं कुर्वन्तु पाण्डवाः ॥२४॥

धृतराष्ट्रने कहा—बेटा ! पाण्डवलोग दूर चले गये हों तो भी तुम्हारी इच्छा हो, तो उन्हें तुरंत बुला लो। समस्त पाण्डव यहाँ आयें और इस नये दाँवपर फिर जूआ खेलें ॥ २४ ॥

वैशम्पायन उवाच

ततो द्रोणः सोमदत्तो बाह्लीकश्चैव गौतमः।
विदुरो द्रोणपुत्रश्च वैश्यापुत्रश्च वीर्यवान् ॥२५॥
भूरिश्रवाः शान्तनवो विकर्णश्च महारथः।
मा द्यूतमित्यभाषन्त शमोऽस्त्विति च सर्वशः ॥२६॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! तब द्रोणाचार्य, सोमदत्त, बाह्लीक, कृपाचार्य, विदुर, अश्वत्थामा, पराक्रमी युयुत्सु, भूरिश्रवा, पितामह भीष्म तथा महारथी विकर्ण सबने एक स्वरसे इस निर्णयका विरोध करते हुए कहा—'अब जूआ नहीं होना चाहिये, तभी सर्वत्र शान्ति बनी रह सकती है'॥२५-२६॥

अकामानां च सर्वेषां सुहृदामर्थदर्शिनाम्।
अकरोत् पाण्डवाह्वानं धृतराष्ट्रः सुतप्रियः ॥२७॥

भावी अर्थको देखने और समझनेवाले सुहृद् अपनी अनिच्छा प्रकट करते ही रह गये; किंतु दुर्योधनादि पुत्रोंके प्रेममें आकर धृतराष्ट्रने पाण्डवोंको बुलानेका आदेश दे ही दिया ॥ २७ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरप्रत्यानयने चतुःसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७४ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरप्रत्यानयनविषयक चौहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७४ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ६७½ श्लोक मिलाकर कुल ९४½ श्लोक हैं)

पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः

गान्धारीकी धृतराष्ट्रको चेतावनी और धृतराष्ट्रका अस्वीकार करना

वैशम्पायन उवाच

अथाब्रवीन्महाराज धृतराष्ट्रं जनेश्वरम्।
पुत्रहार्दाद् धर्मयुक्ता गान्धारी शोककर्षिता ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! उस समय भावी अनिष्टकी आशङ्कासे धर्मपरायणा गान्धारी पुत्रस्नेहवश शोकसे कातर हो उठी और राजा धृतराष्ट्रसे इस प्रकार बोली—॥

जाते दुर्योधने क्षत्ता महामतिरभाषत।
नीयतां परलोकाय साध्वयं कुलपांसनः ॥ २ ॥

'आर्यपुत्र ! दुर्योधनके जन्म लेनेपर परम बुद्धिमान् विदुरजीने कहा था—यह बालक अपने कुलका नाश करनेवाला होगा; अतः इसे त्याग देना चाहिये ॥ २ ॥

व्यनदज्जातमात्रो हि गोमायुरिव भारत।
अन्तो नूनं कुलस्यास्य कुरवस्तन्निबोधत ॥ ३ ॥

'भारत ! इसने जन्म लेते ही गीदड़की भाँति 'हुँआ-हुँआ' का शब्द किया था; अतः यह अवश्य ही इस कुलका अन्त करनेवाला होगा। कौरवो ! आपलोग भी इस बातको अच्छी तरह समझ लें ॥ ३ ॥

मा निमज्जीः स्वदोषेण महाप्सु त्वं हि भारत।
मा बालानामशिष्टानामभिमंस्था मतिं प्रभो ॥ ४ ॥

'भरतकुलतिलक ! आप अपने ही दोषसे इस कुलको विपत्तिके महासागरमें न डुबाइये। प्रभो ! इन उद्दण्ड बालकोंकी हाँमें हाँ न मिलाइये ॥ ४ ॥

मा कुलस्य क्षये घोरे कारणं त्वं भविष्यसि।
बद्धं सेतुं को नु भिन्द्याद् धमेच्छान्तं च पावकम् ॥ ५ ॥
शमे स्थितान् को नु पार्थान् कोपयेद् भरतर्षभ।
स्मरन्तं त्वामाजमीढ स्मारयिष्याम्यहं पुनः ॥ ६ ॥

'इस कुलके भयंकर विनाशमें स्वयं ही कारण न बनिये। भरतश्रेष्ठ ! बँधे हुए पुलको कौन तोड़ेगा ? बुझी हुई वैरकी आगको फिर कौन भड़कायेगा ? कुन्तीके शान्तिपरायण पुत्रोंको फिर कुपित करनेका साहस कौन करेगा ? अजमीढ-कुलके रत्न ! आप सब कुछ जानते और याद रखते हैं, तो भी मैं पुनः आपको स्मरण दिलाती रहूँगी ॥ ५-६ ॥

शास्त्रं न शास्ति दुर्बुद्धिं श्रेयसे चेतराय च।
न वै वृद्धो बालमतिर्भवेद् राजन् कथंचन ॥ ७ ॥

राजन् ! जिसकी बुद्धि खोटी है, उसे शास्त्र भी भला-बुरा कुछ नहीं सिखा सकता। मन्दबुद्धि बालक वृद्धों-जैसा विवेकशील किसी प्रकार नहीं हो सकता ॥ ७ ॥

त्वन्नेत्राः सन्तु ते पुत्रा मा त्वां दीर्णाः प्रहासिषुः।
तस्मादयं मद्वचनात् त्यज्यतां कुलपांसनः ॥ ८ ॥

'आपके पुत्र आपके ही नियन्त्रणमें रहें, ऐसी चेष्टा कीजिये। ऐसा न हो कि वे सभी मर्यादाका त्याग करके प्राणोंसे हाथ धो बैठें और आपको इस बुढ़ापेमें छोड़कर चल बसें। इसलिये आप मेरी बात मानकर इस कुलाङ्गार दुर्योधनको त्याग दें ॥ ८ ॥

तथा ते न कृतं राजन् पुत्रस्नेहान्नराधिप।
तस्य प्राप्तं फलं विद्धि कुलान्तकरणाय यत् ॥ ९ ॥

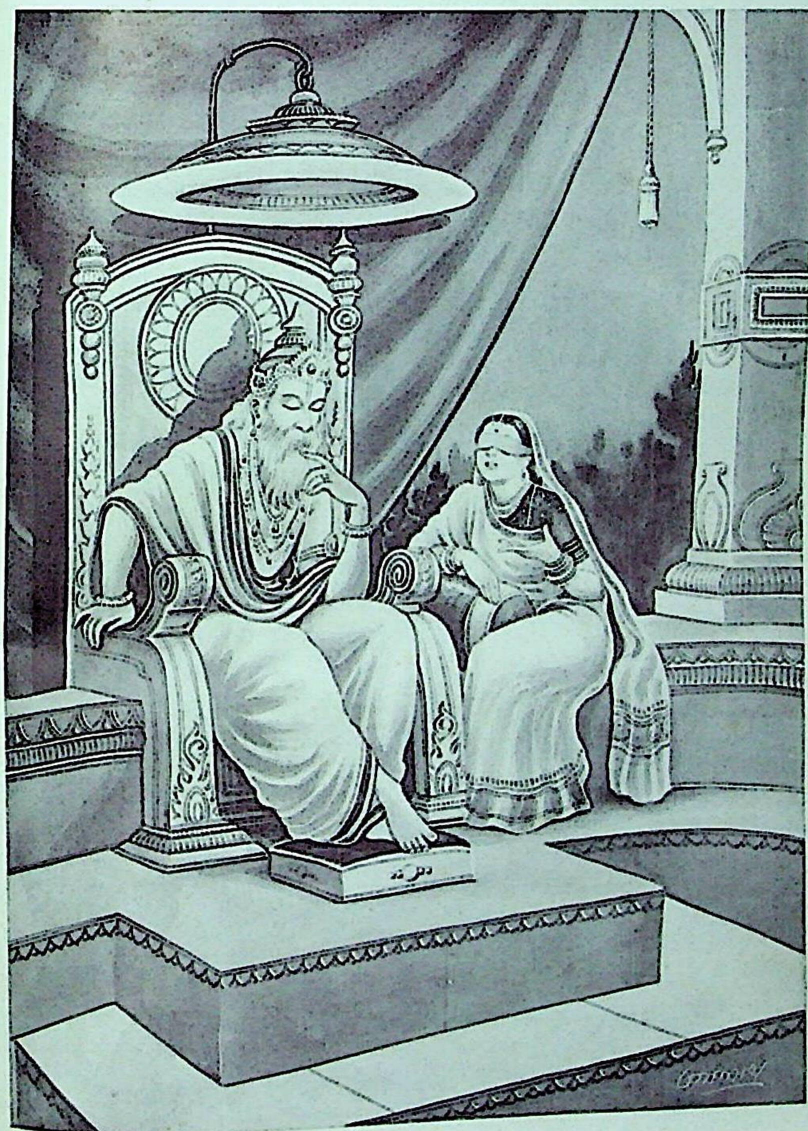
'महाराज ! आपको जो करना चाहिये था, वह आपने पुत्रस्नेहवश नहीं किया। अतः समझ लीजिये, उसीका यह फल प्राप्त हुआ है, जो समूचे कुलके विनाशका कारण होने जा रहा है ॥ ९ ॥

शमेन धर्मेण नयेन युक्ता
या ते बुद्धिः सास्तु ते मा प्रमादीः।
प्रध्वंसिनी क्रूरसमाहिता श्री-
र्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान् ॥ १० ॥

'शान्ति, धर्म तथा उत्तम नीतिसे युक्त जो आपकी बुद्धि थी, वह बनी रहे। आप प्रमाद मत कीजिये। क्रूरतापूर्ण कर्मोंसे प्राप्त की हुई लक्ष्मी विनाशशील होती है और कोमलतापूर्ण बर्तावसे बढ़ी हुई धन-सम्पत्ति पुत्र-पौत्रोंतक चली जाती है' ॥ १० ॥

अथाब्रवीन्महाराजो गान्धारीं धर्मदर्शिनीम्।
अन्तः कामं कुलस्यास्तु न शक्नोमि निवारितुम् ॥ ११ ॥

तब महाराज धृतराष्ट्रने धर्मपर दृष्टि रखनेवाली गान्धारीसे कहा—'देवि ! इस कुलका अन्त भले ही हो जाय, परंतु मैं दुर्योधनको रोक नहीं सकता ॥ ११ ॥



गान्धारीका धृतराष्ट्रको समझाना

यथेच्छन्ति तथैवास्तु प्रत्यागच्छन्तु पाण्डवाः।
पुनर्द्यूतं च कुर्वन्तु मामकाः पाण्डवैः सह ॥ १२ ॥

'ये सब जैसा चाहते हैं, वैसा ही हो। पाण्डव लौट आयें और मेरे पुत्र उनके साथ फिर जूआ खेलें' ॥ १२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि गान्धारीवाक्ये पञ्चसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७५ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें गान्धारीवाक्यविषयक पचहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७५ ॥

षट्सप्ततितमोऽध्यायः

सबके मना करनेपर भी धृतराष्ट्रकी आज्ञासे युधिष्ठिरका पुनः जूआ खेलना और हारना

वैशम्पायन उवाच

ततो व्यध्वगतं पार्थं प्रातिकामी युधिष्ठिरम्।
उवाच वचनाद् राज्ञो धृतराष्ट्रस्य धीमतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! धर्मराज युधिष्ठिर इन्द्रप्रस्थके मार्गमें बहुत दूरतक चले गये थे। उस समय बुद्धिमान् राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे प्रातिकामी उनके पास गया और इस प्रकार बोला—॥ १ ॥

उपास्तीर्णा सभा राजन्नक्षानुप्त्वा युधिष्ठिर।
एहि पाण्डव दीव्येति पिता त्वाऽऽहेति भारत॥ २ ॥

'भरतकुलभूषण पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर! आपके पिता राजा धृतराष्ट्रने यह आदेश दिया है कि तुम लौट आओ! हमारी सभा फिर सदस्योंसे भर गयी है और तुम्हारी प्रतीक्षा कर रही है। तुम पासे फेंककर जूआ खेलो' ॥ २ ॥

युधिष्ठिर उवाच

धातुर्नियोगाद् भूतानि प्राप्नुवन्ति शुभाशुभम्।
न निवृत्तिस्तयोरस्ति देवितव्यं पुनर्यदि ॥ ३ ॥

युधिष्ठिरने कहा—समस्त प्राणी विधाताकी प्रेरणासे शुभ और अशुभ फल प्राप्त करते हैं। उन्हें कोई टाल नहीं सकता। जान पड़ता है, मुझे फिर जूआ खेलना पड़ेगा॥ ३॥

अक्षद्यूते समाह्वानं नियोगात् स्थविरस्य च।
जानन्नपि क्षयकरं नातिक्रमितुमुत्सहे ॥ ४ ॥

वृद्ध राजा धृतराष्ट्रकी आज्ञासे जूएके लिये यह बुलावा हमारे कुलके विनाशका कारण है, यह जानते हुए भी मैं उनकी आज्ञाका उल्लङ्घन नहीं कर सकता ॥ ४ ॥

वैशम्पायन उवाच

असम्भवे हेममयस्य जन्तो-
स्तथापि रामो लुलुभे मृगाय।
प्रायः समासन्नपराभवाणां
धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति ॥ ५ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! किसी जानवरका शरीर सुवर्णका हो, यह सम्भव नहीं; तथापि श्रीराम स्वर्णमय प्रतीत होनेवाले मृगके लिये लुभा गये। जिनका पतन या पराभव निकट होता है, उनकी बुद्धि प्रायः अत्यन्त विपरीत हो जाती है ॥ ५ ॥

इति ब्रुवन् निववृते भ्रातृभिः सह पाण्डवः।
जानंश्च शकुनेर्मायां पार्थो द्यूतमियात् पुनः ॥ ६ ॥

ऐसा कहते हुए पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भाइयोंके साथ पुनः लौट पड़े। वे शकुनिकी मायाको जानते थे, तो भी जूआ खेलनेके लिये चले आये ॥ ६ ॥

विविशुस्ते सभां तां तु पुनरेव महारथाः।
व्यथयन्ति स्म चेतांसि सुहृदां भरतर्षभाः ॥ ७ ॥
यथोपजोषमासीनाः पुनर्द्यूतप्रवृत्तये।
सर्वलोकविनाशाय दैवेनोपनिपीडिताः ॥ ८ ॥

महारथी भरतश्रेष्ठ पाण्डव पुनः उस सभामें प्रविष्ट हुए। उन्हें देखकर सुहृदोंके मनमें बड़ी पीड़ा होने लगी। प्रारब्धके वशीभूत हुए कुन्तीकुमार सम्पूर्ण लोकोंके विनाशके लिये पुनः द्यूतक्रीडा आरम्भ करनेके उद्देश्यसे चुपचाप वहाँ जाकर बैठ गये ॥ ७-८ ॥

शकुनिरुवाच

अमुञ्चत् स्थविरो यद् वो धनं पूजितमेव तत्।
महाधनं ग्लहं त्वेकं शृणु भो भरतर्षभ ॥ ९ ॥

शकुनिने कहा—राजन्! भरतश्रेष्ठ हमारे बूढ़े महाराजने आपको जो सारा धन लौटा दिया है, वह बहुत अच्छा किया है। अब जूएके लिये एक ही दाँव रखा जायगा उसे सुनिये—॥ ९ ॥

वयं वा द्वादशाब्दानि युष्माभिर्द्यूतनिर्जिताः।
प्रविशेम महारण्यं रौरवाजिनवाससः॥ १०॥

'यदि आपने हमलोगोंको जूएमें हरा दिया तो हम मृगचर्म धारण करके महान् वनमें प्रवेश करेंगे ॥ १० ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ ११ ॥

'और बारह वर्ष वहाँ रहेंगे एवं तेरहवाँ वर्ष हम जनसमूहमें लोगोंसे अज्ञात रहकर पूरा करेंगे और यदि हम तेरहवें वर्षमें लोगोंकी जानकारीमें आ जायँ तो फिर दुबारा बारह वर्ष वनमें रहेंगे ॥ ११ ॥

अस्माभिर्निर्जिता यूयं वने द्वादश वत्सरान्।
वसध्वं कृष्णया सार्धमजिनैः प्रतिवासिताः॥ १२ ॥

'यदि हम जीत गये तो आपलोग द्रौपदीके साथ बारह वर्षोंतक मृगचर्म धारण करते हुए वनमें रहें ॥ १२ ॥

त्रयोदशं च सजने अज्ञाताः परिवत्सरम्।
ज्ञाताश्च पुनरन्यानि वने वर्षाणि द्वादश ॥ १३ ॥

'आपको भी तेरहवाँ वर्ष जनसमूहमें लोगोंसे अज्ञात रहकर व्यतीत करना पड़ेगा और यदि ज्ञात हो गये तो फिर दुबारा बारह वर्ष वनमें रहना होगा ॥ १३ ॥

त्रयोदशे च निर्वृत्ते पुनरेव यथोचितम्।
स्वराज्यं प्रतिपत्तव्यमितरैरथवेतरैः ॥ १४ ॥

'तेरहवाँ वर्ष पूर्ण होनेपर हम या आप फिर वनसे आकर यथोचित रीतिसे अपना-अपना राज्य प्राप्त कर सकते हैं' ॥ १४ ॥

अनेन व्यवसायेन सहास्माभिर्युधिष्ठिर।
अक्षानुप्त्वा पुनर्द्यूतमेहि दीव्यस्व भारत ॥ १५ ॥

भरतवंशी युधिष्ठिर! इसी निश्चयके साथ आप आइये और पुनः पासा फेंककर हमलोगोंके साथ जूआ खेलिये ॥ १५ ॥

अथ सभ्याः सभामध्ये समुच्छ्रितकरास्तदा।
ऊचुरुद्विग्नमनसः संवेगात् सर्व एव हि ॥ १६ ॥

यह सुनकर सब सभासदोंने सभामें अपने हाथ ऊपर उठाकर अत्यन्त उद्विग्नचित्त हो बड़ी घबराहटके साथ कहा ॥ १६ ॥

सभ्या ऊचुः

अहो धिग् बान्धवा नैनं बोधयन्ति महद् भयम्।
बुद्ध्या बुध्येत वा बुध्येदयं वै भरतर्षभः॥ १७ ॥

सभासद् बोले—अहो धिक्कार है! ये भाई-बन्धु भी युधिष्ठिरको उनके ऊपर आनेवाले महान् भयकी बात नहीं समझाते। पता नहीं, ये भरतश्रेष्ठ युधिष्ठिर अपनी बुद्धिके द्वारा इस भयको समझें या न समझें ॥ १७ ॥

वैशम्पायन उवाच

जनप्रवादान् सुबहूञ्छृण्वन्नपि नराधिपः।
ह्रिया च धर्मसंयोगात् पार्थो द्यूतमियात् पुनः॥ १८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! लोगोंकी तरह-तरहकी बातें सुनते हुए भी राजा युधिष्ठिर लज्जाके कारण तथा धृतराष्ट्रके आज्ञापालनरूप धर्मकी दृष्टिसे पुनः जूआ खेलनेके लिये उद्यत हो गये ॥ १८ ॥

जानन्नपि महाबुद्धिः पुनर्द्यूतमवर्तयत्।
अप्यासन्नो विनाशः स्यात् कुरूणामिति चिन्तयन्॥ १९॥

परम बुद्धिमान् युधिष्ठिर जूएका परिणाम जानते थे, तो भी यह सोचकर कि सम्भवतः कुरुकुलका विनाश बहुत निकट है, वे द्यूतक्रीडामें प्रवृत्त हो गये ॥ १९ ॥

युधिष्ठिर उवाच

कथं वै मद्विधो राजा स्वधर्ममनुपालयन्।
आहूतो विनिवर्तेत दीव्यामि शकुने त्वया ॥ २० ॥

युधिष्ठिर बोले—शकुने! स्वधर्मपालनमें संलग्न रहनेवाला मेरे-जैसा राजा जूएके लिये बुलाये जानेपर कैसे पीछे हट सकता था, अतः मैं तुम्हारे साथ खेलता हूँ ॥ २० ॥

(*वैशम्पायन उवाच*

एवं दैवबलाविष्टो धर्मराजो युधिष्ठिरः।
भीष्मद्रोणैर्वार्यमाणो विदुरेण च धीमता ॥
युयुत्सुना कृपेणाथ संजयेन च भारत।
गान्धार्या पृथया चैव भीमार्जुनयमैस्तथा ॥
विकर्णेन च वीरेण द्रौपद्या द्रौणिना तथा।
सोमदत्तेन च तथा बाह्लीकेन च धीमता ॥
वार्यमाणोऽपि सततं न च राजा नियच्छति।)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! उस समय धर्मराज युधिष्ठिर प्रारब्धके वशीभूत हो गये थे। महाराज! उन्हें भीष्म, द्रोण और बुद्धिमान् विदुरजी दुबारा जूआ खेलनेसे रोक रहे थे। युयुत्सु, कृपाचार्य तथा संजय भी मना कर रहे थे। गान्धारी, कुन्ती, भीम, अर्जुन, नकुल सहदेव, वीर विकर्ण, द्रौपदी, अश्वत्थामा, सोमदत्त तथा बुद्धिमान् बाह्लीक भी बारंबार रोक रहे थे तो भी राजा युधिष्ठिर भावीके वश होनेके कारण जूएसे नहीं हटे ॥

शकुनिरुवाच

गवाश्वं बहुधेनूकमपर्यन्तमजाविकम्।
गजाः कोशो हिरण्यं च दासीदासाश्च सर्वशः॥ २१ ॥

शकुनिने कहा—राजन्! हमलोगोंके पास बैल, घोड़े और बहुत-सी दुधारू गौएँ हैं। भेड़ और बकरियोंकी तो गिनती ही नहीं है। हाथी, खजाना, दास-दासी तथा सुवर्ण सब कुछ हैं॥

एष नो ग्लह एवैको वनवासाय पाण्डवाः।
यूयं वयं वा विजिता वसेम वनमाश्रिताः॥ २२॥

फिर भी (इन्हें छोड़कर) एकमात्र वनवासका निश्चय ही हमारा दाँव है। पाण्डवो! आपलोग या हम, जो भी हारेंगे, उन्हें वनमें जाकर रहना होगा॥ २२॥

त्रयोदशं च वै वर्षमज्ञाताः सजने तथा।
अनेन व्यवसायेन दीव्याम पुरुषर्षभाः॥ २३॥

केवल तेरहवें वर्ष हमें किसी जनसमूहमें अज्ञातभावसे रहना होगा। नरश्रेष्ठगण! हम इसी निश्चयके साथ जूआ खेलें॥ २३॥

समुत्क्षेपेण चैकेन वनवासाय भारत।
प्रतिजग्राह तं पार्थो ग्लहं जग्राह सौबलः।
जितमित्येव शकुनिर्युधिष्ठिरमभाषत॥ २४॥

भारत! वनवासकी शर्त रखकर केवल एक ही बार पासा फेंकनेसे जूएका खेल पूरा हो जायगा। युधिष्ठिरने उसकी बात स्वीकार कर ली। तत्पश्चात् सुबलपुत्र शकुनिने पासा हाथमें उठाया और उसे फेंककर युधिष्ठिरसे कहा—मेरी जीत हो गयी॥ २४॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पुनर्युधिष्ठिरपराभवे षट्सप्ततितमोऽध्यायः॥ ७६॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरपराभवविषयक छिहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ७६॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके ३½ श्लोक मिलाकर कुल २०½ श्लोक हैं)

सप्तसप्ततितमोऽध्यायः

दुःशासनद्वारा पाण्डवोंका उपहास एवं भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेवकी शत्रुओंको मारनेके लिये भीषण प्रतिज्ञा

वैशम्पायन उवाच

ततः पराजिताः पार्था वनवासाय दीक्षिताः।
अजिनान्युत्तरीयाणि जगृहुश्च यथाक्रमम्॥ १॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! तदनन्तर जूएमें हारे हुए कुन्तीके पुत्रोंने वनवासकी दीक्षा ली और क्रमशः सबने मृगचर्मको उत्तरीय वस्त्रके रूपमें धारण किया॥ १॥

अजिनैः संवृतान् दृष्ट्वा हृतराज्यानरिंदमान्।
प्रस्थितान् वनवासाय ततो दुःशासनोऽब्रवीत्॥ २॥

जिनका राज्य छिन गया था, वे शत्रुदमन पाण्डव जब मृगचर्मसे अपने अङ्गोंको ढँककर वनवासके लिये प्रस्थित हुए, उस समय दुःशासनने सभामें उनको लक्ष्य करके कहा—॥

प्रवृत्तं धार्तराष्ट्रस्य चक्रं राज्ञो महात्मनः।
पराजिताः पाण्डवेया विपत्तिं परमां गताः॥ ३॥

'धृतराष्ट्रपुत्र महामना राजा दुर्योधनका समस्त भूमण्डलपर एकछत्र राज्य हो गया। पाण्डव पराजित होकर बड़ी भारी विपत्तिमें पड़ गये॥ ३॥

अद्यैव ते सम्प्रयाताः समैर्वर्त्मभिरस्थलैः।
गुणज्येष्ठास्तथा श्रेष्ठाः श्रेयांसो यद् वयं परैः॥ ४॥

'आज वे पाण्डव समान मार्गोंसे, जिनपर आये हुओंकी भीड़के कारण जगह नहीं रही है, वनको चले जा रहे हैं। हमलोग अपने प्रतिपक्षियोंसे गुण और अवस्था दोनोंमें बड़े हैं। अतः हमारा स्थान उनसे बहुत ऊँचा है॥ ४॥

नरकं पातिताः पार्था दीर्घकालमनन्तकम्।
सुखाच्च हीना राज्याच्च विनष्टाः शाश्वतीः समाः॥ ५॥

धनेन मत्ता ये ते स्म धार्तराष्ट्रान् प्रहासिषुः।
ते निर्जिता हृतधना वनमेष्यन्ति पाण्डवाः॥ ६॥

'कुन्तीके पुत्र दीर्घकालतकके लिये अनन्त दुःखरूप नरकमें गिरा दिये गये। ये सदाके लिये सुखसे वञ्चित तथा राज्यसे हीन हो गये हैं। जो लोग पहले अपने धनसे उन्मत्त हो धृतराष्ट्र-पुत्रोंकी हँसी उड़ाया करते थे, वे ही पाण्डव आज पराजित हो अपने धन-वैभवसे हाथ धोकर वनमें जा रहे हैं॥ ५-६॥

चित्रान् संनाहानवमुच्य पार्था
वासांसि दिव्यानि च भानुमन्ति।
विवास्यन्तां रुरुचर्माणि सर्वे
यथा ग्लहं सौबलस्याभ्युपेताः॥ ७॥

'सभी पाण्डव अपने शरीरपर जो विचित्र कवच और चमकीले दिव्य वस्त्र हैं, उन सबको उतारकर मृगचर्म धारण कर लें; जैसा कि सुबलपुत्र शकुनिके भावको स्वीकार करके ये लोग जूआ खेले हैं॥ ७॥

न सन्ति लोकेषु पुमांस ईदृशा
इत्येव ये भावितबुद्धयः सदा।
ज्ञास्यन्ति तेऽऽत्मानमिमेऽद्य पाण्डवा
विपर्यये षण्ढतिला इवाफलाः॥ ८॥

'जो अपनी बुद्धिमें सदा यही अभिमान लिये बैठे थे कि हमारे-जैसे पुरुष तीनों लोकोंमें नहीं हैं, वे ही पाण्डव आज विपरीत अवस्थामें पहुँचकर थोथे तिलोंकी भाँति निःसत्त्व हो गये हैं। अब इन्हें अपनी स्थितिका ज्ञान होगा॥ ८॥

इदं हि वासो यदि वेदशानां
मनस्विनां रौरवमाहवेषु ।
अदीक्षितानामजिनानि यद्वद्
बलीयसां पश्यत पाण्डवानाम् ॥ ९ ॥

'इन मनस्वी और बलवान् पाण्डवोंका यह मृगचर्ममय वस्त्र तो देखो जिसे यज्ञमें महात्मालोग धारण करते हैं । मुझे तो इनके शरीरपर ये मृगचर्म यज्ञकी दीक्षाके अधिकारसे रहित जंगली कोलभीलोंके चर्ममय वस्त्रके समान ही प्रतीत होते हैं ॥ ९ ॥

महाप्राज्ञः सौमकिर्यज्ञसेनः
कन्यां पाञ्चालीं पाण्डवेभ्यः प्रदाय ।
अकार्षीद् वै सुकृतं नेह किंचित्
क्लीबाः पार्थाः पतयो याज्ञसेन्याः ॥ १० ॥

'महाबुद्धिमान् सोमकवंशी राजा द्रुपदने अपनी कन्या पाञ्चालीको पाण्डवोंके लिये देकर कोई अच्छा काम नहीं किया। द्रौपदीके पति ये कुन्तीपुत्र निरे नपुंसक ही हैं ॥ १० ॥

सूक्ष्मप्रावारानजिनोत्तरीयान्
दृष्ट्वारण्ये निर्धनानप्रतिष्ठान् ।
कां त्वं प्रीतिं लप्स्यसे याज्ञसेनि
पतिं वृणीष्वेह यमन्यमिच्छसि ॥ ११ ॥

'द्रौपदी ! जो सुन्दर महीन कपड़े पहना करते थे, उन्हीं पाण्डवोंको वनमें निर्धन, अप्रतिष्ठित और मृगचर्मकी चादर ओढ़े देख तुम्हें क्या प्रसन्नता होगी ? अब तुम किसी अन्य पुरुषको, जिसे चाहो, अपना पति बना लो ॥ ११ ॥

एते हि सर्वे कुरवः समेताः
क्षान्ता दान्ताः सुद्रविणोपपन्नाः ।
एषां वृणीष्वैकतमं पतित्वे
न त्वां तपेत् कालविपर्ययोऽयम् ॥ १२ ॥

'ये समस्त कौरव क्षमाशील, जितेन्द्रिय तथा उत्तम धन-वैभवसे सम्पन्न हैं । इन्हींमेंसे किसीको अपना पति चुन लो, जिससे यह विपरीत काल (निर्धनावस्था) तुम्हें संतप्त न करे ॥ १२ ॥

यथाफलाः षण्ढतिला यथा चर्ममया मृगाः ।
तथैव पाण्डवाः सर्वे यथा काकयवा अपि ॥ १३ ॥

'जैसे थोथे तिल बोनेपर फल नहीं देते हैं, जैसे केवल चर्ममय मृग व्यर्थ हैं तथा जैसे काकयव (तंदुलरहित तृणधान्य) निष्प्रयोजन होते हैं, उसी प्रकार समस्त पाण्डवोंका जीवन निरर्थक हो गया है ॥ १३ ॥

किं पाण्डवांस्ते पतितानुपास्य
मोघः श्रमः षण्ढतिलानुपास्य ।
एवं नृशंसः परुषाणि पार्था-
नश्रावयद् धृतराष्ट्रस्य पुत्रः ॥ १४ ॥

'थोथे तिलोंकी भाँति इन पतित और नपुंसक पाण्डवोंकी सेवा करनेसे तुम्हें क्या लाभ होगा, व्यर्थका परिश्रम ही तो उठाना पड़ेगा ।'

इस प्रकार धृतराष्ट्रके नृशंस पुत्र दुःशासनने पाण्डवोंको बहुत-से कठोर वचन सुनाये ॥ १४ ॥

तद् वै श्रुत्वा भीमसेनोऽत्यमर्षी
निर्भर्त्स्योच्चैः संनिगृह्यैव रोषात् ।
उवाच चैनं सहसैवोपगम्य
सिंहो यथा हैमवतः शृगालम् ॥ १५ ॥

यह सब सुनकर भीमसेनको बड़ा क्रोध हुआ । जैसे हिमालयकी गुफामें रहनेवाला सिंह गीदड़के पास जाय, उसी प्रकार वे सहसा दुःशासनके पास जा पहुँचे और रोषपूर्वक उसे रोककर जोर-जोरसे फटकारते हुए बोले ॥ १५ ॥

भीमसेन उवाच

क्रूर पापजनैर्जुष्टमकृतार्थं प्रभाषसे ।
गान्धारविद्यया हि त्वं राजमध्ये विकत्थसे ॥ १६ ॥

भीमसेनने कहा—क्रूर एवं नीच दुःशासन ! तू पापी मनुष्योंद्वारा प्रयुक्त होनेवाली ओछी बातें बक रहा है । अरे ! तू अपने बाहुबलसे नहीं, शकुनिकी छलविद्याके प्रभावसे आज राजाओंकी मण्डलीमें अपने मुँहसे अपनी बड़ाई कर रहा है ॥

यथा तुदसि मर्माणि वाक्शरैरिह नो भृशम् ।
तथा स्मारयिता तेऽहं कृन्तन् मर्माणि संयुगे ॥ १७ ॥

जैसे यहाँ तू अपने वचनरूपी बाणोंसे हमारे मर्मस्थानोंमें अत्यन्त पीड़ा पहुँचा रहा है, उसी प्रकार जब युद्धमें मैं तेरा हृदय विदीर्ण करने लगूँगा, उस समय तेरी कही हुई इन बातोंकी याद दिलाऊँगा ॥ १७ ॥

ये च त्वामनुवर्तन्ते क्रोधलोभवशानुगाः ।
गोप्तारः सानुबन्धांस्तान् नेतास्मि यमसादनम् ॥ १८ ॥

जो लोग क्रोध और लोभके वशीभूत हो तुम्हारे रक्षक बनकर पीछे-पीछे चलते हैं, उन्हें उनके सम्बन्धियोंसहित यमलोक भेज दूँगा ॥ १८ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ब्रुवाणमजिनैर्विवासितं
दुःशासनस्तं परिनृत्यति स्म ।
मध्ये कुरूणां धर्मनिबद्धमार्गं
गौर्गौरिति स्माह्वयन् मुक्तलज्जः ॥ १९ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! मृगचर्म धारण किये भीमसेनको ऐसी बातें करते देख निर्लज्ज दुःशासन कौरवोंके बीचमें उनकी हँसी उड़ाते हुए नाचने लगा और 'ओ बैल! ओ बैल' कहकर उन्हें पुकारने लगा । उस समय भीमका मार्ग धर्मराज युधिष्ठिरने रोक रक्खा था (अन्यथा वे दुःशासनको जीता न छोड़ते) ॥ १९ ॥

भीमसेन उवाच

नृशंस परुषं वक्तुं शक्यं दुःशासन त्वया।
निकृत्या हि धनं लब्ध्वा को विकत्थितुमर्हति ॥ २० ॥

भीमसेन बोले—ओ नृशंस दुःशासन ! तेरे ही मुखसे ऐसी कठोर बातें निकल सकती हैं, तेरे सिवा दूसरा कौन है, जो छल-कपटसे धन पाकर इस तरह आप ही अपनी प्रशंसा करेगा ॥ २० ॥

मैव स्म सुकृताँल्लोकान् गच्छेत् पार्थो वृकोदरः।
यदि वक्षो हि ते भित्त्वा न पिबेच्छोणितं रणे ॥ २१ ॥

मेरी बात सुन ले । यह कुन्तीपुत्र भीमसेन यदि युद्धमें तेरी छाती फाड़कर तेरा रक्त न पीये तो इसे पुण्यलोकोंकी प्राप्ति न हो ॥ २१ ॥

धार्तराष्ट्रान् रणे हत्वा मिषतां सर्वधन्विनाम्।
शमं गन्तास्मि नचिरात् सत्यमेतद् ब्रवीमि ते॥ २२ ॥

मैं तुझसे सच्ची बात कह रहा हूँ, शीघ्र ही वह समय आनेवाला है, जब कि समस्त धनुर्धरोंके देखते-देखते मैं युद्धमें धृतराष्ट्रके सभी पुत्रोंका वध करके शान्ति प्राप्त करूँगा ॥ २२ ॥

वैशम्पायन उवाच

तस्य राजा सिंहगतेः सखेलं
दुर्योधनो भीमसेनस्य हर्षात्।
गतिं स्वगत्यानुचकार मन्दो
निर्गच्छतां पाण्डवानां सभायाः ॥ २३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब पाण्डव-लोग सभा-भवनसे निकले, उस समय मन्दबुद्धि राजा दुर्योधन हर्षमें भरकर सिंहके समान मस्तानी चालसे चलने-वाले भीमसेनकी खिल्ली उड़ाते हुए उनकी चालकी नकल करने लगा ॥ २३ ॥

नैतावता कृतमित्यब्रवीत् तं
वृकोदरः संनिवृत्तार्धकायः।
शीघ्रं हि त्वां निहतं सानुबन्धं
संस्मार्याहं प्रतिवक्ष्यामि मूढ ॥ २४ ॥

यह देख भीमसेनने अपने आधे शरीरको पीछेकी ओर मोड़कर कहा—'ओ मूढ़ ! केवल दुःशासनके रक्तपानद्वारा ही मेरा कर्तव्य पूरा नहीं हो जाता है । तुझे भी सम्बन्धियों-सहित शीघ्र ही यमलोक भेजकर तेरे इस परिहासकी याद दिलाते हुए इसका समुचित उत्तर दूँगा' ॥ २४ ॥

एवं समीक्ष्यात्मनि चावमानं
नियम्य मन्युं बलवान् स मानी।
राजानुगः संसदि कौरवाणां
विनिष्क्रामन् वाक्यमुवाच भीमः ॥ २५ ॥

इस प्रकार अपना अपमान होता देख बलवान् एवं मानी भीमसेन क्रोधको किसी प्रकार रोककर राजा युधिष्ठिर-के पीछे कौरवसभासे निकलते हुए इस प्रकार बोले ॥ २५ ॥

भीमसेन उवाच

अहं दुर्योधनं हन्ता कर्णं हन्ता धनंजयः।
शकुनिं चाक्षकितवं सहदेवो हनिष्यति ॥ २६ ॥

भीमसेनने कहा—मैं दुर्योधनका वध करूँगा, अर्जुन कर्णका संहार करेंगे और इस जुआरी शकुनिको सहदेव मार डालेंगे ॥ २६ ॥

इदं च भूयो वक्ष्यामि सभामध्ये बृहद् वचः।
सत्यं देवाः करिष्यन्ति यन्नो युद्धं भविष्यति ॥ २७ ॥
सुयोधनमिमं पापं हन्तास्मि गदया युधि।
शिरः पादेन चास्याहमधिष्ठास्यामि भूतले ॥ २८ ॥

साथ ही इस भरी सभामें मैं पुनः एक बहुत बड़ी बात कह रहा हूँ । मेरा यह विश्वास है कि देवतालोग मेरी यह बात सत्य कर दिखायेंगे । जब हम कौरव और पाण्डवोंमें युद्ध होगा, उस समय इस पापी दुर्योधनको मैं गदासे मार गिराऊँगा तथा रणभूमिमें पड़े हुए इस पापीके मस्तकको पैरसे ठुकराऊँगा ॥ २७-२८ ॥

वाक्यशूरस्य चैवास्य परुषस्य दुरात्मनः।
दुःशासनस्य रुधिरं पातास्मि मृगराडिव ॥ २९ ॥

और यह जो केवल बात बनानेमें बहादुर क्रूरस्वभाव-वाला दुरात्मा दुःशासन है, इसकी छातीका खून उसी प्रकार पी लूँगा, जैसे सिंह किसी मृगका रक्त पान करता है ॥ २९ ॥

अर्जुन उवाच

नैवं वाचा व्यवसितं भीम विज्ञायते सताम्।
इतश्चतुर्दशे वर्षे द्रष्टारो यद् भविष्यति ॥ ३० ॥

अर्जुनने कहा—आर्य भीमसेन ! साधु पुरुष जो कुछ करना चाहते हैं, उसे इस प्रकार वाणीद्वारा सूचित नहीं करते । आजसे चौदहवें वर्षमें जो घटना घटित होगी, उसे स्वयं ही लोग देखेंगे ॥ ३० ॥

भीमसेन उवाच

दुर्योधनस्य कर्णस्य शकुनेश्च दुरात्मनः।
दुःशासनचतुर्थानां भूमिः पास्यति शोणितम् ॥ ३१ ॥

भीमसेन बोले—यह भूमि दुर्योधन, कर्ण, दुरात्मा शकुनि तथा चौथे दुःशासनके रक्तका निश्चय ही पान करेगी ॥ ३१ ॥

अर्जुन उवाच

असूयितारं द्रष्टारं प्रवक्तारं विकत्थनम्।
भीमसेन नियोगात् ते हन्ताहं कर्णमाहवे ॥ ३२ ॥

अर्जुनने कहा—भैया भीमसेन ! जो हमलोगोंके दोष ही ढूँढ़ा करता है, हमारे दुःख देखकर प्रसन्न होता है,

कौरवोंको बुरी सलाहें देता है और व्यर्थ बढ़-बढ़कर बातें बनाता है, उस कर्णको मैं आपकी आज्ञासे अवश्य युद्धमें मार डालूँगा ॥ ३२ ॥

अर्जुनः प्रतिजानीते भीमस्य प्रियकाम्यया।
कर्णं कर्णानुगांश्चैव रणे हन्तास्मि पत्रिभिः ॥ ३३ ॥

अपने भाई भीमसेनका प्रिय करनेकी इच्छासे अर्जुन यह प्रतिज्ञा करता है कि 'मैं युद्धमें कर्ण और उसके अनुगामियोंको भी बाणोंद्वारा मार डालूँगा' ॥ ३३ ॥

ये चान्ये प्रतियोत्स्यन्ति बुद्धिमोहेन मां नृपाः।
तांश्च सर्वानहं बाणैर्नेतास्मि यमसादनम् ॥ ३४ ॥

दूसरे भी जो नरेश बुद्धिके व्यामोहवश हमारे विपक्षमें होकर युद्ध करेंगे, उन सबको अपने तीक्ष्ण सायकोंद्वारा मैं यमलोक पहुँचा दूँगा ॥ ३४ ॥

चलेद्धि हिमवान् स्थानान्निष्प्रभः स्याद् दिवाकरः।
शैत्यं सोमात् प्रणश्येत मत्सत्यं विचलेद् यदि ॥ ३५ ॥

यदि मेरा सत्य विचलित हो जाय तो हिमालय पर्वत अपने स्थानसे हट जाय, सूर्यकी प्रभा नष्ट हो जाय और चन्द्रमासे उसकी शीतलता दूर हो जाय (अर्थात् जैसे हिमालय अपने स्थानसे नहीं हट सकता, सूर्यकी प्रभा नष्ट नहीं हो सकती, चन्द्रमासे उसकी शीतलता दूर नहीं हो सकती, वैसे ही मेरे वचन मिथ्या नहीं हो सकते) ॥ ३५ ॥

न प्रदास्यति चेद् राज्यमितो वर्षे चतुर्दशे।
दुर्योधनोऽभिसत्कृत्य सत्यमेतद् भविष्यति ॥ ३६ ॥

यदि आजसे चौदहवें वर्षमें दुर्योधन सत्कारपूर्वक हमारा राज्य हमें वापस न दे देगा तो ये सब बातें सत्य होकर रहेंगी ॥ ३६ ॥

वैशम्पायन उवाच

इत्युक्तवति पार्थे तु श्रीमान् माद्रवतीसुतः।
प्रगृह्य विपुलं बाहुं सहदेवः प्रतापवान् ॥ ३७ ॥
सौबलस्य वधं प्रेप्सुरिदं वचनमब्रवीत्।
क्रोधसंरक्तनयनो निःश्वसन्निव पन्नगः ॥ ३८ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय! अर्जुनके ऐसा कहनेपर परम सुन्दर प्रतापी वीर माद्रीनन्दन सहदेवने अपनी विशाल भुजा ऊपर उठाकर शकुनिके वधकी इच्छासे इस प्रकार कहा; उस समय उनके नेत्र क्रोधसे लाल हो रहे थे और वे फुफकारते हुए सर्पकी भाँति उच्छ्वास ले रहे थे ॥ ३७-३८ ॥

सहदेव उवाच

अक्षान् यान् मन्यसे मूढ गान्धाराणां यशोहर।
नैतेऽक्षा निशिता बाणास्त्वयैते समरे वृताः ॥ ३९ ॥

सहदेवने कहा—ओ गान्धारनिवासी क्षत्रियकुलके कलंक मूर्ख शकुने! जिन्हें तू पासे समझ रहा है, वे पासे नहीं हैं, उनके रूपमें तूने युद्धमें तीखे बाणोंका वरण किया है ॥ ३९ ॥

यथा चैवोक्तवान् भीमस्त्वामुद्दिश्य सबान्धवम्।
कर्ताहं कर्मणस्तस्य कुरु कार्याणि सर्वशः ॥ ४० ॥

आर्य भीमसेनने बन्धु-बान्धवोंसहित तेरे विषयमें जो बात कही है, मैं उसे अवश्य पूर्ण करूँगा। तुझे अपने बचावके लिये जो कुछ करना हो, वह सब कर डाल ॥ ४० ॥

हन्तास्मि तरसा युद्धे त्वामेवेह सबान्धवम्।
यदि स्थास्यसि संग्रामे क्षत्रधर्मेण सौबल ॥ ४१ ॥

सुबलकुमार! यदि तू क्षत्रियधर्मके अनुसार संग्राममें डटा रह जायगा, तो मैं वेगपूर्वक तुझे तेरे बन्धु-बान्धवोंसहित अवश्य मार डालूँगा ॥ ४१ ॥

सहदेववचः श्रुत्वा नकुलोऽपि विशाम्पते।
दर्शनीयतमो नृणामिदं वचनमब्रवीत् ॥ ४२ ॥

राजन्! सहदेवकी बात सुनकर मनुष्योंमें परम दर्शनीय रूपवाले नकुलने भी यह बात कही ॥ ४२ ॥

नकुल उवाच

सुतेयं यज्ञसेनस्य द्यूतेऽस्मिन् धृतराष्ट्रजैः।
यैर्वाचः श्राविता रूक्षाः स्थितैर्दुर्योधनप्रिये ॥ ४३ ॥
तान् धार्तराष्ट्रान् दुर्वृत्तान् मुमूर्षून् कालचोदितान्।
गमयिष्यामि भूयिष्ठानहं वैवस्वतक्षयम् ॥ ४४ ॥

नकुल बोले—दुर्योधनके प्रियसाधनमें लगे हुए जिन धृतराष्ट्रपुत्रोंने इस द्यूतसभामें द्रुपदकुमारी कृष्णाको कठोर बातें सुनायी हैं, कालसे प्रेरित हो मौतके मुँहमें जानेकी इच्छा रखनेवाले उन दुराचारी बहुसंख्यक धृतराष्ट्रकुमारोंको मैं यमलोकका अतिथि बना दूँगा ॥ ४३-४४ ॥

निदेशाद् धर्मराजस्य द्रौपद्याः पदवीं चरन्।
निर्धार्तराष्ट्रां पृथिवीं कर्तास्मि नचिरादिव ॥ ४५ ॥

धर्मराजकी आज्ञासे द्रौपदीका प्रिय करते हुए मैं सारी पृथ्वीको धृतराष्ट्र-पुत्रोंसे सूनी कर दूँगा; इसमें अधिक देर नहीं है ॥ ४५ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं ते पुरुषव्याघ्राः सर्वे व्यायतबाहवः।
प्रतिज्ञा बहुलाः कृत्वा धृतराष्ट्रमुपागमन् ॥ ४६ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! इस प्रकार वे सभी पुरुषसिंह महाबाहु पाण्डव बहुत-सी प्रतिज्ञाएँ करके राजा धृतराष्ट्रके पास गये ॥ ४६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि पाण्डवप्रतिज्ञाकरणे सप्तसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७७ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें पाण्डवोंकी प्रतिज्ञासे सम्बन्ध रखनेवाला सतहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७७ ॥

अष्टसप्ततितमोऽध्यायः

युधिष्ठिरका धृतराष्ट्र आदिसे विदा लेना, विदुरका कुन्तीको अपने यहाँ रखनेका प्रस्ताव और पाण्डवोंको धर्मपूर्वक रहनेका उपदेश देना

युधिष्ठिर उवाच

आमन्त्रयामि भरतांस्तथा वृद्धं पितामहम्।
राजानं सोमदत्तं च महाराजं च बाह्लिकम् ॥ १ ॥
द्रोणं कृपं नृपांश्चान्यानश्वत्थामानमेव च।
विदुरं धृतराष्ट्रं च धार्तराष्ट्रांश्च सर्वशः ॥ २ ॥
युयुत्सुं संजयं चैव तथैवान्यान् सभासदः।
सर्वानामन्त्र्य गच्छामि द्रष्टास्मि पुनरेत्य वः ॥ ३ ॥

युधिष्ठिर बोले—मैं भरतवंशके समस्त गुरुजनोंसे वनमें जानेकी आज्ञा चाहता हूँ। बड़े-बूढ़े पितामह भीष्म, राजा सोमदत्त, महाराज बाह्लिक, गुरुवर द्रोण और कृपाचार्य, अश्वत्थामा, अन्यान्य नृपतिगण, विदुर, राजा धृतराष्ट्र, उनके सभी पुत्र, युयुत्सु, संजय तथा दूसरे सब सदस्योंसे पूछकर सबकी आज्ञा लेकर वनमें जाता हूँ, फिर लौटकर आप लोगोंका दर्शन करूँगा ॥ १–३ ॥

वैशम्पायन उवाच

न च किंचिदथोचुस्तं ह्रिया सन्ना युधिष्ठिरम्।
मनोभिरेव कल्याणं दध्युस्ते तस्य धीमतः ॥ ४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—राजन्! युधिष्ठिरके इस प्रकार पूछनेपर सब कौरव लाजके मारे सन्न रह गये, कुछ भी उत्तर न दे सके। उन्होंने मन-ही-मन उन बुद्धिमान् युधिष्ठिरके कल्याणका चिन्तन किया ॥ ४ ॥

विदुर उवाच

आर्या पृथा राजपुत्री नारण्यं गन्तुमर्हति।
सुकुमारी च वृद्धा च नित्यं चैव सुखोचिता ॥ ५ ॥
इह वत्स्यति कल्याणी सत्कृता मम वेश्मनि।
इति पार्था विजानीध्वमगदं वोऽस्तु सर्वशः ॥ ६ ॥

विदुर बोले—कुन्तीकुमारो! राजपुत्री आर्या कुन्ती वनमें जाने लायक नहीं हैं। वे कोमल अङ्गोंवाली और वृद्धा हैं, सदा सुख और आरामके ही योग्य हैं; अतः वे मेरे ही घरमें सत्कारपूर्वक रहेंगी। यह बात तुम सब लोग जान लो। मेरी शुभ-कामना है कि तुम वहाँ सर्वथा नीरोग एवं सुखसे रहो ॥ ५-६ ॥

पाण्डवा ऊचुः

तथेत्युक्त्वाब्रुवन् सर्वे यथा नो वदसेऽनघ।
त्वं पितृव्यः पितृसमो वयं च त्वत्परायणाः ॥ ७ ॥

पाण्डवोंने कहा—बहुत अच्छा, ऐसा ही हो। इतना कहकर वे सब फिर बोले—'अनघ! आप हमें जैसा कहें—जैसी आज्ञा दें, वही शिरोधार्य है। आप हमारे पितृव्य (पिताके भाई) हैं, अतः पिताके ही तुल्य हैं। हम सब भाई आपकी शरणमें हैं ॥ ७ ॥

यथाऽऽज्ञापयसे विद्वंस्त्वं हि नः परमो गुरुः।
यच्चान्यदपि कर्तव्यं तद् विधत्स्व महामते ॥ ८ ॥

'विद्वन्! आप जैसी आज्ञा दें, वही हमें मान्य है; क्योंकि आप हमारे परम गुरु हैं। महामते! इसके सिवा और भी जो कुछ हमारा कर्तव्य हो, वह हमें बताइये' ॥ ८ ॥

विदुर उवाच

युधिष्ठिर विजानीहि ममेदं भरतर्षभ।
नाधर्मेण जितः कश्चिद् व्यथते वै पराजये ॥ ९ ॥

विदुर बोले—भरतकुलभूषण युधिष्ठिर! तुम मुझसे यह जान लो कि अधर्मसे पराजित होनेवाला कोई भी पुरुष अपनी उस पराजयके लिये दुखी नहीं होता ॥ ९ ॥

त्वं वै धर्मं विजानीषे युद्धे जेता धनंजयः।
हन्तारीणां भीमसेनो नकुलस्त्वर्थसंग्रही ॥ १० ॥

तुम धर्मके ज्ञाता हो। अर्जुन युद्धमें विजय पानेवाले हैं। भीमसेन शत्रुओंका नाश करनेमें समर्थ हैं। नकुल आवश्यक वस्तुओंको जुटानेमें कुशल हैं ॥ १० ॥

संयन्ता सहदेवस्तु धौम्यो ब्रह्मविदुत्तमः।
धर्मार्थकुशला चैव द्रौपदी धर्मचारिणी ॥ ११ ॥

सहदेव संयमी हैं तथा ब्रह्मर्षि धौम्यजी ब्रह्मवेत्ताओंके शिरोमणि हैं। एवं धर्मपरायणा द्रौपदी भी धर्म और अर्थके सम्पादनमें कुशल है ॥ ११ ॥

अन्योन्यस्य प्रियाः सर्वे तथैव प्रियदर्शनाः।
परैरभेद्याः संतुष्टाः को वो न स्पृहयेदिह ॥ १२ ॥

तुम सब लोग आपसमें एक दूसरेके प्रिय हो, तुम्हें देखकर सबको प्रसन्नता होती है। शत्रु तुममें भेद या फूट नहीं डाल सकते, इस जगत्‌में कौन है जो तुमलोगोंको न चाहता हो ॥

एष वै सर्वकल्याणः समाधिस्तव भारत।
नैनं शत्रुर्विषहते शक्रेणापि समोऽच्युत ॥ १३ ॥

भारत! तुम्हारा यह क्षमाशीलताका नियम सब प्रकारसे कल्याणकारी है। इन्द्रके समान पराक्रमी शत्रु भी इसका सामना नहीं कर सकता ॥ १३ ॥

हिमवत्यनुशिष्टोऽसि मेरुसावर्णिना पुरा ।
द्वैपायनेन कृष्णेन नगरे वारणावते ॥ १४ ॥
भृगुतुङ्गे च रामेण दृषद्वत्यां च शम्भुना ।
अश्रौषीरसितस्यापि महर्षेरञ्जनं प्रति ॥ १५ ॥

पूर्वकालमें मेरुसावर्णिने हिमालयपर तुम्हें धर्म और ज्ञानका उपदेश दिया है, वारणावत नगरमें श्रीकृष्णद्वैपायन व्यासजीने, भृगुतुङ्ग पर्वतपर परशुरामजीने तथा दृषद्वतीके तटपर साक्षात् भगवान् शङ्करने तुम्हें अपने सदुपदेशसे कृतार्थ किया है । अञ्जन पर्वतपर तुमने महर्षि असितका भी उपदेश सुना है ॥ १४-१५ ॥

कल्मापीतीरसंस्थस्य गतस्त्वं शिष्यतां भृगोः ।
द्रष्टा सदा नारदस्ते धौम्यस्तेऽयं पुरोहितः ॥ १६ ॥

कल्मापी नदीके किनारे निवास करनेवाले महर्षि भृगुने भी तुम्हें उपदेश देकर अनुगृहीत किया है । देवर्षि नारदजी सदा तुम्हारी देख-भाल करते हैं और तुम्हारे ये पुरोहित धौम्यजी तो सदा साथ ही रहते हैं ॥ १६ ॥

मा हासीः साम्पराये त्वं बुद्धिं तामृषिपूजिताम् ।
पुरूरवसमैलं त्वं बुद्ध्या जयसि पाण्डव ॥ १७ ॥

ऋषियोंद्वारा सम्मानित उस परलोकविषयक विज्ञानका तुम कभी त्याग न करना । पाण्डुनन्दन ! तुम अपनी बुद्धिसे इलानन्दन पुरूरवाको भी पराजित करते हो ॥ १७ ॥

शक्त्या जयसि राज्ञोऽन्यानृषीन् धर्मोपसेवया ।
ऐन्द्रे जये धृतमना याम्ये कोपविधारणे ॥ १८ ॥

शक्तिसे समस्त राजाओंको तथा धर्मसेवनद्वारा ऋषियोंको भी जीत लेते हो । तुम इन्द्रसे मनमें विजयका उत्साह प्राप्त करो । क्रोधको काबूमें रखनेका पाठ यमराजसे सीखो ॥ १८ ॥

तथा विसर्गे कौबेरे वारुणे चैव संयमे ।
आत्मप्रदानं सौम्यत्वमद्भ्यश्चैवोपजीवनम् ॥ १९ ॥

उदारता एवं दानमें कुबेरका और संयममें वरुणका आदर्श ग्रहण करो । दूसरोंके हितके लिये अपने आपको निछावर करना, सौम्यभाव (शीतलता) तथा दूसरोंको जीवन-दान देना—इन सब बातोंकी शिक्षा तुम्हें जलसे लेनी चाहिये ॥ १९ ॥

भूमेः क्षमा च तेजश्च समग्रं सूर्यमण्डलात् ।
वायोर्बलं प्राप्नुहि त्वं भूतेभ्यश्चात्मसम्पदम् ॥ २० ॥

तुम भूमिसे क्षमा, सूर्यमण्डलसे तेज, वायुसे बल तथा सम्पूर्ण भूतोंसे अपनी सम्पत्ति प्राप्त करो ॥ २० ॥

अगदं वोऽस्तु भद्रं वो द्रक्ष्यामि पुनरागतान् ।
आपद्धर्मार्थकृच्छ्रेषु सर्वकार्येषु वा पुनः ॥ २१ ॥
यथावत् प्रतिपद्येथाः काले काले युधिष्ठिर ।
आपृष्टोऽसीह कौन्तेय स्वस्ति प्राप्नुहि भारत ॥ २२ ॥

तुम्हें कभी कोई रोग न हो, सदा मङ्गल-ही-मङ्गल दिखायी दे । कुशलपूर्वक वनसे लौटनेपर मैं फिर तुम्हें देखूँगा । युधिष्ठिर ! आपत्तिकालमें, धर्म तथा अर्थका संकट उपस्थित होनेपर अथवा सभी कार्योंमें समय-समयपर अपने उचित कर्तव्यका पालन करना । कुन्तीनन्दन ! भारत ! तुमसे आवश्यक बातें कर लीं । तुम्हें कल्याण प्राप्त हो ॥ २१-२२ ॥

कृतार्थं स्वस्तिमन्तं त्वां द्रक्ष्यामः पुनरागतम् ।
न हि वो वृजिनं किंचिद् वेद कश्चित् पुरा कृतम् ॥ २३ ॥

जब वनसे कुशलपूर्वक कृतार्थ होकर लौटोगे, तब यहाँ आनेपर फिर तुमसे मिलूँगा । तुम्हारे पहलेके किसी दोषको दूसरा कोई न जाने, इसकी चेष्टा रखना ॥ २३ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवमुक्तस्तथेत्युक्त्वा पाण्डवः सत्यविक्रमः ।
भीष्मद्रोणौ नमस्कृत्य प्रातिष्ठत युधिष्ठिरः ॥ २४ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरके ऐसा कहनेपर सत्यपराक्रमी पाण्डुनन्दन युधिष्ठिर भीष्म और द्रोणको नमस्कार करके वहाँसे प्रस्थित हुए ॥ २४ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि युधिष्ठिरवनप्रस्थानेऽष्टसप्ततितमोऽध्यायः ॥ ७८ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें युधिष्ठिरका वनको प्रस्थानविषयक अठहत्तरवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७८ ॥

एकोनाशीतितमोऽध्यायः

द्रौपदीका कुन्तीसे विदा लेना तथा कुन्तीका विलाप एवं नगरके नर-नारियोंका शोकातुर होना

वैशम्पायन उवाच

तस्मिन् सम्प्रस्थिते कृष्णा पृथां प्राप्य यशस्विनीम् ।
अपृच्छद् भृशदुःखार्ता याश्चान्यास्तत्र योषितः ॥ १ ॥
यथार्हं वन्दनाश्लेषान् कृत्वा गन्तुमियेष सा ।
ततो निनादः सुमहान् पाण्डवान्तःपुरेऽभवत् ॥ २ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—युधिष्ठिरके प्रस्थान करनेपर कृष्णाने यशस्विनी कुन्तीके पास जाकर अत्यन्त दुःखसे आतुर हो वनमें जानेकी आज्ञा माँगी । वहाँ जो दूसरी स्त्रियाँ बैठी थीं, उन सबकी यथायोग्य वन्दना करके सबसे गले मिलकर उसने वनमें जानेकी इच्छा प्रकट की । फिर तो पाण्डवों-

के अन्तःपुरमें महान् आर्तनाद होने लगा ॥ १-२ ॥

कुन्ती च भृशसंतप्ता द्रौपदीं प्रेक्ष्य गच्छतीम्।
शोकविह्वलया वाचा कृच्छ्राद् वचनमब्रवीत् ॥ ३ ॥

द्रौपदीको जाती देख कुन्ती अत्यन्त संतप्त हो उठीं और शोकाकुल वाणीद्वारा बड़ी कठिनाईसे इस प्रकार बोलीं—॥



वत्से शोको न ते कार्यः प्राप्येदं व्यसनं महत्।
स्त्रीधर्माणामभिज्ञासि शीलाचारवती तथा ॥ ४ ॥

'बेटी ! इस महान् संकटको पाकर तुम्हें शोक नहीं करना चाहिये। तुम स्त्रीके धर्मोंको जानती हो, शील और सदाचारका पालन करनेवाली हो ॥ ४ ॥

न त्वां संदेष्टुमर्हामि भर्तॄन् प्रति शुचिस्मिते।
साध्वीगुणसमापन्ना भूषितं ते कुलद्वयम् ॥ ५ ॥

'पवित्र मुसकानवाली बहू ! इसीलिये पतियोंके प्रति तुम्हारा क्या कर्तव्य है, यह तुम्हें बतानेकी आवश्यकता मैं नहीं समझती। तुम सती स्त्रियोंके सद्‌गुणोंसे सम्पन्न हो; तुमने पति और पिता—दोनोंके कुलोंकी शोभा बढ़ायी है ॥ ५ ॥

सभाग्याः कुरवश्चेमे ये न दग्धास्त्वयानघे।
अरिष्टं व्रज पन्थानं मदनुध्यानबृंहिता ॥ ६ ॥

'निष्पाप द्रौपदी ! ये कौरव बड़े भाग्यशाली हैं, जिन्हें तुमने अपनी क्रोधाग्निसे जलाकर भस्म नहीं कर दिया। जाओ, तुम्हारा मार्ग विघ्नबाधाओंसे रहित हो; मेरे किये हुए शुभ चिन्तनसे तुम्हारा अभ्युदय हो ॥ ६ ॥

भाविन्यर्थे हि सत्स्त्रीणां वैक्लव्यं नोपजायते।
गुरुधर्माभिगुप्ता च श्रेयः क्षिप्रमवाप्स्यसि ॥ ७ ॥

'जो बात अवश्य होनेवाली है उसके होनेपर साध्वी स्त्रियोंके मनमें व्याकुलता नहीं होती। तुम अपने श्रेष्ठ धर्मसे सुरक्षित रहकर शीघ्र ही कल्याण प्राप्त करोगी ॥ ७ ॥

सहदेवश्च मे पुत्रः सदावेक्ष्यो वने वसन्।
यथेदं व्यसनं प्राप्य नायं सीदेन्महामतिः ॥ ८ ॥

'बेटी ! वनमें रहते हुए मेरे पुत्र सहदेवकी तुम सदा देख-भाल रखना, जिससे यह परम बुद्धिमान् सहदेव इस भारी संकटमें पड़कर दुखी न होने पावे' ॥ ८ ॥

तथेत्युक्त्वा तु सा देवी स्रवन्नेत्रजलाविला।
शोणिताक्तैकवसना मुक्तकेशी विनिर्ययौ ॥ ९ ॥

कुन्तीके ऐसा कहनेपर नेत्रोंसे आँसू बहाती हुई द्रौपदीने 'तथास्तु' कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की। उस समय उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था, उसका भी कुछ भाग रजसे सना हुआ था और उसके सिरके बाल बिखरे हुए थे। उसी दशामें वह अन्तःपुरसे बाहर निकली ॥ ९ ॥

तां क्रोशन्तीं पृथा दुःखादनुवव्राज गच्छतीम्।
अथापश्यत् सुतान् सर्वान् हृताभरणवाससः ॥ १० ॥

रोती-बिलखती, वनको जाती हुई द्रौपदीके पीछे-पीछे कुन्ती भी दुःखसे व्याकुल हो कुछ दूरतक गयीं, इतनेहीमें उन्होंने अपने सभी पुत्रोंको देखा, जिनके वस्त्र और आभूषण उतार लिये गये थे ॥ १० ॥

रुरुचर्मावृततनून् ह्रिया किंचिदवाङ्‌मुखान्।
परैः परीतान् संहृष्टैः सुहृद्भिश्चानुशोचितान् ॥ ११ ॥

उनके सभी अङ्ग मृगचर्मसे ढँके हुए थे और वे लज्जावश नीचे मुख किये चले जा रहे थे। हर्षमें भरे हुए शत्रुओंने उन्हें सब ओरसे घेर रखा था और हितैषी सुहृद् उनके लिये शोक कर रहे थे ॥ ११ ॥

तदवस्थान् सुतान् सर्वानुपसृत्यातिवत्सला।
सस्वजानावदच्छोकात् तत्तद् विलपती बहु ॥ १२ ॥

उस अवस्थामें उन सभी पुत्रोंके निकट पहुँचकर कुन्तीके हृदयमें अत्यन्त वात्सल्य उमड़ आया। वे उन्हें हृदयसे लगाकर शोकवश बहुत विलाप करती हुई बोलीं ॥

कुन्त्युवाच

कथं सद्धर्मचारित्रवृत्तस्थितिविभूषितान्।
अक्षुद्रान् दृढभक्तांश्च दैवतेज्यापरान् सदा ॥ १३ ॥
व्यसनं वः समभ्यागात् कोऽयं विधिविपर्ययः।
कस्यापध्यानजं चेदं धिया पश्यामि नैव तत् ॥ १४ ॥

कुन्तीने कहा—पुत्रो ! तुम उत्तम धर्मका पालन करनेवाले तथा सदाचारकी मर्यादासे विभूषित हो। तुममें क्षुद्रताका अभाव है। तुम भगवान्‌के सुदृढ भक्त और देवाराधनमें सदा तत्पर रहनेवाले हो। तो भी तुम्हारे ऊपर यह विपत्तिका पहाड़ टूट पड़ा है। विधाताका यह कैसा विपरीत विधान है। किसके

अनिष्टचिन्तनसे तुम्हारे ऊपर यह महान् दुःख आया है, यह बुद्धिसे बार-बार विचार करनेपर भी मुझे कुछ सूझ नहीं पड़ता ॥ १३-१४ ॥

स्यात् तु मद्भाग्यदोषोऽयं याहं युष्मानजीजनम्।
दुःखायासभुजोऽत्यर्थं युक्तानप्युत्तमैर्गुणैः ॥१५॥

यह मेरे ही भाग्यका दोष हो सकता है। तुम तो उत्तम गुणोंसे युक्त हो तो भी अत्यन्त दुःख और कष्ट भोगनेके लिये ही मैंने तुम्हें जन्म दिया है ॥ १५ ॥

कथं वत्स्यथ दुर्गेषु वने ऋद्धिविनाकृताः।
वीर्यसत्त्वबलोत्साहतेजोभिरकृशाः कृशाः ॥१६॥

इस प्रकार सम्पत्तिसे वञ्चित होकर तुम वनके दुर्गम स्थानोंमें कैसे रह सकोगे? वीर्य, धैर्य, बल, उत्साह और तेजसे परिपुष्ट होते हुए भी तुम दुर्बल हो ॥ १६ ॥

यद्येतदेवमज्ञास्यं वने वासो हि वो ध्रुवम्।
शतशृङ्गान्मृते पाण्डौ नागमिष्यं गजाह्वयम् ॥१७॥

यदि मैं यह जानती कि नगरमें आनेपर तुम्हें निश्चय ही वनवासका कष्ट भोगना पड़ेगा तो महाराज पाण्डुके परलोकवासी हो जानेपर शतशृङ्गपुरसे हस्तिनापुर नहीं आती ॥

धन्यं वः पितरं मन्ये तपोमेधान्वितं तथा।
यः पुत्राधिमसम्प्राप्य स्वर्गेच्छामकरोत् प्रियाम् ॥१८॥

मैं तो तुम्हारे तपस्वी एवं मेधावी पिताको ही धन्य मानती हूँ, जिन्होंने पुत्रोंके दुःखसे दुखी होनेका अवसर न पाकर स्वर्गलोककी अभिलाषाको ही प्रिय समझा ॥ १८ ॥

धन्यां चातीन्द्रियज्ञानामिमां प्राप्तां परां गतिम्।
मन्ये तु माद्रीं धर्मज्ञां कल्याणीं सर्वथैव तु ॥१९॥
रत्या मत्या च गत्या च ययाहमभिसन्धिता।
जीवितप्रियतां मह्यं धिङ्मां संक्लेशभागिनीम् ॥२०॥

इसी प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञानसे सम्पन्न एवं परमगतिको प्राप्त हुई कल्याणमयी इस धर्मज्ञा माद्रीको भी सर्वथा धन्य मानती हूँ। जिसने अपने अनुराग, उत्तम बुद्धि और सद्व्यवहारद्वारा मुझे भुलाकर जीवित रहनेके लिये विवश कर दिया। मुझको और जीवनके प्रति मेरी इस आसक्तिको धिक्कार है! जिसके कारण मुझे यह महान् क्लेश भोगना पड़ता है ॥ १९-२० ॥

पुत्रका न विहास्ये वः कृच्छ्रलब्धान् प्रियान् सतः।
साहं यास्यामि हि वनं हा कृष्णे किं जहासि माम् ॥२१॥

पुत्रो! तुम सदाचारी और मेरे लिये प्राणोंसे भी अधिक प्यारे हो। मैंने बड़े कष्टसे तुम्हें पाया है; अतः तुम्हें छोड़कर अलग नहीं रहूँगी। मैं भी तुम्हारे साथ वनमें चलूँगी। हाय कृष्णे! तुम क्यों मुझे छोड़े जाती हो? ॥ २१ ॥

अन्तवत्यसुधर्मेऽस्मिन् धात्रा किं नु प्रमादतः।
ममान्तो नैव विहितस्तेनायुर्न जहाति माम् ॥२२॥

यह प्राणधारणरूपी धर्म अनित्य है, एक-न-एक दिन इसका अन्त होना निश्चित है, फिर भी विधाताने न जाने क्यों प्रमादवश मेरे जीवनका भी शीघ्र ही अन्त नहीं नियत कर दिया। तभी तो आयु मुझे छोड़ नहीं रही है ॥ २२ ॥

हा कृष्ण द्वारकावासिन् क्वासि संकर्षणानुज।
कस्मान्न त्रायसे दुःखान्मां चेमांश्च नरोत्तमान् ॥२३॥

हा! द्वारकावासी श्रीकृष्ण! तुम कहाँ हो! बलरामजीके छोटे भैया! मुझको तथा इन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंको इस दुःखसे क्यों नहीं बचाते? ॥ २३ ॥

अनादिनिधनं ये त्वामनुध्यायन्ति वै नराः।
तांस्त्वं पासीत्ययं वादः स गतो व्यर्थतां कथम् ॥२४॥

'प्रभो! तुम आदि-अन्तसे रहित हो, जो मनुष्य तुम्हारा निरन्तर स्मरण करते हैं, उन्हें तुम अवश्य संकटसे बचाते हो।' तुम्हारी यह विरद व्यर्थ कैसे हो रही है? ॥ २४ ॥

इमे सद्धर्ममाहात्म्ययशोवीर्यानुवर्तिनः।
नार्हन्ति व्यसनं भोक्तुं नन्वेषां क्रियतां दया ॥२५॥

ये मेरे पुत्र उत्तम धर्म, महात्मा पुरुषोंके शील-स्वभाव, यश और पराक्रमका अनुसरण करनेवाले हैं, अतः कष्ट भोगनेके योग्य नहीं हैं; भगवन्! इनपर तो दया करो ॥ २५ ॥

सेयं नीत्यर्थविज्ञेषु भीष्मद्रोणकृपादिषु।
स्थितेषु कुलनाथेषु कथमापदुपागता ॥२६॥

नीतिके अर्थको जाननेवाले परम विद्वान् भीष्म, द्रोण और कृपाचार्य आदिके, जो इस कुलके रक्षक हैं, रहते हुए यह विपत्ति हमपर क्यों आयी? ॥ २६ ॥

हा पाण्डो हा महाराज क्वासि किं समुपेक्षसे।
पुत्रान् विवास्यतः साधूनरिभिर्द्यूतनिर्जितान् ॥२७॥

हा महाराज पाण्डु! कहाँ हो। आज तुम्हारे श्रेष्ठ पुत्रोंको शत्रुओंने जूएमें जीतकर वनवास दे दिया है, तुम क्यों इनकी दुरवस्थाकी उपेक्षा कर रहे हो? ॥ २७ ॥

सहदेव निवर्तस्व ननु त्वमसि मे प्रियः।
शरीरादपि माद्रेय मा मा त्याक्षीः कुपुत्रवत् ॥२८॥

माद्रीनन्दन सहदेव! तुम मुझे अपने शरीरसे भी अधिक प्रिय हो। बेटा! लौट आओ। कुपुत्रकी भाँति मेरा त्याग न करो ॥ २८ ॥

व्रजन्तु भ्रातरस्तेऽमी यदि सत्याभिसंधिनः।
मत्परित्राणजं धर्ममिहैव त्वमवाप्नुहि ॥२९॥

तुम्हारे ये भाई यदि सत्य-धर्मके पालनका आग्रह रखकर वनमें जा रहे हैं तो जायँ; तुम यहीं रहकर मेरी रक्षाजनित धर्मका लाभ लो ॥ २९ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं विलपतीं कुन्तीमभिवाद्य प्रणम्य च।
पाण्डवा विगतानन्दा वनायैव प्रवव्रजुः ॥ ३० ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—इस प्रकार विलाप करती हुई माता कुन्तीको अभिवादन एवं प्रणाम करके पाण्डवलोग दुःखी हो वनको चले गये ॥ ३० ॥

विदुरश्चापि तामार्तां कुन्तीमाश्वास्य हेतुभिः।
प्रावेशयद् गृहं क्षत्ता स्वयमार्ततरः शनैः ॥ ३१ ॥

विदुरजी शोकाकुला कुन्तीको अनेक प्रकारकी युक्तियों-



द्वारा धीरज बँधाकर उन्हें धीरे-धीरे अपने घर ले गये। उस समय वे स्वयं भी बहुत दुःखी थे ॥ ३१ ॥

(ततः सम्प्रस्थिते तत्र धर्मराजे तदा नृपे।
जनाः समस्तास्तं द्रष्टुं समारुरुहुरातुराः ॥
ततः प्रासादवर्याणि विमानशिखराणि च।
गोपुराणि च सर्वाणि वृक्षानन्यांश्च सर्वशः ॥
अधिरुह्य जनः श्रीमानुदासीनो व्यलोकयत्।

तदनन्तर धर्मराज युधिष्ठिर जब वनकी ओर प्रस्थित हुए, तब उस नगरके समस्त निवासी दुःखसे आतुर हो उन्हें देखनेके लिये महलों, मकानकी छतों, समस्त गोपुरों और वृक्षोंपर चढ़ गये। वहाँसे सब लोग उदास होकर उन्हें देखने लगे ॥

न हि रथ्यास्तदा शक्या गन्तुं बहुजनाकुलाः ॥
आरुह्य ते स्म तान्यत्र दीनाः पश्यन्ति पाण्डवम्।

उस समय सड़कें मनुष्योंकी भारी भीड़से इतनी भर गयी थीं कि उनपर चलना असम्भव हो गया था। इसीलिये लोग ऊँचे चढ़-कर अत्यन्त दीनभावसे पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको देख रहे थे ॥

पदातिं वर्जितच्छत्रं चेलभूषणवर्जितम् ॥
वल्कलाजिनसंवीतं पार्थं दृष्ट्वा जनास्तदा।
ऊचुर्बहुविधा वाचो भृशोपहतचेतसः ॥

कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर छत्ररहित एवं पैदल ही चल रहे थे। उनके शरीरपर राजोचित वस्त्रों और आभूषणोंका भी अभाव था। वे वल्कल और मृगचर्म पहने हुए थे। उन्हें इस दशामें देखकर लोगोंके हृदयमें गहरी चोट पहुँची और वे सब लोग नाना प्रकारकी बातें करने लगे ॥

जना ऊचुः

यं यान्तमनुयाति स्म चतुरङ्गबलं महत्।
तमेवं कृष्णया सार्धमनुयान्ति स्म पाण्डवाः ॥
चत्वारो भ्रातरश्चैव पुरोधाश्च विशाम्पतिम्।

नगरनिवासी मनुष्य बोले—अहो! यात्रा करते समय जिनके पीछे विशाल चतुरंगिणी सेना चलती थी, आज वे ही राजा युधिष्ठिर इस प्रकार जा रहे हैं और उनके पीछे द्रौपदीके साथ केवल चार भाई पाण्डव तथा पुरोहित चल रहे हैं ॥

या न शक्या पुरा द्रष्टुं भूतैराकाशगैरपि ॥
तामद्य कृष्णां पश्यन्ति राजमार्गगता जनाः।

जिसे आजसे पहले आकाशचारी प्राणीतक नहीं देख पाते थे, उसी द्रुपदकुमारी कृष्णाको अब सड़कपर चलनेवाले साधारण लोग भी देख रहे हैं ॥

अङ्गरागोचितां कृष्णां रक्तचन्दनसेविनीम् ॥
वर्षमुष्णं च शीतं च नेष्यत्याशु विवर्णताम्।

सुकुमारी द्रौपदीके अङ्गोंमें दिव्य अङ्गराग शोभा पाता था। वह लाल चन्दनका सेवन करती थी, परंतु अब वनमें सर्दी, गर्मी और वर्षा लगनेसे उसकी अङ्गकान्ति शीघ्र ही फीकी पड़ जायगी ॥

अद्य नूनं पृथा देवी सत्त्वमाविश्य भाषते ॥
पुत्रान् स्नुषां च देवी तु द्रष्टुमद्याथ नार्हति ॥

निश्चय ही आज कुन्तीदेवी बड़े भारी धैर्यका आश्रय लेकर अपने पुत्रों और पुत्रवधूसे वार्तालाप करती हैं; अन्यथा इस दशामें वे इनकी ओर देख भी नहीं सकतीं ॥

निर्गुणस्यापि पुत्रस्य कथं स्याद् दुःखदर्शनम्।
किं पुनर्यस्य लोकोऽयं जितो वृत्तेन केवलम् ॥

गुणहीन पुत्रका भी दुःख मातासे कैसे देखा जायगा; फिर जिस पुत्रके सदाचारमात्रसे यह सारा संसार वशीभूत हो जाता है, उसपर कोई दुःख आये, तो उसकी माता वह कैसे देख सकती है! ॥

आनृशंस्यमनुक्रोशो धृतिः शीलं दमः शमः।
पाण्डवं शोभयन्त्येते षड् गुणाः पुरुषोत्तमम् ॥

तस्मात् तस्योपघातेन प्रजाः परमपीडिताः ।

पुरुषरत्न पाण्डुनन्दन युधिष्ठिरको कोमलता, दया, धैर्य, शील, इन्द्रियसंयम और मनोनिग्रह—ये छः सद्गुण सुशोभित करते हैं । अतः उनकी हानिसे आज सारी प्रजाको बड़ी पीड़ा हो रही है ॥

औदकानीव सत्त्वानि ग्रीष्मे सलिलसंक्षयात् ॥
पीडया पीडितं सर्वं जगत् तस्य जगत्पतेः ।
मूलस्यैवोपघातेन वृक्षः पुष्पफलोपगः ॥

जैसे गर्मीमें जलाशयका पानी घट जानेसे जलचर जीव-जन्तु व्यथित हो उठते हैं एवं जड़ कट जानेसे फल और फूलोंसे युक्त वृक्ष सूखने लगता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण जगत्‌के पालक महाराज युधिष्ठिरकी पीड़ासे सारा संसार पीड़ित हो गया है ॥

मूलं ह्येष मनुष्याणां धर्मराजो महाद्युतिः ।
पुष्पं फलं च पत्रं च शाखास्तस्येतरे जनाः ॥
ते भ्रातर इव क्षिप्रं सपुत्राः सहबान्धवाः ।
गच्छन्तमनुगच्छामो येन गच्छति पाण्डवः ॥

महातेजस्वी धर्मराज युधिष्ठिर मनुष्योंके मूल हैं । जगत्‌के दूसरे लोग उन्हींकी शाखा, पत्र, पुष्प और फल हैं । आज हम अपने पुत्रों और भाई-बन्धुओंको साथ लेकर चारों भाई पाण्डवोंकी भाँति शीघ्र उसी मार्गसे उनके पीछे-पीछे चलें, जिससे पाण्डुपुत्र युधिष्ठिर जा रहे हैं ॥

उद्यानानि परित्यज्य क्षेत्राणि च गृहाणि च ।
एकदुःखसुखाः पार्थमनुयाम सुधार्मिकम् ॥

आज हम अपने खेत, बाग-बगीचे और घर-द्वार छोड़कर परम धर्मात्मा कुन्तीनन्दन युधिष्ठिरके साथ चल दें और उन्हींके सुख-दुःखको अपना सुख-दुःख समझें ॥

समुद्धृतनिधानानि परिध्वस्ताजिराणि च ।
उपात्तधनधान्यानि हृतसाराणि सर्वशः ॥
रजसाप्यवकीर्णानि परित्यक्तानि दैवतैः ।
मूषकैः परिधावद्भिरुद्बिलैरावृतानि च ॥
अपेतोदकधूमानि हीनसम्मार्जनानि च ।
प्रणष्टबलिकर्मेज्यामन्त्रहोमजपानि च ॥
दुष्कालेनेव भग्नानि भिन्नभाजनवन्ति च ।
अस्मत्त्यक्तानि वेश्मानि सौबलः प्रतिपद्यताम् ॥

हम अपने घरोंकी गड़ी हुई निधि निकाल लें । आँगनकी फर्श खोद डालें । सारा धन-धान्य साथ ले लें । सारी आवश्यक वस्तुएँ हटा लें । इनमें चारों ओर धूल भर जाय । देवता इन घरोंको छोड़कर भाग जायँ । चूहे बिलसे बाहर निकलकर इनमें चारों ओर दौड़ लगाने लगें । इनमें न कभी आग जले, न पानी रहे और न झाड़ू ही लगे । यहाँ बलिवैश्वदेव, यज्ञ, मन्त्रपाठ, होम और जप बंद हो जाय । मानो बड़ा भारी अकाल पड़ गया हो, इस प्रकार ये सारे घर ढह जायँ । इनमें टूटे बर्तन बिखरे पड़े हों और हम सदाके लिये इन्हें छोड़ दें—ऐसी दशामें इन घरोंपर कपटी सुबलपुत्र शकुनि आकर अधिकार कर ले ॥

वनं नगरमद्यास्तु यत्र गच्छन्ति पाण्डवाः ।
अस्माभिश्च परित्यक्तं पुरं सम्पद्यतां वनम् ॥

अब जहाँ पाण्डव जा रहे हैं, वह वन ही नगर हो जाय और हमारे छोड़ देनेपर यह नगर ही वनके रूपमें परिणत हो जाय ॥

बिलानि दंष्ट्रिणः सर्वे वनानि मृगपक्षिणः ।
त्यजन्त्वस्मद्भयाद् भीता गजाः सिंहा वनान्यपि ॥

वनमें हमलोगोंके भयसे साँप अपने बिल छोड़कर भाग जायँ, मृग और पक्षी जंगलोंको छोड़ दें तथा हाथी और सिंह भी वहाँसे दूर चले जायँ ॥

अनाक्रान्तं प्रपद्यन्तु सेव्यमानं त्यजन्तु च ।
तृणमांसफलादानां देशांस्त्यक्त्वा मृगद्विजाः ॥
वयं पार्थैर्वने सम्यक् सह वत्स्याम निर्वृताः ।

हमलोग तृण (साग-पात), अन्न और फलका उपयोग करनेवाले हैं । जंगलके हिंसक पशु और पक्षी हमारे रहनेके स्थानोंको छोड़कर चले जायँ । वे ऐसे स्थानका आश्रय लें, जहाँ हम न जायँ और वे उन स्थानोंको छोड़ दें, जिनका हम सेवन करें । हमलोग वनमें कुन्तीपुत्रोंके साथ बड़े सुखसे रहेंगे ।

वैशम्पायन उवाच

इत्येवं विविधा वाचो नानाजनसमीरिताः ।
शुश्राव पार्थः श्रुत्वा च न विचक्रेऽस्य मानसम् ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार भिन्न-भिन्न मनुष्योंकी कही हुई भाँति-भाँतिकी बातें युधिष्ठिरने सुनीं । सुनकर भी उनके मनमें कोई विकार नहीं आया ॥

ततः प्रासादसंस्थास्तु समन्ताद् वै गृहे गृहे ।
ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणां चैव योषितः ॥
ततः प्रासादजालानामुत्पाट्यावरणानि च ।
ददृशुः पाण्डवान् दीनान् रौरवाजिनवाससः ॥
कृष्णां त्वदृष्टपूर्वां तां व्रजन्तीं पद्भिरेव च ।
एकवस्त्रां रुदन्तीं तां मुक्तकेशीं रजस्वलाम् ॥
दृष्ट्वा तदा स्त्रियः सर्वा विवर्णवदना भृशम् ।

विलप्य बहुधा मोहाद् दुःखशोकेन पीडिताः ॥
हा हा धिग् धिग् धिगित्युक्त्वा नेत्रैरश्रूण्यवर्तयन्।)

तदनन्तर चारों ओर महलोंमें रहनेवाली ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंकी स्त्रियाँ अपने-अपने भवनोंकी खिड़कियोंके पर्दे हटाकर दीन पाण्डवोंको देखने लगीं। सब पाण्डवोंने मृगचर्ममय वस्त्र धारण कर रक्खा था। उनके साथ द्रौपदी भी पैदल ही चली जा रही थी। उसे उन स्त्रियोंने पहले कभी नहीं देखा था। उसके शरीरपर एक ही वस्त्र था, केश खुले हुए थे, वह रजस्वला थी और रोती चली जा रही थी। उसे देखकर उस समय सब स्त्रियोंका मुख उदास हो गया। वे क्षोभ एवं मोहके कारण नाना प्रकारसे विलाप करती हुई दुःखशोकसे पीड़ित हो गयीं और 'हाय हाय! इन धृतराष्ट्रपुत्रोंको बार-बार धिक्कार है, धिक्कार है' ऐसा कहकर नेत्रोंसे आँसू बहाने लगीं॥

धार्तराष्ट्रस्त्रियस्ताश्च निखिलेनोपलभ्य तत्।
गमनं परिकर्षं च कृष्णाया द्यूतमण्डले ॥ ३२ ॥
रुरुदुः सुस्वनं सर्वा विनिन्दन्त्यः कुरून् भृशम्।
दध्युश्च सुचिरं कालं करासक्तमुखाम्बुजाः ॥ ३३ ॥

धृतराष्ट्रपुत्रोंकी स्त्रियाँ द्रौपदीके द्यूतसभामें जाने और उसके वस्त्र खींचे जाने (एवं वनमें जाने) आदिका सारा वृत्तान्त सुनकर कौरवोंकी अत्यन्त निन्दा करती हुई फूट-फूटकर रोने लगीं और अपने मुखारविन्दको हथेलीपर रखकर बहुत देरतक गहरी चिन्तामें डूबी रहीं ॥ ३२-३३ ॥

राजा च धृतराष्ट्रस्तु पुत्राणामनयं तदा।
ध्यायन्नुद्विग्नहृदयो न शान्तिमधिजग्मिवान् ॥ ३४ ॥

उस समय अपने पुत्रोंके अन्यायका चिन्तन करके राजा धृतराष्ट्रका भी हृदय उद्विग्न हो उठा। उन्हें तनिक भी शान्ति नहीं मिली ॥ ३४ ॥

स चिन्तयन्ननेकाग्रः शोकव्याकुलचेतनः।
क्षत्तुः सम्प्रेषयामास शीघ्रमागम्यतामिति ॥ ३५ ॥

चिन्तामें पड़े-पड़े उनकी एकाग्रता नष्ट हो गयी। उनका चित्त शोकसे व्याकुल हो रहा था। उन्होंने विदुरके पास संदेश भेजा कि तुम शीघ्र मेरे पास चले आओ ॥ ३५ ॥

ततो जगाम विदुरो धृतराष्ट्रनिवेशनम्।
तं पर्यपृच्छत् संविग्नो धृतराष्ट्रो जनाधिपः ॥ ३६ ॥

तब विदुर राजा धृतराष्ट्रके महलमें गये। उस समय महाराज धृतराष्ट्रने अत्यन्त उद्विग्न होकर उनसे पूछा ॥ ३६ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि द्रौपदीकुन्तीसंवादे एकोनाशीतितमोऽध्यायः ॥ ७९ ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें द्रौपदीकुन्तीसंवादविषयक उनासीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ७९ ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके २९ श्लोक मिलाकर कुल ६५ श्लोक हैं)

अशीतितमोऽध्यायः

वनगमनके समय पाण्डवोंकी चेष्टा और प्रजाजनोंकी शोकातुरताके विषयमें धृतराष्ट्र तथा विदुरका संवाद और शरणागत कौरवोंको द्रोणाचार्यका आश्वासन

वैशम्पायन उवाच

तमागतमथो राजा विदुरं दीर्घदर्शिनम्।
साशङ्क इव पप्रच्छ धृतराष्ट्रोऽम्बिकासुतः ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं— जनमेजय! दूरदर्शी विदुरजीके आनेपर अम्बिकानन्दन राजा धृतराष्ट्रने शङ्कित-सा होकर पूछा ॥ १ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

कथं गच्छति कौन्तेयो धर्मपुत्रो युधिष्ठिरः।
भीमसेनः सव्यसाची माद्रीपुत्रौ च पाण्डवौ ॥ २ ॥

धृतराष्ट्र बोले—विदुर! कुन्तीनन्दन धर्मपुत्र युधिष्ठिर किस प्रकार जा रहे हैं? भीमसेन, अर्जुन, नकुल और सहदेव-ये चारों पाण्डव भी किस प्रकार यात्रा करते हैं। ॥ २ ॥

धौम्यश्चैव कथं क्षत्तर्द्रौपदी च यशस्विनी।
श्रोतुमिच्छाम्यहं सर्वं तेषां शंस विचेष्टितम्॥ ३ ॥

पुरोहित धौम्य तथा यशस्विनी द्रौपदी भी कैसे जा रही है। मैं उन सबकी पृथक्-पृथक् चेष्टाओंको सुनना चाहता हूँ, तुम मुझसे कहो ॥ ३ ॥

विदुर उवाच

वस्त्रेण संवृत्य मुखं कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
बाहू विशालौ सम्पश्यन् भीमो गच्छति पाण्डवः॥ ४ ॥

विदुर बोले—कुन्तीनन्दन युधिष्ठिर वस्त्रसे मुँह ढँककर जा रहे हैं। पाण्डुकुमार भीमसेन अपनी विशाल भुजाओंकी ओर देखते हुए जाते हैं ॥ ४ ॥

सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति।
माद्रीपुत्रः सहदेवो मुखमालिप्य गच्छति ॥ ५ ॥

सव्यसाची अर्जुन बालू बिखेरते हुए राजा युधिष्ठिरके पीछे-पीछे जा रहे हैं। माद्रीकुमार सहदेव अपने मुँहपर मिट्टी पोतकर जाते हैं ॥ ५ ॥

पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलश्चित्तविह्वलः।
दर्शनीयतमो लोके राजानमनुगच्छति ॥ ६ ॥

लोकमें अत्यन्त दर्शनीय मनोहर रूपवाले नकुल अपने सब अङ्गोंमें धूल लपेटकर व्याकुलचित्त हो राजा युधिष्ठिरका अनुसरण कर रहे हैं ॥ ६ ॥

कृष्णा तु केशैः प्रच्छाद्य मुखमायतलोचना।
दर्शनीया प्ररुदती राजानमनुगच्छति ॥ ७ ॥

परम सुन्दरी विशाललोचना कृष्णा अपने केशोंसे ही मुँह ढँककर रोती हुई राजाके पीछे-पीछे जा रही है ॥ ७ ॥

धौम्यो रौद्राणि सामानि याम्यानि च विशाम्पते।
गायन् गच्छति मार्गेषु कुशानादाय पाणिना ॥ ८ ॥

महाराज! पुरोहित धौम्यजी हाथमें कुश लेकर रुद्र तथा यमदेवतासम्बन्धी साम-मन्त्रोंका गान करते हुए आगे-आगे मार्गपर चल रहे हैं ॥ ८ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

विविधानीह रूपाणि कृत्वा गच्छन्ति पाण्डवाः।
तन्ममाचक्ष्व विदुर कस्मादेवं व्रजन्ति ते ॥ ९ ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर! पाण्डवलोग यहाँ जो भिन्न-भिन्न प्रकारकी चेष्टाएँ करते हुए यात्रा कर रहे हैं, उसका क्या रहस्य है, यह बताओ। वे क्यों इस प्रकार जा रहे हैं? ॥ ९ ॥

विदुर उवाच

निकृतस्यापि ते पुत्रैर्हृते राज्ये धनेषु च।
न धर्माच्चलते बुद्धिर्धर्मराजस्य धीमतः ॥ १० ॥

विदुर बोले—महाराज! यद्यपि आपके पुत्रोंने छलपूर्ण बर्ताव किया है। पाण्डवोंका राज्य और धन सब कुछ चला गया है तो भी परम बुद्धिमान् धर्मराज युधिष्ठिरकी बुद्धि धर्मसे विचलित नहीं हो रही है ॥ १० ॥

योऽसौ राजा घृणी नित्यं धार्तराष्ट्रेषु भारत।
निकृत्या भ्रंशितः क्रोधान्नोन्मीलयति लोचने ॥ ११ ॥

भारत! राजा युधिष्ठिर आपके पुत्रोंपर सदा दयाभाव बनाये रखते थे, किंतु इन्होंने छलपूर्ण जूएका आश्रय लेकर उन्हें राज्यसे वञ्चित किया है, इससे उनके मनमें बड़ा क्रोध है और इसीलिये वे अपनी आँखोंको नहीं खोलते हैं ॥ ११ ॥

नाहं जनं निर्दहेयं दृष्ट्वा घोरेण चक्षुषा।
स पिधाय मुखं राजा तस्माद् गच्छति पाण्डवः ॥ १२ ॥

'मैं भयानक दृष्टिसे देखकर किसी (निरपराधी) मनुष्यको भस्म न कर डालूँ' इसी भयसे पाण्डुपुत्र राजा युधिष्ठिर अपना मुँह ढँककर जा रहे हैं ॥ १२ ॥

यथा च भीमो व्रजति तन्मे निगदतः शृणु।
बाह्वोर्बले नास्ति समो ममेति भरतर्षभ ॥ १३ ॥

अब भीमसेन जिस प्रकार चल रहे हैं, उसका रहस्य बताता हूँ, सुनिये! भरतश्रेष्ठ! उन्हें इस बातका अभिमान है कि बाहुबलमें मेरे समान दूसरा कोई नहीं है ॥ १३ ॥

बाहू विशालौ कृत्वासौ तेन भीमोऽपि गच्छति।
बाहू विदर्शयन् राजन् बाहुद्रविणदर्पितः ॥ १४ ॥
चिकीर्षन् कर्म शत्रुभ्यो बाहुद्रव्यानुरूपतः।

इसीलिये वे अपनी विशाल भुजाओंकी ओर देखते हुए यात्रा करते हैं। राजन्! अपने बाहुबलरूपी वैभवपर उन्हें गर्व है। अतः वे अपनी दोनों भुजाएँ दिखाते हुए शत्रुओंसे बदला लेनेके लिये अपने बाहुबलके अनुरूप ही पराक्रम करना चाहते हैं ॥ १४½ ॥

प्रदिशञ्छरसम्पातान् कुन्तीपुत्रोऽर्जुनस्तदा ॥ १५ ॥
सिकता वपन् सव्यसाची राजानमनुगच्छति।
असक्ताः सिकतास्तस्य यथा सम्प्रति भारत।
असक्तं शरवर्षाणि तथा मोक्ष्यति शत्रुषु ॥ १६ ॥

कुन्तीपुत्र सव्यसाची अर्जुन उस समय राजाके पीछे-पीछे जो बालू बिखेरते हुए यात्रा कर रहे थे, उसके द्वारा वे शत्रुओंपर बाण बरसानेकी अभिलाषा व्यक्त करते थे। भारत! इस समय उनके गिराये हुए बालूके कण जैसे आपसमें संसक्त न होते हुए लगातार गिरते हैं, उसी प्रकार वे शत्रुओंपर परस्पर संसक्त न होनेवाले असंख्य बाणोंकी वर्षा करेंगे ॥

न मे कश्चिद् विजानीयान्मुखमद्येति भारत।
मुखमालिप्य तेनासौ सहदेवोऽपि गच्छति ॥ १७ ॥

भारत! 'आज इस दुर्दिनमें कोई मेरे मुँहको पहचान न ले', यही सोचकर सहदेव अपने मुँहमें मिट्टी पोतकर जा रहे हैं ॥ १७ ॥

नाहं मनांस्याददेयं मार्गे स्त्रीणामिति प्रभो।
पांसूपलिप्तसर्वाङ्गो नकुलस्तेन गच्छति ॥ १८ ॥

प्रभो! 'मार्गमें मैं स्त्रियोंका चित्त न चुरा लूँ' इस भयसे नकुल अपने सारे अङ्गोंमें धूल लगाकर यात्रा करते हैं ॥ १८ ॥

एकवस्त्रा प्ररुदती मुक्तकेशी रजस्वला।
शोणितेनाक्तवसना द्रौपदी वाक्यमब्रवीत् ॥ १९ ॥

द्रौपदीके शरीरपर एक ही वस्त्र था, उसके बाल खुले हुए थे, वह रजस्वला थी और उसके कपड़ोंमें रक्त (रज) का दाग लगा हुआ था, उसने रोते हुए यह बात कही थी ॥ १९ ॥

यत्कृतेऽहमिदं प्राप्ता तेषां वर्षे चतुर्दशे ।
हतपत्यो हतसुता हतबन्धुजनप्रियाः ॥ २० ॥
बहुशोणितदिग्धाङ्ग्यो मुक्तकेश्यो रजस्वलाः।
एवं कृतोदका भार्याः प्रवेक्ष्यन्ति गजाह्वयम् ॥ २१ ॥

'जिनके अन्यायसे आज मैं इस दशाको पहुँची हूँ,आजके चौदहवें वर्षमें उनकी स्त्रियाँ भी अपने पति, पुत्र और बन्धु-बान्धवोंके मारे जानेसे उनकी लाशोंके पास लोट-लोटकर रोयेंगी और अपने अङ्गोंमें रक्त तथा धूल लपेटे, बाल खोले हुए, अपने सगे-सम्बन्धियोंको तिलाञ्जलि दे इसी प्रकार हस्तिनापुरमें प्रवेश करेंगी' ॥ २०-२१ ॥

कृत्वा तु नैर्ऋतान् दर्भान् धीरो धौम्यःपुरोहितः।
सामानि गायन् याम्यानि पुरतो याति भारत ॥ २२ ॥

भारत ! धीरस्वभाववाले पुरोहित धौम्यजी कुशोंका अग्रभाग नैर्ऋत्यकोणकी ओर करके यमदेवतासम्बन्धी साममन्त्रोंका गान करते हुए पाण्डवोंके आगे-आगे जा रहे हैं ॥ २२ ॥

हतेषु भारतेष्वाजौ कुरूणां गुरवस्तदा ।
एवं सामानि गास्यन्ती त्युक्त्वा धौम्योऽपि गच्छति ॥

धौम्यजी यह कहकर गये थे कि युद्धमें कौरवोंके मारे जानेपर उनके गुरु भी इसी प्रकार कभी साम-गान करेंगे ॥२३॥

हाहा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम् ।
अहो धिक् कुरुवृद्धानां बालानामिव चेष्टितम् ॥ २४ ॥
राष्ट्रेभ्यः पाण्डुदायादाँल्लोभान्निर्वासयन्ति ये ।
अनाथाः स्म वयं सर्वे वियुक्ताः पाण्डुनन्दनैः॥ २५ ॥
दुर्विनीतेषु लुब्धेषु का प्रीतिः कौरवेषु नः ।
इति पौराः सुदुःखार्ताः क्रोशन्ति स्म पुनः पुनः ॥ २६ ॥

महाराज ! उस समय नगरके लोग अत्यन्त दुःखसे आतुर हो बार-बार चिल्लाकर कह रहे थे कि 'हाय-हाय! हमारे स्वामी पाण्डव चले जा रहे हैं। अहो ! कौरवोंमें जो बड़े-बूढ़े लोग हैं, उनकी यह बालकोंकी-सी चेष्टा तो देखो । धिक्कार है उनके इस बर्तावको ! ये कौरव लोभवश महाराज पाण्डुके पुत्रोंको राज्यसे निकाल रहे हैं। इन पाण्डुपुत्रोंसे वियुक्त होकर हम सब लोग आज अनाथ हो गये। इन लोभी और उद्दण्ड कौरवोंके प्रति हमारा प्रेम कैसे हो सकता है' ॥२४-२६॥

एवमाकारलिङ्गैस्ते व्यवसायं मनोगतम् ।
कथयन्तश्च कौन्तेया वनं जग्मुर्मनस्विनः ॥ २७ ॥

महाराज ! इस प्रकार मनस्वी कुन्तीपुत्र अपनी आकृति एवं चिह्नोंके द्वारा अपने आन्तरिक निश्चयको प्रकट करते हुए वनको गये हैं ॥ २७ ॥

एवं तेषु नराग्र्येषु निर्यत्सु गजसाह्वयात् ।
अनभ्रे विद्युतश्चासन् भूमिश्च समकम्पत ॥ २८ ॥

राहुरग्रसदादित्यमपर्वणि विशाम्पते ।
उल्का चाप्यपसव्येन पुरं कृत्वा व्यशीर्यत ॥ २९ ॥

हस्तिनापुरसे उन नरश्रेष्ठ पाण्डवोंके निकलते ही बिना बादलके बिजली गिरने लगी, पृथ्वी काँप उठी। राजन्! बिना पर्व (अमावस्या) के ही राहुने सूर्यको ग्रस लिया था और नगरको दायें रखकर उल्का गिरी थी ॥ २८-२९ ॥

प्रत्याहरन्ति क्रव्यादा गृध्रगोमायुवायसाः ।
देवायतनचैत्येषु प्राकाराट्टालकेषु च ॥ ३० ॥

गीध, गीदड़ और कौवे आदि मांसाहारी जन्तु नगरके मन्दिरों, देववृक्षों, चहारदीवारी तथा अट्टालिकाओंपर मांस और हड्डी आदि लाकर गिराने लगे थे ॥ ३० ॥

एवमेते महोत्पाताः प्रादुरासन् दुरासदाः ।
भरतानामभावाय राजन् दुर्मन्त्रिते तव ॥ ३१ ॥

राजन् ! इस प्रकार आपकी दुर्मन्त्रणाके कारण ऐसे-ऐसे अपशकुनरूप दुर्दम्य एवं महान् उत्पात प्रकट हुए हैं, जो भरतवंशियोंके विनाशकी सूचना दे रहे हैं ॥ ३१ ॥

वैशम्पायन उवाच

एवं प्रवदतोरेव तयोस्तत्र विशाम्पते ।
धृतराष्ट्रस्य राज्ञश्च विदुरस्य च धीमतः ॥ ३२ ॥
नारदश्च सभामध्ये कुरूणामग्रतः स्थितः ।
महर्षिभिः परिवृतो रौद्रं वाक्यमुवाच ह ॥ ३३ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! इस प्रकार राजा धृतराष्ट्र और बुद्धिमान् विदुर जब दोनों वहाँ बातचीत कर रहे थे, उसी समय सभामें महर्षियोंसे घिरे हुए देवर्षि नारद कौरवोंके सामने आकर खड़े हो गये और यह भयंकर वचन बोले—॥ ३२-३३ ॥

इतश्चतुर्दशे वर्षे विनङ्क्ष्यन्तीह कौरवाः ।
दुर्योधनापराधेन भीमार्जुनबलेन च ॥ ३४ ॥

'आजसे चौदहवें वर्षमें दुर्योधनके अपराधसे भीम और अर्जुनके पराक्रमद्वारा कौरवकुलका नाश हो जायगा' ॥३४॥

इत्युक्त्वा दिवमाक्रम्य क्षिप्रमन्तरधीयत ।
ब्राह्मीं श्रियं सुविपुलां बिभ्रद् देवर्षिसत्तमः ॥ ३५ ॥

ऐसा कहकर विशाल ब्रह्मतेज धारण करनेवाले देवर्षिप्रवर नारद आकाशमें जाकर सहसा अन्तर्धान हो गये ॥ ३५ ॥

(धृतराष्ट्र उवाच

किमब्रुवन् नागरिकाः किं वै जानपदा जनाः ।
मह्यं तत्त्वेन चाचक्ष्व क्षत्तः सर्वमदोषतः ॥

धृतराष्ट्रने पूछा—विदुर ! जब पाण्डव वनको जाने लगे, उस समय नगर और देशके लोग क्या कह रहे थे, ये सब बातें मुझे पूर्णरूपसे ठीक-ठीक बताओ ॥

विदुर उवाच

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा येऽन्ये वदन्त्यथ ।
तच्छृणुष्व महाराज वक्ष्यते च मया तव ॥

विदुर बोले—महाराज ! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा अन्यलोग इस घटनाके सम्बन्धमें जो कुछ कहते हैं, वह सुनिये, मैं आपसे सब बातें बता रहा हूँ ॥

हाहा गच्छन्ति नो नाथाः समवेक्षध्वमीदृशम् ।
इति पौराः सुदुःखार्ताः शोचन्ति स्म समन्ततः॥

पाण्डवोंके जाते समय समस्त पुरवासी दुःखसे आतुर हो सब ओर शोकमें डूबे हुए थे और इस प्रकार कह रहे थे—'हाय ! हाय ! हमारे स्वामी, हमारे रक्षक वनमें चले जा रहे हैं। भाइयो ! देखो, धृतराष्ट्रके पुत्रोंका यह कैसा अन्याय है ?' ॥

तदहृष्टमिवाकूजं गतोत्सवमिवाभवत् ।
नगरं हास्तिनपुरं सस्त्रीवृद्धकुमारकम् ॥

स्त्री, बालक और वृद्धोंसहित सारा हस्तिनापुर नगर हर्षरहित, शब्दशून्य तथा उत्सवहीन-सा हो गया ॥

सर्वे चासन् निरुत्साहा व्याधिना बाधिता यथा॥
पार्थान् प्रति नरा नित्यं चिन्ताशोकपरायणाः ।
तत्र तत्र कथां चक्रुः समासाद्य परस्परम् ॥

सब लोग कुन्तीपुत्रोंके लिये निरन्तर चिन्ता एवं शोकमें निमग्न हो उत्साह खो बैठे थे । सबकी दशा रोगियोंके समान हो गयी थी । सब एक दूसरेसे मिलकर जहाँ-तहाँ पाण्डवों-के विषयमें ही वार्तालाप करते थे ॥

वनं गते धर्मराजे दुःखशोकपरायणाः ।
बभूवुः कौरवा वृद्धा भृशं शोकेन पीडिताः ॥

धर्मराजके वनमें चले जानेपर समस्त वृद्ध कौरव भी अत्यन्त शोकसे व्यथित हो दुःख और चिन्तामें निमग्न हो गये ॥

ततः पौरजनः सर्वः शोचन्नास्ते जनाधिपम् ।
कुर्वाणाश्च कथास्तत्र ब्राह्मणाः पार्थिवं प्रति ॥

तदनन्तर समस्त पुरवासी राजा युधिष्ठिरके लिये शोका-कुल हो गये । उस समय वहाँ ब्राह्मणलोग राजा युधिष्ठिरके विषयमें निम्नाङ्कित बातें करने लगे ॥

ब्राह्मणा ऊचुः

कथं नु राजा धर्मात्मा वने वसति निर्जने ।
तस्यानुजाश्च ते नित्यं कृष्णा च द्रुपदात्मजा ॥
सुखार्हापि च दुःखार्ता कथं वसति सा वने ॥

ब्राह्मणोंने कहा—हाय ! धर्मात्मा राजा युधिष्ठिर और उनके भाई निर्जन वनमें कैसे रहेंगे ! तथा द्रुपदकुमारी कृष्णा तो सुख भोगने ही योग्य है, वह दुःखसे आतुर हो वनमें कैसे रहेगी ॥

विदुर उवाच

एवं पौराश्च विप्राश्च सदाराः सहपुत्रकाः ।
स्मरन्तः पाण्डवान् सर्वे बभूवुर्भृशदुःखिताः ॥

विदुरजी कहते हैं—राजन् ! इस प्रकार पुरवासी ब्राह्मण अपनी स्त्रियों और पुत्रोंके साथ पाण्डवोंका स्मरण करते हुए बहुत दुखी हो गये ॥

आविद्धा इव शस्त्रेण नाभ्यनन्दन् कथंचन ।
सम्भाष्यमाणा अपि ते न कंचित् प्रत्यपूजयन् ॥

शस्त्रोंके आघातसे घायल हुए मनुष्योंकी भाँति वे किसी प्रकार सुखी न हो सके । बात कहनेपर भी वे किसीको आदरपूर्वक उत्तर नहीं देते थे ॥

न भुक्त्वा न शयित्वा ते दिवा वा यदि वा निशि ।
शोकोपहतविज्ञाना नष्टसंज्ञा इवाभवन् ॥

उन्होंने दिन अथवा रातमें न तो भोजन किया और न नींद ही ली; शोकके कारण उनका सारा विज्ञान आच्छा-दित हो गया था । वे सब-के-सब अचेत-से हो रहे थे ॥

यदवस्था बभूवार्ता ह्ययोध्या नगरी पुरा ।
रामे वनं गते दुःखाद्धृतराज्ये सलक्ष्मणे ॥
तदवस्थं बभूवार्तमद्येदं गजसाह्वयम् ।
गते पार्थे वनं दुःखाद्धृतराज्ये सहानुजैः ॥

जैसे त्रेतायुगमें राज्यका अपहरण हो जानेपर लक्ष्मण-सहित श्रीरामचन्द्रजीके वनमें चले जानेके बाद अयोध्या नगरी दुःखसे अत्यन्त आतुर हो बड़ी दुरवस्थाको पहुँच गयी थी, वही दशा राज्यके अपहरण हो जानेपर भाइयोंसहित युधिष्ठिरके वनमें चले जानेसे आज हमारे इस हस्तिनापुरकी हो गयी है ॥

वैशम्पायन उवाच

विदुरस्य वचः श्रुत्वा नागरस्य गिरं च वै ।
भूयो मुमोह शोकाच्च धृतराष्ट्रः सबान्धवः ॥)

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! विदुरका कथन और पुरवासियोंकी कही हुई बातें सुनकर बन्धु-बान्धवोंसहित राजा धृतराष्ट्र पुनः शोकसे मूर्छित हो गये ॥

ततो दुर्योधनः कर्णः शकुनिश्चापि सौबलः ।
द्रोणं द्वीपममन्यन्त राज्यं चास्मै न्यवेदयन् ॥ ३६ ॥

तब दुर्योधन, कर्ण और सुबलपुत्र शकुनिने द्रोणको अपना द्वीप (आश्रय) माना और सम्पूर्ण राज्य उनके चरणोंमें समर्पित कर दिया ॥ ३६ ॥

अथाब्रवीत् ततो द्रोणो दुर्योधनममर्षणम् ।
दुःशासनं च कर्णं च सर्वानेव च भारतान् ॥ ३७ ॥

उस समय द्रोणाचार्यने अमर्षशील दुर्योधन, दुःशासन, कर्ण तथा अन्य सब भरतवंशियोंसे कहा— ॥ ३७ ॥

अवध्यान् पाण्डवान् प्राहुर्देवपुत्रान् द्विजातयः ।
अहं वै शरणं प्राप्तान् वर्तमानो यथाबलम् ॥ ३८ ॥
गन्ता सर्वात्मना भक्त्या धार्तराष्ट्रान् सराजकान् ।
नोत्सहेयं परित्यक्तुं दैवं हि बलवत्तरम् ॥ ३९ ॥

'पाण्डव देवताओंके पुत्र हैं, अतः ब्राह्मणलोग उन्हें अवध्य बतलाते हैं। मैं यथाशक्ति सम्पूर्ण हृदयसे तुम्हारे अनुकूल प्रयत्न करता हुआ तुम्हारा साथ दूँगा। भक्तिपूर्वक अपनी शरणमें आये हुए इन राजाओंसहित धृतराष्ट्रपुत्रोंका परित्याग करनेका साहस नहीं कर सकता। दैव ही सबसे प्रबल है ॥ ३८-३९ ॥

धर्मतः पाण्डुपुत्रा वै वनं गच्छन्ति निर्जिताः ।
ते च द्वादश वर्षाणि वने वत्स्यन्ति पाण्डवाः ॥ ४० ॥

'पाण्डव जूएमें पराजित होकर धर्मके अनुसार वनमें गये हैं। वे वहाँ बारह वर्षोंतक रहेंगे ॥ ४० ॥

चरितब्रह्मचर्याश्च क्रोधामर्षवशानुगाः ।
वैरं निर्यातयिष्यन्ति महद् दुःखाय पाण्डवाः ॥ ४१ ॥

'वनमें पूर्णरूपसे ब्रह्मचर्यका पालन करके जब वे क्रोध और अमर्षके वशीभूत हो यहाँ लौटेंगे, उस समय वैरका बदला अवश्य लेंगे। उनका वह प्रतीकार हमारे लिये महान् दुःखका कारण होगा ॥ ४१ ॥

मया च भ्रंशितो राजन् द्रुपदः सखिविग्रहे ।
पुत्रार्थमयजद् राजा वधाय मम भारत ॥ ४२ ॥

'राजन्! मैंने मैत्रीके विषयको लेकर कलह प्रारम्भ होनेपर राजा द्रुपदको उनके राज्यसे भ्रष्ट किया था; भारत! इससे दुखी होकर उन्होंने मेरे वधके लिये पुत्र प्राप्त करनेकी इच्छासे एक यज्ञका आयोजन किया ॥ ४२ ॥

याजोपयाजतपसा पुत्रं लेभे स पावकात् ।
धृष्टद्युम्नं द्रौपदीं च वेदीमध्यात् सुमध्यमाम् ॥ ४३ ॥

'याज और उपयाजकी तपस्यासे उन्होंने अग्निसे धृष्टद्युम्न और वेदीके मध्यभागसे सुन्दरी द्रौपदीको प्राप्त किया ॥ ४३ ॥

धृष्टद्युम्नस्तु पार्थानां श्यालः सम्बन्धतो मतः ।
पाण्डवानां प्रियरतस्तस्मान्मां भयमाविशत् ॥ ४४ ॥

'धृष्टद्युम्न तो सम्बन्धकी दृष्टिसे कुन्तीपुत्रोंका साला ही है, अतः सदा उनका प्रिय करनेमें लगा रहता है, उसीसे मुझे भय है ॥ ४४ ॥

ज्वालावर्णो देवदत्तो धनुष्मान् कवची शरी ।
मर्त्यधर्मतया तस्मादद्य मे साध्वसो महान् ॥ ४५ ॥

'उसके शरीरकी कान्ति अग्निकी ज्वालाके समान उद्भासित होती है। वह देवताका दिया हुआ पुत्र है और धनुष, बाण तथा कवचके साथ प्रकट हुआ है। मरणधर्मा मनुष्य होनेके कारण मुझे अब उससे महान् भय लगता है ॥ ४५ ॥

गतो हि पक्षतां तेषां पार्षतः परवीरहा ।
रथातिरथसंख्यायां योऽग्रणीरर्जुनो युवा ॥ ४६ ॥
सृष्टप्राणो भृशतरं तेन चेत् संगमो मम ।
किमन्यद् दुःखमधिकं परमं भुवि कौरवाः ॥ ४७ ॥

'शत्रुवीरोंका संहार करनेवाला द्रुपदकुमार धृष्टद्युम्न पाण्डवोंके पक्षका पोषक हो गया है। रथियों और अतिरथियोंकी गणनामें जिसका नाम सबसे पहले लिया जाता है, वह तरुण वीर अर्जुन धृष्टद्युम्नके लिये, यदि मेरे साथ उसका युद्ध हुआ तो, लड़कर प्राणतक देनेके लिये उद्यत हो जायगा। कौरवो! (अर्जुनके साथ मुझे लड़ना पड़े) इस पृथ्वीपर इससे बढ़कर महान् दुःख मेरे लिये और क्या हो सकता है? ॥ ४६-४७ ॥

धृष्टद्युम्नो द्रोणमृत्युरिति विप्रथितं वचः ।
मद्वधाय श्रुतोऽप्येष लोके चाप्यतिविश्रुतः ॥ ४८ ॥

'धृष्टद्युम्न द्रोणकी मौत है, यह बात सर्वत्र फैल चुकी है। मेरे वधके लिये ही उसका जन्म हुआ है! यह भी सब लोगोंने सुन रक्खा है। धृष्टद्युम्न स्वयं भी संसारमें अपनी वीरताके लिये विख्यात है ॥ ४८ ॥

सोऽयं नूनमनुप्राप्तस्त्वत्कृते काल उत्तमः ।
त्वरितं कुरुत श्रेयो नैतदेतावता कृतम् ॥ ४९ ॥

'तुम्हारे लिये यह निश्चय ही बहुत उत्तम अवसर प्राप्त हुआ है। शीघ्र ही अपने कल्याण-साधनमें लग जाओ। पाण्डवोंको वनवास दे देनेमात्रसे तुम्हारा अभीष्ट सिद्ध नहीं हो सकता ॥ ४९ ॥

मुहूर्तं सुखमेवैतत् तालच्छायेव हैमनी ।
यजध्वं च महायज्ञैर्भोगानश्नीत दत्त च ॥ ५० ॥
इतश्चतुर्दशे वर्षे महत् प्राप्स्यथ वैशसम् ।

'यह राज्य तुमलोगोंके लिये शीतकालमें होनेवाली ताड़के पेड़की छायाके समान दो ही घड़ीतक सुख देनेवाला है। अब तुम बड़े-बड़े यज्ञ करो, मनमाने भोग भोगो और इच्छानुसार दान कर लो। आजसे चौदहवें वर्षमें तुम्हें बहुत बड़ी मार-काटका सामना करना पड़ेगा' ॥ ५०½ ॥

द्रोणस्य वचनं श्रुत्वा धृतराष्ट्रोऽब्रवीदिदम् ॥ ५१ ॥

द्रोणाचार्यकी यह बात सुनकर धृतराष्ट्रने कहा— ॥ ५१ ॥

सम्यगाह गुरुः क्षत्तरुपावर्तय पाण्डवान् ।
यदि ते न निवर्तन्ते सत्कृता यान्तु पाण्डवाः ।

सशस्त्ररथपादाता भोगवन्तश्च पुत्रकाः ॥ ५२ ॥

'विदुर ! गुरु द्रोणाचार्यने ठीक कहा है । तुम पाण्डवोंको लौटा लाओ । यदि वे न लौटें तो वे अस्त्र-शस्त्रोंसे युक्त रथियों और पैदल सेनाओंसे सुरक्षित और भोगसामग्रीसे सम्पन्न हो सत्कारपूर्वक वनमें भ्रमणके लिये जायँ; क्योंकि वे भी मेरे पुत्र ही हैं' ॥ ५२ ॥

इति श्रीमहाभारते सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि विदुरधृतराष्ट्रद्रोणवाक्ये अशीतितमोऽध्यायः ॥ ८० ॥

इस प्रकार श्रीमहाभारत सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें विदुर, धृतराष्ट्र और द्रोणके वचनविषयक असीवाँ अध्याय पूरा हुआ ॥ ८० ॥

(दाक्षिणात्य अधिक पाठके १५ श्लोक मिलाकर कुल ६७ श्लोक हैं)

एकाशीतितमोऽध्यायः

धृतराष्ट्रकी चिन्ता और उनका संजयके साथ वार्तालाप

वैशम्पायन उवाच

वनं गतेषु पार्थेषु निर्जितेषु दुरोदरे ।
धृतराष्ट्रं महाराज तदा चिन्ता समाविशत् ॥ १ ॥

वैशम्पायनजी कहते हैं—जनमेजय ! जब पाण्डव जूएमें हारकर वनमें चले गये, तब राजा धृतराष्ट्रको बड़ी चिन्ता हुई ॥ १ ॥

तं चिन्तयानमासीनं धृतराष्ट्रं जनेश्वरम् ।
निःश्वसन्तमनेकाग्रमिति होवाच संजयः ॥ २ ॥

महाराज धृतराष्ट्रको लंबी साँस खींचते और उद्विग्नचित्त होकर चिन्तामें डूबे हुए देख संजयने इस प्रकार कहा ॥ २ ॥

संजय उवाच

अवाप्य वसुसम्पूर्णां वसुधां वसुधाधिप ।
प्रव्राज्य पाण्डवान् राज्याद् राजन् किमनुशोचसि ॥ ३ ॥

संजय बोले—पृथ्वीनाथ ! यह धन-रत्नोंसे सम्पन्न वसुधाका राज्य पाकर और पाण्डवोंको अपने देशसे निकालकर अब आप क्यों शोकमग्न हो रहे हैं ? ॥ ३ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

अशोच्यत्वं कुतस्तेषां येषां वैरं भविष्यति ।
पाण्डवैर्युद्धशौण्डैर्हि बलवद्भिर्महारथैः ॥ ४ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—जिन लोगोंका युद्धकुशल बलवान् महारथी पाण्डवोंसे वैर होगा, वे शोकमग्न हुए बिना कैसे रह सकते हैं ? ॥ ४ ॥

संजय उवाच

तवेदं सुकृतं राजन् महद् वैरमुपस्थितम् ।
विनाशो येन लोकस्य सानुबन्धो भविष्यति ॥ ५ ॥

संजय बोले—राजन् ! यह आपकी अपनी ही की हुई करतूत है, जिससे यह महान् वैर उपस्थित हुआ है और इसीके कारण सम्पूर्ण जगत्का सगे-सम्बन्धियोंसहित विनाश हो जायगा ॥ ५ ॥

वार्यमाणो हि भीष्मेण द्रोणेन विदुरेण च ।
पाण्डवानां प्रियां भार्यां द्रौपदीं धर्मचारिणीम् ॥ ६ ॥
प्राहिणोदानयेहेति पुत्रो दुर्योधनस्तव ।
सूतपुत्रं सुमन्दात्मा निर्लज्जः प्रातिकामिनम् ॥ ७ ॥

भीष्म, द्रोण और विदुरने बार-बार मना किया तो भी आपके मूढ़ और निर्लज्ज पुत्र दुर्योधनने सूतपुत्र प्रातिकामीको यह आदेश देकर भेजा कि तुम पाण्डवोंकी प्यारी पत्नी धर्मचारिणी द्रौपदीको सभामें ले आओ ॥ ६-७ ॥

यस्मै देवाः प्रयच्छन्ति पुरुषाय पराभवम् ।
बुद्धिं तस्यापकर्षन्ति सोऽवाचीनानि पश्यति ॥ ८ ॥
बुद्धौ कलुषभूतायां विनाशे समुपस्थिते ।
अनयो नयसंकाशो हृदयान्नापसर्पति ॥ ९ ॥

देवतालोग जिस पुरुषको पराजय देना चाहते हैं, उसकी बुद्धि ही पहले हर लेते हैं, इससे वह सब कुछ उल्टा ही देखने लगता है । विनाशकाल उपस्थित होनेपर जब बुद्धि मलिन हो जाती है, उस समय अन्याय ही न्यायके समान जान पड़ता है और वह हृदयसे किसी प्रकार नहीं निकलता ॥ ८-९ ॥

अनर्थाश्चार्थरूपेण अर्थाश्चानर्थरूपिणः ।
उत्तिष्ठन्ति विनाशाय नूनं तच्चास्य रोचते ॥ १० ॥

उस समय उस पुरुषके विनाशके लिये अनर्थ ही अर्थरूपसे और अर्थ भी अनर्थरूपसे उसके सामने उपस्थित होते हैं और निश्चय ही अर्थरूपमें आया हुआ अनर्थ ही उसे अच्छा लगता है ॥ १० ॥

न कालो दण्डमुद्यम्य शिरः कृन्तति कस्यचित् ।
कालस्य बलमेतावद् विपरीतार्थदर्शनम् ॥ ११ ॥

काल डंडा या तलवार लेकर किसीका सिर नहीं काटता । कालका बल इतना ही है कि वह प्रत्येक वस्तुके विषयमें मनुष्यकी विपरीत बुद्धि कर देता है ॥ ११ ॥

आसादितमिदं घोरं तुमुलं लोमहर्षणम् ।
पाञ्चालीमपकर्षद्भिः सभामध्ये तपस्विनीम् ॥ १२ ॥

अयोनिजां रूपवतीं कुले जातां विभावसोः।
को नु तां सर्वधर्मज्ञां परिभूय यशस्विनीम् ॥ १३ ॥
पर्यानयेत् सभामध्ये विना दुर्द्यूतदेविनम्।
स्त्रीधर्मिणी वरारोहा शोणितेन परिप्लुता ॥ १४ ॥
एकवस्त्राथ पाञ्चाली पाण्डवानभ्यवैक्षत।
हृतस्वान् हृतराज्यांश्च हृतवस्त्रान् हृतश्रियः ॥ १५ ॥
विहीनान् सर्वकामेभ्यो दासभावमुपागतान्।
धर्मपाशपरिक्षिप्तानशक्तानिव विक्रमे ॥ १६ ॥

पाञ्चालराजकुमारी द्रौपदी तपस्विनी है। उसका जन्म किसी मानवी स्त्रीके गर्भसे नहीं हुआ है, वह अग्निके कुलमें उत्पन्न हुई और अनुपम सुन्दरी है। वह सब धर्मोंको जाननेवाली तथा यशस्विनी है। उसे भरी सभामें खींचकर लानेवाले दुष्टोंने भयंकर तथा रोंगटे खड़े कर देनेवाले घमासान युद्धकी सम्भावना उत्पन्न कर दी है। अधर्मपूर्वक जूआ खेलनेवाले दुर्योधनके सिवा कौन है, जो द्रौपदीको सभामें बुला सके। सुन्दर शरीरवाली पाञ्चालराजकुमारी स्त्रीधर्मसे युक्त (रजस्वला) थी। उसका वस्त्र रक्तसे सना हुआ था। वह एक ही साड़ी पहने हुए थी। उसने सभामें आकर पाण्डवोंको देखा। उन पाण्डवोंके धन, राज्य, वस्त्र और लक्ष्मी सबका अपहरण हो चुका था। वे सम्पूर्ण मनोवाञ्छित भोगोंसे वञ्चित हो दासभावको प्राप्त हो गये थे। धर्मके बन्धनमें बँधे रहनेके कारण वे पराक्रम दिखानेमें भी असमर्थ-से हो रहे थे ॥ १२-१६ ॥

क्रुद्धां चानर्हतीं कृष्णां दुःखितां कुरुसंसदि।
दुर्योधनश्च कर्णश्च कटुकान्यभ्यभाषताम् ॥ १७ ॥

उनकी यह दशा देखकर कृष्णा क्रोध और दुःखमें डूब गयी। वह तिरस्कारके योग्य कदापि न थी, तो भी कौरवोंकी सभामें दुर्योधन और कर्णने उसे कटु वचन सुनाये ॥ १७ ॥

इति सर्वमिदं राजन्नाकुलं प्रतिभाति मे।

राजन्! ये सारी बातें मुझे महान् दुःखको निमन्त्रण देनेवाली जान पड़ती हैं ॥ १७½ ॥

धृतराष्ट्र उवाच

तस्याः कृपणचक्षुर्भ्यां प्रदह्येतापि मेदिनी ॥ १८ ॥

धृतराष्ट्रने कहा—संजय! द्रौपदीके उन दीनतापूर्ण नेत्रोंद्वारा यह सारी पृथ्वी दग्ध हो सकती थी ॥ १८ ॥

अपि शेषं भवेदद्य पुत्राणां मम संजय।
भरतानां स्त्रियः सर्वा गान्धार्या सह संगताः ॥ १९ ॥
प्राक्रोशन् भैरवं तत्र दृष्ट्वा कृष्णां सभागताम्।
धर्मिष्ठां धर्मपत्नीं च रूपयौवनशालिनीम् ॥ २० ॥

संजय! उसके अभिशापसे मेरे सभी पुत्रोंका आज ही संहार हो जाता, परंतु उसने सब कुछ चुपचाप सह लिया। जिस समय रूप और यौवनसे सुशोभित होनेवाली पाण्डवोंकी धर्मपरायणा धर्मपत्नी कृष्णा सभामें लायी गयी, उस समय वहाँ उसे देखकर भरतवंशकी सभी स्त्रियाँ गान्धारीके साथ मिलकर बड़े भयानक स्वरसे विलाप एवं चीत्कार करने लगीं ॥ १९-२० ॥

प्रजाभिः सह संगम्य ह्यनुशोचन्ति नित्यशः।
अग्निहोत्राणि सायाह्ने न चाहूयन्त सर्वशः ॥ २१ ॥
ब्राह्मणाः कुपिताश्चासन् द्रौपद्याः परिकर्षणे।

ये सारी स्त्रियाँ प्रजावर्गकी स्त्रियोंके साथ मिलकर रात-दिन सदा इसीके लिये शोक करती रहती हैं। उस दिन द्रौपदीका वस्त्र खींचे जानेके कारण सब ब्राह्मण कुपित हो उठे थे, अतः सायंकाल हमारे घरोंमें उन्होंने अग्निहोत्र तक नहीं किया ॥ २१½ ॥

आसीन्निष्ठानको घोरो निर्घातश्च महानभूत् ॥ २२ ॥
दिव उल्काश्चापतन्त राहुश्चार्कमुपाग्रसत्।
अपर्वणि महाघोरं प्रजानां जनयन् भयम् ॥ २३ ॥

उस समय प्रलयकालीन मेघोंकी भयानक गर्जनाके समान भारी आवाजके साथ बड़े जोरकी आँधी चलने लगी। वज्रपातका-सा अत्यन्त कर्कश शब्द होने लगा। आकाशसे उल्काएँ गिरने लगीं तथा राहुने बिना पर्वके ही सूर्यको ग्रस लिया और प्रजाके लिये अत्यन्त घोर भय उपस्थित कर दिया ॥ २२-२३ ॥

तथैव रथशालासु प्रादुरासीद्धुताशनः।
ध्वजाश्चापि व्यशीर्यन्त भरतानामभूतये ॥ २४ ॥

इसी प्रकार हमारी रथशालाओंमें आग लग गयी और रथोंकी ध्वजाएँ जलकर खाक हो गयीं, जो भरतवंशियोंके लिये अमङ्गलकी सूचना देनेवाली थीं ॥ २४ ॥

दुर्योधनस्याग्निहोत्रे प्राक्रोशन् भैरवं शिवाः।
तास्तदा प्रत्यभाषन्त रासभाः सर्वतो दिशः ॥ २५ ॥

दुर्योधनके अग्निहोत्रगृहमें गीदड़ियाँ आकर भयंकर स्वरसे हुँआ-हुँआ करने लगीं। उनकी आवाज सुनते ही चारों दिशाओंमें गधे रेंकने लगे ॥ २५ ॥

प्रातिष्ठत ततो भीष्मो द्रोणेन सह संजय।
कृपश्च सोमदत्तश्च बाह्लीकश्च महामनाः ॥ २६ ॥
ततोऽहमब्रुवं तत्र विदुरेण प्रचोदितः।
वरं ददानि कृष्णायै काङ्क्षितं यद् यदिच्छति ॥ २७ ॥

संजय! यह सब देखकर द्रोणके साथ भीष्म, कृपाचार्य, सोमदत्त और महामना बाह्लीक यहाँसे उठकर चले गये।

तब मैंने विदुरकी प्रेरणासे वहाँ यह बात कही—'मैं कृष्णाको मनोवाञ्छित वर दूँगा। वह जो कुछ चाहे, माँग सकती है'॥

अवृणोत् तत्र पाञ्चाली पाण्डवानामदासताम्।
सरथान् सधनुष्कांश्चाप्यनुज्ञासिषमप्यहम्॥ २८॥

तब वहाँ पाञ्चालीने यह वर माँगा कि पाण्डवलोग दासभावसे मुक्त हो जायँ। मैंने भी रथ और धनुष आदिके सहित पाण्डवोंको उनकी समस्त सम्पत्तिके साथ इन्द्रप्रस्थ लौट जानेकी आज्ञा दे दी थी॥ २८॥

अथाब्रवीन्महाप्राज्ञो विदुरः सर्वधर्मवित्।
एतदन्तास्तु भरता यद् वः कृष्णा सभां गता॥ २९॥
यैषा पाञ्चालराजस्य सुता सा श्रीरनुत्तमा।
पाञ्चाली पाण्डवानेतान् दैवसृष्टोपसर्पति॥ ३०॥

तदनन्तर सब धर्मोंके ज्ञाता परम बुद्धिमान् विदुरने कहा—'भरतवंशियो! यह कृष्णा जो तुम्हारी सभामें लायी गयी, यही तुम्हारे विनाशका कारण होगा। यह जो पाञ्चालराजकी पुत्री है, वह परम उत्तम लक्ष्मी ही है। देवताओंकी आज्ञासे ही पाञ्चाली इन पाण्डवोंकी सेवा करती है॥ २९-३०॥

तस्याः पार्थाः परिक्लेशं न क्षंस्यन्ते ह्यमर्षणाः।
वृष्णयो वा महेष्वासाः पाञ्चाला वा महारथाः॥ ३१॥
तेन सत्याभिसंधेन वासुदेवेन रक्षिताः।
आगमिष्यति बीभत्सुः पाञ्चालैः परिवारितः॥ ३२॥

'कुन्तीके पुत्र अमर्षमें भरे हुए हैं। द्रौपदीको जो यहाँ इस प्रकार क्लेश दिया गया है, इसे वे कदापि सहन नहीं करेंगे। सत्यप्रतिज्ञ भगवान् श्रीकृष्णसे सुरक्षित महान् धनुर्धर वृष्णिवंशी अथवा महारथी पाञ्चाल वीर भी इसे नहीं सहेंगे। अर्जुन पाञ्चाल वीरोंसे घिरे हुए अवश्य आयँगे॥ ३१-३२॥

तेषां मध्ये महेष्वासो भीमसेनो महाबलः।
आगमिष्यति धुन्वानो गदां दण्डमिवान्तकः॥ ३३॥

'उनके बीचमें महाधनुर्धर महाबली भीमसेन होंगे, जो दण्डपाणि यमराजकी भाँति गदा घुमाते हुए युद्धके लिये आयँगे॥ ३३॥

ततो गाण्डीवनिर्घोषं श्रुत्वा पार्थस्य धीमतः।
गदावेगं च भीमस्य नालं सोढुं नराधिपाः॥ ३४॥

'उस समय परम बुद्धिमान् अर्जुनके गाण्डीव धनुषकी टंकार सुनकर और भीमसेनकी गदाका महान् वेग देखकर कोई भी राजा उनका सामना करनेमें समर्थ न हो सकेंगे॥

तत्र मे रोचते नित्यं पार्थैः साम न विग्रहः।
कुरुभ्यो हि सदा मन्ये पाण्डवान् बलवत्तरान्॥ ३५॥

'अतः मुझे तो पाण्डवोंके साथ सदा शान्ति बनाये रखनेकी ही नीति अच्छी लगती है। उनके साथ युद्ध करना मुझे पसंद नहीं है। मैं पाण्डवोंको सदा ही कौरवोंसे अधिक बलवान् मानता हूँ॥ ३५॥

तथा हि बलवान् राजा जरासंधो महाद्युतिः।
बाहुप्रहरणेनैव भीमेन निहतो युधि॥ ३६॥

'क्योंकि महान् तेजस्वी और बलवान् राजा जरासंधको भीमसेनने बाहुरूपी शस्त्रसे ही युद्धमें मार गिराया था॥ ३६॥

तस्य ते शम एवास्तु पाण्डवैर्भरतर्षभ।
उभयोः पक्षयोर्युक्तं क्रियतामविशङ्कया॥ ३७॥

'भरतवंशशिरोमणे! अतः पाण्डवोंके साथ आपको शान्ति ही बनाये रखनी चाहिये। दोनों पक्षोंके लिये यही उचित है। आप निःशङ्क होकर यही उपाय करें॥ ३७॥

एवं कृते महाराज परं श्रेयस्त्वमाप्स्यसि।
एवं गावल्गणे क्षत्ता धर्मार्थसहितं वचः॥ ३८॥
उक्तवान् न गृहीतं वै मया पुत्रहितैषिणा॥ ३९॥

'महाराज! ऐसा करनेपर आप परम कल्याणके भागी होंगे।' संजय! इस प्रकार विदुरने मुझसे धर्म और अर्थयुक्त बातें कही थीं; किंतु पुत्रका हित चाहनेवाला होकर भी मैंने उनकी बात नहीं मानी॥ ३८-३९॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां सभापर्वणि अनुद्यूतपर्वणि धृतराष्ट्रसंजयसंवादे एकाशीतितमोऽध्यायः॥ ८१॥

इस प्रकार व्यासनिर्मित श्रीमहाभारतनामक एक लाख श्लोकोंकी संहितामें सभापर्वके अन्तर्गत अनुद्यूतपर्वमें धृतराष्ट्रसंजयसंवादविषयक इक्यासीवाँ अध्याय पूरा हुआ॥ ८१॥

	अनुष्टुप्	छन्द (अन्य बड़े छन्द)	बड़े छन्दोंको ३२ अक्षरोंके अनुष्टुप् मानकर गिननेपर	कुलयोग
उत्तरभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	२५९५॥	(१५०)	२१७॥=	२८१३=
दक्षिणभारतीय पाठसे लिये गये श्लोक—	१२४२	(१)	।=	१२४३।=

सभापर्वकी पूर्ण श्लोकसंख्या—४०५६॥

(सभापर्व सम्पूर्णम्)

निवेदन

'महाभारत मासिक पत्र' के इस पञ्चम अङ्कमें सभापर्व समाप्त होकर वनपर्वका आरम्भ हो रहा है। आदिपर्वकी भाँति सभापर्वमें भी दाक्षिणात्य पाठके उपयोगी श्लोक लिये गये हैं। विशेषतः अड़तीसवें अध्यायमें भगवान्‌के अवतारोंका जो संक्षिप्त और श्रीकृष्णावतारका विशेष वर्णन दाक्षिणात्य प्रतियोंमें उपलब्ध होता है, उस प्रसङ्गके एक ही स्थलपर ७६१½ श्लोक लिये गये हैं। भगवान्‌के चरित्र-वर्णनके ये श्लोक अत्यन्त उपयोगी, आवश्यक तथा महत्त्वपूर्ण हैं। राजसूय यज्ञमें भगवान् श्रीकृष्णकी अग्रपूजाके प्रसङ्गमें जब भीष्मजीने बहुतसे संत-महात्माओंके मुखसे सुनी हुई श्रीकृष्णकी महिमा बतायी, उस समय युधिष्ठिरके मनमें उनके लीला-चरित्रको सुननेकी अभिलाषा जाग्रत् हो उठी और उन्हींके पूछनेपर भीष्मजीने विस्तारपूर्वक भगवान्‌की लीलाओंका वर्णन किया। इकतालीसवें अध्यायके शिशुपालके कथनपर ध्यान देनेसे भी उक्त प्रसङ्गकी अनिवार्य आवश्यकता सिद्ध होती है।

यदि भीष्मजीने भगवान्‌की पूतनावध, शकट-भंजन, तृणावर्त-उद्धार, यमलार्जुनभङ्ग, बकासुरवध, कालियदमन, केशी-अरिष्टासुर-वध और कंस-संहार आदि बाललीलाओंका वर्णन न किया होता तो शिशुपाल उनका नामोल्लेख कैसे कर सकता था; इससे सिद्ध है कि भीष्मजीने उस समय अवश्य ही विस्तारपूर्वक श्रीकृष्णचरित्र सुनाये थे।

वनपर्वके प्रसङ्ग भी बड़े ही मार्मिक और उपादेय हैं। पाण्डवोंकी कष्टसहिष्णुता, साहस, उत्साह, धैर्य और संकटकालमें भी धर्म-पालनकी दृढ़ता आदि बातें सदा ही पढ़ने, मनन करने और जीवनमें उतारने योग्य हैं। इस पर्वमें अनेकानेक राजर्षियों-महर्षियोंके त्याग एवं तपस्यामय जीवनकी झाँकी देखनेको मिलती है। इसमें तीर्थसेवन, दान, यज्ञ, परोपकार, धर्माचरण, सत्य-परायणता, त्याग, वैराग्य, पातिव्रत्य, तपस्या तथा सत्सङ्ग आदिके महत्त्वका बहुत सुन्दर निरूपण है। शान्तिपर्वकी भाँति यह पर्व भी समादरणीय सदुपदेशोंसे ही भरा है। नल-दमयन्ती, सत्यवान्-सावित्री तथा रामायणकी कथा भी इसीमें आयी है। सभी दृष्टियोंमें यह पर्व पठनीय और माननीय है।

सम्पादक—महाभारत

